अध्याय | विषय | पृष्ठाङ्क

राजधर्म

आपद्धर्मपर्व (२)

शान्तिपर्व पूर्वार्द्धकी विषयसूची समाप्त !

सूचना।

आपद्धर्मपर्वमें ४० पृष्ठके बाद ४६ पृष्ठ छपे हैं, बीचके ८ पृष्ठ के अङ्क छूट गए, परन्तु ग्रंथ कुछ नहीं छूटा है, सिलसिला ठीक है केवल पृष्ठांक लगानेमें भूल होगई है।

—प्रकाशक।



॥ श्रीहरिः ॥

महाभारत

शान्ति-पर्व

राजधर्मानुशासनपर्व १

नारायणं नमस्कृत्य नरञ्चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीञ्चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥

वैशम्पायन उवाच । कृतोदकास्ते सुहृदां सर्वेषां पाण्डुनन्दनाः । विदुरो धृतराष्ट्रश्च सर्वाश्च भरतस्त्रियः ॥१॥ तत्र ते सुमहात्मानो न्यवसन् पाण्डुनन्दनाः । शौचं निर्वर्त्तयिष्यन्तो मासमात्रं बहिः पुरात् ॥२॥ कृतोदकं तु राजानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् । अभिजग्मुर्महात्मानः सिद्धाः ब्रह्मर्षिसत्तमाः ॥ ३ ॥ द्वैपायनो नारदश्च

॥ श्रीः ॥ नारायण, नरोंमें उत्तम नर, वाणीकी अधिष्ठात्री देवी सरस्वती और व्यासजीको नमस्कार करके इतिहास आदि ग्रन्थोंके व्याख्यानका आरम्भ करे ॥श्री॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! संग्रामके समाप्त होजाने पर संग्राममें मरनेवाले अपने सब भाई और सहायकोंका गङ्गातट पर जलदान (और श्राद्ध) करके राजा पाण्डुके महात्मा पुत्र, विदुर धृतराष्ट्र तथा भरतवंशकी सब स्त्रियें शौचकी (कपटयुद्धके दोषकी) निवृत्तिके लिये हस्तिनापुरके बाहर एक महीने तक रहे ॥ १ ॥ २ ॥ श्राद्धसे निवटकर गङ्गातट पर रहते समय धर्मपुत्र कुरुसत्तम राजा युधिष्ठिरसे मिलनेको बड़े २ सिद्ध, महात्मा, ब्रह्मर्षि, वेदव्यास,

देवलश्च महानृषिः । देवस्थानश्च कण्वश्च तेषां शिष्याश्च सत्तमाः ४
अन्ये च वेदविद्वांसः कृतप्रज्ञा द्विजातयः । गृहस्थाः स्नातकाः सन्तो ददृशुः कुरुसत्तमम् ॥५॥ तेऽभिगम्य महात्मानः पूजिताश्च यथाविधि । आसनेषु महार्हेषु विविशुस्ते महर्षयः ॥६॥ प्रतिगृह्य ततः पूजां तत्कालसदृशीं तदा । पर्युपासन् यथान्यायं परिवार्य युधिष्ठिरम् ॥ ७ ॥ पुण्ये भागीरथीतीरे शोकव्याकुलचेतसम् । आश्वासयन्तो राजेन्द्रं विप्राः शतसहस्रशः ॥८॥ नारदस्त्वब्रवीत् काले धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् । सम्भाष्य मुनिभिः सार्द्धं कृष्णद्वैपायनादिभिः ॥ ९ ॥ भवतो बाहुवीर्येण प्रसादान्माधवस्य च । जितेयमवनिः कृत्स्ना धर्मेणैव युधिष्ठिर ॥ १० ॥ दिष्ट्या मुक्तस्तु संग्रामादस्माल्लोकभयङ्करात् । क्षत्रधर्मरतश्चापि कच्चिन्मोदसि

नारद, महर्षि देवल, देवस्थान, कण्व, उनके उत्तम शिष्य, वेदवेत्ता और बुद्धिमान् ब्राह्मण, गृहस्थ, स्नातक और सत्पुरुष आये थे ॥ ३–५ ॥ राजा युधिष्ठिरने उन पधारनेवाले सबोंको अभ्युत्थान दिया, और विधिपूर्वक उनकी पूजा की, वे सब महर्षि उत्तम आसनों पर बैठे ॥ ६ ॥ फिर राजा युधिष्ठिरने समयके योग्य पूजा की और उस पूजाको ऋषियोंने स्वीकार किया, फिर लाखों ब्राह्मण तथा महर्षि भागीरथी नदीके पवित्र तटपर बैठे हुए और शोकसे व्याकुल हुए राजा युधिष्ठिरको चारों ओरसे घेरकर उनके पास बैठगए और वे सब उपदेश देकर उनको धीरज बँधानेलगे ॥ ७ ॥ ८ ॥ नारद, वेदव्यास आदि मुनियोंके साथ बातचीत करके एकमत हुए और फिर धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे कहनेलगे ॥९॥ नारदने कहा, कि–हे युधिष्ठिर ! आपने अर्जुनके बाहुबल, कृष्णकी कृपा और अपने धर्मसे सब पृथिवी जीतली है ॥ १० ॥ और हे पाण्डुपुत्र ! अपने सौभाग्यके कारणसे तुम लोकोंको भयदेनेवाले इस संग्राममें सुरक्षित रहे हो तथा क्षत्रिय

पाण्डव ॥ ११ ॥ कच्चिच्च निहतामित्रः प्रीणासि सुहृदो नृप ।
कच्चित् श्रियमिमां प्राप्य न त्वां शोकः प्रबाधते ॥१२॥ युधिष्ठिर
उवाच । विजितेयं मही कृत्स्ना कृष्णबाहुबलाश्रयात् । ब्राह्मणानां
प्रसादेन भीमार्जुनबलेन च ॥ १३ ॥ इदन्तु मे महद्दुःखं वर्त्तते
हृदि नित्यदा । कृत्वा ज्ञातिक्षयमिमं महान्तं लोभकारितम् ॥१४॥
सौभद्रं द्रौपदेयांश्च घातयित्वा सुतान् प्रियान् । जयोऽयमजयाकारो
भगवन् प्रतिभाति मे ॥ १५ ॥ किन्नु वक्ष्यति वार्ष्णेयी वधूर्मे
मधुसूदनम् । द्वारकावासिनी कृष्णमितः प्रतिगतं हरिम् ॥ १६ ॥
द्रौपदी हतपुत्रेयं कृपणा हतबान्धवा । अस्मत्प्रियहिते युक्ता भूयः
पीडयतीव माम् ॥१७॥ इदमन्यत्तु भगवन् यत्त्वां वक्ष्यामि नारद ।

धर्मका मर्म दिखाया है, कहो तुम प्रसन्न तो हो ? ॥ ११ ॥
हे राजन् ! शत्रुओंका नाश करके तुमने अपने स्नेही और
संबन्धियोंको प्रसन्न कर ही लिया ? इस राजलक्ष्मीको पाकर
तुम्हें शोक तो पीडा नहीं देता है ? ॥ १२ ॥ युधिष्ठिरने कहा,
कि-हे नारद ! श्रीकृष्णके बाहुबलके आश्रयसे, ब्राह्मणोंके आशी-
र्वादसे और भीम तथा अर्जुनके पराक्रमसे यह सब पृथिवी मैंने
जीतली, यह ठीक ही है ॥ १३ ॥ परन्तु मेरे हृदयमें निरन्तर
एक यह दुःख सालता रहता है, कि-मैंने राज्यके लोभके कारण
अपने बहुतसे संबन्धियोंको मरवादिया है, मैंने प्यारे पुत्र अभि-
मन्युको मरवा दिया है, प्यारी द्रौपदीके पुत्रोंका नाश करवा
दिया, है इसकारण हे भगवन् ! मुझे अपनी यह विजय भी परा-
जय ही मालूम होती है ॥ १४ ॥ १५ ॥ वृष्णिवंशमें उत्पन्न
हुई मेरे भाईकी बहू सुभद्रा मुझे क्या कहेगी? तब मधुसूदन कृष्ण
यहाँसे द्वारकामें जायँगे तब द्वारकाकी प्रजा मेरी विजयके विषयमें
क्या कहेगी?॥१६॥ और मेरा प्रिय तथा हित करने वाले बिचारे
द्रौपदीके पुत्र, भाई और पिता रणमें मारेगए, इसका भी मुझे

यन्त्रसम्वरणेनास्मि कुन्त्या दुःखेन योजितः ॥ १८ ॥ यः स नागायुतबलो लोकेऽप्रतिरथो रणे । सिंहखेलगतिर्धीमान् घृणी दाता यतव्रतः ॥१९॥ आश्रयो धार्तराष्ट्राणां मानी तीक्ष्णपराक्रमः । अमर्षी नित्यसंरम्भी क्षेप्तास्माकं रणे रणे ॥ २० ॥ शीघ्रास्त्रश्चित्रयोधी च कृती चाद्भुतविक्रमः । गूढोत्पन्नः सुतः कुन्त्या भ्रातास्माकमसौ किल ॥२१॥ तोयकर्मणि तं कुन्ती कथयामास सूर्य्यजम् । पुत्रं सर्वगुणोपेतमवकीर्णं जले पुरा ॥२२॥ मंजूषायां

बार २ खेद होता है ॥१७॥ और हे भगवन् नारद ! मैं आपसे एक दूसरी बात और कहता हूँ (उसको भी सुनिये), कुन्ती माताने कर्णके जन्मकी बातको छुपी रखकर मुझे दुःखमें डाल दिया है ॥ १८ ॥ जिस कर्णमें दश हजार हाथियोंका बल था, रणमें जिसकी बराबरी करनेवाला एक भी महारथी नहीं था, जिसका पराक्रम सिंहकी समान था और जिसकी चाल भी सिंहकी समान थी, जो विजयसे दमकनेवाला, बुद्धिमान्, दयालु, दाता और सदाचारी था, जो कौरवोंका आधार, क्षत्रियधर्मका अभिमानी और तीक्ष्णपराक्रमी था, जो दूसरेकी उन्नतिको न सहनेवाला और सदा क्रोधमें भरा रहता था, जो हरएक संग्राममें हमें भगादेनेवाला, फुरतीसे शस्त्रोंको चलानेवाला, विचित्रप्रकार के युद्ध करना जाननेवाला, विद्वान् और अद्भुतपराक्रमी था, ऐसे पुत्रको कुन्तीने गुप्तरीतिसे उत्पन्न किया था और वह हमारा सहोदर भाई था ॥ १९-२१ ॥ परन्तु हमको नहीं मालूम था, कि-कर्ण हमारा सगा भाई है, परन्तु जब मैं मरेहुए बान्धवोंका जलदान करनेलगा, तब कुन्ती माताने मुझसे कहा, कि-तू कर्ण को भी जलाञ्जलि देना, क्योंकि-वह मेरा पुत्र है और यह सकल गुणधारी सूर्यसे उत्पन्न हुआ है, पहले कन्यावस्थामें यह मेरे पेटसे जन्मा था, तब मैंने इसको एक पिटारीमें रख और उस

समाधाय गंगास्रोतस्यमज्जयत् । यं सूतपुत्रं लोकोयं राधेयं चाप्य-
मन्यत ॥२३॥ स ज्येष्ठपुत्रः कुन्त्या वै भ्रातास्माकं च मातृजः ।
अजानता मया भ्राता राज्यलुब्धेन घातितः ॥ २४ ॥ तन्मे दहति
गात्राणि तूलराशिमिवानलः । न हि तं वेद पार्थोपि भ्रातरं
श्वेतवाहनः२५नाहं न भीमो न यमौ स त्वस्मान् वेद सुव्रतः । गता
किल पृथा यस्य सकाशमिति नः श्रुतम् २६अस्माकं शमकामा वै
त्वञ्च पुत्रो ममेत्यथ । पृथाया न कृतः कामस्तेन चापि महात्मना२७
अपि पश्चादिदं मातर्यदवोचदिति नः श्रुतम् । न हि शक्याम्यहं
त्यक्तुं नृपं दुर्योधनं रणे ॥ २८ ॥ अनार्य्यत्वं नृशंसत्वं कृतघ्नत्वं

पिटारीका मुख बन्द करके उसको गङ्गाके प्रवाहमें बहाकर छोड दिया था, वह पिटारी राधा नामकी एक दासीके हाथमें आगई, उसने कर्णको पालकर बडा किया,इसलिये लोग उसको राधाका पुत्र समझते थे ॥ २२ ॥ २३ ॥ परन्तु सूर्यपुत्र कर्ण कुन्तीका जेठा पुत्र था, मेरा सहोदर भाई था और मैंने उसको न पहचाननेके कारण राज्यके लोभमें मरवाडाला ॥ २४ ॥ यह काम मेरे गात्रोंको ऐसे जलारहा है जैसे अग्नि रुईको जलाता है, सफेद घोडोंवाला अर्जुनभी भ्राता कर्णको नहीं पहचानता था ॥२५॥ तथा मैं, भीम, नकुल और सहदेव भी यह कौन है, इस बातको नहीं जानते थे,सदाचारी कर्ण हमको अपने सहोदर भाई जानता था, हमने सुना है, कि एक दिन माता कुन्तीने हमारे साथ उसकी सन्धि करादेनेकी इच्छासे उसके पास जाकर कहा था, कि-तू मेरा पुत्र है, इसलिये मेरे पुत्रोंके पक्षमें आजा, परन्तु उस महात्माने कुन्तीकी कामना पूरी नहीं की, जैसा, कि-हमें मालूम हुआ है,उसने अन्तमें अपनी माता कुन्तीसे कहा कि-मैं रणमें राजा दुर्योधनको त्यागदूँ, यह नहीं होसकता ॥२६-२८॥ क्योंकि-यदि मैं तेरे कहनेसे राजा युधिष्ठिरके साथ मित्रता करता हूँ तो

हि मे भवेत् । युधिष्ठिरेण सन्धिं हि यदि कुर्य्यां मते तव ॥२६॥
भीतो रणे श्वेतवाहादिति मां मंस्यते जनः । सोऽहं विजित्य समरे
विजयं सहकेशवम् ॥ ३० ॥ सन्धास्ये धर्म्मपुत्रेण पश्चादिति च
सोऽब्रवीत् । तमुवाच किल पृथा पुनः पृथुलवक्षसम् ॥ ३१ ॥
चतुर्णामभयं देहि काम युध्यस्व फाल्गुनम् । सोऽब्रवीन्मातरं धीमान्
वेपमानां कृतांजलिः ॥३२॥ प्राप्तान् विषह्यांश्चतुरो न हनिष्यामि
ते सुतान् । पञ्चैव हि सुता देवि भविष्यन्ति तव ध्रुवाः ॥३३॥
साऽर्जुना वा हते कर्णे सकर्णा वा हतेऽर्जुने । तं पुत्रगृद्धिनी भूयो
माता पुत्रमथाब्रवीत् ॥३४॥ भ्रातृणां स्वस्ति कुर्वीथा येषां स्वस्ति
चिकीर्षसि । एवमुक्त्वा किल पृथा विसृज्योपययौ गृहान् ॥३५॥

मैं अनार्य क्रूर और कृतघ्न ही गिना जाऊँगा ॥ २९ ॥ और
मैं तेरी इच्छाके अनुसार काम करता हूँ तो लोग समझेंगे, कि-
मैं रणमें सफेद घोड़ोंवाले अर्जुनसे युद्ध करनेमें डरगया । इस
लिये पहले मैं युद्धमें अर्जुन और कृष्णका पराजय करलूँगा तब
पीछेसे युधिष्ठिरके साथ मित्रता करूँगा, ऐसा कर्णने कहा था,
यह बात हमने सुनी है, इस पर विशाल वक्षःस्थलवाले कर्णसे
कुन्तीने फिर कहा था, कि—भले ही तू अर्जुनके साथ युद्ध
करना, परन्तु मेरे चार पुत्रोंको अभयदान दे, बुद्धिमान् कर्णने
दोनों हाथ जोड़कर थर २ काँपती हुई अपनी माता कुन्तीसे
कहा, कि—॥ ३०-३२ ॥ हे मातः ! तुम्हारे चार पुत्र मेरे सपाटे
में आजायँगे तो भी मैं उनको नहीं मारूँगा, हे देवी ! तुम्हारे तो
पाँच ही पुत्र चिरञ्जीव रहेंगे ॥ ३३ ॥ यदि यह कर्ण मारागया
तो अर्जुनके सहित पाँच रहेंगे और अर्जुन मारा जायगा तो इस
कर्णके साथ पाँच पुत्र रहेंगे, पुत्रोंका पक्षपात करनेवाली कुन्ती
माताने फिर पुत्रसे कहा, कि-हे बेटा ! जिनका कुशल तू चाहता
है ऐसे अपने भाइयोंका जिसमें कल्याण हो वही करना, ऐसा

सोऽर्जुनेन हतो वीरो भ्रात्रा भ्राता सहोदरः। न चैव विदितो मन्त्रः पृथायास्तस्य वा विभो ॥ ३६ ॥ अथ शूरो महेष्वासः पार्थेनाजौ निपातितः। अहं त्वाज्ञासिषं पश्चात्स्वसोदर्यं द्विजोत्तम ॥३७॥ पूर्वजं भ्रातरं कर्णं पृथाया वचनात् प्रभो। तेन मे दूयते तीव्रं हृदयं भ्रातृघातिनः॥३७॥ कर्णार्जुनसहायोऽहं जयेयमपि वासवम्। सभायां क्लिश्यमानस्य धार्तराष्ट्रैर्दुरात्मभिः ॥३९॥ सहसोत्पतितः क्रोधः कर्णं दृष्ट्वा प्रशाम्यति। यदा ह्यस्य गिरो रूक्षाः शृणोमि कटुकोदयाः॥ ४० ॥ सभायां गदतो द्यूते दुर्योधनहितैषिणः। तदा नश्यति मे रोषः पादौ तस्य निरीक्ष्य ह ॥४१॥ कुन्त्या हि सदृशौ पादौ कर्णस्येति मतिर्मम। सादृश्यहेतुमन्विच्छन् पृथायास्तस्य

कहकर माता कुन्ती कर्णके पाससे घर चली आयी थीं ३४-३५ ऐसे सहोदर और वीर भाई कर्णको अर्जुनने रणमें मारडाला है, हे मुने! कुन्तीने या कर्णने यह गुप्त बात प्रकट नहीं की थी, इस लिये ही महाधनुषधारी वीर कर्णको अर्जुनने रणमें मार डाला और हे प्रभो नारद! मुझे भी अभी मालूम हुआ है, कि-कर्ण मेरा सहोदर था, कुन्तीके कहनेसे मैंने जाना, कि-कर्ण मेरा जेठा भाई था, ऐसे भाईका वध करनेसे मेरे हृदयमें बडा दरद होरहा है ॥ ३६-३८ ॥ यदि मुझे कर्ण और अर्जुन दोनोंकी सहायता होती तो मैं इन्द्रको भी जीत सकता था, धृतराष्ट्रके दुष्टात्मा पुत्र राजसभामें दुःख देते थे, तब मुझे एकायकी क्रोध आजाता था, परन्तु कर्णको देखते ही मैं शान्त पडजाता था, जुएकी सभामें कर्ण दुर्योधनका हितैषी होकर जब २ खोटा परिणाम (नतीजा) लानेवाले कठोर वचन कहता था, तब २ मुझे क्रोध चढ आता था, परन्तु जब मैं उसके पैरको देखता था तब मेरा क्रोध शान्त पडजाता था ॥ ३९-४१ ॥ (क्योंकि-उसके चरण पर मेरी दृष्टि पडती थी तब, यह) कर्णके दोनों चरण

चैव ह ॥ ४२ ॥ कारणं नाधिगच्छामि कथंचिदपि चिन्तयन् । कथन्नु तस्य संग्रामे पृथिवी चक्रमग्रसत् ॥ ४३ ॥ कथन्नु शप्तो भ्राता मे तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि । श्रोतुमिच्छामि भगवन् त्वत्तः सर्वं यथातथम् । भवान् हि सर्वविद्विद्वान् लोके वेद कृताकृतम् ॥४४॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कर्णाभिज्ञाने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच । स एवमुक्तस्तु मुनिर्नारदो वदतांवरः । कथयामास तत् सर्वं यथा शप्तः स सूतजः ॥ १ ॥ नारद उवाच । एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत । न कर्णार्जुनयोः किञ्चिद्-विषह्यं भवेद्रणे ॥ २ ॥ गुह्यमेतत्तु देवानां कथयिष्यामि तेनऽघ ।

मुझे माता कुन्तीके चरणोंकी समान मालूम होते थे, कुन्ती और कर्णके चरणोंके एकसे होनेके कारणको जाननेकी मैं वारंवार इच्छा किया करता था, परन्तु विचार करने पर भी उस कारणको किसीप्रकार जान नहीं सका, परन्तु कर्णके रथके पहियेको पृथिवी संग्राममें क्यों निगलगई ? ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ हे भगवन् ! मेरे भाई कर्णको यह शाप क्यों हुआ था ? यह मुझे बताइये, इसको मैं आपसे ठीक२ सुनना चाहता हूँ, क्योंकि आप जगत्में आत्मस्वरूपको जाननेवाले हैं, इसलिये सर्ववेत्ता हैं और भूत भविष्यत्को जानते हैं ॥ ४४ ॥ पहला अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे राजा जनमेजय ! राजा युधिष्ठिरके ऐसा बूझने पर वक्ताओंमें श्रेष्ठ नारदमुनि सूतपुत्र कर्णको कैसे शाप हुआ था यह सब कथा कहनेलगे ॥ १ ॥ नारदजीने कहा, कि-हे महाबाहु भरतवंशी राजन्! तुम कहते हो, कि-मैं कर्णकी और अर्जुनकी सहायतासे इन्द्रको भी जीत सकता था, यह तुम्हारा कहना सत्य है, रणमें कर्ण और अर्जुनको कोई भी काम असह्य नहीं था ॥ २ ॥ हे पापरहित और महाबाहु राजन् !

तन्निबोध महाबाहो यथावृत्तमिदं पुरा ॥ ३ ॥ क्षत्रं स्वर्गं कथं गच्छेच्छस्त्रपूतमिति प्रभो । संघर्षजननस्तस्मात् कन्यागर्भो विनिर्मितः ॥४॥ स बालस्तेजसा युक्तः सूतपुत्रत्वमागतः । चकाराङ्गिरसां श्रेष्ठाद्धनुर्वेदं गुरोस्तदा ॥५॥ स बलम्भीमसेनस्य फाल्गुनस्य च लाघवम् । बुद्धिञ्च तव राजेन्द्र यमयोर्विनयन्तदा ॥६॥ सख्यञ्च वासुदेवेन बाल्ये गाण्डीवधन्वनः । प्रजानामनुरागञ्च चिन्तयानो व्यदह्यत ॥ ७ ॥ स सख्यमकरोद्बाल्ये राज्ञा दुर्योधनेन च । युष्माभिर्नित्यसंद्विष्टो दैवाच्चापि स्वभावतः ॥ ८ ॥ वीर्याधिकमथालक्ष्य धनुर्वेदे धनञ्जयम् । द्रोणं रहस्युपागम्य कर्णो वचनम-

देवताओंकी गुप्त समंति पहले जिसप्रकार हुई थी वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ, उसको तुम सुनो ॥ ३ ॥ सब क्षत्रिय लोग शस्त्रसे मरकर स्वर्गमें किसप्रकार जायँ, इस हेतुसे वैररूप अग्निको भड़कानेवाले इस(कुन्ती)कन्याके पुत्र(सूर्यसे कुन्तीमें कुमारी अवस्था में उत्पन्न हुए कर्ण) को देवताओंने ही उत्पन्न किया था ॥४॥ यह कर्ण बालकपनसे ही तेजस्वी था, सूतका पुत्र कहलानेलगा था और उसने आङ्गिरस गोत्रमें उत्तम मानेजानेवाले तुम्हारे गुरु द्रोणाचार्यसे धनुर्वेदका अभ्यास किया था ॥५॥ परन्तु हे राजा युधिष्ठिर ! वह बालकपनसे ही भीमसेनके बल, अर्जुनकी शस्त्र चलानेकी फुरती तुम्हारी बुद्धि, नकुल सहदेवके विनय, अर्जुनकी श्रीकृष्णके साथ मित्रता और प्रजाकी तुम्हारे ऊपर प्रीतिको मन ही मनमें विचार करके बहुत ही जला करता था ॥ ६।७॥ और उसने बालकपनसे ही राजा दुर्योधनके साथ मित्रता करली थी तथा तुम्हारे साथ देवताओंकी प्रेरणा, अपने स्वभाव तथा तुम्हारे ऊपर (ऊपरोक्त कारणवश) उत्पन्न हुए तिरस्कारके कारणसे नित्यका वैर बाँधलिया था ॥ ८ ॥ धनञ्जयको धनुर्विद्यामें अधिक पराक्रम देखकर उसने द्रोणाचार्यके पास एकान्तमें

ब्रवीत् ॥९॥ ब्रह्मास्त्रं वेत्तुमिच्छामि सरहस्यनिवर्त्तनम् । अर्जुनेन समश्चाहं युद्धचेयमिति मे मतिः॥१०॥समः शिष्येषु वः स्नेहः पुत्रे चैव तथा ध्रुवम् । त्वत्प्रसादान्न मां ब्रूयुरकृतास्त्रं विचक्षणाः ११ द्रोणस्तथोक्तः कर्णेन सापेक्षः फाल्गुनं प्रति।दौरात्म्यं चैव कर्णस्य विदित्वा तमुवाच ह ॥१२॥ब्रह्मास्त्रं ब्राह्मणो विद्याद्यथावच्चरितव्रतः । क्षत्रियो वा तपस्वी यो नान्यो विद्यात् कथञ्चन ॥१३॥ इत्युक्तोऽङ्गिरसां श्रेष्ठमामन्त्र्य प्रतिपूज्य च । जगाम सहसा रामं महेन्द्रं पर्वतं प्रति ॥१४॥ स तु राममुपागम्य शिरसाभिप्रणम्य

जाकर कहा, कि- ॥ ९ ॥ हे आचार्य ! मैं आपसे ब्रह्मास्त्रको छोडने और लौटानेको उसके रहस्यके साथ जानना चाहता हूँ और मैं युद्धमें अर्जुनकी समान होजाऊँ, यह मेरी इच्छा है १० आपका पुत्रोंके ऊपर और शिष्योंके ऊपर समान प्रेमभाव है, इसलिये आप मुझे ब्रह्मास्त्रका उपदेश दीजिये, आपकी कृपा होनेपर अस्त्रविद्याको जाननेवाले पुरुष यह नहीं कहसकेंगे, कि-कर्ण अस्त्रविद्या नहीं जानता ॥११॥ अर्जुनके ऊपर प्रेम रखनेवाले द्रोणाचार्यसे कर्णने ऐसा कहा, उस समय द्रोणाचार्य कर्णकी दुष्टताको जानगए और उसको उत्तर दिया, कि- ॥ १२ ॥ हे कर्ण ! जिसने शास्त्रमें लिखे अनुसार ब्रह्मचर्यका पालन किया हो ऐसा ब्राह्मण अथवा जो तपस्वी हो ऐसा क्षत्रिय ही ब्रह्मास्त्रको सीखनेका अधिकारी मानाजाता है (अर्थात् तुम्हसरीखे सूतपुत्रको ब्रह्मास्त्रविद्या सीखनेका अधिकार नहीं है) ॥ १३ ॥ द्रोणके ऐसा कहने पर आङ्गिरसोंमें श्रेष्ठ द्रोणकी पूजा करके और उनकी आज्ञा लेकर वह एकदम वहाँसे महेन्द्र पर्वत पर रहनेवाले परशुरामजीके पासको चलदिया ॥ १४ ॥ वह महेन्द्र पर्वत पर निवास करनेवाले परशुरामजीके पास गया, वहाँ जाकर बड़े गौरवसे शिर झुकाकर उनको प्रणाम किया और फिर बोला

च । ब्राह्मणो भार्गवोऽस्मीति गौरवेणाभ्यगच्छत ॥१५॥ रामस्तं प्रतिजग्राह पृष्ट्वा गोत्रादि सर्वशः उष्यतां स्वागतञ्चेति प्रीतिमांश्चाभवद्भृशम् ॥ १६ ॥ तत्र कर्णस्य वसतो महेन्द्रे स्वर्गसम्मिते । गन्धर्वै राक्षसैर्यक्षैर्देवैश्चासीत् समागमः ॥ १७ ॥ स तत्रेष्वस्त्रमकरोद् भृगुश्रेष्ठाद्यथाविधि । प्रियश्चाभवदत्यर्थं देवदानवरक्षसाम् ॥ १८ ॥ स कदाचित् समुद्रान्ते विचरन्नाश्रमान्तिके । एकः खड्गधनुष्पाणिः परिचक्राम सूर्य्यजः ॥१९॥ सोऽग्निहोत्रप्रसक्तस्य कस्यचिद् ब्रह्मवादिनः । जघानाज्ञानतः पार्थ होमधेनुं यदृच्छया॥२० तदज्ञानकृतं मत्वा ब्राह्मणाय न्यवेदयत् । कर्णः प्रसादयंश्चैन-

---

कि मै भृगुवंशी ब्राह्मण हूँ ॥१५॥ यह सुनकर परशुराम उसके ऊपर बड़े प्रसन्न हुए, उन्होंने गोत्र प्रवर आदि सब बूझकर उससे कहा, कि-अच्छा आया! आओ बैठ! ऐसा कहकर परशुरामने कर्णको अपने पास रखलिया ॥ १६ ॥ स्वर्ग समान महेन्द्राचल पर रहता हुआ कर्ण परशुरामजीसे शास्त्रोक्त विधिके अनुसार ब्रह्मास्त्रका अभ्यास करनेलगा, तहाँ उसका गन्धर्व, राक्षस, यक्ष और देवताओंके साथ समागम हुआ और वह देवता दानव तथा राक्षसोंमें बड़ा प्यारा होगया ॥ १७-१८ ॥ एक दिन वह तलवार बाँध हाथमें धनुष लिये आश्रमके पास ही समुद्रके तटपर अकेला फिर रहा था ॥१९॥ हे पार्थ! इतनेमें ही वेदको जाननेवाले किसी अग्निहोत्री ब्राह्मणकी एक गौ चरतीर वहाँ आपहुँची, उसको कोई दूसरा भयानक जीव समझ कर दैवेच्छासे उस होमकी गौको कर्णने मारडाला ॥ २० ॥ परन्तु जब उसको मालूम हुआ, कि-मैंने अनजानमें गौका वध किया है तब उस गौके स्वामी ब्राह्मणके पास गया और उससे कहा, कि-मुझसे अनजानमें तुम्हारी होमकी गौका वध होगया है और फिर उस ब्राह्मणको प्रसन्न करनेके लिये वह बारंबार कहनेलगा,

मिदमित्यब्रवीद्वचः ॥ २१ ॥ अबुद्धिपूर्वं भगवन् धेनुरेषा हता तव । मया तत्र प्रसादश्च क्रियतामिति पुनः पुनः ॥ २२ ॥ तं स विप्रोऽब्रवीत् क्रुद्धो वाचा निर्भर्त्सयन्निव । दुराचार वधार्हस्त्वं फलं प्राप्नुहि दुर्मते ॥ २३ ॥ येन विस्पर्द्धसे नित्यं यदर्थं घटसे भृशम् । युध्यतस्तेन ते पाप चक्रं भूमिर्ग्रसिष्यति ॥२४॥ ततश्चक्रे महीग्रस्ते मूर्द्धानं ते विचेतसः । पातयिष्यति विक्रम्य शत्रुर्गच्छ नराधम ॥ २५ ॥ यथेयं गौर्हता मूढ प्रमत्तेन त्वया मम । प्रमत्तस्य तथारातिः शिरस्ते पातयिष्यति ॥ २६ ॥ ततः प्रसादयामास कर्णस्तं द्विजसत्तमम् । गोभिर्धनैश्च रत्नैश्च स चैनं पुनरब्रवीत्२७ न हि मे व्याहृतं कुर्यात् सर्वलोकोपि वै मृषा । गच्छ वा तिष्ठ

कि–॥ २१ ॥ हे महाराज ! तुम्हारी गौको मैंने अनजानमें मार डाला है, इसलिये मेरे अपराधको क्षमा करिये ॥ २२ ॥ परन्तु उस ब्राह्मणने वाणीसे उसका तिरस्कार करके क्रोधमें भरकर कहा, कि–अरे दुराचारी दुर्मति ! तू मारडालनेके योग्य है, परन्तु जा तुझे इस गोहत्याका फल मिलेगा ॥ २३ ॥ तू नित्य जिसके साथ स्पर्धा (डाह) करता है और जिसके लिये रात दिन ऐसा बड़ा भारी परिश्रम कररहा है, उस पुरुषके साथ युद्ध करते समय अरे पापी ! तेरे रथका पहिया भूमिमें घुसजायगा २४ पृथिवी तेरे रथके पहियेको निगल जायगी, तब तू अचेत होजायगा और उसी समय तेरा शत्रु पराक्रम करके तेरा शिर काटडालेगा, अरे नराधम ! यहाँसे चलाजा ॥ २५ ॥ अरे मूढ़ ! तूने प्रमत्त होकर जैसे मेरी गौको मारडाला है, ऐसे ही मेरे शापसे तेरा शत्रु तुझ प्रमत्तके शिरको काटडालेगा ॥ २६ ॥ इसप्रकार उस ब्राह्मणने कर्णको शाप दिया, फिर जब कर्ण गौएँ, बहुतसा धन और रत्न देकर उस ब्राह्मणको प्रसन्न करनेलगा तब वह ब्राह्मण फिर बोला, कि–इस जगत्में ऐसा कोई नहीं है, कि–

वा यद्वा कार्य्यन्तत्ते समाचर ॥ २८ ॥ इत्युक्तो ब्राह्मणेनाथ कर्णो दैन्यादधोमुखः । राममभ्यागमद्भीतस्तदेव मनसा स्मरन् ॥१८॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कर्णशापे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

नारद उवाच । कर्णस्य बाहुवीर्य्येण प्रणयेन दमेन च । तुतोष भृगुशार्दूलो गुरुशुश्रूषया तथा ॥ १ ॥ तस्मै स विधिवत् कृत्स्नं ब्रह्मास्त्रं सनिवर्चनम् । प्रोवाचाखिलमव्यग्रं तपस्वी तत्तपस्विने२ विदितास्त्रस्ततःकर्णो रममाणोऽश्रमे भृगोः । चकारैवं धनुर्वेदे यत्न-मद्भुतविक्रमः ॥ ३ ॥ ततः कदाचिद्रामस्तु चरन्नाश्रमन्तिकात् । कर्णेन सहितो धीमानुपवासेन कर्शितः ॥ ४ ॥ सुष्वाप जामदग्न्यस्तु विश्रम्भोत्पन्नसौहृदः । कर्णस्योत्सङ्ग आधाय शिरः

जो मेरे शापको मिथ्या करसके, तुझे जाना होय तो जा ! खड़ा रहना हो तो खड़ा रह ! अथवा तेरे जीमें आवे सो कर ! ॥२८॥ उस ब्राह्मणने कर्णसे ऐसा कहा, तब कर्ण दीनतासे नीचेको मुख करके भयभीत हो मनमें शापका ही विचार करता२ परशु-रामजीके पास आया ॥२६॥ दूसरा अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

नारदने कहा, कि-हे राजा युधिष्ठिर ! कर्णकी भुजाके पराक्रमसे, विनयसे, इन्द्रियोंके निग्रहसे तथा गुरुसेवासे भृगुवंशी परशुराम उसके ऊपर बड़े ही प्रसन्न हुए ॥१॥ तपस्वी परशुरामने तपस्वी कर्णको शान्त रीतिसे प्रयोग और उपसंहार सहित संपूर्ण ब्रह्मास्त्रविद्या विधिपूर्वक सिखादी॥२॥परशुरामजीसे ब्रह्मास्त्रविद्या सीखनेके बाद कर्ण उनके ही आश्रममें रहकर आनन्दसे दिन बितानेलगा और अद्भुत पराक्रमवाला कर्ण नित्य धनुर्वेदमें परिश्रम करनेलगा ॥ ३ ॥ जिनका शरीर उपास करनेसे दुर्बल होगया था ऐसे बुद्धिमान् परशुरामजी एक दिन आश्रमके पास ही कर्णके साथ विचर रहे थे ॥ ४ ॥ फिरते २ परशुरामजी थक

क्लान्तमना गुरुः ॥ ५ ॥ अथ कृमिः श्लेष्ममेदोमांसशोणित-भोजनः । दारुणो दारुणस्पर्शः कर्णस्याभ्यासमागतः ॥ ६ ॥ स तस्योरुमथासाद्य बिभेद रुधिराशनः । न चैनमशकत् क्षेप्तुं हन्तुं वापि गुरोर्भयात् ॥ ७ ॥ संदश्यमानस्तु तथा कृमिणा तेन भारत । गुरोः प्रबोधनाशङ्की तमुपैक्षत सूर्यजः ॥ ८ ॥ कर्णस्तु वेदनां धैर्यादसह्यां विनिगृह्य ताम् । अकम्पयन्नव्यथयन् धारयामास भार्गवम् ॥ ९ ॥ यदास्य रुधिरेणाङ्गं परिस्पृष्टं भृगूद्वहः ।

गए, परन्तु परशुरामका कर्णके ऊपर पूरा विश्वास था और उसके ऊपर उनका बड़ाभारी प्रेम भी था ॥५॥ इसकारण वह कर्णकी गोदमें अपना शिर रखकर सोगए (दैवयोगसे उस समय ऐसी घटना हुई, कि-) जब कर्णके गुरु परशुरामजी कर्णकी गोदीमें शिर रखकर सोरहे थे, उस समय श्लेष्म, मेद, मांस और रुधिरका भोजन करनेवाला तथा तीक्ष्ण डङ्क मारनेवाला एक भौंरा उड़ता २ उनके पास आया ॥ ६ ॥ रुधिर पीनेवाला वह भौंरा कर्णकी सांथल पर बैठगया और कचरका भरकर उसकी जङ्घाको घायल करदिया, परशुरामजी कर्णकी गोदीमें शिर धरे सोरहे थे (वह जाग न उठें इस भयसे) कर्ण उसको उड़ा नहीं सका और उसको मार भी नहीं सका ७ हे भरतवंशी राजन् ! इसलिये उस भौंरेने कर्णकी सांथलमें डङ्क मारदिया, परन्तु सूर्यपुत्र कर्णने गुरुके जाग उठनेके भयसे उसकी उपेक्षा ही की (उड़ानेका उद्योग नहीं किया) ॥ ८ ॥ भौंरेके काटनेसे बड़ी पीड़ा होनेलगी, तो भी कर्णने धीरजसे उसको सहलिया, वह जरा हिला डुला भी नहीं और उस पीड़ाको कुछ भी न गिनकर परशुरामजीके मस्तकको गोदीमें लियेहुए बैठा ही रहा ॥ ९ ॥ परन्तु जब कर्णके शरीरमेंसे निकलेहुए रुधिरसे परशुरामजीका शरीर भीगगया तब तेजस्वी परशुरामजी जागउठे और क्रोधमें होकर इसप्रकार

तदाबुध्यत तेजस्वी सन्त्रस्तश्चेदमब्रवीत् ॥ १० ॥ अहोऽस्यशुचितां प्राप्तः किमिदं क्रियते त्वया । कथयस्व भयं त्यक्त्वा याथातथ्यमिदं मम ॥ ११ ॥ तस्य कर्णस्तदाचष्ट कृमिणा परिदंशनम् । ददर्श रामस्तञ्चापि कृमिं शूकरसन्निभम् ॥१२॥ अष्टपादं तीक्ष्णदंष्ट्रं सूचीभिरिव सम्वृतम् । रोमभिः सन्निरुद्धांगमलर्कं नाम नामतः ॥१३॥ स दृष्टमात्रो रामेण कृमिः प्राणानवासृजत् । तस्मिन्नेवासृजि क्लिन्नस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १४ ॥ ततोन्तरिक्षे ददृशे विश्वरूपः करालवान् । राक्षसो लोहितग्रीवः कृशांगो मेघवाहनः ॥१५॥ स रामं प्राञ्जलिर्भूत्वा बभाषे पूर्णमानसः ।

कहनेलगे ॥ १० ॥ ओः ! मैं तेरे रुधिरसे अपवित्र होगया ! तूने यह क्या किया ? तू निर्भय होकर मुझे ठीक बात बता ॥११॥ परशुरामजी की बात सुनकर कर्णने भौंरेका अपनी जाँघमें काटना और उससे रुधिर निकलना आदि सब वृत्तान्त गुरुको सुनादिया, रुधिर पीकर शूकरकी समान फूलेहुए भौंरेको परशुरामजीने देखा॥१२॥ उस प्राणीके आठ चरण थे, तीखी डाढ थी, शरीर परके बाल सुईकी समान तीक्ष्ण थे और उनसे उसका शरीर ढक रहा था उसका नाम अलर्क था ।१३। ज्योंही परशुरामजीने उसकी ओरको देखा, कि-उस प्राणीके प्राण निकल गए और वह उस रुधिरमें गिरगया, यह एक बड़े ही आश्चर्यकी घटना हुई ॥ १४ ॥ उस विषैले प्राणीके मरजाने पर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाला एक भयानक राक्षस आकाशमें दीखा, उस राक्षसके अङ्ग काले २ थे, कण्ठ लाल रङ्गका था और मेघरूप वाहन पर सवार था ॥ १५ ॥ जिसका काम पूरा होगया है ऐसा वह राक्षस दोनों हाथ जोडकर गिडगिडाती हुई वाणीमें परशुरामजीसे कहने लगा, कि-हे भृगुकुलमें श्रेष्ठ पुरुष ! आपका कल्याण हो, हे मुनिश्रेष्ठ ! आपने मुझे इस नरकके कष्टसे छुड़ादिया,

स्वस्ति ते भृगुशार्दूल गमिष्यामि यथागतम् ॥ १६ ॥ मोक्षितो नरकादस्माद्भविता मुनिसत्तम । भद्रञ्च तेस्तु वन्दे त्वां प्रियं मे भवता कृतम् ॥ १७ ॥ तमुवाच महाबाहुर्जामदग्न्यः प्रतापवान् । कस्त्वं कस्माच्च नरकं प्रतिपन्नो ब्रवीहि तत् ॥ १८॥ सोऽब्रवीद-हमास प्राक् दंशो नाम महासुरः । पुरा देवयुगे तात भृगोस्तुल्यवया इव ॥ १९ ॥ सोऽहं भृगोः सुदयितां भार्यामपहरं बलात् । महर्षे-रभिशापेन कृमिभूतोपतं भुवि ॥ २० ॥ अब्रवीद्धि स मां क्रोधा-त्तव पूर्वपितामहः । मूत्रश्लेष्माशनः पाप निरयं प्रतिपत्स्यसे २१ शापस्यान्तो भवेद्ब्रह्मन्नित्येवं तमथाब्रुवम् । भविता भार्गवा-द्रामादिति मामब्रवीद्भृगुः ॥२२॥ सोऽहमेनां गतिं प्राप्तो यथा न

आपका कल्याण हो, मैं आपको प्रणाम करता हूँ, आपने मेरा हित किया है, अब मैं जिस स्थानसे आया था वहाँ ही जाऊँगा ॥ १६ ॥ १७ ॥ राक्षसकी इस बातको सुनकर महाबाहु प्रतापी परशुराम बोले कि-अरे ! तू कौन है ? और नरकमें किसलिये पड़ा था ? यह सब मुझे बता ॥१८॥ राक्षस ने कहा, कि-मैं पहले सत्ययुगमें दंश नामका बड़ा भारी असुर था, मेरी अवस्था भी भृगु ऋषिके समान ही थी, एक समय मैंने भृगु ऋषिकी सुदयिता नामकी भार्याको बलात्कारसे छीनलिया, इसपर भृगुने मुझे शाप दिया कि-तू कृमि होकर पृथिवी . पर जन्म ले उस शापसे मैंने कृमिकी योनिमें जन्म लिया था।१९-२०। बड़े ही क्रोधमें भरे हुए तुम्हारे पूर्वज भृगु ऋषिने मुझसे कहा, कि- अरे पापी ! तू मूत्र खखारका भक्षण करनेवाला कीड़ा होकर नरकमें पड़ेगा ॥ २१ ॥ हे परशुराम ! भृगुने मुझे इस प्रकार शाप दिया (तब मैंने उनसे बूझा, कि-इस शापसे मेरी मुक्ति कब होगी ? तब) मेरे ऊपर अनुग्रह करके उन्होंने कहा, कि-तेरे इस शापका अन्त मेरे कुलमें उत्पन्न हुए परशुराम

कुशलन्तथा । त्वया साधो समागम्य विमुक्तः पापयोनितः ॥२३॥ एवमुक्त्वा नमस्कृत्य ययौ रामं महासुरः । रामः कर्णञ्च सक्रोधमिदं वचनमब्रवीत् ॥२४॥ अतिदुःखमिदं मूढ न जातु ब्राह्मणः सहेत् । क्षत्रियस्येव ते धैर्य्यं कामया सत्यमुच्यताम् ॥ २५ ॥ तमुवाच ततः कर्णः शापाद्भीतः प्रसादयन् । ब्रह्मक्षत्रान्तरे जातं सूतं मां विद्धि भार्गव ॥ २६ ॥ राधेयः कर्ण इति मां प्रवदन्ति जना भुवि । प्रसादं कुरु मे ब्रह्मन्नस्त्रलुब्धस्य भार्गव ॥ २७ ॥ पिता गुरुर्न संदेहो वेदविद्याप्रदः प्रभुः । अतो भार्गव इत्युक्तं मया गोत्रं तवान्तिके ॥ २८ ॥ तमुवाच भृगुश्रेष्ठः सरोषः प्रहसन्निव ।

करेंगे।२२।इस प्रकार मैं भृगु ऋषिके शापसे इस कीटयोनिमें उत्पन्न हुआ था, इस योनिमें मुझे जरा भी सुख नहीं मिला था, परन्तु हे महात्मन्!आपका समागम होनेसे इस पाप योनिसे मेरा उद्धार होगया ॥ २३ ॥ इतना कह परशुरामजीको प्रणाम करके वह महाअसुर अपने स्थानको चलागया तदनन्तर परशुराम क्रोध करके कर्णसे कहने लगे, कि-॥२४॥ अरे मूढ! (मुझे बता, तू कौन है ?) ब्राह्मणजातिका मनुष्य ऐसी महापीड़ाको कभी नहीं सह सकता, तेरा धीरज क्षत्रियकेसा है,इसलिए तू निर्भय होकर सत्यर बता, कि-तू किस जातिका है ? ॥ २५ ॥ परशुरामकी बात सुनकर उनके शापसे डरा हुआ कर्ण उनको प्रसन्न करता हुआ कहने लगा, कि-हे भृगुवंशी महाराज ! आपको मालूम हो कि-मैं ब्राह्मण और क्षत्रियसे उत्पन्न होनेवाली सूतजातिमें उत्पन्न हुआ हूँ ॥ २६ ॥ जगत्में लोग मुझे राधाका पुत्र कर्ण इस नामसे पुकारते हैं,हे भृगुवंशी ऋषे ! मैंने ब्रह्मास्त्र सीखनेके लोभसे (मैं ब्राह्मण हूँ, ऐसा मिथ्या कहकर) यह कपट किया है,आप मेरे ऊपर कृपा करिये,निःसन्देह वेदविद्याका पढ़ानेवाला गुरु पिता कहलाता है, इसलिए ही मैंने आपको अपना भार्गव

भूमौ निपतितं दीनं वेपमानं कृताञ्जलिम् ॥ २९ ॥ यस्मान्मिथ्योपचरितो ह्यस्त्रलोभादिह त्वया । तस्मादेतन्न ते मूढ ब्रह्मास्त्रं प्रतिभास्यति ॥ ३० ॥ अन्यत्र वधकालात्ते सदृशेन समेयुषः । अब्राह्मणे न हि ब्रह्म ध्रुवं तिष्ठेत् कदाचन ॥ ३१ ॥ गच्छेदानीं न ते स्थानमनृतस्येह विद्यते । न त्वया सदृशो युद्धे क्षत्रियो भविता युधि ॥ ३२ ॥ एवमुक्तः स रामेण न्यायेनोपजगाम ह । दुर्योधनमुपागम्य कृतास्त्रोऽस्मीति चाब्रवीत् ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि
कर्णास्त्रप्राप्तिकथने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

नारद उवाच । कर्णस्तु समवाप्यैवमस्त्रं भार्गवनंदनात् । दुर्यो-

---

गोत्र बतलाया था ॥२७-२८॥ इस प्रकार दीन बने और थर २ काँपते तथा दोनों हाथ जोड़कर पृथिवी पर पड़ेहुए कर्णने कहा, तब क्रोधमें भरेहुए परशुराम हँसते हुए हों, ऐसी दृष्टि कर कर्णसे कहने लगे कि–॥२९॥ अरे मूढ़! ब्रह्मास्त्रके लोभसे तूने मिथ्या बोलकर मुझे धोखा दिया है, इसलिए मरणके समयके सिवाय और सब समय तुझे ब्रह्मास्त्रका स्मरण रहेगा, संग्राममें बराबरवाले योधाके साथ युद्ध करते समय तू ब्रह्मास्त्रको निःसंदेह भूलजायगा, क्योंकि–तू ब्राह्मण नहीं है ॥३०–३१॥ अरे दुष्ट! तू मेरे आश्रम मेंसे चला जा, यह स्थान मिथ्यावादियोंके रहनेके लिए नहीं है, परन्तु (सुन) तूने बहुत दिनों तक मेरी सेवा की है, इसलिए तुझसे कहता हूँ, कि–तेरी समान संग्राममें पृथिवी पर दूसरा क्षत्रिय नहीं होसकेगा ॥ ३२ ॥ परशुरामजीके ऐसे न्याय युक्त वचन सुनकर कर्ण प्रणाम करके वहाँसे विदा हुआ और उसने दुर्योधनके पास आकर कहा, कि–मैं ब्रह्मास्त्रकी विद्या सीखकर आया हूँ ॥ ३३ ॥ तीसरा अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥ छ ॥

कर्णने कहा, कि–हे भरतसत्तम राजन्! इस प्रकार भृगुपुत्र

धनेन सहितो मुमुदे भरतर्षभ ॥ १ ॥ ततः कदाचिद्राजानः समाजग्मुः स्वयम्वरे । कलिङ्गविषये राजन्राज्ञश्चित्राङ्गदस्य च ॥ २ ॥ श्रीमद्राजपुरं नाम नगरं तत्र भारत । राजानः शतशस्तत्र कन्यार्थे समुपागमन् ॥ ३ ॥ श्रुत्वा दुर्योधनस्तत्र समेतान्सर्वपार्थिवान् । रथेन काञ्चनांगेन कर्णेन सहितो ययौ ॥ ४ ॥ ततः स्वयम्वरे तस्मिन्संप्रवृत्ते महोत्सवे । समाजग्मुर्नृपतयः कन्यार्थे नृपसत्तम ५ शिशुपालो जरासंधो भीष्मको वक्र एव च । कपोतरोमा नीलश्च रुक्मी च दृढविक्रमः ॥ ६ ॥ शृगालश्च महाराजः स्त्रीराज्याधिपतिश्च यः । अशोकः शतधन्वा च भोजो वीरश्च नामतः ॥ ७ ॥ एते चान्ये च बहवो दक्षिणां दिशमाश्रिताः । म्लेच्छाचार्याश्च राजानः प्राच्योदीच्यास्तथैव च ॥ ८ ॥ कांचनाङ्गदिनः सर्वे शुद्ध-

परशुरामसे ब्रह्मास्त्र सीखकर कर्ण दुर्योधनसे आमिला और उसके साथ रहकर आनन्दमें दिन विताने लगा॥१॥ हे राजन् ! एक समय कलिङ्गदेशके राजपुर नगरके राजा चित्राङ्गदने अपनी पुत्रीके लिए स्वयंवर रचा, उस महोत्सवमें कन्याको विवाहनेके लिए सैंकड़ों राजे इकट्ठे हुए थे ॥२-३॥ दुर्योधनको मालूम हुआ, कि-सब राजे कलिङ्गदेशके राजपुर नगरमें (स्वयम्वरकी कन्याको वरनेके लिए) इकट्ठे हुए हैं, इसलिए वह भी कर्णके साथ सुवर्णसे जड़े रथमें बैठकर आरम्भ कियेहुए स्वयम्वरके महोत्सवमें गया ॥४-५॥ शिशुपाल जरासन्ध, भीष्म, वक्र, कपोतरोमा, नील, दृढ़पराक्रमी रुक्मी, महाराज शृगाल, कामरूप देशका राजा, अशोक, शतधन्वा, भोज, वीर, इनके सिवाय दक्षिण देशके म्लेच्छ राजे, आर्यराजे, पूर्व तथा उत्तर दिशाके राजे भी उस स्वयम्वरके महोत्सवमें उस कन्याको वरनेके लिये आये थे ॥६-८॥ स्वयम्वरमें आयेहुए सब राजे सुवर्णके बाजूबन्द पहरे हुए थे, उनके शरीरका रङ्ग भी शुद्ध सोनेकेसा

जाम्बूनदप्रभाः । सर्वे भास्वरदेहाश्च व्याघ्रा इव बलोत्कटाः ॥९॥ ततः समुपविष्टेषु तेषु राजसु भारत । विवेश रंगं सा कन्या धात्री-वर्षवरान्विता ॥ १० ॥ ततः संश्राव्यमाणेषु राज्ञां नामसु भारत। अत्यक्रामद्धार्त्तराष्ट्रं सा कन्या वरवर्णिनी ॥ ११ ॥ दुर्योधनस्तु कौरव्यो नामर्षयत लंघनम् । प्रत्यषेधच्च तां कन्यामसत्कृत्य नराधिपान् ॥ १२ ॥ स वीर्यमदमत्तत्वाद्भीष्मद्रोणावुपाश्रितः । रथमारोप्य तां कन्यामाजहार नराधिपः ॥ १३ ॥ तमन्वगाद्रथी खड्गी बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् । कर्णः शस्त्रभृतां श्रेष्ठः पृष्ठतः पुरुषर्षभः ॥ १४ ॥ ततो विमर्दः सुमहान्राज्ञामासीद्युयुत्सताम् ।

था. वे सब राजे तेजस्वी और व्याघ्रकी समान उत्कट बलवाले थे ॥ ९ ॥ हे भरतवंशी राजन ! स्वयम्वरमें आयेहुए आगन्तुक राजे आसनों पर बैठगये तब राजकन्याने अपनी धाई और रक्षक हीजड़ोंके साथ रङ्गभूमिमें प्रवेश किया ॥ १० ॥ हे भरतवंशी राजन् ! उस राजकन्याको राजाओंके नाम सुनाये गये. सुन्दर-स्वभाववाली वह राजकन्या दुर्योधन (के पास आयी और उसके गुण सुने, परन्तु उस) को वरमाला न पहराकर (दूसरेकी समान उसको भी कुछ नहीं समझा और) आगेको चलीगई. कुरुवंशी दुर्योधन इस अपमानको नहीं सहसका, उसने राजाओंका तिरस्कार करके उस कन्याको आगे बढनेसे रोका ॥११-१२॥ बलसे मदमत्त हुए दुर्योधन भीष्म और द्रोणके बलका भरोसा रखकर उस कन्याको रथमें बैठ उसको हरकर लेजानेको उद्यत हुआ और (कोपमें भरेहुए) राजाओंको युद्ध करनेके लिये बुलाया ॥ १३ ॥ दुर्योधन उस कन्याको रथमें बैठाल कर ज्योंही आगेको बढा, कि-हे महाराज ! जिसकी कमरमें तलवार लटक रही थी और हाथोंमें गोहके चमड़ेके मोजे पहरे हुए था ऐसा शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ कर्ण रथमें बैठकर उसके पीछे चलदिया १४ यह देखकर युद्ध करना चाहनेवाले राजाओंमें कोलाहल मचगया,

सन्नह्यतां तनुत्राणि रथान्योजयतापरे ॥ १५ ॥ तेऽभ्यधावंत संक्रुद्धाः कर्णदुर्योधनावुभौ । शरवर्षाणि मुञ्चन्तो मेघाः पर्वतयोरिव ॥ १६ ॥ कर्णस्तेषामापततामेकैकेन शरेण ह । धनूंषि च शरव्रातान्पातयामास भूतले ॥ १७ ॥ ततो विधनुषः कांश्चित्कांश्चिदुद्यतकार्मुकान् । कांश्चिच्चोद्वहतो बाणान् रथशक्तिगदास्तथा ॥१८॥ लाघवाद् व्याकुलीकृत्य कर्णः प्रहरतांवरः । हतसूतांश्च भूयिष्ठानवजिग्ये नराधिपान् ॥ १९ ॥ ते स्वयं वाहयंतोऽश्वान् पाहि पाहीति वादिनः। व्यपेयुस्ते रणं हित्वा राजानो भग्नमानसाः ॥ २० ॥ दुर्योधनस्तु कर्णेन पाल्यमानोऽभ्ययात्तदा । हृष्टः कन्यामुपादाय नगरं नागसाह्वयम् ॥२१॥ चतुर्थोऽध्यायः॥४॥

वे कहनेलगे, कि–कवच पहरो, रथोंको जोडकर तयार करो! राजे तयार होगए और बडाभारी संहार होनेलगा, बड़ेभारी क्रोधमें भरेहुए राजे कर्ण और दुर्योधनके ऊपर जाचढे और जैसे मेघ दो पर्वतोंके ऊपर जलकी वर्षा करता है, तैसे कर्ण और दुर्योधनके ऊपर बाणोंकी वर्षा करनेलगे ॥ १५–१६ ॥ परन्तु चढकर आगेहुए राजाओंके धनुषोंको और बाणोंको एक२ बाण के प्रहारसे कर्ण पृथ्वी पर गिरानेलगा ॥१७॥ बड़ेभारी योधा कर्णने कितने ही धनुषसे शून्य, कितने ही धनुष उठाये हुए, कितने ही रथ शक्ति और गदा धारण करनेवाले तथा कितने ही सारथीहीन राजाओंको शस्त्र चलानेकी फुरतीसे घबराहटमें डालदिया और उनको जीतलिया ॥ १८॥१९ ॥ जिनके सारथी मरगए थे ऐसे राजे स्वयं अपने रथोंके घोडोंको हाँकरहे थे, वे (कर्णकी मारसे) मनमें उदास होगए और हमारी रक्षा करो, हमारी रक्षा करो इसप्रकार चिल्लाते हुए रणको छोडकर भाग गए २० और कर्णसे रक्षा पाताहुआ दुर्योधन मनमें प्रसन्न होता हुआ उस कन्याको लेकर हस्तिनापुरकी ओरको चलागया २१ चौथा अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥ छ ॥ छ ॥

नारद उवाच । आविष्कृतबलं कर्णं श्रुत्वा राजा स मागधः । आह्वयद् द्वैरथेनाजौ जरासंधो महीपतिः ॥ १ ॥ तयोः समभवद्युद्धं दिव्यास्त्रविदुषोर्द्वयोः । युधि नानाप्रहरणैरन्योन्यमभिवर्षतोः २ क्षीणबाणौ विधनुषौ भग्नखड्गौ महीं गतौ । बाहुभिः समसज्जेतामुभावपि बलान्वितौ ॥३॥ बाहुकंटकयुद्धेन तस्य कर्णोथ युध्यतः । बिभेद संधिं देहस्य जरया श्लेषितस्य हि ॥ ४ ॥ सविकारं शरीरस्य दृष्ट्वा नृपतिरात्मनः । प्रीतोऽस्मीत्यब्रवीत्कर्णं वैरमुत्सृज्य दूरतः ॥५॥ प्रीत्या ददौ स कर्णाय मालिनीं नगरीमथ । अंगेषु नरशार्दूल स राजासीत्सपत्नजित् ॥ ६ ॥ पालयामास चंपाञ्च

नारदने कहा, कि–हे राजा युधिष्ठिर ! इसप्रकार कर्णने अपना पराक्रम प्रसिद्ध किया, यह बात मगध देशके राजा जरासन्धके सुननेमें आयी, इसलिये उसने कर्णको द्वन्द्वयुद्धके लिये बुलाया ।१। कर्ण तहाँ गया और दिव्य अस्त्रोंके प्रयोगको जाननेवाले उन दोनोंमें युद्ध हुआ इस द्वन्द्वयुद्धमें दोनोंजने एक दूसरेके ऊपर अनेकों प्रकारके अस्त्रोंकी वर्षा करने लगे ॥ २ ॥ जब उन दोनों वीर पुरुषोंके बाण निबडगए, धनुष और तलवारें भी टूटगईं तब वे दोनों बलवान् योधा पृथिवी पर खड़े होकर बाहु-युद्ध करनेलगे ॥ ३ ॥ युद्ध करते २ कर्णने बाहुकण्टक नामके दाँवसे जरासन्धके शरीरको जरा राक्षसीने जो जोड़दिया था उस जोड़ परसे तोड़डाला ॥ ४ ॥ जरासन्धने अपने शरीरका जोड़ टूटनारूप विकार देखकर कर्णके साथ वैरभावको छोड़दिया और वह कहनेलगा, कि–मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूँ ॥ ५ ॥ और हे राजन् ! फिर जरासन्धने कर्णको अङ्गदेशमेंकी मालिनी नगरी देदी, इसप्रकार कर्ण शत्रुओंका पराजय करके राजा बनगया, पहले कर्ण केवल अङ्ग देशका राजा था. परन्तु इसके बाद दुर्योधनकी संमतिसे शत्रुओंका पराजय करनेवाला कर्ण (मालिनी

कर्णः परबलार्दनः। दुर्योधनस्यानुमते तत्रापि विदितं तथा ॥७॥
एवं शस्त्रप्रतापेन प्रथितः सोऽभवत्क्षितौ। त्वद्धितार्थं सुरेन्द्रेण
भिक्षिते वर्मकुण्डले ॥ ८ ॥ स दिव्ये सहजे प्रादात्कुण्डले पर-
मार्चिते। सहजं कवचञ्चापि मोहितो देवमायया ॥ ९ ॥ विमुक्तः
कुण्डलाभ्यां च सहजेन च वर्मणा। निहतो विजयेनाजौ वासु-
देवस्य पश्यतः ॥ १० ॥ ब्राह्मणस्याभिशापेन रामस्य च महा-
त्मनः। कुन्त्याश्च वरदानेन मायया च शतक्रतोः ॥११॥ भीष्मा-
वमानात्संख्यायां रथस्यार्धानुकीर्तनात्। शल्यात्तेजोवधाच्चापि
वासुदेवनयेन च। १२ ॥ रुद्रस्य देवराजस्य यमस्य वरुणस्य च।
कुबेरद्रोणयोश्चैव कृपस्य च महात्मनः ॥ १३ ॥ अस्त्राणि

देशकी) चम्पा नगरीमें भी राज्य करनेलगा, इस बातको तुम भी जानते हो ॥ ६ ॥ ७ ॥ इसप्रकार अपने शस्त्रके प्रतापसे कर्ण पृथिवी पर बहुत ही प्रसिद्ध होगया था, तुम्हारा हित करनेके लिये एक समय इन्द्रने कर्णके पास जाकर उसके अङ्गमें चिपटेहुए कवच और कुण्डल माँगे, तब इन्द्रसरीखा स्वर्गका राजा मेरे पास भीख माँगनेको आया है, यह जानकर उदारचित्त कर्णने देवकी मायासे मोहित होकर अपने जन्मके साथ ही उत्पन्न हुए कवच तथा परम पूजनीय दिव्य कुण्डल शरीरपरसे उतार कर इन्द्रको देदिये ॥ ८ ॥ ९ ॥ और इसकारण वह जन्मके समय अपने साथ उत्पन्न हुए कुण्डल और कवचसे शून्य होगया, इसलिये ही अर्जुनने युद्धमें श्रीकृष्णके सामने उसको मारडाला ॥११॥ और गौका वध करने पर ब्राह्मणने जो शाप दिया था उसके कारणसे (अपनेसे हिरस रखनेवाले अर्जुनके हाथसे) तथा महात्मा परशुरामजीके शापके कारणसे(अन्तकाल में ब्रह्मास्त्र विस्मरण होजाने पर) कुन्तीको कर्णने जो वरदान दिया था (कि-तेरे चार पुत्रोंको नहीं मारूँगा)उस कारणसे,

दिव्यान्यादाय युधि गांडीवधन्वना। हतो वैकर्तनः कर्णो दिवाकर-
समद्युतिः ॥ १४ ॥ एवं शप्तस्तव भ्राता बहुभिश्चापि वञ्चितः।
न शोच्यः पुरुषव्याघ्र युद्धेन निधनङ्गतः ॥ १५ ॥ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि
कर्णवीर्यकथनं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच। एतावदुक्त्वा देवर्षिर्विरराम स नारदः।
युधिष्ठिरस्तु राजर्षिर्दध्यौ शोकपरिप्लुतः ॥१॥ तं दीनमनसं वीरं
शोकोपहतमातुरम्। निःश्वसंतं यथा नागं पर्यश्रुनयनं तथा ॥२॥

इन्द्रकी मायाके कारणसे(कवच कुण्डल जानेसे साधारण शरीर-
धारी होजानेके कारण) रथियोंकी गिनतीके समय भीष्मने जो
कर्णका अर्धरथी कहकर अपमान किया था इससे (खिन्न होने
पर उत्साहहीन हो जानेके कारणसे) राजा शल्यके किये हुए
तेजोवधके कारणसे, श्रीकृष्णकी नीतिसे (कि-कर्णका पहिया
भूमिमें घुस गया है, इस समय अवसर है, मारदे) और अन्तमें
अर्जुनको मिले हुये रुद्र, इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, द्रोण और
महात्मा कृपाचार्यके दिव्य अस्त्रोंके प्रतापसे सूर्यकी समान कान्ति
वाले कर्णको अर्जुनने संग्राम में मारडाला ॥१४-१५॥ हे राजा
युधिष्ठिर!तुम्हारे भाईको ब्राह्मणने तथा परशुरामने शाप देदिया
था और (इन्द्रादि) बहुतसोंने उसको (मायासे) ठगा था,तो
भी वह पुरुषव्याघ्र युद्ध करता २ ही मरा था, इसलिये तुम उसका
शोक न करो ॥ १५ ॥ पाँचवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे राजा जनमेजय! देवर्षि नारद
इतनी बात कहकर चुप होगए, तदनन्तर शोकमें डूबेहुए राजर्षि
युधिष्ठिर फिर चिन्तामें पडगए, शोकसे दबकर वह मनमें दीनसे
बनगए और साँपकी समान वारम्वार लम्बे साँस लेतेहुए रोने
लगे ॥ १-२ ॥ युधिष्ठिरकी यह दशा देखकर शोकातुर हुई तथा

कुन्ती शोकपरीताङ्गी दुःखोपहतचेतना । अब्रवीन्मधुरा भाषा काले वचनमर्थवत् ॥३॥ युधिष्ठिर महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि । जहि शोकं महाप्राज्ञ शृणु चेदम्वचो मम ॥ ४ ॥ यातितः स मया पूर्वं भ्रातृत्वं ज्ञापयितुं तव । भास्करेण च देवेन पित्रा धर्मभृताम्वरः ॥५॥ यद्वाच्यं हितकामेन सुहृदा हितमिच्छता । तथा दिवाकरेणोक्तः स्वप्नान्ते मम चाग्रतः ॥ ६ ॥ न चैनमशकद्भानुरहं वा स्नेहकारणैः । पुरा प्रत्यनुनेतुं वा नेतुं वाप्यकतां त्वया ॥ ७ ॥ ततः कालपरीतः स वैरस्योद्धरणे रतः । प्रतीपकारी युष्माकमिति चोपेक्षितो मया ॥८॥ इत्युक्तो धर्मराजस्तु मात्रा बाष्पाकुलेक्षणः । उवाच वाक्यं धर्मात्मा शोकव्याकुलितेन्द्रियः ॥ ९ ॥

दुःखसे अचेत हुई कुन्तीदेवी उनसे कहने योग्य अर्थ भरे वचन कहनेलगी, कि-॥ ३ ॥ हे महाबाहु युधिष्ठिर ! तुझे इसप्रकार कर्णका शोक नहीं करना चाहिये, हे महाप्राज्ञ ! इस शोकको त्यागदे और मेरी बात सुन ॥४॥ पहले भगवान् सूर्यनारायणने और मैंने 'राजा युधिष्ठिर तेरा भाई लगता है' यह बात कर्णको जतानेका उद्योग किया था ॥५॥ और संबन्धीका हित करनेकी इच्छासे संबन्धीको जो बात कहनी चाहिये वह बात सूर्यनारायणने एक समय स्वप्नमें तथा दूसरे समय मेरे सामने उससे कही थी ६ मैंने तथा सूर्यने बहुतसे प्रेमके कारण दिखाकर उसको समझाया था और तेरे साथ मित्रता करादेनेका विचार किया था हम उसको समझा नहीं सकते थे ॥ ७ ॥ वह कालसे घिर गया था, इसलिए ही वैरका बदला लेनेको तयार हुआ था और वह तेरे साथ शत्रुता करता था और इस लिए ही मैंने उसकी परवाह करना छोड़दिया था ॥ ८ ॥ इस प्रकार माता कुन्तीने धर्मराजसे कहा, तब शोकसे जिनकी इन्द्रियें व्याकुल होगई थीं ऐसे धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर आँखोंमें आँसू

भक्त्या गूढमन्त्रत्वात्पीडितोऽस्मीत्युवाच ताम् ॥ १० ॥ शशाप च महातेजाः सर्वलोकेषु योषितः । न गुह्यं धारयिष्यन्तीत्येवं दुःख-समन्वितः ॥ ११ ॥ स राजा पुत्रपौत्राणां संबन्धिसुहृदां तदा । स्मरन्नुद्विग्नहृदयो बभूवोद्विग्नचेतनः ॥१२॥ ततः शोकपरीतात्मा सधूम इव पावकः । निर्वेदमगमद्धीमान् राजा संतापपीडितः॥१३॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि स्त्रीशापे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच।युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा शोकव्याकुलचेतनः । शुशोच दुःखसंतप्तः स्मृत्वा कर्णं महारथम् ॥१॥ आविष्टो दुःख-शोकाभ्यां निःश्वसंश्च पुनः पुनः । दृष्ट्वार्जुनमुवाचेदं वचनं शोक-कर्शितः ॥ २ ॥ युधिष्ठिर उवाच । यद्भैक्षमाचरिष्याम वृष्ण्यन्ध-

---

भरकर कहने लगे, कि-॥ ९ ॥ हे माताजी ! तुमने यह बात छुपा रक्खी, इसलिए ही आज मुझे सन्ताप करनेका अवसर आया है ॥ १० ॥ फिर महातेजस्वी राजा युधिष्ठिरने बहुत ही दुःखी होकर जगत्की सब स्त्रियोंको शाप दिया कि-"आजसे कोई भी स्त्री बात गुप्त नहीं रखसकेगी"॥ ११ ॥ फिर राजा युधिष्ठिर पुत्र, पौत्र सम्बन्धी और स्नेहियोंके विनाशको याद करके मनमें बहुत ही उदास होगए ॥ १२ ॥ और जैसे अग्नि धुएँसे ढकजाता है तैसे ही जिनका मन शोकसे छाया हुआ था ऐसे, संतापसे पीडा पाते हुए बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिर बड़ा भारी खेद करने लगे।१३। छठा अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥ ❀ ❀ ❀

वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे जनमेजय ! धर्मात्मा राजा युधि-ष्ठिरका मन उस समय शोकसे व्याकुल होरहा था, वह महारथी कर्णको याद करके दुःखके कारण शोक कर रहे थे ॥ १ ॥ वह दुःख तथा शोकमें भरे हुए थे, तले ऊपर श्वास लेरहे थे, शोकसे दुर्बल होरहे थे, उन्होंने अर्जुनको देखकर कहा, ॥२॥

न्धकपुरे चयम् । ज्ञातीन्निष्पुरुषान् कृत्वा नेमां प्राप्स्याम दुर्गतिम् ॥ ३ ॥ अमित्रा नः समृद्धार्था वृत्तार्थाः कुरवः किल । आत्मानमात्मना हत्वा किं धर्मफलमाप्नुमः ॥ ४ ॥ धिगस्तु क्षात्रमाचारं धिगस्तु बलपौरुषम् । धिगस्त्वमर्षं येनेमामापदं गमिता वयम् ॥५॥ साधु क्षमा दमः शौचं वैराग्यं चाप्यमत्सरः। अहिंसा सत्यवचनं नित्यानि वनचारिणाम् ॥ ६ ॥ वयन्तु लोभान्मोहाच्च दम्भं मानञ्च संश्रिताः । इमामवस्थां संप्राप्ता राज्यलाभबुभुत्सया ॥७॥ त्रैलोक्यस्यापि राज्येन नास्मान् कश्चित्प्रहर्षयेत् ।

युधिष्ठिरने कहा, कि-हे अर्जुन! वृष्णि और अन्धक देशोंमें जाकर हम ने भीख माँगकर निर्वाह करलिया होता तो आज अपने संबंधियों को निर्वंश करनेके कारण हमारी ऐसी दुर्गति होनेका अवसर नहीं आता॥३॥इस समय हमारे वैरियोंने सामनेसे पैदल आकर क्षत्रियधर्मसे युद्ध किया है तथा उन्होंने स्वर्गलोक पाया है और हमने तो सम्बन्धियोंका नाश करके अपने पुरुषार्थका ही नाश करडाला है, हाय हमने अपना ही नाश करलिया, इसलिए क्या अब हमें धर्मका फल (स्वर्ग या यश) मिलेगा? ॥ ४ ॥ क्षत्रिय के आचारको धिक्कार है ! उसके बल और पुरुषार्थको भी धिक्कार है ! उसकी असहनशीलताको भी धिक्कार है इस कारणसे ही हम ऐसी आपत्तिमें आपड़े हैं ॥ ५ ॥ मेरी समझमें अब ही आया है कि–क्षमा, दम, शौच (भीतरी और बाहरी शुद्धि), वैराग्य किसीको देखकर डाह न करना अहिंसा और सत्य बोलना ये वनवासियोंके धर्म ही श्रेष्ठ हैं ॥६॥ परन्तु हमने तो लोभ और मोहके कारण राज्यको लेनेकी इच्छा करके दम्भ और मानको ही अपनाया था और इसलिये ही हमारी यह दशा हुई है॥७॥ अपने भाइयोंको पृथ्वीके जीतनेके इच्छुक देख कर हमने उनको मारडाला और दुःखमें डूबगये हैं, इस समय

बान्धवान्निहतान् दृष्ट्वा पृथिव्यां विजयैषिणः ॥ ८ ॥ ते वयं पृथिवीहेतोरवध्यान् पृथिवीश्वरान्। संपरित्यज्य जीवामो हीनार्था हतबान्धवाः ॥ ६ ॥ आमिषे गृध्यमानानामशुभं वै शुनामिव। आमिषञ्चैव नो हीष्टमामिषस्य विवर्जनम् ॥ १० ॥ न पृथिव्या सकलया न सुवर्णस्य राशिभिः। न गवाश्वेन सर्वेण ते त्याज्या य इमे हताः ॥ ११ ॥ काममन्युपरीतास्ते क्रोधहर्षसमन्विताः। मृत्युयानं समारुह्य गता वैवस्वतक्षयम् ॥ १२ ॥ बहुकल्याण-संयुक्तानिच्छन्तिपितरः सुतान्। तपसा ब्रह्मचर्येण सत्येन च तितिक्षया ॥ १३ ॥ उपवासैस्तथेज्याभिर्व्रतकौतुकमङ्गलैः। लभन्ते

हमें कोई त्रिलोकीका राज्य देय तो भी हमें प्रसन्न नहीं कर सकता ॥ ८ ॥ हाय! राज्य पानेके लिये हमने जिनको मारना नहीं चाहिये था ऐसे अपनी कुटुम्बी राजाओंको मारडाला और अब पुरुषार्थशून्य तथा बान्धवहीन होकर जीरहे हैं ॥६॥ जैसे कुत्ते मांसके टुकड़ेके लिए आपसमें लड़कर अपना ही अशुभ करलेते हैं, ऐसे ही हमने भी राज्यके लिए आपसमें युद्ध करके अपना ही नाश करलिया है, अब यह राज्यरूप मांस हमें अच्छा नहीं लगता, इसलिए इसको त्याग देना ही अच्छा है ॥ १० ॥ हमने जिन बान्धवोंको रणमें मारा है उन बान्धवोंको सब पृथिवी मिलने पर, सुवर्णके ढेर मिलने पर अथवा गौ और घोड़े आदि पशुओंका लाभ होने पर भी नहीं मारना चाहिए था ॥ ११ ॥ परन्तु वे सब बान्धव तो डाह और पृथिवीकी सब कामनाओंको त्यागकर क्रोध और हर्ष में भरे हुए मृत्युके विमानमें बैठकर यमलोकको सिधार गए हैं ॥ १२ ॥ पिता तप, ब्रह्मचर्य, सत्य तितिक्षासे परमकल्याण वाले पुत्रोंको चाहते हैं ॥१३॥ ऐसे माताएँ उपवास भजन, व्रत कौतुक तथा माङ्गलिक कर्म करके गर्भको धारण करती हैं और

मातरो गर्भान् मासान् दश च बिभ्रति । १४ ॥ यदि स्वस्ति प्रजायन्ते जाता जीवन्ति वा यदि । संभाविता जातबलास्ते दद्युर्यदि नः सुखम् ॥१५॥ इह चामुत्र चैवेति कृपणाः फलहेतवः । तासामयं समुद्योगो निर्वृत्तः केवलोऽफलः ॥ १६ ॥ यदासां निहताः पुत्रा युवानो मृष्टकुण्डलाः ॥ १७ ॥ अभुक्त्वा पार्थिवान् भोगानृणान्यनपहाय च । पितृभ्यो देवताभ्यश्च गता वैवस्वतक्षयम् । यदैषामम्ब पितरौ जातकामावुभावपि । सञ्जातधनरत्नेषु तदैव निहता नृपाः ॥ १८ ॥ संयुक्ता काममन्युभ्यां क्रोधहर्षासमंजसा । न ते जयफलं किञ्चिद्भोक्तारो जातु कर्हिचित् ।२०।

दश महीने तक पेटमें रखती हैं ॥ १४ ॥ फिर यह सन्तान यदि सुख शान्तिसे उत्पन्न होजायगी, जन्मनेके अनन्तर यदि जीवित रह जायगी, और फिर प्रतिष्ठा पाकर तथा बलवान् होकर हमें सुख देगी ॥ १५ ॥ इस प्रकार चिन्ता करती हुई मातायें पुत्रोंके इस लोकके तथा परलोकके शुभ फलकी आशा ही आशामें अपने दिन बिता देती हैं, परन्तु हाय ! हमारे भाइयोंकी तथा सम्बन्धियोंकी माताओंकी ये सब आशायें आज निष्फल होगईं क्योंकि-उनके चमकतेहुए कुण्डलोंको पहरनेवाले जवान पुत्रोंको हमने रणमें मारडाला है वे राजकुमार राजाओंके घर जन्म लेकर राज्यके ऐश्वर्योंको नहीं भोग सके और वे देवता, ऋषि तथा पितरोंका ऋण चुकाये बिना ही (निर्वंश ही) यमपुरको सिधार गए ॥ १६-१८ ॥ शोक है, कि जब कौरवोंके माता पिता गान्धारी और धृतराष्ट्रका धनरत्न आदि राजकीय ऐश्वर्योंके सुखोंको भोगनेका समय आया तब उनके पुत्र रणमें मारे गए ॥१९॥ धनकी अभिलाषावाले और धन न मिलनेसे दीन हुए तथा क्रोध और हर्षसे अधम दशामें पड़े हुए पुरुष जयरूप फलका जरा भी लाभ नहीं पासकते ॥ २० ॥ मेरी समझमें

पञ्चालानां कुरूणाञ्च हता एव हि ये हताः । न चेत्सर्वानयं लोकः पश्येत्स्वेनैव कर्मणा ॥२१॥ वयमेवास्य लोकस्य विनाशे कारणं स्मृताः । धृतराष्ट्रस्य पुत्रेषु तत्सर्वं प्रतिपत्स्यति ॥ २२ ॥ सदैव निकृतिप्रज्ञो द्वेष्टा मायोपजीवनः । मिथ्याविनीतः सततमस्मास्वनपकारिषु ॥ २३ ॥ न सकामा वयं ते च न चास्माभिर्न तैर्जितम् । न तैर्भुक्तेयमवनिर्न नार्यो गीतवादितम् ॥ २४ ॥ नामात्यसुहृदां वाक्यं न च श्रुतवतां श्रुतम् । न रत्नानि पराध्यानि न भूर्न द्रविणागमः ॥ २५ ॥ अस्मद्द्वेषेण सन्तप्तः सुखं

पांचाल राजाओंके और कौरवोंके जो योधा रणमें मारेगए हैं उनको मरे हुए ही समझो (उनका मोक्ष नहीं हुआ है) क्यों कि-वे राज्यके लोभसे लड़े थे यदि वे कामनासे नहीं लड़े होते तो अपने २ कर्मसे उन सबोंको स्वर्ग मिल जाता ॥ २१ ॥ इस प्रकार इन सब लोगोंका नाश होनेमें हम ही कारण कहलाये हैं परन्तु सत्य कहाजाय तो इस सबका कारण धृतराष्ट्रके पुत्र ही हैं, क्योंकि उन्होंने हमारा राज्य छीन लिया था २२जिनके साथ हमने कुछ भी बुराई नहीं की थी ऐसे धृतराष्ट्रके पुत्र हमारे साथ सदा ही दुष्टबुद्धि रखते थे हमसे द्वेष करते थे,मायासे जीवन विताते थे और मिथ्या विनय दिखाते थे ॥ २३ ॥ ऐसे भाइयोंका वध करनेसे हमारा मनोरथ सिद्ध नहीं हुआ, न हमारा ही विजय हुआ और न उनका ही विजय हुआ, उन्होंने पृथिवीको नहीं भोगा तथा स्त्रियोंके और गाने बजाने आदिके सुख भी नहीं भोगे ॥ २४ ॥ दुर्योधन आदि कौरवोंने मंत्रियोंके, स्नेहियोंके तथा विद्वानोंके कहने पर ध्यान नहीं दिया, किन्तु रणमें युद्ध करके मरगए और अनमोल रत्न, पृथिवी तथा धनकी आमदनीको नहीं भोग सके ॥ २५ ॥ दुर्योधन हमारे साथ द्वेषभाव रखता था,इसलिये वह सदा ही सन्ताप

न स्मेह विन्दति। ऋद्धिमस्मासु तां दृष्ट्वा विवर्णो हरिणः कृशः२६ धृतराष्ट्रश्च नृपतिः सौबलेन निवेदितः। तं पिता पुत्रगृद्धित्वादनुमेने नये स्थितः॥ २७॥ अनपेक्ष्यैव पितरं गांगेयं विदुरस्तथा। असंशयं क्षयं राजा यथैवाहं तथा गतः॥२८॥ अनियम्याशुचिं लुब्धं पुत्रं कामवशानुगम्। यशसः पतितो दीप्ताद्धातयित्वा सहोदरान्॥ २९॥ इमौ हि वृद्धौ शोकाग्नौ प्रक्षिप्य स सुयोधनः। अस्मत्प्रद्वेषसंयुक्तः पापबुद्धिः सदैव ह॥ ३०॥ को हि बन्धुः

किया करता था, इसलिए वह जरा भी सुख नहीं पासकता था, राजसूय यज्ञोंमें वह हमारे उत्तम ऐश्वर्यको देख रङ्ग बदल कर सफेद और दुबला होगया था॥ २६॥ उसकी यह दशा देख कर शकुनिने पुत्र पर प्रीति रखनेवाले राजा धृतराष्ट्रके पास आकर हमको जुआ खेलनेको बुलवानेकी संमति दी थी, पुत्रके ऊपर प्रीति होनेके कारण धृतराष्ट्रने अन्याय करने पर तुले हुए अपने पुत्रका अनुमोदन किया था॥२७॥ इस बातको जानकर भीष्मजीने तथा विदुरजीने राजा धृतराष्ट्रसे कहा था, कि-यह अन्याय न करो, परन्तु धृतराष्ट्रने उनके कहनेकी कुछ परवाह नहीं की,इसलिए इस समय जैसी दशा मेरी होरही है, ऐसी ही उलटी दशा निःसन्देह राजा धृतराष्ट्रकी भी हुई है॥ २८॥ वास्तवमें अपवित्रचित्त और राज्यके लोभमें पडे तथा कामाधीन हुए अपने पुत्रको धृतराष्ट्र (पिता होते हुए भी) अन्याय करने से नहीं रोक सके, इसलिये ही दुर्योधनने अपने सहोदर भाइयोंको रणभूमिमें मरवाकर अपने चमकते हुए यशका भी नाश कर डाला (वह भी मरगया)॥ २९॥ दुर्योधन हमारे साथ नित्य द्वेष किया करता था, उसका हृदय पापी था,(इसलिये वह मारा गया,उसके लिये मुझे अधिक शोक भी नहीं है परन्तु वह अपने इन बूढे माता पिताको शोकमें डालकर चलागया है इस बात

कुलीनः संस्तथा ब्रूयात्सुहृज्जने। यथासावब्रवद्वाक्यं युयुत्सुः कृष्ण-सन्निधौ ॥ ३१ ॥ आत्मनो हि वयं दोषाद्विनिष्टाः शाश्वतीः समाः। प्रदहन्तो दिशः सर्वा भास्वरा इव तेजसा ॥ ३२ ॥ सोऽस्माक वैरपुरुषो दुर्मतिः प्रग्रहं गतः। दुर्योधनकृते ह्येतत्कुलं नो विनिपातितम् ॥ ३३ ॥ अवध्यानां वधं कृत्वा लोके प्राप्ताः स्म वाच्यताम्। कुलस्यास्यान्तकरणं दुर्मतिं पापपूरुषम् ॥ ३४ ॥ राजा राष्ट्रेश्वरं कृत्वा धृतराष्ट्रोऽद्य शोचति। हताः शूराः कृतं पापं विषयः स्वो विनाशितः ॥ ३५ ॥ हत्वा नो विगतो मन्युः शोको मां रुन्धयत्ययम्। धनञ्जय कृतं पापं कल्याणेनोपहन्यते ३६

का तुझे बड़ा ही दुःख है) ॥ ३० ॥ युद्ध चाहनेवाले दुर्योधन ने हमारे लिये श्रीकृष्णके सामने जो बातें कही थीं, ऐसी बातें बातें बड़े कुलमें उत्पन्न हुआ कौनसा बान्धव अपने संबन्धियों को कहेगा ? ॥३१॥ परन्तु जैसे सूर्य अपने तेजसे सब दिशाओं को जलादेता है तैसे ही दुर्योधनके अपराधसे हम भी सदाके लिये भस्म होगए हैं (अर्थात् उसके अपराधके कारणसे हम भी दुःखमें आपड़े हैं) ॥ ३२ ॥ दुष्टबुद्धि दुर्योधन हमारा वैरी ही था, वह स्वयं मरगया और उसके कारणसे हमारे कुलका भी नाश होगया॥३३॥इसके सिवाय हम न मारने योग्य महात्माओं का वध करके जगत्में निन्दाके पात्र होगये हैं और राजा धृतराष्ट्र को भी कुलका नाश करनेवाले पापबुद्धि दुर्योधनको देशका राजा बनाकर अब पछताना पड़रहा है, हमारे शूर वैरियोंका नाश हो गया, हमने पापका काम किया,वैरीके राज्य और सुखका हमने नाश कर दिया ॥ ३४-३५ ॥ इस प्रकार वैरीको मारकर हम सबोंका क्रोध शान्त होगया,तो भी मुझ अकेलेको ही उस मनुष्य वधका शोक जलाया करता है,हे धनञ्जय ! मनुष्य जो पापकर्म करता है, उसका पाप परोपकार करनेसे, अपना किया हुआ

ख्यापनेनानुतापेन दानेन तपसापि वा। निवृत्त्या तीर्थगमनाच्छ्रुतिस्मृतिजपेन वा ॥ ३७ ॥ त्यागवांश्च पुनः पापं नालं कर्तुमिति श्रुतिः। त्यागवान् जन्ममरणे नाप्नोतीति श्रुतिर्यदा ॥३८॥ प्राप्तवर्त्मा कृतमतिर्ब्रह्म संपद्यते तदा। स धनञ्जय निर्द्वन्द्वो मुनिर्ज्ञानसमन्वितः ॥ ३९ ॥ वनमामन्त्र्य वः सर्वान् गमिष्यामि परन्तप। न हि कृत्स्नतमो धर्मः शक्यः प्राप्तुमिति श्रुतिः ॥ ४० ॥ परिग्रहवता तन्मे प्रत्यक्षमरिसूदन। मया निसृष्टं पापं हि परिग्रहमभीप्सता ॥ ४१ ॥ जन्मक्षयनिमित्तञ्च प्राप्तुं शक्यमिति श्रुतिः। स परिग्रहमुत्सृज्य कृत्स्नं राज्यं सुखानि च ॥ ४२ ॥

पाप दूसरेको सुनानेसे, उसके लिये पश्चात्ताप करनेसे, दान देनेसे, तप करनेसे, त्यागसे, तीर्थयात्रा करनेसे अथवा वेदका और धर्मशास्त्रका पाठ करनेसे नष्ट होता है ॥ ३६-३७ ॥ इस पर भी श्रुति कहती है, कि-जो पुरुष संसारको त्याग देता है वह फिर पापकर्म नहीं कर सकता और जो त्यागी पुरुष है वह, तथा जिसने योग मार्गका प्रतिपादन किया है तथा (श्रवण, मनन आदिसे ब्रह्मरूप हूँ, इस प्रकार) जिसकी बुद्धि स्थिर होगई है वह ही अखण्डानन्दरूप ब्रह्मको प्राप्त होता है, हे धनञ्जय ! ऐसा जानकर मैं भी द्वन्द्वभाव (सुख दुःख गरमी सरदी आदि) से रहित तथा ध्याननिष्ठ होकर ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ, इसलिये हे वैरितापन ! मैं तुम सबोंकी आज्ञा लेकर वनमें जाऊँगा और योगके द्वारा परब्रह्मके स्वरूपको जाननेका उद्योग करूँगा. श्रुति कहती है, परिग्रहवाला पुरुष सम्पूर्ण धर्म अर्थात् आत्मज्ञानको सम्पादन नहीं कर सकता ॥ ३८-४० ॥ हे शत्रुको मारनेवाले अर्जुन ! यह बात मैंने प्रत्यक्ष देखी है और संगाभिलाषी पुरुष श्रुतिमें कहे हुए जन्म मरणको देनेवाले पाप जिस प्रकार करते हैं उस ही प्रकार मैंने भी राज्यकी अभिलाषासे पापकर्म करे हैं, अतः मैं

गमिष्यामि विनिर्मुक्तो विशोको निर्ममः क्वचित् । प्रशाधि त्वमिमामुर्वीं क्षेमां निहतकण्टकाम् ॥ ४३ ॥ न ममार्थोऽस्ति राज्येन भोगैर्वा कुरुनन्दन । एतावदुक्त्वा वचनं कुरुराजो युधिष्ठिरः । उपारमत्ततः पार्थः कनीयानभ्यभाषत ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरपरिवेदने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच । अथार्जुन उवाचेदमधिक्षिप्त इवाक्षमी । अभिनीततरं वाक्यं दृढवादपराक्रमः ॥ १ ॥ दर्शयन्नैन्द्रिरात्मानमुग्रमुग्रपराक्रमः । स्मयमानो महातेजाः सृक्किणी परिसंलिहन् ॥ २ ॥ अर्जुन उवाच । अहो दुःखमहो कृच्छ्रमहो वैक्लव्यमुत्तमम् । यत्कृत्वामानुषं कर्म त्यजेथाः श्रियमुत्तमाम् ॥ ३ ॥ शत्रून् हत्वा महीं लब्ध्वा

अब ही इस सब परिग्रहका तथा राज्यका त्यागकर ममतारहित, शोकशून्य तथा संग आदिसे मुक्त होकर किसी वनमें चला जाऊँगा और हे कुरुनन्दन ! तू इस शत्रुरहित कल्याणी पृथ्वी पर राज्य करना ॥ ४१-४३ ॥ हे कुरुनन्दन ! मुझे राज्यसे या भोगोंसे कुछ प्रयोजन नहीं है" इसप्रकार कहकर कुरुराज युधिष्ठिर चुप होगए, तब छोटे भाई अर्जुनने उनसे कहा ॥ ४४ ॥ सातवाँ अध्याय समाप्त ॥ ७ ॥ ॥ ॥ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे जनमेजय ! जैसे कोई पुरुष किसीसे अपमानित होने पर उसको सहता नहीं है तैसे ही उग्रपराक्रमी तथा महातेजस्वी इन्द्रपुत्र अर्जुन अपना उग्रस्वभाव दिखाता हुआ, मुस्करा कर दोनों जबाड़ोंको चाटता हुआ इस प्रकार नीतियुक्त वचन कहनेलगा ॥ १-२ ॥ अर्जुनने कहा, कि-" अरे ! यह कैसे दुःखकी बात है ? कैसे कष्टकी बात है ? कैसी कायरता है ? कि-तुम अलौकिक कर्म करके मिली हुई राज्यलक्ष्मीको त्यागनेको उद्यत होगए हो ॥ ३ ॥ तुमने शत्रुओंको

स्वधर्मेणोपपादिताम् । एवंविधं कथं सर्वं त्यजेथा बुद्धिलाघवात् ४ क्लीवस्य हि कुतो राज्यं दीर्घसूत्रस्य वा पुनः । किमर्थं च महीपालानवधीः क्रोधमूर्छितः ॥ ५ ॥ यो ह्याजिजीवेपंक्तैदयं कर्मणा नैव कस्यचित् । समारम्भान् बुभूषेत हतस्वस्तिरकिंचनः । सर्वलोकेषु विख्यातो न पुत्रपशुसंहितः ॥ ६ ॥ कापालीं नृप पापिष्ठां वृत्तिमासाद्य जीवतः। सन्त्यज्य राज्यमृद्धन्ते लोकोऽयं किं वदिष्यति ७ सर्वारम्भान समुत्सृज्य हतस्वस्तिरकिंचनः । कस्मादाशंससे भैक्ष्यं कर्तुं माकृतवत्प्रभो ॥८॥ अस्मिन् राजकुले जातो जित्वा कृत्स्नां वसुन्धराम् । धर्मार्थावखिलौ हित्वा वनं मौढ्यात्प्रतिष्ठसे ॥ ९ ॥

मारकर स्वधर्मसे पृथिवी सम्पादन की और जब सुख भोगनेका समय आया है, तब तुम अस्थिरचित्त होनेके कारण इस सबका त्याग किस लिये करते हो ? ॥४॥ क्या पुरुषार्थहीन नपुंसकको अथवा दीर्घसूत्रीको राज्य मिलता है ? जो तुम्हें इसीप्रकार राज्य छोड़ना था, तो फिर तुमने क्रोधमें आकर राजाओंको किस लिये हना था (किस लिये मरवाया था) ॥ ५ ॥ पुण्यहीन, अत्यन्त दरिद्री तथा जिनमें पुरुषार्थ करनेकी जरा भी शक्ति नहीं है, ऐसे हतभागी पुरुष ही भिक्षा माँगनेकी इच्छा करते हैं, परन्तु जो स्वतः पराक्रमी हैं, वह कभी भी दूसरोंसे भिक्षा नहीं माँगते, पराक्रमहीन पुरुष इस लोकमें प्रख्यात नहीं होता है, तैसे ही पुत्र, पशु, धनादिसे भी सुखी नहीं होता ॥ ६ ॥ हे राजन् ! तुम समृद्धि वाले राज्यको त्यागकर हाथमें कपाल (भिक्षापात्र) ले भिक्षा माँग पापी आजीविकाके ऊपर जीवन बिताओगे, तो जगत् तुम्हें क्या कहेगा ? ॥७॥ हे प्रभो ! धर्मादि सब पुरुषार्थोंको त्यागकर पुण्यरहित, दरिद्र और मूर्ख पुरुषकी समान भिक्षा माँगनेकी इच्छा तुम्हें क्यों होती है ? ॥८॥ तुम राजकुलमें उत्पन्न हुए हो, समग्र पृथ्वी तुम्हारे वशमें है, ऐसे तुम सम्पूर्ण अर्थ और

यदीमानि हवींषीह विमथिष्यन्त्यसाधवः । भवता विप्रहीणानि प्राप्तं त्वामेव किल्बिषम् ॥ १० ॥ आकिञ्चन्यं मुनीनां च इति वै नहुषोऽब्रवीत् । कृत्वा नृशंसं ह्यधने धिगस्त्वधनतामिह ॥ ११ ॥ अश्वस्तनमृषीणां हि विद्यते वेद तद्भवान् । यं त्विमं धर्ममित्याहु-र्धनादेषः प्रवर्त्तते ॥ १२ ॥ धर्मं संहरते तस्य धनं हरति यस्य सः। ह्रियमाणे धने राजन् वयं कस्य क्षमेमहि ॥ १३ ॥ अभिशस्तं प्रपश्यन्ति दरिद्रं पार्श्वतः स्थितम् । दरिद्र पातक लोके न तच्छं-सितुमर्हति ॥ १४ ॥ पतितः शोच्यते राजन् निर्धनश्चापि शोच्यते । विशेष नाधिगच्छामि पतितस्याधनस्य च ॥ १५ ॥ अर्थेभ्यो हि

धर्मोंको मन्दमतिसे त्यागकर वनमें जानेको कैसे तयार होगए हो ? ॥ ६ ॥ हे राजन् ! यदि तुम याग यज्ञोंको त्यागकर वनमें चले जाओगे तो असाधु पुरुष याग यज्ञोंका नाश करेंगे, क्या इससे तुम्हें पातक नहीं लगेगा ? ॥ १० ॥ "सर्वस्वका त्यागकर अकिंचन होना यह मुनियोंका धर्म है, राजाका नहीं है" यह राजा नहुषका वचन है 'निर्धन मनुष्य क्रूर कर्म करता है, अतः निर्धनताको धिकार है ?" ॥ ११ ॥ दूसरे दिनके लिये कुछ भी संग्रह नहीं रखना, परन्तु दिन प्रतिदिन लाकर खाना यह ऋषियोंका धर्म है, यह तुम अच्छी प्रकार जानते हो और लोग जिसे राजधर्म कहते हैं वह धर्म तो धनसे ही होसकता है ॥ १२ ॥ जो मनुष्य दूसरेके धनका हरण करता है, वह मनुष्य उसके धर्मका हरण करता है, ऐसा समझना चाहिये, हे राजन् ! (अपना पिता या भाई) कोई भी अपने धनको हरनेलगे तो हम कैसे क्षमा कर सकते हैं ॥ १३ ॥ इस जगत्में दरिद्रता एक प्रकारका पातक है, दरिद्र पुरुष पासमें खड़ा हो तो लोग उसकी ओर तिरस्कारभरी दृष्टिसे देखते हैं, अतः तुम्हें उसकी प्रशंसा करना ही उचित नहीं है ॥ १४ ॥ हे राजन् ! इस जगत्में पतित और निर्धन दोनों ही

विवृद्धेभ्यः सम्भृतेभ्यस्ततस्ततः । क्रियाः सर्वाः प्रवर्तन्ते पर्वतेभ्य इवापगाः॥१६॥ अर्थाद्धर्मश्च कामश्च स्वर्गश्चैव नराधिप । प्राणयात्रापि लोकस्य विना ह्यर्थं न सिद्ध्यति॥१७॥ अर्थेन हि विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः । विच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा॥१८॥ यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः । यस्यार्थाः स पुमांल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः ॥१९॥ अधनेनार्थकामेन नार्थः शक्यो विधित्सितुम् । अर्थैरर्थानि बध्यन्ते गजैरिव महागजाः॥२०॥ धर्मः कामश्च स्वर्गश्च हर्षः क्रोधः श्रुतं दमः । अर्थादेतानि सर्वाणि

सोचने योग्य हैं, अतः मुझे तो पतित और निर्धनमें कुछ भी भेद नहीं दीखता ॥१५॥ नदियें जैसे पर्वतोंमेंसे निकल कर विस्तार पाती हैं, तैसे ही जैसे तैसे इकट्ठे हुए धनमेंसे वृद्धि पातेहुए धनसे सब प्रकारके कार्य सिद्ध होते हैं ॥१६॥ हे राजन् ! धनसे धर्माचरण होता है, धनसे कामना पूरी होती है और धनसे ही स्वर्ग मिलता है, धनके विना कोई भी मनुष्य जगत्की प्राणयात्रा (आजीविका) नहीं चला सकता, धनके विना कोई भी काम सिद्ध नहीं होता ॥ १७ ॥ जैसे ग्रीष्मऋतुमें छोटी २ नदियोंका प्रवाह बन्द होजाता है, तैसे ही धनरहित अल्पबुद्धिवाले पुरुषकी सब क्रियाओंका प्रवाह बन्द होजाता है ॥ १८ ॥ जिसके पास धन होता है, उसके ही मित्र होते हैं, जिसके पास धन होता है उसके ही सब बान्धव होते हैं, जिसके पास धन है वही पुरुष इस जगत्में पुरुषकी रीतिसे प्रसिद्ध होता है, और जिसके पास धन होता है वही पण्डित कहाता है ॥१९॥ परन्तु जिसके पास धन नहीं है उसके कोई भी मनोरथ सिद्ध नहीं होते, हाथी जैसे (जंगली) हाथीको खेंच लाता है, तैसे ही धन धनको खेंच लाता है ॥२०॥ हे राजन् ! धर्म, काम, स्वर्ग, हर्ष, क्रोध, शास्त्रोंका श्रवण, इन्द्रियोंका निग्रह, यह सब धनसे ही

प्रवर्तन्ते नराधिप ॥ २१ ॥ धनात्कुलं प्रभवति धनाद्धर्मः प्रवर्धते ।
नाधनस्यास्त्ययं लोको न परः पुरुषोत्तम ॥ २२ ॥ नाधनो
धर्मकृत्यानि यथावदनुतिष्ठति । धनाद्धि धर्मः स्रवति शैलादभिनदी
यथा ॥ २३ ॥ यः कृशार्थः कृशगवः कृशभृत्यः कृशातिथिः । स
वै राजन् कृशो नाम न शरीरकृशः कृशः ॥ २४ ॥ अवेक्षस्व
यथान्यायं पश्य देवासुरं यथा । राजन् किमन्यज्ज्ञातीनां वधादृ
गृध्यन्ति देवताः ॥ २५ ॥ न चेद्धर्तव्यमन्यस्य कथं तद्धर्ममारभेत् ।

होसकता है, धनके बिना कुछ भी नहीं होसकता ॥ २१ ॥
हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ राजन् युधिष्ठिर ! पुरुष धनसे ही कुलीन
कहाता है, धनसे ही धर्म वृद्धि पाता है और जिनके पास
धन नहीं है, उनको इस लोकमें सुख नहीं होता है और
परलोकमें भी सुख नहीं मिलता है, जिसके पास धन नहीं
है, वह यज्ञ यागादि क्रिया कैसे कर सकता है और यज्ञ यागादि
न करनेसे परलोककी प्राप्ति भी कैसे हो सकती है ॥२२॥ निर्धन
पुरुष धर्मकी क्रियाओंको यथार्थ रीतिसे नहीं कर सकता, परन्तु
जैसे पर्वतमेंसे नदीका प्रवाह निकलता है, तैसे ही धनमेंसे धर्मका
प्रवाह निकलता है ॥ २३ ॥ हे राजन् ! कोई भी मनुष्य शरीर
सूखने पर कृश नहीं कहलाता है, परन्तु जिसके पास धन नहीं
है, गौ नहीं हैं, सेवक नहीं है, तथा जिसके पास अतिथि माँगनेको
नहीं जाते हैं वे ही कृश कहलाते हैं ॥ २४ ॥ हे राजन ! तुमने
कहा, कि-बान्धवोंका नाश करनेसे श्रेय नहीं होता है, परन्तु
कश्यप ऋषिकी दिति और अदिति नामकी दो स्त्रियें थीं उनके
पुत्र देवता और असुरोंके बीचमें युद्ध हुआ था, उसमें क्या देव-
ताओंने अपने भाई असुरोंको नहीं मारा था ? इसके ऊपर आप
दृष्टि डालिये और तो क्या ? हे राजन् ! देवता भी अपने सम्ब-
न्धियोंका नाश करनेसे बढ़रहे हैं ॥ २५ ॥ यदि राजा युद्ध करके

एतावानेव वेदेषु निश्चयः कविभिः कृतः ॥२६॥ अध्येतव्या त्रयी नित्यं भवितव्यं विपश्चिता। सर्वथा धनमाहार्यं यष्टव्यं चापि यत्नतः ॥२७॥ द्रोहाद्देवैरवाप्तानि दिवि स्थानानि सर्वशः। द्रोहात् किमन्यज्ज्ञातीनां गृध्यन्ते येन देवताः ॥२८॥ इति देवा व्यवसिता वेदवादाश्च शाश्वताः। अधीयन्तेऽध्यापयन्ते यजन्ते याजयन्ति च ॥ २९ ॥ कृत्स्नं तदेव तच्छ्रेयो यदप्याददतेऽन्यतः। न पश्यामोऽनपकृतं धनं किंचित्क्वचिद्वयम् ॥ ३० ॥ एवमेव हि राजानो

दूसरेके धनका हरण नहीं करे, तो वह धर्माचरण किस प्रकार कर सकेगा ? क्योंकि-उसके लिये दूसरी वृत्ति तो है ही नहीं ? और वेदमें भी और विद्वानोंने यही निर्णय दिखाया है कि-॥ २६ ॥ "पुरुषको सर्वथा वेदाध्ययन करके विद्वान् होना चाहिये, धनका अच्छीप्रकार संग्रह करना चाहिये और धनका यत्नसे यज्ञ यागमें उपयोग करना चाहिये" परन्तु अधर्ममें उपयोग नहीं करना चाहिये ॥ २७ ॥ देवताओंने अपने बान्धव असुरोंसे द्रोह किया था, तब ही उनको स्वर्गमें स्थान मिला था और उन देवताओंको भी अपने बान्धवोंका वध करनेसे जब शोक नहीं हुआ था, तो फिर तुम शोक क्यों करते हो ॥२८॥ तुम देखो कि-देवताओंने भी इसीप्रकार कार्य किया था और वेद भी सनातनकालसे इसी बातका उपदेश देता है, क्षत्रिय युद्धमें बान्धवोंका पराजय करके धन सम्पादन करते हैं और उस धनसे यज्ञ याग करके श्रेय पाते हैं, धनसे ही अध्ययन, अध्यापन, यजन और याजनकी क्रियाएँ हो सकती हैं (और यह ही हम क्षत्रियोंका धर्म है) ॥ २९ ॥ दूसरोंके पाससे युद्ध करके धन लेनेमें ही राजाओंका श्रेय समाया हुआ है, इस जगत्में मेरी दृष्टिमें ऐसा एक भी राजा नहीं दीखता, जिसके पास दूसरेका अपकार (पराजय) किये बिना धन (स्वयं ही आया)

यजन्ति पृथिवीमिमाम् । मिरथा ममेयं ब्रुवते पुत्रा इव पितुर्धनम् ॥३१॥ राजर्षयोऽपि ते स्वर्ग्या धर्मो ह्येषां निरुच्यते । यथैव पूर्णादुदधेः स्यन्दन्त्यापो दिशो दश॥३२॥एवं राजकुलाद्वित्तं पृथिवीं प्रतितिष्ठति। आसीदियं दिलीपस्य नृगस्य नहुषस्य च ३३ अम्बरीषस्य मान्धातुः पृथिवी सा त्वयि स्थिता । स त्वां द्रव्यमयो यज्ञः सम्प्राप्तः सर्वदक्षिणः ॥३४॥ तं चेन्न यजसे राजन् प्राप्तस्त्वं राज्यकिल्बिषम् । येषां राजाश्वमेधेन यजेत दक्षिणावता ॥३५॥ उपेत्य तस्यावभृथे पूताः सर्वे भवन्ति ते । विश्वरूपो महादेवः सर्वमेधे महामखे । जुहाव सर्वभूतानि तथैवात्मानमात्मना ॥३६॥

होय ॥ ३० ॥ जैसे पुत्र पिताके धनको देखकर कहते हैं, कि-"यह हमारा है" ऐसे ही राजा भी इस पृथ्वीको जीतते हैं और कहते हैं, कि-"यह पृथ्वी हमारी है" ॥ ३१ ॥ और जो बड़े२ राजर्षि धर्माचरण करके स्वर्गमें गए हैं, वे भी जो मैंने कहा है उसको ही धर्म बतलाते थे, जैसे सम्पूर्ण भरेहुए समुद्रमेंसे चारों दिशाओंमें जल फैल जाता है तैसे ही धन भी राजाके कुलमेंसे सारी पृथ्वी पर फैल जाता है, हे राजन् ! पहिले यह पृथ्वी दिलीप, नृग, नहुष, अंबरीष, मान्धाता इत्यादि राजाओंके पास थी, देखो ! वही पृथ्वी अब तुम्हारे पास आई है अतः उन राजाओंने जिस प्रकार सर्वस्वदक्षिण (जिसमें दक्षिणारूपसे सर्वस्व दानमें दिया जाता है) नामक यज्ञ किया था, तैसा ही यज्ञ करनेका अब तुम्हारा समय आया है ॥ ३२-३४ ॥ यदि तुम ऐसा यज्ञ नहीं करोगे तो तुमको राज्यका पाप लगेगा, मांडलिक राजाओंका तथा प्रजाओंका धन हरण करनेवाले राजा महादक्षिणावाले अश्वमेध यज्ञको करते हैं और यज्ञकी समाप्तिमें वे सब राजे और प्रजा अवभृथ स्नान करके पवित्र होती हैं क्यों कि-सर्वमेध नामके उस महायज्ञमें विश्वरूप महादेव अधिष्ठाता

शाश्वतोऽयं भूतिपथो नास्त्यन्तमनुशुश्रुम । महान् दाशरथः पन्था मा राजन् कुपथं गमः ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्येऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच । मुहूर्तं तावदेकाग्रो मनः श्रोत्रेन्तरात्मनि । धारयन्नपि तच्छ्रुत्वा रोचते वचनं मम ॥१॥ साधुगम्यमहं मार्गं न जातु त्वत्कृते पुनः । गच्छेयं तद्गमिष्यामि हित्वा ग्राम्यसुखान्युत २ क्षेम्यश्चैकाकिना गम्यः पन्थाः कोऽस्तीति पृच्छ माम् । अथवा नेच्छसि प्रष्टुमपृच्छन्नपि मे शृणु ॥ ३ ॥ हित्वा ग्राम्यसुखाचारं

देव हैं,तुम भी सब प्राणियोंके हितके लिये तथा आत्माके कल्याण के लिये इस यज्ञको करो ॥ ३५-३६ ॥ क्योंकि-यज्ञसम्बन्धी क्षत्रियोंका यह मार्ग अनादिकालका है, समृद्धि देनेवाला है,(धर्म करनेके) मार्गोंका अन्त नहीं है ऐसा हमने सुना है, हे राजन् ! रामचन्द्रके समयसे परम्परा प्राप्त इस महान् यज्ञके मार्गको छोड कर तुम कुमार्ग पर मत चलो॥३७॥आठवाँ अध्याय समाप्त॥८॥

युधिष्ठिरने कहा,कि-हे अर्जुन! तू अपने मनको दो घड़ी हृदय कमलमें एकाग्र कर यदि तू अपने कानोंको स्थिर कर मेरे कहनेको मन एकाग्र करके सुनेगा,तो तू उस कथनका अनुमोदन ही करेगा १ इस जगत्के सुखका त्याग करके जिस मार्गसे महात्मा पुरुष गए हैं उस मार्गसे मैं धर्मानुसार चलूँगा, परन्तु यदि तू कहे कि-मेरे ऊपर कृपा करके राज्यको स्वीकार कर लो तो मैं उसको स्वीकार नहीं करूँगा ॥२॥ तू मुझसे बूझेगा कि-जिस मार्गसे केवल एक (विरला) ही पुरुष जाता है और जो कल्याणकारी मार्ग है वह कौनसा मार्ग है ? तब मैं तुझको मार्ग बताऊँगा, यदि तेरी बूझनेकी इच्छा न हो तो मैं तुझे बिना बूझे ही बताऊँगा उसको तू सुन ॥ ३ ॥ मैं इस लोकके नश्वर सुखका और

तप्यमानो महत्तपः । अरण्ये फलमूलाशी चरिष्यामि मृगैः सह ४
जुह्वानोऽग्निं यथाकालमुभौ कालावुपस्पृशन् । कृशः परिमिताहार-
श्चर्मचीरजटाधरः ॥ ५ ॥ शीतवातातपसहः क्षुत्पिपासाश्रमक्षमः ।
तपसा विधिदृष्टेन शरीरमुपशोषयन् ॥ ६ ॥ मनःकर्णसुखा नित्यं
शृण्वन्नुच्चावचा गिरः । मुदितानामरण्येषु वसतां मृगपक्षिणाम् ७
आजिघ्रन् पेशलान् गन्धान् फुल्लानां वृक्षवीरुधाम् । नानारूपान्
वने पश्यन् रमणीयान् वनौकसः ॥ ८ ॥ वानप्रस्थजनस्यापि
दर्शनं कुलवासिनाम् । नाप्रियाण्याचरिष्यामि किं पुनर्ग्राम-
वासिनाम् ॥ ९ ॥ एकान्तशीली विमृशन् पक्वापक्वेन वर्त्तयन् ।

ग्राम्य आचारका त्यागकर बड़ेभारी तपका आरम्भ करूँगा और फल मूलका आहार करके, जो निर्दोष हरिण वनमें रहते हैं उनके साथ रहकर कालक्षेप करूँगा ॥४॥ मैं वनमें रहकर सायं प्रातः स्नान करूँगा, अग्निमें आहुति दूँगा, परिमित आहार करके शरीरको कृश करूँगा, शरीर पर वल्कल वस्त्रोंको तथा मस्तक पर जटाको धारण करूँगा ॥ ५ ॥ जाड़ा, गर्मी और और वायु इन सबोंको सहन करूँगा, तृषा और परिश्रमको सहन करूँगा, तथा शास्त्रमें कही हुई तपस्या करके शरीरको सुखा डालूँगा ॥ ६ ॥ और मैं वनमें निवास करके रहनेवाले मृग पक्षियोंके सुन्दर शब्दोंको नित्य सुनूँगा, वे शब्द मन तथा कानोंको आनन्द देनेवाले हैं ॥ ७ ॥ मैं वनमें रहकर वृक्ष तथा लताओंके खिलेहुए पुष्पोंकी सुन्दर गन्धको सूँघूँगा तथा उनके अनेक प्रकारके रमणीय स्थानोंको देखूँगा ॥ ८ ॥ वनमें बस कर मैं वानप्रस्थाश्रमियोंके दर्शन करूँगा तथा वहाँ रहकर मैं प्राणियोंको अप्रिय लगनेवाला आचरण नहीं करूँगा तो फिर मैं ग्रामवासियोंको अप्रिय लगनेवाला आचरण तो करूँगा ही कैसे? ९ और वनके एकान्त प्रदेशमें बसकर तत्त्वार्थका विचार करूँगा और

पितॄन् देवांश्च वन्येन वाग्भिरद्भिश्च तर्पयन् ॥१०॥ एवमारण्य-
शास्त्राणामुग्रमुग्रतरं विधिम् । सेवमानः प्रतीक्षिष्ये देहस्यास्य
समापनम् ॥११॥ अथवैकोऽहमेकाहमेकैकस्मिन् वनस्पतौ । चरन्
भैक्ष्यं मुनिर्मुण्डः क्षपयिष्ये कलेवरम् ॥१२॥ पांसुभिः समभिच्छन्नः
शून्यागारप्रतिश्रयः । वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः॥१३॥
न शोचन्न प्रहृष्यंश्च तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः । निराशीर्निर्ममो
भूत्वा निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ॥ १४ ॥ आत्मारामः प्रसन्नात्मा
जडान्धबधिराकृतिः ।अकुर्वाणः परैः काञ्चित्संविदं जातु कैरपि१५

वनमें उत्पन्न हुए कच्चे पक्के फलोंका भोजन कर आजीविका चलाऊँगा, तथा पितर और देवताओंका वनमें उत्पन्न हुए फलोंसे यजन करूँगा, और वनके फल नहीं मिले तो वाणीसे अथवा जलसे उनका तर्पण (यजन) करूँगा ॥ १० ॥ इस प्रकार वन-वासी मुनियोंकी अतीव उग्र विधिका सेवन करके, इस देहकी समाप्तिका अवसर कब आता है इसकी बाट जोहा करूँगा॥११॥ अथवा मैं (वनमें) अकेला रहकर मुनिके व्रतको पालकर, अपने मस्तकको मुँडा एक दिनमें एक ही वनस्पतिसे भिक्षा मागूँगा, दूसरे दिन दूसरे वनस्पतिसे भिक्षा मागूँगा अर्थात् वनके फल फूलके ऊपर अपनी आजीविका करता हुआ इस देहको त्याग दूँगा ॥ १२ ॥ इस शरीर पर चन्दन न लगा कर वनकी धूल लगाऊँगा, ऊजड़ स्थानमें निवास करूँगा, सकल प्रिय अप्रिय वस्तुओंको त्याग कर वृक्षके नीचे निवास करूँगा ॥१३॥ किसी भी पदार्थके लिए हर्ष या शोक नहीं करूँगा, अपनी स्तुति और निन्दामें समान-बुद्धि रक्खूँगा, किसी भी पदार्थमें ममत्वबुद्धि नहीं रक्खूँगा, तैसे ही उसकी आशा भी नहीं रक्खूँगा, परि-ग्रहको त्यागकर शीत, उष्ण आदि द्वन्द्व पदार्थोंका सहन करके इस शरीरका कालक्षेप करूँगा॥१४॥ और योगाभ्याससे अपने आत्मा

जङ्गमाजङ्गमान् सर्वानविहिंसंश्चतुर्विधान् । प्रजाः सर्वाः स्वधर्मस्थाः समः प्राणभृतः प्रति ॥१६॥ न चाप्यवहसन् कश्चिन्न कुर्वन् भ्रुकुटीः क्वचित् । प्रसन्नवदनो नित्यं सर्वेन्द्रियसुसंयतः॥१७॥ अपृच्छन् कस्यचिन्मार्गं प्रव्रजन्नेव केनचित् । न देशं न दिशं काञ्चिद् गन्तुमिच्छन् विशेषतः ॥ १८ ॥ गमने निरपेक्षश्च पश्चादनवलोकयन् । ऋजुः प्रणिहितो गच्छंस्त्रसस्थावरवर्जकः ॥ १९ ॥ स्वभावस्तु प्रयात्यग्रे प्रभवंत्यशनान्यपि । द्वन्द्वानि च विरुद्धानि

में ही रमण करूँगा और मनको नित्य प्रफुल्लित रक्खूँगा किसी दूसरेसे विवाद नहीं करूँगा परन्तु जड़की समान, बहरेकी समान और अंधेकी समान अज्ञानी रहकर इस शरीरका कालक्षेप करूँगा ॥ १५ ॥ मैं जरायुज (मनुष्य तथा पशु) अण्डज (पक्षी) स्वेदज (जूँ, मच्छर, मकडी) उद्भिज्ज (वृक्ष) इस प्रकार स्थावर जङ्गम प्राणियोंमेंसे किसीकी भी हिंसा नहीं करूँगा, परन्तु अपने२ धर्ममें प्रीतिवाले-धर्मिष्ठ पुरुष अथवा पापी पुरुष-इन सबमें मैं समान बुद्धि रक्खूँगा ॥ १६ ॥ तैसे ही किसीके ऊपर भ्रुकुटी चढाकर क्रोधकासा भाव भी नहीं करूँगा, परन्तु नित्य मुखमुद्राको प्रसन्न रखकर इन्द्रियोंका संयम करूँगा ॥१७॥ मार्गमें चलते समय किसीसे भी मार्ग नहीं बूझूँगा, परन्तु जहाँ मार्ग मिलेगा तहाँ चला करूँगा, किसी दिशाकी ओर अथवा देश–विशेषकी ओर जानेकी इच्छा नहीं करूँगा ॥ १८ ॥ किसी भी स्थान पर किसी प्रकारकी भी अपेक्षा रक्खे विना जाऊँगा, चलते समय पीछे क्या रह गया है यह दृष्टिसे भी नहीं देखूँगा और नित्य काम क्रोधसे रहित रहूँगा और अन्तरात्मामें दृष्टि रक्खूँगा तथा स्थूल सूक्ष्म शरीर पर अभिमान त्याग दूँगा १९ (हे अर्जुन ! तुझको संदेह होगा कि–फिर तुम निर्वाह कैसे करोगे, तो उसका उत्तर यह है कि–) पूर्व जन्ममें कियेहुए

तानि सर्वाण्यचिंतयन् ॥ २० ॥ अल्पं वा स्वादु वा भोज्यं पूर्वालाभेन योजयन् । अन्येष्वपि चरँल्लाभमलाभे सप्त पूरयन् ।२१। विधूमे न्यस्तमुसले व्यंगारे भुक्तवज्जने । अतीतपात्रसंचारे काले विगतभिक्षुके ॥ २२ ॥ एककालं चरन्भैक्ष्यं त्रीनथ द्वे च पञ्च वा । स्नेहपाशं विमुच्याहं चरिष्यामि महीमिमाम् ॥२३॥ अलाभे सति वालाभे समदर्शी महातपाः । न जिजीविषुवत् किञ्चिन्न

मनुष्योंके कर्म ही उस मनुष्यके लिये पहिलेसे ही भोजनादि तयार करके रखते हैं और मान अपमान आदि विरुद्ध द्वन्द्व पदार्थोंका तो मुझे विचार करना ही नहीं है, अतः मुझे सुख दुःख होगा ही नहीं ॥ २० ॥ किसी दिन स्वादिष्ट अथवा अस्वादिष्ट थोडा अन्न भी एक गृहस्थीके घरसे न मिले तो दूसरेके घर जाना, तहाँ भी न मिले तो तीसरेके घर जाना, इसप्रकार सात घरोंमें जाना और अन्तमें यदि न मिले तो सन्तोष मान कर लौट आना परन्तु आठवें घर भिक्षा माँगने न जाना, यह संन्यासीका धर्म है ॥ २१ ॥ जिस घरमें धुआँ निकलना बन्द होगया हो, मूसल धर दिया गया हो, अंगारे न रहे हों, मनुष्य खाचुके हों मनुष्य भोजनके पात्र लेकर इधर उधर न घूमते हों तथा दूसरे भिक्षुक भी भिक्षा लेकर चले गए हों, ऐसे समय संन्यासीको भिक्षा माँगने जाना चाहिये, मैं भी इसी प्रकार भिक्षा माँगनेके लिये जाऊँगा ॥ २२ ॥ संन्यासीको एक समय ही भिक्षा माँगनेको जाना चाहिये और दो तीन अथवा पाँच घर भिक्षा माँगनेको जाना (चाहिये बहुतसे घरोंमें नहीं भटकना) चाहिये मैं भी इसी प्रकार भिक्षा माँगूगा और स्नेहपाशका त्यागकर पृथिवी पर विचरूँगा ॥ २३ ॥ और किसी भी वस्तुका लाभ हो या हानि तो भी महातपस्वी और संन्यासी उस ओर समानदृष्टिसे देखता है, वह जीते रहनेको इच्छावाले

मुमूर्षुवदाचरन् ॥ २४ ॥ जीवितं मरणञ्चैव नाभिनन्दन् न च द्विषन् । वास्यैकं तक्षतो बाहुं चन्दनेनैकमुक्षतः । नाकल्याणं न कल्याणं चिन्तयन्नुभयोस्तयोः ॥ २५ ॥ याः काश्चिज्जीवता शक्याः कर्तुमभ्युदयक्रियाः । सर्वास्ता समभित्यज्य निमेषादिव्यवस्थितः ॥ २६ ॥ तेषु नित्यमसक्तश्च त्यक्तसर्वेन्द्रियक्रियः । अपरित्यक्तसंकल्पः सुनिर्णिक्तात्मकल्मषः २७ विमुक्तः सर्वसंगेभ्यो व्यतीतः सर्ववागुराः । न वशे कस्यचित्तिष्ठन् सधर्मा मातरिश्वनः ॥२८॥ वीतरागश्चरन्नेवं तुष्टिं प्राप्स्यामि शाश्वतीम् । तृष्णया हि महत्पापमज्ञानादस्मि कारितः ॥ २९ ॥

पुरुषकी समान धनादिका संग्रह नहीं करता है, तैसे ही मरण चाहनेवाले पुरुषकी समान अन्नका त्याग भी नहीं करता है।२४। तैसे ही मैं जीवनके लिये इच्छा नहीं करूँगा, तथा मरणसे द्वेष भी नहीं करूँगा, मेरे एक हाथको कोई पुरुष दराँतीसे काटेगा और दूसरा पुरुष मेरे हाथ पर चन्दन लगावेगा, तो उन दोनों मेंसे एकका कल्याण और दूसरेका अकल्याण नहीं चाहूँगा२५ अधिक आयु पानेकी इच्छासे जो आभ्युदयिक कर्म करनेमें आते हैं उन क्रियाओंका भी त्याग करके, केवल शरीरनिर्वाहार्थ पलकोंका खोलना, बन्द करना, अशन, पान आदि क्रियाएँ करूँगा, इनके अतिरिक्त दूसरी क्रियाओंमें आसक्ति नहीं रक्खूँगा ॥२६॥ मैं अपने२ व्यापारमें प्रवृत्त होनेवाली इन्द्रियोंको रोकूँगा, मनके संकल्पको अपने अधीन रक्खूँगा, बुद्धिके मलका सर्वथा त्याग करूँगा, किसीका भी सङ्ग नहीं करूँगा परन्तु सबके स्नेहपाशोंको त्याग दूँगा तथा वायुकी समान धर्मवाला होकर किसीके भी वशमें नहीं रहूँगा ॥ २७-२८ ॥ हे अर्जुन ! मैं अकेला ही वीतराग होकर पृथिवी पर विचरूँगा और नित्य शांतिका सम्पादन करूँगा. अरे ! रे !! मैंने तृष्णा

कुशलाकुशलान्येके कृत्वा कर्माणि मानवाः । कार्यकारणसंश्लिष्टं स्वजनं नाम बिभ्रति ॥ ३० ॥ आयुषोऽन्ते प्रहायेदं क्षीणप्राणं कलेवरम् । प्रतिगृह्णाति तत्पापं कर्तुः कर्मफलं हि तत् ॥ ३१ ॥ एवं संसारचक्रेऽस्मिन् व्याविद्धे रथचक्रवत् । समेति भूतग्रामोऽयं भूतग्रामेण कार्यवान् ॥ ३२ ॥ जन्ममृत्युजराव्याधिवेदनाभिरभिद्रुतम् । अपारमिव चास्वस्थं संसारं त्यजतः सुखम् ॥ ३३ ॥ दिवः पतत्सु देवेषु स्थानेभ्यश्च महर्षिषु । को हि नाम भवेनार्थी भवेत्कारणतत्त्ववित् ॥ ३४ ॥ कृत्वा हि विविधं कर्म तत्तद्विविध-

से !अज्ञानसे।महा पाप कर्म किया है ॥२९॥ कितने ही अज्ञानी मूर्ख पुरुष भले बुरे कर्मोंको करके कार्यकारणसे युक्त हुये अपने कुटुम्बका पोषण करके मैं उसका उपकार करता हूँ ऐसा मान कर अपने कुटुम्बका पोषण करते हैं ॥ ३० ॥ और ऐसा करते २ आयु पूरी होजाती है, परन्तु मृत्युके पीछे, करे हुए कर्मके पाप फल, उस कर्म करनेवालेको ही आकर पकड लेते हैं, और उन पहिले कुटुम्बियोंको नहीं पकड़ते हैं ॥ ३१ ॥ हे अर्जुन ! इसप्रकार संसारचक्र रथके चक्रकी समान घूमता है और उस चक्रके साथ इन प्राणियोंका सम्बन्ध लगा हुआ है, उस सम्बन्धके कारण ही मैं काम करता हूँ ऐसा अहङ्कार उस प्राणीके मनमें होता है ॥३२॥ परन्तु जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि और वेदनासे भरपूर इस अपार और अस्वस्थ संसारका त्याग करनेवाले पुरुषको ही सुख है, दूसरेको सुख है ही नहीं ॥३३॥ जब देवताओंके पुण्योंका क्षय होजाता है तब देवता भी स्वर्गमेंसे नीचे गिर पडते हैं और महर्षि भी अपने स्थानसे नीचे गिर पड़ते हैं, तो इस संसारके कारण (और उसके फल) को जाननेवाला कौन पुरुष सुखी होगा ? ॥ ३४ ॥ साम, दाम, भेद इत्यादि नाना प्रकारकी क्रियाओंको करके राजे (इकट्ठे होकर)

लक्षणम् । पार्थिवैर्नृपतिः स्वल्पैः कारणैरेव बध्यते ॥ ३५ ॥ तस्मात्प्रज्ञामृतमिदं चिरान्मां प्रत्युपस्थितम् । तत्प्राप्य प्रार्थये स्थानमव्ययं शाश्वतं ध्रुवम् ॥ ३६ ॥ एतया सततं धृत्या चरन्नेवं प्रकारया । जन्ममृत्युजराव्याधिवेदनाभिरभिद्रुतम् । देहं संस्थापयिष्यामि निर्भयं मार्गमास्थितः ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरप्रत्युत्तरे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

भीम उवाच । श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याविपश्चितः । अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी ॥ १ ॥ आलस्ये कृतचित्तस्य राजधर्मानसूयतः । विनाशे धार्तराष्ट्राणां किं फलं भरतर्षभ ॥ २ ॥ क्षमानुकम्पा कारुण्यमानृशंस्यं न विद्यते । क्षात्रमा-

बड़े राजाको अपमान करनेके कारण मार डालते हैं ॥ ३५ ॥ मुझे बहुत समयमें यह ज्ञानामृत प्राप्त हुआ है, इस ज्ञानसे अनादि तथा ध्रुव मोक्षको पाऊँगा ॥३६॥ और अपने कथनानुसार धैर्यसे नित्य विहार करूँगा और निर्भय मार्गमें रहकर जन्म, मृत्यु, जरा व्यधि तथा वेदनासे व्याप्त इस शरीरका अन्त कर डालूँगा ॥ ३७ ॥ नौवाँ अध्याय समाप्त ॥ ९ ॥ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि—हे जनमेजय! इस प्रकार राजा युधिष्ठिरके वचन सुनकर भीमसेन बोला कि—हे राजन्! मूढ़ तथा विचारशून्य श्रोत्रियकी बुद्धि जैसे वेदका घोष करनेमें कुण्ठित होजाती है और अर्थ ग्रहण करनेमें अशक्त होजाती है, तैसे ही तुम्हारी बुद्धि भी कुंठित होगई है, इसी लिये तुम तत्त्वार्थको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं हो ॥ १ ॥ हे भरतकुलमें श्रेष्ठ राजन्! जब तुम्हैं राजधर्मकी निन्दा करके आलसीपनसे जीवन बिताना था, तो फिर कौरवोंके नाश करवानेका क्या कारण था? बिना प्रयोजनके उनको किस लिये मरवाया था? ॥ २ ॥ हे बड़े भाई

चरतो मार्गमपि बन्धोस्त्वदन्तरे॥३॥यदीमां भवतो बुद्धिं विद्याम वयमीदृशीम् । शस्त्रं नैव ग्रहीष्यामो न वधिष्याम कंचन ॥ ४ ॥ भैक्ष्यमेवाचरिष्याम शरीरस्य विमोक्षणात् । न चेदं दारुणं युद्धमभविष्यन्महीक्षिताम् ॥ ५ ॥ प्राणस्यान्नमिदं सर्वमिति वै कवयो विदुः । स्थावरं जंगमञ्चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥ ६ ॥ आददानस्य चेद्राज्यं ये केचित्परिपंथिनः । हन्तव्यास्त इति प्राज्ञाः क्षत्रधर्मविदो विदुः ॥ ७ ॥ ते सदोषा हतास्माभी राज्यस्य परिपन्थिनः । तान् हत्वा भुंच्व धर्मेण युधिष्ठिर महीमिमाम् ॥ ८ ॥ यथा हि पुरुषः खनित्वा कूपमप्राप्य चोदकम् । पंकदिग्धो निव-

क्षत्रियके धर्मका आचरण करनेवाले आपके सिवाय दूसरे किसी भी पुरुषमें क्षमा, दया, करुणा, दीनता ये बातें तो होनी ही नहीं चाहियें; क्योंकि-ये तो ब्राह्मणोंके गुण हैं ॥ ३ ॥ हम यदि प्रथमसे ही आपकी ऐसी बुद्धिको जानते तो कभी भी शस्त्र नहीं पकड़ते ? तथा किसीका भी वध नहीं करते ॥ ४ ॥ परन्तु भिक्षा माँगकर शरीरका निर्वाह करते, ऐसा करनेसे यह राजाओंका दारुण युद्ध भी नहीं होता ॥ ५ ॥ विद्वान् कहते हैं कि-यह सब जगत् बलवान्का अन्नकी समान भोगनेके योग्य है और बली पुरुष ही इस स्थावरजंगमात्मक जगत्का पालन करे, यह शास्त्रका वचन है कि-॥ ६ ॥ वीर पुरुषको अपने भुजबलसे राज्य संपादन करना चाहिये और उसमें यदि कोई पुरुष बाधा डाले तो उसको मार डालना चाहिये, इस प्रकार क्षत्रियके धर्मको जाननेवाले विद्वान् पुरुष कहते हैं ॥ ७ ॥ हे राजन् ! हमारे राज्य पानेमें दुष्ट कौरव विघ्नरूप हुए थे, अतः क्षत्रियके धर्मानुसार हमने उनको मारडाला और अब तुम इस पृथ्वीको धर्मसे भोगो ॥८॥ जैसे कोई पुरुष जलकी इच्छासे कुआ खोदता है, परन्तु कुएमेंसे जल नहीं निकलता और खोदनेवाला पुरुष

तेत कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥ ९ ॥ यथारुह्य महावृक्षमपहृत्य ततो मधु । अप्राश्य निधनं गच्छेत्कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥ १० ॥ यथा महान्तमध्वानमाशया पुरुषः पतन् । स निराशो निवर्तेत कर्मैतन्नस्तथोपमम् ॥ ११ ॥ यथा शत्रून्घातयित्वा पुरुषः कुरुनन्दन । आत्मानं घातयेत्पश्चात् कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥ १२ ॥ यथान्नं क्षुधितो लब्ध्वा न भुञ्जीयाद्यदृच्छया । कामीव कामिनीं लब्ध्वा कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥ १३ ॥ वयमेवात्र गर्ह्या हि यद्वयं मन्दचेतसम् । त्वां राजन्ननुगच्छामो ज्येष्ठोऽयमिति भारत ॥ १४ ॥ वयं हि बाहुबलिनः कृतविद्या मनस्विनः । क्लीबस्य वाक्ये तिष्ठामो

कीचमें सनकर पीछेको लौट आता है, ऐसा ही यह हमारा भी काम है ॥ ९ ॥ अथवा कोई पुरुष शहदको पानेकी इच्छासे बड़ेभारी वृक्ष पर चढ़ता है, परन्तु शहदको चाखे बिना ही जैसे मरजाता है, वही दशा इस समय हमारी भी हुई है ॥ १० ॥ अथवा जैसे कोई पुरुष बडी आशासे बड़े मार्गमें जाता है और तहाँसे निराश होकर लौटआता है, यही गति हमारी हुई है ११ अथवा हे राजा युधिष्ठिर ! जैसे कोई पुरुष शत्रुओंको मारकर पीछेसे आत्मघात कर लेता है, ऐसी ही दशा हमारी हुई है अर्थात् पहले हमने शत्रुओंको मारा और अब तुम हमे बिना ही शस्त्रके मारनेको तयार होगए हो १२ जैसे भूखे मनुष्यको अन्न मिलजाय परंतु वह उसको अपनी इच्छानुसार न खासके अथवा कामी पुरुषको कामिनी मिलजाय और वह उसको अपने उपभोगमें न लासके ऐसी ही दशा हमारी भी हुई है १३ हे भरतवंशी राजा युधिष्ठिर! हम इस संसारमें निन्दाके पात्र हुए, क्योंकि-मन्दबुद्धि वाले तुमको, यह हमारे बड़े भाई हैं, ऐसा मान कर हमने आप का कहना किया ॥ १४ ॥ (परन्तु तुम जानते हो कि-)हमारी भुजाओंमें बल है हम शास्त्र और शस्त्रको जानते हैं, शक्तिमान्

यथैवाशक्तयस्तथा ॥१५॥ अगतीकगतीनस्मान्नष्टार्थानर्थसिद्धये । कथं वै नानुपश्येयुर्जनाः पश्यत यादृशम् ॥ १६ ॥आपत्काले हि संन्यासः कर्तव्य इति शिष्यते । जरयाभिपरीतेन शत्रुभिर्व्यंसितेन वा ॥ १७ ॥ तस्मादिह कृतप्रज्ञास्त्यागं न परिचक्षते । धर्मव्यतिक्रमं चैव मन्यन्ते सूक्ष्मदर्शिनः ॥ १८ ॥ कथं तस्मात्समुत्पन्नास्तन्निष्ठास्तदुपाश्रयाः । तदेव निन्दां भाषेयुर्धाता तत्र न

हैं तो भी जैसे शक्तिहीन पुरुष नपुंसककी आज्ञामें रहते हैं, तैसे ही आपकी आज्ञामें रहे हैं ॥ १५ ॥ दूसरे लोगोंकी दृष्टिमें हम अनाथोंको आश्रय देनेवाले हैं, तो भी हम अपना काम सिद्ध नहीं करसके क्या वे ऐसा नहीं कहेंगे? मैं जो कुछ कहता हूँ, उसके ऊपर विचार करिये १६ मैं जो कुछ कहता हूँ उसको सुनिये तुम कहते हो, कि-मैं संन्यास लेकर वनमें चलाजाऊँगा (ठीक है). परन्तु जानते हो, कि-मनुष्योंके ऊपर कोई आपत्ति आती है अथवा शत्रु तिरस्कार करके दुर्दशा करडालते हैं, तब ही वह पुरुष संन्यास लेता है, वैसे संन्यास नहीं लेता, तुम्हारे ऊपर तो मेरी बनाई हुई कोई आपत्ति आई नहीं है, फिर तुम संन्यास क्यों लेते हो ? ॥ १७ ॥ बुद्धिमान पुरुष क्षत्रियको संन्यास लेनेकी बात ही नहीं कहते, उलटे सूक्ष्मदर्शी पुरुष कहते हैं, कि-जो क्षत्रिय होकर संन्यास लेता है वह धर्मसे भ्रष्ट होजाता है ॥ १८ ॥ (कदाचित् तुम शङ्का करोगे, कि-क्षत्रियका धर्म हिंसामय होनेसे निन्दित है, परन्तु तुम्हारी यह शङ्का सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि-दूसरोंका तिरस्कार करके राज्य पाना, यह क्षत्रियका परमधर्म है और इसमें हिंसा तो अवश्य ही होगी ! तथा ऐसी हिंसा करनेके लिये ही हमारा जन्म हुआ है), हमारा क्षत्रियकुलमें जन्म हुआ है और हिंसासे ही हमारा जीवन है, फिर हमारे हिंसामय धर्मकी निन्दा लोग क्यों करते हैं ! और

गर्ह्यते ॥ १९ ॥ श्रिया विहीनैरधनैर्नास्तिकैः सम्प्रवर्तितम् । वेद-वादस्य विज्ञानं सत्याभासमिवानृतम् ॥ २० ॥ शक्यं तु मौन-मास्थाय बिभ्रतात्मानमात्मना । धर्मच्छद्म समास्थाय च्यवितुं न तु जीवितुम् ॥ २१ ॥ शक्यं पुनररण्येषु सुखमेकेन जीवितुम् । अबिभ्रता पुत्रपौत्रान् देवर्षीनतिथीन् पितॄन् ॥ २२ ॥ नेमे मृगाः स्वर्गजितो न वराहा न पक्षिणः । अथान्येन प्रकारेण पुण्यमा-

यदि लोग निन्दा करते हैं तो वह निन्दा हमारी नहीं है, वह निन्दा विधाताकी क्यों न मानी जाय ? क्योंकि-जिसमें हिंसा मुख्य है ऐसी क्षत्रिय-जातिको ब्रह्माजीने ही उत्पन्न किया है १९ (कदाचित् तुम कहोगे, कि-जाबालोपनिषद्में संन्यास लेनेको क्यों कहा है ? तो तुम्हें मालूम हो, कि-) संन्यास लेनेका वचन अर्थवादरूप है और उसका तात्पर्य स्वार्थमें नहीं है, इस-लिये वह माना नहीं जासकता, उस वचनकी प्रवृत्ति सम्पत्ति-रहित और नास्तिक निर्धनोंने की है, इसलिये त्यागरूपसे कहा हुआ वह संन्यास मिथ्या ही है, ब्राह्मणके सिवाय दूसरेको संन्यासका अधिकार नहीं है ॥२०॥ जो मनुष्य अपने पराक्रमसे अपने प्राणोंका पोषण करता है और जो प्रयत्नसे अपने शरीरकी रक्षा करसकता है वह कपटरूप त्यागधर्म (संन्यास) को ग्रहण करनेसे अपने जीवनको सार्थक नहीं करसकता, किन्तु, अपने धर्मसे नष्ट होजाता है॥२१॥जो पुत्र, पौत्र, देवता, ऋषि अतिथि और पितर इन सबोंका भरण पोषण तथा यजन याजन करनेमें असमर्थ हो वह अरण्यमें जाकर सुखसे अकेला रहे परन्तु शक्ति-मान पुरुषको वनमें रहना उचित नहीं है ॥ २२ ॥ पुत्र, पौत्र और देवता आदिका भरण पोषण तथा यजन याजन कियेबिना केवल वनमें जानेसे या वहाँ निवास करनेसे यदि स्वर्ग मिलता हो तो फिर वनमें रहनेवाले हिरन, सूकर आदिको स्वर्ग क्यों

हुर्न ते जनाः ॥ २३ ॥ यदि संन्यासतः सिद्धिं राजा कश्चिद-
वाप्नुयात् । पर्वताश्च द्रुमाश्चैव क्षिप्रं सिद्धिमवाप्नुयुः ॥ २४ ॥
एते हि नित्यसंन्यासा दृश्यन्ते निरुपद्रवाः । अपरिग्रहवन्तश्च
सततं ब्रह्मचारिणः ॥२५॥ अथ चेदात्मभाग्येषु नान्येषां सिद्धि-
मश्नुते । तस्मात्कर्मैव कर्तव्यं नास्ति सिद्धिरकर्मणः ॥ २६ ॥
औदकाः सृष्टयश्चैव जन्तवः सिद्धिमाप्नुयुः । तेषामात्मैव भर्तव्यो

नहीं मिलजाता ? ऐसे ही जो अपने२ धर्मके अनुसार कुटुम्बका पोषण और देवताओंका यजन किये बिना केवल वनवासमें रहते हैं उनको स्वर्ग क्यों नहीं मिलजाता ? उलटा उनको फल दूसरे ही प्रकारसे मिलता है ॥ ३॥ यदि संन्यास लेनेसे ही सिद्धि मिलती हो तो फिर पर्वतों और वृक्षोंको सिद्धि क्यों नही मिल जाती ? क्यों कि-उन्होंने तो सब ही परिग्रहको त्याग दिया है तथा वे वनमें शीत उष्ण आदिको त्यागकर रहते भी हैं, उनको तो (पहले) सिद्धि मिलनी चाहिये ॥ २४ ॥ वे तो नित्यके संन्यासी हैं, किसी भी प्राणीको दुःख नहीं देते हैं तथा नित्य परिग्रहसे शून्य और ब्रह्मचारी हैं, फिर उनको सिद्धि क्यों नहीं मिलती ? ॥ २५ ॥ परन्तु सिद्धि मिलना या न मिलना, यह तो अपने प्रारब्धके ऊपर ही निर्भर है, दूसरेके प्रारब्धके ऊपर निर्भर नहीं है, इसलिये क्षत्रिय जातिमें उत्पन्न होनेवालेको तो अवश्य ही कर्म करने चाहिये, कर्म न करने वालेको कभी सिद्धि नहीं मिलती है॥२६॥ हे राजा युधिष्ठिर! आप कदाचित् कहेंगे, कि-मुमुक्षुको इतना ही उद्योग करना चाहिये,कि-जिसमें अपने देहका भरण पोषण होजाय, अधिक उद्योग नहीं करना चाहिये, तो यह कहना भी मिथ्या है यदि ऐसा कहनेसे सिद्धि मिलती हो, तब तो (जलमें रहने वाली मछलियोंको और) स्थावर प्राणियोंको भी सिद्धि मिलनी चाहिये उनका भी अपने देहके

नान्यः कश्चन विद्यते ॥ २७ ॥ अवेक्षस्व यथा स्वैः स्वैः कर्मभि-
र्व्यापृतं जगत् । तस्मात्कर्मैव कर्तव्यं नास्ति सिद्धिरकर्मणः ।२८।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि
भीमवाक्ये दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अर्जुन उवाच ।अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । तापसैः
सह सम्वादं शक्रस्य भरतर्षभ ॥ १ ॥ केचिद् गृहान् परित्यज्य
वनमभ्यागमन् द्विजाः । अजातश्मश्रवो मन्दाः कुले जाताः प्रव-
व्रजुः ॥२॥ धर्मोयमिति मन्वानाः समृद्धा ब्रह्मचारिणः । त्यक्त्वा

पोषणमात्रका ही उद्योग होता है, वे उससे विशेष उद्योग नहीं करते हैं ॥ २७ ॥ परन्तु देखो यह सब जगत् अपने २ उद्योगमें लगा हुआ है, कोई भी निरुद्योगी नहीं है, इसलिये कर्म अवश्य करना चाहिये, कर्म न करने वालेको विजय नहीं मिलती है २८
दशवाँ अध्याय समाप्त ॥ १० ॥

[वैशम्पायनने कहा, कि-हे राजा जनमेजय! इसप्रकार भीमसेनने गृहस्थाश्रमकी श्रेष्ठता सिद्ध करके दिखाई और राजा युधिष्ठिरने संन्यासकी श्रेष्ठता वर्णन की, अब संन्यासका अधिकार न होते हुए भी संन्यास धारण करना इससे गृहस्थाश्रम अत्यन्त श्रेष्ठ है, यह सिद्ध करनेके लिये अर्जुन इतिहासरूप आख्यान कहता है] अर्जुनने कहा, कि-हे भरतसत्तम युधिष्ठिर! गृहस्थाश्रमकी श्रेष्ठतामें इन्द्र और तपस्वीका संवाद हुआ था, वह प्राचीन इतिहास मैं आपसे कहता हूँ सुनो ॥ १ ॥ एक समय जिनके दाढ़ी मूछें नहीं निकली थीं, ऐसे तरुण अवस्थाके, कुलीन होतेहुए भी मूर्ख कितने ही ब्राह्मण अपने माता पिता और भाइयोंको त्यागकर घरबार छोड संन्यास लेनेकी इच्छासे वनमें चलेगए, और संन्यास लेनेको ही धर्म मानकर ब्रह्मचर्यका पालन करनेलगे, ऐसा करते हुए कितना ही समय बीतगया,

भ्रातॄन् पितॄंश्चैव तानिन्द्रोन्वकृपायत ॥ ३ ॥ तानाबभाषे भगवान् पक्षी भूत्वा हिरण्मयः । सुदुष्करं मनुष्यैश्च यत्कृतं विघसाशिभिः ॥ ४ ॥ पुण्यं भवति कर्मेदं प्रशस्तं चैव जीवितम् । सिद्धार्थास्ते गतिं मुख्यां प्राप्ता धर्मपरायणाः॥५॥ ऋषय ऊचुः । अहो बतायं शकुनिर्विघसाशान् प्रशंसति । अस्मान्नूनमयं शास्ति वयं च विघसाशिनः ॥ ६ ॥ शकुनिरुवाच । नाहं युष्मान् प्रशंसामि पंकदिग्धान् रजस्वलान् ! उच्छिष्टभोजिनो मन्दानन्ये वै विघशाशिनः ॥ ७ ॥ ऋषय ऊचुः । इदं श्रेयः परमिति वयमेवाभ्युपास्महे । शकुने ब्रूहि यच्छ्रेयो भृशं ते श्रद्दधामहे॥८॥शकुनि-

---

तब इन्द्रने उन तपोरूप संपत्तिवाले ब्राह्मणोंके ऊपर कृपाकी २-३ वह सोनेकी समान चमकते हुए एक पक्षीका रूप धारण करके उन ब्राह्मणोंके पास आया और बोला, कि–इस जगत्में जो पञ्चमहायज्ञ करके बचेहुए अन्नको खानेवाले मनुष्य हैं उनका कर्म धन्यवादके पात्र है ॥ ४ ॥ उनका कर्म तथा जीवन प्रशंसाके योग्य है, उनके मनोरथ सफल होते हैं, ऐसे धर्मात्मा उत्तम गतिको पाते हैं ॥ ५ ॥ पक्षीके रूपमें आयेहुए इन्द्रकी बातको सुनकर वे ब्राह्मण बोले, कि–वाह ! यह पक्षी पञ्चमहायज्ञ करनेपर बाकी बचेहुए अन्नको खानेवाले मनुष्योंकी प्रशंसा करता है, यह हमारी ही प्रशंसा करता है, क्योंकि–ऐसा अन्न खानेवाले तो हम ही हैं ॥ ६ ॥ ब्राह्मणोंकी इस बातको सुनकर पक्षीरूपधारी इन्द्र बोला, कि–मैं तुम्हारी प्रशंसा नहीं करता हूं. तुम अधर्मरूप कीचमें सनेहुए हो, रजस्वला स्त्रीकी समान स्वाभाविक दोषयुक्त हो और जूठा भोजन करनेवाले हो, मैं तो जो पञ्चमहायज्ञसे बचेहुए अन्नका भोजन करते हैं उनकी प्रशंसा करता हूँ॥ ७॥ पक्षीकी बात सुनकर ब्राह्मण बोले, कि–तू जो कहता है, यह बात बड़ी कल्याणकारी है, तुम जिसको बताओगे हम उसकी

रुवाच । यदि मां नाभिशंकध्वं विभज्यात्मानमात्मना । ततोऽहं वः प्रवक्ष्यामि याथातथ्यं हितं वचः ॥ ९ ॥ ऋषय ऊचुः । शृणुमस्ते वचस्तात पन्थानो विदितास्तव । नियोगे चैव धर्मात्मन् स्थातुमिच्छामि शाधि नः ॥ १० ॥ शकुनिरुवाच । चतुष्पदां गौः प्रवरा लोहानां काञ्चनं वरम् । शब्दानां प्रवरो मन्त्रो ब्राह्मणो द्विपदां वरः ॥ ११ ॥ मन्त्रोऽयं जातकर्मादि ब्राह्मणस्य विधीयते । जीवतोऽपि यथाकालं श्मशाननिधनादिभिः ॥ १२ ॥ कर्माणि वैदिकान्यस्य स्वर्ग्यः पन्थास्त्वनुत्तमः।कथं मे सर्वकर्माणि मन्त्रसिद्धानि चक्रिरे॥१३॥ आत्मानं दृढवादीति तथा सिद्धिरिहे-

---

उपासना करेंगे,इसलिये जो कल्याणकारी कर्म हो वह हमें बताओ हमारा तेरे ऊपर बडा विश्वास है ॥८॥ पक्षीने कहा, कि–यदि तुम्हें 'यह हमसे जुदा है' ऐसी शङ्का न हो तो मैं तुमसे हितकारक यथार्थ वचन कहता हूँ, उसको तुम सुनो ॥ ९ ॥ ब्राह्मण बोले, कि–हे तात ! हम तेरी बातको सुनेंगे, हे धर्मात्मा पक्षी ! तू कल्याणके मार्गको जानता है, इसलिये हम तेरी आज्ञामें रहनेको राजी हैं, हमें धर्मका तत्त्व बता ॥ १० ॥ पक्षीने कहा, कि–हे ब्राह्मणों ! चार पैरवाले प्राणियोंमें गौ श्रेष्ठ है, लोहा आदि धातुओंमें सोना श्रेष्ठ है, शब्दोंमें ॐकार मंत्र श्रेष्ठ है और दो चरणोंसे चलनेवालोंमें ब्राह्मण श्रेष्ठ है ॥११॥ ब्राह्मणके जातकर्म आदि संस्कार वेदमंत्रोंसे करने कहे हैं, ब्राह्मण जबतक जिये तबतक वैदिक कर्म करता रहे और मरणके बाद श्मशानमें भी उसकी अन्त्येष्टि क्रिया वैदिक मंत्रोंसे करनी चाहिये ॥ १२ ॥ वैदिककर्म ब्राह्मणोंका स्वर्ग है और यही उत्तम मार्ग है तथा यही उनका महायज्ञ है, यदि ऐसा नहीं है तो मंत्रसिद्ध कर्म करे (इससे स्वर्ग मिलता है) ऐसा (श्रुतिमें) क्यों कहा है ? (अर्थात् तुम संन्यासका विचार छोडकर कर्म करो) ॥ १३ ॥

ष्यते । मासार्धमासा ऋतव आदित्यशशितारकम् ॥१४॥ ईहन्ते सर्वभूतानि तदिदं कर्मसंज्ञितम् । सिद्धिक्षेत्रमिदं पुण्यमयमेवाश्रमो

दृढ निश्चयवाला मनुष्य जिसप्रकार आत्माको आरको जाता है उसको वैसी ही सिद्धि मिलती है, महीने, पक्ष तथा ऋतुएँ क्रमसे आदित्य, चन्द्रमा तथा तारक ब्रह्ममें गमन करते हैं (मनुष्य जिस देवताके रूपसे अपने आत्माको जानता है अर्थात् मैं विष्णुरूप हूँ, अथवा शिवरूप हूँ, इसप्रकारका ही वह तद्देवतारूप बनजाता है, श्रुतिमें कहा है, कि-"तं यथा यथोपासते तथेतः प्रेत्य भवन्ति" जिस२ प्रकारसे आत्माकी उपासना की जाती है उसकी दशा इस लोकसे जाने पर वैसी ही होती है। स्मृतिमें भी कहा है-"यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्ताद्रूप्यमनुभवति" जिस २ देवताकी आत्मा उपासना करता है वह आत्मा उस२ स्वरूपताका अनुभव करता है। सिद्धि होनेके कितने प्रकार हैं वे यहाँ दिखाये हैं-माघ आदि महीनोंसे, उन महीनोंके शुक्लपक्षोंसे तथा शिशिर आदि ऋतुओंसे सूर्ययानकी प्राप्तिरूप सिद्धि होती है, इस लोक की सिद्धिसे ब्रह्मलोककी प्राप्तिरूप फल मिलता है। श्रावण आदि महीने,कृष्णपक्षरूप अर्धमास और वर्षाऋतुसे चन्द्रमार्ग-धूममार्ग वा पितृमार्गकी प्राप्तिरूप दूसरी सिद्धि प्राप्त होती है, इस सिद्धिसे स्वर्गलोक मिलता है और फिर उसमेंसे निवृत्ति होती है। इन दोनों मार्गोंका उल्लङ्घन करके आध्यात्मिक अथवा आधिभौतिक विमुक्तिकी उपासना करने वालोंका देहान्त होने पर तारक ब्रह्मकी प्राप्तिरूप तीसरी सिद्धि होती है यह तीसरी सिद्धि तुरन्त ही मुक्ति देनेवाली है। श्रुति कहती है-"स एतान् ब्रह्म गमयति न स पुनरावर्त्तते" वह इनको ब्रह्मके समीप लेजाता है, कि-जहाँसे फिर लौटकर इस संसारमें नहीं आना पड़ता है १४ सब प्राणी वैदिक कर्म करके इन तीनों सिद्धियोंको पाना चाहते

महान्॥१५॥अथ ये कर्म निंदन्तो मनुष्याः कापथं गताः। मूढाना-
मर्थहीनानां तेषामेनस्तु विद्यते॥१६॥ देववंशान् पितृवंशान् ब्रह्म-
वंशांश्च शाश्वतान्। सत्यज्य मूढा वर्तन्ते ततो यान्त्यश्रुतीपथम्॥१७
एतद्वोऽस्तु तपोयुक्तं ददामीत्यृषिचोदितम्। तस्मात्तत्तद्व्यवस्थानं
तपस्वि तप उच्यते॥१८॥ देववंशान् ब्रह्मवंशान् पितृवंशांश्च
शाश्वतान्। संविभज्य गुरोश्चर्यां तद्वै दुष्करमुच्यते॥१९॥
देवा वै दुष्करं कृत्वा विभूतिं परमां गताः। तस्माद्गार्हस्थ्यमुद्वोढुं

हैं, (मनुष्य) गृहस्थाश्रममें रह करही वैदिक कर्म भी करते हैं, परन्तु दूसरे आश्रमोंमें रहनेसे गृहस्थाश्रमके कर्म नहीं होसकते, इसलिये गृहस्थाश्रमही सिद्धिका क्षेत्र मानाजाता है और महा-पुण्यवान् आश्रम भी यही है॥१५॥ जो कर्ममार्गकी निन्दा करते हैं उनको कुमार्गमें पहुंचा हुआ समझो और कर्ममार्गकी निन्दा करनेवाले निर्धन मूढ पुरुषोंको पाप भी लगता है॥१६॥ जो मूढ पुरुष अनादिकालसे चलेआतेहुए देवयान मार्ग (आदित्य मार्ग वा अर्चिरादि मार्ग) पितृयानमार्ग (चन्द्रमार्ग) और ब्रह्मप्राप्ति तारक ब्रह्ममार्ग इन तीनों मार्गोंको त्यागकर इनसे अन्य मार्गको स्वीकार करते हैं उनको वेदविरुद्ध मार्गमें चलने वाले जानो॥१७॥ इसप्रकार मंत्रमें आज्ञा है, कि-हे यजमान! तू देवताके लिये द्रव्यत्यागरूप दान कर, मैं तुझे पुत्र और पशुओंका समूहरूप फल दूँगा, इस मार्गमें श्रद्धाके साथ लगजाय, यही तपस्वियोंका तप है, इसलिये तुम्हें दानरूप ऐसा यज्ञ और तप करना चाहिये (केवल कायाको क्लेश देना ही तप नहीं है)॥१८॥ गुरुकी सेवा करनेके साथ२ देवताओंकी उपासना, वेदोंका अध्ययन तथा पितरोंको तृप्त करनारूप शाश्वत धर्मोंका अनुष्ठान करनेसे दुष्कर तपकी सिद्धि होती है॥१९॥ देवताओंने भी इस दुष्कर तपको करके परमगति पाई है, इसलिये गृहस्था-

दुष्करं प्रब्रवीमि वः ॥ २० ॥ तपः श्रेष्ठं प्रजानां हि मूलमेतन्न संशयः । कुटुम्बविधिनानेन यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ २१ ॥ एतद्विदुस्तपो विप्रा द्वन्द्वातीता विमत्सराः । तस्माद् व्रतं मध्यमन्तु लोकेषु तप उच्यते ॥ २२ ॥ दुराधर्षं पदञ्चैव गच्छन्ति विघसाशिनः । सायं प्रातर्विभज्यान्नं स्वकुटुम्बे यथाविधि ॥ २३ ॥ दत्त्वातिथिभ्यो देवेभ्यः पितृभ्यः स्वजनाय च । अवशिष्टानि येऽश्नन्ति तानाहुर्विघसाशिनः ॥ २४ ॥ तस्मात्स्वधर्ममास्थाय सुव्रताः सत्यवादिनः । लोकस्य गुरवो भूत्वा ते भवंत्यनुपस्कृताः ॥ २५ ॥ त्रिदिवं प्राप्य शक्रस्य स्वर्गलोके विमत्सराः । वसन्ति शाश्वतान् वर्षान् जना दुष्करकारिणः ॥ २६ ॥ अर्जुन

श्रमको धारण करे, यही अति दुष्कर तप है (गृहस्थके सिवाय और किसी आश्रममें किसी भी कर्मके करनेका अधिकार नहीं है और कर्मकिये विना कोई भी सिद्धि नहीं मिलती, इसलिये गृहस्थाश्रम सब आश्रमोंसे श्रेष्ठ है) यह बात मैं आपसे कहता हूँ ॥ २० ॥ सब प्रजाओंका कल्याण करनेवाला तप ही है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है (छान्दोग्य उपनिषदमें कही हुई कुटुम्बविधिके अनुसार) संन्यास गृहस्थाश्रमको भोगनेके बाद भोगना चाहिये और गृहस्थाश्रममें सबका समावेश होता है २१ मत्सररहित तथा द्वन्द्व (सुख, दुःख) पदार्थोंसे रहित विद्वान् इसको ही तप कहते हैं,इसके अतिरिक्त व्रतादि करना मध्यम तप कहाता है ॥ २२ ॥ जो प्रातःकाल और सायंकाल अपने कुटुंबमें अन्नका विभाग करके विधिपूर्वक अतिथियोंको, देवोंको, पितरोंको और अपने आश्रितोंको देनेसे बचेहुए अन्नको खाते हैं, वे ही परमगति पाते हैं ॥ २३–२४ ॥ अतः हे ब्राह्मणो ! तुम लोकगुरु सत्यवादी, सदाचरणी और संशयशून्य होकर इस लोकमें सुखसे रहो ॥ २५ ॥ पञ्चमहायज्ञ करनेवाले मत्सरशून्य पुरुष इन्द्रके

उवाच । ततस्ते तद्वचः श्रुत्वा धर्मार्थसहितं हितम् । उत्सृज्य नास्तीति गता गार्हस्थ्यं समुपाश्रिताः ॥ २७ ॥ तस्मात्त्वमपि सर्वज्ञ धैर्यमालम्ब्य शाश्वतम् । प्रशाधि पृथिवीं कृत्स्नां हतामित्रां नरोत्तम ॥२८॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये ऋषिशकुनिसम्वादकथने एकादशोऽध्यायः ॥११॥

वैशम्पायन उवाच । अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा नकुलो वाक्यमब्रवीत् । राजानमभिसंप्रेक्ष्य सर्वधर्मभृताम्वरम् ॥ १ ॥ अनुरुध्य महाप्राज्ञो भ्रातुश्चित्तमरिन्दम । व्यूढोरस्को महाबाहुस्ताम्रास्यो मितभाषिता ॥ २ ॥ नकुल उवाच । विशाखयूपे देवानां सर्वेषा-

---

स्वर्गलोकमें बहुत वर्षोंतक रह कर सुख भोगते हैं" ॥ २६ ॥ अर्जुनने कहा कि–हे राजा युधिष्ठिर ! पक्षीका रूप धारण करके आएहुए इन्द्रका धर्म अर्थवाला कल्याणकारक वचन सुनकर संन्यास धारण करनेको आएहुए वे ब्राह्मण, "संन्यास निरर्थक है, वह यथार्थरीतिसे पाला नहीं जासकता" ऐसे कहते हुए घरको लौट चले और उन्होंने गृहस्थाश्रम स्वीकार किया ।२७। हे नरोंमें श्रेष्ठ सर्वज्ञ राजा युधिष्ठिर ! तुम भी (संन्यासकी बातको त्यागकर) चतुरताका आश्रय ले शत्रुओंसे शून्य हुई इस सकल पृथ्वीका शासन करो २८ ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ११

वैशम्पायन कहते हैं कि–हे शत्रुमर्दन ! अर्जुनके ऐसे वचनको सुनकर महाबुद्धिमान् धर्मराजके सामने देखकर चौड़े वक्षःस्थल और लम्बी बाहुवाला थोड़ा बोलनेवाला नकुल अपने भाईके मतका अनुसरण कर इस प्रकार बोला कि–१॥२ "हे महाराज ! विशाखयूपनामक क्षेत्रमें सब देवताओंके होम करनेके ईंटोंसे बाँधे हुए स्थण्डिल अब भी दीखते हैं, अतः हे राजन् ! आपको ज्ञात हो कि–देवता भी यज्ञादिकर्म करते हैं, और स्वर्ग आदि लोक

प्रश्रयरक्षिताः। तस्माद्विद्धि महाराज देवाः कर्मफले स्थिताः ३ अनास्तिकानां भूतानां प्राणदा पितरश्च ये। तेऽपि कर्मैव कुर्वन्ति विधिं संप्रेक्ष्य पार्थिव ॥४॥ वेदवादापविद्धांस्तु तान् विद्धि भृशनास्तिकान्। न हि वेदोक्तमुत्सृज्य विप्रः सर्वेषु कर्मसु ॥ ५ ॥ देवयानेन नाकस्य पृष्ठमाप्नोति भारत। अत्याश्रमानयं सर्वानित्याहुर्वेदनिश्चयाः ॥ ६ ॥ ब्राह्मणाः श्रुतिसम्पन्नास्तान्निबोध नराधिप। वित्तानि धर्मलब्धानि क्रतुमुख्येष्ववासृजन् ॥७॥ कृतात्मा स महाराज स वै त्यागी स्मृतो नरः ॥ ८ ॥ अनवेक्ष्य सुखादानं तथैवोर्ध्वं प्रतिष्ठितः। आत्मत्यागी महाराज स त्यागी तामसो मतः ॥ ९ ॥ अनिकेतः परिपतन् वृक्षमूलाश्रयो मुनिः।

भी वेदोक्त कर्म करनेसे ही प्राप्त होते हैं (और देवता भी कर्म करनेसे ही देवत्वको प्राप्त हुए हैं) ॥ ३ ॥ हे राजन् धर्मराज ! आस्तिक पुरुषोंके पितर जो वृष्टिद्वारा अन्न देने वाले हैं वे पितर भी शास्त्रानुसार ही कर्म करते हैं ॥ ४ ॥ जो वेदोक्त कर्मोंको त्याग देते हैं उनको परम नास्तिक जानो, वेदोक्त कर्मको छोड़ कर दूसरे और किसी कर्म करनेका द्विजको अधिकार नहीं है।५। हे भरतवंशी राजन् ! वेदको प्रमाण मानने वाले पुरुष सकल आश्रमोंमें गृहस्थाश्रमको श्रेष्ठ कहते हैं और गृहस्थाश्रमी नाना प्रकारके वेदोक्त कर्म करके देवयान मार्गसे ब्रह्मलोकमें जाते हैं ॥ ६ ॥ हे राजन् ! वेदसम्पन्न ब्राह्मणोंके पास जाकर तुम पूछोगे कि-हमको क्या कर्म करने चाहिये, तब वे ब्राह्मण तुमसे कहेंगे कि-तुम स्वधर्मसे सम्पादन करे हुए द्रव्यका यज्ञमें उपयोग करो, हे महाराज जो गृहस्थाश्रममें रह कर यज्ञादिकर्मोंको करते हुए, अहन्ता ममतासे शून्य होते हैं, वे मनुष्य वास्तवमें सात्विक त्यागी कहाते हैं ॥ ७-८ ॥ परन्तु जो पुरुष गृहस्थाश्रममें सुखका अनुभव नहीं करते, हैं परन्तु एक दम त्यागी होकर वनमें चले

अयाचकः सदा योगी स त्यागी पार्थ भिक्षुकः ॥ १० ॥ क्रोध-
हर्षावनादृत्य पैशुन्यं च विशेषतः । विप्रो वेदानधीते यः स त्यागी
पार्थ उच्यते ॥११॥ आश्रमांस्तुलया सर्वान् धृतानाहुर्मनीषिणः ।
एकतश्च त्रयो राजन् गृहस्थाश्रम एकतः ॥१२॥ समीक्ष्य तुलया
पार्थ कामं स्वर्गञ्च भारत । अयं पन्था महर्षीणामियं लोकविदां
गतिः ॥ १३ ॥ इति यः कुरुते भावं स त्यागी भरतर्षभ । न यः

जाते हैं, उन पुरुषोंको तामस त्यागी जानो ॥ ९ ॥ और हे राजन् ! जिन पुरुषोंका घर बार नहीं है, जो भिक्षाके लिये) पृथ्वी पर घूमते रहते हैं, जो वृक्षकी छायामें पड़े रहते हैं, मौन-व्रत धारण करते हैं, जो अपने लिये रसोई नहीं बनाते हैं और अपनी इन्द्रियोंको रोकनेके लिये यत्न करते हैं, ऐसे त्यागी भिक्षुक कहलाते हैं ॥ १० ॥ हे राजन् ! जो ब्राह्मण क्रोध, हर्ष, और विशेषतः चुगलखोरीको त्याग, वेदका स्वाध्याय ही करा करते हैं, वे ब्राह्मण राजस त्यागी भिक्षुक कहलाते हैं ॥ ११ ॥ हे राजन् ! किसी समय विद्वान् पुरुषोंने चारों आश्रमोंकी तुलना करनी आरंभ करी उन्होंने एक ओर तीन आश्रम रक्खे और दूसरी ओर गृहस्थाश्रमको रक्खा उनमें अकेला गृहस्थाश्रम ही तीनोंके बराबर उतरा ॥ १२ ॥ हे पार्थ (ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास इन तीन आश्रमोंमें केवल स्वर्गकी ही प्राप्ति होती परन्तु कामकी प्राप्ति नहीं होती है) गृहस्थाश्रममें तो काम और स्वर्ग दोनोंकी प्राप्ति होती है, इसप्रकार देखनेके पीछे व्यवहार को जाननेवाले महर्षियोंको निश्चय हुआ है कि–यही मार्ग है और यही उत्तम गति है ॥ १३ ॥ हे भरतवंशोत्पन्न राजा धर्मराज ! जो पुरुष दूसरोंको त्यागकर गृहस्थाश्रममें प्रीति करता है और फलकी इच्छासे शून्य होकर कर्तव्य करता है उस पुरुषको सच्चा त्यागी जानना चाहिये, परन्तु जो मूढकी समान गृह-

परित्यज्य गृहान् वनमेति विमूढवत् ॥ १४॥ यदा कामात् समावृत्तेत धर्मवैतंसिको नरः । अथैनं मृत्युपाशेन कण्ठे बध्नाति मृत्युराट् । अभिमानकृतं कर्म नैतत्फलवदुच्यते । त्यागयुक्तं महाराज सर्वमेव महाफलम् ॥ १६ ॥ शमो दमस्तथा धैर्यं सत्यं शौचमथार्जवम् । यज्ञो धृतिश्च धर्मश्च नित्यमार्षो विधिः स्मृतः ॥ १७ ॥ पितृदेवातिथिकृते समारंभोऽत्र शस्यते । अत्रैव हि महाराज त्रिवर्गः केवलं फलम् ॥ १८ ॥ एतस्मिन्वर्तमानस्य विधावप्रतिषेधिते । त्यागिनः प्रसृतस्येह नोच्छित्तिर्विद्यते क्वचित् ॥ १९ ॥ असृजद्धि प्रजा राजन् प्रजापतिरकल्मषः । मां यक्ष्यन्तीति धर्मात्मा यज्ञैर्विविधदक्षिणैः ॥२०॥ वीरुधश्चैव वृक्षांश्च यज्ञार्थं वै तथौषधीः।

स्थाश्रमका त्याग करके वनमें जाता है वह त्यागी नहीं है १४ यदि धर्मध्वजी (ढोंगी) पुरुष वनमें जाता है और तहाँ जाकर यदि कभी उसको कामना होती है तो यमराज उस पुरुषके कंठ में घोर पाश बाँधते हैं अर्थात् वह यमलोकमें जाता है ॥ १५ ॥ हे महाराज ! ऐसे ही जो अभिमानसे कर्म करता है उसको वह कर्म कभी भी फल नहीं देता है, परन्तु जो कर्म निरभिमान-परित्याग बुद्धिसे किया जाता है, वही फल देता है,॥ १६ ॥ शम, दम, धैर्य, सत्य शौच (पवित्रता, आर्जव, धृति और यज्ञ ये सब धर्म ऋषियोंके पालनेके हैं और ये ही उनके धर्म हैं (परन्तु ये धर्म क्षत्रियोंके नहीं हैं, क्योंकि-यदि क्षत्रिय शम, दमादि धर्मका पालन करनेलगे तो राज्यकी रक्षा नहीं करसकेगा) ।१७। पितर, देवता, अतिथि-इन सबका गृहस्थाश्रमसे ही पोषण होता है, अतएव शास्त्रमें गृहस्थाश्रमकी प्रशंसा की है और गृहस्थाश्रममें ही धर्म, अर्थ और काम इन तीन वर्गोंकी सिद्धि होती है ॥ १८ ॥ जो पुरुष शास्त्रकी विधि के अनुसार कर्म करके गृहस्थाश्रममें रहता है, शास्त्रके ऊपर

पशूंश्चैव तथामेध्यान् यज्ञार्थानि हवींषि च ॥ २१ ॥ गृहस्थाश्रमिणस्तच्च यज्ञकर्म विरोधकम् । तस्माद्गार्हस्थ्यमेवेह दुष्करं दुर्लभं तथा ॥ २२ ॥ तत्संस्थाप्य गृहस्थाये पशुधान्यधनान्विताः । न यजन्ते महाराज शाश्वतं तेषु किल्विषम् ॥ २३ ॥ स्वाध्याययज्ञा ऋषयो ज्ञानयज्ञास्तथापरे । अथापरे महायज्ञान्मनस्येव वितन्वते ॥२४॥ एवं मनः समाधानं मार्गमातिष्ठतो नृप । द्विजातेर्ब्रह्मभूतस्य स्पृहयन्ति दिवौकसः ॥ २५ ॥ सरत्नानि विचित्राणि

श्रद्धा रख कर त्यागीके समान वर्ताव करता है, उसको किसी प्रकारकी अडचन नहीं पडती है अर्थात् उसके यह लोक और पर लोक दोनों सुधर जाते हैं ॥१९॥ हे राजन् ! धर्मात्मा पुरुष यज्ञसे मेरा यजन कर अनेक प्रकारकी दक्षिणायें देंगे, ऐसी इच्छासे पापरहित ब्रह्माने यह सब प्रजा उत्पन्न की है (अतः गृहस्थाश्रममें रहकर याग, यज्ञ आदि क्रियाएँ करना, यह ही अत्यन्त श्रेष्ठ कर्म है) ॥ २० ॥ ब्रह्माने यज्ञके लिये ही लता, वृक्ष, औषधि, पवित्र, पशु, होमनेके लिये जौ, तिल, घी आदि हविष्य पदार्थोंको उत्पन्न किया है ॥ २१ ॥ हे राजन् ! गृहस्थाश्रमियोंको यज्ञरूप कर्म विशेषतः बेडीरूप है अर्थात् पैरोंमें बेड़ी होनेसे जैसे चला नहीं जासकता, तैसेही गृहस्थाश्रमियोंको भी वह कर्म बन्धनरूप होनेसे गृहस्थाश्रम अतीव कठिन है ॥२२॥ हे राजन् ! पशु, धान्य और धनवाले जो गृहस्थाश्रममें रहने पर भी यज्ञ नहीं करते हैं वे नित्य पापको भोगते हैं ॥ २३ ॥ ऋषि वेदके स्वाध्यायरूपी कर्मको यज्ञ कहते हैं दूसरे कितने ही ज्ञानी आत्मामें ही ज्ञानरूपी महायज्ञ करनेको कहते हैं ॥ २४ ॥ हे राजन् ! मनकी समाधिको करनेवाले तथा ब्रह्मभूत हुए द्विजातिके साथ देवता भी मित्रता करनेको उत्कण्ठित रहते हैं २५ और शत्रुके पाससे लिये हुए पृथक् २ प्रकारके द्रव्यका यज्ञमें व्यय

संहृतानि ततस्ततः। प्रव्रजनमभिसंत्यज्य नास्तिक्यमभिजल्पसि २६ कुटुम्बमास्थिते त्यागं न पश्यामि नराधिप। राजसूयाश्वमेधेषु सर्वमेधेषु वा पुनः २७ ये चान्ये क्रतवस्तात ब्राह्मणैरभिपूजिताः। तैर्यजस्व महीपाल शक्रो देवपतिर्यथा ॥ २८ ॥ राज्ञः प्रमाददोषेण दस्युभिः परिमुष्यताम्। अशरण्यः प्रजानां यः स राजा कलिरुच्यते ॥ २९ ॥ अश्वान् गाश्चैव दासीश्च करेणूश्च स्वलंकृताः। ग्रामान् जनपदांश्चैव क्षेत्राणि च गृहाणि च ॥ ३० ॥ अप्रदाय द्विजातिभ्यो मात्सर्याविष्टचेतसः। वयं ते राजकलयो भविष्याम विशां पते ॥ ३१ ॥ अदातारो शरण्याश्च राजकिल्विषभागिनः।

करनेका निषेध करके हे राजन्! तुम अपनी नास्तिकता ही प्रकट करते हो ॥ २६ ॥ हे राजन्! जिसके ऊपर सारे कुटुम्ब का भार होता है, उसको मुनिका वेष धारण करनेका अधिकार होता है, ऐसा मैंने नहीं सुना है, अब यदि तुम्हें त्यागकी ही इच्छा हो तो तुम गृहस्थाश्रमका त्याग न करके राजसूययज्ञ अश्वमेधयज्ञ आदि यज्ञोंमें द्रव्यका त्याग करो, क्यों कि-गृहस्थाश्रमके त्यागको कोई त्याग नहीं मानता है ॥ २७ ॥ हे राजन्! इन्द्र जैसे नानाप्रकारके यज्ञ करके देवताओंका राजा हुआ है, इसप्रकार ही अश्वमेध, राजसूय तथा दूसरे कितने ही यज्ञोंको कि-जिनको ब्राह्मणोंने राजाओंको कराया है-करके तुम भी पृथ्वीके राजा बनो ॥ २८ ॥ जो राजा चोर शत्रु आदिसे पीडा पाती हुई अपनी प्रजाकी प्रमादसे रक्षा नहीं करता है, वह राजा कलिरूप कहाता है ॥ २९ ॥ घोड़े, गौ, दासियें, सजे हुए हाथी, ग्राम, देश, क्षेत्र, तथा अनेक प्रकारकी वस्तुओंसे भरेहुए घर, यदि हम ब्राह्मणोंको नहीं देंगे तथा मात्सर्ययुक्त होकर प्रजाका पालन नहीं करेंगे, तो हे राजन्! हम कलिरूप राजा, गिने जावेंगे ॥ ३०-३१ ॥ हे राजन्! जो राजे हैं ब्राह्मणोंको

दोषाणामेव भोक्तारो न सुखानां कदाचन ॥ ३२ ॥ अनिष्ट्वा च महायज्ञैरकृत्वा च पितृस्वधाम् । तीर्थेष्वनभिसंप्लुत्य प्रव्रजिष्यसि चेत्प्रभो ॥ ३३ ॥ छिन्नाभ्रमिव गन्तासि विलयं मारुतेरितम् । लोकयोरुभयोर्भ्रष्टो ह्यन्तराले व्यवस्थितः ॥३४॥ अन्तर्बहिश्च यत् किंचित् मनोव्यासंगकारकम् । परित्यज्य भवेत्त्यागी न हित्वा प्रतितिष्ठति ॥ ३५ ॥ एतस्मिन् वर्तमानस्य विधावप्रतिषेधिते । ब्राह्मणस्य महाराज नोच्छित्तिर्विद्यते क्वचित् ॥ ३६ ॥ निहत्य शत्रूंस्तरसा समृद्धान् शक्रो यथा दैत्यबलानि संख्ये । कः

नाना प्रकारके दान नहीं देते हैं और शरणागत प्रजाकी रक्षा नहीं करते हैं ऐसे राजा प्रजाके पापके भोक्ता होते हैं और सुखके भोक्ता कभी नहीं होसकते ॥ ३२ ॥ हे राजन् ! यदि तुम महायज्ञोंसे देवताओंका यजन नहीं करोगे और पितरोंकी तर्पणादि क्रिया नहीं करोगे तथा नानाप्रकारके तीर्थोंमें स्नान करे विना ही यदि मुनियोंका वेश धारण करोगे, तो वायुके झपाटेसे आकाशमें बादल जैसे छिन्न भिन्न होकर विलीन होजाते हैं, तैसे ही तुम भी नष्ट होजाओगे तथा इस लोक तथा परलोक इसप्रकार दोनों लोकोंमेंसे भ्रष्ट होकर बीचमें ही लटके रहोगे अर्थात् पिशाचयोनिको प्राप्त होगे ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ जो बाहरके तथा भीतरके किसी भी दुःखकारक विषयको मनमेंसे त्यागता है, वही त्यागी है, और भगवाँ वस्त्र धारण करके गृहस्थाश्रमका त्याग कर विहार करने वाला त्यागी नहीं है ३५ हे महाराज ! जो ब्राह्मण शास्त्रमें कही हुई विधिके अनुसार कर्म करके गृहस्थाश्रममें रहता है और शास्त्रके ऊपर निष्ठा रखता है उस ब्राह्मणका यह लोक-अथवा परलोक इन दोनोंमेंसे एक लोकभी नहीं बिगड़ता है ॥ ३६ ॥ हे राजन् ! हमारे पूज्य बड़े जिस मार्गसे चलते आए हैं, उसी मार्गसे तुमको भी चलना

पार्थ शोचेन्निरतः स्वधर्मे पूर्वैः स्मृते पार्थिवशिष्टजुष्टे ॥ ३७ ॥
क्षात्रेण धर्मेण पराक्रमेण जित्वा महीं मन्त्रविद्भ्यः प्रदाय ।
नाकस्य पृष्ठेऽसि नरेन्द्र गन्ता न शोचितव्यं भवताद्य पार्थ॥३८॥
नकुलवाक्ये द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

सहदेव उवाच । न बाह्यं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति भारत । शारीरं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति वा न वा ॥ १ ॥ बाह्यद्रव्यविमुक्तस्य शारीरेष्वनुगृह्यतः । यो धर्मो यत्सुखं वा स्याद् द्विषतां तत्तथास्तु नः ॥२॥ शारीरं द्रव्यमुत्सृज्य पृथिवीमनुशासतः । यो

चाहिये, क्योंकि-अपने धर्मानुसार वर्ताव करने वाले पुरुषको शोक करनेका समय नहीं आता है, इन्द्र जैसे रणसंग्राममें दैत्योंकी सेनाओंको मार कर स्वर्गलोकका राजा हुआ था, तैसे ही तुमने भी समृद्धिमान् शत्रुओंको मारा है अतः अब तुम भी पृथ्वी पर राज्य करो ॥ ३७ ॥ हे राजन् ! तुम क्षत्रियधर्मका अनुसरण कर पराक्रम करो, तुमने यह पृथ्वी जीती है अतः अब तो तुम यह राजतंत्र किसी कुशल पुरुष पर छोड कर अपने आप यज्ञादि क्रियाएँ करो ! गृहस्थाश्रमकी रक्षा करो ! ऐसा करनेसे तुमको स्वर्गलोककी प्राप्ति होगी हे पार्थ ! अब तुम्हें शोक करनेका कोई कारण नहीं है ॥ ३८ ॥ बारहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १२ ॥

(वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे राजा जनमेजय ! इसप्रकार बोलकर नकुल मौन होगया तब) सहदेव बोला कि-हे भरतवंशमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर ! त्याग दो प्रकारका है, एक बाहरका और दूसरा भीतरका परन्तु बाहरके द्रव्य (पदार्थ) का त्याग करनेसे कोई सिद्धि नहीं मिलती है और त्याग करनेसे सिद्धि मिलती है कि-नहीं ? यह शंकास्पद है ॥ १ ॥ ऊपरसे द्रव्यका त्याग करनेवाले, परन्तु मनमें द्रव्यकी इच्छा रखनेवालेको जो धर्म और जो सुख मिलता है, वह हमारे शत्रुओंको मिले ! और

धर्मो यत्सुखं वा स्यात्सुहृदां तत्तथास्तु नः ॥ ३ ॥ द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् । मम चेति भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥ ४ ॥ ब्रह्ममृत्यू ततो राजन्नात्मन्येव समाश्रितौ । अदृश्यमानौ भूतानि योधयेतामसंशयम् ॥ ५ ॥ अविनाशोऽस्य सत्त्वस्य नियतो यदि भारत । हत्वा शरीरं भूतानां न हिंसा प्रतिपत्स्यते ॥ ६ ॥ अथापि च सहोत्पत्तिः सत्त्वस्य प्रलयस्तथा । नष्टे शरीरे नष्टं स्याद्वृथा स्याच्च क्रियापथः ॥ ७ ॥ तस्मादेकान्तमुत्सृज्य पूर्वैः पूर्वतरैश्च यः । पन्था निषेवितः सद्भिः स

मनमेंसे द्रव्यका त्याग करनेवाले और ऊपरसे लोगोंको दिखानेके लिये पृथ्वीका पालन करनेवालेको धर्मसे जो सुख होता है वह हमारे मित्रोंको मिले ॥२-३॥ दो अक्षरका "मम" यह "मेरा" है, ऐसा अहङ्कार रखना, यह मृत्यु है, परन्तु तीन अक्षरका "न मम" यह मेरा नहीं है (मैं तो केवल लोकोपदेशके लिये ही कर्म करता हूँ, मैं तो उससे साक्षीरूपसे भिन्न हूँ) ऐसा मानना ही ब्रह्मप्राप्ति है ॥ ४ ॥ हे राजन् ! बन्ध और मोक्ष मनुष्योंकी आत्मामें ही रहते हैं और वे दोनों अदृश्य रहकर प्राणियोंसे कर्म कराते हैं ॥ ५ ॥ हे राजन् ! कितने ही आत्माको नित्य मानते हैं, कितने ही अनित्य मानते हैं, अब यदि तुम आत्माको नित्य मानते होओ तो किसी प्राणीका नाश होना ही नहीं चाहिये, ऐसे ही प्राणियोंको मारनेसे उसकी हिंसाका पात्र भी कोई नहीं होना चाहिये ॥ ६ ॥ परन्तु यदि तुम दूसरी रीति-आत्मा अनित्य है इसको- मानते हो तो, शरीरके साथ ही आत्माकी उत्पत्ति और शरीरके नाशके साथ ही आत्मा नष्ट होजाता है, ऐसा मानते होओ तो वेदमें वर्णन किये हुए सब कर्म निरर्थक होजावेंगे (कारण कि-फिर पुण्य पापका भोक्ता कोई ठहरेगा ही नहीं) ॥ ७ ॥ इस विषयमें तुम्हारी बुद्धि काम

निपेव्यो विजानता ॥८॥ लब्ध्वापि पृथिवीं कृत्स्नां सह स्थावरजङ्गमाम् । न भुंक्ते यो नृपः सम्यङ् निष्फलं तस्य जीवितम्॥९॥ अथवा वसतो राजन् वने वन्येन जीवतः । द्रव्येषु यस्य ममता मृत्योरास्ये स वर्तते ॥ १० ॥ बाह्यान्तरं च भूतानां स्वभावं पश्य भारत । ये तु पश्यन्ति तद्भूतं मुच्यन्ते ते महाभयात् ॥ ११ ॥ भवान् पिता भवान्माता भवान् भ्राता भवान् गुरुः । दुःखप्रलापानार्तस्य तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ १२ ॥ तथ्यं वा यदि वातथ्यं

न देती हो तो नित्य अनित्य वस्तुके विचारको छोडकर हमारे पूर्वज सज्जन और उनके भी पूर्वज जिस मार्गसे चले हों उसी मार्गसे आपको भी चलना चाहिये ॥ ८ ॥ जिस राजाको यह स्थावर जंगमात्मक सम्पूर्ण पृथ्वी मिली हो, तब भी वह राजा उसका उपयोग नहीं करे, तो फिर उसके जीवनको निष्फल ही जानना चाहिये ॥ ९ ॥ और जो पुरुष वनमें रहता है और वनमें फल फूल खाकर आजीविका करता है, तब भी जो द्रव्यमें ममता रखता है, उस पुरुषको मृत्युके मुखमें पडा हुआ जानो ॥ १० ॥ और हे राजन् ! जो सब प्राणियोंका अस्ति, भाति और प्रियत्व दीखता है, वह सत्यगात्माका है, ऐसा जानना चाहिये और जो पुरुष यह सब नित्य आत्मारूप ही है उससे अतिरिक्त नहीं है, जो ऐसा देखता है, वही पुरुष संसारसे मुक्त होता है ॥ ११ ॥ हे राजन् ! तुम ही मेरे पिता हो, तुम ही मेरी माता हो, तुम ही मेरे भ्राता हो, तुम ही मेरे गुरु हो अतः मैंने तुम्हारे सामने कुछ उद्दण्डपनेसे कहा हो तो तुम मेरे उस कथनको क्षमा करना, क्योंकि-मैंने अपने दुःखके कारण ही तुमसे कहा है ॥ १२ ॥ हे भरतकुलमें श्रेष्ठ पृथ्वीका पालन करनेवाले राजन् ! मैंने तुम्हारे सामने सत्य या असत्य जो कुछ कहा है,वह केवल तुम्हारे ऊपर (अपनी) भक्ति

यन्मयैतत्प्रभाषितम् । तद्विद्धि पृथिवीपाल भक्त्या भरतसत्तम॥१३
इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि
सहदेववाक्ये त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥
वैशम्पायन उवाच । अव्याहरति कौन्तेये धर्मराजे युधिष्ठिरे । भ्रातॄणां ब्रुवतां तांस्तान् विविधान् वेदनिश्चयान् ॥ १ ॥ महाभिजनसम्पन्ना श्रीमत्यायतलोचना । अभ्यभाषत राजेन्द्र द्रौपदी योषितांवरा ॥ २ आसीनमृषभं राज्ञां भ्रातृभिः परिवारितम् । सिंहशार्दूलसदृशैर्वारणैरिव यूथपम् ॥ ३ ॥ अभिमानवती नित्यं विशेषेण युधिष्ठिरे । लालिता सततं राज्ञा धर्मज्ञा धर्मदर्शिनी ४ आमन्त्र्य विपुलश्रोणी साम्ना परमवल्गुना । भर्तारमभिसंप्रेक्ष्य ततो वचनमब्रवीत्॥५॥ द्रौपद्युवाच । इमे ते भ्रातरः पार्थ शुष्यन्ते

होनेके कारण कहा है, और मैं तुमसे अधिक बुद्धिमान् हूँ ऐसा समझकर नहीं कहा है, अतः मुझे क्षमा करिये इतना कह कर सहदेव चुप होगया ॥१३॥ तेरहवाँ अध्याय समाप्त ॥१३॥

वैशम्पायन कहते हैं कि-हे राजा जनमेजय ! इसप्रकार अपने भाइयोंके वेदवचनयुक्त निश्चित वाक्योंको सुनकर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर स्थिर होकर बैठे, तब अतिकान्तिमती, विशालनेत्रा, स्त्रियोंमें श्रेष्ठ उत्तम कुलवाली द्रौपदीने अपना विचार युधिष्ठिर को बतानेका आरम्भ किया, सिंहकी समान पराक्रमी राजा, हाथियोंसे घिरकर जैसे महाहस्ती बैठा हो, इसप्रकार अपने भाइयोंसे घिरेहुए राजमण्डलमें बैठे थे ॥ १-३ ॥ राजा युधिष्ठिरके प्रति क्षत्रियकुलका अभिमान करनेवाली युधिष्ठिरके ऊपर ममता रखनेवाली और युधिष्ठिरने जिसका लालन पालन किया था, ऐसी क्षत्रियधर्मको जाननेवाली और उसके अनुसार वर्ताव करनेवाली, विशाल नितम्बोंवाली द्रौपदी अपने पतिकी ओर दृष्टि कर शान्त तथा रमणीय शब्दोंसे पतिका ध्यान अपनी

स्तोकका इव । वाचाश्यमानास्तिष्ठन्ति न चैनानभिनन्दसे ॥ ६ ॥ नन्दयैतान्महाराज मत्तानिव महाद्विपान् । उपपन्नेन वाक्येन सततं दुःखभागिनः ॥ ७ ॥ कथं द्वैतवने राजन् पूर्वमुक्त्वा तथा वचः । भ्रातनेतान् स्म सहिताञ्छीतवातातपार्दितान् ॥ ८ ॥ वयं दुर्योधनं हत्वा मृधे भोक्ष्याम मेदिनीम् । संपूर्णां सर्वकामानामाहवे विजयैषिणः ॥ ९ ॥ विरथांश्च रथान् कृत्वा निहत्य च महागजान् । संस्तीर्य च रथैर्भूमिं ससादिभिररिन्दमाः ॥१०॥ यजतां विविधैर्यज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः । वनवासकृतं दुःखं भविष्यति सुखाय वः ॥ ११ ॥ इत्येतानेवमुक्त्वा त्वं स्वयं धर्मभृतां वर । कथमद्य

और खेंच इसप्रकार बोली ॥ ४ ॥ ५ ॥ द्रौपदीने कहा कि— हे पार्थ ! ये तुम्हारे भाई पपइयेकी समान वारम्वार क्रन्दन कर रहे हैं और हृदयको थाम कर बैठे हुए हैं परन्तु तुम उनके ऊपर कृपा क्यों नहीं करते ॥ ६ ॥ हे महाराज ! जैसे महावत मधुर वाक्योंसे मदमत्त हाथीको समझाता है तैसे ही तुम भी नित्य दुःख भोगते हुए इन अपने भाइयोंको धीरज देकर शान्त करो७ हे राजन् ! जब हम द्वैतवनमें वसते थे और गरमी सरदीसे पीडा पाते थे और ये भाई तुम्हारे साथ रहते थे, उस समय तुमने यह शब्द किस लिये कहे थे कि-" मैं रणमें दुर्योधनको मारूँगा और संपूर्ण पृथ्वीपर राज्य करूँगा ॥ ८ ॥ ९ ॥ रणमें जयकी इच्छासे आये हुए बहुतसे राजाओंको हम मार डालेंगे, रथ वाले राजाओंको रथहीन करदेंगे, बडे२ हाथियोंको मारेंगे तथा राजारहित रथोंसे, सवारोंसे, घोडोंसे इस पृथ्वीको पाटदेंगे और पीछे हे भाइयो ! तुम वडे २ यज्ञ करके वडे२ दान दक्षिणामें देना राज्यसुख भोगना, तब इस वनवासमें भोगा हुआ दुःख तुमको सुखरूप होजावेगा, यह किस लिये कहा था? ॥ १०-११ ॥ हे धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर ! तुम

पुनर्वीर विनिहंसि मनांसि नः ॥ १२ ॥ न क्लीवो वसुधां भुंक्ते न क्लीवो धनमश्नुते । न क्लीवस्य गृहे पुत्रा मत्स्या पङ्क इवासते १३ नादण्डः क्षत्रियो भाति नादण्डो भूमिमश्नुते । नादण्डस्य प्रजा राज्ञः सुखं विंदन्ति भारत ॥ १४ ॥ मित्रता सर्वभूतेषु दानमध्ययनं तपः । ब्राह्मणस्यैव धर्मः स्यान्न राज्ञो राजसत्तम ॥ १५ ॥ असतां प्रतिषेधश्च सतां च परिपालनम् । एष राज्ञां परो धर्मः समरे चापलायनम् ॥ १६ ॥ यस्मिन् क्षमा च क्रोधश्च दानादाने भयाभये । निग्रहानुग्रहौ चौभौ स वै धर्मविदुच्यते ॥ १७ ॥ न श्रुतेन न दानेन न सान्त्वेन न चेज्यया । त्वयेयं पृथिवी लब्धा

स्वयं ही अपने भाइयोंके सामने इस प्रकार बोले थे, वह तुम अब हमारे मनोरथोंको किस लिये तोड़े डालते हो ? ॥ १२ ॥ नपुंसक पृथिवीको नहीं भोगते हैं, नपुंसक धनका भी उपभोग नहीं करसकते, नपुंसकके घर पुत्र भी नहीं होता है, नपुंसक पुरुष तो कीचडमें जैसे मछली बैठी रहती है वैसे घरमें ही बैठे रहते हैं १३ तैसे ही (दण्ड) शिक्षा न देनेवाला क्षत्रियपुत्र शोभा नहीं पाता है, दण्डरहित क्षत्रियपुत्र पृथ्वीके ऊपर राज्य नहीं कर सकता दण्डरहित क्षत्रियकी प्रजा सुख नहीं भोगसकती ॥ १४ ॥ हे राजसत्तम ! प्राणिमात्रके साथ मित्रता रखना, दान लेना, वेदाध्ययन करना और तप करना यह सर्व ब्राह्मणके धर्म हैं, क्षत्रियके नहीं हैं ॥ १५ ॥ क्षत्रियोंका तो परमधर्म यह ही है कि-दुष्टोंको दण्ड देना, सत्पुरुषोंका पालन करना और रणमें शत्रुओंको पीठ न दिखाना ।१६। क्षमा, क्रोध, दान (ब्राह्मणोंको देना) आदान (प्रजासे करलेना) शत्रुको भय दिखाना शरणागतको अभय देना, शत्रुओंका निग्रह करना और दीनोंके ऊपर अनुग्रह करना इतने गुण जिसमें होते हैं, वह धर्मवेत्ता कहलाता है १७ हे राजन ! तुमने यह पृथ्वी कुछ दानसे, शास्त्रसे, सान्त्वनसे,

धतम् । हस्त्यश्वरथसंपन्नं त्रिभिरंगैरनुत्तमम् ॥ १९ ॥ रक्षितं द्रोणकर्णाभ्यामश्वत्थाम्ना कृपेण च । तत्त्वया निहतं वीर तस्माद्भुंक्ष्व वसुन्धराम् ॥ २० ॥ जम्बूद्वीपो महाराज नानाजनपदैर्युतः । त्वया पुरुषशार्दूल दण्डेन मृदितः प्रभो ॥ २१ ॥ जंबूद्वीपेन सदृशः क्रौञ्चद्वीपो नराधिप । अपरेण महामेरोर्दण्डेन मृदितस्त्वया ॥२२॥ क्रौञ्चद्वीपेन सदृशः शाकद्वीपो नराधिप । पूर्वेण तु महामेरोर्दण्डेन मृदितस्त्वया ॥२३॥ उत्तरेण महामेरोः शाकद्वीपेन संमितः । भद्राश्वः पुरुषव्याघ्र दण्डेन मृदितस्त्वया २४ द्वीपाश्च सान्तरद्वीपा नानाजनपदाश्रयाः । विगाह्य सागरं वीर

यत्नसे अथवा किसीके संकोचसे नहीं पाई है ॥ १८ ॥ हे वीर ! जो सेनामें बड़े २ वीर थे, जो सेना हाथी, घोड़े और रथोंसे भरपूर थी और जो सेना तीनों अंगों (नेताका बल, भली सलाह, और योधाओंका आग्रह) से सुसज्जित थी, जिस सेनाके रक्षक कर्ण, द्रोण अश्वत्थामा, कृपाचार्य आदि महारथी थे, ऐसे महान् शत्रुओंकी सेनाको मारकर तुमने यह पृथ्वी पाई है और इससे ही मैं तुमसे कहती हूँ कि-तुम इस पृथ्वीके ऊपर राज्य करके इसका उपभोग करो ॥ १९-२० ॥ हे महाराज ! हे नरशार्दूल ! पहिले तुमने अपने भुजदण्डके प्रतापसे अनेक देशोंसे रमणीय इस जम्बूद्वीपको अपने वशमें किया है ॥२१॥ तदनन्तर मेरुपर्वतके पश्चिम भागमें बसेहुए जम्बूद्वीपकी समान क्रौंचद्वीपको भी तुमने अपने वशमें करलिया है ॥२२॥ मेरुपर्वतके पूर्व भागमें बसेहुए क्रौंचद्वीपकी समान शाकद्वीपको भी तुमने अपने वशमें कर लिया है॥२३॥मेरुपर्वतके उत्तरी भागमें बसेहुए शाकद्वीपकी समान भद्राश्वद्वीपको भी तुमने अपने वशमें किया है ॥२४॥ और हे वीर-पुरुष! दूसरे और भी द्वीप तथा अन्तर्द्वीप कि-जिनमें नानाप्रकारके देश हैं, ऐसे द्वीपोंको भी तुमने समुद्रका उल्लंघन करके अपने

दण्डेन मृदितास्त्वया ॥ २५ ॥ एतान्यमतिमेयानि कृत्वा कर्माणि भारत । न प्रीयसे महाराज पूज्यमानो द्विजातिभिः ॥ २६ ॥ स त्वं भ्रातृनिमान् दृष्ट्वा प्रतिनन्दस्व भारत । ऋषभानिव सम्मत्तान् गजेन्द्रानूर्जितानिव ॥ २७ ॥ अमरप्रतिमाः सर्वे शत्रुसाहाः परन्तपाः । एकोऽपि हि सुखायैषां मम स्यादिति मे मतिः २८ किं पुनः पुरुषव्याघ्र पतयो मे नरर्षभाः । समस्तानीन्द्रियाणीव शरीरस्य विचेष्टने ॥ २९ ॥ अनृतं नाब्रवीच्छ्वश्रूः सर्वज्ञा सर्वदर्शिनी । युधिष्ठिरस्त्वां पाञ्चालि सुखे धास्यत्यनुत्तमे ॥ ३० ॥ हत्वा राजसहस्राणि बहून्याशु पराक्रमः । तद्व्यर्थं संप्रपश्यामि

वशमें किया है ॥२५॥ हे महाराज ! ऐसे अद्भुत पराक्रम अपने भाइयोंकी सहायतासे करके भी तुम उदास क्यों रहते हो ? तुम्हारा ऐसा अद्भुत पराक्रम देखकर द्विजवर्ण तुम्हारी सेवा करता है, फिर तुम प्रसन्न क्यों नहीं होते ॥२६॥ हे राजन् ! मदमत्त बैल और सिंहकी समान बली इन अपने भाइयोंसे तुम आनन्दप्रद बातें क्यो नहीं करते ? २७ तुम सब देवताओंकी समान रूपवान् हो, तुम सब शत्रुओंके सामने खड़े रहने वाले हो, तुम सब शत्रुओंको भगानेवाले हो, तुममेंसे एक भी मेरा स्वामी हो तो मेरे सुखकी सीमा न रहे ॥ २८ ॥ तो फिर हे पुरुषव्याघ्र ! जैसे समस्त इन्द्रियें शरीरकी चेष्टा करनेमें समर्थ हैं, तैसे ही मनुष्यों में श्रेष्ठ तुम पाँचों मेरे पति हो तो फिर (मेरे भाग्यका तो) पूछना ही क्या ? ॥२९॥ मेरी सर्वज्ञ सास कुन्ती माताने मुझसे प्रथम ही कहा था कि—हे द्रौपदी ! युधिष्ठिर तुझको सर्वोत्तम सुख देंगे, वे शब्द मिथ्या नहीं होंगे, क्योंकि—वे किसी दिन मिथ्या नहीं बोली हैं (अर्थात् यदि तुम वनको चले जाओगे तो उनका वचन मिथ्या होजावेगा) ॥ ३० ॥ परन्तु हे राजन् ! मुझे दीखता है कि-तुम्हारे भाइयों ने सहस्रों राजाओंका संहार

मोहात्तव जनाधिप ॥ ३१ ॥ येषामुन्मत्तको ज्येष्ठः सर्वे तेऽप्यनुसारिणः । तवोन्मादान्महाराज सोन्मादाः सर्वपाण्डवाः ॥३२॥ यदि हि स्युरनुन्मत्ता भ्रातरस्ते नराधिप । बध्वा त्वां नास्तिकैः सार्धं प्रशासेयुर्वसुन्धराम् ॥ ३३ ॥ कुरुते मूढ एवं हि यः श्रेयो नाधिगच्छति । धूपैरञ्जनयोगैश्च नस्यकर्मभिरेव च ॥ ३४ ॥ भेषजैः स चिकित्स्यः स्याद्य उन्मार्गेण गच्छति । साहं सर्वाधमा लोके स्त्रीणां भरतसत्तम ॥३५॥ तथा विनिकृता पुत्रैर्याहमिच्छामि जीवितुम् । एतेषां यतमानानां न मेऽद्य वचनं मृषा३६ त्वं तु सर्वां महीं त्यक्त्वा कुरुषे स्वयमापदम् । यथास्तौ सम्मतौ

करके जो बड़ा पराक्रम किया है वह तुम्हारी मूर्खतासे व्यर्थ ही जायगा ॥३१॥ हे महाराज ! जिनका ज्येष्ठ बन्धु उन्मत्त होता है, उसके छोटे भाई भी उसका ही अनुकरण करते हैं, तुम्हारे उन्मादसे सब पाण्डव भी उन्माद वाले हो जावेंगे ॥ ३२ ॥ और जब तुम्हारे भाई भी उद्धत होजावेंगे तब तुमको नास्तिकोंकी पंक्तिमें गिनने लगेंगे और तुम्हारी आज्ञाका उल्लंघन करके स्वयंही राज्य करने लगेंगे ॥ ३३ ॥ हे राजन् ! जो मन्दमतिसे उन्मत्त बनता है, उसका श्रेय नहीं होता है और जो उन्मत्त होजाता है उसको शान्त करनेके लिये उसके पास धूप प्रज्वलित की जाती है, नेत्रोंमें अञ्जन आँजा जाता है, औषधि सुँघाई जाती है तथा नानाप्रकारकी औषधियें जाती हैं, हे राजन् ! मैं एक अधम स्त्री जातिकी हूँ, रणमें पुत्रोंके मारे जानेसे मैं पुत्ररहित होगई हूँ, तो भी मुझे जीनेकी इच्छा है, यह मैं सब तुमसे मिथ्या नहीं कहती हूँ,मुझे जो सत्य प्रतीत होता है, वही मैं तुमसे कहती हूँ, तुम्हें समझानेके लिये मैं तथा तुम्हारे सम्बन्धी प्रयत्न करते हैं, उनका यह परिश्रम व्यर्थ नहीं जाना चाहिये ॥ ३४-३६ ॥ हे राजन् ! यदि तुम इस सारी पृथ्वीका त्याग करोगे तो स्वयं

राज्ञां पृथिव्यां राजसत्तम॥३७॥मान्धाता चाम्बरीषश्च तथा राजन् विराजसे । प्रशाधि पृथिवीं सर्वां प्रजा धर्मेण पालयन्॥३८॥सपर्वतवनद्वीपां मा राजन् विमना भव । यजस्व विविधैर्यज्ञैर्युध्यस्वारीन् प्रयच्छ च । धनानि भोगान् वासांसि द्विजातिभ्यो नृपोत्तम ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि द्रौपदीवाक्ये चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच । याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत् । अनुमान्य महाबाहुं ज्येष्ठं भ्रातरमच्युत ॥ १ ॥ अर्जुन उवाच । दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति । दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ २ ॥ दण्डः संरक्षते धर्मं

ही आपत्तिको मोल ले लोगे, हे राजन ! तुम राजा मान्धाता और अम्बरीषकी समान शोभा पाते हो अतः तुम राजाओंकी सम्पत्तिके अनुकूल पर्वत वन और द्वीपसहित इस पृथ्वीकी रक्षा करो ! धर्मसे अपनी प्रजाका पालन करो उदास मत हो ! हे महाराज ! नानाप्रकारके यज्ञ करके देवताओंकी पूजा करो ! शत्रुओंके साथ युद्ध करो ! ब्राह्मणोंको नानाप्रकारके दान दो ! वस्त्र तथा अलंकारोंको धारण कर राजवैभवका उपभोग करो ! परन्तु वनमें जाकर मुनिवेष धारण करनेकी बात मत करो" इतना कहकर द्रौपदी चुप होगई ॥३७-३९॥ चौदहवाँ अध्याय समाप्त

वैशम्पायन कहते हैं कि-हे राजा जनमेजय ! यज्ञसेनकी पुत्रीके ऐसे वचन सुनकर महाभुज ज्येष्ठ बंधु युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर पुनः अर्जुन बोला ॥१॥ अर्जुनने कहा कि-दण्ड प्रजाका शासन करता है, दण्ड प्रजाकी रक्षा करता है और जब सब सो जाते हैं तब दण्ड ही अकेला जागृत रहता है इससे ही विद्वान् दण्डको धर्म बताते हैं ॥ २ ॥ हे राजन् ! दण्ड धर्म और

तथैवार्थं जनाधिप । कामं संरक्षते दण्डस्त्रिवर्गो दण्ड उच्यते ३ दण्डेन रक्ष्यते धान्यं धनं दण्डेन रक्ष्यते । एवं विद्वन्नुपाधत्स्व भावं पश्यस्व लौकिकम् ॥ ४ ॥ राजदण्डभयादेके पापाः पापं न कुर्वते । यमदण्डभयादेके परलोकभयादपि ॥ ५ ॥ परस्पर-भयादेके पापाः पापं न कुर्वते । एवं सांसिद्धिके लोके सर्वं दण्डे प्रतिष्ठितम् ॥ ६ ॥ दण्डस्यैव भयादेके न खादन्ति परस्परम् । अन्धे तमसि मज्जेयुर्यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ७ ॥ यस्माददा-न्तान् दमयत्यशिष्टान् दण्डयत्यपि । दमनाद्दण्डनाच्चैव तस्मा-द्दण्डं विदुर्बुधाः ॥ ८ ॥ वाचा दण्डो ब्राह्मणानां क्षत्रियाणां

अर्थकी रक्षा करता है और दण्ड ही कामकी रक्षा करता है, अतः धर्म अर्थ और काम ये तीनों दण्डके आश्रयसे ही टिके हुए हैं ॥ ३ ॥ धान्यकी तथा धनकी रक्षा भी दण्डसे ही होती है अतः विद्वान् ज्ञाता तुम दण्डको धारण करो लौकिक भावसे वर्ताव करो ॥४॥ एक वर्ग जो पापी है वह राजदण्डके भयसे ही पापकर्म नहीं करता है, दूसरा जो पापीवर्ग है वह यमराजके दण्डके भयसे पाप नहीं करता है, कितनेही परलोकके भयसे पापकर्म नहीं करते हैं ॥ ५ ॥ और कितने ही पापी परस्पर (समाज) के भयसे पापकर्म नहीं करते है, इस प्रकार स्वाभाविक रीतिसे सब जगत् दण्डके भयसे ही नियममें चल रहा है ॥ ६ ॥ और एक ऐसा भी वर्ग है, जो दण्डके भयसे ही एक दूसरेको नहीं खासकता इसप्रकार दण्ड यदि सबका पालन न करता होता तो ये सब प्राणी (नरक) गाढ अन्धकारमें डूब जाते (अर्थात् समाजमें अव्यवस्था होजाती) ॥ ७ ॥ खोटे मार्गमें चलनेवाले उच्छृंखल पुरुषका दमन करना और अशिष्ट पुरुषोंको दण्ड देना (यह राजाका धर्म है) इसप्रकार दमसे तथा दण्डसे, जिसको विद्वान् दण्ड कहते हैं उससे इस जगत्का व्यवहार

भुजार्पणम् । दानदण्डा स्मृता वैश्या निर्दण्डः शूद्र उच्यते ॥९॥ असंमोहाय मर्त्यानामर्थसंरक्षणाय च । मर्यादा स्थापिता लोके दण्डसंज्ञा विशांपते ॥ १० ॥ यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति सूद्यतः । प्रजास्तत्र न मुह्यन्ते नेता चेत्साधु पश्यति ॥११॥ ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः । दण्डस्यैव भयादेते मनुष्या वर्त्मनि स्थिताः ॥ १२ ॥ नाभीतो यजते राजन्नाभीतो दातु-

चलता है ॥८॥ यदि ब्राह्मण अपराध करे तो मनुष्योंके सामने उसका अपमान करना ही दण्ड है, यदि क्षत्रिय अपराध करे तो उससे सेवा कराना और भोजनके योग्य ही अन्न देना यही दण्ड है, यदि वैश्य अपराध करे तो उससे धन लेना दण्ड है और यदि शूद्र अपराध करे तो उससे (कठिन) सेवा करवावे, यही दण्ड है ॥९॥ हे राजन् ! मनुष्य उद्धत न होजायँ (अपने अपने कर्त्तव्यको न छोड़ बैठे), और उनके धनकी रक्षा हो, इसलिये जगत्में इसप्रकारकी दण्डरूप मर्यादा बाँधी गई है १० (हरएक अपराधीको पकडनेके लिये) जहाँ श्यामवर्ण और लाल नेत्रोंवाला दण्ड घूमता है वहाँ प्रजा अच्छे प्रकारसे अपने धर्ममार्गमें चलती है और वह उद्धत नहीं बनसकती, इस दण्डका चलानेवाला राजा होना चाहिये (जिसको दण्ड दियाजाता है उसके नेत्रोंके सामने एकदम अन्धेरा आजाता है इसलिये दण्डको श्यामवर्णकी उपमा दी है और अपराधीको दण्ड देते समय दण्ड देनेवालेके नेत्र लाल होजाते हैं, इसलिये दण्डको लाल कहा है) ॥ ११ ॥ ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी इन सब आश्रमोंमें रहनेवाले पुरुष दण्डके भयसे ही अपने २ धर्मोंमें लगे रहते हैं ॥ १२ ॥ हे राजन ! यदि किसीको किसीका भय न हो तो कोई न यज्ञ करे, न दूसरोंको देनेकी इच्छा करे, तथा कोई समय पर आकर खड़ा भी न हो (अतः दण्डकी बड़ी

मिच्छति। नाभीतो पुरुषो कश्चित्समये स्थातुमिच्छति ॥ १३ ॥ नाछित्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दुष्करम्। नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ॥ १४ ॥ नाघ्नतः कीर्तिरस्तीह न वित्तं न पुनः प्रजाः। इन्द्रो वृत्रवधेनैव महेन्द्रः समपद्यत ॥ १५ ॥ य एव देवा हन्तारस्ताँल्लोकोऽर्चयते भृशम्। हन्ता रुद्रस्तथा स्कन्दः शक्रोऽग्निर्वरुणो यमः ॥१६॥ हन्ता कालस्तथा वायुर्मृत्युर्वैश्रवणो रविः। वसवो मरुतः साध्या विश्वेदेवाश्च भारत ॥ १७ ॥ एतान् देवान्नमस्यन्ति प्रतापप्रणता जनाः। न ब्रह्माणं न धातारं न पूषाणं कथञ्चन ॥ १८ ॥ मध्यस्थान्

आवश्यकता है) ॥ १३ ॥ जैसे मच्छीमारोंको मच्छी मारे बिना मांस नहीं मिलता है, तैसे ही दूसरोंके मर्मस्थानोंको छेदे बिना, कठिन कर्म बिना करे और दूसरोंको मारे बिना बडी भारी राज्यलक्ष्मी भी नहीं मिलती है ॥ १४ ॥ इस जगत्में दूसरोंका पराभव किये (मारे) बिना किसी प्रकारकी कीर्त्ति नहीं मिलती है, धन नहीं मिलता है, और प्रजा भी अधीन नहीं रहती है, इन्द्रने वृत्रासुरका वध किया था, तब ही वह महेन्द्र हुआ था १५ देवताओंने असुरोंका नाश किया तब ही लोग उनकी पूजा करने लगे थे। रुद्र (महादेव) स्वामि कार्तिकेय, इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम, काल, वायु, मृत्यु कुबेर, रवि, वसु, साध्य, विश्वेदेवता—इन सबोंने अपने २ शत्रुओंको मारा था, पीछे ही वह बडी भारी राज्यलक्ष्मीके भोगनेवाले हुए हैं ॥ १६-१७ ॥ (ऊपर वर्णन किये हुए) इन देवताओंके प्रतापसे ही नम्र हुए लोग भी इन देवताओंको नमस्कार करते हैं, परन्तु जगत्को उत्पन्न करनेवाले ब्रह्माजीको और पूषा देवताको कोई भी नमस्कार नहीं करता है, क्योंकि—उन्होंने किसीका वध करके पराक्रम नहीं किया है १८ कार्य करनेमें कुशल कितने ही मनुष्य ऐसे हैं कि—जो सब प्राणि-

सर्वभूतेषु दान्तान् शमपरायणान् । जयन्ते मानवाः केचित् प्रशान्ता सर्वकर्मसु ॥ १९ ॥ न हि पश्यामि जीवन्तं लोके कश्चिदहिंसया । सत्त्वैः सत्त्वा हि जीवन्ति दुर्बलैर्बलवत्तराः ॥२०॥ नकुलो मूषिकानत्ति बिडालो नकुलन्तथा । बिडालमत्ति श्वा राजन् श्वानं व्यालमृगस्तथा ॥ २१ ॥ तानत्ति पुरुषः सर्वान्पश्य कालो यथा गतः । प्राणस्यान्नमिदं सर्वं जङ्गमं स्थावरञ्च यत् ॥२२॥ विधानं दैवविहितं तत्र विद्वान्न मुह्यति । यथा सृष्टोऽसि राजेन्द्र तथा भवितुमर्हसि ॥ २३ ॥ विनीतक्रोधहर्षा हि मन्दा वनमुपाश्रिताः । विना वधं न कुर्वन्ति तापसाः प्राणयापनम् ॥ २४ ॥ उदके

योंकी ओरसे उदासीन रहनेवाले और इन्द्रियोंका निग्रह करनेवाले शान्त पुरुषोंका भी पराभव करते हैं (अतः शान्ति रखकर तो बैठना ही नहीं चाहिये)॥१९॥इस जगत्में अहिंसासे आजीविका करनेवाला एक भी पुरुष मेरी दृष्टिमें नहीं आता, क्योंकि–सब क्रियाओंमें साक्षात् अथवा परम्परागत हिंसारहित भरण पोषणकी एक भी क्रिया नहीं है, बलवान् प्राणी दुर्बल प्राणियोंके ऊपर अपनी आजीविका चलाते हैं ॥ २० ॥ दृष्टान्तस्वरूप–नौला चूहेको खाता है, बिलाव नौलेको खाता है, कुत्ता बिल्लीको खाता है, हिंसक प्राणी कुत्तेको खाता है ॥ २१ ॥ और इन सबोंको चढ़कर आया कालरूप पुरुष खाता है, इसप्रकार स्थावरजङ्गमात्मक सब जगत् प्राणिमात्रका अन्न है ॥२२॥ हे राजन्! दैवने ही इसप्रकार व्यवस्था की है, अतः इनके लिये विद्वानोंको मोह नहीं होता है, अतः हे राजेन्द्र ! जिस प्रकार तुम क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुए हो, तिसी प्रकार तुमको वर्ताव करना उचित है ॥ २३ ॥ क्रोध तथा हर्षको वशमें रखनेवाले मूर्ख क्षत्रिय तपस्वी भी वनमें जाकर रहते हैं परन्तु वे भी हिंसा किये विना अपने पेटको नहीं पाल सकते हैं ॥२४॥ जलमें बहुतसे जन्तु हैं,

बहवः प्राणा पृथिव्याञ्च फलेषु च। न च कश्चिन्न तान् हन्ति किमन्यत्प्राणयापनात् ॥ २५ ॥ सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित्। पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषां स्यात्स्कन्धपर्ययः ॥ २६ ॥ ग्रामान्निष्क्रम्य मुनयो विगतक्रोधमत्सराः। वने कुटुम्बधर्माणो दृश्यन्ते परिमोहिताः ॥ २७ ॥ भूमिं भित्त्वौषधीश्छित्त्वा वृक्षादीनण्डजान्पशून्। मनुष्यास्तन्वते यज्ञांस्ते स्वर्गं प्राप्नुवन्ति च २८ दण्डनीत्यां प्रणीतायां सर्वे सिद्ध्यन्त्युपक्रमाः। कौन्तेय सर्वभूतानां तत्र मे नास्ति संशयः ॥ २९ ॥ दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विनश्येयुरिमाः प्रजाः। जले मत्स्यानिवाभक्षयन्दुर्बलान् बलव-

पृथ्वीमें बहुतसे जन्तु हैं, फलोंमें भी अनेक जन्तु हैं, उनका भक्षण करनेसे हिंसा तो अवश्य ही होगी, ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, कि-जिससे-हिंसा किये बिना प्राणका पोषण होसके, प्राणिमात्र थोडी या बहुत हिंसा तो करता ही है ॥२५॥ कितने ही प्राणी अत्यन्त सूक्ष्म हैं वे केवल अनुमानसे ही जाने जाते हैं, उनके शरीरका हमारे नेत्रोंके पलक मारने मात्रसे नाश होजाता है। इसप्रकार हिंसा तो (सदा) चलती ही रहती है ॥ २६ ॥ कितने ही मुनि क्रोध तथा मत्सररहित बन ग्रामको छोड वनमें जा मुनियोंका आचरण पालते हैं, परन्तु तहाँ मोह होनेसे फिर गृहस्थी पालते हुए दीखते हैं ॥ २७ ॥ और कितने ही पृथ्वीको भेदकर, औषधियों तथा वृक्षोंका छेदन करके तथा पशु पक्षियों की हिंसा करके यज्ञ करते हैं और उससे (मनुष्य) यज्ञोंको प्रसन्न करते हैं और फिर स्वर्गमें जाते हैं, इसमें भी हिंसा भरी पड़ी है ॥ २८ ॥ हे कुन्तीपुत्र ! इस जगत्में जबसे दण्डनीति स्थापित हुई है, तबसे ही मनुष्योंके सब पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ २९ ॥ जगत्में यदि दण्डका भय न होता तो यह सब प्रजा नष्ट होजाती और जलमें बड़े २

त्तराः ॥ ३० ॥ सत्यञ्चेदं ब्रह्मणा पूर्वमुक्तं दण्डः प्रजा रक्षति साधुनीतः। पश्याग्नयश्च प्रतिशाम्य भीताः सन्तर्जिता दण्डभयाज्ज्वलन्ति ॥ ३१ ॥ अन्धन्तम इवेदं स्यान्न प्राज्ञायत किञ्चन। दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विभजन्साध्वसाधुनी ॥३२॥ येऽपि संभिन्नमर्यादा नास्तिका वेदनिन्दकाः। तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनाशु निपीडिताः ॥ ३३ ॥ सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्जनः। दण्डस्य हि भयाद्भीतो भोगायैव प्रवर्त्तते ॥ ३४ ॥ चातुर्वर्ण्यं प्रमोदाय सुनीतिनयनाय च। दण्डो विधात्रा विहितो धर्मार्थौ भुवि रक्षितुम् ॥३५॥ यदि दण्डान्न बिभ्येयुर्वयांसि श्वापद-

मच्छ जैसे छोटे२ मछलियोंको खाजाते हैं, तैसे ही बली मनुष्य निर्बलोंका नाश कर डालते हैं ॥३०॥ ब्रह्माने भी इस सत्यका समर्थन किया है कि-यथार्थ रीतिसे उपयोग किया हुआ दण्ड प्रजाकी रक्षा करता है, जैसे कि-जगत्में अग्नि, मुझे फूँककर ताडन करेगा, इस भयसे ही प्रज्वलित हुआ करती है और ठहरती (बुझती) नहीं है ॥ ३१ ॥ यदि जगत्में सार असारका विभाग करनेवाला दण्ड न चलता होता तो यह सब जगत् गाढ अंधकारमें डूब गया होता और सब पदार्थ लुप्त होजाते ३२ वेदकी मर्यादाका उल्लंघन करनेवाले तथा वेदकी निन्दा करने वाले नास्तिक भी दण्डके भयसे ही वेदकी मर्यादाको पालन करनेको तयार होजाते हैं ॥३३॥ इसप्रकार सब मनुष्य दण्डके अधीन रहते हैं, क्योंकि-जगत्में अपराधरहित मनुष्य दुर्लभ है, लोग भी दण्डके भयसे ही आचार आदि मर्यादाका पालन करते हैं ॥ ३४ ॥ और दण्डके भयसे ही चारों वर्ण सन्नीति पर चलते हैं, सब प्रजा एकाकार न होजावे इस लिये तथा पृथ्वी पर धर्म और अर्थकी रक्षा करनेके लिये ब्रह्माने दण्डको उत्पन्न किया है ॥३५॥ यदि पशु पक्षी तथा हिंसक सिंह आदि

दानि च । अद्युः पशून् मनुष्यांश्च यज्ञार्थानि हवींषि च ॥ ३६ ॥
न ब्रह्मचार्यधीयीत कल्याणीं न दुहेत गाम् । न कन्योद्वहनं गच्छे-
द्यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ३७ ॥ विष्वग्लोपः प्रवर्त्तेत भिद्येरन्
सर्वसेतवः । ममत्वं न प्रजानीयुर्यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ३८ ॥
न संवत्सरसत्राणि तिष्ठेयुरकुतोभयाः । विधिवद्दक्षिणावन्ति
यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ३९ ॥ चरेयुर्नाश्रमं धर्मं यथोक्तं विधि-
माश्रिताः । न विद्यां प्राप्नुयात्कश्चिद्यदि दण्डो न पालयेत् ४०
न चोष्ट्रा न बलीवर्दा नाश्वाश्वतरगर्दभाः । युक्ता वहेयुर्यानानि

प्राणी दण्डसे भय न पाते होते, तो वे बलवान् होनेसे दूसरे पशुओंका, मनुष्यका तथा यज्ञके उपयोगी हुत द्रव्य (घी आदि) का भी भक्षण करजाते ॥ ३६ ॥ यदि दण्ड (प्रजाकी) रक्षा नहीं करता, तो ब्रह्मचारी वेदकी कल्याणकारी वाणियोंका अध्ययन नहीं करते, गौएँ दुहने नहीं देतीं और कुमारी कन्याएँ विवाह नहीं करती (दुधार गाय दूध न देय परन्तु वह मारके भयसे दूध देती है और कुमारियें शास्त्रका, राजाका और समाज का भय नहीं होता तो स्वेच्छाचारिणी बन जातीं अर्थात् शास्त्र-विधिसे विवाह न करके जहाँ तहाँ व्यभिचार करके वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न करतीं) ॥ ३७ ॥ इसप्रकार सब जगत्का नाश होजाता, धर्मकी मर्यादा नष्ट होजाती और मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ ऐसी जातिका अभिमान किसीमें भी नहीं रहता ३८ यदि दण्ड रक्षा न करता होता तो जिनमें विधिपूर्वक दक्षिणा दी जाती है, ऐसे सम्वत्सरयज्ञोंको भी कोई नहीं करता अर्थात् किसीको किसीका कुछ भी भय नहीं रहता ॥ ३९ ॥ यदि दण्ड रक्षा न करता होता तो शास्त्रोक्त विधिके अनुसार आश्रमधर्मोंका पालन भी कोई नहीं करता, तैसे ही कोई विद्या भी नहीं पढता ४० यदि दण्ड पालन न करता होता तो ऊँट, बैल, घोडा, खच्चर,

यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ४१ ॥ न प्रेष्या वचनं कुर्युर्न बाला जातु कर्हिचित् । न तिष्ठेद्युवती धर्मे यदि दण्डो न पालयेत् ४२ दण्डे स्थिताः प्रजाः सर्वा भयं दण्डे विदुर्बुधाः । दण्डे स्वर्गो मनुष्याणां लोकोऽयं सुप्रतिष्ठितः ॥ ४३ ॥ न तत्र कूटं पापम्वा वञ्चना वाऽपि दृश्यते । यत्र दण्डः सुविहितश्चरत्यरिविनाशनः ४४ हविः श्वा प्रलिहेद् दृष्ट्वा दण्डश्चेन्नोद्यतो भवेत् । हरेत्काकः पुरोडाशं यदि दण्डो न पालयेत् ॥४५॥ यदीदं धर्मतो राज्यं विहितं यद्यधर्मतः । कार्यस्तत्र न शोको वै भुंक्ष्व भोगान् यजस्व च । सुखेन धर्मं श्रीमन्तश्चरन्ति शुचिवाससः । संवपन्तः फलैर्दानै-

---

गधे आदि प्राणी सवारियोंमें जुड़कर सवारियोंको न खेंचते (वे भी दण्डके भयसे ही बराबर चलते हैं) ॥ ४१ ॥ यदि राजदण्ड पालन न करता होता तो सेवक स्वामीके वचनको भी न मानते, और बालक भी (माता पिताके) वशमें नहीं रहते और युवतियें भी पतिव्रत धर्मको न पालतीं ॥४२॥ इसलिये ही विद्वान् पुरुष कहते हैं, कि—यह सब प्रजा दण्डके ही अधीन रह रही है और भय भी दण्डमें ही समाया हुआ है, दण्डसे ही मनुष्योंको स्वर्ग मिलता है तथा यह सब जगत् दण्डके आधार पर ही टिकाहुआ है ॥ ४३ ॥ जब शत्रुओंका नाश करनेवाले दण्डकी अच्छी तरहसे योजनाकी जाती है तब तहाँ छल, पाप, ठगई यह सब सर्वथा देखनेमें आती ही नहीं है ४४ यदि दण्डका उपयोग न किया जाय तो कुत्ते भी होमके पदार्थको चाट जावें और कौएँ पुरोडाशको ले जावें । ॥४५॥ हमने यह राज्य धर्मसे अथवा और किसी प्रकारसे भी सम्पादन किया हो परन्तु उसके लिये शोक नहीं करना है अब तुम राजाओंके योग्य उचित भोगोंको भोगो और यज्ञ आदि सत्क्रियाओंको करो४६ जो भाग्यशाली हैं वे पवित्र वस्त्र पहर स्त्री पुत्रोंके साथमें रह

भुंक्ष्वानाश्चान्नमुत्तमम् ॥ ४७ ॥ अर्थे सर्वे समारम्भाः समायत्ता न संशयः । स न दण्डे समायत्तः पश्य दण्डस्य गौरवम् ॥४८॥ लोकयात्रार्थमेवेह धर्मप्रवचनं कृतम् । अहिंसा साधु हिंसेति श्रेयान् साधु परिग्रहः ॥ ४९ ॥ नात्यन्तं गुणवत्किञ्चिन्न चाप्यत्यन्तनिर्गुणम् । उभयं सर्वकार्येषु दृश्यते साध्वसाधु वा ॥ ५० ॥ पशूनां वृषणं छित्त्वा ततो भिन्दन्ति मस्तकम् । वहन्ति बहवो भारान् बध्नन्ति दमयन्ति च ॥ ५१ ॥ एवं पर्याकुले लोके वितथैर्जर्जरीकृते । तैस्तैर्न्यायैर्महाराज पुराणं धर्ममाचर ॥ ५२ ॥ यज

सुखसे धर्माचरण करते हैं, ब्राह्मणोंको अनेक प्रकारके दान देते हैं और उत्तमोत्तम अन्नका भक्षण करते हैं (तैसे ही तुम भी करो) ॥ ४७ ॥ मनुष्योंके सब काम धनके अधीन होते हैं और धन दण्डके अधीन है अतः दण्डकी कितनी बडी महिमा है, इसको तुम देखो ॥४८॥ इस जगत्में लोकव्यवहार चलानेके लिये ऋषियोंने वर्णाश्रम धर्मका प्रवचन किया है,एक अहिंसा, और दूसरे सारे कर्मोंके लिये हिंसा करना, इन दो मार्गोंमेंसे जिसमें धर्मकी रक्षा हो उस मार्गको श्रेष्ठ कहा है ॥ ४९ ॥ इस जगत्में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिसमें बहुतसे दुर्गुण ही भरें हों और गुण होवें ही नहीं, इसीप्रकार ऐसी भी कोई वस्तु नहीं है कि-जिसमें बहुतसे गुण ही हों और दुर्गुण एक भी न हों प्रत्येक वस्तुमें बुरी और भली दोनों बातें देखनेमें आती हैं५० बैल जब बछड़ेकी अवस्थामें होता है, तब उसके अण्डकोश कुचल दिये जाते हैं,फिर उसके सींग न बढजावें इसलिये उसके सींग काट लिये जाते हैं, तदनन्तर उसकी नाकको बींधकर उसमें नाथ डाली जाती है, फिर लोग उसको बाँधते हैं तथा अपने वशमें करते हैं और तब वह बैल भारी बोझेको उठाता है५१ हे राजन् ! इसप्रकार नानाप्रकारके व्यवहारोंसे इस जगत्का

देहि प्रजां रक्ष धर्मं समनुपालय। अमित्रान् जहि कौन्तेय मित्राणि परिपालय ॥५३॥ मा च ते निघ्नतः शत्रून्मन्युर्भवतु पार्थिव। न तत्र किल्बिषं किञ्चित्कर्तुर्भवति भारत ॥ ५४ ॥ आततायी हि यो हन्यादाततायिनमागतम्। न तेन भ्रूणहा स स्यान्मन्युस्तं मन्युमार्च्छति ॥ ५५ ॥ अवध्यः सर्वभूतानामन्तरात्मा न संशयः। अवध्ये चात्मनि कथं वध्यो भवति कस्यचित् ॥ ५६ ॥ यथा हि पुरुषः शालां पुनः संप्रविशेन्नवाम्। एवं जीवः शरीराणि तानि तानि प्रपद्यते ॥ ५७ ॥ देहान् पुराणानुत्सृज्य नवान् संप्रति-

प्रवाह बड़े प्राचीन कालका है, अतः तुम भी उस न्यायके अनुसार चलकर प्राचीन धर्मके अनुसार चलो अर्थात् दण्ड धारण करो ५२ और हे राजन् युधिष्ठिर! तुम यज्ञ करो! ब्राह्मणोंको दान दो! प्रजाकी रक्षा करो! अपने धर्मका पालन करो! शत्रुओंका संहार करो! और मित्रोंका पालन करो! ॥ ५३ ॥ हे राजन्! तुम शत्रुको मारनेके लिये चित्तमें जरा भी दया न लाना, क्योंकि-जो शत्रुको मार डालता है, उसको जरा भी पाप नहीं लगता ५४ रणमें हाथमें शस्त्र ले चढ़कर आयेहुए शत्रुको मारनेसे मारने वालेको भ्रूणहत्या नहीं लगती है (क्योंकि-वह शत्रु शस्त्र उठा कर दूसरेको कुपित करता है) ॥ ५५ ॥ जब किसी प्राणीका अन्तरात्मा तो मारा नहीं जाता है, तो फिर उसका वध हुआ, यह कैसे कहा जासकता है ॥ ५६ ॥ पुरुष जब अपना घर पुराना होजाता है तब दूसरे नये घरमें प्रवेश करता है, ऐसे ही जीवात्मा भी एक (पुराने) शरीरको त्याग कर दूसरे नये शरीरमें प्रवेश करता है ॥५७॥ जीवात्मा जीर्ण शरीरको त्याग कर नये शरीरको ग्रहण करता है, इससे ही तत्त्वको न जानने वाले प्राकृत पुरुष कहते हैं कि अमुक पुरुष मरगया है! परन्तु वस्तुतः जीवात्मा मरता नहीं है (अतः हे राजन्! तुम भी

पद्यते । एवं मृत्युमुखं प्राहुर्जना ये तत्त्वदर्शिनः ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये पंचदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच । अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षणः । धैर्यमास्थाय तेजस्वी ज्येष्ठं भ्रातरमब्रवीत् ॥ १ ॥ राजन् विदितधर्मोऽसि न तेऽस्त्यविदितं क्वचित् । उपशिक्षाम ते वृत्तं सदैव न च शक्नुमः ॥२॥ न वक्ष्यामि न वक्ष्यामीत्येवं मे मनसि स्थितम् । अतिदुःखात्तु वक्ष्यामि तन्निबोध जनाधिप ॥ ३ ॥ भवतः संप्रमोहेन सर्वं संशयितं कृतम् । विक्लवत्वञ्च नः प्राप्तमबलत्वं तथैव च ॥ ४ ॥ कथं हि राजा लोकस्य सर्वशास्त्रविशा-

शोकको त्याग कर अपने क्षत्रिय धर्मको स्वीकृत करो, इतना कहकर अर्जुन चुप होगया) ॥ ५८ ॥ पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १५ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि–हे राजा जनमेजय ! अर्जुनका वचन सुन तेजस्वी भीमसेन कोपमें भरगया, परन्तु धैर्य धारण कर ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिरसे बोला कि–॥१॥ हे राजन् ! तुम सकल धर्मोंको जाननेवाले हो, तुमसे कुछ भी छिपा नहीं है, हम तुम्हारे आचरणके अनुकूल ही सदा वर्तना चाहते हैं, परन्तु हाय ! इस प्रकार वर्ताव करनेकी हममें (आज) शक्ति नहीं है ॥ २ ॥ हे राजन् ! मेरे मनमें, न बोलूँ, न बोलूँ, ऐसा विचार हुआ करता था, तो भी अपने मनमें बडा भारी दुःख होनेसे मैं आपसे फिर कहता हूँ उसको तुम सुनो ॥३॥ हे मनुष्याधिप ! तुमको मोह हुआ है ! मोह ! इससे ही तुमने इस सब बातको उलझनमें डाल दिया है, इतना ही नहीं, किन्तु हमको भी विह्वल और निर्बल करडाला है ॥ ४ ॥ विचाररहित पुरुष जैसे दीन बनकर मोह पाने लगता है, वैसे ही सकल शास्त्रोंमें चतुर राजा मोहको कैसे पासकता है ? अर्थात् राजाको तो मोहवश होना ही

रदः । मोहमापद्यसे दैन्याद्यथा कापुरुषस्तथा ॥ ५ ॥ अगतिश्च गतिश्चैव लोकस्य विदिता तव । आयत्यां च तदात्वे च न तेऽस्त्यविदितं प्रभो ॥ ६ ॥ एवं गते महाराज राज्यं प्रति जनाधिप । हेतुमत्र प्रवक्ष्यामि तमिहैकमनाः शृणु ॥ ७ ॥ द्विविधो जायते व्याधिः शारीरो मानसस्तथा । परस्परं तयोर्जन्म निर्द्वन्द्वं नोपपद्यते ॥ ८ ॥ शारीराज्जायते व्याधिर्मानसोऽत्र न संशयः । मानसाज्जायते वापि शारीर इति निश्चयः ॥ ९ ॥ शारीरं मानसं दुःखं योऽतीतमनुशोचति । दुःखेन लभते दुःखं द्वावनर्थौ च विंदति ॥१०॥ शीतोष्णे चैव वायुश्च त्रयः शारीरजा गुणाः॥ तेषां गुणानां साम्यं यत् तदाहुः स्वस्थलक्षणम् ॥ ११ ॥ तेषा-

नहीं चाहिये ॥ ५ ॥ तुम लोकोंके सन्मार्ग और असन्मार्गको जानते हो, तैसेही भविष्य और वर्तमान कालका भी सब तुम्हारे ज्ञानमें हैं ॥६॥ तो भी हे महाराज ! मैं आपसे राज्यके सम्बन्ध में एक बात कहता हूँ, उसको तुम एकाग्र होकर सुनो ॥ ७ ॥ मनुष्यको दो प्रकारकी व्याधि होती हैं, एक शारीरिक और दूसरी मानसिक, इन दोनोंकी एक दूसरीके सम्बन्धसे उत्पत्ति होती है शरीरके विना व्याधि नहीं होती और मनके विना आधि नहीं होती शरीरकी पीड़ाका नाम व्याधि और मनकी पीड़ाका नाम आधि है ॥ ८ ॥ शरीर की व्याधिसे मनकी आधि उत्पन्न हो जाती है और मनकी आधिसे शरीरकी व्याधि उत्पन्न होजाती है, यह सत्य ही है॥९॥ जो मनुष्य बीते हुए शारीरिक अथवा मानसिक दुःखके लिये पश्चात्ताप करता है, वह मनुष्य पश्चात्तापरूप दुःखसे पुनः पुनः दुःखी होता है, क्योंकि-आधि और व्याधि ये अनर्थका कारण हैं ॥१०॥वात,पित्त और कफ ये तीन गुण शरीरमें उत्पन्न होते हैं और तीनों गुण जब समान होते हैं, तब शरीर नीरोग रहता

मन्यतमोद्रेके विधानमुपदिश्यते । उष्णेन बाध्यते शीतं शीते-नोष्णं प्रबाध्यते ॥ १२ ॥ सत्त्वं रजस्तम इति मानसाः स्मृतास्त्रयो गुणाः । तेषां गुणानां साम्यं यत्तदाहुः स्वस्थलक्षणम् ॥१३॥ तेषामन्यतमोत्सेके विधानमुपदिश्यते । हर्षेण बाध्यते शोकं हर्षः शोकेन बाध्यते ॥ १४ ॥ कश्चित् सुखे वर्तमानो दुःखस्य स्मर्तु-मिच्छति । कश्चिद्दुःखे वर्तमानः सुखस्य स्मर्तुमिच्छति ॥ १५ ॥ स त्वं दुःखी न दुःखस्य न सुखी च सुखस्य वा । न दुःखी

है ॥ ११ ॥ परन्तु वात पित्त और कफ इन तीनोंमेंसे एककी भी वृद्धि होनेसे शरीरका आरोग्य बिगड़ जाता है अतः इन तीनोंकी शांतिका उपाय कहता हूँ उसको सुनो ! जब कफकी वृद्धि हो तब पित्तकी वृद्धि करना इससे कफ शान्त होगा, पित्तकी वृद्धि हुई हो तो कफकी वृद्धि करनी चाहिये इससे पित्तकी शान्ति होती है ॥ १२ ॥ सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण यह तीन मनके गुण हैं, इन तीन गुणोंकी साम्यावस्थाको स्वस्थता कहते हैं अर्थात् ये तीन गुण जब समान होते हैं, तब मन स्थिर रहता है ॥ १३ ॥ परन्तु इन तीनोंमेंसे यदि कोई भी बढ जाता है, तब उसकी शान्तिके लिये क्या उपाय करना चाहिये, यह मैं तुमसे कहता हूँ, तुम उसको सुनो ! जब रजोगुणकी वृद्धि होती है, तब तमोगुणसे उसका बाध करना चाहिये और जब तमोगुणकी वृद्धि हो तो रजोगुणसे उसका नाश करना चाहिये, हर्षसे शोकका नाश होता है और शोकसे हर्षका नाश होता है ॥ १४ ॥ कोई मूढ़ पुरुष होता है तो वह दुःखका स्मरण करके दुःख पाता है और दुःखी पुरुष सुखका स्मरण करके सुख पाता है ॥ १५ ॥ हे राजन् ! आधि या व्याधि इन दोनोंमेंसे किसीसे भी तुमको तीनों कालोंमें दुःख या सुख नहीं होसकता अर्थात् तुम्हारा शरीर और मन दोनों स्वस्थ हैं अतः तुम्हैं दुःखीके दुःखका या

सुखजातस्य न सुखी दुःखजस्य वा ॥१६॥ स्मर्तुमिच्छसि कौरव्य दिष्टं हि बलवत्तरम् । अथवा ते स्वभावोऽयं येन पार्थिव क्लिश्यसे॥१७॥ दृष्ट्वा सभागतां कृष्णामेकवस्त्रां रजस्वलाम् । मिषतां पाण्डुपुत्राणां न तस्य स्मर्तुमर्हसि ॥ १८ ॥ प्रव्राजनश्च नगरादजिनैश्च विवासनम्। महारण्यनिवासश्च न तस्य स्मर्तुमर्हसि१९ जटासुरात्परिक्लेशं चित्रसेनेन चाहवम् । सैंधवाच्च परिक्लेशं कथं विस्मृतवानसि ॥ २० ॥ पुनरज्ञातचर्यायां कीचकेन पदा वधम् । द्रौपद्या राजपुत्र्याश्च कथं विस्मृतवानसि ॥ २१ ॥

सुखीके सुखका स्मरण करना ही उचित नहीं है ॥ १६ ॥ ऐसा होने पर भी यदि तुम स्मरण करो तो इसमें दैव ही बली है । प्राणियोंको (पूर्वकालका) स्मरण ही सुख तथा दुःख देनेवाला है, यदि कदाचित् तुम कहो कि-स्मरण करना तो मेरा स्वभाव है-अरे ! इससे ही मैं क्लेश पाता हूँ परन्तु आपकी यह धारणा खोटी है,क्योंकि-(स्मरण करना यदि आपकाधर्म होता तो) तुम कौरवोंकी सभामें बैठे थे उस समय एक वस्त्र धारण करनेवाली, रजस्वला (और अपनी रानी) द्रौपदीको दुःशासन चोटी पकड़ कर कौरवोंकी राजसभामें घसीट लाया था, यह बात तुम्हें याद क्यों नहीं आती ? ॥ १७-१८ ॥ और कौरवोंके नगरोंमेंसे निकलना, भोजपत्रके वस्त्र पहिरना, महावनमें रहना, इन सब बातोंका तुम स्मरण क्यों नहीं करते ? ॥ १९ ॥ तैसे ही वनमें जटासुरसे युद्ध होनेको, और चित्रसेनके साथ हुए युद्धको, तथा सिंधुराज (जयद्रथ) से भी जो हमको दुःख हुआ था, उसका तुमको स्मरण क्यों नहीं आता?॥२०॥ और जब एक वर्ष तक हम गुप्त रहे थे,उस समय कीचकने,राजपुत्री द्रौपदीके लात मारी थी,उसको तुम कैसे भूले जाते हो ?(अर्थात् पूर्व वृत्तान्तका स्मरण आनेसे तुमको शोक होता है,यह सत्य नहीं है,किन्तु धर्मका विस्म-

यच्च ते द्रोणभीष्माभ्यां युद्धमासीदरिन्दम । मनसैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम् ॥ २२ ॥ यत्र नास्ति शरैः कार्यं न मित्रैर्न च बंधुभिः आत्मनैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम् ॥ २३ ॥ तस्मिन्ननिर्जिते युद्धे प्राणान् यदि विमोक्ष्यसे । अन्यं देहं समास्थाय ततस्तैरपि योत्स्यसे ॥२४॥ तस्माद्‌द्यैव गन्तव्यं युध्यस्व भरतर्षभ । परमव्यक्तरूपस्य व्यक्तं त्यक्त्वा स्वकर्मभिः ॥२५॥ तस्मिन्ननिर्जिते युद्धे कामवस्थां गमिष्यसि ।

रण हो जानेसे तुम शोक करते हो क्योंकि-यदि स्मरण होता तो सबका ही स्मरण होता सुखका होता और दुःखका भी होता,परन्तु यह बात तो तुममें दीखती नहीं, इसका कारण धर्मका विस्मरण है)॥ २१ ॥ और हे शत्रुदमन! तुम जैसे भीष्म तथा द्रोणके साथ लड़े थे उसी प्रकार अब तुम को अपने मनके साथ एक घोर युद्ध करनेका समय आलगा है ॥ २२ ॥ इस समय तुम्हें जो युद्धकरना है, उस युद्धमें बाणोंकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी तथा मित्रों और बान्धवोंकी भी आवश्यकता नहीं पड़ेगी परन्तु वहाँ तो तुम्हें स्वयं ही लड़ना पड़ेगा ॥ २३ ॥ यदि इस युद्धमें तुम्हारी विजय न हुई और तुम मर गए तो दूसरे जन्ममें तुमको इन (मन) के साथ युद्ध करना पड़ेगा ॥ २४ ॥ अतः यम नियमादि अष्टांग योगसे इस स्थूल शरीरका त्याग करके, मनसे शत्रुओंका,आत्माके साथ अपने आत्माकी एकता करो और मन के साथ युद्ध करके उसका विजय करनेके लिये तत्पर हो जाओ (यह श्लोक कूट है, नीलकण्ठ 'गन्तव्यम्'' का सम्बन्ध 'परमव्यक्तरूपस्य''से करते हैं,नीलकण्ठके कथनानुसार उसका अर्थ यह है कि-तुम्हारा मन कि-जिसका स्वरूप अव्यक्त है उसके शत्रुको जीतो और उसके साथ मिल जाओ अर्थात् तुम अपनेको और अपनी आत्माको एक जानो, क्योंकि-आत्मा

एतज्जित्वा महाराज कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ २६ ॥ एतां बुद्धिं विनिश्चित्य भूतानामागतिं गतिम् । पितृपैतामहे वृत्ते शाधि राज्यं यथोचितम् ॥२७॥ दिष्ट्या दुर्योधनः पापो निहतः सानुगो युधि । द्रौपद्याः केशपाशस्य दिष्ट्या त्वं पदवीं गतः ॥ २८ ॥ यजस्व वाजिमेधेन विधिवद्दक्षिणावता । वयं ते किङ्कराः पार्थ वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि भीमवाक्ये षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

उसका शत्रु है और वह उसके साथ युद्ध करता है, इस प्रकार की जीत और सारूपताका अर्थ है, कि—मनके युद्धके बन्द होनेसे शान्तिकी प्राप्ति होती है ॥२५॥ तुम यदि मनको नहीं जीतोगे, तो तुम्हारी क्या अवस्था होगी, यह कहा नहीं जासकता ? हे महाराज ! यदि तुम मनको जीतोगे तो कृतकृत्य ही होगे २६ आत्मा मन और देह इन दोनोंसे भिन्न है, ऐसा तुम अपनी बुद्धिसे निश्चय करो और प्राणियोंके सन्मार्ग और असन्मार्गको जानो और अपने पूर्वजोंके आश्रय कियेहुए मार्गमें रह कर राज्यकी योग्य रीतिसे रक्षा करो ॥२७॥ पापी दुर्योधन संग्राममें अपने सेवकोंके साथ मारा गया, यह बड़े भाग्यकी बात है। तैसे ही तुम भी द्रौपदीके केशोंके (खींचनेके अनन्तर अब) फिर प्रथमकीसी स्थिति (राज्य) को प्राप्त हुए हो ! यह भी भले भाग्यकी बात है ॥ २८ ॥ हे राजन् ! अब तुम अश्वमेध यज्ञसे देवताओंका यजन करके बहुतसी दक्षिणायें दो ! हम सब तुम्हारे किंकर हैं ! प्रतापी श्रीकृष्णकी हमें सहायता मिली हुई है (अतः कोई भी अड़चन नहीं पडेगी ''इतना कह कर भीमसेन चुप होगया) ॥ २९ ॥ सोलहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर उवाच । असन्तोषः प्रमादश्च मदो रागोपशान्तता। बलं मोहोऽभिमानश्चाप्युद्वेगश्चैव सर्वशः ॥ १ ॥ एभिः पाप्मभिराविष्टो राज्यं त्वमभिकांक्षसे । निरामिषो विनिर्मुक्तः प्रशान्तः सुसुखी भव ॥ २ ॥ य इमामखिलां भूमिं शिष्यादेको महीपतिः। तस्याप्युदरमेकं वै किमिदं त्वं प्रशंससि ॥ ३ ॥ नान्हा पूरयितुं शक्यां न मासैर्भरतर्षभ । आपूर्यां पूरयन्निच्छामायुषापि न शक्नुयात् ॥ ४ ॥ यथेद्धः प्रज्वलत्यग्निरसमिद्धः प्रशाम्यति । अल्पाहारतया त्वग्निं शमयौदर्यमुद्धतम् ॥ ५॥ आत्मोदरकृते प्राज्ञः करोति विघसं बहु । जयोदरं पृथिव्या ते श्रेयो निर्जितया जितम् ६

वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे राजा जनमेजय ! भीमके वचन सुनकर राजा युधिष्ठिर बोले कि-'हे भीम ! तेरा मन असन्तोष प्रमाद, मद, राग, अशान्ति, बल, मोह, अभिमान, उद्वेग इत्यादि पापको उत्पन्न करनेवाले विषयोंसे घिर गया है, इससे ही तू राज्यकी इच्छा करता है, परन्तु तू मनमेंसे अमर्षको दूर कर और रागादि पदार्थोंमेंसे मनको हटाकर शान्त हो ! तो तू सुखी होगा ॥१-२॥ तू राजाकी प्रशंसा करता है ? परन्तु सब पृथ्वी पर राज्य करनेवाला राजा तो अकेला ही होता है और उसके पेट भी एक ही होता है, फिर तू इसकी प्रशंसा किस लिये करता है ? ॥ ३ ॥ हे भीम ! दिनसे, माससे, और सम्पूर्ण आयुमे भी जो पूर्ण नहीं होती ऐसी इच्छाको पूर्ण करनेको कौन समर्थ है ? ॥ ४ ॥ अग्नि धक २ बलता होता है परन्तु ईंधन न डाला जाय तो वह अपने आप ही शान्त पड जाता है तैसे ही हे भीमसेन ! तू भी अपने उदरमें प्रज्वलित हुई इस जठराग्निको अल्पाहारसे शान्तकर ! ॥ ५ ॥ बुद्धिमान् पुरुष अपने पेटको भरनेके लिये यज्ञ आदि बहुतसे कर्म करता है और हमने जो पृथ्वी जीती है, वह तो केवल परलोकके श्रेयके लिये ही जीती

मानुषान् कामभोगांस्त्वमैश्वर्यं च प्रशंससि । अभोगिनो बला
श्चैव यान्ति स्थानमनुत्तमम् ॥ ७ ॥ योगः क्षेमश्च राष्ट्रस्य धर्मा
धर्मौ त्वयि स्थितौ । मुच्यस्व महतो भारात्त्यागमेवाभिसंश्रय ॥८॥
एकोदरकृते व्याघ्रः करोति विघसं बहु । तमन्येऽप्युपजीवन्ति मंदा
लोभवशा मृगाः ॥ ९ ॥ विषयान् प्रतिसंगृह्य संन्यासं कुर्वते यदि।
न च तुष्यन्ति राजानः पश्य बुद्ध्यन्तरं यथा ॥ १० ॥ पत्राहारै-
रश्मकुट्टैः दन्तोलूखलिकैस्तथा । अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च तैरयं नरको

है। ओछे भोग भोगनेके लिये नहीं जीती है, यदि तेरा ऐसा मन है तो तेरी जीत ही है, ऐसा जान ॥६॥ हे भीमसेन ! मनुष्योंके भोग, काम और ऐश्वर्यको तू प्रशंसा करता है, परन्तु भोगोंको त्यागकर परमोत्तम तप करनेवाले दुर्बल मुनि ही सर्वोत्तम पदको पाते हैं ॥ ७ ॥ राज्यको जीतना और उसकी रक्षा करना, देशके योगक्षेमको वहन करना, यह धर्म और अधर्म दोनोंसे बनता है, ऐसा तेरा विचार है, परन्तु उस योगक्षेमरूपी बड़ेभारी बोझमेंसे मुक्त हो तू राज्यका त्यागकर ॥८॥ बाघ एक अपना पेट भरनेके लिये बहुतसे प्राणियोंकी हिंसा करता है और लोभवश हुए दूसरे बहुतसे निर्बल प्राणी उसके शिकारके ऊपर आजीविका चलाते हैं (एक जातिका बाघ ऐसा होता है कि-वह नदीके उथले पानीमें जाकर एक दो मोटी मच्छियोंको पकड लेता है, फिर उनको दूर ले जाकर पृथ्वी पर डाल देता है,यह देखकर दूसरे प्राणी, शिकारी अथवा मंछलियें उसको लेनेकोजाते हैं,तब वह छिपाहुआ मनुष्य भक्षी बाघ उनपर झपटकर उनको मारडालताहै)९ जो राजा मनमें विषयोंका संग्रह रहने पर भी संन्यास लेता है, वह राजा किसी दिन भी सन्तोष नहीं पाता, परन्तु इसका कारण समझनेमें तेरा बुद्धिमें भ्रम हुआ है उसको तू विचार करके देख ॥१०॥ खरी बात यह है कि-जो पत्तोंको, पत्थरसे

जितः ॥ ११ ॥ यस्त्विमां वसुधां कृत्स्नां प्रशासेदखिलां नृपः । तुल्याश्मकाञ्चनो यश्च स कृतार्थो न पार्थिवः ॥१२॥ संकल्पेषु निरारंभो निराशो निर्ममो भव । अशोकं स्थानमातिष्ठ इह चामुत्र चाव्ययम् ॥१३॥ निरामिषा न शोचन्ति शोचसि किं त्वमामिषम् । परित्यज्यामिषं सर्वं मृषावादात्प्रमोक्ष्यते १४ पन्थानौ पितृयानश्च देवयानश्च विश्रुतौ । ईजानाः पितृयानेन देवयानेन मोक्षिणः १५ तपसा ब्रह्मचर्येण स्वाध्यायेन महर्षयः । विमुच्य देहांस्ते यान्ति मृत्योरविषयं गताः ॥ १६ ॥ आमिषं बन्धनं लोके कर्मेहोक्तं तथा

कूटे हुए फलोंको तथा जो दाँतोंसे काट कर फलोंको खानेवाले हैं, अथवा जल और वायुका भक्षण करनेवाले हैं, वे मुनि ही नरकको जीतते हैं अर्थात् तप करने वाले ही स्वर्गमें जाते हैं ११ इस समय ये पृथ्वी पर राज्य करने वाले राजे कृतार्थ नहीं हैं परन्तु जिनको सुवर्ण और पाषाण एकसे हैं, ऐसे मुनि ही कृतार्थ कहलाते हैं ॥१२॥ हे भीम ! तू अपने मनमें उछलती हुई संकल्पकी लहरोंको शान्त कर, किसी भी क्रियाका आरंभ आशा ममत्व-इन सबका त्याग कर और जो इस लोकमें तथा परलोकमें विकाररहित और शोकरहित स्थान है उसका आश्रय कर ।१३। जिसने संसारके भोगोंको त्याग कर दिया है, ऐसा पुरुष जरा भी शोक नहीं करता, परंतु तुझको वैभव भोगनेकी लालसा है इससे ही तू शोक करता है । परन्तु तू सकल आशा और वैभवोंको त्याग कर मिथ्यावादसे मुक्त हो ॥ १४ ॥ शास्त्रमें पितृयान और देवयान नामके दो मार्ग प्रसिद्ध हैं, उनमें वर्णाश्रमके अभिमानी पितृयानमार्गसे (स्वर्ग आदि) लोकोंमें जाते हैं और मोक्षकी इच्छा वाले देवयानमार्गसे (परब्रह्म धाममें) जाते हैं ॥ ॥१५ ॥ तपश्चर्यासे, ब्रह्मचर्य और वेदके अध्ययनसे महर्षिदेहका त्याग करके जीवन्मुक्त दशाको पागए हैं ॥ १६ ॥

मिषम् । ताभ्यां विमुक्तः पापाभ्यां पदमाप्नोति तत्परम् ॥ १७ ॥ अपि गाथां पुरा गीतां जनकेन वदन्त्युत । निर्द्वन्द्वेन विमुक्तेन मोक्षं समनुपश्यता ॥ १८ ॥ अनन्तं बत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन । मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचन ॥ १९ ॥ प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोच्यान् शोचते जनान् । जगतीस्थानि-

इस लोकमें राज्य और कर्म ये मांसस्वरूप गिने जाते हैं, इन आमिषरूप दोनों पापोंमेंसे जो पुरुष मुक्त होता है, वही परम-पद को पाता है (यहाँ राज्य चलानेमें भी हिंसा भरी हुई है इससे उसको मांस कहा और यज्ञ आदि क्रियामें भी हिंसा भरी हुई है इसलिये कर्मको भी मांस कहा है) ॥१७॥ हे भीम-सेन! तूने कहा कि-पिता, प्रपितामह आदिने यह राज्य भोगा है, उसको तुम भी भोगो, परन्तु तेरा यह कथन अयोग्य है, सुख दुःख आदि द्वन्द्व पदार्थोंसे मुक्त हुए और मोक्षके स्वरूप को जानने वाले राजा जनककी कही हुई सम्बन्धी स्पष्टीकरण-रूप गाथाको मनुष्य कहते हैं, उसको तू सुन! एक समय मिथिला नगरी और अपना राजमहल जलने लगा, तब राजा जनक बोले कि-इस देहके सम्बन्धसे मेरा अनन्त धन जलता है परन्तु उसमें मेरा कुछ नहीं है, मैं तो सबका साक्षी और उनसे भिन्न आत्मा रूप हूँ ऐसी राजा जनककी स्थिति थी, वह जगत्के भोगोंमें आसक्त नहीं था ॥ १८-१९ ॥ बुद्धिरूपी राजमहलमें चढ़नेको अशक्त पुरुष ही अशोच्य पुरुषोंका शोक करता है और पर्वतके शिखर पर चढ़ा हुआ मन्दबुद्धि पुरुष नीचेके वृक्षों को नहीं देखता (अर्थात् हे भीम! तूने कहा कि-दुर्योधन अपने पापसे मारा गया परन्तु वह तो रणमें मरनेसे स्वर्गमें गया है और उसके रानियें दुःखमें हैं उनकी ओर तू देखता नहीं है, उलटा तू दूसरोंका दुःख देखकर प्रसन्न होता है अतः मूर्ख

वाद्रिस्थो मन्दबुद्धिर्न चेक्षते ॥ २० ॥ दृश्यं पश्यति यः पश्यन् स चक्षुष्मान् स बुद्धिमान् । अज्ञातानां च विज्ञानात् संबोधाद्बुद्धिरुच्यते ॥ २१ ॥ यस्तु वाचं विजानाति बहुमानमियात् स वै । ब्रह्मभावप्रपन्नानां वैद्यानां भावितात्मनाम् ॥ २२ ॥ यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति । तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ २३ ॥ तेजनास्तां गतिं यान्ति नाविद्वांसोऽल्पचेतसः । नाबुद्धयो नातपसः सर्वं बुद्धौ प्रतिष्ठितम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच । तूष्णीं भूतन्तु राजानं पुनरेवार्जुनोऽब्र-

है) ॥ २० ॥ जो पुरुष कर्तव्यको और अकर्तव्यको देखता है उसको ही नेत्र वाला और बुद्धिमान् जानना चाहिये, जो अज्ञातवस्तुको जताती है और उसका भली प्रकार निश्चय कराती है, उसका नाम बुद्धि है, और वह बुद्धि जिसमें होती है, वह ही बुद्धिमान् है ॥२१॥ ब्रह्मभावको पायेहुए और बुद्धिमान् विद्वान् पुरुषोंकी वाणीको जो पुरुष जानता है, वह पुरुष इस लोकमें बड़ेभारी मानका पात्र होता है ॥२२॥ जब एक मनुष्य भिन्न २ प्राणियोंको एक ही जातिके और एक तत्त्वमेंसे उत्पन्न हुए मानता है तब वह मनुष्य व्यापक ब्रह्मको पाता है ॥ २३ ॥ उत्तम ज्ञानी पुरुष ब्रह्मरूपी सम्पत्तिको पाता है, परन्तु मन्द बुद्धिवाले, विवेकरहित और तपरहित पुरुष ब्रह्मको [illegible] नहीं पाते हैं, सब वस्तु वास्तवमें [illegible] के [illegible]
अध्याय समाप्त ॥ १[illegible]
वैशम्पायन [illegible]
राजा यु[illegible]
दु[illegible]

वीत् । सन्तप्तः शोकदुःखाभ्यां राजा वाक्शल्यपीडितः ॥ १ ॥
अर्जुन उवाच । कथयन्ति पुरा वृत्तमितिहासमिमं जनाः । विदेह-
राज्ञः सम्वादं भार्यया सह भारत॥२॥उत्सृज्य राज्यं भिक्षार्थं कृत-
बुद्धिं नरेश्वरम् । विदेहराजमहिषी दुःखिता यदभाषत ॥ ३ ॥
धनान्यपत्यं दाराश्च रत्नानि विविधानि च । पन्थानं पावकं हित्वा
जनको मौढ्यमास्थितः ॥ ४ ॥ तं ददर्श प्रिया भार्या भैक्ष्यवृत्ति-
मकिञ्चनम् । धानामुष्टिमुपासीनं निरीहं गतमत्सरम् ॥ ५ ॥
तमुवाच समागत्य भर्तारमकुतोभयम् । क्रुद्धा मनस्विनी भार्या
विविक्ते हेतुमद्वचः ॥ ६ ॥ कथमुत्सृज्य राज्यं स्वं धनधान्यस-
मन्वितम् । कापालीं वृत्तिमास्थाय धानामुष्टिर्न ते वरः ॥ ७ ॥

हुए अर्जुनने फिर कहा कि–॥ १ ॥ हे राजन् ! प्राचीन मनुष्य जनक और उसकी स्त्रीके सम्वादको इसप्रकार कहते हैं कि– "राजा जनकने अपना राजपाट छोडकर संन्यासी बन भिक्षा माँगनेका विचार किया, तब उनकी स्त्रीने दुःखातुर हो राजा जनकसे जिस प्रकार कहा था, उसको तुम सुनो ॥ २–३ ॥ राजा जनक जब धन, पुत्र, स्त्री, नानाप्रकारके रत्न और यज्ञ आदि क्रियाओंको त्यागकर मूढ़ होगया ॥ ४ ॥ और सब परिग्रहका त्यागकर, मस्तक मुँडा, संन्यासी बन, भिक्षान्नके ऊपर आजीविका करनेकी इच्छासे मुष्टिपात्र भूने हुए जौंका आहार करके देहका निर्वाह करनेलगा तथा तृष्णा और मत्सर को त्याग जीवन बितानेलगा, तब राजा जनकके ऐसे वर्तावको देखकर उसकी बुद्धिमती रानीके मनमें बडा क्रोध आया, उसने एकान्तस्थलमें बैठे हुए राजाके पास जाकर निर्भयतासे इन अभिप्रायवाले वचनोंको कहना आरम्भ किया कि–॥ ५–६ ॥ हे राजन् ! धन धान्यसे भरेहुए अपने राज्यको छोडकर तुम भिक्षुककी वृत्तिको कैसे स्वीकार कर बैठे हो ? तुम भुने हुए मुट्ठी

प्रतिज्ञातेऽन्यथा राजन् विचेष्टा चान्यथा तव । यद्राज्यं महदुत्सृज्य स्वल्पे तुष्यति पार्थिव ॥ ८ ॥ नैतेनातिथयो राजन् देवर्षिपितरस्तथा । अद्य शक्यास्त्वया भर्तुं मोघस्तेयं परिश्रमः ९ देवतातिथिभिश्चैव पितृभिश्चैव पार्थिव । सर्वैरेतैः परित्यक्तः परिव्रजसि निष्क्रियः ॥ १० ॥ यस्त्वं त्रैविद्यवृद्धानां ब्राह्मणानां सहस्रशः । भर्ता भूत्वा च लोकस्य सोऽद्य तैर्भृतिमिच्छसि ॥११॥ श्रियं हित्वा प्रदीप्तां त्वं श्ववत्संप्रतिवीक्ष्यसे । अपुत्रा जननी तेऽद्य कौसल्या चापतिस्त्वया ॥ १२ ॥ अमी

भर जौंके ऊपर जीवन विताते हो यह तुमको फवता नहीं है । यह त्यागकी प्रतिज्ञा राजधर्मके विरुद्ध है । तथा तुम्हारी भिक्षुककीसी चर्या भी राजधर्मके विरुद्ध है । बड़ेभारी राज्यको छोड कर हे राजन् ! तुम खप्परमें पड़ेहुए अन्नसे सन्तोष पाते हो, तो फिर उतने अन्नसे तुम अतिथि, देव, ऋषि, और पितरोंका यजन किसप्रकार कर सकोगे ? तुम उनका पूजन न कर सके तो तुम्हारा इतना परिश्रम बिलकुल व्यर्थ है ॥ ७-९ ॥ अरे ! रे ! हे राजन् ! तुमने क्रियाओंको त्याग दिया है, इससे देवता, अतिथि और पितर तुमको त्याग गए हैं और इससे ही तुम संन्यास लेनेको तत्पर हुए हो ? (अर्थात् तुम अकिञ्चन हो, यह जानकर अतिथि, देवता और पितरोंने तुम्हारी आशा छोड दी है कि-द्रव्यके बिना राज्यके और गृहस्थके कामोंको यह नहीं कर सकेगा, तब इसके पास रहकर क्या आशा करें) ॥१०॥ पहिले तो तुम वेदविद्या जाननेवाले सहस्रों ब्राह्मणोंका और सब प्रजाका भरण पोषण करते थे, वही तुम अब उनसे अपने भरण पोषणकी इच्छा रखते हो ॥ ११ ॥ अत्यन्त सुन्दर राज्यलक्ष्मीका त्याग करके अब तुम्हारे लिये उदरपोषणके अर्थ कुत्तेकी समान दूसरेका मुख ताकना रहगया? अरे ! रे !! आजसे

च धर्मकामास्त्वां क्षत्रियाः पर्युपासते । त्वदाशामभिकांक्षन्तः कृपणाः फलहेतुकाः॥१३॥ तांश्च त्वं विफलान् कुर्वन् कं नु लोकं गमिष्यसि। राजन् संशयिते मोक्षे परतन्त्रेषु देहिषु ॥ १४ ॥ नैव तेऽस्ति परो लोको नापरः पापकर्मणः । धर्म्यान् दारान् परित्यज्य यस्त्वमिच्छसि जीवितुम् ॥ १५ ॥ स्रजो गन्धानलंकारान् वासांसि विविधानि चाकिमर्थमभिसंत्यज्य परिव्रजसि निष्क्रियः१६ निपानं सर्वभूतानां भूत्वा त्वं पावनं महत् । आढ्यो वनस्पतिर्भूत्वा सोऽन्यांस्त्वं पर्युपासते ॥१७ । खादन्ति हस्तिनं न्यासैः क्रव्यादा

तुम्हारी माता अपुत्रा होगई है और रानी कौशल्या पतिहीना होगई है ॥ १२ ॥ धर्मकी कामनावाले क्षत्रिय फलकी इच्छासे तुम्हारी उपासना करते हैं, फल न मिलनेसे वे निराश होगए हैं१३ हे राजन् ! उन राजाओंकी आशाओंका भङ्ग करनेसे तुम किन लोकोंमें जाओगे, यह कहा नहीं जासकता, क्योंकि–देहधारी अपने प्रारब्धके वशमें होता है, अतः उनकी मोक्ष होगी या नहीं ? इसमें सन्देह ही है ॥ १४ ॥ पापकर्म करनेवाले तुम्हारा न यह लोक है न परलोक है क्योंकि–तुम अपनी धर्मपत्नीको त्यागकर जीवित रहनेकी इच्छा करते हो ॥ १५ ॥ पुष्पोंकी माला, गन्ध, अलंकार, नाना प्रकारके वस्त्र इन सबका परित्यागकर क्रियारहित होकर किस लिये संन्यास लेनेकी इच्छा करते हो ॥ १६ ॥ तृषातुर प्राणी जैसे पौके पास जाते हैं, भूखे प्राणी जैसे सुन्दर फल वाले वृक्षोंके पास जाते हैं, (और तहाँ जाकर विश्राम पाते हैं) तैसे ही भूखे, प्यासे सब प्राणी तुम्हारे पास (दान लेनेकी इच्छासे) आते हैं ऐसे तुम दूसरेकी उपासना कैसे कर सकोगे ? ॥ १७ ॥ मांसभक्षी अनेक प्राणी, जैसे सब कर्मोंको त्याग कर बैठे हुए हाथीको खाडालते हैं और उसमें कीड़े पड़ जाते हैं, तैसे ही सब पुरुषार्थोंको त्याग कर बैठे हुए तुम्हारे

बहवोऽप्युत । बहवः कृमयश्चैव किं पुनस्त्वामनेश्वरम् ॥ १८ ॥ यः इमां कुण्डिकां भिद्यात् त्रिविष्टब्धं च यो हरेत् । वासश्चापि हरेत्तस्मिन् कथन्ते मानसं भवेत् ॥ १९ ॥ यस्त्वं सर्वं समुत्सृज्य धानामुष्टे रनुग्रहः । यदानेन समं सर्वं किमिदं ह्यवसीयसे ॥२०॥ धानामुष्टेरिहार्थश्चेत् प्रतिज्ञाते विनश्यति । का वाहं तव को मे त्वं कश्च ते मय्यनुग्रहः ॥ २१ ॥ प्रशाधि पृथिवीं राजन् यदि तेऽनुग्रहो भवेत् । प्रासादं शयनं यानं वासांस्याभरणानि च २२

लिये तो मैं क्या कहूँ (तुमको कीड़े भक्षण करेंगे, फिर तुम्हारा महत्त्व क्या रहेगा ?) ॥ १८ ॥ यदि कोई पुरुष तुम्हारे भिक्षापात्रको फोड़ डाले अथवा तुम्हारे त्रिदण्डको छीनले अथवा तुम्हारे भगवाँ वस्त्रोंको उतार ले, तो तुम्हारे मनमें दुःख होगा या नहीं? ॥ १९ ॥ तुमने सब कर्मोंको त्याग दिया है, परन्तु मध्यान्हके समय तो तुम उदरपोषणके लिये भुने हुए मुट्ठी भर जौंको तो स्वीकार करते हो? तो फिर राज्यमें और त्यागमें क्या भेद है किसी को थोड़ा स्वीकार है और किसीको बहुत स्वीकार है, परन्तु स्वीकार तो है ही, अतः राज्यसे उदासीन होनेका कोई कारण नहीं है ॥ २० ॥ तुम्हें यदि उदरपोषणके लिये, भुने हुए मुट्ठी भर जौ का प्रयोजन है तो फिर "मुझे किसीसे कुछ प्रयोजन नहीं है" तुम्हारी ऐसी प्रतिज्ञा तो भङ्ग ही होगी और देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के विषय का त्याग करके शुद्धचिन्मात्र रूप ही यदि तुम हो तो फिर मुझ में और तुममें भेदही क्या रहा ? मैं तुम्हारी कौन और तुम मेरे कौन? तुम्हारा मेरे ऊपर अनुग्रह क्या? तुम्हारे और मेरे चिदाभास में कुछ भी भेद नहीं है (फिर तुम त्याग किसका करते हो और कौन किसका त्याग कर सकता है) ॥ २१ ॥ हे राजन् ! यदि तुम्हारा मेरे ऊपर अनुग्रह हो तो मेरे कथनको मान कर

श्रिया विहीनैरधनैस्त्यक्तमित्रैरकिञ्चनैः । सौखिकैः संभृतानर्थान् यः संत्यजति किं नु तत् ॥ २३ ॥ योऽत्यन्तं प्रतिगृह्णीयाद्यश्च दद्यात्सदैव हि । तयोस्त्वमन्तरं विद्धि श्रेयांस्ताभ्यां क उच्यते २४ सदैव याचमानेषु तथा दम्भान्वितेषु च । एतेषु दक्षिणा दत्ता दावाग्नाविव दुर्हुतम् ॥ २५ ॥ जातवेदा यथा राजन् नादग्ध्वैवोपशाम्यति । सदैव याचमानो हि तथा शाम्यति वै द्विजः २६ सतां वै ददतोऽन्नं च लोकेऽस्मिन् प्रकृतिध्रुवा । न चेद्राजा भवेद्दाता कुतः स्युर्मोक्षकाङ्क्षिणः ॥ २७ ॥ अन्नाद्

राज भोगो और भवन, शय्या, रथ, वस्त्र, अलङ्कार इन सबों का उपभोग करो ॥ २२ ॥ निर्धन और स्नेही मनुष्योंके त्यागे हुए अकिञ्चन संन्यासियोंके धारण किये हुए खप्पर, दण्ड, भगवाँ वस्त्र, इत्यादिको देखकर यदि कोई अपने राज्य आदि पदार्थों का त्याग करे तो क्या वह त्याग कहला सकता है? ॥२३॥ जो पुरुष अत्यन्त दान लेता है और दूसरा बडा भारी दान देता है, उन दोनोंमें क्या भेद है इसका विचार करो और उन दोनोंमें दान देनेवाला उत्तम है अथवा दान लेनेवाला उत्तम है इसका भी विचार करो ॥ २४ ॥ जो दम्भी और निरन्तर याचना करने वाले हैं उनको जो दक्षिणा दीजाती है, वह दावानलमें होमनेके समान निरर्थक है ॥२५॥ हे राजन्! जैसे प्रदीप्त हुआ अग्नि, अपनेमें डाले हुए पदार्थोंको भस्म किये विना शांत नहीं होता है, तैसे ही भिक्षा माँगनेवाला ब्राह्मण, चाहे जितना धनपात्र हो, तो भी विना माँगे हुए उसको शांति नहीं होती है ॥ २६ ॥ इस जगत्में तो यह नियम है कि-राजाको त्यागियोंको अन्न देना चाहिये, क्योंकि-उससे ही उनका जीवन चलता है, परन्तु जो राजा संन्यासियोंको अन्न नहीं दे तो फिर मोक्षकी इच्छा वालोंका जीवन कैसे चलेगा?१७

गृहस्था लोकेऽस्मिन् भिक्षवस्तत एव च। अन्नात्प्राणः प्रभवति अन्नदः प्राणदो भवेत् ॥ २८ ॥ गृहस्थेभ्योऽपि निर्मुक्ता गृहस्थानेव संश्रिताः।प्रभवं च प्रतिष्ठां च दान्ता विंदन्त आसते२९ त्यागान्न भिक्षुकं विद्यान्न मौढ्यान्न च याचनात्। ऋजुस्तु योऽर्थं त्यजति न सुखं विद्धि भिक्षुकम्३०असक्तः शसवद्गच्छन् निःसंगो मुक्तबन्धनः। समः शत्रौ च मित्रे च स वै मुक्तो महीपते ॥३१॥ परिव्रजन्ति दानार्थं मुण्डा काषायवाससः। सिता बहुविधैः

इस जगत्में अन्नका संग्रह करने वाले ही गृहस्थ कहलाते हैं और अन्नका संग्रह न करने वाले भिखारी कहाते हैं, अन्न प्राणकी रक्षा करता है अतः अन्न देने वाला ही प्राणदाता कहलाता है ॥ २८ ॥ और जो गृहस्थाश्रमको छोड कर त्यागी हुए हैं, वे भी गृहस्थाश्रमियोंका आश्रय लेकर ही जीते हैं और इन त्यागियोंको उत्पन्न करने वाला भी गृहस्थाश्रम ही है और उनकी प्रतिष्ठाको भी उदार गृहस्थाश्रमी ही जानते हैं २९ संसारका त्याग करनेसे अथवा दरिद्रोंका उपकार करने वालेसे भिक्षा माँगने पर कोई भिक्षुक नहीं कहाता है, परन्तु जो सुख तथा अर्थका सरल हृदय (मन) से त्याग करता है, उसको ही भिक्षुक जानना चाहिये (तात्पर्य यह है कि-जो अपना राजपद त्यागकर वनमें जाकर बसता है,वह भी त्यागी है और जो राज-पदको स्वीकृत करता हुआ "अहम्" को त्यागकर राज करता है तो वह भी त्यागी ही है,क्योंकि-वह सब प्रकारके बंधनोंसे रहित है) ॥ ३० ॥ संसारके भोगोंमें आसक्तिरहित होने पर भी आसक्ति वाला प्रतीत होने वाला, इन्द्रियोंका निग्रह करनेवाला संगरहित बंधनमेंसे मुक्त हुआ, शत्रु तथा मित्र पर समबुद्धि रखने वाला जो हो, उसको ही हे राजन् ! मुक्त जानना चाहिये ॥ ३१ ॥ परन्तु जो मूँड़ मुँडा भगवाँ वस्त्र पहिर, अपना

पाशैः संचिन्वन्तो वृथामिषम् ॥ ३२ ॥ त्रयीं च नाम वार्तां च त्यक्त्वा पुत्रान् व्रजन्ति ये। त्रिविष्टब्धं च वासश्च प्रतिगृह्णन्त्यबुद्धयः ॥ ३३ ॥ अनिष्कषाये काषायमीहार्थमिति विद्धि तम्। धर्मध्वजानां मुण्डानां वृत्त्यर्थमिति मे मतिः ॥ ३४ ॥ काषायैरजिनैश्चीरैर्नग्नान् मुण्डान् जटाधरान्। बिभ्रत् साधून् महाराज जय लोकान् जितेंद्रियः ३५ अग्न्याधेयानि गुर्वर्थं क्रतूनपि सुदक्षिणान्। ददात्यहरहः पूर्वं को नु धर्मरतस्ततः ॥ ३६ ॥ अर्जुन उवाच। तत्त्वज्ञो जनको राजा लोकेऽस्मिन्निति गीयते। सोऽप्यासीन्मोह-

पेट भरनेके लिये संन्यास धारण करते हैं, उन संन्यासियोंको मठ, शिष्य, पुस्तक, मान आदिकी तृष्णाके पाशसे बँधेहुए समझना चाहिये और वे आमिषरूपी धन पाकर वृथा पापके भागी होते हैं ॥ ३२ ॥ बुद्धिहीन पुरुष ही वेदका, अपनी आजीविकाका और पुत्रोंका भी त्याग करके संन्यास धारण करते हैं, बुद्धिमान् पुरुष कभी भी संन्यास धारण नहीं करते हैं मूर्ख ही हाथमें दण्ड, भगवाँ वस्त्र और भिक्षाके पात्रको ग्रहण करते हैं ३३ जिनका राग आदि नहीं गया है ऐसोंका भगवाँ वस्त्र धारण करना केवल चेष्टा करना ही है, इतना ही नहीं, किन्तु भगवाँ वस्त्र पहिरना, यह धर्मढोंगी मुण्डोंकी आजीविका है, ऐसा मेरा मत है ॥ ३४ ॥ हे महाराज ! नङ्गा रहने वाला, मूँड मुँडा कर फिरने वाला, तथा जटा धारण करने वाला जो हो उन सबका तुम भगवाँ वस्त्र देकर, मृगचर्म देकर और वस्त्र देकर पोषण करो और जितेन्द्रिय होकर लोकोंका विजय करो ॥ ३५ ॥ अग्नि का आधान लो, यज्ञ करके बहुतसी दक्षिणायें दो, धर्म पर प्रीति रखने वाला ऐसा कौन पुरुष होगा कि–जो यज्ञमें अपने गुरुको दक्षिणा नहीं देगा ? ॥ ३६ ॥ अर्जुनने कहा कि–हे राजा युधिष्ठिर ! इस प्रकार अपनी स्त्रीका वचन सुन कर राजा

सम्पन्नो मा मोहवशमन्वगाः ॥ ३७ ॥ एवं धर्ममनुक्रान्ता सदा दानतपःपराः । आनृशंस्यगुणोपेताः कामक्रोधविवर्जिताः ॥३८॥ प्रजानां पालने युक्ता दानमुत्तममास्थिताः । इष्टान् लोकानवाप्स्यामो गुरुवृद्धोपचायिनः ॥ ३९ ॥ देवतातिथिभूतानां निर्वपन्तो यथाविधि । स्थानमिष्टमवाप्स्यामो ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ॥४०॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर उवाच । वेदाहं तात शास्त्राणि अपराणि पराणि च । उभयं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च ॥ १ ॥

जनक संन्यास लेनेसे रुक गया था, जगत्‌में राजा जनक तत्त्ववेत्ता कहाता है,वह भी इस प्रकार मोहमें पड़ गया था परन्तु तुम मोहमें न पड़ो ॥ ३७ ॥ यदि तुम गृहस्थाश्रमके धर्मके ऊपर प्रीति रक्खोगे, नित्य दान दोगे, तपश्चरण करोगे, दया दाक्षिण्यादि गुणोंसे सम्पन्न रहोगे, काम क्रोधका त्याग करके प्रजाका पालन करनेको तत्पर रहोगे और उत्तम प्रकारके दान दोगे तो गुरुजनोंकी और वृद्धोंकी सेवा करने वाले तुम अपने अभीप्सित स्वर्ग लोकमें जाओगे ॥ ३८–३९ ॥ जो देवता, अतिथि और प्राणियोंकी विधिपूर्वक सेवा करते हैं वे इच्छित लोकोंमें जाते हैं अतः सत्यवादी हम भी देवता अतिथि और प्राणियों की सेवा करके मन चाहे स्वर्ग आदि लोकों में जावेंगे ॥ ४० ॥ अठारहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १८ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि–हे राजा जनमेजय ! अर्जुनका वचन सुनकर राजा युधिष्ठिर बोले, कि–हे अर्जुन ! मैं धर्मशास्त्रको तथा ब्रह्मको प्रतिपादन करने वाले अध्यात्मशास्त्रको भली प्रकार जानता हूँ, उनमें कर्म करनेकी और कर्मका त्याग करनेकी, दोनों प्रकारकी आज्ञाएँ की हैं ॥ १ ॥ परस्पर विरुद्धार्थका प्रतिपादन

आकुलानि च शास्त्राणि हेतुभिश्चिन्तितानि च । निश्चयश्चैव यो मन्त्रे वेदाहं तं यथाविधि ॥ २ ॥ त्वन्तु केवलमस्त्रज्ञो वीरव्रत-समन्वितः । शास्त्रार्थं तत्त्वतो गन्तुं न समर्थः कथंचन ॥ ३ ॥ शास्त्रार्थसूक्ष्मदर्शी यो धर्मनिश्चयकोविदः । तेनाप्येवं न वाच्योहं यदि धर्मं प्रपश्यसि ॥ ४ ॥ भ्रातृसौहृदमास्थाय यदुक्तं वचनं त्वया । न्याय्यं युक्तञ्च कौन्तेय प्रीतोऽहं तेन तेऽर्जुन । युद्धधर्मेषु सर्वेषु क्रियाणां नैपुणेषु च । न त्वया सदृशः कश्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥६॥ धर्मं सूक्ष्मतरं वाच्यं तत्र दुष्करतरं त्वया । धनञ्जय न मे बुद्धिमभिशंकितुमर्हसि ॥ ७ ॥ युद्धशास्त्रविदेव त्वं न वृद्धाः

करने वाले शास्त्रोंका मैंने भली प्रकार चिंतवन किया है और और उनके मंत्रके कारण भी मैंने यथार्थरीतिसे समझे हैं ॥२॥ हे अर्जुन! तू वीरव्रतको पालने वाला है और केवल अस्त्रविद्याको ही जानता है तू शास्त्रके मर्मको यथार्थ रीतिसे जाननेमें समर्थ नहीं है ॥ ३ ॥ शास्त्रके सूक्ष्म अर्थको जाननेवाले विद्वान् भी मुझसे इस प्रकार नहीं कह सकते तब तू तो मुझसे कह ही किस प्रकार सकता है ? तू तो धर्मकी प्रशंसा करना ही जानता है और उसके वास्तविक स्वरूपको नहीं जानता ॥ ४ ॥ ऐसा होने पर भी हे अर्जुन ! तूने भ्रातृभावके अनुसार मुझसे जो कहा है, वह उचित ही कहा है और इससे मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हुआ हूँ ॥ ५ ॥ शत्रुओंके सामने युद्ध करनेमें तथा दूसरे और कितने ही चतुरताके कामोंमें तेरी समान तीनों लोकोंमें और कोई नहीं है ॥ ६ ॥ हे धनञ्जय ! तू अत्यन्त निपुण है तो भी मैं निःशंक होकर कहता हूँ कि-तू धर्मका सूक्ष्म स्वरूप कहकर मेरी बुद्धिमें भेद नहीं डाल सकेगा? ॥७॥ हे अर्जुन ! तू केवल युद्धशास्त्रको ही जानता है, परन्तु वृद्ध पुरुषोंकी तूने सेवा नहीं की है इससे ही तू वृद्धोंके और शास्त्रोंके संक्षिप्त और विस्तृत

सेवितास्त्वया । संक्षिप्तविस्तरविदां न तेषां वेत्सि निश्चयम् ॥८॥ तपस्त्यागो विधिरिति निश्चयस्त्वेष धीमताम् । परस्परं ज्याय एषां येषां नैश्रेयसी मतिः ॥९॥ यस्त्वेतन्मन्यसे पार्थ न ज्यायोऽस्ति धनादिति । तत्र ते वर्तयिष्यामि यथा नैतत्प्रधानतः १० तपःस्वाध्यायशीला हि दृश्यन्ते धार्मिका जनाः । ऋषयस्तपसा युक्ता येषां लोकाः सनातनाः ॥ ११ ॥ अजातशत्रवो धीरास्तथान्ये वनवासिनः । अरण्ये बहवश्चैव स्वाध्यायेन दिवं गताः॥१२ उत्तरेण तु पन्थानमार्या विषयनिग्रहात् । अबुद्धिजं तमस्त्यक्त्वा लोकांस्त्यागवतां गताः ॥ १३ ॥ दक्षिणेन तु पन्थानं यंभास्वन्तं

निर्णयको नहीं जानता है ॥ ८ ॥ बुद्धिमान् वृद्धोंका निश्चय है, कि-प्रथम तप करना, तपसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, तदनन्तर वैराग्य होनेसे सब वस्तुओंका त्याग करना चाहिये अर्थात् गृहस्थाश्रममें रहकर ईश्वरप्रीत्यर्थ कर्म करना, इसप्रकार कर्म करनेसे जब अन्तःकरणकी शुद्धि होजाती है तब गृहस्थाश्रमको त्याग कर वनमें जाना और ब्रह्मविचार करना चाहिये तप, त्याग और ब्रह्मचर्य इन तीनोंमें तपसे त्याग, त्यागसे ब्रह्मका चिन्तवन उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥ परन्तु हे अर्जुन ! जो धनको ही श्रेष्ठ माननेवाले हैं, वे तप, त्याग और ब्रह्मके चिन्तवनको गौण मानते हैं, मैं भी तुझको उनकी गणनामें गिनता हूँ १० इस जगत्में तप करनेवाले तथा वेदका स्वाध्याय करनेवाले बहुतसे धार्मिक मनुष्य दिखाई देते हैं वे ऋषि हैं जो तप करके ब्रह्मलोकमें भी गए हैं ॥ ११ ॥ ऐसे ही दूसरे भी बहुतसे शान्तात्मा शत्रुरहित और धैर्यधारी थे, वे वनमें वस कर, तप कर तथा स्वाध्याय करके स्वर्गमें गए हैं ॥ १२ ॥ कितने ही आर्य पुरुष इन्द्रियोंके विषयोंका निग्रह कर तथा बुद्धिके स्वाभाविक अज्ञानको दूर कर देवयानमार्गसे इस लोकको त्याग,

प्रचक्षते । एते क्रियावतां लोका ये श्मशानानि भेजिरे ॥ १४ ॥
अनिर्देश्या गतिः सा तु यां प्रपश्यन्ति मोक्षिणः । तस्माद्योगः
प्रधानेष्टः स तु दुःखं प्रवेदितुम् ॥ १५ ॥ अनुस्मृत्य तु शास्त्राणि
कवयः समवस्थिताः।अपीह स्यादपीह स्यात्सारासारदिदृक्षया १६
वेदवादानतिक्रम्य शास्त्राण्यारण्यकानि च । विपाट्य कदलीस्तंभं
सारं ददृशिरे न ते१७ अर्थैकान्तव्युदासेन शरीरे पाञ्चभौतिके ।
इच्छाद्वेषसमायुक्तमात्मानं प्राहुरिङ्गितैः ॥ १८ ॥ अग्राह्यं चक्षुषा

त्यागियोंके लोकमें गए हैं ॥ १३ ॥ कितने ही आर्यपुरुष प्रकाशित दक्षिण-चन्द्रमार्गसे परलोकमें गए हैं, तब हे अर्जुन ! अनेक क्रिया करनेवाले पुरुष देहको त्याग कर दक्षिणायन तथा उत्तरायणके मार्गसे परलोकमें जाते हैं, परन्तु उस (कर्ममें) जन्म लेना और मरना रचा हुआ है । १४ ॥ परन्तु मोक्षकी इच्छावाले पुरुष योगाभ्यास करके वर्णनातीत प्रत्यगानन्दरूप मोक्षको पाते हैं, योग सब क्रियाओंमें प्रधान है, योगाभ्यासके विना मोक्ष नहीं मिलता है परन्तु इस योगका स्वरूप जानना बडा कठिन है ॥ १५ ॥ विद्वान् पुरुष शास्त्रका विचार करते हुए सार असारका निर्णय करके असार वस्तुको त्याग सार वस्तुको ग्रहण करते हैं और उसही तत्त्व वस्तुको जानते हैं १६ कितने ही विद्वान् वेद और आरण्यक (वेदान्त) का विचार तो करते हैं, परन्तु जैसे केलेके खंभेको उधेडनेवालेको कुछ सार नहीं मिलता है तैसे ही सारभूत वस्तु उनको भी नहीं दीखती१७ कितने ही विद्वान् सकल पदार्थोंको त्याग एकान्तमें बैठकर कहते हैं, कि-इस पञ्चभूतोंसे बने हुए शरीरमें इच्छा, द्वेष,कृति,सुख, दुःख आदि गुणोंवाला आत्मा रहता है और कितने ही कहते हैं, कि-यह मुझे मिले,यह मेरा है, इत्यादि अहंग्रह करनेवाला आत्मा शरीरमें रहता है ॥ १८ ॥ और हे अर्जुन ! दूसरे

सूक्ष्ममनिर्देश्यं च तद् गिरा। कर्महेतुपुरस्कारं भूतेषु परिवर्तते १९
कल्याणगोचरं कृत्वा मनस्तृष्णां निगृह्य च। कर्मसंततिमुत्सृज्य
स्यान्निरालम्बनः सुखी ॥ २० ॥ अस्मिन्नेवं सूक्ष्मगम्ये मार्गे
सद्भिर्निषेविते। कथमर्थमनर्थाढ्यमर्जुन त्वं प्रशंससि ॥ २१ ॥
पूर्वशास्त्रविदोऽप्येवं जनाः पश्यन्ति भारत। क्रियासु निरता नित्यं
दाने यज्ञे च कर्मणि ॥ २२ ॥ भवन्ति सुदुरावर्ता हेतुमन्तोऽपि
पण्डिताः। दृढपूर्वे स्मृता मूढा नैतदस्तीतिवादिनः ॥२३॥ अनृ-
तस्यावमन्तारो वक्तारो जनसंसदि। चरन्ति वसुधां कृत्स्नां वाव-

आत्माको कैसा मानते हैं ये भी मैं तुम्हें बताता हूँ अब आत्माके विषयमें सिद्धान्त सुन, आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म है, इसलिये चक्षु इन्द्रियसे देखा नहीं जासकता और वाणीसे भी कहा नहीं जासकता, परन्तु यह आत्मा जब अविद्यासे घिरजाता है तब (मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ,) ऐसा अभिमान करके जीवरूपसे पृथिवीके प्राणियोंमें जन्म मरण पाया करता है ॥ १९ ॥ इस लिये तू अपने मनको आत्माकी ओरको झुका, तृष्णाको शांत कर और कर्मकी परम्पराको त्यागकर सुखी हो ॥२०॥ हे अर्जुन! इसप्रकार सूक्ष्मबुद्धिसे जाननेमें आनेवाले और सत्पुरुषोंसे सेवित ज्ञानमार्गके होतेहुए तू अनर्थसे भरेहुए अर्थकी प्रशंसा क्यों करता है ? ॥२१॥ यज्ञ, दान, कर्म आदि कर्म करनेवाले और कर्मकाण्डको जाननेवाले पुरुष भी अर्थको अनर्थरूप देखते हैं तो फिर ज्ञानी देखें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? ॥ २२ ॥ दुःखके कारणसे सिद्धान्तको न जानसकनेवाले, परन्तु पहले जन्मके दृढ संस्कारवाले तथा युक्तियोंको समझनेवाले पण्डित भी ईश्वर (आत्मा) के स्वरूपके विषयमें मूढ बनगए हैं तो फिर साधारण पुरुष मूढ़ बनजायँ तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? ॥ २३ ॥ वे अपनेको बड़े शास्त्रज्ञपनेका अभिमान रखने

दूका बहुश्रुताः ॥ २४ ॥ पार्थ यन्न विजानीमः कस्तान् ज्ञातु-मिहार्हति । एवं प्राज्ञाः श्रुताश्चापि महान्तः शास्त्रवित्तमाः २५ तपसा महदाप्नोति बुद्धया वै विन्दते महत् । त्यागेन सुखमाप्नोति सदा कौंतेय तत्त्ववित् ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये ऊनविंशतितमोऽध्यायः ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच । अस्मिन् वाक्यान्तरे वक्ता देवस्थानो महातपाः । अभिनीततरं वाक्यमित्युवाच युधिष्ठिरम् ॥१॥ देव-स्थान उवाच । यद्वचः फाल्गुनेनोक्तं न ज्यायोऽस्ति धनादिति । अत्र ते वर्तयिष्यामि तदेकान्तमनाः शृणु ॥२॥ अजातशत्रो धर्मेण

वाले बकवादी मनुष्य आत्मज्ञानसे रहित होनेके कारण संपूर्ण भूमण्डलमें घूमते हुए मनुष्योंकी मण्डलियोंमें मनमें आवे सो कहते हैं (मनमाना आत्माका स्वरूप बताते हैं) ॥ २४ ॥ परन्तु हे अर्जुन! जिन लौकिक वस्तुओंको हम भी नहीं जानसकते यहाँ उनको और कोई तो जान ही कैसे सकेगा ? वे श्रुतिके सत्यार्थ को नहीं समझ सकते तथा जो विद्वान् होकर भी अपवित्र हैं, वे वेदके पढ़ेहुए होने पर भी सत्यार्थको नहीं जानसकते ॥ २५ ॥ हे अर्जुन ! विद्वान् पुरुष तपस्यासे ब्रह्मको पाते हैं, बुद्धिसे ब्रह्म के स्वरूपको जानते हैं तथा तत्त्ववेत्ता त्यागसे नित्यसुखको पाते हैं (इतना कहकर धर्मराज चुप होगए) ॥ २६ ॥ उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १६ ॥

वैशम्पायनने कहा, कि–हे राजा जनमेजय ! ऐसा कहकर धर्म-राजके चुप होजानेपर गङ्गातट पर सभामण्डलमें महातपस्वी और वक्ता देवस्थान नामके ऋषि युक्तिके साथ इसप्रकार कहनेलगे१ देवस्थानने कहा, कि–अर्जुनने आपसे जो बात कही थी कि–धनसे बड़ा कोई पदार्थ नहीं है, इस विषयमें मैं आपसे कुछ

कृत्स्ना ते वसुधा जिता । तां जित्वा च वृथा राजन् न परित्य-क्तुमर्हसि ॥ ३ ॥ चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येव प्रतिष्ठिता । तां क्रमेण महाबाहो यथावज्जय पार्थिव ॥४॥ तस्मात्पार्थ महा-यज्ञैर्यजस्व बहुदक्षिणैः । स्वाध्याययज्ञा ऋषयो ज्ञानयज्ञास्तथा परे ॥ ५ ॥ कर्मनिष्ठां च बुद्ध्येथास्तपोनिष्ठां च पार्थिव । वैखा-नसानां कौन्तेय वचनं श्रूयते यथा ॥ ६ ॥ ईहते धनहेतोर्यस्त-स्यानीहा गरीयसी । भूयान् दोषो हि वर्धेत यस्तं धर्ममुपाश्रयेत्७ कृत्स्नं च धनसंहारं कुर्वन्ति विधिकारणात् । आत्मानं दूषितो

कहता हूँ, उसको एकाग्रचित्त होकर सुनिये ॥ २ ॥ हे अजात-शत्रो ! इस सब वसुन्धराको आपने धर्मसे जीता है, हे राजन् ! इसका तुम्हें वृथा ही त्याग नहीं करना चाहिये ॥३॥ हे राजन्! ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम ये चार आश्रम हैं, इन चारों आश्रमोंका वेदमें क्रमसे वर्णन है, तुम भी इन आश्रमोंको क्रमसे जीतो (अर्थात् गृहस्थसे वानप्रस्थमें जाओ, फिर संन्यास आश्रममें जाना, इस समय संन्यास लेना आपको उचित नहीं है) ॥४॥ इसलिये हे पार्थ ! तुम बहुतसी दक्षिणावाले महायज्ञोंसे भगवान्का पूजन करो, ऋषि वेदका स्वाध्यायरूप यज्ञ करते हैं तथा दूसरे (ज्ञानी) ज्ञानयज्ञ करते हैं ॥ ५ ॥ हे राजन् ! तुम्हें मालूम हो, कि-कितने ही कर्मरूप यज्ञ और कितने ही तपोयज्ञ करते हैं,हे राजन् ! वैखानस ऋषियों का यह वचन सुननेमें आता है, कि-॥ ६ ॥ जो यज्ञके लिये धनको चाहता है, उसका धनकी इच्छा न करना ही बडी बात है (कीच लगाकर धोनेकी अपेक्षा कीचको न छूना ही अच्छा है) परन्तु जो क्षत्रिय अपने धर्मको त्यागकर इस धर्मका आश्रय लेता है, उसको बडा दोष लगता है ॥ ७ ॥ जो पुरुष यज्ञके लिये धनका संग्रह करते हैं और उसका सन्मार्गमें व्यय करते

बुद्धया भ्रूणहत्यां न बुद्धयते८अनर्हते यद् ददाति न ददाति यद-र्हते । अर्हानर्हापरिज्ञानाद्दानधर्मोपि दुष्करः॥९॥यज्ञाय सृष्टानि धनानि धात्रा यज्ञोदिष्टः पुरुषो रक्षिता च । तस्मात्सर्वं यज्ञ एवोपयोज्यं धनं ततोऽनन्तर एव कामः ॥१०॥ यज्ञैरिन्द्रो विवि-धैरन्नवद्भिर्देवान् सर्वानभ्ययाद् भूरितेजाः। तेनेंद्रत्वं प्राप्य विभ्रा-जतेऽसौ तस्माद्यज्ञे सर्वमेवोपयोज्यम् ॥ ११ ॥ महादेवः सर्वयज्ञे महात्मा हुत्वात्मानं देवदेवो बभूव । विश्वांल्लोकान् व्याप्य विष्टभ्य कीर्त्या विराजते द्युतिमान् कृत्तिवासाः ॥ १२ ॥ आविक्षितः पार्थिवोऽसौ मरुत्तो वृद्धया शक्रं योऽजयद् देवराजम् । यज्ञे यस्य

हैं, उनको उत्तम जानो और जो अपने धनको अयोग्यमार्गमें लगाते हैं वे यह नहीं जानते कि-हम जान बूझकर अपने आप को भ्रूणहत्याका भागी बनारहे हैं ॥ ८ ॥ जो पुरुष सुपात्रको दान नहीं देता और कुपात्रको दान देता है, उसका दान निर-र्थक है, सुपात्र कुपात्रकी परीक्षा होना कठिन होता है, इसलिये दानधर्म महादुष्कर है ॥९॥ ब्रह्माने यज्ञके लिये ही धन उत्पन्न किये हैं, वेदकी आज्ञासे पुरुष यज्ञकी रक्षा करता है, इसलिये यज्ञमेंही सब धन खरच देना चाहिये और दानदक्षिणा देनेसे बचाहुआ धन अपने काममें लावे ॥ १० ॥ महातेजस्वी इन्द्र भी अनेकों प्रकारके यज्ञ करके और सब देवताओंका तिरस्कार करके ही स्वर्गका राजा हुआ था,देवताओंके यजनके लिये कियेहुए यज्ञोंमें सब धन लगा देय, परन्तु दूसरे कामोंमें (सब) न लगाये ११ महात्मा और तेजस्वी महादेवजी भी अपने शरीरका यज्ञमें होम करके देवताओंके भी देवता हुए हैं, उन्होंने अपनी कीर्त्तिसे सब लोकोंको छादिया है और गजासुरका चर्म ओढकर (वह देवदेव) कैलासमें विराजमान हैं और हे राजन् ! अविक्षितवंशके राजा मरुत्तने धनसे देवराज इन्द्रका यजन किया था

श्रीः स्वयं सन्निविष्टा यस्मिन्भांडं काञ्चनं सर्वमासीत् ॥ १३ ॥
हरिश्चन्द्रः पार्थिवेन्द्र श्रुतस्ते यज्ञैरिष्ट्वा पुण्यभाग्वीतशोकः।
ऋद्ध्या शक्रं योऽजयन्मानुषः संस्तस्माद्यज्ञे सर्वमेवोपयोज्यम्॥ १४॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि
देवस्थानवाक्ये विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥

देवस्थान उवाच। अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
इन्द्रेण समये पृष्टो यदुवाच बृहस्पतिः ॥ १ सन्तोषो वै स्वर्गतमः
सन्तोषः परमं सुखम्। तुष्टेर्न किञ्चित्परतः सा सम्यक् प्रति-
तिष्ठति ॥ २ ॥ यदा संहरते कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः। तदा-
त्मज्योतिरचिरात्स्वात्मन्येव प्रसीदति ॥ ३ ॥ न बिभेति यदा

था और उस समय लक्ष्मी देवी स्वयं उनके यज्ञमें पधारी थी, उसके यज्ञके सब पात्र सोनेके होगए थे ॥ १२ ॥ १३ ॥ हे युधिष्ठिर! तुम राजा हरिश्चन्द्रको भी जानते हो, वह राजा भी बडी समृद्धिवाले यज्ञोंसे इन्द्रका यजन करके पुण्य और सुखका भागी हुआ था, राजा हरिश्चन्द्रने यज्ञमें अपनी सब सम्पदा खरच कर इन्द्रका यजन किया था, क्योंकि-यज्ञमें सब धन लगा देय, यह शास्त्रका सिद्धान्त है ।१४। बीसवाँ अध्याय समाप्त २०.

वैशम्पायन कहते हैं कि-हे राजा जनमेजय! फिर देवस्थान ऋषि बोले कि-हे युधिष्ठिर! इन्द्र और बृहस्पतिका सम्वादरूप एक प्राचीन इतिहास है,उसमें बृहस्पतिने इन्द्रको एक समय उप-देश दिया है, वह इतिहास मैं तुमसे कहता हूँ, तुम उसको सुनो! ।१॥ मनुष्यके मनमें जो सन्तोष है, वह स्वर्गसे भी श्रेष्ठ है,सन्तोष ही परमसुख है,सन्तोषसे अधिक दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है और सन्तोषी मनुष्य सुखी दशामें रह सकता है ॥ २ ॥ जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको भीतरके भागमेंको सकोड़ लेता है ऐसे ही मनुष्य जब इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको सकोड़ लेता है तब मनमें

चार्यं यदा चास्मान्न बिभ्यति । कामद्वेषौ च जयति तदात्मानं च पश्यति॥४॥यदासौ सर्वभूतानां न द्रुह्यति न कांक्षति । कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म संपद्यते तदा॥५॥एवं कौन्तेय भूतानि तं तं धर्मं तथा तथा । तदात्मना प्रपश्यन्ति तस्माद् बुध्यस्व भारत ॥६॥ अन्ये साम प्रशंसन्ति व्यायाममपरे जनाः । नैकं न चापरे केचिदुभयं च तथापरे ॥ ७ ॥ यज्ञमेव प्रशंसन्ति संन्यासमपरे जनाः । दानमेके प्रशंसन्ति केचिच्चैव प्रतिग्रहम् ॥ ८ ॥ केचित्सर्वं परि-

ज्योतिः स्वरूप आत्मा फुरने लगता है२मनुष्य जब किसीसे भी नहीं डरता है तथा दूसरे जीव भी उससे नहीं डरते हैं और जब काम (राग) तथा द्वेषको जीत लेता है तब उसको ब्रह्मस्वरूपका दर्शन होता है ॥ ४ ॥ मनुष्य जब मन,वाणी और कर्मसे किसी भी प्राणीका द्वेष नहीं करता है तथा उनके ऊपर प्रसन्न भी नहीं होता है तब वह ब्रह्मस्वरूप होजाता है॥ ५ ॥हे कुन्तीनन्दन ! युधिष्ठिर ! अधिकारी जीव जो२ यज्ञादि कर्म करते हैं, उन२ कर्मोंके अनुसार अपने मनसे सबको देखते हैं (अर्थात् प्राणियों को भय देता है तो वह आप भी भयका अनुभव करता है,अभय देता है तो अभयका अनुभव करता है) इसलिये हे भरतवंशी राजन् ! तुम (इस दशाको पाकर) सावधान होजाओ (और प्रजाका पालन करो) ॥ ६ ॥ कितने ही पुरुष सब प्राणियोंके ऊपर समान प्रीति रखकर बर्त्ताव करनेका उपदेश देते हैं और कितने ही उद्यमकी प्रशंसा करते हैं तथा कितने ही वनमें जाकर समाधि लगानेकी प्रशंसा नहीं करते हैं किन्तु उद्योगकी ही प्रशंसा करते हैं, कितने ही प्रीति और उद्योग दोनोंकी प्रशंसा करते हैं और कितने ही दोनोंमेंसे एककी भी प्रशंसा नहीं करते ॥ ७ ॥कोई यज्ञकी प्रशंसा करते हैं, कोई संन्यासकी करते हैं,कोई दान और कोई प्रतिग्रहकी ही प्रशंसा करते हैं ॥ ८ ॥

त्यज्य तूष्णीं ध्यायन्त आसते। राज्यमेके प्रशंसन्ति प्रजानां परिपालनम् ॥ ९ ॥ हत्वा छित्वा च भित्वा च केचिदेकान्तशीलिनः। एतत्सर्वं समालोक्य बुधानामेष निश्चयः ॥१०॥ अद्रोहेणैव भूतानां यो धर्मः स सतां मतः।अद्रोहः सत्यवचनं संविभागो दया दमः ११ प्रजनं स्वेषु दारेषु मार्दवं ह्रीरचापलम्। एवं धर्मं प्रधानेष्टं मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥१२॥तस्मादेतत्प्रयत्नेन कौन्तेय प्रतिपालय। यो हि राज्ये स्थितः शश्वद्वशी तुल्यप्रियाप्रियः ॥ १३॥ क्षत्रियो यज्ञशिष्टाशी राजा शास्त्रार्थतत्त्ववित्। असाधुनिग्रहरतः साधूनां प्रग्रहे रतः ॥ १४ ॥ धर्मवर्त्मनि संस्थाप्य प्रजा वर्तेत धर्मतः। पुत्रसंक्रामितश्रीश्च वने वन्येन वर्तयन् ॥ १५ ॥ विधिना श्रावणे-

कोई सबको त्याग मौन धारण करके परमात्माका ध्यान करनेको कहते हैं, कोई प्रजाका पालन करके राज्य करनेकी प्रशंसा करते हैं ॥ ९ ॥ कोई विचारशील पुरुष कहते हैं, कि-दूसरोंके शिरोंको काटकर और छातियोंको फोडकर नाश करना और राज्य प्राप्त करना चाहिये, परन्तु इन सब बातोंका विचार करके विद्वानोंने निश्चय किया है, कि-जिसमें किसी भी प्राणीका द्रोह न होता हो, ऐसा धर्म ही सज्जन पुरुषोंको इष्ट होता है, किसीसे द्रोह न करना, सत्य बोलना, दया, रखना जिसकी जो वस्तु हो उसको वह देना, इन्द्रियोंका निग्रह करना, अपनी ही स्त्रीके ऊपर प्रीति रखना, कोमल रहना, लज्जा रखना, और धैर्य रखना ये ही प्रधान धर्म हैं और स्वायंभुव मनु भी ऐसा ही कह गए हैं १०-१२ हे राजन्! तुम भी प्रयत्नसे इस धर्मका आचरण करो, राज्यासन पर बैठे हुए राजाको नित्य इन्द्रियोंका निग्रह करना चाहिये, प्रिय तथा अप्रियमें समानबुद्धि रखनी चाहिये, यज्ञ करनेके पीछे शेषका भोजन करना चाहिये, शास्त्रके तत्त्वोंको जानना चाहिये, दुष्टोंको दण्ड देना चाहिये, सत्पुरुषोंका पालन करना

नैव कुर्यात्कर्माण्यतन्द्रितः । य एवं वर्तते राजन् स राजा धर्मनिश्चितः ॥ १६ ॥ तस्यायं च परश्चैव लोकः स्यात् सफलोदयः। निर्वाणं हि सुदुष्प्राप्यं बहुविघ्नं च मे मतम् ॥ १७ ॥ एवं धर्ममनुक्रान्ता सत्यदानतपःपराः । आनृशंस्यगुणैर्युक्ताः कामक्रोधविवर्जिताः ॥ १८ ॥ प्रजानां पालने युक्ता धर्ममुत्तममास्थिताः । गोब्राह्मणार्थे युध्यन्तः प्राप्ता गतिमनुत्तमाम्॥१९॥एवं रुद्राः सवसवस्तथादित्याः परन्तप । साध्या राजर्षिसंघाश्च धर्ममेतं समाश्रिताः । अप्रमत्तास्ततः स्वर्गं प्राप्ताः पुण्यैः स्वकर्मभिः ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि देवस्थानवाक्ये एकविंशतितमोऽध्यायः ॥ २१ ॥

चाहिये, अपनी प्रजाको धर्ममार्गके ऊपर ले जाकर धर्मानुसार वर्ताव करना चाहिये और वृद्धावस्थामें अपने पुत्रको राज्य दे वनमें जाकर वानप्रस्थाश्रम धारण करना चाहिये, वानप्रस्थाश्रममें रह, आलस्यको त्याग शास्त्रोक्त कर्म करने चाहियें, इस प्रकार वर्तने वाला राजा धर्म जाननेवाला कहाता है॥१२-१६॥ और उस धार्मिक राजाके यह लोक तथा परलोक दोनों लोक सुधरते हैं, बाकी मोक्ष पदार्थ तो अतीव दुष्प्राप्य है और बहुतसे विघ्नोंसे भराहुआ है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ १७ ॥ इस प्रकार धर्मका आचरण करनेवाले, सत्य दान और तपस्या करनेवाले, अहिंसा आदि गुणोंको धारण करने वाले, काम-क्रोध रहित, प्रजाका पालन करनेमें तत्पर रहनेवाले, उत्तम धर्मका अवलम्ब लेनेवाले, गौ और ब्राह्मणोंके लिये युद्ध करने वाले कितने ही राजे उत्तम गतिको प्राप्त हुए हैं॥ १८-१९॥ हे राजा युधिष्ठिर! इस प्रकार ग्यारह रुद्र, आठ वसु, बारह आदित्य, तथा साध्य नामक देवता तथा कितने ही राजे अहंकाररहित हो धर्माचरण कर स्वर्गमें गए हैं ॥ २० ॥ इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त ॥२१॥

वैशम्पायन उवाच । अस्मिन्नेवान्तरे वाक्यं पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत् । निर्विण्णमनसं ज्येष्ठमिदं भ्रातरमच्युतम् ॥१॥ क्षत्रधर्मेण धर्मज्ञ प्राप्य राज्यं सुदुर्लभम् । जित्वा चारीन्नरश्रेष्ठ तप्यते किं भृशं भवान् ॥ २ ॥ क्षत्रियाणां महाराज संग्रामे निधनं मतम् । विशिष्टं बहुभिर्यज्ञैः क्षत्रधर्ममनुस्मर ॥ ३ ॥ ब्राह्मणानां तपस्त्यागः प्रेत्य धर्मविधिः स्मृतः । क्षत्रियाणां च निधनं संग्रामे विहितं प्रभो ॥४॥ क्षात्रधर्मो महारौद्रः शस्त्रनित्य इति स्मृतः । वधश्च भरतश्रेष्ठ काले शस्त्रेण संयुगे ॥ ५ ॥ ब्राह्मणस्यापि चेद्राजन् क्षत्रधर्मेण वर्ततः । प्रशस्तं जीवितं लोके क्षत्रं हि ब्रह्म-

वैशम्पायन कहते हैं कि-हे जनमेजय! इसप्रकार देवस्थान ऋषिके व्याख्यानको सुनकर अर्जुनने खिन्न हुए ज्येष्ठ बन्धु युधिष्ठिरसे फिर कहा, कि-हे धर्मज्ञ राजन् युधिष्ठिर ! तुमने क्षत्रियधर्मसे मिलनेवाले राज्यको पाया है, इस बडी कठिनसे मिलनेवाले राज्यको पाकर शत्रुओंको जीतकर अतिदुःखित क्यों होते हो१-२ हे महाराज ! क्षत्रियोंका मरण रणमें हो, यह श्रेष्ठ बात है, और रणमें शत्रुओंका पराजय करके यदि राज्य मिलजाय तो नानाप्रकारके यज्ञ करे यह क्षत्रियोंका परम धर्म है अतः क्षात्र धर्मानुसार वर्त्ताव करो ॥ ३ ॥ तपश्चर्या करके संन्यास लेना, यह ब्राह्मणोंका परम धर्म है और इससे ही ब्राह्मणोंका श्रेय होता है और रणमें शत्रुओंके साथ युद्ध करके प्राण त्यागना, यह ही क्षत्रियोंका परम धर्म है ॥ ४ ॥ हे भरतवंशमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर ! क्षत्रियका धर्म बडा भयङ्कर है, ऐसा शास्त्रमें कहा है, परन्तु अवसर आने पर रणमें शस्त्रसे शत्रुओंका वध करना और समय आवे तो स्वयं भी युद्ध करके प्राण देदेना, यह क्षत्रिय का धर्म है) ॥५॥ हे राजन् ! कोई जातितः ब्राह्मण हो, तो भी यदि वह क्षत्रिय धर्मसे चलता हो तो लोकमें उसका जीवन स्तुति

संभवम् ॥६॥ न त्यागो न पुनर्यज्ञो न तपो मनुजेश्वर । क्षत्रियस्य विधीयन्ते न परस्वोपजीवनम् ॥ ७ ॥ स भवान् सर्वधर्मज्ञो धर्मात्मा भरतर्षभ । राजा मनीषी निपुणो लोके दृष्टपरावरः ॥८॥ त्यक्त्वा सन्तापजं शोकं दंशितो भव कर्मणि । क्षत्रियस्य विशेषेण हृदयं वज्रसंनिभम् ॥ ९ ॥ जित्वारीन् क्षत्रधर्मेण प्राप्य राज्यमकण्टकम् । विजितात्मा मनुष्येन्द्र यज्ञदानपरो भव ॥१०॥ इन्द्रो वै ब्रह्मणः पुत्रः क्षत्रियः कर्मणाभवत् । ज्ञातीनां पापवृत्तीनां जघान नवतीर्नव ॥ ११ ॥ तच्चास्य कर्म पूज्यं च प्रशस्यं च विशां पते । तेनेन्द्रत्वं समापेदे देवानामिति नः श्रुतम् ॥ १२ ॥

के योग्य माना जाता है, क्योंकि-क्षत्रियधर्म ब्राह्मण-धर्मसे ही उत्पन्न हुआ है॥६॥हे राजन् ! क्षत्रियको संन्यास लेना (किसी शास्त्रमें) नहीं कहा है, तैसे ही आत्मसमाधि लेना,वनमें वस कर तपश्चर्या करना अथवा दूसरेके धनसे आजीविका करना, ऐसा धर्म क्षत्रियके लिये (किसी भी शास्त्रमें) नहीं कहा है ॥ ७ ॥ तुम सकल धर्मोंको जानने वाले हो, धर्मात्मा हो,विद्वान् हो,पूर्वापरके इतिहासके ज्ञाता हो, राजा हो, तो भी तुम अपने धर्मको कैसे भूले जाते हो ?॥८॥तुम संसारके प्रवाहमें पड़गए हो,परन्तु सन्तापसे उत्पन्न हुए शोकको त्यागकर हृदयको कठोर बनाओ क्योंकि-विशेषतः क्षत्रियोंका हृदय तो वज्रकी समान होता है॥९॥ हे राजन् ! तुमने तो क्षात्र धर्मसे शत्रुओंको जीतकर शत्रुरहित राज्य पाया है, अतः अब मनको स्थिर करके यज्ञ, दान आदि कर्म करो और शोकको त्याग दो ॥ १० ॥ कश्यपका पुत्र इन्द्र जातिसे ब्राह्मण था, परन्तु क्षात्रियका कर्म करनेसे वह क्षत्रिय हुआ है, उसने पापकर्म करने वाली अपनी निन्यानवे जातियोंका संहार किया था ॥११॥ और हे राजन् ! इन्द्रने अपनी जातिका वध किया था उसके इस कर्मकी जगत्में स्तुति हुई है और वह

स त्वं यज्ञैर्महाराज यजस्व बहुदक्षिणैः। यथैवेंद्रो मनुष्येन्द्र चिराय विगतज्वरः ॥१३॥ मा त्वमेवं गते किञ्चिच्छोचेथाः क्षत्रियर्षभ। गतास्ते क्षत्रधर्मेण शस्त्रपूताः परां गतिम् ॥ १४ ॥ भवितव्यं तथा तच्च यद् वृत्तं भरतर्षभ। दिष्टं हि राजशार्दूल न शक्यमतिवर्तितुम् ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच। एवमुक्तस्तु कौंतेयो गुडाकेशेन पाण्डवः। नोवाच किंचित्कौरव्यस्ततो द्वैपायनोब्रवीत् ॥१॥ व्यास उवाच।

कर्म करनेसे देवताओंके राजा इन्द्रपदको प्राप्त हुआ है, ऐसा मेरे सुननेमेंआया है॥१२॥हे महाराज! इन्द्र जिसप्रकार स्वर्गका राजा हुआ है तैसे ही तुम भी शोकको त्यागकर मनुष्योंके इन्द्र बनो और जिनमें बहुतसी दक्षिणा दी जाती हैं ऐसे यज्ञोंसे देवताओंका यजन करो॥१३॥हे क्षत्रियकुल श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर! इस प्रकारसे प्राचीनकालसे चला आता है अतः तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये, रणमें मरना यह तो क्षत्रियका परमधर्म है और उस धर्मसे बहुतसे क्षत्रिय राजे हमारे सामने लडकर मारे तो गए हैं, परन्तु वह परमगतिको प्राप्त हुए हैं ॥ १४ ॥ हे राजन्! जो भावी है, वह तो हुआ ही करती है कोई भी अपने प्रारब्धका उल्लंघन नहीं कर सकता, अतः प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए राज्यका उपभोग करो।" इतना कहकर अर्जुन चुप होगया ॥ १५ ॥ बाईसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २२ ॥ छ छ छ

वैशम्पायन कहते हैं कि-हे राजा जनमेजय! इसप्रकार राजा युधिष्ठिरसे घुँघराले केश वाले अर्जुनने कहा, परन्तु युधिष्ठिरने उसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया, दो घडी सब मण्डली शांत रही, फिर ऋषिमण्डलमें बैठे हुए वेदव्यास विचार करके

वभीत्सोर्वचनं-सौम्य सत्यमेतद्युधिष्ठिर । शास्त्रदृष्टः परो धर्मः स्थितो गार्हस्थ्यमाश्रितः ॥ २ ॥ स्वधर्मं चर धर्मज्ञ यथाशास्त्रं यथाविधि । न हि गार्हस्थ्यमुत्सृज्य तवारण्यं विधीयते ॥ ३ ॥ गृहस्थं हि सदा देवाः पितरोतिथयस्तथा । भृत्याश्चैवोपजीवन्ति तान् भरस्व महीपते ॥४॥ वयांसि पशवश्चैव भूतानि च जनाधिप । गृहस्थैरेव धार्यन्ते तस्माच्छ्रेष्ठो गृहाश्रमी ॥ ५ ॥ सोयं चतुर्णामेतेषामाश्रमाणां दुराचरः । तं चराद्य विधिं पार्थ दुश्चरं दुर्बलेन्द्रियैः ॥ ६ ॥ वेद ज्ञानं च ते कृत्स्नं तपश्चाचरितं महत् ।

बोले ॥ १ ॥ व्यासजीने कहा कि-हे उदार राजा युधिष्ठिर ! अर्जुनका कहना सत्य है, गृहस्थाश्रमियोंके जो धर्म धर्मशास्त्रमें कहे हैं, वे ही अर्जुनने कहे हैं ॥ २ ॥ तुम सब कर्त्तव्य कर्मोंके ज्ञाता हो ! हे धर्मज्ञ ! शास्त्रमें जिस प्रकार कहा हो उसी प्रकार धर्माचरण करो, गृहस्थाश्रमीको अपने आश्रमका त्याग करके वनमें जाना किसी भी शास्त्रमें नहीं कहा है, और तुमको तो गृहस्थाश्रम त्याग वनमें जाना उचित भी नहीं है ॥ ३ ॥ हे महीपति ! देवता, पितर, अतिथि, सेवक, ये सब (अपने निर्वाहसाधनके लिये) नित्य गृहस्थाश्रमियोंके आधारसे जीते रहते हैं, तुम राज्यको स्वीकृत कर इन सबका भरण पोषण करो ॥४॥ हे राजन् ! पशु, पक्षी और मनुष्य-इसप्रकार प्राणिमात्र गृहस्थोंके ही आधारसे जीवित रहते हैं,अतः दूसरे आश्रमियोंसे गृहस्थाश्रमी अतीव श्रेष्ठ है ॥ ५ ॥ हे राजन् ! चारों आश्रमोंमें गृहस्थाश्रमके धर्म पालना, यह बडा कठिन है तथा लूले, लंगड़े तथा अंधे आदिसे भी धारण नहीं करा जासके ऐसा है इस आश्रमकी कठिन विधिका सेवन करो अर्थात् गृहस्थाश्रम में रह कर जितेंद्रिय बन गृहस्थाश्रमके योग्य यज्ञादि क्रियाएँ करो ६ तुम सम्पूर्ण वेदको जानते हो, पूर्वजन्ममें (तुमने) बड़ा भारी

पितृपैतामहं राज्यं धुर्यवद्वोढुमर्हसि ॥ ७ ॥ तपोयज्ञस्तथा विद्या भैक्ष्यमिन्द्रियसंयमः । ध्यानमेकान्तशीलत्वं तुष्टिर्ज्ञानं च शक्तितः८ ब्राह्मणानां महाराज चेष्टा संसिद्धिकारिका । क्षत्रियाणां तु वक्ष्यामि तत्रापि विदितं पुनः ॥ ९ ॥ यज्ञो विद्यासमुत्थानमसन्तोषः श्रियं प्रति । दण्डधारणमुग्रत्वं प्रजानां परिपालनम् १० वेदज्ञानन्तथा कृत्स्नन्तपः सुचरितन्तथा । द्रविणोपार्जनम्भूरि पात्रे च प्रतिपादनम् ॥ ११ ॥ एतानि राज्ञां कर्माणि सुकृतानि विशाम्पते । इमं लोकममुं चैव साधयन्तीति नः श्रुतम् ॥१२॥ एषां ज्यायस्तु कौन्तेय दण्डधारणमुच्यते । बलं हि क्षत्रिये नित्यं बले दण्डः समाहितः ॥ १३ ॥ एता विद्याः क्षत्रियाणां राजन् संसिद्धिकारिकाः । अपि गाथामिमां चापि बृहस्पतिरगायत १४

तप किया है, अतः अपने पिता, पितामह आदि परम्परासे प्राप्त हुए राज्यके भारको, बोझा ढोनेवाले बैलकी समान उठानेके योग्य हो।।७।हे महाराज ! तप, यज्ञ, आत्मज्ञान, भिक्षा,इन्द्रियों का संयम, ध्यान, एकान्तवास, सन्तोष, शास्त्रविचार, ये सब क्रियाएँ ब्राह्मणको सिद्धि देनेवाली हैं ये ब्राह्मणके धर्म हैं,क्षत्रिय के धर्म जिनको कि-तुम जानते हो उनको भी मैं तुमसे कहता हूँ ।।८-९।। यज्ञ करना, शस्त्रविद्याका अभ्यास रखना, शत्रुओं के ऊपर चढ़ाई करना, राज्यलक्ष्मी पानेमें असन्तोष रखना, दण्ड देना, उग्रता रखना, प्रजाका पालन करना, सम्पूर्ण वेद जानना, सदाचार पालनो, बहुतसो धन पानो और सुपात्रको दान देना,हे राजन् ! यह कर्म क्षत्रियोंको इसलोक तथा परलोक-सम्बन्धी कीर्ति देनेवाले कहे हैं ॥ १०-१२ ॥ हे राजन् ! इन सब धर्मोंमें दण्ड धारण करना ये श्रेष्ठ है, क्षत्रियोंमें बल होना चाहिये, क्योंकि-बलके आधारसे ही दण्ड रहता है ॥ १३ ॥ हे राजन् ! ये धर्म क्षत्रियोंको सिद्धि देनेवाले हैं, बृहस्पतिने इन्द्र

मूषिकेतौ निगिरति सर्पो बिलशयानिव । राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ।। १५ ।। सुद्युम्नश्चापि राजर्षिः श्रूयते दण्डधारणात् । प्राप्तवान्परमां सिद्धिं दक्षः प्राचेतसो यथा ।।१६।। युधिष्ठिर उवाच । भगवन्कर्मणा केन सुद्युम्नो वसुधाधिपः । संसिद्धिं परमां प्राप्तः श्रोतुमिच्छामि तं नृपम्।।१७।।व्यास उवाच । अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । शंखश्च लिखितश्चास्तां भ्रातरौ संशितव्रतौ ।। १८ तयोरावसथावास्तां रमणीयौ पृथक् पृथक् । नित्यमपुष्पफलैर्वृक्षैरुपेतौ बाहुदामनु ।। १९ ।। ततः

को भी इस ही धर्मका उपदेश दिया था ।।१४।। सर्प चूहेके बिल में घुसकर जैसे उसका भक्षण करलेता है,तैसे ही राजाको दूसरे राजाके राज्यमें प्रवेश करके उसकी समृद्धिका हरण करलेना चाहिये, जो राजा किसीके साथ विरोध नहीं करता है और जो ब्राह्मण घरमें बैठा रहता है उसको समृद्धि नहीं मिलती है।।१५।। और दण्ड देनेसे सुद्युम्न नामक राजर्षि परमसिद्धिको प्राप्त हुआ था, ऐसा हमने सुना है, तैसे ही प्रचेताका पुत्र दक्ष भी (दण्ड धारण करनेसे) परमसिद्धिको प्राप्त हुआ था ।। १६ ।। वेदव्यासका यह वचन सुनकर राजा युधिष्ठिर बोले कि-हे भगवन् ! राजर्षि सुद्युम्न किस कर्मसे परमसिद्धिको प्राप्त हुआ था? मुझे उसका वृत्तान्त सुननेकी इच्छा हुई है, अतः कृपा करके कहिये"।।१७।।राजा युधिष्ठिरकी बात सुनकर वेदव्यास सुद्युम्न राजाका चरित्र कहने लगे, व्यासजी बोले कि-हे राजन् ! मैं इस विषयमें तुमको एक प्राचीन इतिहास सुनाता हूँ,उसको तुम सुनो! पवित्र आचरणवाले शंख और लिखित नाम वाले दो भाई थे, वे बाहुदा नदीके तट पर पृथक्२आश्रमोंमें रहते थे,उनके आश्रम फल और पुष्पोंसे लदे हुए वृक्षोंके कारण सुन्दर प्रतीत होते थे ।। १८-१९ ।। एक समय शंख लिखितके आश्रममें अनायास

कदाचिल्लिखितः शंखस्याश्रममागतः । यदृच्छयाथ शंखोऽपि
निष्क्रान्तोऽभवदाश्रमात् ॥२०॥ सोऽपिगम्याश्रमं भ्रातुः शंखस्य
लिखितस्तदा । फलानि पातयामास सम्यक् परिणतान्युत २१
तान्युपादाय विश्रब्धो भक्षयामास स द्विजः । तस्मिंश्च भक्षय-
त्येव शंखोऽप्याश्रममागतः ॥ २२ ॥ भक्षयन्तन्तु तं दृष्ट्वा शंखो
भ्रातरमब्रवीत् । कुतः फलान्यवाप्तानि हेतुना केन खादसि २३
सोऽब्रवीद् भ्रातरं ज्येष्ठमुपस्पृत्याभिवाद्य च । इत एव गृहीतानि
मयेति प्रहसन्निव ॥ २४ ॥ तमब्रवीत्तथा शंखस्तीव्ररोषसमन्वितः।
स्तेयं त्वया कृतमिदं फलान्याददता स्वयम् ॥२५॥ गच्छ राजा-
नमासाद्य स्वकर्मकथयस्व वै । अदत्तादानमेवं हि कृतं पार्थिव-

ही जा पहुँचे,उस समय शंख अपने आश्रममेंसे बाहर गये थे।२०।
लिखितने अपने भाई शंखके आश्रममें प्रवेश किया और भाईकी
अनुपस्थितिमें(भूख लगी थी,इसलिये)वृक्षों परसे सुन्दर पके हुए
फल तोड़े।२१।।और वृक्षके नीचे बैठकर,निःशंक हो,यह फल मेरे
हैं ऐसा निश्चय करके उन फलोंको खाने लगे,वह फलाहार करते थे
कि-इतनेमें ही बाहर गए हुए शंख आश्रममें आ पहुँचे२२ और
अपने भाई लिखितको फलोंको खाते देखकर बोले कि—हे भाई !
तूने ये फल कहाँसे लिये हैं और इनको किस लिये खारहा है?"२३
शंखका वचन सुनकर वह एक दम बड़े भाईके पास पहुँचा
और उसको प्रणामकर हँसकर बोला कि-मैंने उस वृक्षपरसे ये
फल लिये हैं ! ॥ २४ ॥ लिखितकी बात सुन शंखके मनमें बड़ा
क्रोध आया और वह अपने छोटे भाई लिखितसे कहने लगा कि—
"किसीसे बिना बूझे तूने अपने आप वृक्षके ऊपरसे फल लिये हैं,
अतः तूने चोरी की है !" ॥ २५ ॥ तदनन्तर शंख अपने छोटे
भाई लिखितसे कहने लगा कि—तू यहाँसे राजाके पास जा और
कह कि—मैंने किसीके दिये बिना फल लिये हैं अतः मैं चोर हूँ

सत्तम ॥ २६ ॥ स्तेनं मां त्वं विदित्वा च स्वधर्ममनुपालय । शीघ्रं धारय चौरस्य मम दण्डं नराधिप ॥ २७ ॥ इत्युक्तस्तस्य वचनात्सुद्युम्नं स नराधिपम् । अभ्यगच्छन्महाबाहो लिखितः संशितव्रतः ॥ २८ ॥ सुद्युम्नस्त्वन्तपालेभ्यः श्रुत्वा लिखितमागतम् । अभ्यगच्छत्सहामात्यः पद्भ्यामेव जनेश्वरः ॥ २६ ॥ तमब्रवीत्समागम्य स राजा धर्मवित्तमम् । किमागमनमाचक्ष्व भगवन् कृतमेव तत् ॥ ३० ॥ एवमुक्तः स विप्रर्षिः सुद्युम्नमिदमब्रवीत् । प्रतिश्रुत्य करिष्येति श्रुत्वा तत्कर्तुमर्हसि ॥ ३१ ॥ अनिसृष्टानि गुरुणा फलानि मनुजर्षभ । भक्षितानि महाराज तत्र मां

तुम धर्मानुसार जिस प्रकार चोरको दण्ड देते हो उसी प्रकार मुझे दण्ड दो, क्योंकि-मैं दण्डका पात्र हूँ ॥२६-२८॥ हे राजन् ! तब कठिन व्रतधारी लिखित राजा सुद्युम्नके पास किस प्रकार गया था उसको तुम सुनो । ज्येष्ठबन्धु शंखने आज्ञा दी तब उसकी आज्ञाको शिर पर चढ़ा कर वह राजा सुद्युम्नकी राजधानीकी ओर गया, राजमन्दिरके पास आकर उसने द्वारपालोंसे कहा कि-" तुम राजासे कहो कि-लिखित नामका ब्राह्मण आपसे मिलने आया है द्वारपालोंने राजाके पास जाकर कहा कि-लिखित नामक ब्राह्मण आया है और द्वार पर आपसे मिलनेके लिये खडा है," द्वारपालकी बात सुन राजा सुद्युम्न तुरत ही मंत्रियोंके साथ पैदल चल कर लिखितके पास आया ॥ २६ ॥ और धर्मज्ञ लिखितके सामने दोनों हाथ जोड कर बोला कि-"हे भगवन् ! आप यहाँ किस लिये पधारे हैं?" ॥३०॥ राजा सुद्युम्नके वचन सुनकर लिखित ऋषि बोले कि-" हे राजन् ! मैं तुमसे जो कहता हूँ, उसको सुनकर तुम्हें उसी प्रकार करना योग्य है ॥ ३१ ॥ हे मनुष्योंमें श्रेष्ठ राजन् ! बड़े भाईकी आज्ञाके विना उनके आश्रममेंसे मैंने फल

शाधि मा चिरम् ॥३२॥ सुद्युम्न उवाच। प्रमाणं चेन्मतो राजा भवता दण्डधारणे। अनुज्ञायामपि तथा हेतुः स्याद् ब्राह्मणर्षभ ३३ स भवानभ्यनुज्ञातः शुचिकर्मा महाव्रतः। ब्रूहि कामानतोऽन्यांस्त्वं करिष्यामि हि ते वचः॥३४॥ व्यास उवाच। संछंद्यमानो ब्रह्मर्षिः पार्थिवेन महात्मना। नान्यं स वरयामास तस्माद् दण्डादृते वरम् ३५ ततः स पृथिवीपालो लिखितस्य महात्मनः। करौ प्रच्छेदयामास धृतदण्डो जगाम सः॥ ३६ ॥ स गत्वा भ्रातरं शङ्खमार्तरूपोऽब्रवीदिदम्। धृतदण्डस्य दुर्बुद्धे भवांस्तत्क्षन्तुमर्हति॥ ३७ ॥ शङ्ख

तोड़े हैं और खाये भी हैं, इस कारण मैं चोर होगया हूँ, अतः आप मुझै चोरका दण्ड दीजिये, विलम्ब मत करिये" ॥३२॥ लिखितका वचन सुनकर राजा सुद्युम्न बोला कि-"हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ! तुम जिस प्रकार दण्ड देनेमें राजाके वचनको प्रमाण मानते हो, तिसी प्रकार अनुग्रहवचनको भी मानो अर्थात् मैं तुमको क्षमा करता हूँ, आप पधारिये ॥ ३३ ॥ तुम मेरे वचनसे चोरीके अपराधसे छूट गए, दण्डके अतिरिक्त जिस कार्यकी आप आज्ञा देंगे, मैं उसको करनेके लिये उद्यत हूँ ॥३४॥ वेदव्यासने कहा कि-हे राजा युधिष्ठिर! इस प्रकार राजा सुद्युम्नने ऋषिके अपराधको क्षमा किया, परन्तु सुद्युम्न का वचन सुनकर लिखित फिर बोला कि-" हे राजन्! मैं दूसरी कोई वस्तु भी नहीं माँगता हूँ, मुझै जो दंड देना उचित हो, वह दो, यह ही मेरी माँग है"।३५॥ जब राजाने लिखितका बड़ा आग्रह देखा, तब उसने चोरीके अपराधके लिये लिखितके दोनों हाथ काट लिये, तदनन्तर लिखित तहाँसे आश्रमकी ओर गया और राजा अपने राजमहलकी ओर गया ॥३६॥ लिखित अपने बड़े भाईके पास पहुँचा और दुःखी होकर बोला कि-मुझ दुर्बुद्धिको दंड मिल गया है, अब तुम मुझै क्षमा करो ॥ ३७ ॥

उवाच। न कुप्ये तव धर्मज्ञ न त्वं दूषयसे मम। धर्मस्ते तु व्यतिक्रान्तस्ततस्ते निष्कृतिः कृता॥ ३८॥ त्वं गत्वा बाहुदां शीघ्रं तर्पयस्व यथाविधि। देवानृषींश्च पितॄंश्च मा चाधर्मे मनः कृथाः॥३९॥ तस्य तद्वचनं श्रुत्वा शङ्खस्य लिखितस्तदा। अवगाह्यापगां पुण्यामुदकार्थं प्रचक्रमे॥ ४०॥ प्रादुरास्तां ततस्तस्य करौ जलजसन्निभौ। ततः स विस्मितो भ्रातुर्दर्शयामास तौ करौ॥ ४१॥ ततस्तमब्रवीच्छङ्खस्तपसेदं कृतं मया। मा च तेऽत्र विशङ्काऽभूद्दैवमत्र विधीयते॥ ४२॥ लिखित उवाच। किं नु नाहं त्वया पूतः पूर्वमेव महाद्युते। यस्य ते तपसो वीर्यमीदृशं द्विजसत्तम॥ ४३॥

छोटे भाईका वचन सुनकर शंख बोला कि-" मैं तेरे ऊपर जरा क्रोधित नहीं हुआ था और मैंने तुझे दोष भी नहीं लगाया था, परन्तु हे धर्मज्ञ!तूने धर्मका उल्लंघन किया था, उसका तुझको दंड मिला है!॥ ३८॥ परन्तु अब हे भाई! इस आश्रमके समीपमें बाहुदा नदी है,तू वहाँ जाकर देवता,पितर और ऋषियोंका यजन कर और आगेको अधर्ममें मन जरा भी न लगाना३९ शङ्खका वचन सुनकर लिखित तहाँसे चला और पवित्र बाहुदा नदीमें स्नान करके जैसे उसने जल लेनेकी इच्छाकी कि-कमल सरीखे उसके स्थाणुमेंसे नये हाथ फूट निकले! नए हाथोंको उगेहुए देखकर लिखित विस्मित होगया और अपने बडे भाईको हाथ दिखानेके लिये चला॥ ४०-४१ ॥ वह शंखके पास पहुँच कर बोला कि-" हे भाई! मेरे यह नये हाथ उग आये हैं नये हाथोंको देख कर शंख बोला कि-" हे भाई!इसमें शङ्का करनेकी कोई बात नहीं है, मैंने तपके प्रभावसे तेरे नये हाथ बना दिये हैं और इसमें दैव ही कारण है "।॥ ४२॥ लिखित बोला कि-हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! बड़े भाई! तुममें जब ऐसा तपका प्रभाव था तो तुमने मुझे पहिले ही पवित्र क्यों

शंख उवाच । एवमेतन्मया कार्यं नाऽहं दण्डधरस्तव । स च पूतो नरपतिस्त्वञ्चापि पितृभिः सह ॥ ४४ ॥ व्यास उवाच । स राजा पाण्डवश्रेष्ठ श्रेयान् वै तेन कर्मणा । प्राप्तवान् परमां सिद्धिं दत्तः प्राचेतसो यथा ॥४५॥ एष धर्मः क्षत्रियाणां प्रजानां परिपालनम् । उत्पथोऽन्यो महाराज मा स्म शोके मनः कृथाः॥४६ भ्रातुरस्य हितं वाक्यं शृणु धर्मज्ञसत्तम । दण्ड एव हि राजेन्द्र क्षत्रधर्मो न मुण्डनम् ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्ये त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच । पुनरेव महर्षिस्तं कृष्णद्वैपायनो मुनिः ।

नहीं किया था ? ॥ ४३ ॥ शंख बोला कि-"तेरा कहना यथार्थ है ! परन्तु मुझे दण्ड देनेका अधिकार नहीं है, वह अधिकार राजाको है, तुझको दण्ड देकर राजा अपने ऋणमेंसे मुक्त हुआ है और तू पितरों सहित पवित्र हुआ है" ॥ ४४ ॥ वेदव्यास कहते हैं कि-हे पाण्डपुत्र राजा युधिष्ठिर ! इस प्रकार सुद्युम्न लिखितको उचित दण्ड देनेसे पापमेंसे मुक्त होकर परम गतिको प्राप्त हुआ था, प्रचेताका पुत्र दक्ष भी इसी प्रकार परम सिद्धिको प्राप्त हुआ था ४५ अतः हे महाराज ! प्रजाका पालन करना यह क्षत्रियोंका परम धर्म है, और इसके अतिरिक्त धर्म उन्मार्ग कहलाता है तुम शोकको त्याग कर प्रजाका पालन करो और अपने भाई अर्जुनका हितकारक वचन सुनो ! तुम धर्मको जाननेवाले हो, हे राजेन्द्र ! क्षत्रियका यह ही धर्म है कि-दुष्टोंको दण्ड देना, शिष्टोंके ऊपर अनुग्रह करके प्रजाका पालन करना, परन्तु मुण्डन कराना-संन्यासी बनना-यह क्षत्रियका धर्म नहीं है ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ तेईसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २३ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि- हे राजा जनमेजय ! कृष्णद्वैपायन

अजातशत्रुं कौन्तेयमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥ अरण्ये वसतां तात भ्रातृणां ते मनस्विनाम्। मनोरथा महाराज ये तत्रासन् युधिष्ठिर ॥ २ ॥ तानि ते भरतश्रेष्ठ प्राप्नुवन्तु महारथाः । प्रशाधि पार्थ पृथिवीं ययातिरिव नाहुषः॥ ३॥ अरण्ये दुःखवसतिरनुभूता तपस्विभिः । दुःखस्यान्ते नरव्याघ्र सुखान्यनुभवन्तु वै ॥ ४ ॥ धर्ममर्थञ्च कामञ्च भ्रातृभिः सह भारत। अनुभूय ततः पश्चात्प्रस्थातासि विशाम्पते॥५॥अर्थिनाञ्च पितॄणाञ्च देवतानाञ्च भारत। आनृण्यं गच्छ कौन्तेय ततस्वर्गञ्च करिष्यति ॥ ६ ॥ सर्वमेधाश्वमेधाभ्यां यजस्व कुरुनन्दन। ततः पश्चान्महाराज गमिष्यसि परां गतिम् ॥ ७ ॥ भ्रातॄंश्च सर्वान् क्रतुभिः संयोज्य बहुदक्षिणैः। सम्प्राप्तः कीर्त्तिमतुलां पाण्डवेय भविष्यसि ॥ ८ ॥ विघ्नस्ते

वेदव्यासजी फिर कुन्तीपुत्र अजातशत्रु युधिष्ठिरसे कहने लगे कि—॥ १ ॥ "हे राजा युधिष्ठिर! वनमें वसते हुए तुम्हारे महारथी और मनस्वी भाइयोंने जो मनोरथ किये थे उन मनोरथोंको अब तुम पूरा करो,और नहुषका पुत्र राजा ययाति जिस प्रकार पृथ्वीका पालन कर गया है, तैसे ही तुम भी शोकको त्यागकर पृथ्वीका पालन करो ॥ २–३ ॥ हे नरव्याघ्र! तुम्हारे भाइयोंने वनमें तपस्वियोंका वेप धारण करके जो दुःखका अनुभव किया था,उस दुःखका अब अन्त आगया है और अब वे सुखका अनुभव करें ॥ ४ ॥ हे राजन्! धर्म, अर्थ, काम इन सबका तुम अपने भाइयोंके साथ उपभोग करके,फिर सुखसे वनमें जाना॥५॥ परन्तु अभी तो तुम्हारे ऊपर ऋण है, देव, पितर और अतिथि-इनके ऋणमेंसे उऋण होनेके अनन्तर वनमें जाना ॥ ६ ॥ हे कुरुराज! तुम सर्वमेध और अश्वमेध यज्ञसे देवताओंका यजन करो, यजन करनेसे तुम्हारा स्वर्गमें वास होगा ॥७॥ तुम अपने भाइयोंके साथ बहुतसी दक्षिणा वाले यज्ञ करोगे तो तुम्हारी

पुरुषव्याघ्र वचनं कुरुसत्तम । शृणुष्वैवं यथा कुर्वन्न धर्माच्च्यवसे नृप॥९॥आददानस्य विजयं विग्रहश्च युधिष्ठिर । समानधर्मकुशलाः स्थापयन्ति नरेश्वर॥१०॥देशकालप्रतीक्षी यो दस्यून्मर्षयते नृपः। शास्त्रजां बुद्धिमास्थाय युज्यते नैनसा हि सः॥ ११ ॥ आदाय बलिषड्भागं यो राष्ट्रं नाभिरक्षति । प्रतिगृह्णाति तत्पापं चतुर्थांशेन भूमिपः॥१२॥ निबोध च यथा तिष्ठन् धर्मान्न च्यवते नृपः । विग्रहाद्धर्मशास्त्राणामनुरुध्यन्नपेतभीः ॥ १३ ॥ कामक्रोधावनादृत्य पितेव समदर्शनः । शास्त्रजां बुद्धिमास्थाय युज्यते नैनसा

बडी भारी कीर्ति होगी ॥ ८ ॥ हे पुरुषव्याघ्र ! हे कुरुवंशश्रेष्ठ ! तुमने प्रथम कहा कि-क्षत्रियका धर्म हिंसा-प्रधान है, इससे मुझको वह रुचता नहीं है, तुम्हारा यह कहना मुझे याद है तो भी जिससे तुम धर्मभ्रष्ट न हो ऐसा उपदेश मैं तुम्हें देता हूँ उसको तुम सुनो ॥ ९ ॥ हे राजन् युधिष्ठिर ! जो दूसरेका धन हरण करते हैं वे चोर राजाओंको युद्ध करनेकी और अपना पराजय करानेकी इच्छा उत्पन्न कराते हैं ॥१०॥ जो राजा शास्त्रश्रवण से बुद्धिका आश्रय करके,देश तथा कालकी प्रतीक्षा करके चोरों के ऊपर क्षमा करता है, उस राजाको पाप नहीं लगता है।११। परन्तु जो राजा प्रजाके पाससे अपना छठा भाग लेता है और प्रजाकी रक्षा नहीं करता है,वह राजा प्रजाके एक चतुर्थांश पापका भागी होता है ॥ १२ ॥ हे युधिष्ठिर ! जो राजा धर्मशास्त्रके अनुसार वर्त्ताव करता है, वह धर्मभ्रष्ट नहीं होता है, परन्तु जो शास्त्रमें कहे अनुसार वर्तता नहीं है वह धर्मभ्रष्ट हो जाता है,धर्मका अनुसरण करनेवाला तो निर्भय ही रहता है१३ जो राजा काम, क्रोधका त्याग करके शास्त्रश्रवणसे उत्पन्न हुई बुद्धिका आश्रय करके पिताकी समान प्रजाके ऊपर समदृष्टि रखता है, वह पापका भागी नहीं होता है ॥१४॥ क्योंकि-

हि सः ॥ १४ ॥ दैवेनाभ्याहतो राजा कर्मकाले महाद्युते । न साधयति यत्कर्म न तत्राहरति कमम् ॥ १५ ॥ तरसा बुद्धिपूर्वं वा निग्राह्या एव शत्रवः । पापैः सह न सन्दध्याद्राज्यं पुण्यञ्च कारयेत् ॥ १६ ॥ शूराश्चार्याश्च सत्कार्या विद्वांसश्च युधिष्ठिर । गोमिनो धनिनश्चैव परिपाल्या विशेषतः ॥ १७ ॥ व्यवहारेषु धर्मेषु योक्तव्याश्च बहुश्रुताः । गुणयुक्तेऽपि नैकस्मिन् विश्वसेत विचक्षणः ॥ १८ ॥ अरक्षिता दुर्विनीतो मानी स्तब्धोऽभ्यसूयकः । एनसा युज्यते राजा दुर्दान्त इति चोच्यते ॥ १९ ॥ ये रक्ष्यमाणा हीयन्ते दैवेनाभ्याहता नृप । तस्करैश्चापि हीयन्ते

हे महाकान्तिवाले राजन् ! पुरुष अमुक कार्यका आरम्भ करे उस समय दैव विघ्न डालकर उसके कार्यका नाश कर डाले, तो विद्वान् उसमें कार्यकर्त्ताका दोष नहीं गिनते हैं,(परन्तु प्रारब्धाधीन बताते हैं) ॥ १५ ॥ राजाको बलसे अथवा बुद्धिसे शत्रुओं को वशमें करना चाहिये, उसे पापियोंके साथ मेल नहीं रखना चाहिये,उसे अपने राज्यमें पुण्यके कर्म करने और कराने चाहिये ॥१६॥ और हे युधिष्ठिर ! शूर पुरुषोंको, सत्कर्म करनेवाले आर्यपुरुषोंकी, धर्मनिष्ठ विद्वान् ब्राह्मणोंकी और बहुतसे गौ बैलवाले धनाढ्य वैश्योंकी प्रयत्नसे रक्षा करनी चाहिये।१७। बहुश्रुत विद्वानोंको न्याय तथा धर्मके कार्योंमें लगाना चाहिये, परन्तु विचक्षण तथा बहुश्रुत एक ही गुणी मनुष्यके ऊपर विश्वास नहीं रखना चाहिए ॥१८॥ जो राजा प्रजाका पालन न करता हो, जिसके विकार उसके वशमें न हों, विनयी न हो, अतिमिथ्याभिमानी हो, मान्य पुरुषोंका अपमान करता हो, गुण के ऊपर दोषदृष्टि रखनेवाला हो,वह राजा पापी होता है और मनुष्य उसको दुर्दान्त (जालिम) कहते हैं ॥ १९ ॥ हे राजन् ! जो राजा देशमें प्रजाकी रक्षा न करता हो,

सर्वं तद्राजकिल्विषम् ॥ २० ॥ सुमन्त्रिते सुनीते च सर्वतश्चोपपादिते । पौरुषे कर्मणि कृते नास्त्यधर्मो युधिष्ठिर ॥ २१ विच्छिद्यन्ते समारब्धाः सिद्ध्यन्ते चापि दैवतः । कृते पुरुषकारे तु नैनः स्पृशति पार्थिवम् ॥ २२ ॥ अत्र ते राजशार्दूल वर्त्तयिष्ये कथामिमाम् । यद्वृत्तं पूर्वराजर्षेर्हयग्रीवस्य पाण्डव ॥ २३ ॥ शत्रून् हत्वा हतस्याजौ शूरस्याक्लिष्टकर्मणः । असहायस्य संग्रामे निर्जितस्य युधिष्ठिर ॥ २४ ॥ यत्कर्म वै निग्रहे शात्रवाणां योगश्चाग्र्यः पालने मानवानाम् । कृत्वा कर्म प्राप्य कीर्तिं स युद्धाद्वाजिग्रीवो मोदते स्वर्गलोके ॥ २५ ॥ सन्त्यक्तात्मा समरेष्वाततायी शस्त्रै-

जिसकी प्रजा अति वृष्टि आदि दुष्कालसे पीड़ा पाती हो और चोर प्रजाको पीड़ा देते हों, उस देशकी प्रजाका सब पाप राजाको भोगना पडता है ॥ २० ॥ परन्तु हे युधिष्ठिर! विचार नीति आदिकी सहायतासे पुरुपार्थ करने पर भी, यदि राजा प्रजाकी रक्षा न करसके तो उसको पाप नहीं लगता है २१ आरम्भ किये हुए काम दैवयोगसे सिद्ध होते हैं अथवा नष्ट होजाते हैं परन्तु पुरुषार्थ करनेसे राजा पापका भागी नहीं होता है ॥ २२ ॥ हे राजसिंह! इस विषयमें मैं तुझसे प्राचीनकालके राजर्षि हयग्रीवका इतिहास कहता हूँ, उसको तू सुन ॥ २३ ॥ राजा हयग्रीव शूर और उत्तम कर्म करने वाला था, उसने रणमें शत्रुओंका संहार किया था, पीछेसे वह सहायकरहित होगया तब शत्रुओंने संग्राममें जीत कर उसको मार डाला २४ शत्रुओंको दण्ड देनेमें और प्रजाओंका पालन करनेमें राजा हयग्रीवका आचरण प्रशंसनीय था, जो कर्म करने योग्य थे, उन कर्मोंको करके उसने युद्धमें कीर्ति पाई थी शत्रुके हाथसे मरण पाकर अब वह स्वर्गलोकमें आनन्द करता है।२५।महात्मा हयग्रीव अहंकार-रहित था, उसने कर्मसे अपने कार्यको सिद्ध किया था, वह कर्म-

श्छिन्नो दस्युभिर्वध्यमानः । अश्वग्रीवः कर्मशीलो महात्मा संसिद्धार्थो मोदते स्वर्गलोके ॥ २६ ॥ धनुर्यूपो रशना ज्या शरः स्रुक् स्रुवः खड्गो रुधिरं यत्र चाज्यम् । रथो वेदी कामजो युद्धमग्निश्चातुर्होत्रं चतुरो वाजिमुख्याः ॥ २७ ॥ हुत्वा तस्मिन् क्रोधवन्हावथारीन् पापान्मुक्तो राजसिंहस्तरस्वी। प्राणान् हुत्वा चावभृथे रणे स वाजिग्रीवो मोदते स्वर्गलोके ॥ २८ ॥ राष्ट्रं रक्षन् बुद्धिपूर्वं नयेन संत्यक्तात्मा यज्ञशीलो महात्मा । सर्वाँल्लोकान् व्याप्य कीर्त्या मनस्वी वाजिग्रीवो मोदते स्वर्गलोके ॥ २९ ॥ दैवीं सिद्धिं मानुषीं दण्डनीतिं योगन्यासैः पालयित्वा महीञ्च ।

शील था दस्युओंने रणमें उस आततायी राजाको घेर लिया और शस्त्रोंसे उसको छिन्न भिन्न करके मार डाला था वह राजा हयग्रीव अब स्वर्गमें आनन्द करता है ॥ २६ ॥ महाबली राजसिंह हयग्रीव युद्धरूपी अग्निकुण्डमें शत्रुओंका होम करके पापमेंसे मुक्त हुआ था और अन्तमें अवभृथ स्थानके समय रणमें अपने प्राणोंका होम करके स्वर्गमें आनन्द करता है, उस राजाके रणयज्ञमें धनुषरूपी यूप था, प्रत्यञ्चारूप रशना (पशुको बाँधनेकी डोरी) थी, बाणरूप स्रुक् था, तलवाररूपी स्रुवा था, रुधिररूपी घी था, रथरूपी वेदी थी, क्रोधरूपी अग्नि था और चार घोडोंरूपी चार उद्गाता आदि थे ॥ २७-२८ ॥ महात्मा राजा हयग्रीव यज्ञशील था, निरभिमानी-तन मन से अहन्ताका त्यागी था-बुद्धिमान् था, वह बुद्धिपूर्वक न्यायसे प्रजाकी रक्षा करता था, उसकी कीर्ति सब लोकोंमें छारही थी, ऐसा वह राजा रणमें मरण पानेके पीछे अब स्वर्गमें आनन्द करता है ॥२९ ॥ राजा हयग्रीवने यज्ञ आदि क्रियासे दैवी सिद्धि सम्पादन करके दण्ड तथा नीति जिसमें प्रधान है ऐसी मानुषी सिद्धि सम्पादन की थी और धर्मशास्त्रके अनेक नियमोंसे

तस्माद्राजा धर्मशीलो महात्मा वाजिग्रीवो मोदते स्वर्गलोके ३०
विद्वांस्त्यागी श्रद्धानः कृतज्ञस्त्यक्त्वा लोकं मानुषं कर्म कृत्वा ।
मेधाविनां विदुषां संमतानां तनुत्यजां लोकमाक्रम्य राजा ॥३१॥
सम्यग्वेदान्प्राप्य शास्त्राण्यधीत्य सम्यग्राज्यं पालयित्वा महात्मा॥
चातुर्वर्ण्यं स्थापयित्वा स्वधर्मे वाजिग्रीवो मोदते स्वर्गलोके ३२
जित्वा संग्रामान् पालयित्वा प्रजाश्च सोमं पीत्वा तर्पयित्वा
द्विजाग्र्यान् । युक्त्या दण्डं धारयित्वा प्रजानां युद्धे क्षीणो
मोदते देवलोके ॥ ३३ ॥ वृत्तं यस्य श्लाघनीयं मनुष्या सन्तो
विद्वांसोर्हयन्त्यर्हणीयम् । स्वर्गं जित्वा वीरलोकानवाप्य सिद्धिं
प्राप्तः पुण्यकीर्त्तिर्महात्मा ॥३४॥ चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥२४॥

पृथिवीका पालन किया था, इन कारणोंसे धर्मात्मा राजा हयग्रीव अब स्वर्गलोकमें आनन्द करता है ॥ ३० ॥ वह राजा शास्त्रवेत्ता, दाता, श्रद्धालु और कृतज्ञ था, वह राजा इस जगत्में उत्तम कर्म करके, मनुष्य लोकोंको त्यागकर बुद्धिमान् विद्वान्, प्रयागादिमें देह त्यागने वाले महात्मा पुरुषोंके लोकोंमें अब भी आनन्द करता है ॥ ३१ ॥ महात्मा राजा हयग्रीव भली प्रकार वेद और शास्त्रोंको पढा हुआ था, उसने प्रजा का पालन किया था, उसने चारों वर्णोंकी प्रजाको अपने २ धर्ममें स्थापित किया था और वह अब देवलोकमें आनंद करता है ॥ ३२ ॥ राजा हयग्रीवने सोमयज्ञ करके उत्तम ब्राह्मणोंको सन्तुष्ट किया था, युद्धमें वैरियोंका पराजय करके प्रजाका पालन किया था योग्यताके अनुसार प्रजाको शिक्षा दी थी और युद्धमें मरण पाकर वह स्वर्गलोकमें आनन्द करता है ॥ ३३ ॥ महात्मा राजा हयग्रीवके पूज्य और प्रशंसापात्र सदाचारकी विद्वान् मनुष्य प्रशंसा करते हैं, वह पवित्र कीर्तिवाला महात्मा राजा स्वर्गका विजय करके वीर पुरुषोंके लोकमें गया था और उसने सिद्धि प्राप्त की थी ॥ ३४ ॥ चौबीसवाँ अध्याय समाप्त ॥२४॥

वैशम्पायन उवाच । द्वैपायनवचः श्रुत्वा कुपिते च धनञ्जये । व्यासमामन्त्र्य कौन्तेयः प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ॥ १ ॥ युधिष्ठिर उवाच । न पार्थिवमिदं राज्यं न भोगाश्च पृथग्विधाः । प्रीणयन्ति मनो मेऽद्य शोको मां रुन्धयत्ययम् ॥ २ ॥ श्रुत्वा वीरविहीनानामपुत्राणाञ्च योषिताम् । परिदेवयमानानां शान्तिं नोपलभे मुने ॥३॥ इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं व्यासो योगविदां वरः । युधिष्ठिरं महाप्राज्ञो धर्मज्ञो वेदपारगः ॥ ४ ॥ व्यास उवाच । न कर्मणा लभ्यते चेज्यया वा नाप्यस्ति दाता पुरुषस्य कश्चित् । पर्याययोगाद्विहितं विधात्रा कालेन सर्वं लभते मनुष्यः ॥ ५ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि–हे जनमेजय ! व्यास मुनिकी बात सुनकर और अर्जुनको क्रोधमें भराहुआ देखकर राजा युधिष्ठिर वेदव्यासजीकी ओरको देखते हुए कहने लगे ॥ १ ॥ युधिष्ठिर बोले, कि–हे मुने ! इस पृथ्वीका राज्य और भाँतिर के भोग मेरे हृदयको अब आनन्द नहीं देते, संबन्धियोंके मरणका मर्मभेदी शोक मेरे हृदयको काटे खाता है ॥ २ ॥ वीर पति और वीर पुत्रोंसे हीन हुई स्त्रियोंके शोकके विलापको सुनकर (मैं घबड़ा रहा हूँ और) मुझे शान्ति नहीं मिलती ॥३॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि–राजा युधिष्ठिरके ऐसा कहने पर महाबुद्धिमान्, धर्मके ज्ञाता और वेदके पारगामी योगिवर्य वेदव्यासजी युधिष्ठिरसे कहने लगे ॥ ४ ॥ व्यासजीने कहा, कि–हे राजा युधिष्ठिर ! (जिन स्त्रियोंके वीर पति और पुत्र मारगए हैं) वे अब उनको किसी कर्मसे यज्ञादिसे या पूजनसे नहीं मिल सकते, कोई पुरुष भी उनको उनके मरे हुए पति (या पुत्र) लाकर नहीं देसकता, विधाताने पदार्थोंकी ऐसी रचना की है, कि–मनुष्यमात्र समय पर ही उन वस्तुओंको पासकता है, विना समयके नहीं पासकता, उनके पतियोंके मिलनेका समय बीत गया (यदि पतियोंके साथ

न बुद्धिशास्त्राध्ययनेन शक्यं प्राप्तुं विशेषं मनुजैरकाले । मूर्खोऽपि चाप्नोति कदाचिदर्थान् कालो हि कार्यं प्रतिनिर्दिशेषः ॥ ६ ॥ नाभूतिकालेषु फलं ददन्ति शिल्पानि मन्त्राश्च तथौषधानि । तान्येव कालेन समाहितानि सिद्ध्यन्ति वर्धन्ति च भूतिकाले ॥ ७ ॥ कालेन शीघ्राः प्रवहन्ति वाताः कालेन वृष्टिर्जलदानुपैति । कालेन पद्मोत्पलवज्जलञ्च कालेन पुष्यन्ति वनेषु वृक्षाः ॥ ८ ॥ कालेन कृष्णाश्च सिताश्च रात्र्यः कालेन चन्द्रः परिपूर्णबिम्बः । नाकालतः पुष्पफलं द्रुमाणां नाकालवेगाः सरितो वहन्ति ॥ ९ ॥ नाकालमत्ताः खगपन्नगाश्च मृगद्विपाः शैलमृगाश्च लोके । नाकालतः स्त्रीषु भवन्ति गर्भा नायान्त्यकाले शिशिरोष्णवर्षाः ॥ १० ॥ नाकालतो म्रियते जायते वा नाका-

---

सती होगई होतीं तो ही मिलते) ॥५॥ मनुष्य बुद्धिसे या शास्त्र को पढ़नेसे भाग्यके लेखसे अधिक वस्तु बिना समयके नहीं पासकता और समय आने पर मूर्ख मनुष्य भी विशेष वस्तुको पाजाता है, कार्यकी सिद्धि समय हीं करसकता है ॥ ६ ॥ शिल्प (कारीगरी) मंत्र और औषधियें दुर्भाग्यके समय फल नहीं देते हैं अच्छा समय आने पर ही वृद्धि करने वाला फल देते हैं ॥ ७ ॥ समय पर वायु वेगसे चलता है, समय पर मेघ जल बरसाता है, सरोवर भी समय पर कमल और उत्पलोंसे भरजाते हैं वनमें वृक्ष भी समय पर पुष्पित होते हैं ॥ ८ ॥ समय पर शुक्लपक्ष और कृष्णपक्षकी रात्रियें होती हैं, समय आता हैं तब चन्द्रका बिंब भी पूरा होता है, समयके बिना वृक्षोंमें फल फूल नहीं आते हैं, तैसे ही समयके बिना नदियोंका प्रवाह भी वेगसे नहीं बहता है ॥९॥ पक्षी, सर्प, मृग, हाथी, हिरन समयके बिना समागमके लिये मदमस्त नहीं होते हैं, समयके बिना स्त्रियें गर्भ धारण नहीं करती हैं, समयके बिना शिशिर उष्ण और वर्षा

लतो व्याहरते च बालः । नाकालतो यौवनमभ्युपैति नाकालतो रोहति बीजमुप्तम् ॥ ११ ॥ नाकालतो भानुरुपैति योगं नाकालतोऽस्तङ्गिरिमभ्युपैति । नाकालतो वर्धते हीयते च चन्द्रः समुद्रोऽपि महोर्मिमाली ॥ १२ ॥ अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । गीतं राज्ञा सेनजिता दुःखार्त्तेन युधिष्ठिर ॥ १३ ॥ सर्वानेवैष पर्यायो मर्त्यान् स्पृशति दुःसहः । कालेन परिपक्वा हि म्रियन्ते सर्वपार्थिवाः ॥ १४ ॥ घ्नन्ति चान्यान्नरान् राजंस्तानप्यन्ये तथा नराः । संज्ञैषा लौकिकी राजन्न हिनस्ति न हन्यते ॥ १५ ॥ हन्तीति मन्यते कश्चिन्न हन्तीत्यपि चापरः ।

ऋतुका आरम्भ नहीं होता है ॥१०॥ समयके विना कोई मरता नहीं है,कोई उत्पन्न नहीं होता है, बालक बोलता नहीं है, तैसे समयके विना पुरुष यौवनको पाता नहीं है, तैसे ही बोया हुआ भी समयके विना उगता नहीं है११सूर्यका उदय, चन्द्रमाकी वृद्धि तथा क्षय और बडी२ लहरोंकी मालावाले समुद्रका उतार चढ़ाव समयके विनानहीं होता है(तात्पर्य यह है कि-सब समय कार्य अपना अपना समय आता है तब,ही सिद्ध होते हैं,उसके विना सिद्ध नहीं होते हैं) ॥१२॥ हे राजा युधिष्ठिर ! इस विषयमें दुःखसे आतुर हुए सेनजित् नामक राजाने जो कुछ कहा है, उन गाथाओंको मनुष्य अब भी गाते हैं, वह पुरातन इतिहास मैं तुमसे कहता हूँ।१३।(उस राजाने कहा है,कि-)अनिवार्य काल हिर फिरकर सब मनुष्योंके ऊपर अमल करता है,पृथ्वीके पदार्थ मात्र अपने कालसे पकनेके पीछे मरण पाते है१४हे राजन् ! मनुष्य अपने शत्रुओंको मारते हैं और उन मनुष्योंको दूसरे मनुष्य मारते हैं, इसप्रकार यह लौकिकी संज्ञा है परन्तु वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो न कोई किसीको मारता है और न कोई किसीसे मारा जाता है ॥१५॥ कोई समझता है, कि-अमुकने अमुकको मारा, और काई

स्वभावतस्तु नियतौ भूतानां प्रभवाप्ययौ ॥ १६ ॥ नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते। अहो दुःखमिति ध्यायन् दुःखस्यापचितिं चरेत् ॥१७॥ स किं शोचसि मूढः सन् शोच्यान् किमनुशोचसि । यस्य दुःखेषु दुःखानि भयेषु च भयानि च ॥ १८ ॥ आत्मापि चायं न मम सर्वापि पृथिवी मम। यथा मम तथान्येषामिति पश्यन्न मुह्यति ॥ १९ ॥ शोकस्थानसहस्राणि हर्षस्थानशतानि च । दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥२०॥ एवमेतानि कालेन प्रियद्वेष्याणि भागशः । जीवेषु परिवर्त्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥२१॥ दुःखमेवास्ति न सुखं तस्मात्त-

समझता है कि-कोई किसीको नहीं मारता है और प्राणियोंकी उत्पत्ति तथा विनाश स्वभावानुसार होते हैं ॥ १६ ॥ धन नष्ट होजाता है अथवा स्त्री, पुत्र अथवा पिता मर जाता है, तब मूढ मनुष्य "अरेरे ! मैं दुःखी होगया" इस प्रकार दुःखका स्मरण कर दुःखमें वृद्धि करता है ॥ १७ ॥ परन्तु तू किस लिये मूढ बन कर मरण धर्म वाले कौरव राजाओंका शोक करता है ! जो शोकरूप थे, उनका किस लिये शोक करता है जैसे भय करनेसे भयकी वृद्धि होती है तैसे ही शोकको दूर न करनेसे उसकी वृद्धि होती है ॥ १८ ॥ यह देह जैसे मेरा नहीं है तैसे सब पृथ्वी भी मेरी नहीं है तो भी ममत्वभावके कारण यह देह और यह पृथिवी जैसे मेरी है, तैसे ही दूसरेकी भी है, ऐसा विचार करने वाला पुरुष देहादिके ऊपर मोह नहीं पाता है १९ शोक और हर्षके सहस्रों कारण हैं, वे मूढ पुरुषके ऊपर प्रतिदिन पडते हैं परन्तु पण्डितके ऊपर वह अपना प्रभाव नहीं डालसकते२० इस प्रकार प्रिय सुखोंका और अप्रिय दुःखोंका प्रत्येक जीवको किसी न किसी समय अनुभव करना पड़ता है।२१॥इस संसारमें दुःख ही दुःख है, सुख नहीं है अतः मनुष्यको दुःखकी प्राप्ति

दुपलभ्यते । तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्त्तिप्रभवं सुखम् ॥२२॥ सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् । न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम् ॥२३॥ सुखमेव हि दुःखान्तं कदाचिद्द दुःखतः सुखम् । तस्मादेतद्द द्वयं जह्याद्य इच्छेच्छाश्वतं सुखम् २४ सुखान्तप्रभवं दुःखं दुःखान्तप्रभवं सुखम् । यन्निमित्तो भवेच्छो-कस्तापो वा दुःखमूर्छितः ॥ २५ ॥ आयासो वापि यन्मूलस्तदे-काङ्गमपि त्यजेत् । सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियम्वा यदि वाऽप्रि-यम् । प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः ॥ २६ ॥ ईषदप्यङ्ग-दाराणां पुत्राणामाचरन् प्रियम् । ततो ज्ञास्यसि कः कस्य केन वा कथमेव च ॥२७॥ ये च मूढतमा लोके ये च बुद्धेः परङ्गताः ।

होती है दुःखको उत्पन्न करने वाली कामना है तैसे ही सुखको उत्पन्न करने वाला दुःख है ॥ २२ ॥ मनुष्योंको सुखके पीछे दुःख और दुःखके पीछे सुख आता है, परन्तु मनुष्य नित्य दुःख नहीं भोगता है, तैसे ही नित्य सुख भी नहीं भोगता है ॥ २३ ॥ किसी दिन दुःखकी समाप्ति आती है तब सुख होता है और सुखकी समाप्ति आनेपर दुख होता है अतः जिसको शाश्वत सुखकी इच्छा हो उसको सुख दुःख दोनोंका त्यागकर देना चाहिये ॥ २४ ॥ सुखके अन्तमें दुःख और दुःखके अन्तमें सुख मनुष्यको मिलता है अतः जिसके कारण मनुष्यको शोक, दुःखसे बढ़ने वाला संताप अथवा परिश्रम पडता हो, ऐसे एक अंगका भी (सर्पसे डसी हुई अँगुलीकी समान) त्याग कर देना चाहिये, तो फिर राज्य आदिकी तो गिनती ही क्या ? ॥ २५ ॥ सुख अथवा दुःख, प्रिय अथवा अप्रिय, जैसे २ प्राप्त होते जायँ, तैसे २ हृदयसे हारे बिना उसको सहन करना चाहिये ॥ २६ ॥ हे राजन् ! तुम अपनी स्त्रियोंका तथा पुत्रोंका थोडासा भी अरुचिका काम करोगे तब कौन किसका ? किस

त एव सुखमेधन्ते मध्यमः क्लिश्यते जनः ॥ २८ ॥ इत्यब्रवीन्-महाप्राज्ञो युधिष्ठिर स सेनजित् । परावरज्ञो लोकस्य धर्मवित् सुखदुःखवित् ॥ २९ ॥ येन दुःखेन यो दुःखी न स जातु सुखी भवेत् । दुःखानां हि क्षयो नास्ति जायते ह्यपरात्परम् ॥ ३० ॥ सुखञ्च दुःखञ्च भवाभवौ च लाभालाभौ मरणं जीवितञ्च । पर्यायतः सर्वमवाप्नुवन्ति तस्माद्धीरो नैव हृष्येन्न शोचेत् ॥३१॥ दीक्षां राज्ञः संयुगे युद्धमाहुर्योगं राज्ये दण्डनीत्याञ्च सम्यक् । वित्तत्यागो दक्षिणानाञ्च यज्ञे सम्यग्दानं पावनानीति विद्यात्३२ रक्षन् राज्यं बुद्धिपूर्वं नयेन संत्यक्तात्मा यज्ञशीलो महात्मा ।

कारणसे और किस प्रकारसे संबंधी हैं यह जान सकोगे॥२७॥ इस जगत्में जो अत्यन्त मूढ हैं अथवा जो आत्मज्ञानी हैं वे ही सुख भोगते हैं और अर्धदग्ध मनुष्य तो दुःख ही भोगते हैं २८ हे राजा युधिष्ठिर ! धर्म तथा लोगोंके सुख दुःखके कारणको जानने वाले भूत भविष्यके वेत्ता राजा सेनजित्ने इस प्रकार कहा था कि-॥ २९ ॥ हे राजा युधिष्ठिर ! जो पुरुष अपनेको दुःखी मानता है, उस पुरुषको सुख कभी नहीं मिलता है और उसके दुःखका नाश ही नहीं होता है, परन्तु एकमेंसे दूसरा और दूसरेमेंसे तीसरा इस प्रकार दुःख उत्पन्न ही होते रहते हैं ॥३०॥ सुख, दुःख उत्पत्ति, विनाश,लाभ,हानि, मरना, जीना यह सब मनुष्योंको किसी न किसी समय भोगने, ही पडते हैं,अतः धीर पुरुष दुःख आदिके लिये शोक और सुख आदिके लिये हर्ष नहीं करते हैं ॥३१॥ राजाओंका युद्धमें दीक्षा ग्रहण करना, यज्ञ,दण्डनीतिमें भली प्रकार कुशलता पाना, याग और यज्ञमें भली प्रकार दक्षिणा देना उनका संन्यास है! ये सब राजाओंको पवित्र करनेवाले हैं, ऐसा समझना चाहिए ॥३२॥ जो महात्मा राजा यज्ञ याग करता है, अहंकार-रहित होता है,

सर्वान् लोकान् धर्मदृष्ट्या चरंश्चाप्यूर्ध्वं देहान्मोदते देवलोके ३३
जित्वा संग्रामान् पालयित्वा च राष्ट्रं सोमं पीत्वा पालयित्वा प्रजाश्च। युक्त्या दण्डं धारयित्वा प्रजानां युद्धे क्षीणो मोदते देवलोके ॥ ३४ ॥ सम्यग्वेदान् प्राप्य शास्त्राण्यधीत्य सम्यग्राज्यं पालयित्वा च राजा। चातुर्वर्ण्यं स्थापयित्वा स्वधर्मे पूतात्मा वै मोदते स्वर्गलोके ॥ ३५ ॥ यस्य वृत्तं नमस्यन्ति स्वर्गस्थस्यापि मानवाः। पौरजानपदामात्याः स राजा राजसत्तमः ३६

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सेनजिदुपाख्याने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच अस्मिन्नेव प्रकरणे धनञ्जयमुदारधीः। अभिनीततरं वाक्यमित्युवाच युधिष्ठिरः ॥ १ ॥ यदेतन्मन्यसे पार्थ

बुद्धिपूर्वक न्यायसे राज्य और अपनी सारी प्रजाको धर्मके मार्ग में चलानेवाला होता है, वह राजा मरणके पीछे स्वर्गमें आनन्द करता है ॥३३॥ तैसे ही जो राजा युद्धमें विजय पाकर प्रजाका पालन करता है, सोमयज्ञ करता है, प्रजाको बसाता है, युक्तिसे प्रजाको शिक्षा देता है, वह राजा रणमें मरण पाता है तो देवलोकमें जाता है ॥ ३४ ॥ और जो राजा वेद-शास्त्रोंका भली प्रकार अभ्यास करता है प्रजाका पालन करता है चारों वर्णोंकी प्रजाको अपने २ धर्ममें स्थापित करता है. वह पवित्रात्मा राजा स्वर्गमें आनन्दसे रहता है ॥३५॥ और जिस राजाके स्वर्गगामी होने पर उसके आचरणकी नगर और देशके मनुष्य तथा मंत्री प्रशंसा करते हैं, उस राजाको श्रेष्ठ जानना चाहिए ॥ ३६ ॥ पच्चीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २५ ॥ छ छ

वैशम्पायन कहते हैं कि—हे राजा जनमेजय! इस प्रकार वेदव्यासका वचन सुन राजा युधिष्ठिरने धनञ्जयसे युक्तियुक्त वचन कहा कि—॥१॥ हे पार्थ! तू समझता है कि-इस जगत्में धनके

न ज्यायोऽस्ति धनादिति । न स्वर्गो न सुखं नार्थो निर्धनस्येति तन्मृषा ॥२॥ स्वाध्याययज्ञसंसिद्धा दृश्यन्ते बहवो जनाः । तपोरताश्च मुनयो येषां लोकाः सनातनाः ॥ ३ ॥ ऋषीणां समयं शश्वद्ये रक्षन्ति धनञ्जय । आश्रिताः सर्वधर्मज्ञा देवास्तान् ब्राह्मणा विदुः ॥ ४ ॥ स्वाध्यायनिष्ठान् हि ऋषीन् ज्ञाननिष्ठांस्तथापरान् । बुद्ध्येथाः सन्ततं चापि धर्मनिष्ठान् धनञ्जय ॥ ५ ॥ ज्ञाननिष्ठेषु कार्याणि प्रतिष्ठाप्यानि पाण्डव । वैखानसानां वचनं यथा नो विदितं प्रभो ॥ ६ ॥ अजाश्च पृश्नयश्चैव सिकताश्चैव भारत । अरुणाः केतवश्चैव स्वाध्यायेन दिवङ्गताः ॥ ७ ॥ अवाप्यैतानि कर्माणि वेदोक्तानि धनञ्जय । दानमध्ययनं यज्ञो निग्रहश्चैव दुर्ग्रहः ॥८॥

अतिरिक्त और कोई भी वस्तु श्रेष्ठ नहीं है और स्वर्ग, सुख, प्रयोजन ये सब धनीके ही सिद्ध होते हैं और निर्धनके सिद्ध नहीं होते, ऐसा समझना मिथ्या है ॥ २ ॥ बहुतसे पुरुष वेद का स्वाध्यायरूपी यज्ञ करके सिद्धि पाये हुए देखनेमें आते हैं, बहुतसे मुनि तप करके सनातन लोकोंमें गए हैं,॥३॥ हे धनंजय! जो ब्रह्मचर्य आश्रममें रहकर नित्य वेदका स्वाध्याय किया करते हैं तथा सकल धर्मोंका ज्ञान सम्पादन करते हैं उनको देवता ब्राह्मण कहते हैं ॥४॥ कितने ही ऋषि स्वाध्यायनिष्ठ होते हैं और कितने ही ऋषि ज्ञाननिष्ठ होते हैं, उन सबको ही हे धनंजय ! तू नित्य धर्मनिष्ठ समझ ! ॥ ५ ॥ राजकीय कार्य ज्ञानी पुरुषके उपदेशके अनुसार करे और कहे, श्राद्धमें भोजन बहुधा ज्ञानियोंको ही करावे, यह बात हमने वैखानसोंके कहनेसे जानी है ॥६॥ और अज, पृश्नि, सिकत, अरुण तथा केतुनामके ऋषि वेदका स्वाध्याय करके स्वर्गमें गए हैं ॥ ७ ॥ हे अर्जुन ! यह वेदोक्त दान, वेदाध्ययन, यज्ञ और इन्द्रियनिग्रह इतने कठिन हैं, कि-यदि वे पूरे होजायँ तो वेदोक्त कर्म करनेवाला पुरुष सूर्यके-

दक्षिणेन च पन्थानमर्यम्णो ये दिवं गताः । एतान् क्रियावतां लोकानुक्तवान् पूर्वमप्यहम् ॥ ९ ॥ उत्तरेण तु पन्थानं नियमाद्यं प्रपश्यसि । एते योगवतां लोका भान्ति पार्थ सनातनाः ॥ १० ॥ तत्रोत्तरां गतिं पार्थ प्रशंसन्ति पुराविदः । सन्तोषो वै स्वर्गतमः सन्तोषः परमं सुखम् ॥ ११ ॥ तुष्टेर्न किञ्चित्परमं सा सम्यक् प्रतितिष्ठति । विनीतक्रोधहर्षस्य सततं सिद्धिरुत्तमा ॥ १२ ॥ अत्राप्युदाहरन्तीमां गाथां गीतां ययातिना । योऽभिप्रेत्याहरेत्कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ॥ १३ ॥ यदा चायं न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति । यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा १४

दक्षिणमार्गसे स्वर्गमें चलाजाता है, इन कर्मोंके करनेवालोंको जो लोक मिलते हैं, उनकी बात मैंने तुमसे पहले ही कही थी।८-९। और नियमके अनुसार योगका सेवन करनेवाले पुरुष सूर्यके उत्तर मार्गमें होकर सनातन लोकमें जाते हैं ॥१०॥ इन दोनों गतियोंमें प्राचीनकालके विद्वान् उत्तर-सूर्ययान मार्गमें जानेकी प्रशंसा करते हैं, तुम्हें मालूम हो, कि–सन्तोष ही उत्तम स्वर्ग और परम सुख को पानेका मार्ग है ॥ ११ ॥ सन्तोषसे श्रेष्ठ कोई वस्तु नहीं है, जिन योगियोंने क्रोध और हर्षको जीत लिया है,उसमें ही उनका परमस्थान और सिद्धि मानी जाती है ॥ १२ ॥ इस विषयमें राजा ययातिने नीचे लिखे अनुसार गाथा गाई है, जिस गाथाको सुनने पर मनुष्य सब वासनाओंका अपने अन्तः-करणमें इसप्रकार लय कर लेता है जैसे कछुआ अपने सब अङ्गोंको भीतर समेट लेता है ॥१३॥ (राजा ययातिकी गाई हुई गाथा इस प्रकार है) जो पुरुष दूसरेसे नहीं डरता है, तैसे ही दूसरे जब उस पुरुषसे भय नहीं पाते हैं, तैसे वस्तुकी भी इच्छा नहीं करता है और किसी वस्तुसे द्वेष भी नहीं करता है, तब वह ब्रह्मको प्राप्त हुआ है,ऐसा जानना चाहिये॥१४॥पुरुष जब मन,

यदा न भावं कुरुते सर्वभूतेषु पापकम् । कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ १५ ॥ विनीतमानमोहश्च बहुसङ्गविवर्जितः । तदात्मज्योतिषः साधो निर्वाणमुपपद्यते ॥ १६ ॥ इदं तु शृणु मे पार्थ ब्रुवतः संयतेन्द्रियः । धर्ममन्ये वृत्तमन्ये धनमीहन्ति चापरे ॥ १७ ॥ धनहेतोर्य ईहेत तस्यानीहा गरीयसी । भूयान् दोषो हि वित्तस्य यश्च धर्मस्तदाश्रयः ॥१८॥ प्रत्यक्षमनुपश्यामि त्वमपि द्रष्टुमर्हसि । वर्जनं वर्जनीयानामीहमानेन दुष्करम् ॥१९॥ ये वित्तमभिपद्यन्ते सम्यक्त्वं तेषु दुर्लभम् । द्रुह्यतः प्रैति तत्प्राहुः प्रतिकूलं यथातथम् ॥ २० ॥ यस्तु संभिन्नवृत्तः स्याद्वीतशोक-

वाणी और शरीरसे किसी प्राणीसे भी द्रोह नहीं करता है तब वह ब्रह्मको प्राप्त हुआ है ऐसा जानना चाहिये ॥ १५ ॥ अभिमान और मोहका जब त्याग करता है और बहुतसोंके संग करनेको त्याग देता है तब महात्मा ज्ञानी पुरुषोंकी मोक्ष होती है ॥१६॥ हे पार्थ! और मैं तुझसे एक बात कहता हूँ, उसको तू मन तथा इन्द्रियों वशमें रख कर सुन, कितने ही धर्म सम्पादन करनेके लिये और कितने धन सम्पादन करनेके लिये प्रयत्न करते हैं १७ इनमें जो यज्ञ याग आदि धर्मके लिये धन सम्पादन करनेका प्रयत्न करते हैं उनका प्रयत्न न करना ही अच्छा है, धनमें बहुतसे दोष भरे हुए हैं अतः उसके आधारसे करनेमें आने वाले यज्ञ याग आदि धर्ममें भी दोष समाये हुए हैं ! ॥ १८ ॥ इसकी मैंने भली प्रकार परीक्षा करके देखी है और तू भी यथार्थरीतिसे परीक्षा करके देख, जिन पुरुषोंको धन पानेकी इच्छा होती है उनसे अन्यायके कार्य होने छूट नहीं सकते ॥ १९ ॥ जो धन सम्पादन करनेकी लालसा वाले होते हैं, उनमें साधुपन दुर्लभ होता है क्यों कि-दूसरेसे द्रोह करता है, तब ही धन मिलता है, धन मिलने पर उसके कारण

भयो नरः । अल्पेन तृषितो द्रुह्यन् भ्रूणहत्यां न बुध्यते ॥२१॥ द्विष्यन्त्याददतो भृत्या नित्यं दस्युभयादिव । दुर्लभञ्च धनं प्राप्य भृशं दत्त्वानुतप्यते ॥ २२ ॥ अधनः कस्य किं वाच्यो विमुक्तः सर्वशः सुखी । वर्षस्वमुपगृह्यैव धनेन न सुखी भवेत् ॥२३॥ तत्र गाथां यज्ञगीतां कीर्त्तयन्ति पुराविदः । त्रयीमुपाश्रितां लोके यज्ञ-संस्तरकारिकाम् ॥ २४ ॥ यज्ञाय सृष्टानि धनानि धात्रा यज्ञाय सृष्टः पुरुषो रक्षिता च । तस्मात्सर्वं यज्ञ एवोपयोज्यं धनं न कामाय हितं प्रशस्तम् ॥ २५ ॥ एतत्स्वार्थे च कौन्तेय धनं धन-

अनेक प्रकारके भय रहते हैं,ऐसा विद्वान् कहते हैं ॥ २० ॥ दुराचारी, शोक और भयसे रहित पुरुष थोड़ासा धन पानेकी इच्छासे भी दूसरे मनुष्यसे ईर्षा, द्रोह आदि करता है, इतना ही नहीं किन्तु ब्रह्महत्याकी समान महान् दोषका भी उसको ध्यान नहीं रहता है ॥२१॥ दैवयोगसे दुर्लभ धन मिलता है,तो उस धनको अपने सेवकोंको देते समय,चोरोंसे जैसे प्रजाको सन्ताप होता है, तैसे धनाढ्य पुरुषको अतीव सन्ताप होता है, और स्वामी यदि ठहराई हुई तनख्वाह नहीं देता है तो सेवक उसकी निंदा करके उसको दोषपात्र ठहराते हैं ॥ २२ ॥ परन्तु निर्धन पुरुषको कोई क्या कहेगा ? वह सुख, दुःख, निन्दा स्तुति आदिसे मुक्त और सब प्रकारसे सुखी होता है, अधिक क्या ? जिसके पास एक वर्षके योग्य भी धन होता है वह पुरुष भी सुखी नहीं होता।२३। इस विषयमें यज्ञका विस्तार करनेवाली यज्ञ-सम्बन्धी गाथाएँ प्राचीन विद्वानोंने कहीं हैं,उनको तू सुन।।२४।।ब्रह्माने यज्ञके लिये धन उत्पन्न किया है और पुरुषको यज्ञकी रक्षाके लिये उत्पन्न किया है,अतः सब प्रकारके पदार्थोंका यज्ञमें उपयोग करना श्रेष्ठ माना जाता है,परन्तु कामनाके लिये उपयोग करना श्रेष्ठ नहीं माना जाता।।२५।।हे धनाढ्योंमें श्रेष्ठ अर्जुन।अतः धनको अपने उपभोगके

वतां वर । धाता ददाति मर्त्येभ्यो यज्ञार्थमिति विद्धि तत् ॥२६॥ तस्माद् बुद्ध्यन्ति पुरुषा न हि तत्कस्यचिद् ध्रुवम् । श्रद्दधानस्ततो लोको दद्याच्चैव यजेत च ॥ २७ ॥ लब्धस्य त्यागमित्याहुर्न भोगं न च संक्षयम् । तस्य किं सञ्चयेनार्थः कार्ये ज्यायसि तिष्ठति ॥ २८ ॥ ये स्वधर्मादपेतेभ्यः प्रयच्छन्त्यल्पबुद्धयः । शतं वर्षाणि ते प्रेत्य पुरीषं भुञ्जते जनाः ॥ २९ ॥ अनर्हते यद्ददाति न ददाति यदर्हते । अर्हानर्हापरिज्ञानाद्दानधर्मोऽपि दुष्करः ३० लब्धानामपि वित्तानां बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ । अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ॥ ३१ ॥ षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥ * ॥

लिये ब्रह्माने उत्पन्न किया है और ब्रह्मा यज्ञ करनेके लिये मनुष्यों को धन देता है, यह तुम्है जानना चाहिये ॥२६॥ और इसलिये ही विद्वान् समझते हैं कि-धन किसी पुरुषका भी नहीं है धन तो यज्ञदेवका है, अतः श्रद्धावान् पुरुपको दान देना और यज्ञ करना चाहिये ॥ २७ ॥ पण्डित कहते हैं कि-मिले हुए धनका दानमें उपयोग करना चाहिये परन्तु उसको अपने उपभोगके लिये खर्च नहीं करना चाहिये, तैसे ही उसका दुरुपयोग भी नहीं करना चाहिये (धन प्राप्त करके) दान और यज्ञ जैसे श्रेष्ठ कर्म करने होते हैं, फिर उसका संचय करनेकी क्या आवश्यकता है ? २८ (अब धनके दान देनेमें भी महासन्ताप है उसको देख) जो अल्प बुद्धि वाले पुरुष स्वधर्मसे भ्रष्ट हुए पुरुषोंको धनका दान देते हैं, वे पुरुप मरणके पीछे सौ वर्ष तक विष्टाका भोजन करते हैं ॥ २९ ॥ क्योंकि-(बहुधा कुपात्रको ही दान देनेमें आता है सुपात्रको देनेमें नहीं आता, इस प्रकार कुपात्रकी पहिचान न होनेसे दानधर्म महाकठिन है॥३०॥मिले हुए धनका दान करनेमें भी दो बडी भारी भूलें होती हैं कि-(दान) कुपात्रको पहुँचता है और सुपात्रको बिलकुल नहीं पहुँचता॥३१॥छब्बीसवाँ अध्याय

युधिष्ठिर उवाच । अभिमन्यौ हते बाले द्रौपद्यास्तनयेषु च । धृष्टद्युम्ने विराटे च द्रुपदे च महीपतौ ॥ १ ॥ वृषसेने च धर्मज्ञे धृष्टकेतौ तु पार्थिव । तथान्येषु नरेन्द्रेषु नानादेश्येषु संयुगे ॥२॥ न च मुञ्चति मां शोको ज्ञातिघातिनमातुरम् । राज्यकामुकमत्युग्रं स्ववंशोच्छेदकारिणम् ॥ ३ ॥ यस्यांके क्रीडमानेन मया वै परिवर्तिनम् । स मया राज्यलुब्धेन गांगेयो युधि पातितः ॥४॥ यदा ह्येनं विघूर्णन्तमपश्यं पार्थ सायकैः । कम्पयानं यथा वज्रैः प्रेक्षमाणं शिखण्डिना ॥ ५ ॥ जीर्णं सिंहमिव प्रांशुं नरसिंहं पितामहम् । कीर्यमाणं शरैर्दृष्ट्वा भृशं मे व्यथितं मनः ॥ ६ ॥ प्राङ्मुखं सीदमानं च रथे पररथारुजम् । घूर्णमानं यथा शैलं तदा

अब राजा युधिष्ठिर व्यासजीसे कहते हैं कि-बालक अभिमन्यु, द्रौपदीके पुत्र, धृष्टद्युम्न, राजा विराट, राजा द्रुपद, धर्मवेत्ता वृषसेन, राजा धृष्टकेतु तथा दूसरे भिन्न२ देशोंके राजे रणमें मारे गए हैं, इससे मुझको खेद होता है, हाय मैंने महाघातकी बनकर राज्यके लोभसे अपने जाति बान्धवोंका और अपने वंशका संहार कराया ॥ १-३ ॥ हाय ! मैं जिनकी गोदीमें खेलतेर लोट जाता था, उन ही गंगापुत्र भीष्मपितामहको मैंने राज्यके लोभसे युद्ध में मार डाला ॥ ४ ॥ वृद्ध सिंहकी समान उन्नत शरीरवाले भीष्मपितामहके सामने शिखण्डीने दृष्टि करके चढ़ाई की, अर्जुन ने वज्रतुल्य बाण मारकर उनके शरीरको भरदिया और भीष्म पितामह प्रहारकी पीड़ासे काँपने लगे यह देखकर (उस समय) मेरे मनमें बड़ा दुःख हुआ था ॥ ५-६ ॥ जब मैंने देखा कि-शत्रुकी रथसेनाका संहार करने वाले भीष्म बाणोंके प्रहारसे पर्वतकी समान काँपकर निःसत्त्व बन, पूर्व-दिशाकी ओर मुख करके रथकी बैठक पर बैठ गए थे उस समय (से) ही मैं मूढ बन गया था ॥७॥ कुरुवंशश्रेष्ठ भीष्म हाथमें

मे कश्मलोभवत् ॥७॥ यः स बाणधनुष्पाणिर्योधयामास भार्गवम् । बहून्यहानि कौरव्यः कुरुक्षेत्रे महामृधे ॥८॥ समेतं पार्थिवं क्षत्रं वाराणस्यां नदीसुतः । कन्यार्थमाह्वयद्वीरो रथेनैकेन संयुगे॥९ येन चोग्रायुधो राजा चक्रवर्ती दुरासदः । दग्धश्चास्त्रप्रतापेन स मया युधि घातितः ॥ १० ॥ स्वयं मृत्युं रक्षमाणः पाञ्चाल्यं यः शिखण्डिनम् । न बाणैः पातयामास सोऽर्जुनेन निपातितः ११ यदैनं पतितं भूमावपश्यं रुधिरोक्षितम् । तदैवाविशयदत्युग्रो ज्वरो मां मुनिसत्तम ॥ १२ ॥ येन संवर्धिता बाला येन स्म परिरक्षिताः । स मया राज्यलुब्धेन पापेन गुरुघातिना । अल्पकालस्य राज्यस्य कृते मूढेन घातितः ॥ १३ ॥ आचार्यश्च महेष्वासः सर्वपार्थिवपूजितः । अभिगम्य रणे मिथ्या पापेनोक्तः

धनुष तथा बाण लेकर भृगुवंशमें श्रेष्ठ परशुरामके साथ (कुरुक्षेत्रके महासंग्राममें बहुत दिनों तक) लड़े थे ॥ ८ ॥ इन गंगापुत्रने अकेले ही, काशी नगरीमें, वहाँके राजाकी कन्याके स्वयम्वरमें इकट्ठे हुए क्षत्रियोंको युद्ध करनेके लिये बुलाया था और उनको युद्धमें हराया था ॥ ९ ॥ इन भीष्मने ही रणमें लडनेके लिये आये हुए चक्रवर्ती राजा उग्रायुधको भी शस्त्रके प्रहारसे मार डाला था ॥१०॥ जिन्होंने पञ्चालपुत्र शिखण्डीको अपना काल जानने पर भी अपनी रक्षाके लिये बाणोंका प्रहार करके उसको नहीं मारा था, ऐसे भीष्मको अर्जुनने रणमें मार डाला ॥११॥ हे महामुनि ! मैंने जबसे भीष्मपितामहको लोहूलुहान होकर रणमें पड़े हुए देखा है, तबसे मैं अतिमूढ बनगया हूँ ॥ १२ ॥ जिन्होंने हमको बालकपनमें पाल पोस कर बडा किया था जिन्होंने हमारी रक्षाकी उनही भीष्मपितामहको मूर्ख, पापी और राज्यके लोभी मैंने अल्प काल टिकनेवाले राज्यके लिए मरवा डाला है। १३ अरे ! रे !! मैं इतने पर भी नहीं रुका, परन्तु अपने आचार्य महाधनु-

सुतं प्रति ॥ १४ ॥ तन्मे दहति गात्राणि यन्मां गुरुरभाषत। सत्यमाख्याहि राजंस्त्वं यदि जीवति मे सुतः ॥ १५ ॥ सत्यमाप्रर्पयन् विप्रो मयि तत्परिपृष्टवान्। कुञ्जरं चान्तरं कृत्वा मिथ्योपचरितं मया ॥ १६ ॥ सुभृशं राज्यलुब्धेन पापेन गुरुघातिना। सत्यकञ्चुकमुन्मुच्य मया स गुरुराहवे ॥१७॥ अश्वत्थामा हत इति निरुक्तः कुञ्जरे हते। काँल्लोकांस्तु गमिष्यामि कृत्वा कर्म सुदुष्करं ॥ १८ ॥ अघातयं च यत्कर्णं समरेष्वपलायिनम् ॥१९॥ ज्येष्ठभ्रातरमत्युग्रं को मत्तः पापकृत्तमः। अभिमन्युं च यद्बालं जातं सिंहमिवाद्रिषु ॥ २० ॥ प्रावेशयमहं लुब्धो

और तैसे ही सब राजाओंमें पूजनीय ऐसे द्रोणाचार्यने रणभूमिमें मेरे पास आकर अपने पुत्र अश्वत्थामाका समाचार बूझा, तब मुझ पापीने उनसे झूँठा समाचार कहा ! ॥ १४ ॥ गुरु द्रोण जानते थे कि-युधिष्ठिर सत्य ही बोलेंगे अतः उन्होंने मुझसे बूझा था कि-हे राजन् ! सत्य कहो कि-मेरा पुत्र जीता है या नहीं? उस समय मैंने " नरो वा कुञ्जरो वा " (मनुष्य या हाथी) कहकर संशय भरा हुआ मिथ्याभाषण किया ! वह प्रसंग मेरे अंगोंको जलाए डालता है ॥ १५-१६ ॥ गुरुने अपने पुत्रके जीवनके विषयमें मुझसे बूझा, तब गुरुघाती, पापी और राज्य के अतिलोभी मैंने सत्यके भयको भी दूर फैंक कर अश्वत्थामा नामका हाथी मर गया था, तो भी मैंने गुरुसे कहा कि-अश्वत्थामा मर गया ! ऐसा बडा भारी पाप करनेसे मेरी किस लोकमें गति होगी ॥ १७-१८ ॥ और मैंने युद्धमें पीछेको न हटनेवाले महापराक्रमी बड़े भाई कर्णको भी मरवाडाला है इसलिए मुझसे अधिक पापी कौन होगा ? जैसे पहाड़ोंमें सिंह उत्पन्न होता है तैसे ही कौरवकुलमें उत्पन्न हुए बालक अभिमन्युको भी राज्यके लोभसे द्रोणाचार्यके सेनापतिपनेसे रक्षित हुई कौरवोंकी सेनाके

वाहिनीं द्रोणपालिताम् । तदा प्रभृति बीभत्सुं न शक्नोमि निरीक्षितुम् ॥ २१ ॥ कृष्णं च पुण्डरीकाक्षं किञ्चिदपि भ्रूणहा यथा। द्रौपदीं चापि दुःखार्तां पञ्च पुत्रैर्विना कृताम्॥ २२ ॥ शोचामि पृथिवीं हीनां पञ्चभिः पर्वतैरिव। सोऽहमागस्करः पापः पृथिवीनाशकारकः ॥ २३ ॥ आसीन एवमेवेदं शोषयिष्ये कलेवरम्। प्रायोपविष्टं जानीध्वमथ मां गुरुघातिनम् ॥ २४ ॥ जातिष्वन्यास्वपि यथा न भवेयं कुलान्तकृत्। न भोक्ष्ये न च पानीयमुपभोक्ष्ये कथंचन ॥ २५ ॥ शोषयिष्ये प्रियान् प्राणानिहस्थोऽहं तपोधनाः। यथेष्टं गम्यतां काममनुजाने प्रसाद्य वः ॥ २६ ॥ सर्वे मामनुजानीत त्यक्ष्यामीदं कलेवरम्। वैशम्पायन उवाच। तमेवं

सामने लडनेको भेजदिया, तबसे मैं अर्जुनके सामने देख भी नहीं सकता हूँ ॥ १६-२१ ॥ तथा ब्रह्महत्या करनेवाले पापीकी समान श्रीकृष्णके मुखकी ओरको भी नहीं देख सकता हूँ तथा पाँच पर्वतोंसे शून्य हुई पृथिवीकी समान पाँच पुत्रोंके मरणसे दुःखी हुई उस द्रौपदीके लिये शोक किया करता हूँ, इसप्रकार मैं सबका अपराधी, पापी और पृथिवीका नाश करने वाला हूँ ॥ २२ ॥ २३ ॥ इस लिये अब आजसे मैं गुरुहत्या और ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त करनेके लिये निराहार रहकर यहाँ ही बैठाहुआ इस शरीरको सुखाडालूँगा ॥ २४ ॥ जिससे कि दूसरी किसी भी जातिमें कुलका नाश करनेवाला होकर जन्म न लूँ, अब मैं फल फूलका भी भोजन नहीं करूँगा तथा जल भी नहीं पीऊँगा ॥ २५ ॥ हे तपोधनो ! मैं इस गङ्गाके तट पर बैठकर अपने प्यारे प्राणोंका नाश ही करूँगा, अब तुम मेरे ऊपर अनुग्रह करो और तुम अपनी इच्छानुसार अपने स्थानको पधारो ॥ २६ ॥ मैं अपने शरीरको त्यागना चाहता हूँ, इसलिये आप सब मुझे आज्ञा दीजिये, वैशम्पायन कहते हैं

वादिनं पार्थं बन्धुशोकेन विह्वलम् ॥ २७ ॥ मैवमित्यब्रवीद्व्यासो निगृह्य मुनिसत्तमः ॥ २८ ॥ व्यास उवाच। अतिवेलं महाराज न शोकं कर्तुमर्हसि। पुनरुक्तं तु वक्ष्यामि दिष्टमेतदिति प्रभो२९ संयोगाः विप्रयोगान्ता जातानां प्राणिनां ध्रुवम्। बुद्बुदा इव तोयेषु भवन्ति न भवन्ति च ॥ ३० ॥ सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः। संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम् ॥ ३१ ॥ सुखं दुःखान्तमालस्यं दाक्ष्यं दुःखं सुखोदयम्। भूतिः श्रीर्ह्रीं धृतिः कीर्तिर्दक्षे वसति नालसे ॥३२॥ नालं सुखाय

कि–हे जनमेजय! राजा युधिष्ठिरने बान्धवोंके मरणसे इस प्रकार शोकविह्वल होकर कहा, तब मुनिश्रेष्ठ वेदव्यास युधिष्ठिरको रोककर कहने लगे, कि–तुम ऐसा न करो ॥२७-२८॥ हे महाराज! आपको अत्यन्त शोक करना उचित नहीं है, हे राजन्! तुमसे एकबार कहकर फिर भी कहता हूँ, कि-सुख दुःखमें भाग्य ही कारण है ॥२९॥ हे राजन्! इस संसारमें जो प्राणी उत्पन्न होते हैं उनका संयोग वियोगवाला ही होता है (अर्थात् जिनका संयोग होता है उनका किसी समय वियोग अवश्य ही होता है, अखण्ड संबन्ध तो किसीका भी नहीं रहता, जैसे जलमें बुलबुले उठते हैं और फिर क्षणभरमें नष्ट होजाते हैं, ऐसे ही इस संसारमें प्राणी उत्पन्न होते हैं और फिर नष्ट होजाते हैं ॥३०॥ इस अनादिकालके संसारके प्रवाहमें जितने पदार्थ इकट्ठे हुए हैं वे कालान्तरमें बिखर जायँगे, ऊपरको बढ़ी हुई वस्तु नीचे गिरती है, परस्परमें संबन्धवाली वस्तुओंका वियोग होता है और जन्म लेनेवाले अवश्य मरते हैं ॥ ३१ ॥ सुख ही अन्तमें दुःखरूप होजाता है, आलस्य किसी समय सुखदायक मालूम होता है परन्तु परिणाममें दुःखदायक ही निकलता है, चतुरतासे काम लेने पर समय पर दुःख मालूम होता है, परन्तु अन्तमें सुख

सुहृदो नालं दुःखाय शत्रवः। न च प्रज्ञालमर्थेभ्यो न सुखेभ्यो ऽप्यलं धनम् ॥३३॥ यथा सृष्टोऽसि कौन्तेय धात्रा कर्मसु तत्कुरु। अत एव हि सिद्धिस्ते नेशस्त्वं कर्मणां नृप ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्ये सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच। ज्ञातिशोकाभितप्तस्य प्राणानभ्युत्सिसृक्षतः। ज्येष्ठस्य पाण्डुपुत्रस्य व्यासः शोकमपानुदत् ॥१॥ व्यास उवाच। अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्। अश्मगीतं नरव्याघ्र तन्निबोध युधिष्ठिर ॥२॥ अश्मानं ब्राह्मणं प्राज्ञं वैदेहो जनको

मिलता है, अणिमादि सिद्धि, श्री, लज्जा, धीरज और कीर्ति कुशल पुरुषमें रहती हैं, आलसीमें नहीं रहतीं ॥ ३२ ॥ तथा नित्य स्नेह करनेवाले सुख नहीं दे सकते और शत्रु दुःख नहीं देसकते, इस प्रकार ही प्रज्ञासे अर्थ और धनसे सुख भी नहीं मिल सकता ॥ ३३ ॥ हे कुन्तीनन्दन राजन्! इसलिये विधाता ने तुझे जिस कामको करनेके लिये उत्पन्न किया है उस काम को ही तू कर,इससे ही तेरी सिद्धि होगी,तू कुछ कर्मोंका नायक (अपनी इच्छानुसार करनेवाला) नहीं है ॥ ३४ ॥ सत्ताईसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २७ ॥ छ छ छ

वैशम्पायनने कहा, कि-हे जनमेजय! पाण्डुके बड़े पुत्र युधि-ष्ठिर अपने संबन्धियोंका नाश होजानेसे बड़े ही शोकातुर होकर अपने प्राण त्यागनेको तयार होगए,उस समय वेदव्यासजी उनका शोक दूर करनेके लिये उनको नीचे लिखे अनुसार उपदेश देने लगे१ व्यासजीने कहा, कि-हे राजा युधिष्ठिर! इस विषयमें एक प्राचीन इतिहास है, जो अश्मन ब्राह्मणने जनक विदेहसे कहा था, वह मैं तुमसे कहता हूँ, सुनो ॥ २ ॥ दुःख और शोकसे व्याकुल हुए विदेह नगरके राजा जनकने बुद्धिमान् अश्मन

नृपः । संशयं परिपप्रच्छ दुःखशोकसमन्वितः ॥ ३ ॥ जनक उवाच । आगमे यदि वापाये ज्ञातीनां द्रविणस्य च । नरेण प्रतिपत्तव्यं कल्याणं कथमिच्छता ॥ ४ ॥ अश्मोवाच । उत्पन्नमिममात्मानं नरस्यानन्तरं गतः । तानि तान्यनुवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥ ५ ॥ तेषामन्यतरापत्तौ यद्यदेवोपपद्यते । तदस्य चेतनामाशु हरत्यभ्रमिवानिलः ॥ ६ ॥ अभिजातोस्मि सिद्धोऽस्मि नास्मि केवलमानुषः । इत्येभिर्हेतुभिस्तस्य त्रिभिश्चित्तं प्रसिच्यते ७ सम्प्रसक्तमनाभोगान् विसृज्य पितृसंचितान् । परिक्षीणः परस्वानामादानं साधु मन्यते ॥ ८ ॥ तमतिक्रान्तमर्यादमाददानम-

नामके ब्राह्मणसे अपने मनका सन्देह बूझा था, कि-॥ ३ ॥ हे महाराज ! अपना कल्याण करना चाहनेवाले पुरुषको तथा जाति और धनकी वृद्धि और विनाशके समय कल्याण चाहने वाले पुरुषको कैसा वर्त्ताव करना चाहिये, यह मुझसे कहिये ।४। अश्मनने कहा, कि-हे राजा जनक ! मनुष्य ज्यों ही उत्पन्न होता है, कि-सुख और दुःख उसके पीछे २ चलने लगते हैं ।५। और उस सुख तथा दुःखमेंसे कोई एक उस मनुष्यके पीछे पड़ कर जैसे वायु अपने वेगसे बादलोंको बखेर डालता है तैसे ही उस मनुष्यके ज्ञानका झट नाश करडालते हैं ॥६॥ इसकारणसे मैं बड़े कुलमें उत्पन्न हुआ हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं साधारण मनुष्य नहीं हूँ, इन तीन कारणोंको लेकर मनुष्यका चित्त उलटे मार्गमेंको दौडने लगता है ॥ ७ ॥ फिर वह अपने पिताके इकट्ठे कियेहुए धनका,नाच, गान और भोगविलासमें नाश करडालता है और जब निर्धन होजाता है तब दूसरेका धन हरलेना, इसको ही अच्छा मान करनेलगता है ॥ ८ ॥ इसप्रकार मर्यादाके बाहर होकर दूसरेके धनकी चोरी करता है, अनुचित आचरण करता है, तब जैसे शिकारी बाणोंकी मारसे मृगोंको रोककर नष्ट कर

साम्प्रतम् । प्रतिषेधन्ति राजानो लुब्धा मृगमिवेषुभिः ॥ ९ ॥ ये च विंशतिवर्षा वा त्रिंशद्वर्षाश्च मानवाः । परेण ते वर्षशतान्न भविष्यन्ति पार्थिव ॥ १० ॥ तेषां परमदुःखानां बुद्ध्या भैषज्यमाचरेत् । सर्वप्राणभृतां वृत्तं प्रेक्षमाणस्ततस्ततः ॥ ११ ॥ मानसानां पुनर्योनिर्दुःखानां चित्तविभ्रमः । अनिष्टोपनिपातो वा तृतीयं नोपपद्यते ॥ १२ ॥ एवमेतानि दुःखानि तानि तानीह मानवम् । विविधान्युपवर्तन्ते तथा संस्पर्शजान्यपि ॥ १३ ॥ जरामृत्यू हि भूतानां खादितारौ वृकाविव । बलिनां दुर्बलानाञ्च ह्रस्वानां महतामपि ॥ १४ ॥ न कश्चिज्जात्वतिक्रामेज्जरामृत्यू हि मानवः । अपि सागरपर्यन्तां विजित्येमां वसुन्धराम् ॥ १५ ॥ सुखं वा यदि वा दुःखं भूतानां पर्युपस्थितम् । प्राप्तव्यमवशैः

डालता है तैसे ही राजे ऐसे मर्यादाके बाहर हुए लोगोंको दण्ड देते हैं ॥ ९ ॥ इसप्रकार दूसरोंका धन चुरानेवाले पुरुष पूरी सौ वर्षकी आयु नहीं भोग सकते, किन्तु बीस या तीस वर्षके होकर तुरन्त मरजाते हैं ।१०। इसलिए राजा सब प्रजाके आचरणोंको देखे और जो दरिद्रदशाके कारण दुःखमें पड़े हों उनको विचारके साथ दुःखमेंसे छुड़ावे ॥ ११ ॥ चित्तविभ्रम (भलेको बुरा और बुरेको भला समझना) तथा पुत्रआदिका शोक इन दोके सिवा तीसरा कोई मानसिक दुःखोंका कारण नहीं होता है ॥ १२ ॥ इसप्रकार अनेकों भाँतिके दुःख तथा विषयोंके सङ्गसे होनेवाले दुःख मनुष्यको पीड़ा देते हैं ॥ १३ ॥ बलवान् या दुबला, ठिगना या लम्बा, चाहे जैसा भी मनुष्योंको जरा और मृत्यु नाहरकी समान खाजाते हैं ॥ १४ ॥ और जो पुरुष समुद्रपर्यन्तकी सब पृथिवीको जीतलेता है वह भी जरा और मृत्युको कभी नहीं जीत सकता ॥ १५ ॥ इसलिये सुख वा दुःख प्राणियोंके ऊपर पडे तो वह पराधीन प्राणियोंको सहलेना चाहिये, क्योंकि-सुख वा

सर्वं परिहारो न विद्यते ॥ १६ ॥ पूर्वे वयसि मध्ये वाप्युत्तरे वा नराधिप । अवर्जनीयास्तेऽर्था वै काङ्क्षिता ये ततोऽन्यथा ॥१७॥ अप्रियैः सह संयोगो विप्रयोगश्च सुप्रियैः । अर्थानर्थौ सुखं दुःखं विधानमनुवर्तते । प्रादुर्भावश्च भूतानां देहत्यागस्तथैव च । प्राप्ति-र्व्यायामयोगश्च सर्वमेतत्प्रतिष्ठितम् ॥ १९ ॥ गन्धवर्णरसस्पर्शा निवर्तन्ते स्वभावतः । तथैव सुखदुःखानि विधानमनुवर्तते ॥ २० ॥ आसनं शयनं यानमुत्थानं पानभोजनम् । नियतं सर्वभूतानां कालेनैव भवत्युत ॥ २१ ॥ वैद्याश्चाप्यातुराः सन्ति बलवन्तश्च

दुःखको कोई भी हटा नहीं सकता ॥ १६ ॥ हे राजन् ! बालक-पनमें जवानीको चाहना, जवानीमें बालकपनको चाहना अथवा बुढापेमें बालकपन और जवानीको चाहना, यह व्यर्थ है, इन तीनों अवस्थाओंको कोई नहीं हटा सकता ॥ १७ ॥ शत्रुओंके साथ संयोग, मित्रोंसे वियोग, प्रिय, अप्रिय, इष्ट, अनिष्ट, सुख और दुःख ये सब मनुष्यको प्रारब्ध कर्मानुसार मिला करते हैं ।१८। प्राणियोंका जन्म, मरण, लाभ हानि ये सब प्रारब्धानुसार हुआ करते हैं, इसलिये विद्वानोंको हर्ष वा शोक कभी नहीं करना चाहिये ॥ १९ ॥ जैसे अनेकों फलोंमें रूप, रस और गन्ध भिन्न २ होते हैं, फिर जब फल बडा होता है तब रूप आदि और ही प्रकारके होते हैं तथा पकजानेपर उसके रूप आदि उससे विलक्षण होजाते हैं, इसप्रकार ही प्राणियोंको भी सुख दुःख अवस्थाके अनुसार भिन्न २ होते हैं और वे दैवके अधीन होते हैं ॥२०॥ सब प्राणियोंको बिस्तर, शय्या, सवारी, स्थान खाना, पीना आदि सब समयके अनुसार ही नियमसे मिला करते हैं, इसलिये समझदारको मोहमें पडनेका कोई कारण नहीं है ॥ २१ ॥ सबका रोग मिटानेवाले विद्वान् वैद्य स्वयं भी रोगी होते हुए देखनेमें आते हैं, बलवान् पुरुष भी दुर्बल होते हुए

दुर्बलाः । श्रीमन्तश्चापरे पण्ढा विचित्रः कालपर्ययः ॥ २२ ॥ कुले जन्म तथा वीर्यमारोग्यं रूपमेव च । सौभाग्यमुपभोगश्च भवितव्येन लभ्यते ॥ २३ ॥ सन्ति पुत्राः सुबहवो दरिद्राणामनिच्छताम् । नास्ति पुत्रः समृद्धानां विचित्रं विधिचेष्टितम् २४ व्याधिरग्निर्जलं शस्त्रं बुभुक्षाश्चापदो विषम् । ज्वरश्च मरणं जन्तोरुच्चाच्च पतनं तथा ॥ २५ ॥ निर्माणे यस्य यद्दिष्टं तेन गच्छति सेतुना । दृश्यते नाप्यतिक्रामन् न निष्क्रान्तोऽथवा पुनः ॥२६॥ दृश्यते चाप्यतिक्रामन्न निग्राह्योऽथवा पुनः । दृश्यते हि युवैवेह विनश्यन् वसुमान् नरः । दरिद्रश्च परिक्लिष्टः

देखेजाते हैं और श्रीमान् भी निर्धन होते देखे जाते हैं, यह कालका विचित्र उलटफेर है ॥ २२ ॥ उत्तम कुलमें जन्म, वीरता, नीरोगता, रूप, सौभाग्य और ऐश्वर्यका उपभोग करना यह सब दैवयोगसे ही मिलता है ॥ २३ ॥ दरिद्री मनुष्य चाहते नहीं तो भी उनके घरोंमें बहुतसे पुत्र होजाते हैं और धनवान् पुरुष पुत्रोंके लिये तरसा करते हैं तो भी उनके घरमें पुत्र नहीं होते, इसलिये दैवका कर्त्तव्य विचित्र है ॥ २४ ॥ रोग, अग्नि, जल, शस्त्र, भूख, प्यास, आपत्ति, विष, ज्वर, मरण, ऊँच नीच, और अधोगति आदि सब प्राणियोंके जन्मके समय जो २ उनके लिये रचाजाता है वे उसको ही जन्मके बाद पाते हैं और उसका उल्लंघन कोई भी नहीं कर सकता तथा उसको त्यागकर दूसरी वस्तुओंको ग्रहण करनेवाला भी कोई देखनेमें नहीं आया है, प्रारब्धके अनुसार जिसकी जैसी वृत्ति रची गई है वह प्राणी उस ही मार्गका वर्त्ताव करता है, उसका रेखामात्र भी त्याग नहीं कर सकता ॥२५-२६॥ हम धनवान् पुरुषोंको जवानीमें ही मरते हुए देखते हैं और दरिद्रियोंको महादुःखकी दशामें सौ वर्ष तक बुढ़ापेसे दुःख उठाते हुए देखते हैं, इससे

शतवर्षो जरान्वितः ॥ २७ ॥ अकिञ्चनाश्च दृश्यन्ते पुरुषाश्चिरजीविनः । समृद्धे च कुले जाता विनश्यन्ति पतंगवत् ॥२८॥ प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते । काष्ठान्यपि हि जीर्यन्ते दरिद्राणां च सर्वशः ॥ २९ ॥ अहमेतत्करोमीति मन्यते कालचोदितः । यद् यदिष्टमसन्तोषाद् दुरात्मा पापमाचरेत् ॥ ३० ॥ मृगयाक्षाः स्त्रियः पानं प्रसंगा निंदिता बुधैः । दृश्यन्ते पुरुषाश्चात्र संप्रयुक्ता बहुश्रुताः ॥ ३१ ॥ इति कालेन सर्वार्थानीप्सितानीप्सितानि ह । स्पृशन्ति सर्वभूतानि निमित्तं नोपलभ्यते ॥ ३२ ॥ वायुमाकाशमग्निञ्च चन्द्रादित्यावहःक्षये ।

मालूम होता है, कि-कर्मकी गति बडी गहन है ॥ २७ ॥ और हे राजन् ! जिनके पास कुछ भी नहीं होता ऐसे दरिद्री मनुष्य बहुत समय तक जीते हुए देखनेमें आते हैं और महासम्पदावान् के कुलमें जन्म लेनेवाले पुरुष पतङ्गोंकी समान झट नष्ट होते देखनेमें आते हैं ॥ २८ ॥ इसलोकमें प्रायः श्रीमान् पुरुषोंको भोग भोगनेकी (खाया हुआ पचानेकी) शक्ति नहीं होती और दरिद्र मनुष्योंको लकडियें भी पचजाती हैं ॥ २९ ॥ मनुष्यको काम करनेके लिये समय प्रेरणा करता है तो भी वह अहंभावसे समझता है, कि-मैं ही इस कामको करता हूँ और असन्तोषी बनकर अपना मनमाना पापाचरण करता है और उस पापसे डरता नहीं है ॥ ३० ॥ शिकार, जुआ, वेश्यागमन, और मद्यपान आदिकी शास्त्रकारोंने निन्दा की है, तो भी बहुत कुछ पढ़े हुए मनुष्य भी उन व्यसनोंमें पड़े हुए देखनेमें आते हैं ॥३१॥ इस प्रकार प्राणियोंको कालके प्रभावसे इष्ट और अनिष्ट सकल पदार्थोंका सम्बन्ध हुआ ही करता है और दैवके सिवाय उसमें दूसरा कोई भी कारण देखनेमें नहीं आता ॥ ३२ ॥ वायु आकाश, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, दिन, रात, तारागण, नदी, और

ज्योतींषि सरितः शैलान् कः करोति बिभर्ति च ॥ ३३ ॥ शीत-मुष्णं तथा वर्षं कालेन परिवर्त्तते । एवमेव मनुष्याणां सुखदुःखे नरर्षभ ॥ ३४ ॥ नौषधानि न मन्त्राश्च न होमा न पुनर्जपाः । त्रायन्ते मृत्युनोपेतं जरया चापि मानवम् ३५ यथा काष्ठञ्च काष्ठञ्च समेयातां महोदधौ । समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः ३६ ये चैव पुरुषाः स्त्रीभिर्गीतवाद्यैरुपस्थिताः । ये चानाथाः परान्नादाः कालस्तेषु समक्रियः ॥ ३७ ॥ मातापितृसहस्राणि पुत्र-

पहाडोंको काल उत्पन्न करता है, और काल ही धारण करता है, सरदी, गरमी, वर्षा, यह सब भी कालके योगसे ही बदला करते हैं और हे राजन् ! मनुष्योंको इस प्रकार ही सुख तथा दुःख भी कालके प्रभावसे ही हुआ करते हैं ॥३३-३४॥ तथा जब पुरुषों को मृत्यु या बुढ़ापा घेरता है तब औषध, मंत्र, होम और जप इनमेंसे कोई भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता ॥ ३५ ॥ परन्तु जैसे महासागरमें दो लक्कड दैवयोगसे इकट्ठे होजाते हैं, और इकट्ठे होनेके बाद (समय आने पर) फिर बिखर जाते हैं, इस प्रकार ही प्राणी दैवयोगसे एक दूसरेके साथ इकट्ठे मिलकर (अवसर आने पर) फिर विलग होजाते हैं ॥ ३६ ॥ दैवयोगसे मनुष्य अनेकों प्रकारकी स्त्रियोंके विलासमें तथा गाना बजाना आदि मनोहर प्रसङ्गमें अपने दिन बिता देते हैं और दैवयोगसे ही मनुष्य अनाथ होनेके कारण दूसरोंके पास भीख माँगनेमें ही अपने दिन बिता देते हैं, परन्तु इन दोनों प्रकारके मनुष्योंकी मृत्यु तो एकसी रीतिसे ही होती है ॥३७॥ इस अनादि संसार के प्रवाहमें पड़े हुए प्राणियोंने हजारों माता पिताओंके पेटसे जन्म लेकर उनका अनुभव किया है तथा सैंकडों पुत्रों (के पिता) स्त्रियों (के पति) आदिका भी अनुभव किया है, परन्तु अन्त-कालमें हमारा और उनका सम्बन्ध नहीं रहा, किसके वे? और

दारशतानि च । संसारेष्वनुभूतानि कस्य ते कस्य वा वयम् ३८
नैवास्य कश्चिद्भविता नायं भवति कस्यचित् । पथि सङ्गतमेवेदं
दारबन्धुसुहृज्जनैः ॥ ३९ ॥ क्वासे क्व च गमिष्यामि कोन्वहं
किमिहास्थितः । कस्मात्किमनुशोचेयमित्येवं स्थापयेन्मनः ४०
अनित्ये प्रियसंवासे संसारे चक्रवद्गतौ । पथि सङ्गतमेवैतद् भ्राता
माता पिता सखा ॥ ४१ ॥ न दृष्टपूर्वं प्रत्यक्षं परलोकं विदु-
र्बुधाः । आगमांस्त्वनतिक्रम्य श्रद्धातव्यं बुभूषता ॥४२॥ कुर्वीत

किसके हम ? (अर्थात् कोई किसीका नहीं है) ॥३८॥ अन्तकाल
के बाद पुत्र स्त्री आदि किसीका सम्बन्ध नहीं हुआ और होगा
भी नहीं, जैसे मार्गमें साथ चलते समय बटोहियोंका सम्बन्ध
होजाता है, ऐसा ही स्त्री, पुत्र, बन्धु, मित्र आदिके सम्बन्धको
जानो ॥ ३९ मैं कहाँ हूँ, कहाँ जाऊँगा, कौन हूँ, किस कारणसे
यहाँ आया हूँ, किसलिये किसका शोक करता हूँ ? इसप्रकार
विवेकी मनुष्यको अपने मनमें नित्य विचार करना चाहिये॥४०॥
चक्रकी समान घूमते हुए इस अनादिकालके संसारके प्रवाहमें
पड़ेहुए विवेकी पुरुषोंको माता, पिता, पुत्र, भाई इन सबोंके
साथ बटोहियोंकेसा संबन्ध रखना चाहिये ॥ ४१ ॥(इस प्रकार
बान्धवोंके मरणसे शोकातुर हुए राजा युधिष्ठिरको उपदेश देकर
उनका शोक दूर करनेके लिये वेदव्यासजी फिर कहने लगे, कि-
हे राजा युधिष्ठिर! तुम अपने प्रिय पुरुषोंके वियोगका व्यर्थ शोक
करना छोड़दो तथा युद्धमें मरने वाले नरकमें गये होंगे, यह शोक
भी न करो, इतना कहकर फिर जो वचन अश्मनने जनकसे
कहे थे, उनही वचनोंको वेदव्यासजी कहते हैं, कि-) किसीने
परलोकको इस मानसिक चक्षुसे प्रत्यक्ष नहीं देखा है, यह तो
केवल शास्त्रके वचनसे ही जाना जासकता है, तुम भी शास्त्रके
वचनको मानते होओ तो वे रणमें मारे जानेके कारण मुक्ति

पितृदैवत्यं धर्म्याणि च समाचरेत् । यजेच्च विद्वान् विधिवत् त्रिवर्गं चाप्युपाचरेत् ॥ ४३ ॥ संनिमज्जेज्जगदिदं गम्भीरे कालसागरे । जरामृत्युमहाग्राहे न कश्चिदवबुध्यते ॥४४ ॥ आयुर्वेदमधीयानाः केवलं सपरिग्रहाः । दृश्यन्ते बहवो वैद्या व्याधिभिः समभिप्लुताः ॥ ४५ ॥ ते पिबन्तः कषायांश्च सर्पींषि विविधानि च । न मृत्युमतिवर्त्तन्ते वेलामिव महोदधिः ॥४६॥ रसायनविदश्चैव सुप्रयुक्तरसायनाः । दृश्यन्ते जरया भग्ना नगा नागैरिवोत्तमैः ॥ ४७ ॥ तथैव तपसोपेताः स्वाध्यायाभ्यसने रताः ।

पागये हैं, (शास्त्रके लेखानुसार) ऐसा ही मानो, कल्याण अथवा सुख चाहनेवाले वेदके वचनोंका उल्लंघन न करके उनके ऊपर श्रद्धा रक्खें, यही अच्छा है ॥४२॥ विद्वान् पुरुषको पितरोंका श्राद्ध करना चाहिये, धर्मके दूसरे काम करने चाहियें, इन्द्र आदि देवताओंका यजन करना चाहिये तथा धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थोंका सेवन करना चाहिये ॥४३॥ शोक है, कि जिस महासागरमें जरा और मृत्युरूप बड़े२ मगर मच्छ हैं ऐसे कालरूप गंभीर (संसाररूप) महासागरमें यह सब जगत् पूर्णरीतिसे डूबरहा है, परन्तु उसके स्वरूपको कोई भी नहीं जान सकता॥ ४४ ॥ परन्तु जैसे कितने ही आयुर्वेदको पढ़ेहुए वैद्य लोगोंके रोगोंको मिटानेके लिये बड़े२ आडम्बर बनाकर बैठेहुए हैं, परन्तु उनको स्वयं ही रोगसे पीड़ा पाते हुए हम देखते हैं।४५। वे वैद्य स्वयं अनेकों प्रकारके काढ़े पीते हैं, घी तथा मात्रा आदि अनेकों प्रकारके पौष्टिक पदार्थोंका सेवन करते हैं तो भी जैसे समुद्र किनारेको नहीं लाँघसकता तैसे ही वे वैद्य भी मृत्युको नहीं लाँघ सकते ॥ ४६ ॥ अथवा जैसे बडे२हाथी छोटे२हाथियोंका तिरस्कार करते हैं तैसे ही रसायनका प्रयोग करनेवाले रसवैद्यों का भी जरा अवस्था तिरस्कार करती है ॥ ४७ ॥ ऐसे ही वेदों

दातारो यज्ञशीलाश्च न तरन्ति जरान्तकौ ॥ ४८ ॥ न ह्यहानि निवर्त्तन्ते न मासा न पुनः समाः । जातानां सर्वभूतानां न पक्षा न पुनः क्षपाः ॥४९॥ सोऽयं विपुलमध्वानं कालेन ध्रुवमध्रुवः । नरोऽवशः समभ्येति सर्वभूतनिषेवितम् ॥ ५० ॥ देहो वा जीवतोऽभ्येति जीवो वाऽभ्येति देहतः । पथि सङ्गममभ्येति दारैरन्यैश्च बन्धुभिः ॥ ५१ ॥ नायमत्यन्तसम्वासो लभ्यते जातु केनचित् । अपि स्वेन शरीरेण किमुतान्येन केनचित् ॥५२॥ क्व नु तेऽद्य पिता राजन् क्वनु तेऽद्य पितामहाः । न त्वं पश्यसि तानद्य न त्वां पश्यन्ति तेऽनघाः ॥ ५३ ॥ न चैव पुरुषो द्रष्टा स्वर्गस्य नरकस्य च । आगमस्तु सतां चक्षुर्नृपते तमिहाचर ॥ ५४ ॥ चरि-

का स्वाध्याय करनेवाले, तपस्वी, दान देनेवाले और यज्ञ करने वाले इन सबोंमेंसे कोई भी जरा मृत्युको नहीं जीत सकता।४८। इस संसारमें उत्पन्न हुए सब प्राणियोंके ऊपर दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष आदिसे नापनेवाला कालचक्र नित्य फिरा करता है ॥ ४९ ॥ पुण्य पापके कारण पराधीन हुए और सदा न रहनेवाले पुरुषको सकल प्राणियोंसे सेवित तथा अवश्य ही प्राप्त होनेवाले जन्म मरणके मार्गमें कालवश जाना पडता है ॥५०॥ जीवसे देहका प्रकट होना मानो चाहे देहसे जीवका प्रकट होना मानो, चाहेसो मानो, परन्तु इस संसाररूप मार्गमें स्त्री,पुत्र तथा बान्धवोंका बटोहियोंकी समान समागम होता है ॥ ५१ ॥ परन्तु इनमेंसे किसीके भी साथ कभी भी अत्यन्त सहवास नहीं रहता, अपने शरीरके साथ भी चिरकाल तक सहवास नहीं रहता,फिर दूसरे सम्बन्धियोंके साथ तो रहेगा ही कैसे ? ॥ ५२ ॥ हे पापरहित राजन् ! तेरे पिता पितामह कहाँ हैं? न तू ही उनको देखता है और न वे ही तुझको देखते हैं ॥ ५३ ॥ हे राजन् ! पुरुष अपनेआप स्वर्गको वा नरकको नहीं देख सकता,किन्तु महात्मा

तब्रह्मचर्यो हि प्रजायेत यजेत च । पितृदेवमनुष्याणामानृण्यादनसूयकः ॥ ५५ ॥ स यज्ञशीलः प्रजने निविष्टः प्राग्ब्रह्मचारी प्रविविक्तचक्षुः । आराधयेत् स्वर्गमिमञ्च लोकं परं च मुक्त्वा हृदयव्यलीकम् ॥ ५६ ॥ सम्यं हि धर्म्मं चरतो नृपस्य द्रव्याणि चाभ्याददतो यथावत् । प्रवृत्तधर्म्मस्य यशोभिवर्द्धते सर्वेषु लोकेषु चराचरेषु ॥ ५७ ॥ इत्येवमाज्ञाय विदेहराजो वाक्यं समग्रं परिपूर्णहेतुः । अश्मानमामन्त्र्य विशुद्धबुद्धिर्ययौ गृहं स्वं प्रति शान्तशोकः ॥५८॥ तथा त्वमप्यच्युत मुञ्च शोकमुत्तिष्ठ शक्रोपम हर्ष-

पुरुषोंके वचन पर आधार रखकर शास्त्रकी दृष्टिसे देखसकता है, इसलिये हे राजन् ! तुम भी इस संसारमें शास्त्रके आधारसे व्यवहार करो ॥५४॥ मनुष्य पहली अवस्थामें अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करे, फिर पितृऋण, देवऋण और ऋषिऋणसे छूटनेके लिये गृहस्थाश्रममें प्रवेश करे, फिर पुत्रादि सन्तान उत्पन्न करके ईर्षारहित हो पितरोंका तथा देवताओंका पूजन करे॥५५॥ ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करके गृहस्थाश्रममें आया हुआ विद्वान् मनुष्य, पुत्र आदि सन्तानको उत्पन्न करता है और यज्ञ आदि क्रियाओंके द्वारा जगत्का हित करके वानप्रस्थ आश्रममें रहता हुआ हृदयके अज्ञानका नाश करता है और फिर इस संसारको त्यागकर स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ५६ ॥ जो राजा रागद्वेषको त्याग कर विधिके अनुसार धर्मका आचरण करता है, नीतिसे धन प्राप्त करता है और उस धनको यज्ञ आदि सत्कर्मोंमें व्यय करता है उसका यश चराचर सब लोकोंमें फैलजाता है ॥५७॥ हे राजा युधिष्ठिर ! इस प्रकार अश्मन मुनिसे धर्मका सब रहस्य जानकर विदेह जनककी बुद्धि शुद्ध होगई, उसका शोक भी शान्त होगया और वह राजा मुनिको प्रणाम करके अपने स्थानको चला गया ॥ ५८ ॥ हे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ! अश्मन मुनिके उप-

मोहात्ततेण धर्मेण मही जिता ते तां भुंच्व कुन्तीसुत मावमंस्थाः॥४६
इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि
व्यासवाक्ये अष्टाविंशोध्यायः ॥२८॥

वैशम्पायन उवाच। अव्याहरति राजेन्द्रे धर्मपुत्रे युधिष्ठिरे। गुडाकेशो हृषीकेशमभ्यभाषत पाण्डवः॥ १ ॥ अर्जुन उवाच। ज्ञातिशोकाभिसन्तप्तो धर्मपुत्रः परन्तपः। एष शोकार्णवे मग्न-स्तमाश्वासय माधव। सर्वे स्म ते संशयिताः पुनरेव जनार्दन। अस्य शोकं महाबाहो प्रणाशयितुमर्हसि॥३॥ वैशम्पायन उवाच। एवमुक्तस्तु गोविन्दो विजयेन महात्मना। पर्य्यवर्त्तत राजानं पुण्डरीकेक्षणोऽच्युतः॥ ४ ॥ अनतिक्रमणीयो हि धर्मराजस्य

देशसे जैसे राजा जनकका शोक दूर हुआ तैसे ही तुम भी शोक को दूर करदो और उठो, खडे होजाओ। चन्द्रमाकी समान मनमें हर्ष मानो और क्षत्रियके धर्मसे जीतीहुई पृथिवीका उपभोग करो, उसका अपमान न करो॥४६॥ अट्ठाईसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २८ ॥

वैशम्पायनने कहा, कि-हे राजन्! वेदव्यासजीकी इस बातको सुनकर राजा युधिष्ठिरने कुछ नहीं कहा, चुप होकर बैठरहे, तब पाण्डुनन्दन अर्जुन श्रीकृष्णजीसे कहने लगा कि-॥१॥हे शत्रुतापन माधव! धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर संबन्धियोंका संहार होजानेसे कारण बड़े ही व्याकुल होकर शोकसागरमें डूबरहे हैं, आप इनको आश्वासन दीजिये ॥ २ ॥ हे जनार्दन! राजा युधिष्ठिरके शोकको देखकर हम सब फिर सन्देहमें पड़गए हैं, इसलिये हे महाबाहो! आप राजा युधिष्ठिरके शोकको दूर करिये ॥ ३ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे राजन्! महात्मा अर्जुनने श्रीकृष्णसे ऐसा कहा, तब कमलनेत्र श्रीकृष्ण राजा युधिष्ठिरके सामने जाकर बैठगए॥ ४ ॥ धर्मराज श्रीकृष्णकी बातको

केशवः । बाल्यात् प्रभृति गोविन्दः प्रीत्या चाभ्यधिकोऽर्जुनात् ५
स प्रगृह्य महाबाहुर्भुजं चन्दनभूषितम् । शैलस्तम्भोपमं शौरि-
रुवाचाभिविनोदयन् ॥ ६ ॥ ॥ शुशुभे वदनं तस्य सुदंष्ट्रं चारु-
लोचनम् । व्याकोशमिव विस्पष्टं पद्मं सूर्य्य इवोदिते ॥ ७ ॥
वासुदेव उवाच । मा कृथाः पुरुषव्याघ्र शोकं त्वं गात्रशोषणम् ।
न हि ते सुलभा भूयो ये हतास्मिन् रणाजिरे ॥८॥ स्वप्नलब्धा
यथा लाभा वितथा प्रतिबोधने। एवन्ते क्षत्रिया राजन् ये व्यतीता
महारणे ॥ ९ ॥ सर्वेप्यभिमुखाः शूरा विजिता रणशोभिनः ।
नैषां कश्चित् पृष्ठतो वा पलायन् वापि पातितः ॥ १० ॥ सर्वे
त्यक्त्वात्मनः प्राणान् युद्ध्वा वीरान्महामृधे । शस्त्रपूता दिवं प्राप्ता

टाल नहीं सकते थे, बालकपनसे ही उनकी श्रीकृष्णके ऊपर अर्जुनसे भी अधिक प्रीति थी ॥ ५ ॥ श्रीकृष्ण पर्वतकी समान दृढ और चन्दनसे चर्चित राजा युधिष्ठिरका हाथ पकडकर प्रसन्न होते हुए बोले ॥ ६ ॥ उस समय सूर्योदय होने पर खिलेहुए कमलकी समान, राजा युधिष्ठिरसे बात करते समय सुन्दर नेत्र और सुन्दर दन्तपंक्तिवाला श्रीकृष्णका मुखकमल शोभा पारहा था ॥७॥ श्रीकृष्णने कहा, कि-हे पुरुषसिंह! तुम इस शरीरको सुखादेनेवाले शोकको सर्वथा त्यागदो, शोक करनेसे. जो रणमें मारेगए हैं वे फिर आकर आपको नहीं मिलसकते, इसलिये शोक करना व्यर्थ है ॥ ८ ॥ हे राजन्! स्वप्नमें हमें जो पदार्थ मिलते हैं वे जागने पर मिथ्या मालूम होते हैं, ऐसे ही जो महासंग्राममें मारेगए हैं उन क्षत्रियोंको तुम मिथ्या जानो ॥ ९ ॥ रणको शोभा देनेवाले उन शूरोंने सामनेको छाती रोपकर युद्ध किया था और वे रणमें विजय पाकर मरे हैं, उनमेंका एक भी पीठ दिखाकर नहीं मरा है ॥ १० ॥ सब वीरोंने रणमें लडकर अपने प्यारे प्राणोंको त्यागा है, शस्त्रोंके प्रहारोंसे पवित्र हुए वे

न ताञ्छोचितुमर्हसि ॥ ११ ॥ क्षत्रधर्मपरताः शूरा वेदवेदाङ्ग-
पारगाः । प्राप्ता वीरगतिं पुण्यां तान्न शोचितुमर्हसि ॥ १२ ॥
मृतान्महानुभावांस्त्वं श्रुत्वैव पृथिवीपतीन् । अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ॥ १३ ॥ सृञ्जयं पुत्रशोकार्त्तं यथायं नारदोऽब्रवीत् । सुखदुःखैरहं त्वञ्च प्रजाः सर्वाश्च सृञ्जय ॥ १४ ॥ अविमुक्ता मरिष्यामस्तत्र का परिदेवना । महाभाग्यं पुरा राज्ञां कीर्त्यमानं मया शृणु ॥ १५ ॥ गच्छावधानं नृपते ततो दुःखं प्रहास्यसि । मृतान्महानुभावांस्त्वं श्रुत्वैव पृथिवीपतीन् ॥ १६ ॥ शमयानय सन्तापं शृणु विस्तरशश्च मे । क्रूरग्रहाभिशमनमायुर्वर्धन-

वीर स्वर्गमें गए हैं, उनका शोक तो करना ही नहीं चाहिये ११ वेद और वेदाङ्गोंके पारगामी, क्षत्रियधर्मके ऊपर प्रीति रखनेवाले उन वीरोंने पवित्र वीरगति पाई है, तुम्हें उनका शोक नहीं करना चाहिये ॥ १२ ॥ संग्राममें महानुभाव राजाओंका मरण हुआ सुनकर तुम्हारे मनमें शोक हुआ है उसको दूर करनेके लिये मैं तुम्हें एक पुराना इतिहास सुनाता हूँ, उसको तुम एकाग्र मनसे सुनो ॥ १३ ॥ पुत्रके शोकसे अत्यन्त दुःखी होतेहुए राजा सृञ्जयको उपदेश देतेहुए नारदमुनिने कहा था, कि–हे सृञ्जय! मैं तू तथा सब प्रजाको सुख दुःख लगाहुआ है और काल आने पर सब मरजायँगे, इसलिये शोक करना मिथ्या है, तेरा शोक मिटानेके लिये मैं तुझै प्राचीन राजाओंका माहात्म्य सुनाता हूँ; उसको सुन ॥ १४ ॥ १५ ॥ फिर नारदने जो कथा राजा सृञ्जयको सुनाई थी वही कथा श्रीकृष्ण युधिष्ठिरसे कहनेलगे, नारदमुनिने कहा, कि–हे सृञ्जय! तुम सावधान होकर पहले मरेहुए राजाओंका वृत्तान्त सुनो, कि–जिससे तुम्हारे दुःखका नाश हो ॥ १६ ॥ तुम्हारे सन्तापको शान्त करनेके लिये पुराने राजाओंका महात्म्य मैं तुम्हें विस्तारके साथ सुनाता हूँ, उसको

मुत्तमम् ॥ १७ ॥ अग्निमाणां क्षितिभुजामुपादानं मनोहरम् ।
आविक्षितं मरुत्तं वै मृतं सृञ्जय शुश्रुम ॥ १८ ॥ यस्य सेन्द्राः
सवरुणाः बृहस्पतिपुरोगमाः । देवा विश्वसृजो राज्ञो यज्ञमीयु-
र्महात्मनः॥१६॥ यः स्पर्द्धयाजयच्छक्रं देवराजं पुरन्दरम् । शक्र-
प्रियैषी यं विद्वान् प्रत्याचष्ट बृहस्पतिः ॥ २० ॥ सम्वर्त्तो याजया-
मास यवीयान् स बृहस्पतेः । यस्मिन् प्रशासति महीं नृपतौ राज-
सत्तम । अकृष्टपच्या पृथिवी विबभौ चैत्यमालिनी ॥ २१ ॥
आविक्षितस्य वै सत्रे विश्वेदेवाः सभासदः । मरुतः परिवे-
ष्टारः साध्याश्चासन्महात्मनः ॥२२॥ मरुद्गणा मरुत्तस्य यत् सोम-

तुम सुनो, जो माहात्म्य आयुको बढानेवाला और क्रूर ग्रहकी शान्ति करनेवाला है ॥ १७ ॥ नारदजी कहते हैं, कि-हे सृञ्जय! पहले अविक्षित राजाका मरुत्त नामका पुत्र था, वह सुन्दर और बड़ा पराक्रमी था, ऐसा हमने सुना है ॥ १८ ॥ उस महात्मा राजाने महायज्ञ किया था, उसमें बृहस्पति आदि, इन्द्रादि देवता, ब्रह्मा और वरुण ये सब आये थे ॥ १६ ॥ उस राजाने यज्ञ करनेसे पहले बृहस्पतिको बुलाकर बूझा, कि मुझे एक ऐसा महायज्ञ करना है, कि-जिससे इन्द्रका पराजय होजाय, मरुत्तकी बात सुनकर इन्द्रके ऊपर प्रीति रखनेवाले बृहस्पतिने पक्षपातसे यज्ञ करानेका निषेध करदिया, तब राजा मरुत्तने बृहस्पतिके छोटे भाई संवर्त्तसे यज्ञ करवाया, उस यज्ञमें इन्द्रादि देवताओंको और बृहस्पतिको भी आना पड़ा था, हे राजन् ! जिस समय राजा मरुत्त पृथिवी पर राज्य करता था, उस समय पृथिवी अनेकों प्रकारके धान्य और ओषधीओंसे शोभा पारही थी ॥२०॥ २१॥ अविक्षित्के पुत्र राजा मरुत्तके यज्ञमें विश्वेदेवता सभासद बने थे, मरुत् और साध्य नामके देवता आगत स्वागत करनेके लिये और पाहुनोंको भोजन करानेके लिये परोसने पर रहे थे तथा

मपिबंस्ततः । देवान्मनुष्यान् गन्धर्वानत्यरिच्यन्त दक्षिणाः २३
स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया । पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा
पुत्रमनुतप्यथाः ॥२४॥ सुहोत्रञ्चैवातिथिनं मृतं शुश्रुम सृञ्जय ।
यस्मिन् हिरण्यं ववृषे मघवा परिवत्सरम् ॥२५॥ सत्यनामा वसु-
मती यं प्राप्यासीज्जनाधिपम् । हिरण्यमवहन्नद्यस्तस्मिन् जन-
पदेश्वरे ॥ २६ ॥ कूर्मान् कर्कटकान्नक्रान् मकराञ्छिशुकानपि ।
नदीष्वपातयद्राजन् मघवा लोकपूजितः ॥२७॥ हिरण्यान् पाति-
तान् दृष्ट्वा मत्स्यान् मकरकच्छपान् । सहस्रशोऽथ शतशस्ततोऽस्मय
दथोऽतिथिः ॥२८॥ तद्धिरण्यमपर्य्यन्तमावृतं कुरुजांगले । ईजानो

मरुत्गण, स्वयं सोमपान करके प्रसन्न हुए थे, उस राजाने यज्ञमें इतनी अधिक दक्षिणायें दी थीं, कि–जिन दक्षिणाओंको देवता, मनुष्य और गन्धर्व भी नहीं उठासके थे ॥ २२॥२३ ॥ हे राजा सृञ्जय ! ऐसा मरुत्त नामका राजा धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यमें तुमसे भी अधिक था और तेरे पुत्रसे भी विशेष पुण्यवान् था, तथापि वह कालके बलसे मरगया, इसलिये तू अपने पुत्रका शोक न कर ॥ २४ ॥ और हे सृञ्जय ! हमने सुना है, कि–अतिथियोंका सत्कार करनेवाला राजा सुहोत्र भी मरगया, जिस राजाके राज्यमें इन्द्रने एक वर्ष तक निरन्तर सोना बरसाया था, ॥ २५ ॥ और उस राजाका राज्य होने पर पृथिवी भी अच्छे प्रकारसे वसुमती(धनसे पूर्ण)कहलाई थी, उस राजाके राज्य करते समय नदियें सोना बहातीं थीं २६ और लोकोंमें पूजनीय इन्द्रने भी उस राजाके देशकी नदियोंमें कछुए, केंकडे, मगर, मच्छ और शिशुकोंको सोनेके करदिया था॥२७॥नदियोंकी मच्छियें, कछुए, मगर आदि हजारों और सैंकडों जलचरोंको सोनेके देख कर अतिथियोंसे प्रेम करनेवाला राजा सुहोत्र प्रसन्न होकर कहउठा था, कि–मेरे राज्यमें वर्षासे होनेके कारण हजारों जलचर

वितते यज्ञे ब्राह्मणेभ्यः समार्पयत् ॥ २९ ॥ स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया । पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ३० ॥ अदक्षिणमयज्वानं चैत्य संशाम्य मा शुच । अंगं बृहद्रथञ्चैव मृतं सृञ्जय शुश्रुम ॥ ३१ ॥ यः सहस्रं सहस्राणां श्वेतानश्वानवासृजत् । सहस्रञ्च सहस्राणां कन्या हेमपरिष्कृताः ॥ ३२ ॥ ईजानो वितते यज्ञे दक्षिणामत्यकालयत् । यः सहस्रं सहस्राणां गजानामतिपद्मिनाम् ॥ ३३ ॥ ईजानो वितते यज्ञे दक्षिणायत् । शतं शतसहस्राणां वृषाणां हेममालिनाम् ॥ ३४ ॥ गवां सहस्रानुचरं दक्षिणामत्यकालयत् । अङ्गस्य यजमानस्य तदा विष्णुपदे गिरौ ॥ ३५ ॥ अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः । यस्य यज्ञेषु राजेन्द्र शतसंख्येषु वै पुरा ॥ ३६ ॥ देवान्

आकाशमेंसे गिरे हैं ॥ २८ ॥ राजा सुहोत्रने कुरुजाङ्गल देशमें वर्षाके द्वारा गिरे हुए सोनेको इकट्ठा करवाया और एक बडा भारी यज्ञ करके उसमें ब्राह्मणोंको अच्छे प्रकारसे दान दे दिया २९ हे राजा सृञ्जय! धर्म, ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य इन चारोंमें तेरी अपेक्षा परमश्रेष्ठ और तेरे पुत्रसे अधिक पुण्यवान् अतिथियोंसे प्रेम करनेवाला राजा सुहोत्र भी कालके बलसे मरगया, इस लिये तू अपने पुत्रका शोक न कर, क्योंकि-तेरे पुत्रने तो यज्ञ भी नहीं किये थे तथा ब्राह्मणोंको दक्षिणायें भी नहीं दी थीं और हे राजन्! पहले अङ्ग देशका बृहद्रथ नामका राजा था, हम सुनते हैं कि-वहभी मरगया, अङ्गराजने विष्णुपद नामके पहाड पर महायज्ञ करके ब्राह्मणोंको दश लाख सफेद रङ्गके घोडे, दश लाख सोनेके गहनोंवाली कन्याएँ, दश लाख हाथी, सोनेकी मालावाले एक करोड़ बैल और सेवकों सहित हजार गौएँ दक्षिणामें दी थीं ॥ ३०-३५ ॥ हे राजेन्द्र! पहले उसने सैंकड़ों सोमयज्ञ किये थे, जिनमें इन्द्र सोमपान करके उन्मत्त हो

मनुष्यान् गन्धर्वानत्यरिच्यन्त दक्षिणाः । न जातो जनिता चान्यः पुमान् यस्तत् प्रदास्यति ॥ ३७ ॥ यदंगः प्रददौ वित्तं सोमसंस्थासु सप्तसु । स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ॥ ३८ ॥ पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः । शिबिमौशीनरञ्चैव मृतं सृञ्जय शुश्रुम ॥३९॥ य इमां पृथिवीं सर्वाञ्चर्मवत् समवेष्टयत् । महता रथघोषेण पृथिवीमनुनादयन् ॥४०॥ एकच्छत्रां महीं चक्रे जैत्रेणैकरथेन यः। यावदस्य गवाश्वं स्यादारण्यैः पशुभिः सह४१ तावत्यो प्रददौ गाः स शिबिरौशीनरोऽध्वरे । न वोढारं धुरं तस्य कञ्चिन्मेने प्रजापतिः ॥ ४२ ॥ न भूतं न भविष्यं च सर्वराजसु

होगया था और ब्राह्मण दक्षिणा लेकर उन्मत्त होगये थे॥३६॥ उसके यज्ञकी दक्षिणा इतनी थीं, कि- उनको देवता, मनुष्य और गन्धर्व उठा नहीं सके थे, ऐसा कोई पुरुष उत्पन्न नहीं हुआ और उत्पन्न होगा भी नहीं, कि-जो, अङ्गराजने अपनी सात सोम संस्थाओंमें जितनी दक्षिणा दी थी उतनी दक्षिणा देसके, हे राजन्! ऐसा अङ्गराज धर्मादि चार बातोंमें तुझसे भी अधिक श्रेष्ठ था और तेरे पुत्रसे भी अधिक पुण्यवान् था, तो भी वह कालके वलसे मरगया, इसलिये तू अपने पुत्रका शोक न कर और हे राजन्! हमने सुना है, कि-उशीनरका पुत्र शिबि भी मरगया ॥ ३७-३९ ॥ उस राजाने बड़े रथमें बैठकर रथकी घरघराहटसे सब पृथ्वीको गुंजारदिया था, उसने चमड़ेसे मढ़े हुए विजयी रथमें बैठकर सब पृथ्वीको अपने वशमें करलिया था॥४०। उशीनरके पुत्र शिबिने यज्ञ करके अपनी सब गौएँ और घोड़ों को वनके पशुओंके सहित दान करके देदिया था॥४१॥और हे राजा सृञ्जय! प्रजापति ब्रह्मा, बीते हुए और होनेवाले राजाओंमें इन्द्रकी समान पराक्रमी उशीनरके पुत्र शिबिकी समान किसी भी राजाको राज्यका भार उठानेमें सामर्थ नहीं मानता था, वह दान आदिमें

सृंजय । अन्यत्रौशीनराच्छैब्यादाजर्षेरिन्द्रविक्रमात् ॥ ४३ ॥ अदक्षिणमयज्वानं मा पुत्रमनुतप्यथाः।स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया । पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ४४ ॥ भरतं चैव दौष्यन्तिं मृतं शुश्रुम सृंजय । शाकुन्तलं महात्मानं भूरिद्रविणसंचयम् ॥ ४५ ॥ यो बद्ध्वा त्रिशतं चाश्वान् देवेभ्यो यमुनामनु । सरस्वतीं विंशतिं च गङ्गामनु चतुर्दश ॥ ४६ ॥ अश्वमेधसहस्रेण राजसूयशतेन च । इष्टवान् स महातेजा दौष्यन्तिर्भरतः पुरा ॥ ४७ ॥ भरतस्य महत्कर्म सर्वराजसु पार्थिवाः । खं मर्त्या इव बाहुभ्यां नानुगन्तुमशक्नुवन् ॥ ४८ ॥ परं सहस्राद्यो बद्ध्वान् हयान् वेदीं विततय च । सहस्रं यत्र पद्मानां कण्वाय भरतो ददौ४६ स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया । पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा

तुझसे श्रेष्ठ था और तेरे पुत्रसे अधिक पुण्यवान् था, तो भी कालके बलसे मरगया, इस लिये तू यज्ञ याग न करनेवाले और दान न देनेवाले अपने पुत्रका शोक न कर ॥ ४२–४४ ॥ हे सृञ्जय ! हमने सुना है, कि–राजा दुष्यन्तका पुत्र भरत भी मर गया, वह राजा शकुन्तलाके पेटसे उत्पन्न हुआ था, उसके पास बहुतसा धन था ॥ ४५ ॥ महात्मा राजा भरतने देवताओंको प्रसन्न करनेके लिये यमुना नदीके तटपर तीन सौ, सरस्वतीके तटपर बीस और गङ्गाके तटपर चौदह घोडोंको बाँध कर पहले एक हजार अश्वमेध और सौ राजसूय यज्ञ किये थे ॥४६॥४७॥ जैसे मनुष्य दोनों हाथोंसे आकाशमें नहीं जासकते, तैसे ही सकल राजे भरतकी समान महान् कर्म नहीं करसके थे ॥ ४८ ॥ इस राजा भरतके यज्ञमें हजार ब्राह्मणोंको दश करोड घोडे दिये गये थे और अपने पालनकर्त्ता कण्व ऋषिको उसने असंख्य घोडे तथा बहुतसा धन दिया था ॥ ४६ ॥ हे सृञ्जय ! वह राजा भरत ज्ञान आदिमें तुझसे श्रेष्ठ था और तेरे पुत्रसे भी अतीव श्रेष्ठ

पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ५० ॥ रामं दाशरथिं चैव मृतं शुश्रुम सृञ्जय ।
योन्वकम्पत वै नित्यं प्रजाः पुत्रानिवौरसान्५१ विधवा यस्य विषये
नानाथाः काश्चनाभवन् । सदैवासीत् पितृसमो रामो राज्यं यद-
न्वशात् ॥ ५२ ॥ कालवर्षी च पर्ज्जन्यः शस्यानि समुपादयत् ।
नित्यं सुभिक्षमेवासीद्रामे राज्यं प्रशासति ॥५३॥ प्राणिनो नाप्सु
मज्जन्ति नान्यथा पावकोऽदहत् । रुजा भयं न तत्रासीद्रामे राज्यं
प्रशासति ॥ ५४ ॥ आसन् वर्षसहस्त्रिण्यस्तथा वर्षसहस्त्रकाः ।
अरोगाः सर्वसिद्धार्था रामे राज्यं प्रशासति ॥ ५५ ॥ नान्यो-
न्येन विवादोभूत्स्त्रीणामपि कुतो नृणाम् । धर्मनित्याः प्रजाश्चा-
सन् रामे राज्यं प्रशासति ॥५६॥ सन्तुष्टाः सर्वसिद्धार्था निर्भयाः
स्वैरचारिणः । नराः सत्यव्रताश्चासन् रामे राज्यं प्रशासति ५७

था, वह राजा भी कालके वलसे मरगया, इसलिये तू अपने पुत्रका शोक न कर ॥ ५० ॥ हे सृञ्जय ! हमने सुना है, कि- दशरथके पुत्र राम भी परलोकको पधारगये, वह रामचन्द्र अपनी प्रजाका नित्य सन्तानकी समान पालन करते थे ॥५१॥ उनके राज्यमें कोई भी विधवा नहीं थी तथा कोई अनाथ भी नहीं था, वह स्वयं पिताकी समान अपने राज्यका पालन करते थे ॥५२॥ उनके राज्यके समयमें समयानुसार वर्षा होती थी, पृथिवी पर अन्न पकता था, सदा सुकाल ही रहता था ॥ ५३ ॥ प्राणी जलमें डूबकर नहीं मरते थे, कहीं आग नहीं लगती थी, प्राणियोंको भाँति २ के रोगोंका भय नहीं था ॥ ५४ ॥ मनुष्योंके मनोरथ सिद्ध होते थे, स्त्रियें और पुरुष हजारों वर्षकी चिरायु भोगते थे, किसी भी रोगसे कोई पीडित नहीं होता था ॥ ५५ ॥ उनके राज्यमें स्त्रियें आपसमें विवाद नहीं करती थीं, फिर पुरुष तो करते ही कहाँसे ? उनकी प्रजा अपने धर्ममें तत्पर रहती थी ॥ ५६ ॥ सब प्राणी सन्तुष्ट रहते थे, सबके मनोरथ सिद्ध

नित्यपुष्पफलाश्चैव पादपा निरुपद्रवाः । सर्वा द्रोणदुघा गावो रामे राज्यं प्रशासति ॥ ५८ ॥ स चतुर्दश वर्षाणि वने प्रोष्य महातपाः । दशाश्वमेधान् जारूथ्यान् आजहार निरर्गलान् ५९ युवा श्यामो लोहिताक्षो मातङ्ग इव यूथपः । आजानुबाहुः सुमुखः सिंहस्कन्धो महाभुजः ॥ ६० ॥ दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च । अयोध्याधिपतिर्भूत्वा रामो राज्यमकारयत् ॥ ६१ ॥ स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया । पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ६२ ॥ भगीरथं च राजानं मृतं शुश्रुम सृंजय । यस्येन्द्रो वितते यज्ञे सोमं पीत्वा मदोत्कटः ॥ ६३ ॥ असुराणां सहस्राणि बहूनि सुरसत्तमः । अजयद्बाहुवीर्य्येण भगवान् पाक-

होते थे, सब निर्भय, स्वतन्त्र और सत्यवादी थे ॥ ५७ ॥ उपद्रव रहित वृक्ष नित्य फूलफलोंवाले रहते थे और गौएँ नित्य एक घड़ाभर दूध देती थीं ॥ ५८ ॥ श्रीरामचन्द्रने पिताकी आज्ञासे चौदह वर्ष तक वनमें वास किया था, फिर बड़ी प्रशंसाके योग्य दश अश्वमेध यज्ञ किये थे, उन यज्ञोंमें सबोंको आनेके लिये स्वतंत्रता दी थी ॥ ५९ ॥ यह राम युवा, श्यामवर्ण, लाल २ नेत्रोंवाले, यूथपति हाथीकी समान बलवान् और घुटनों तक लम्बी भुजाओंवाले थे, उनका मुख सुन्दर, कन्धे सिंहकी समान ऊँचे और भुजायें बडी २ थीं ॥ ६० ॥ उन रामने ग्यारह हजार वर्षों तक अयोध्यापुरीके राजसिंहासन पर बैठकर राज्य किया था॥६१॥हे राजा सृञ्जय! राम ज्ञान आदि चार विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ थे और तेरे पुत्रकी अपेक्षा वे विशेष पुण्यवान् थे तो भी वे राम परलोकको पधारगए, इसलिये हे सृञ्जय ! तू अपने पुत्रका शोक न कर६२और हे राजन् ! हम सुनते हैं कि-राजा भगीरथ भी मरगया, जिसके बड़े विस्तार वाले यज्ञमें भगवान् इन्द्र सोमरस पीकर मदोन्मत्त बनगए थे, इसलिये पकके

शासनः॥६४॥यः सहस्रं सहस्राणां कन्या हेमविभूषिताः। ईजानो वितते यज्ञे दक्षिणामत्यकालयत् । सर्वा रथगताः कन्याः रथा सर्वे चतुर्युजः। शतं शतं रथे नागा पद्मिनो हेममालिनः ॥ ६६ ॥ सहस्रमश्वा एकैकं हस्तिनं पृष्ठतोऽन्वयुः गवां सहस्रमश्वेऽश्वेसहस्रं गव्यजाविकम् ॥ ६७ ॥ उपह्वरे निवसतो यस्यांके निषसाद ह। गङ्गा भागीरथी तस्मादुर्वशी चाभवत्पुरा ॥ ६८ ॥ भूरिदक्षिण-मैक्ष्वाकं यजमानं भगीरथम् । त्रिलोकपथगा गङ्गा दुहितृत्वमुपे-युषी ॥६९॥ स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया। पुत्रात् पुण्य-तरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ७० ॥ दिलीपं च महात्मानं मृतं

शत्रु इन्द्रने अपनी भुजाओंके पराक्रमसे हजारों असुरोंका परा-जय किया था ॥ ६३ ॥ ६४ ॥ इस राजा भगीरथने महायज्ञ करके उसकी दक्षिणामें सोनेके आभूषणोंसे सजी हुई दश लाख कन्याएँ दान करके दी थीं ॥ ६५ ॥ उनमेंसे हरएक कन्याको चार घोड़ोंसे जुताहुआ एक २ रथ, एक २ रथके साथ सोनेकी मालाओंसे सजेहुए सौ २ हाथी ॥ ६६ ॥ एक २ हाथीके पीछे हजार २ घोड़े, एक२ घोडेके पीछे हजार २ गौएँ और एक २ गौके पीछे हजार २ बकरे तथा मेंढे दिये थे ॥ ६७ ॥ गङ्गादेवी भी पहले समीपमें रहनेवाले राजा भगीरथकी गोदमें आबैठी थीं और उर्वशी नामसे प्रसिद्ध होगई थीं (स्वर्ग, मृत्यु और पाताल) तीन मार्गोंसे बहनेवाली गङ्गा बहुतसी दक्षिणाके यज्ञ करनेवाले राजा भगीरथकी पुत्री बनकर उत्पन्न हुई थी इस लिये ही वह भागीरथी कहलाती है ॥६८–६९॥ हे राजा सृञ्जय ! ज्ञान आदि चार बातोंमें तुझसे अधिक श्रेष्ठ राजा भगीरथ भी कालके योगसे मरणको प्राप्त होगया, वह तेरे पुत्रसे भी बहुत अधिक पुण्यवान् था, इसलिये तू अपने पुत्रका शोक न कर ७० और हे राजा सृञ्जय ! हमने सुना है, कि–राजा दिलीप भी

शुश्रुम सृंजय । यस्य कर्माणि भूरीणि कथयन्ति द्विजातयः ७१
य इमां वसुसम्पूर्णां वसुधां वसुधाधिपः । ददौ तस्मिन्महायज्ञे ब्राह्मणेभ्यः समाहितः ॥ ७२ ॥ यस्येह यजमानस्य यज्ञे यज्ञे पुरोहितः । सहस्रं वारणान् हैमान् दक्षिणामत्यकालयत् ॥७३॥ यस्य यज्ञे महानासीद्यूपः श्रीमान् हिरण्मयः । तं देवा कर्म्म कुर्वाणाः शक्रज्येष्ठा उपाश्रयन् ॥ ७४ ॥ चषाले यस्य सौवर्णे तस्मिन्यूपे हिरण्मये । ननृतुर्देवगन्धर्वाः षट् सहस्राणि सप्तधा ७५
अवादयत्तत्र वीणां मध्ये विश्वावसुः स्वयम् । सर्वभूतान्यमन्यन्त मम वादयतीत्ययम् ॥ ७६ ॥ एतद्राज्ञो दिलीपस्य राजानो नानुचक्रिरे । यस्येभा हेमसञ्छन्नाः पथि मत्ता स्म शेरते ॥ ७७ ॥

मरगया, उसके बहुतसे पुण्यकर्मोंका ब्राह्मण अब भी गान करते हैं ॥ ७१ ॥ हे राजा सृञ्जय ! जिस राजाने अपने महायज्ञमें सावधान होकर धनसे भरीहुई पृथिवी ब्राह्मणोंको दानमें दी थी ॥ ७२ ॥ जिस राजाने हरएक यज्ञमें अपने पुरोहितको सोनेसे सजेहुए हजार २ हाथी दानमें दिये थे ॥ ७३ ॥ जिस राजाके यज्ञमें सुवर्णसे शोभायमान यज्ञका खम्भा खडा किया गया था और जिसके यज्ञका अनुष्ठान होते समय इन्द्रादि बड़े २ देवता प्रत्यक्ष रूपसे आये थे ॥ ७४ ॥ जिसके यज्ञमें सब पात्र सोनेके थे, जिसके यज्ञके समय छः हजार देवता और गन्धर्वोंने आकर सात स्वरोंके अनुसार नृत्य किया था ॥७५॥ और जब वे गन्धर्व नृत्य कररहे थे उस समय विश्वावसु नामका गन्धर्व सबके मध्यमें खडा होकर वीणा बजारहा था और उसने ऐसी वीणा बजाई थी, कि-वहाँ आयेहुए सब लोग यह समझने लगे, कि-मेरे ही सामने खड़े होकर वीणा बजारहा है ॥७६॥ और हजारों राजे सुवर्णसे सजेहुए मदोन्मत्त हाथियोंको लेकर उस राजा दिलीपको भेंटमें देने आये थे ॥७७॥ उस शतधन्वा,

राजानं शतधन्वानं दिलीपं सत्यवादिनम्। येऽपश्यन् सुमहात्मानं तेऽपि स्वर्गजितो नराः ॥७८॥ त्रयः शब्दा न जीर्यन्ते दिलीपस्य निवेशने। स्वाध्यायघोषो ज्याघोषो दीयतामिति वै त्रयः ॥७९॥ स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया। पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥८०॥ मान्धातारं यौवनाश्वं मृतं शुश्रुम सृंजय। यं देवा मरुतो गर्भं पितुः पार्श्वादपाहरन् ॥ ८१ ॥ समृद्धो युवनाश्वस्य जठरे यो महात्मनः। पृषदाज्योद्भवः श्रीमांस्त्रिलोकविजयी नृपः ॥ ८२ ॥ यं दृष्ट्वा पितुरुत्सङ्गे शयानं देवरूपिणम्।

सत्यवादी, महात्मा राजा दिलीपका जिन्होंने दर्शन किया उन्होंने भी स्वर्गको जीतलिया ॥ ७८ ॥ वह जिन राजमहलोंमें रहता था तहाँ नित्य तीन शब्द हुआ करते थे (एक वेदाध्ययनका, दूसरा धनुषकी मत्यञ्चाका और तीसरा याचकोंका)७९ हे राजा सृञ्जय ! ऐसा तुमसे भी अधिक ऐश्वर्य आदि वाला और तेरे पुत्रसे भी अधिक पुण्यवाला राजा दिलीप भी कालके बलसे मरगया, हे राजन् ! फिर तू अपने पुत्रका शोक क्यों करता है? ॥८०॥ नारदजीने कहा, कि–हे सृञ्जय ! हमने सुना है, कि–राजा युवनाश्वका पुत्र मान्धाता भी मरगया, इस राजा मान्धाताको मरुत् नामके देवताओंने उसके पिताके पेटकी एक करवटमेंसे निकाला था ॥८१॥ उसके जन्मके विषयमें यह कथा है, कि–उसके पिताके पुत्र नहीं होता था, इस कारण उसके लिये ऋषिने दही और घीका चरु बनाया, उस चरुको राजा युवनाश्वने अनजानमें खालिया, इसलिये उसके गर्भ रहगया, कितने ही दिनोंमें वह गर्भ राजाका पेट फाड़कर पुत्ररूपसे बाहर निकला. अभिमंत्रित चरुके प्रभावसे वह कुमार बडा ही कान्तिमान और तीनों लोकोंको जीतनेवाला राजा हुआ था ॥ ८२ ॥ राजा युवनाश्वके पुत्र हुआ है, यह सुनकर देवता उसके पास

अन्योन्यमब्रुवन् देवाः कामयं धास्यतीति वै ॥ ८३ ॥ मामेव धास्यतीत्येवमिन्द्रोथाभ्युपपद्यत । मान्धातेति ततस्तस्य नाम चक्रे शतक्रतुः ॥ ८४ ॥ ततस्तु पयसो धारां पुष्टिहेतोर्महात्मनः । तस्यास्ये यौवनाश्वस्य पाणिरिन्द्रस्य चास्रवत् ॥८५॥ तं पिबन् पाणिमिन्द्रस्य शतमह्ना व्यवर्द्धत । स आसीत् द्वादशसमो द्वादशाहेन पार्थिवः ॥ ८६ ॥ तमिमं पृथिवी सर्वा एकाह्ना समपद्यत । धर्मात्मानं महात्मानं शूरमिन्द्रसमं युधि ॥ ८७ ॥ यश्चाङ्गारन्तु नृपतिं मरुत्तमसितं गयम् । अंगं बृहद्रथश्चैव मान्धाता समरेऽजयत्॥८८ यौवनाश्वो यदाङ्गारं समरे प्रत्ययुध्यत । विस्फारैर्धनुषो देवा द्यौरभेदीति मेनिरे ॥८९॥ यत्र सूर्य उदेति स्म यत्र च प्रतितिष्ठति ।

आये और राजाकी गोदीमें लेटे हुए देवसमान पुत्रको देखकर आपसमें कहनेलगे, कि-यह पुत्र किसका स्तन पीकर जियेगा?८३ सबकी बात सुनकर इन्द्रने कहा,कि-'मान्धाता'मेरा दूध पियेगा, ऐसा कहकर इन्द्रने उसका मान्धाता नाम धरदिया था ॥ ८४॥ और उस पुत्रके पोषणके लिये इन्द्रके हाथमेंसे दूधकी धार निकली, जिसको इन्द्रने मान्धाताके मुखमें डालदिया ॥८५॥ और उसको पीकर मान्धाता एक दिनमें सौ दिनकेसा तथा बारह दिनमें बारह वर्षकेसा बढ़गया ॥ ८६ ॥ बड़े प्रतापी, धर्मात्मा और युद्ध करनेमें इन्द्रकी समान महापराक्रमी इस मान्धाताने सब पृथ्वी को एक दिनमें ही पालिया था ।८७। इस राजा मान्धाताने युद्धमें अङ्गारराज, मरुत्त, असित, गय, अङ्ग तथा राजा बृहद्रथको जीत लिया था ॥८८॥ युवनाश्वका पुत्र मान्धाता जिस समय अङ्गार-राजके साथ युद्ध कररहा था,उस समय देवताओंने यह समझा था, कि-इस राजा मान्धाताके टङ्कार शब्दसे स्वर्ग टूट पड़ेगा वा क्या होगा ? (उसके धनुषका टङ्कार शब्द ऐसा जोरदार था) ॥ ८९ ॥ जिस स्थान पर सूर्यका उदय होता है और जिस

सर्वं तद् यौवनाश्वस्य मांधातुः क्षेत्रमुच्यते॥६०॥ अश्वमेधशतेनेष्ट्वा राजसूयशतेन च। अददद्रोहितान्मत्स्यान् ब्राह्मणेभ्यो विशांपते६१ हैरण्यान् योजनोत्सेधानायतान् दशयोजनम्। अतिरिक्तान् द्विजातिभ्यो व्यभजंस्त्वितरे जनाः॥६२॥स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया। पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः६३ययातिं नाहुषश्चैव मृतं शुश्रुम सृंजय। य इमां पृथिवीं कृत्स्नां विजित्य सहसागराम्६४शम्यापातनाभ्यतीयाद्वेदीभिश्चित्रयन्महीम्। ईजानः क्रतुभिर्मुख्यैः पर्यगच्छद्वसुन्धराम्६५इष्ट्वा क्रतुसहस्रेण वाजपेयशतेन च। तर्पयामास विप्रेन्द्रांस्त्रिभिः काञ्चनपर्वतैः ॥ ६६ ॥ व्यूढेनासुर-

---

स्थानमें सूर्यका अस्त होता है वहाँ तकका सब देश मान्धाताका कहलाता था ॥ ६० ॥ हे राजन् ! इस राजा मान्धाताने सौ अश्वमेध यज्ञ किये थे और सौ राजसूय यज्ञ किये थे, उसने चालीस गाँवतक लम्बे और चालीस गाँवतकके ऊँचे रोहित नाम के सोनेके मच्छ बनवाकर ब्राह्मणोंको दान दिये थे, ब्राह्मणोंने उसको विभाग करके बाँट लिया था ॥ ६१ ॥ हे राजा सृञ्जय! ज्ञानादि चार पदार्थोंमें श्रेष्ठ और तेरे पुत्रसे विशेष पुण्यवान् राजा मान्धाता कालके वशसे मरगया, फिर तू अपने पुत्रका शोक क्यों करता है ? ॥ ६३ ॥ नारदजीने कहा हे सृञ्जय ! राजा नहुषका बेटा राजा ययाति भी कालके वशसे मरगया, ऐसा हमने सुना है, उसने भी इस पृथ्वीको जीतलिया था.।६४। एक बलवान् पुरुष अपने हाथमें शमीका दण्डा लेकर जोरसे फेंके और वह जितनी दूर पर जाकर पड़े उतने स्थानमें उस राजाने यज्ञकी विशाल वेदी बनवाकर समुद्रके तट तककी पृथ्वी पर कितने ही मुख्य यज्ञ करके भूमिको शोभायमान किया था ॥ ६५ ॥ और उस राजाने हजार यज्ञ करके तथा सौ वाजपेय यज्ञ करके दक्षिणामें ब्राह्मणोंको सोनेके तीन पर्वत बनवाकर

युद्धेन हत्वा दैतेयदानवान् । व्यभजत् पृथिवीं कृत्स्नां ययातिर्नहुषात्मजः ॥ ९७ ॥ अन्ते तु पुत्रान्निक्षिप्य यदुद्रुह्युपुरोगमान् । पूरुं राज्येभिषिच्याथ सदारः प्राविशद्वनम् ॥९८॥ स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः९९ अम्बरीषञ्च नाभागं मृतं शुश्रुम सृंजय । यं प्रजा वव्रिरे पुण्यं गोप्तारं नृपसत्तमम् ॥ १०० ॥ यः सहस्रं सहस्राणां राज्ञामयुतयाजिनाम् । ईजानो वितते यज्ञे ब्राह्मणेभ्यः सुसंहितः ॥१०१॥ नैतत् पूर्वजनाश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे । इत्यम्बरीषं नाभागिमन्वमोदन्त दक्षिणाः ॥१०२॥ शतं राजसहस्राणि शतं राजशतानि

दिये थे और उनको तृप्त करदिया था ॥ ९६ ॥ राजा ययातिने असुरोंके साथ भयानक युद्ध करके उनको हराया था और फिर सब भूमि अपने पुत्रोंको बाँटकर देदी थी ॥ ९७ ॥ फिर पीछेसे यदु द्रुह्यु आदि अपने पुत्रोंको छोडकर और पुरु नामके छोटे पुत्र का राजसिंहासन पर अभिषेक करके वह अपनी रानीके साथ वनमें चलागया था ॥ ९८ ॥ हे राजा सृञ्जय ! तुझसे अधिक ऐश्वर्यवाला और तेरे पुत्रसे विशेष पुण्यवान् राजा ययाति भी कालके बलसे मरगया, इसलिये तू अपने पुत्रका शोक करना छोडदे ॥९९॥ नारद मुनिने कहा कि–हे राजा सृञ्जय!नाभाग का पुत्र राजा अम्बरीष भी मर गया,ऐसा हमारे सुननेमें आया है, राजा अम्बरीष प्रजाकी रक्षा करनेवाला और प्रजाका प्रीतिपात्र था ॥ १०० ॥ उस राजाने यज्ञका आरम्भ करके वरणीके ब्राह्मणोंकी सेवाके लिये दूसरे बहुतसे राजाओंको नियत कर दिया था ॥ १ ॥ नाभागके पुत्र अम्बरीषने यज्ञ करके विप्रों को दक्षिणा दी तब वे विप्र तथा दूसरे लोग अम्बरीषकी सराहना करते हुए कहने लगे कि–ऐसा यज्ञ पहले किसीने नहीं किया और आगेको भी कोई नहीं कर सकेगा ॥ २ ॥ जिन

च। सर्वेश्वमेधैराजानास्तेन्वयुर्दक्षिणायनम् ॥१०३॥ स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया। पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः॥ १०४॥ शशविन्दुं चैत्ररथं मृतं शुश्रुम सृञ्जय। यस्य भार्य्यासहस्राणां शतमासीन्महात्मनः॥१०५॥ सहस्रन्तु सहस्राणां यस्यासञ्छशविन्दवः। हिरण्यकवचाः सर्वे सर्वे चोत्तमधन्विनः॥१०६॥ शतं कन्या राजपुत्रमेकैकं पृथगन्वयुः। कन्यां कन्यां शतं नागा नागं नागं शतं रथाः॥ १०७॥ रथे रथे शतं चाश्वा देशजा हेममालिनः। अश्वे अश्वे शतं गावो गवां तद्वदजाविकम्॥ १०८॥ एतद्धनमपर्य्यन्तमश्वमेधे महा-

---

हजारों और सैंकड़ों राजाओंने राजा अम्बरीषके अश्वमेध यज्ञ में वरणीमें वरे हुए विप्रोंकी सेवाकी थी वे राजे अश्वमेध यज्ञके फलके भागी हुए थे और उत्तरायणके मार्गमें होकर हिरण्यगर्भ के लोकमें गये थे ॥ ३॥ हे राजा सृञ्जय! वह राजा जो ज्ञान आदि चार बातोंमें तुझसे श्रेष्ठ था और तेरे पुत्रसे भी अधिक पुण्यवान् था, वह भी कालके बलसे मरगया इसलिये तू अपने पुत्रका शोक न कर ॥ ४॥ और हे सृञ्जय! हमने सुना है कि—चित्ररथका पुत्र राजा शशविन्दु भी मरगया, उस महात्मा राजाकी एक लाख रानियें थीं॥ ५॥ और उसकी एक २ रानीके दश२ (सब दश लाख) पुत्र थे, वे सब सोनेके कवच पहरने वाले और हाथमें उत्तम धनुष धारण करनेवाले थे॥ ६॥ उसके एक २ राजकुमारके सौ२रानियें थीं और एक २ रानी सौ २ हाथी, एक२ हाथीके पीछे सौ २ रथ तथा एक २ रथके पीछे सौ २ घोड़े दहेजमें लाई थीं, वे घोड़े उत्तम देशमें उत्पन्न हुए और सोनेकी मालायें पहरे हुए थे, एक२ घोड़ेके पीछे सौ २ गौएँ और उन गौओंके पीछे उतने ही बकरे और मेंढे दहेजमें मिले थे (अर्थात् उस

मखे। शशविन्दुर्महाराज ब्राह्मणेभ्यः समार्पयत् ॥ १०६ ॥ स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया। पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ११० ॥ गयश्चामूर्त्तरयसं मृतं शुश्रुम सृञ्जय। यः स वर्षशतं राजा हुतशिष्टाशनोऽभवत् ॥ १११ ॥ यस्मै वह्निर्वरं प्रादात्ततो वव्रे वरान् गयः। ददतो मेऽक्षयं वित्तं धर्मे श्रद्धा च वर्त्तताम् ॥ ११२ ॥ मनो मे रमतां सत्ये त्वत्प्रसादाद्धुताशन। लेभे च कामांस्तान् सर्वान् पावकादिति नः श्रुतम् ११३ दर्शे च पूर्णमासे च चातुर्मास्ये पुनः पुनः। अयजद्धयमेधेन सहस्रं परिवत्सरान् ॥ ११४ ॥ शतं गवां सहस्राणि शतमश्वतराणि

राजाके पास अपार सम्पत्ति थी)॥७॥ ८ ॥ हे महाराज! राजा शशविन्दुने अश्वमेध नामका महायज्ञ करके यह अपार धन ब्राह्मणोंको दानमें देदिया था ॥ ९ ॥ हे सृञ्जय! वह राजा ज्ञान आदिमें तुझसे श्रेष्ठ था और तेरे पुत्रसे भी विशेष पुण्यवान् था, तो भी वह राजा कालके वशसे मरगया इसलिये तू अपने पुत्रके लिये शोक करना त्यागदे ॥ १० ॥ और हे सृञ्जय! हमारे सुननेमें आया है, कि—अमूर्त्तरयका पुत्र गय भी मरगया, उस राजाने सौ वर्ष तक यज्ञ करके अन्तमें यज्ञशेषका भोजन किया था ॥ ११ ॥ यज्ञसे प्रसन्न हुए अग्निदेवने राजा गयसे वर माँगनेको कहा, तब गयने वरकी प्रार्थना करते हुए कहा, कि—मुझे अक्षय धन दीजिये और धर्मपर मेरी श्रद्धा बढती रहे और हे अग्निदेव! आपकी कृपासे मेरा मन सत्यमें लगजाय, इस प्रकार उसने अग्निदेवसे अपनी सब कामनायें पा ली थीं, ऐसा हमने सुना है ॥ १२ ॥ १३ ॥ वह राजा पूर्णिमा अमावस्या और चौमासेमें वार २ अश्वमेध यज्ञ किया करता था, उसने एक हजार वर्ष तक ऐसा ही किया था ॥१४॥ वह राजा नित्य प्रभातमें उठकर एकलाख गौएँ और सौ खच्चर ब्राह्मणोंको

च । उत्थायोत्थाय वै प्रादात् सहस्रं परिवत्सरान् ॥ ११५ ॥
तर्पयामास सोमेन देवान् वित्तैर्द्विजानपि । पितॄन् स्वधाभिः कामैश्च
स्त्रियः स पुरुषर्षभ ॥ ११६ ॥ सौवर्णां पृथिवीं कृत्वा दशव्यामां
द्विरायताम् । दक्षिणामददद्राजा वाजिमेधे महाक्रतौ ॥ ११७ ॥
यावत्यः सिकता राजन् गंगायाः पुरुषर्षभ । तावतीरेव गाः प्रादा-
दामूर्त्तरयसो गयः ॥ ११८ ॥ स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतर-
स्त्वया । पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ११९ ॥
रन्तिदेवञ्च सांकृत्यं मृतं शुश्रुम सृञ्जय । सम्यगाराध्य यः शक्रा-
द्वरं लेभे महातपाः ॥१२१॥ अन्नञ्च नो बहु भवेदतिथींश्च लभे-

दानमें देता था, उसने इस प्रकार ही एक हजार वर्षतक किया था ॥ १५ ॥ उस महात्मा राजाने सोमयज्ञ करके देवताओंको तृप्त किया था, दक्षिणाओंसे ब्राह्मणोंको तृप्त किया था स्वधाकारोंसे पितरोंको तृप्त किया था और कामनाओंसे स्त्रियोंको तृप्त किया था ॥ १६ ॥ उस राजाने अश्वमेध नामका महायज्ञ करनेके बाद पचास हाथ चौडी और सौ हाथ लंबी सोनेकी पृथिवी बनाकर ब्राह्मणोंको दक्षिणामें दी थी ॥ १७ ॥ हे सृञ्जय ! इस अमूर्त्तरयके पुत्र राजा गयने गङ्गाकी रेणुकाके जितने कण हैं उतनी गौएँ दानमें दी थीं॥१८॥हे राजा सृञ्जय! वह राजा तुझसे अधिक ऐश्वर्यवाला और तेरे पुत्रसे भी अधिक पुण्यवान् था, वह राजा भी कालके वलसे मरगया, इस लिये तू अपने पुत्रका शोक करना छोड़दे ॥ १९ ॥ नारदजीने कहा कि–हे राजा सृञ्जय ! राजा संकृतिके पुत्र रन्तिदेवको भी हम मरणको प्राप्त हुआ सुनते हैं,उस महातपस्वी राजाने इन्द्रकी सब प्रकारसे आराधना करके उससे वर माँगा था, कि–मेरे राज्यमें बहुतसा धान्य पके, अतिथि मेरे पास माँगनेको आवें, मेरी श्रद्धा दिन२ बढ़तीजाय और मैं किसीके पास भी याचना

महि । श्रद्धा च नो मा व्यगमत् मा च याचिष्म कञ्चन १२१
उपतिष्ठंश्च पशवः स्वयं तं संशितव्रतम् । ग्राम्यारण्या महात्मानं
रन्तिदेवं यशस्विनम् ॥ १२२ ॥ महानदी चर्मराशेरुत्क्लेदात्
ससृजे यतः । ततश्चर्मण्वतीत्येवं विख्याता सा महानदी १२३
ब्राह्मणेभ्यो ददौ निष्कान् सदसि प्रतते नृपः । तुभ्यं निष्कं
तुभ्यं निष्कमिति क्रोशंति वै द्विजाः ॥१२४॥ सहस्रं तुभ्यमित्युक्त्वा
ब्राह्मणान् संप्रपद्यते । अन्वाहार्योपकरणं द्रव्योपकरणं च यत् २५
घटाः पात्र्यः कटाहानि स्थाल्यश्च पिठराणि च । नासीत् किञ्चि-
दसौवर्णं रन्तिदेवस्य धीमतः ॥ २६ ॥ सांकृते रन्तिदेवस्य यां
रात्रिमवसन् गृहे । आलभ्यन्त शतं गावः सहस्राणि च विंशतिः २७

करनेको न जाऊँ ॥ १२०-२१ ॥ और उस महात्माके पास ग्रामोंके तथा वनके पशु आकर कहते थे, कि-तुम हमें बलिदानमें दो बलिदानमें दो ॥ २२ ॥ राजा रन्तिदेवके यज्ञोंमें मारेहुए पशुओंके चमडेके ढेरोंमेंसे निकले हुए प्रवाहकी एक नदी उत्पन्न होगई थी, जो चर्मण्वती नामसे प्रसिद्ध हुई थी ॥ २३ ॥ उस राजाने महा-सभा करके उसमें ब्राह्मणोंको सुवर्णके सिक्के दिये थे और ब्राह्मण भी लो तुम्हे सुवर्णके हजार निष्क देता हूँ, लो तुम्हें सुवर्णके हजार निष्क देता हूँ, इसप्रकार आपसमें कहते थे, उनके शब्दसे वहाँका वातावरण गुञ्जार उठा था, रन्तिदेवके यज्ञमें अन्वाहार्यके सामान, यज्ञकी दूसरी वस्तुएँ, घड़े, काठके पात्र, बड़े २ कठौते, थालियें, चौड़े मुखके काठके पात्र इत्यादि यज्ञके सब पात्र और दूसरी वस्तुएँ सोनेके ही थे ॥२४-२६॥ संकृतिके पुत्र राजा रन्तिदेवके घरमें जो कोई भी ब्राह्मण एक रात रहता था, उसको बीस हजार और एकसौ गौएँ दानमें दी जाती थीं ॥ २७ ॥ उस राजाके रसोइये कानोंमें सोनेके कुण्डल पहनकर खडे खडे बारंबार पुकारते थे, कि-आज इच्छानुसार

तत्र स्म सूदाः क्रोशन्ति सुमृष्टमणिकुण्डलाः । सूपं भूयिष्ठम-श्नीध्वं नाद्य मांसं यथा पुरा ॥ २८ ॥ स चेन्ममार सृञ्जय चतु-र्भद्रतरस्त्वया । पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥२९॥ सगरञ्च महात्मानं मृतं शुश्रुम सृञ्जय । ऐक्ष्वाकं पुरुषव्याघ्रमति-मानुषविक्रमम् ॥१३०॥ षष्टिपुत्रसहस्राणि यं यान्तमनुजग्मिरे । नक्षत्रराजं वर्षान्ते व्यभ्रे ज्योतिर्गणा इव ॥ ३१ ॥ एकच्छत्रा मही यस्य प्रतापादभवत्पुरा । योऽश्वमेधसहस्रेण तर्पयामास देवताः ॥ ३२ ॥ यः प्रादात्कनकस्तंभं प्रासादं सर्वकाञ्चनम् । पूर्णं पद्मदलाक्षीणांस्त्रीणां शयनसंकुलम् ३३ द्विजातिभ्योऽनुरूपेभ्यः कामांश्च विविधान् बहून् । यस्यादेशे न तद्वित्तं व्यभजंत द्विजा-

पकवान खाओ, परन्तु आज पहलेकी समान मांसका भोजन नहीं मिलसकेगा ॥ २८ ॥ हे राजा सृञ्जय ! इसप्रकार राजा रन्तिदेव बड़ी सम्पत्तिवाला और ज्ञान आदि चारों विषयोंमें तुझसे श्रेष्ठ था तथा उसका पुत्र भी तेरे पुत्रसे विशेष पुण्यवान् था वह भी कालके बलसे मरगया इसलिये तू अपने पुत्रका शोक क्यों करता है ?॥२९॥ नारदमुनिने कहा, कि-हे राजा सृञ्जय! राजा इक्ष्वाकुके वंशमें उत्पन्न हुआ पुरुषसिंह, महापराक्रमी, महात्मा राजा सगर भी कालके बलसे पहले मरगया, यह हमने सुना है ॥ १३० ॥ इस राजा सगरके साठ हजार पुत्र थे, जैसे शरद् ऋतुके निर्मल आकाशमें चन्द्रमाके पीछे तारे चलतेहैं तैसेही वे राजा सगरके पीछे चलते हुए शोभा पाते थे ॥ ३१ ॥ उस राजाने अपने प्रतापसे सब पृथ्वी पर चक्रवर्ती राज्य किया था और हजार अश्वमेध यज्ञ करके देवताओंको तृप्त किया था।३२। उस राजाने विप्रोंको सुवर्णके खम्भोंवाले और सब सुवर्णके बने हुए महल दान करके दिये थे,उसके दानमें कमलदलनयनी स्त्रियें,सोनेके लिए शय्यायें और अनेकों सामग्रियें थीं,तदनन्तर

तयः ॥ ३४ ॥ खानयास यः कोपात् पृथिवीं सागराङ्किताम् ।
यस्य नाम्ना समुद्रश्च सागरत्वमुपागतः ॥ ३५ ॥ स चेन्ममार
सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया । पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुत-
प्यथाः ॥ ३६ ॥ राजानञ्च पृथुं वैन्यं मृतं शुश्रुम सृंजय । यम-
भ्यषिञ्चन् संभूय महारण्ये महर्षयः ॥ ३७ ॥ प्रथयिष्यन्ति वै
लोकान् पृथुरित्येव शब्दितः । क्षताद्यो वै त्रायतीति स तस्मात्
क्षत्रियः स्मृतः ॥ ३८ ॥ पृथुं वैन्यं प्रजा दृष्ट्वा रक्ताः स्मेति यद-
ब्रुवन् । ततो राजेति नामास्य अनुरागादजायत ॥ ३९ ॥ अकृष्ट-
पच्या पृथिवी पुटके पुटके मधु । सर्वा द्रोणदुघा गावो वैन्यस्या-

विप्रोंके अनेकों मनोरथ पूरे किये थे, उस राजाकी आज्ञासे उसकी दानकी हुई वस्तुओंको विप्रोंने बाँटलिया था ॥ ३३-३४ ॥ उस राजाने क्रोधमें भरकर समुद्र पर्यन्त भूमिको खुदवा डाला था और उस राजाके नामसे ही समुद्रका सागर नाम पड़ा है।३५। हे राजा सृञ्जय ! ऐसा राजा सगर ज्ञान आदि चार पदार्थोंमें तुझसे श्रेष्ठ था और तेरे पुत्रसे अधिकपुण्यवान् था, ऐसा राजा सगर भी कालके बलसे मर गया, इसलिये तू अपने पुत्रका शोक न कर ॥ ३६ ॥ नारदमुनिने कहा, कि-हे सृञ्जय! हमने सुना है, कि-वेनका पुत्र राजा पृथु भी कालके बलसे पहले मरगया, इस राजा पृथुका महर्षियोंने दण्डकारण्यमें अभिषेक किया था ॥३७॥ ऋषियोंने उसका नाम रखते समय कहा था, कि-यह राजा धर्मकी प्रथा बाँधकर लोगोंको धर्मके मार्गमें चलावेगा, इसलिये इसका नाम पृथु रक्खा गया है और प्रजाकी (क्षत) प्रहारसे रक्षा करेगा, इसलिये यह जगत्में क्षत्रिय कहलावेगा।३८। वेनके पुत्र पृथुको देखकर सब प्राणी एक साथ बोल उठे थे, कि-हम इस राजाके ऊपर प्रसन्न हैं, इसप्रकार वह प्रजाका रञ्जन करनेसे जगत्में राजा कहलाया ॥ ३९ ॥ जिस समय राजा

सन् प्रशासतः ॥ ४० ॥ अरोगाः सर्वसिद्धार्था मनुष्या अकुतोभयाः। यथाभिकाममवसन् क्षेत्रेषु च गृहेषु च॥४१॥आपस्तस्तम्भिरे चास्य समुद्रमभियास्यतः। सरितश्चानुदीर्यन्त ध्वजभंगश्च नाभवत् ॥४२॥ हैरण्यांस्त्रिनल्वोत्सेधात् पर्वतानेकविंशतिम् । ब्राह्मणेभ्यो ददौ राजा योऽश्वमेधे महामखे.॥ ४३ ॥ स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया । पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥४४॥ किम्वा तूष्णीं ध्यायसे सृञ्जय त्वं न मे राजन् वाचमिमां शृणोषि ।नः चेन्मोघं विप्रलप्तं ममेदं पथ्यं मुमूर्षोरिव

पृथु राज्य करता था उस समय पृथ्वी विना जोते ही धान्य देती थी, सब ओषधियें रसवालीं और फलवाली थीं गौएँ भी घड़े भरकर दूध देती थीं ॥ ४० ॥ उसके राज्यमें मनुष्य रोग और भयसे रहित थे, उनके मनोरथ सफल होते थे,मनुष्य घरों में और खेतों पर इच्छानुसार रहते थे और प्रजा सब प्रकारसे निर्भय थी ॥ ४१ ॥ वह राजा जब समुद्रके पार होनेको समुद्रके पास जाता था तब समुद्रका जल स्थिर होजाता था, नदियोंके पास जाता था तब नदियोंका प्रवाह मन्द पड़जाता था,वायु भी उसकी ध्वजाको कभी तोड़ नहीं सकता था ॥४२॥ उस राजाने महान् अश्वमेध यज्ञ करके दक्षिणामें बारह सौ हाथ ऊँचे सोनेके इक्कीस पर्वत बनवाकर ब्राह्मणोंको दान करके दिये थे ॥४३॥ हे सृञ्जय ! राजा पृथु तुझसे अधिक ऐश्वर्यवाला था, और तेरे पुत्रसे भी अधिक ऐश्वर्यवान् था, ऐसा राजा पृथु भी कालके वलसे मरगया,इस कारण तू अपने पुत्रके लिये शोक न कर ॥ ४४ ॥ नारदमुनिने कहा, कि–हे सृञ्जय!तू चुप हुआ क्यों बैठा है क्या तू मेरे कहनेको नहीं सुनता है?मेरा यह कहना कुछ निष्फल नहीं है, मरण शय्या पर सोये हुएको जैसे औषध की मात्रा दीजाती है तैसे ही मैं तुझसे यह वचन कह रहा

संप्रयुक्तम् ॥ ४५ ॥ सृञ्जय उवाच शृणोमि ते नारद वाचमेनां विचित्रार्थां स्रजमिव पुण्यगन्धाम् । राजर्षीणां पुण्यकृतां महात्मनां कीर्त्या युक्तानां शोकनिर्नाशनार्थाम् ॥ ४६ ॥ न ते मोघं विप्रलप्तं महर्षे दृष्ट्वैवाहं नारद त्वां विशोकः । शुश्रूषोस्ते वचनं ब्रह्मवादिन्न ते तृप्याम्यमृतस्येव पानात् ॥ ४७ ॥ अमोघदर्शिन्मम चेत् प्रसादं सुताघदग्धस्य विभो प्रकुर्याः । मृतस्य संजीवनमद्य मे स्यात्तव प्रसादात् सुतसङ्गमश्च ॥४८॥ नारद उवाच । यस्ते पुत्रो गमितोऽयं विजातः स्वर्णष्ठीवी यमदात् पर्वतस्ते । पुनस्तु ते पुत्रमहं ददामि हिरण्यनाभं वर्षसहस्रिणञ्च ॥ १४९ ॥

इति श्रीमहाभारते षोडशराजकीये एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

हूँ ॥ ४५ ॥ नारदकी बात सुनकर सृञ्जय बोला, कि-हे नारद मुने ! विचित्र पुष्पोंसे गुथी हुई और पवित्र गन्धवाली मालाकी समान पुण्यरूप गन्धवाली और विचित्र अर्थोंसे भरी राजर्षियोंकी कथा सुनकर मेरा पुत्रमरणका शोक दूर होगया है ॥४६॥ हे नारद ! आपका कहना निष्फल नहीं हुआ है, हे महर्षे ! आपके दर्शनसे ही मेरा शोक दूर होगया है,हे ब्रह्मको जाननेवाले नारदजी!मैंने आपके वचन सुनलिये और मेरे मनको ऐसा सन्तोष हुआ है, कि-जैसा सन्तोष अमृतको पीनेसे होता है ॥ ४७ ॥ तथापि हे सफल दर्शनवाले नारदमुने ! मैं पुत्रके शोकसे सन्ताप से जलकर खाक हुआ जाता हूँ, यदि मेरे ऊपर आपकी कृपा हो तो अभी मुझे मेरे पुत्रके साथ मिला दीजिये॥४८॥नारदजीने कहा, कि-हे राजन् ! पर्वत नामके ऋषिने तुझे काञ्चनष्ठीवी (सोना थूकनेवाला) नामका पुत्र दिया था वह गुणवान् पुत्र तो मरगया, परन्तु अब मैं तुझे फिर वह हिरण्यनाभ नामका हजार वर्ष तक जीनेवाला पुत्र देता हूँ, ऐसा कहकर उसको चिरायु पुत्र दिया ॥१४९॥ उनतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर उवाच । स कथं काञ्चनष्ठीवी सृञ्जयस्य सुतोऽभवत् । पर्वतेन किमर्थम्वा दत्तस्तेन ममार च ॥ १ ॥ यदा वर्षसहस्रायुस्तदा भवति मानवः । कथमप्राप्तकौमारः सृञ्जयस्य सुतो मृतः ॥ २ ॥ उताहो नाममात्रं वै सुवर्णष्ठीविनोऽभवत् । कथम्वा काञ्चनष्ठीवीत्येतदिच्छामि वेदितुम् । श्रीकृष्ण उवाच । अत्र ते वर्णयिष्यामि यथा वृत्तं जनेश्वर । नारदः पर्वतश्चैव द्वावृषी लोकसत्तमौ ॥ ४ ॥ मातुलो भागिनेयश्च देवलोकादिहागतौ । विहर्तुकामौ संप्रीत्या मानुषेषु पुरा विभो ॥ ५ ॥ हविः पवित्रभोज्येन देवभोज्येन चैव हि । नारदो मातुलश्चैव भागिनेयश्च पर्वतः ६ तावुभौ तपसोपेतावनीतलचारिणौ । भुञ्जानौ मानुषान् भोगान् यथावत् पर्यधावताम् ॥ ७ ॥ प्रीतिमन्तौ मुदा युक्तौ समयञ्चैव

युधिष्ठिरने बूझा, कि—हे कृष्ण! राजा सृञ्जयके काञ्चनष्ठीवी नामका पुत्र कैसे हुआ था, उस राजाको पर्वत मुनिने पुत्र क्यों दिया था? और वह क्यों मरगया? ॥ १ ॥ जिस समय मनुष्य हजार वर्षकी आयु भोगते थे ऐसे समयमें सृञ्जयका पुत्र कुमार अवस्था आनेसे पहले ही क्यों मरगया? ॥ २ ॥ उसका काञ्चनष्ठीवी नाम सच्चा था या केवल कहनेमात्रको ही था और वह काञ्चनष्ठीवी किस प्रकार हुआ था मैं यह सब सुनना चाहता हूँ ॥ ३ ॥ श्रीकृष्णने कहा, कि—हे राजन्! यह वृत्तान्त जिस प्रकार बना था वैसा ही मैं तुम्हें सुनाऊँगा, पृथिवी पर प्रसिद्ध नारद और पर्वत नामके दो ऋषि हैं ॥ ४ ॥ वे मामा भानजे लगते हैं, उन दोनोंका आपसमें प्रेम था, वे प्राचीनकालमें स्वर्गमेंसे मर्त्यलोकमें आकर देवताओंको अच्छे लगनेवाले नानाप्रकारके भोजन करके मर्त्यलोकमें विचरा करते थे नारदजी मामा लगते थे और पर्वत उनका भानजा था ॥ ५-६ ॥ वे दोनों तपस्वी पृथिवी पर विचरा करते मनुष्योंके भोग भोगते

चक्रतुः । यो भवेद्धृदि सङ्कल्पः शुभो वा यदि वाशुभः ॥ ८ ॥ अन्योन्यस्य स आख्येयो मृषा शापोऽन्यथा भवेत् । तौ तथेति प्रतिज्ञाय महर्षी लोकपूजितौ ॥९॥ सृञ्जयं श्वैत्यमभ्येत्य राजानमिदमूचतुः । आवां भवति वत्स्यावः कञ्चित् कालं हिताय ते१० यथावत् पृथिवीपाल आवयोः प्रगुणो भव । तथैव कृत्वा राजा तौ सत्कृत्योपचचार ह॥११॥ ततः कदाचित्तौ राजा महात्मानौ तपोधनौ । अब्रवीत् परमप्रीतः सुतेयं वरवर्णिनी ॥१२॥ एकैव मम कन्यैषा युवां परिचरिष्यति । दर्शनीयानवद्यांगी शीलवृत्तसमाहिता ॥ १३ ॥ सुकुमारी कुमारी च पद्मकिञ्जल्कसुप्रभा। परमं सौम्यमित्युक्तं ताभ्यां राजा शशास ताम् ॥ १४ ॥ कन्ये

फिरते थे ॥ ७ ॥उन दोनोंमें बड़ी प्रीति थी, इसकारण आनन्दमें भरेहुए उन दोनोंने आपसमें ऐसी प्रतिज्ञा करली थी, कि—हम दोनोंके मनमें भला या बुरा जो कुछ भी सङ्कल्प उठे,एक दूसरे कहदेय,यदि दोनोंमेंसे एकभी इसके प्रतिकूल वर्त्ताव करेगा तो वह दूसरेके शापका पात्र होगा ॥ ८–९ ॥ ऐसी प्रतिज्ञा करनेके बाद एक समय लोकोंमें पूजनीय माने जाने वाले नारद और पर्वत ऋषि राजा श्वितिके पुत्र सृञ्जयके पास गये और कहने लगे,कि—तेरे हितके लिये हम कुछ दिन तेरे राज्यमें रहना चाहते हैं, इसलिये हे राजन् ! तू हमारे ऊपर प्रसन्न होकर हमें रहनेके लिये स्थान दे, दोनों ऋषियोंकी बात सुनकर राजाने उनका सत्कार करके मनाकी ॥ १० ११ ॥ फिर दोनों तपस्वी राजा सृञ्जयके राज्यमें कितने ही दिनों तक रहे, एक समय राजा सृञ्जय प्रसन्न हो उन ऋषियोंके पास आकर कहनेलगा, कि—मेरी यह सुन्दर वर्णवाली एकही कन्या है. यह सुन्दरी सुन्दर अङ्गोंवाली, दर्शनीय, शीलवती. सदाचारिणी और कमलके केसरकी समान कान्तिवाली है, अभीतक इस कन्याका विवाह नहीं

विमावुपचर देववत् पितृवच्च ह । सा तु कन्या तथेत्युक्त्वा पितरं धर्मचारिणी ॥ १५ ॥ यथानिदेशं राज्ञस्तौ सत्कृत्योपचचार ह । तस्यास्तेनोपचारेण रूपेणाप्रतिमेन च ॥ १६ ॥ नारदं हृच्छयस्तूर्णं सहसैवाभ्यपद्यत । ववृधे हि ततस्तस्य हृदि कामो महात्मनः ॥ १७ ॥ यथा शुक्लस्य पक्षस्य प्रवृत्तौ चन्द्रमा शनैः । न च तं भागिनेयाय पर्वताय महात्मने ॥ १८ ॥ शशंस हृच्छयं तीव्रं व्रीडमानः स धर्मवित् । तपसा चेङ्गितैश्चैव पर्वतोथ बुबोध तम् ॥ १९ ॥ कामार्त्तं नारदं क्रुद्धः शशापैनं ततो भृशम् । कृत्वा सपयपव्यग्रो भवान् वै सहितो मया ॥ २० ॥ यो भवेद्

हुआ है,यह आपके पास रहकर आपकी सेवा करनेमें प्रसन्न है राजाकी इसबातको सुनकर दोनों ऋषि बोले, कि–हे राजन् ! जैसे आपकी इच्छा, राजा बड़ा प्रसन्न हुआ और अपनी पुत्रीसे कहा, कि–बेटी ! तू देवताओंकी समान और पिताकी समान इन दोनों ऋषियोंकी सेवा कर, पिताकी बातको शिरपर चढ़ाकर वह धर्माचरण करनेवाली कन्या बोली,कि–पिताजीकी जो आज्ञा १२-१५ उस दिनसे वह राजकन्या राजाकी आज्ञाके अनुसार उन दोनों ऋषियोंकी प्रतिदिन सेवा करती थी उसकी सेवासे और उस राजकन्याकी सुन्दरतासे नारदजीके मनमें सोया हुआ कामदेव एकायकी जाग उठा और जैसे शुक्लपक्षका चन्द्रमा दिन२बढ़ता चला जाता है तैसे ही उनके मनमें धीरे२ बढ़ता रहा, परन्तु धर्मको जाननेवाले नारदजीने लज्जाके कारण अपने मनमें जागे हुए तीव्र कामवेगकी बात अपने भानजे महात्मा पर्वतसे नहीं कही तो भी पर्वत ऋषिने तपस्याके बलसे तथा दूसरी चेष्टाओंसे नारदजी कामातुर होगये हैं,यह बात जानली और उसको उनके ऊपर बड़ा क्रोध आया, फिर उसने शाप देते हुए कहा, कि–तुमने सावधानीकी दशामें मेरे साथ प्रतिज्ञाकी थी,कि–हम दोनों

हृदि सङ्कल्पः शुभो वा यदि वाशुभः । अन्योन्यस्य स आख्येय इति तद्वै मृषा कृतम् ॥ २१ ॥ भवता वचनं ब्रह्मंस्तस्मादेष शपाम्यहम् । न हि कामं प्रवर्तन्तं भवानाचष्ट मे पुरा ॥२२॥ सुकुमार्यां कुमार्यान्ते तस्मादेष शपाम्यहम् । ब्रह्मचारी गुरुर्यस्मात्तपस्वी ब्राह्मणश्च सन् ॥ २३ ॥ अकार्षीः समयभ्रंशमावाभ्यां यः कृतो मिथः । शप्स्ये तस्मात् सुसंक्रुद्धो भवन्तं तं निबोध मे ॥२४॥ सुकुमारी च ते भार्या भविष्यति न संशयः । वानरं चैव ते रूपं विवाहात् प्रभृति प्रभो ॥ २५ ॥ संद्रक्ष्यन्ति नराश्चान्ये स्वरूपेण विनाशनम् । स तद्वाक्यन्तु विज्ञाय नारदः पर्वतन्तथा ॥ २६ ॥ अशपत्तमपि क्रोधाद् भागिनेयं स मातुलः । तपसा ब्रह्मचर्येण सत्येन च दमेन च॥२७॥ युक्तो पे नित्यधर्मश्च न वै स्वर्गमवाप्स्यसि । तौ तु शप्त्वा भृशं क्रुद्धौ परस्परम-

---

अपने हृदयमें उठनेवाले भले या बुरे सङ्कल्पकी बात एक दूसरे से कहदेंगे, परन्तु तुमने उस दिन प्रतिज्ञाको मिथ्या कर दिया ॥ १९-२१ ॥ अब मैं तुम्हें शाप दूँगा, तुम राजाकी सुकुमारी कन्याके ऊपर कामासक्त होगये थे, तो भी मुझसे इस विषयमें तुमने बात नहीं की, इसलिये मैं तुम्हें शाप दूँगा, तुम ब्रह्मचारी हो, गुरु हो, तपस्वी हो, ब्राह्मण हो, तो भी हम दोनों में आपसमें की हुई प्रतिज्ञाका तुमने भङ्ग किया है, इसलिये मैं बड़े ही क्रोधमें भरकर तुम्हे शाप देता हूँ, उसको तुम सुनो२२-२४ हे नारद ! यह राजकन्या निःसन्देह तुम्हारी स्त्री होगी और इसके साथ विवाह करनेके अनन्तर तुम्हारा रूप वानरकेसा बुरा होजायगा ॥ २५ ॥ और तुम्हारे उस वानरके रूपको सब लोग देखेंगे ! पर्वतके शापको सुनकर मामा नारदको भी क्रोध आगया, उन्होंने भानजे पर्वत मुनिको शाप दिया. कि–तुझमें तपस्या ब्रह्मचर्य, सत्य और दम है तथा तू नित्य धर्मपरायण है,

र्वणौ ॥ २८ ॥ प्रतिजग्मतुरन्योन्यं क्रुद्धाविव गजोत्तमौ । पर्वतः पृथिवीं कृत्स्नां विचचार महामतिः ॥ २९ ॥ पूज्यमानो यथान्यायं तेजसा स्वेन भारत । अथ तामलभत् कन्यां नारदः सृञ्जयात्मजाम् ॥ ३० ॥ धर्मेण विप्रप्रवरः सुकुमारीमनिन्दिताम् । सा तु कन्या यथाशापं नारदन्तं ददर्श ह ॥३१॥ पाणिग्रहणमन्त्राणां नियोगादेव नारदम् । सुकुमारी च देवर्षिं वानरप्रतिमाननम् ॥ ३२ ॥ नैवावमन्यत तदा प्रीतिमत्येव चाभवत् । उपतस्थे च भर्त्तारं न चान्यं मनसाप्यगात् ॥ ३३ ॥ देवं मुनिम्वा यक्षम्वा पतित्वे पतिवत्सला । ततः कदाचित् भगवान पर्वतोनुचचार ह ॥ ३४ ॥ वनं विरहितं किञ्चित्तत्रापश्यत् स नार-

तो भी तू स्वर्गमें नहीं जासकेगा, इसप्रकार बड़े क्रोधमें भरे हुए दोनों जने आपसमें शाप देकर क्रोधमें भरे हुए दो बड़े २ हाथियों की समान वहाँसे चलेगये तदनन्तर महाबुद्धिमान् पर्वत पृथिवी पर विचरने लगा ॥ २६-२९ ॥ श्रीकृष्णने कहा, कि-हे भरतवंशी राजा युधिष्ठिर! अपने तेजसे लोकोंमें पूजा पानेवाले नारद ऋषिका पीछेसे पवित्र आचरण वाली राजा सृञ्जयकी पुत्रीके साथ विवाह होगया, परन्तु शापके कारण उनका मुख वानरके सा होगया ॥ ३०-३१ ॥ विवाहका समय होते ही ब्राह्मणोंने मंत्रोंका उच्चारण किया और राजाने नारदको कन्यादान दिया तदनन्तर कन्याने देखा तो नारदजीका मुख वानरकेसा था ३२ नारदमुनि वानरसे होगये, तोभी राजकन्याने उनकी ओरको प्रेम कम नहीं किया, वह पतिके ऊपर बड़ी भारी प्रीति रखकर उनकी सेवा करनेलगी, वह पतिके सिवाय दूसरे देवता, यक्ष मुनि आदि किसी भी पुरुषका ध्यान नहीं करती थी, केवल अपने पतिकी सेवामेंही समय बिताती थी, एक दिन पर्वत मुनि फिरते २ निर्जन वनमें नारदमुनिके आश्रममें जापहुंचे, वहाँ

दम् । ततोभिवाद्य प्रोवाच नारदं पर्वतस्तदा ॥ ३५ ॥ भवान् प्रसादं कुरुतात् स्वर्गादेशाय मे प्रभो । तमुवाच ततो दृष्ट्वा पर्वत नारदस्तदा ॥ ३६ ॥ कृतांजलिमुपासीनं दीनं दीनतरः स्वयम् । त्वयाहं प्रथमं शप्तो वानरस्त्वं भविष्यसि ॥ ३७ ॥ इत्युक्तेन मया पश्चात् शप्तस्त्वमपि मत्सरात् । अद्यप्रभृति वै वासं स्वर्गे नावाप्स्यसीति ह ॥ ३८ ॥ तव नैतद्धि सदृशं पुत्रस्थाने हि मे भवान् । निवर्त्तयेतां तौ शापावन्योन्येन तदा मुनी ॥ ३९ ॥ श्रीसमृद्धं तदा दृष्ट्वा नारदं देवरूपिणम् । सुकुमारी प्रदुद्राव परपत्यभिशङ्कया ॥ ४० ॥ तां पर्वतस्ततो दृष्ट्वा प्रद्रवन्तीमनिन्दिताम् । अब्रवीत्तव भर्त्तैष नात्र कार्या विचारणा ॥ ४१ ॥ ऋषिः

नारदमुनिको बैठेहुए देखकर पर्वत मुनिने नमस्कार किया और हाथ जोड़कर कहने लगे, कि- ॥ ३३-३५ ॥ हे नारद ऋषि ! तुम मेरे ऊपर प्रसन्न होजाओ और मुझे स्वर्गमे जानेकी आज्ञा दो, शापसे दीन हुये और दोनों हाथ जोड़कर पास खड़ेहुये पर्वत मुनिको देखकर शापसे दीन हुये नारदजी कहने लगे, कि- पहले तो मुझे शाप दिया था कि-तुम वानर होजाओगे इससे मेरे मनमें बड़ा क्रोध आया और मैंने तुझे शाप दे दिया, कि तू स्वर्ग नहीं जासकेगा, हे पर्वत ! तू मेरे पुत्रके स्थानमें है तूने कुछ भी अघटित काम नहीं किया है, परन्तु अब हम दोनों ही एक दूसरेको शापसे छुटावें ऐसा कहकर वे दोनों शापसे छूटे ३६-३९ नारदका वानरका रूप मिटगया और वे अपने असल दिव्य रूपको फिर पागये, यह देखकर सृञ्जय राजाकी पुत्री सुकुमारी के मनमें भ्रम होगया, कि-यह तो कोई दूसरा ही पुरुष है, इसलिये वह खड़ी होकर तहाँसे भागने लगी ॥ ४० ॥ सुकुमारीको भागती हुई देखकर पर्वत मुनिने उससे कहा कि-यह तेरे स्वामी हैं, तू इनके विषयमें जरा भी सन्देह न कर ॥४१॥ यह तेरे पति

परमधर्मात्मा नारदो भगवान् प्रभुः । तवैनाभेद्यहृदयो मा . तं भूदत्र संशयः ॥ ४२ ॥ सानुनीता बहुविधं पर्वतेन महात्मना । शापदोषञ्च तं भर्त्तुः श्रुत्वा प्रकृतिमागता । पर्वतोथ ययौ स्वर्गं नारदोऽभ्यगमद्गृहान् ॥ ४३ ॥ वासुदेव उवाच । प्रत्यक्षकर्त्ता सर्वस्य नारदो भगवानृषिः । एष वक्ष्यति ते पृष्टो यथावृत्तं नरोत्तम ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि नारदपर्वतोपाख्याने त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच । ततो राजा पाण्डुसुतो नारदं प्रत्यभाषत । भगवन् श्रोतुमिच्छामि सुवर्णष्ठीविसम्भवम् ॥ १ ॥ एवमुक्तस्तु स मुनिर्धर्मराजेन नारदः । आचचक्ष यथावृत्तं सुव-

भगवान् नारदमुनि ही हैं, इसलिये धोखेमें न रहकर सावधानी से इनको पहचान, इस प्रकार पर्वत मुनिने सुकुमारीको बहुत समझाया और सुकुमारीने अपने पतिको जिस कारणसे शाप होगया था उस कारणको जानकर अपना पति ही जाना, पर्वत मुनि तहाँसे स्वर्गको चलेगये और नारदमुनि अपने आश्रमकी पर्णकुटीमें ही रहते रहे ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ श्रीकृष्णजी कहते हैं कि–हे राजा युधिष्ठिर ! यह इतिहास इस सभामें बैठेहुए भगवान् नारदजीसे ही बूझदेखो, तब यह, क्या २ हुआ था वह सब तुम्हें सुनादेंगे, इतना कहकर श्रीकृष्ण चुप हो रहे ॥ ४४ ॥ तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३० ॥ छ ॥ छ

वैशम्पायन कहते हैं, कि–हे राजा जनमेजय ! श्रीकृष्णकी बात सुनकर सभामें बैठेहुए नारदमुनिसे पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिरने कहा. हे नारद जी ! सृञ्जयका पुत्र सुवर्णष्ठीवी किस प्रकार उत्पन्न हुआ था, इस बातको मैं सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥ धर्मराजकी बात सुनकर नारदमुनि सुवर्णष्ठीवीका वृत्तान्त जिसप्रकार

णष्ठीविनं प्रति ॥ २ ॥ नारद उवाच । एवमेतन्महाबाहो यथायं केशवोऽब्रवीत् । कार्य्यस्यास्य तु यच्छेषं तत्ते वक्ष्यामि पृच्छतः ३ अहञ्च पर्वतश्चैव स्वस्रीयो मे महामुनिः । वस्तुकामावभिगतौ सृञ्जयं जयताम्वरम् ॥४॥ तत्रावां पूजितौ तेन विधिदृष्टेन कर्मणा । सर्वकामैः सुविहितौ निवसावोऽस्य वेश्मनि ॥५॥ व्यतिक्रान्तासु वर्षासु समये गमनस्य च । पर्वतो मामुवाचेदं काले वचनमर्थवत् ॥६॥ आवामस्य नरेन्द्रस्य गृहे परमपूजितौ । उषितौ समये ब्रह्मंस्तद्विचिन्तय साम्प्रतम् ॥ ७ ॥ ततोऽहमब्रुवं राजन् पर्वतं शुभदर्शनम् । सर्वमेतत्त्वयि विभो भागिनेयोपपद्यते ॥८॥ वरेणच्छन्द्यतां राजा लभतां यद्यदिच्छति । आवयोस्तपसा सिद्धिं प्राप्नोति यदि

हुआ था, उसीप्रकार कहनेलगे ॥ २ ॥ नारदजीने कहा, कि-हे महाबाहु राजा युधिष्ठिर ! श्रीकृष्णने जो बात कही है वह ठीक है तो भी तुम बूझते हो, इसलिये मैं इस वृत्तान्तका जो हाल बाकी रहगया है वह तुम्हें सुनाता हूँ, उसको तुम सुनो ॥ ३ ॥ मैं और महामुनि मेरा भानजा पर्वत ऋषि, हम दोनों मनुष्यलोकमें रहनेकी इच्छासे मर्त्यलोकमें आये थे, तहाँसे एक समय (फिरते२) महाविजयी राजा सृञ्जयकी राजधानीमें पहुँचगए ॥ ४ ॥ उस राजाने शास्त्रोक्त विधिसे हम दोनोंकी पूजा करके हमारे लिये भाँति२ के ऐश्वर्योंका प्रबन्ध करदिया, हम उसके राजमहलमें ही रहनेलगे ॥ ५ ॥ चौमासेके चार मास बराबर हम उस राजाके घर रहे और तहाँसे चलते समय पर्वत मुनिने मुझसे अर्थभरी हुई यह बात कही, कि-॥ ६ ॥ हे नारदजी ! हम इस राजाके घर बड़े सत्कारसे रहे हैं, सो हम इसके बदलेमें इसको क्या दें, इसका विचार करना चाहिये ॥ ७ ॥ हे राजन् ! जिसके दर्शनसे कल्याण होजाय ऐसे पर्वतकी बात सुनकर मैंने उससे कहा, कि-तू मेरा भानजा है, तुझे यदि मेरी बात अच्छी लगे तो

मन्यसे ॥९॥ तत आहूय राजानं सृञ्जयं जयतांवरम्। पर्वतोऽनुमतो वाक्यमुवाच कुरुकुद्वह ॥ १० ॥ प्रीतौ स्वो नृप सत्कारैर्भवदार्जवसम्भृतैः। आवाभ्यामभ्यनुज्ञातो वरं नृवर चिन्तय ॥११॥ देवानामविहिंसायां न भवेन्मानुषक्षयम्। तद्‌ गृहाण महाराज पूजार्हो नो मतो भवान् ॥ १२ ॥ सृञ्जय उवाच। प्रीतौ भवन्तौ यदि मे कृतमेतावता मम। एष एव परो लाभो निवृत्तो मे महाफलः ॥ १३ ॥ तमेवं वादिनं भूयः पर्वतः प्रत्यभाषत। वृणीष्व राजन् संकल्पं यत्ते हृदि चिरं स्थितम् ॥ १४ ॥ सृञ्जय उवाच। अभीप्सामि सुतं वीरं वीर्यवन्तं दृढव्रतम्। आयुष्मन्तं महाभागं

राजाको बुला यह जो वर चाहे वही दे दो, हम दोनोंके तपसे राजा सिद्धि पाजाय, यह बहुत अच्छा है ॥ ८ ॥ ९ ॥ नारद मुनिने कहा, कि-हे राजा युधिष्ठिर! फिर वर देनेको तयार हुए पर्वत मुनिने महाविजयी राजा सृञ्जयको बुलाकर उससे कहा, कि-॥ १० ॥ हे राजन्! तुमने बड़ी सरलतासे हमारा सत्कार किया है, इसलिये हम तुमसे प्रसन्न हैं, हे राजन्! हम तुम्हें आज्ञा देते हैं, कि-तुम वर माँगलो ॥ ११ ॥ हे राजन्! तुम हमारे पूज्य हो, तुम हमसे ऐसा वर माँगो, कि-जिस वरको देनेसे हमें पीड़ा न हो और मनुष्योंका नाश न हो ॥ १२ ॥ पर्वत मुनिकी बात सुनकर सृञ्जयने कहा, कि-तुम दोनों मुनि मेरे ऊपर प्रसन्न हुए हो, इतनेसे ही मैं कृतार्थ होगया मैं समझता हूँ कि-यही मुझे परमफलदायक लाभ हुआ है१३राजाकी इसबातको सुनकर पर्वत मुनि फिर बोले कि-हे राजन्! तुम्हारे मनमें बहुत दिनोंसे जो सङ्कल्प हो उसको वरदानमें आनन्दसे माँगलो।१४। पर्वत ऋषिकी बात सुनकर राजा सृञ्जयने कहा, कि-हे मुने! मैं ऐसा पुत्र चाहता हूँ, कि-जो वीर, बड़ा पराक्रमी, दृढ़ व्रतधारी, आयुष्मान्, महाभाग्यशाली और इन्द्रकी समान कान्तिमान्

देवराजसमद्युतिम् ॥ १५ ॥ पर्वत उवाच । भविष्यत्येष ते कामो न त्वायुष्मान् भविष्यति । देवराजाभिभूत्यर्थं संकल्पो ह्येष ते हृदि ॥१६॥ ख्यातः सुवर्णष्ठीवीति पुत्रस्तव भविष्यति । रक्ष्यश्च देवराजात् स देवराजसमद्युतिः ॥१७॥ तच्छ्रुत्वा सृञ्जयो वाक्यं पर्वतस्य महात्मनः । प्रसादयामास तदा नैनदेवं भवेदिति ॥१८॥ आयुष्मान् मे भवेत्पुत्रो भवतस्तपसा मुने । न च तं पर्वतः किञ्चिदुवाचेन्द्रव्यपेक्षया ॥ १६ ॥ तमहं नृपतिं दीनमब्रुवं पुनरेव च । स्मर्त्तव्योस्मि महाराज दर्शयिष्यामि ते सुतम् ॥२०॥ अहन्ते दयितं पुत्रं प्रेतराजवशङ्गतम् । पुनर्दास्यामि तद्रूपं मा शुचः पृथि-

हो ॥ १५ ॥ राजाकी बात सुनकर पर्वत मुनि बोले, कि—हे राजन् ! तेरा यह सङ्कल्प सिद्ध होगा, परन्तु तेरे पुत्रकी आयु बहुत नहीं होगी, क्योंकि—तेरे मनमें इन्द्रका पराजय करनेकी बात समारही है ॥ १६ ॥ तेरा पुत्र जगत्में सुवर्णष्ठीवीके नामसे प्रसिद्ध तो होगा, परन्तु तू अपने पुत्रकी इन्द्रसे रक्षा करना, क्योंकि—वह इन्द्रकी समान तेजस्वी होगा, इसलिये किसी दिन इन्द्र उसको मारडालेगा ॥ १७ ॥ महात्मा पर्वतमुनिकी बात सुन कर सृञ्जयने उनको प्रसन्न किया और वह फिर कहनेलगा, कि-हे महाराज ! इन्द्र मेरे पुत्रको मारडाले, ऐसा तो नहीं होना चाहिये ॥ १८ ॥ हे मुने ! आपके तपके प्रभावसे मेरा पुत्र आयुष्मान् हो, ऐसा वर दोजिये, सृञ्जयकी बात सुनकर पर्वत मुनिने कुछ भी उत्तर नहीं दिया, क्योंकि—इन्द्रके ऊपर उनका बड़ा प्रेम था ॥ १६ ॥ नारद बोले कि—हे राजा युधिष्ठिर ! जब राजा सृञ्जय पर्वतमुनिके सामने दीनता दिखाने लगा तब फिर मैंने उससे कहा, कि—तू शोक न कर, तेरा पुत्र जब आपत्तिमें आपड़े तब तू मुझे याद करना मैं आकर तुझे तेरे पुत्रका दर्शन कराऊँगा, हे राजन् ! तेरा पुत्र मरकर यमराजके पास चला

वीयते ॥ २१ ॥ एवमुक्त्वा तु नृपतिं प्रयातौ स्वो यथेप्सितम् । सृञ्जयश्च यथाकामं प्रविवेश स्वमन्दिरम् ॥ २२ ॥ सृञ्जयस्याथ राजर्षेः कस्मिंश्चित् कालपर्य्यये । जज्ञे पुत्रो महावीर्य्यस्तेजसा प्रज्वलन्निव ॥ २३ ॥ ववृधे स यथाकालं सरसीव महोत्पलम् । बभूव काञ्चनष्ठीवी यथार्थं नाम तस्य तत् ॥ २४ ॥ तदद्भुततमं लोके पप्रथे कुरुसत्तम । बुबुधे तच्च देवेन्द्रो वरदानं महर्षितः २५ ततः स्वाभिभवाद्भीतो बृहस्पतिमते स्थितः । कुमारस्यान्तरप्रेक्षी बभूव बलवृत्रहा ॥ २६ ॥ चोदयामास तद्वज्रं दिव्यास्त्रं मूर्तिमत् स्थितम् । व्याघ्रो भूत्वा जहीमन्त्वं राजपुत्रमिति प्रभो ॥ २७ ॥ प्रवृद्धः किल वीर्य्येण मामेपोभिभविष्यति । सृञ्जयस्य सुतो वज्र

जायगा तो मैं वहाँसे भी जीवित लाकर तुझे दूंगा, तू शोक न कर ॥ २०-२१ ॥ राजासे ऐसा कहकर हम दोनों तहाँसे अपनी इच्छानुसार चलदिये और राजा प्रसन्न होता हुआ अपने महलमें चलागया ॥ २२ ॥ कितना ही समय बीत जाने पर राजर्षि सृञ्जयके यहाँ महाप्रतापी और तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ २३ जैसे सरोवरमें कमल बढ़ता है वैसेही वह पुत्र दिन२ बढ़ने लगा और उसका अर्थके अनुसार काञ्चनष्ठीवी नाम रक्खा गया २४ नारदजीने कहा, कि-हे राजा युधिष्ठिर ! वह बड़ा अद्भुत नाम जगत्में प्रसिद्ध होगया, अब राजा इन्द्रको मालूम हुआ, कि-महर्षि पर्वतने राजा सृञ्जयको ऐसा वरदान दिया है ॥ २५ ॥ बृहस्पतिकी आज्ञामें चलनेवाले राजा इन्द्रके मनमें भय बैठगया, उसने मनमें विचारा, कि-यह राजकुमार किसी दिन मेरा पराजय करेगा, ऐसा विचारकर इन्द्र गुप्तरीतिसे उस राजकुमारका छिद्र खोजने लगा ॥ २६ ॥ एक दिन उस राजकुमारका छिद्र देख कर उसने अपने दिव्य मूर्तिधारी वज्रको आज्ञा दी, कि-तू व्याघ्रका रूप धारण करके इस राजकुमारको मारडाल ॥२७॥

यथैनं पर्वतोऽब्रवीत् ॥२८॥ एवमुक्तस्तु शक्रेण वज्रः परपुरञ्जयः । कुमारमन्तरप्रेक्षी नित्यमेवान्वपद्यत ॥ २९ ॥ सृञ्जयोपि सुतं प्राप्य देवराजसमद्युतिम् । हृष्टः सान्तःपुरो राजा वननित्यो बभूव ह ॥३०॥ ततो भागीरथीतीरे कदाचिन्निर्जने वने । धात्रीद्वितीयो बालः स क्रीडार्थं पर्य्यधावयत् ॥ ३१ ॥ पञ्चवर्षकदेशीयो बालो नागेन्द्रविक्रमः । सहसोत्पतितं व्याघ्रमाससाद महाबलम् ॥३२॥ स बालस्तेन निष्पिष्टो वेपमानो नृपात्मजः । व्यसुः पपात मेदिन्यां ततो धात्री विचुक्रुशे ॥ ३३ ॥ हत्वा तु राजपुत्रं स तत्रैवान्तर-

क्योंकि-हे वज्र ! यह सृञ्जयका पुत्र यदि पराक्रममें बढ़जायगा तो मेरा पराजय करदेगा पर्वत मुनिने भी इस राजासे पुत्रका ऐसा ही भविष्य कहा है ॥ २८ ॥ इन्द्रने शत्रुके पुरका नाश करनेवाले वज्रको ज्योंही आज्ञा दी, कि-वज्र व्याघ्रका रूप धारण करके नित्य उस कुमारकी चूक देखनेके लिये उसके पीछे २ घूमनेलगा ॥ २९ ॥ मेरे यहाँ इन्द्रकी समान कान्तिमान् पुत्र उत्पन्न हुआ है, यह देखकर सृञ्जय प्रसन्न होरहा था, और रनवासको साथमें लेकर वह नित्य वनमें ही रहने लगा था ३० एक दिन भागीरथीके किनारे परके एक निर्जन वनमें राजकुमार धायके साथ खेलता २ कभी इधर कभी उधर इसप्रकार चारों ओरको दौड़ रहा था ॥३१॥ और वह कुमार पाँच वर्षका था तो भी बड़ेभारी हाथीकी समान पराक्रमी था, वह धायके साथ (अकेला ही) वनमें खेल रहा था, इतनेमें ही एक महाबली व्याघ्र एक दम उसके पास आलगा, कुमार उसके पासको गया कि-उस व्याघ्रने उस बालकको पकड़ लिया, बालक थर २ काँपने लगा और व्याघ्रने उसको मार डाला कुमार प्राणहीन होकर पृथिवी पर गिरपड़ा, यह देखकर धाय हाय हाय करने लगी ॥ ३२-३३ ॥ इतनेमेंही व्याघ्रका रूप धारण करके आया

धीयत । शार्दूलो देवराजस्य माययान्तर्हितस्तदा ॥ ३४ ॥ धात्र्यास्तु निनदं श्रुत्वा रुदन्त्याः परमार्त्तवत् । अभ्यधावत् तं देशं स्वयमेव महीपतिः ॥ ३५ ॥ स ददर्श शयानन्तं गतासुं पीतशोणितम् । कुमारं विगतानन्दं निशाकरमिव च्युतम् ॥३६॥ सुतमुत्संगमारोप्य परिपीडितमानसः । पुत्रं रुधिरसंसिक्तं पर्य्यदेवयदातुरः ॥ ३७ ॥ ततस्ता मातरस्तस्य रुदन्त्यः शोककर्शिताः । अभ्यधावन्त तं देशं यत्र राजा स सृञ्जयः ॥३८॥ ततः स राजा सस्मार मामेव गतमानसः । तदाहं चिन्तनं ज्ञात्वा गतवांस्तस्य दर्शनम् ॥ ३९ ॥ मयैतानि च वाक्यानि श्रावितः शोकलालसः । यानि ते यदुवीरेण कथितानि महीपते ॥ ४० ॥ सञ्जीवितश्चापि

हुआ इन्द्रका वज्र राजकुमारको मारकर इन्द्रकी मायासे अन्तर्धान होगया ॥३४॥ परन्तु धाय हाय २ करती हुई रोनेलगी, यह सुनकर राजा एकसाथ घबड़ाया हुआसा दौड़ता २ जहाँ राजपुत्र मराहुआ पड़ा था वहाँ आया ॥३५॥ और तहाँ आकर देखा कि जिसका खून व्याघ्रने चूस लिया था ऐसा आनन्दरहित राजकुमार आकाशमेंसे गिरेहुए निस्तेज चन्द्रमाकी समान मरा पड़ा है ॥ ३६ ॥ उसको देखते ही राजाके मनमें बड़ा दुःख हुआ, वह लोहूलुहान हुए पुत्रको गोदमें लेकर बड़ा शोक करने लगा ॥ ३७ ॥ जहाँ राजा मरेहुए पुत्रको गोदमें लियेहुए बैठा था, तहाँ रोती और बिलखाती हुई शोकसे दुर्बल हुईं सब माताएँ भी आगयीं ॥ ३८ ॥ नारदजी कहते हैं, कि-हे राजा युधिष्ठिर ! उस समय राजाने मुझे याद किया और मैं उसके चिन्तवनको समाधिसे जानकर तुरन्त उसके पासगया ॥ ३९ ॥ और हे राजा युधिष्ठिर ! जिन राजाओंका चरित्र तुम्हें श्रीकृष्णने सुनाया है, यही इतिहास मैंने शोकसे व्याकुल हुए राजा सृञ्जयको सुनाया था ॥ ४० ॥ फिर उस राजाका बहुत ही आग्रह देख

पुनर्वासवानुमते तदा । भवितव्यं तथा तच्च न तच्छक्यमतोऽन्यथा ॥ ४१ ॥ तत ऊर्ध्वं कुमारस्तु स्वर्णष्ठीवी महायशाः । चित्तं प्रसादयामास पितुर्मातुश्च वीर्य्यवान् ॥४२॥ कारयामास राज्यञ्च पितरि स्वर्गते नृप । वर्षाणां शतमेकं च सहस्रं भीमविक्रमः ॥४३॥ तत ईजे महायज्ञैर्बहुभिर्भूरिदक्षिणैः । तर्पयामास देवांश्च पितृंश्चैव महाद्युतिः ॥४४॥ उत्पाद्य च बहून् पुत्रान् कुलसन्तानकारिणः । कालेन महता राजन् कालधर्ममुपेयिवान् ॥ ४५ ॥ स त्वं राजेन्द्र संजातं शोकमेनं निवर्त्तय । यथा त्वां केशवः प्राह व्यासश्च सुमहातपाः ॥ ४६ ॥ पितृपैतामहं राज्यमास्थाय धुरमुद्वह । इष्ट्वा पुण्यैर्महायज्ञैरिष्टं लोकमवाप्स्यसि॥४७॥ एकत्रिंशोऽध्यायः ॥३१॥

कर मैंने फिर उसके पुत्रको इन्द्रकी आज्ञासे जीवित किया, इस प्रकार जो होना होता है, उसको कोई भी पलट नहीं सकता ४१ महाप्रतापी वीर स्वर्णष्ठीवी राजकुमार जीवित होगया और उसने अपने मातापिताके मनको प्रसन्न किया ॥ ४२ ॥ हे राजन् ! पिताका स्वर्गवास होजाने पर उस भीम-पराक्रमी राजकुमारने ग्यारह सौ वर्ष तक पृथिवी पर राज्य किया था ॥ ४३ ॥ महाकान्तिमान् उस राजकुमारने बड़ी २ दक्षिणावाले बहुतसे महायज्ञ करके देवताओंको तृप्त किया था, श्राद्ध करके पितरोंको तृप्त किया था ॥ ४४ ॥ कुलका विस्तार करनेवाले बहुतसे पुत्रोंको उत्पन्न करके पितरोंको प्रसन्न किया था और बहुतसे वर्षोंकी आयु भोगकर वह परलोकको पधारा था ॥४५॥ हे राजा युधिष्ठिर ! तुम भी बान्धवोंके मरणसे होनेवाले शोकसन्तापको त्यागदो और इन श्रीकृष्ण और महातपस्वी वेदव्यासजीके कहनेके अनुसार पिता पितामहके राजसिंहासन पर बैठो, राज्यके भारको उठाओ और पुण्य देने वाले बड़े २ यज्ञ करके प्रिय परलोकमें जाओ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ इकतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन उवाच । तूष्णीं भूतन्तु राजानं शोचमानं युधिष्ठिरम् । तपस्वी सर्वतत्त्वज्ञः कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ १ ॥ व्यास उवाच । प्रजानां पालनं धर्मो राज्ञां राजीवलोचन । धर्मः प्रमाणं लोकस्य नित्यं धर्मानुवर्तिनः ॥ २ ॥ अनुतिष्ठस्व तद्राजन् पितृपैतामहं पदम् । ब्राह्मणेषु तपो धर्मः स नित्यो वेदनिश्चितः । तत्प्रमाणं ब्राह्मणानां शाश्वतं भरतर्षभ । तस्य धर्मस्य कृत्स्नस्य क्षत्रियः परिरक्षिता ॥४॥ यः स्वयं प्रतिहन्ति स्म शासनं विषये रतः । स बाहुभ्यां विनिग्राह्यो लोकयात्राविघातकः ॥५॥ प्रमाणमप्रमाणं यः कुर्यान्मोहवशं गतः। भृत्यो वा यदि वा पुत्रस्तपस्वी वा

वैशम्पायन कहते हैं, कि–हे राजा जनमेजय ! नारदजीकी बात सुनकर राजा युधिष्ठिर चुप होगए और मनमें बड़ा ही शोक करनेलगे, तब धर्मके तत्त्वको जाननेवाले तपस्वी कृष्णद्वैपायन वेदव्यास उनसे बोले ॥ १ ॥ व्यासजीने कहा, कि–हे कमलकी समान नेत्रोंवाले राजा युधिष्ठिर ! राजाओंका यह धर्म है, कि–प्रजाका पालन करें, जो धर्मके अनुसार चलने वाले हैं वे सदा धर्मको ही प्रमाण मानते हैं ॥ २ ॥ इसकारण हे राजन् ! तुम धर्मानुसार चलकर पिता और पितामहके समयसे चले आते हुए राज्यको स्वीकार करो, वेदमें इस बातका निश्चय करदिया है, कि–तपस्या करते रहना, यह तो ब्राह्मणोंका नित्यका धर्म है ।३। हे भरतसत्तम राजन् ! तप करना ब्राह्मणोंका सनातन धर्म है और सब धर्मोंकी रक्षा करना क्षत्रियका धर्म है ॥ ४ ॥ परन्तु जो पुरुष स्वयं विषयमें आसक्त होकर धर्ममार्गका नाश करता है ऐसे समाजके बन्धनको तोड़नेवाले पुरुषकी दोनों भुजाएँ बाँधकर राजाको उसको कैद करदेना चाहिये ॥५॥ और जो पुरुष मूर्खतासे प्रमाणको अप्रमाण करे (धर्मका अनादर करे) वह अपना सेवक हो, अपना पुत्र हो, तपस्वी हो, चाहे कोई भ

कश्चन ॥ ६ ॥ पापान् सर्वैरुपायैस्तान् नियच्छेच्छातयीत वा । अतोऽन्यथा वर्तमानो राजा प्राप्नोति किल्बिषम् ॥ ७ ॥ धर्मं विनश्यमानं हि यो न रक्षेत्स धर्महा । ते त्वया धर्महन्तारो निहताः सपदानुगाः ॥ ८ ॥ स्वधर्मे वर्तमानस्त्वं किं नु शोचसि पाण्डव । राजा हि हन्याद्दद्याच्च प्रजा रक्षेच्च धर्मतः ॥ ९ ॥ युधिष्ठिर उवाच । न तेभिशंके वचनं यद् ब्रवीषि तपोधन । अपरोक्षो हि ते धर्मः सर्वधर्मविदाम्वर ॥ १० ॥ मया त्ववध्या बहवो घातिता राज्यकारणात् । तानि कर्माणि मे ब्रह्मन् दहन्ति च पचन्ति च ११ व्यास उवाच । ईश्वरो वा भवेत्कर्त्ता पुरुषो वापि भारत । हठो

मनुष्य हो, उस पापीको राजा सब उपायोंसे कैद करलेय या जीता ही मारडाले, जो राजा इसके प्रतिकूल वर्त्ताव करता है उसको पाप लगता है ॥ ६ ॥ ७ ॥ जो राजा नष्ट होते हुए धर्मकी रक्षा नहीं करता है, वह स्वयं ही धर्मका नाश करनेवाला गिनाजाता है और तुमने भी धर्मका नाश करनेवालोंको उनके सहायकोंके सहित मार डाला है, यह धर्मका ही काम किया है ॥ ८ ॥ हे पाण्डव! तुम आप ही धर्मके अनुसार वर्त्ताव करते हो, तो फिर शोक क्यों करते हो? राजाका काम है, कि—जो धर्मानुसार वर्त्ताव न करते हों उनको दण्ड देय, जो सुपात्र हों उनको दान देय और धर्मानुसार प्रजाकी रक्षा करे ॥९॥ राजा युधिष्ठिरने कहा, कि—हे तपोधन! आपने मुझसे जो वचन कहे, उनके ऊपर मुझे सन्देह नहीं है, तुम सब धर्मको जाननेवालोंमें श्रेष्ठ हो और धर्म तुम्हें प्रत्यक्ष है (यह मैं जानता हूँ) ॥ १० ॥ परन्तु हे ब्रह्मन्! मैंने राज्य पानेके लिये बहुतसे न मारने योग्य पुरुषोंको मारा है, इन कामोंका विचार ही मुझे जलाकर खाक किये डालता है ।११। व्यासजीने कहा, कि—हे राजन्! युद्धभूमिमें सामने लडनेको आयेहुए सब योधा मारडालेगये बताओ उनको

ना वर्त्तते लोके कर्मजस्य फलं स्मृतम् ॥१२॥ ईश्वरेण नियुक्तो हि साध्वसाधु च भारत। कुरुते पुरुषः कर्म फलमीश्वरगामि तत् ॥१३॥ यथा हि पुरुषश्छिन्द्याद् वृक्षं परशुना वने। छेत्तुरेव भवेत् पापं परशोर्न कथञ्चन ॥ १४ ॥ अथवा तदुपादानात् प्राप्नुयात् कर्मणः फलम्। दण्डशस्त्रकृतं पापं पुरुषे तन्न विद्यते १५ न चैतदिष्टं कौन्तेय यदन्येन कृतं फलम्। प्राप्नुयादिति यस्माच्च ईश्वरो तन्निवेशय ॥ १६ ॥ अथापि पुरुषः कर्त्ता कर्मणोः शुभ-

मारनेवाला जीव है या ईश्वर है? सब काम स्वभावसे होता है या हम जो सुख दुःख भोगते हैं वह पहले जन्मके कर्मोंका फल है? ॥१२॥ जीव ईश्वरकी प्रेरणासे ही शुभ अशुभ कर्म करता है, यदि ऐसा मानते हो तो पश्चात्ताप करना उचित नहीं है, क्योंकि-शुभ और अशुभ कर्म करनेकी प्रेरणा करनेवाला ईश्वर है और उस ईश्वरको ही उसका फल मिलेगा॥१३॥इस विषयमें एक दृष्टान्त सुनो-एक पुरुष वनमें कुल्हाड़ेसे वृक्षको काटरहा है तो उसका पाप काटनेवालेको ही लगता है, कुल्हाड़ेको नहीं लगता ॥१४॥ कदाचित् तुम कहोगे, कि-नियोज्य कुल्हाड़ा (कर्त्ता) अचेतन होनेसे पापका भागी नहीं होता है, परन्तु जीव स्वयं चेतन है, इसलिये उसको ही कियेहुए कर्मका फल भोगना पड़ेगा, इसलिये वृक्षको काटनेवाला ही नहीं, किन्तु कुल्हाड़ेको बनानेवाला भी पापका भागी माना जायगा, यदि ऐसा विचार करो तो यह भी मिथ्या है, क्योंकि-एक मनुष्य वृक्षको काटे और उसके पापका भोक्ता दूसरा पुरुष हो यह कैसे संभव होसकता है? इसलिये सब कर्म प्रयोजक ईश्वरको ही अर्पण करदो (तब तुम्हें पाप या पुण्य नहीं लगसकता) ॥१५-१६॥ कदाचित् तुम कहोगे, कि-शुभ अशुभ कर्मका कर्त्ता जीव ही है, उसको प्रेरणा करने वाला कोई भी नहीं है (न परमपुरुष है और न परलोक है)

पापयोः । न परो विद्यते तस्मादेवमेतच्छुभं कृतम् ॥१७॥ न हि कश्चित् कचिद्राजन् दिष्टं प्रतिनिवर्त्तते । दण्डशस्त्रकृतं पापं पुरुषे तन्न विद्यते ॥१८॥ यदि वा मन्यसे राजन् हतमेकं प्रतिष्ठितम् एवमप्यशुभं कर्म न भूतं न भविष्यति ॥१९॥ अथाभिपत्तिर्लोकस्य कर्त्तव्या शुभपापयोः । अभिपन्नमिदं लोके राज्ञामुद्यतदण्डनम् २० तथापि लोके कर्माणि समावर्त्तंति भारत । शुभाशुभफलञ्चैते प्राप्नुवन्तीति मे मतिः ॥२१॥ एवमप्यशुभं कर्म कर्मणस्तत्फला-

ऐसा मानोगे तो तुमको यह स्वीकार करना पड़ेगा, कि-जगत्का कोई नियन्ता ही नहीं है और यदि ऐसा है तो तुम अशुभ कर्म करो, उसमें तुम्हें डरनेकी कौनसी बात है ? ॥ १७ ॥ परन्तु हे राजन् ! अब मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ उसको तुम सुनो-जैसे वृक्षको काटनेवालेका पाप कुल्हाड़ा बनानेवालेको कभी लग ही नहीं सकता ऐसे ही कोई भी प्राणी दैव (प्रारब्ध) को लाँघ कर (परमपुरुषकी प्रेरणाके विना) कर्म कर ही नहीं सकता अर्थात् सब (प्राणिमात्र) दैवाधीन होकर ही कर्म करते हैं ॥ १८ ॥ और यदि तुम स्वभावको कर्त्ता मानोगे तो फिर भूतकालमें या भविष्यत्में किसी समय भी तुम्हारा पापके साथ (युद्ध में हुए संहारके साथ) संबन्ध नहीं है ॥ १९ ॥ और कदाचित् तुम लोगोंकी व्यवस्था (सुख दुःख) को देखकर स्वभाववादको मिथ्या मानते हो तो भी धर्म अधर्मके विना सुख दुःखका होना संभव नहीं है और उस धर्म अधर्मका ज्ञान-शास्त्रसे होसकता है, अब धर्मशास्त्रमें कहा है; कि-राजाओं को चाहिये, कि-उद्धत पुरुषोंको दण्ड दें, उसके अनुसार ही तुमने कौरवोंको दण्ड दिया है ॥२०॥ हे भरतवंशी राजा युधिष्ठिर ! प्रजाका पालन करनेके लिये राजाको शुभ अशुभ कर्म करने पडते हैं और राजाओंको ही मेरी समझमें उसका फल भी

त्मकम् । त्यज त्वं राजशार्दूल मैवं शोके मनः कृथाः ॥ २२ ॥ स्वधर्मे वर्त्तमानस्य सापवादेपि भारत । एवमात्मपरित्यागस्तव राजन्न शोभनः ॥ २३ ॥ विहितानि हि कौन्तेय प्रायश्चित्तानि कर्मणाम् । शरीरवांस्तानि कुर्य्यादशरीरः पराभवेत् ॥ २४ ॥ तद्राजन् जीवमानस्त्वं प्रायश्चित्तं करिष्यसि । प्रायश्चित्तमकृत्वा तु प्रेत्य तप्तासि भारत ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि प्रायश्चित्तविधौ द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिर उवाच । हताः पुत्राश्च पौत्राश्च भ्रातरः पितरस्तथा । श्वशुरा गुरवश्चैव मातुलाश्च पितामहाः ॥ १ ॥ क्षत्रियाश्च

इस प्रकार पाप कर्म करनेसे मिलता है ॥२१॥ हे महाबाहो ! अशुभ फलदाता पापकी प्रवृत्ति करनेवाले कर्म उत्पन्न होजाते हैं, इसलिये तुम पाप कर्मोंको त्यागदो और मनमें शोक न करो ॥ २२ ॥ हे राजन् ! अपना क्षत्रियधर्म तुम्हें दोषवाला मालूम होता हो तो भी तुम अपने धर्मका ही वर्त्ताव करते हो, इसलिये तुम्हें आत्महत्या नहीं करनी चाहिये ॥ २३ ॥ हे कुन्तीनन्दन ! शास्त्रमें कहे हुए प्रायश्चित्तोंको शरीरधारी कर सकता है, परन्तु जो शरीरशून्य है वह पुरुष तिरस्कार पाता है(किये हुए कर्मोंके प्रायश्चित्तको नहीं कर सकता)।२४। इसलिये हे राजन् ! यदि तुम जीवित रहोगे तो प्रायश्चित्त करसकोगे और पापसे छूट जाओगे और यदि प्रायश्चित्त किये विना ही मरजाओगे तो तुम्हें परलोकमें प्रायश्चित्त करना पड़ेगा ॥ २५ ॥ बत्तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३२ ॥

छ छ

राजा युधिष्ठिरने कहा, कि–हे पितामह वेदव्यासजी! पुत्र, पौत्र, भाई, चचा, ससुर, गुरु, मामा, पितामह, महात्मा क्षत्रिय, संबन्धी, मित्र, समान अवस्थावाले स्नेही, भानजे, जातिवाले और भिन्न२

महात्मानः सम्बन्धिसुहृदस्तथा । वयस्या भागिनेयाश्च ज्ञातयश्च पितामह ॥ २ ॥ बहवश्च मनुष्येन्द्रा नानादेशसमागताः । घातिता राज्यलुब्धेन मयैकेन पितामह ॥ ३ ॥ तांस्तादृशानहं हत्वा धर्मनित्यान्महीक्षितः । असकृत् सोमपान् वीरान् किं प्राप्स्यामि तपोधन ४ दह्याम्यनिशमद्यापि चिन्तयानः पुनः पुनः । हीनां पार्थिवसिंहैस्तैः श्रीमद्भिः पृथिवीमिमाम् ॥ ५ ॥ दृष्ट्वा ज्ञातिवधं घोरं हतांश्च शतशः परान् । कोटिशश्च नरानन्यान् परितप्ये पितामह ॥६॥ का नु तासां वरस्त्रीणामवस्थाद्य भविष्यति । विहीनानान्तु तनयैः पतिभिर्भ्रातृभिश्च ह ॥ ७ ॥ अस्मानन्तकरान् घोरान् पाण्डवान् वृष्णिसंहतान् । आक्रोशन्त्यः कृशा दीनाः प्रपतिष्यन्ति भूतले ८ अपश्यन्त्यः पितॄन् भ्रातॄन् पतीन् पुत्रांश्च योषितः । त्यक्त्वा

देशोंमेंसे आये हुए बहुतसे बड़े२ राजाओंको अकेले मैंने राज्यके लोभसे मरवादिया है ॥१–३॥ हे तपोधन ! महापराक्रमी नित्य धर्ममें लगे रहनेवाले, वार२ सोमयाग करके सोमवल्लीका रस पीनेवाले वीर राजाओंको मैंने रणमें मरवादिया है (इस पापकर्मके कारण) अब मुझे उसका कैसा फल मिलेगा ? ॥ ४ ॥ हे पितामह ! अब भी यदि मैं,जो बड़े२ श्रीमान् राजे इस पृथिवी परसे चले गये हैं उनका विचार करता हूँ तो जलकर खाक हो जाता हूँ ॥ ५ ॥ हे पितामह!संबन्धियोंके भयानक वधको याद करके तथा रणमें मारेगए सैंकड़ों और करोड़ों मनुष्योंको याद करता हूँ तब मेरे मनमें सन्ताप होता है ॥६॥ ओः ! पुत्र, पति तथा भाइयोंसे शून्य हुई उन वीरोंकी स्त्रियोंकी इस समय क्या दशा होगी? ७ वे दुःखसे दीन और दुर्बल हुई वीर मनुष्योंकी और वीर राजाओंकी रानियें अपने पतियोंको मारडालनेवाले पाण्डवोंके और वृष्णियोंके नाम ले२कर रोती हुयीं पृथिवी पर पछाड़ेंही खाती होंगी ॥८॥ वे स्त्रियें जब अपने पिता भ्राता, पति और पुत्रोंको

प्राणान् स्त्रियः सर्वा गमिष्यन्ति यमक्षयम् । वत्सलत्वाद् द्विजश्रेष्ठ तत्र मे नास्ति संशयः। व्यक्तं सौक्ष्म्याच्च धर्मस्य प्राप्स्यामः स्त्रीवधं वयम् ॥ १० ॥ यद्वयं सुहृदो हत्वा कृत्वा पापमनन्तकम् । नरके निपतिष्यामो ह्यधःशिरस एव ह ॥ ११ ॥ शरीराणि विमोक्ष्याम-स्तपसोग्रेण सत्तम । आश्रमाणां विशेषांस्त्वमथाचक्ष्व पितामह १२ वैशम्पायन उवाच । युधिष्ठिरस्य तद्वाक्यं श्रुत्वा द्वैपायनस्ततः । निरीक्ष्य निपुणं बुद्ध्या ऋषिः प्रोवाच पाण्डवम् ॥१३॥ व्यास उवाच । मा विषादं कृथा राजन् क्षत्रधर्ममनुस्मरन् । स्वधर्मेण हता ह्येते क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ॥ १४ ॥ काङ्क्षमाणाः श्रियं कृत्स्नां पृथिव्यां च महद्यशः। कृतान्तविधिसंयुक्ताः कालेन निधनं गताः १५

नहीं देखेंगी उस समय हे द्विजश्रेष्ठ ! वे उनके ऊपर प्रेम होनेके कारण अवश्य मर ही जायँगी, वास्तवमें धर्मका स्वरूप सूक्ष्म है इसलिये मुझे उन स्त्रियोंकी हत्याका पाप भी लगेगा, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है ॥९-१०॥ हमने स्नेहियों को मारकर अपार पापका काम किया है,इस लिये अब हम नीचे को शिर होकर ही नरकमें पड़ेंगे ॥११॥ इसलिए हे उत्तम व्यासजी! हम उग्र तप करके शरीरको त्याग देंगे,इसलिये आश्रमोंमें यदि कोई उत्तम आश्रम हो तो हे पितामह ! हमें बताइए, हम उसके अनुसार ही वर्ताव करें ॥ १२ ॥ वैशम्पायन कहते हैं,कि-हे जनमेजय!राजा युधिष्ठिरकी इस बातको सुनकर व्यासजी अपनी बुद्धिसे बड़ा ही विचार करके राजा युधिष्ठिरसे बोले॥१३॥व्यासजीने कहा,कि-हे राजन्!तुम्हें क्षत्रियधर्मका विचार करके खेद नहीं करना चाहिये हे उत्तम क्षत्रिय!रणमें जो क्षत्रियोंको मारा है, वह क्षत्रिय-धर्मके अनुसार ही मारा है ॥ १४ ॥ जो राजे रणभूमिमें मरे हैं वे भी लक्ष्मीकी, सब पृथिवीकी और यशकी इच्छा रखते थे, वे समय आने पर,दूसरेके प्राण लेनेका उद्योग करते हुए अपने ही अप-

न त्वं हन्ता न भीमोऽयं नार्जुनो न यमावपि। कालः पर्यायधर्मेण प्राणानादत्त देहिनाम् ॥ १६ ॥ न तस्य मातापितरौ नानुग्राह्योऽस्ति कश्चन। कर्मसाक्षी प्रजानां यस्तेन कालेन संहृताः ॥१७॥ हेतुमात्रमिदं तस्य विहितं पुरुषर्षभ। यद्धन्ति भूतैर्भूतानि तदस्मै रूपमैश्वरम् ॥१८॥ कर्मसूत्रात्मकं विद्धि साक्षिणं शुभपापयोः। सुखदुःखगुणोदर्कं कालं कालफलप्रदम् ॥१९॥ तेषामपि महाबाहो कर्माणि परिचिन्तय। विनाशहेतुकानि त्वं यैस्ते कालवशं गताः॥२०॥ आत्मनश्च विजानीहि नियतव्रतशासनम्। यदा त्वमीदृशं कर्म

राक्षसे मारे गए हैं ॥ १५ ॥ तुमने, भीमने, अर्जुनने, नकुलने या सहदेवने भी उनको नहीं मारा है, केवल कालने ही उनको अपने नियमसे मारा है ॥१६॥ जिसके न माता है न पिता (अर्थात् यदि कालके माता पिता हों तो उनको भी न छोड़े ऐसा काल) जिसको किसी प्राणीके ऊपर दया नहीं है, जो प्रजाओंके किये हुए सब कर्मोंका साक्षी है, उस कालने ही राजाओंका संहार किया है, तुमने संहार नहीं किया है ॥ १७ ॥ हे भरतवंशमें श्रेष्ठ राजन्! तुम्हारा युद्ध तो उनके नाशमें निमित्तमात्र था, सब प्राणियोंका नाश करनेकी शक्ति तो केवल कालके ही हाथमें है, वह प्राणियोंके द्वारा प्राणियोंका नाश करवाता है, वह काल ईश्वरका ही रूप है ॥१८॥ उस कालको तुम कर्मके अधीन जानो, वह पाप और पुण्य कर्मोंका साक्षी है तथा वह काल ही पुण्य पाप रूप कर्मोंके सुख-दुःख-रूप फलोंको देता है, इसलिये कालको विषमता तथा निर्दयीपनेका दोष नहीं लगता है ॥१९॥ हे महाबाहु राजा युधिष्ठिर! कौरव अपने जिन (खोटे) कर्मोंके कारणसे मारे गए हैं उन कर्मोंका भी तुम विचार करो ॥२०॥ हे राजन्! तुम स्वयं ही विचार करो, कि-तुम नित्य शान्त व्रतको धारण करनेवाले हो, तो भी तुम्हें जब दैवने घेरलिया

विधिनाऽकस्य कारितः ॥ २१ ॥ त्वष्ट्रेव विहितं यन्त्रं यथा चेष्टयितुर्वशे । कर्मणा कालयुक्तेन तथेदं चेष्टते जगत् ॥२२॥ पुरुषस्य हि दृष्टेमामुत्पत्तिमनिमित्ततः । यदृच्छया विनाशं च शोकहर्षावनर्थकौ ॥२३॥ व्यलीकमपि यत्त्वत्र चित्तवैतंसिकं तव । तदर्थमिष्यते राजन् प्रायश्चित्तं तदाचर ॥ २४ ॥ इदं तु श्रूयते पार्थ युद्धे देवासुरे पुरा । असुरा भ्रातरो ज्येष्ठा देवाश्चापि यवीयसः ॥२५ ॥ तेषामपि श्रीनिमित्तं महानासीत्समुच्छ्रयः । युद्धं वर्षसहस्राणि द्वात्रिंशदभवत् किल ॥ २६ ॥ एकार्णवां महीं कृत्वा रुधिरेण परिप्लुताम् । जघ्नुर्दैत्यांस्तथा देवास्त्रिदिवं चाभिलेभिरे ॥ २७ ॥

तब तुमने भी हिंसारूप घोरकर्म किया ॥ २१ ॥ लुहारका घना हुआ यन्त्र जैसे यन्त्र चलानेवालेके अधीन होता है-उसको चलानेवाला जैसे चलाता है वह वैसे ही चलता है तैसेही यह जगत् भी कालके साथ रहनेवाले कर्मके अधीन है वह इसको जैसे चलाता है तैसे ही चलता है ॥ २२ ॥ पुरुषका जन्म और मरण जैसे बिना कारणके स्वाभाविक-रीतिसे होजाता है, तैसे ही हर्ष और शोक भी बिना कारणके स्वाभाविक ही होते हैं, इसलिये हर्ष शोक करना व्यर्थ है ॥ २३ ॥ हे राजन् ! सब प्राणी अपने २ कर्मोंके अनुसार मरते हैं, तथापि तुम अपने मनमें ऐसा समझ बैठे हो, कि-इन सबोंको मैंने मारा है । तुम्हारे मनमें जो यह भेद होरहा है,इसका कारण मोह है इसलिये तुम्हें यदि इस पापका प्रायश्चित्त करना हो तो करो२४. हे राजन् ! ऐसा सुननेमें आया है, कि-पहले देवता और असुरोंका आपसमें युद्ध हुआ था, असुर बड़े भाई थे और देवता छोटे भाई थे ॥ २५ ॥ देवता और असुरोंका लक्ष्मीके लिये बारह हजार वर्ष तक युद्ध हुआ था ॥ २६ ॥ देवताओंने रुधिरसे सराबोर हुई पृथिवीको समुद्रमें डुबादिया था और

तथैव पृथिवीं लब्ध्वा ब्राह्मणा वेदपारगाः । संश्रिता दानवानां वै साह्यार्थं दर्पमोहिताः ॥ २८ ॥ शालावृका इति ख्यातास्त्रिषु लोकेषु भारत । अष्टाशीतिसहस्राणि ते चापि त्रिबुधैर्हताः ॥२९॥ धर्मव्युच्छित्तिमिच्छन्तो येऽधर्मस्य प्रवर्तकाः। हन्तव्यास्ते दुरात्मानो देवैर्दैत्या इवोल्बणाः ॥ ३० ॥ एकं हत्वा यदि कुले शिष्टानां स्यादनामयम् । कुलं हत्वा च राष्ट्रं च न तद्वृत्तोपघातकम् ३१ अधर्मरूपो धर्मो हि कश्चिदस्ति नराधिप । धर्मश्चाधर्मरूपोऽस्ति तच्च ज्ञेयं विपश्चिता ॥ ३२ ॥ तस्मात्संस्तभयात्मानं श्रुतवानसि

दैत्योंका नाश करके स्वर्गका राज्य पालिया था, फिर पृथिवी का राज्य भी पालिया था, उस समय घमण्डसे मोहित हुए कितने ही वेदके पारगामी ब्राह्मणोंने अपनी आजीविकाके लिये दैत्योंको सहायता दी, इसलिये युद्ध हुआ, उस युद्धमें त्रिलोकीमें प्रसिद्ध शालावृक नामके अस्सी हजार असुरोंका देवताओंने नाश किया था ॥ २७-२९ ॥ ऐसे धर्मका नाश करना चाहने वाले और अधर्मके प्रवर्त्तक दुष्टात्मा पुरुषोंको मार ही डालना चाहिये, इसलिये देवताओंने भयानक दैत्योंको मारडाला था।३०। एक पुरुषको मारदेनेसे यदि कुलके सत्पुरुषोंको सुख मिलता हो तो उसको मारदेय, सब कुलका नाश होनेसे यदि सब देशको सुख मिलता हो तो ऐसे कुलका भी नाश करदेय; ऐसा करनेमें पाप नहीं लगता है॥३१॥ हे राजन् ! कितने ही समय कोई कर्म ऊपरसे तो अधर्म मालूम होता है, परन्तु शास्त्रदृष्टिसे वह धर्मरूप होता है, ऐसे ही कितने ही समय हम जिसको धर्म मान बैठते हैं वह शास्त्रदृष्टिसे अधर्मरूप होता है, धर्म और अधर्मके इस स्वरूपको ठीक २ विद्वान् ही जानते हैं ॥ ३२ ॥ हे राजन् ! तुम शास्त्रको जानते हो, इसलिये अपनी बुद्धिको स्थिर करो, (और विचार कर देखोगे तो मालूम भी होगा कि) पहले जिस

पाण्डव । देवैः पूर्वगतं मार्गमनुयातोऽसि भारत ॥ ३३ ॥ न हीदृशा गमिष्यन्ति नरकं पाण्डवर्षभ । भ्रातॄनाश्वासयैनांस्त्वं सुहृदश्च परंतप॥३४॥यो हि पापसमारम्भः कार्ये तद्भावभावितः । कुर्वन्नपि तथैव स्यात्कृत्वा च निरपत्रपः ॥ ३५ ॥ तस्मिंस्तत्कलुषं सर्वं समाप्तमिति शब्दितम् । प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति ह्रासो वा पापकर्मणः॥त्वं तु शुक्लाभिजातीयः परदोषेण कारितः । अनिच्छमानः कर्मेदं कृत्वा च परितप्यसे ॥ ३७ ॥ अश्वमेधो महायज्ञः प्रायश्चित्तमुदाहृतम् । तमाहर महाराज विपाप्मैवं भविष्यसि ३८ मरुद्भिः सह जित्वारीन् भगवान् पाकशासनः । एकैकं क्रतुमाहृत्य

मार्गको देवताओंने ग्रहण किया था, उस ही मार्ग पर तुम भी चले हो ॥३३॥ हे शत्रुतापन राजन्! तुमसे धार्मिक पुरुष कभी नरकमें नहीं पडते हैं, इसलिये तुम अपने भाइयोंको तथा स्नेहियोंको धीरज दो ॥ ३४ ॥ जो पुरुष अपने मनमें पापकी वासना रखकर पापकर्म करता है और पापकर्म करता हुआ मनमें जरा भी नहीं डरता है तथा करनेके बाद लज्जित भी नहीं होता है उसको पापका फल भोगना पडता है ऐसा वेदमें कहा है और ऐसे पाप कर्मका शास्त्रकारोंने प्रायश्चित भी कहा है, इस लिये उसके पापका नाश भी नहीं होता है ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ और हे राजन्! तुम्हारा हृदय तो स्वच्छ था, परन्तु दुष्ट दुर्योधन आदिके दोपसे मलिन होगया था इसलिये युद्ध करनेकी इच्छा न होने पर भी तुमने युद्ध किया था, फिर तुम खेद क्यों करते हो ? ॥ ३६ ॥ हे महाराज ! ऐसा होते हुए भी यदि तुम्हारा मन प्रायश्चित्त करनेको चाहता हो तो ऐसे पापका प्रायश्चित्त करनेके लिये अश्वमेध नामका यज्ञ करना कहा है, उस यज्ञको करके तुम पापसे मुक्त होजाओ ॥ ३८ ॥ भगवान् इन्द्रने मरुत् देवताओंको साथमें लेकर असुरोंको जीतलिया, उसके प्रायश्चित्तके

शतक्रत्वः शतक्रतुः ॥ ३९ ॥ धूतपाप्मा जितस्वर्गो लोकान्प्राप्य सुखोदयान् । मरुद्गणैर्वृतः शक्रः शुशुभे भासयन् दिशः ॥४०॥ स्वर्गे लोके महीयन्तमप्सरोभिः शचीपतिम् । ऋषयः पर्युपासन्त देवाश्च विबुधेश्वरम् ॥ ४१ ॥ सेयं त्वामनुसंप्राप्ता विक्रमेण वसुंधरा । निर्जिताश्च महीपाला विक्रमेण त्वयानघ ॥ ४२ ॥ तेषां पुराणि राष्ट्राणि गत्वा राजन् सुहृद्वृतः । भ्रातॄन् पुत्रांश्च पौत्रांश्च स्वे स्वे राज्येऽभिषेचय ॥४३॥ बालानपि च गर्भस्थान् सान्त्वेन समुदाचरन् । रञ्जयन्प्रकृतीः सर्वाः परिपाहि वसुंधराम्४४ कुमारो नास्ति येषाञ्च कन्यास्तत्राभिषेचय । कामाशयो हि स्त्री-

लिये अश्वमेध यज्ञ किये थे, सौ यज्ञ पूरे होने पर यह इन्द्र शतक्रतु नामसे प्रसिद्ध हुआ है, इन्द्र स्वर्गको जीतनेके बाद अश्वमेध यज्ञ करके निष्पाप हुआ था और मरुत् देवताओंसे घिरकर अपने तेजसे दिशाओंको प्रकाशित करताहुआ स्वर्गमें राज्य करने लगा ॥ ३९ ॥ ४० ॥ देवता और ऋषि उसकी उपासना करने लगे और अप्सरायें उसकी पूजा करने लगीं ॥४१॥ हे निष्पाप युधिष्ठिर! इन्द्रने जो पृथिवी पाई थी, वह पृथिवी तुमने पराक्रमसे पाई है और पराक्रमसे ही तुमने सब राजाओंको जीता है ।४२। हे राजन्! अब तुम भी अपने स्नेही राजाओंको साथमें लेकर जिनके नगर और राज्य राजाओंसे शून्य होगए हों उन नगर और राज्यमें जाकर उनके भाइयोंको, पुत्रोंको और पौत्रोंको उनके राजसिंहासन पर अभिषिक्त करदो ॥ ४३ ॥ संग्राममें मरजाने वाले जिन राजाओंकी स्त्रियें गर्भवती हों तो उनके पास जाकर उनको धीरज दो और प्रजाको प्रसन्न रखतेहुए पृथिवीका पालन करो४४जिनराजाओंके पुत्र नहीं हैं, केवल कन्याएँही है उन राजाओं की गद्दीपर कन्याओंको बैठालकर मरनेवालोंकी स्त्रियोंके मनमेंसे शोकको दूर करदो, स्त्रियोंके मन कामनाओंसे भरे होते हैं, परन्तु

वर्गः शोकमेवं मदाश्यति ॥ ४५ ॥ एवमाश्वासनं कृत्वा सर्वराष्ट्रेषु भारत । यजस्व वाजिमेधेन यथेन्द्रो विजयी पुरा ॥ ४६ ॥ अशोच्यास्ते महात्मानः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ । स्वकर्मभिर्गता नाशं कृतान्तबलमोहिताः ॥ ४७ ॥ अवाप्तः क्षत्रधर्मस्ते राज्यम्प्राप्तमकण्टकम् । रक्षस्व धर्मं कौन्तेय श्रेयान्यः प्रेत्य भारत ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि प्रायश्चित्तीयोपाख्याने त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर उवाच । कानि कृत्वेह कर्माणि प्रायश्चित्तीयते नरः । किं कृत्वा मुच्यते तत्र तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥ व्यास उवाच । अकुर्वन् विहितं कर्म प्रतिषिद्धानि चाचरन् । प्रायश्चित्तीयते ह्येवं

उनको धीरज देकर उनके शोकको दूर करसकोगे॥४५॥ हे भरतवंशी राजन्! इसप्रकार देशकी सब प्रजाको आश्वासन दो और फिर अश्वमेध यज्ञ करके जैसे पहले इन्द्र अश्वमेध यज्ञ करके विजयी हुआ था तैसे तुम भी विजयी होजाओ ॥ ४६ ॥ हे क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ राजन्! जो महात्मा क्षत्रिय रणमें मारेगए हैं उनका शोक करना उचित नहीं है वे यमराजके बलसे मोहित होकर अपने क्षत्रिय धर्मानुसार मारे गए हैं॥४७॥ हे भरतवंशी राजन्! तुमने क्षत्रियके धर्मका ठीक पालन किया है, तुम्हें यह निष्कंटक राज्य मिला है, इसलिये अब तुम अपने क्षत्रिय धर्मकी रक्षा करो क्यों कि–परलोकमें इससे ही कल्याण होगा ॥ ४८ ॥ तेंतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३३ ॥ * *

राजा युधिष्ठिरने कहा, कि–हे पितामह ! कौन २ से काम करनेसे मनुष्य प्रायश्चित्त करनेके योग्य होता है और कौनसे व्रत करनेसे मनुष्य पापरहित होता है, यह मुझे कृपाकरके बताइये॥१॥ व्यासजीने कहा, कि–हे राजन्! वेदमें जिन कर्मोंको करना कहा है, उनको न करनेसे, निषिद्ध कर्मोंको करनेसे तथा कपट करनेसे

नरो मिथ्यानुवर्त्तयन् ॥ २ ॥ सूर्येणाभ्युदितो यस्तु ब्रह्मचारी भवत्युत । तथा सूर्याभिनिर्मुक्तः कुनखी श्यावदन्नपि ॥ ३ ॥ परिवित्तिः परिवेत्ता ब्रह्मघ्नो यश्च कुत्सकः । दिधिषूपपतिर्यः स्याद्-ग्रेदिधिषुरेव च ॥ ४ ॥ अवकीर्णी भवेद्यश्च द्विजातिवधकस्तथा । अतीर्थे ब्राह्मणस्त्यागी तीर्थे चाप्रतिपादकः ॥ ५ ॥ ग्रामघाती च कौन्तेय मांसस्य परिविक्रयी । यश्चाग्नीनपविध्येत तथैव ब्रह्मविक्रयी ॥ ६ ॥ गुरुस्त्रवधको यश्च पूर्वपूर्वसु गर्हितः । वृथा-पशुसमालम्भी गृहदाहस्य कारकः ॥ ७ ॥ अनृतेनोपवर्ती च प्रतिरोद्धा गुरोस्तथा । एतान्येनांसि सर्वाणि व्युत्क्रान्तसमयश्च

मनुष्यको प्रायश्चित्त करना पडता है ॥ २ ॥ जो ब्रह्मचारी सूर्योदयके समय और सूर्यास्तके समय सोता रहे वह प्रायश्चित्त करे, तथा जिसके नख खराब हों, दाँत काले हों वे पूर्व जन्ममें सोना चुरानेवाले और मद्य पीनेवाले होने चाहियें, इनको सब पापसे छूटनेके लिये प्रायश्चित करना चाहिये ॥ ३ ॥ जिसके छोटे भाईका विवाह होगया हो ऐसा अविवाहित बडा भाई और वह विवाह करलेने वाला छोटा भाई, ब्रह्महत्यारा, निन्दक, दिधिषूपति (छोटी कन्याका विवाह होजानेके पीछे उसकी बडी बहिनसे विवाह करनेवाला) तथा अग्रेदिधिषूपति (बडी बहिनके क्वारी बैठी रहने पर उसकी छोटी बहिनसे विवाह करनेवाला) इन सबोंको प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ ४ ॥ जिसका ब्रह्मचर्य व्रत खण्डित होगया हो ऐसे ब्रह्मचारीको, द्विजका वध करनेवालेको, कुपात्रको दान देनेवालेको और सुपात्रको दान न देनेवालेको प्रायश्चित करना चाहिये ॥ ५ ॥ हे कुन्तीनन्दन ! सब ग्रामका नाश करनेवाला, माँस बेचनेवाला, आग लगाने वाला, नौकरी लेकर वेद पढानेवाला, गुरु और स्त्रीका वध करनेवाला, वृथा पशुहिंसा करनेवाला तथा दूसरेके घरमें आग लगानेवाला, मिथ्या

यः ॥८॥ अकार्याणि तु वक्ष्यामि यानि तानि निबोध मे । लोक-
वेदविरुद्धानि तान्येकाग्रमनाः शृणु ॥ ९ ॥ स्वधर्मस्य परित्यागः
परधर्मस्य च क्रिया। अयाज्ययाजनञ्चैव तथाऽभक्ष्यस्य भक्षणम् १०
शरणागतसन्त्यागो भृत्यस्याभरणन्तथा। रसानां विक्रयश्चापि तिर्य-
ग्योनिवधस्तथा ॥ ११ ॥ आधानादीनि कर्माणि शक्तिमान्न
करोति यः । अप्रयच्छंश्च सर्वाणि नित्यदेयानि भारत ॥ १२ ॥
दक्षिणानामदानञ्च ब्राह्मणस्वाभिमर्शनम् । सर्वाण्येतान्यकार्याणि
प्राहुर्धर्मविदो जनाः॥ १३ ॥ पित्रा विवदते पुत्रो यश्च स्याद्
गुरुतल्पगः । अप्रजायन्नरव्याघ्र भवत्यधार्मिको नरः ॥ १४ ॥
उक्तान्येतानि कर्माणि विस्तरेणेतरेण च । यानि कुर्वन्नकुर्वंश्च

बोलकर आजीविका करनेवाला तथा गुरुका अपमान करनेवाला इन सब पापियोंको अपने पापका प्रायश्चित्त करना चाहिये और प्रायश्चित्तका समय बीतजाने पर भी प्रायश्चित्त करना चाहिये६-८ हे राजन् ! जिनका वेद शास्त्रमें निषेध किया है ऐसे न करने योग्य कर्म बताता हूँ,उनको तू एकाग्र–मनसे सुन ॥ ९ ॥ अपने धर्मको त्यागना और दूसरे धर्मका आचरण करना, यज्ञ करनेके अनधिकारी (पतित व्रात्य आदि) को यज्ञ करवाना तथा अभक्ष्य पदार्थोंका भक्षण करना, शरणागतको त्यागना,माता पिता तथा भरण पोषण करनेके योग्य सेवकोंका भरण पोषण न करना,दूध दही घी आदि रसोंको बेचना, पशुपक्षियोंका वध करना, शक्ति होते हुए भी अग्निहोत्र आदि कर्म न करना,गोग्रास आदि नित्य न देना, ब्राह्मणोंको दक्षिणा न देना, ब्राह्मणोंका धन छीनलेना, ये सब काम पापकर्म हैं, ऐसा धर्मशास्त्रको जाननेवालोंका कथन है।१०-१३॥हे नरव्याघ्र!धनके लिये पिताके साथ कलह करनेवाला पुत्र, गुरुकी शय्या पर सोनेवाला और ऋतुकालमें स्त्रीके साथ संबन्ध न करनेवाला पुरुष,ये पातकी हैं॥१४॥इस प्रकार कितने

प्रायश्चित्तायते नरः ॥ १५ ॥ एतान्येव तु कर्माणि क्रियमाणानि मानवाः । येषु येषु निमित्तेषु न लिप्यन्तेऽथ तान् शृणु ॥ १६ ॥ प्रगृह्य शस्त्रमायान्तमपि वेदान्तगं रणे । जिघांसन्तञ्जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥ १७ ॥ इति चाप्यत्र कौन्तेय मन्त्रो वेदेषु पठ्यते । वेदप्रमाणविहितं धर्मञ्च प्रब्रवीमि ते ॥ १८ ॥ अपेतं ब्राह्मणं वृत्ताद्यो हन्यादाततायिनम् । न तेन ब्रह्महा स स्यान्मन्युस्तन्मन्युमृच्छति ॥ १९ ॥ प्राणात्यये तथाऽज्ञानादाचरन्मदिरामपि । आदेशितो धर्मपरैः पुनः संस्कारमर्हति ॥ २० ॥ एतत्ते सर्वमाख्यातं कौन्तेयाभक्ष्यभक्षणम् । प्रायश्चित्तविधानेन सर्वमेतेन शुद्ध्यति ॥ २१ ॥ गुरुतल्पं हि गुर्वर्थे न दूषयति मानवम् ।

ही कर्म विस्तारसे और कितने ही संक्षेपसे कहे हैं, इनमेंसे कितनेही को करनेसे मनुष्य प्रायश्चित्तके योग्य होता है और कितनेहीको न करनेसे शुद्ध रहता है॥१५॥अब जिन२ कारणोंसे पापकर्मों को करने पर भी मनुष्यको पाप नहीं लगता है उनको सुनो॥१६॥ वेद वेदाङ्गोंको पढ़ाहुआ ब्राह्मण भी हाथमें शस्त्र लेकर रणभूमिमें मारनेकी इच्छासे ऊपर चढआता है तो उसको मारनेसे पाप नहीं लगता है, क्योंकि-जो अपना नाश करना चाहे, उसको मारनेसे पाप नहीं लगता है ॥ १७ ॥ हे कुन्तीपुत्र ! वेदोंमें ऐसा मंत्र भी पढा है, जिसमें वेदका प्रमाण है वह धर्म ही मैं तुमसे कहता हूँ ।१८। ब्राह्मणोंके धर्मसे भ्रष्टहुए आततायी ब्राह्मणोंको यदि कोई मार डाले तो उस कर्मसे वह ब्रह्महत्यारा नहीं होता है, क्योंकि-वह तो क्रोधको क्रोध मारता है ॥ १९ ॥ रोग आदिके कारणसे प्राण जारहे हों तो भी वैद्यके कहनेसे मद्य न पीये और अज्ञानसे भी न पीये और कदाचित् पीलेय तो फिर संस्कार करे॥ २० ॥ हे कुन्तीनन्दन ! इसके सिवाय और जितने अभक्ष्य पदार्थ हैं उनका भक्षण किया हो तो भी प्रायश्चित्त

उद्दालकः श्वेतकेतुं जनयामास शिष्यतः ॥ २२ ॥ स्तेयं कुर्वंस्तु गुर्वर्थमापत्सु न निबध्यते । बहुशः कामकारेण न चेद्यः संप्रवर्त्तते ॥२३॥ अन्यत्र ब्राह्मणस्वेभ्य आददानो न दुष्यति । स्वयमप्राशिता यश्च न स पापेन लिप्यते ॥ २४ ॥ प्राणत्राणेऽनृतं वाच्यमात्मनो वा परस्य च । गुर्वर्थे स्त्रीषु चैव स्याद्विवाहकरणेषु च ॥ २५ ॥ नावर्तते व्रतं स्वप्ने शुक्रमोक्षे कथञ्चन । आज्यहोमः समिद्धेऽग्नौ प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ २६ ॥ पारिवित्त्यन्तु पतिते नास्ति प्रव्रजिते तथा । भिक्षिते पारदार्यञ्च तद्धर्मस्य न

करनेसे शुद्ध होता है॥२१॥गुरुकी स्त्रीके साथ समागम करनेसे पाप लगता है, परन्तु गुरुकी आज्ञासे गमन किया हो तो पातक नहीं लगता है, जैसे कि उद्दालककी आज्ञासे उनके शिष्यने गुरुपत्नीके साथ गमन करके श्वेतकेतुको उत्पन्न किया था॥२२॥ चोरी सदा निषिद्ध है तो भी आपत्तिकालमें गुरुके लिये चोरी करना निषिद्ध नहीं माना जाता है, चोरी करनेवाले पुरुषने यदि प्रायः अपनी इच्छासे प्रवृत्ति नहीं की हो ॥ २३ ॥ आपत्तिकालमें ब्राह्मणके सिवाय औरोंका धन चुरालावे और उसका स्वयं उपभोग न करे तो उसको भी पाप नहीं लगता है ॥२४॥ अपने वा दूसरेके प्राणोंकी रक्षाके लिये,गुरुके कामके लिये अपनी स्त्रीसे (एकान्त समय) तथा विवाहके प्रसङ्गमें मिथ्या बोलनेसे पाप नहीं लगता है ॥ २५ ॥ ब्रह्मचारीका स्वप्न में वीर्य स्खलित होजाय तो उसका व्रत भङ्ग नहीं होता है,परन्तु वह उसके प्रायश्चित्तके लिये अग्निको प्रज्वलित करके उसमें घीका होम करे ॥ २६ ॥ बड़ा भाई पतित होगया हो संन्यासी हो गया हो तो छोटे भाईको विवाह करलेनेमें दोष नहीं है तथा पुरुषकी इच्छा न होने पर भी कोई स्त्री पुत्रकी कामनासे अयोग्य प्रार्थना करे तो (निषिद्ध कर्म होने पर भी) उसको गर्भाधान

दूषकम् ॥ २७ ॥ वृथापशुसमालम्भं नैव कुर्यान्न कारयेत् । अनुग्रहः पशूनां हि संस्कारो विधिनोदितः ॥ २८ ॥ अनर्हे ब्राह्मणे दत्तमज्ञानात्तन्न दूषकम् । संस्काराणां तथा तीर्थे नित्यम्वा प्रतिपादनम् ॥२९॥ स्त्रियास्तथापचारिण्या निष्कृतिः स्याददूषिका । अपि सा पूयते तेन न तु भर्त्ता प्रदुष्यति ३० तत्त्वं ज्ञात्वा तु सोमस्य विक्रयः स्याददोषवान् । असमर्थस्य भृत्यस्य विसर्गः स्याददोषवान् । वनदाहो गवामर्थे क्रियमाणो न दूषकः ३१ उक्तान्येतानि कर्माणि यानि कुर्वन्न दुष्यति । प्रायश्चित्तानि वक्ष्यामि विस्तरेणैव भारत ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

करा देनेसे पुरुषको दोष नहीं लगता है ॥ २७ ॥ निरर्थक पशुहिंसा न करे तथा किसीको पशुहिंसा करने की उत्तेजना भी न देय, यदि यज्ञमें विधिपूर्वक पशुहिंसा की जाती है तो उसके ऊपर अनुग्रह करनेकी समान है (क्योंकि-यज्ञमें वध होनेपर पशु पशुयोनिसे छूट जाता है) ॥ २८ ॥ अनजानसे अयोग्य ब्राह्मणको दान देदिया जाय तो दोष नहीं लगता है तथा अनजानमें योग्य ब्राह्मणका सत्कार न किया हो तो भी दाताओंको दोष नहीं लगता है ॥ २९ ॥ व्यभिचारिणी स्त्रीको वारम्वार धिक्कार देकर उसको एकान्त कोठडीमें रख कर उसका भरण पोषण करना चाहिये और उसके साथ किसी प्रकारका संबन्ध नहीं रखना चाहिए ॥ ३० ॥ सोमवल्ली वेचना, यह भी एक पापकर्म है, परन्तु जो सोमवल्लीके स्वरूपको जान कर उसको वेचता है तो दोष नहीं लगता है । काम काज करनेमें असमर्थ सेवकको त्याग देनेसे दोष नहीं लगता है और गौओंके लिए वनको जलानेसे दोष नहीं लगता है ॥ ३१ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! जिन कर्मोंको करनेसे मनुष्यको पाप नहीं लगता है वे कर्म तुझसे कहे, अब मैं तुझसे विचार पूर्वक प्रायश्चित्तोंको कहूँगा ॥ ३२ ॥ चौंतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३४ ॥

व्यास उवाच। तपसा कर्मणा चैव प्रदानेन च भारत। पुनाति पापं पुरुषः पुनश्चेन्न प्रवर्त्तते ॥१॥ एककालन्तु भुञ्जीत चरन् भैक्ष्यं स्वकर्मकृत्। कपालपाणिः खट्वाङ्गी ब्रह्मचारी सदोत्थितः२ अनसूयुरधःशायी कर्म लोके प्रकाशयन्। पूर्णैर्द्वादशभिर्वर्षैर्ब्रह्महा विमुच्यते ॥३॥ लक्ष्यः शस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयात्मनः। प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः ॥४॥ जपन् वाऽन्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत्। सर्वस्वं वा वेदविदे ब्राह्मणायोपपादयेत् ॥ ५ ॥ धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम्।

व्यासजी कहते हैं, कि-हे राजा युधिष्ठिर! कृच्छ्र चान्द्रायण आदि तप करनेसे, अग्निहोत्र आदि कर्म करनेसे, सुवर्ण आदिका दान देनेसे यदि फिर पाप नहीं करता है तो मनुष्य पापमेंसे मुक्त होजाता है १ हे राजा युधिष्ठिर! जिसने ब्रह्महत्याकी हो उस मनुष्य को माँगकर एक समय ही भिक्षा करनी चाहिए, अपने सब काम अपने हाथसे ही करने चाहियें, हाथमें खप्पड़ और मूसल (खट्वांग) धारण करना चाहिए, नित्य ब्रह्मचर्यका पालन करना और वीरासनसे बैठना चाहिए ॥ २ ॥ किसीसे ईर्षा नहीं करनी चाहिए, पृथिवी पर सोना चाहिए, अपने किए हुए पापकर्मको जगत्में प्रकट करना चाहिए, जो इस प्रकार बारह वर्ष तक प्रायश्चित्त करता है वह ब्रह्महत्याके पापसे छूट जाता है।३।अथवा शस्त्रधारण करनेवाले विद्वानोंका अपनी इच्छासे निशाना बनजाना चाहिए अथवा धकधकाती हुई अग्निमें नीचेको शिर करके तीन बार अपने शरीरको डाले ॥ ४ ॥ अथवा किसी एक वेदका पाठ करते २ सौ योजन तक चला जावे अथवा वेदपाठी ब्राह्मणको सर्वस्व अर्पण करदे।५।अथवा अपना सब धन या सब सामान जिससे उसका पोषण होसके इतना सामान वेद जानने वाले ब्राह्मणको देदे, अथवा गौओंकी और ब्राह्मणोंकी रक्षा करे,

मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोब्राह्मणस्य च ॥६॥ षड्भिर्वर्षैः कृच्छ्र-भोजी ब्रह्महा पूयते नरः। मासे मासे समश्नंस्तु त्रिभिर्वर्षैः प्रमुच्यते ॥ ७ ॥ सम्वत्सरेण मासाशी पूयते नाऽत्र संशयः। तथैवोपवसन् राजन् स्वल्पेनापि प्रपूयते ॥ ८ ॥ क्रतुना चाश्वमेधेन पूयते नाऽत्र संशयः। ये चाप्यवभृथस्नाताः केचिदेवम्विधा नराः ९ ते सर्वे धूतपाप्मानो भवन्तीति पुराश्रुतिः। ब्राह्मणार्थे हतो युद्धे

इन सब कर्मोंके करनेसे पापी पुरुष ब्रह्महत्याके पापमेंसे छूट जाता है॥६॥(तीन दिन प्रातःकालमें, तीन दिन सायंकालमें और तीन दिनमें जितना विना माँगे मिले, उसका भोजन करना और पिछले तीन दिन उपवास करना, इसप्रकार बारह दिनमें एक कृच्छ्र-भोजन-व्रत होता है) कृच्छ्र भोजनव्रत पर छः वर्ष तक निर्वाह करनेसे ब्रह्महत्याका पाप दूर होजाता है, इससे अधिक कठोर व्रत (सात दिन प्रभातमें, सात दिन सायंकालमें और सात दिन अयाचित भोजन करना और सात दिन उप- प्रभातमें, एक महीना सायंकालमें और एक महीना उपवास करना इसप्रकार) तीन वर्ष तक करनेसे ब्रह्महत्याका पाप दूर होजाता है ॥ ७ ॥ तैसे ही (एक महीना अयाचित भोजन करना तथा एक मास तक उपवास करना इसका) एक वर्ष तक अतितीव्र व्रत करनेसे ब्रह्महत्याका पाप नष्ट होजाता है और हे राजन्! इससे भी अधिक तीव्र व्रत करनेसे थोड़ेही समयमें पातकी पवित्र होजाता है ॥ ८ ॥ अश्व-मेध यज्ञ करनेसे भी ब्रह्महत्या करने वाला पातकी पवित्र होजाता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है, वेदकी श्रुतिमें कहा है, कि ब्रह्महत्या और वैसे ही दूसरे पाप करनेवाले पुरुष अवभृथ(यज्ञकी समाप्ति पर होनेवाला) स्नान करनेसे पवित्र होजाते हैं. जो मनुष्य ब्राह्मणोंके लिए युद्धमें अपने प्राणदेदेते हैं,वेभी ब्रह्महत्या

मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥१०॥ गवां शतसहस्रन्तु पात्रेभ्यः प्रतिपाद-
येत्। ब्रह्महा विप्रमुच्येत सर्वपापेभ्य एव च ॥ ११ ॥ कपिलानां
सहस्राणि यो दद्यात्पञ्चविंशतिम् । दोग्ध्रीणां स च पापेभ्यः
सर्वेभ्यो विप्रमुच्यते ॥१२॥ गोसहस्रं सवत्सानां दोग्ध्रीणां प्राण-
संशये । साधुभ्यो वै दरिद्रेभ्यो दत्त्वा मुच्येत किल्बिषात् ॥१३॥
शतम्वै यश्च काम्बोजान्ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति । नियतेभ्यो मही-
पाल स च पापात्प्रमुच्यते ॥ १४ ॥ मनोरथन्तु यो दद्यादेकस्मा
अपि भारत। न कीर्त्तयेत दत्त्वा यः स च पापात्प्रमुच्यते ॥१५॥
सुरापानं सकृत्कृत्वा योऽग्निवर्णां सुरां पिबेत् । स पावयत्यथा-
त्मानमिह लोके परत्र च ॥ १६ ॥ मरुप्रपातं प्रपतन् ज्वलनं वा
समाविशन्। महाप्रस्थानमातिष्ठन् मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥१७॥

के पापसे छूटजाते हैं ॥ ९—१० ॥ यदि सुपात्रको एक लाख गौएँ दान देता है तो वह ब्रह्महत्यामेंसे नहीं, किन्तु सब ही पापों से अवश्य छूट जाता है ॥११॥ जो पापी मनुष्य दूध देनेवाली पचीस हजार कपिला गौएँ सुपात्रको दानकरके देता है वह सब पापोंसे छूट जाता है ॥ १२ ॥ जो मनुष्य मरणके समय दरिद्र सत्पुरुषोंको बछड़ेवाली एक हजार दुधेर गौएँ देता है वह पापमें से मुक्त होजाता है॥ १३ ॥जो मनुष्य कांबोज देशमें उत्पन्न हुए सौ घोडे सुपात्रको दान करके देता है वह भी पापसे मुक्त हो जाता है ॥ १४ ॥ एक मनुष्यका मनोरथ पूर्ण होने योग्य दान देता है और दान देकर अपने मुखसे उसका बखान नहीं करता है वह भी पापसे मुक्त होजाता है ॥१५॥ जो मनुष्य एक समय भी मद्य पीले और उसके प्रायश्चित्तके लिए यदि उस मद्यको अग्निकी समान तपा कर पीलेय तो वह इस लोकमें और पर लोकमें अपने आत्माको पवित्र करता है ॥ १६ ॥ जो मनुष्य पर्वतके शिखर परसे गिरकर शरीर त्याग देय, धकधकाते हुए

बृहस्पतिसवेनेष्ट्वा सुरापो ब्राह्मणः पुनः । समितिं ब्राह्मणो गच्छे-दिति वै ब्रह्मणः श्रुतिः ॥१८॥ भूमिप्रदानं कुर्याद्यः सुरां पीत्वा विमत्सरः । पुनर्न च पिबेद्राजन् संस्कृतः स च शुद्ध्यति ॥१९। गुरुतल्पी शिलां तप्तामायसीमभिसंविशेत् । अवकृत्यात्मनः शेफं प्रव्रजेदूर्ध्वदर्शनः २० शरीरस्य विमोक्षेण मुच्येत कर्मणोऽशुभात् । कर्मभ्यो विप्रमुच्यन्ते यत्ताः सम्वत्सरं स्त्रियः ॥ २१ ॥ महाव्रतं चरेद्यस्तु दद्यात्सर्वस्वमेव तु । गुर्वर्थे वा हतो युद्धे मुच्यते कर्मणो-ऽशुभात् ॥२२॥ अनृतेनोपवर्त्ती चेत्प्रतिषेद्धा गुरोस्तथा । उपा-

अग्निकी चितामें प्रवेश करे अथवा महाप्रस्थान करे (जहाँसे फिर लौटकर नहीं आता ऐसे हिमालयके भागमें जाकर तहाँ बरफमें गलजाय) तो वह मनुष्य सब पापोंसे छूटजाता है ॥ १७ ॥ जिस ब्राह्मणने मद्य पिया हो उसको बृहस्पतिसव नामका याग करना चाहिये, ऐसा करनेसे उसके पाप नष्ट होजाते हैं और वह ब्राह्मणों (आदि मान्य पुरुषों) की सभामें जानेके योग्य होजाता है, ऐसी वेदकी श्रुति है १८ हे राजन्! जो पुरुष मदिरा पीनेके बाद उसके पापसे छूटनेके लिये निष्कपट होकर पृथिवीका दान देता है और फिर मदिरा नहीं पीता है वह प्रायश्चित्त करनेसे शुद्ध होजाता है ॥१९॥ जो गुरुकी स्त्रीके साथ व्यभिचार करता है वह मनुष्य यदि तपीहुई लोहेकी शिला पर सोता है अथवा अपने लिङ्गको काट गोदमें धरकर आकाशकी ओरको देखता हुआ नैर्ऋत्य कोणकी ओरको चलाजाता है तो वह उस पापमेंसे छूट जाता है ॥ २० ॥ अथवा वह अपने शरीरको त्यागदेनेसे भी गुरुपत्नीके समागमके महापापमेंसे मुक्त होजाता है ॥ २१ ॥ महा-पाप करनेवाला जो मनुष्य महाव्रत (एक महीने तक जलको त्यागदेना आदि) का आरम्भ कर देता है अथवा अपना सब धन ब्राह्मणको अर्पण कर देता है अथवा युद्धमें गुरुके लिये मर

हृत्य प्रियं तस्मै तस्मात्पापात्प्रमुच्यते ॥२३॥ अवकीर्णिनिमित्तन्तु ब्रह्महत्याव्रतं चरेत् । गोचर्मवासाः षण्मासांस्तथा मुच्येत किल्बिषात् ॥२४॥ परदारापहारी तु परस्यापहरन् वसु । संवत्सरं व्रती भूत्वा तथा मुच्येत किल्बिषात् ॥ २५ ॥ धनन्तु यस्यापहरेत्तस्मै दद्यात्समं वसु । विविधेनाभ्युपायेन तदा मुच्येत किल्बिषात् २६ कृच्छ्राद्द्वादशरात्रेण संयतात्मा व्रते स्थितः । परिवेत्ता भवेत्पूतः परिवित्तिस्तथैव च ॥ २७ ॥ निवेशयन्तु पुनस्तेन सदा तारयिता

जाता है वह पापसे मुक्त होजाता है ॥ २२ ॥ मिथ्या बोलकर आजीविका करनेवाला और गुरुका अपमान करनेवाला मनुष्य यदि पीछेसे गुरुकी मनचाही वस्तु देकर उनको प्रसन्न करलेता है तो वह पापसे मुक्त होजाता है ॥ २३ ॥ जिसका ब्रह्मचर्य व्रत भङ्ग होगया हो वह ब्रह्महत्याके पापका प्रायश्चित्त करे तथा छः मासतक शरीर पर गौका चमडा ओढ़े, ऐसा करने पर पापसे छूटजाता है ॥ २४ ॥ परस्त्रीके साथ व्यभिचार करनेवाला और पराया धन हरनेवाला पुरुष एक वर्षतक (किसी कठिन) व्रतको धारण करे तो उस पापसे छूटजाता है २५ जिस मनुष्यने दूसरेका धन चुराकर उसका उपभोग किया हो तो उतना ही धन उसको लौटाकर देदेनेसे वह चोरीके पापसे छूट जाता है २६ बडा भाई क्वारा हो और छोटा भाई विवाह करलेय तो छोटाभाई परिवेत्ता कहलाता है,वह विवाह करनेवाला तथा परिवित्ति नामवाला बड़ा भाई ये दोनों बारह दिनका कृच्छ्र व्रत❀ करनेसे शुद्ध होते हैं २७

❀ पहले तीन दिन तक आठ २ रुपये भर औटाया हुआ दूध पिये, फिर तीन दिन तक चार २ रुपये भर गरम किया हुआ घी पिये, फिर तीन दिन तक बारह २ रुपये भर गरम कियाहुआ जल पीकर रहे और पीछे तीन दिन निराहार रहे,यह बारह दिनका तप्तकृच्छ्र व्रत कहलाता है ।

पितॄन् । न तु स्त्रिया भवेद्दोषो न तु सा तेन लिप्यते ॥२८॥ भोजनं ह्यन्तरा शुद्धं चातुर्मास्ये विधीयते । स्त्रियस्तेन प्रशुद्ध्यन्ति इति धर्मविदो विदुः ॥२९॥ स्त्रियस्त्वाशङ्किताः पापा नोपगम्या विजानता । रजसा विप्रशुद्ध्यन्ते भस्मना भाजनं यथा ॥ ३० ॥ पादजोच्छिष्टकांस्यं यद्गवा घ्रातमथापि वा । गण्डूषोच्छिष्टमपि वा विशुद्ध्येद्दशभिस्तु तत् ॥ ३१ ॥ चतुष्पात्सकलो धर्मो ब्राह्मणस्य विधीयते । पादावकृष्टो राजन्ये तथा धर्मो विधीयते ॥३२॥ तथा वैश्ये च शूद्रे च पादः पादो विधीयते । विद्यादेवंविधेनैषां गुरुलाघवनिश्चयम् ॥ ३३ ॥ तिर्यग्योनिवधं कृत्वा द्रुमांश्छित्त्वेतरान्

बड़े भाईसे पहले विवाह करनेवाला छोटा भाई, अपने पितरोंको तारनेके लिये बड़े भाईके विवाह करलेनेके बाद अपनी विवाहिता स्त्रीसे फिर विवाह करे ऐसा करनेसे उस स्त्रीको तथा उसके पतिको दोष नहीं लगता है २८ स्त्रियोंने महापाप किया हो तो वे धारणापारण व्रत (पहले दिन उपवास करके दूसरे दिन मध्याह्न के समय भोजन) करनेसे पापरहित होजाती हैं, ऐसा धर्मशास्त्र को जाननेवाले कहते हैं ॥२९॥ अपनी स्त्रीके ऊपर पापाचरणकी शङ्का हो तो जबतक उसको रजोदर्शन न हो तबतक उसके पास न जाय, क्योंकि-जैसे काँसीका पात्र भस्मसे शुद्ध होजाता है तैसे ही स्त्री रजोदर्शनसे शुद्ध होती है ॥३०॥ अब पात्रोंकी शुद्धि कहता हूँ उसको सुनो, शूद्रसे भिडाहुआ, गौका सूँघाहुआ और जिसमें कुल्ला कर दिया हो ऐसा काँसीका पात्र अग्निमें तपाकर उसको पञ्चगव्य, मट्टी, जल, राख, आँवला, और अग्नि इन दश पदार्थोंसे माँजकर साफकरनेसे शुद्ध होता है ३१ धर्मशास्त्रकारोंने ब्राह्मणोंके लिये चार चरणवाला पूर्ण-धर्म कहा है, क्षत्रियोंके लिये तीन चरण वाला, वैश्योंके लिये दो चरणवाला और शूद्रके लिये एक चरण वाला धर्म कहा है, इस प्रकार चारों वर्णोंके धर्मका निर्णय करते

बहून् । त्रिरात्रं वायुभक्षः स्यात्कर्म च प्रथयन्नरः ॥३४॥ अग-म्यागमने राजन् प्रायश्चित्तं विधीयते । आर्द्रवस्त्रेण षण्मासान् विहार्यं भस्मशायिना ॥३५॥ एष एव तु सर्वेषामकार्याणां विधि-र्भवेत् । ब्राह्मणोक्तेन विधिना दृष्टान्तागमहेतुभिः ॥३६॥ सावित्री-मप्यधीयीत शुचौ देशे मिताशनः । अहिंसो मन्दको जल्पो मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥३७॥ अहःसु सततं तिष्ठेदभ्याकाशं निशां स्वपन् । त्रिरह्नि त्रिनिशायाञ्च सवासा जलमाविशेत् ॥ ३८ ॥ स्त्रीशूद्रं

समय उनके गौरवका और लघुताका विचार करे ३२-३३ पशु पक्षियोंका वध करनेवाला और अनेकों प्रकारके वृक्षोंको काटने वाला पुरुष तीन दिनतक वायुका आहार करके रहे और लोगों के सामने अपने किएहुए कर्म प्रकट करदेय तो वह उस पापसे छूटजाता है ॥ ३४ ॥ हे राजन् ! अब अगम्य स्त्रीके साथ गमन करनेवालेका प्रायश्चित्त सुनो, नीच वर्णकी स्त्रीके साथ गमन करनेवाला पुरुष छः महीने तक गीले वस्त्र पहरकर राखके ढेर पर सोया करे,ऐसा करने पर अगम्यगमन करनेवाला उस पापसे छूटजाता है ॥ ३५ ॥ दूसरे सब पापोंके लिये, दृष्टान्तभूत शास्त्रों में कारण दिखाकर यही विधि कही है और ब्राह्मणके लिये भी ऐसा ही कहा है ॥ ३६ ॥ जो पुरुष किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करता है, रागद्वेषसे रहित रहता है, किसीके साथ बातचीत नहीं करता है तथा परिमित भोजन करके पवित्र स्थानमें बैठा हुआ गायत्रीका जप करता है तो वह सब पापोंसे छूटजाता है ॥ ३७ ॥ जो पुरुष दिनमें नित्य आकाशकी ओरको देखता रहता है, रात्रिमें चौंतरे पर सोता है, दिनमें तीन वार और रात्रिमें तीनवार वस्त्रों सहित नदीके या तालावके जलमें स्नान करनेको घुसता है,और व्रतके समय तक स्त्री शूद्र पतित आदिके साथ बातचीत नहीं करता है वह द्विज वर्णका पुरुष अनजानमें

पतितश्चापि नाभिभाषेद्व्रतान्वितः। पापान्यज्ञानतः कृत्वा मुच्येदेवंव्रतो द्विजः ॥३९॥ शुभाशुभफलं प्रेत्य लभते भूतसाक्षिकम्। अतिरिच्येत यो यत्र तत्कर्त्ता लभते फलम् ॥ ४० ॥ तस्माद्दानेन तपसा कर्मणा च फलं शुभम्। वर्धयेदशुभं कृत्वा यथा स्यादतिरेकवान्॥४१॥कुर्याच्छुभानि कर्माणि निवर्त्तेत्पापकर्मणः। दद्यान्नित्यञ्च वित्तानि तथा मुच्येत किल्बिषात् ॥४२॥ अनुरूपं हि पापस्य प्रायश्चित्तमुदाहृतम्। महापातकवर्जन्तु प्रायश्चित्तं विधीयते ॥४३॥ भक्ष्याभक्ष्येषु चान्येषु वाच्यावाच्ये तथैव च। अज्ञानज्ञानयो राजन् विहितान्यनुजानतः ॥ ४४ ॥ जानता तु कृतं पापं गुरु सर्वं भवत्युत। अज्ञानात्स्वल्पको दोषः प्रायश्चित्तं विधीयते४५

किये हुए पापसे छूट जाता है ॥ ३८-३९ ॥ पाँच महाभूतोंकी साक्षीमें किये हुए शुभ अशुभ कर्मका फल प्राणियोंको मरनेके बाद भोगना पड़ता है, यदि पाप अधिक होता है तो पहले भोगना पडता है और यदि पुण्य अधिक होता है तो वह पहले भोगना पडता है ॥ ४० ॥ (इसलिये मनुष्य) दान, तप और अग्निहोत्र आदि कर्म करके शुभ कर्मोंको बढ़ावें, कि-जिससे अशुभ कर्म नष्ट होकर शुभ कर्मोंकी वृद्धि हो और वह पुरुष शुद्ध होजाय ॥ ४१ ॥ पापकर्मोंसे बचनेके लिये शुभ कर्म करे और सुपात्रको धनके दान देय, कि-जिससे पापी पापसे मुक्त हो जाय ॥ ४२ ॥ जितना पाप हो उसके अनुसार ही धर्मशास्त्रमें प्रायश्चित्त कहा है, परन्तु महापापका प्रायश्चित्त नहीं कहा है ॥४३॥ हे राजन् ! भक्ष्य अभक्ष्यका, वाच्य अवाच्यका और जानकर व अनजानमें किये हुए पापका प्रायश्चित्त शास्त्रमें कहा है ॥ ४४ ॥ परन्तु उसमें जान बूझकर कियेहुए सब पाप महादोषवाले मानेगए हैं और अनजानमें किये हुए पाप थोडे दोषवाले मानें गए हैं तथा उनके लिए ही शास्त्रकारोंने प्रायश्चित्त कहे हैं ॥ ४५ ॥ शास्त्रमें कही हुई विधिके अनुसार किया हुआ

शक्यते विधिना पापं यथोक्तेन व्यपोहितुम् । आस्तिके श्रद्दधाने च विधिरेष विधीयते ॥ ४६ ॥ नास्तिकाश्रद्दधानेषु पुरुषेषु कदाचन । दम्भद्वेषप्रधानेषु विधिरेष न दृश्यते ॥४७॥ शिष्टाचारश्च शिष्टश्च धर्मो धर्मभृतांवर । सेवितव्यो नरव्याघ्र प्रेत्येह च सुखेप्सुना ॥ ४८ ॥ स राजन् मोक्ष्यसे पापात्तेन पूर्वेण हेतुना । प्राणार्थं वाधनेनैवागयत्रा नृप कर्मणा ॥ ४६ ॥ अथवा ते घृणा काचित्प्रायश्चित्तं चरिष्यसि । मा त्वेवानार्यजुष्टेन मन्युना निधनं गमः ॥ ५० ॥ वैशम्पायन उवाच । एवमुक्तो भगवता धर्मराजो युधिष्ठिरः । चिन्तयित्वा मुहूर्त्तेन प्रत्युवाच तपोधनम् ॥ ५१ ॥

प्रायश्चित्तीये पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

प्रायश्चित्त पापका नाश करता है, ये प्रायश्चित्त आस्तिक और श्रद्धावान्के लिए कहे हैं॥४६॥ नास्तिक और श्रद्धाहीन पुरुषोंके लिए प्रायश्चित्त नहीं है, क्योंकि-जिसमें दम्भ और द्वेष मुख्य होते हैं उसके लिए विधि है ही नहीं ॥४७॥ हे धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ नरव्याघ्र ! इसलोकमें तथा परलोकमें सुख चाहनेवाले धार्मिक मनुष्यको,शिष्ट पुरुषोंके आचरण किएहुये धर्मका तथा श्रेष्ठ धर्मका आचरण करना चाहिये ॥४८॥ हे राजन् ! मैंने तुझसे प्राणोंकी रक्षाके लिये जो प्रायश्चित्त कहे हैं उन सब प्रायश्चित्तोंको करनेसे तू मनुष्यवधके पापसे छूट जायगा, अपने प्राणोंकी रक्षा करनेके लिये अथवा धन पानेके लिये अथवा अपना (राजाका) कर्त्तव्य पूरा करनेके लिये तूने कौरवोंका वध किया है, इसके लिये यदि तुझे किसी प्रकारका पश्चात्ताप होता हो तो तू प्रायश्चित्त कर, परन्तु साधारण पुरुषोंके करने योग्य खेदके वशमें होकर तू अपना नाश न कर४६-५०वैशम्पायनने कहा,कि-हे जनमेजय! व्यासजीने राजा युधिष्ठिरसे ऐसा कहा, उसके बाद मुहूर्त्त भर विचारकर राजा युधिष्ठिर तपोधन व्यासजीसे फिर कहने लगे५१

युधिष्ठिर उवाच । किं भक्ष्यं चाप्यभक्ष्यञ्च किंच देयं प्रशस्यते । किंच पात्रमपात्रम्वा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥ व्यास उवाच । अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । सिद्धानाञ्चैव संवादं मनोश्चैव प्रजापतेः॥२॥ऋषयस्तु व्रतपराः समागम्य पुरा विभुम् । धर्मं पप्रच्छुरासीनमादिकाले प्रजापतिम् ॥३॥ कथमन्नं कथं पात्रं दानमध्ययनं तपः । कार्य्याकार्य्यञ्च यत् सर्वं शंस वै त्वं प्रजापते ॥ ४ ॥ तैरेवमुक्तो भगवान् मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् शुश्रूषध्वं यथावृत्तं धर्मं व्याससमासतः ॥ ५ ॥ अनादेशो जपो होम उपवासस्तथैव च । आत्मज्ञानं पुण्यनद्यो यत्र प्रायश्च

राजा युधिष्ठिरने बूझा कि—हे पितामह ! क्या भक्ष्य (खानेके योग्य) और क्या अभक्ष्य (नखानेके योग्य) है ? कौनसा दान प्रशंसनीय है, कौन पात्र और कौन अपात्र है ? ॥ १ ॥ वेदव्यासने कहा, कि—हे राजन् ! इस विषयमें मैं तुझे एक पुराना इतिहास सुनाता हूँ, इसमें प्रजापति मनु और सिद्धोंका संवाद है ॥२॥ पहले सृष्टिके आरम्भमें सब व्रतधारी ऋषि इकट्ठे होकर स्वस्थचित्त बैठेहुए प्रजापतिके पास गये और वे उनसे धर्मका स्वरूप बूझनेलगे, कि—॥ ३ ॥ हे प्रजापति ! किसप्रकार अन्न प्राप्त करके कुटुम्बका पोषण करे ? पात्र दान, अध्ययन, तप, कार्य और अकार्य इन सबका क्या लक्षण है ?४इसप्रकार सब ऋषियोंका प्रश्न सुनकर भगवान् स्वायम्भुव मनु बोले, कि—मैं तुम्हें धर्मका ठीक २ स्वरूप संक्षेपसे और विस्तारसे सुनाता हूँ, उसको तुम सुनो ॥ ५ ॥ शास्त्रकारोंने जिस पापका प्रायश्चित्त नहीं कहा है, उस पापको दूर करनेके लिये गायत्रीका जप, होम और निराहार व्रत करे, योगाभ्याससे आत्मज्ञान प्राप्त करे, पवित्र महानदियोंमें स्नान करे और जिस देशमें जपादिका अनुष्ठान करनेवाले धार्मिक पुरुष रहते हों तहाँ निवास करे, ऐसा करनेसे पाप दूर

तत्पराः ॥ ६ ॥ अनादिष्टं तथैतानि पुण्यानि धरणीभृतः । सुवर्णप्राशनमपि रत्नादिस्नानमेव च ॥ ७ ॥ देवस्थानाभिगमनमाज्यप्राशनमेव च । एतानि मेध्यं पुरुषं कुर्वन्त्याशु न संशयः ॥ ८ ॥ न गर्वेण भवेत्प्राज्ञः कदाचिदपि मानवः । दीर्घमायुरथेच्छन्हि त्रिरात्रं चोष्णपो भवेत् ॥ ९ ॥ अदत्तस्यानुपादानं दानमध्ययनं तपः । अहिंसा सत्यमक्रोध इज्या धर्मस्य लक्षणम् १० स एव धर्मः सोऽधर्मो देशेकाले प्रतिष्ठितः । अदानमनृतं हिंसा

होता है ॥ ६ ॥ कितने ही पाप पवित्र तीर्थोंमें, ब्रह्मगिरि आदि पवित्र पर्वतोंमें जाकर निवास करनेसे, सुवर्णका प्राशन करनेसे तथा जिस नदीमें रत्न आदि हों उसमें स्नान करनेसे भी दूर होते हैं कितने ही साधारण पाप देवताओंके स्थानमें जानेसे और घीका प्राशन करनेसे अवश्य नष्ट होते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ८ ॥ चिरकाल तक जीवित रहना चाहने वाले विद्वान् पुरुषको किसी दिन भी गर्व नहीं करना चाहिये, यदि गर्व होजाय तो धर्मशास्त्रमें कहाहुआ तप्तकृच्छ्र व्रत (१) करे ॥ ६ ॥ विना दीहुई किसीकी वस्तु न लेय, सुपात्रको दान देय, वेदका स्वाध्याय किया करे, तप करे, हिंसा न करे, सत्य बोले, क्रोध न करे और यज्ञयाग करे, यह सब धर्मका लक्षण है ॥ १० ॥ देश और कालका विचार करने पर प्रसङ्गसे धर्म अधर्म होजाता है, प्राणभय आदि आपत्तिकालकी दशाको लेकर चोरी करना,

(१) याज्ञवल्क्यजीने तप्तकृच्छ्रका लक्षण इसप्रकार कहा है, कि-"तप्तक्षीरघृताम्बूनामेकैकं प्रत्यहं पिबेत् । एकरात्रोपवासश्च तप्तकृच्छ्र उदाहृतः ॥" पहले दिन गरम किया हुआ आठ तोले दूध पिये, दूसरे दिन गरम किया हुआ चार रुपये भर घी पिये, तीसरे दिन बारह रुपये भर गरम कियाहुआ जल पिये, और चौथे दिन उपवास करे, इसको तप्तकृच्छ्र कहते हैं ।

धर्मो ह्यावस्थिकः स्मृतः ॥ ११ ॥ द्विविधौ चाप्युभावेतौ धर्माधर्मौ विजानताम् । अप्रवृत्तिः प्रवृत्तिश्च द्वैविध्यं लोकवेदयोः॥१२॥ अप्रवृत्तेरमर्त्यत्वं मर्त्यत्वं कर्मणः फलम् । अशुभस्याशुभं विद्यात् शुभस्य शुभमेव च । एतयोश्चोभयोः स्यातां शुभाशुभतया तथा १३ दैवञ्च दैवसंयुक्तं प्राणश्च प्राणदश्च ह । अपेक्षापूर्वकरणादशुभानां शुभं फलम् ॥ १४ ॥ ऊर्ध्वं भवति सन्देहादिह दृष्टार्थमेव च । अपेक्षापूर्वकरणात् प्रायश्चित्तं विधीयते ॥१५॥ क्रोधमोहकृते चैव दृष्टान्तागमहेतुभिः । शरीराणामुपक्लेशो मनसश्चाप्रिया-

मिथ्या बोलना, हिंसा करना आदि लक्षणोंवाला अधर्म धर्म होजाता है और धर्म अधर्म होजाता है ॥ ११ ॥ विवेकी पुरुष इन धर्म अधर्म दोनोंको देश कालका विचार करके जानते हैं, लोकमें तथा वेदमें प्रवृत्तिरूप धर्म और निवृत्तिरूप धर्म कहे हैं, इनमेंसे प्रवृत्तिधर्मका सेवन करनेसे मनुष्यका जन्म मरण होता है और निवृत्तिधर्मके सेवनसे मोक्ष मिलता है, अशुभ कर्मका फल अशुभ मिलता है और शुभ कर्मका फल शुभ मिलता है, इसलिये इन दोनों कर्मोंके शुभ तथा अशुभ नाम रक्खे गए हैं और वे मनुष्यके भले बुरे चरित्रसे जानेजाते हैं ॥ १२-१३ ॥ देवताको लक्ष्य करके शास्त्रमें कहे अनुसार प्राणकी रक्षा करने के लिये तथा अपनी रक्षा करनेवाले स्वामीके लिए, इच्छापूर्वक हिंसाकी जाती है तो भी उसका फल शुभ होता है ॥ १४ ॥ भविष्यत्में (किसी मनुष्यका) अनिष्ट करनेकी धारणासे करनेमें आया हुआ कर्म, तैसे ही लोकमें प्रसिद्धरूपसे जिसका परिणाम अनर्थरूप दीखता हो ऐसा कर्म, इच्छापूर्वक करे तो उस पुरुषके लिये प्राश्चित्त करना शास्त्रमें कहा है ॥ १५ ॥ क्रोध तथा मोहसे जो पाप बनगया हो उसको कितनी ही कथाओंके दृष्टान्त देकर, शास्त्रोंके विचार तथा कारण सुनाकर व्रतादिसे

प्रिये ॥ १६ ॥ तदौषधैश्च मन्त्रैश्च प्रायश्चित्तैश्च शाम्यति
उपवासमेकरात्रं दण्डोत्सर्गे नराधिपः । विशुध्येदात्मशुद्ध्यर्थं त्रिरात्रं
तु पुरोहितः ॥ १७ ॥ स्वयं शोकं प्रकुर्वाणो न म्रियते यदा नरः ।
शस्त्रादिभिरुपानिष्टस्त्रिरात्रं तत्र निर्दिशेत् ॥ १८ ॥ जातिश्रेण्याधिवा
सानां कुलधर्मांश्च सर्वतः । वर्ज्जयन्ति च ये धर्मं तेषां धर्मो न
विद्यते ॥ १९ ॥ दश वा वेदशास्त्रज्ञास्त्रयो वा धर्मपाठकाः । यद् ब्रूयुः
कार्य उत्पन्ने स धर्मो धर्मसंशये २० अनड्वान् मृत्तिका चैव तथा
क्षुद्रपिपीलिकाः । श्लेष्मातकस्तथा विप्रैरभक्ष्यं विषमेव च २१

शरीरको कष्ट देय, यह उसका प्रायश्चित्त है, अपने मनका प्रिय अथवा अप्रिय वह कर्म फिर बनजाय तो उसका प्रायश्चित्त हविष्यान्न खाना, मंत्रोंका जप तथा तीर्थयात्रा व्रत आदिसे भी उसका पाप दूर हो जाता है ॥ १६ ॥ राजा यदि दण्ड देने योग्यको दण्ड न देय तो उसको शुद्ध होनेके लिए एक दिन उपपास करना चाहिए और पुरोहित यदि राजाको धर्मका उपदेश न देय तो उसकी शुद्धिके लिये तीन रात उपवास करे ॥ १७ ॥ (पुत्र स्त्री आदिका मरण होने पर) जो पुरुष शोकमें पड़ाहै और दुःखसे आत्महत्या करनेके लिये शस्त्र आदिसे काम लेय (परन्तु उससे मरने न पावे) तो उसकी शुद्धिके लिये तीन रात तक उपवास करे ॥ १८ ॥ परन्तु जिन्होंने अपने जातिधर्म आश्रमधर्म, कुलधर्म आदि धर्मको त्यागदिया है उनके लिये शास्त्रमें कोई प्रायश्चित्त नहीं कहा है ॥ १९ ॥ जब प्रायश्चित्त करना हो तो वेद तथा धर्मशास्त्रको जानने वाले दश वा तीन ब्राह्मणोंको बुलवाकर उनसे धर्मका निर्णय बूझे और वे जैसा बतावें तैसा करे ॥ २० ॥ बैल, मृत्तिका नापकापशु, छोटे २ कीड़े श्लेष्मातक पशु वा लहवेड़ा, विष, बिना काँटेकी मछली, कछुएको छोडकर चार पैरवाले मेंडक आदि जलचर प्राणी, भास नामक

अभक्ष्या ब्राह्मणैर्मत्स्याः शल्कैर्ये वै विवर्जिताः । चतुष्पात्कच्छपादन्यो मण्डूका जलजाश्च ये ॥ २२ ॥ भासा हंसाः सुपर्णाश्च चक्रवाकाः प्लवा बकाः । काको मद्गुश्च गृध्रश्च श्येनोलूकस्तथैव च ॥ २३ ॥ क्रव्यादा दंष्ट्रिणः सर्वे चतुष्पात् पक्षिणश्च ये । येषाञ्चोभयतो दन्ताश्चतुर्दंष्ट्राश्च सर्वशः ॥ २४ ॥ एड़काश्वखराष्ट्रीणां सूतिकानां गवामपि । मानुषीणां मृगीणाञ्च न पिबेद् ब्राह्मणः पयः ॥२५॥ प्रेतान्नं सूतिकान्नञ्च यच्च किंचिदनिर्दशम् । अभोज्यञ्चाप्यपेयञ्च धेनोर्दुग्धमनिर्दशम् ॥ २६ ॥ राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्न ब्रह्मवर्चसम् । आयुः सुवर्णकारान्नमवीरायाश्च योषितः ॥ २७ ॥ विष्ठावार्द्धुषिकस्यान्नं गणिकान्नमथेन्द्रियम् । मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितान्नञ्च सर्वशः २८ दीक्षितस्य कदर्यस्य क्रतुविक्रयिकस्य च । तक्षणश्चर्मावकर्त्तुश्च

जलका प्राणी, हंस, गरुड़सरीखा प्राणी, चकवा, जलमुरगावी, बगला, कौआ, मद्गु, गीध, शकरा, और उल्लू आदि प्राणी द्विजोंके खानेयोग्य नहीं हैं ॥ २१–२३ ॥ मांसाहारी डाढ़वाले, चार पगवाले, ऊपर नीचे दोनों ओर दाँतवाले और चार डाढ़वाले सब प्राणी भी खानेके योग्य नहीं हैं ॥२४॥ भेड, घोडी, गधी, ऊँटनी, तुरतकी व्याही गौ और हिरनीका दूध भी ब्राह्मणको नहीं पीना चाहिये ॥ २५ ॥ राजाका अन्न तेजका नाश करता है, शूद्रका अन्न ब्रह्मतेजका नाशक है, सुनारका अन्न आयुका नाशक है और पुत्र वा पतिहीन स्त्रीका अन्न भी आयुका नाश करता है ॥ २६ ॥ २७ ॥ (वैश्यके सिवाय) व्याजखोरका अन्न विष्ठाकी समान है, वेश्याका अन्न इन्द्रियोंके मैलकी समान है, अपनी स्त्रीका यार अपने घर आता हो और उसको जानकर भी सहलेता हो उस स्त्रीजित् पुरुषके अन्नको खानेका भी निषेध है ॥ २८ ॥ जिसने यज्ञकी दीक्षा ली हो वह (क्षत्रिय) जबतक

पुंश्चल्या रजकस्य च ॥ २९ ॥ चिकित्सकस्य यच्चान्नमभोज्यं रक्षिणस्तथा । गणग्रामाभिशस्तानां रङ्गस्त्रीजीविनां तथा ॥ ३० ॥ परिवित्तीनां च पुंसाञ्च वन्दिद्यूतविदान्तथा । वामहस्ताहृतं चान्नं भक्तं पर्युषितञ्च यत् ॥ ३१ ॥ सुरानुगतमुच्छिष्टमभोज्यं शेषितञ्च यत् । पिष्टस्य चेक्षुशाकानां विकाराः पयसस्तथा ॥ ३२ ॥ शक्तुधानाकरम्भाणां नोपभोग्याश्चिरस्थिताः । पायसं कृसरं मांसमपूपाश्च वृथाकृताः ॥ ३३ ॥ अपेयाश्चाप्यभक्ष्याश्च ब्राह्मणैर्गृहमेधिभिः । देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितॄन् गृह्याश्च देवताः ॥ ३४ ॥

अग्निषोमीय पशुका होम न करे तबतक उसका अन्न न खाय, कायर, यज्ञको बेचनेवाला, मोची, बढई, व्यभिचारिणी स्त्री, धोबी, वैद्य और चौकीदारका अन्न भी खानेयोग्य नहीं है, जिसके ऊपर सब गाँवने अथवा उसके जातिवालोंने दोष लगाया हो उसका अन्न न खाय, रङ्गभूमिमें नाचनेवाली स्त्रीसे आजीविका करनेवाले पुरुषका अन्न न खाय ॥ २९॥३० । बडाभाई कारा हो और छोटे भाईने विवाह करलिया हो तो उन दोनोंका अन्न, भाट चारणका काम करनेवालेका अन्न, जुवारीका पकान्न, बायें हाथसे परोसागया हो तो उसको तथा बासी अन्नको न खाय ३१ मद्यकी छींट पडजानेसे दूषित, मद्यके पात्रमें धराहुआ और खाते२ बाकी रहा अन्न (जूठन) भी न खाय, कुटुम्बको जिमाये बिना अपने आप न जीमे, आटेका, ईखका, भाँति २ के शाकोंका आसव तथा बिगडेहुए दूधके पदार्थ न पिये ॥ ३२ ॥ सत्तू, गरम करके कूटेहुए जौकी खीलें तथा दहीके साथ मिलेहुए सत्तू ये सब वस्तुएँ बहुत देरतक पडीरही हों तो न खाय, दूधपाक, तिल, चावल की खिचडी, मालपुए, माँस और पीनेके रस यदि देवताके उद्देश्यसे न बनायेगए हों तो न खाय, ३३ गृहस्थाश्रमी ब्राह्मण देवता, ऋषि, मनुष्य, पितर और घरके इष्टदेवताओंको नैवेद्य अर्पण करनेके

पूजयित्वा ततः पश्चात् गृहस्थो भोक्तुमर्हति । यथा प्रव्रजितो भिक्षुस्तथैव स्वे गृहे वसेत् ॥ ३५ ॥ एवंवृत्ताः प्रियैर्दारैः सम्वसन् धर्ममाप्नुयात् । न दद्यात् यशसे दानं न भयान्नोपकारिणे ३६ न नृत्यगीतशीलेषु हासकेषु च धार्मिकः । न मत्ते चैव नोन्मत्ते न स्तेने न च कुत्सके॥३७॥न वाग्धीने विवर्णे वा नाङ्गहीने न वामने । न दुर्जने दौष्कुले वा व्रतैर्यो वा न संस्कृतः३८न श्रोत्रियमृते दानं ब्राह्मणे ब्रह्मवर्जिते । असम्यक् चैव यद्दत्तमसम्यक् च प्रतिग्रहः । उभयं स्यादनर्थाय दातुरादातुरेव च ॥ ३९ ॥ यथा खदिरमालंब्य शिलां वाप्यर्णवं नरन् । मज्येत मज्जतस्तद्वद्दाता यश्च प्रति-

लिये भोजन तयार करे और उनको अर्पण करनेके बाद आप खाय, गृहस्थ अपने घरमें संन्यासीकी समान रहे अर्थात् जैसे संन्यासी सब पदार्थों पर ममताको त्यागे रहता है तैसे ही गृहस्थ भी ममताको त्यागे रहै, देवता, पितर, अतिथि तथा घरके अन्य मनुष्योंके भोजन करलेने पर शेष रहा हुआ भोजन करे३३-३५ ऐसे आचारणसे रहनेवाला गृहस्थ अपनी स्त्रीके सहित गृहस्थाश्रममें रहताहुआ धर्मका फल पाता है, धर्मात्मा गृहस्थ यशके लिये दान न देय तथा अपना उपकार करनेवालेको भी दान न देय ॥ ३६ ॥ नाचने,गानेवाला,हास्य करनेवाला भाँड, मदमत्त, उन्मत्त, चोर, निन्दक तेजोहीन, अङ्गहीन, बौना, दुर्जन, अकुलीन और उपनयन आदि संस्कारसे रहितको सुपात्र मानकर दान न देय ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ वेद न पढ़नेवाले मूर्ख ब्राह्मणको दान न देय, मूर्खोंको दियाहुआ दान ठीक नहीं मानाजाता और वह प्रतिग्रह भी असत् मानाजाता है, ऐसा दान देनेवाला और लेनेवाला दोनों पापके भागी होते हैं ॥ ३९ ॥ खैरकी लकडी अथवा पत्थरकी शिलाको पकड कर समुद्रके पार होना चाहने वाला मनुष्य जैसे जलमें डूबजाता है,ऐसेही मूर्ख ब्राह्मणको दान

ग्रही ॥ ४० ॥ काष्ठैरार्द्रैर्यथा वन्हिरुपस्तीर्णो न दीप्यते । तपः-स्वाध्यायचारित्रैरेवं हीनः प्रतिग्रही ॥४१॥ कपाले यद्वदापः स्युः श्वदृतौ च यथा पयः । आश्रयस्थानदोषेण वृत्तहीने तथा श्रुतम् ४२ निर्मन्त्रो निर्व्रतो यः स्यादशास्त्रज्ञोऽनसूयकः । अनुक्रोशात्प्रदातव्यं हीने त्वव्रतिकेषु च ॥ ४३ ॥ न वै देयमनुक्रोशाद् दीनार्त्तातुरकेष्वपि । आप्ताचरित इत्येव धर्म इत्येव वा पुनः ॥ ४४ ॥ निष्कारणं स्मृतं दत्तं ब्राह्मणे ब्रह्मवर्जिते । भवेदपात्रदोषेण न चात्रास्ति विचारणा ॥ ४५ ॥ यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः । ब्राह्मणश्चानधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ ४६ ॥

देनेवाला (गृहस्थ) तथा दान लेनेवाला (मूर्ख ब्राह्मण) ये दोनों नरकमें डूबते हैं ॥४०॥ जैसे गीले काठसे ढकाहुआ अग्नि प्रज्वलित होकर प्रकाश नहीं करता है, ऐसे ही तप, वेदाध्ययन और चरित्रसे हीन हुआ और प्रतिग्रह लेनेवाला ब्राह्मण शोभा नहीं पाता है ॥ ४१ ॥ मनुष्यकी खोपड़ीमेंका जल और कुत्तेकी खालमें भरा हुआ दूध (स्वयं पवित्र होता हुआ भी) जैसे अपने आश्रयके दोपसे पीने योग्य नहीं रहता है, ऐसे ही, दुराचारीके सङ्गसे दुराचरण करनेवाले ब्राह्मणोंमेंका शास्त्राध्ययन अपने आश्रयके दोपसे अपवित्र होजाता है ॥४२॥ जो पुरुष वेद शास्त्र न पढ़ा हो, और व्रतरहित होकर भी किसीकी निन्दा न करता हो ऐसे ब्राह्मणके ऊपर दयादृष्टि रखकर उसको दान देय,(इसमें पाप नहीं है) यद्यपि वह दानका अधिकारी नहीं है ॥ ४३ ॥ दीन, आर्त्त और रोगीके ऊपर दया करके देय, उसको देय यह शिष्टोंकी रीति है, परन्तु ऐसोंको देनेसे धर्म होगा, यह समझकर न देय ॥ ४४ ॥ वेद न पढ़ेहुए ब्राह्मणको दान देना निरर्थक है, क्योंकि–अपात्र होनेके कारण उसको दियाहुआ दान निष्फल जाता है, इसमें सन्देह नहीं है ४५ जैसे लकड़ीका हाथी और

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला । शकुनिर्वाप्यपक्षः स्यान्निर्मन्त्रो ब्राह्मणस्तथा ॥ ४७ ॥ ग्रामधान्यं यथा शून्यं यथा कूपश्च निर्जलः । यथा हुतमनग्नौ च तथैव स्यान्निराकृतौ ४८ देवतानां पितृणाञ्च हव्यकव्यविनाशकः । शत्रुरर्थहरो मूर्खो न लोकान् प्राप्तुमर्हति ॥४९॥ एतत्ते कथितं सर्वं यथावृत्तं युधिष्ठिर । समासेन महद्ध्येतच्छ्रोतव्यं भरतर्षभ ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्ये षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिर उवाच । श्रोतुमिच्छामि भगवन् विस्तरेण महामुने । राजधर्मान् द्विजश्रेष्ठ चातुर्वर्ण्यस्य चाखिलान् ॥ १ ॥ आपत्सु

चमड़ेका हिरन ये नाममात्रके होते हैं, ऐसे ही वेद न पढ़ा हुआ ब्राह्मण भी नाममात्रका ब्राह्मण है ॥४६॥ जैसे नपुंसक मनुष्य स्त्रीमें सन्तान उत्पन्न नहीं करसकता, जैसे गौ गौमें सन्तान उत्पन्न नहीं करसकती, जैसे विना पंखोंका पक्षी पक्षी नहीं माना जाता, ऐसे ही वेद न पढ़ाहुआ ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं मानाजाता, वह दाताको फल नहीं देसकता ॥ ४७ ॥ अन्नहीन गाँव, जल-हीन कुआ और राखमें होमा हुआ हवि जैसे निकम्मा होता है ऐसे ही मूर्खको दियाहुआ दान निष्फल जाता है ४८ मूर्ख शत्रुरूप है, क्योंकि-वह देवता और पितरोंके हव्य कव्यका नाश करता है और वृथा धनको छीन लेता है, इसलिए उसको दान देनेवाला परलोकको पानेके योग्य नहीं होता ॥४९॥ हे भरतसत्तम राजा युधिष्ठिर! तुमने मुझसे जैसा प्रश्न किया था वैसा ही मैंने तुम्हें वृत्तान्त संक्षेपमें (स्वायंभुव मनुने जैसा कहा था उसके ही अनुसार) सुना दिया, आर्य पुरुषोंको यह महान् वृत्तान्त सुनना चाहिये ५० छत्तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३६ ॥ छ छ

राजा युधिष्ठिरने कहा कि-हे भगवन्! हे महामुने! हे द्विजवर!

च यथा नीतिः प्रणेतव्या द्विजोत्तम । धर्म्यमाऽऽस्थाय पन्थानं विजयेयं कथं महीम् ॥२॥ प्रायश्चित्तकथा ह्येषा भक्ष्याभक्ष्यविवर्जिता । कौतूहलानुप्रवणा हर्षं जनयतीव मे ॥३॥ धर्मचर्या च राज्यञ्च नित्यमेव विरुध्यते । एवं मुह्यति मे चेतिश्चिन्तयानस्य नित्यशः॥४ वैशम्पायन उवाच । तमुवाच महाराज व्यासो वेदविदाम्बरः । नारदं समभिप्रेक्ष्य सर्वज्ञानां पुरातनम् ॥५॥ श्रोतुमिच्छसि चेद्धर्मं निखिलेन नराधिप । प्रैहि भीष्मं महाबाहो वृद्धं कुरुपितामहम् ६ स ते धर्मरहस्येषु संशयान् मनसि स्थितान् । छेत्ता भागीरथीपुत्रः सर्वज्ञः सर्वधर्मवित् ॥७॥ जनयामास यं देवी दिव्या त्रिपथगा

राजाके सब धर्म और चारों वर्णोंके धर्मोंको मैं विस्तारसे सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥ और हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! मुझे बताइये, कि–आपत्तिकालमें राजाको किस नीतिसे वर्त्ताव करना चाहिये ? मैं धर्मके मार्गमें चलता हुआ इस पृथिवीका विजय किस प्रकार करसकता हूँ ? ॥ २ ॥ जिसमें भक्ष्य अभक्ष्यको त्यागकर उपवास करना पडता है, ऐसी प्रायश्चित्तकी जो कथा आपने कही वह बडा कुतूहल उत्पन्न करनेवाली है ॥ ३ ॥ और उसको सुन कर मुझे हर्ष हुआ है, एक ओर आपका कहाहुआ धर्मका आचरण और दूसरी ओर राज्यको चलाना, इन दोनोंके बीच में नित्य विरोध है, इसका मैं बराबर विचार करता हूँ तो मेरा मन उलझनमें पडजाता है ॥४॥ वैशम्पायनने कहा कि–हे महाराज ! युधिष्ठिरके प्रश्नको सुनकर वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ वेदव्यास जीने सर्वज्ञोंमें प्राचीन नारदजीके सामनेको देखकर राजा युधिष्ठिरसे कहा, कि–हे महाबाहु युधिष्ठिर ! आपको यदि सम्पूर्ण धर्म सुननेकी इच्छा है तो तुम कुरुकुलमें वृद्ध पितामह भीष्मजीके पास जाओ ५–६वह गङ्गाके पुत्र सर्वज्ञ और सब धर्मोंको जाननेवाले हैं, तुम्हारे मनमें धर्मके रहस्यके विषयमें जितने भी सन्देह हैं उन सब

नदी । साक्षाद्ददर्श यो देवान् सर्वानिन्द्रपुरोगमान्॥८॥ बृहस्पति-पुरोगांस्तु देवर्षीनसकृत्प्रभुः । तोषयित्वोपचारेण राजनीतिमधीतवान्॥९॥उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च देवगुरुर्द्विजः । धर्मं सर्वं सवैयाख्यं प्राप्तवान्कुरुसत्तमः१०भार्गवाच्च्यवनाच्चापि वेदानंगोपबृंहितान् । प्रतिपेदे महाबाहुर्वशिष्ठाच्चरितव्रतः११पितामहसुतं ज्येष्ठं कुमारं दीप्ततेजसम् । अध्यात्मगतितत्त्वज्ञमुपाशिक्षत यः पुरा १२ मार्कण्डेयमुखात् कृत्स्नं यतिधर्ममवाप्तवान्। रामादस्त्राणि शक्राच्च प्राप्तवान् पुरुषर्षभः ॥ १३ ॥ मृत्युरात्मेच्छया यस्य जातस्य मनुजेष्वपि । तथानपत्यस्य सतः पुण्या लोका दिवि श्रुताः ॥१४॥ यस्य ब्रह्मर्षयः पुण्या नित्यमासन् सभासदः । यस्य नाविदितं

सन्देहोंको वह दूर करदेंगे॥७॥जिस महात्मा पुरुषको तीन मार्गोंमें बहनेवाली दिव्य नदी गङ्गाने उत्पन्न किया है और जिन्होंने इन्द्रादि सब देवताओंका साक्षात् दर्शन किया है॥८॥ और उन तुम्हारे समर्थ पितामहने बृहस्पति आदि देवर्षियोंको वारंवार सेवा करके प्रसन्न कर उनसे राजनीतिका अभ्यास किया है॥९॥जिस नीतिशास्त्र तथा धर्मको शुक्राचार्य जानते हैं और जिस नीतिशास्त्र तथा धर्मको बृहस्पति जानते हैं, उस ही नीतिशास्त्र और धर्मको व्याख्याके साथ कुरुकुलके पितामह जानते हैं ॥ १० ॥ जिस महाबाहुने ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करके भृगुके पुत्र च्यवनसे तथा वशिष्ठजीसे अङ्गोंके सहित वेद पढ़े हैं ॥ ११ ॥ और जिन्होंने पहले ब्रह्माके बड़े पुत्र महाकान्तिमान् नारदमुनिसे अध्यात्मशास्त्रको पढा है ॥ १२ ॥ मार्कण्डेय मुनिसे यतिके धर्म पाये हैं और परशुराम तथा इन्द्रसे शस्त्रविद्या सीखी है ।१३। जिन्होंने मनुष्यजातिमें जन्म लेकर भी मृत्युको अपने वशमें रक्खा है और पुत्ररहित होनेपर भी जिनकी पवित्र कीर्त्ति स्वर्गमें गाईजाती है ॥ १४ ॥ पवित्र चरित्रवाले ब्रह्मर्षि जिनके सदा

किञ्चित् ज्ञानज्ञेयेषु विद्यते ॥ १५॥ स ते वक्ष्यति धर्मज्ञः सूक्ष्म-धर्मार्थतत्त्ववित् । तमभ्येहि पुरा प्राणान् स विमुञ्चति धर्मवित् १६ एवमुक्तस्तु कौन्तेयो दीर्घप्रज्ञो महामतिः । उवाच वदतां श्रेष्ठं व्यासं सत्यवतीसुतम् ॥ १७ ॥ युधिष्ठिर उवाच । वैशसं सुमहत् कृत्वा ज्ञातीनां रोमहर्षणम् । आगस्कृत् सर्वलोकस्य पृथिवी-नाशकारकः ॥ १८ ॥ घातयित्वा तमेवाजौ छलेन जिह्मयोधि-नम् । उपसंप्रष्टुमर्हामि तमहं केन हेतुना ॥ १९ ॥ वैशम्पायन उवाच । ततस्तं नृपतिश्रेष्ठं चातुर्वर्ण्यहितेप्सया । पुनराह महाबाहु र्यदुश्रेष्ठो महामतिः ॥२०॥ वासुदेव उवाच । नेदानीमतिनिर्बन्धं

सभासद थे और ज्ञानयज्ञके विषयमें जिनसे कोई बात छुपीहुई नहीं है ॥ १५ ॥ जो धर्मज्ञ हैं और धर्मके अर्थके सूक्ष्म तत्त्वको जानते हैं वह तुम्हें धर्मका उपदेश देंगे, वह धर्मके ज्ञाता जबतक अपने प्राणोंको नहीं त्यागते हैं उससे पहले ही तुम उनके पास जाओ ॥ १६ ॥ वक्ताओंमें श्रेष्ठ सत्यवतीके पुत्र व्यासजीने बड़ी प्रज्ञावाले और महाबुद्धिमान् कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरसे ऐसा कहा १७ तब युधिष्ठिरने कहा, कि-हे व्यासजी ! मैंने ज्ञातिबांधवोंका रोमाञ्चकारी महासंहार किया है,मैं सब लोगोंका अपराधी तथा पृथिवीका संहार करनेवाला हूँ ॥१८॥ इतना नहीं, किन्तु शुद्ध अन्तःकरणसे युद्ध करनेवाले उन भीष्मजीको ही युद्धमें छलसे मरवाकर अब मैं कौनसा कारण दिखलाकर उनसे अपने धर्म और नीतिके विषयके सन्देह बूझूँ ? ॥ १९ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे राजा जनमेजय ! युधिष्ठिरकी यह बात सुनकर महा-बाहु महाकान्तिमान् यदुवर श्रीकृष्ण चारों वर्णोंके हितकी इच्छा से महाराज युधिष्ठिरसे फिर कहनेलगे ॥ २० ॥ वासुदेव बोले, कि-हे उत्तम राजन् ! अब तुम शोकके लिये अधिक आग्रह करना छोडदो और भगवान् वेदव्यासजीने जैसा कहा है, वैसा ही

शोके त्वं कर्त्तुमर्हसि । यदाह भगवान् व्यासस्तत् कुरुष्व नृपोत्तम ॥२१॥ ब्राह्मणास्त्वां महाबाहो भ्रातरश्च महौजसः । पर्जन्यमिव घर्मान्ते नाथमाना उपासते ॥ २२ ॥ हतशिष्टाश्च राजानः कृत्स्नञ्चैव समागतम् । चातुर्वर्ण्यं महाराज राष्ट्रन्ते कुरुजाङ्गलम् ॥२३॥ प्रियार्थमपि चैतेषां ब्राह्मणानां महात्मनाम् । नियोगादस्य च गुरोर्व्यासस्यामिततेजसः ॥ २४ ॥ सुहृदामस्मदादीनां द्रौपद्याश्च परन्तप । कुरु प्रियममित्रघ्न लोकस्य च हितं कुरु २५ वैशम्पायन उवाच । एवमुक्तः स कृष्णेन राजा राजीवलोचनः । हितार्थं सर्वलोकस्य समुत्तस्थौ महामनाः ॥२६॥ सोऽनुनीतो नरव्याघ्र विष्टरश्रवसा स्वयम् । द्वैपायनेन च तथा देवस्थानेन जिष्णुना ॥ २७ ॥ एतैश्चान्यैश्च बहुभिरनुनीतो युधिष्ठिरः ।

करो ॥२१॥ हे महाबाहु राजन् ! जैसे लोग वर्षा ऋतुमें मेघको स्वामी मानकर उसकी उपासना करते हैं,तैसे ही महाशक्तिमान् ब्राह्मण तथा तुम्हारे भाई तुम्हें स्वामी मानकर तुम्हारी सेवा कर रहे हैं ॥ २२ ॥ तथा मरते २ बचेहुए राजे,इकट्ठे हुए चारों वर्णोंके मनुष्य और तुम्हारे कुरु-जाङ्गल देशकी प्रजा भी तुम्हारी सेवा करनेको हाजिर है ॥२३॥ इसलिये हे शत्रुतापन ! हे शत्रुनाशन ! अपारतेजस्वी गुरु व्यासजीकी आज्ञासे इन सब लोगोंका, महात्मा ब्राह्मणोंका, हम सुहृदोंका, द्रौपदीका तथा देशकी प्रजाका प्रिय और हित कीजिये ॥ २४ ॥ २५ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-श्रीकृष्णने इसप्रकार कमलनयन राजा युधिष्ठिरसे विनय की, तब उदारमनवाले राजा युधिष्ठिर सब लोगोंका हित करनेके लिये अपने आसन परसे उठे ॥ २६ ॥ हे नरव्याघ्र ! स्वयं श्रीकृष्णने, द्वैपायन वेदव्यासने,देवस्थान ऋषिने, अर्जुनने तथा और भी बहुतसे लोगोंने राजा युधिष्ठिरको समझाया तब महारथी युधिष्ठिरने मानसिक दुःख और सन्तापको त्याग-

व्यजहान्मानसं दुःखं सन्तापञ्च महायशाः ॥ २८ ॥ श्रुतवाक्यः श्रुतनिधिः श्रुतश्रव्यविशारदः । व्यवस्य मनसः शान्तिमगच्छत् पाण्डुनन्दनः ॥२९॥ स तैः परिवृतो राजा नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः । धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य स्वपुरं प्रविवेश ह ॥३०॥ प्रविविक्षुः स धर्मज्ञः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः । अर्च्चयामास देवांश्च ब्राह्मणांश्च सहस्रशः ॥ ३१ ॥ ततो नवं रथं शुभ्रं कम्बलाजिनसम्वृतम् । युक्तं षोडशभिर्गोभिः पाण्डुरैः शुभलक्षणैः ॥३२॥ मन्त्रैरभ्यर्च्चितं पुण्यैः स्तूयमानश्च वन्दिभिः।आरुरोह यथा देवः सोमोऽमृतमयं रथम्३३ जग्राह रश्मीन् कौन्तेयो भीमो भीमपराक्रमः । अर्जुनः पाण्डुरं छत्रं धारयास भानुमत् ॥ ३४ ॥ ध्रियमाणञ्च तच्छत्रं पाण्डुरं

दिया ॥ २७ ॥२८॥ सन्तापको त्यागकर सब वेद, उपनिषद्, मीमांसा और नीतिशास्त्रमें प्रवीण पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने कर्त्तव्य कर्मका निश्चय करके मनमें शान्ति पाई ॥२९॥ और जैसे तारागणसे चन्द्रमा घिराहुआ होता है तैसे ही वेदव्यास आदि मुनियोंसे घिरेहुए राजा युधिष्ठिर, धृतराष्ट्रको अपने आगे करके हस्तिनापुरको चलदिये ॥ ३० ॥ नगरमें प्रवेश करनेकी इच्छा वाले कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने देवताओंका तथा धर्मको जानने सैंकडों ब्राह्मणोंका पूजन किया ॥३१॥ फिर वन्दीजन जिनकी स्तुति कररहे थे ऐसे राजा युधिष्ठिर, जैसे चन्द्रमा अमृतके रथ पर चढता है तैसे ही ब्राह्मणोंके पवित्र मन्त्रोंसे पूजित, सुन्दर लक्षणोंवाले, स्वेत रङ्गके सोलह बैलोंसे जुते और बानात तथा मृगछालाके परदोंवाले झमाझम चमकते हुए नए रथमें बैठगए३३ उस समय भयानक पराक्रमवाला कुन्तीपुत्र भीमसेन रथके घोडों की बागडोरें पकड रहा था, अर्जुन कान्तिमान् स्वेत छत्र रथके ऊपर लगारहा था ॥३४॥ रथके ऊपर अर्जुनका धारण किया हुआ वह सफेद रङ्गका छत्र,आकाशमें तारागणोंसे भरेहुए सफेद

रथमूर्द्धनि । शुशुभे तारकाकीर्णं सितमभ्रमिवाम्बरे॥३५॥ चामर-व्यजने स्वस्य वीरौ जगृहतुस्तदा । चन्द्ररश्मिप्रभे शुभ्रे माद्रीपुत्रावलंकृते ॥३६॥ ते पञ्च रथमास्थाय भ्रातरः समलंकृताः । भूतानीव समस्तानि राजन् ददृशिरे तदा॥३७॥आस्थाय तु रथं शुभ्रं युक्तमश्वैर्मनोजवैः। अन्वयात् पृष्ठतो राजन् युयुत्सुः पाण्डवाग्रजम् ॥ ३८ ॥ रथं हेममयं शुभ्रं शैब्यसुग्रीवयोजितम् । सह सात्यकिना कृष्णः समास्थायान्वयात् कुरून् ॥३९॥ नरयानेन तु ज्येष्ठः पिता पार्थस्य भारत । अग्रतो धर्मराजस्य गान्धारीसहितो ययौ ॥ ४० ॥ कुरुस्त्रियश्च ताः सर्वाः कुन्ती कृष्णा तथैव च । यानैरुच्चावचैर्जग्मुर्विदुरेण पुरस्कृताः ॥ ४१ ॥ ततो रथाश्च बहुला नागाश्च समलंकृताः । पादाताश्च हयाश्चैव पृष्ठतः समनुव्रजन् ॥ ४२ ॥ ततो वैतालिकैः सूतैर्मागधैश्च सुभाषितैः ।

रङ्गके मेघकी समान मालूम होता था ॥ ३५ ॥ माद्रीके दोनों वीर पुत्र चन्द्रमाकी किरणोंकी समान सफेद चमकनेवाले दो सुन्दर सफेद चँवर धारण कियेहुए थे (डुलारहे थे) ॥३६॥ हे राजन् ! जिस समय पाँचों भाई सजकर रथमें बैठे, उस समय ऐसे मालूम होते थे मानो पंचमहाभूत इकट्ठे होगए हैं ॥ ३७ ॥ हे राजन् ! राजा युधिष्ठिरके पीछे मनकी समान वेगवाले घोडोंसे जुते सफेद रङ्गके रथमें बैठाहुआ युयुत्सु जारहा था ॥ ३८ ॥ कौरवों (पाण्डवों) के पीछे श्रीकृष्ण, सात्यकीके सहित सुवर्णसे मँढेहुए चमकदार और शैब्य सुग्रीव नामक घोडोंसे जुते रथमें बैठे हुए जारहे थे ॥ ३९ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! युधिष्ठिरके ज्येष्ठ पिता (ताऊ) गान्धारीके साथ पालकीमें बैठकर धर्मराजके आगे२ जारहे थे ॥ ४० ॥ कुन्ती, द्रौपदी आदि कौरवकुलकी स्त्रियें अपनी२ योग्यताके अनुसार घटिया बढिया सबारियोंमें बैठीहुई जारही थीं, इन स्त्रियोंके पीछेके भागमें विदुरजी चलरहे थे ४१ उनके पीछे बहुतसे हाथी, रथ तथा घुड़सवार और पैदल चल

स्तूयमानो ययौ राजा नगरं नागसाह्वयम् ॥ ४३ ॥ तत्प्रयाणं महाबाहोर्वभूवाप्रतिमं भुवि। आकुलाकुलमुत्कृष्टं हृष्टपुष्टजनाकुलम् ४४ अभियाने तु पार्थस्य नरैर्नगरवासिभिः। नगरं राजमार्गाश्च यथावत् समलंकृताः ॥४५॥ पाण्डुरेण च माल्येन पताकाभिश्च मेदिनी। संस्कृतो राजमार्गोऽभूत् धूपनैश्च मधूपितः ॥४६॥ अथ चूर्णैश्च गन्धानां नानापुष्पप्रियंगुभिः। माल्यदामभिरासक्तै राजवेश्माभिसम्वृतम् ॥ ४७ ॥ कुम्भाश्च नगरद्वारि वारिपूर्णा नवा दृढाः। सिताः सुमनसो गौराः स्थापितास्तत्र तत्र ह ॥४८॥ यथा स्वलंकृतं द्वारं नगरं पाण्डुनन्दनः। स्तूयमानः शुभैर्वाक्यैः प्रविवेश सुहृद्वृतः ॥ ४९ ॥ सप्तत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

रहे थे ।४२। हस्तिनापुरमें प्रवेश करते समय सुन्दर भाषणवाले वैतालिक, सूत और मागध युधिष्ठिरकी स्तुति कररहे थे४३महाबाहु राजा युधिष्ठिरकी यह सवारी पृथिवीपर अनुपम थी, आनन्दसे हृष्टपुष्ट हुए मनुष्योंके कारण सब सवारीमें बडी भीड़ होरही थी अनेकों मनुष्योंके कोलाहलसे गूँजरही थी ॥ ४४ ॥ राजा युधिष्ठिरके नगरमें आनेके समय नगरवासी मनुष्योंने नगरको और सड़कोंको खूब ही सजाया था ॥४५॥ पृथिवी पर सफेद रङ्गके फूल विखरे हुए थे, सडकोंको पताकाओंसे सजाकर धूपसे सुगन्धित किया गया था ॥४६॥ राजमहलके आसपास चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थोंका चूरा उड़ाया गया, अनेकों प्रकारके पुष्पोंकी मालाओंसे और सुगन्धित वेलोंकी वन्दनवारोंसे राजमहलको सजायागया था ॥ ४७ ॥ नगरीमें घर२ दरवाजे पर जलसे भरे नए घड़े रक्खे गए थे, सफेद रङ्गके फूल विखेरे गए थे और गौरवर्णकी कन्याओंको खडाकिया गया था॥४८॥ जय जयकारकी शुभ ध्वनियोंसे जिनकी स्तुति होरही थी ऐसे पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरने अपने संबन्धियोंसे घिरकर, सजेहुए हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ॥४९॥ सैंतीसवाँ अध्याय समाप्त॥३७॥

वैशम्पायन उवाच। प्रवेशेन तु पार्थानां जनानां पुरवासिनाम्। दिदृक्षूणां सहस्राणि समाजग्मुः सहस्रशः ॥ १ ॥ स राजमार्गः शुशुभे समलंकृतचत्वरः। यथा चन्द्रोदये राजन् वर्द्धमानो महोदधिः ॥२॥ गृहाणि राजमार्गेषु रत्नवन्ति महान्ति च। प्राकम्पन्तेव भारेण स्त्रीणां पूर्णानि भारत ॥ ३ ॥ ताः शनैरिव सव्रीडं प्रशशंसुर्युधिष्ठिरम्। भीमसेनार्जुनौ चैव माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ४ धन्या त्वमसि पाञ्चालि या त्वं पुरुषसत्तमान्। उपतिष्ठसि कल्याणि महर्षीनिव गौतमी ॥ ५ ॥ तव कर्माण्यमोघानि व्रतचर्या च भाविनी। इति कृष्णां महाराज प्रशशंसुस्तदा स्त्रियः ६ प्रशंसावचनैस्तासां मिथः शब्दैश्च भारत। प्रीतिजैश्च तदा

वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे राजा जनमेजय! जब पाण्डवोंने हस्तिनापुरमें प्रवेश किया, उस समय उनका दर्शन करनेके लिए लाखों मनुष्य इकट्ठे हुए थे ॥ १ ॥ हे राजन्! जैसे चन्द्रमाके उदयसे महासागर उमडता है तैसे ही सजे हुए चौराहोंसे हस्तिनापुरका राजमार्ग उमड पडा था ॥२॥ राजमार्गमेंके सुन्दर मकान सजावटोंसे भरे हुये थे (युधिष्ठिरको देखनेके लिये) इतनी सुन्दरियें इकट्ठी होकर खडी थीं, कि-उनके बोझेसे वे घर झुकते हुयेसे मालूम होते थे ॥३॥ पाण्डवोंके देखनेको आई हुई नगरकी सुन्दरियें लज्जाके कारण धीरे२ राजा युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवकी प्रशंसा करती हुईं कहउठीं, कि-॥ ४ ॥ हे कल्याणी! हे पञ्चालराजकुमारी! तू वास्तवमें बडभागिनी है, क्योंकि-जैसे गौतमी सप्तऋषियोंकी सेवा करती है तैसे ही तू महात्मा पाण्डवोंकी सेवा करती है ॥ ५ ॥ हे भामिनी! तेरे सत्कर्म और व्रत सफल होगए! ऐसा कहकर हे महाराज! वे स्त्रियें द्रौपदीकी भी प्रशंसा कररही थीं ॥ ६ ॥ हे भरतवंशी! राजन्! उन स्त्रियोंके प्रशंसाके वचनोंसे, आपसकी बातोंसे तथा

शब्दैः पुरमासीत् समाकुलम् ॥७॥ तपतीत्य यथायुक्तं राजमार्गं युधिष्ठिरः । अलंकृतं शोभमानमुपायाद्राजवेश्म ह ॥ ८ ॥ ततः प्रकृतयः सर्वाः पौरा जानपदास्तदा । ऊचुः कर्णसुखा वाचः समुपेत्य ततस्ततः ॥९॥ दिष्ट्या जयसि राजेन्द्र शत्रूञ्छत्रुनिषूदन । दिष्ट्या राज्यं पुनः प्राप्तं धर्मेण च बलेन च ॥ १० ॥ भव नस्त्वं महाराज राजेह शरदां शतम् । प्रजाः पालय धर्मेण यथेन्द्रस्त्रिदिवं तथा ॥११॥ एवं राजकुलद्वारि मङ्गलैरभिपूजितः । आशीर्वादान् द्विजैरुक्तान् प्रतिगृह्य समन्ततः ॥ १२ ॥ प्रविश्य भवनं राजा देवराजगृहोपमम् । श्रद्धाविजयसंयुक्तं रथात् पश्चादवातरत् १३

प्रेमके वचनोंसे सब नगर गूँज उठा था ॥७॥ जिस समय राजा युधिष्ठिर धीरे२राजमार्गमेंसे निकल कर सजे हुवे और शोभायमान राजमहलके द्वार पर आपहुँचे ॥ ८ ॥ उस समय सेनापति आदि सब प्रकृति मण्डल (दरबारी लोग), नगरवासी, देशके लोग चारों ओरसे राजा युधिष्ठिरको प्रणाम करनेके लिये उन के समीप आगये और कानोंको आनन्द देनेवाली वाणीमें कहने लगे, कि–हे शत्रुओंका संहार करनेवाले राजेन्द्र ! दैवयोगसे तुमने वैरियोंको जीतलिया है, तुमने भाग्यकी अनुकूलता, धर्म और बलसे फिर राज्य पाया है ॥ ९–१० ॥ हे महाराज ! आप इस लोकमें हम सबोंके ऊपर सौ वर्ष तक राज्य करिये और जैसे इन्द्र स्वर्गका पालन करता है तैसे ही आप भी धर्मसे प्रजा का पालन करिये ॥११॥ इसप्रकार शिष्टाचार होनेके बाद राजमहलकी ड्योढ़ी पर ब्राह्मणोंने मङ्गलोच्चार करके राजा युधिष्ठिरका सत्कार किया और वेदके मंत्र पढ़कर आशीर्वाद दिया, चारों ओरसे दिये हुए आशीर्वादको स्वीकार करके धर्मराज राजा रथमेंसे नीचे उतरे और श्रद्धावान् तथा विजय पानेवाले राजा युधिष्ठिरने इन्द्र—भवनकी समान राजभवनमें प्रवेश

प्रविश्याभ्यन्तरं श्रीमान् दैवतान्यभिगम्य च । पूजयामास रत्नैश्च गन्धमाल्यैश्च सर्वशः ॥ १४ ॥ निश्चक्राम ततः श्रीमान् पुनरेव महायशाः । ददर्श ब्राह्मणांश्चैव सोभिरूपानवस्थितान् ॥ १५ ॥ स सम्वृतस्तदा विप्रैराशीर्वादविवक्षुभिः शुशुभे विमलश्चन्द्रस्तारागणवृतो यथा ॥ १६ ॥ तांस्तु वै पूजयामास कौन्तेयो विधिवद् द्विजान् । धौम्यं गुरुं पुरस्कृत्य ज्येष्ठं पितरमेव च ॥ १७ ॥ सुमनोमोदकै रत्नैर्हिरण्येन च भूरिणा । गोभिर्वस्त्रैश्च राजेन्द्र विविधैश्च किमिच्छकैः ॥ १८ ॥ ततः पुण्याहघोषोऽभूत् दिवं स्तब्ध्वेव भारत । सुहृदां प्रीतिजननः पुण्यः श्रुतिसुखावहः ॥१९॥

किया ॥ १२-१३ ॥ फिर राजमहलके भीतरके भागमें पहुँचे और बड़ा यश पानेवाले श्रीमान् राजा युधिष्ठिर अपने इष्टदेवके दर्शनको गए और दर्शन करके रत्नोंसे, चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थोंसे तथा पुष्पोंसे पूजा करी, फिर तहाँसे बाहर आए और हाथमें माङ्गलिक पदार्थ लेकर खड़े हुए ब्राह्मणोंके दर्शन किये ॥ १४-१५ ॥ जिस समय आशीर्वाद देना चाहनेवाले ब्राह्मण उनको घेरे हुए खड़े थे, उस समय राजा युधिष्ठिर तारागणसे घिरे हुए निर्मल चन्द्रमाकी समान शोभा पारहे थे ॥ १६ ॥ ब्राह्मणोंने राजा युधिष्ठिरको फिर आशीर्वाद दिया, तदनन्तर युधिष्ठिरने गुरु धौम्य और ताऊ धृतराष्ट्रको आगे करके पुष्पोंसे और जलसे विधिपूर्वक ब्राह्मणोंका पूजन किया ॥ १७ ॥ और उनको फूल, लड्डू, रत्न, बहुतसा सोना, गौएँ और वस्त्र दिए, हे राजेन्द्र ! इस समय राजाके सेवक उन ब्राह्मणोंसे विनयके साथ बूझरहे थे, कि-आपकी क्या इच्छा है, आपको क्या चाहिए ? ॥ १८ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! फिर ब्राह्मणोंने पुण्याहवाचनका आरम्भ किया, कानोंको सुख देनेवाले उस शब्दको सुनकर पाण्डवोंके सब संबन्धी

हंसवन्नेदुषां राजा द्विजानां तत्र भारतीम् । शुश्रुवे वेदविदुषां पुष्कलार्थपदाक्षराम् ॥ २० ॥ ततो दुन्दुभिनिर्घोषः शंखानाञ्च मनोरमः । जयं प्रवदतां तत्र स्वनः प्रादुरभून्नृप॥२१॥ निःशब्दे च स्थिते तत्र ततो विप्रजने पुनः । राजानं ब्राह्मणच्छद्मा चार्वाको राक्षसोऽब्रवीत् ॥२२॥ तत्र दुर्योधनसखा भिक्षुरूपेण संवृतः । साक्षः शिखी त्रिदण्डी च धृष्टो विगतसाध्वसः ॥ २३ ॥ वृतः सर्वैस्तथा विप्रैराशीर्वादविवक्षुभिः । परं सहस्रै राजेन्द्र तपोनियम संश्रितैः ॥ २४ ॥ स दुष्टः पापमाशंसुः पाण्डवानां महात्मनाम् । अनामन्त्र्यैव तान् विप्रांस्तमुवाच महीपतिम् ॥२५॥ चार्वाक उवाच। इमे प्राहुर्द्विजाः सर्वे समारोप्य वचो मयि । धिग्भवन्तं कुनृपतिं

प्रसन्न हुए,पुण्याहवाचनका यह पवित्र शब्द स्वर्ग तक पहुँच गया था ॥ १९ ॥ राजा युधिष्ठिरने वेदवेत्ता विद्वान् ब्राह्मणोंकी बहुत अर्थ,पद और अक्षरोंवाली वाणीको हंसकी समान स्थिर होकर सुना था ॥ २० ॥ हे राजन् ! पुण्याहवाचन होजाने पर विजय को सूचित करनेवाले दुन्दुभी और शङ्खोंके मनोहर शब्द होनेलगे ॥ २१ ॥ थोडी देर बाद जब ब्राह्मणोंका बोलना बन्द हुआ तब ब्राह्मणके वेशमें छुपाहुआ चार्वाक नामका राक्षस राजा युधिष्ठिरको पुकारकर बोला ॥ २२ ॥ यह चार्वाक दुर्योधनका मित्र था और संन्यासीके वेशमें ब्राह्मणमण्डलीमें छुपा हुआ था, हाथोंमें रुद्राक्षकी माला पहरे हुआथा और उसके शिरपर चोटी थी तथा हाथमें दण्ड लेरहा था, निर्लज्ज और निर्भय था, वह आशीर्वाद देना चाहनेवाले हजारों तपस्वी और नियमधारी ब्राह्मणोंकी मण्डलीके बीचमें खडा था, वह दुष्ट राक्षस ब्राह्मणोंकी आज्ञा लिये विना ही महात्मा पाण्डवोंकी निन्दा करताहुआ राजा युधिष्ठिरसे कहनेलगा ॥ २३-२५ ॥ चार्वाक बोला कि-(ये सब ब्राह्मण मेरे द्वारा तुझसे कहते हैं, कि-) तुझे धिक्कार है !

ज्ञातिघातिनमस्तु वै ॥ २६ ॥ किन्तेन स्याद्धि कौन्तेय कृत्वेमं ज्ञातिसंक्षयम् । घातयित्वा गुरूश्चैव मृतं श्रेयो न जीवितम् ॥२७॥ इति ते वै द्विजाः श्रुत्वा तस्य दुष्टस्य रक्षसः । विव्यथुश्चुक्रुशुश्चैव तस्य वाक्यप्रधर्षिताः ॥ २८ ॥ ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे स च राजा युधिष्ठिरः । व्रीडिताः परमोद्विग्नास्तूष्णीमासन् विशाम्पते २९ युधिष्ठिर उवाच । प्रसीदन्तु भवन्तो मे प्रणतस्याभियाचतः । प्रत्यासन्नव्यसनिनं न मां धिक्कर्त्तुमर्हथ ॥ ३० ॥ वैशम्पायन उवाच । ततो राजन् ब्राह्मणास्ते सर्व एव विशाम्पते । ऊचुर्नैतद्वचोऽस्माकं श्रीरस्तु तव पार्थिव ॥३१॥ जज्ञुश्चैव महात्मानस्ततस्तं

धिक्कार है !! तू दुष्ट राजा है ! तू संबन्धियोंका हत्यारा है! ॥२६॥ हे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ! तूने अपने संबन्धियोंका नाश करके क्या लाभ उठाया है? बडोंको और गुरुजनोंको मरवाकर ऐसे जीवनसे तो तेरा मरजाना ही अच्छा है ।२७उस दुष्ट राक्षसकी बातको सुनते क्षण ही तहाँ खड़े हुए ब्राह्मण भौंचक्केसे रहगए ! और मनमें खिन्न होकर दुःखके साथ हाय! हाय! कर उठे२८हे राजन्! वे लज्जित और बहुत ही व्याकुल होकर चुपचाप खड़ेरहे तथा राजा युधिष्ठिर भी लज्जित होगए और व्याकुल हुए चुपचाप खड़ेरहे ॥ २९ ॥ (फिर राजा युधिष्ठिर सब ब्राह्मणोंको प्रणाम करके कहनेलगे) युधिष्ठिर बोले, कि–हे ब्राह्मणों ! मैं आपको प्रणाम करके यह माँगता हूँ,कि–तुम मेरे ऊपर प्रसन्न होजाओ, इस समय मेरे ऊपर जो दुःख आपड़ा है (उस दुःखको देखकर मुझे धिक्कार देना आपको उचित नहीं है) ॥३०॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि–हे राजा जनमेजय ! युधिष्ठिरकी इस बातको सुन कर सब ब्राह्मण बोलउठे, कि–हम ऐसा नहीं कहते हैं, हे राजन! आपका कल्याण हो ! ॥ ३१ ॥ ऐसा कहकर वेदवेत्ता और तपस्या करनेसे जिनका अन्तःकरण शुद्ध था ऐसे उन महात्मा

ज्ञानचक्षुषा । ब्राह्मणा वेदविद्वांसस्तपोभिर्विमलीकृताः ॥ ३२ ॥ ब्राह्मणा ऊचुः । एष दुर्योधनसखा चार्वाको नाम राक्षसः । परिव्राजकरूपेण हितं तस्य चिकीर्षति ॥ ३३ ॥ न वयं ब्रूप धर्मात्मन् व्येतु ते भयमीदृशम् । उपतिष्ठतु कल्याणं भवन्तं भ्रातृभिः सह ॥३४॥ वैशम्पायन उवाच । ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे हुङ्कारैः क्रोधमूर्च्छिताः । निर्भर्त्सयन्तः शुचयो निजघ्नुः पापराक्षसम् ३५ स पपात विनिर्दग्धस्तेजसा ब्रह्मवादिनाम् । महेन्द्राशनिनिर्दग्धः पादपोऽङ्कुरवानिव ॥ ३६ ॥ पूजितांश्च ययुर्विप्रा राजानमभिनन्द्य तम् । राजा च हर्षमापेदे पाण्डवः ससुहृज्जनः ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि चार्वाकवधे अष्टत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणोंने ज्ञानदृष्टिसे देखकर उस दुष्टको पहचानलिया और राजा युधिष्ठिरसे कहनेलगे ॥ ३२ ॥ ब्राह्मण बोले, कि-ओः ! ओः ! यह तो दुर्योधनका मित्र चार्वाक राक्षस है । अरे ! यह संन्यासीके रूपमें यहाँ आकर दुर्योधनका हित करना चाहता है॥३३॥हे ! धर्मात्मन ! हम आपको धिक्कार नहीं देते हैं,तुम्हारा भय दूर हो और तुम्हारा तथा तुम्हारे भाइयोंका कल्याण हो ॥ ३४ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे जनमेजय ! फिर क्रोधमें भरेहुए, पवित्र मनवाले उन सब ब्राह्मणोंने हुङ्कारसे उस पापी राक्षसको तिरस्कार करके मारडाला ॥ ३५ ॥ जैसे इन्द्रके वज्रका प्रहार होनेसे अंकुरितवृक्ष जलकर खाक होजाता है, ऐसे ही वेदवेत्ता ब्राह्मणोंके तेजसे चार्वाक राक्षस जलकर भस्म होगया ॥३६॥ फिर राजा युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंकी पूजाकी और ब्राह्मण राजाको अभिनन्दन देकर तहाँसे विदा होगए तथा राजा युधिष्ठिर और उनके संबन्धी प्रसन्न हुए ॥ ३७ ॥ अड़तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३८ ॥ ॥

वैशम्पायन उवाच । ततस्तत्र तु राजानं तिष्ठन्तं भ्रातृभिः सह । उवाच देवकीपुत्रः सर्वदर्शी जनार्दनः ॥ १ ॥ वासुदेव उवाच । ब्राह्मणास्तात लोकेऽस्मिन्नर्चनीयाः सदा मम । एते भूमिचरा देवा वाग्विषाः सुप्रसादकाः ॥ २ ॥ पुरा कृतयुगे राजंश्चार्वाको नाम राक्षसः । तपस्तेपे महाबाहो बदर्य्यां बहुवार्षिकम् ॥ ३ ॥ वरेण छन्द्यमानश्च ब्रह्मणा च पुनः पुनः । अभयं सर्वभूतेभ्यो वरयामास भारत ॥ ४ ॥ द्विजावमानादन्यत्र प्रादाद्वर-मनुत्तमम् । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददौ तस्मै जगत्पतिः ॥ ५ ॥ स तु लब्धवरः पापो देवानमितविक्रमः । राक्षसस्तापयामास

वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे जनमेजय ! (राजा युधिष्ठिर और उनके भाई, चार्वाकका नाश हुआ देखकर आश्चर्यमें होगए, उस समय) भूत भविष्यत्को जाननेवाले देवकीनन्दन श्रीकृष्ण उनके मनका सन्देह दूर करनेके लिये कहनेलगे ॥ १ ॥ वासुदेवने कहा, कि-हे तात ! इस जगत्में ब्राह्मण सदा मेरे पूजनीय हैं, वे पृथिवीके देवता हैं, परन्तु उनकी वाणीमें विष है (जिसको शाप देते हैं उसको जलाकर भस्म करडालते हैं,) तथा सहजमें प्रसन्न होजाते हैं ॥ २ ॥ हे महाबाहु राजन् ! पहले सत्ययुगमें चार्वाक नामका एक राक्षस था, उसने बदरिकाश्रममें बहुत वर्षों तक तप किया ॥ ३ ॥ उसकी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर ब्रह्माने उससे वर माँगनेके लिये वार २ कहा, तब हे भरतवंशी राजन् ! उसने सब प्राणियोंकी ओरसे अभय माँगा, ब्रह्माने उसको उत्तम वर दिया, कि-तुझे सकल प्राणियोंसे भय नहीं होगा, परन्तु तू ब्राह्मणोंका अपमान न करना ॥ ४ ॥ अपारपराक्रमी महाबल-वान् और भयानक पराक्रम करनेवाला वह पापी राक्षस ब्रह्मासे वर पाकर देवताओंको भी कष्ट देनेलगा ॥ ५ ॥ उसके बलसे देवता हारगए, तब वे इकट्ठे होकर ब्रह्माके पास गए और उस

तीव्रकर्मा महाबलः ॥ ६ ॥ ततो देवाः समेताश्च ब्रह्माणमिदमब्रुवन् । वधाय रक्षसस्तस्य बलविप्रकृतास्तदा ॥ ७ ॥ तानुवाच ततो देवो विहितस्तत्र वै मया । यथास्य भविता मृत्युरचिरेणेति भारत ॥ ८ ॥ राजा दुर्योधनो नाम सखास्य भविता नृषु । तस्य स्नेहावबद्धोऽसौ ब्राह्मणानवमंस्यते ॥ ९ ॥ तत्रैनं रुषिता विप्रा विप्रकारप्रधर्षिताः । धक्ष्यन्ति वाग्बलाः पापं ततो नाशं गमिष्यति ॥ १० ॥ स एष निहतः शेते ब्रह्मदण्डेन राक्षसः । चार्वाको नृपतिश्रेष्ठ मा शुचो भरतर्षभ ॥ ११ ॥ हतास्ते क्षत्रधर्मेण ज्ञातयस्तव पार्थिव । स्वर्गताश्च महात्मानो वीराः क्षत्रियपुङ्गवाः॥१२॥ स त्वमातिष्ठ कार्याणि मा तेऽभूद्ग्लानिरच्युत । शत्रून् जहि प्रजा रक्ष द्विजांश्च परिपूजय ॥ १३ ॥

चार्वाकवरदानादिकथने एकोनचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ३९

राक्षसका नाश करनेके लिये ब्रह्माजीसे कहनेलगे६हे भारत ! यह सुनकर ब्रह्माने देवताओंसे कहा, कि–इसके लिये मैंने उपाय रच रक्खा है, उससे इस राक्षसकी थोड़े ही दिनोंमें मृत्यु होजायगी॥७॥ मनुष्योंमें एक दुर्योधन नामका राजा है वह इस राक्षसका मित्र होगा और उसके साथ स्नेहके कारण यह ब्राह्मणोंका अपमान करेगा ८ तब वाणीरूप बलवाले ब्राह्मण, इसके तिरस्कारसे अपमानित होकर क्रोध मेंभरे हुए इस पापीको भस्म करडालेंगे और यह पापी नष्ट होजायगा ९ श्रीकृष्णने कहा, कि–हे राजेन्द्र ! जो ब्राह्मणोंके शापसे मरकर सोरहा है,यह वही राक्षस चार्वाक है, हे भरतसत्तम राजन् ! ब्रह्महत्या होगई,यह समझकर) तुम शोक न करो॥१०॥हे राजन् ! तुम्हारे संबन्धी रणमें क्षत्रियधर्मसे मारे गए हैं और वे महात्मा वीर क्षत्रियश्रेष्ठ स्वर्गमें गए हैं ॥११॥ हे दृढमनवाले राजन् ! अब तुम शोकको त्यागकर राजके काम करो, वैरियोंको मारो, प्रजाका पालन करो और ब्राह्मणोंकी पूजा करो ॥ १२ ॥ उनतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३९ ॥

वैशम्पायन उवाच । ततः कुन्तीसुतो राजा गतमन्युर्गतज्वरः । काञ्चने प्राङ्मुखो हृष्टो न्यषीदत् परमासने ॥१॥ तमेवाभिमुखौ पीठे प्रदीप्ते काञ्चने शुभे । सात्यकिर्वासुदेवश्च निषीदतुररिन्दमौ॥२ मध्ये कृत्वा तु राजानं भीमसेनार्जुनावुभौ । निषीदतुर्महात्मानौ श्लक्ष्णयोर्मणिपीठयोः ॥ ३ ॥ दान्ते सिंहासने शुभ्रे जाम्बूनदविभूषिते । पृथापि सहदेवेन सहास्ते नकुलेन च ॥ ४ ॥ सुधर्मा विदुरो धौम्यो धृतराष्ट्रश्च कौरवः । निषेदुर्ज्वलनाकारेष्वासनेषु पृथक् पृथक् ॥५॥ युयुत्सुः सञ्जयश्चैव गान्धारी च यशस्विनी । धृतराष्ट्रो यतो राजा ततः सर्वे समाविशन् ॥ ६ ॥ तत्रोपविष्टो धर्मात्मा श्वेताः सुमनसोऽस्पृशत् । स्वस्तिकानक्षतान् भूमिं सुवर्णं

वैशम्पायन कहते हैं, कि–हे राजन् ! (राज्याभिषेकके लिए) द्रोह तथा सन्तापसे रहित हुए कुन्तीके पुत्र राजा युधिष्ठिर मनमें प्रसन्न हो पूर्व दिशाकी ओरको मुख करके सोनेके एक बड़े सुंदर सिंहासन पर बैठे॥१॥उनके सामने ही सोनेके बहुत ही चमकते हुए दो सुन्दर सिंहासन बिछाएगए,उनके ऊपर वैरियोंको दबाने वाले सात्यकी और श्रीकृष्ण बैठे ॥ २ ॥ राजाके दोनों ओर मणियोंसे जड़ेहुए दो सुन्दर चिकने आसन बिछाये गये, उनके ऊपर महात्मा भीमसेन और अर्जुन बैठे, दूसरी ओर हाथीदाँतके और सोनेके मढेहुये सफेद रङ्गके दो सिंहासनोंके ऊपर नकुल और सहदेवके साथ कुन्ती बैठी ॥ ३–४ ॥ कौरवोंके पुरोहित सुधर्मा, विदुर, पाण्डवोंके पुरोहित धौम्य, कुरुवंशके राजा धृतराष्ट्र अग्निकी समान कान्तिमान् सोनेके अलग २ सिंहासनों पर बैठे ॥५॥ युयुत्सु, सञ्जय और यश पानेवाली गान्धारी, जहाँ राजा धृतराष्ट्र बैठे थे तहाँ आकर बैठ गए ॥६॥ (राज्याभिषेकके कामका आरम्भ होने पर) सिंहासन पर बैठेहुये महात्मा राजा युधिष्ठिरने श्वेत वर्णके फूल, स्वस्तिक, अक्षत, पृथ्वी, सुवर्ण

रजतं मणिम् ॥ ७ ॥ ततः प्रकृतयः सर्वाः पुरस्कृत्य पुरोहितम् । ददृशुर्धर्मराजानमादाय बहु मङ्गलम् ॥ ८ ॥ पृथिवीं च सुवर्णञ्च रत्नानि विविधानि च । आभिषेचनिकं भाण्डं सर्वसंभारसंभृतम् ॥ ९ ॥ कांचनोदुम्बरास्तत्र राजताः पृथिवीमयाः । पूर्णकुम्भाः सुमनसो लाजा बर्हींषि गोरसम् ॥ १० ॥ शमी पिप्पलपालाशसमिधो मधुसर्पिषी । स्रुव औदुम्बरः शंखस्तथा हेमविभूषितः ॥ ११ ॥ दाशार्हेणाभ्यनुज्ञातस्तत्र धौम्यः पुरोहितः । प्रागुदक्प्लवणे वेदीं लक्षणेनोपलिख्य च ॥१२॥ व्याघ्रचर्मोत्तरे शुक्ले सर्वतोभद्र आसने । दृढपादप्रतिष्ठाने हुताशनसमत्विषि १३ उपवेश्य महात्मानं कृष्णाञ्च द्रुपदात्मजाम् । जुहाव पावकं धीमान्

चाँदी और मणियोंका हाथसे स्पर्श किया ॥ ७ ॥ फिर सब प्रजा पुरोहित धौम्यको आगे करके हाथोंमें बहुतसे माङ्गलिक पदार्थ लियेहुये राजा युधिष्ठिरका दर्शन करनेको (आगे) आई ॥८॥ मृत्तिका, सोना, अनेकों प्रकारके रत्न, जिसमें सर्वोषधि पड़ी थीं ऐसा अभिषेक करनेका जलपात्र, चाँदी, ताँबे और मट्टीके जलसे भरे कलश, पुष्पोंकी मालायें, धानोंकी खीलें, मोर के पर, गोरस, शमी, पीपल, ढाक, समिधा, शहद, घी, गूलड़का स्रुवा और सोनेसे मँढा हुआ शङ्ख आदि अभिषेकके समय काममें आनेवाले सब पदार्थ इकट्ठे कियेगए थे (और राजाके सिंहासन के पास रक्खे गए थे) ॥ ९-११ ॥ तदनन्तर पुरोहित धौम्यने श्रीकृष्णकी आज्ञासे शास्त्रकी विधिके अनुसार पूर्व और उत्तरकी ओरको नीची यज्ञकी वेदी बनाई १२ और महात्मा राजा युधिष्ठिर तथा द्रुपदकी पुत्री कृष्णाको सर्वतोभद्र नामक आसन पर बैठाला, यह आसन अग्निकी समान कान्तिवाला, खब मजबूत और सफेद रङ्गका था तथा उसके ऊपर व्याघ्राम्बर बिछाहुआ था, राजा युधिष्ठिर और द्रौपदीको सर्वतोभद्र आसन पर बैठालनेके बाद

विधिमन्त्रपुरस्कृतम् ॥ १४ ॥ तत उत्थाय दाशार्हः शंखमादाय पूजितम् । अभ्यषिञ्चत् पतिं पृथ्व्याः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् १५ धृतराष्ट्रश्च राजर्षिः सर्वाः प्रकृतयस्तथा । अनुज्ञातोथ कृष्णेन भ्रातृभिः सह पाण्डवः ॥१६॥ पांचजन्याभिषिक्तश्च राजाऽमृतमुखोऽभवत् । ततोनुवादयामासुः पणवानकदुन्दुभीन् ॥ १७ ॥ धर्मराजोपि तत्सर्वं प्रतिजग्राह धर्म्मतः । पूजयामास तांश्चापि विधिवद्भूरिदक्षिणः ॥ १८ ॥ ततो निष्कसहस्रेण ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयन् । वेदाध्ययनसम्पन्नान् धृतिशीलसमन्वितान् १९ ते प्रीता ब्राह्मणा राजन् स्वस्त्यूचुर्जयमेव च । हंसा इव च नर्दन्तः

बुद्धिमान् धौम्य ऋषिने वेदके मंत्र पढ़कर विधिके अनुसार अग्निमें घीका होम करवाया ॥ १३-१४ ॥ होमका काम पूरा होजाने पर दाशार्हवंशी श्रीकृष्णने खड़े होकर लोकोंमें पूजा पाया हुआ पाञ्चजन्य शङ्ख ले उसमें जल भरकर पृथिवीपति कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिरका अभिषेक किया, फिर श्रीकृष्णके कहनेसे राजर्षि धृतराष्ट्रने तथा सब मंत्रियोंने पाञ्चजन्यमें जल भरकर राजा युधिष्ठिरके ऊपर अभिषेक किया, पाञ्चजन्य शङ्खके अभिषेकसे अभिषिक्त हुए पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर और उनके भाई बहुत ही सुन्दर दीख रहे थे; तुरन्त ही नगाड़े नफीरी और झाँझ बजने लगे ॥१५-१७॥ फिर धर्मराजने धर्मके अनुसार प्रजाकी दी हुयीं भेंटें (नजरें) स्वीकार कीं, यज्ञमें बहुतसी दक्षिणा देनेवाले राजा युधिष्ठिरने नजरें देनेवालोंका उचित सत्कार करके वेदाध्ययन करनेवाले, धृति और शीलवान् ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर उनको एक२ हजार मुहरें दक्षिणामें दीं १८-१९। और हे राजन् ! वे ब्राह्मण भी प्रसन्न होकर हंसकी समान ऊंचे स्वरसे 'आपका कल्याण हो, जय हो' इस प्रकार आशीर्वाद देने लगे और राजा युधिष्ठिरकी प्रशंसा करते हुए कहनेलगे,

प्रशशंसुर्युधिष्ठिरम् ॥ २० ॥ युधिष्ठिर महाबाहो दिष्ट्या जयसि पाण्डव । दिष्ट्या स्वधर्मं प्राप्नोसि विक्रमेण महाद्युते ॥ २१ ॥ दिष्ट्या गांडीवधन्वा च भीमसेनश्च पाण्डवः । त्वञ्चापि कुशली राजन् माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ २२ ॥ मुक्ता वीरक्षयात्तस्मात् संग्रामाद्विजितद्विपः । क्षिप्रमुत्तरकार्याणि कुरु सर्वाणि भारत२३ ततः प्रत्यर्च्चितः सद्भिर्धर्मराजो युधिष्ठिरः । प्रतिपेदे महद्राज्यं सुहृद्भिः सह भारत ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरराज्याभिषेके चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४० ॥

वैशम्पायन उवाच । प्रकृतीनाञ्च तद्वाक्यं देशकालोपपन्नं हितम् । श्रुत्वा युधिष्ठिरो राजा सोऽन्तरं प्रत्यभाषत ॥१॥ धन्याः पाण्डु-

कि-॥२०॥ हे महाबाहु राजा युधिष्ठिर ! हे पाण्डुपुत्र ! भाग्यदेवीकी कृपासे आपका विजय हुआ है और हे महाकान्तिमान राजन् ! भाग्यदेवीकी कृपासे ही तुमने पराक्रम करके अपने धर्मकी रक्षा की है ॥ २१ ॥ और हे राजन् ! भाग्यदेवीकी कृपासे ही तुम भीमसेन गाण्डीवधारी अर्जुन, नकुल और सहदेव रणमें कुशलसे रहे हो ॥ २२ ॥ जिसमें वीरोंका संहार होगया ऐसे संग्राममें तुम वैरियोंको जीतकर अक्षत रहे हो, हे भरतवंशी राजन् ! अब तुम आगेके सब कामोंका शीघ्र ही आरम्भ करो ॥ २३ ॥ इसप्रकार शिष्टाचार होजाने पर सत्पुरुषोंने धर्मराज युधिष्ठिरका पूजन किया, इस प्रकार संबन्धियोंकी सहायतासे राजा युधिष्ठिर का बड़ेभारी राज्य पर अभिषेक हुआ था ॥ २४ ॥ चालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ४० ॥ * * *

वैशम्पायन कहते हैं, कि राज्याभिषेककी क्रियाकी पूर्णाहुति होजाने पर हे राजा जनमेजय ! युधिष्ठिर ब्राह्मण आदि सब वर्णोंकी प्रजाकी देश और कालके योग्य बात सुनकर कहनेलगे,

स्तुता नूनं येषां ब्राह्मणपुङ्गवाः । तथ्यान् वाप्यथ वाऽतथ्यान् गुणानाहुः समागताः ॥ २ ॥ अनुग्राह्या वयं नूनं भवतामिति मे मतिः । यदेवं गुणसम्पन्नानस्मान् ब्रूथ विमत्सराः॥३॥ धृतराष्ट्रो महाराज पिता मे दैवतं परम् । शासनेस्य प्रिये चैव स्थेयं मत्प्रियकांक्षिभिः ॥४॥ एतदर्थं हि जीवामि कृत्वा ज्ञातिवधं महत् । अस्य शुश्रूषणं कार्य्यं मया नित्यमतन्द्रिणा ॥५॥ यदि चाहमनुग्राह्यो भवतां सुहृदान्तथा । धृतराष्ट्रे यथापूर्वं वृत्तिं वर्त्तितुमर्हथ॥६ एष नाथो हि जगतो भवतां च मया सह । अस्यैव पृथिवी कृत्स्ना पाण्डवाः सर्व एव च ॥ ७ ॥ एतन्मनसि कर्त्तव्यं भवद्भिर्वचनं

कि-॥ १ ॥ हे उत्तम ब्राह्मणो ! पाण्डव वास्तवमें भाग्यशाली हैं,क्योंकि-तुम सत्पुरुष इकट्ठे होकर उनके भले या बुरे गुणोंका गान कररहे हो ॥ २ ॥ मैं समझता हूँ, कि-हम वास्तवमें तुम्हारे अनुग्रहके पात्र हैं,क्योंकि-तुम निष्कपट होकर हमे गुणवान् कह रहे हो ॥ ३ ॥ यह महाराज धृतराष्ट्र हमारे पिता हैं, यह हमारे सर्वोपरि देवता हैं, जो हमारे मनको अच्छा लगनेवाला काम करना चाहते हों, उनको इनकी आज्ञामें तथा इनका प्रिय काम करनेमें लगे रहना चाहिये ॥ ४ ॥ मैं संबन्धियोंके बड़ेभारी समूहका नाश करनेके बाद भी जो जीवित रहगया हूँ,यह इनके ही लिये,अब मेरा परम कर्त्तव्य यही है,कि-नित्य सावधान रह कर इनकी सेवा करूँ ॥ ५ ॥ तुम (तथा दूसरे मेरे सगे संबन्धी) जो मेरे ऊपर अनुग्रह करना चाहते हो तो मेरी यह विनय है, कि-राजा धृतराष्ट्रके साथ पहलेकी समान ही भक्तिभावसे वर्त्ताव करो ॥६॥ यह जगत्के तथा तुम्हारे और मेरे राजा हैं, यह सब पृथिवी और सब पाण्डव भी इनके ही हैं ॥ ७ ॥ इस मेरी बातको तुम अपने मनमें लिखरक्खो, ऐसी आज्ञा देकर राजा युधिष्ठिरने उनसे कहा, कि-अब आप लोग इच्छानुसार जहाँ

मम । अनुज्ञाप्याथ तान् राजा यथेष्टं गम्यतामिति ॥ ८ ॥ पौर-
जानपदान् सर्वान् विसृज्य कुरुनन्दनः। यौवराज्येन कौन्तेयं भीम-
सेनमयोजयत् ॥ ९ ॥ मन्त्रे च निश्चये चैव षाड्गुण्यस्य च
चिन्तने । विदुरं बुद्धिसम्पन्नं प्रीतिमान् स समादिशत् ॥ १० ॥
कृताकृतपरिज्ञाने तथाऽऽयव्ययचिन्तने । सञ्जयं योजयामास वृद्धं
सर्वगुणैर्युतम् ॥ ११ ॥ बलस्य परिमाणे च भक्तवेतनयोस्तथा ।
नकुलं व्यादिशद्राजा कर्मणाश्चान्ववेक्षणे ॥ १२ ॥ परचक्रोप-
रोधे च दुष्टानाञ्चावमर्दने । युधिष्ठिरो महाराज फाल्गुनं व्यादि-
देश ह ॥१३॥ द्विजानां देवकार्येषु कार्य्येष्वन्येषु चैव ह । धौम्यं
पुरोधसां श्रेष्ठं नित्यमेव समादिशत् ॥ १४ ॥ सहदेवं समीपस्थं
नित्यमेव समादिशत् । तेन गोप्यो हि नृपतिः सर्वावस्थो विशा-

जाना चाहो, जाओ ॥ ८ ॥ ऐसा कहकर नगरकी और देशकी
सब प्रजाको जानेकी आज्ञा दी, फिर कुरुनन्दन कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर
ने भीमसेनका युवराजके पदपर अभिषेक किया ।९॥ राजकीय
विचार करनेके ऊपर, उसका निर्णय करनेके काम पर और (सन्धि,
विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव इन) छः गुणोंका
विचार करने पर बुद्धिमान् विदुरजीको प्रसन्नतासे नियत
किया ॥ १० ॥ निर्णय कियेहुए तथा निर्णय न कियेहुए
आय व्ययके कामपर सर्वगुणसम्पन्न वृद्ध अवस्थावाले सञ्जयको
नियत किया ॥११॥ सेनाकी गिनती करना, उसको खूराक और
नौकरी देना तथा उसके कामकाजकी देखभाल रखना यह काम
नकुलको सौंपदिया ॥ १२ ॥ राजा युधिष्ठिरने वैरियोंके देश पर
चढाई करनेके कामपर तथा दुष्टोंको दण्ड देनेके कामपर अर्जुन
को नियत किया॥१३॥ब्राह्मणोंके, और देवताओंके कामपर तथा
दूसरे शान्ति पौष्टिक कामों पर सदा देखभाल रखनेके लिये
अपने बड़े पुरोहित धौम्यको नियत किया ॥ १४ ॥ सहदेवको

स्पते॥ १५॥ यान् यानमन्यद्योग्यांश्च येषु येष्वपि कर्मसु। तांस्तां-
स्तेष्वेव युयुजे प्रीयमाणो महीपतिः॥ १६॥ विदुरं सञ्जयञ्चैव
युयुत्सुञ्च महामतिम्। अब्रवीत् परवीरघ्नो धर्मात्मा धर्मवत्सलः॥१७
उत्थायोत्थाय तत् कार्य्यमस्य राज्ञः पितुर्मम। सर्वं भवद्भिः कर्त्तव्यम-
प्रमत्तैर्यथायथम्॥१८॥ पौरजानपदानाञ्च यानि कार्याणि सर्वशः
राजानं समनुज्ञाप्य तानि कर्माणि भागशः॥ १९॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुसाशनपर्वणि
भीमादिकार्य्यनियोगे एकचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः॥४१॥

वैशम्पायन उवाच। ततो युधिष्ठिरो राजा ज्ञातीनां ये हता
युधि। श्राद्धानि कारयामास तेषां पृथगुदारधीः॥ १॥ धृत-
राष्ट्रो ददौ राजा पुत्राणामौर्ध्वदैहिकम्। सर्वकामगुणोपेतमन्नं

नित्य अपने पास रहनेकी आज्ञा दी तथा उसको राजाकी हर
समय रक्षा करनेका काम सौंपा॥१५॥ जिन २ पुरुषोंको जिस २
कामको करनेके योग्य जाना उन२को राजा युधिष्ठिरने प्रसन्नताके
साथ उन कामों पर नियत करदिया॥ १६॥ विदुर, सञ्जय
और महाबुद्धिमान् युयुत्सुसे धर्मात्मा धर्मवत्सल और वीर वैरियों
का संहार करनेवाले राजा युधिष्ठिरने कहा, कि—॥ १७॥ आप
सब नित्य इन मेरे पिता धृतराष्ट्रका जो भी काम हो उसको साव-
धानीमे ठीक२ करिये॥१८॥ तथा नगरवासी और देशवासियों
के जोकुछ भी काम हों उनको भी आप सब बाँटकर मेरे बड़े
राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे करें॥ १९॥ इकतालीसवाँ अध्याय
समाप्त॥ ४१॥ छ ॥ छ ॥ छ

वैशम्पायन कहते हैं, कि—हे राजा जनमेजय! तदनन्तर उदार
मनवाले राजा युधिष्ठिरने युद्धमें मरेहुए संबन्धियोंके अलग२
श्राद्ध करवानेका प्रबन्ध किया॥ १॥ बड़े यशवाले राजा धृत-
राष्ट्रने अपने पुत्रोंकी उत्तरक्रिया (श्राद्ध आदि) करके ब्राह्मणों

गाश्च धनानि च ॥ २ ॥ रत्नानि च विचित्राणि महार्हाणि महायशाः । युधिष्ठिरस्तु द्रोणस्य कर्णस्य च महात्मनः ॥ ३ ॥ धृष्टद्युम्नाभिमन्युभ्यां हैडिम्बस्य च रक्षसः । विराटप्रभृतीनां च सुहृदामुपकारिणाम् ॥ ४ ॥ द्रुपदद्रौपदेयानां द्रौपद्या सहितो ददौ । ब्राह्मणानां सहस्राणि पृथगेकैकमुद्दिशन् ॥ ५ ॥ धनैं रत्नैश्च गोभिश्च वस्त्रैश्च समतर्पयत् । ये चान्ये पृथिवीपाला येषां नास्ति सुहृज्जनः ॥ ६ ॥ उद्दिश्योद्दिश्य तेषाञ्च चक्रे राजौर्ध्वदैहिकम् । सभाः प्रपाश्च विविधास्तडागानि च पाण्डवः ॥७॥ सुहृदां कारयामास सर्वेषामौर्ध्वदैहिकम् । स तेषामनृणो भूत्वा गत्वा लोकेष्ववाच्यताम् ॥ ८ ॥ कृतकृत्योऽभवद्राजा प्रजा धर्मेण

की सब इच्छायें पूरी करनेवाला बडा स्वादिष्ट अन्न जिमाया और गौ,धन तथा भाँति२के बहुमूल्य रत्न दानमें दिये,युधिष्ठिरने द्रौपदीके साथ बैठकर महात्मा द्रोण, कर्ण, धृष्टद्युम्न,अभिमन्यु, हिडिम्बाके पुत्र राक्षस घटोत्कच और विराट आदि उपकार करनेवाले संबन्धियोंका तथा राजा द्रुपद और द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंका श्राद्ध किया, उनको पिण्डदान दिये ॥ ३।४ ॥ उनमेंसे हरएकके आत्माके कल्याणके लिये हजारों ब्राह्मणोंको धन, रत्न और गौएँ देकर तृप्त किया ॥ ५ ॥ इनके सिवाय जिन राजाओंके श्राद्ध करनेवाले पुत्र आदि नहीं थे उन राजाओंका श्राद्ध भी राजा युधिष्ठिरने ही किया॥६॥तदनन्तर मरणको प्राप्त हुए अनेकों संबन्धियोंके कल्याणके लिये बहुतसी सदाव्रत देनेकी धर्मशालायें बनवाई पाशाला बनवाई,और उनके नामके भाँति२के अनेकों तालाब बनवाए, इसप्रकार उन सबोंकी उत्तर-क्रिया करवाकर उनके ऋणसे मुक्त हुए और लोकोंमें निर्दोष बन गए॥७ ८॥फिर धर्मानुसार प्रजाका पालन करके कृतार्थ हुए थे, उन्होंने पहलेकी समान ही धृतराष्ट्र गान्धारी और विदुरका

पालयन् । धृतराष्ट्रं यथापूर्वं गान्धारीं विदुरन्तथा ॥ ९ ॥ सर्वांश्च कौरवान्मान्यान् भृत्यांश्च समपूजयत् । याश्च तत्र स्त्रियः काश्चिद्धतवीरा हतात्मजाः ॥ १० ॥ सर्वास्ताः कौरवो राजा सम्पूज्यापालयद् घृणी । दीनान्धकृपणानाञ्च गृहाच्छादनभोजनैः॥११॥ आनृशंस्यपरो राजा चकारानुग्रहं प्रभुः । स विजित्य महीं कृत्स्नामानृण्यं प्राप्य वैरिषु । निःसपत्नः सुखी राजा विजहार युधिष्ठिरः ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राज० युद्धमृतानां श्राद्धक्रियोपाख्याने द्विचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

वैशम्पायन उवाच । अभिषिक्तो महाप्राज्ञो राज्यं प्राप्य युधिष्ठिरः । दाशार्हं पुण्डरीकाक्षमुवाच प्राञ्जलिः शुचिः१ तव कृष्ण प्रसादेन नयेन च बलेन च । बुद्ध्या च यदुशार्दूल तथा विक्रम-

सन्मान किया तथा सकल मान्य कौरव और अधिकारियोंका सत्कार किया, जिन कुरुवंशी राजाओंकी सुन्दरियोंके पति और पुत्र मारेगए थे,उनके भरण, पोषण और रक्षाका बड़े प्रेमभावसे प्रबन्ध करदिया ॥ ९ ॥ १० ॥ दयावश गरीब, अन्धे और कृपणोंको रहनेके लिये स्थान, पहरनेको वस्त्र तथा भोजनके लिये अन्न देकर राजाने सत्कारके साथ उनका पालन किया था, इसप्रकार समर्थ और दयालु राजा युधिष्ठिरने सबके ऊपर अनुग्रह किया था,राजा युधिष्ठिर सब पृथिवीको जीतकर वैरीके ऋणसे मुक्त हुए और शत्रुरहित होकर सुखसे जीवन बिताने लगे ॥ ११ ॥ १२ ॥ बयालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ४२ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे जनमेजय ! राज्यारोहणके अभिषेकका काम समाप्त होजाने पर शुद्ध मनवाले महाबुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरने दोनों हाथ जोड़कर कमलनयन श्रीकृष्णसे कहा, कि-॥१॥ हे यदुवंशमें सिंहसमान कृष्ण ! आपकी कृपा, नीति,

क्षेन चरपुनः प्राप्तमिदं राज्यं पितृपैतामहं मया । नमस्ते पुण्डरीकाक्ष पुनः पुनररिन्दम ॥३॥ त्वामेकमाहुः पुरुषं त्वामाहुः सात्त्वतां पतिम् । नामभिस्त्वां बहुविधैः स्तुवन्ति प्रयता द्विजाः ॥४॥ विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन् विश्वसम्भव । विष्णो जिष्णो हरे कृष्ण वैकुण्ठ पुरुषोत्तम ॥५॥ अदित्याः सप्तधा त्वन्तु पुराणो गर्भतां गतः । पृश्निगर्भस्त्वमेवैकस्त्रियुगं त्वां वदंत्यपि ॥६ शुचिश्रवा हृषीकेशो घृतार्चिर्हंस उच्यते । त्रिचक्षुः शम्भुरेकस्त्वं विभुर्दामोदरोऽपि च ७ वराहोऽग्निर्बृहद्भानुर्वृषभस्तार्क्ष्यलक्षणः । अनीकसाहः पुरुषः

बल, बुद्धि और पराक्रमसे मैंने अपने पिता पितामह आदिके इस राज्यको फिर पाया है, हे पुण्डरीकाक्ष ! हे शत्रुदमन ! आपको बार २ प्रणाम है ॥ २ ॥ ३ ॥ नियमोंका पालन करनेवाले ब्राह्मण आपको एक तथा (सकल शरीरोंमें रहनेवाले) पुरुषरूप कहते हैं, सात्वतोंके पति कहते हैं और अनेकों नामोंसे आपकी स्तुति करते हैं ॥ ४ ॥ तुम ही विश्वकर्मा, विश्वात्मा और विश्वको उत्पन्न करनेवाले हो, तुम ही विष्णु, जिष्णु, और हरि हो, तुम ही कृष्ण, वैकुण्ठ और पुरुषोत्तम हो, आपको नमस्कार हो ॥ ५ ॥ तुम पुराणपुरुष हो तो भी तुमने अदितिके गर्भमेंसे सात बार जन्म लिया है (अर्थात् अदितिके बराबर होनेवाले जन्मोंमें आदित्य, वामन, पृश्निगर्भ, पराशुराम, दाशरथि राम, बलराम और कृष्णरूपसे अवतरे हो) विद्वान् आपको धर्म और ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य, श्री और यश इन तीन युगल रूपोंमें वर्णन करते हैं ॥ ६ ॥ तुम शुचिश्रवा (पवित्र कीर्तिवाले) हृषीकेश (इन्द्रियोंके प्रेरक), घृतार्चि (यज्ञके ईश्वर) हंस हो, तुम तीन नेत्र वाले शम्भु और एकमूर्ति रूप हो, विभु (व्यापक) और दामोदर भी तुम ही हो ॥७॥ तुम वराह, अग्नि, सूर्य, धर्म, गरुड़ध्वज, शत्रुओंकी सेनाका संहार करनेवाले शिपिविष्ट (पुरुष),

शिपिविष्ट उरुक्रमः॥८॥वरिष्ठ उग्रसेनानीः सत्यो वाजसनिर्गुहः। अच्युतश्च्यावनो गीर्णां संस्कृता विकृतिर्वृषः ॥ ९ ॥ कृष्णधर्मस्त्वमेवादिर्वृषदर्भो वृषाकपिः। सिन्धुर्विधर्मस्त्रिककुत् त्रिधामा त्रिदिवाच्च्युतः ॥ १० ॥ सम्राट् विराट् स्वराट् चैव सुरराजो भवोद्भवः। विभुर्भूरभिभूः कृष्णः कृष्णवर्त्मा त्वमेव च ॥११॥ स्विष्टकृद्भिषजावर्त्तःकपिलस्त्वञ्च वामनः। यज्ञो ध्रुवः पतंगश्च यज्ञसेनस्त्वमुच्यसे ॥ १२ ॥ शिखण्डी नहुषा बभ्रुर्दिवस्पृक् त्वं पुनर्वसुः। सुबभ्रू रुक्मयज्ञश्च सुषेणो दुन्दुभिस्तथा ॥ १३ ॥ गभस्तिनेमि श्रीपद्मः पुष्करः पुष्पधारणः। ऋभुर्विभुः सर्वसूक्ष्म-

---

सबके शरीरोंमें प्रवेश करने वाले, महापराक्रमी, उत्तम मूर्त्तिधारी सेनाके आगे उग्र सेनापति रूपसे रहनेवाले, सत्यस्वरूप, वाजसनि (अन्न देने वाले), गुह(देवताओंके सेनापति), अच्युत, शत्रुओंका संहार करनेवाले, विप्ररूप, अनुलोम प्रतिलोम जातिरूप, संन्यासिरूप, यज्ञादिरूप, इन्द्रका अहङ्कार तोड़नेवाले, हरिहरमूर्त्ति, सिन्धुरूप, निर्गुण, पूर्व उत्तर-ईशान इन तीन दिशारूप, सूर्य-चन्द्र और अग्निस्वरूप तथा स्वर्गमेंसे अवतार धारण करनेवाले हो ८-१० तुम सम्राट, विराट, और तुम ही स्वराट हो, तुम देवताओंके राजा और संसारको उत्पन्न करनेवाले हो, व्यापक, सत्तारूप, शरीररहित, कृष्ण और यज्ञके प्रवर्त्तक हो ॥ ११ ॥ तुम अपने आपको रचनेवाले, देववैद्य अश्विनी-कुमारोंके पिता हो, तुम कपिल मुनि, वामन, यज्ञ, ध्रुव, सूर्य और यज्ञसेन हो ॥ १२ ॥ तुम शिखण्डी, नहुष, बभ्रु (महेश्वररूप) हो, तुम आकाशका स्पर्श करनेवाले पुनर्वसु हो, तुम सुबभ्रु (अत्यन्त पिङ्गलवर्ण) रुक्मयज्ञ, सुषेण, दुन्दुभि, कालचक्र और श्रीपद्म हो, तुम पुष्कर मेघरूप हो, पुष्पोंको धारण करनेवाले हो, तुम ऋभु (सम्पत्तिमान्) विभु (व्यापक) और सूक्ष्म पदार्थोंको देखनेवाले हो, तुम सुन्दर

श्चारित्रञ्चैव पठ्यसे ॥ १४ ॥ अम्भोनिधिस्त्वं ब्रह्मा त्वं पवित्रं धाम धामवित् । हिरण्यगर्भं त्वामाहुः स्वधा स्वाहा च केशव १५ योनिस्त्वमस्य प्रलयश्च कृष्ण त्वमेवेदं सृजसि विश्वमग्रे । विश्वञ्चेदं त्वद्वशे विश्वयोने नमोऽस्तु ते शार्ङ्गचक्रासिपाणे॥ १६ ॥ एवं स्तुतो धर्मराजेन कृष्णः सभामध्ये प्रीतिमान् पुष्कराक्षः । तमभ्यनन्दद्भारतं पुष्कलाभिर्वाग्भिर्ज्येष्ठं पाण्डवं यादवाग्र्यः १७

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वासुदेवस्तुतौ त्रिचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

वैशम्पायन उवाच । ततो विसर्जयामास सर्वाः प्रकृतयो नृपः । विविशुश्चाभ्यनुज्ञाता यथा स्वानि गृहाणि ते ॥ १ ॥ ततो युधिष्ठिरो राजा भीमं भीमपराक्रमम् । सान्त्वयन्नब्रवीत् श्रीमानर्जुनं

चरित्रवाले हो और वेदमें तुम्हारा ही वर्णन है ॥ १३ ॥ १४ ॥ तुम जलनिधिरूप हो, ब्रह्मा हो, पवित्र धामको जाननेवाले और हिरण्यगर्भ हो, स्वधा, स्वाहा, केशव आदि नामोंसे लोग जिनकी स्तुति करते हैं वह तुम ही हो॥१५॥ हे कृष्ण ! तुम इस जगत्‌की उत्पत्ति और प्रलयका कारण हो और तुम ही आरम्भमें इस विश्वको रचते हो; हे विश्वयोनि ! हे शार्ङ्गधर ! हे सुदर्शनधर! हे खड्गधर ! यह विश्व तुम्हारे वशमें है, हे कृष्ण ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ,इसप्रकार धर्मराजने सभामें श्रीकृष्णकी स्तुतिकी उसको सुनकर यादवोंमें श्रेष्ठ कमलनयन कृष्णने प्रसन्न होकर अनेकों वचनोंसे भरतवंशी पाण्डवश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरकी सराहना की ॥ १६ ॥ १७ ॥ तैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥४३॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे राजा जनमेजय ! युधिष्ठिरने सब दरबारियोंको अपने २ घरको जानेकी आज्ञा दी, वे सब राजा युधिष्ठिरकी आज्ञासे अपने २ घरोंको विदा होगए ॥ १ ॥ फिर श्रीमान् राजा युधिष्ठिर, भयानकपराक्रमी भीमसेन, अर्जुन, नकुल

यमजौ तथा ॥ २ ॥ शत्रुभिर्विविधैः शस्त्रैः क्षतदेहा महारणे । श्रान्ता भवन्तः सुभृशं तापिताः शोकमन्युभिः ३ अरण्ये दुःखवसतीर्मत्कृते भरतर्षभाः । भवद्भिरनुभूता हि यथा कुपुरुषे तथा ४ यथा सुखं यथाजोषं जयोयमनुभूयताम् । विश्रान्ताँल्लब्धविज्ञानान् श्वः समेतास्मि वः पुनः ॥५॥ ततो दुर्योधनगृहं प्रासादैरुपशोभितम् । बहुरत्नसमाकीर्णं दासीदाससमाकुलम् ॥ ६ ॥ धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातं भ्रात्रा दत्तं वृकोदरः । प्रतिपेदे महाबाहुर्मन्दिरं मघवानिव ॥७॥ यथा दुर्योधनगृहं तथा दुःशासनस्य तु । प्रसादमालासंयुक्तं हेमतोरणभूषितम् ॥ ८ ॥ दासीदाससुसंपूर्णं प्रभूतधनधान्यवत् । प्रतिपेदे महाबाहुरर्जुनं राजशासनात् ॥ ९ ॥ दुर्मर्षणस्य भवनं

और सहदेवको धीरज देकर कहनेलगे, कि—॥ २ ॥ महासंग्राममें अनेकों शत्रुओंके शस्त्रोंके प्रहारोंसे तुम्हारे शरीर घायल होगए हैं, तुम परिश्रमसे थकगए हो और शोक तथा क्रोधके कारण बहुत ही सन्तप्त होगये हो, हे भरतवंशमें श्रेष्ठता रखनेवालो ! तुमने मेरी भूलके कारणसे साधारण मनुष्योंकी समान वनमें बड़े दुःख सहे हैं ॥ ३-४ ॥ परन्तु अब तुम प्रसन्न होकर आरामके साथ, मिलेहुये विजयको भोगो, विश्राम लो, अपनी ज्ञानशक्तिको फिर प्राप्त करो, अब मैं तुमसे कलको मिलूँगा ॥५॥ फिर धृतराष्ट्रकी आज्ञासे बड़ी सुन्दरताके साथ बनाया हुआ, बहुतसे कमरोंवाला और अनेकों प्रकारके रत्नोंसे सजाहुआ तथा दास और दासियोंसे भराहुआ दुर्योधनका राजमहल युधिष्ठिरने भीमसेनको देदिया, महाबाहु वृकोदरने, जैसे इन्द्र देवभवनमें प्रवेश करता है तैसे ही दुर्योधनके राजमहलमें प्रवेश किया ६॥७ दुर्योधनके राजमहलकी समान ही उसके भाई दुःशासनका भी राजमहल था, उसमें भी बहुतसे कमरे थे, उस महलके द्वारको सुवर्णकी वन्दनवारोंसे सजाया गया था, उसमें बहुतसे धन धान्य भरे हुए थे, अनेकों दास दासी सेवाके लिये हाजिर थे, वह

दुःशासनगृहाद्वरम् । कुबेरभवनप्रख्यं मणिहेमविभूषितम् ॥१०॥
नकुलाय वराहाय कर्शिताय महावने । ददौ प्रीतो महाराज धर्म-
पुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ११ ॥ दुर्मुखस्य च वेश्माग्र्यं श्रीमत् कनक-
भूषणम् । पूर्णं पद्मदलाक्षीणां स्त्रीणां शयनसंकुलम् ॥ १२ ॥
प्रददौ सहदेवाय सततं प्रियकारिणे मुमुदे तच्च लब्ध्वा स कैलासं
धनदो यथा १३ युयुत्सुर्विदुरश्चैव सञ्जयश्च विशाम्पते । सुधर्मा
चैव धौम्यश्च यथास्वान् जग्मुरालयान् १४ सह सात्यकिना शौरि-
रर्जुनस्य निवेशनम् । विवेश पुरुषव्याघ्रो व्याघ्रो गिरिगुहामिव १५
तत्र भक्ष्यान्नपानैस्ते मुदिताः सुसुखोषिताः । सुखप्रबुद्धा राजा-
नमुपतस्थुर्युधिष्ठिरम् ॥ १६ ॥ चतुश्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४४॥

महल राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे महाबाहु अर्जुनको दिया ८-६।
दुर्मर्षणका राजमहल दुःशासनसे भी अच्छा था. वह कुबेरके राज-
भवनकी समान था और मणियोंसे तथा सोनेसे सजाहुआ था,
वह राजमहल धर्मपुत्र युधिष्ठिरने घोर वनमें दुःखी हुए उत्तम
वस्तु पानेके अधिकारी नकुलको दिया ॥ १०-११ ॥ बड़ा ही
सुन्दर, सोनेसे सजाहुआ, कमलनयनी स्त्रियोंके शयनमन्दिरोंसे
भराहुआ दुर्मुखका राजमहल नित्य अपना प्रिय करनेवाले सह-
देवको अर्पण किया सहदेव भी जैसे कुबेर कैलासको
पाकर प्रसन्न होता है तैसे ही उस राजमहलको पाकर प्रसन्न
हुआ॥१२-१३॥हे राजा जनमेजय ! फिर युयुत्सु,विदुर,सञ्जय,
सुधर्मा और धौम्य ये सब अपने२ स्थानको चलेगये॥१४॥पुरुष-
श्रेष्ठ श्रीकृष्ण सात्यकीके साथ जैसे सिंह गुफामें प्रवेश करता
है तैसे अर्जुनके राजमहलमें चलेगये ॥ १५ ॥ दूसरे सब राजे
अपने२ ठहरनेके स्थान पर चलेगये और तहाँ भोजन तथा खान
पान करके सुखसे सोरहे, वे सब दूसरे दिन प्रातःकालके समय
आनन्दके साथ जागकर युधिष्ठिरकी सेवामें उपस्थित हुए॥१६॥
चौवालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ४४ ॥ छ छ

जनमेजय उवाच । प्राप्य राज्यं महाबाहुर्धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः । यदन्यदकरोद्विप तन्मे वक्तुमिहार्हसि ॥ १ ॥ भगवान् वा हृषीकेशस्त्रैलोक्यस्य परो गुरुः । ऋषे यदकरोद्वीरस्तच्च व्याख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥ वैशम्पायन उवाच । शृणु तत्त्वेन राजेन्द्र कीर्त्यमानं मयानघ । वासुदेवं पुरस्कृत्य यदकुर्वत पाण्डवाः ॥ ३ ॥ प्राप्य राज्यं महाराज कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः । चातुर्वर्ण्यं यथायोग्यं स्वे स्वे स्थाने न्यवेशयत् ॥४॥ ब्राह्मणानां सहस्रञ्च स्नातकानां महात्मनाम् । सहस्रं निष्कमेकैकं दापयामास पाण्डवः ॥ ५ ॥ तथानुजीविनो भृत्यान् संश्रितानतिथीनपि । कामैः सन्तर्पयामास कृपणांस्तर्ककानपि ॥ ६ ॥ पुरोहिताय धौम्याय प्रादादयुतशः स गाः । धनं सुवर्णं रजतं वासांसि विविधान्यपि ॥ ७ ॥ कृपाय

जनमेजयने बूझा, कि—हे विप्र वैशम्पायन ! महाभुज धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने राज्य पानेके बाद जो जो दूसरे काम किये हों वे मुझे सुनाइये ॥ १ ॥ हे ऋषे ! तीनों लोकोंके परमगुरु और वीर भगवान् श्रीकृष्णने भी जो जो काम किये हों वे मुझे सुनाइये २ वैशम्पायनने कहा, कि—हे पापरहित राजेन्द्र! पाण्डवोंने शत्रुओंको जीतनेके बाद श्रीकृष्णको आगे करके क्या काम किया था वह मैं तुम्हें यथावत् सुनाता हूँ, उसको तुम सुनो ॥ ३ ॥ हे महाराज! कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने राज्य पानेके बाद चारों वर्णों को उनकी योग्यताके अनुसार अलग २ स्थानों पर नियत कर दिया ॥ ४ ॥ पाण्डुके बड़े पुत्रने एक हजार महात्मा स्नातक ब्राह्मणोंमेंसे हरएकको हजार२ सोनेकी मुद्रा दान करके दीं ॥५॥ तथा अपने सहारेसे रहनेवाले सेवक, आश्रित, अतिथि, कृपण और भरन करनेवालोंको भी इच्छानुसार दान देकर उनकी कामना पूरीकी ॥ ६ ॥ अपने पुरोहित धौम्य गुरुको दश हजार गौएँ, सोना, चाँदी और भाँति२के वस्त्र दिये ॥७॥ और हे महा-

च महाराज गुरुवृत्तिमवर्त्तत । विदुराय च राजासौ पूजां चक्रे यतव्रतः ॥८॥ भक्ष्यान्नपानैर्विविधैर्वासोभिः शयनाशनैः । सर्वान् सन्तोषयामास संश्रितान् ददतांवरः ॥ ९ ॥ लब्धप्रशमनं कृत्वा स राजा राजसत्तमः । युयुत्सोर्धार्त्तराष्ट्रस्य पूजां चक्रे महायशाः॥१०॥धृतराष्ट्राय तद्राज्यं गान्धार्यै विदुराय च । निवेद्य सुस्थवद्राजा सुखमास्ते युधिष्ठिरः॥११॥तथा सर्वं स नगरं प्रसाद्य भरतर्षभ । वासुदेवं महात्मानमभ्यगाच्चकृत् कृताञ्जलिः॥१२॥ ततो महति पर्यंके मणिकाञ्चनभूषिते । ददर्श कृष्णमासीनं नीलमेघसमद्युतिम् ॥ १३ ॥ जाज्वल्यमानं वपुषा दिव्याभरणभूषितम् । पीतकौशेयवसनं हेम्नेवोपगतं मणिम् ॥ १४ ॥ कौस्तुभेनोरसिस्थेन मणिनाभिविराजितम् । उद्यतेवोदयं शैलं सूर्येणाभिविरा-

राज ! राजा युधिष्ठिर जैसा वर्त्ताव द्रोणाचार्यके साथ करते थे वैसा वर्त्ताव कृपाचार्यके साथ करने लगे राजाने सदाचारमें रह कर विदुरजीका पूज्यकी समान आदर किया ॥ ८ ॥ दान देने वालोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने अपने आश्रितोंको भाँति २ के भक्ष्य-अन्न पान, अनेकों प्रकारके वस्त्र, शय्या, आसन आदि देकर सन्तुष्ट किया ॥९॥ और हे श्रेष्ठ राजन् ! उन्होंने जो धन प्राप्त किया था,उसको सुपात्रमें खरचदिया बडा यशपानेवाले युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र और उनके पुत्र युयुत्सुका भी सत्कार किया ॥१०॥ धृतराष्ट्र गान्धारी और विदुरको वह राज्य निवेदन करके राजा युधिष्ठिर स्वस्थ हो सुखसे रहने लगे ॥ ११ ॥ हे भरत-सत्तम राजन्!इसप्रकार सब नगरको प्रसन्न करके युधिष्ठिर महात्मा श्रीकृष्णके पास जा दोनों हाथ जोडकर खड़े होगए१२मणि और सोनेसे शोभामान एक बडे पलंग पर श्याम मेघकी समान श्याम कान्तिवाले श्रीकृष्ण बैठे हुए थे,उनका दर्शन किया१३श्रीकृष्ण दिव्य शरीरसे तेजोमय दीखरहे थे, दिव्य आभूषणोंसे सजेहुए और पीताम्बर पहररहे थे, इसलिये सोनेमें जड़ेहुए (नीलम)

जितम् ॥ १५ ॥ नौपम्यं विद्यते तस्य त्रिषु लोकेषु किञ्चन। सोऽधिगम्य महात्मानं विष्णुं पुरुषविग्रहम् ॥ १६ ॥ उवाच मधुरं राजा स्मितपूर्वमिदं तदा। सुखेन ते निशा कच्चित् व्युष्टा बुद्धिमतांवर ॥ १७ ॥ कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि प्रसन्नानि तवाच्युत। तथैवोपश्रिता देवी बुद्धिर्बुद्धिमतांवर ॥ १८ ॥ वयं राज्यमनुप्राप्ताः पृथिवी च वशे स्थिता। तव प्रसादाद्भगवंस्त्रिलोकगतिविक्रम ॥ १९ ॥ जयं प्राप्ता यशश्चाग्र्यं न च धर्मच्युता वयम्। तन्तथा भाषमाणन्तु धर्मराजमरिन्दमम्। नोवाच भगवान् किञ्चित् ध्यानमेवान्वपद्यत २० पंचचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः॥४५॥

मणिसे मालूम होते थे, उनके वक्षःस्थल पर कौस्तुभ मणि शोभा देरही थी, इसलिये ऐसे प्रतीत होते थे, कि–मानो पूर्वदिशामें उदय हुए सूर्यसे उदयाचल पर्वत शोभा पारहा है ॥१४–१७॥ तीनों लोकोंमें जिनकी समान कोई भी वस्तु नहीं है ऐसे पुरुष शरीरको धारण करनेवाले महात्मा श्रीविष्णुके पास जाकर राजा युधिष्ठिर मन्द२ मुसकुराते हुए मधुर वाणीमें इस प्रकार कहने लगे, कि–हे महाबुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कृष्ण! तुम्हारी रात्रि सुखमें बीती है? (रात्रिमें आपको सुखसे निद्रा तो आयी?), हे अच्युत? आपकी सब इन्द्रियें प्रसन्न तो हैं?हे महाबुद्धिमान्! बुद्धिदेवीने आपका आश्रय तो लिया है(अर्थात् आपकी बुद्धि तो स्थिर है?) ॥ १८ ॥ हे तीनों लोकोंमें पहुँचनेवाले पराक्रमको धारण करनेवाले कृष्ण! आपकी ही कृपासे हमने राज्य पाया है और यह पृथिवी हमारी अधीनतामें आयी है ॥ १९ ॥ आपकी ही कृपासे हमको सर्वोत्तम विजय मिली है, सबसे उत्तम यश मिला है और हम धर्मसे भ्रष्ट नहीं होनेपाये हैं इत्यादि वाक्य, शत्रुओंका दमन करनेवाले राजा युधिष्ठिरने कहे, परन्तु भगवान् कृष्णने इसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया और वह ध्यानमें ही बैठेरहे ॥ २० ॥ पैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ४५ ॥ छ

युधिष्ठिर उवाच । किमिदं परमाश्चर्यं ध्यायस्यमितविक्रम । कश्चिल्लोकत्रयस्यास्य स्वस्ति लोकपरायण ॥ १ ॥ चतुर्थं ध्यानमार्गन्त्वमालम्ब्य पुरुषर्षभ । अपक्रान्तो यतो देवस्तेन मे विस्मितं मनः ॥ २ ॥ निगृहीतो हि वायुस्ते पञ्चकर्मा शरीरगः । इन्द्रियाणि प्रसन्नानि मनसि स्थापितानि ते ॥ ३ ॥ वाक् च सत्त्वञ्च गोविन्द बुद्धौ सन्वेशितानि ते । सर्वे चैव गुणा देव क्षेत्रे क्षेत्रे निवेशिताः ॥ ४ ॥ नेङ्गन्ति तव रोमाणि स्थिरा बुद्धिस्तथा मनः । काष्ठकुड्यशिलाभूतो निरीहश्चासि माधव ॥ ५ ॥ यथा दीपो निवातस्थो निरिङ्गो ज्वलते पुनः । तथासि भगवन् देव पाषाण इव निश्चलः ॥ ६ ॥ यदि श्रोतुमिहार्हामि न रहस्यञ्च ते यदि ।

राजा युधिष्ठिर श्रीकृष्णको ध्यानमें मग्न देखकर कहने लगे, कि-हे अपारपराक्रमी भगवन्! आप बड़े भारी आश्चर्यमें डालनेवाला यह कौनसा ध्यान धररहे हो?हे लोकपरायण! इस त्रिलोकी का कल्याण तो है?जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनोंसे भी पर चौथे ध्यानमार्गका तुमने आश्रय लिया है और तीनों शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म,कारण)मेंसे बाहर निकलगये हो,इससे मेरा मन आश्चर्यमें पड़गया है! १-२हे गोविन्द!शरीरमें फिरनेवाले पाँच प्रकारकीक्रिया करनेवाले वायुको तुमने नियममें रक्खा है,तुमने अपनी २ क्रिया करनेवाली पाँचों इन्द्रियोंको मनमें स्थिर करदिया है,तुमने मनको इन्द्रियोंके साथ बुद्धिमें स्थापन किया है तुमने शब्द आदि गणों को और उनके देवताओंको जीवात्मामें स्थापन किया है।३-४। हे माधव ! तुम्हारा रोमाञ्च भी जरा नहीं हिलता है, तुम्हारी बुद्धि और मन स्थिर होगये हैं. तुम काठ,दीवार और शिलाकी समान चेष्टारहित होरहे हो ॥ ५ ॥ जैसे वायुरहित स्थानोंमेंका दीपक चलायमान न होकर बलता रहता है,ऐसे ही हे भगवन्! तुम पत्थरकी समान निश्चल होगये हो ॥ ६ ॥ हे देव ! यदि मैं

छिन्धि मे संशयं देव प्रपन्नायाभिथाचते ॥ ७ ॥ त्वं हि कर्त्ता विकर्त्ता च क्षरं चैवाक्षरं च हि । अनादिनिधनश्चाद्यस्त्वमेव पुरुषोत्तम ॥ ८ ॥ त्वत्प्रपन्नाय भक्ताय शिरसा प्रणताय च । ध्यानस्यास्य यथा तत्त्वं ब्रूहि धर्मभृतांम्वर ॥ ६ ॥ ततः स्वे गोचरे न्यस्य मनोबुद्धीन्द्रियाणि सः । स्मितपूर्वमुवाचेदं भगवान् वासवानुजः ॥ १० ॥ वासुदेव उवाच । शरतल्पगतो भीष्मः शाम्यन्निव हुताशनः । मान्ध्याति पुरुषव्याघ्रस्ततो मे तद्गतं मनः ११ यस्य ज्यातलनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः । न सेहे देवराजोपि तमस्मि मनसा गतः ॥ १२ ॥ येनाभिजित्य तरसा समस्तं राज-

आपके इस ध्यानके रहस्यको सुननेका अधिकारी होऊँ और इसमें आपकी कोई बात गुप्त रखने योग्य न हो तो आप मेरे सन्देहको दूर करिये, मैं शरणमें आकर आपसे याचना करता हूँ॥७॥ हे पुरुषोत्तम! तुम कर्त्ता और विकर्त्ता हो तुम क्षर और अक्षर हो, तुम आदि और अन्तरहित हो तथा सबके आदिपुरुष हो॥८॥ हे धर्मवानोंमें श्रेष्ठ! मैं आपकी शरणमें आया हूँ, आपका भक्त हूँ,आपको मस्तकसे प्रणाम करता हूँ, आप मुझे इस ध्यानका ठीक२ तत्त्व समझाइये ॥ ६ ॥ राजा युधिष्ठिरकी इस बातको सुनकर मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको अपने२ स्थानपर स्थापित करके उपेन्द्र श्रीकृष्ण भगवान् मन्द२ हँसते हुए बोले॥ १० ॥ वासुदेवने कहा, कि–हे युधिष्ठिर! शान्त हुए अग्निकी समान शरशय्या पर पड़े हुये पुरुषोंमें व्याघ्रसमान भीष्मजी मेरा ध्यान कररहे हैं,इसलिये इस समय मेरा मन उनके पास गया था॥११॥ जिनके हाथकी-हथेलीमें धनुषकी डोरी लगनेसे वज्रके कड़ाकेकी समान जिनके धनुषकी डोरीका शब्द होता था, ऐसे ही भीष्मजीके पास इस समय मैं मनसे गया था ॥ १२ ॥ भीष्मने सब राजमण्डलको एक साथ जीतकर(काशीराजकी)अम्बा,अम्बिका

मण्डलम् । ऊढास्तिस्रस्तु याः कन्यास्तमस्मि मनसा गतः॥१३॥ त्रयोविंशतिरात्रं यो योधयामास भार्गवम् । न च रामेण निस्तीर्ण-स्तमस्मि मनसा गतः ॥ १४ ॥ एकीकृत्येन्द्रियग्रामं मनः संयम्य मेधया । शरणं मामुपागच्छत्ततो मे तद्गतं मनः ॥ १५ ॥ यं गंगा गर्भविधिना धारयामास पार्थिव । वशिष्ठशिष्यं तं तात तमस्मि मनसा गतः ॥ १६ ॥ दिव्यास्त्राणि महातेजा यो धारयति बुद्धिमान् । साङ्गांश्च चतुरो वेदांस्तमस्मि मनसा गतः ॥ १७ ॥ रामस्य दयितं शिष्यं जामदग्न्यस्य पाण्डव । आधारं सर्वविद्यानां तमस्मि मनसा गतः ॥ १८ ॥ स हि भूतं भविष्यच्च भवच्च भर-तर्षभ । वेत्ति धर्मविदां श्रेष्ठं तमस्मि मनसा गतः ॥१६॥ तस्मिन्

और अम्बालिका नामकी कन्याओंका विचित्रवीर्यके साथ विवाह करनेके लिये हरण किया था उन भीष्मके पास इस समय में मनसे गया था ॥ १३ ॥ जिन भीष्मने परशुरामके साथ तेईस दिनतक युद्ध किया था और परशुराम जिनको जीत नहीं सके थे, उन भीष्मके पास इस समय में मनसे गया था ॥ १४ ॥ यह भीष्म पितामह इन्द्रियोंके समूहको तथा बुद्धि सहित मनको नियममें रखकर मेरी शरणमें आये थे, उनके पास इस समय में मनसे गया था ॥ १५ ॥ हे राजन् ! जिन भीष्मको गङ्गाने अपने गर्भमें धारण किया था और तात ! जिनको वशिष्ठने शिष्य मानकर शिक्षा दी थी, उन भीष्मके पास इस समय में मनसे गया था ॥ १६ ॥ जो महातेजस्वी और बुद्धिमान् भीष्म दिव्य अस्त्रोंको धारण करते हैं और अङ्गोंसहित चारों वेदोंके पढ़ेहुए हैं उनके पास इस समय में मनसे गया था ।१७। हे राजा युधिष्ठिर! जो जमदग्निके पुत्र परशुरामके प्यारे शिष्य हैं और जो सब विद्याओंके आधार हैं, उन भीष्मके पास इस समय में मनसे गया था ॥१८॥ हे भरतसत्तम राजन् ! जो भीष्म भूत, भविष्यत्

हि पुरुषव्याघ्रे कर्मभिः स्वैर्दिवं गते । भविष्यति मही पार्थ नष्ट-चन्द्रेव शर्वरी ॥ २० ॥ तद्युधिष्ठिर गाङ्गेयं भीष्मं भीमपराक्रमम् । अभिगम्योपसंगृह्य पृच्छ यत्ते मनोगतम् ॥ २१ ॥ चातुर्विद्यं चातुर्होत्रं चातुराश्रम्यमेव च । राजधर्मांश्च निखिलान् पृच्छैनं पृथिवीपते ॥२२॥ तस्मिन्नस्तमिते भीष्मे कौरवाणां धुरन्धरे । ज्ञानान्यस्तं गमिष्यन्ति तस्मात्त्वां चोदयाम्यहम् ॥ २३ ॥ तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य तथ्यं वचनमुत्तमम् । साश्रुकण्ठः स धर्मज्ञो जनार्दनमुवाच ह ॥२४॥ यद्भवानाह भीष्मस्य प्रभावं प्रति माधव । तथा

और वर्त्तमानको जानते हैं तथा धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ हैं, उन भीष्मके पास इस समय मैं मनसे गया था ॥ १९ ॥ हे राजा युधिष्ठिर यह भीष्म अपने कर्मोंसे इस पृथिवीको त्यागकर जब स्वर्गमें जायँगे उस समय, जैसे चन्द्रमाके अस्त होजानेपर रात्रि निस्तेज होजाती है, तैसे ही यह पृथिवी भी निस्तेज होजायगी ॥ २० ॥ इसलिये हे राजा युधिष्ठिर ! भयानक पराक्रम करनेवाले गङ्गापुत्र भीष्मके पास तुम जाओ और उनके दोनों चरणोंको छूकर तुम्हारे मनमें जो सन्देह हों वह उनसे बूझो ॥२१॥ हे राजन् ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके स्वरूपको, होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा ये चार जिसको कहते हैं ऐसी यज्ञादि क्रियाको, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी इन चारों आश्रमोंके विशेष धर्मोंको तथा राज्यके सब धर्मोंको तुम भीष्मजीसे बूझो ॥ २२ ॥ भीष्म कौरवोंमें धुरन्धर हैं, उनके अस्त होजाने पर सब ज्ञान अस्त होजायगा, इसलिये मैं तुमसे कहता हूँ, कि-तुम भीष्मके पास जाओ ॥ २३ ॥ श्रीकृष्णके यथार्थ उत्तम वचन सुनकर धर्मको जाननेवाले युधिष्ठिर गद्गद होगए और कहनेलगे, कि-॥२४॥ हे माधव ! तुमने मुझे भीष्मका जो प्रभाव सुनाया इसको मैं यथार्थ-रूपसे जानता हूँ, इसमें मुझे सन्देह

तन्नात्र सन्देहो विद्यते मम माधव ॥२५॥ महाभाग्यञ्च भीष्मस्य प्रभावश्च महाद्युतेः श्रुतं मया कथयतां ब्राह्मणानां महात्मनाम् २६ भवांश्च कर्त्ता लोकानां यद्ब्रवीत्यरिसूदन । तथा तदनभिध्येयं वाक्यं यादवनन्दन ॥२७॥ यदि त्वनुग्रहवती बुद्धिस्ते मयि माधव। त्वामग्रतः पुरस्कृत्य भीष्मं यास्यामहे वयम् ॥ २८ ॥ आवृत्ते भगवत्यर्के स हि लोकान् गमिष्यति । त्वद्दर्शनं महाबाहो तस्मादर्हति कौरवः ॥ २९ ॥ तव चाद्यस्य देवस्य क्षरस्याक्षरस्य च । दर्शनं तस्य लाभः स्यात् त्वं हि ब्रह्ममयो निधिः ॥ ३० ॥ वैशम्पायन उवाच । श्रुत्वैवं धर्मराजस्य वचनं मधुसूदनः । पार्श्वस्थं सात्यकिं प्राह रथो मे युज्यतामिति ॥ ३१ ॥ सात्यकिस्त्वाशु निष्क्रम्य केशवस्य समीपतः । दारुकं प्राह कृष्णस्य युज्यतां रथ

नहीं है ॥ २५ ॥ हे महाकान्तिवाले श्रीकृष्ण ! भीष्मके महान् भाग्य और उनके प्रभावके विषयमें उनका यश गानेवाले महात्मा ब्राह्मणोंके मुखसे मैंने यह सब सुना है ॥ २६ ॥ हे शत्रुनाशन! लोकोंको उत्पन्न करनेवाले आप जो कुछ कहते हैं यह सत्य ही है, हे यादवनन्दन ! आपका कहना मुझे मान्य है ॥२७॥ हे माधव! यदि आप मेरे ऊपर अनुग्रह करना चाहते हैं तो हम आपको अपना मुखिया बनाकर भीष्मजीके पास जाना चाहते हैं॥२८॥ जब सूर्य उत्तरायण होगा तब भीष्मपितामह परलोकको पधारेंगे इसलिये हे महाबाहु कृष्ण ! भीष्म आपका दर्शन करनेके योग्य हैं ॥ २९ ॥ आप आदिदेव, क्षर और अक्षररूप हो, भीष्मको आपका दर्शन हो यह उनके लिये लाभ है, क्योंकि—आप साक्षात् ब्रह्ममय और ज्ञानके भण्डार हो ॥ ३० ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! मधुसूदनने युधिष्ठिरकी इसबातको सुनकर अपने पास बैठेहुए सात्यकीसे कहा, कि—मेरा रथ तयार कराओ ॥ ३१ ॥ सात्यकी शीघ्र ही केशवके पाससे उठकर

इत्युत ॥ ३१ ॥ स सात्यकेराशु वचो निशम्य रथोत्तमं काञ्चनभूषितांगम् । मसारगल्वर्कमयैर्विभंगैर्विभूषितं हेमनिबद्धचक्रम् ३३ दिवाकरांशुप्रभमाशुगामिनं विचित्रनानामणिभूषितान्तरम् । नवोदितं सूर्यमिव प्रतापिनं विचित्रतार्क्ष्यध्वजिनं पताकिनम् ॥ ३४ ॥ सुग्रीवशैब्यप्रमुखैर्वराश्वैर्मनोजवैः काञ्चनभूषितांगैः । संयुक्तमावेदयदच्युताय कृताञ्जलिर्दारुको राजसिंह ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि महापुरुषस्तवे षट्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

जनमेजय उवाच । शरतल्पे शयानस्तु भरतानां पितामहः ।

दारुकके पास गया और उससे कहा, कि श्रीकृष्णके रथको शीघ्र ही जोडकर तयार कर ॥ ३२ ॥ दारुकने सात्यकीकी बात सुन कर श्रीकृष्णके उत्तम रथको जोड़दिया, उस रथके सब अङ्ग जड़ेहुए सोनेसे सुन्दर मालूम होते थे, रथके आगे पीछेके भागोंमें मरकतमणि, चन्द्रकान्त मणि और सूर्यकान्त मणि जड़ेहुए थे, इसलिये वह रथ बड़ी ही शोभा पारहा था, उसके पहिये भी सोनेसे जडदियेगए थे ॥३३॥ सूर्यकी किरणोंकी समान चमकती हुई कान्तिवाला, फुरतीसे चलनेवाला, भीतर जडीहुई अनेकों प्रकारकी मणियोंसे शोभायमान, तुरन्त ही उदय हुए प्रतापी सूर्यकी समान चमकनेवाला, जो फहराती हुई ध्वजामें गरुडके विराजमान होनेसे विचित्र दीखता था, जिसके ऊपर और भी बहुतसी पताकायें चढीहुई थीं, ऐसा मनकी समान वेगवाला और सोनेके साजसे सजाहुआ, सुग्रीव शैब्य आदि घोडोंसे जुताहुआ रथ हे राजसिंह ! श्रीकृष्णके पास हाजिर करके दोनों हाथ जोड़ेहुए दारुक खड़ा होगया ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ छियालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ४६ ॥ छ ॥ छ ॥

जनमेजयने बूझा, कि-हे वैशम्पायन ! शरशय्या पर पौढ़ेहुए

कथमुत्सृष्टवान् देहं कञ्च योगमधारयत् ॥ १ ॥ वैशम्पायन उवाच। शृणुष्वावहितो राजन् शुचिर्भूत्वा समाहितः। भीष्मस्य कुरुशार्दूल देहोत्सर्गं महात्मनः ॥ २ ॥ निवृत्तमात्रे त्वयने उत्तरे वै दिवाकरे। समावेशयदात्मानमात्मन्येव समाहितः ॥ ३ ॥ विकीर्णांशुरिवादित्यो भीष्मः शरशतैश्चितः। शुशुभे परया लक्ष्म्या वृतो ब्राह्मणसत्तमैः ॥ ४ ॥ व्यासेन वेदविदुषा नारदेन सुरर्षिणा। देवस्थानेन वात्स्येन तथाश्मकसुमन्तुना ॥ ५ ॥ तथा जैमिनिना चैव पैलेन च महात्मना। शाण्डिल्यदेवलाभ्यां च मैत्रेयेण च धीमता ॥ ६ ॥ असितेन वशिष्ठेन कौशिकेन महात्मना। हारीतलोमशाभ्यां च तथात्रेयेण धीमता ॥ ७ ॥ बृहस्पतिश्च शुक्रश्च च्यवनश्च महामुनिः। सनत्कुमारः कपिलो वाल्मीकि-

भरतवंशके राजाके पितामह भीष्मने किसप्रकार देहको त्यागा था तथा उस समय कौनसे योगको धारण किया था, यह सुनाइये ? वैशम्पायन बोले, कि—हे राजन् ! हे कुरुकुलसिंह ! आप पवित्र और सावधान होकर तथा चित्तको एकाग्र करके महात्मा भीष्मने जिसप्रकार अपने देहको त्यागा था वह कथा सुनो ॥ २ ॥ जब दक्षिणायनके सूर्य लौटकर उत्तरायण हुए तब भीष्मने सावधान होकर अपने मनको स्थिर किया ॥ ३ ॥ जिनके आसपास श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका मण्डल विराजमान था, ऐसे भीष्म सैंकडों बाणोंसे ढके हुए थे, उनको उस समय ऐसी दशा थी, कि जैसे आसपास फैली हुई किरणोंसे सूर्य ढका होता है और शोभापाता है, तैसे ही अलौकिक शोभा उनकीभी होरही थी ।४। वेदको जाननेवाले वेदव्यास, देवर्षि नारद, देवस्थान, वात्स्य, अश्मक, सुमन्तु, जैमिनी, महात्मा पैल, शाण्डिल्य, देवल, बुद्धिमान् मैत्रेय ॥ ६ ॥ असित, वशिष्ठ, महात्मा कौशिक, हारीत, लोमश, बुद्धिमान् आत्रेय ॥७॥ बृहस्पति, शुक्राचार्य, महामुनि च्यवन, सनत्कुमार, वाल्मीकि, तुम्बरु और

स्तुम्बुरुः कुरुः ॥८॥ मौद्गल्यो भार्गवो रामस्तृणबिन्दुर्महामुनिः ।
पिप्पलादोथ वायुश्च सम्वर्त्तः पुलहः कचः ॥ ९ ॥ काश्यपश्च
पुलस्त्यश्च क्रतुर्दक्षः पराशरः । मरीचिरंगिराः काश्यो गौतमो
गालवो मुनिः ॥१०॥ धौम्यो विभाण्डो माण्डव्यो धौम्रः कृष्णा-
नुभौतिकः । उलूकः परमो विप्रो मार्कण्डेयो महामुनिः ॥११॥
भास्करिः पूरणः कृष्णः सूतः परमधार्मिकः । एतैश्चान्यैर्मुनि-
गणैर्महाभागैर्महात्मभिः ॥ १२ ॥ श्रद्धादमशमोपेतैर्वृतश्चन्द्र
इव ग्रहैः । भीष्मस्तु पुरुषव्याघ्रः कर्मणा मनसा गिरा ॥ १३ ॥
शरतल्पगतः कृष्णं प्रदध्यौ प्राञ्जलिः शुचिः । स्वरेण हृष्टपुष्टेन
तुष्टाव मधुसूदनम् ॥ १४ ॥ योगेश्वरं पद्मनाभं विष्णुं जिष्णुं
जगत्पतिम् । कृताञ्जलिपुटो भूत्वा वाग्विदां प्रवरः प्रभुः ॥१५॥
भीष्मः परमधर्मात्मा वासुदेवमथास्तुवत् ॥ १५ ॥ भीष्म उवाच ।

कुरु ॥ ८ ॥ मौद्गल्य, भृगुवंशी परशुराम, महामुनि तृणबिन्दु, पिप्पलाद, वायु, सम्वर्त्त, पुलह, कच ॥ ९ ॥ कश्यप, पुलस्त्य, क्रतु, दक्ष, पराशर, मरीचि, अङ्गिरा, काश्य, गौतम, मुनि गालव ॥१०॥ धौम्य, विभाण्ड, माण्डव्य धौम्र, कृष्णानुभौतिक, उत्तम ब्राह्मण उलूक, महामुनि मार्कण्डेय, भास्करि, पूरण, कृष्ण और परम धार्मिक सूत, ये तथा दूसरे महाभाग्यशाली, श्रद्धा, दम तथा शमसम्पन्न महात्मा मुनियोंसे घिरेहुए भीष्मजी, ग्रहोंसे घिरेहुए चन्द्रमाकी समान दिप रहे थे, पुरुषोंमें व्याघ्रसमान, शरशय्यापर पौढ़ेहुये भीष्मपितामह दोनों हाथ जोड़, मन, वाणी और शरीरसे पवित्र होकर श्रीकृष्णका ध्यान कररहे थे, परमधर्मात्मा और वक्ताओंमें अत्यन्त श्रेष्ठ समर्थ भीष्म पितामह, योगके ईश्वर, कमलके फूलकी समान गोलाकार नाभिवाले, जगत्के पति, व्यापक और विजयशील मधुसूदनकी हृष्टपुष्ट स्वरसे (गम्भीर कण्ठसे) स्तुति करने लगे ॥११-१५॥ भीष्मजीने कहा, कि-श्रीकृष्णकी

आरिराधयिषुः कृष्णं वाचं जिगदिषामियाम् । तथा व्याससमासिन्या प्रीयतां पुरुषोत्तम ॥ १६ ॥ शुचिं शुचिपदं हंसं तत्पदं परमेष्ठिनम् । युक्त्वा सर्वात्मनात्मानं तं प्रपद्ये प्रजापतिम् ॥१७॥ अनाद्यन्तं परं ब्रह्म न देवा नर्षयो विदुः । एकोयं वेद भगवान्धाता नारायणो हरिः ॥ १८ ॥ नारायणादृषिगणास्तथा सिद्धमहोरगाः । देवा देवर्षयश्चैव यं विदुःपरमव्ययम् ॥ १९ ॥ देवदानवगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः । यं न जानन्ति को ह्येष कुतो वा भगवानिति २० यस्मिन्विश्वानि भूतानि तिष्ठन्ति च विशन्ति च । गुणभूतानि भूतेशे सूत्रे मणिगणा इव ॥२१॥ यस्मिन्नित्ये तते तन्तौ दृढे स्रगिव तिष्ठति । सदसद्ग्रथितं विश्वं विश्वाङ्गे विश्व-

आराधना करनेकी इच्छासे मैं जिस वाणीको बोलना चाहता हूँ, उस संक्षेप और विस्तारवाली वाणीसे पुरुषोत्तम प्रसन्न हों।१६। निर्दोष, पवित्र धामवाले, सबके पार होकर रहनेवाले, 'तत्त्वमसि' महावाक्यमें तत्पदके अर्थरूप, हिरण्यगर्भरूप, प्रजापति, स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरसे रहित और आत्मस्वरूप आपकी मैं शरण आया हूँ ॥ १७॥ आदि अन्तरहित परब्रह्मस्वरूप आपको देवता या ऋषि नहीं जानते, यह भगवान् ब्रह्मा या श्रीहरि नारायण ही जानते हैं ॥१८॥ नारायणसे ऋषियोंके गण तथा सिद्ध, बड़े२ नाग, देवता और देवर्षि परम अविनाशीरूप आपको जानते हैं ॥ १९ ॥ देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पन्नग आपको जानते ही नहीं, कि-भगवान् कौन हैं और कहाँसे उत्पन्न हुये हैं॥२०॥सब प्राणी आपमें ही रहते हैं और अन्तमें आपमें ही लय होजाते हैं, जैसे मालाके मनके डोरेमें पिरोये होते हैं तैसे ही ईश्वर परमात्मा आपमें सत्त्व आदि गुणोंवाले सब प्राणी पिरोये हुये हैं ॥२१॥ जैसे लंबे मजबूत डोरेमें माला बनी होती है तैसे ही नित्य, व्यापक, विश्वके आधारभूत और विश्वको रचने

कर्मणि २२ ॥ हरिं सहस्रशिरसं सहस्रचरणेक्षणम् । सहस्रबाहुमुकुटं सहस्रवदनोज्ज्वलम् ॥२३॥ प्राहुर्नारायणं देवं यं विश्वस्य परायणम् । अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठञ्च स्थवीयसाम् ॥२४॥ गरीयसां गरिष्ठञ्च श्रेष्ठञ्च श्रेयसामपि ॥ २५ ॥ यं वाकेष्वनुवाकेषु निषत्सूपनिषत्सु च । गृणन्ति सत्यकर्माणं सत्यं सत्येषु सामसु २६ चतुर्भिश्चतुरात्मानं सत्वस्थं सात्वतां पतिम् । यं दिव्यैर्देवमर्चन्ति गुह्यैः परमनामभिः ॥२७ ॥ यस्मिन्नित्यं तपस्तप्तं तदङ्गेष्वनुतिष्ठति । सर्वात्मा सर्ववित् सर्वः सर्वज्ञः सर्वभावनः ॥ २८ ॥

वाले आप परमात्मामें यह सत् और असत्रूप विश्व गुथा हुआ है ॥ २२ ॥ जिनके हजार मस्तक हैं, हजार चरण हैं, हजार नेत्र हैं, हजार भुजा हैं, हजार मुकुट हैं और हजार उज्ज्वल मुख हैं जिनको नारायणदेव विश्वका परम आधार कहते हैं, जो अणुसे भी अणु, स्थूलसे भी महास्थूल, भारीसे महाभारी और श्रेष्ठसे भी अत्यन्त श्रेष्ठ हैं ॥ २३–२५ ॥ वाक (मंत्र) और अनुवाकों (वेदके ब्राह्मण-वाक्यों) में, निषदों (कर्मके अङ्ग देवता आदि ज्ञान वाक्यों)में और उपनिषदों (केवल आत्मज्ञानके प्रतिपादक वाक्यों) में तथा सत्य (अबाधित अर्थवाले) सामोंमें जिन सत्यकर्मा सत्यस्वरूप परमात्माकी स्तुति की गई है ॥ २६ ॥ (ब्रह्म, जीव, मन और अहङ्कार इन चार आत्मारूप 'सत्त्वगुण' या निर्मल बुद्धिमें स्थित, भक्तोंके पति जिन परमदेवको(मुनि) गुप्त, दिव्य (वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन) श्रेष्ठ नामोंसे पूजा करते हैं॥२७॥जिनको प्रसन्न करनेके लिये नित्य तप कियाजाता है, जो सबके मनोंमें निवास कररहे हैं, जो सबके आत्मा, सबको जाननेवाले,सर्वरूप,सर्वज्ञ और सबको उत्पन्न करनेवाले हैं ॥ २८ ॥ जैसे अरणी प्रज्वलित होतेहुए अग्निको उत्पन्न करती है, तैसे ही देवकी देवीने पृथिवी पर विद्य-

यं देवं देवकी देवी वसुदेवादजीजनत् । भौमस्य ब्रह्मणो गुप्त्यै दीप्तमग्निमिवारणिः ॥ २९ ॥ यमनन्यो व्यपेताशीरात्मानं वीतकल्मषम् । दृष्ट्वानन्त्याय गोविन्दं पश्यत्यात्मानमात्मनि ३० ॥ अतिवाय्विन्द्रकर्माणमतिसूर्यातितेजसम् । अतिबुद्धीन्द्रियात्मानं तं प्रपद्ये प्रजापतिम् ॥ ३१ ॥ पुराणपुरुषं प्रोक्तं ब्रह्मप्रोक्तं युगादिषु । क्षये सङ्कर्षणं प्रोक्तं तमुपास्यमुपास्महे ३२ यमेकं बहुधात्मानं प्रादुर्भूतमधोक्षजम् । नान्यभक्ताः क्रियावन्तो यजन्ते सर्वकामदम् ३३ यमाहुर्जगतः कोषं यस्मिन् संनिहिताः प्रजाः ॥ यस्मिन् लोकाः स्फुरन्तीमे जले शकुनयो यथा ॥ ३४ ॥ ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म यत्तत्सदसतोः परम् । अनादिमध्यपर्यन्तं न देवा नर्षयो विदुः ॥

मान ब्रह्म (वेद, ब्राह्मण और यज्ञ) की रक्षा करनेके लिये जिन देवको उत्पन्न किया ॥ २९ ॥ जिससे सब आशायें दूर होजाती हैं ऐसा मुमुक्षु पुरुष अनन्यभाव (अभेद बुद्धि) से स्वयं ही अपने हृदयाकाशमें सकल दोषोंसे रहित आत्मस्वरूप गोविन्दको सूक्ष्मदृष्टिसे देखता है और मुक्तिको प्राप्त होजाता है ॥ ३० ॥ जिनका पराक्रम वायु और इन्द्रसे अधिक है, जिनका तेज सूर्यसे अधिक है और जिनका स्वरूप बुद्धि तथा इन्द्रियोंके पार है, उन प्रजापति नारायणकी मैं शरण आया हूँ ॥ ३१ ॥ पुराणमें जिनको पुरुष कहा है, युगके आरम्भमें जिनको ब्रह्म कहा है और प्रलयकालमें जिनको सङ्कर्षण (सबको खेंचकर अपने मनमें रखलेने वाले) कहा है, उन उपासनाके योग्य भगवान्की मैं उपासना करता हूँ ॥ ३२ ॥ जो एक होकर भी इन्द्र आदि अनेकों रूपोंसे प्रकट हुए हैं, जो इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले हैं और सकल कामनाओंको पूर्ण करनेवाले जिन भगवान्का यज्ञादि कर्मानुष्ठान करनेवाले अनन्य भक्त यजन करते हैं ॥ ३३ ॥ जिनको जगत्का कोश (स्थान) कहते हैं, सब प्रजाएँ जिनके

यं सुरासुरगन्धर्वाः सिद्धा ऋषिमहोरगाः ॥३५॥ प्रयताः नित्यमर्च्चन्ति परमं दुःखभेषजम् । अनादिनिधनं देवमात्मयोनिं सनातनम् ॥ ३६ ॥ अप्रेक्ष्यम नभिज्ञेयं हरिं नारायणं प्रभुम् । ये वै विश्वस्य कर्त्तारं जगतस्तस्थुषां पतिम् । वदन्ति जगतोऽध्यक्षमक्षरं परमं पदम् ॥ ३७ ॥ हिरण्यवर्णं यं गर्भमदितिर्दैत्यनाशनम् । एकं द्वादशधा जज्ञे तस्मै सूर्यात्मने नमः ॥ ३८ ॥ शुक्ले देवान् पितॄन् कृष्णे तर्पयत्यमृतेन यः । यश्च राजा द्विजातीनां तस्मै सोमात्मने नमः ॥ ३९ ॥ महतस्तमसः पारे पुरुषं ह्यतितेजसम् ।

भीतर धरीहुई हैं और जैसे जलमें हंस आदि पक्षी तैरते हैं तैसे ही जिन नारायणमें यह सब लोक चमक रहे हैं ॥ ३४ ॥ सत्य रूप, एक अक्षर (ॐकार) रूप जो ब्रह्म सत् असत्से पर है, जिसका आदि मध्य और अन्त नहीं है, जिस ब्रह्मको देवता ऋषि, सुर, असुर, गन्धर्व, सिद्ध, ऋषि और महानाग भी नहीं जानते ३५ परन्तु नित्य तत्पर होकर दुःखकी परम औषधरूप, आदि अन्तरहित जिन स्वयम्भू आत्मयोनि नारायण देवकी पूजा करते हैं ॥ ३६ ॥ जिनको न कोई देखसकता है न कोई जानसकता है, जो विश्वके कर्त्ता और चराचर जगत्के पति हैं तथा जिन प्रभु श्रीहरि नारायणको जगत्के अध्यक्ष, अक्षर और परमपद कहते हैं ॥ ३७ ॥ (अब भीष्मस्तवराजका आरम्भ होता है) जो तपेहुए सुवर्णकी समान तेजस्वी हैं, जो दैत्योंका नाश करने वाले एक ही हैं तथापि अदितिने जिनको अपने गर्भसे बारह आदित्यके रूपमें उत्पन्न किया, उन सूर्यरूपको नमस्कार है ३८ जो शुक्लपक्षमें देवताओंको और कृष्णपक्षमें पितरोंको अमृतसे तृप्त करते हैं और जो द्विजोंके राजा हैं उन सोमरूप परमात्माको नमस्कार है ॥ ३९ ॥ जो संसाररूप महा-अन्धकारके परले पार रहनेवाले महातेजस्वी पुरुष हैं और जिनको जानकर पुरुष

यं ज्ञात्वा मृत्युमत्येति तस्मै ज्ञेयात्मने नमः॥४०॥यं बृहन्तं बृहत्युक्थे यमग्नौ यं महाध्वरे। यं विप्रसङ्घा गायन्ति तस्मै वेदात्मने नमः॥ ४१ ॥ ऋग्यजुःसामधामानं दशार्द्धहविरात्मकम्। यं सप्ततन्तुं तन्वन्ति तस्मै यज्ञात्मने नमः॥ ४२ ॥ चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च। हूयते च पुनर्द्वाभ्यां तस्मै होमात्मने नमः॥४३॥ यः सुपर्णो यजुर्नाम छन्दोगात्रस्त्रिवृच्छिराः। रथन्तरं बृहत् साम तस्मै स्तोत्रात्मने नमः॥ ४४ ॥ यः सहस्रसमे सत्रे जज्ञे विश्वसृजामृषिः। हिरण्यपक्षः शकुनिस्तस्मै हंसात्मने

मृत्युके पार होजाता है उन ज्ञेयस्वरूपको मेरा नमस्कार है ४० बड़े भारी उक्थ नामक यज्ञमें (ऋग्वेदी ब्राह्मण) जिस ब्रह्मकी स्तुति करते हैं और अग्निचयन नामक महायागमें ब्राह्मणोंके समूह जिनका गान करते हैं उन वेदमूर्त्ति परमात्माको मेरा नमस्कार है ॥ ४१ ॥ ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके धामरूप, (धाना, करम्भ, परिवाप, पुरोडाश और दूध इन) पाँचप्रकारके हविरूप(सात तन्तुओंकी समान जिनमें गायत्रीकी योजना कीगई है ऐसे)सात तन्तुरूप जिन भगवान्का यज्ञको जाननेवाले विस्तार करते हैं उन यज्ञरूप परमात्माको मेरा नमस्कार है ४२ "आश्रावय" इन) चार अक्षरोंसे ("अस्तु श्रौषट्"इन) चार अक्षरोंसे, ("यज" इन) दो अक्षरोंसे ("ये यजामहे" इन) पाँच अक्षरोंसे, और फिर ("वषट्" इन) दो अक्षरोंसे जिनको हवि दियाजाता है उन होमात्माको नमस्कार है ॥ ४३ ॥ जो पुरुषरूप है, जिसका नाम यजु है, गायत्री आदि छन्द जिसके अवयव हैं, तीनों वेदोंसे होनेवाले यज्ञ जिनके तीन शिर हैं,रथन्तर और बृहत्साम जिनके प्रीति वचन हैं उन स्तोत्ररूप परमात्माको मेरा नमस्कार है ॥४४॥ जो प्रजापतियोंके हजार वर्षके महायज्ञमें सुवर्णके पंखोंवाले पक्षीके रूपमें प्रकट हुए थे,उन हंस-

नमः ॥ ४५ ॥ पदाङ्गं सन्धिपर्वाणं स्वरव्यञ्जनभूषणम् । यमाहुरक्षरं दिव्यं तस्मै वागात्मने नमः ॥ ४६ ॥ यज्ञाङ्गो यो वराहो वै भूत्वा गामुज्जहार ह । लोकत्रयहितार्थाय तस्मै वीर्यात्मने नमः ॥ ४७ ॥ यः शेते योगमास्थाय पर्यङ्के नागभूषिते । फणासहस्ररचिते तस्मै निद्रात्मने नमः ॥ ४८ ॥ यस्तनोति सतां सेतुमृतेनामृतयोनिना । धर्मार्थव्यवहाराङ्गैस्तस्मै सत्यात्मने नमः ४९ यं पृथग् धर्मचरणाः पृथग्धर्मफलैषिणः। पृथग्धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः॥ ५० ॥ यतः सर्वे प्रसूयन्ते ह्यनङ्गात्साङ्गदेहिनः । उन्मादः सर्वभूतानां तस्मै कामात्मने नमः ॥५१॥ यच्च व्यक्त-

रूप ऋषिको मेरा नमस्कार है ॥ ४५ ॥ (सुबन्त तिङन्त) पद जिसके अङ्ग हैं, (पाँच प्रकारकी) सन्धि जिसके अङ्गोंके जोड हैं, स्वर और व्यञ्जन जिसके भूषण हैं और जिसको दिव्य अक्षर कहते हैं ऐसे वाणीरूप (परमात्मा) को नमस्कार है ॥ ४६ ॥ जिसने महायज्ञका अङ्गरूप वराह बनकर तीनों लोकोंके हितके लिये पृथिवीका उद्धार किया था उस वीर्यात्माको नमस्कार है ॥ ४७ ॥ जो अपनी योगमायाका आश्रय लेकर शेषनागके हजार फणोंसे रचेहुए शोभायमान पलँग पर पौढते हैं उन निद्रारूप परमात्माको नमस्कार है ॥ ४८ ॥ धर्मके लिये ही जिनका बोलना आदि सब व्यवहार है ऐसी (वशमें की हुई) इन्द्रियोंके द्वारा मोक्ष देनेवाले वेदमें कहेहुए सत्य उपायसे सत्पुरुषोंको संसारसागरके पार उतारने वाले योगधर्मरूप सेतुका जो विस्तार करते हैं उन सत्यरूपको नमस्कार है ॥४९॥ अलग २ धर्मोंका आचरण करनेवाले और अलग२ धर्मके फलको चाहनेवाले पुरुष अलग२ धर्मोंके द्वारा जिनका पूजन करते हैं उन धर्मरूपको मेरा नमस्कार है ॥ ५० ॥ जिस अनङ्गसे कामनारूप शरीरवाले सब प्राणी उत्पन्न होते हैं और जो सब प्राणियोंका उन्मादरूप है,

स्थमव्यक्तं विचिन्वन्ति महर्षयः । क्षेत्रे क्षेत्रज्ञमासीनं तस्मै क्षेत्रात्मने नमः ॥ ५२ ॥ यं त्रिधात्मानमात्मस्थं वृतं षोडशभिर्गुणैः । प्राहुः सप्तदशं सांख्यास्तस्मै सांख्यात्मने नमः ॥ ५३ ॥ यं विनिद्रा जितश्वासाः सत्त्वस्थाः संयतेन्द्रियाः । ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः ॥ ५४ ॥ अपुण्यपुण्योपरमे यं पुनर्भवनिर्भयाः । शान्ताः संन्यासिनो यान्ति तस्मै मोक्षात्मने नमः ॥५५॥ योऽसौ युगसहस्रान्ते प्रदीप्तार्चिर्विभावसुः । संभक्षयति भूतानि तस्मै घोरात्मने नमः ॥ ५६ ॥ संभक्ष्य सर्वभूतानि कृत्वा चैकार्णवं जगत् । बालः स्वपिति यश्चैकस्तस्मै मायात्मने

उस कामरूप परमात्माको नमस्कार है ॥ ५१ ॥ व्यक्त शरीरमें इन्द्रियादिके अगोचर रूपसे रहनेवाले जिसको महर्षि खोजते हैं, जो क्षेत्र (शरीर)में क्षेत्रज्ञरूपसे विराजमान है उस क्षेत्रात्माको नमस्कार है ॥ ५२ ॥ जो जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंवाला है, जो आत्मस्वरूपमें रहता है, जो (पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच भूत और मन इन) सोलह विकारों से लिपटा हुआ है जिसको सांख्यशास्त्रके ज्ञाता सत्रहवाँ तत्त्व कहते हैं,उन सांख्यरूप परमात्माको प्रणाम है ॥ ५३ ॥ जिनको निद्रा नहीं सताती, जिन्होंने प्राणोंको वशमें करलिया है, जो इन्द्रियोंको विषयोंसे लौटाकर मनमें स्थित हैं, ऐसे योगाभ्यास करनेवाले योगी जिस ज्योतिःस्वरूपका दर्शन करते हैं उस योगरूप परमात्माको प्रणाम है॥५४॥ पाप पुण्यका क्षय होजाने पर, पुनर्जन्मसे निर्भय हुये शान्त संन्यासी जिसको प्राप्त होते हैं उस मोक्षरूप परमात्माको प्रणाम है ॥५५॥ जो हजार युगके अन्तमें प्रलयकालमें भकभकाती हुई लपटोंवाला अग्निरूप होकर सकल भूतोंका भक्षण करजाता है, उस घोररूप परमात्माको प्रणाम है ॥ ५६ ॥ जो सकल प्राणियोंका भक्षण करके और

नमः ॥ ५७ ॥ तद्यस्य नाभ्यां संभूतं यस्मिन् विश्वं प्रतिष्ठितम्।
पुष्करे पुष्कराक्षस्य तस्मै पद्मात्मने नमः ॥ ५८ ॥ सहस्रशिरसे
चैव पुरुषायामितात्मने । चतुःसमुद्रपर्य्यायचोगनिद्रात्मने नमः५६
यस्य केशेषु जीमूता नद्यः सर्वाङ्गसन्धिषु । कुक्षौ समुद्राश्चत्वार-
स्तस्मै तोयात्मने नमः ॥ ६० ॥ यस्मात् सर्वाः प्रसूयन्ते सर्गप्र-
लयविक्रियाः । यस्मिंश्चैव प्रलीयन्ते तस्मै हेत्वात्मने नमः ६१
यो निषण्णो भवेद्रात्रौ दिवा भवति विष्ठितः । इष्टानिष्टस्य च द्रष्टा
तस्मै द्रष्टात्मने नमः ॥ ६२ ॥ अकुण्ठं सर्वकार्य्येषु धर्मकार्य्यार्थ-
मुद्यतम् । वैकुण्ठस्य च तद्रूपं तस्मै कार्य्यात्मने नमः ॥ ६३ ॥

सकल जगत्को एक समुद्ररूप (जलमय) करके बालकके रूपमें अकेला शयन करता है उस मायारूप परमात्माको प्रणाम है।५७। जिस कमलकी समान नाभिवाले परमात्माके नाभिमेंसे कमलरूप उत्पन्न हुआ है और जिस कमलमें यह विश्व रहता है, उस कमलरूप परमात्माको प्रणाम है ॥ ५८ ॥ जिसके हजार मस्तक हैं, अनन्त स्वरूप हैं, जिसमें चार समुद्रकी समान विशाल चार कामनायें नष्ट होगई हैं ऐसे योगनिद्रारूप परमात्माको प्रणाम है५६ जिसके केशोंमें मेघ हैं, सब शरीरके जोड़ोंमें नदियें हैं और कोंखमें चार समुद्र हैं उस जलरूप परमात्माको प्रणाम है ॥ ६० ॥ जिससे उत्पत्ति और प्रलयरूप सब विकार उत्पन्न होते हैं और फिर जिसमें लीन होजाते हैं, उस कारणरूपको प्रणाम है।।६१।। जो रात और दिनमें (जाग्रत् और सुषुप्तिमें) साक्षिरूपसे जागता रहता है और जो भले बुरेका देखनेवाला है, उस द्रष्टारूप परमात्माको नमस्कार है ॥ ६२ ॥ जो विना रुकावट सब कामोंको करडालता है, जो नित्य धर्मकार्य करनेको तत्पर रहता है और वैकुण्ठ जिसका रूप है, उस कार्यरूप परमात्माको नमस्कार है ॥ ६३ ॥ जिन्होंने अधर्मसे धर्म की मर्यादाके गौरवका

त्रिःसप्तकृत्वो यः क्षत्रं धर्मवित् क्रान्तगौरवम् । क्रुद्धो निजघ्ने समरे तस्मै क्रौर्यात्मने नमः ६४ विभज्य पञ्चधात्मानं वायुर्भूत्वा शरीरगः । यश्चेष्टयति भूतानि तस्मै वाय्वात्मने नमः ॥ ६५ ॥ युगेष्वावर्त्तते योगैर्मासर्त्वयनहायनैः । सर्गप्रलययोः कर्त्ता तस्मै कालात्मने नमः ॥ ६६ ॥ ब्रह्मवक्त्रं भुजौ क्षत्रं कृत्स्नमूरूदरं विशः । पादौ यस्याश्रिताः शूद्रास्तस्मै वर्णात्मने नमः ॥ ६७ ॥ यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्द्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः। सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मै लोकात्मने नमः६८परःकालात् परो यज्ञात्परात्परतरश्च यः । अनादिरादिर्विश्वस्य तस्मै विश्वात्मने नमः ॥६९॥ विषये वर्त्तमानानां यन्तं वैशेषिकैर्गुणैः । प्राहुर्विषयगोप्तारं तस्मै गोप्त्रा-

---

उल्लङ्घन किया था, ऐसे क्षत्रियोंका जिन्होंने क्रोधमें भरकर रणमें इक्कीस बार संहार किया उन क्रूरात्मा (परशुरामरूप) परमात्माको नमस्कार है ॥ ६४ ॥ जो अपने पाँच विभाग करके पाँच वायुरूप हुआ सब शरीरमें विचरता है और सब प्राणियोंको चेष्टावाले करता है, उस वायुरूप परमात्माको नमस्कार है ।६५। जो सत्य आदि युगोंमें योगमायाके प्रभावसे (मत्स्य कूर्म आदि) अवतार धारण करता है और जो मास, ऋतु, अयन तथा वर्षोंके द्वारा जगत्की उत्पत्ति और प्रलय करता है, उस कालरूप परमात्माको नमस्कार है ॥ ६६ ॥ ब्राह्मण जिसका मुख है, क्षत्रिय जिसकी भुजा हैं, वैश्य जिसकी जंघा और पेट हैं तथा शूद्र जिसके चरणोंमें आश्रय पायेहुए हैं, उस वर्णरूप परमात्माको नमस्कार है ॥ ६७ ॥ जिसका मुख अग्नि, मस्तक स्वर्ग, नाभि आकाश दोनों चरण पृथिवी, चक्षु सूर्य और कान दिशायें हैं, उस लोकस्वरूप परमात्माको नमस्कार है ॥ ६८ ॥ जो कालसे पर है, यज्ञसे पर है और परसे भी पर है तथा जो विश्वका आदि है, उस अनादि विश्वात्माको नमस्कार है ।६९।

त्मने नमः ॥ ७० ॥ अन्नपानेन्धनमयो रसप्राणविवर्द्धनः । यो धारयति भूतानि तस्मै प्राणात्मने नमः ॥ ७१ ॥ प्राणानां धारणार्थाय योन्नं भुङ्क्ते चतुर्विधम् । अन्तर्भूतः पचत्यग्निस्तस्मै पाकात्मने नमः ॥७२॥ पिंगेक्षणसटं यस्य रूपं दंष्ट्रानखायुधम् । दानवेन्द्रान्तकरणं तस्मै दृप्त्यात्मने नमः ॥७३॥ यं न देवा न गन्धर्वा न दैत्या न च दानवाः । तत्त्वतो हि विजानन्ति तस्मै सूक्ष्मात्मने नमः ॥ ७४ ॥ रसातलगतः श्रीमाननन्तो भगवान् विभुः । जगद्धारयते कृत्स्नं तस्मै वीर्यात्मने नमः ॥ ७५ ॥ यो मोहयति भूतानि स्नेहपाशानुबन्धनैः । सर्गस्य रक्षणार्थाय तस्मै मोहा-

---

वैशेषिक दर्शनमें वर्णन कियेहुए गुणोंके अनुसार जगत्के मनुष्य जिसको जगत्का रक्षक मानते हैं, उस जगत्के रक्षकरूप परमात्माको नमस्कार है ॥ ७० ॥ जो अन्न और जलरूप ईंधनसे शरीरमेंके रस और प्राणकी वृद्धि करता है तथा सब प्राणियोंको टिकाये रहता है, उस प्राणात्माको नमस्कार है ॥ ७१ ॥ जो प्राणोंको धारण करनेके लिये चार प्रकारके अन्नका भोजन करता है और शरीरके भीतर अग्निरूपसे रहकर उसको पचाता है, उस पाकरूप परमात्माको नमस्कार है ॥७२॥ (आधा मनुष्यका और आधा सिंहका रूप धारण करनेवाले जिसके) नेत्र और ग्रीवाके बाल पीले वर्णके हैं, डाढ़ और नख ही जिसके शस्त्र हैं तथा जो दानवेन्द्र हिरण्यकशिपुका नाश करनेवाला है, उस अहङ्काररूप (नृसिंहावतारधारी) परमात्माको नमस्कार है ॥ ७३ ॥ जिसको यथार्थरूपसे न देवता, न गन्धर्व, न दैत्य और न दानव ही जानते हैं, उस सूक्ष्मरूपको नमस्कार है ॥ ७४ ॥ जो श्रीमान्, अनन्त, भगवान् और व्यापक है तथा जो अनन्त (शेषनाग) रूपसे पातालमें जाकर सब जगत्को धारण करता है, उस वीर्यात्माको प्रणाम है ॥७५॥ जो सृष्टिकी रक्षाके लिये

त्मने नमः ॥७६॥ आत्मज्ञानमिदं ज्ञानं ज्ञात्वा पञ्चस्ववस्थितम् ।
यं ज्ञानेनाभिगच्छन्ति तस्मै ज्ञानात्मने नमः ॥ ७७ ॥
अप्रमेयशरीराय सर्वतो बुद्धिचक्षुषे । अनन्तपरिमेयाय तस्मै दिव्या-
त्मने नमः ॥ ७८ ॥ जटिने दण्डिने नित्यं लम्बोदरशरीरिणे ।
कमण्डलुनिषङ्गाय तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥ ७९ ॥ शूलिने त्रिद-
शेशाय त्र्यम्बकाय महात्मने । भस्मदिग्धोर्ध्वलिंगाय तस्मै रुद्रा-
त्मने नमः ॥८०॥ चन्द्रार्द्धकृतशीर्षाय व्यालयज्ञोपवीतिने । पिनाक
शूलहस्ताय तस्मै उग्रात्मने नमः ॥ ८१ ॥ सर्वभूतात्मभूताय
भूतादिनिधनाय च । अक्रोधद्रोहमोहाय तस्मै शान्तात्मने नमः८२

स्नेहपाशरूप बन्धनोंसे प्राणियोंको मोहमें डालता है, उस मोहात्मा
को प्रणाम है ॥ ७६ ॥ योगीजन पञ्चमहाभूतोंमें विद्यमान जिस
अज्ञानरूप आत्मज्ञानको जानकर उस ज्ञानके द्वारा जिस स्वरूप
को प्राप्त करते हैं, उस ज्ञानात्माको प्रणाम है॥ ७७ ॥जो इन्द्रियों
के गोचर न होनेवाले शरीरको धारण करता है, जिसकी बुद्धि-
रूप नेत्र सर्वत्र व्यापरहे हैं और जो अपार पदार्थोंसे भराहुआहै
उस दिव्यदेहधारीको प्रणाम है ॥ ७८ ॥ जो नित्य जटा और
दण्डको धारण करता है, जो लम्बोदर शरीरवाला है, और जो
कमण्डलुके जलरूप भाथेवाला है, उस ब्रह्मारूप परमात्माको
प्रणाम है, ॥६८॥ जो शूलधारी देवताओंका स्वामी है, जो तीन
नेत्रोंवाला महात्मा शरीर पर भस्म धारण किये रहता है तथा
(ऊपरको उठीहुई मूर्त्तिवाला) है. उस रुद्रात्माको प्रणाम है ८०
जिसने मस्तक पर आधे चन्द्रमाको धारण किया है, जो सर्पका
यज्ञोपवीत पहरे हुएहै और जो हाथमें पिनाक धनुष और त्रिशूलको
धारण किये हुये है, उस उग्ररूपको प्रणाम है८१ जो सकल प्राणियों
का आत्मा है, जो सकल प्राणियोंके आदि और अन्तका कारण
है और जो द्रोह मोहसे रहित है, उस शान्तरूपको प्रणाम है॥८२॥

यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वः सर्वतश्च यः। यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः॥ ८३॥ विश्वकर्मन्नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन् विश्वसम्भव। अपवर्गस्तु भूतानां पञ्चानां परतः स्थितः॥८४ नमस्ते त्रिषु लोकेषु नमस्ते परतस्त्रिषु। नमस्ते दिक्षु सर्वासु त्वं हि सर्वमयो निधिः॥ ८५॥ नमस्ते भगवन् विष्णो लोकानां प्रभवाव्यय। त्वं हि कर्त्ता हृषीकेश संहर्त्ता चापराजितः॥८६॥ न हि पश्यामि ते भाव्यं दिव्यं हि त्रिषु वर्त्मसु। त्वान्तु पश्यामि तत्त्वेन यत्ते रूपं सनातनम्॥ ८७॥ दिवन्ते शिरसा व्याप्तं पद्भ्यां देवी वसुन्धरा। विक्रमेण त्रयो लोकाः पुरुषोसि सनातनः॥८८॥ दिशो भुजा रविश्चक्षुर्वीर्य्ये शुक्रः प्रजापतिः। सप्त

यह सब विश्व जिसमें रहता है, यह विश्व जिससे उत्पन्न हुआ है,जो सर्व स्वरूप है,जो सबमें व्यापरहा है,और जो नित्य सर्वमय है, उस सर्वात्माको नमस्कार है॥ ८३॥ हे विश्वको रचनेवाले! आपको नमस्कार है,हे विश्वात्मन्! हे विश्वसम्भव! हे मुक्तिमें स्थित रहनेवाले! तुम पाँचों भूतोंसे परे रहते हो॥८४॥ तीनों लोकोंमें व्याप्त आपको नमस्कार है त्रिलोकीसे परे रहनेवाले आपको नमस्कार है,सब दिशाओंमें व्यापक आपको नमस्कार है, निःसन्देह तुम सर्वमय भण्डार हो॥८५॥ हे लोकोंकी उत्पत्ति और प्रलय करनेवाले भगवन् विष्णो! आपको नमस्कार है, हे हृषीकेश! तुम निःसन्देह उत्पत्ति कर्त्ता, प्रलयकर्त्ता,और किसीके जीतनेमें न आनेवाले हो॥ ८६॥ भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों ही कालमें मैं तुम्हारे दिव्य स्वरूपको नहीं देखसकता हूँ, परन्तु तत्त्वसे आपके सनातनरूपको मैं देखता हूँ॥८७॥ आपके मस्तकसे स्वर्ग व्याप्त होरहा है, चरणोंसे पृथिवी देवी व्याप्त हो रही है और पराक्रमसे तीनों लोक व्याप्त होरहे हैं, वास्तवमें तुम सनातन पुरुष हो८८दिशायें आपकी भुजा हैं,सूर्य तुम्हारा नेत्र है,

मार्गा निरुद्धास्ते वायोरमिततेजसः ॥ ८९ ॥ अतसीपुष्पसङ्काशं पीतवाससमच्युतम् । ये नमस्यन्ति गोविन्दं न तेषां विद्यते भयम् ॥ ९० ॥ एकोपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः । दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥९१॥ कृष्णव्रताः कृष्णमनुस्मरन्तो रात्रौ च कृष्णं पुनरुत्थिता ये । ते कृष्णदेहाः प्रविशन्ति कृष्णमाज्यं यथा मन्त्रहुतं हुताशने ॥ ९२ ॥ नमो नरकसन्त्रासरक्षामण्डलकारिणे । संसारनिम्नगावर्त्ततरिकाष्ठाय विष्णवे ॥ ९३ ॥ नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च । जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥९४॥प्राणकान्तारपाथेयं संसारोच्छेदभेषजम् । दुःखशोक-

वीर्य आपका शुक्र, हैं, अपार पराक्रमवाले आपके वायुसे सातों मार्ग रुकेहुए हैं ॥ ८९ ॥ अलसीके फूलकी समान कान्तिवाले, पीताम्बरधारी, अच्युत गोविन्द (वेदवाणीके रक्षक) को जो नमस्कार करते हैं, उनको (मृत्युका) भय नहीं रहता है ॥९०॥ एक वार भी कृष्णको प्रणाम करना दश अश्वमेध यज्ञोंके अन्तमें अवभृथ नामक स्नान करनेकी समान है, दश अश्वमेध यज्ञ करनेवाला फिर जन्म पाता है, परन्तु कृष्णको प्रणाम करने वालेका फिर जन्म नहीं होता ॥ ९१ ॥ जो कृष्णका ही व्रत करते हैं, कृष्णका ही स्मरण करते हैं, रात्रिमें और फिर जागने पर कृष्णका ही स्मरण करते हैं वे (मरणके बाद) कृष्णरूप होकर इसप्रकार कृष्णमें प्रवेश करते हैं जैसे होमा हुआ घी अग्निमें प्रवेश करजाता है ॥ ९२ ॥ नरकके त्रासमेंसे पूर्णरूपसे रक्षा करनेवाले और संसाररूपी नदीके भँवरोंसे तरनेके लिये नौकारूप विष्णुको नमस्कार है ॥९३॥ ब्राह्मणोंके देव, गौ और ब्राह्मणोंका हित करनेवाले, जगत्के हितकारी और वेदवाणीकी रक्षा करने वाले कृष्णको नमस्कार है ॥ ९४ ॥ 'हरि' ये दो अक्षर संसार

परित्राणं हरिरित्यक्षरद्वयम्॥९५॥यथा विष्णुमयं सत्यं तथा विष्णुमयं जगत्। यथा विष्णुमयं सर्वं पाप्मा मे नश्यतान्तथा॥९६॥त्वां प्रपन्नाय भक्ताय गतिमिष्टां जिगीषवे। यच्छ्रेयः पुण्डरीकाक्ष तद्ध्यायस्व सुरोत्तम॥९७॥इति विद्यातपोयोनिरयोनिर्विष्णुरीडितः। वाग्यज्ञेनार्चितो देवः प्रीयतां मे जनार्दनः॥९८॥नारायणः परं ब्रह्म नारायणपरं तपः। नारायणः परो देवः सर्वं नारायणः सदा॥ ९९॥ वैशम्पायन उवाच। एतावदुक्त्वा वचनं भीष्मस्तद्गतमानसः। नम इत्येव कृष्णाय प्रणाममकरोत्तदा॥ १००॥ अभिगम्य तु योगेन भक्तिं भीष्मस्य माधवः। त्रैलोक्यदर्शनं ज्ञानं दिव्यं दत्त्वा ययौ

रूप वनमें प्राणियोंके आधार संसार (रोग) को नष्ट करनेमें औषधरूप तथा दुःख और शोकसे रक्षा करनेवाले हैं॥ ९५॥ जैसे सत्य विष्णुमय है, तैसे ही जगत् विष्णुमय है, जैसे सब विष्णुमय है, तैसे ही (मेरा मन भी विष्णुमय है, इसलिये) मेरा पाप नष्ट होजाय ॥ ९६॥ हे पुण्डरीकाक्ष! यह भक्त इच्छित गति पानेकी इच्छासे आपकी शरणमें आया है, इसलिये हे देवोत्तम! जिसप्रकार इसका भला हो वही विचार कीजिये९७ जो विद्या और तपस्याका कारणरूप हैं, जो अजन्मा विष्णुरूप हैं, जिनकी मैंने स्तुति की है और वाणीरूप यज्ञमे पूजन किया है, वह जनार्दन देव मेरे ऊपर प्रसन्न हों ९८ परब्रह्म नारायणरूप है, तप नारायणके आधार पर है, नारायण परमदेव हैं और यह सब सदा नारायणरूप हैं९९वैशम्पायन कहते हैं, कि—जिनका मन श्रीकृष्णमें पहुँचगया है, ऐसे भीष्मजीने इसप्रकार स्तुति करके 'कृष्णाय नमः' कहतेहुए उस समय श्रीकृष्णको प्रणाम किया॥१००॥ माधव हरिने भीष्मकी भक्तिको योगबलसे जान कर उनको त्रिलोकीका दर्शन देनेवाला दिव्य (भूत भविष्यत्, और वर्त्तमानका) ज्ञान, दिया तहाँसे लौटकर फिर अपनी शय्या पर

हरिः ॥ १०१ ॥ तस्मिन्नुपरते शब्दे ततस्ते ब्रह्मवादिनः । भीष्मं वाग्भिर्बाष्पकण्ठास्तमानर्चुर्महामतिम् ॥ १०२ ॥ ते स्तुवन्तश्च विप्राग्र्याः केशवं पुरुषोत्तमम् । भीष्मञ्च शनकैः सर्वे प्रशशंसुः पुनः पुनः ॥ १०३ ॥ विदित्वा भक्तियोगन्तु भीष्मस्य पुरुषोत्तमः । सहसोत्थाय संहृष्टो यानमेवान्वपद्यत ॥ १०४ ॥ केशवः सात्यकिश्चापि रथेनैकेन जग्मतुः । अपरेण महात्मानौ युधिष्ठिरधनञ्जयौ ॥ १०५ ॥ भीमसेनो यमौ चोभौ रथमेकं समाश्रिताः । कृपो युयुत्सुः सूतश्च सञ्जयस्तु परन्तपः ॥ १०६ ॥ ते रथैर्नगराकारैः प्रयाताः पुरुषर्षभाः । नेमिघोषेण महता कम्पयन्तो वसुन्धराम् ॥ १०७ ॥ ततो गिरः पुरुषवरस्तवान्विताः द्विजेरिताः

आगये(और युधिष्ठिरने उनको जगाया) ॥१०१॥ जब भीष्मजीका बोलना बन्द होगया तब वेद पढ़ेहुए ब्राह्मण (जो उनके चारों ओर बैठे थे)आँखोंमें आँसू भरे गद्गद वाणीसे भीष्मजीकी स्तुति करने लगे ॥ २ ॥ इकट्ठे हुए सब उत्तम ब्राह्मण,पहले पुरुषोत्तम केशवकी स्तुति करनेलगे और फिर कोमल स्वरसे धीरे २ भीष्म जीकी प्रशंसा करनेलगे ॥३॥ पुरुषोत्तम (योगशक्तिसे) भीष्मकी अपने मनमें भक्ति जानकर बड़े प्रसन्न हुए और एकसाथ उठ रथमें सवार होगए, कृष्ण और सात्यकी एक ही रथमें बैठकर चले, दूसरे रथमें महात्मा युधिष्ठिर और धनञ्जय बैठ, भीम नकुल और सहदेव भी एक रथमें बैठे, कृपाचार्य, युयुत्सु और सूतवंशी परन्तप सञ्जय अपने २ रथोंमें बैठे तथा सब नगरकेसे आकारवाले बड़े२रथोंमें बैठकर पहियोंकी बड़ीभारी घरघराहटसे पृथिवीको कम्पायमान करतेहुए भीष्मजीके पासको चल दिये ॥ ४–७ ॥ जब वे मार्गमें जारहे थे उस समय वे ब्राह्मण स्तुति करनेलगे,वह स्तुति पुरुषोत्तम कृष्णने प्रसन्न मनसे सुनी, कितने ही मनुष्य दोनों हाथ जोड़कर उनको प्रणाम करने लगे,

पार्थ सुमनाः सशुश्रुवे । कृताञ्जलिं प्रणतमथापरं जनं स केशिहा मुदितमनाभ्यनन्दत ॥ १०८ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि भीष्मस्तवराजे सप्तचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

वैशम्पायन उवाच । ततः स च हृषीकेशः स च राजा युधिष्ठिरः । कृपादयश्च ते सर्वे चत्वारः पाण्डवाश्च ते ॥ १ ॥ रथैस्तैर्नगराकारैः पताकाध्वजशोभितैः । ययुराशु कुरुक्षेत्रं वाजिभिः शीघ्रगामिभिः ॥२॥ तेऽवतीर्य कुरुक्षेत्रं केशमज्जास्थिसंकुलम् । देहन्यासः कृतो यत्र क्षत्रियैस्तैर्महात्मभिः ॥ ३ ॥ गजाश्वदेहास्थिचयैः पर्वतैरिव सञ्चितम् । नरशीर्षकपालैश्च शंखैरिव च सर्वशः ॥ ४ ॥ चितासहस्रप्रचितं वर्मशस्त्रसमाकुलम् । आपानभूमिं कालस्य तदा भुक्तोज्झितामिव ॥ ५ ॥ भूतसंघानुचरितं

केशी दैत्यका नाश करनेवाले कृष्णने उनको अभिनन्दन किया ॥ १०८ ॥ सैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ४७ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे राजा जनमेजय ! श्रीकृष्ण राजा युधिष्ठिर, कृपाचार्य आदि दूसरे लोग तथा चारों पाण्डव नगरकी समान आकृतिवाले, पताका और ध्वजाओंसे शोभायमान और शीघ्र चलनेवाले घोड़ोंसे जुते रथोंमें बैठकर कुरुक्षेत्रमें भीष्मजीके पास पहुँचनेके लिये हस्तिनापुरसे चलदिये॥ १॥ २॥ वे सब, जहाँ महात्मा क्षत्रियोंने अपने शरीर त्यागे थे और जहाँ केश, मज्जा तथा हड्डियोंके ढेर लगेहुए थे तहाँ पहुँचे ॥ ३ ॥ कुरुक्षेत्रमें हाथी घोड़ोंके शरीर और हड्डियोंके ढेर लगेहुए थे, वे पहाड़से मालूम होते थे, चारों ओर शङ्खोंके तथा मनुष्योंके शिरोंकी खोपड़ियोंके भी ढेर लगे हुए थे ॥ ४ ॥ तहाँ हजारों चितायें सुलगरही थीं, कुरुक्षेत्र कवच और शस्त्रोंसे भराहुआ था, वह कालकी, भोजन करनेके बाद छोड़ी हुई जलपान करनेकी

रक्षोगणनिषेवितम् । पश्यन्तस्ते कुरुक्षेत्रं ययुराशु महारथाः ॥६॥ गच्छन्नेव महाबाहुः सर्वयादवनन्दनः। युधिष्ठिराय प्रोवाच जामदग्न्यस्य विक्रमम् ॥ ७ ॥ अमी रामह्रदाः पञ्च दृश्यन्ते पार्थ दूरतः। येषु सन्तर्पयामास पितॄन् क्षत्रियशोणितैः ॥ ८ ॥ त्रिःसप्तकृत्वो वसुधां कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः। इहेदानीं ततो रामः कर्मणो विरराम ह ॥९॥ युधिष्ठिर उवाच। त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा। रामेणेति यथात्थ त्वमत्र मे संशयो महान् ॥१०॥ क्षत्रबीजं यदा दग्धं रामेण यदुपुङ्गव। कथं भूयः समुत्पत्तिः क्षत्रस्यामितविक्रम ॥ ११ ॥ महात्मना भगवता रामेण यदुपुङ्गव। कथमुत्सादितं क्षत्रं कथं वृद्धिमुपागतम् ॥१२॥ महता

भूमिसी मालूम होती थी ॥ ५ ॥ वह स्थान भूत, प्रेत और राक्षसोंके टोलोंसे भराहुआ था, ऐसे कुरुक्षेत्रको देखतेहुए वे महारथी शीघ्रतासे आगेको बढ़ने लगे ॥ ६ ॥ सब यादवोंको प्रसन्न करनेवाले महाबाहु श्रीकृष्णने मार्गमें जातेर युधिष्ठिरको परशुरामका पराक्रम सुनानेकी इच्छासे कहा, कि-॥७॥ हे युधिष्ठिर ! वे दूर पर जो पाँच सरोवर दीखरहे हैं, वे परशुरामके नामसे प्रसिद्ध हैं, परशुरामने इकीस वार पृथिवीको क्षत्रियहीन करके उन क्षत्रियोंके रुधिरसे इन सरोवरोंको बनाकर अपने पितरोंको तृप्त किया था ॥ ८ ॥ तब उस घोर कर्मसे रुके थे अर्थात् प्राचीन कालसे ही शत्रुओंका वध करनेकी रीति चली आती है ॥ ९ ॥ युधिष्ठिर बोले, कि-आपने कहा, कि-पहले समयमें परशुरामने इक्कीस वार पृथिवीको निःक्षत्रिय किया था, परन्तु मुझे इस विषयमें बड़ा सन्देह है ॥ १० ॥ हे अपार पराक्रमी यदुश्रेष्ठ कृष्ण ! यदि परशुरामने क्षत्रियोंका बीजनाश करदिया था तो फिर क्षत्रियोंकी उत्पत्ति कहाँसे हुई ? ॥११॥ हे यदुश्रेष्ठ कृष्ण!महात्मा परशुरामने पहले किस कारणसे शत्रुओं

रथयुद्धेन कोटिशः क्षत्रिया हताः । तथाभूच्च मही कीर्णा क्षत्रियै-र्वदताम्वर ॥१३॥ किमर्थं भार्गवेणेदं क्षत्रमुत्सादितं पुरा । रामेण यदुशार्दूल कुरुक्षेत्रे महात्मना ॥ १४ ॥ एतन्मे छिन्धि वार्ष्णेय संशयं तार्क्ष्यकेतन । आगमो हि परः कृष्ण त्वत्तो नो वास-वानुज ॥ १५ ॥ वैशम्पायन उवाच । ततो यथावत् स गदाग्रजः प्रभुः शशंस तस्मै निखिलेन तत्त्वतः । युधिष्ठिरायाप्रतिमौजसे तदा यथाभवत् क्षत्रियसंकुला मही ॥ १६ ॥ छ छ

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि रामोपाख्याने अष्टचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

वासुदेव उवाच । शृणु कौन्तेय रामस्य प्रभावो यो मया श्रुतः। महर्षीणां कथयतां विक्रमं तस्य जन्म च ॥ १ ॥ यथा च जाम-

---

का नाश किया था ? और फिर क्षत्रियोंकी वृद्धि कैसे हुई थी ? ॥ १२ ॥ हे यदुसिंह कृष्ण ! महात्मा परशुरामने बड़ा भारी युद्ध करके पहले करोड़ों क्षत्रियोंको मारडाला था तो भी फिर पृथिवी क्षत्रियोंसे वैसी ही भरपूर होगई, भृगुवंशी महात्मा परशुरामने कुरुक्षेत्रमें क्षत्रियोंका नाश क्यों किया था॥१३-१४॥ हे वृष्णिवंशी ! इस विषयमें मेरे मनमें जो सन्देह है उसको हे गरुड़ध्वज ! दूर करदीजिये,क्योंकि-हे उपेन्द्र कृष्ण ! वेद भी आपके वचनसे श्रेष्ठ नहीं है ॥१५॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे राजा जनमेजय ! युधिष्ठिरके प्रश्नको सुनकर गदके वड़ेभाई कृष्णने,जिसप्रकार पृथिवी मरणको प्राप्त हुए क्षत्रियोंसे भरगई थी वह सब वृत्तान्त ठीक २ अनुपम बलशाली युधिष्ठिरको कह-सुनाया ॥ १६ ॥ अड़तालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ४८ ॥

श्रीकृष्णने कहा, कि-हे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर!परशुरामके प्रभाव, पराक्रम और जन्मका वृत्तान्त मैंने महर्षियोंके मुखसे कथाके प्रसङ्गमें जैसा सुना है वह तुम्हें सुनाता हूँ ? जमदग्निके पुत्रने जो

दग्न्येन कोटिशः क्षत्रिया हताः । उद्भूता राजवंशेषु ये भूयो भारते हताः ॥ २ ॥ जह्नोरजस्तु तनयो बलाकाश्वस्तु तत्सुतः । कुशिको नाम धर्मज्ञस्तस्य पुत्रो महीपते॥३ । अग्र्यं तपः समातिष्ठत् सहस्राक्षः पुरन्दरः । समर्थं पुत्रजनने स्वयमेवान्वपद्यत ॥ ५ ॥ पुत्रत्वमगमद्राजंस्तस्य लोकेश्वरेश्वरः । गाधिर्नामाऽभवत् पुत्रः कौशिकः पाकशासनः ॥ ६ ॥ तस्य कन्याभवद्राजन्नाम्ना सत्यवती प्रभो । तां गाधिर्भृगुपुत्राय सर्चीकाय ददौ प्रभुः ॥ ७ ॥ तस्याः प्रीतः स शौचेन भार्गवः कुरुनन्दन । पुत्रार्थं श्रपयामास चरुं गाधेस्तथैव च ॥ ८ ॥ आहूयोवाच तां भार्यां सर्चीको भार्गवस्तदा । उपयोज्यश्चरुरयं त्वया मात्राप्ययं तव ॥६॥ तस्या

करोड़ों क्षत्रियोंको मारडाला था वे फिर राजाओंके वंशमें उत्पन्न हुए थे और वे भारतके युद्धमें फिर मारेगए हैं, उनकी कथा तुम सुनो ॥ २ ॥ हे राजन् ! जन्हुके अज नामका पुत्र हुआ, उसके बलाकाश्व नामका पुत्र हुआ, हे राजन् ! उसका पुत्र कुशिक हुआ, वह धर्मका ज्ञाता था ॥३॥ वह पृथिवी पर इन्द्रकी समान बलवान् मानाजाता था उसने, जो तीनों लोकोंका राजा हो, ऐसे अजित पुत्रको पानेके लिये बड़ाभारी तप करना आरम्भ करदिया ॥ ४ ॥ पुत्र उत्पन्न करसकनेवाले उस राजाको महाभयानक तप करते हुए देखकर हजार नेत्रोंवाला इन्द्र आप ही कुशिकके यहाँ पुत्र रूपसे उत्पन्न हुआ, उसका नाम गाधी पड़ा ॥ ५ ॥ ६ ॥ इस गाधी राजाके एक सत्यवती नामकी पुत्री थी, हे राजन् ! वह सत्यवती भृगुके पुत्र ऋचीकको व्याही गई थी ॥ ७ ॥ हे कुरुनन्दन ! सत्यवतीकी बाहरी और भीतरी पवित्रतासे भृगुनन्दन ऋचीक बड़े ही प्रसन्न हुए और उसको पुत्र देनेके लिये एक चरु तयार किया तथा अपने ससुर गाधीको भी पुत्र देनेके लिये एक चरु तयार किया ॥ ८ ॥ फिर अपनी

जनिष्यते पुत्रो दीप्तिमान् क्षत्रियर्षभः। अजय्यः क्षत्रियैर्लोके क्षत्रियर्षभसूदनः॥ १०॥ तवापि पुत्रं कल्याणि धृतिमन्तं शमात्मकम्। तपोन्वितं द्विजश्रेष्ठं चरुरेष विधास्यति॥ ११॥ इत्येवमुक्त्वा तां भार्य्यां सर्चीको भृगुनन्दनः। तपस्यभिरतः श्रीमान् जगामारण्यमेव हि॥ १२॥ एतस्मिन्नेव काले तु तीर्थयात्रापरो नृपः। गाधिः सदारः सम्प्राप्तः सर्चीकस्याश्रमं प्रति॥१३॥ चरुद्वयं गृहीत्वा च राजन् सत्यवती तदा। भर्त्तुर्वाक्यं तथा व्यग्रा मात्रे हृष्टा न्यवेदयत्॥ १४॥ माता तु तस्याः कौन्तेय दुहित्रे स्वश्चरुं ददौ। तस्याश्चरुमथाज्ञानादात्मसंस्थं चकार ह॥ १५॥ अथ सत्यवती गर्भं क्षत्रियान्तकरन्तदा। धारयामास दीप्तेन

स्त्री सत्यवतीको बुलाकर ऋचीकने कहा, कि–तू इस चरुको खाना और दूसरा चरु अपनी माताको देना ६ इस चरुको खानेसे तेरी माताके जो पुत्र होगा, वह बडा ही तेजस्वी और क्षत्रियोंमें साँढ की समान(महाबलवान्)होगा, वह क्षत्रियोंके अहङ्कारको उतारेगा और जगत्‌में कोई भी क्षत्रिय उसको नहीं जीतसकेगा॥ १०॥ और हे कल्याणी! तेरे भी इस दूसरे चरुको खानेसे एक पुत्र होगा, जो बडा ही धीरजवान्, शान्त तपस्वी और ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ होगा॥ ११॥ अपनी स्त्री सत्यवतीसे ऐसा कहकर तेजस्वी भृगुनन्दन ऋचीक अपना मन तपस्यामें लगाकर वनमें चलेगए १२ इसी समय राजा गाधी तीर्थयात्राके लिये चलकर अपनी स्त्रीके सहित ऋचीक मुनिके आश्रममें आया॥ १३॥ और हे राजन्! उसी समय अपने पतिकी बात सुनकर प्रसन्न हुई सत्यवतीने व्यग्रतासे दोनों चरु ले अपनी माताको सौंपदिये॥ १४॥ हे कुन्तीनन्दन! परन्तु माताने भूलसे (लौटाकर देतेमें) अपना चरु पुत्रीको देदिया और उसका चरु आप खालिया॥ १५॥ और सत्यवतीने दूसरा चरु खालिया तथा उसने प्रकाशवाले

वपुषा घोरदर्शनम् ॥ १६ ॥ तामृचीकस्तदा दृष्ट्वा तस्यागर्भगतं द्विजम् । अब्रवीद्भृगुशार्दूलः स्वां भार्यां देवरूपिणीम् १७ मात्रासि व्यंसिता भद्रे चरुव्यत्यासहेतुना । भविष्यति हि ते पुत्रः क्रूरकर्मात्यमर्षणः ॥१८॥ उत्पत्स्यते च ते भ्राता ब्रह्मभूतस्तपोरतः । विश्वं हि ब्रह्म सुमहच्चरौ तव समाहितम् ॥ १६ ॥ क्षत्रवीर्यञ्च सकलं तव मात्रे समर्पितम् । विपर्ययेण ते भद्रे नैतदेवं भविष्यति ॥ २० ॥ मातुस्ते ब्राह्मणो भूयात्तव च क्षत्रियः सुतः । सैवमुक्ता महाभागा भर्त्रा सत्यवती तदा ॥ २१ ॥ पपात शिरसा तस्मै वेपन्ती चाब्रवीदिदम् । नार्होऽसि भगवन्नद्य वक्तुमेवंविधं वचः । ब्राह्मणापसदं पुत्रं प्राप्स्यसीति हि मां प्रभो २२ ऋचीक

शरीरसे देखनेमें भयानक और क्षत्रियोंका नाश करनेवाले गर्भको धारण किया ॥१६॥ सत्यवतीके गर्भमें (क्षत्रियअंशी) ब्राह्मणको स्थित देखकर भृगुवंशके सिंहसमान ऋचीकने देवताकी समान रूपवाली अपनी स्त्रीसे कहा, कि-॥ १७ ॥ हे कल्याणी ! तेरी माताने चरुको उलटपुलट कर तुझे धोखा दिया है, इसलिये अब तेरे जो पुत्र होगा वह बड़े ही क्रूर कर्म करनेवाला होगा तथा किसीकी भी बातको नही सहसकेगा ॥१८॥ और तेरी मातासे जो तेरा भाई होगा वह बडा ही तपस्वी और शुद्ध ब्राह्मण होगा क्योंकि-मैंने तेरे चरुमें ब्राह्मणका व्यापक तेज रखदिया था १६ और तेरी माताके चरुमें क्षत्रियकी पूर्ण वीरता रखदी थी, परन्तु चरुके उलटपुलट होजानेसे अब ऐसा नहीं होगा ॥ २० ॥ (किन्तु) तेरी माताके ब्राह्मण पुत्र होगा और तेरे क्षत्रिय पुत्र होगा, ऋचीकने महाभाग्यवती सत्यवतीसे ऐसा कहा ॥ २१ ॥ ऋषिकी बात सुनकर सत्यवतीने काँपते २ उनके चरणोंमें शिर रखकर कहा, कि-हे भगवन् ! आपको ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि-क्या मुझमें आपका ब्राह्मणपनेसे रहित क्षत्रिय पुत्र उत्पन्न

उवाच। नैष सङ्कल्पितः कामो मया भद्रे तथा त्वयि। उग्रकर्मा समुत्पन्नश्चरुव्यत्यासहेतुना ॥ २३ ॥ सत्यवत्युवाच । इच्छंल्लोकानपि मुने सृजेथाः किं पुनः सुतम्। शमात्मकमृजुं पुत्रं दातुमर्हसि मे प्रभो ॥ २४ ॥ ऋचीक उवाच। नोक्तपूर्वानृतं भद्रे स्वैरेष्वपि कदाचन। किमुताग्निं समाधाय मन्त्रवच्चरुसाधने ॥ २५ ॥ दृष्टमेतत् पुरा भद्रे ज्ञातश्च तपसा मया। ब्रह्मभूतं हि सकलं पितुस्तव कुलं भवेत् ॥ २६ ॥ सत्यवत्युवाच। काममेवं भवेत् पौत्रो ममेह तव च प्रभो। शमात्मकमहं पुत्रं लभेयं जयताम्वर ॥२७॥ ऋचीक उवाच। पुत्रे नास्ति विशेषो मे पौत्रे च वरवर्णिनी ।

होगा? ॥ २२ ॥ ऋचीकने कहा, कि—हे कल्याणी! मेरा यह संकल्प नहीं है, कि—तुझसे क्षत्रिय पुत्र उत्पन्न हो, परन्तु चरुका उलटपुलट होजानेसे तेरे घोर कर्म करनेवाला पुत्र होगा ॥२३॥ अपने पतिकी बात सुनकर सत्यवतीने कहा, कि-हे मुने! यदि आप चाहें तो दूसरे लोक रच सकते हैं, तो फिर पुत्रको रचना आपके लिये क्या कठिन है? इसलिये हे प्रभो! मुझे आप सरल शान्तिवाला पुत्र देसकते हैं ॥ २४ ॥ सत्यवतीकी बात सुनकर ऋचीकने कहा, कि—हे कल्याणी मैंने! पहले हास्य विनोदमें भी जोकुछ कहा, है, वह कभी मिथ्या नहीं हुआ है, तो फिर विधिपूर्वक वेदमंत्रसे अग्निमें सिद्ध कियेहुए चरुका काम कैसे मिथ्या होसकता है ?२५हे कल्याणी! मैंने तपके प्रभावसे पहले ही देख लिया है,और जानलिया है,कि—तेरे पिताका सब कुल ब्राह्मण होगा२६ऋचीककी बात सुनकर सत्यवतीने कहा, कि—हे प्रभो! आपका और मेरा पौत्र भले ही(क्षत्रियके काम करनेवाला)हो,परन्तु मैं तो इतना ही माँगती हूँ, कि—मेरा पुत्र बहुत ही शान्त और सरल (ब्राह्मण) हो ॥ २७ ॥ ऋचीकने कहा, कि—हे सुन्दर वर्णवाली स्त्री! पुत्रमें और पौत्रमें मेरी समझमें कुछ भी भेद

यथा त्वयोक्तं वचनं तथा भद्रे भविष्यति ॥२८॥ वासुदेव उवाच ।
ततः सत्यवती पुत्रं जनयामास भार्गवम् । तपस्यभिरतं शान्तं
जमदग्निं यतव्रतम् ॥२९॥ विश्वामित्रञ्च दायादं गाधिः कुशिक-
नन्दनः । यः प्राप ब्रह्मसमितं विश्वैर्ब्रह्मगुणैर्युतम् ॥ ३० ॥
ऋचीको जनयामास जमदग्निं तपोनिधिम् । सोऽपि पुत्रं ह्यजन-
यज्जमदग्निः सुदारुणम् ॥ ३१ ॥ सर्वविद्यान्तगं श्रेष्ठं धनु-
र्वेदस्य पारगम् । रामं क्षत्रियहन्तारं प्रदीप्तमिव पावकम् ॥ ३२ ॥
तोषयित्वा महादेवं पर्वते गन्धमादने । अस्त्राणि वरयामास परशु-
ञ्चातितेजसम् ॥३३॥ स तेनाकुण्ठधारेण ज्वलितानलवर्चसा ।

नहीं है, तो भी हे भद्रे ! तेरा पुत्र जैसा तूने कहा है ऐसा ही होगा और उसका पुत्र (तेरा पौत्र) बड़ा ही क्रूर और क्षत्रियोंका नाश करनेवाला होगा, मेरी बात कभी मिथ्या नहीं होगी ।२८। श्रीकृष्णने कहा, कि-हे राजा युधिष्ठिर ! इसके बाद सत्यवतीने शान्त, तपस्याके प्रेमी और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले जमदग्नि नामक पुत्रको उत्पन्न किया ॥२९॥ और कुशिकके पुत्र गाधीके यहाँ विश्वामित्र नामका पुत्र उत्पन्न हुआ, वह विश्वमें प्रसिद्ध, ब्राह्मणके गुणोंवाला था और (क्षत्रियकुलमें जन्म लेने पर भी) ब्रह्मर्षिकी पदवी पर पहुँचगया ॥ ३० ॥ ऋचीकने तपके भण्डार जमदग्निको उत्पन्न किया और जमदग्निने सब विद्याओंमें पारङ्गत धनुर्वेदके ज्ञाता, क्षत्रियोंका संहार करनेवाले, प्रज्वलित अग्निकी समान कान्तिमान् और महाभयानक परशुराम नामक पुत्रको उत्पन्न किया ॥३१ ॥ ३२॥ उसने गन्धमादन पर्वत पर जाकर तपस्या की, महादेवजीको प्रसन्न किया और उनसे अस्त्र तथा महातेजस्वी फरसा वरदानमें माँगलिया ॥ ३३ ॥ वह परशुराम प्रज्वलित अग्निकी समान कान्तिवान्, जो कभी खुटली न हो ऐसी धारवाले अनुपम फरसेको पाकर इस जगत्में अनुपम योधा

कुठारेणाप्रमेयेण लोकेष्वप्रतिमोऽभवत् ॥ ३४ ॥ एतस्मिन्नेव काले तु कृतवीर्य्यात्मजो बली । अर्जुनो नाम तेजस्वी क्षत्रियो हैहयाधिपः ॥ ३५ ॥ दत्तात्रेयप्रसादेन राजा बाहुसहस्रवान् । चक्रवर्ती महातेजा विप्राणामाश्वमेधिके ॥ ३६ ॥ ददौ स पृथिवीं सर्वां सप्तद्वीपां सपर्वताम् । स्वबाह्वस्त्रबलेनाजौ जित्वा परमधर्म-वित् ॥ ३७ ॥ तृषितेन च कौन्तेय भिक्षितश्चित्रभानुना । सहस्र-बाहुर्विक्रान्तः प्रादाद्भिक्षामथाग्नये ॥३८॥ ग्रामान् पुराणि राष्ट्राणि घोषांश्चैव तु वीर्यवान् । जज्वाल तस्य बाणाग्राच्चित्रभानुर्दिधक्षया ॥ ३९ ॥ स तस्य पुरुषेन्द्रस्य प्रभावेण महौजसः । ददाह कार्त्तवीर्य्यस्य शैलानथ वनस्पतीन् ॥४०॥ स शून्यमाश्रमं रम्य-मापवस्य महात्मनः । ददाह पवनेनेद्धश्चित्रभानुः सहैहयः ॥४१॥

हुए ॥ ३४ ॥ इसी समय राजा कृतवीर्यका पुत्र और हैहयोंका स्वामी, महाबली और तेजस्वी अर्जुन नामका राजा हुआ ३५ दत्तात्रेयकी कृपासे उस राजाके सहस्र भुजा थीं, उस महातेजस्वी चक्रवर्ती राजाने अश्वमेध यज्ञ करके ब्राह्मणोंको अपने बलसे संग्राममें जीतीहुई सात द्वीप और पर्वतोंवाली पृथिवी दान करके दी थी तथा वह राजा धर्ममें बड़ा ही निपुण था ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ हे कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिर ! एक समय भूखे हुए अग्निदेवने सहस्रबाहु अर्जुनसे भिक्षा माँगी, तब हजार भुजावाले पराक्रमी अर्जुनने अग्निदेवको भिक्षा दी॥३८॥ उसके बाणके फलकेमेंसे प्रकट होकर महाबली अग्निदेवने ग्राम, नगर, देश तथा गोठोंको जलाकर भस्म करदिया ॥ ३९ ॥ बड़े प्रभाव वाले राजा कार्त्तवीर्यके पुत्रके प्रतापसे अग्निने पर्वतोंको और वनस्पतियोंको भी जलाडाला ॥ ४० ॥ और अन्तमें पवनसे बढ कर हैहय राजाकी सहायतासे आपव नामवाले एक महात्माके निर्जन और रमणीय आश्रमको जलाकर ऊजड करदिया, हे महा-

आपवस्तु ततो रोषात् शशापार्जुनमच्युत । दग्धे श्रमे महाबाहो कार्त्तवीर्य्येण वीर्यवान् ॥ ४२ ॥ त्वया न वर्जितं यस्मान्ममेदं हि महद्वनम् । दग्धं तस्माद्रणे रामो बाहूंस्ते छेत्स्यतेऽर्जुन ४३ अर्जुनस्तु महातेजा बली नित्यं शमात्मकः । ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च दाता शूरश्च भारत ॥४४॥ नाचिन्तयत्तदा शापं तेन दत्तं महात्मना । तस्य पुत्रास्तु बलिनः शापेनासन् पितुर्वधे ॥ ४५ ॥ निमित्तादवलिप्ता वै नृशंसाश्चैव सर्वदा । जमदग्निधेन्वास्ते वत्समानिन्युर्भरतर्षभ ॥४६॥ अज्ञातं कार्त्तवीर्येण हैहयेन्द्रेण धीमता । तन्निमित्तमभूद् युद्धं जमदग्नेर्महात्मनः ॥ ४७ ॥ ततोर्ऽजुनस्य बाहू-

बाहू राजन् ! क्षत्रिय कार्त्तवीर्यके पुत्र अर्जुनने जब आपव नाम ऋषिके आश्रमको जलाकर भस्म करडाला, तब पराक्रमी आपव ऋषिने क्रोधमें भरकर उसको शापदिया, कि-॥ ४१॥ ४२ ॥ हे अर्जुन ! तूने मेरे बड़ेभारी वनको भी नहीं छोड़ा, किन्तु जलाकर भस्म करडाला, इसलिये रणमें तेरी हजार भुजाओंको परशुराम काटडालेंगे ॥ ४३ ॥ हे भरतवंशी राजा युधिष्ठिर ! महातेजस्वी, बलवान्, नित्य शान्तिमान्, शूर, दाता, शरणागतोंके रक्षक और ब्राह्मणोंका पालन करनेवाले सहस्रबाहु अर्जुनने महात्मा आपव ऋषिके दियेहुए शाप पर कुछ ध्यान ही नहीं दिया, परन्तु उसके नित्य उग्र और क्रूर पुत्रोंने विचार किया, कि-ऋषिके शापसे हमारे पिताका नाश होजायगा, यह जान कर उनके मनमें बडा ही क्रोध भरगया, वे एकदम जमदग्निके आश्रममें आये और उनके होमकी गौके बछड़ेको हरकर लेगए ॥४४-४६॥ यह बात हैहय देशके बुद्धिमान् राजा कार्त्तवीर्यके पुत्रको मालूम नहीं थी, परन्तु इस बातका पता लगते ही परशुराम क्रोधमें भरगए और इसी कारणसे परशुराम और हैहय राजाओंमें बड़ाभारी युद्ध हुआ, उस युद्धमें महात्मा परशु-

स्तान् छित्वा रामो रुषान्वितः । तं भ्रमन्तं ततो वत्सं जामदग्न्यः स्वमाश्रमम् ॥ ४८ ॥ प्रत्यानयत राजेन्द्र तेषामन्तःपुरात् प्रभुः अर्जुनस्य सुतास्ते तु सम्भूयाबुद्धयस्तदा ॥ ४९ ॥ गत्वाश्रमम-सम्बुद्धा जमदग्नेर्महात्मनः । अपातयन्त भल्लाग्रैः शिरः काया-न्नराधिप ॥ ५० ॥ समित्कुशार्थं रामस्य निर्यातस्य यशस्विनः । ततः पितृवधामर्षाद्रामः परममन्युमान् ॥ ५१ ॥ निःक्षत्रियां प्रति-श्रुत्य महीं शस्त्रमगृह्णत । ततः स भृगुशार्दूलः कार्त्तवीर्यस्य वीर्य-वान् ॥ ५२ ॥ विक्रम्य निजघानाशु पुत्रान् पौत्रांश्च सर्वशः । स हैहयसहस्राणि हत्वा परममन्युमान् ॥ ५३ ॥ चकार भार्गवो राजन् महीं शोणितकर्दमाम् । स तथाशु महातेजा कृत्वा निःक्षत्रियां

रामने क्रोधमें भरकर सहस्रबाहु अर्जुनके हजारों हाथ काटडाले और उसके राजमहलमें इधर उधरफिरते हुए अपनी गौके बछड़े को अपने आश्रममें फिर ले आये ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ हे राजेन्द्र ! प्रभु परशुराम, हैहय राजाके हाथ काटकर तहाँसे अपने आश्रममें आगए, इसके बाद कार्त्तवीर्य राजाके पुत्र इकट्ठे होकर जमदग्नि के आश्रममें आए और उन अज्ञानी पुत्रोंने आश्रममें बैठेहुए जम दग्निका शिर भालेकी अनीसे काटकर धड़परसे नीचे गिरा-दिया, और तहाँसे भागगए ॥ ४९ ॥ ५० ॥ इस समय परशु-राम समिधा और कुशा लेनेको वनमेंगए थे, तहाँ उन्होंने सुना, कि-मेरे पिता मारेगए, इस समाचारको पाते ही उनके मनमें बडा क्रोध उत्पन्न हुआ, उन्होंने हाथमें शस्त्र लेकर प्रतिज्ञा की, कि-आजसे मैं पृथिवीको क्षत्रियोंसे सूनी करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा करके हैहयवंशके राजा कार्त्तवीर्यके पुत्र और पौत्रोंके ऊपर जाचढ़े और भृगुवंशमें सिंहसमान परशुरामने पराक्रम करके हजारों हैहयोंका संहार करडाला ॥ ५१-५३ ॥ हे राजन् ! भृगुवंशी प्रतापी परशुरामने इस सब पृथिवीको रुधिरकी कीचसे

महीम् ॥ ५४ ॥ कृपया परयाविष्टो वनमेव जगाम ह । ततो वर्ष-
सहस्रेषु समतीतेषु केषुचित् ॥ ५५ ॥ क्षेपं सम्प्राप्तवांस्तत्र प्रकृत्या
कोपनः प्रभुः । विश्वामित्रस्य पौत्रस्तु रैभ्यपुत्रो महातपाः ॥५६॥
परावसुर्महाराज क्षिप्त्वाह जनसंसदि । ये ते ययातिपतने यज्ञे
सन्तः समागताः ॥ ५७ ॥ प्रतर्दनप्रभृतयो राम किं क्षत्रिया न
ते ५८ ॥ मिथ्याप्रतिज्ञो राम त्वं कत्थसे जनसंसदि । भयात्
क्षत्रियवीराणां पर्वतं समुपाश्रितः ॥ ५९ ॥ सा पुनः क्षत्रियशतैः
पृथिवी सर्वतस्तृता । परावसोर्वचः श्रुत्वा शस्त्रं जग्राह भार्गवः६०
ततो ये क्षत्रिया राजन् शतशस्तेन वर्जिताः । ते विवृद्धा महावीर्याः
पृथिवीपतयोऽभवन् ॥ ६१ ॥ स पुनस्तान् जघानाशु बालानपि

भरदिया और पृथिवीके सब क्षत्रियोंका नाश करडाला ॥५४॥
परन्तु फिर बहुत ही दया आनेके कारण वह वनमें जाकर रहने
लगे, वनमें रहते हुए हजारों वर्ष बीतजानेके बाद ॥ ५५ ॥ एक
दिन स्वभावके क्रोधी परशुरामने बीचसभामें अपनी हिचकिचा-
हटकी निन्दा होती सुनी, विश्वामित्रके पोते और रैभ्यके पुत्र
महातपस्वी परावसुने मनुष्योंकी सभामें परशुरामका तिरस्कार
करके कहा, कि—हे राम ! जिस यज्ञमें राजा ययातिका पतन
हुआ था, उस यज्ञमें जो प्रतर्दन आदि सन्त पुरुष इकट्ठे हुए थे
क्या वे क्षत्रियके वीर्यसे उत्पन्न नहीं थे ? हे राम ! तुम मनुष्योंकी
सभामें बातें मारा करते हो, कि-मैं सब क्षत्रियोंको मारडालूँगा,
परन्तु तुम वीर क्षत्रियोंसे डरकर पहाड़में जावसे हो ! ५६-५९
और तुम्हारी प्रतिज्ञा झूठी होगई है, आज सैंकड़ों क्षत्रियोंसे
पृथिवी भरीहुई है, परावसुकी बात सुनकर परशुरामने एकबार
फिर शस्त्र उठाया और हजारों क्षत्रियोंका फिर संहार करने
लगे ॥ ६० ॥ परन्तु हे राजन् ! उस समय उनके छोड़ेहुए
सैंकडों क्षत्रिय धीरे २ बढगए थे और बड़े पराक्रमी होकर पृथिवी

नराधिप । गर्भस्थैस्तु मही व्याप्ता पुनरेवाभवत्तदा ॥६२॥ जातं जातं स गर्भन्तु पुनरेव जघान ह । अरक्षंश्च सुतान् कांश्चित्तदा क्षत्रियपोषितः ॥ ६३ ॥ त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः । दक्षिणामश्वमेधान्ते कश्यपायाददत्ततः॥ ६४ ॥ स क्षत्रियाणां शेषार्थं करेणोद्दिश्य कश्यपः। स्रुक्प्रग्रहवता राजंस्ततो वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ६५ ॥ गच्छ तीरं समुद्रस्य दक्षिणस्य महामुने । न ते मद्विषये राम वस्तव्यमिह कर्हिचित् ॥६६॥ ततः शूर्पारकं देशं सागरस्तस्य निर्म्ममे । सहसा जामदग्न्यस्य सोऽपरान्तमही तलम् ॥ ६७ ॥ कश्यपस्तां महाराज प्रतिगृह्य वसुन्धराम् । कृत्वा

के राजा बनगए थे ॥ ६१ ॥ तब वीर परशुरामने फिर हाथमें शस्त्र लेकर उनका और छोटी उमरके क्षत्रियबालकोंका संहार करडाला, फिर पृथिवी क्षत्रियोंसे सूनी होगई, फिर थोड़े घमएडी क्षत्रिय उत्पन्न होगए, फिर पृथिवी उनसे भरगई ॥६२॥ फिर परशुराम, ज्यों २ क्षत्रियोंके बालक उत्पन्न होतेगए त्यों २ उनका नाश करते चलेगये, परन्तु इस समय क्षत्रियोंकी स्त्रियोंने कितने ही क्षत्रियबालकोंको परशुरामके क्रोधसे छुपी रीतिसे बचालिया था ॥६३॥ इसप्रकार परशुरामने इक्कीस वार पृथिवीको क्षत्रियोंसे सूनी किया और अश्वमेध यज्ञ करके सब पृथिवी कश्यपको दक्षिणामें देदी थी ॥ ६४ ॥ हे राजन् ! उस समय बाकी बचेहुए क्षत्रियोंकी रक्षाकेलिये कश्यपने पृथिवीका दान लेनेके बाद हाथमें स्रुवा ले हाथ ऊँचा करके परशुरामसे कहा, कि ॥ ६५ ॥ हे महामुने ! हे राम ! तुम दक्षिण समुद्रके किनारे पर चलेजाओ, अब तुम एक क्षण भी मेरे राज्यमें न रहो, ॥ ६६ ॥ यह सुनकर परशुराम समुद्रके तटपर चलेगए और समुद्रने उन जमदग्निके पुत्रको रहनेके लिये अपने किनारे पर शूर्पारक नामका देश बसादिया ॥ ६७ ॥ हे महाराज ! फिर

ब्राह्मणसंस्थां वै प्रविष्टः सुमहद्वनम् ॥ ६८ ॥ ततः शूद्राश्च वैश्याश्च यथास्वैरप्रचारिणः । अवर्त्तन्त द्विजाग्र्याणां दारेषु भरतर्षभ ॥ ६९ ॥ अराजके जीवलोके दुर्बला बलवत्तरैः । पीड्यन्ते न हि विप्रेषु प्रभुत्वं कस्यचित्तदा ॥ ७० ॥ ततः कालेन पृथिवी पीड्यमाना दुरात्मभिः । विपर्ययेण तेनाशु प्रविवेश रसातलम् ७१ अरक्ष्यमाणा विधिवत् क्षत्रियैर्धर्मरक्षिभिः । तां दृष्ट्वा द्रवतीं तत्र सन्त्रासात् स महामनाः ॥ ७२ ॥ ऊरुणा धारयामास कश्यपः पृथिवीन्ततः । धृता तेनोरुणा येन तेनोर्वीति मही स्मृता ॥७३॥ रक्षणार्थं समुद्दिश्य ययाचे पृथिवी तदा । प्रसाद्य कश्यपं देवी

कश्यपने जिस पृथिवीका दान लिया था, उसकी व्यवस्था ब्राह्मणोंको सौंपकर वह आप भी वनमें चलेगए ॥ ६८ ॥ हे भरतसत्तम राजा युधिष्ठिर ! पृथिवीका नियन्ता कोई भी क्षत्रिय नहीं था, इसलिये वैश्य और शूद्र मनमाने आचरण (अनुचित वर्त्ताव) करनेलगे तथा ब्राह्मणोंकी स्त्रियोंके साथ अनुचित व्यवहार करनेलगे ॥ ६९ ॥ जब यह मनुष्यलोक विनाराजाका होगया (अराजकता फैलगई) तब बलवान् पुरुष दुर्बलोंको कष्ट देनेलगे, कोई भी अपनी सम्पत्तिका स्वामी नहीं रहसका, क्योंकि-ब्राह्मण किसीके ऊपर अपनी प्रभुता नहीं चलासके ॥ ७० ॥ समयके प्रतापसे पापियोंकी पीड़ा दी हुई यह पृथिवी, अत्याचार और अव्यवस्थासे त्रास पाकर रसातलमेंको धसनेलगी ॥७१॥ क्योंकि- धर्मकी रक्षा करनेवाले क्षत्रियोंने उसकी विधिपूर्वक रक्षा नहीं की थी, पृथिवीको त्रासके कारण रसातमें धसती देखकर उदार मनवाले कश्यपने साँथलको चीरकर उसको उसमें धारण करलिया, कश्यपने पृथिवीको उरु (साँथल) से धारण किया था, इसलिये यह पृथिवी उर्वी कहलाई है ७२-७३ पृथिवी देवी अपनी रक्षाके लिये पृथिवीपति कश्यपको प्रसन्न करके उन

वरयामास भूमिपम् ॥ ७४ ॥ पृथिव्युवाच । सन्ति ब्रह्मन् मया गुप्ताःस्त्रीषु क्षत्रियपुङ्गवाः।हैहयानां कुले जातास्ते संरक्षन्तु मां मुने७५ अस्ति पौरवदायादो विदूरथसुतः प्रभो । ऋक्षैः सम्वर्द्धितो विप्र ऋक्षवत्यथ पर्वते ॥७६॥ तथानुकम्पमानेन यज्वनाथामितौजसा । पराशरेण दायादाः सौदासस्याभिरक्षिताः ॥ ७७ ॥ सर्वकर्माणि कुरुते शूद्रवत् तस्य स द्विजः । सर्वकर्मेत्यभिख्यातः स मां रक्षतु पार्थिवः ॥ ७८ ॥ शिबिपुत्रो महातेजा गोपतिर्नाम नामतः । वने सम्वर्द्धितो गोभिः सोऽभिरक्षतु मां मुने ॥ ७९ ॥ प्रतर्दनस्य पुत्रस्तु वत्सो नाम महाबलः । वत्सैः सम्वर्द्धितो गोष्ठे स मां रक्षतु पार्थिवः ॥ ८० ॥ दधिवाहनपौत्रस्तु पुत्रो दिविरथस्य च । गुप्तः स गौतमेनासीद्गङ्गाकूलेऽभिरक्षितः ॥ ८१ ॥ बृहद्रथो महातेजा

से वर माँगनेलगी ॥७४॥पृथिवीने कहा, कि-हे ब्राह्मण ! मैंने श्रेष्ठ क्षत्रियोंको स्त्रियोंके द्वारा छुपाकर बचारक्खा है, मैं चाहती हूँ, कि-वे हैहयवंशमें उत्पन्न हुए क्षत्रिय मेरी रक्षा करें ॥७५॥ हे मुने! एक पुरुवंशी विदूरथका पुत्र है,उसको ऋक्षवान् पहाडपर रीछोंने पालकर बडा किया है ॥ ७६ ॥ यज्ञ करनेवाले अपार बली पराशरने दयावश सौदासके पुत्रको बचाया है ॥७७॥ वह क्षत्रियके कुलमें उत्पन्न हुआ है तो भी शूद्रकी समान ऋषिकी सेवाके सब काम किया करता है, इसलिये ही उसका (सर्वकर्मा), नाम प्रसिद्ध होगया है वह मेरी रक्षा करे ॥ ७८ ॥ और हे मुने ! शिबिका गोपति नामवाला महातेजस्वी पुत्र है, उसको वनमें गौओंने पाला है, वह मेरी रक्षा करे ॥ ७९ ॥ प्रतर्दनका पुत्र महाबली वत्स है उसको बछडोंने गोठमें पालकर बडा किया है, वह राजा मेरी रक्षा करे ॥ ८० ॥ दिविरथका पुत्र और दधिवाहनका पोता है, जिसकी गौतमने गुप्तरीतिसे गङ्गाके तटपर रक्षा की है उस बडीभारी विभूतिवाले महातेजस्वी राजा बृहद्रथकी

भूरिभुतिपरिष्कृतः । गोलांगूलैर्महाभागो गृध्रकूटेऽभिरक्षितः ८२
मरुत्तस्यान्ववाये च रक्षिताः क्षत्रियात्मजाः । मरुत्पतिसमा वीर्ये
समुद्रेणाभिरक्षिताः ॥ ८३ ॥ एते क्षत्रियदायादास्तत्र तत्र
परिश्रुताः । श्रोकारहेमकारादिजातिं नित्यं समाश्रिताः ॥ ८४ ॥
यदि मामभिरक्षन्ति ततः स्थास्यामि निश्चला । एतेषां
पितरश्चैव तथैव च पितामहाः ॥ ८५ ॥ मदर्थं निहता युद्धे
रामेणाक्लिष्टकर्मणा । तेषामपचितिश्चैव मया कार्या महा-
मुने ॥ ८६ ॥ न ह्यहं कामये नित्यमतिक्रान्तेन रक्षणम् । वर्त्त-
मानेन वर्त्तेयं तत् क्षिप्र संविधीयताम् ॥ ८७ ॥ वासुदेव उवाच ।
ततः पृथिव्या निर्दिष्टांस्तान् समानीय कश्यपः । अभ्यषिञ्चन्मही-
पालान् क्षत्रियान् वीर्य्यसम्पतान् ॥ ८८ ॥ तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च

गृध्रकूट पर गोलांगूल जातिके वानरोंने रक्षा की है ॥८१॥८२॥
मरुत्तवंशमें बहुतसे क्षत्रियोंके पुत्रोंको बचायागया है, वे पराक्रममें
इन्द्रकी समान हैं, उनको समुद्रने बचाया है, सुना है कि-क्षत्रियोंके
ये कुमार भिन्न २ स्थानों पर हैं और वे इस समय स्थान बनाने
वाले मेमार और स्वर्णकारकी जातिके आश्रयमें रहते हैं, ॥८४॥
वे यदि मेरी रक्षा करें तो मैं निश्चिन्त होसकती हूँ, इनके पिताओं
और पितामहोंको युद्धमें बड़ा पराक्रम करनेवाले परशुरामने मेरे
लिये मारडाला है, इसलिए हे महामुने ! मुझे उनकी सेवा करनी
चाहिये ॥ ८५-८६ ॥ मेरी यह इच्छा है, कि-धर्माचरण करने
वाले मेरी रक्षा करें, अधर्मी मेरी रक्षा न करें, इसलिये तुम मेरी
रक्षाका प्रबन्ध शीघ्र ही करो ॥ ८७ ॥ श्रीकृष्णने कहा, कि-
हे युधिष्ठिर ! तदनन्तर कश्यपने पृथिवीके बताये हुए पराक्रमी
क्षत्रिय राजाओंका राजसिंहासन पर अभिषेक करदिया ॥८८॥
उनके पुत्र और पौत्र हुए तथा उनके वंश जगत्में स्थिर होगये
इस प्रकार हे युधिष्ठिर ! तुमने मुझसे पुराना इतिहास बूझा था,

येषां वंशाः प्रतिष्ठिताः। एवमेतत् पुरावृत्तं यन्मां पृच्छसि पांडव॥८९॥
वैशम्पायन उवाच। एवं ब्रुवंस्तदा यदुप्रवीरो युधिष्ठिरं धर्मभृतां वरिष्ठम्। रथेन तेनाशु ययौ महात्मा दिशः प्रकाशन् भगवानिवार्कः॥९०॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि रामोपाख्याने एकोनपंचाशत्तमोऽध्यायः॥ ४९॥

वैशम्पायन उवाच। ततो रामस्य तत् कर्म्म श्रुत्वा राजा युधिष्ठिरः। विस्मयं परमं गत्वा प्रत्युवाच जनार्दनम्॥ १॥ अहो रामस्य वार्ष्णेय शक्रस्येव महात्मनः। विक्रमो वसुधा येन क्रोधान्निःक्षत्रिया कृता॥ २॥ गोभिः समुद्रेण तथा गोलांगूलर्क्षवानरैः। गुप्ता रामभयोद्विग्नाः क्षत्रियाणां कुलोद्वहाः॥ ३॥ अहो धन्यो नृलोकोयं सभाग्याश्च नरा भुवि। यत्र कर्मेदृशं धर्म्यं द्विजेन कृतमित्युत॥ ४॥ तथा वृत्तौ कथां तात तावच्युतयुधि-

---

वह मैंने तुम्हें सुनादिया॥ ८९॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-यादवोंके महावीर महात्मा श्रीकृष्ण धर्मनिष्ठोंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर रथमें सवार हो भगवान् सूर्यकी समान दिशाओंमें प्रकाश करतेहुए शीघ्रतासे चलेगए॥ ९०॥

उनचासवाँ अध्याय समाप्त॥ ४९॥ छ ॥

वैशम्पायनने कहा, कि-हे राजा जनमेजय! राजा युधिष्ठिर परशुरामके महापराक्रमको सुनकर बड़े आश्चर्यमें होगए और जनार्दन श्रीकृष्णसे बूझनेलगे, कि-॥१॥ हे वृष्णिवंशी कृष्ण! महात्मा परशुरामका पराक्रम तो महात्मा इन्द्रके पराक्रमकी समान आश्चर्यमें डालनेवाला है, कि-जिन्होंने क्रोधमें भरकर पृथिवीको क्षत्रियोंसे शून्य करडाला था॥२॥ परन्तु गौओंने, समुद्रने, गोलांगूलोंने, रीछोंने और वानरोंने परशुरामके भयसे घबड़ाये हुए क्षत्रियोंके बालकोंकी रक्षा की थी॥३॥ ओः! यह मर्त्यलोक वास्तवमें भाग्यशाली है, और पृथिवीके मनुष्य भी भाग्यशाली हैं,

ष्ठिरौ । जग्मतुर्यत्र गाङ्गेयः शरतल्पगतः प्रभुः ॥ ५ ॥ ततस्ते ददृशुर्भीष्मं शरप्रस्तरशायिनम् । स्वरश्मीजालसम्वीतं सायंसूर्यसमप्रभम् ॥ ६ ॥ उपास्यमानं मुनिभिर्देवैरिव शतक्रतुम् । देशे परमधर्मिष्ठे नदीमोघवतीमनु ॥७॥ दूरादेव तमालोक्य कृष्णो राजा च धर्मजः। चत्वारः पाण्डवाश्चैव ते च शारद्वतादयः॥८॥ अवस्कन्द्याथ वाहेभ्यः संयम्य प्रचलं मनः । एकीकृत्येन्द्रियग्राममुपतस्थुर्महामुनीन् ॥ ९ ॥ अभिवाद्य तु गोविन्दः सात्यकिस्ते च पार्थिवाः । व्यासादीनृषिमुख्यांश्च गांगेयमुपतस्थिरे ॥ १० ॥ तपोवृद्धं तथा दृष्ट्वा गांगेयं यदुकौरवाः । परिवार्य ततः सर्वे निषेदुः पुरुषर्षभाः ११ ततो निशाम्य गांगेयं शाम्यमानमिवानलम् । किञ्चिद्दीनमना

क्योंकि-वहाँ परशुरामने ऐसा धर्मका काम किया॥४॥ तात! कृष्ण और युधिष्ठिर इसप्रकार बातें करते२ जहाँ गङ्गापुत्र भीष्मजी बाणशय्या पर पौढेहुए थे तहाँ जापहुँचे॥५॥ साथमें चारों पाण्डव और कृपाचार्य आदि भी थे,जिस समय उन्होंने भीष्मजीको शरशय्या पर सोये हुए देखा, उस समय उनको मालूम हुआ, कि-शरशय्या पर सोयेहुए भीष्मजीकी कान्ति, अपनी किरणोंसे घिरे हुए सायङ्कालके सूर्यकी समान है ॥६॥ और जैसे देवता इन्द्रकी उपासना करते हैं तैसे ही मुनि उनकी उपासना कररहे थे, वह जहाँ सोयेहुए थे वह परमपवित्र स्थान कुरुक्षेत्रमें ओघवती नदीके किनारे पर था, श्रीकृष्ण, धर्मराज, चारों पाण्डव और कृपाचार्य आदि दूरसे भीष्मजीका दर्शन होते ही रथोंमेंसे नीचे उतरपड़े और चञ्चल मनको रोककर इन्द्रियोंको वशमें कियेहुए जहाँ ऋषिमण्डल बैठा था, तहाँ आये, गोविन्दने, सात्यकीने तथा युधिष्ठिर आदि राजाओंने व्यास आदि मुख्य २ ऋषियोंको प्रणाम किया, फिर यादव और कौरव राजे भीष्मजीकी सेवामें उपस्थित हुए और वे सब महापुरुष भीष्मजीको घेरकर बैठ

भीष्ममिति होवाच केशवः ॥ १२ ॥ कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि प्रसन्नानि यथा पुरा । कच्चिन्न व्याकुला चैव बुद्धिस्ते वदताम्वर ॥ १३ ॥ शराभिघातदुःखार्तो कच्चिद्द गात्रं न दूयते । मानसादपि दुःखाद्धि शारीरं बलवत्तरम् ॥ १४ ॥ वरदानात् पितुः कामं छन्दमृत्युरसि प्रभो । शान्तनोर्धर्मनित्यस्य न त्वेतन्मम कारणम् ॥ १५ ॥ सुसूक्ष्मोऽपि तु देहे वै शल्यो जनयते रुजम् । किं पुनः शरसंघातैश्चितस्य तव पार्थिव ॥ १६ ॥ कामं नैतत् तवाख्येयं प्राणिनां प्रभवाप्ययौ । उपदेष्टुर्भवान् शक्तो देवानामपि भारत ॥१७॥ यच्च भूतं भविष्यच्च भवच्च पुरुषर्षभ ।

गए ॥७-११॥ शान्त हुए अग्निकी समान विराजमान भीष्मजी के सामनेको देख मनमें कुछ एक दीन बनकर श्रीकृष्ण भीष्मजीसे इसप्रकार बूझनेलगे, कि-॥ १२ ॥ हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ भीष्मजी ! तुम्हारी ज्ञानेन्द्रियें पहलेकी समान ही प्रसन्न तो हैं ! कहीं तुम्हारी बुद्धि व्याकुल तो नहीं होगयी है?१३कहीं बाणोंके प्रहारके दुःखसे तुम्हारे अङ्गोंमें वेदना तो नहीं होती है ? वास्तवमें मानसिक दुःखसे शरीरका दुःख बलवान् होता है ॥१४॥ हे समर्थ पुरुष ! धर्मको मुख्य माननेवाले अपने पिता शन्तनुके वरदानसे तुमने इच्छानुसार मरण पाया है, यह शक्ति तुम केवल पिताको सन्तुष्ट करनारूप कामसे ही पासके हो, यह शक्ति तो मुझमें भी नहीं है ॥१५॥ हे राजन् ! यदि छोटासा काँटा भी शरीरमें चुभजाता है तो वह पीड़ा देता है तो फिर बाणोंकी शय्या पर सोयेहुए आपको पीडा क्यों न होगी ? ॥१६॥ परन्तु यह पीडा तुम्हारे ऊपर असर नहीं करती है ! क्योंकि-हे भरतवंशी भीष्म ! तुम प्राणियोंकी उत्पत्ति और नाशको पूर्ण रीतिसे जानते हो, यह बात आपसे कहनेके योग्य नहीं है, क्योंकि-तुम तो देवताओंको भी उपदेश देनेके योग्य हो॥१७॥ हे पुरुषसत्तम!

सर्वं तज्ज्ञानवृद्धस्य तव भीष्म प्रतिष्ठितम् ॥ १८ ॥ संहारश्चैव भूतानां धर्मस्य च फलोदयः । विदितस्ते महाप्राज्ञ त्वं हि धर्ममयो निधिः ॥ १९ ॥ त्वां हि राज्ये स्थितं स्फीते समग्राङ्गमरोगिणम् । स्त्रीसहस्रैः परिवृतं पश्यामीवोर्ध्वरेतसम् ॥ २० ॥ ऋते शान्तनवाद्भीष्मात् त्रिषु लोकेषु पार्थिव । सत्यधर्मान्महावीर्यात् शूराद्धर्मैकतत्परात् ॥ २१ ॥ मृत्युमावार्य तपसा शरसंस्तरशायिनः । निसर्गप्रभवं किञ्चिन्न च तातानुशुश्रुम ॥ २२ ॥ सत्ये तपसि दाने च यज्ञाधिकरणे तथा । धनुर्वेदे च वेदे च नित्यञ्चैवान्ववेक्षणे ॥ २३ ॥ अनृशंसं शुचिं दान्तं सर्वभूतहिते रतम् । महारथं त्वत्सदृशं न कञ्चिदनुशुश्रुम ॥ २४ ॥ त्वं हि

भीष्म ! तुम ज्ञानवृद्ध हो और भूत, भविष्यत् वर्त्तमानकी सब बातोंको जानते हो ॥ १८ ॥ हे महाबुद्धिमान् भीष्म ! तुम प्राणियोंके संहारको और धर्मके फलको भी जानते हो, क्योंकि-तुम धर्मके भण्डाररूप हो ॥ १९ ॥ तुम ऐश्वर्यवाले बडेभारी राज्यमें रहते थे, तुम्हारा शरीर भी नीरोग था और तुम हजारों स्त्रियोंके बीचमें रहते थे, तो भी मैं तुम्हें ऊर्ध्वरेता (आजन्म ब्रह्मचारी) ही देखता था ॥ २० ॥ धर्मपरायण, सत्यमें तत्पर, बड़ेभारी वीर शन्तनुके पुत्र भीष्मके सिवाय हे तात ! मैंने त्रिलोकीमें और किसी भी प्राणीको ऐसा नहीं देखा कि-जिसने बाणोंकी शय्या पर सोकर तपके प्रभावसे मृत्युको अपनी इच्छानुसार पीछेको हटादिया हो ॥ २१-२२ ॥ सत्य बोलना, तप करना, दान देना, यज्ञ करना, धनुर्विद्या, वेद और नीतिशास्त्रके ज्ञानमें तथा शरणागतोंकी रक्षा करनेमें मैंने तुम्हारी समान दूसरे किसीको सुना ही नहीं ॥ २३ ॥ तुम्हारी समान दयालु, पवित्र, इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला, सब प्राणियोंका हितैषी और महारथी कोई मनुष्य मेरे सुननेमें नहीं आया ॥ २४ ॥

देवान् सगन्धर्वानसुरान् यक्षराक्षसान् । शक्तस्त्वेकरथेनैव विजेतुं नात्र संशयः ॥२५॥ स त्वं भीष्म महाबाहो वसूनां वासवोपमः । नित्यं विप्रैः समाख्यातो नवमोऽनवमो गुणैः ॥ २६ ॥ अहं च त्वाभिजानामि यस्त्वं पुरुषसत्तम । । त्रिदशेष्वपि विख्यातस्त्वं शक्त्या पुरुषोत्तमः ॥ २७ ॥ मनुष्येषु मनुष्येन्द्र न दृष्टो न च मे श्रुतः । भवतो वा गुणैर्युक्तः पृथिव्यां पुरुषः क्वचित् २८ त्वं हि सर्वगुणै राजन् देवानप्यतिरिच्यसे । तपसा हि भवान् शक्तः स्रष्टुं लोकांश्चराचरान् ॥२९॥ किं पुनश्चात्मनो लोकानुत्तमानुत्तमैर्गुणैः । तदस्य तप्यमानस्य ज्ञातीनां संक्षयेण वै ३० ज्येष्ठस्य पांडुपुत्रस्य शोकं भीष्म व्यपानुद । ये हि धर्माः समा-

देवता, गन्धर्व, असुर, यक्ष और राक्षसोंको तुम अकेले एक रथकी सहायतासे ही जीत सकते हो, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है२५ हे महाबाहु भीष्म ! तुम इन्द्रकी समान हो, वसुओंके अंशसे उत्पन्न हुये हो और ब्राह्मण तुम्हें नवम वसु गिनते हैं तथा गुणोंमें तुम वसुओंकी समान ही हो ॥२६॥ हे पुरुषश्रेष्ठ भीष्म! तुम अपनी निजी सामर्थ्यसे देवताओंमें भी पुरुषोत्तम कहलाते हो ॥ २७ ॥ हे मानवेन्द्र ! पृथिवी पर मनुष्योंमें तुम्हारी समान गुणवान् दूसरा कोई पुरुष मैंने देखा भी नहीं और सुना भी नहीं ॥ २८ ॥ हे राजन् ! तुम सकल गुणोंमें देवताओंसे भी अधिक चढेहुए हो और तुम तपके प्रभावसे इस चराचर लोकको रचसकते हो, तो फिर अपने परम उत्तम गुणों से तुम स्वर्ग आदि उत्तम लोकोंको प्राप्त करलो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? हे भीष्म ! यह पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर सगे सम्बन्धियों का नाश होजानेसे सन्ताप किया करते हैं, तुम इनके शोकको दूर करो, हे भरतवंशी राजन् ! शास्त्रमें जो चारों वर्ण और चारों आश्रमोंके धर्म कहे हैं उन सबोंको तुम जानते हो, चार विद्या

खयानाश्चातुर्वेद्यस्य भारत ॥ ३१ ॥ चातुराश्रम्यसंयुक्ताः सर्वे ते विदितास्तव । चातुर्विध्ये च ये प्रोक्ताश्चातुर्होत्रे च भारत ३२ योगे सांख्ये च नियता ये च धर्मा सनातनाः । चातुर्वर्ण्यस्य यश्चोक्तो धर्मो न स्म विरुध्यते॥३३॥ सेव्यमानः सवैयाख्यो गाङ्गेय विदितस्तव । प्रतिलोमप्रसूतानां वर्णानाञ्चैव यः स्मृतः ॥३४॥ देशजातिकुलानाञ्च जानीषे धर्मलक्षणम् । वेदोक्तो यश्च शिष्टोक्तः सदैव विदितस्तव ॥३५॥ इतिहासपुराणार्थाः कात्स्न्येन विदितास्तव । धर्मशास्त्रञ्च सकलं नित्यं मनसि ते स्थितम्॥३६॥ये च केचन लोकेऽस्मिन्नर्थाः संशयकारकाः । तेषां छेत्ता नास्ति लोके त्वदन्यः पुरुषर्षभ ॥३७॥ स पाण्डवेयस्य मनःसमुत्थितं नरेन्द्र शोकं व्यपकर्ष मेधया । भवद्विधा ह्युत्तमबुद्धिविस्तरा विमुह्यमानस्य नरस्य शान्तये ॥३८॥ श्रीकृष्णवाक्ये पञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥५०॥

और चातुर्होत्रमें कहे हुये, योगमें तथा सांख्यमें कहे हुये सनातन धर्मको तथा अविरोधभावसे चारों वर्णोंके सेवन करने योग्य सना- धर्मको भी हे गङ्गापुत्र ! तुम व्याख्या सहित जानते हो, अनुलोम और प्रतिलोम इन दो प्रकारकी वर्णसङ्कर प्रजाके धर्मोंको भी तुम जानते हो, देशधर्म, जातिधर्म, कुलधर्म तथा वेदोक्त और शिष्ट पुरुषोंके कहेहुये सदाचार आदि धर्मको भी तुम सदा जानते हो ॥ २६-३५ ॥ और तुम इतिहास तथा पुराणोंकी बातोंको भी पूर्णरूपसे जानते हो, सम्पूर्ण धर्मशास्त्र भी नित्य तुम्हारे मन में रहता है ॥ ३६ ॥ और इसलोकमें जो कुछ भी सन्देहकी भरी बातें हैं उनको समझानेवाला भी हे पुरुषसत्तम ! तुम्हारे सिवाय दूसरा कोई नहीं है ॥३७॥ इसलिये हे राजन् ! राजा युधिष्ठिर के मनमें उत्पन्न हुये शोकको आप बुद्धिसे उपदेश देकर नष्ट करदीजिये, क्योंकि-तुम्हारे जैसे उत्तम और विशाल बुद्धिवाले पुरुष ही दुःखसे मूढ़ बनेहुये मनुष्यको उपदेशसे शान्ति देनेवाले होसकते हैं ॥ ३८ ॥ पचासवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५० ॥ छ

वैशम्पायन उवाच। श्रुत्वा तु वचनं भीष्मो वासुदेवस्य धीमतः। किञ्चिदुन्नाम्य वदनं प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥१॥ भीष्म उवाच। नमस्ते भगवन् कृष्ण लोकानां प्रभवाप्यय। त्वं हि कर्त्ता हृषीकेश संहर्त्ता चापराजितः ॥ २ ॥ विश्वकर्मन्नमस्तेस्तु विश्वात्मन् विश्वसम्भव। अपवर्गस्तु भूतानां पञ्चानां परतः स्थितः ॥ ३ ॥ नमस्ते त्रिषु लोकेषु नमस्ते परतस्त्रिषु। योगीश्वर नमस्तेस्तु त्वं हि सर्वपरायणः ॥ ४ ॥ मत्संश्रितं यदात्थ त्वं वचः पुरुषसत्तम। तेन पश्यामि ते भावान् दिव्यान् हि त्रिषु वर्त्मसु ॥५॥ तच्च पश्यामि गोविंद यत्ते रूपं सनातनम्। सप्त मार्गा निरुद्धास्ते वायोरमिततेजसः ॥ ६ ॥ दिवन्ते शिरसा व्याप्तं पद्भ्यां देवी

वैशम्पायन कहते हैं,कि-हे जनमेजय! बुद्धिमान् श्रीकृष्णकी यह बात सुनकर भीष्मजीने मुखको जरा एक ऊँचा किया और हाथ जोड़कर कहने लगे ॥१॥ भीष्म भगवान्की स्तुति करनेलगे, कि-हे भगवन्! कृष्ण! तुम सब लोकोंकी उत्पत्ति और प्रलय करनेवाले हो,कर्त्ता और इन्द्रियोंके स्वामी हो,हे संहारकर्त्ता! हे हृषीकेश! तुम अजित हो, तुम्हें नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥ तुम विश्वकर्मा, विश्वात्मा, विश्वको उत्पन्न करनेवाले, मुक्तिपदमें विराजमान और पाँच भूतोंसे पर परमात्मा हो, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ॥३॥ हे योगीश्वर! तुम त्रिलोकीमें व्यापरहे हो, तीनों लोकोंसे पर और सब लोकोंके परम आश्रयस्थान हो, आपको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४ ॥ हे पुरुषसत्तम! आपने मेरे विषयमें जो बात कही है, इससे मुझे दिव्य दृष्टि मिलगई और उसके प्रभावसे तीनों लोकोंमेंके आपके दिव्य भावोंको तथा आपके सनातन रूपको देखनेकी शक्ति हे गोविन्द! मुझे प्राप्त होगई है,आपने परमतेजस्वी वायुके सातों मार्गोंको रोकरक्खा है ॥ ५ ॥ ६ ॥ आपके मस्तकसे स्वर्ग व्याप्त है और दोनों चरणोंसे पृथिवी देवी व्याप्त है, दिशाएँ आपकी

वसुन्धरा । दिशो भुजौ रविश्चक्षुर्वीर्ये शुक्रः प्रतिष्ठितः ॥ ७ ॥
अतसीपुष्पसंकाशं पीतवाससमच्युतम् । वपुर्ह्यनुमिमीमस्ते मेघ-
स्येव सविद्युतः ॥८॥ त्वत्प्रपन्नाय भक्ताय गतिमिष्टां जिगीषवे ।
यच्छ्रेयः पुण्डरीकाक्ष तद्ध्यायस्व सुरोत्तम ॥९॥ वासुदेव उवाच ।
यतः खलु परा भक्तिर्मयि ते पुरुषर्षभ । ततो मया वपुर्दिव्यं त्वयि
राजन् प्रदर्शितम् ॥ १० ॥ न ह्यभक्ताय राजेन्द्र भक्तायानृजवे न
च । दर्शयाम्यहमात्मानं न चाशान्ताय भारत ॥ ११ ॥ भवांस्तु
मम भक्तश्च नित्यञ्चार्जवमास्थितः । दमे तपसि सत्ये च दाने
च निरतः शुचिः ॥ १२ ॥ अर्हस्त्वं भीष्म मां द्रष्टुं तपसा
स्वेन पार्थिव । तव ह्युपस्थिता लोका येभ्यो नावर्तते पुनः ॥१३॥

भुजा हैं, सूर्य तुम्हारा नेत्र है और शुक्र तुम्हारे वीर्यमें रहता
है ॥ ७ ॥ अतसीके फूलकी समान और पीताम्बरसे ढका
हुआ आपका शरीर हे अच्युत ! बिजलीसे ढके हुए मेघसा
मालूम होता है ॥ ८ ॥ हे देवश्रेष्ठ कृष्ण! मैं आपका भक्त आपकी
शरणमें आया हूँ और इच्छानुसार गति पानेकी अभिलाषा रखता
हूँ, इसलिये हे पुण्डरीकाक्ष ! आप ऐसे उपायका विचार करिये,
कि-जिसमें मेरा कल्याण हो ॥९॥ श्रीकृष्णने कहा, कि-हे महा-
पुरुष राजन्! तुम्हारी मेरे ऊपर परम भक्ति है, इसलिये ही मैंने
तुम्हें अपने दिव्य स्वरूपका दर्शन कराया है ॥ १० ॥ हे भरत-
वंशी राजेन्द्र! जो मेरा भक्त नहीं होता है, जो भक्त कुटिल होता
है और जो भक्त शान्तिरहित होता है, उस भक्तको मैं अपने
आत्माका दर्शन नहीं कराता हूँ ॥ ११ ॥ तुम मेरे भक्त हो और
नित्य धर्मव्रतधारी हो, हे सरलचित्त ! तुम दम, तप, सत्य और
दानमें लगे रहते हो, पवित्र हो॥१२॥और हे भीष्म ! तुम अपने
तपसे मेरा दर्शन पानेके योग्य हो तथा तुमने ऐसे लोक पालिये
हैं, कि-जहाँ पहुँचकर मनुष्य फिर इस संसारमें लौटकर नहीं

पञ्चाशतं षट् च कुरुप्रवीर शेषं दिनानां तव जीवितस्य। ततः शुभैः कर्मफलोदयैस्त्वं समेष्यसे भीष्म विमुच्य देहम्॥१४॥एते हि देवा वसवो विमानान्यास्थाय सर्वे ज्वलिताग्निकल्पाः। अन्तर्हितास्त्वां प्रतिपालयन्ति काष्ठां प्रपद्यन्तमुदक् पतङ्गम्॥१५॥व्यावर्त्तमाने भगवत्युदीचीं सूर्य्ये जगत् कालवशं प्रपन्ने। गन्तासि लोकान् पुरुषप्रवीर नावर्त्तते यानुपलभ्य विद्वान्॥१६॥अमुञ्च लोकं त्वयि भीष्म याते ज्ञानानि नंक्ष्यन्त्यखिलेन वीर। अतस्तु सर्वे त्वयि सन्निकर्षं समागता धर्मविवेचनाय॥१७॥ तज्ज्ञातिशोकोपहतश्रुताय सत्याभिसन्धाय युधिष्ठिराय। प्रब्रूहि धर्मार्थसमाधियुक्तं सत्यं वचोऽस्यापनुदाशु शोकम्॥१८॥एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः५१

आता है॥१३॥ हे कुरुवंशके महावीर पुरुष भीष्म! आपकी आयु छप्पन दिनकी बाकी रही है, वे छप्पन दिन पूरे होजानेपर तुम इस देहको त्यागकर पुण्य कर्मोंके शुभ फलरूप उत्तम लोकोंमें जाओगे॥१४॥ देखो यह जलतेहुए अग्निकी समान विमानोंमें बैठकर अदृश्य हुए देवता और वसु उत्तरायणके सूर्यकी बाट देख रहे हैं॥१५॥हे महात्मन्! ज्ञानी पुरुष जिन लोकोंमें जाकर फिर इस लोकमें आकर जन्म नहीं लेते हैं, उन ही लोकोंमें तुम भी जाओगे, परन्तु यह काम तब होगा, कि-जब सूर्य नारायण जगत्के नियमके अनुसार उत्तरायणमें जायँगे॥१६॥ हे वीर भीष्मजी! जब तुम इस लोकको त्यागकर परलोकमें जाओगे उस समय तुम्हारे साथ ही इस लोकमेंसे सब ज्ञान भी विदा होजायगा, इसलिये ये सब इकट्ठे होकर धर्मका विचार सुननेके लिये आपके पास आये हैं॥१७॥ और संबन्धियोंको मारदेनेसे उत्पन्न हुए शोकके कारण जिनका ज्ञान नष्ट होगया है ऐसे सत्य प्रतिज्ञा वाले युधिष्ठिरको तुम राजनीति, धर्म, अर्थ तथा योगके विवेकवाले सत्य वचनोंका उपदेश देकर इनके शोकका शीघ्र ही नाश करदो॥१८॥ इक्यावनवाँ अध्याय समाप्त॥५१॥

वैशम्पायन उवाच। ततः कृष्णस्य तद्वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम्। श्रुत्वा शान्तनवो भीष्मः प्रत्युवाच कृताञ्जलिः ॥ १ ॥ भीष्म उवाच। लोकनाथ महाबाहो शिव नारायणाच्युत। तव वाक्यमुपश्रुत्य हर्षेणास्मि परिप्लुतः ॥ २ ॥ किञ्चाहमभिधास्यामि वाक्पते तव सन्निधौ। यदा वाचो गतं सर्वं तव वाचि समाहितम् ॥ ३ ॥ यच्च किञ्चित् क्वचिल्लोके कर्त्तव्यं क्रियते च यत्। त्वत्तस्तन्निःसृतं देव लोके बुद्धिमतो हि ते ॥ ४ ॥ कथयेद्देवलोकं यो देवराजसमीपतः। धर्मकामार्थमोक्षाणां सोऽर्थं ब्रूयात्तवाग्रतः॥५॥शराभितापाद्व्यथितं मनो मे मधुसूदन। गात्राणि चावसीदन्ति न च बुद्धिः प्रसीदति॥६॥ न च मे प्रतिभा काचिदस्ति किञ्चित् प्रभाषितुम्। पीड्यमानस्य गोविन्द विषानल-

वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे राजा जनमेजय! कृष्णका धर्म और अर्थसे भरा हितकारी वचन सुनकर शन्तनुके पुत्र भीष्म दोनों हाथ जोड़कर श्रीकृष्णसे कहनेलगे, कि-॥१॥ हे लोकनाथ! हे महाबाहो! हे शिव! हे नारायण! हे अच्युत! मैं आपकी बात सुनकर हर्षमें मग्न होगया हूँ॥२॥ हे वाणीके पति! आपसे अब मैं क्या कहूँ? क्योंकि-वाणीके जोकुछ भी व्यापार हैं वे सब आपकी वेदरूप वाणीमें भरेहुए हैं॥३॥ बुद्धिमान् मनुष्यका इस जगत्में जोकुछ भी कर्त्तव्य होता है और परलोकके लिये जो कर्म करता है वह सब हे देव! तुमसे ही उत्पन्न हुआ है ॥ ४ ॥ जो पुरुष इन्द्रसे स्वर्गलोकका वृत्तान्त कहसकता हो वह पुरुष ही तुम्हारे सामने धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी बात कहसकता है ॥ ५ ॥ हे मधुसूदन! मेरा मन बाणोंकी वेदनासे खिन्न होरहा है,अङ्ग २ दुःखरहे हैं और बुद्धिमें प्रसन्नता नहीं आती ॥ ६ ॥ हे गोविन्द! विष और अग्निकी समान तीखे बाणोंके प्रहारसे मुझे ऐसा कष्ट होरहा है, कि-मेरी

समैः शरैः ॥ ७ ॥ बलं मे प्रजहातीव प्राणाः सन्त्वरयन्ति च । मर्माणि परितप्यन्ति भ्रान्तचित्तस्तथा ह्यहम् ॥ ८ ॥ दौर्बल्यात् सज्जते वाङ् मे स कथं वक्तुमुत्सहे । साधु मे त्वं प्रसीदस्व दाशार्हकुलवर्द्धन ॥ ९ ॥ तत् क्षमस्व महाबाहो न ब्रूयां किञ्चिदच्युत । त्वत्संन्निधौ च सीदेद्धि वाचस्पतिरपि ब्रुवन् ॥ १० ॥ न दिशः संप्रजानामि नाकाशं न च मेदिनीम् । केवलं तव वीर्येण तिष्ठामि मधुसूदन ॥ ११ ॥ स्वयमेव भवांस्तस्माद्धर्मराजस्य यद्धितम् । तद् ब्रवीत्वाशु सर्वेषामागमानां त्वमागमः ॥ १२ ॥ कथं त्वयि स्थिते कृष्णे शाश्वते लोककर्त्तरि । प्रब्रूयान्मद्विधः कश्चित्

प्रतिभाशक्ति किसी बातका भी विचार स्पष्टरूपसे नहीं कर सकती ॥ ७ ॥ ऐसा प्रतीत होता है कि–मेरा बल मुझे त्यागजानेको तयार है, मेरे प्राण भी निकलनेकी शीघ्रता कररहे हैं, मर्मस्थानोंमें आगसी लगरही है तथा मेरा मन भ्रममें पडाहुआ है ॥ ८ ॥ दुर्बलताके कारणसे मेरी वाणी रुकीसी जाती है, इस दशामें मैं उपदेश कैसे करसकता हूँ? हे दाशार्हवंशको बढ़ाने वाले कृष्ण ! (अब मैं यही प्रार्थना करता हूँ, कि–) आप मेरे ऊपर भले प्रकारसे प्रसन्न हूजिये ॥ ९ ॥ हे महाबाहु कृष्ण ! (मेरी ऐसी इच्छा है, इसलिये) तुम मुझे क्षमा करो, मैं कुछ भी नहीं बोलूँगा, हे अच्युत ! आपके सामने बोलताहुआ तो बृहस्पति भी हिचकेगा, फिर दूसरेकी तो बात ही क्या है॥१०॥ हे मधुसूदन ! मुझे दिशाओंका आकाशका वा पृथिवीका कुछ भी भान नहीं है, मैं तो केवल आपके सहारेसे ही अपने जीवनको रोकेहुए हूँ ॥ ११ ॥ इसलिये आप स्वयं ही धर्मराजको जो हितकर उपदेश हो वह शीघ्र ही दीजिये, क्योंकि–तुम शास्त्रोंके भी शास्त्र (नियन्ता) हो ॥ १२ ॥ तुम जगत्के कर्त्ता और सनातन हो, जैसे गुरुकी उपस्थितिमें शिष्य उपदेश नहीं

गुरौ शिष्य इव स्थिते ॥ १३ ॥ वासुदेव उवाच । उपपन्नमिदं वाक्यं कौरवाणां धुरन्धरे । महावीर्ये महासत्त्वे स्थिरे सर्वार्थदर्शिनि ॥१४॥ यच्च मामात्थ गाङ्गेय बाणघातरुजं प्रति । गृहाणात्र वरं भीष्म मत्प्रसादकृतं प्रभो ॥ १५ ॥ न ते ग्लानिर्न ते मूर्च्छा न दाहो न च ते रुजा । प्रभविष्यन्ति गाङ्गेय क्षुत्पिपासे न चाच्युत ॥ १६ ॥ ज्ञानानि च समग्राणि प्रतिभास्यन्ति तेऽनघ । न च ते क्वचिदासक्तिर्बुद्धेः प्रादुर्भविष्यति ॥ १७ ॥ सत्त्वस्थञ्च मनो नित्यं तव भीष्म भविष्यति । रजस्तमोभ्यां रहितं घनैर्मुक्त इवोडुराट् ॥१८॥ यद्य यच्च धर्मसंयुक्तमर्थयुक्तमथापि च । चिन्तयिष्यसि तत्राग्र्या बुद्धिस्तव भविष्यति ॥ १९ ॥ इमञ्च राजशार्दूल

देसकता तैसे ही आपके सामने मुझसरीखा मनुष्य कैसे उपदेश देसकता है ? ॥ १३ ॥ श्रीकृष्णने कहा, कि-हे भीष्म ! कौरवोंमें धुरन्धर, महापराक्रमी, परमसत्त्वशील, धैर्यवान् और सब अर्थोंको जाननेवाले आपने जो बात कही है वह आपके योग्य ही है ॥ १४ ॥ हे गङ्गाके पुत्र ! बाणोंके प्रहारसे होनेवाले कष्टके विषयमें तुमने मुझसे जोकुछ कहा है, उसको मैं जानता हूँ, परन्तु हे प्रभो ! मैं प्रसन्न होकर तुम्हें जो वरदान देता हूँ उसको ग्रहण करो ॥ १५ ॥ (तब) हे गङ्गानन्दन ! न ग्लानि होगी न मूर्छा होगी, न दाह होगा न पीड़ा होगी तथा भूख प्यास भी नहीं सतावेंगी ॥ १६ ॥ और हे निष्पाप ! तुम्हें सब ज्ञान भासने लगेंगे और तुम्हारी बुद्धिको किसी प्रकारकी भी खिन्नता नहीं होगी ॥१७॥ और हे भीष्म ! तुम्हारा मन नित्य सत्त्वगुणी रहेगा तथा जैसे चन्द्रमा मेघसे मुक्त रहता है तैसे ही तुम रजोगुण और तमोगुणसे रहित रहोगे ॥ १८ ॥ और तुम धर्म तथा अर्थवाले जिस२ विचारका चिन्तवन करोगे उसमें तुम्हारी श्रेष्ठ बुद्धि घुसती चली जायगी ॥१९॥ हे अपार बलवाले राजसिंह !

भूतग्रामं चतुर्विधम् । चक्षुर्दिव्यं समाश्रित्य द्रक्ष्यस्यमितविक्रम २०
संसरन्तं प्रजाजालं संयुक्तो ज्ञानचक्षुषा । भीष्म द्रक्ष्यसि तत्त्वेन
जले मीन इवामले ॥ २१ ॥ वैशम्पायन उवाच । ततस्ते व्यास-
सहिताः सर्व एव महर्षयः । ऋग्यजुःसामसहितैर्वचोभिः कृष्ण-
मार्चयन्॥२२॥ततः सर्वार्त्तवं दिव्यं पुष्पवर्षं नभस्तलात् । पपात
यत्र वार्ष्णेयः सगाङ्गेयः सपाण्डवः॥२३॥वादित्राणि च सर्वाणि
जगुश्चाप्सरसां गणाः । न चाहितमनिष्टं च किंचित्तत्र प्रदृश्यते२४
ववौ शिवः सुखो वायुः सर्वगन्धवहः शुचिः । शान्तायां दिशि
शान्ताश्च प्राद्रवन् मृगपक्षिणः ॥ २५ ॥ ततो मुहूर्त्ताद् भगवान्
सहस्रांशुर्दिवाकरः । दहन् वनमिवैकान्ते प्रतीच्यां प्रत्यदृश्यत: २६

तुम दिव्य चक्षुको पाकर स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज और जरायुज इन चार प्रकारके प्राणियोंको देख सकोगे ॥ २० ॥ और हे भीष्म! जैसे निर्मल जलमें मछली दीखजाती है,ऐसे ही तुम ज्ञान दृष्टिसे जन्म मरणवाले प्राणियोंको यथार्थ रीतिसे देखसकोगे२१ वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे जनमेजय ! फिर व्यास सहित उन सब महर्षियोंने ऋग्वेद,यजुर्वेद और सामवेदके मंत्रों सहित स्तोत्रों के द्वारा श्रीकृष्णकी पूजा की ॥ २१ ॥ उस समय जहाँ भीष्म और युधिष्ठिरके सहित श्रीकृष्ण थे उस स्थानपर आकाशमेंसे सब ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले फूलोंकी वर्षा हुई ॥ २३ ॥ सब प्रकारके बाजे बजने लगे, अप्सराओंके झुण्ड गानेलगे, तहाँ जरा भी अहित वा अमङ्गल देखनेमें नहीं आया ॥ २४ ॥ सुख देनेवाला और सब प्रकारकी सुगन्धिको उड़ानेवाला पवित्र वायु चलनेलगा, सब दिशायें शान्त और स्वच्छ दीखनेलगीं, मृग और पक्षी शान्तिभरे शब्द करनेलगे ॥ २५ ॥ इतनेमें ही हजारों किरणोंवाले भगवान् सूर्यनारायण मानो एकान्तमें वनको जलाते हों,इसप्रकार पश्चिम दिशामेंको जातेहुए दीखने लगे २६

ततो महर्षयः सर्वे समुत्थाय जनार्दनम्। भीष्ममामन्त्रयाञ्चक्रू राजानञ्च युधिष्ठिरम् ॥२७॥ ततः प्रणाममकरोत् केशवः सहपाण्डवः। सात्यकिः सञ्जयश्चैव स च शारद्वतः कृपः ॥ २८ ॥ ततस्ते धर्मनिरताः सम्यक् तैरभिपूजिताः। श्वः समेष्याम इत्युक्त्वा यथेष्टं त्वरिता ययुः ॥२९॥ तथैवामन्त्र्य गाङ्गेयं केशवः पाण्डवास्तथा। प्रदक्षिणमुपावृत्य रथानारुरुहुः शुभान् ॥३०॥ ततो रथैः काञ्चनचित्रकूबरैर्महीधराभैः समदैश्च दन्तिभिः। हयैः सुपर्णैरिव चाशुगामिभिः पदातिभिश्चात्तशरासनादिभिः ३१ ययौ रथानां पुरतो हि सा चमूस्तथैव पश्चादतिमात्रसारिणी। पुरश्च पश्चाच्च यथा महानदी तमृक्षवन्तं गिरिमेत्य नर्मदा ३२ ततः पुरस्तात् भगवान्निशाकरः समुत्थितस्तामभिहर्षयंश्चमूम्। दिवाकरापीतरसा महौषधीः

तब सब महर्षि खड़े होगये और उन्होंने श्रीकृष्णको, भीष्मको तथा राजा युधिष्ठिरको आशीर्वाद दिया ॥ २७ ॥ उस समय श्रीकृष्ण, पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर, सात्यकी, सञ्जय और शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्यने उनको प्रणाम किया तथा उनकी अच्छे प्रकारसे पूजा की, वे धर्मात्मा ऋषि, हम कलको फिर आवेंगे, ऐसा कह कर अपनी इच्छानुसार शीघ्रतासे चलेगये ॥ २८-२९ ॥ फिर श्रीकृष्ण और पाण्डव भी भीष्मजीको प्रणाम करके तथा उनकी प्रदक्षिणा करके सुन्दर रथोंमें जा बैठे ॥ ३० ॥ वे महात्मा, सुवर्णके बनेहुए विचित्र ढाँचोंवाले रथ' मद टपकानेवाले पहाड़ों की समान हाथी तथा गरुड़की समान झपटकर चलनेवाले घोड़े तथा धनुषधारी पैदलोंके साथ तहाँसे विदा होगये ॥ ३१ ॥ महानदी नर्मदा जैसे ऋक्षवान् पर्वतके आगे और पीछे बहती है, तैसे ही वह बड़े बलवाली सेना भी पाण्डवोंके रथोंके आगे पीछे चलरही थी ॥ ३२ ॥ थोड़ी ही देरमें भगवान् निशाकर (चन्द्रमा) पाण्डवोंकी सेनाको हर्ष देतेहुए तथा दिनमें सूर्यकी किरणोंने

पुनः स्वकेनैव गुणेन योजयन्॥३३॥ततः पुरं सुरपुरसम्मितद्युति प्रविश्य ते यदुवृषपाण्डवास्तदा । यथोचितान् भवनवरान् समाविशन् श्रमान्विता मृगपतयो गुहा इव ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिराद्यागमने द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

वैशम्पायन उवाच । ततः शयनमाविश्य प्रसुप्तो मधुसूदनः । याममात्रार्द्धशेषायां यामिन्यां प्रत्यबुध्यत ॥ १ ॥ स ध्यानपथमाविश्य सर्वज्ञानानि माधवः । अवलोक्य ततः पश्चाद्दध्यौ ब्रह्म सनातनम् ॥२॥ ततः स्तुतिपुराणज्ञा रक्तकण्ठाः सुशिक्षिताः । अस्तुवन् विश्वकर्माणं वासुदेवं प्रजापतिम् ॥३॥ पठन्ति पाणिस्वनिकास्तथा गायन्ति गायकाः । शङ्खानथ मृदङ्गांश्च प्रवाद्यन्ति

जिनका रस पीलिया या ऐसी औषधियोंको अपने शीत गुणसे पुष्ट करतेहुए पूर्व दिशामें उदय होगये ॥ ३३ ॥ चाँदनीका आनन्द लेतेहुए यदुवंशी वीर तथा पाण्डव स्वर्गकी समान कांति वाली कौरवपुरीमें जापहुँचे और जैसे थकेहुए सिंह गुफामें जाते घुसजाते हैं तैसे ही वे राजे अपने योग्य श्रेष्ठ महलोंमें चलेगये।३४। बावनवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५२ ॥ छ छ

वैशम्पायन कहते हैं,कि-इसके बाद श्रीकृष्ण शय्या पर सुखसे पौढ़गये (उधर पाण्डव भी सोरहे) प्रातःकाल होनेको आधे पहर रात बाकी रहगई, उस समय श्रीकृष्ण जागे ॥ १ ॥ और उन्होंने बुद्धिको तथा सब इन्द्रियोंको स्थिर करके ज्ञानमार्गको देखा और फिर सनातन ब्रह्मका ध्यान किया ॥ २ ॥ थोड़ी देर बाद मधुर कण्ठवाले और शिक्षा पायेहुए स्तुति पढ़नेवाले और पुराणोंके ज्ञाता, प्रजापति और विश्वकर्मारूप श्रीकृष्णकी स्तुति करनेलगे ॥ ३ ॥ हाथसे वीणा आदि बजानेवाले, स्तुति पढनेलगे तथा गवैये गीत गानेलगे, हजारों बजवैये शङ्ख और

सहस्रशः ॥४॥ वीणापणववेणूनां स्वनश्चातिमनोरमः । प्रहास इव विस्तीर्णः शुश्रुवे तस्य वेश्मनः ॥ ५ ॥ ततो युधिष्ठिरस्यापि राज्ञो मङ्गलसंहिताः । उच्चैरुर्मधुरा वाचो गीतवादित्रनिःस्वनाः ६ तत उत्थाय दाशार्हः स्नातः प्राञ्जलिरच्युतः । जप्त्वा गुह्यं महाबाहुरग्नीनाश्रित्य तस्थिवान् ॥ ७ ॥ ततः सहस्रं विप्राणां चतुर्वेदविदान्तथा । गवां सहस्रेणैकैकं वाचयामास माधवः ॥ ८ ॥ मङ्गलालम्भनं कृत्वा आत्मानमवलोक्य च । आदर्शे विमले कृष्णस्ततः सात्यकिमब्रवीत् ॥ ९ ॥ गच्छ शैनेय जानीहि गत्वा राजनिवेशनम् । अपि सज्जो महातेजा भीष्मं द्रष्टुं युधिष्ठिरः ॥१०॥ ततः कृष्णस्य वचनात् सात्यकिस्त्वरितो ययौ । उपगम्य च राजानं

मृदङ्ग बजानेलगे ॥ ४ ॥ ढोलक और बाँसुरीके बड़े मधुर शब्द होनेलगे, इसप्रकार मानो कृष्णके महलका गानसहित हास्यका ही बड़ाभारी शब्द फैलरहा हो, ऐसा सुनाई आने लगा ॥५॥ तथा राजा युधिष्ठिरके महलमेंसे भी माङ्गलिक गाने बजानेका शब्द सुनाई आनेलगा, स्तुतिपाठक मधुरवाणी बोलनेलगे, गीतोंकी और बाजोंकी ध्वनि होनेलगी ॥६॥ महाबाहु अच्युत श्रीकृष्णने शय्यापरसे उठकर प्रातःकालका स्नान किया, दोनों हाथ जोड़ गोपनीय मंत्रका जप करके अग्निमें होमकिया ॥ ७ ॥ और चारों वेदोंके ज्ञाता एक हजार ब्राह्मणोंको एक २ हजार गौएँ दानमें देकर उनसे स्वस्तिवाचन कराया ॥ ८ ॥ (फिर गौ, दही, दूध आदि)माङ्गलिक पदार्थोंका स्पर्श किया और फिर दर्पणमें अपना मुख देखकर सात्यकीको आज्ञा दी, कि-॥९॥ हे सात्यकी ! तू राजमहलमें जा और देख, कि-महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर भीष्मजीसे मिलनेके लिये पोशाक पहरकर तयार हुए हैं या नहीं ? ॥ १० ॥ श्रीकृष्णकी आज्ञा होते ही सात्यकी झपटा हुआ राजमहलमें गया और राजा युधिष्ठिरके पास जाकर कहने

युधिष्ठिरमभाषत॥११॥ युक्तो रथवरो राजन् वासुदेवस्य धीमतः। समीपमापगेयस्य प्रयास्यति जनार्दनः ॥ १२ ॥ भवत्प्रतीक्षः कृष्णोसौ धर्मराज महाद्युते। यदत्रानन्तरं कृत्यं तद्भवान् कर्त्तुमर्हति ॥ १३ ॥ एवमुक्तः प्रत्युवाच धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः। युधिष्ठिर उवाच। युज्यतां मे रथवरः फाल्गुनामितमद्युते ॥ १४ ॥ न सैनिकैश्च यातव्यं यास्यामो वयमेव हि। न च पीडयितव्यो मे भीष्मो धर्मभृताम्वरः ॥ १५ ॥ अतः पुरःसराश्चापि निवर्त्तन्तु धनञ्जय। अद्यप्रभृति गांगेयः परं गुह्यं प्रवक्ष्यति॥ १६ ॥ अतो नेच्छामि कौन्तेय पृथग्जनसमागमम्। वैशम्पायन उवाच। स तद्वाक्यमथाज्ञाय कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ॥१७॥ युक्तं रथवरं तस्मा

लगा कि-॥ ११ ॥ हे राजन्! बुद्धिमान् श्रीकृष्णका रथ जुता तयार है, श्रीकृष्ण भीष्मजीके पास जानेको तयार बैठे हैं ॥ १२ ॥ हे महाकान्तिवाले राजा युधिष्ठिर! वह तुम्हारी बाट देखरहे हैं, अब आप जैसा उचित समझें तैसा करें ॥१३॥ सात्यकीके ऐसा कहने पर धर्मपुत्र युधिष्ठिरने यह उत्तर दिया,युधिष्ठिर बोले, कि-हे अनुपम कान्तिवाले अर्जुन! तू मेरे श्रेष्ठ रथको तयार कर॥१४॥सेनाके जानेकी आवश्यकता नहीं है, हम ही जायँगे, धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भीष्मजीको दुःखी करना उचित नहीं है॥१५॥ इसलिये हे राजन्! मेरे आगे चलने वालोंको यहाँ ही रहने दे,आजसे भीष्मजी हमें बड़ी२ गुप्त बातों का उपदेश देंगे, इसलिये हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! सर्व-साधारण पुरुषोंको साथमें लेनेकी मेरी इच्छा नहीं है ॥ १६ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे जनमेजय! कुन्तीपुत्र अर्जुनने राजाकी बात सुनकर तुरन्त उनके उत्तम रथको जोडकर उनके पास लाकर खडा करदिया ॥ १७ ॥ पञ्चमहाभूतोंकी समान युधिष्ठिर,भीम,अर्जुन,नकुल और सहदेव उस रथमें बैठकर श्रीकृष्णके

आचचक्षे नरर्षभ। ततो युधिष्ठिरो राजा यमौ भीमार्जुनावपि ॥१८॥
भूतानीव समस्तानि ययुः कृष्णनिवेशनम्। आगच्छत्स्वथ कृष्णोऽपि
पांडवेषु महात्मसु ॥१९॥ शैनेयसहितो धीमान् रथमेवान्वपद्यत।
रथस्थाः संविदं कृत्वा सुखां पृष्ट्वा च शर्वरीम् ॥ २० ॥ मेघ-
घोषै रथवरैः प्रययुस्ते नरर्षभाः। बलाहकं मेघपुष्पं शैब्यं सुग्रीव-
मेव च ॥ २१ ॥ दारुकश्चोदयामास वासुदेवस्य वाजिनः। ते
हया वासुदेवस्य दारुकेण प्रचोदिताः ॥ २२ ॥ गां खुराग्रैस्तथा
राजन् लिखन्तः प्रययुस्तदा। ते ग्रसन्त इवाकाशं वेगवन्तो महा-
बलाः ॥ २३ ॥ क्षेत्रं धर्मस्य कृत्स्नस्य कुरुक्षेत्रमवातरन्। ततो
ययुर्यत्र भीष्मः शरतल्पगतः प्रभुः ॥ २४ ॥ आस्ते महर्षिभिः
सार्द्धं ब्रह्मा देवगणैर्यथा। ततोऽवतीर्य गोविन्दो रथात्स च युधि-

स्थान पर गए ॥१८॥ महात्मा पाण्डवोंके आते ही महाबुद्धिमान्
श्रीकृष्ण सात्यकीके साथ रथमें बैठे ॥१९॥ और क्यों रात्रि तो
सुखके साथ बीती न? इत्यादि, रातका (युधिष्ठिर आदिसे)
कुशलसमाचार पूछा, इसप्रकार बातें करतेर वे महात्मा मेघकी
समान गम्भीर घरघराहट करनेवाले रथमें बैठकर कुरुक्षेत्रकी
ओरको चलदिये ॥२०॥ दारुकने श्रीकृष्णके बलाहक, मेघपुष्प,
शैब्य, और सुग्रीव नामक घोडोंको हाँका ॥ २१ ॥ हे राजन्!
महाबलवान् और वेगसे चलनेवाले वे घोड़े मानों आकाशको
निगलेजाते हों, तथा खुरियोंके अग्रभागसे पृथिवीको खोदे
डालते हों इसप्रकार झपटकर कुरुक्षेत्रकी ओरको जानेलगे २२-२३
और समग्र धर्मके क्षेत्ररूप कुरुक्षेत्रमें जहाँ भीष्म पितामह शरशय्या
पर सोरहे थे तहाँ जापहुँचे ॥ २४ ॥ और जैसे देवताओंसे घिरे
हुए ब्रह्मा बैठे हों, ऐसे ही महर्षियोंसे घिरकर सोयेहुए
भीष्मजीका दर्शन होते ही श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर, भीम गांडीव-
धनुषधारी अर्जुन, नकुल, सहदेव और सात्यकी रथमेंसे नीचे

ष्ठिरः ॥ २५ ॥ भीमो गाण्डीवधन्वा च यमौ सात्यकिरेव च ।
ऋषीनभ्यर्चयामासुः करानुद्यम्य दक्षिणान् ॥ २६ ॥ स तैः परि-
वृतो राजा नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः । अभ्याजगाम गाङ्गेयं ब्रह्माण-
मिव वासवः ॥ २७ ॥ शरतल्पे शयानं तमादित्यं पतितं यथा ।
स ददर्श महाबाहुं भयाच्चागतसाध्वसः ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि
कृष्णादीनां भीष्मसमीपगमने त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ५३

जनमेजय उवाच । धर्मात्मनि महावीर्ये सत्यसन्धे जितात्मनि ।
देवव्रते महाभागे शरतल्पगतेऽच्युते ॥१॥ शयाने वीरशयने भीष्मे
शान्तनुनन्दने । गांगेये पुरुषव्याघ्रे पाण्डवैः पर्युपासिते ॥२॥
काः कथाः समवर्त्तन्त तस्मिन् वीरसमागमे । हतेषु सर्वसैन्येषु तन्मे
शंस महामुने ॥३॥ वैशम्पायन उवाच । शरतल्पगते भीष्मे कौर-

उतरपड़े और दाहिने हाथ ऊपरको करके ऋषिमण्डलीको प्रणाम किया ॥ २५ ॥ २६ ॥ जैसे तारागणोंसे घिराहुआ चन्द्रमा शोभा पाता है तैसे ही उस समय भाइयोंसे तथा दूसरोंसे घिरे हुए युधिष्ठिर शोभा पारहे थे और जैसे इन्द्र ब्रह्माके पास जाता है तैसे ही वे भीष्मजीके पास गए२७और भयभीत होनेके कारण भौंचक्केसे हुए राजा युधिष्ठिरने आकाशमेंसे नीचे गिरेहुए सूर्यकी समान शरशय्यापर पड़ेहुए भीष्मपितामहका दर्शन किया ॥२८॥ तिरेपनवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५३ ॥ छ ॥

जनमेजयने बूझा, कि-हे वैशम्पायनजी ! वीर पुरुषोंके जम घटमें सब सेनाओंका संहार होगया और महात्मा, बड़े वीर्यवान् सत्यप्रतिज्ञ, मनको जीतनेवाले, महाभाग्यशाली और पुरुषोंमें सिंहसमान शान्तनु तथा गङ्गाके पुत्र देवव्रत भीष्मजी शरशय्या पर सोरहे थे और पाण्डव उनकी सेवा कररहे थे, उस समय क्या २ कथायें हुई थीं ? उनको हे महामुने ! मुझे सुनाइये१-३

वाणां धुरन्धरे । आजग्मुर्ऋषयः सिद्धा नारदप्रमुखा नृप ॥४॥
हतशिष्टाश्च राजानो युधिष्ठिरपुरोगमाः । धृतराष्ट्रश्च कृष्णश्च
भीमार्जुनयमास्तथा ॥५॥ तेऽभिगम्य महात्मानो भरतानां पिता
महम् । अन्वशोचन्त गांगेयमादित्यं पतितं यथा ॥ ६ ॥ मुहूर्त-
मिव च ध्यात्वा नारदो देवदर्शनः । उवाच पाण्डवान् सर्वान् हत-
शिष्टांश्च पार्थिवान् ॥ ७ ॥ प्राप्तकालं समाचक्ष्वे भीष्मोऽयमनु-
युज्यताम् । अस्तमेति हि गांगेयो भानुमानिव भारत ॥ ८ ॥ अयं
प्राणानुत्स्रष्टुस्तं सर्वेऽभ्यनुपृच्छत । कृत्स्नान् हि विविधान्
धर्मांश्चातुर्वर्ण्यस्य वेत्त्ययम् ९ एष वृद्धः परांल्लोकान् सम्प्राप्नोति
तनुं त्यजन् । तं शीघ्रमनुयुञ्जीध्वं संशयान्मनसि स्थितान् ॥१०॥

वैशम्पायनने कहा, कि—हे राजन् ! जब कौरवोंके धुरन्धर भीष्मजी बाणशय्या पर पौढरहे, उस समय नारद आदि बहुतसे ऋषि और सिद्ध तहाँ आये थे ॥ ४ ॥ मरते २ बचेहुए राजे युधिष्ठिरको मुखिया बनाकर उनकी अधीनतामें धृतराष्ट्र कृष्ण, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव आदि महात्मा राजे, आकाशमेंसे गिरेहुए सूर्यकी समान शरशय्यापर सोयेहुए भरतवंशी भीष्मपितामहके पास जाकर शोक करनेलगे ॥ ५ ॥ ६ ॥ दो घड़ी विचार करनेके बाद देवसमान नारदजीने पाण्डवोंसे और मरते २ बचे हुए सब राजाओंसे कहा, कि—॥ ७ ॥ मेरी समझमें भीष्मजीसे नीति और धर्मके विषयमें प्रश्न करनेका यही समय है, इसलिये उन प्रश्नोंको तुम बूझो, हे भरतवंशी राजन् ! भीष्मजी थोडी देरके बाद सूर्यकी समान अस्त होजायँगे ॥८॥ वे अब अन्तके श्वास लेरहे हैं, प्राण त्यागनेको तयार ही हैं, इसलिये तुम सब उनसे धर्मके विषयमें अनेकों प्रकारके प्रश्न करो, वे चारों वर्णोंके अनेकों प्रकारके सब धर्मोंको जानते हैं, ॥९॥ यह वृद्ध अपने देहको त्यागकर परलोकमें जायँगे, इसलिये तुम

वैशम्पायन उवाच । एवमुक्ता नारदेन भीष्ममीयुर्नराधिपाः। प्रष्टु-ञ्चाशक्नुवन्तस्ते वीक्षाञ्चक्रुः परस्परम् ॥ ११ ॥ अथोवाच हृषीकेशं पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः । नान्यस्तु देवकीपुत्रात् शक्तः प्रष्टुं पितामहम् ॥ १२ ॥ प्रव्याहर यदुश्रेष्ठ त्वमग्रे मधुसूदन । त्वं हि नस्तात सर्वेषां सर्वधर्मविदुत्तमः ॥ १३ ॥ एवमुक्तः पाण्डवेन भगवान् केशवस्तदा । अभिगम्य दुराधर्षं प्रव्याहार यदच्युतः॥१४ वासुदेव उवाच । कच्चित् सुखेन रजनी व्युष्टा ते राजसत्तम । विस्पष्टलक्षणा बुद्धिः कच्चिच्चोपस्थिता तव ॥ १५ ॥ कच्चि-ज्ज्ञानानि सर्वाणि प्रतिभाति च तेऽनघ । न ग्लायते च हृदयं न च ते व्याकुलं मनः ॥ १६ ॥ भीष्म उवाच । दाहो मोहः श्रम-श्चैव क्लमो ग्लानिस्तथा रुजा । तव प्रसादात् वार्ष्णेय सद्यः प्रति-

सब अपने मनके सन्देहोंको इनसे शीघ्र ही बूझलो ॥ १० ॥ वैशम्पायनने कहा, कि-हे राजा जनमेजय ! नारदजीके ऐसा कहनेपर सब राजे भीष्मजीके पास आये परन्तु वे प्रश्न नहीं करसके और एक दूसरेके मुँहको ताकनेलगे ॥ ११ ॥ फिर युधिष्ठिरने कृष्णसे कहा, कि-देवकीपुत्र श्रीकृष्णके सिवाय दूसरा कोई भी भीष्म पितामहसे प्रश्न नहीं करसकता ॥ १२ ॥ हे यादवोंमें श्रेष्ठ मधुसूदन! पहले तुम ही प्रश्न करो, क्योंकि सबोंमें सब धर्मोंको जाननेवाले श्रेष्ठ पुरुष आप ही हैं ॥ १३ ॥ जब युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णसे ऐसा कहा, तब अच्युत कृष्ण दुराधर्ष भीष्मजीके पास जाकर प्रश्न बूझनेलगे ॥१४॥ वासुदेवने कहा, कि- हे राजश्रेष्ठ ! आपकी रात्रि सुखसे बीती है ? आपकी बुद्धि तो प्रसन्न है ? ॥ १५ ॥ हे निष्पाप ! आपकी सब इन्द्रियें प्रतिभा ज्ञानवाली हैं? अब तुम्हारे हृदयमें दुःख तो नहीं है ? और तुम्हारा मन व्याकुल तो नहीं है? ॥ १६ ॥ भीष्मजीने कहा, कि-हे वृष्णिवंशी कृष्ण ! मेरा दाह, मोह, थकावट, दुःख

गतानि मे ॥ १७ ॥ यच्च भूतं भविष्यच्च भवच्च परमद्युते । तत्
सर्वमनुपश्यामि पाणौ फलमिवार्पितम् ॥ १८ ॥ वेदोक्ताश्चैव ये
धर्मा वेदान्ताधिगताश्च ये । तान् सर्वान् संप्रपश्यामि वरदानात्त-
वाच्युत ॥१९॥ शिष्टैश्च धर्मो यः प्रोक्तः स च मे हृदि वर्त्तते ।
देशजातिकुलानां च धर्मज्ञोस्मि जनार्दन ॥ २० ॥ चतुर्ष्वाश्रम-
धर्मेषु योर्थः स च हृदि स्थितः । राजधर्मांश्च सकलानवगच्छामि
केशव ॥ २१ ॥ यच्च यत्र च वक्तव्यं तद्वक्ष्यामि जनार्दन । तव
प्रसादाद्धि शुभा मनो मे बुद्धिराविशत् ॥२२॥ युवेवास्मि समा-
वृत्तस्त्वदनुध्यानबृंहितः । वक्तुं श्रेयः समर्थोस्मि त्वत्प्रसादाज्ज-
नार्दन ॥ २३ ॥ स्वयं किमर्थन्तु भवान् श्रेयो न प्राह पाण्डवम्।

ग्लानि और पीडा ये सब आपकी कृपासे एक दिनमें ही नष्ट
होगये ॥ १७ ॥ हे महाकान्तिमान् ! अब मैं भूत भविष्यत् और
वर्त्तमानको, हाथमें लियेहुए फलकी समान देखरहा हूँ ॥ १८ ॥
हे अच्युत ! वेदमें कहेहुए अग्निहोत्र आदि धर्म तथा वेदान्तको
सुननेसे जानेहुए शम दम आदि धर्म इन सब धर्मोंको मैं आपके
वरदानसे अच्छेप्रकार जानरहा हूँ?१९शिष्ट पुरुषोंने जो धर्म कहा है,
वह धर्म मेरे हृदयमें रम रहा है और हे जनार्दन ! देश२ जाति२
और कुल२के धर्मोंको मैं जानता हूँ ॥ २० ॥ चारों आश्रमोंके
धर्मोंमें जो तत्त्व भराहुआ है वह भी मेरे हृदयमें रमरहा है
और हे केशव ! मैं सब राजधर्मोंको भी जानता हूँ ॥ २१ ॥
हे जनार्दन ! जहाँ जोकुछ कहना चाहिये उसको मैं कहूँगा,
आपकी कृपासे मेरे मनमें शुभ विचारने प्रवेश किया है ॥ २२ ॥
आपका ध्यान करनेसे मैं पुष्ट होगया हूँ, इसलिये मैं जवानसा
होगया हूँ हे जनार्दन ! मैं तुम्हारी कृपासे कल्याणकारक उपदेश
देसकता हूँ । ।२३ ॥ परन्तु हे माधव ! तुम आप ही पाण्डवोंको
कल्याणकारक उपदेश क्यों नहीं देते हो ? हे माधव ! शीघ्र ही

किन्ते विवक्षितञ्चात्र तदाशु वद माधव२४वासुदेव उवाच। यशसः श्रेयसश्चैव मूलं मां विद्धि कौरव। मत्तः सर्वेऽभिनिर्वृत्ता भावाः सदसदात्मकाः॥ २५॥ शीतांशुश्चन्द्र इत्युक्ते लोके को विस्मयिष्यति। तथैव यशसा पूर्णे मयि को विस्मयिष्यति॥ २६॥ वासुदेव उवाच। आधेयन्तु मया भूयो यशस्तव महाद्युते। ततो मे विपुला बुद्धिस्त्वयि भीष्म समर्पिता॥२७॥ यावद्धि पृथिवीपाल पृथ्वीयं स्थास्यति ध्रुवा। तावत्तवाक्षया कीर्त्तिर्लोकाननुचरिष्यति॥ २८॥ यच्च त्वं वक्ष्यसे भीष्म पाण्डवायानुपृच्छते। वेदप्रवाद इव ते स्थास्यते वसुधातले॥ २९॥ यश्चैतेन प्रमाणेन योक्ष्यत्यात्मानमात्मना। स फलं सर्वपुण्यानां प्रेत्य चानुभविष्यति॥ ३०॥ एतस्मात् कारणाद्भीष्म मतिर्दिव्या मया हि ते।

बताइये आप इस बातका क्या उत्तर देते हैं॥ २४॥ श्रीकृष्णने कहा, कि-हे कुरुवंशी! तुम्हें मालूम हो, कि-यश और प्रेमकी जड मैं ही हूँ, सत् असत् सब पदार्थ मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं॥२५॥ इस जगत्में कोई कहे, कि-चन्द्रमाकी किरणें शीतल हैं तो किसको आश्चर्य होगा? तथा यशसे भरेहुए मेरे विषयमें भी किसको आश्चर्य होगा?॥ २६॥ तो भी हे महाकान्तिमान् भीष्म! मुझे जगत्में आपका यश अधिक विस्तारसे फैलाना है, इसलिये ही मैंने तुममें बहुतसी बुद्धि स्थापन करदी है।२७। हे राजन्! यह पृथिवी जबतक अचल रहेगी तबतक तुम्हारी कीर्त्ति भी सब लोकोंमें अचल रहेगी॥ २८॥ और हे भीष्म! प्रश्न करनेवाले राजा युधिष्ठिरको आप जो उपदेश देंगे वह इस पृथिवी पर वेदके उपदेशकी समान अचल रहेगा॥ २९॥ और जो पुरुष आपके कहेहुए प्रमाणरूप उपदेशको सुनकर अपने मनको परमात्मामें लगादेगा वह मरणके बाद सब पुण्योंका फल भोगेगा॥ ३०॥ इस कारणसे तथा हे भीष्म! जगत्में

दत्ता यशो विप्रथयेत् कथं भूयस्तवेति ह ॥ ३१ ॥ यावद्धि प्रथते लोके पुरुषस्य यशो भुवि । तावत्तस्याक्षया कीर्त्तिर्भवतीति विनिश्चितम् ॥ ३२ ॥ राजानो हतशिष्टास्त्वां राजन्नभित आसते । धर्माननुयुयुक्षन्तस्तेभ्यः प्रब्रूहि भारत ॥ ३३ ॥ भवान हि वयसा वृद्धः श्रुताचारसमन्वितः । कुशलो राजधर्माणां सर्वेषामपराश्च ये ॥ ३४ ॥ जन्मप्रभृति ते कश्चिद् वृजिनं न ददर्श ह । ज्ञातारं सर्वधर्माणां त्वां विदुः सर्वपार्थिवाः ॥३५॥ तेभ्यः पितेव पुत्रेभ्यो राजन् ब्रूहि परं नयम् । ऋषयश्चैव देवाश्च त्वया नित्यमुपासिताः ॥ ३६ ॥ तस्माद्वक्तव्यमेवेदं त्वयावश्यमशेषतः । धर्मं शुश्रूषमाणेभ्यः पृष्टेन च सता पुनः ॥ ३७ ॥ वक्तव्यं विदुषा

आपके यशका अधिक विस्तार कैसे हो, इस विचारसे मैंने तुम्हें दिव्य दृष्टि दी है ॥३१॥ पृथिवीपर जबतक पुरुषका यश जगत्‌में रहता है तबतक निःसन्देह उसका गुणगान अमिट है३२ हे भरतवंशी राजन् ! मरनेसे बचेहुए ये राजे धर्मको बूझनेकी इच्छासे आपके आसपास बैठे हैं, इनको तुम धर्मका व्याख्यान सुनाओ ॥ ३३ ॥ तुम अवस्थामें वृद्ध हो, तुमने वेदको सुना है, तुम सदाचारी हो, सब राजधर्मोंमें कुशल हो और दूसरे धर्मोंको भी जानते हो ॥ ३४ ॥ किसी मनुष्यने भी जन्मसे लेकर आज तक आपका दोष नहीं देखा है और तुम सब धर्मोंके ज्ञाता हो ऐसा सब राजे जानते हैं ॥ ३५ ॥ हे राजन् ! जैसे पिता पुत्रोंको धर्मका उपदेश देता है तैसे ही तुम इन राजाओंको उत्तम राजनीतिका उपदेश दो, आपने सदा ऋषियोंकी और देवताओंकी उपासनाकी है३६इसलिये आपको अवश्य ही सम्पूर्ण उपदेश देना चाहिये, क्योंकि-महात्मा विद्वानोंसे यदि धर्म बूझा जाय तो उनको उचित है, कि-धर्मका श्रवण करना चाहनेवालोंको वे अवश्य ही उपदेश दें,विद्वान् कहते हैं,कि-यह उनका धर्म है और हे राजन् !

चेति धर्ममाहुर्म्मनीषिणः । अप्रतिब्रुवतः कष्टो दोषो हि भविता प्रभो ॥ ३८ ॥ तस्मात् पुत्रैश्च पौत्रैश्च धर्मान् पृष्टान् सनातनान् । विद्वान् जिज्ञासमानैस्त्वं प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि
कृष्णवाक्ये चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

वैशम्पायन उवाच । अथाब्रवीन्महातेजा वाक्यं कौरवनन्दनः । हन्त धर्मान् प्रवक्ष्यामि दृढे वाङ्मनसी मम । तव प्रसादाद्गोविन्द भूतात्मा ह्यसि शाश्वतः ॥१॥ युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा मां धर्माननुपृच्छतु । एवं प्रीतो भविष्यामि सर्वान् वक्ष्यामि चाखिलान् ॥२॥ यस्मिन् राजर्षभे जाते धर्मात्मनि महात्मनि । अहृष्यन् ऋषयः सर्वे स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ३ ॥ सर्वेषां दीप्तयशसां कुरूणां धर्मचारिणाम् । यस्य नास्ति समः कश्चित् स मां पृच्छतु पांडवः ४

जो पुरुष बूझने पर धर्मका उपदेश नहीं देता है उसको दुःखदायक दोष लगता है।३७-३८।इसलिये हे भरतसत्तम राजन्!तुम जानते हो तो जिज्ञासु-पुत्रों को तथा पौत्रोंको बूझेहुए सनातन धर्मका उपदेश दो ॥ ३९ ॥ चौअनवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५४ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि-हे जनमेजय ! श्रीकृष्णकी बात सुन कर महातेजस्वी भीष्मजी बोले, कि-हे गोविन्द।आपकी कृपासे मेरी वाणी और मनमें बल आगया है, इसलिये मैं धर्मका उपदेश करूँगा, क्योंकि-तुम सनातन, प्राणियोंके आत्मा हो. धर्मात्मा युधिष्ठिर मुझसे नीति और कर्त्तव्यके विषयमें प्रश्न करें मैं प्रसन्न होकर उनको सब धर्मका उपदेश दूँगा ॥ १-२ ॥ जिन महात्मा राजा युधिष्ठिरका जन्म होने पर सब ऋषि प्रसन्न हुए थे वह युधिष्ठिर मुझसे भले ही प्रश्न करें ॥ ३ ॥ उज्ज्वल यशवाले सकल कौरवोंमें जिनकी समान कोई नहीं है वह राजा युधिष्ठिर आनन्दसे मुझसे धर्मका प्रश्न करें४जिनमें धीरज, दम, ब्रह्मचर्य,

धृतिर्दमो ब्रह्मचर्य्यं क्षमा धर्मश्च नित्यदा । यस्मिन्नोजश्च तेजश्च स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ५ ॥ सम्बन्धीनतिथीन् भृत्यान् संश्रितांश्चैव यो भृशम् । सम्मानयति सत्कृत्य स मां पृच्छतु पाण्डवः६ सत्यं दानं तपः शौर्य्यं शान्तिर्दाक्ष्यमसंभ्रमः । यस्मिन्नेतानि सर्वाणि स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ७ ॥ यो न कामान्न संरम्भान्न भयान्नार्थकारणात् । कुर्य्यादधर्मं धर्मात्मा स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ८ ॥ सत्यनित्यः क्षमानित्यो ज्ञाननित्योतिथिप्रियः । यो ददाति सतां नित्यं स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥९॥ इज्याध्ययननित्यश्च धर्मे च निरतः सदा । शान्तः श्रुतरहस्यश्च स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ १० ॥ वासुदेव उवाच । लज्जया परयोपेतो धर्मराजो युधिष्ठिरः । अभिशापभयाद्भीतो भवन्तं नोपसर्पति ११

क्षमा, धर्म, ओज और तेज सदा निवास करके रहते हैं वह राजा युधिष्ठिर मुझसे भले ही प्रश्न करें ॥ ५ ॥ जो संबन्धियोंका, अतिथियोंका, भृत्योंका(पोषण करनेके पात्रोंका)और आश्रितोंका बडा सत्कार करके सन्मान करते हैं वह राजा युधिष्ठिर भले ही मुझसे प्रश्न करें ॥ ६ ॥ सत्य, दान, तप, शूरता, शान्ति, चतुरता और धीरज ये सब जिनमें रहते हैं वह युधिष्ठिर भले ही मुझसे प्रश्न करें ॥ ७ ॥ जो धर्मात्मा कामनासे, क्रोधसे, भयसे, अथवा लालचसे अधर्माचरण नहीं करते हैं वह राजा युधिष्ठिर भले ही मुझसे प्रश्न करें ॥ ८ ॥ जो नित्य सत्यवादी, नित्य क्षमास्वभाव नित्यज्ञानी और अतिथियोंको प्यार करनेवाले हैं तथा जो सदा सत्पुरुषोंको दान देते हैं वह युधिष्ठिर भले ही मुझसे प्रश्न करें ॥ ९ ॥ यज्ञ, वेदाध्ययन और धर्ममें सदा लगे रहनेवाले, क्षमावान् और शास्त्रके रहस्यको सुननेवाले युधिष्ठिर भले ही मुझसे प्रश्न करें ॥ १० ॥ श्रीकृष्णने कहा, कि-धर्मराज युधिष्ठिरको बडी लज्जा लगती है और वह तुम्हारे शापके भयसे

लोकस्य कदनं कृत्वा लोकनाथो विशाम्पते । अभिशापभयाद्भीतो भवन्तं नोपसर्पति ॥१२॥ पूज्यान्मान्यांश्च भक्तांश्च गुरून् सम्बन्धिबान्धवान् । अर्घार्हानिषुभिर्भित्त्वा भवन्तं नोपसर्पति१३ भीष्म उवाच । ब्राह्मणानां यथा धर्मो दानमध्ययनं तपः । क्षत्रियाणां तथा कृष्ण समरे देहपातनम् ॥ १४ ॥ पितॄन् पितामहान् भ्रातॄन् गुरून् सम्बन्धिबान्धवान् । मिथ्याप्रवृत्तान् यः संख्ये निहन्याद्धर्म्म एव सः ॥१५॥ समयत्यागिनो लुब्धान् गुरूनपि च केशव । निहन्ति समरे पापान् क्षत्रियः स हि धर्म्मवित् १६ यो लोभान्न समीक्षेत धर्मसेतुं सनातनम् । निहन्ति यस्तं समरे क्षत्रियो वै स धर्मवित् ॥ १७ ॥ लोहितोदां केशतृणां गजशैलां

डरते हैं, इसलिये तुम्हारे पास नहीं आसकते ॥ ११ ॥ हे राजन् ! लोकनाथ युधिष्ठिर जगत्का संहार करके शापके भयसे डरते हुए तुम्हारे पास नहीं आते हैं ॥ १२ ॥ जो पूज्य थे, जो मान्य थे, जो भक्त थे, जो गुरु थे, जो संबन्धी थे,और जो बान्धव थे, तथा जिनको अर्घ देना चाहिये था,उनको बाण मारकर बींधडाला, इसलिये युधिष्ठिर आपके पास आतेहुए हिचकते हैं ॥ १३ ॥ भीष्मने कहा, कि-हे कृष्ण!जैसे दान देना और लेना,वेद पढ़ाना और पढ़ना तथा तप करना यह ब्राह्मणों का धर्म है, तैसे ही रणमें लडकर देहको गिरादेना यह क्षत्रियों का धर्म है ॥१४॥ पिता, ताऊ, चाचा, बाबा,भाई, गुरु, संबन्धी और बान्धव ये यदि खोटे मार्गसे चलें तो इनको रणमें मार देय, यह क्षत्रियका धर्म है ॥ १५ ॥ हे केशव ! जो गुरु अपने धर्मको भूलकर लोभी बनजायँ ऐसे पापी पुरुषोंको जो क्षत्रिय रणमें मारडालता है वह क्षत्रियधर्मको जानता है१६जो क्षत्रिय लोभवश सनातनधर्मके मार्गको नहीं देखता है, ऐसे क्षत्रियको जो युद्धमें मारता है वह क्षत्रियधर्मको जानता है ॥१७॥ जो क्षत्रिय रणमें

ध्वजद्रुमाम् । महीं करोति युद्धेषु क्षत्रियो यः स धर्मवित् ॥ १८ ॥ आहूतेन रणे नित्यं योद्धव्यं क्षत्रबन्धुना । धर्म्यं स्वर्ग्यञ्च लोक्यं च युद्धं हि मनुरब्रवीत् ॥ १९ ॥ वैशम्पायन उवाच । एवमुक्तस्तु भीष्मेण धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः। विनीतवदुपागम्य तस्थौ सन्दर्शनेऽग्रतः ॥ २० ॥ अथास्य पादौ जग्राह भीष्मश्चापि ननन्द तम् । मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय निषीदेत्यब्रवीत्तदा ॥ २१ ॥ तमुवाचाथ गाङ्गेयो वृषभः सर्वधन्विनाम् । मां पृच्छ तात विश्रब्धं मा भैस्त्वं कुरुसत्तम ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिराश्वासने पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

वैशम्पायन उवाच । प्रणिपत्य हृषीकेशमभिवाद्य पितामहम् ।

पृथिवीको रुधिररूप जल, केशरूप तृण, हाथीरूप पहाड़ और ध्वजारूप वृक्षोंवाली बनादेता है वह क्षत्रियधर्मको जानता है।१८। क्षत्रियको यदि रणमें युद्धके लिए बुलाया जाय तो वह नित्य युद्ध करे, क्षत्रियके लिये युद्ध धर्मके अनुकूल स्वर्ग देनेवाला तथा परलोकको सुधारनेवाला है, ऐसा मनुजी कहते हैं ॥ १९ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—भीष्मजीके ऐसा कहने पर धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर विनयवालेकी समान कुरुवीर भीष्मजीके पास जाकर उनका दर्शन करनेके लिये खड़े होगये॥२०॥ फिर उन्होंने भीष्मजीके चरण छुए, तब भीष्मजीने भी उनको प्रसन्न किया और उनका मस्तक सूँघकर उनसे कहा, कि—बैठो ॥ २१ ॥ सब धनुषधारियोंमें श्रेष्ठ गङ्गापुत्रने युधिष्ठिरसे कहा, कि—हे कुरुकुलमें श्रेष्ठ ! डरो मत, किन्तु खुले मनसे मुझसे प्रश्न करो ॥ २२ ॥ पचपनवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५५ ॥ ॥

वैशम्पायनने कहा, कि-हे जनमेजय! राजा युधिष्ठिर श्रीकृष्णको प्रणाम करके, पितामह भीष्मका अभिनन्दन करके तथा (कृा-

अनुमान्य गुरून् सर्वान् पर्य्यपृच्छद्युधिष्ठिरः ॥ १ ॥ युधिष्ठिर उवाच । राज्ञां वै परमो धर्म इति धर्मविदो विदुः । महान्तमेतं भारञ्च मन्ये तद् ब्रूहि पार्थिव ॥२॥ राजधर्मान् विशेषेण कथयस्व पितामह । सर्वस्य जीवलोकस्य राजधर्मः परायणम् ॥ ३ ॥ त्रिवर्गो हि समासक्तो राजधर्मेषु कौरव । मोक्षधर्मश्च विस्पष्टः सकलोऽत्र समाहितः ॥ ४ ॥ यथा हि रश्मयोऽश्वस्य द्विरदस्यांकुशो यथा । नरेन्द्र धर्मो लोकस्य तथा प्रग्रहणं स्मृतम् ॥५॥ तत्र चेत्संप्रमुह्येत धर्मे राजर्षिसेविते । लोकस्य संस्था न भवेत्सर्वं च व्याकुलीभवेत् ॥ ६ ॥ उदयन् हि यथा सूर्यो नाशयत्यशुभं तमः । राजधर्मास्तथाऽलोक्यां निक्षिपन्त्यशुभां गतिम् ॥ ७ ॥ तदग्रे राज-

चार्य, व्यास आदि)सब बडोंकी आज्ञा लेकर प्रश्न करनेलगे।१। युधिष्ठिरने बूझा कि-हे राजन्! धर्मवेत्ता जानते हैं,कि-राजाओंका (प्रजा-पालनरूप) धर्म श्रेष्ठ है मेरी समझमें इस भारको उठाना कठिन है, इसलिये आप मुझे राजाओंके धर्म सुनाइये ॥ २ ॥ हे पितामह! आप मुझे क्रमसे राजधर्म सुनाइये, सब जगत्का परम आधार राजधर्मके ही ऊपर है३क्योंकि-हे भीष्म पितामह! धर्म, अर्थ और काम यह त्रिवर्ग तथा संपूर्ण मोक्षधर्म यह सब राजधर्ममें ही है४जैसे घोडेको वशमें करनेके लिये लगाम काम देती है और हाथीको वशमें करनेके लिये अंकुश उपयोगी है ऐसे ही सब लोगोंको वशमें करनेके लिये राजधर्म उपयोगी है, ऐसा शास्त्रको जाननेवालोंका कहना है।।५।।राजर्षियोंके सेवन किये हुए धर्मके अनुसार जो लोग वर्त्ताव नहीं करते हैं, उनकी व्यवस्था ठीक नहीं रहती है और सब जगत् व्याकुल होजाता है ॥ ६ ॥ जैसे सूर्य उदय होकर अशुभ अन्धकारका नाश करदेता है ऐसे ही राजधर्म मनुष्योंकी अशुभ गतिका नाश करता है और उनको परलोक देता है ॥ ७ ॥ इसलिये हे पितामह! आप पहले

धर्मान् हि मदर्थं त्वं पितामह । प्रब्रूहि भरतश्रेष्ठ त्वं हि धर्मभृताम्वरः ॥८॥ आगमश्च परस्त्वत्तः सर्वेषां नः परन्तप । भवन्तं हि परं बुद्धौ वासुदेवोऽभिमन्यते॥ भीष्म उवाच । नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे । ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥ १० ॥ शृणु कार्त्स्न्येन मत्तस्त्वं राजधर्मान् युधिष्ठिर । निरुच्यमानान्निरतो यच्चान्यदपि वाञ्छसि ॥ ११ ॥ आदावेव कुरुश्रेष्ठ राज्ञा रञ्जनकाम्यया । देवतानां द्विजानां च वर्त्तितव्यं यथाविधि ॥ १२ ॥ दैवतान्यर्चयित्वा हि ब्राह्मणांश्च कुरूद्वह । आनृण्यं याति धर्मस्य लोकेन च समर्च्यते ॥ १३ ॥ उत्थानेन सदा पुत्र प्रयतेथा युधिष्ठिर । न ह्युत्थानमृते दैवं राज्ञामर्थं प्रसाधयेत् ॥ १४ ॥ साधारणं द्वयं ह्येतद्दैवमुत्थानमेव च ।

मुझे राजाओंके धर्म सुनाइये, क्योंकि–तुम धर्मनिष्ठ पुरुषोंमें श्रेष्ठ हो ॥ ८ ॥ हे परन्तप ! वासुदेव आपको महाबुद्धिमान् मानते हैं, इसलिये हम चाहते हैं, कि–हम सबोंको आपसे परमरहस्य मालूम होजाय ॥ ९ ॥ भीष्मजी बोले, कि–महान् धर्मको, पूर्ण ब्रह्म श्रीकृष्ण तथा ब्राह्मणोंको प्रणाम करके मैं मनुष्योंके सनातनधर्म कहता हूँ ॥ १० ॥ हे युधिष्ठिर ! मैं तुमसे समग्र राजधर्म कहता हूँ उसको तुम सावाधान होकर सुनो तथा और जो कुछ सुनना चाहो वह भी सुनो ॥ ११ ॥ हे कुरुसत्तम राजन् ! प्रजाका रञ्जन करनेकी इच्छासे राजा शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार देवताओंकी और ब्राह्मणोंकी सेवा करे ॥ १२ ॥ हे कुरुवंशी राजन् ! जो राजा देवताओंकी और ब्राह्मणोंकी पूजा करता है वह धर्मलोपसे होनेवाले ऋणसे छूटजाता है और प्रजाका प्रेमपात्र होता है॥१३॥ हे बेटा ! तू सदा विजयके लिये पुरुषार्थ करके प्रयत्न करते रहना, क्योंकि–पुरुषार्थ किये विना केवल दैव राजाओंके काम सिद्ध नहीं करता है ॥ १४ ॥ (काम

पौरुषं हि परं मन्ये दैवं निश्चित्यमुच्यते ॥ १५ ॥ विपन्ने च समारम्भे संतापं मा स्म वै कृथाः। घटस्वैव सदात्मानं राज्ञामेष परो नयः ॥ १६ ॥ न हि सत्यादृते किञ्चिद्राज्ञां वै सिद्धिकारकम्। सत्ये हि राजा निरतः प्रेत्य चेह च नन्दति ॥ १७ ॥ ऋषीणामपि राजेन्द्र सत्यमेव परं धनम्। तथा राज्ञां परं सत्यान्नान्यद्विश्वासकारणम् ॥ १८ ॥ गुणवान् शीलवान् दान्तो मृदुर्धर्म्यो जितेन्द्रियः। सुदर्शः स्थूललक्ष्यश्च न भ्रश्येत सदा श्रियः ॥ १९ ॥ आर्जवं सर्वकार्येषु श्रयेथाः कुरुनन्दन। पुनर्नयविचारेण त्रयीसंवरणेन च ॥ २० ॥ मृदुर्हि राजा सततं

करनेमें) दैव और पुरुषार्थ ये दोनों रथके दो पहियोंकी समान हैं, परन्तु मैं दैवसे पुरुषार्थको श्रेष्ठ मानता हूँ, क्योंकि-पुरुषार्थका द्वार प्रसिद्ध है और दैवकी सिद्धिका निश्चय उसके फलसे कियाजा सकता है ॥ १५ ॥ आरम्भ किया हुआ काम निष्फल होजाय तो उसके लिये तुम सन्ताप न करना, किन्तु काम सिद्ध करनेके लिये बराबर प्रयत्न ही करते रहना, क्योंकि-ऐसा करना राजाओंका परमधर्म है ॥ १६ ॥ सत्यके सिवाय दूसरा कोई काम भी राजाओंको सिद्ध देनेवाला नहीं है, सत्यका व्यवहार करनेवाला राजा इस लोक और परलोकमें सुख पाता है ॥ १७ ॥ हे राजेन्द्र ! ऋषियोंका परमधन भी सत्य ही है तथा दूसरोंको विश्वास उपजानेके लिये सत्यके सिवाय राजाओंका और कोई साधन नहीं है ॥ १८ ॥ जो राजा गुणी, शीलवान्, सरलस्वभाव, कोमल, धर्मनिष्ठ, जितेन्द्रिय, प्रसन्नमुख, स्थूल लक्ष्यवाला बहुत दान देनेवाला (उदार) होता है वह राज्यलक्ष्मीसे कभी विलग नहीं होता है ॥ १९ ॥ हे कुरुवंशी राजन् ! (न्यायके) सब काम करते समय सरल रहना, परन्तु (अपने निजी कार्योंको गुप्त रखना) दूसरोंके छिद्र खोजना और अपने राजकीय विचारोंको गुप्त रखना

लंघ्यो भवति सर्वशः । तीक्ष्णाच्चोद्विजते लोकस्तस्मादुभयमाश्रय ॥ २१ ॥ अदण्ड्याश्चैव ते पुत्र विप्राश्च वदतांवर । भूतमेतत् परं लोके ब्राह्मणो नाम पाण्डव ॥ २२ ॥ मनुना चैव राजेन्द्र गीतौ श्लोकौ महात्मना । धर्मेषु स्वेषु कौरव्य हृदि तौ कर्त्तुमर्हसि ॥२३॥ अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् । तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ २४ ॥ अयो हन्ति यदाश्मानमग्निना वारि हन्यते । ब्रह्म च क्षत्रियो द्वेष्टि तदा सीदन्ति ते त्रयः ॥ २५ ॥ एवं कृत्वा महाराज नमस्या एव ते द्विजाः । भौमं ब्रह्म द्विजश्रेष्ठा धारयन्ति समर्च्चिताः ॥ २६ ॥

इन तीन बातोंमें सरलतासे काम न लेना ॥ २० ॥ नरमस्वभावके राजाका सब कोई अपमान करते हैं और तेजस्वभावके राजासे प्रजा डरती रहती है, इसलिये तुम कोमलता और तीक्ष्णता इन दोनों गुणोंका आश्रय लेना ॥ २१ ॥ हे परम उदार ! तुम ब्राह्मणोंको कभी दण्ड न देना, क्योंकि–हे पाण्डुपुत्र ! ब्राह्मण इस जगत्में उत्तम प्राणी मानेजाते हैं ॥ २२॥ हे राजेन्द्र ! महात्मा मनु महाराजने इस विषयमें दो श्लोक कहे हैं, वे तुम्हें अपने धर्मके विषयमें हृदय पर लिख रखना चाहिये ॥२३॥ जलमेंसे अग्नि ब्राह्मणमेंसे क्षत्रिय और पत्थरमेंसे लोहा उत्पन्न हुआ है (ये तीन–अग्नि, क्षत्रिय और लोहा अपना बल दूसरेके ऊपर अजमानेमें प्रवृत्त हैं, परन्तु) इनका सर्वत्र फैलाहुआ तेज अपनेको उत्पन्न करनेवाले कारणमें जाकर शान्त होजाता है ॥ २४ ॥ जब लोहा पत्थरपर माराजाता है, अग्नि जलमें लगायाजाता है और क्षत्रिय ब्राह्मणसे द्वेष करने लगता है तो ये तीनों दुःखी होते हैं (दुर्बल पड़जाते हैं) ॥२५॥ इसलिये हे महाराज ! तुम ब्राह्मणोंको प्रणाम करना उत्तम ब्राह्मणोंका यदि सत्कार कियाजाता है तो वे वेदोंको और यज्ञोंको धारण किये रहते हैं (वेदाध्ययन और यज्ञ करते हैं,

एवञ्चैव नरव्याघ्र लोकत्रयविघातकाः । निग्राह्या एव सततं बाहुभ्यां ये स्युरीदृशाः ॥ २७ ॥ श्लोकौ चोशनसा गीतौ पुरा तात महर्षिणा । तौ निबोध महाराज त्वमेकाग्रमना नृप ॥ २८ ॥ उद्यम्य शस्त्रमायान्तमपि वेदान्तगं रणे । निगृह्णीयात् स्वधर्मेण धर्मापेक्षी नराधिपः ॥ २९ ॥ विनश्यमानं धर्मं हि योऽभिरक्षेत् स धर्मवित् । न तेन धर्महा स स्यान्मन्युस्तन्मन्युमृच्छति ॥३०॥ एवञ्चैव नरश्रेष्ठ रक्ष्या एव द्विजातयः । सापराधानपि हि तान् विषयान्ते समुत्सृजेत् ॥३१॥ अभिशस्तमपि ह्येषां कृपायीत विशाम्पते । ब्रह्मघ्ने गुरुतल्पे च भ्रूणहत्ये तथैव च ॥ ३२ ॥ राज-

उससे राजाका कल्याण होता है) ॥ २६ ॥ परन्तु हे नर-व्याघ्र ! यद्यपि ब्राह्मण ऐसे पूज्य हैं, तथापि जो तीनों लोकोंको दुःख देकर सन्मान पाना चाहें ऐसे ब्राह्मणोंको भुजबलसे नित्य शिक्षा देकर वशमें रखना ॥ २७ ॥ हे तात!पहले महर्षि शुक्राचार्यने इस विषयमें दो श्लोक कहे हैं उनको हे महाराज ! तुम एकाग्र चित्त होकर सुनो ॥ २८ ॥ वेद और वेदान्त शास्त्रको पढ़लेने पर भी जो ब्राह्मण शस्त्र लेकर चढ़ आवे तो धर्मकी रक्षा करनेवाला राजा अपने धर्मके अनुसार उस आततायी ब्राह्मणको शिक्षादेय ॥२९॥ जो नष्ट होते हुए धर्मकी रक्षा करे वही धर्मको जाननेवाला है,आततईको मारनेवाला धर्मका नाशक नहीं माना जाता है, क्योंकि—क्रोधमें भरेहुए आततईको उसका क्रोध ही मारता है ॥ ३० ॥ हे नरेन्द्र ! इस प्रकार ब्राह्मणोंकी रक्षा करे और यदि वे अपराध करें तो उनको दूसरे देशमें निकाल देय ॥ ३१ ॥ हे राजन् ! ब्राह्मणको सच्चा व मिथ्या कैसा ही दोष लगा हो तो भी उसके ऊपर दया ही करे, ब्राह्मणने ब्रह्महत्या की हो, गुरुकी स्त्रीके साथ व्यभिचार किया हो तथा गर्भपात किया हो अथवा हे राजेंद्र ! उसने राजासे द्वेष किया हो तो उसको

द्विष्टे च विप्रस्य विषयान्ते विसर्ज्जनम् । विधीयते न शारीरं दण्डमेषां कदाचन ॥ ३३ ॥ दयिताश्च नरास्ते स्युर्भक्तिमन्तो द्विजेषु ये । न कोशः परमोन्योस्ति राज्ञां पुरुषसञ्चयात् ॥३४॥ दुर्गेषु च महाराज षट्सु ये शास्त्रनिश्चिताः । सर्वदुर्गेषु मन्यन्ते नरदुर्गं सुदुस्तरम् ॥ ३५ ॥ तस्मान्नित्यं दया कार्य्या चातुर्वर्ण्ये विपश्चिता । धर्मात्मा सत्यवाक् चैव राजा रञ्जयति प्रजाः ३६ न च क्षान्तेन ते नित्यं भाव्यं पुत्र समन्ततः । अधर्मो हि मृदू राजा क्षमावानिव कुञ्जरः ॥३७॥ बार्हस्पत्ये च शास्त्रे च श्लोको निगदितः पुरा । अस्मिन्नर्थे महाराज तन्मे निगदतः शृणु ॥३८॥ क्षममाणं नृपं नित्यं नीचः परिभवेज्जनः । हस्तियंता गजस्येव शिर

देशनिकालेका दण्ड देय, ब्राह्मणोंको देहान्त दण्डकी विधि कभी नहीं है ॥३२-३३॥ जो पुरुष ब्राह्मणोंमें भक्ति रखने हों उनके साथ प्रेमभाव रक्खे, ब्राह्मणभक्त पुरुषोंके संग्रहसे बढ़कर दूसरा श्रेष्ठ भण्डार नहीं है ॥३४॥ शास्त्रमें निश्चय कियेहुए छः प्रकार के (मरु, जल, पृथिवी, वन, पर्वत और मनुष्य इन) किलोंमें मनुष्यरूप किलेको शास्त्रके ज्ञाता महादुस्तर मानते हैं ॥ ३५ ॥ इसलिये बुद्धिमान् राजा सदा चारों वर्णकी प्रजाके ऊपर दया करे, धर्मात्मा और सत्य बोलनेवाला राजा अपनी प्रजाको सदा प्रसन्न रख सकता है ॥३६॥ हे बेटा ! तू चारों ओर सदा क्षमा का भाव न रखना, क्योंकि- क्षमावान् हाथीकी समान क्षमाके स्वभाववाला राजा भी धर्मका विरोधी मानाजाता है ॥ ३७ ॥ पहले बृहस्पतिके शास्त्रमें इस विषय पर एक श्लोक कहागया है, हे महाराज ! उसको मैं कहता हूँ, आप सुनिये ॥ ३८ ॥ जो राजा सदा क्षमा ही करेगा उसका नीच पुरुष भी तिरस्कार करेगा, जैसे कि-हाथीवान् हाथीके सिरपर ही चढ़ना चाहता है ॥ ३९ ॥ इसलिये राजा न सदा कोमल ही रहे और न

एवारुरुक्षति ॥३९॥ तस्मान्नैव मृदुर्नित्यं तीक्ष्णो नैव भवेन्नृपः । वासन्तार्क इव श्रीमान् न शीतो न च घर्म्मदः ॥ ४० ॥ प्रत्यक्षेणानुमानेन तथौपम्यागमैरपि । परीक्ष्यास्ते महाराज स्वे परे चैव नित्यशः ॥४१॥ व्यसनानि च सर्वाणि त्यजेथा भूरिदक्षिण । नचैव न प्रयुञ्जीत सङ्कीर्णं परिवर्जयेत् ॥४२॥ लोकस्य व्यसनी नित्यं परिभूतो भवत्युत । उद्वेजयति लोकञ्च योऽतिद्वेषी महीपतिः ॥४३॥

सदा तेजी ही दिखावे, किन्तु जैसे वसन्त ऋतुका सूर्य न शीतल हीं होता है और न तेज धूप ही करता है, ऐसे ही कोमलता और तीक्ष्णता इन दोनों ही गुणोंको धारण करे ॥ ४० ॥ हे महाराज ! प्रत्यक्ष (उपकार वा अपकार आदि काम) से, अनुमान (मुख नेत्र आदिके ढङ्ग) से, उपमान (अन्यत्र किये हुए कामों) से और आगम (सामुद्रिक शास्त्रमें कहेहुए लक्षणों)से सदा अपने और पराये पुरुषोंकी परीक्षा करे ॥ ४१ ॥ हे बडी दक्षिणा देनेवाले राजन् ! तुम्हें सब प्रकारके व्यसनोंका (शिकार जुआ, दिनमें सोना, दूसरोंकी निन्दा, करना स्त्रीमें आसक्त होना मदिरा पीकर मतवाला होजाना, नाचना, गाना, बाजा बजाना और बेकार घूमते फिरना इन दश प्रकारके कामनासे होनेवाले व्यसनोंका तथा दूसरोंकी चुगली खाना, दुःसाहस करना, द्रोह करना, ईर्षा करना, दूसरोंके गुणोंमें दोष लगाना, दूसरोंका धन हरना, गालियें बकना और मारकूट करना इन आठ प्रकारके क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले व्यसनोंका) त्याग करदेना चाहिये, परन्तु पराक्रमके कारणरूप (बढ़ानेवाले) मृगया (शिकार) आदिको सर्वथा नहीं त्यागदेना चाहिये, किन्तु कभी २ करता रहे और दुःख देनेवाले व्यसनोंको त्यागदेय, उनमें आसक्ति न करे ४२ क्योंकि—व्यसनी राजाका लोग सदा तिरस्कार करते हैं और जो राजा प्रजासे अत्यन्त द्वेषसा करता है उससे उसकी प्रजा

भवितव्यं सदा राज्ञा गर्भिणीसहधर्मिणा । कारणञ्च महाराज शृणु येनेदमिष्यते ॥ ४४ ॥ यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोनुगम् । गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्यसशंयम्॥४५॥वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ सदा धर्मानुवर्त्तिना । स्वं प्रियन्तु परित्यज्य यद्यल्लोकहितं भवेत् ॥४६॥ न संत्याज्यश्च ते धैर्यं कदाचिदपि पाण्डव । धीरस्य स्पष्टदण्डस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥४७॥ परिहासश्च भृत्यैस्ते नात्यर्थं वदताम्वर । कर्त्तव्यो राजशार्दूल दोषमत्र हि मे शृणु ॥ ४८ ॥ अवमन्यन्ति भर्त्तारं संघर्षादुपजीविनः । स्वे स्थाने न च तिष्ठन्ति लंघयन्ति च तद्वचः ॥ ४९ ॥ प्रेष्यमाणा विकल्पन्ते गुह्यं चाप्यनुयुञ्जते । अयाच्यश्चैव याचन्ते भोज्या-

---

व्याकुल रहती है ॥ ४२ ॥ राजा प्रकृतिमण्डल (प्रजा और दरिबारियों) के साथ सदा गर्भिणी स्त्रीकी समान व्यवहार करे ४४ हे राजन् ! यह उपमा कैसे घटती है उसको सुनो—जैसे गर्भिणी स्त्री अपने मनको अच्छे लगनेवाले अपने हितका ध्यान छोड़कर गर्भका हित करती है तैसे ही धर्मात्मा राजाको अपने हितकी परवाह न करके जो लोकहितके काम हों वे ही सदा करने चाहियें ॥ ४४–४६ ॥ हे पाण्डव ! धीरज कभी नहीं छोड़ना चाहिये, जो राजा धीरजवान् और कुमार्गगामियोंको दण्ड देने वाला प्रसिद्ध होता है उसको किसीसे भय नहीं होता है ॥४७॥ हे बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ ! सेवकोंके साथ अधिक हास्य विनोद न करना, हे राजसिंह ! इसमें जो दोष है उसको मुझसे सुनो ४८ स्वामीके समीपमें अधिक स्वतन्त्रता होने पर सेवक अपने स्वामी का अपमान करने लगते हैं, अपने स्थान (दरजे) पर नहीं रहते और स्वामीकी बातको टालने लगते हैं ॥ ४९ ॥ किसी कामके लिये भेजने पर 'न जाने होगा या नहीं' ऐसा सन्देह दिखाते हैं (उसको करनेमें पूरा मन नहीं लगाते), गुप्त बात

व्याहारयन्ति च ॥ ५० ॥ क्रुश्यन्ति परिदीप्यन्ति भूमिपायाधितिष्ठते । उत्कोचैर्वंचनाभिश्च कार्य्याण्यनुविहन्ति च ॥ ५१ ॥ जर्जरं चास्य विषयं कुर्वन्ति प्रतिरूपकैः । स्त्रीरक्षिभिश्च सज्जन्ते तुल्यवेषा भवन्ति च ॥ ५२ ॥ वातं निष्ठीवनञ्चैव कुर्वते चास्य सन्निधौ । निर्लज्जा राजशार्दूल व्याहरन्ति च तद्वचः ॥५३॥ हयं वा दन्तिनं वाऽपि रथम्वा नृपसत्तम । अधिरोहन्त्यनादृत्य हर्षुले पार्थिवे मृदौ ॥ ५४ ॥ इदन्ते दुष्करं राजन्निदन्ते दुश्चेष्टितम् । इत्येवं सुहृदो वाच्यं वदन्ते परिषद्गताः ॥ ५५ ॥ क्रुद्धे चास्मिन् हसन्त्येव न च हृष्यन्ति पूजिताः । संहर्षशीलाश्च तदा

को प्रकट करदेते हैं, न माँगने योग्य वस्तुओंको माँगत हैं और राजाके लिये तयार हुए भोजनको उसकी अनुपस्थितिमें खाजाते हैं ॥ ५० ॥ चिल्लाते हैं, राजासे अधिक नाम पानेका उद्योग करते हैं, राजाके ऊपर भी अपनी आज्ञा चलानेका उद्योग करते हैं, घूँस (रिश्वत) लेकर तथा धोखे देकर राज्यके कामोंमें विघ्न डालते हैं ॥ ५१ ॥ बनावटी आज्ञापत्र निकालकर राजाके देशमें गड़बड़ी डालदेते हैं, रणवासके रक्षकोंसे मिलकर रणवासमें घुसने लगते हैं और राजा की समान ही पोशाक पहरकर फिरने लगते हैं ॥ ५२ ॥ हे राजसिंह ! राजाके पास बैठे२ जोर२की जंभाई लेते हैं, थूकते हैं, निर्लज्जताकी बातें करते हैं और गुप्त बातोंको दूसरोंके सामने प्रकट करदेते हैं ॥५३॥ राजा यदि कोमल और हँसमुखस्वभावका होता है तो उसका अपमान करके उसके घोड़े, हाथी और रथपर चढे २ फिरते हैं ॥५४॥ और बीच सभामें बैठकर मित्रोंकी समान कहते हैं, कि-हे राजन् ! यह काम आपसे नहीं होसकेगा, यह काम अच्छा नहीं है (इससे राजाकी बात हलकी होती है) ॥ ५५ ॥ यदि राजा क्रोधमें भरता है तो वे हँसने लगते हैं, राजा सत्कार करता

भवन्त्यन्योन्यकारणात् ॥ ५६ ॥ विस्रंसयन्ति मन्त्रञ्च विवृण्वन्ति च दुष्कृतम् । लीलया चैव कुर्वन्ति सावज्ञास्तस्य शासनम् ॥५७॥ अलङ्कारे च भोज्ये च तथा स्नानानुलेपने । हेलनानि नरव्याघ्र स्वस्थास्तस्योपशृण्वतः ॥ ५८ ॥ निन्दन्ते स्वानधीकारान् संत्यजन्ते च भारत । न वृत्त्या परितुष्यन्ति राजदेयं हरन्ति च ५९ क्रीडितुं ते न चेच्छन्ति समूत्रेणेव पक्षिणा । अस्मत्प्रणेयो राजेति लोकांश्चैव वदन्त्युत ॥ ६० ॥ एते चैवापरे चैव दोषाः प्रादुर्भवन्त्युत । नृपतौ मार्दवोपेते हर्षुले च युधिष्ठिर ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि भीष्मवाक्ये षट्पंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

है तो भी वे प्रसन्न नहीं होते हैं, किन्तु उस समय परस्परके कारण दिखाकर बराबरीका दावा करते हैं ॥ ५६ ॥ राजकीय गुप्त बातोंको फैलादेते हैं, राजाके दोषोंको प्रकट करते हैं और राजाकी आज्ञाको अपमानपूर्वक दिल्लगीमें डालकर पूरी करते हैं ॥ ५७ ॥ हे राजन् ! वे राजाके सुनतेहुए निर्भयताके साथ राजाके आभूषण, भोजन पदार्थ, स्नान और चन्दनादिलेपनकी दिल्लगी करते हैं ॥ ५८ ॥ हे भारत ! वे अपनेको सौंपेहुए अधिकारोंकी निन्दा करतेहुए उनको त्यागदेते हैं, नियमित दी हुई वृत्ति (तनख्वाह) से सन्तुष्ट नहीं होते, किन्तु राजाके रुपयेको पचाजाते हैं ॥ ५९ ॥ जैसे मनुष्य डोरेमें बँधेहुए पक्षी के साथ खेल करते हैं तैसे ही राजाके साथ शिकार आदिका खेल करना चाहते हैं और लोगोंसे कहते हैं कि-राजा तो हमारे वशमें है ॥ ६० ॥ हे युधिष्ठिर ! राजा हास्यके स्वभाववाला या कोमलस्वभावका होता है तो ये तथा और भी बहुतसे दोष प्रकट होजाते हैं ॥ ६१ ॥ छप्पनवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५६ ॥

भीष्म उवाच । नित्योद्युक्तेन वै राज्ञा भवितव्यं युधिष्ठिर । प्रशस्यते न राजा हि नारीवोद्यमवर्जितः ॥ १ ॥ भगवानुशना चाह श्लोकमत्र विशाम्पते । तदिहैकमना राजन् गदतस्तं निबोध मे ॥ २ ॥ द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव । राजानञ्चाविरोद्धारं ब्राह्मणञ्चाप्रवासिनम् ॥ ३ ॥ तदेतन्नरशार्दूल हृदि त्वं कर्त्तुमर्हसि । संधेयानभिसन्धत्स्व विरोध्यांश्च विरोधय ॥ ४ ॥ सप्ताङ्गस्य च राज्यस्य विपरीतं य आचरेत् । गुरुर्वा यदि वा मित्रं प्रतिहन्तव्य एव सः ॥ ५ ॥ मरुत्तेन हि राज्ञा वै गीतः श्लोकः पुरातनः । राजाधिकारे राजेन्द्र बृहस्पतिमते पुरा ६ गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्य्याकार्य्यमजानतः । उत्पथप्रतिपन्नस्य

भीष्मजीने कहा, कि–हे युधिष्ठिर ! राजा सदा पुरुषार्थी बनारहे, उद्योग करता रहे, स्त्रीकी समान निरुद्यमी बैठे रहनेवाले राजाकी प्रशंसा नहीं होती है ॥ १ ॥ हे राजन् ! इस विषयमें भगवान शुक्राचार्यने एक श्लोक कहा है, उसको मैं कहता हूँ तुम एकाग्रचित्त होकर मुझसे सुनो ॥ २ ॥ जैसे साँप बिलमें रहनेवाले चूहे आदिको निगलजाता है, तैसे ही विरोध न करनेवाला राजा और परदेशकी यात्रा न करने वाला ब्राह्मण इन दोनोंको पृथिवी निगलजाती है ॥ ३ ॥ हे राजन् ! तुम इन सब बातोंको हृदयमें जमालो, इस नीतिके अनुसार फिर सन्धि करने योग्य पुरुषोंके साथ सन्धि करना और विरोध करनेयोग्य पुरुषोंके साथ विरोध करना ॥ ४ ॥ जो पुरुष (राजा, मंत्री, मित्र, खजाना, देश,किला और सेना इन)सात अङ्गों वाले राज्यका अशुभ करना चाहता हो वह गुरु हो चाहे मित्र हो राजा उसको मार ही डाले ॥ ५ ॥ हे राजेन्द्र ! पहले मरुत्त नामके राजाने बृहस्पतिके मतके अनुसार राजाके अधिकार पर एक पुराना श्लोक कहा है ॥ ६ ॥ कि–अपना

दण्डो भवति शाश्वतः ॥ ७ ॥ बाहोः पुत्रेण राज्ञा च सगरेण च धीमता । असमञ्जाः सुतो ज्येष्ठस्त्यक्तः पौरहितैषिणा ॥ ८ ॥ असमञ्जाः सरय्वां स पौराणां बालकान्नृप । न्यमज्जयदतः पित्रा निर्भत्स्य स विवासितः ॥ ९ ॥ ऋषिणोद्दालकेनापि श्वेतकेतुर्महातपाः । मिथ्याविप्रानुपचरन् सन्त्यक्तो दयितः सुतः ॥१०॥ लोकरञ्जनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः । सत्यस्य रक्षणञ्चैव व्यवहारस्य चार्जवम् ॥ ११ ॥ न हिंस्यात् परवित्तानि देयं काले च दापयेत् । विक्रान्तः सत्यवाक्क्षान्तो नृपो न चलते पथः ॥१२॥ आत्मवांश्च जितक्रोधः शास्त्रार्थगतनिश्चयः । धर्मे चार्थे च कामे

गुरु भी यदि अभिमानी, कार्य अकार्यको न जाननेवाला और खोटे मार्गसे चलनेवाला हो तो उसको सनातन दण्ड देय ।७। बाहुके पुत्र बुद्धिमान् राजा सगरने नगरवासियोंके हितके लिये अपने बड़े पुत्र असमञ्जसका त्याग करदिया था ॥८॥ हे राजन्! असमंजस नगरके बालकोंको पकड २ कर सरयूनदीमें डुबोदिया करता था, इसकारण उसके पिताने उसका तिरस्कार किया और उसको देशनिकाला देदिया ॥ ९ ॥ श्वेतकेतु ब्राह्मणोंको झूठा धोखा देकर अतिथिसत्कार नहीं करता था, इसलिये उसके पिता उद्दालक ऋषिने अपने महातपस्वी और प्यारे पुत्रको भी त्याग दिया था ॥१०॥ अपनी प्रजाको प्रसन्न रक्खे, सत्य बोले और व्यवहारमें सरलता रक्खे, यह राजाका सनातनधर्म है ॥ ११ ॥ करके लिये किसानोंके अन्नको खेतोंमें रुकवाकर वर्षा आदिसे उसका नाश न करे, नियमके साथ सेवकोंको वेतन देय, पराक्रमी, सत्यवादी और क्षमाशील रहे, ऐसा आचरण करनेवाला राजा कल्याणके मार्गसे भ्रष्ट नहीं होता है १२ जो मनुष्य मनको और क्रोधको जीतलेता है शास्त्रके विषयमें निःसन्देह होता है, धर्म, अर्थ काम और मोक्षको पानेकेलिये निरन्तर (कर्ममें) प्रेम रखता है,

च मोक्षे च सततं रतः ॥ १३ ॥ अथवा संहृतमन्त्रश्च राजा भवितुमर्हति । वृजिनश्च नरेन्द्राणां नान्यच्चारक्षणात् परम् ॥ १४ ॥ चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्या महीक्षिता । धर्मसङ्कररक्षा च राज्ञां धर्मः सनातनः ॥ १५ ॥ न विश्वसेच्च नृपतिर्न चात्यर्थञ्च विश्वसेत् । षाड्गुण्यगुणदोषांश्च नित्यं बुद्ध्यावलोकयेत् ॥ १६ ॥ द्विट्छिद्रदर्शी नृपतिर्नित्यमेव प्रशस्यते । त्रिवर्गविदितार्थश्च युक्तचारोपधिश्च यः ॥ १७ ॥ कोशस्योपार्ज्जनरतिर्यमवैश्रवणोपमः । वेत्ता च दशवर्गस्य स्थानवृद्धिक्षयात्मनः ॥ १८ ॥ अभृतानां

जो, धर्म, अर्थ, और काम इन तीन बातोंके गुप्तविचारोंको गुप्त रखता है वह मनुष्य राजा होनेके योग्य होता है, गुप्त विचारकी रक्षा नहीं करना, इससे बढ़कर दूसरा दुःख राजाओंके लिये नहीं है ॥ १३-१४ ॥ राजा चारों वर्णोंके धर्मकी रक्षा करे और एकमें दूसरेके धर्मकी सङ्करता होती हो तो उसको रोक देय, यह भी राजाओंका सनातनधर्म है ॥ १५ ॥ राजा अपने पिताके सेवकके सिवाय और किसीका भी विश्वास न करे तथा विश्वास करने योग्य सेवकका भी अत्यन्त विश्वास न करे,(सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, और द्वैधीभाव इन) छः गुणोंके गुण और दोषोंको राजा स्वयं ही बुद्धिसे नित्य देखा करे ॥ १६ ॥ जो राजा नित्य वैरीके छिद्र देखा करता है (और अपने छिद्र छुपाये रखता है) वह धर्म, अर्थ और कामके स्वरूपको यथार्थ रीतिसे जानता है,जो राजा नित्य योग्य दूतोंको छुपेहुए फिराता है और उनके द्वारा वैरियोंके मंत्री आदिको घूँस देकर तोड़लेता है वह राजा जगत्में सदा प्रशंसाका पात्र होता है ॥ १७ ॥ जो राजा यमकी समान प्रभावशाली और न्यायकर्त्ता होता है,कुबेर की समान धनका भण्डार इकट्ठा करनेमें लगा रहता है, अपने और वैरीके मंत्री,देश,किला, खजाना और दण्ड इन दश बातों

भवेद्भर्त्ता भूतानामन्ववेक्षकः । नृपतिः सुमुखश्च स्यात् स्मितपूर्वा-
भिभाषिता ॥ १९ ॥ उपासिता च वृद्धानां जिततन्द्रिरलोलुपः ।
सतां वृत्ते स्थितमतिः सन्तोष्यश्चारुदर्शनः ॥ २० ॥ न चाददीत
वित्तानि सतां हस्तात् कदाचन । असद्भ्यश्च समादद्यात् सद्-
भ्यस्तु प्रतिपादयेत् ॥ २१ ॥ स्वयं प्रहर्त्ता दाता च वश्यात्मा
रम्यसाधनः । काले दाता च भोक्ता च शुद्धाचारस्तथैव च ॥२२॥
शूरान् भक्तानसंहार्य्यान् कुले जातानरोगिणः । शिष्टान् शिष्टा-
भिसम्बन्धान् मानिनो नावमानिनः ॥२३॥ विद्याविदो लोकविदः
परलोकान्ववेक्षकान् । धर्मे च निरतान् साधूनचलानचलानिव २४

को जाने रहता है और स्थान, वृद्धि तथा क्षयको भी जानता
है पोषण करने योग्य सेवकोंका पोषण करता है और पालन
योग्योंका ठीक२ पालन होता है या नहीं, इसकी देखभाल रखता
है, प्रसन्नमुख रखता है, हँसता हुआ बातें करता है ॥१८॥१९॥
वृद्धोंकी सेवा करता है, तन्द्राको जीतलेता है, चपलतारहित होताहै
सत्पुरुषोंके आचरणमें स्थिर बुद्धि रखता है, आसपासके मनुष्यों
को सन्तुष्ट करता है, देखनेमें मनोहर होता है ॥२०॥ सत्पुरुषोंका
धन कभी नहीं छीनता है किन्तु दुष्टोंका धन छीनकर सज्जनोंको
देता है ॥ २१ ॥ आप ही वैरियोंको दण्ड देता है, समय २ पर
सेवकोंको इनाम देता है, मनको वशमें रखता है, आभूषणोंसे
सजा रहता है, समय पर दान देता है, ऐश्वर्योंको भोगता है
और शुद्ध आचरणका होता है उसको ही राजा जानना
चाहिये॥२२॥ऐश्वर्य चाहनेवाला राजा नित्य वीर, भक्त, जिनको
वैरी तोड़ न सकें ऐसे कुलीन, नीरोग, ऊँचे वर्त्ताववाले शिष्ट
पुरुषोंके कुटुम्बोंसे सम्बन्ध रखनेवाले, अपना मान बना रखने
वाले, दूसरोंका अपमान न करनेवाले सब शास्त्रोंमें प्रवीण, लोक
व्यवहारको जाननेवाले, शत्रुकी देख भाल रखनेवाले, कर्त्तव्यमें

सहायान् सततं कुर्य्यात् राजा भूतिपरिष्कृतः । तैश्च तुल्यो भवे-द्भोगैश्छत्रमात्राज्ञयाधिकः ॥ २५ ॥ प्रत्यक्षा च परोक्षा च वृत्ति-श्चास्य भवेत् समा । एवं कुर्वन्नरेन्द्रोऽपि न खेदमिह विन्दति २६ सर्वाभिशङ्की नृपतिर्यश्च सर्वहरो भवेत् । स क्षिप्रमनृजुर्लुब्धः स्वजनेनैव बध्यते ॥ २७ ॥ शुचिस्तु पृथिवीपालो लोकचित्तग्रहे रतः । न पतत्यरिभिर्ग्रस्तः पतितश्चावतिष्ठते ॥२८॥ अक्रोधनो ह्यव्यसनी मृदुदण्डो जितेन्द्रियः । राजा भवति भूतानां विश्वास्यो हिमवानिव ॥ २९ ॥ प्राज्ञस्त्यागगुणोपेतः पररन्ध्रेषु तत्परः ।

लगे रहनेवाले, सद्गुणी और सङ्कटमें पर्वतकी समान अचल रहनेवाले पुरुषोंको अपना सहायक बनावे और उनको अपनी समान ही सब भोग भुगवावे, केवल छत्र और आज्ञा देना ये दो बातें अपने पास उनसे अधिक रक्खे ॥ २३-२५ ॥ उन सहायकोंके साथ पीछे और सामने एकसा व्यवहार रक्खे, जो राजा ऐसा व्यवहार रखता है, उसको पछतानेका अवसर नहीं आता है ॥ २६ ॥ परन्तु जो राजा सबके ऊपर सन्देह रखता है, प्रजाका सर्वस्व धन हरलेता है, लोभी और कुटिल होता है, उसके सेवक और कुटुम्बी अवसर पाते ही उसको मारडालते हैं ॥ २७ ॥ जो राजा बाहरसे और भीतरसे पवित्र रहता है, प्रजाके मनको प्रसन्न करके अपनी ओरको खेंचनेका उद्योग करता रहता है वह राजा शत्रुओंसे घिर जाने पर भी राज्यसे भ्रष्ट नहीं होता है और शत्रुओंसे हारजाने पर भी (सहायकोंकी सहायतासे पहलीसी) दशाको फिर पाजाता है ॥ २८ ॥ जो राजा क्रोधी और व्यसनी नहीं होता है, कोमल दण्ड देता है तथा जितेन्द्रिय होता है वह हिमाचलकी समान लोगोंका विश्वासपात्र होजाता है ॥ २९ ॥ जो राजा बुद्धिमान्, दाता, वैरीके छिद्रोंको शीघ्र ही पाजानेवाला, देखनेमें सुन्दर, चारों वर्णों

सुदर्शः सर्ववर्णानां नयापनयवित्तथा ॥३०॥ क्षिप्रकारी जितक्रोधः सुप्रसादो महामनाः । अरोषप्रकृतिर्युक्तः क्रियावानविकत्थनः ३१ आरब्धान्येव कार्य्याणि सुपर्य्यवसितानि च । यस्य राज्ञः प्रदृश्यन्ते स राजा राजसत्तमः॥३२॥पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः । निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः ॥ ३३ ॥ अगूढविभवा यस्य पौरा राष्ट्रनिवासिनः । नयापनयवेत्तारः स राजा राजसत्तमः॥३४॥ स्वकर्मनिरता यस्य जना विषयवासिनः। असंघातरता दान्ता पाल्यमाना यथाविधि ॥३५॥ वश्या नेया विधेयाश्च न च संघर्षशीलिनः । विषये दानरुचयो नरा यस्य स पार्थिवः ॥ ३६ ॥ न यस्य कूटं कपटं न माया न च मत्सरः ।

के न्याय और अन्यायको जाननेवाला ॥ ३० ॥ हाथमें लियेहुए कामको शीघ्र ही पूरा करनेवाला, क्रोधको वशमें रखनेवाला, पोष्य प्राणियों पर कृपा रखनेवाला,उदारचित्त, कोमलस्वभाव, काम करनेमें चतुर, अपनी प्रशंसा न करनेवाला और आरम्भ कियेहुए कामको पूरा करडालनेवाला होता है उसको उत्तम राजा समझो ॥३१-३२॥ जैसे पुत्र पिताके घरमें निडर होकर फिरते हैं तैसे ही जिस राजाके देशमें मनुष्य निर्भय घूमते हैं उसको उत्तम जानो ॥ ३३ ॥ जिस राजाके देशकी प्रजाका ऐश्वर्य छुपा नहीं किन्तु खुलाहुआ होता है,जिसकी प्रजा न्याय और अन्याय को जानती हो उसको उत्तम समझो ॥ ३४ ॥ जिसके देशके लोग अपने धर्मकर्ममें लगे रहते हों,शरीर पर मोह न रखते हों, किन्तु शरीरसे होसकनेवाले कार्यों पर प्रेम रखते हों,शान्तिशील हों और राजा प्रजाका ठीक२ पालन करता हो ॥३५॥ जिसके देशके लोग वशमें रहते हों, समझानेसे मानलेते हों,आज्ञापालक, कलह न करनेवाले और दानशील हों उसको ही श्रेष्ठ राजा समझो ॥३६॥ जिसके देशमें दम्भ, कपट, माया और मत्सरता

विषये भूमिपालस्य तस्य धर्मः सनातनः ॥ ३७ ॥ यः सत्करोति ज्ञानानि ज्ञेये पौरहिते रतः । सतां वर्त्मानुगस्त्यागी स राजा राज्यमर्हति ॥ ३८ ॥ यस्य चाराश्च मन्त्राश्च नित्यश्चैव कृताकृताः । न ज्ञायन्ते हि रिपुभिः स राजा राज्यमर्हति ॥३९॥ श्लोकश्चायं पुरा गीतो भार्गवेण महात्मना । आख्याते रामचरिते नृपतिं प्रति भारत ॥ ४० ॥ राजानं प्रथमं विन्देत्ततो भार्य्यां ततो धनम् । राजन्यसति लोकेस्मिन्कुतो भार्या कुतो धनम् ॥ ४१ ॥ तद्राज्ये राज्यकामानां नान्यो धर्मः सनातनः । ऋते रक्षान्तु विस्पष्टां रक्षा लोकस्य धारिणी ॥ ४२ ॥ प्राचेतसेन मनुना श्लोकौ चेमावुदाहृतौ । राजधर्मेषु राजेन्द्रावहितैकमनाः शृणु ॥ ४३ ॥ षडेतान् पुरुषो जह्याद्भिन्नां नावमिवार्णवे । अप्रवक्तारमाचार्य्यमन-

न हो उस नृपको सनातनधर्मी समझो ॥ ३७ ॥ पण्डितोंका सत्कार करनेवाला, शास्त्रोंके विचार और दूसरोंका हित करनेमें तत्पर, सत्पुरुषोंके मार्गमें चलनेवाला और दानशील नृप ही राज्य करनेके योग्य माना जाता है ॥ ३८ ॥ जिसके भेजेहुए दूतोंको शत्रु न भेजेहुए समझें, राजकीय विचारोंको छुपेहुए करलेने पर भी न करेहुए समझें वह नृप राज्य करनेके योग्य मानाजाता है ॥ ३९ ॥ हे भरतवंशी भूपते ! महात्मा भृगुवंशी शुक्राचार्यने पहले रामका चरित्र कहकर फिर राजाके विषयमें एक यह श्लोक पढा था, कि-॥ ४० ॥ मनुष्य पहले राजाको प्राप्त करे, तदनन्तर स्त्रीको और फिर धनको, यदि राजा नहीं होगा तो स्त्री और धनकी रक्षा कहाँसे होगी ? ॥ ४१ ॥ राज्य चाहनेवाले नृपोंके लिये प्रजाकी रक्षा करनेके सिवाय और कोई सनातनधर्म नहीं है, रक्षा लोगोंके मनको प्रसन्न करदेती है ४२ हे नरेन्द्र ! प्रचेताके पुत्र मनुने राज्य-धर्मका वर्णन करतेहुए ये दो श्लोक कहे हैं, उनको तू एकाग्र चित्तसे सुन ॥ ४३ ॥

धीयानमृत्विजम् ॥ ४४ ॥ अरक्षितारं राजानं भार्य्यां चाप्रियवादिनीम् । ग्रामकामञ्च गोपालं वनकामञ्च नापितम् ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि भीष्मोक्तौ सप्तपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

भीष्म उवाच । एतत्ते राजधर्माणां नवनीतं युधिष्ठिर । बृहस्पतिर्हि भगवान् न्याय्यं धर्मं प्रशंसति ॥ १ ॥ विशालाक्षश्च भगवान् काव्यश्चैव महातपाः । सहस्राक्षो महेन्द्रश्च तथा प्राचेतसो मनुः ॥२॥ भरद्वाजश्च भगवान् तथा गौरशिरा मुनिः । राजशास्त्रप्रणेतारो ब्रह्मण्या ब्रह्मवादिनः ॥ ३ ॥ रक्षामेव प्रशंसन्ति धर्मं धर्मभृताम्वर । राज्ञां राजीवताम्राक्ष साधनञ्चात्र मे शृणु ॥४॥ चारश्च प्रणिधिश्चैव काले दानममत्सरात् । युक्त्या-

---

उपदेश न देनेवाला आचार्य, वेद न पढने वाला ऋत्विक् (पाधा), रक्षा न करनेवाला नृप, अप्रिय बोलनेवाली स्त्री, गाममें रहना चाहनेवाला ग्वाला और वनमें रहना चाहनेवाला नाई इन छःको पुरुष ऐसे त्यागदेय जैसे समुद्रमें टूटी हुई नौकाको त्याग देते हैं ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ सत्तावनवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५७ ॥

भीष्मने कहा, कि-हे युधिष्ठिर! मैंने तुझे राजधर्मका निचोड़ सुनादिया है, भगवान् बृहस्पति भी इस न्यायवाले धर्मकी प्रशंसा करते हैं ॥ १ ॥ भगवान् कवि विशालाक्ष, महातपस्वी शुक्राचार्य महेन्द्र, प्राचेतस मनु भगवान् भरद्वाज, मुनि गौरशिरा ये सब ब्राह्मण वेदके पारगामी और राजनीतिके रचनेवाले थे ॥२।३॥ हे कमलकी समान लाल २ नेत्रोंवाले राजन्! हे परमधर्मनिष्ठ! राजाके धर्ममें रक्षा करनेकी ही प्रशंसा की है, इसधर्मके साधन को तू मुझसे सुन ॥ ४ ॥ (इस कामको करनेके लिये राजा) दूत रक्खे, दूसरेके राज्यमें अपना प्रतिनिधि (एलची) रक्खे, निरभिमान होकर समय पर अपने सेवकोंको धन आदिसे उस

दानं न चादानमयोगेन युधिष्ठिर ॥ ५ ॥ सतां संग्रहणं शौर्यं दाक्ष्यं सत्यं प्रजाहितम् । अनार्जवैरार्जवैश्च शत्रुपक्षस्य भेदनम् ॥६॥ केतनानाञ्च जीर्णानामपेक्षा चैव सीदताम् । द्विविधस्य च दण्डस्य प्रयोगः कालचोदितः ॥ ७ ॥ साधूनामपरित्यागः कुलीनानाञ्च धारणम् । निचयश्च निचेयानां सेवा बुद्धिमतामपि ॥८॥ बलानां हर्षणं नित्यं प्रजानामन्ववेक्षणम् । कार्य्येष्वखेदः कोषस्य तथैव च विवर्द्धनम् ॥ ९ ॥ पुरगुप्तिरविश्वासः पौरसंघातभेदनम् । अरिमध्यस्थमित्राणां यथावच्चान्ववेक्षणम् १०. उपजापश्च भृत्यानामात्मनः पुरदर्शनम् । अविश्वासः स्वयञ्चैव परस्याश्वासनं तथा ॥ ११ ॥ नीतिधर्मानुसरणं नित्यमुत्थानमेव

उस कामका बदला देय, युक्तिके साथ प्रजासे करलेय, परन्तु हे युधिष्ठिर ! विरुद्ध रीतिसे या लोभमें पड़कर कर न लेय॥५॥ (न्यायके साथ राजकार्य चलानेके लिये) राज्यमें सत्पुरुषोंका संग्रह करे, वीरता, युक्ति, चतुरता, सत्य बोलना, प्रजाका हित देखना, सरलता या कुटिलतासे वैरीके यहाँ फूट डालना ॥६॥ दुःखी मनुष्योंकी और पुराने घरोंकी खोज रखना, समयानुसार शरीरका दण्ड और धनका दण्ड देना ॥ ७ ॥ सत्पुरुषोंको न त्यागना,कुलीन मनुष्योंको अपने पास रखना,संग्रह करने योग्य धान्य आदि पदार्थोंका संग्रह करना, बुद्धिमानोंको सहायक बनाना ॥ ८ ॥ सेनाको उत्साह देना,नित्य अपने आप प्रजाकी देखभाल रखना,काम करनेमें उदास न होना,भण्डारोंको बढ़ाना, नगरकी रक्षा करनेमें अन्धविश्वास न करना,नगरके मनुष्योंको वैरियोंने बहकाया हो तो उनमें भेद डालना, वैरी, तटस्थ और मित्रोंको ठीकर देखना ॥९-१०॥ दूसरोंके द्वारा अपने सेवकों को लालच दिखाकर उनकी परीक्षा करे, अपने आप जाकर नगरकी देखभाल करे,स्वयं किसीका विश्वास न करे और वैरी

च । रिपूणामनवज्ञानं नित्यञ्चानार्य्यवर्ज्जनम् ॥ १२ ॥ उत्थानं हि नरेन्द्राणां बृहस्पतिरभाषत । राजधर्मस्य तन्मूलं श्लोकांश्चात्र निबोध मे ॥ १३ ॥ उत्थानेनामृतं लब्धमुत्थानेनासुरा हताः । उत्थानेन महेन्द्रेण श्रैष्ठ्यं प्राप्तं दिवीह च ॥ १४ ॥ उत्थानवीरः पुरुषो वाग्वीरानधितिष्ठति । उत्थानवीरान् वाग्वीरा रमन्यत उपासते ॥ १५ ॥ उत्थानहीनो राजा हि बुद्धिमानपि नित्यशः । प्रधर्षणीयः शत्रूणां भुजङ्ग इव निर्विषः ॥ १६ ॥ न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोपि बलीयसा । अल्पोपि हि दहत्यग्निर्विषमल्पं हिनस्ति च ॥ १७ ॥ एकाङ्गेनापि सम्भूतः शत्रुर्दुर्गमुपाश्रितः । सर्वं तापयते देशमपि राज्ञः समृद्धिनः ॥ १८ ॥ राज्ञो

को धीरज देकर अपना विश्वासी बनालेय ॥ ११ ॥ वैरियोंका तिरस्कार न करे, निर्दयीको निकाल देय, नीतिधर्मके अनुसार चले,सदा चढ़ाईके लिये तयार रहे ॥ १२ ॥ बृहस्पतिने कहा है, कि–राजाओंको चढाई करनेके लिये तयार रहना चाहिये, यह राजधर्मकी जड है, इसविषयमें उन्होंने जो नीतिकी बात कही है उसको सुनो ॥ १३ ॥ पहले इन्द्रने उद्योगसे अमृत पाया था, उद्योगसे असुरोंको मारा था और उद्योगसे ही पृथिवी पर तथा स्वर्गमें श्रेष्ठता पाई थी ॥ १४ ॥ उद्योग करनेमें पराक्रमी(क्षत्रिय) वाणीवीर (ब्राह्मण) पण्डितोंके ऊपर शासन करता है,वाणी के वीर पुरुष उद्योगी वीर पुरुषोंका मनोरञ्जन करतेहुए उनकी उपासना करते हैं ॥ १५ ॥ राजा बुद्धिमान् होकर भी नित्य आलसी रहता है तो निर्विष सर्पकी समान वैरी उसका अपमान करते हैं ॥ १६ ॥ बलवान् पुरुष दुर्बल वैरीका भी तिरस्कार न करे,क्योंकि–अग्नि छोटा होता है तो भी जलादेता है और विष जरा सा भी मारडालता है ॥ १७ ॥ (हाथी, रथ,घोड़े और पैदल) चार अङ्गोंमेंसे एक अङ्गवाला वैरी यदि किलेके सहारेसे बैठा हो

रहस्यं तद्वाक्यं जयार्थं लोकसंग्रहः । हृदि यच्चास्य जिह्मं स्यात् कारणेन च यद्भवेत् ॥ १९ ॥ यच्चास्य कार्य्यं वृजिनमार्ज्जवेनेह निर्व्जयेत् । दम्भनार्थञ्च लोकस्य धर्मिष्ठामाचरेत् क्रियाम् २० राज्यं हि सुमहत्तन्त्रं धार्य्यते नाकृतात्मभिः । न शक्यं मृदुना वोढुमायासं स्थानमुत्तमम् ॥२१॥ राज्यं सर्वामिषं नित्यं नाऽर्ज्जवेनेह धार्य्यते । तस्मान्मिश्रेण सततं वर्त्तितव्यं युधिष्ठिर ॥२२॥ यद्यप्यस्य विपत्तिः स्याद्रक्षमाणस्य वै प्रजाः । सोप्यस्य विपुलो धर्म एवंवृत्ता हि भूमिपाः ॥ २३ ॥ एष ते राजधर्माणां लेशः समनुवर्णितः । भूयस्ते यत्र सन्देहस्तद् ब्रूहि कुरुसत्तम ॥ २४ ॥ वैशम्पायन उवाच । ततो व्यासश्च भगवान् देवस्थानोश्म एव

तो सम्पत्तिमान् राजाके सब देशको दुःख दे सकता है ॥ १८ ॥ राजा अपने गुप्तविचारोंको, (वैरीको जीतलेनेके लिये कियेहुए) सेना और प्रजाके संग्रहको, (विजय पानेके लिये) अपने हृदय में विचारेहुए कपटको तथा करनेको सोचेहुए पापकर्मको सावधानीसे छुपा रखकर निष्कपटपना दिखावे और अपनी प्रजाको वशमें रखनेके लिये दंभसे धर्मके काम करे ॥१९-२०॥ क्योंकि-जो क्रूर होता है वह बड़ेभारी राज्यके प्रबन्धको नहीं चलासकता तथा कोमल स्वभाववाला भी थका देनेवाले राज्यके कार्यभारको नहीं उठासकता तथा जिसको सब ही खाजाना चाहते हैं ऐसे राज्यकी रक्षा सरलतासे नहीं करसकता, इसलिये हे युधिष्ठिर ! क्रूरता और कोमलता इन दोनोंका सहारा लेकर नित्य व्यवहार करे ॥ २१-२२ ॥ प्रजाकी रक्षा करतेहुए राजाके ऊपर विपत्ति आपड़े, यह राजाका महाधर्म मानाजाता है, क्योंकि-राजाओंको ऐसा ही वर्त्ताव करना चाहिये ॥ २३ ॥ हे कुरुसत्तम युधिष्ठिर ! मैंने तुमसे यह राजधर्मका लेशमात्र वर्णन किया है, अब तुम्हें जिस बातमें सन्देह हो वह भी बूझलो ॥२४॥ वैशम्पायन कहते

च। वासुदेवः कृपश्चैव सात्यकिः सञ्जयस्तथा ॥ २५ ॥ साधु साध्विति संहृष्टा पुष्यमाणैरिवाननैः। अस्तुवंश्च नरव्याघ्रं भीष्मं धर्मभृताम्वरम् ॥ २६ ॥ ततो दीनमना भीष्ममुवाच कुरुसत्तमः। नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां पादौ तस्य शनैः स्पृशन् ॥ २७ ॥ श्व इदानीं स्वसन्देहं प्रच्छामि त्वां पितामह। उपैति सविता ह्यस्तं रसमापीय पार्थिवम् ॥२८॥ ततो द्विजातीनभिवाद्य केशवः कृपश्च ते चैव युधिष्ठिरादयः। प्रदक्षिणीकृत्य महानदीसुतं ततो रथानारुरुहुर्मुदान्विताः ॥ २९ ॥ दृषद्वतीं चाप्यवगाह्य सुव्रता कृतोदकार्थाः कृतजप्यमङ्गलाः। उपास्य संध्यां विधिवत् परन्तपास्ततः पुरं ते विविशुर्गजाह्वयम् ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरादिस्वस्थानगमनेऽष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५८॥

हैं, कि–हे जनमेजय! भीष्मजीकी बात सुनकर भगवान् वेदव्यास, देवस्थान, अश्म, वासुदेव, कृपाचार्य, सात्यकी तथा सञ्जय आदि बड़े प्रसन्न हुए, उनके मुखकमल खिलउठे और बहुत अच्छा, बहुत अच्छा, कहनेलगे तथा नरव्याघ्र धर्मनिष्ठ भीष्मजीकी प्रशंसा करनेलगे ॥ २५–२६ ॥ फिर कुरुवंशमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने आँखोंमें आँसू भरेहुए धीरे२ भीष्मजीके दोनों चरण छुए और दीनमनसे कहा, कि–हे पितामह ! सूर्य पृथिवीके रसको पीकर अस्त होरहा है, सायङ्काल होगया है, इसलिये अब और सन्देह मैं कलको बूझूँगा ॥ २८ ॥ ऐसा कहकर युधिष्ठिर आदि पाण्डव श्रीकृष्ण और कृपाचार्यने ब्राह्मणोंको प्रणाम करके महानदीगङ्गाके पुत्र भीष्मजीकी प्रदक्षिणाकी और हर्षके साथ राजरथोंमें बैठ दृषद्वती के तटपर आगये और उस नदीमें स्नान, जलदान, सन्ध्यावन्दन और जप आदि माङ्गलिक कर्म करके हस्तिनापुरमें आपहुँचे२९-३० अट्ठावनवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५८ ॥ छ ॥ छ

वैशम्पायन उवाच। ततः कल्यं समुत्थाय कृतपूर्वाह्णिकक्रियाः। ययुस्ते नगराकारै रथैः पाण्डवयादवाः ॥ १ ॥ प्रतिपद्य कुरुक्षेत्रं भीष्ममासाद्य चानघ। सुखाञ्च रजनीं पृष्ट्वा गाङ्गेयं रथिनाम्वरम् ॥ २ ॥ व्यासादीनभिवाद्यर्षीन् सर्वैस्तैश्चाभिनन्दिताः। निषेदुरभितो भीष्मं परिवार्य्य समन्ततः ॥३॥ ततो राजा महातेजा धर्मराजो युधिष्ठिरः। अब्रवीत् प्राञ्जलिर्भीष्मं प्रतिपूज्य यथाविधि ४ युधिष्ठिर उवाच। य एष राजन् राजेति शब्दश्चरति भारत। कथमेष समुत्पन्नस्तन्मे ब्रूहि परन्तप ॥ ५ ॥ तुल्यपाणिभुजग्रीवस्तुल्यबुद्धीन्द्रियात्मकः।तुल्यदुःखसुखात्मा च तुल्यपृष्ठमुखोदरः६ तुल्यशुक्रास्थिमज्जश्च तुल्यमांसासृगेव च। निश्वासोच्छ्वास-

---

वैशम्पायन कहते हैं, कि—हे जनमेजय! दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही पाण्डव और यादवोंने उठकर स्नान आदिसे निवटकर प्रातःसन्ध्या आदि पूर्वाह्णकी क्रिया करली,फिर वे नगरकी समान आकृतिवाले राजरथोंमें सवार होगये और कुरुक्षेत्रकी ओरको चलदिये ॥ १ ॥ हे निर्दोष राजन्! कुरुक्षेत्रमें बाणशय्या पर पौढ़ेहुए भीष्मजीके पास पहुँचगये तहाँ पाण्डवोंने महारथी भीष्म जीसे रात्रिका कुशलसमाचार बूझा और व्यास आदि ऋषियों को प्रणाम किया,उन सब ऋषियोंने भी उनको आशीर्वाद दिया और सब भीष्मजीको चारों ओरसे घेरकर आसपास बैठगए२-३ महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर विधिपूर्वक भीष्मजीकी पूजाकर दोनों हाथ जोडकर कहनेलगे ॥ ४ ॥ युधिष्ठिर बोले कि—हे परन्तप भरतवंशी राजन्! यह 'राजा' शब्द जगत्में कैसे चला है और कैसे उत्पन्न हुआ है, यह मुझे बताइए ॥ ५ ॥ दूसरेकी समान ही हाथ, और हथेली और कण्ठ होता है, बुद्धि और इन्द्रियें भी दूसरेकी समान होती हैं, दुःख और सुख भी दूसरोंकी समान ही होते हैं, मुख और पेट भी दूसरोंकी समान ही होते

तुल्यश्च तुल्यप्राणशरीरवान् ॥ ७ ॥ समानजन्ममरणः समः सर्वैर्गुणैर्नृणाम् । विशिष्टबुद्धीन् शूरांश्च कथमेकोधितिष्ठति ।८। कथमेको महीं कृत्स्नां शूरवीरार्यसंकुलाम् । रक्षत्यपि च लोकस्य प्रसादमभिवाञ्छति ॥ ९ ॥ एकस्य तु प्रसादेन कृत्स्नो लोकः प्रसीदति । व्याकुले चाकुलः सर्वो भवतीति विनिश्चयः ॥१०॥ एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन भरतर्षभ । कृत्स्नं तन्मे यथा तत्त्वं प्रब्रूहि वदताम्वर ॥ ११ ॥ नैतत्कारणमल्पं हि भविष्यति विशाम्पते । यदेकस्मिन् जगत् सर्वं देववद्याति सन्नतिम् ॥१२॥ भीष्म उवाच । नियतस्त्वं नरव्याघ्र शृणु सर्वमशेषतः । यथा राज्यं

हैं, वीर्य हड्डी और मज्जा भी दूसरोंकी समान होते हैं, मांस और रुधिर भी दूसरोंकी समान होते हैं, श्वास और उच्छ्वास भी दूसरोंकी समान ही होते हैं, प्राण और शरीर भी दूसरोंकी समान ही होते हैं,तथा जन्म और मरण भी दूसरोंकी समान ही, होते हैं, इस प्रकार सब गुणोंमें मनुष्योंसे समता होते हुए भी एक मनुष्य किस कारणसे उत्तम बुद्धिवाले शूरवीर पुरुषोंके ऊपर प्रभुता चलाता है? और किस कारणसे एक पुरुष शूरवीर आर्य पुरुषोंसे भरीहुई इस सब पृथिवीके ऊपर राज्य करता है?और सब लोग उसकी प्रसन्नताको पानेकी इच्छा क्यों करते हैं? ॥ ६-९ ॥ और एक पुरुषकी प्रसन्नतासे सब लोग प्रसन्न होते हैं तथा एककी व्याकुलतासे सब व्याकुल हो उठते हैं, ऐसी रीति चलरही है ॥ १० ॥ इसका कारण हे भरतवंशी महात्मा! मैं ठीक२ सुनना चाहता हूँ,इसलिये हे बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ! मुझे आप यथार्थ रूपसे सुनाइये ॥ ११ ॥ हे राजन् ! सब जगत् देवताकी समान एक पुरुषको प्रणाम करता है, इसमें साधारण कारण नहीं होसकता ॥१२॥ भीष्मजीने कहा,कि-हे नरव्याघ्र ! पहले सत्ययुगमें जैसे राज्यका संगठन हुआ था वह सब तुम

समुत्पन्नमादौ कृतयुगेभवत् १३ नैव राज्यं न राजासीन्न च दण्डो न दाण्डिकः । धर्मेणैव प्रजा सर्वाः रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥ १४ ॥ पाल्यमानास्तथान्योन्यं नरा धर्मेण भारत । खेदं परमुपाजग्मुस्ततस्तान् मोह आविशत् ॥ १५ ॥ ते मोहवशमापन्ना मनुजा मनुजर्षभ । प्रतिपत्तिविमोहाच्च धर्मस्तेषामनीनशत् ॥ १६ ॥ नष्टायां प्रतिपत्तौ च मोहवश्या नरास्तथा । लोभस्य वशमापन्नाः सर्वे भरतसत्तम ॥१७॥ अप्राप्तस्याभिमर्शन्तु कुर्वन्तो मनुजास्ततः। कामो नामापरस्तत्र प्रत्यपद्यत वै प्रभो ॥ १८ ॥ तांस्तु कामवशं प्राप्तान् रागो नामाभिसंस्पृशत् । रक्ताश्च नाभ्यजानन्त कार्याकार्यं युधिष्ठिर ॥ १९ ॥ अगम्यागमनं चैव वाच्यावाच्यं तथैव च ।

सावधान होकर सुनो ॥ १३ ॥ पहले सत्ययुगमें राज्य नहीं था और राजा भी नहीं था, दण्ड नहीं था और दण्डका देनेवाला भी नहीं था, सब प्रजा धर्मसे ही आपसमें एक दूसरेकी रक्षा करती थी ॥ १४ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! मनुष्य धर्मानुसार परस्परका पालन करते थे,इस दशामें कितना ही समय बीतगया और बड़ा परिश्रम पड़ा,तब वे प्रमादमें पड़गये ॥१५॥ हे मनुष्य-श्रेष्ठ ! मोहमें पडजानेपर उनके ज्ञानका नाश होगया और ज्ञान का नाश होनेसे उनके धर्मका नाश होगया ॥ १६ ॥ जब उनका ज्ञान नष्ट होगया और वे मोहके वशमें होगये तब हे भरतसत्तम राजन् ! वे सब लोभमें फँसगए ॥ १७ ॥ लोभमें पडजानेसे सब मनुष्य अप्राप्त पदार्थोंको चाहनेलगे तब हे राजन् ! वे कामके अधीन होगए, कामके वशमें होते ही उनको रागने आदबाया (और वे कार्य अकार्यको भूलगए) ॥ १८–१९ ॥ गमनागमन (किसके साथ गमन करना चाहिए और किसके साथ गमन नहीं करना चाहिए), वाच्यावाच्य (क्या बोलना चाहिए और क्या नहीं बोलना चाहिए), भक्ष्याभक्ष्य (क्या खाना चाहिए

भक्ष्याभक्ष्यञ्च राजेन्द्र दोषादोषञ्च नात्यजन् ॥ २० ॥ विप्लुते नरलोके वै ब्रह्म चैवं ननाश ह । नाशाच्च ब्रह्मणो राजन् धर्मो नाशमथागमत् ॥ २१ ॥ नष्टे ब्रह्मणि धर्मे च देवांस्त्रासः समाविशत् । ते त्रस्ता नरशार्दूल ब्रह्माणं शरणं ययुः ॥२२॥ प्रसाद्य भगवन्तं ते देवं लोकपितामहम् । ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे दुःखवेगसमाहताः ॥ २३ ॥ भगवन्नरलोकस्थं ग्रस्तं ब्रह्म सनातनम् । लोभमोहादिभिर्भावैस्ततो नो भयमाविशत् ॥ २४ ॥ ब्रह्मणश्च प्रणाशेन धर्मो व्यनशदीश्वर । ततः स्म समतां याता मर्त्यैस्त्रिभुवनेश्वर ॥ २५ ॥ अधो हि वर्षमस्माकं नरास्तूर्ध्वप्रवर्षिणः । क्रियाव्युपरमात्तेषां ततो गच्छाम संशयम् ॥२६॥ अत्र निःश्रेयसं

और क्या नहीं खाना चाहिये) और दोषादोष (सद्गुण और दुर्गुणोंका भेद अथवा कौनसा कर्म करनेसे पाप लगता है तथा क्या करनेसे पाप नहीं लगता है) इस सबके विचारसे शून्य होगए ॥ २० ॥ इसप्रकार मनुष्यलोकमें विप्लव होते ही वेद (सनातनधर्मका) नाश होगया, हे राजन् ! वेदका लोप होनेसे यज्ञ यागका आदि होना भी बन्द होगया ॥ २१ ॥ हे पुरुषसिंह! वेद और यज्ञ यागरूप धर्मका नाश होजानेसे देवताओंमें त्रास फैलगया, भयभीत हुए देवता ब्रह्माकी शरणमें गए ॥ २२ ॥ लोकपितामह भगवान् ब्रह्माजीको प्रसन्न करके दुःखके वेगसे दबे हुए देवता दोनों हाथ जोडकर कहनेलगे, कि-॥ २३ ॥ हे भगवन् ! मनुष्यलोकमें सनातन वेद था, उसका लोभ मोह आदिने नाश करडाला है, इसलिए हम भयमें पडगए हैं ॥ २४ ॥ हे ईश्वर ! वेदका लोप होनेसे धर्मका नाश होगया है(यज्ञ आदि होना बन्द होगए हैं) इसलिए हे त्रिलोकीनाथ ! हम मनुष्योंकी समान होगये हैं॥२५॥मनुष्य हमको नीचेसे(यज्ञ याग आदि करके हवि घृतकी धारारूप) वृष्टि देते थे और हम ऊपरसे वर्षा(जल

यन्नस्तद्ध्यायस्व पितामह । त्वत्प्रभावसमुत्थोसौ स्वभावो नो विनश्यति ॥२७॥ तानुवाच सुरान् सर्वान् स्वयम्भूर्भगवांस्ततः । श्रेयोहं चिन्तयिष्यामि व्येतु वो भीः सुरर्षभाः ॥ २८ ॥ ततोध्यायसहस्राणां शतञ्चक्रे स्वबुद्धिजम् । यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवाभिवर्णितः ॥२९॥ त्रिवर्ग इति विख्यातो गण एष स्वयंभुवा । चतुर्थो मोक्ष इत्येव पृथगर्थः पृथग्गुणः ॥ ३० ॥ मोक्षस्यास्ति त्रिवर्गोऽन्यः प्रोक्तः सत्त्वं रजस्तमः । स्थानं वृद्धिः क्षयश्चैव त्रिवर्गश्चैव दण्डजः ॥ ३१ ॥ आत्मा देशश्च कालश्चाप्युपायाः कृत्यमेव च । सहायाः कारणं चैव षड्वर्गो नीतिजः स्मृतः ॥ ३२ ॥ त्रयी चान्वीक्षिकी चैव वार्ता च भरतर्षभ । दंड-

वर्षाकर अन्न आदि उत्पन्न) करते थे, परन्तु मनुष्योंने यज्ञ याग आदि करना बन्द करदिया है,इसलिए हम दुःखी होगए हैं ॥ २६ ॥ हे पितामह ! इस विषयमें, जिससे हमारा कल्याण हो वह काम कीजिये, जिससे आपके प्रभावसे प्राप्त हुआ हमारा ऐश्वर्य तथा सत्यसङ्कल्पपना आदि स्वभाव (सामर्थ्य) नष्ट न हो ॥ २७ ॥ स्वयंभू भगवान् ब्रह्माजीने उन सब देवताओंसे कहा कि-हे उत्तम देवताओं ! तुम अपने भयको दूर करो, मैं तुम्हारे कल्याणके लिये विचार करूँगा ॥ २८ ॥ फिर ब्रह्माने अपनी बुद्धिसे धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्गके वर्णनसे भराहुआ एक लाख अध्यायोंवाला एक नीतिशास्त्रका ग्रन्थ रचा और उसका नाम त्रिवर्ग रक्खा और फिर उन्होंने भिन्न फल और भिन्न गुणोंवाले मोक्ष नामवाले चौथे पदार्थको भी वर्णन किया ॥ २९-३० ॥ मोक्षके सत्त्व रज और तमोगुण को लेकर उसमें जुदे ही त्रिवर्गका वर्णन किया। स्थान वृद्धि और क्षय इस दण्डके त्रिवर्गका भी उसमें वर्णन

नीतिश्च विपुला विद्यास्तत्र निदर्शिताः ॥ ३२ ॥ अमात्यरक्षा

क्रिया (१) तथा चित्त देश, काल, उपाय कृत्य, सहाय, और कारण इन नीतिके छः (२) गुणोंका भी इस ग्रन्थमें वर्णन किया ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ कर्मकाण्डका विषय, ज्ञानकाण्डका विषय, खेती बाडी व्यापार आदि आजीविका विषय, दण्डनीतिका तथा

(१ इस ग्रंथमें तीन प्रकारका मोक्ष कहा है-सात्त्विक मोक्ष राजस मोक्ष और तामस मोक्ष इसप्रकार अधिकारीके अनुसार वर्णन है, क्योंकि-मोक्ष पदार्थ तो ईश्वरकी समान निर्धर्मक है, सत्त्वगुणी अधिकारी सीधा मोक्ष पाजाता है और रजोगुणी तथा तमोगुणी अधिकारी क्रमसे मोक्ष पाता हैं, रजोगुणी देवता (ब्रह्मा) की उपासना करनेवाला उस रजोगुणी देवताको प्राप्त होकर उसके साथ ही मोक्ष पाता है, तमोगुणी अधिकारीके विषयमें भी ऐसा ही समझो

दण्डके भी स्थान वृद्धि और क्षय ये तीन वर्ग हैं स्थान अर्थात् समता शान्ति आदि दण्डके प्रभावसे व्यापार करनेवाली वैश्य प्रजा शान्तिके साथ जल थलमें अपना व्यापार करसकती है तथा व्याज आदिका धन्धा भी नियमसे करसकती हैं, तपस्वी राजाके दण्ड प्रभावसे शान्तिसे तप कर सकते हैं और उनके तपकी वृद्धि होती है, चोर, कपट करनेवाले धूर्त्त आदि गुप्त और प्रसिद्ध कण्टक दण्डसे नष्ट होजाते हैं।

(२) आत्मा कहिये चित्त। राजाकी अपनी नीतिके प्रभावसे प्रजा दुःखी होती हुई भी सुख पाती हैं, दुर्दशामें पड़ाहुआ देश अच्छी दशामें आजाता है, कलियुग बदलकर सत्ययुग होजाता है, क्योंकि-" राजा कालस्य कारणम् "। साधन भी अपना कार्य करनेको समर्थ होजाते हैं, प्रयोजन और स्नेही भी पूर्ण रूपसे प्राप्त होकर सहायक होते हैं। इसप्रकार नीतिके छः उपाय नीतिशास्त्रमें कहे हैं।

प्रणिधी राजपुत्रस्य लक्षणम् । चारश्च विविधोपायः प्रणिधेयः पृथग्विधः ॥ ३४ ॥ सामभेदः प्रदानं च ततो दण्डश्च पार्थिव । उपेक्षा पञ्चमी चात्र कात्स्न्र्येन समुदाहृता॥३५॥ मन्त्रश्च वर्णितः कृत्स्नस्तथा भेदार्थ एव च । विभ्रमश्चैव मन्त्रस्य सिद्धयसिद्धयोश्च यत्फलम् ॥ ३६ ॥ संधिश्च त्रिविधाभिख्यो हीनो मध्यस्तथोत्तमः । भयसत्कारवित्ताख्यं कात्स्न्र्येन परिवर्णितम् ॥ ३७॥ यात्राकालाश्च चत्वारस्त्रिवर्गस्य च विस्तरः । विजयो धर्मयुक्तश्च तथार्थविजयश्च ह ॥ ३८ ॥ आसुरश्चैव विजयस्तथा

दूसरी विद्याओंका विषय भी इस ग्रन्थमें वर्णन किया ॥ ३३ ॥ (शत्रुओंकी ओरसे भेद होनेका सन्देह होने पर) मंत्रियोंकी देखभाल रखनेके लिये छुपेहुए दूत रखनेकी बात राजपुत्रके लक्षण, (ब्रह्मचारी, साधु, संन्यासी आदिका) भेष रखनेवाले दूतोंकी बात, (एक २ स्थान पर तीन २) भिन्न भेषवाले दूत रखनेकी बात, साम दान दण्ड भेद और उपेक्षा इन पाँच उपायोंका विषय भी उस ग्रन्थमें पूरा २ वर्णन किया।३४-३५। राजकीय सकल विचार, भेद, राजकीय विचारोंकी गड़बड़ी उनकी सिद्धि तथा निष्फलताका भी इस ग्रन्थमें वर्णन किया है ॥ ३६ ॥ (भयसे कीहुई) हीन सन्धि,(सत्कारसे कीहुई) मध्यम सन्धि और (धनसेकीहुई) उत्तम सन्धि इन तीन प्रकारकी सन्धियोंकी वात भी उस ग्रन्थमें पूर्णरीतिसे कही है ॥ ३७ ॥ शत्रुके ऊपर चढाई करनेके चार समय (अपने मित्र अधिक हों, धनका संग्रह हो, शत्रुके मित्रोंका नाश होगया हो और उसका खजाना खाली होगया हो ये समय) तथा धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्गको विस्तारसे कहा, तीन प्रकारका विजय-धार्मिक विजय, आर्थिक विजय और अधर्मसे होनेवाले असुर विजयकी वात विस्तारसे कही है, मंत्री, बल, किला, देश और

कार्त्स्न्येन वर्णितः। लक्षणं पञ्चवर्गस्य त्रिविधं चात्र वर्णितम् ३९
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च दण्डोथ परिशब्दितः। प्रकाशोऽष्टविधस्तत्र
गुह्यश्च बहुविस्तरः॥ ४०॥ रथा नागा हयाश्चैव पादाताश्चैव
पाण्डव। विष्टिर्नावश्चराश्चैव देशिका इति चाष्टमम् ॥ ४१॥
अङ्गान्येतानि कौरव्य प्रकाशानि बलस्य तु। जंगमाजंगमोश्चो-
क्ताश्चूर्णयोगा विषादयः॥ ४२॥ स्पर्शे चाभ्यवहार्ये चाप्युपां-
शुर्विविधः स्मृतः। अरिर्मित्र उदासीन इत्येतेऽप्यनुवर्णिताः ४३
कृत्स्ना मार्गगुणाश्चैव तथा भूमिगुणाश्च ह। आत्मरक्षणमाश्वासः
सर्गाणां चान्ववेक्षणम्॥ ४४॥ कल्पना विविधाश्चापि नृनाग-
रथवाजिनाम्। व्यूहाश्च विविधाभिख्या विचित्रं युद्धकौश-

भण्डार) इस पञ्चवर्गका उत्तम, मध्यम और अधम स्वरूप भी उस ग्रन्थमें कहा है॥ ३८॥ ३९॥ प्रकट सेना और गुप्त सेनाका वर्णन भी किया है, उसमें प्रकट सेना आठप्रकारकी और गुप्त सेना बहुत प्रकारकी है॥ ४०॥ रथ, हाथी, घोडे, पैदल, वेगारमें पकड़ेहुए मजदूर, नौका, गुप्त दूत और जिस देश पर चढाई करनी हो उस देशके मनुष्य इन सेनाके आठ प्रकट अङ्गोंका हे युधिष्ठिर! उस ग्रन्थमें वर्णन किया है, पहरनेके वस्त्र आदिमें, भोजनमें स्थावर विष और जङ्गमविष (साँप बीछू आदिका विष) विष चुपड़नेकी तथा डालनेकी रीति, अभिचार आदि अनेकों प्रकारके मारणकी रीति, शत्रु मित्र और उदासीन पुरुष, इन आठ गुप्त अङ्गोंका भी इसमें वर्णन है॥४१-४३॥ मार्गके गुण, भूमिके गुण, मंत्रतंत्र आदिसे अपनी रक्षा करना, आश्वासन, रथ आदिकी बनावटको देखना, मनुष्य हाथी, रथ और घोड़े इनके बलवान् और पुष्ट होनेके अनेकों उपाय, भाँति२ की व्यूहरचना, अनेकों प्रकारके युद्धोंकी कुशलता धूमकेतु आदि ग्रहोंके उत्पात, उल्कापात, भूकम्प आदि निपात

लम् ॥ ४५ ॥ उत्पाताश्च निपाताश्च सुयुद्धं सुपलायितम् । शस्त्राणां पालनं ज्ञानं तथैव भरतर्षभ ॥ ४६ ॥ बलव्यसनयुक्तञ्च तथैव बलहर्षणम् । पीडा चापद्कालश्च पत्तिज्ञानञ्च पाण्डव ॥ ४७ ॥ तथाख्यातविधानञ्च योगः सञ्चार एव च । चौरराटविकैश्चोग्रैः परराष्ट्रस्य पीडनम् ॥ ४८ ॥ अग्निदैर्गरदैश्चैव प्रतिरूपककारकैः । श्रेणिमुख्योपजापेन वीरुधश्छेदनेन च ४६ दूषणेन च नागानामातंकजननेन च । आराधनेन भक्तस्य प्रत्ययोपार्जनेन च ॥ ५० ॥ सप्तांगस्य च राज्यस्य ह्रासवृद्धिसमञ्ज-

अच्छे २ युद्ध, युद्धमेंसे निकलजानेकी रीति और शस्त्रोंको तेज करनेकी विधि हे भरतसत्तम राजन् ! इस ग्रन्थमें कही हैं ४४-४६ और हे पाण्डव ! सेनाको सङ्कटके समयमें किसप्रकार अपनी बनाये रहे, किसप्रकार उसको उत्साह देय वह बात तथा सेनाके ऊपर आई हुई आपत्ति तथा पीड़ाको समझना ॥ ४७ ॥ दुन्दुभी बजाकर शत्रुओंके ऊपर किसप्रकार चढ़ाई करे, पताका आदिको ऊपर चढ़ाना और दुन्दुभियोंकी ध्वनि सुनाकर तथा पताका दिखाकर शत्रुको किसप्रकार भयभीत करे, चोरोंके द्वारा तथा वनमें फिरनेवाले भयानक लुटेरोंके द्वारा शत्रुके देशको किसप्रकार दुःख देय, आग लगानेवाले, विष देनेवाले तथा शिल्प करनेवाले मनुष्योंके द्वारा शत्रुको किसप्रकार दुःख देय, शत्रुकी सेनाके अध्यक्षों (अफसरों) को किसप्रकार घूँस देकर अपने पक्षमें लावे, देशमें उत्पन्न हुए अन्नके भण्डार का नाश करके शत्रु राजाको किसप्रकार सतावें, शत्रुओंके हाथियोंको मंत्र, तंत्र आदिसे रोगी और पीड़ित कैसे करे, अपने भक्तजनोंकी सेवा करके उनके मनमें किसप्रकार विश्वास उत्पन्न कराकर किसप्रकार वैरीके देशको पीडा देय, ये सब बातें इस ग्रन्थमें कही हैं ॥ ४८-५० ॥ सात अङ्गोंवाले राज्यका क्षय

सम् । दूतसामर्थ्यसंयोगात्सराष्ट्रस्य विवर्धनम् ॥ ५१ ॥ अरि-
मध्यस्थमित्राणां सम्यक् चोक्तं प्रपञ्चनम् । अवमर्दः प्रतीघात-
स्तथैव च बलीयसाम् ॥५२॥ व्यवहारः सुसूक्ष्मश्च तथा कंटक-
शोधनम् । श्रमो व्यायामयोगश्च त्यागो द्रव्यस्य संग्रहः ५३
अभृतानां च भरणं भृतानां चान्ववेक्षणम् । अर्थस्य काले दानं
च व्यसने चाप्रसंगिता ॥ ५४ ॥ तथा राजगुणाश्चैव सेनापति-
गुणाश्च ह । कारणञ्च त्रिवर्गस्य गुणदोषास्तथैव च ॥ ५५ ॥
दुश्चेष्टितं च विविधं वृत्तिश्चैवानुवर्तिनाम् । शंकितत्वं च सर्वस्य
प्रमादस्य च वर्जनम्५६ अलब्धलाभो लब्धस्य तथैव च विवर्धनम् ।
प्रदानञ्च विवृद्धस्य पात्रेभ्यो विधिवत्ततः ॥५७॥ विसर्गोऽर्थस्य

और वृद्धि, समताका, दूतकी शक्तिसे होनेवाली देशकी वृद्धि
वैरी मित्र और तटस्थोंका विस्तार तथा बलवानोंका दूसरो
की सेनाओंसे कैसे नाश करना चाहिये ॥ ५१–५२ ॥
राजसभाके अति सूक्ष्म काम और वैरी चोर आदिका जड़मूलसे
नाश कैसे करना चाहिये, मल्लविद्या और शस्त्रोंके चलानेका
अभ्यास कैसे होना चाहिये, दान देना, धनका संग्रह करना,
पोषण करने योग्योंका पोषण करना,पोषण करनेयोग्य नौकरोंकी
देखभाल रखना, समय पर सुपात्रको धन आदिका दान करना,
जुआ मद्य पान आदि व्यसनोंका सेवन न करना, राजाके गुण,
सेनापतिके गुण, धर्म अर्थ और काम इन तीनका साधन तथा
इनके गुण और दोष, अनेकों प्रकारके दुराचरणोंका विषय,
सेवक आदि आश्रितोंकी आजीविकाकी बात, सबके ऊपर शङ्का
रखना (राजा कार्यवश सबके ऊपर विश्वास रखता हुआभी
सबको शङ्कित दृष्टिसे किसप्रकार देखता रहे यह बात) प्रमाद
त्यागना,न मिली हुई वस्तुको प्राप्त करना,प्राप्त हुई वस्तुकी वृद्धि
करना, बढ़ीहुई वस्तु विधिपूर्वक सुपात्रको देना, धर्मके लिये यज्ञ

धर्मार्थं कामहेतुकमुच्यते । चतुर्थं व्यसनाघाते तथैवात्रानुवर्णितम् ॥ ५८ ॥ क्रोधजानि तथोग्राणि कामजानि तथैव च । दशोक्तानि कुरुश्रेष्ठ व्यसनान्यत्र चैव ह ॥५९॥ मृगयाक्षास्तथा पानं स्त्रियश्च भरतर्षभ । कामजान्याहुराचार्याः प्रोक्तानीह स्वयंभुवा ॥६०॥ वाक्पारुष्यं तथोग्रत्वं दण्डपारुष्यमेव च । आत्मनो निग्रहस्त्यागो ह्यर्थदूषणमेव च ॥ ६१ ॥ यन्त्राणि विविधान्येव क्रियास्तेषां च वर्णिताः । अवमर्दः प्रतीघातः केतनानां च भञ्जनम् ॥६२॥ चैत्यद्रुमावमर्दश्च रोधः कर्मानुशासनम् । अपस्करोऽथ वसनं तथोपायाश्च वर्णिताः ॥६३॥ पणवानकशंखानां भेरीणां

आदिके लिये काम भोगके लिये और दुःखका नाश करनेके लिये धनको खर्च करनेकी रीति भी इस नीति शास्त्रमें लिखी है५३–५८ हे कुरुश्रेष्ठ! क्रोधसे और कामसे उत्पन्न होनेवाले उग्र दश व्यसनोंकाभी इस ग्रन्थमें वर्णन किया है ॥ ५९ ॥ धर्मशास्त्रके आचार्य कहते हैं, कि–ब्रह्माने अपने नीतिशास्त्रमें शिकार,जुआ मद्यपान और स्त्री संग ये कामजन्य व्यसन बताये हैं ॥ ६० ॥ गालीगलौच करना, उग्रता दिखाना, मारकूट करना अपने देहको कैदमें रखना, और दूसरेके धनका नुकसान करना ये क्रोधजन्य व्यसन हैं ॥ ६१ ॥ अनेकों प्रकारके यन्त्र और उनकी क्रियाएँ, दूसरेकी सेनाओंसे वैरीके देश आदि पर धावा करके किसप्रकार उसको दुःख देना चाहिये, और वैरीके नगर आदिके घरोंका किसप्रकार नाश करना चाहिये, पुराने मन्दिर और वृक्षोंका किसप्रकार नाश करे यह बातें, खेतीवाडीकी रीतिका उपदेश तथा वस्त्र आदि और कवच आदिको बनानेकी रीतियें भी इस ग्रन्थमें वर्णन करी हैं ॥ ६२-६३ ॥ और हे राजा युधिष्ठिर ! ढाल नगाड़े शङ्ख और दुन्दुभि आदि युद्धके बाजोंको बनानेकी रीति,

च युधिष्ठिर । उपार्जनं च द्रव्याणां परिमर्दश्च तानि षट् ॥६४॥ लब्धस्य च प्रशमनं सतां चैवाभिपूजनम् । विद्वद्भिरेकीभावश्च दानहोमविधिज्ञता ॥६५॥ मङ्गलालंभनं चैव शरीरस्य प्रतिक्रिया । आहारयोजनञ्चैव नित्यमास्तिक्यमेव च ॥६६॥ एकेन च यथोत्थेयं सत्यत्वं मधुरा गिरः । उत्सवानां समाजानां क्रियाः केतनजास्तथा ॥ ६७ ॥ प्रत्यक्षाश्च परोक्षाश्च सर्वाधिकरणेष्वथ । वृत्तेर्भरतशार्दूल नित्यं चैवान्ववेक्षणम् ॥ ६८ ॥ अदण्ड्यत्वं च विप्राणां युक्त्या दण्डनिपातनम् । अनुजीवी स्वजातिभ्यो

समयानुसार उनको वजानेकी रीति, (मणियें, पशु, पृथिवी, वस्त्र, दास, दासी, और सुवर्ण इन) छः प्रकारके पदार्थोंको कैसे प्राप्त करे और वैरीके दो पदार्थोंका कैसे नाश हो, इन वातोंकी युक्तियें भी कही हैं ॥ ६४ ॥ नए जीते हुए प्रान्तोंमें कैसे शान्ति स्थापित करे, सत्पुरुषोंका सत्कार कैसे करे, विद्वानोंके साथ किसप्रकार मित्रता करे, तथा दान और होमकी रीति, (कुशा, सुवर्ण, आदि) माङ्गलिक वस्तुओंका स्पर्श शरीरका शृंगार करनेकी रीति, भोजन किस समय और कैसे करना चाहिये इसकी रीति, नित्य आस्तिक वने रहनेका ढङ्ग अकेला राजा वैरीके ऊपर किस समय चढाई करे, तथा सत्य वोलनेका विवेचन (उत्सवोंके समय और पञ्चायतोंमें) मधु वाणीसे वात करना, घरमें ध्वजा लगाने आदिकी रीति, जहाँ मनुष्य इकट्ठे होकर वैठते हों ऐसे वैठक आदि स्थानोंमें (इकट्ठे होनेवाले लोग) प्रत्यक्षमें तथा छुपकर जो वातें करें उनको नित्य देखना यह वातें भी इस ग्रंथमें कही हैं ॥६५–६८॥ ब्राह्मणोंको दण्ड न देनेकी वात, दण्ड देने योग्य पुरुषोंको युक्ति दण्ड देनेकी वात, अपना साथ देनेवालोंमें जाति स्नेहका सम्बन्ध और गुण देखकर उनका सन्मान करनेकी वात, नगरवासियोंकी

गुणेभ्यश्च समुद्भवः ॥ ६९ ॥ रक्षणं चैव पौराणां राष्ट्रस्य च विवर्धनम् । मण्डलस्य तथा च या चिन्ता राजन् द्वादशराजिका ७० द्वासप्ततिविधा चैव शरीरस्य प्रतिक्रिया । देशजातिकुलानां च धर्माः समनुवर्णिताः ॥ ७१ ॥ धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चात्रानुवर्णिताः । उपायाश्चार्थलिप्सा च विविधा भूरिदक्षिण ७२ मूलकर्मक्रिया चात्र मायायोगश्च वर्णितः । दूषणं स्रोतसां चैव वर्णितं चास्थिराम्भसाम् ॥ ७३ ॥ यैर्यैरुपायैर्लोकस्तु न चलेदार्यवर्त्मनः । तत्सर्वं राजशार्दूल नीतिशास्त्रेभिवर्णितम् ॥ ७४ ॥ एतत् कृत्वा शुभं शास्त्रं ततः स भगवान् प्रभुः । देवानुवाच संहृष्टः सर्वाञ्छक्रपुरोगमान् ॥ ७५ ॥ उपकाराय लोकस्य त्रिवर्ग-

---

रक्षाकी बात, राज्यकी वृद्धिकी बात, तथा हे राजन् ! विजय चाहनेवाले राजाकी चारों दिशाओंमेंके राजा वैरी, उनके पडोसी मित्र और उन मित्र राजाओंके पडोसी उदासीन यह एक एक दिशाके चार २ मिलकर बारह होते हैं, (इन) बारह प्रकारके स्वतन्त्र राजाओंके साथ सम्बन्ध रखनेका विचार भी इस ग्रन्थमें कहा है ॥ ६९-७० ॥ वैद्यक शास्त्रमें प्रसिद्ध (शौच, तैल, मर्दन, आदि) ऐसे अनेकों प्रकारके संस्कार देशके धर्म जातिके धर्म और कुलके धर्मोंका भी इसमें वर्णन किया है ॥ ७१ ॥ हे बहुतसी दक्षिणादेनेवाले युधिष्ठिर ! इस ग्रन्थमें ब्रह्माने धर्म अर्थ काम और मोक्षको पानेकी कामनाएँभी कही हैं ॥ ७२ ॥ खजानेकी वृद्धि करनेवाली क्रियाओंका, मायाके प्रयोगोंका तथा बहती नदियोंके प्रवाहोंके जलका विष आदिसे दूषित करनाभी कहा है ॥ ७३ ॥ हे राजसिंह ! जिन २ उपायोंको काममें लाने पर मनुष्य आर्य जातिके धर्ममार्गोंसे भ्रष्ट न हों वे सब उपाए इस ग्रन्थमें कहे हैं ॥ ७४ ॥ शक्तिमान् ब्रह्माजी (व्यवहारके उपयोगी) इन वर्णन किये हुए विषयोंसे भरे इस नीति शास्त्रको

स्थापनाय च । नवनीतं सरस्वत्या बुद्धिरेषा प्रभाविता ॥ ७६ ॥
दण्डेन सहिता ह्येषा लोकरक्षणकारिका । निग्रहानुग्रहरता लोका-
ननुचरिष्यति ॥७७॥ दण्डेन नीयते चेदं दण्डं नयति वा पुनः ।
दण्डनीतिरिति ख्याता त्रींल्लोकानभिवर्त्तते ॥ ७८ ॥ षाड्गुण्य-
गुणसारैषा स्थास्यत्यग्रे महात्मसु । धर्मार्थकाममोक्षाश्च सकला
ह्यत्र शब्दिताः ॥७९॥ ततस्तां भगवान्नीतिं पूर्वं जग्राह शङ्करः ।
बहुरूपो विशालाक्षः शिवः स्थाणुरुमापतिः ॥ ८० ॥ प्रजानामा-
युषो ह्रासं विज्ञाय भगवान् शिवः । सञ्चिक्षेप ततः शास्त्रं महार्थं
ब्रह्मणा कृतम् ॥८१॥ वैशालाक्षमिति प्रोक्तं तमिन्द्रः प्रत्यपद्यत ।

रच कर, बड़े प्रसन्न हुए और इन्द्र जिनमें मुख्य हैं ऐसे देव-
ताओंसे बोले कि-॥ ७५ ॥ मैंने सब लोगोंके उपकारके लिए
(धर्म अर्थ और काम) इस त्रिवर्गके स्थापन करनेके लिए
अपनी वाणीके साररूप नीतिशास्त्रको रचकर अपनी बुद्धिका
प्रभाव दिखाया है॥७६॥ लडाई और दया दिखानेवाले दण्डके
सहित इस नीतिका लोगोंमें प्रचार होजानेसे लोगोंकी रक्षा
होगी ॥ ७७ ॥ यह सब जगत् दण्डसे पुरुषार्थका फल भोगनेमें
समर्थ होता है, और दण्डसे ही ठीकर राजव्यवस्था चलती है,
और दण्डनीति तीनों लोकोंमें व्यापक है ॥ ७८ ॥ इस नीतिको
दण्डनीति कहते हैं,नीतिके छः गुणोंके गुणसारसे भराहुआ यह
नीतिशास्त्र महात्माओंके अग्रस्थानमें विराजेगा, इस ग्रंथमें धर्म,
अर्थ, काम और मोक्ष इन सब पुरुषार्थोंका वर्णन है ॥ ७९ ॥
अनेकरूप धारण करनेवाले, विशाल नेत्रोंवाले,उमापति श्रीशंकर
ने इस नीतिशास्त्रको पहिले ग्रहण किया ॥८०॥ भगवान् शंकर
ने मनुष्योंकी आयुको घटतीहुई देखकर ब्रह्माके रचेहुए इस
नीतिशास्त्रको संक्षिप्त करके रचा ॥ ८१ ॥ यह (नीतिशास्त्र)
विशालाक्ष (शिव) ने रचा था इससे वैशालाक्ष नामसे प्रसिद्ध

दशाध्यायसहस्राणि सुब्रह्मण्यो महातपाः ॥ ८२ ॥ भगवानपि तच्छास्त्रं सञ्चिक्षेप पुरन्दरः । सहस्रैः पञ्चभिस्तात यदुक्तं बाहुदन्तकम् ॥८३॥ अध्यायानां सहस्रैस्तु त्रिभिरेव बृहस्पतिः । संचिक्षेपेश्वरो बुध्या बार्हस्पत्यं यदुच्यते ॥ ८४ ॥ अध्यायानां सहस्रेण काव्यः संक्षेपमब्रवीत् । तच्छास्त्रममितप्रज्ञो योगाचार्यो महायशाः ॥ ८५ ॥ एवं लोकानुरोधेन शास्त्रमेतन्महर्षिभिः । संक्षिप्तमायुर्विज्ञाय मर्त्यानां ह्रासमेव च ॥८६॥ अथ देवाः समागम्य विष्णुमूचुः प्रजापतिम् । एको योर्हति मर्त्येभ्यः श्रैठ्यं वै तं समादिश ॥८७॥ ततः संचिन्त्य भगवान् देवो नारायणः प्रभुः । तैजसं वै विरजसं सोऽसृजन्मानसं सुतम् ॥ ८८ ॥ विरजास्तु महाभागः प्रभुत्वं भुवि नैच्छत । न्यासायैवाभवद्बुद्धिः प्रणीता तस्य

हुआ, महातपस्वी और ब्राह्मणरक्षक इन्द्रने दश सहस्र अध्याय वाले उस नीतिशास्त्रका अध्यपन किया ॥ ८२ ॥ और उसने भी उस नीतिशास्त्रमेंसे सार लेकर पाँच सहस्र अध्यायका नीतिशास्त्र रचा, वह बाहुदन्तक नामसे प्रसिद्ध हुआ है ॥ ८३ ॥ तदनन्तर बृहस्पतिने इस नीतिशास्त्रको अपनी बुद्धिसे संक्षिप्त कर तीन सहस्र श्लोकोंमें रचा, वह शास्त्र बार्हस्पत्य नामसे कहाजाता है ॥ ८४ ॥ तदनन्तर अपार बुद्धिमान् महायशस्वी योगाचार्य शुक्राचार्यने उस ही शास्त्रको संक्षिप्त कर एक सहस्र अध्यायोंमें रचा ॥८५॥ इस प्रकार महर्षियोंने युगानुसार मनुष्योंकी आयु घटती हुई देखकर मनुष्योंका हित करनेके लिये इस नीतिशास्त्र को संक्षेपमें रचा है ॥८६॥ इस प्रकार ब्रह्माके नीतिशास्त्र रचने के पीछे, देवताओंने प्रजापति विष्णुके पास आकर कहा, कि– 'हमको एक ऐसा पुरुष दो, जो मनुष्योंमें दूसरोंसे श्रेष्ठ हो'॥८७॥ भगवान् नारायणने देवताओंके वचन पर विचार करके विरज नामक एक मानसिक तैजस पुत्रको उत्पन्न किया ॥ ८८ ॥ महा-

पाण्डव ॥८९॥ कीर्त्तिमांस्तस्य पुत्रोभूत् सोपि पंचातिगोभवत् । कर्दमस्तस्य तु सुतः सोप्यतप्यन्महत्तपः ॥ ९० ॥ प्रजापतेः कर्दमस्य त्वनङ्गो नाम वै सुतः। प्रजा रक्षयिता साधुर्दण्डनीतिविशारदः ॥ ९१ ॥ अनङ्गपुत्रोतिबलो नीतिमानभिगम्य वै । प्रतिपेदे महाराज्यमथेन्द्रियवशोभवत् ॥ ९२ ॥ मृत्योस्तु दुहिता राजन् सुनीथा नाम मानसी । प्रख्याता त्रिषु लोकेषु या सा वेणमजीजनत् ॥ ९३ ॥ तं प्रजासुविधर्माणं रागद्वेषवशानुगम् । मन्त्रपूतैः कुशैर्जघ्नुर्ऋषयो ब्रह्मवादिनः ॥ ९४ ॥ ममन्थुर्दक्षिणं चोरुमृषयस्तस्य मन्त्रतः । ततोस्य विकृतो यज्ञे ह्रस्वाङ्गः पुरुषो भुवि ९५

भाग्यशाली विरजने पृथिवी पर राज्य करना नहीं चाहा, परन्तु हे पाण्डव ! उसके मनमें त्याग करनेका ही विचार हुआ॥८९॥ उसका पुत्र कीर्तिमान् हुआ, वह भी विषयोंमें प्रीति नहीं रखता था, उसका पुत्र कर्दम हुआ, वह भी बड़ाभारी तप करनेलगा॥९०॥ प्रजापति कर्दमके अनंग नामक पुत्र हुआ (यह राजा अंगका दूसरा नाम है)वह प्रजाका रक्षक, सज्जन और दण्डनीतिमें कुशल था ॥ ९१ ॥ इस अनंगके अतिबल नामक पुत्र हुआ वह महाबली और नीतिमान् था परन्तु इन्द्रियोंके विषयोंके अधीन होगया था, उसने बड़ाभारी राज्य पाया था ॥ ९२ ॥ मृत्युके मानसी (स्त्रीसे) सुनीथा नामकी पुत्री उत्पन्न हुई थी, वह तीनों लोकों में प्रसिद्ध थी, उससे अतिबलका वेन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था ॥ ९३ ॥ वह राजा राग तथा द्वेषके वशमें हो प्रजामें अधर्म फैलाने लगा, इस कारण वेदवेत्ता ऋषियोंने कुशोंको मंत्रोंसे अभिमंत्रित कर उन कुशोंसे उसको मारडाला था ॥ ९४ ॥ फिर ऋषि मंत्र पढकर उसकी दाहिनी जंघाको मथने लगे, तब उसमें से ह्रस्वांग और विकृत आकारवाला एक पुरुष पृथिवी पर उत्पन्न हुआ ॥९५॥ उस पुरुषके शरीरका वर्ण जलेहुए खूँटेकी समान

दग्धस्थूणाप्रतीकाशो रक्ताक्षः कृष्णमूर्द्धजः। निषीदेत्येवमूचुस्तमृषयो ब्रह्मवादिनः ॥ ९६ ॥ तस्मान्निषादाः सम्भूताः क्रूराः शैलवनाश्रयाः। ये चान्ये विन्ध्यनिलया म्लेच्छाः शतसहस्रशः॥९७ भूयोस्य दक्षिणं पाणिं ममन्थुस्ते महर्षयः। ततः पुरुष उत्पन्नो रूपेणेन्द्र इवापरः ॥ ९८ ॥ कवची बद्धनिस्त्रिंशः सशरः सशरासनः। वेदवेदाङ्गविच्चैव धनुर्वेदे च पारगः ॥ ९९ ॥ तं दण्डनीतिः सकला श्रिता राजन्नरोत्तमम्। ततस्तु प्राञ्जलिर्वैण्यो महर्षींस्तानुवाच ह ॥ १०० ॥ सुसूक्ष्मा मे समुत्पन्ना बुद्धिर्धर्मार्थदर्शिनी। अनया किं मया कार्यं तन्मे तत्त्वेन शंसत ॥१०१॥ यन्मां भवन्तो वक्ष्यन्ति कार्यमर्थसमन्वितम्। तदहं वै करिष्यामि

काले रंगका था, उसके नेत्र लाल २ थे, मस्तकके केश काले थे, वेद जाननेवाले ऋषियोंने उसको देखते ही क्षण ही कहा "निषीद-नीचे बैठजा" ॥ ९६ ॥ ऐसा कहते ही उस पुरुषके शरीरमेंसे निषाद (भील) जातिके पुरुष उत्पन्न हुए, वे स्वभावतः क्रूर थे और पर्वत तथा वनोंमें वसनेलगे, उनमें जो विंध्याचलमें रहने लगे वे म्लेच्छ हैं और उनकी संख्या लाखों है ॥ ९७ ॥ महर्षि फिर राजा वेनके दाहिने हाथको मथनेलगे, तब उसमेंसे इन्द्रकी समान रूपवान् पुरुष उत्पन्न हुआ॥९८॥उसके शरीर पर कवच था, कमरमें तलवार बँध रही थी, धनुष तथा बाण बँध रहे थे, वह वेद और वेदके अंगोंमें कुशल था और धनुर्वेदमें पारंगत था९९ हे राजन्! सम्पूर्ण राजनीतिने उस महात्मा पुरुषका आश्रय लिया था, उस वेन राजाके पुत्रने दोनों हाथ जोडकर महर्षियोंसे कहा ॥ १०० ॥ कि-हे ऋषियो! धर्म तथा अर्थका विचार करनेमें अतीव सूक्ष्मबुद्धि मेरी सहायता कर रही है अतः उस बुद्धिसे मैं क्या करूँ! यह तुम मुझै ठीक रीतिसे बताओ १०१ तुम मुझसे प्रयोजन भरा जो काम करनेको कहोगे उस कामको मैं

नात्र कार्य्या विचारणा ॥ १०२ ॥ तमूचुस्तत्र देवास्ते ते चैव परमर्षयः । नियतो यत्र धर्मो वै तमशङ्कः समाचर १०३ प्रियाप्रिये परित्यज्य समः सर्वेषु जन्तुषु । कामक्रोधौ च लोभश्च मानश्चोत्सृज्य दूरतः ॥ १०४ ॥ यश्च धर्मात् प्रविचरंल्लोके कश्चन मानवः । निग्राह्यस्ते स्वबाहुभ्यां शश्वद्धर्म्ममवेक्षता ॥ १०५ ॥ प्रतिज्ञाञ्चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा । पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत् ॥ १०६ ॥ यश्चात्र धर्मो नित्योक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः । तमशङ्कः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन १०७ अदण्ड्या मे द्विजाश्चेति प्रतिजानीहि हे विभो । लोकञ्च सङ्करात् कृत्स्नं त्रातास्मीति परन्तप ॥ १०८ ॥ वैन्यस्ततस्तानुवाच

निःशंक होकर करूँगा (क्योंकि-तुम जो आज्ञा दोगे वह धर्मसे भरी हुई ही होगी) ॥ १०२ ॥ देवताओंने और महर्षियोंने उससे कहा कि-जिस कार्यमें तुझको धर्मका नित्य वास जान पड़े उस कार्यको तू निःशंक होकर कर ॥ १०३ ॥ तू प्रिय अप्रियको त्याग कर सब प्राणियोंके साथ समभावसे वर्ताव करना काम, क्रोध, लोभ और मानको दूरसे ही त्याग देना, यदि कोई मनुष्य धर्मको छोड़े, उसको तू अपने भुजबलसे दण्ड देना, और तू नित्य धर्मकी देख भाल रखा कर ॥ १०४-१०५ ॥ तू अपने मन, वाणी, और कायासे हमारे सामने प्रतिज्ञा कर कि-मैं इस पृथ्वी परके वेदसमान नीतिशास्त्रको नित्य ब्रह्मरूप मानूँगा और उसमें कही हुई नीतिका पालन करूँगा ॥ १०६ ॥ और मैं निःशंक होकर इस दण्डनीतिशास्त्रमें कहे हुए धर्मको सदा पालूँगा और कभी भी अपनी इन्द्रियोंके वशमें नहीं होऊँगा १०७ हे विभो ! तू प्रतिज्ञा कर कि-मैं ब्राह्मणोंको दण्ड नहीं दूँगा और सारे जगत्को संकर न होने दूँगा और उसकी रक्षा करूँगा ॥ १०८ ॥ वेनके पुत्रने देवता और ऋषियोंसे कहा कि-

देवान्नृषिपुरोगमान् । ब्राह्मणा मे महाभागा नमस्याः पुरुष-र्षभाः ॥ १०९ ॥ एवमस्त्विति वैन्यस्तु तैरुक्तो ब्रह्मवादिभिः । पुरोधाश्चाभवत्तस्य शुक्रो ब्रह्ममयो निधिः ॥ ११० ॥ मन्त्रिणो वालिखिल्याश्च सारस्वत्यो गणस्तथा । महर्षिर्भगवान् गर्ग-स्तस्य सांवत्सरोभवत् ॥ १११ ॥ आत्मनाष्टम इत्येव श्रुतिरेषा परा नृषु । उत्पन्नौ वन्दिनौ चास्य तत्पूर्वौ सूतमागधौ ।११२। तयोः प्रीतो ददौ राजा पृथुर्वैन्यः प्रतापवान् । अनूपदेशं सूताय मगधं मागधाय च ॥ ११३ ॥ समतां वसुधायाश्च स सम्यगुप-पादयत् । वैषम्यं हि परं भूमेरासीदिति च नः श्रुतम् ॥११४॥ मन्वन्तरेषु सर्वेषु विषमा जायते मही । उज्जहार ततो वैन्यः शिलाजालान् समन्ततः ॥ ११५ ॥ धनुष्कोटचा महाराज तेन

हे महापुरुषों ! मुझे महाभाग्यशाली ब्राह्मणोंको प्रमाण मानना चाहिये ! १०९ वेदवेत्ता ब्राह्मणोंने "तथास्तु" कहकर वेनके पुत्रका अनुमोदन किया ! सम्पूर्ण वेदके भण्डाररूप शुक्राचार्य उसके पुरोहित बने ॥ ११० ॥ बालखिल्य उसके मंत्री बने, सरस्वती नदीके किनारेके ब्राह्मण उसके नर्मसखा हुए, भगवान् महर्षि गर्ग उसके ज्योतिषी बने॥१११॥ वेनका पुत्र राजा पृथु विष्णुसे आठवाँ पुरुष था(इससे ही विष्णुके २४ अवतारोंमें उसकी गणना है)ऐसी जनश्रुति है राजा पृथुके जन्मसे पहिले सूत और मागध नामक दो बन्दी उत्पन्न हुए थे ।। ११२ ॥ प्रतापी राजा पृथुने प्रसन्न होकर सूतको अनूप (समुद्रतटका देश) और मागध को मगध देश दिया ।। ११३ ॥ हमारे सुननेमें आया है कि-(उस समय पर) पृथिवी बहुत ही ऊँची नीची थी उसको राजा पृथुने सीधी किया था ।। ११४॥ सब मन्वन्तरोंके समयमें पृथिवी विषम ऊँची नीची-टेडी वेडी होती है,अतः राजा पृथुने पृथिवीके ऊपर पत्थर डलवाकर उसको सम किया था ॥११५॥ हे महा-

शैला विवर्द्धिताः । स विष्णुना च देवेन शक्रेण विबुधैः सह ११६
ऋषिभिश्च प्रजापालैर्ब्राह्मणैश्चाभिचोदितः । तं साक्षात् पृथिवी
भेजे रत्नान्यादाय पाण्डव ॥ ११७ ॥ सागरः सरितां भर्त्ता
हिमवांश्चाचलोत्तमः । शक्रश्च धनमक्षय्यं प्रादात्तस्मै युधिष्ठिर ११८
रुक्मश्चापि महामेरुः स्वयं कनकपर्वतः । यक्षराक्षसभर्त्ता च भग-
वान्नरवाहनः॥ ११९॥ धर्मे चार्थे च कामे च समर्थं प्रददौ धनम् ।
हया रथाश्च नागाश्च कोटिशः पुरुषास्तथा ॥ १२० ॥ प्रादुर्बभू-
वुर्नृन्यस्य चिन्तनादेव पाण्डव । न जरा न च दुर्भिक्षं नाधयो
व्याधयस्तथा ॥ १२१ ॥ सरीसृपेभ्यः स्तेनेभ्यो न चान्योन्यात्
कदाचन । भयमुत्पद्यते तत्र तस्य राज्ञोऽभिरक्षणात् ॥ १२२ ॥
आपस्तस्तम्भिरे चास्य समुद्रमभियास्यतः । पर्वताश्च ददुर्मार्गं

राजा।राजा पृथुने धनुषकी नोकसे पर्वतोंको तोडकर एकसा किया, तदनन्तर विष्णुने, देवेन्द्रने, देवताओंने, ऋषियोंने, प्रजापतियोंने और ब्राह्मणोंने पृथुका राज्याभिषेक किया था, हे राजन् ! पृथिवी साक्षात् आकर रत्नोंके साथ उसकी सेवा करने लगी ॥ १६-१७ ॥ हे युधिष्ठिर ! नदियोंके स्वामी समुद्रने, महापर्वत हिमाचलने और इन्द्रने राजा पृथुको अक्षय धन दिया ॥ ११८ ॥ सुवर्णसे भरेहुए मेरु पर्वतने राजा पृथुको सुवर्ण दिया, यक्ष और राक्षसोंके स्वामी और नर जिनके वाहन हैं ऐसे भगवान कुबेरने धर्म, अर्थ और काम सम्पादन करनेमें उपयोगी धन उसको दिया, हे पाण्डव ! घोड़े, रथ, हाथी और करोडों पुरुष पृथुके विचार करते ही उत्पन्न होगए और उस राजाके रक्षाकालमें किसी मनुष्यको जरा, दुष्काल, आधि, व्याधि पीडा नहीं देती थी, सर्प आदिका, चोरोंका तैसे ही परस्परका भी भय न था ॥ ११९-१२२ ॥ राजा पृथु जिस समय समुद्रके परले पार जानेकी इच्छा करता था उस समय समुद्रका जल स्थिर होजाता था पर्वत उसको मार्ग देदेते

ध्वजभङ्गश्च नाभवत् ॥ ॥ १२३ ॥ तेनेयं पृथिवी दुग्धा श
दश सप्त च । यक्षराक्षसनागैश्चापीप्सितं यस्य यस्य यत्
तेन धर्मोत्तरश्चायं कृतो लोको महात्मना । रञ्जिताश्च
सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते ॥ १२५ ॥ ब्राह्मणानां क्षतत्राण
क्षत्रिय उच्यते । प्रथिता धर्मतश्चेयं पृथिवी बहुभिः स्मृता
स्थापनाञ्चाकरोद्विष्णुः स्वयमेव सनातनः। नातिवर्त्तिष्यते क
द्राजंस्त्वामिति भारत ॥ १२७ ॥ तपसा भगवान् विष्णुराचि
च भूमिपम् । देववन्नरदेवानां नमते यं जगन्नृपम् ॥ १२८
दण्डनीत्या च सततं रक्षितव्यं नरेश्वर । नाधर्षयेत्तथा कश्चि

थे, इससे उसके रथका ध्वजदण्ड भी टूटता नहीं था ॥ १२३ उस राजाने पृथिवीमें सत्रह प्रकारके धान्योंको दुहा था और यक्ष राक्षस और सर्पोंमेंसे जिसको जो वस्तु इष्ट थी, उसको वह वस्तु उसने दी थी १२४॥ उस महात्माने जगत्में धर्मकी वृद्धि की थी और सब प्रजाओंका रञ्जन किया था, इस कारणसे वह जगत् में "राजा" नामसे कहाया था ॥ १२५ ॥ ब्राह्मणोंकी उसने भयमेंसे रक्षाकी अतः वह "क्षत्रिय" कहाया था, पृथुने धर्मसे भूमिका पालन करके उसको प्रसिद्ध किया था, इससे बहुतसे लोग भूमिको "पृथिवी" कहनेलगे॥१२६॥ हे भरतवंशी राजन्! सनातन विष्णुने स्वयं ही, राजा पृथुके लिये मर्यादा बाँध दी थी कि-"हे राजन्! कोई भी पुरुष तेरा पराजय नहीं कर सकेगा" ॥ १२७ ॥ भगवान् विष्णुने स्वयं तपश्चर्यासे उस राजाके शरीरमें प्रवेश किया था, अत एव सारा जगत् राजासे देवताकी समान नमता है ॥ १२८ ॥ हे राजन्! तू दण्डनीतिकी सहायतासे अपने राज्यकी प्रजाकी रक्षा करना, और दूतों द्वारा (शत्रुओंके चाल चलन पर) सूक्ष्म-दृष्टि रखना (प्रजाकी) इस प्रकारसे रक्षा करना कि—जिससे कोई भी

च्चारनिष्यन्दर्शनात् ॥ १२९ ॥ शुभं हि कर्म राजेन्द्र शुभत्वायो-
पकल्पते । आत्मना कारणैश्चैव समस्येह महीक्षितः ॥ १३० ॥
को हेतुर्यद्वशे तिष्ठेल्लोको दैवादृते गुणात् । विष्णोर्ललाटात्कमलं
सौवर्णमभवत्तदा ॥१३१॥ श्रीः संभूता यतो देवी पत्नी धर्मस्य
धीमतः । श्रियः सकाशादर्थश्च जातो धर्मेण पाण्डव ॥ १३२ ॥
अथ धर्मस्तथैवार्थः श्रीश्च राज्ये प्रतिष्ठिता । सुकृतस्य क्षया-
च्चैव स्वर्लोकादेत्य मेदिनीम् ॥१३३॥ पार्थिवो जायते तात दंड-
नीतिविशारदः । महत्त्वेन च संयुक्तो वैष्णवेन नरो भुवि १३४
बुद्ध्या भवति संयुक्तो माहात्म्यं चाधिगच्छति । स्थापितं च ततो
देवैर्न कश्चिदतिवर्तते । तिष्ठत्येकस्य च वशे नेदंतं न विधी-

पुरुष तेरा पराभव न करसके ॥ १२९ ॥ हे राजेन्द्र ! राजाके
सकल शुभ कार्योंसे राज्यका शुभ होना है, राजा अपनी बुद्धिका
आधार रख कर शुभ आचरण करे तैसे ही जैसा अवसर और
साधन मिले उस ही अवसर और साधनके अनुसार वर्ताव
करे ॥ १३० ॥ ऐसे ही हे युधिष्ठिर ! सम्पूर्ण जगत् एक(राजारूप)
मनुष्यके वशमें रहता है, उसमें दैवी गुणके सिवाय दूसरा
क्या कारण होसकता है ? हे राजा युधिष्ठिर ! (विष्णुने उस
(पृथु) राजामें प्रवेश किया) उस समय विष्णुके ललाटमेंसे
सुवर्णका एक कमल उत्पन्न हुआ ॥ १३१ ॥ उस कमलमेंसे
बुद्धिमान् धर्मकी धर्मपत्नीकी समान श्री (लक्ष्मी) उत्पन्न हुई,
उस श्री(लक्ष्मी)मेंसे अर्थ उत्पन्न हुआ ॥ १३२ ॥ और तबसे
राज्यमें श्री, अर्थ,और धर्म इन तीनकी स्थापना हुई है,मनुष्यका
पुण्य जब क्षीण होजाता है, तब वह स्वर्गमेंसे पृथिवीके ऊपर
बुद्धिमान्,दण्डनीतिका वेत्ता और सत्त्वगुणी राजाके रूपमें अव-
तार लेता है, देवता उसका राज्याभिषेक करते हैं और वह उत्तम
प्रकारके महात्म्यको प्राप्त करता है, इससे जगत् उसके ऊपर

पते ॥ १३५ ॥ शुभं हि कर्म राजेन्द्र शुभत्वायोपकल्पते । तुल्यस्यैकस्य यस्यायं लोको वचसि तिष्ठते ॥१३६॥ योऽस्य वै मुखमद्राक्षीत्सौम्यं सोऽस्य वशानुगः । शुभगं चार्थवन्तं च रूपवंतं च पश्यति ॥ १३७ ॥ महत्त्वात्तस्य दण्डस्य नीतिर्विस्पष्टलक्षणा । नयचारश्च विपुलो येन सर्वमिदं ततम् ॥ १३८ ॥ आगमश्च पुराणानां महर्षीणां च संभवः । तीर्थवंशश्च वंशश्च नक्षत्राणां युधिष्ठिर ॥ १३९ ॥ सकलं चातुराश्रम्यं चातुर्होत्रं तथैव च । चातुर्वर्ण्यं तथैवात्र चातुर्विद्यं च कीर्तितम् ॥ १४० ॥ इतिहासाश्च वेदाश्च न्यायः कृत्स्नश्च वर्णितः । तपो ज्ञानमहिंसा च सत्यासत्ये नयः परः ॥ १४१ ॥ वृद्धोपसेवा दानं च शौचमुत्थानमेव

अपनी सत्ता नहीं चला सकता॥१३३१३५॥ हे राजेन्द्र! शुभ कर्म करनेमें आता है तो शुभ फल देता है, इस कारणसे हाथ, पैर आदि अवयव सबके एकसे होते हैं, तो भी उस पुण्यवान् पुरुष की आज्ञाके अनुसार सारा जगत् वर्त्ताव करता है ॥ १३६ ॥ जो पुरुष उसके मनोहर,मुखका दर्शन करता है,वह पुरुष उसके वशमें होजाता है और उसको सुन्दर,धनी और रूपवान् देखता है ॥ १३७ ॥ उस राजाके दण्डकी सामर्थ्यसे धर्ममें कारणरूप स्पष्ट लक्षणोंवाली नीतिका तथा न्यायका जगत्में महाप्रचार होता है और उसनीतिसे यह सब जगत् व्याप्त रहता है॥१३८॥हे युधिष्ठिर ! पितामह ब्रह्माजीके रचेहुए नीतिशास्त्रमें सब पुराणोंकी उत्पत्ति, महर्षियोंकी उत्पत्ति, तीर्थोंके वंश, नक्षत्रोंके वंश, चारों आश्रम, चार होत्रकर्म (यज्ञ यागरूपी कर्म) चार वर्ण और चारों विद्याओंका वर्णन किया है ॥१४०॥ इतिहास वेद,सम्पूर्ण न्याय, तप, ज्ञान, अहिंसा,सत्य, असत्य, उत्तम प्रकारका न्याय, वृद्धोंकी सेवा,दान,बाह्य और भीतरी पवित्रता,सावधानी और सब प्राणियोंके ऊपर दया, इन सबका इस नीतिशास्त्रमें ब्रह्मदेवने

। सर्वभूतानुकंपा च सर्वमत्रोपवर्णितम् ॥१४२॥ भुवि चाधो-
गतं यच्च तच्च सर्वं समर्पितम् । तस्मिन्पैतामहे शास्त्रे पाण्डवैतन्न
संशयः ॥ १४३ ॥ ततो जगति राजेन्द्र सततं शब्दितं बुधैः ।
देवाश्च नरदेवाश्च तुल्या इति विशाम्पते ॥१४४॥ एतत्ते सर्व-
माख्यातं महत्त्वं प्रतिराजसु । कार्त्स्न्येन भरतश्रेष्ठ किमन्यदिह
वर्त्तते ॥ १४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि
सूत्राध्याये एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

वैशम्पायन उवाच । ततः पुनः स गांगेयमभिवाद्य पितामहम् ।
प्राञ्जलिर्नियतो भूत्वा पर्य्यपृच्छद्युधिष्ठिरः ॥ १ ॥ के धर्माः सर्व-
वर्णानां चातुर्वर्ण्यस्य के पृथक् । चातुर्वर्ण्याश्रमाणाञ्च राज-
धर्माश्च के मताः ॥२॥ केन वै वर्द्धते राष्ट्रं राजा केन विवर्द्धते ।

वर्णन किया है१४१-१४२ हे पाण्डुनन्दन!अधिक तो क्या पृथिवी
पर तथा उसके नीचेके भागमें जो कुछ कार्य और पदार्थ हैं उन
सबका पितामह ब्रह्माके रचे हुए नीतिशास्त्रमें वर्णन है, इसमें
जरा भी सन्देह नहीं है ॥ १४३ ॥ राजेन्द्र ! तबसे पृथिवीके
विद्वान् कहते हैं कि-" देवता तथा मनुष्यदेवता-राजा-में कुछ भी
भेद नहीं है (अर्थात् राजा देवताकी समान है)" ॥ १४४ ॥
हे भरतवंशमें श्रेष्ठ राजन् ! राजाओंका जो कुछ महत्त्व था, वह
सब मैंने तुमसे सम्पूर्णरीतिसे कहा अब और क्या कहूँ, यह तू
मुझे बता ॥ १४५ ॥ उनसठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५९ ॥

वैशंपायन कहते हैं कि-हे जनमेजय ! राजा युधिष्ठिर साव-
धान होकर, दोनों हाथ जोड़ गंगापुत्र भीष्मपितामहको प्रणाम
करके फिर बूझनेलगे, कि-॥ १ ॥ हे भरतवंशके महापुरुष !
शास्त्रमें अनुलोम, प्रतिलोम आदि सब वर्णोंके, पृथक् २ चार
वर्णोंके, चारों आश्रमोंके और राजाओंके कौनसे धर्म कहे हैं।२।

केन पौराश्च भृत्याश्च वर्द्धन्ते भरतर्षभ ॥ ३ ॥ कोषं दण्डश्च दुर्गञ्च सहायान्मन्त्रिणस्तथा । ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान् कीदृशान् वर्ज्जयेन्नृपः ॥ ४ ॥ केषु विश्वसितव्यं स्यात् राज्ञा कस्याश्चिदापदि । कुतो वात्मा दृढं रक्ष्यस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ५ ॥ भीष्म उवाच । नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे । ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥ ६ ॥ अक्रोधः सत्यवचनं सम्विभागः क्षमा तथा । प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च । आर्ज्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्ववर्णिकाः ॥ ७ ॥ ब्राह्मणस्य तु यो धर्मस्तन्ते वक्ष्यामि केवलम् । दममेव महाराज धर्ममाहुः पुरातनम् । स्वाध्यायाभ्यसनञ्चैव तत्र कर्म्म समा-

हे भरतवंशश्रेष्ठ भीष्म ! राज्यकी वृद्धि कैसे होती है ? राजाकी वृद्धि कैसे होती है नगरवासियोंकी और सेवकवर्गकी वृद्धि किस प्रकार होसकती है ! ॥३॥ राजाको किस प्रकारके खजानेका, दण्डका, किलेका, सहायक पुरुषोंका, मंत्रियोंका, ऋत्विजोंका, पुरोहितोंका और आचार्योंका त्याग करना चाहिये ? ॥ ४ ॥ और राजाको कैसी आपत्ति आने पर कैसे पुरुषका विश्वास करना चाहिये ? अपनी आत्माकी कैसे पुरुषोंसे दृढरीतिसे रक्षा करनी,चाहिये यह बात हे पितामह ! मुझसे कहिये॥५॥भीष्मजी बोले कि–महान् धर्मको परमात्मा श्रीकृष्णको और (यहाँ विराजमान) ब्राह्मणोंको नमस्कार करके सनातनधर्मको मैं तुझसे कहता हूँ ॥ ६ ॥ अक्रोध, सत्यभाषण, सविभाग (भाग निकालकर खाना), क्षमा, अपनी स्त्रीमें सन्तान उत्पन्न करना, शौच (भीतरी और बाहरी पवित्रता) अद्रोह, सरलता, पोष्यवर्गका पोषण करना, ये नौ सब वर्णोंके लिये एकसे धर्म हैं, अब मैं तुझसे केवल ब्राह्मणोंके ही धर्म कहता हूँ ७–८हे महाराज।इन्द्रियदमनको ब्राह्मणोंका प्राचीन धर्म कहा है और स्वाध्याय करना भी

प्यते ॥ ९ ॥ तं चेद्वित्तमुपागच्छेद्वर्तमानं स्वकर्मणि । अकुर्वाणं विकर्माणि शान्तं प्रज्ञानतर्पितम् ॥ १० ॥ कुर्वीतापत्यसन्तानमथो दद्याद्यजेत च । संविभज्य हि भोक्तव्यं धनं सद्भिरितीर्यते ११ परिनिष्ठितकार्यस्तु स्वाध्यायेनैव ब्राह्मणः कुर्यादन्यन्न वा कुर्या-न्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥१२॥ क्षत्रियस्यापि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि भारत । दद्याद्राजन्न याचेत यजेत न च याजयेत् ॥१३॥ नाध्याप-येदधीयीत प्रजाश्च परिपालयेत् । नित्योद्युक्तो दस्युवधे रणे कुर्यात् पराक्रमम् ॥ १४ ॥ ये तु क्रतुभिरीजानाः श्रुतवन्तश्च भूमिपाः । य एवाहवजेतारस्त एषां लोकजित्तमाः ॥१५॥ अवि-

धर्म कहा है क्योंकि-इससे सब कर्मोंका पूर्ति होजाती है ९ इस प्रकार वर्ताव करनेवाले, शान्त प्रकृतिवाले, ज्ञानसे संतुष्ट रहनेवाले दुष्कर्म के त्यागी, और सत्कर्मको ग्रहण करनेवाले ब्राह्मणको जो स्वयं (कुछ भी असत्कर्म कियेबिना) धन मिले तो उसको विवाह करके संतान उत्पन्न करनी चाहिये, दान देना चाहिये और यजन करना चाहिये और सत्पुरुषोंको उसमेंसे भाग देनेके पीछे भोजन करना चाहिये, ऐसा विद्वान् कहते हैं ॥१०-११॥ ब्राह्मण वेद तथा शास्त्रका स्वाध्याय करनेसे कृतकृत्य होजाता है, फिर वह और कर्म करे या न करे। ब्राह्मणमें दया गुण मुख्य होनेसे वह सब प्राणियोंका मित्र कहाता है ॥ १२ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! क्षत्रियका धर्म क्या है ? यह मैं तुझे अब बताता हूँ, क्षत्रियको याचना नहीं करना चाहिये, परन्तु दान देना, यज्ञ कराना नहीं, किन्तु यज्ञ करना, वेद शास्त्र पढ़ाना, नहीं किन्तु पढ़ना प्रजाका पालन करना चोर और अधर्मियोंका नाश करनेके लिये, नित्य तत्पर रहना और रणमें पराक्रम दिखाना चाहिये १३-१४ जो राजे यज्ञोंसे पर-मात्माका यजन करते हैं, जो राजे शास्त्रसम्पन्न (वेदज्ञ) हैं, वे राजे अपने सद्गुणसे परलोकमें शुभ स्थान प्राप्त करनेवालोंमें प्रमुख होते

क्षतेन देहेन समराद्यो निवर्त्तते । क्षत्रियो नास्य तद् कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः ॥ १६ ॥ एवं हि क्षत्रबन्धूनां मार्गमाहुः प्रधानतः । नास्य कृत्यतमं किञ्चिदन्यद्दस्युनिवर्हणात ॥१७॥ दानमध्ययनं यज्ञो राज्ञां क्षेमो विधीयते । तस्माद्राज्ञा विशेषेण योद्धव्यं धर्ममीप्सता ॥१८॥ स्वेषु धर्मेष्ववस्थाप्य प्रजाः सर्वा महीपतिः । धर्मेण सर्वकृत्यानि समनिष्ठानि कारयेत् ॥ १९ ॥ परिनिष्ठितकार्य्यस्तु नृपतिः परिपालनात् । कुर्यादन्यन्नवा कुर्यादैन्द्रो राजन्य उच्यते२० वैश्यस्यापि हि यो धर्मस्तन्ते वक्ष्यामि शाश्वतम् दानमध्ययनं यज्ञः शौचेन धनसञ्चयः ॥ २१ ॥ पितृवत् पालयेद्वैश्यो

हैं ॥ १५ ॥ जो क्षत्रिय शरीर घायल होने पर भी रणभूमिमेंसे भाग जाते हैं, उन क्षत्रियोंके कर्मकी पण्डित प्रशंसा नहीं करते हैं ॥ १६ ॥ परन्तु अधम क्षत्रियोंके ही ये कर्म हैं, राजाके लिये चोरोंका नाश करनेके अतिरिक्त दूसरा कोई भी श्रेष्ठ कर्म नहीं है (क्योंकि-उनको वैदिक कर्म करनेका अधिकार नहीं है) १७ जैसे दान, वेदाध्ययन और यज्ञ, ये धर्मकर्म राजाओंके कल्याण करनेवाले हैं, तैसे ही युद्ध भी कल्याण करने वाला है (युद्धके विना राजा अपने राज्यका विस्तार और यज्ञके लिये धन सम्पादन नहीं कर सकता) धर्माचरण करना चाहनेवाले राजाको प्रयत्नपूर्वक युद्ध करना चाहिये ॥ १८ ॥ और राजाको अपने देशकी सब प्रजाको उसके अपने २ धर्ममें स्थापित कर उनसे धर्मके शांति वाले सब काम कराने चाहियें ॥ १९ ॥ राजा प्रजाकी रक्षा करनेसे कृतकृत्य होजाता है राजा सब प्रजाओंका इन्द्र कहाता है, अतः वह प्रजाकी रक्षा करनेके वाद दूसरा काम करे तो ठीक है ? और न करे तो भी ठीक है ॥ २० ॥ अब मैं तुझसे वैश्यके सनातनधर्म कहता हूँ,दान देना, वेदाध्ययन करना यज्ञ करना, पवित्रतासे धर्म सम्पादन करना ॥ २१ ॥ सावधान

युक्तः सर्वान् पशूनिह । विकर्म तद्भवेदन्यत् कर्म यत् स समाचरेत् ॥ २२ ॥ रक्षया स हि तेषां वै महत् सुखमवाप्नुयात् । प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददौ पशून् ॥ २३ ॥ ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः । तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि यच्च तस्योपजीवनम् ॥ २४ ॥ षण्णामेकां पिबेद्धेनुं शताच्च मिथुनं हरेत् । लब्धाच्च सप्तमं भागं तथा शृङ्गे कलाखुरे ॥ २५ ॥ सस्यानां सर्वबीजानामेषा साम्वत्सरी भृतिः । न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति ॥ २६ ॥ वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्याः

होकर सब पशुओंका, पिता जैसे पुत्रका पालन करता है, तैसे पालन करना, वैश्यको अपने वर्णानुसार काम करना चाहिये, दूसरे काम नहीं करने चाहिये, शास्त्रोक्त अपने कर्मसे अतिरिक्त दूसरे कर्म करना विकर्म कहाता है ॥ २२ ॥ वैश्य ढोरोंके रक्षणसे महासुख पाता है, प्रजापतिने पशुओंको उत्पन्न करके वैश्योंको सौंपा है और ब्राह्मण तथा क्षत्रियोंको सारी प्रजा सौंपी है, अब मैं तुमसे वैश्यकी आजीविका कि-जिससे वह अपना निर्वाह करे, यह मैं तुम्हें बताता हूँ ॥२३-२४॥ वैश्य(दूसरेकी) छः गौओंका पालन करे तो उसको एक गौका दूध परिश्रम करने का लेना चाहिये और सौ गौओंकी रक्षा करे तो एक वर्ष भरमें उसमेंसे गौ बैलका एक जोड़ा वेतनके बदले लेना चाहिये दूसरेके धनसे व्यापार करे और उसमेंसे जो धनका लाभ होवे,उस लाभ मेंसे अपना सातवाँ भाग ले,सींगवाले प्राणियोंके व्यापारमेंसे जो लाभ हो उसमें स्वामीसे सातवाँ भागले और उत्तम जातिके खुर वाले (घोड़े, खच्चर आदिके) व्यापारके लाभमेंसे सोलहवाँ भाग ले, दूसरेके पाससे धान्य लेकर बोवे तो उसकी उपजमेंसे सातवाँ भागले यह वार्षिक वेतन समझना चाहिये,वैश्यको पशु पालन न करनेका विचार कभी नहीं करना चाहिये ॥२५-२६॥

कथञ्चन। शूद्रस्यापि हि यो धर्मस्तत्ते वक्ष्यामि भारत ॥ २७ ॥ प्रजापतिर्हि वर्णानां दासं शूद्रमकल्पयत्। तस्माच्छूद्रस्य वर्णानां परिचर्या विधीयते ॥ २८ ॥ तेषां शुश्रूषणाच्चैव महत् सुखमवाप्नुयात्। शूद्र एतान् परिचरेत्त्रीन् वर्णाननुपूर्वशः ॥२९॥ सञ्चयांश्च न कुर्वीत जातु शूद्रः कथञ्चन। पापीयान् हि धनं लब्ध्वा वशे कुर्याद्गरीयसः ॥ ३० ॥ राज्ञा वा समनुज्ञातः कामं कुर्वीत धार्मिकः। तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि यच्च तस्योपजीवनम् ३१ अवश्यं भरणीयो हि वर्णानां शूद्र उच्यते। छत्रं वेष्टनमौशीरमुपानद्व्यजनानि च ॥ ३२ ॥ यातयामानि देयानि शूद्राय परिचारिणे। अधार्याणि विशीर्णानि वसनानि द्विजातिभिः ॥३३॥

और वैश्य जब तक पशुओंकी रक्षा करनेकी इच्छा दिखावे तब तक उसको (राजा) दूसरेको रक्षाका काम न सौंपे, अब हे भरतवंशी राजन्! अब मैं तुझसे शूद्रके धर्म कहता हूँ, उनको तू सुन ॥ २७ ॥ प्रजापतिने शूद्रको तीनों वर्णोंके दासरूपसे उत्पन्न किया है अतः शूद्रको तीनों वर्णोंकी सेवा करना चाहिये ॥२८॥ शूद्र उनकी सेवासे महासुख पाता है, अतः शूद्र तीनों वर्णोंकी सेवा करे॥२९॥शूद्रको किसी दिन भी धनका संग्रह नहीं करना चाहिये, क्योंकि-शूद्र धन मिलनेसे उद्धत होजाता है और वह ब्राह्मणादि श्रेष्ठ पुरुषोंको अपने वशमें करलेता है ॥ ३० ॥ परन्तु राजाज्ञा होने पर धार्मिक शूद्र धर्मकार्य करनेके लिये धन सम्पादन करे अब मैं तुझसे शूद्र जिस कामसे आजीविका चलावे, उसको कहता हूँ ॥३१॥ तीनों वर्णोंको शूद्रका अवश्य ही भरण पोषण करना चाहिये, सेवा करनेवाले शूद्रको द्विज पुरानी छत्री, वल्कल वस्त्र, जूता, पंखा आदि देवें, और न पहिरे जा सकने वाले फटे पुराने वस्त्र देवें, वह शूद्रका धार्मिक धन कहाता है यदि शूद्र द्विजवर्णके पास जाय तो उसकी आजीविका बाँध देनी

शूद्रायैव प्रदेयानि तस्य धर्मधनं हि तत् । यश्च कश्चिद् द्विजातीनां शूद्रः शुश्रूषुराव्रजेत् ॥ ३४ ॥ कल्प्यां तेन तु ते प्राहुर्वृत्तिं धर्मविदो जनाः । देयः पिण्डोऽनपत्याय भर्त्तव्यौ वृद्धदुर्बलौ ॥३५॥ शूद्रेण तु न हातव्यो भर्त्ता कस्याञ्चिदापदि । अतिरेकेण भर्त्तव्यो भर्त्ता द्रव्यपरिक्षये ॥ ३६ ॥ न हि स्वमस्ति शूद्रस्य भर्तृहार्यधनो हि सः । उक्तस्त्रयाणां वर्णानां यज्ञस्तस्य च भारत । स्वाहाकारवषट्कारौ मन्त्रः शूद्रे न विद्यते ॥ ३७ ॥ तस्माच्छूद्रः पाकयज्ञैर्यजेताव्रतवान्स्वयम् । पूर्णपात्रमयीमाहुः पाकयज्ञस्य दक्षिणाम् ॥ ३८ ॥ शूद्रः पैजवनो नाम सहस्राणां शतं ददौ ।

चाहिये, ऐसा धर्मज्ञ पुरुष कहते हैं, अपना स्वामी पुत्ररहित मर जाय तो शूद्र सेवक उसको पिण्डदान दे और अपना स्वामी वृद्ध तथा दुर्बल होजाय तो शूद्र सेवक उसका पोषण करे ३२-३५। शूद्रको चाहे जैसी आपत्ति पडे अपने स्वामीका त्याग न करना चाहिये और धनका नाश होनेपर भी अपने स्वामीको नहीं छोडना चाहिये, परन्तु (अपने कुटुम्बसे भी) अधिक (उत्साहसे) अपने स्वामीका पोषण करना चाहिये शूद्र चाहे जितना धन इकट्ठा करले तो भी वह धन उसका नहीं माना जाता है, क्योंकि–उसके धनका स्वामी उसका स्वामी माना जाता है,हे भरतवंशी राजन् ! तीनों वर्णोंको यज्ञका अधिकार है, परन्तु शूद्रको स्वाहाकार,वषट्कार तथा किसी भी वैदिकमंत्रके उच्चारण करने का अधिकार नहीं है ॥ ३६ ३७ ॥ अतः शूद्र श्रौत व्रत धारण न करे, परन्तु पाकयज्ञोंसे परमात्माका यजन करे,अमन्त्रक ग्रहशान्ति वैश्वदेव आदि करे और उस पाकयज्ञमें (१) पूर्णपात्र

---

(१) आठ मुट्ठी अन्नको किञ्चित कहते हैं, आठ किञ्चितको पुष्कल कहते हैं,चार पुष्कलको एक पूर्णपात्र कहते हैं, एक पूर्णपात्र २५६ मुट्ठीके बराबर होता है ।

ऐंद्राग्नेन विधानेन दक्षिणामिति नः श्रुतम् ॥ ३९ ॥ यतो हि सर्ववर्णानां यज्ञस्तत्रैव भारत। अग्रं सर्वेषु यज्ञेषु श्रद्धायज्ञो विधियते ४० दैवतं हि महच्छुद्धा पवित्रं यजतां च यत् । दैवतं हि परं विप्राः स्वेन स्वेन परस्परम् ॥ ४१ ॥ अयजन्निह सत्रैस्ते तैस्तैः कामैः समाहिताः । संसृष्टा ब्राह्मणैरेव त्रिषु वर्णेषु सृष्टयः ॥ ४२ ॥ देवानामपि ये देवा यद्ब्रूयुस्ते परं हितम् । तस्माद्वर्णैः सर्वयज्ञाः संसृज्यंते न कान्यथा ॥ ४३ ॥ ऋग्यजुःसामवित्पूज्यो नित्यं स्याद्देववद्द्विजः।

दक्षिणा देवे, और पौराणिक मंत्र पढे ऐसा धर्मशास्त्रकार कहते हैं॥३८॥हे महाराज!हमने सुना है कि-पहिले पैजवन नामक शूद्रने इन्द्राग्नेय नामक विधिसे यज्ञ करके एकलाख पूर्णपात्रोंका दान दिया था (१) ॥ ३९ ॥ हे भारत!तीनों वर्णोंके मनुष्य जो यज्ञ करते हैं उसका फल उनके सेवक शूद्रको भी मिलता है, सब यज्ञोंमें श्रद्धारूपी यज्ञ श्रेष्ठ गिना जाता है, यज्ञ करनेवालोंका पवित्र और बडाभारी देवता श्रद्धा है, तैसे ही ब्राह्मण अपने सेवक शूद्रका परम देवता है(अर्थात् ब्राह्मणादि तीनों वर्णोंकी श्रद्धापूर्वक सेवा करनेवाला शूद्रभी अपने स्वामी द्विजके किये हुए यज्ञका फलभागी होता है) ॥ ४०-४१ ॥ वे पृथक्२ कामनाओंको पूरी करनेके लिये सावधान होकर यज्ञ करते हैं, अन्त के तीन वर्ण ब्राह्मणमेंसे उत्पन्न हुए हैं(२)ऐसा तू समझ,ब्राह्मण देवताओंके भी देवता हैं, वे तुझसे जो कहें वह तेरा परम हित है (ब्राह्मण देवताओंके भी देवता हैं) अतः अन्न वर्णोंको सब प्रकारके यज्ञ करनेका स्वाभाविकरीतिमे अधिकार है।४२-४३।

(१) यज्ञमें एकलाख गौ अथवा घोड़ोंका दान दिया जाता है, परन्तु शूद्र यज्ञ करे तो उनके बदलेमें पूर्णपात्र देदे ।

(२) शूद्र अपने स्वामी और उत्पन्न करनेवाले ब्राह्मणके कियेहुए यज्ञोंके फलको पाता है ।

अनृग्यजुरसामा च प्राजापत्य उपद्रवः । यज्ञो मनीषया तात सर्ववर्णेषु भारत ॥४४॥ नास्य यज्ञकृतो देवा ईहंते नेतरे जनाः । ततः सर्वेषु वर्णेषु श्रद्धायज्ञो विधीयते ॥४५॥ स्वं दैवतं ब्राह्मणः स्वेन नित्यं परान्वर्णानयजन्नैव नासीत् । अधरो वितानः संसृष्टो वैश्यो ब्राह्मणस्त्रिषु वर्णेषु यज्ञसृष्टः ॥ ४६ ॥ तस्माद्वर्णा ऋजवो ज्ञातिवर्णा संसृज्यन्ते तस्य विकार एव । एकं साम यजुरेकमृगेका विप्रश्चैको निश्चये तेषु सृष्टः॥४७॥अत्र गाथाः यज्ञगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः । वैखानसानां राजेन्द्र मुनीनां यष्टुमिच्छताम् ४८

ऋग्वेद,सामवेद और यजुर्वेद पढ़नेवाला ब्राह्मण देवताकी समान पूज्य गिना जाता है, शूद्रको ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदका अधिकार नहीं है और उसका इष्ट देवता प्रजापति है,हे भरतवंशी राजन् ! मानसिक यज्ञका सब वर्णोंके पुरुषोंको अधिकार है ॥ ४४ ॥ देवता तथा दूसरे मनुष्य शूद्रके यज्ञोंमें बलिकी कामना न करते हों यह बात नहीं है, अतः सब वर्णोंमें श्रद्धा-पूर्वक किया हुआ यज्ञ उत्तम माना जाता है ॥ ४५ ॥ ब्राह्मण तीनों वर्णोंका देवता मानाजाता है,तैसे ही ब्राह्मण दूसरे वर्णोंके लिये यज्ञ न करते हों, यह बात नहीं है (किन्तु दूसरोंके लिये भी यज्ञ करते हैं)(धनाढ्य) वैश्यके घरमेंसे लाया हुआ "वितान" नामक अग्नि मंत्रोंसे अभिमंत्रित होने पर भी अधम माना जाता है, अतएव ब्राह्मण दूसरे तीनोंवर्णोंका यज्ञकर्त्ता माना जाता है ॥ ४६ ॥ अतः चारों वर्ण पवित्र हैं, वे चारों वर्ण ब्राह्मणसे उत्पन्न होनेसे परस्पर संबन्धी हैं, सृष्टिके आरम्भमें जैसे एक साम था एक यजुष् था और एक ऋक् था, तैसे ही सब वर्णों में एक ब्राह्मण वर्ण ही था (और उसमेंसे चारों वर्णोंकी उत्पत्ति हुई है) ॥४७। हे राजन्!प्राचीन इतिहास जाननेवाले पण्डितों ने इस विषयमें यज्ञ करनेकी इच्छावाले वैखानस मुनियोंके यज्ञ

उदितेऽनुदिते वापि श्रद्दधानो जितेन्द्रियः । वह्निं जुहोति धर्मेण श्रद्धा वै कारणं महत् ॥ ४९ ॥ यत्स्कन्नमस्य तत्पूर्वं यदस्कन्नं तदुत्तरम् । बहूनि यज्ञरूपाणि नानाधर्मफलानि च ॥५०॥ तानि यः संप्रजानाति ज्ञाननिश्चयनिश्चितः । द्विजातिः श्रद्धयोपेतः स यष्टुं पुरुषोऽर्हति ॥५१॥ स्तेनो वा यदि वा पापो यदि वा पापकृत्तमः । यष्टुमिच्छति यज्ञं यः साधुमेव वदन्ति तम् ॥५२॥ ऋषयस्तं प्रशंसन्ति साधु चैतदसंशयम् । सर्वथा सर्वदा वर्णैर्यष्टव्यमिति निर्णयः । नहि यज्ञसमं किञ्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥५३॥ तस्मा-

---

के समय विष्णुकी कही हुई यज्ञकी स्तुतिरूप कितनी ही गाथाएँ गाई थीं, उनको तू सुन ॥ ४८ ॥ प्रातःकालमें, मध्याह्नमें और सायङ्कालमें श्रद्धालु और जितेन्द्रिय पुरुष जो अग्निमें आहुति देता है, उसका कारण केवल बड़ी भारी श्रद्धा ही है. ॥ ४९ ॥ (बह्वच ब्राह्मणमें जो सोलह प्रकारके अग्निहोत्र कहे हैं, उनमें) जो स्कन्न (मस्त्) दैवत है, वह साधारण माना जाता है और अस्कन्न (अर्थात् विधिपूर्वक होमनेमें आने वाला) उत्तम कहाता है, जो पुरुष अग्निहोत्र आदि अनेक फल देने वाले यज्ञोंको जानता है और जिसने ज्ञानसे आत्मस्वरूपको पहिचान लिया है तथा जो श्रद्धालु है, वह द्विज जातिका पुरुष यज्ञ करनेके योग्य माना जाता है ॥ ५०-५१ ॥ चोर, पापी अथवा महापापी होने पर भी जो पुरुष यज्ञपरमात्माका यजन करनेकी इच्छा करता है, उसको ही महात्मा साधु पुरुष कहते हैं ॥५२॥ ऋषि भी उसकी ही प्रशंसा करते हैं, वही साधु है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है, सब वर्णोंको सदा निश्चयपूर्वक यज्ञ करना चाहिये ऐसा निश्चय होता है; तीनों लोकोंमें यज्ञकी समान कोई भी धर्म नहीं है।५३।

अद्रुव्यमित्याहुः पुरुषेणानसूयता । श्रद्धापवित्रमाश्रित्य यथाशक्ति-
यथेच्छया ॥ ५४ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि
वर्णाश्रमधर्मकथने षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

भीष्म उवाच । आश्रमाणां महाबाहो शृणु सत्यपराक्रम ।
चतुर्णामपि नामानि कर्माणि च युधिष्ठिर ॥१॥ वानप्रस्थं भैक्ष्य-
चर्य्यं गार्हस्थ्यं च महाश्रमम् । ब्रह्मचर्याश्रमं प्राहुश्चतुर्थं ब्राह्मणै-
र्वृतम् ॥ २ ॥ जटाधरणसंस्कारं द्विजातित्वमवाप्य च । आधा-
नादीनि कर्माणि प्राप्य वेदमधीत्य च ॥ ३ ॥ सदारो वाप्यदारो
वा आत्मवान् संयतेन्द्रियः । वानप्रस्थाश्रमं गच्छेत् कृतकृत्यो गृहा-
श्रमात् ॥४॥ तत्रारण्यकशास्त्राणि समधीत्य स धर्मवित् । ऊर्ध्व-

इसलिये पुरुषको ईर्षारहित होकर श्रद्धासे पवित्र होकर शक्ति तथा इच्छानुसार यज्ञ करना चाहिये ऐसा महात्मा कहते हैं ॥ ५४ ॥ साठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ६० ॥ छ छ छ

भीष्म बोले कि—हे महाभुज और सत्यपराक्रमी ! अब चारों आश्रमोंके नामोंको और कर्मोंको मैं कहता हूँ तू सुन ॥ १ ॥ ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यास ये चार आश्रम हैं, इनमें चौथा संन्यासाश्रम ब्राह्मणोंसे घिरा हुआ है (अर्थात् उसको ब्राह्मण ही धारण करते हैं) इन चारों आश्रमोंमें गृहस्थाश्रम महान् आश्रम गिना जाता है ॥ २ ॥ द्विज जाति संस्कार होनेके पीछे मस्तक पर जटा रखावे, वेदाध्ययन, करे, विवाह करके अग्निका आधान लेकर धर्म कर्म करे, फिर गृहस्थाश्रमके सब धर्मोंको पाल कर कृतकृत्य होवे, फिर (तीनों ऋण—देव, ऋषि और पितरोंके ऋणको पूर्ण करने के पीछे) जितेन्द्रिय और आत्मज्ञानी होकर स्त्रीके साथ अथवा स्त्रीरहित अकेला वानप्रस्थाश्रम स्वीकार करे ॥ ३–४ ॥ इस

रेताः प्रव्रजित्वा गच्छत्यक्षरसात्मताम् ॥ ५ ॥ एतान्येव निमित्तानि मुनीनामूर्ध्वरेतसाम् । कर्त्तव्यानीह विप्रेण राजन्नादौ विपश्चिता ॥ ६ ॥ चरितब्रह्मचर्य्यस्य ब्राह्मणस्य विशाम्पते । भैक्ष्यचर्य्यास्वधीकारः प्रशस्त इह मोक्षिणः ॥ ७ ॥ यत्रास्तमितशायी स्यान्निराशीरनिकेतनः । यथोपलब्धजीवी स्यान्मुनिर्दान्तो जितेन्द्रियः ॥ ८ ॥ निराशीः स्यात्सर्वसमो निर्भोगो निर्विकारवान् । विप्रः क्षेमाश्रमं प्राप्तो गच्छत्यक्षरसात्मताम् ॥९॥ अधीत्य वेदान् कृतसर्वकृत्यः सन्तानमुत्पाद्य सुखानि भुक्त्वा । समाहितः प्रचरेद्

आश्रममें धर्मवेत्ता पुरुषको आरण्यक–(वानप्रस्थ आश्रमके धर्म जिनमें वर्णन किये हों ऐसे) शास्त्र पढ़ना चाहियें और ब्रह्मचर्य व्रतको पालकर फिर संन्यासाश्रममें प्रवेश करना चाहिये, कि–जिससे कैवल्यमोक्ष मिले ॥ ५ ॥ हे राजन् ! ब्रह्मचर्य व्रत पालने वाले विद्वान् मुनियोंको उक्त कर्म सबसे पहिले करना चाहिये।६। हे राजन् ! मोक्ष चाहनेवाले ब्राह्मणको ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने के पीछे संन्यासाश्रमका अधिकार श्रेष्ठ कहा है ॥ ७ ॥ संन्यासी को जहाँ सूर्यास्त हो जाय तहाँ रात्रिभर रहना चाहिये, तहाँ ही शयन करना चाहिये, सब कामनाओंको छोड देना चाहिये, घर वार रहित होना चाहिये, जो दैवेच्छासे मिले उसपर आजीविका चलानी चाहिये, पवित्र रहना चाहिये, मन और इन्द्रियोंको नियममें रखना चाहिये ॥ ८ ॥ आशामात्रको त्याग देना चाहिये, सबके साथ समानभावसे वर्त्ताव करना चाहिये, भोगोंका त्याग करना चाहिये, काम, संकल्प आदि विकारोंसे दूर रहना चाहिये, इस प्रकार संन्यासाश्रमके धर्म पालने चाहिये, इस प्रकार वर्त्ताव करने वाला ब्राह्मण मुक्ति पाता है ॥ ९ ॥ पुरुषको विधिपूर्वक वेद पढ़ना चाहिये धर्मके सब कार्य करने चाहियें शास्त्रोक्त विधिसे विवाह कर सन्तान उत्पन्न करना चाहिये, सुख भोगने चाहियें,

दुश्चरं यो गार्हस्थ्यधर्मं मुनिधर्मजुष्टम् ॥१०॥स्वदाररतुष्टस्त्वृतुकालगामी नियोगसेवी न शठो न जिह्मः । मिताशनो देवरतः कृतज्ञः सत्यो मृदुश्चानृशंसः क्षमावान् ॥ ११ ॥ दान्तोविधेयो हव्यकव्यप्रमत्तो ह्यन्नस्य दाता सततं द्विजेभ्यः । अमत्सरी सर्वलिङ्गप्रदाना वैतानित्यश्च गृहाश्रमी स्यात् ॥१२॥ अथात्र नारायणगीतमाहुर्महर्षयस्तात महानुभावाः । महार्थमत्यन्ततपःप्रयुक्तं तदुच्यमानं हि मया निबोध ॥ १३ ॥ सत्याऽऽर्जवं चातिथिपूजनं च धर्मस्तथार्थश्च रतिः स्वदारैः । निषेवितव्यानि सुखानि लोके

मनको सावधान रखना चाहिये, और महाकठिन मुनियोंके धर्मसे युक्त गृहस्थाश्रमका आचरण करना चाहिये ॥ १० ॥ ऋतुकालमें (रजोदर्शन पूर्ण होनेके पीछे बारह दिनोंमें पर्वके दिनोंको छोडकर) स्त्रीसमागम करना चाहिये, शास्त्रोक्त आज्ञाका पालन करना चाहिये, सरलस्वभाव और शुद्ध रहना चाहिये मिताहारी रहना चाहिये, देवसेवा परायण होना चाहिये, करेहुए उपकारको जानना चाहिये, सत्यवादी, कोमल, दयालु और क्षमाशील रहना चाहिये, इन्द्रियोंका निग्रह करना चाहिये, शास्त्र और गुरुकी आज्ञा पालनी चाहिये, पितर और देवताओंको श्राद्ध और यज्ञमें विधिपूर्वक बलिदान देना चाहिये, ब्राह्मणको नित्य अन्नका दान देना चाहिये, सब आश्रमोंके पुरुषोंको अन्नका दान देना चाहिये नित्य श्रौत तथा स्मार्त वर्ताव करनेवाला गृहस्थाश्रमी पुरुष मुक्तिको पाता है ॥ ११-१२ ॥ हे तात ! महाप्रभाव वाले महर्षियोंने गंभीर, विषयसे भरपूर, बडीभारी तपस्या वाली नारायणकी कही हुई जो बात कही है, उसको मैं तुझसे कहता हूँ, उसको तू सुन ॥ १३ ॥ गृहस्थको सत्यभाषण करना चाहिये सरलता रखनी चाहिये, अतिथियोंका पूजन करना चाहिये, धर्म तथा अर्थका संपादन करना चाहिये, अपनी धर्मपत्नीके साथ रति-

ह्यस्मिन् परे चैव मतं ममैतत् ॥ १४ ॥ भरणं पुत्रदाराणां वेदानां धारणं तथा । वसतामाश्रमं श्रेष्ठं वदन्ति परमर्षयः ॥ १५ ॥ एवं हि यो ब्राह्मणो यज्ञशीलो गार्हस्थ्यमध्यावसते यथावत् । गृहस्थवृत्तिं प्रविशोध्य सम्यक् स्वर्गे विशुद्धं फलमाप्नुते सः ॥ १६ ॥ तस्य देहपरित्यागादिष्टाः कामाक्षया मताः । आनन्त्यायोपतिष्ठन्ति सर्वतोक्षिशिरोमुखाः ॥ १७ ॥ स्मरन्नेको जपन्नेकः सर्वानेको युधिष्ठिर । एकस्मिन्नेव चाचार्ये शुश्रूषुर्मलपङ्कवान् ॥१८॥ ब्रह्मचारी व्रती नित्यं नित्यं दीक्षापरो वशी । प्रविचार्य तथा वेदं

क्रीड़ा करना और इस लोक तथा परलोकके सुख भोगना, यह मेरा मत है ॥ १४ ॥ पुत्रोंका तथा स्त्रियोंका पोषण करना गृहस्थका परमधर्म है, ऐसा महर्षि कहते हैं ॥ १५ ॥ यज्ञ, याग करने वाला जो ब्राह्मण शास्त्रविधिके अनुसार गृहस्थाश्रमके धर्म पालता है और न्यायसे मिले हुए धनसे अपनी आजीविका चलाता है, उसको स्वर्गमें उत्तम फल मिलता है ॥ १६ ॥ इतना ही नहीं, परन्तु धर्मनिष्ठ गृहस्थ यदि देहाभिमानसे रहित होता है तो उसकी अविनाशी सब कामनाएँ, जिस समय और जिस स्थान पर वह चाहता है उस समय और उस स्थान पर उसकी इच्छानुसार सफल होती हैं ॥ १७ ॥ ब्रह्मचर्याश्रममें रहनेवाले द्विजको सदा वेदका अध्ययन करना चाहिये, गुरुसे प्राप्त हुए मंत्रका आवर्तन करना चाहिये, सब देवताओंकी उपासना करनी चाहिये, अपना शरीर मरोड़ी और मैल भरा हुआ होने पर भी उसकी अपेक्षा न करे अपने गुरुकी सेवा करनेमें अतीव आसक्ति रखनी चाहिये, इस प्रकार इन्द्रियोंका दमन करके (ब्रह्मचारीके लिये कहे हुए) कठिन व्रतोंका उसको पालन करना चाहिये, वैसे ही जो कुछ उपदेश उसने प्राप्त किया हो, उसका पूरी रीतिसे मनन करना चाहिये, नित्य वेदोक्त संध्या वन्दनादि

कृत्यं कुर्वन् वसेत्सदा ॥१६॥ शुश्रूषां सततं कुर्वन् गुरोः सम्प्रण-मेत च । षट्कर्म्मसु निवृत्तश्च न प्रवृत्तश्च सर्वशः ॥ २० ॥ न चरत्यधिकारेण सेवेत द्विषतो न च । एषोश्रमपदस्तात ब्रह्मचारिण इष्यते ॥ २१ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि
वर्णाश्रमधर्मकथने एकषष्टितमोऽध्यायः ॥६१॥

युधिष्ठिर उवाच । शिवान् सुखान् महोदर्कानहिंस्रान् लोक-सम्मतान् । ब्रूहि धर्मान् सुखोपायान् मद्विधानां सुखावहान् ॥१॥ भीष्म उवाच । ब्राह्मणस्य तु चत्वारस्त्वाश्रमा विहिताः प्रभो । वर्णास्तान्नानुवर्त्तन्ते त्रयो भरतसत्तम ॥ २ ॥ उक्तानि कर्माणि बहूनि राजन् स्वर्ग्याणि राज्यपरायणानि ।

कर्म करना चाहिये, निरंतर गुरुकी सेवा करनी चाहिये, उनको प्रणाम करना चाहिये, स्नान, संध्या, जप, होम, स्वाध्याय और अतिथिपूजन ये छः कर्म निष्काम–भावसे करने चाहियें, प्रवृत्तिमें सदा आसक्त नहीं रहना चाहिये, शत्रुओंके ऊपर दण्ड देनेका और अनुग्रह करनेका अधिकार स्वीकृत नहीं करना चाहिये तथा शत्रुओंकी सेवा नहीं करनी चाहिये, हे तात ! ये ब्रह्मचर्याश्रमके धर्म मैंने तुमसे कहे ॥ १८–२१ ॥ इकसठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ६१ ॥ छ ॥ छ

राजा युधिष्ठिरने बूझा कि–हे पितामह ! कल्याणकारक सुखरूप, बडा भारी पुण्यफल देनेवाले, हिंसारहित, लोकोंमें माननीय माने जाने वाले, सुखके उपायरूप और हम सरीखोंको सुख देनेवाले धर्मोंको तुम कहो ॥ १ ॥ भीष्मने कहा कि—हे भरतवंशमें श्रेष्ठ राजन् ! धर्मशास्त्र में ब्राह्मण के लिये चार आश्रम कहे हैं, दूसरे तीन वर्ण चारों आश्रमोंके अधिकारी नहीं हैं, परन्तु तीन आश्रमोंके अधिकारी हैं ॥ २ ॥

नेमानि दृष्टान्तविधौ स्मृतानि क्षात्रे हि सर्वं विहितं यथावत् ॥३॥ क्षात्राणि वैश्यानि च सेवमानः शौद्राणि कर्माणि च ब्राह्मणः सन्। अस्मिँल्लोके निन्दितो मन्दचेताः परे च लोके निरयं प्रयाति ॥ ४ ॥ या संज्ञा विहिता लोके दासे शुनि वृके पशौ। विकर्मणि स्थिते विप्रे सैव संज्ञा च पाण्डव ॥ ५ ॥ षट्कर्मसंप्रवृत्तस्य आश्रमेषु चतुर्ष्वपि। सर्वधर्मोपपन्नस्य संवृतस्य कृतात्मनः ॥ ६ ॥ ब्राह्मणस्य विशुद्धस्य तपस्यभिरतस्य च। निराशिषो वदान्यस्य लोका ह्यक्षरसंमिताः ॥ ७ ॥ यो यस्मिन् कुरुते कर्म यादृशं येन यत्र च। तादृशं तादृशेनैव सगुणं प्रतिप-

हे राजन् ! राजाके धर्मके योग्य, स्वर्गमें लेजानेवाले बहुतसे कृत्योंका वर्णन करनेमें आया है, परन्तु वे कृत्य तेरी इस समयकी शंकासे सम्बन्ध नहीं रखते हैं, वे सब कृत्य, जो क्षत्रिय विनयसे युक्त हैं, उनके लिये ही कहे हैं ॥ ३ ॥ जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्म करता है, वह मूढबुद्धि पुरुष इस लोकमें निन्दाका पात्र होता है और मरनेके पीछे नरकमें पड़ता है ॥ ४ ॥ हे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ! इस जगत्में दास का, श्वानका, वृकका और पशुका जो नाम है वस ही नामसे अधमकर्म करनेवाले ब्राह्मणको पहिचानना चाहिये ॥ ५ ॥ जो ब्राह्मण नित्य प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, तर्क और समाधि-इन षट्कर्मोंमें परायण रहता है, चारों आश्रमोंके उत्तम धर्मोंको उत्तरोत्तर प्राप्त करके उनका आचरण करता है, सब धर्मोंसे युक्त होता है, धर्मसे रक्षित होता है, कृतकृत्य होता है, शुद्ध अन्तःकरणका होता है, तपःपरायण होता है, कामनारहित और उदार मनका होता है, उसको अविनाशी लोक (मोक्ष) का लाभ होता है ॥ ६-७ ॥ पुरुष जिस अवस्थामें, जिस समय और जिस स्थानमें, जिस कारणके लिये (भला अथवा बुरा)

यते ॥ ८ ॥ वृद्ध्या कृषिवणिक्त्वेन जीवसञ्जीवनेन च । वेत्तु-
मर्हसि राजेन्द्र स्वाध्यायगणितं महत् ॥ ९ ॥ कालसञ्चोदितो
लोकः कालपर्यायनिश्चितः । उत्तमाधममध्यानि कर्माणि कुरुतेऽ-
वशः ॥ १० ॥ अन्तवन्ति प्रधानानि पुरा श्रेयस्कराणि च । स्व-
कर्मनिरतो लोको ह्यक्षरः सर्वतोमुखः ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि
वर्णाश्रमधर्मकथने द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥६२॥

भीष्म उवाच । ज्याकर्षणं शत्रुनिबर्हणञ्च कृषिर्वणिज्या
पशुपालनञ्च । शुश्रूषणञ्चापि तथार्थहेतोरकार्यमेतत् परमं द्विज-
स्य ॥ १ ॥ सेव्यन्तु ब्रह्मषट्कर्म गृहस्थेन मनीषिणः । कृत-

कर्म करता है, उस कर्मका फल, उसके कर्ताको नियमानुसार
मिलता है ॥ ८ ॥ इसलिये तुम्हें वेदाभ्यास करना चाहिये,
हे राजेन्द्र ! व्याज बट्टा चलाना, खेतीबाड़ी करना, व्यापार
करना, शिकार खेलना, ये बहुतसे आजीविकाके साधन हैं और
वह सब समान हैं, ऐसा तुम्हें समझना चाहिये॥९॥मनुष्य कालके
अधीन है, वह पूर्व जन्मकी वासनाके अधीन रहकर कालकी
प्रेरणासे उत्तम, मध्यम और अधमकर्म करता है ॥१०॥ पहिले
जन्ममें कियेहुए पाप पुण्य देहको उत्पन्न करते हैं और देहके
साथ ही नाश पाते हैं और जीव अविनाशी तथा सर्वत्र व्यापक
है,वह अपने वाञ्छित रागादि विषयोंमें परायण रहता है॥११॥
बासठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ६२ ॥ छ ॥ छ

भीष्म कहते हैं कि-हे राजा युधिष्ठिर ! धनुषकी डोरीको
खैंचना, शत्रुका निग्रह करना, कृषि करना, व्यापार करना,
पशुओंको पालना और धनके लिये दूसरोंकी सेवा करना, यह
काम ब्राह्मणके लिये अकार्य मानेगए हैं ॥ १॥ बुद्धिमान् ब्राह्मण
गृहस्थ सदा अपने षट्कर्म करे और कृतकृत्य होकर अन्तमें

कृत्यस्य चारण्ये वासो विप्रस्य शस्यते ॥ २ ॥ राजप्रेष्यं कृषिधन
जीवनञ्च वणिक्पथः । कौटिल्यं कौलटेयञ्च कुसीदञ्च विवर्जयेत्३
शूद्रो राजन् भवति ब्रह्मबन्धुर्दुश्चारित्रो यश्च धर्मादपेतः । वृष-
लीपतिः पिशुनो नर्त्तनश्च राजप्रेष्यो यश्च भवेद्विकर्मा ॥ ४ ॥
जपन् वेदानजपंश्चापि राजन् समः शूद्रैर्दासवच्चापि भोज्यः ।
एते सर्वे शूद्रसमा भवन्ति राजन्नेतान् वर्जयेद्देवकृत्ये ॥ ५ ॥
निर्मर्यादे चाशुचौ क्रूरवृत्तौ हिंसात्मके त्यक्तधर्मस्ववृत्ते । हव्यं
कव्यं यानि चान्यानि राजन् देयान्यदेयानि भवन्ति चास्मै ॥६॥
तस्माद्धर्मो विहितो ब्राह्मणस्य दमः शौचमार्जवञ्चापि राजन् ।

संन्यास ले वनमें वसे, यह वर्त्ताव ब्राह्मणोंके सम्बन्धमें श्रेष्ठ गिनाजाता है ॥ २ ॥ राजाका दासत्व, खेतीका धन, व्यापारसे आजीविका, कुटिलता, अपनी पत्नीके सिवाय दूसरेकी स्त्रीसे सहवास, व्याज वट्टा—यह सब काम ब्राह्मणके लिये वर्ज्य कहे हैं ॥ ३ ॥ हे राजन् ! दुश्चरित्रवाला धर्मरहित, वृषलीपति, नट, राजाका दास तथा अधमकर्म करनेवाला ब्राह्मण अधम ब्राह्मण है वह ब्राह्मण नहीं है, परन्तु शूद्र ही है॥४॥हे राजन् ! वह वेदको पढे या न पढे तो भी उसको शूद्रकी समान जानना चाहिये और उसको शूद्रकी पंक्तिमें बिठाकर जिमाना चाहिये, हे राजन् ! (राजाका दासत्व आदि करनेवाले सकल) ब्राह्मणोंको शूद्रकी समान जानना चाहिये, उनको देवपूजनमें, यज्ञयागमें सम्मिलित नहीं करना चाहिये, हे राजन् ! जो ब्राह्मण मर्यादारहित होता है, अपवित्र होता है क्रूरवृत्तिवाला होता है, हिंसाविहारी होता है, स्वधर्मका तथा अपने सदाचारका त्याग करनेवाला होता है उसको हव्य कव्य नहीं देना चाहिये, श्राद्ध अथवा यज्ञमें भोजन नहीं कराना चाहिये, उनको दिये हुए हव्य कव्य नहीं दियेहुएके बराबर हैं ॥ ५ ॥ ६ ॥ हे राजन् ! पहिले ब्रह्मा

तथा विप्रस्याश्रमाः सर्व एव पुरा राजन् ब्रह्मणा वै निसृष्टाः ७
यः स्याद्दान्तः सोमपश्चार्यशीलः सानुक्रोशः सर्वसहो निराशीः ।
ऋजुर्मृदुरनृशंसः क्षमावान् स वै विप्रो नेतरः पापकर्मा ॥ ८ ॥
शूद्रं वैश्यं राजपुत्रञ्च राजन् लोकाः सर्वे संश्रिता धर्मकामाः ।
तस्माद्वर्णान् शान्तिधर्मेण्वशक्तान् मत्वा विष्णुर्नेच्छति पाण्डुपुत्र ९
लोके चेदं सर्वलोकस्य न स्याच्चातुर्वर्ण्यं वेदवादाश्च न स्युः ।
सर्वाश्चेज्याः सर्वलोकक्रियाश्च सद्यः सर्वे चाश्रमस्था न वै स्युः १०
यश्च त्रयाणां वर्णानामिच्छेदाश्रमसेवनम् । चातुराश्रम्यदृष्टांश्च

ने चारों आश्रम बनाये, उनमें दम, शौच (भीतरी और बाहरी पवित्रता) और सरलता ब्राह्मणके लिए ही रची है ॥ ७ ॥ जो ब्राह्मण इन्द्रियोंको नियममें रखनेवाला, सोमयज्ञ करके सोम का पान करनेवाला, आर्य, उत्तम स्वभाववाला, दयाशील, सुख दुःखको सहनेवाला, फलकी इच्छासे रहित, सरल, मृदु, क्रूरतारहित और क्षमावान् होता है, उसको ब्राह्मण जानना चाहिये ! परन्तु इसके विपरीत वर्ताव करनेवाले और पापकर्म करनेवाले ब्राह्मणको ब्राह्मण नहीं जानना चाहिये॥८॥ धर्माचरण करनेवाले सब मनुष्य क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रका आश्रय लेकर धर्माचरण करते हैं, परन्तु हे युधिष्ठिर ! जो मनुष्य शांतिधर्मसे रहित होते हैं, उनके ऊपर विष्णु प्रसन्न नहीं होते हैं ॥ ९ ॥ विष्णुके प्रसन्न न होनेके कारण, इस जगत्में प्रजाके चार वर्ण-विभागोंका नाश होजाता है, वेदाध्ययन भी बन्द होजाता है, सब प्रकारके यज्ञ याग, सब लौकिक क्रियायें और आश्रम भी नष्ट होजाते हैं (अर्थात् विष्णुके प्रसादसे ही स्वर्गादि सुख मिलते हैं, परन्तु उनकी कृपाके बिना हुए कियेहुए कर्म निष्फल जाते हैं) ॥ १० ॥ हे राजन् ! जो राजा अपने राज्यमें बसने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन वर्णोंको आश्रमोंके धर्म

धर्मांस्ताञ्छृणु पाण्डव ॥ ११ ॥ शुश्रूषोः कृतकार्यस्य कृतसंतान-कर्मणः । अभ्यनुज्ञातराजस्य शूद्रस्य जगतीपते ॥ १२ ॥ अल्पान्तरगतस्यापि दशधर्मगतस्य वा । आश्रमा विहिताः सर्वे वर्जयित्वा निराशिषम् ॥ १३ ॥ भैक्ष्यचर्यां ततः प्राहुस्तस्य तद्धर्मचारिणः । तथा वैश्यस्य राजेन्द्र राजपुत्रस्य चैव हि ॥ १४ ॥ कृतकृत्यो वयोतीतो राज्ञः कृतपरिश्रमः । वैश्यो गच्छेदनुज्ञातो नृपेणाश्रमसंश्रयम् ॥ १५ ॥ वेदानधीत्य धर्मेण राजशास्त्राणि चानघ । सन्तानादीनि कर्माणि कृत्वा सोमं निषेव्य च ॥ १६ ॥

पलवानेकी इच्छा रखता हो, तो उस राजाको चारों आश्रमोंके धर्मोंको अवश्य जानना चाहिये, वे धर्म मैं तुझसे कहता हूँ, तू सुन ॥११॥ वेदान्तशास्त्रके श्रवणका अनधिकारी होनेसे पुराण द्वारा अपने स्वरूपको जाननेकी इच्छा रखनेवाला, अपने शरीर की शक्तिके अनुसार तीनों वर्णोंकी सेवा करनेवाला, पुत्रवान्, आचार पालनेमें तीनों वर्णोंके समान और योगधर्मको न जानने वाले शूद्रको सब आश्रमोंके धर्म पालनेका अधिकार है परन्तु वह राजाज्ञाके बिना संन्यास नहीं लेसकता * ॥ १२-१३ ॥ हे राजेन्द्र ! शूद्रको भी चतुर्थाश्रमका सेवन करना शास्त्रमें कहा है और क्षत्रिय तथा वैश्यको भी कहा है ॥१४॥ वृद्ध हुआ वैश्य जब परिश्रमके साथ पशुपालन करके कृतकृत्य होजाय तब उसको भी राजाज्ञासे उत्तरोत्तर आश्रमधर्मोंका सेवन करना चाहिए।१५। हे निर्दोष युधिष्ठिर!राजाको वेद और राजधर्मसे भरेहुए शास्त्रों का अध्ययन करके संतान उत्पन्न करना चाहिए,सोमयज्ञ करना

---

* अर्थात् शूद्रको भी ब्रह्मचर्य,वानप्रस्थ तथा सकल विक्षेपके कर्म जिसमें त्याग दिए जाते हैं तथा शांति दान्त्यादि कल्याणगुण से रहित सादे संन्यासाश्रमका अर्थात् स्त्रीकी समान अलिङ्ग संन्यास धारण करनेका अधिकार है।

पालयित्वा प्रजाः सर्वा धर्मेण वदतां वर । राजसूयाश्वमेधादीन्
मखानन्यांस्तथैव च ॥ १७ ॥ आनयित्वा यथापाठं विप्रेभ्यो दत्त-
दक्षिणः । संग्रामे विजयं प्राप्य तथाल्पं यदि वा बहु ॥ १८ ॥
स्थापयित्वा प्रजापालं पुत्रं राज्ये च पाण्डव । अन्यगोत्रं प्रशस्तं
वा क्षत्रियं क्षत्रियर्षभ ॥ १९ ॥ अर्चयित्वा पितॄन् सम्यक् पितृ-
यज्ञैर्यथाविधि । देवान् यज्ञैर्ऋषीन् वेदैरर्चयित्वा तु यत्नतः २०
अन्तकाले च संप्राप्ते य इच्छेदाश्रमान्तरम् । सोऽनुपूर्व्याश्रमान्
राजन् गत्वा सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ २१ ॥ राजर्षित्वेन राजेन्द्र
भैक्ष्यं चर्यानसेवया । अपेतगृहधर्मोऽपि चरेज्जीवितकाम्यया ।२२।

चाहिए सकल प्रजाका धर्मसे पालन करना चाहिए, राजसूय और अश्वमेध यज्ञ करने चाहिए तथा दूसरे भी यज्ञ करने चाहियें वेद तथा शास्त्रके अनुसार देवता तथा ब्राह्मणोंको निमंत्रण देकर उनका पूजन करना चाहिये ब्राह्मणोंको शास्त्रानुसार दक्षिणा देनी चाहिए, युद्ध करके छोटी या बड़ी विजय पानी चाहिए, राज्यमें प्रजाका पालन करनेवाले पुत्रको गद्दी देना चाहिए (अपना पुत्र योग्य न हो तो)दूसरेके गोत्रमेंसे अथवा उत्तम कुलके क्षत्रियको (दत्तक) लेकर अपनी राजगद्दी पर बिठाना चाहिए॥१६-१६॥ पितृयज्ञोंसे अर्थात् श्राद्धोंसे पितरोंका विधिपूर्वक पूजन करे, यज्ञयाग करके देवताओंका पूजन करे और वेदाध्ययन करके ऋषियोंको प्रयत्नपूर्वक तृप्त करे और अन्तकालका समय प्राप्त हो तो उत्तरोत्तर वानप्रस्थ संन्यास आदि आश्रमोंमें रहकर धर्मचरण करे तो हे राजा युधिष्ठिर ! वह राजा मोक्षको पाता है ॥ २० ॥ २१ ॥ हे राजेन्द्र ! क्षत्रियको गृहस्थाश्रमके धर्मोंका त्याग करनेके पीछे अपनेको राजर्षि न मानकर संन्यासीका धर्म पालनेके लिये, केवल जीवनकी रक्षाके योग्य भिक्षावृत्तिका अवलम्बन करना चाहिये, परन्तु भोगोंकी अभिलाषासे ऐसी

न चैनन्नैष्ठिकं धर्ममं त्रयाणां भूरिदक्षिण। चतुर्णां राजशार्दूल प्राहुराश्रमवासिनाम् ॥ २३ ॥ बाह्वायत्तं क्षत्रियैर्मानवानां लोकश्रेष्ठं धर्ममासेवमानैः। सर्वे धर्माः सोपधर्मास्त्रयाणां राज्ञो धर्मादिति वेदात् शृणोमि ॥ २४ ॥ यथा राजन् हस्तिपदे पदानि संलीयन्ते सर्वसत्त्वोद्भवानि। एवं धर्मान्राजधर्मेषु सर्वान् सर्वावस्थं सम्प्रलीनान्निबोध ॥ २५ ॥ अल्पाश्रयानल्पफलान् वदन्ति धर्मानन्यान् धर्मविदो मनुष्याः। महाश्रयं बहुकल्याणरूपं क्षात्रं धर्मं नेतरं प्राहुरार्याः ॥ २६ ॥ सर्वे धर्मा राजधर्मप्रधानाः सर्वे वर्णाः पाल्यमाना भवन्ति। सर्वस्त्यागो राजधर्मेषु राजंस्त्यागं धर्मञ्चाहुरग्र्यं पुराणम् २७ मज्जेत्त्रयी दण्डनीतौ हतायां सर्वे धर्माः

वृत्तिका अवलम्बन नहीं करना चाहिए ॥ २२ ॥ हे बडीभारी दक्षिणा देनेवाले राजन्! क्षत्रिय आदि तीन वर्णोंको संन्यासाश्रम अवश्य धारण करना चाहिये, ऐसी कोई (कर्त्तव्यरूप) आज्ञा नहीं है; हे राजसिंह! यदि उनकी इच्छा हो तो उनको चारों आश्रमोंके धर्मोंका आचरण करना चाहिए (और इच्छा न होवे तो अपने लिए शास्त्रमें कहेहुए ही धर्मका आचरण करना चाहिये) ॥ २३ ॥ यह सकल जगत् क्षत्रियोंकी भुजाओं के आधार पर टिकाहुआ है, ऐसा वेदका कथन मेरे सुननेमें आया है ॥ २४ ॥ हे राजन्! जैसे सब प्राणियोंके पैर हाथीके पैरमें आजाते हैं, तैसे ही सब धर्मोंका राजधर्ममें समावेश हो जाता है ॥ २५ ॥ धर्मवेत्ता पुरुष दूसरे धर्मोंको अल्प आश्रय वाले और अल्प फल देनेवाले कहते हैं परन्तु राजधर्मको तो महान् आश्रयवाला और महाफल देनेवाला कहते हैं ॥ २६ ॥ राजधर्ममें सब प्रकारके दानोंका समावेश होजाता है और दान रूपी धर्म सब धर्मोंमें श्रेष्ठ तथा पुराणधर्म कहनेमें आता है, अतः सब वर्णोंका जिसमें पालन होता है ऐसे राजधर्मको सब

प्रजहेयुर्विहीनाः सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युः क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे ॥२८॥ सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु चोक्ताः ॥ सर्वा विद्या राजधर्मेषु युक्ताः सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः ॥२९॥ यथा जीवाः प्राकृतैर्वध्यमाना धर्मश्रुतानामुपपीडनाय । एवं धर्मा राजधर्मैर्वियुक्ताः सञ्चिन्वन्तो नाद्रियन्ते स्वधर्मम् ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि

वर्णाश्रमधर्मकथने त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

भीष्म उवाच । चातुराश्रम्यधर्माश्च यतिधर्माश्च पाण्डव । लोकवेदोत्तराश्चैव क्षात्रधर्मे समाहिताः ॥ १ ॥ सर्वाण्येतानि

धर्मोंमें श्रेष्ठ गिना है ॥ २७ ॥ राजाकी दण्डनीति नष्ट होजाय तो वेद का नाश होजाय, वेदका नाश होते ही धर्मका उपदेश देनेवाले शास्त्रोंका नाश होजाय, और जब प्राचीन राजधर्म नष्ट होजावे तो आश्रमोंके सब धर्मोंका नाश होजाय ॥ २८ ॥ राजधर्मके पालनमें ही सब प्रकारके दान दीखते हैं सब प्रकारकी दीक्षाएँ राजधर्मके पालनमें समाई हुई हैं. सब प्रकारकी विद्याएँ तथा सब लोकोंके धर्म राजधर्ममें ही समाये हुए हैं ॥ २९ ॥ जैसे नीच मनुष्य प्राणियोंकी हिंसा करता है तो वे प्राणी उनके धर्म और शास्त्रश्रवणजन्य पुण्यका नाश करते हैं, इस प्रकार ही यदि सब धर्म यदि राजधर्मसे रहित होजावें तो उनके ऊपर कोई भी आक्रमण करे और इससे (प्रजा) शांतिको खोजती हुई व्याकुल होजावेगी और अपनी रक्षामें ही लगी रहकर अपने धर्मका पालन नहीं कर सकेगी, अत एव राजधर्म श्रेष्ठ है ॥ ३० ॥ तिरेसठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ६३ ॥ ॥

भीष्मजी बोले कि-हे पाण्डुनन्दन! लौकिकधर्म, चार आश्रमों के धर्म और सन्यासके धर्म, इन सब धर्मोंका राजधर्ममें समावेश होजाता है ॥ १ ॥ हे भरतवंशश्रेष्ठ ! इसका कारण यह है, कि-

कर्माणि क्षात्रे भरतसत्तम । निराशिषो जीवलोकाः क्षात्रधर्मे व्यवस्थिते ॥ २ ॥ अप्रत्यक्षं बहुद्वारं धर्ममाश्रमवासिनाम् । प्रकोपयन्ति तद्व भावमागमैरेव शाश्वतम् ॥ ३ ॥ अपरे वचनैः पुण्यैर्वादिनो लोकनिश्चयम् । अनिश्चयज्ञाः धर्माणामदृष्टान्ते परे हताः ॥ ४ ॥ प्रत्यक्षं सुखभूयिष्ठमात्मसाक्षिकमच्छलम् । सर्वलोकहितं धर्मं क्षत्रियेषु प्रतिष्ठितम् ॥ ५ ॥ धर्माश्रमेऽध्यवसिनां ब्राह्मणानां युधिष्ठिर । यथा त्रयाणां वर्णानां संख्यातोपश्रुतिः पुरा ॥ ६ ॥ राजधर्मेष्वनुमताः लोकाः सुचरितैः सह । उदाहृतन्ते राजेन्द्र यथा विष्णुं महौजसम् ॥ ७ ॥ सर्वभूतेश्वरं देवं प्रभुं नारायणं पुरा । जग्मुः सुबहुशः शूराजानो दण्डनीतये ।८।

सब धर्म कर्म क्षत्रियधर्मके अधीन हैं, यदि क्षत्रियका धर्म अव्यवस्थित स्थितिमें होता है तो दूसरे बहुतसे धर्मोंका नाश हो जाता है ॥ २ ॥ मनुष्योंका धर्म अप्रत्यक्ष और बहुतसे द्वारवाला है. खोटे मार्गमें चले जानेसे उनका सनातन धर्म दूषित होजाता है, दूसरे जो वेदमें कहे हुए धर्मोंके सत्यस्वरूपको जाने विना, चाहे जैसा निर्णय करनेवाले वादियोंके कथन पर विश्वास करते हैं, ऐसे धर्मोंके निश्चयको न जाननेवाले धर्ममें परस्परविरुद्ध संपति पाने पर हतबुद्धि बनजाते हैं ॥३-४॥ किंतु क्षत्रियधर्म प्रत्यक्ष है, फलदायक है अत्यन्त सुखसे भराहुआ है (आत्माके स्वरूपको जनानेवाला है,छलकपट रहित है और सब लोकोंका हित करनेवाला है)॥५॥हे युधिष्ठिर ! मैंने पहिले तुमसे कहा था कि-ब्राह्मण,वैश्य और शूद्रके धर्मोंका क्षत्रियके धर्ममें और सन्यासी, ब्रह्मचारी और वानप्रस्थके धर्मोंका गृहस्थके धर्ममें अन्तर्भाव होता है ॥ ६ ॥ और मनुष्योंके पुण्यकर्मका आधार राजधर्मके ऊपर है, हे राजेन्द्र ! एक समय महाबली और शूर राजे दण्डनीति उत्तम है अथवा वर्णाश्रमधर्म श्रेष्ठ है इसको दृष्टान्त

एकै कमात्मनः कर्म तुलयित्वाश्रमं पुरा । राजानः पर्युपासन्त दृष्टान्तवचने स्थिताः ॥ ९ ॥ साध्या देवा वसवश्चाश्विनौ च रुद्राश्च विश्वे मरुतां गणाश्च । सृष्टाः पुरा आदिदेवेन देवाः क्षात्रे धर्मे वर्त्तयन्ते च सिद्धाः ॥ १० ॥ अत्र ते वर्त्तयिष्यामि धर्ममर्थविनिश्चयम् । निर्मर्य्यादे वर्त्तमाने दानवैकार्णवे पुरा ॥ ११ ॥ बभूव राजा राजेन्द्र मान्धातानाम वीर्य्यवान् । पुरा वसुमतीपालो यज्ञञ्चक्रे दिदृक्षया ॥ १२ ॥ अनादिमध्यनिधनं देवं नारायणं प्रभुम् । स राजा राजशार्दूल मान्धाता परमेश्वरम् ॥ १३ ॥ जगाम शिरसा पादौ यज्ञे विष्णोर्महात्मनः । दर्शयामास तं विष्णू रूपमास्थाय वासवम् ॥ १४ ॥ स पार्थिवैर्वृतः सद्भिरर्चयामास तं प्रभुम् । तस्य पार्थिवसिंहस्य तस्य चैव महात्मनः । संवादोयं महानासीत् विष्णुं प्रति महाद्यु

के साथ जाननेकी इच्छासे सब प्राणियोंके ईश्वर देवप्रभु नारायण विष्णुदेवके पासगए थे, यह बात मैंने तुमसे पहिले कही थी ॥ ७-९ ॥ साध्य, देवता वसु, अश्विनीकुमार रुद्र, विश्वेदेवता, और मरुद्गण, आदिदेव नारायणके उत्पन्न कियेहुए हैं, ये सब क्षत्रियधर्मको पालते हैं ॥ १० ॥ इस विषयमें धर्ममय और अर्थका निश्चय करनेवाला इतिहास मैं तुमसे कहता हूँ, उसको तू सुन हे राजेन्द्र ! पहिले जब दानवरूपी समुद्र वर्णाश्रम की मर्यादाकोतोडकर(प्रजाको)पीडित करने लगा उस समय मान्धाता नामक एक वीर्यवान् राजा पृथिवी पर था, उस राजाने आदि, मध्य और अन्तरहित, देव, प्रभु और परमेश्वर नारायणके दर्शन करनेकी इच्छासे यज्ञ किया, उसने यज्ञरूप विष्णुके चरणोंमें अपना मस्तक नमादिया, तब विष्णुने इन्द्रका स्वरूप धारण कर राजा मान्धाताको दर्शन दिए ॥ ११-१४ ॥ राजा मांधाताने तहाँ उपस्थित राजाओं सहित प्रभु इन्द्रके चरणोंमें प्रणाम किया, विधिपूर्वक उसकी पूजा की, फिर महात्मा इन्द्रके साथ राजसिंह मांधाता

तिम् ॥ १५ ॥ इन्द्र उवाच । किमिष्यते धर्मभृतां वरिष्ठ, यद्द्रष्टुकामोसि तमप्रमेयम् । अनन्तमायामितमन्त्रवीर्यं नारायणं ह्यादिदेवं पुराणम् ॥१६॥ नासौ देवो विश्वरूपो मयापि शक्यो द्रष्टुं ब्रह्मणा वापि साक्षात् । येऽन्ये कामास्तव राजन् हृदिस्था दास्ये चैतांस्त्वं हि मर्त्येषु राजा ॥ १७ ॥ सत्ये स्थितो धर्मपरो जितेन्द्रियः शूरो दृढप्रीतिरतः सुराणाम् । बुद्ध्याः भक्त्या चोत्तमश्रद्धया च ततस्तेहं दद्मि वरान् यथेष्टम् ॥ १८ ॥ मान्धातोवाच । असंशयं भगवन्नादिदेवं द्रक्ष्यामि त्वाहं शिरसा प्रसाद्य । त्यक्त्वा कामान् धर्मकामो ह्यरण्यमिच्छे गन्तुं सत्पथं लोकदृष्टम् ॥१९॥ क्षात्राद्धर्माद्विपुलादप्रमेयाल्लोकाः प्राप्ताः स्थापितं स्वं यशश्च ।

का महायशस्वी विष्णुके संबन्धमें बडा भारी संवाद हुआ ।१५। इन्द्र बोला कि-हे धार्मिक-श्रेष्ठ राजन् ! तेरी क्या इच्छा है कि-जो तू अप्रमेय, अनन्त मायामें भरपूर, अपारपराक्रमी, आदिदेव,पुराणपुरुष नारायणदेवके दर्शनकी इच्छा करता है?॥१६॥ विश्व जिनका स्वरूप है, ऐसे विष्णुका साक्षात् दर्शन मैं भी नहीं कर सकता,तैसे ही ब्रह्मा भी उनका साक्षात् दर्शन करनेकी शक्ति नहीं रखते(तो फिर तेरी तो बात ही क्या है)हे राजन् ! तेरे मनमें जो कामनाएँ हों, उन कामनाओंको मैं पूरी करूँगा, क्योंकि-तू मनुष्योंका राजा है॥१७। तू सत्यवादी है. धर्मपरायण है,जितेन्द्रिय है,शूर है, बुद्धि, भक्ति और श्रद्धासे श्रेष्ठ है और इन कारणोंसे देवताओंकी तेरे ऊपर दृढ प्रीति है, अतः मैं तुझको तेरी इच्छानुसार वर दूँगा ॥ १८ ॥ मांधाताने कहा कि-हे भगवन् ! मैं अपना मस्तक झुकाकर तुमको प्रसन्न करके अवश्य आदिदेव विष्णुके दर्शन करनेकी इच्छा रखता हूँ और सब कामनाओंको त्यागकर, धर्मकी कामनासे लोकमें श्रेष्ठ गिनेजाने वाले महात्मा पुरुष जहाँ गए हैं,ऐसे वनमें जानेकी इच्छा रखता

धर्मो योऽसावादिदेवात् प्रवृत्तो लोकश्रेष्ठं तं न जानामि कर्तुम् ॥२०
इन्द्र उवाच । असैनिका धर्मपराश्च धर्म परां गतिं न नयन्ते ह्ययुक्तम् ।
क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात् प्रवृत्तः पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्माः ॥२१॥
शेषाः सृष्टा ह्यन्तवन्तो ह्यनन्ता सुप्रस्थानाः क्षात्रधर्मा विशिष्टाः ।
अस्मिन् धर्मे सर्वधर्माः प्रविष्टास्तस्माद् धर्मं श्रेष्ठमिमं वदन्ति २२
कर्मणा वै पुरा देवा ऋषयश्चामितौजसः । त्राताः सर्वे प्रसह्या-
रीन् क्षत्रधर्मेण विष्णुना ॥ २३ ॥ यदि ह्यसौ भगवान्नाहनिष्य-
द्रिपून् सर्वानसुरानप्रमेयः। न ब्राह्मणा न च लोकादिकर्ता नायं

हूँ१९मैंने विशाल और अप्रमेय क्षत्रियधर्मसे सब लोकोंको जीतकर अपने अधीन कर लिया है,अपने यशको पृथिवी पर मैंने स्थापन किया है; परन्तु आदिदेव विष्णुके प्रवृत्त किये हुए लोक श्रेष्ठ धर्म को मैं किस रीतिसे पालूँ,यह मैं नहीं जानता२०इन्द्रने कहा कि-हे मांधाता ! धर्माचरण करनेवाले पुरुष यदि राजा न होवे तो निर्भयतासे भली प्रकार धर्माचरणका फल नहीं पासकते तैसे ही धर्माचरण करनेवाले दूसरे पुरुषोंको भी सहायता नहीं देसकते (इससे प्रतीत होता है कि-क्षत्रियधर्म दूसरे धर्मोंका पृष्ठपोषक है) राजधर्म आदिदेव विष्णुसे प्रथम२ चला है और दूसरे धर्म उसके पीछे उत्पन्न हुए हैं ॥२१॥ और क्षत्रियधर्मके अतिरिक्त दूसरे धर्म नाशवान फल वाले हैं, वानप्रस्थाश्रम पीछेसे हुआ है क्षत्रियका धर्म श्रेष्ठ और अक्षय है दूसरे बहुतसे धर्मोंका क्षत्रियके धर्ममें अन्तर्भाव होजाता है अतः क्षत्रियके धर्मको श्रेष्ठ धर्म कहा है।२२। पहिले क्रियासे श्रेष्ठता पाये हुए अपार बली देवताओंकी, ऋषियोंकी तथा और सबोंकी विष्णुने क्षत्रियधर्म (पराक्रम) से शत्रुओंको दण्ड देकर रक्षाकी थी ॥ २३ ॥ हे भगवन् ! अप्रमेय विष्णु भगवान्ने सब शत्रु असुरोंको न मारा होता तो इस जगत्में ब्राह्मण रहते ही नहीं (मनुष्य रहते ही नहीं) आदि-

धर्मो नादिधर्मोऽपविष्यत् ॥ २४ ॥ इमामुर्वीं नाजयद्विक्रमेण देव-श्रेष्ठः सासुरामादिदेवः । चातुर्वर्ण्यं चातुराश्रम्यधर्मा सर्वे न स्युर्ब्राह्मणानां विनाशात् ॥२५॥ नष्टा धर्म्मा शतधा शाश्वतास्ते क्षात्रेण धर्मेण पुनः प्रवृद्धाः। युगे युगे ह्यादिधर्माः प्रवृत्ताः लोक-श्रेष्ठं क्षत्रधर्मं वदन्ति ॥ २६ ॥ आत्मत्यागः सर्वभूतानुकम्पा लोकज्ञानं पालनं मोक्षणञ्च। विषण्णानां मोक्षणं पीडितानां क्षात्रे धर्मे विद्यते पार्थिवानाम् ॥ २७ ॥ निर्म्मर्य्यादाः काममन्युप्रवृत्ता भीता राज्ञो नाधिगच्छन्ति पापम् । शिष्टाश्चान्ये सर्वधर्मोपपन्नाः

कर्ता ब्रह्मा भी नहीं रहते, तैसे ही आदिधर्म क्षत्रियधर्म भी नहीं रहता, तैसे ही परमात्मासे उत्पन्न हुए अन्य धर्म भी नहीं रहते अर्थात् बहुतमोंका नाश होजाता ॥ २४ ॥ आदिदेव विष्णु असुरोंसे व्याप्त पृथिवीको यदि नहीं जीतते, तो ब्राह्मणोंका नाश होजाता, ब्राह्मणोंके नाशसे चारों वर्णोंका और चारों आश्रमोंका भी नाश होजाता ॥ २५ ॥ सनातनधर्मोंका सैंकडोंवार नाश होगया था परन्तु क्षत्रियधर्मने इन धर्मोंका पुनरुद्धार किया था प्रत्येक युगमें ब्रह्मको पानेके लिये ब्राह्मणधर्मकी प्रथम प्रवृत्ति हुई है और इस ब्राह्मणधर्मकी रक्षा क्षात्रधर्मने की है, अत एव क्षत्रियका धर्म मनुष्योंमें श्रेष्ठ माना जाता है ॥ २६ ॥ युद्धमें शरीरको त्यागना, सब प्राणियोंके ऊपर दया रखना, लोकव्यवहारका ज्ञान प्राप्त करना, लोकोंकी रक्षा करना, भयभीत प्रजाका पालन करना, दुःखी और पीडा पातेहुये मनुष्योंका दुःखमेंसे उद्धार करना, यह बहुतसे क्षत्रियोंके धर्म हैं और इन धर्मोंके अनुसार राजे वर्ताव करते हैं ॥ २७ ॥ काम और क्रोध के वशमें रहनेवाले और मर्यादाको छोडनेवाले पुरुष राजभयसे पाप नहीं कर सकते हैं, धर्म-सम्पन्न तथा शिष्ट पुरुष अपने धर्म का और सदाचारका भली भाँति पालन करते हैं और क्षत्रिय

साधवाचाराः साधुधर्म्मं वदन्ति ॥२८॥ पुत्रवत् पाल्यमानानि राजधर्मेण पार्थिवैः । लोके भूतानि सर्वाणि चरन्ते नात्र संशयः ॥२९ सर्वधर्म्मपरं क्षात्रं लोकश्रेष्ठं सनातनम् । शश्वदक्षरपर्य्यन्तमक्षरं सर्वतोमुखम् ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वर्णाश्रमधर्मकथने चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥६४॥

इन्द्र उवाच । एवं वीर्य्यः सर्वधर्मोपपन्नः क्षात्रः श्रेष्ठः सर्वधर्मेषु धर्मः । पाल्यो युष्माभिर्लोकहितैरुदारैर्विपर्य्यये स्यादभावः प्रजानाम् ॥ १ ॥ भूसंस्कारं राजसंस्कारयोगमभैक्ष्यचर्य्या पालनञ्च प्रजानाम् । विद्याद्राजा सर्वभूतानुकम्पी देहत्यागञ्चाहवे धर्ममग्र्यम् ॥ २ ॥ त्यागं श्रेष्ठं मुनयो वै वदन्ति सर्व-

---

के धर्मको धन्यवाद देते हैं ॥ २८ ॥ राजे अपनी प्रजाको पुत्रकी समान पालते हैं तो सब प्राणी इस पृथिवी पर निर्भयतासे फिरते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ २९ ॥ इस प्रकार देखने पर इस जगत्में क्षत्रिय धर्म सब धर्मोंमें श्रेष्ठ है, सनातन है, अविनाशी है, सब लोकोंका उपकार करनेवाला है, और मोक्षका साधन है ॥ ३० ॥ चौंसठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ६४ ॥ छ ॥

इन्द्रने कहा कि-इस प्रकार पराक्रमी और सब धर्मोंका जिसमें समावेश होजाता है ऐसा क्षत्रियधर्म सब धर्मोंसे श्रेष्ठ है, उसका तुम सरीखे उदार मनवाले मनुष्य लोकोंका हित करनेके लिये पालन करना चाहिये, यदि क्षत्रियधर्मका पालन न होवे तो सब प्राणियोंका नाश होजाय ॥ १ ॥ सब प्राणियों पर दया रखनेवाले राजाको, इस धर्मको मुख्य मानना चाहिये, वीरान पृथिवीको खेतके योग्य करे, उसको ठीक करके उपजाऊ बनावे, अपनी शुद्धिके लिये बडे२ यज्ञ करे, भीख न माँगे, प्रजाका पालन करे और युद्धमें शरीरको त्याग देय, यह क्षत्रियका श्रेष्ठ धर्म कहाता है॥२॥

श्रेष्ठ यच्छरीरं त्यजेत । नित्यं युक्ता राजधर्मेषु सर्वे प्रत्यक्षन्ते भूमिपाला यथैव ॥ ३ ॥ बहुश्रुत्या गुरुशुश्रूषया च परस्पराः संहननाद्वदन्ति । नित्यं धर्मं क्षत्रियो ब्रह्मचारी चरेदेको ह्याश्रमं धर्मकामः॥४ ॥सामान्यार्थे व्यवहारे प्रवृत्ते प्रियाप्रिये वर्ज्जयन्नेव यत्नात् । चातुर्वर्ण्यस्थापनात् पालनाच्च तैस्तैर्योगैर्नियमैरौरसैश्च५ सर्वोद्योगैराश्रमं धर्ममाहुः क्षात्रं श्रेष्ठं सर्वधर्मोपपन्नम् । स्वं स्वं धर्मं ये न चरन्ति वर्णास्तांस्तान् धर्मानन्यथार्थान वदन्ति ॥ ६ ॥ निर्मर्य्यादान्नित्यमर्थे विनिष्टानाहुस्तान् वै पशुभूतान् मनुष्यान् । यथा नीतिं गमयत्यर्थयोगाच्छ्रेयस्तस्मादाश्रमात् क्षात्रधर्मः ॥ ७ ॥

मुनि कहते हैं,कि-त्यागधर्म सबसे श्रेष्ठ है और उसमें भी युद्धमें देहका त्याग करना, यह सबसे श्रेष्ठ गिनाजाता है,बहुश्रुत तथा गुरुकी सेवा करके धर्म जाननेवाले राजे परस्पर युद्ध करके रण में अपने देहका त्याग करते हैं, यह तूने प्रत्यक्ष देखा है, क्षत्रिय धर्म करना चाहे तो उसको ब्रह्मचर्य व्रत पालनेके पीछे श्रेष्ठ गृहस्थाश्रममें रहना चाहिये, गृहस्थाश्रम सबसे श्रेष्ठ है ॥३-४॥ साधारण व्यावहारिक विषयोंमें निर्णयमें करते समय भली प्रकार पक्षपातहीन होना चाहिये, पृथक्२ कर्तव्य और हुक्म दिये हों तो उनका पालन करानेके कारण, सब प्रजाकी रक्षा करनेके कारण, पृथक्२ युक्ति और साधनोंके कारण, पुरुषार्थ और प्रयत्नमें प्रवृत्त करानेके कारण, क्षत्रियका धर्म-कि-जिसमें सब धर्मोंका समावेश होजाता है ऐसे क्षत्रियधर्मको श्रे कहते हैं और दूसरे वर्ण भी क्षत्रिय धर्मके आधारसे अपने२ धर्मका पालन कर सकते हैं, इसलिये दूसरे वर्ण, जो गुण राजधर्मोंको उत्पन्न करते हैं उनगुणोंके लिये राजधर्मका ही अवलम्बन करना चाहिये, ऐसा कहते हैं,जो मनुष्य लाभदायक अंकुशोंकी अवगणना करता है और सांसारिक विषयोंमें लिप्त रहता है उस मनुष्यको पण्डित

त्रैविद्यानां या गतिर्ब्राह्मणानां ये चैवोक्ताश्चाश्रमा ब्राह्मणानाम् । एतत् कर्म ब्राह्मणस्याहुरग्र्यमन्यत् कुर्वञ्छूद्रवच्छस्त्रवध्यः ॥ ८ ॥ चातुराश्रम्यधर्माश्च वेदधर्माश्च पार्थिव । ब्राह्मणेनानुगन्तव्या नान्यो विद्यात् कदाचन ॥९॥ अन्यथा वर्त्तमानस्य नासौ वृत्तिः प्रकल्प्यते । कर्मणा वर्द्धते धर्मो यथा धर्मस्तथैव सः ॥ १० ॥ यो विकर्मस्थितो विप्रो न स सम्मानमर्हति । कर्म स्वं नोपयुञ्जानमविश्वास्यं हि तं विदुः ॥११॥ एते धर्माः सर्ववर्णेषु लीना उत्क्रष्टव्याः क्षत्रियैरेष धर्मः। तस्माज्ज्येष्ठा राजधर्मा न चान्ये वीर-

---

पशु कहते हैं, मनुष्य राजनीतिके सम्बन्धसे ही धर्माचरण कर सकता है,अत एव सब धर्मोंसे राजधर्म श्रेष्ठ गिना जाता है।५-७। तीन वेद जाननेवाले ब्राह्मणोंको यज्ञ याग करना तथा आश्रम धर्म पालना श्रेष्ठ धर्म बताया है,इतने पर भी ब्राह्मण यदि अपने धर्मकर्मको त्याग दे तो उसको शूद्रकी समान शस्त्रसे वध कर डालना चाहिये ॥ ८ ॥ हे राजन् ! चार आश्रमोंके धर्म और वेदोक्त धर्म ब्राह्मणोंको अवश्य ही पलवाने चाहिये ब्राह्मणके लिये दूसरे धर्म श्रेष्ठ नहीं हैं ॥ ९ ॥ जो ब्राह्मण ब्राह्मणधर्मसे विपरीतरीतिसे वर्ताव करता है, उस ब्राह्मणके धर्म कर्म त्याग कर अन्य धर्मके अनुसार वर्ताव करने पर क्षत्रिय(अथवा वैश्य) को उसके निर्वाहके लिये किसी प्रकारकी भी व्यवस्था नहीं करनी चाहिये धर्माचरण करनेसे राजाके धर्मकी वृद्धि होती है और एक सच्चा ब्राह्मण साक्षात् धर्मरूप है ॥१०॥ जो ब्राह्मण अपने लिये निर्माण किये हुये धर्मको छोडता है, वह सन्मानका पात्र नहीं गिना जाता है,अपने कर्म न करनेवाले ब्राह्मणका विश्वास नहीं करना चाहिये,ऐसा पण्डित कहते हैं(इसप्रकार क्षत्रिय वैश्यादि भी अपने धर्मसे डिगजाय तो वह सन्मानका पात्र नहीं रहता है) ॥११॥ हमारे राज्यमें ये सब धर्म ठीक रीतिसे पाले

ज्येष्ठा वीरधर्मा मता ते॥१२॥मान्धातोवाच । यवनाः किराता गान्धाराश्चीनाः शवरवर्बराः । शकास्तुषाराः कङ्काश्च पल्हवा-श्चान्ध्रमद्रकाः ॥ १३ ॥ पौण्ड्रा पुलिन्दा रमठा काम्बोजाश्चैव सर्वशः । ब्रह्मक्षत्रप्रसूताश्च वैश्याःशूद्राश्च मानवाः ॥ १४ ॥ कथं धर्माश्चरिष्यन्ति सर्वे विषयवासिनः । मद्विधैश्च कथं स्थाप्याः सर्वे वै दस्युजीविनः ॥ १५ ॥ एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं भगवंस्तद् ब्रवीहि मे । त्वं बन्धुभूतो ह्यस्माकं क्षत्रियाणां सुरेश्वर ॥ १६ ॥ इन्द्र उवाच । मातापित्रोर्हि शुश्रूषा कर्त्तव्या सर्वदस्युभिः। आचार्यगुरुशुश्रूषा तथैवाश्रमवासिनाम् ॥ १७ ॥ भूमिपानाञ्च शुश्रूषा कर्त्तव्या सर्वदस्युभिः। वेदधर्मक्रियाश्चैव तेषां धर्मो विधीयते१८

जाते रहें,इसका ध्यान देते रहना चाहिये, ध्यान देना भी राजा का धर्म है,इस लिये ही राजधर्म श्रेष्ठ है दूसरे धर्म श्रेष्ठ नहीं है, मेरे मतमें भी वीर पुरुषोंका भी यही धर्म है,और जो इस धर्मको श्रेष्ठतासे पालते हैं,वे ही सच्चे वीर पुरुष हैं॥१२॥राजा मान्धाता बोला कि-हे इन्द्र ! यवन, किरात, गान्धार, चीन,शबर, बर्बर, शक, तुषार, कंक, पल्हव, आंध्र, मद्र, पौण्ड्र, पुलिन्द रमठ, काम्बोज आदि देशके पुरुष, ब्राह्मण और क्षत्रियोंसे उत्पन्न हुए पुरुष, वैश्य और शूद्र जो मेरे राज्यमें रहते हैं,वे किस प्रकार धर्माचरण करें और मुझ जैसे राजाओंको लुटेरोंकी वृत्तिसे आजीविका करनेवाले उन सबसे किसप्रकार धर्माचरण कराना चाहिये ॥ १३-१५ ॥ हे भगवन् इन्द्र ! इस विषयको सुननेकी मुझे उत्कण्ठा उत्पन्न हुई है, अतः मुझसे कहिये, हे सुरेश्वर ! तुम हम क्षत्रियोंके बंधुरूप हो ॥ १६ ॥ इन्द्र बोला कि-सब प्रकारके लुटेरोंको माता, पिता, आचार्य, गुरु, आश्रमवासी तथा राजाओंकी सेवा करनी चाहिये ॥ १७ ॥ वेदोक्त धर्म, कर्म तथा श्राद्ध करने चाहिये, कुएँ खुदाने चाहिये, बावड़ी बनवानी

पितृयज्ञास्तथा कूपा प्रपाश्च शयनानि च । दानानि च यथा-
कालं द्विजेभ्यो विसृजेत् सदा ॥१९॥ अहिंसा सत्यमक्रोधो वृत्ति-
दायानुपालनम् । भरणं पुत्रदाराणां शौचमद्रोह एव च ॥२०॥
दक्षिणा सर्वयज्ञानां दातव्या भूतिमिच्छता । पाकयज्ञा महार्हाश्च
दातव्याः सर्वदस्युभिः ॥ २१ ॥ एतान्येवं प्रकाराणि विहितानि
पुरानघ । सर्वलोकस्य कर्माणि कर्त्तव्यानीह पार्थिव ॥ २२ ॥
मान्धातोवाच । दृश्यन्ते मानुषे लोके सर्ववर्णेषु दस्यवः । लिङ्गा-
न्तरे वर्त्तमाना आश्रमेषु चतुर्ष्वपि ॥ २३ ॥ इन्द्र उवाच । विन-
ष्टायां दण्डनीत्यां राजधर्मे निराकृते । सम्प्रमुह्यन्ति भूतानि राज-
दौरात्म्यतोनघ ॥ २४ ॥ असंख्याता भविष्यन्ति भिक्षवो लिङ्गि-

चाहियें, पौ लगवानी चाहिये शय्या सुवर्ण, भूमि आदिके दान समयानुसार सदा ब्राह्मणोंको देने चाहिये ॥१८-१९॥ अहिंसा सत्यभाषण, अक्रोध, ब्राह्मण और अपने सगे संबन्धियोंको योग्य रीतिसे निवाहना, पुत्र और स्त्री आदिका पालन करना भीतरी और बाहरी पवित्रता रखना और शांति रखना, यज्ञ याग करके समृद्धिकी इच्छावाले दस्युओंको दक्षिणा देना बड़े खर्चवाले पाकयज्ञ करनेके लियेब्राह्मणको धन देना,ये दस्युओं के धर्म हैं ॥ २०-२१ ॥ हे निर्दोष राजन् ! इस प्रकार सब लोकोंके लिये प्रजापतिने कर्त्तव्य कर्म निर्माण किये हैं, वे कर्म उनको इस जगत्में करने चाहियें ॥२२॥ राजा मान्धाता बोला कि-मनुष्योंमें सब वर्णोंमें लुटेरे दिखाई देते हैं, तैसे ही चारों आश्रमोंमें भी लुटेरे दिखाई पड़ते हैं, परन्तु वे भिन्न २ चिन्होंसे ढके होते हैं" ॥ २३ ॥ इन्द्र बोला कि हे राजन् ! जब दण्ड-नीति नष्ट होजाती है और राजधर्म टूट जाता है, तब राजाकी दुष्टताके कारण सब प्राणी कार्य अकार्योंको भूल जाते हैं २४ इस सत्ययुगके पूरा होने पर अनेक संन्यासी और अनेक ब्रह्म-

नस्तथा । आश्रमाणां विकल्पाश्च निवृत्तोस्मिन् कृते युगे ॥ २५ ॥ अशृण्वानाः पुराणानां धर्माणां परमा गतीः । उत्पथं प्रतिपत्स्यन्ते काममन्युसमीरिताः ॥ २६ ॥ यदा निवर्त्यते पापो दण्डनीत्या महात्मभिः । तदा धर्मो न चलते सद्भूतः शाश्वतः परः ॥ २७ ॥ सर्वलोकगुरुश्चैव राजानं योवमन्यते । न तस्य दत्तं न हुतं न श्राद्धं फलते क्वचित् ॥ २८ ॥ मानुषाणामधिपतिं देवभूतं सनातनम् । देवापि नावमन्यन्ते धर्मकामं नरेश्वरम् ॥ २९ ॥ प्रजापतिर्हि भगवान् सर्वञ्चैवासृजज्जगत् । स प्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थं धर्माणां क्षत्रमिच्छति॥३०॥प्रवृत्तस्य हि धर्मस्य बुध्या यः स्मरते गतिम् । स मे मान्यश्च पूज्यश्च तत्र क्षत्रं प्रतिष्ठितम् ॥ ३१ ॥ भीष्म

चारी इस जगत्में उत्पन्न होंगे और आश्रमोंमें भी फेर फार होजावेगा ॥ २५ ॥ मनुष्य काम और क्रोधसे उभार खाकर पुराणोंके सुननेकी ओर और धर्मोंकी परमगतिकी ओर ध्यान नहीं देंगे और उच्छृङ्खल होजावेंगे॥२६॥ अतः महात्मा पुरुष यदि दण्डनीतिसे पापीको पाप करनेसे रोकने लगें तो परम मङ्गलमय सनातन धर्म नष्ट नहीं होता है ॥ २७ ॥ जो मनुष्य सब लोकोंके गुरु माने जाने वाले राजाका अपमान करता है, उसके दान, यज्ञ और श्रद्धा कभी सफल नहीं होते हैं ॥२८॥ राजा मनुष्योंका स्वामी है, सनातन देवतारूप है और धर्मकी रक्षा करनेवाला है, उसका देवताभी अपमान नहीं करते हैं ॥ २९ ॥ भगवान् प्रजापतिने इस सब जगत्को उत्पन्न किया है, तब उस की प्रवृत्तिकी निवृत्तिके लिये धर्मोंमेंसे क्षत्रियके धर्मकी इच्छाकी थी ॥३०॥ जो पुरुष बुद्धिसे प्रवृत्त धर्मकी गतिका स्मरण करता है, उस पुरुषको मैं मान्य और पूज्य समझता हूँ और उस पुरुष में क्षत्रियधर्म समाया हुआ है ॥ ३१ ॥ भीष्मजी बोले कि–हे राजन् युधिष्ठिर! इस प्रकार कहकर इन्द्रका रूप धारण करने

उवाच। एवमुक्त्वा स भगवान् मरुद्गणवृतः प्रभुः। जगाम भवनं विष्णोरक्षरं शाश्वतं पदम् ॥ ३२ ॥ एवं प्रवर्तिते धर्मे पुरा सुचरितेऽनघ। कः क्षत्रमवमन्येत चेतनावान् बहुश्रुतः ॥३३॥ अन्यायेन प्रवृत्तानि निवृत्तानि तथैव च। अन्तराविलयं यान्ति यथा पथि विचक्षुषः ॥ ३४ ॥ आदौ प्रवर्तिते चक्रे तथैवादिपरायणे। वर्त्तस्व पुरुषव्याघ्र संविजानामि तेऽनघ ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वर्णाश्रमधर्मकथने पञ्चषष्टितमोऽध्यायः॥६५॥

युधिष्ठिर उवाच। श्रुता मे कथिता पूर्वे चत्वारो मानवाश्रमाः। व्याख्यानमित्वा व्याख्यानमेषामाचक्ष्व पृच्छतः ॥ १ ॥ भीष्म उवाच। विदिता सर्व एवेह धर्मास्तव युधिष्ठिर। यथा मम

वाले भगवान् विष्णु मरुद्गणोंके साथ अपने अविनाशी और सनातन लोकमें चलेगए ॥ ३२ ॥ हे निर्दोष राजा युधिष्ठिर ! इस प्रकार पहिले उत्तम प्रकारके क्षात्रधर्मकी परमात्मा विष्णुने प्रवृत्तिकी है, तब बहुश्रुत और समझदार कौन पुरुष क्षत्रियके धर्मका अपमान कर सकता है ? ॥ ३३ ॥ (क्षात्रधर्म प्रचण्ड न हो तो) अन्यायसे चले हुए प्रवृत्तिमय और निवृत्तिमय कर्म, अन्धे पुरुषोंकी समान मध्यमें ही विनष्ट होजावें ॥ ३४ ॥ हे युधिष्ठिर ! सृष्टिके आरम्भमें प्रवृत्त हुए और पूर्व पुरुषोंके स्वीकृत किये हुए क्षत्रियधर्मका तू आचरण कर ! हे पुरुषव्याघ्र युधिष्ठिर ! इस धर्मको पालनेमें तू समर्थ है, यह मैं अच्छी प्रकार समझता हूँ ॥ ३५ ॥ पैंसठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ६५ ॥

राजा युधिष्ठिरने बूझा कि हे भीष्म पितामह ! आपने मुझसे सब मनुष्योंके चार आश्रम कहे वे मैंने सुने अब मुझसे उनको विस्तारपूर्वक कहो ॥ १ ॥ भीष्मजी बोले कि-हे महाभुज राजन् युधिष्ठिर ! जैसे मैं महात्माओंमें मान्य सनातन सब

महाबाहो विदिताः साधुसम्मताः ॥२॥ यत्तु लिङ्गान्तरगतं पृच्छसे मां युधिष्ठिर । धर्मं धर्मभृतां श्रेष्ठ तन्निबोध नराधिप ॥ ३ ॥ सर्वाण्येतानि कौन्तेय विद्यन्ते मनुजर्षभ । साध्वाचारप्रवृत्तानां चातुराश्रम्यकारिणाम् ॥ ४ ॥ अकामद्वेषयुक्तस्य दण्डनीत्या युधिष्ठिर । समदर्शिनश्च भूतेषु भैक्ष्याश्रमपदं भवेत् ॥५॥ वेत्ति ज्ञानविसर्गं च निग्रहानुग्रहं तथा । यथोक्तव्रतधीरस्य क्षेमाश्रमपदं भवेत् ॥ ६ ॥ अर्हान् पूजयतो नित्यं संविभागेन पाण्डव । सर्वतस्तस्य कौन्तेय भैक्षाश्रमपदं भवेत् ॥७॥ ज्ञातिसम्बन्धिमित्राणि

धर्मोंको जानता हूँ तैसे ही सब धर्मोंको तू भी जानता है ॥२॥ तो भी हे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तू धर्मके सूक्ष्म स्वरूपको जानने वाले मुझसे बूझता है कि– राजधर्माचरण करनेसे दूसरे आश्रमके धर्मोंका फल किस प्रकार मिलता है, उसके विषयमें तू सुन ॥ ३ ॥ हे कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ! चारों आश्रमोंके धर्मोंका फल राजधर्मोंमें समाया हुआ है अर्थात् राजधर्मोंका आचरण करनेसे दूसरे चारों आश्रमोंके धर्मोंका फल मिलता है ॥ ४ ॥ हे राजा युधिष्ठिर ! राजा यदि सब प्राणियोंके ऊपर समान दृष्टि रखकर, राग तथा द्वेषको त्याग कर, दण्डनीतिसे प्रजाका पालन करता है तो उसको संन्यासीको मिलनेवाले लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ ५ ॥ राजा शास्त्रोक्त रीतिसे वर्ताव करे, धैर्य रक्खे, आत्मस्वरूपको जाने, प्रजाके ऊपर निग्रह और अनुग्रह किस प्रकार करे इसको जाने और संकटके समय प्रजाको सहायता दे, तो उस राजाको धर्मनिष्ठ गृहस्थके लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ ६ ॥ और हे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ! जो राजा सदा पूज्य पुरुषोंको जो चाहिये उसको देकर उनका सत्कार करता है, तो वह ब्रह्मचारीको मिलने वाले स्थानको पाता है ॥ ७ ॥ हे युधिष्ठिर ! जो राजा ज्ञाति-

व्यापन्नानि युधिष्ठिर । समभ्युद्धरमाणस्य दीक्षाश्रमपदं भवेत् ८ लोकमुख्येषु सत्कारं लिङ्गिमुख्येषु चासकृत् । कुर्वतस्तस्य कौन्तेय वन्याश्रमपदं भवेत् ॥ ९ ॥ आह्निकं पितृयज्ञाश्च भूतयज्ञान् समानुषान् । कुर्वतः पार्थ विपुलान् वन्याश्रमपदं भवेत् ॥१०॥ संविभागेन भूतानामतिथीनां तथार्चनात् । देवयज्ञैश्च राजेन्द्र वन्याश्रमपदं भवेत् ॥ ११ ॥ मर्दनं परराष्ट्राणां शिष्टार्थं सत्यविक्रम । कुर्वतः पुरुषव्याघ्र वन्याश्रमपदं भवेत् ॥ १२ ॥ पालनात् सर्वभूतानां स्वराष्ट्रपरिपालनात् । दीक्षा बहुविधा राजन् सत्याश्रमपदं भवेत् ॥ १३ ॥ वेदाध्ययननित्यत्वं क्षमाथाचार्य्य पूजनम् । अथोपाध्यायशुश्रूषा ब्रह्माश्रमपदं भवेत् ॥ १४ ॥ आह्निकं जप-

---

बन्धु, सम्बन्धी, और मित्र दुःखी हों, तो उनका दुःखमेंसे उद्धार करता है, उसको वैखानसके पुण्यलोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ ८ ॥ जो राजा महात्माओंका और आश्रमोंके मुख्य पुरुषोंका नित्य सत्कार किया करता है उसको वानप्रस्थाश्रम पालनेसे मिलने वाले की पवित्र लोकोंकी प्राप्ति होती है ९ जो राजा, नित्यका आन्हिक कर्म करता है, पितरोंका श्राद्धादिकसे सत्कार करता है, प्राणि मात्रको दान देकर भूतयज्ञ करता है (अपने अन्नमेंसे संविभाग करके अतिथियोंका सत्कार करता है) देवताओंके यज्ञ करता है तथा हे सत्य–पराक्रमी राजा युधिष्ठिर ! शिष्ट लोकोंकी रक्षा करनेके लिये जो शत्रुके देशोंका नाश करता है उसको वानप्रस्थो के पवित्रलोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ १०–१२ ॥ सब प्राणियोंकी रक्षा करनेसे और अपने देशका परिपालन करनेसे, जितने प्राणियोंकी रक्षाकी होती है उतने यज्ञ करनेका उस राजाको फल मिलता है और उसको संन्यासाश्रमके लोक (ब्रह्मलोक)की प्राप्ति होतीहै।१३।नित्य वेदाध्ययन करनेसे, सबके ऊपर क्षमा करनेसे, आचार्यकाभ पूजन करनेसे, उपाध्यायकी पूजा करनेसे संन्यासीके

मानस्य देवान् पूजयतः सदा । धर्मेण पुरुषव्याघ्र धर्माश्रमपदं भवेत् ॥ १५ ॥ मृत्युर्वा रक्षणं वेति यस्य राज्ञो विनिश्चयः । प्राणद्यूते ततस्तस्य ब्रह्माश्रमपदं भवेत् ॥ १६ ॥ अजिह्ममशठं मार्गं वर्तमानस्य भारत । सर्वदा सर्वभूतेषु ब्रह्माश्रमपदं भवेत् १७ वानप्रस्थेषु विप्रेषु त्रैविधेषु च भारत । प्रयच्छतोऽर्थान् विपुलान् वन्याश्रमपदं भवेत् ॥१८॥ सर्वभूतेष्वनुक्रोशं कुर्वतस्तस्य भारत । आनृशंस्यप्रवृत्तस्य सर्वावस्थं पदं भवेत् ॥ १९ ॥ बालवृद्धेषु कौन्तेय सर्वावस्थं युधिष्ठिर । अनुक्रोशक्रिया पार्थ सर्वावस्थं पदं भवेत् ॥ २० ॥ बलात्कृतेषु भूतेषु परित्राणं कुरूद्वह । शरणा-

---

को मिलनेवाले ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है१४हे पुरुषव्याघ्र राजन्! नित्य गायत्रीका जप करनेसे तथा धर्मसे देवताओंकी पूजा करनेसे, गृहस्थाश्रमीको मिलनेवाले स्थानकी प्राप्ति होती है ॥ १५ ॥ युद्धके समय प्राणोंकी बाजी लगानेका समय आवे तो "मर जाऊँगा या विजय पाऊँगा" जो राजा ऐसा निश्चय करता है, उसको संन्यासीके लोक मिलते हैं ॥१६॥ हे भरतवंशी राजन्! जो राजा सदा सब प्राणियोंके साथ कपट और शठतारहित व्यवहार करता है,वह राजा संन्यासियोंके लोकमें जाता है ।१७। हे भरतवंशी राजन्! जो राजा वानप्रस्थाश्रममें रहने वालोंको और तीनों वेद जानने वालोंको बहुतसे पदार्थ देता है, उस राजाको वानप्रस्थाश्रमियोंके लोककी प्राप्ति होती है ॥ १८ ॥ हे भरतवंशी राजन्! जो राजा सब प्राणियोंके ऊपर दया करता है और अपने वर्तावको क्रूरतारहित (कोमल) रखता है उस राजाको सब लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥ हे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर! जो राजा सदा बालकोंके ऊपर और वृद्धोंके ऊपर दया करता है, उस राजाको सब लोकोंकी प्राप्ति होती है ।२०। हे कुरुवंशी राजन्! जो राजा, जिनके ऊपर बलात्कार किया

गतेषु कौरव्य कुर्वन् गार्हस्थ्यमावसेत् ॥ २१ ॥ चराचराणां भूतानां रक्षणं चापि सर्वशः । यथार्हपूजां च तथा कुर्वन् गार्हस्थ्यमावसेत् ॥ २२ ॥ ज्येष्ठानुज्येष्ठपत्नीनां भ्रातृणां पुत्रनप्तृणाम् । निग्रहानुग्रहौ पार्थ गार्हस्थ्यमिति तत्तपः ॥ २३ ॥ साधूनामर्चनीयानां पूजा सुविदितात्मनाम् । पालनं पुरुषव्याघ्र गृहाश्रमपदं भवेत् ॥ २४ ॥ आश्रमस्थानि भूतानि यस्तु वेश्मनि भारत । आददीतेह भोज्येन तद्गार्हस्थ्यं युधिष्ठिर ॥ २५ ॥ यः स्थितः पुरुषो धर्मे धात्रा सृष्टे यथार्थवत् । आश्रमाणां हि सर्वेषां फलं प्राप्नोत्यनामयम् ॥ २६ ॥ यस्मिन् न नश्यन्ति गुणाः कौन्तेय

गया हो ऐसी दुःखी प्रजाओंके शरणमें आने पर उनकी रक्षा करता है, उसको गृहस्थाश्रमियोंके लोकोंकी प्राप्ति होती है, २१ जो राजा स्थावर तथा जंगम प्राणियोंकी सब प्रकारसे रक्षा करता है, योग्यतानुसार उनकी पूजा करता है, उसको गार्हस्थ्य लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ २२ ॥ अपने बड़े भाइयोंकी और छोटे भाइयोंकी स्त्रियोंका, और उनके पुत्र और पौत्रोंका पालन करना और (अपराध करें तो उनको) दण्ड देना यह गृहस्थाश्रमी राजाका कर्त्तव्य है और उसका यह एक प्रकारका तप है ॥ २३ ॥ हे पुरुषव्याघ्र राजा युधिष्ठिर ! जो राजा आत्मस्वरूपको जाननेवाले और पूजा करने योग्य महात्मा पुरुषोंका पालन करता है, उसको उत्तम प्रकारके गृहस्थाश्रमका फल मिलता है ॥ २४ ॥ राजा वानप्रस्थोंको और दूसरे आश्रमोंमें रहने वालोंको अपने यहाँ बुलाकर उसका भोजनादिसे सत्कार करे यह राजाका गृहस्थ धर्म है ॥ २५ ॥ जो पुरुष विधाताके रचेहुए धर्मका यथार्थरीतिसे पालन करता है उस पुरुषको सब आश्रमोंका अक्षय फल मिलता है २६ हे राजा युधिष्ठिर ! जिस पुरुषमें उत्तम प्रकारके सब गुण होते हैं, उस उत्तम

पुरुषे सदा । आश्रमस्थं तमप्याहुर्नरश्रेष्ठं युधिष्ठिर २७ स्थानमानं कुले मानं वयोमानं तथैव च । कुर्वन् वसति सर्वेषु ह्याश्रमेषु युधिष्ठिर ॥ २८ ॥ देशधर्मांश्च कौन्तेय कुलधर्मांस्तथैव च । पालयन् पुरुषव्याघ्र राजा सर्वाश्रमी भवेत् ॥ २९ ॥ काले विभूतिं भूतानामुपहारांस्तथैव च । अर्हयन् पुरुषव्याघ्र साधूनामाश्रमे वसेत् ॥३०॥ दशधर्मगतश्चापि यो धर्मं प्रत्यवेक्षते । सर्वलोकस्य कौन्तेय राजा भवति सोऽश्रमी ॥ ३१ ॥ ये धर्मकुशला लोके धर्मं कुर्वन्ति भारत । पालिता यस्य विषये धर्मांशस्तस्य भूपते ॥३२॥ धर्मारामान् धर्मपरान् ये न रक्षन्ति मानवान् । पार्थिवाः पुरुषव्याघ्र तेषां पापं हरन्ति ते ॥ ३३ ॥ ये चाप्यत्र सहाया स्युः पार्थिवानां युधिष्ठिर । ते चैवांशहराः सर्वे धर्मे परकृतेनघ ॥३४॥

पुरुषको विद्वान् वानप्रस्थ और दूसरे सब आश्रमोंमें रहनेवाला कहते हैं २७ हे राजा युधिष्ठिर ! पुरुष सब आश्रमों रहते समय स्थानका, कुलका और अवस्थाका मान रक्खे ॥२८॥ हे कुन्तीपुत्र पुरुषव्याघ्र युधिष्ठिर ! जो राजा देशके धर्मोंको और कुलके धर्मों को पालता है वह राजा सब आश्रमोंवाला गिना जाता है २९ हे पुरुषव्याघ्र राजन्! जो वैभव और उपहारोंसे प्राणियोंका सत्कार करता है,उसको सब आश्रमोंका फल मिलता है॥ ३० ॥हे कुन्ती पुत्र ! जो राजा बड़े भारी भयमें पडजाने पर भी अपने धर्मको पालता है, उसको सब आश्रमोंका फल मिलता है ॥ ३१ ॥ हे भरतवंशी राजन ! जिस राजाके देशमें रक्षा पाकर धर्माचरण करनेमें कुशल पुरुष धर्माचरण करते हैं उन पुरुषोंके धर्मका अंश उस राजाको मिलता है ॥ ३२ ॥ हे पुरुषव्याघ्र युधिष्ठिर ! जो राजा धर्म पर आधार रखनेवाले और धर्मपरायण मनुष्योंकी रक्षा नहीं करते हैं, वे राजे उन पुरुषोंके पापके भागी होते हैं३३ तैसेही हे निर्दोष राजन् ! धर्माचरण करनेवाले राजाओंको जो

सर्वाश्रमपदेष्वाहुर्गार्हस्थ्यं दीप्तनिर्णयम् । पावनं पुरुषव्याघ्र यं धर्मं पर्युपास्महे॥३५॥ आत्मोपमस्तु भूतेषु यो वै भवति मानवः। न्यस्तदण्डो जितक्रोधः प्रेत्येह लभते सुखम् ॥३६॥ धर्मास्थिता सत्त्ववीर्या धर्मसेतुवटारकाः । त्यागवाताध्वगाः शीघ्रा नौस्तं संतारयिष्यति ॥ ३७ ॥ यदा निवृत्तः सर्वस्मात् कामो योऽस्य हृदि स्थितः । तदा भवति सत्त्वस्थस्ततो ब्रह्म समश्नुते ॥३८ ॥ सुप्रसन्नस्तु भावेन योगेन च नराधिप । धर्मं पुरुषशार्दूल प्राप्स्यते पालने रतः॥ वेदाध्ययनशीलानां विप्राणां साधुकर्मणाम् । पालने

सहायता देते हैं, उनको दूसरोंके किये हुए धर्मका अंश मिलता है॥३४॥हे पुरुषव्याघ्र ! हम जिस गृहस्थाश्रममें रहते हैं,वह सब आश्रमोंमे पवित्र है,और उत्तम है इस विषयका निर्णय स्पष्ट है३५ जो पुरुष सब प्राणियोंको अपनी समान मानता है, अभिमान और क्रोधका त्याग करता है, वह पुरुष इसलोकमें और मरनेके पीछे परलोकमें सुख पाता है ॥ ३६ ॥ राजधर्मरूपी नौका धर्मरूपी समुद्रमें रहती है, बुद्धिरूपी डाँड उसको चलाती है, धर्मशास्त्र रूपी रज्जुसे वह बँधी हुई है,दानरूपी पवनसे वह शीघ्रतासे चलती है, सत्यके बलसे वह जलके ऊपर तैरती रहती है, ऐसी राजधर्मरूपी नौकामें बैठा हुआ राजा संसारसागरको तर जाता है ॥ ३७ ॥ इस पृथ्वीके प्रत्येक विषयमेंसे राजाकी भीतरी आसक्ति दूर होजाती है तो वह राजा केवल अपनी बुद्धि पर स्थिर हुआ माना जाता है (ज्ञान प्राप्त होने पर यदि राजा जीवन्मुक्तसा होजाय तो उसको निष्कामभावसे बुद्धिपूर्वक राज्य करना चाहिये, यह राजाका धर्म है) ऐसी स्थितिमें पहुँचा हुआ राजा शीघ्र ही परब्रह्मको पाता है ॥ ३८ ॥ प्रजाका पालन करने वाला राजा योगाभ्याससे और भीतरकी वासनाओंको अंकुशमें रखनेसे आनन्दमें रहता है और वह पूर्ण पुण्यफलको

यत्नमातिष्ठ सर्वलोकस्य चैव ह ॥ ४० ॥ वने चरन्ति यं धर्ममाश्रमेषु च भारत । रक्षणात्तच्छतगुणं धर्मं प्राप्नोति पार्थिवः ॥४१॥ एष ते त्रिविधो धर्मः पाण्डवश्रेष्ठ कीर्तितः । अनुतिष्ठ त्वमेवैनं पूर्वदृष्टं सनातनम् ॥ ४२ ॥ चातुराश्रम्यमेकाग्र्यं चातुर्वर्ण्यं च पाण्डव । धर्मं पुरुषशार्दूल प्राप्स्यसे पालने रतः ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि चातुराश्रम्यविधौ षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

युधिष्ठिर उवाच । चातुराश्रम्यमुक्तन्ते चातुर्वर्ण्यन्तथैव च । राष्ट्रस्य यत् कृत्यतमं ततो ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥ भीष्म उवाच । राष्ट्रस्यैतत् कृत्यतमं राज्ञ एवाभिषेचनम् । अनिन्द्रमबलं राष्ट्रं

पाता है ॥ ३९ ॥ हे राजा युधिष्ठिर! तुझे वेदाध्ययन करनेवाले और सत्कर्म करनेवाले ब्राह्मणोंकी रक्षा करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये, तथा सब लोकोंका पालन करनेके लिये भी प्रयत्न करना चाहिये ॥ ४० ॥ हे भरतवंशी राजन्! जो वनमें रहकर तथा आश्रमोंमें रहकर धर्माचरण करनेसे पुण्य प्राप्त होता है, उससे भी सौ गुणा पुण्य राजाको प्रजाकी रक्षा करनेसे मिलता है ॥४१॥ हे पाण्डवोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर! तुझे मैंने अनेक प्रकारके राजधर्म कह कर सुनाये, तू इस प्राचीनकालके सनातनधर्मका आचरण करना ॥ ४२ ॥ हे पुरुषसिंह राजन्! तू यदि प्रजाका पालन करनेमें परायण रहेगा तो तुझे चारों आश्रमोंके और चारों वर्णोंके धर्माचरणका फल मिलेगा ॥ ४३ ॥ छियासठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ६६ ॥ छ ॥ छ

युधिष्ठिरने बूझा कि-हे भीष्म पितामह! तुमने मुझसे चारों आश्रमोंके और चारों वर्णोंके धर्म कहे अब राज्यका जो उत्तम कर्तव्य हो वह मुझसे कहो॥१॥ भीष्मजी बोले कि-राजाका अभिषेक करना यह राज्यका उत्तमसे उत्तम कृत्य है जिस राज्यमें अत्या-

दस्यवोऽभिभवन्त्युत ॥ २ ॥ अराजकेषु राष्ट्रेषु धर्मो न व्यवति-
ष्ठते । परस्परञ्च खादन्ति सर्वथा धिगराजकम् ॥ ३ ॥ इन्द्रमेव
प्रवृणुते यद्राजानमिति श्रुतिः । यथैवेन्द्रस्तथा राजा सम्पूज्यो
भूतिमिच्छता ॥ ४ ॥ नाराजकेषु राष्ट्रेषु वस्तव्यमिति रोचये ।
नाराजकेषु राष्ट्रेषु हव्यमग्निर्वहत्युत ॥ ५ ॥ अथ चेदभिवर्तेत
राज्यार्थी बलवत्तरः । अराजकाणि राष्ट्राणि हतवीर्याणि वा
पुनः ॥ ६ ॥ प्रत्युद्गम्याभिपूज्यः स्यादेतदत्र सुमन्त्रितम् । न हि
पापात्पापतरमस्ति किञ्चिदराजकात् ॥ ७ ॥ स चेत्समनुपश्येत
समग्रं कुशलं भवेत् । बलवान्हि प्रकुपितः कुर्यान्निःशेषतामपि ८
भूयांसं लभते क्लेशं या गौर्भवति दुर्दुहा । अथ या सुदुहा

चार चलता रहता है, वह राज्य निर्बल होजाता है और उस राज्य
की प्रजा दस्युओंसे पीडा पाने लगती है॥२॥ अत्याचारवाले राज्यमें
धर्म नहीं रह सकता और व्यवस्था न रहनेसे प्रजा परस्परका
नाश करने लगती है, ऐसी राजारहित दशाको धिक्कार है ॥३॥
श्रुति कहती है कि-राजाका जो अभिषेक किया जाता है, वह
इन्द्रके अभिषेकके बराबर है इससे ऐश्वर्य चाहने वालेको राजाको
इन्द्रकी समान पूजा करनी चाहिये ॥ ४ ॥ अत्याचार वाले
देशमें किसीको नहीं रहना चाहिये, क्योंकि-अव्यवस्था वाले
देशोंमें दिये हुए बलिको अग्नि, देवताओंको नहीं पहुँचाते हैं ॥५॥
कोई बली राजा अव्यवस्थित देशपर चढ़ आवे तो उस देशके
मनुष्योंको उसका स्वागत करना चाहिये, ऐसा इस विषयमें
निर्णय किया है, क्योंकि-अराजकतासे अधिक दूसरा कोई भी
अधर्म नहीं है ॥ ६-७ ॥ चढकर आया हुआ बली राजा यदि
न्यायपरायण होता है तो प्रजाका कल्याण होता है, और वह
क्रोधी होता है तो प्रजाके सर्वस्वका नाश कर डालता है ॥ ८ ॥
जो गौ कठिनतासे दुहाती है उसको बहुत दुःख भोगना पड़ता है

राजन्नैव तां विनुदंत्यपि ॥ ९ ॥ यदतप्तं प्रणमते नैतत्संताप मर्हति । यत्स्वयं नमते दारु न तत्संनामयंत्यपि ॥ १० ॥ एतयोपमया वीर संनमेत बलीयसे । इन्द्राय स प्रणमते नमते यो बलीयसे ॥ ११ ॥ तस्माद्राजैव कर्त्तव्यः सततं भूतिमिच्छता । न धनार्थो न दारार्थस्तेषां येषामराजकम् ॥ १२ ॥ प्रीयते हि हरन् पापः परवित्तमराजके । यदास्य उद्धरन्त्यन्ये तदा राजानमिच्छति ॥ १३ ॥ पापा ह्यपि तदा क्षेमं न लभन्ते कदाचन । एकस्य हि द्वौ हरतो द्वयोश्च बहवोपरे ॥ १४ । अदासः क्रियते दासो ह्रियन्ते च बलात् स्त्रियः । एतस्मात् कारणाद्द देवाः प्रजा-

और हे राजन् ! जो गौ सुखसे दुहाती है उसको मनुष्य दुःख नहीं देते हैं ॥ ९ ॥ जो काष्ठ तपाये बिना नम जाता है, उसको अग्निका ताप सहना नहीं पड़ता है तैसे ही जो काष्ठ स्वयं नम जाता है, उसको दूसरे नमाते भी नहीं है ॥१०॥ हे वीर राजन् ! इस उपमाको ध्यानमें रखते हुए पुरुषको बली पुरुषसे नमते रहना चाहिये, जो पुरुष बलीसे नमता है, वह इन्द्रसे ही नमता है ऐसा समझना चाहिये ११ इस लिये ही ऐश्वर्य चाहनेवाले मनुष्योंको सदा देशके ऊपर राजा बनाये रखना चाहिये, क्योंकि-जिस देशमें राजा नहीं है, उस देशमें पुरुष सुखसे धनका और स्त्रीका उपभोग नहीं कर सकता ॥ १२ ॥ जिस देशमें अराजकता है, उस देशमें पापी पुरुष दूसरेका धन हरण करके प्रसन्न होते हैं, परन्तु जब दूसरे मनुष्य भी उनका धन हरण कर ले जाते हैं, तब वह भी राजाको चाहते हैं इससे सिद्ध होता है कि-अराजकतामें पापियोंको भी सुख नहीं है ॥ १३ ॥ क्योंकि–राजारहित देशमें दो मनुष्य एक मनुष्यसे धनादि छीन लेते हैं और बहुतसे मनुष्य उन दो मनुष्योंके पाससे धन छीन लेते हैं ॥ १४ ॥ जो दास नहीं होता है, उसको दास बनाते हैं, बलात्कारसे परस्त्रियोंका

पालं प्रचक्रिरे ॥ १५ ॥ राजा चेन्न भवेल्लोके पृथिव्यां दण्ड-
धारकः । जले मत्स्यानिवाभक्षन् दुर्बलान् बलवत्तराः ॥ १६ ॥
अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम् । परस्परं भक्षयंतो
मत्स्या इव जले कृशान् ॥ १७ ॥ समेत्य तास्ततश्चक्रुः समया-
निति नः श्रुतम् । वाक्शूरो दण्डपरुषो यश्च स्यात्पारजीविकः॥१८
यः परस्वमथादद्यात्त्याज्या नस्तादृशा इति । विश्वासार्थं च सर्वेषां
वर्णानामविशेषतः । तास्तथा समयं कृत्वा समये नावतस्थिरे १९
सहितास्तास्तदा जग्मुरसुखार्ताः पितामहम् । अनीश्वरा विनश्यामो

हरण करने लगते हैं, इन२कारणोंको देखकर देवताओंने प्रजा-
पालक राजाका निर्माण किया है ॥१५॥ यदि इस जगत्में दण्ड
धारण करने वाला राजा न होवे तो जलमेंकी मछलियोंको जैसे
बड़ी२ बलवान् मछलियें निगलजाती हैं,तैसे ही बड़े२ बली पुरुष
दुर्बल पुरुषको निगल जायँ ॥ १६ ॥ पानीमेंकी मछलियें जैसे
परस्परमें दूसरी बली मछलियोंको निगल जाती हैं, तैसे ही पहिले
समयमें राजारहित प्रजा भी परस्पर युद्ध करके नष्ट हो गयीं थीं,
ऐसा हमारे सुननेमें आया है १७ यह भी हमारे सुननेमें आया है
कि-उन प्रजाओंमें कुछ मनुष्योंने इकट्ठे होकर आपसमें नीचे
लिखे अनुसार नियम किया था, वह नियम इस प्रकार था कि-
जो निष्ठुर बोलनेवाला हो,जो उग्र दण्ड देनेवाला हो जो पर-
स्त्रीके साथ गमन करनेवाला हो और जो दूसरेका धन हरनेवाला
हो, ऐसे पुरुषोंको हमें सदाके लिये त्याग देना चाहिये, ऐसा
करनेसे सामान्यरीतिसे हम सब वर्णोंमें विश्वास जमा सकेंगे
प्रजाओंने सबमें विश्वास जमानेके लिये, ऐसा निश्चय किया इस
प्रकार कितना ही समय तो बीत गया१८-१९(परन्तु थोड़े ही
समय पीछे अव्यवस्था होगई) तब दुःखातुर सब प्रजा ब्रह्माके
पास गई और विनती करनेलगी कि-हे भगवन् ! हम राजा-

श्यामो भगवन्नीश्वरं दिश ॥२०॥ यं पूजयेम सम्भूय यश्च नः प्रतिपालयेत् । ततो मनुं व्यादिदेश मनुर्नाभिननन्द ताः ॥२१॥ मनुरुवाच । बिभेमि कर्मणः पापाद्राज्यं हि भृशदुस्तरम् । विशेषतो मनुष्येषु मिथ्यावृत्तेषु नित्यदा ॥२२॥ भीष्म उवाच । तमब्रुवन् प्रजा मा भैः कर्तॄनेनो गमिष्यति । पशूनामधिपञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च ॥ २३ ॥ धान्यस्य दशमं भागं दास्यामः कोषवर्द्धनम् । कन्यां शुल्के चारुरूपां विवाहेषूद्यतासु च ॥ २४ ॥ मुख्येन शस्त्रपातेन ये मनुष्याः प्रधानतः । भवन्तं तेऽनुयास्यन्ति महेन्द्रमिव देवताः ॥२५॥ स त्वं जातबलो राजा दुष्प्रधर्षः प्रताप-

---

रहित होनेसे नष्ट हुए जाते हैं अतः हमको राजा दो ॥ २० ॥ हम इकट्ठे होकर उसकी पूजा करेंगे और वह हमारा प्रतिपालन करे, इसपर ब्रह्माने राजा मनुको आज्ञा दी, परन्तु मनुने राज्य करना स्वीकृत नहीं किया और कहा ॥ २१ ॥ मनुने कहा, कि—मैं पापकर्मसे डरता हूँ और राज्य चलाना अतिकठिन काम है, और इसमें भी मिथ्या आचरण करने वाले मनुष्यों पर राज्य करना तो अतिकठिन है ॥२२॥ भीष्म बोले कि—हे राजा युधिष्ठिर! यह सुन कर प्रजाने मनुसे कहा कि—हे महाराज! तुम डरो मत, पाप पाप करने वालेको लगेगा और हम आपके भण्डारकी वृद्धिके लिये पचास पशुओंका लाभ होगा तो एक पशु, सुवर्णका पचासवाँ भाग तथा धान्यमेंसे दशवाँ भाग करको रीतिसे देंगे, जब हमारी कन्या विवाहने योग्य होगी, तब उसके मूल्यका ठहराव होनेपर, उनमें की उत्तम रूपवती कन्या तुमको देंगे ॥ २३—२४ ॥ और देवता जैसे महेन्द्रके पीछे चलते हैं तैसे ही हमारे जो पुरुष वाहनों पर चढ़नेमें श्रेष्ठ होंगे, जो शस्त्र धारण करनेमें श्रेष्ठ होंगे; वे तुम्हारे पीछे २ चलेंगे ॥ २५ ॥ (हमारी सहायतासे) तुम महाबली और किसीसे न हारने वाले प्रतापी राजा होंगे और

वान्। सुखे धास्यसि नः सर्वान् कुबेर इव नैऋर्तान्॥२६॥यञ्च धर्मं चरिष्यन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः। चतुर्थं तस्य धर्मस्य त्वत्संस्थं वै भविष्यति॥२७॥तेन धर्मेण महता सुखं लब्धेन भावितः। पाह्यस्मान् सर्वतो राजन् देवानिव शतक्रतुः॥२८॥ विजयाय हि निर्याहि प्रतपन् रश्मिवानिव। मानं विधम शत्रूणां जयोऽस्तु तव सर्वदा॥ २९ ॥ स निर्ययौ महातेजा बलेन महता वृतः। महाभिजनसम्पन्नस्तेजसा प्रज्वलन्निव॥ ३० ॥ तस्य दृष्ट्वा महत्त्वं ते महेन्द्रस्येव देवताः। अपतत्रसिरे सर्वे स्वधर्मे च दधुर्मनः ३१ ततो महीं परिययौ पर्जन्य इव वृष्टिमान्। शमयन् सर्वतः पापान् स्वकर्मसु च योजयन्॥ ३२ ॥ एवं ये भूतिमिच्छेयुः पृथिव्यां

कुबेर जैसे प्रतापी यक्ष और राक्षसोंकी रक्षा करते हैं, तैसे ही तुम हमारी रक्षा करना॥ २६ ॥ आपसे रक्षा पाई हुई प्रजा जो २ धर्माचरण करेगी उस २ धर्मका एक चतुर्थांश तुमको मिलेगा॥ २७ ॥ और तुम सुखसे बडा भारी धर्म कर सकोगे, अतः हे राजन्! इन्द्र जैसे देवताओंका पालन करता है तैसे ही तुम हमारा चारों ओरसे पालन करो॥२८॥ तुम सूर्यकी समान तपते हुए विजय करनेके लिये बाहर निकलो, शत्रुओंके अभिमानका नाश करो और सदा विजय पाओ॥ २९ ॥ यह सुन कर महातेजस्वी मनु, बडे २ कुलीन मनुष्योंसे तथा बडी भारी सेनाओंसे घिरकर तेजसे प्रज्वलितसा दीखता हुआ नगरके बाहर निकला॥ ३० ॥ मनुकी महत्ताको देखते ही देवता जैसे महेन्द्रको देखते ही त्रस्त होजाते हैं, तैसे ही सब दुष्ट मनुष्य त्रस्त होगए और अपना २ मन धर्ममें लगाने लगे॥ ३१ ॥ फिर मेघ जैसे पृथ्वी पर जल बरसाता हुआ घूमता फिरता है तैसे ही मनु भी पृथ्वी पर चारों ओर घूमने लगा और पापियोंका चारों ओरसे नाश कर डाला, उसने लोकोंको अपने २ धर्म कर्ममें

मानवाः कश्चित् । कुर्य्यू राजानमेवाग्रे प्रजानुग्रहकारणात् ३३ नमस्येरंश्च तं भक्त्या शिष्या इव गुरु सदा । देवा इव च देवेन्द्रं तत्र राजानमन्तिके॥३४॥ सत्कृतं स्वजनेनेह परोपि बहु मन्यते । स्वजनेन त्ववज्ञातं परे परिभवन्त्युत ॥ ३५ ॥ राज्ञः परैः परिभवः सर्वेषामसुखावहः । तस्माच्छत्रञ्च पत्रञ्च वासांस्याभरणानि च ॥ ३६ ॥ भोजनान्यथ पानानि राज्ञे दद्युर्गृहाणि च । आसनानि च शय्याश्च सर्वोपकरणानि च ॥ ३७ ॥ गोप्ता तस्माद् दुराधर्षः स्मितपूर्वाभिभाषिता । आभाषितश्च मधुरं प्रत्याभाषेत

लगादिया ॥ ३२ ॥ इस प्रकार जिन मनुष्योंको पृथ्वी पर वैभवोंकी इच्छा हो, उनको प्रजाका अनुग्रह करनेके लिये प्रथम ही राजा बनाना चाहिये॥३३॥ और शिष्य गुरुको जैसे प्रणाम करते हैं और देवता जैसे नित्य देवेन्द्रको प्रणाम करते हैं, तैसे ही प्रजाको नित्य भक्तिसे राजाके पास जाकर प्रणाम करना, चाहिये ॥ ३४ ॥ इस जगत्में अपने आदमीके सत्कार करने पर दूसरे मनुष्य भी उसको श्रेष्ठ मानते हैं, परन्तु जब अपने मनुष्य ही अपमान करने लगते हैं, तब दूसरे भी उसका अपमान करने लगते हैं ॥ ३५ ॥ अपने राजाका दूसरा राजा पराजय करता है, तो वह सारी प्रजाको दुःखदायक होजाता है, अतः प्रजा अपने राजाको वाहन, वस्त्र, आभरण, नानाप्रकारके भोजन, पेय, घर, आसन, शय्या, सब प्रकारके सामान भेंटमें देती रहे (और उसके गौरवमें वृद्धि करती रहे) ॥ ३६-३७ ॥ और हे युधिष्ठिर ! इस प्रकार प्रजासे वैभव मिलते रहते पर राजा दुराधर्ष होजाता है, राजाको भाषण करते समय मुस्करा कर बोलना चाहिये, कोई मनुष्य बात चीत करनेको आवें, तो उनके साथ मधुरतासे बातचीत करनी चाहिये ॥ ३८ ॥ उपकारीसे कृतज्ञता

मानवान् ॥ ३८ ॥ कृतज्ञो दृढभक्तिः स्यात् संविभागी जितेन्द्रियः । ईक्षितः प्रतिवीक्षेत मृदु वल्गु च सुष्ठु च ॥३९॥

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि राष्ट्रे राजकरणावश्यकत्वकथने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥६७॥

युधिष्ठिर उवाच । किमाहुर्दैवतं विप्रा राजानं भरतर्षभ । मनुष्याणामधिपतिं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥ भीष्म उवाच । अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । बृहस्पतिं वसुमना यथा पप्रच्छ भारत ॥ २ ॥ राजा वसुमना नाम कौसल्यो धीमतां वरः । महर्षिं किल पप्रच्छ कृतप्रज्ञं बृहस्पतिम् ॥ ३ ॥ सर्वं वैनयिकं कृत्वा विनयज्ञो बृहस्पतिम् । दक्षिणानन्तरो भूत्वा प्रणम्य विधिपूर्वकम् ॥४॥ विधिं पप्रच्छ राज्यस्य सर्वलोकहिते रतः । प्रजानां

दिखाते रहना चाहिये, भक्तोंके ऊपर दृढ भक्ति रक्खे, सब लोगोंको योग्यतानुसार देना चाहिये, जितेन्द्रिय रहे और कोई अपने सामने दृष्टि करे तो उसके सामने मृदुता और मधुरताके साथ स्नेहभरी दृष्टिसे देखना चाहिये ॥ ३९ ॥ सरसठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ६७ ॥ * * * ॥

युधिष्ठिरने बूझा कि–हे भरतवंश-श्रेष्ठ पितामह ! ब्राह्मण मनुष्योंके अधिपति राजाको किसलिये देवरूप कहते हैं, यह मुझसे कहिये ॥ १ ॥ भीष्मने कहा कि–हे युधिष्ठिर ! इस विषयको राजा वसुमनाने बृहस्पतिसे बूझा था, उसका पुरातन इतिहास इस प्रकार है॥२॥ वसुमना नामका कोसल देशका एक राजा था, वह महाबुद्धिमान और विवेकी था एक समय उसने कृतप्रज्ञ महर्षि बृहस्पतिको उठ कर मान दिया विधिपूर्वक उनकी प्रदक्षिणा की और प्रणाम करके उनसे प्रश्न करनेलगा॥३-४॥ राजा वसुमना सब लोकोंका हित करने वाला था अतः उसने प्रजाके सुखके लिये धर्मात्मा बृहस्पतिसे "राज्य किस प्रकार

सुखमन्विच्छन् धर्मशीलं बृहस्पतिम् ॥५॥ वसुमना उवाच। केन भूतानि वर्द्धन्ते क्षयं गच्छन्ति केन वा। कमर्चन्तो महाप्राज्ञ सुखमव्ययमाप्नुयुः ॥ ६ ॥ एवं पृष्टो महाप्राज्ञः कौशल्येनामितौजसा। राजसत्कारमव्यग्रं शशंसास्मै बृहस्पतिः ७ बृहस्पतिरुवाच। राजमूलो महाप्राज्ञ धर्मो लोकस्य लक्ष्यते। प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम् ॥ ८ ॥ राजा ह्येवाखिलं लोकं समुदीर्णं समुत्सुकम्। प्रसादयति धर्मेण प्रसाद्य च विराजते ॥९॥ यथा ह्यनुदये राजन् भूतानि शशिसूर्ययोः। अन्धे तमसि मज्जेयुरपश्यन्तः परस्परम् १० यथा ह्यनुदके मत्स्या निराक्रन्दे विहङ्गमाः। विहरेयुर्यथाकामं

करना चाहिये" यह बूझा ॥ ५ ॥ वसुमनाने बूझा कि–हे महा बुद्धिमान् बृहस्पति! प्राणियोंकी वृद्धि कैसे होती है और वे किस कारणसे नष्ट होजाते हैं, तथा किसका पूजन करनेसे वे अविनाशी सुखको पाते हैं ? " ॥ ६ ॥ अपार बली राजा वसुमनाने इस प्रकार महाबुद्धिमान् बृहस्पतिसे प्रश्न किया, तब बृहस्पतिने "प्रजाको राजाका किस प्रकार सत्कार करना चाहिये " आदि बातें कहीं ॥ ७ ॥ बृहस्पति बोले कि–हे महाबुद्धिमान् राजन् ! जगत्का धर्म राजाके कारण ही है और प्रजा भी राजाके भयसे ही एक दूसरेका नाश नहीं करती है ॥ ८ ॥ सब प्रजा जब मर्यादाका उल्लघन कर जाती है और सब प्रकारके लोभके वशमें होजाती है, तब राजा दण्डसे शिक्षा देकर अमर्यादित पुरुषको (दण्डसे) शुद्ध करके शान्ति फैला देता है उस समय वह अपने राजारूपसे जगत्में प्रकाशित हो उठता है ॥ ९ ॥ हे राजन् ! जैसे चन्द्र और सूर्य उदय न हुए हों तो सब प्राणी अंधेरेमें डूब जाते हैं और एक दूसरेको नहीं देख सकते ॥१०॥ और जैसे अल्प जल वाले सरोवरमें रहने वाली मछलियें तथा हिंसकके भयसे शून्य वनमें रहने वाले पक्षी अपनी इच्छानुसार

विहिंसन्तः पुनः पुनः ॥ ११ ॥ विपद्यन्ति क्रमेरंश्च विपक्षापि परस्परम् । अभावमचिरेणैव गच्छेयुर्नात्र संशयः ॥ १२ ॥ एवमेव विना राज्ञा विनश्येयुरिमाः प्रजाः । अन्धे तमसि मज्जेयुरगोपाः पशवो यथा ॥ १३ ॥ हरेयुर्बलवन्तोपि दुर्बलानां परिग्रहान् । हन्युर्व्यायच्छमानांश्च यदि राजा न पालयेत् ॥ १४ ॥ ममेदमिति लोकेस्मिन् न भवेत् सम्परिग्रहः । न दारा न च पुत्रः स्यान्न धनं न परिग्रहः । विष्वग्लोपः प्रवर्त्तेत यदि राजा न पालयेत् ॥ १५ ॥ यानं वस्त्रानलङ्कारान् रत्नानि विविधानि च । हरेयुः सहसा पापा यदि राजा न पालयेत् ॥ १६ ॥ पतेद्बहुविधं शस्त्रं बहुधा धर्मचारिषु । अधर्मः प्रगृहीतः स्याद्यदि राजा न पालयेत् ॥ १७ ॥ मातरं पितरं वृद्धमाचार्यमतिथीन् गुरुम् ।

विहार करते हैं, वारम्वार एक दूसरे पर आक्रमण करते हैं उनमें बली दुर्बलको दबा देता है और वे परस्पर युद्ध करके थोड़े ही समयमें नष्ट होजाते हैं ।११-१२। इसी ही प्रकार यदि मनुष्योंकी रक्षा करने वाला राजा न हो तो ग्वाले रहित ढोरोंकी समान, पापरूपी अँधेरे खड्डमें पड कर प्रजा भी परस्पर लड़ कर नष्ट होजाती है ॥ १३ ॥ यदि राजा प्रजाकी रक्षा न करे तो बली पुरुष दुर्बलोंके घर स्त्री, धन आदि वस्तुओंको लूट लेते हैं और यदि वे नहीं देते हैं, तो उनको मार भी डालते हैं ॥१४॥ यदि प्रजाका पालन करनेवाला राजा न होय तो कोई भी मनुष्य यह नहीं कह सके कि-"यह वस्तु मेरी है" और स्त्री, पुत्र, धन तथा दूसरी घरकी वस्तुओंका नाश होजाय ॥ १५ ॥ यदि रक्षा करने वाला राजा न होवे तो मनुष्योंके वाहन, वस्त्र, अलंकार और विविध प्रकारके रत्नोंको पापी पुरुष लूट कर लेजावें ।१६। यदि रक्षा करने वाला राजा न हो तो बहुधा धर्माचरण करने वाले पुरुषोंके ऊपर अनेक प्रकारके शस्त्रपात हों और सब

क्लिश्नीयुरपि हिंस्युर्वा यदि राजा न पालयेत् ॥ १८ ॥ वधबन्ध परिक्लेशो नित्यमर्थवताम्भवेत् । ममत्वञ्च न विन्देयुर्यदि न राजा पालयेत् ॥ १९ ॥ अन्तश्चाकाल एव स्युर्लोकोऽयं दस्युसाद्भवेत् । पतेयुर्नरकं घोरं यदि राजा न पालयेत् ॥ २० ॥ न योनिदोषो वर्त्तेत न कृषिर्न वणिक्पथः। मज्जेद्धर्मस्त्रयी न स्याद्यदि राजा न पालयेत् ॥२१॥ न यज्ञाः सम्प्रवर्त्तेयुर्विधिवत् स्वाप्तदक्षिणाः । न विवाहाः समाजो वा यदि राजा न पालयेत् ॥ २२ ॥ न वृषाः सम्प्रवर्त्तेरन् न मथ्येरंश्च गर्गरा । घोषाः प्रणाशं गच्छेयुर्यदि राजा न पालयेत् ॥ २३ ॥ त्रस्तमुद्विग्नहृदयं हाहाभूतम-

अधर्माचरण करने लगें ॥ १७ ॥ यदि प्रजाका पालन करने वाला राजा न हो तो पापी लोग माताको, पिताको, वृद्धको, आचार्यको, अतिथिको और गुरुको भी दुःखी करें अथवा वे उनको मार डालें ॥ १८ ॥ यदि प्रजापालक राजा न होवे तो धनाढ्य पुरुषोंको नित्य मरणका, जेलखानेका और पीडाका क्लेश भोगना पड़े और कोई भी मनुष्य "यह वस्तु मेरी है" यह बात मान नहीं सके ॥ १९ ॥ यदि प्रजापालक राजा न हो तो मनुष्योंका अकाल मरण होजाय, मनुष्योंको चोर अपने अधीन करलें और मनुष्य भयंकर नरकमें जापड़ें ॥२०॥ यदि प्रजाका पालन करने वाला राजा न होवे तो विवाहसंबंधी प्रतिबंध न रहें अर्थात् मनुष्य परस्पर व्यभिचार करने लगें, खेती नष्ट होजावे, व्यापार भी बंद होजाय और नीतिका तथा वेदका लोप होजाय ॥ २१ ॥ यदि प्रजाका पालन करने वाला राजा न होवे तो उत्तम प्रकारकी दक्षिणा वाले यज्ञ विधिपूर्वक न हों, विवाह भी न हों, तैसे ही समाज भी नहीं मिलें ॥ २२ ॥ यदि प्रजापालक राजा न होवे तो बैल गौओंमें गर्भाधान न करें, मथनियोंसे कोई दही न मथे और घोष नष्ट होजावें ॥ २३ ॥ यदि प्रजापालक राजा न होवे

चेतनम् । क्षणेन विनशेत् सर्वं यदि राजा न पालयेत् ॥ २४ ॥
न सम्वत्सरसत्राणि तिष्ठेयुरकुतोभयाः । विधिवद्दक्षिणावन्ति
यदि राजा न पालयेत् ॥ २५ ॥ ब्राह्मणांश्चतुरो वेदान्नाधीयी-
रंस्तपस्विनः । विद्यास्नाता व्रतस्नाता यदि राजा न पालयेत् २६
न लभेत् धर्मसंश्लेषं हतविप्रहतो जनः । हर्त्ता स्वस्थेन्द्रियो गच्छेत्
यदि राजा न पालयेत् ॥ २७ ॥ हस्ताद्धस्तं परिमुषेद्भिद्येरन्
सर्वसेतवः । भयार्त्ता विद्रवेरन्सर्वे यदि राजा न पालयेत् ॥ २८ ॥
अनयाः सम्प्रवर्त्तेरन् भवेद्वै वर्णसंकरः । दुर्भिक्षमाविशेद्राष्ट्रं
यदि राजा न पालयेत् ॥२९॥ विवृत्य हि यथाकामं गृहद्वाराणि
सेवते । मनुष्या रक्षिता राज्ञा समन्तादकुतोभयाः ॥ ३० ॥

तो यह सम्पूर्ण जगत् त्रस्त होजावे और मनुष्योंके हृदय उद्विग्न रहें और सर्वत्र हाहाकार मचजाय, यह जगत् भानरहित होजाय और एक क्षणमें ही नष्ट होजाय २४ यदि प्रजापालक राजा न होवे तो लोक निर्भय होकर विधिपूर्वक दक्षिणावाले संवत्सर यज्ञ न करें ॥२५॥ यदि प्रजापालक राजा न होवे तो विद्यास्नात और तपस्वी ब्राह्मण चारों वेदोंको न पढ़े ॥२६॥ यदि प्रजा-पालक राजा न हो तो ब्रह्महत्यारेको मार डालनेवाला मनुष्य प्रशंसापात्र न समझा जाय और ब्रह्महत्या करनेवाला पुरुष सुखात्मक इन्द्रियोंके साथ जगत्में विहार करे ॥ २७ ॥ यदि प्रजपालक राजा न होवे तो चोर मनुष्योंके हाथमेंसे ही वस्तुओंको उड़ा कर ले जावें, धर्मकी सारी मर्यादाएँ छिन्न भिन्न होजावें और सब मनुष्य भयातुर होकर भाग जावें ॥ २८ ॥ यदि प्रजापालक राजा न होवे तो जगत्में अन्याय फैल जाय, सब प्रजा वर्णसंकर होजावे और देशमें दुष्काल पड़ जाय ॥ २९ ॥ राजाका रक्षण होता है तब ही मनुष्य इच्छानुसार घरके दर-वाजोंको खुलाहुआ छोड़कर चारों ओरसे निर्भय होकर शयन

नाक्रुष्टं सहते कश्चित्कुतो वा हस्तलाघवम्। यदि राजा न सम्यग्गां रक्षयत्यपि धार्मिकः ॥ ३१ ॥ स्त्रियश्चापुरुषा मार्गं सर्वालंकारभूषिताः। निर्भयाः प्रतिपद्यन्ते यदि रक्षति भूमिपः ३२ धर्ममेव प्रपद्यन्ते न हिंसन्ति परस्परम्। अनुगृह्णन्ति चान्योन्यं यदा रक्षति भूमिपः ॥ ३३ ॥ यजन्ते च महायज्ञैस्त्रयो वर्णाः पृथग्विधैः। युक्ताश्चाधीयते विद्यां यदा रक्षति भूमिपः ॥३४॥ वार्तामूलो ह्ययं लोकस्त्रय्या वै धार्यते सदा। तत्सर्वं वर्तते सम्यग् यदा रक्षति भूमिपः ॥ ३५ ॥ यदा राजा धुरं श्रेष्ठामादाय वहति प्रजाः। महता बलयोगेन तदा लोकः प्रसीदति ॥ ३६ ॥ यस्याभावेन भूतानामभावः स्यात्समन्ततः। भावे च भावो नित्यं

कर सकते हैं ॥ ३० ॥ यदि भली प्रकार पृथ्वीकी रक्षा करने वाला धार्मिक राजा न होता तो कोई मनुष्य दूसरेकी निन्दाको नहीं सहता उसकी मारको तो सहनही क्यों करता ॥ ३१ ॥ प्रजारक्षक राजाके होनेपर स्त्री सब प्रकारके आभूषणोंको पहर कर रक्षक पुरुषके विना ही अकेली निर्भय रीतिसे हिर फिर सकती हैं ॥ ३२ ॥ यदि प्रजारक्षक राजा होता है तो मनुष्य किसीको हानि पहुँचाये बिना परस्पर सहायता करते हैं और वे धर्मका ही आचरण करते हैं ॥ ३३ ॥ यदि प्रजाकी रक्षा करने वाला राजा होता है तो तीनों वर्णोंके मनुष्य भिन्न २ प्रकारके महायज्ञ करते हैं और ध्यानपूर्वक विद्याका अध्ययन करते हैं ॥ ३४ ॥ इस जगत्की रक्षा, खेती और व्यापार पर है और वेदोक्त कर्म तथा यज्ञ, यागादि पर यह जगत् टिक रहा है, इन सबकी रक्षा धर्मपालक राजा करता है ॥ ३५ ॥ जब राजा उत्तम राजधुराको धारण करके महाबलसे प्रजाको पालता है, तब प्रजा सुखपूर्वक रहती है ॥ ३६ ॥ राजाके अभावमें प्राणियोंका सर्वथा नाश होजाय, जिसकी उपस्थितिसे प्राणी

स्यात्कस्तं न प्रतिपूजयेत् ॥३७॥ तस्य यो वहते भारं सर्वलोकभयावहम् । तिष्ठन् प्रियहिते राज्ञ उभौ लोकाविमौ जयेत् ॥३८॥ यस्तस्य पुरुषः पापं मनसाप्यनुचिन्तयेत् । असंशयमिह क्लिष्टः प्रेत्यापि नरकं व्रजेत् ॥३९॥ न हि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः । महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ४० ॥ कुरुते पञ्चरूपाणि कालयुक्तानि यः सदा । भवत्यग्निस्तथादित्यो मृत्युर्वैश्रवणो यमः ॥४१॥ यदा ह्यासीदतः पापान् दहत्युग्रेण तेजसा । मिथ्योपचरितो राजा तदा भवति पावकः ॥ ४२ ॥ यदा पश्यति चारेण सर्वभूतानि भूमिपः । क्षेमञ्च कृत्वा व्रजति तदा भवति भास्करः ४३ अशुचींश्च यदा क्रुद्धः क्षिणोति शतशो नरान् । सपुत्र-

नित्य जीवित रहते हैं, ऐसे राजाकी पूजा कौन न करेगा ।३७। जो पुरुष राजाका प्रिय तथा हित करता है और सब लोकोंको भय देनेवाले उसके भारका वहन करता है, वह पुरुष इस लोक तथा परलोक—इन दोनों लोकोंको जीत लेता है ।। ३८ ।। और जो पुरुष मनमें भी राजाका अशुभ चाहता है तो वह पुरुष वास्तवमें इस लोकमें दुःखी रहता है और मरनेके पीछे नरकमें पड़ता है ।। ३९ ।। "यह तो मनुष्य है" ऐसा विचार कर कभी भी राजाका अपमान करना चाहिये, क्योंकि-राजा मनुष्योंमें देवांश है ।। ४० ।। राजा भिन्न २ पाँच अवसरोंमें अग्नि, सूर्य मृत्यु, कुबेर और यम—इन पाँच प्रकारके रूपोंको धारण करता है ।। ४१ ।। जब वह लुच्चोंको कपट करके ठगता है और वह पापियोंको उग्र तेजसे भस्म करता है उस समय वह अग्निके रूपको धारण करता है ।। ४२ ।। और जब वह दूतरूप नेत्रसे सब प्राणियोंके कर्मोंको देखता है और प्रजाका कल्याण करने की इच्छा करता ये, तब वह सूर्यरूपको धारण करता है ॥४३॥ क्रोधमें आकर जब वह सैंकड़ों मनुष्योंका, उनके पुत्र, पौत्र और

पौत्रान् सामात्यांस्तदा भवति सोऽन्तकः ॥४४॥ यदा त्वधार्मिकान् सर्वांस्तीक्ष्णैर्दण्डैर्नियच्छति । धार्मिकांश्चानुगृह्णाति भवत्यथ यमस्तदा ४५ यदा तु धनदाराभिस्तर्पयत्युपकारिणः । आच्छिनत्ति च रत्नानि विविधान्यपकारिणाम् ॥४६॥श्रियं ददाति कस्मैचित्कस्माच्चिदपकर्षति । तदा वैश्रवणो राजा लोके भवति भूमिपः ॥४७॥ नास्यापवादे स्थातव्यं दक्षेणाक्लिष्टकर्मणा । धर्ममाकांक्षता लोकमीश्वरस्यानसूयता ॥ ४८ ॥ न हि राज्ञः प्रतीपानि कुर्वन् सुखमवाप्नुयात् । पुत्रो भ्राता वयस्यो वा यद्यप्यात्मसमो भवेत् ४९ कुर्यात् कृष्णगतिः शेषं ज्वलितोऽनिलसारथिः । न तु राजाभिपन्नस्य शेषं क्वचन विद्यते ॥५०॥ तस्य सर्वाणि रक्ष्याणि दूरतः परिव-

मन्त्रियों सहित नाश करडालता है, तब वह अन्तकरूपको धारण करता है ॥ ४४ ॥ जब वह अधार्मिक पुरुषोंको तीक्ष्ण दण्डोंसे शिक्षा देकर अंकुशमें रखता है और धार्मिक पुरुषोंके ऊपर अनुग्रह करता है, तब वह यमरूपको धारण करता है ॥ ४५ ॥ जिन पुरुषोंने राज्यकी या राजाकी सेवाकी होती है उनको वह धनसे तृप्त करता है और जो उसके सामने आते हैं, उनके वह नानाप्रकारके रत्नोंका हरण करलेता है, तब वह इस पृथिवी पर कुवेररूप माना जाता है ॥४६-४७॥ जो मनुष्य कुशल हो, जो कार्य करनेकी शक्ति रखता हो, जो सद्गुण प्राप्त करना चाहता हो, जो ईर्षासे मुक्त हो, उस मनुष्यको राजाके सम्बन्धमें कोई भी निन्दाकी बात नहीं फैलानी चाहिये (राजाका सामना करनेसे कोई भी पुरुष अपनेको सुखी नहीं रखसकता) ॥४८॥ चाहे वह स्वयं राजाका पुत्र हो, भाई हो, मित्र हो अथवा राजाकी समान ही क्यों न हो ? ॥ ४९ ॥ पवन जिसका सारथि है, ऐसा अग्नि भस्म करता है, तो कुछ बाकी रहने देता है, परन्तु राजाका कोपानल कुछ भी बाकी नहीं रहने देता है ॥ ५० ॥

र्जयेत् । मृत्योरिव जुगुप्सेत राजस्वहरणान्नरः ॥५१॥ नश्येद-
भिमृशन् सद्यो मृगः कूटमिव स्पृशन् । आत्मस्वमिव रक्षेत
राजस्वमिह बुद्धिमान् ॥५२॥ महान्तं नरकं घोरमप्रतिष्ठमचेतनम् ।
पतन्ति चिररात्राय राजवित्तापहारिणः ॥ ५३ ॥ राजा भोजो
विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृपः । य एभिः स्तूयते शब्दैः कस्तं
नार्चितुमर्हति॥५४॥तस्माद् बुभूषुर्नियतो जितात्मा नियतेन्द्रियः ।
मेधावी स्मृतिमान् दक्षः संश्रयेत महीपतिम् ॥ ५५ ॥ कृतज्ञं प्राज्ञ-
मक्षुद्रं दृढभक्ति जितेन्द्रियम् । धर्मनित्यं स्थितं नीत्यां मन्त्रिणं
पूजयेन्नृपः ॥ ५६ ॥ दृढभक्ति कृतप्रज्ञं धर्मज्ञं संयतेन्द्रियम् । शूर-

और जो कोई राजाकी वस्तु हो उससे मृत्युकी समान दूर ही रहना चाहिये ॥ ५१ ॥ मारकयन्त्रके छूते ही मृग जैसे तुरत ही मरजाता है, ऐसे ही राजाकी किसी भी वस्तुको छूने ही मनुष्य तुरत ही मारा जाता है, अतएव विद्वान् पुरुष राजाके धनकी, अपने धनकी समान रक्षा करे ॥ ५२ ॥ राजाका धन चुरानेवाले बहुत दिनों तक भयंकर और जिसका अन्त नहीं है, ऐसे नरकमें पड़ते हैं ॥५३॥ राजा (प्रजाका रञ्जन करनेवाला) भोज (सुख भुगतवाने वाला) विराट् (श्रीमान्) सम्राट् (महाराज) क्षत्रिय (दुःखमेंसे बचानेवाला) भूपति (पृथिवीका पति) नृप (मनुष्योंका पालन करनेवाला) इत्यादि शब्दोंसे जिस राजाकी स्तुति की जाती है, ऐसे राजाकी पूजा कौन नहीं करेगा ? ॥ ५४ ॥ इस लिये जो उन्नति चाहता हो, जो जितात्मा हो, जितेन्द्रिय हो, मेधावी हो, स्मृतिमान् हो और जो चतुर हो, ऐसे पुरुषको सदा राजाका पक्ष करना चाहिये ॥ ५५ ॥ कृतज्ञ, बुद्धिमान्, उदार मनवाले, दृढ भक्तिवाले, जितेन्द्रिय, नित्य धर्मिष्ठ, नीतिमान् और राजकीय विचार करनेवाले मन्त्रीका राजाको नित्य सत्कार करना चाहिये ॥ ५६ ॥ अपने ऊपर दृढभक्ति रखनेवाले,

मच्छुद्रकर्माणं निषिद्धजनमाश्रयेत् ॥ ५७॥ प्रज्ञामगल्भं कुरुते मनुष्यं राजा कृशान् वै कुरुते मनुष्यान् । राजाभिपन्नस्य कुतः सुखानि राजाभ्युपेतं सुखिनं करोति ॥५८॥ राजा प्रजानां हृदयं गरीयो गतिः प्रतिष्ठा सुखमुत्तमञ्च । समश्रिता लोकमिमं परञ्च जयन्ति सम्यक्पुरुषा नरेन्द्र ॥ ५९ ॥ नराधिपश्चाप्यनुशिष्य मेदिनीं दमेन सत्येन च सौहृदेन । महद्भिरिष्ट्वा क्रतुभिर्महायशाः त्रिविष्टपे स्थानमुपैति शाश्वतम् ॥ ६० ॥ स एवमुक्तोङ्गिरसा कौशल्यो राजसत्तमः । प्रयत्नात्कृतवान् वीरः प्रजानां परिपालनम् ॥६१॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अंगिरावाक्ये अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

बुद्धिमान्, धर्मज्ञ, जितेन्द्रिय, शूरवीर, उत्तम कर्म करनेवाले और अवसर पड़ने पर "मैं अकेला ही इस कामको करलूँगा, दूसरेकी क्या आवश्यकता है" ऐसा कहनेवाले इक्कड़ वीर पुरुषका राजाको सन्मान करना चाहिये ॥ ५७ ॥ बुद्धि जैसे मनुष्यको चतुरता देती है, तैसे ही राजा पुरुषको विनयी बनाता है, राजा जिसका तिरस्कार करता है उसको सुख मिलता ही नहीं है, परन्तु जो मनुष्य राजाकी शरणमें जाता है, उसको राजा सुखी करता है ॥ ५८ ॥ राजा प्रजाका महान् हृदय है, राजा प्रजाका महान् आश्रयस्थान है, राजा प्रजाकी प्रतिष्ठा है और राजा प्रजाका उत्तमोत्तम सुख है जो पुरुष राजाका आश्रय करते हैं, वे पुरुष भलीप्रकार इस लोकका तथा परलोकका विजय करते हैं ॥ ५९ ॥ राजा भी दम, सत्यवादिता और स्नेहसे पृथिवीका पालन करके तथा महायज्ञोंमे यजन करके महायश सम्पादन करता है और फिर स्वर्गमें सनातनस्थानको पाता है ॥ ६० ॥ इसप्रकार अंगिराके पुत्र बृहस्पतिने कोसल देशके वीर महाराज वसुमनासे कहा, तदनन्तर उन शूर महाराजने प्रयत्नपूर्वक प्रजाका पालन करना आरम्भ किया था॥६१॥अड़सठवाँ अध्याय समाप्त

युधिष्ठिर उवाच । पार्थिवेन विशेषेण किं कार्य्यमवशिष्यते । कथं रक्ष्यो जनपदः कथं जेयाश्च शत्रवः ॥१॥ कथञ्चारं प्रयुञ्जीत वर्णान् विश्वासयेत् कथम् । कथं भृत्यान् कथं दारान् कथं पुत्रांश्च भारत ॥२॥ भीष्म उवाच । राजवृत्तं महाराज शृणुष्वावहितोऽखिलम् । यत् कार्य्यं पार्थिवेनादौ पार्थिवप्रकृतेन वा ॥ ३ ॥ आत्मा जेयः सदा राज्ञा ततो जेयाश्च शत्रवः । अजितात्मा नरपतिर्विजयेत कथं रिपून् ॥ ४ ॥ एतावानात्मविजयः पञ्चवर्गविनिग्रहः । जितेन्द्रियो नरपतिर्बाधितुं शक्नुयादरीन् ॥ ५ ॥ न्यसेद्गुल्मान् दुर्गेषु सन्धौ च कुरुनन्दन । नगरोपवने चैव पुरोद्यानेषु चैव ह ६ संस्थानेषु च सर्वेषु पुरेषु नगरेषु च । मध्ये च नरशार्दूल तथा

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे भीष्मपितामह ! राजाके दूसरे प्रधान कर्तव्य क्या हैं ? उसको देशकी रक्षा किसप्रकार करनी चाहिये? शत्रुओंको किसप्रकार जीतना चाहिये ? ॥१॥ वह दूतोंको किसप्रकार नियुक्त करे, चारों वर्णोंका, अपने सेवकोंका, अपनी स्त्रियोंका और अपने पुत्रोंका विश्वास-पात्र किसप्रकार होवे, यह मुझसे कहिये ॥ २ ॥ भीष्म बोले, कि-हे युधिष्ठिर ! तू सावधान होकर राजाके भिन्न २ धर्मोंको सुन, राजा अथवा राजप्रतिनिधिको आरम्भमें जो काम करने चाहियें वे मैं तुझसे कहता हूँ ॥ ३ ॥ पहिले राजाको अपनी आत्माको जीतना चाहिये फिर शत्रुओंको जीतना चाहिये, जिस राजाने आत्माको नहीं जीता है वह शत्रुओंको किसप्रकार जीत सकता है ? ॥४॥ पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंको जीतना, इसको ही आत्माका विजय समझना चाहिये, इन्द्रियोंको जीतने वाला राजा ही शत्रुओंको जीत सकता है ॥५॥ हे कुरुवंशके पुत्र ! राजाको किलोंमें, सीमाओं पर, नगरोंमें, उपवनोंमें और वनोंमें फौज रखनी चाहिये ॥६॥ तैसे ही हे नरसिंह युधिष्ठिर ! सब संस्थानोंमें (पुरोंमें, नगरोंमें,

राजनिवेशने ॥७॥ प्रणिधींश्च ततः कुर्याज्जडान्धबधिराकृतीन्। पुंसः परीक्षितान् प्राज्ञान् क्षुत्पिपासाश्रमक्षमान् ॥८॥ अमात्येषु च सर्वेषु मित्रेषु विविधेषु च। पुत्रेषु च महाराज प्रणिदध्यात् समाहितः ॥ ९ ॥ पुरे जनपदे चैव तथा सामन्तराजसु। यथा न विद्युरन्योन्यं प्रणिधेयास्तथा हि ते ॥ १० ॥ चारांश्च विद्यात् प्रहितान् परेण भरतर्षभ। आपणेषु विहारेषु समाजेषु च भिक्षुषु ११ आरामेषु तथोद्याने पण्डितानां समागमे। देशेषु चत्वरे चैव सभास्वावसथेषु च ॥१२॥ एवं विचिनुयाद्राजा परचारं विचक्षणः। चारे हि विदिते पूर्वं हितं भवति पाण्डव ॥ १३ ॥ यदा तु हीनं नृपतिर्विद्यादात्मानमात्मना। अमात्यैः सह संमन्त्र्य कुर्यात् सन्धि

तथा अन्तःपुरमें) और राजमहलमें भी पैदलोंके गारद रखने चाहियें ॥ ७ ॥ परीक्षा किये हुए, मूर्ख, अन्धे और बहरेसे प्रतीत होते हुए, क्षुधा, तृषा और परिश्रमको सह सकनेवालोंको दूतके काम पर नियुक्त करना चाहिये॥८॥हे महाराज ! सकल मन्त्री, मित्र तथा पुत्रोंके ऊपर भी गुप्तदूत रखकर उनका भी अभिप्राय जानते रहना चाहिये ॥९॥ तैसे ही नगरोंमें, प्रान्तोंमें तथा सामन्त राजाओंके (क्या२) अभिप्राय हैं, यह जानना चाहिये दूतोंकी योजना इसप्रकार करनी चाहियें कि-वे दूत आपसमें भी एक दूसरेको न पहचान सकें (और किस कामको करनेके लिये नियुक्त हुए हैं, यह भी न जान सकें) ॥१०॥ हे भरतवंशमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! बाजारोंमें, विहारके स्थानोंमें, लोकोंके समूहोंमें, भिक्षुकोंके मण्डलोंमें, बगीचोंमें, उद्यानोंमें, पण्डितोंकी सभाओंमें प्रान्तोंमें, चौराहोंमें, राजसभामें और जनसमूहोंमें राजाको अपने गुप्त दूत छोड़कर शत्रुओंके दूतोंको पहिचानना चाहिये॥११-१२॥ हे पाण्डुपुत्र ! विचक्षण राजा यदि शत्रुके दूतोंको पहिलेसे ही खोज लेता है, तो उसका हित होता है ॥ १३ ॥ यदि राजा

बलीयसा ॥ १४ ॥ अज्ञायमाने हीनत्वे सन्धिं कुर्य्यात् परेण वै ।
लिप्सुर्वा कञ्चिदेवार्थं त्वरमाणो विचक्षणः ॥ १५ ॥ गुणवन्तो
महोत्साहा धर्मज्ञाः साधवश्च ये । सन्दधीत नृपस्तैश्च राष्ट्रं धर्मेण
पालयन् ॥ १६ ॥ उच्छिद्यमानमात्मानं ज्ञात्वा राजा महामतिः ।
पूर्वापकारिणो हन्याल्लोकद्विष्टांश्च सर्वशः ॥ १७ ॥ यो नोपकर्त्तुं
शक्नोति नापकर्त्तुं महीपतिः । न शक्यरूपश्चोद्धर्तुमुपेक्ष्यस्तादृशो
भवेत् ॥ १८ ॥ यात्रायां तदविज्ञातमनाक्रन्दमनन्तरम् । व्यासक्तञ्च
प्रमत्तञ्च दुर्बलञ्च विशेषतः ॥ १९ ॥ यात्रामाज्ञापयेद्वीरः कल्यः

अपनेको निर्बल जाने तो मन्त्रियोंके साथ मंत्रणा करके बली राजासे सन्धि करलेय ॥ १४ ॥ तैसे ही अपनी निर्बलता प्रकट न हुई हो और अपना किसी भी प्रकारका लाभ होता हो तो चतुर राजा शीघ्र ही अपने शत्रुसे सन्धि करले ॥ १५ ॥ और जो राजे गुणी, महोत्साही, धर्मज्ञ और सत्पुरुष हों तो उन राजाओंके साथ, अपने राज्यका हित चाहनेवाले राजाको सन्धि करलेनी चाहिये महाबुद्धिमान् राजा यदि अपनेको भयमें पड़ा हुआ देखे तो जिन मनुष्योंको एक बार दयासे छोड़ दिया हो, ऐसे अपराधियोंको तथा जिनको जनता बतावे ऐसे सकल दुष्टोंको मारडाले (कि-जिससे अपराधी अपने भयका स्मरण करके भयमे बढ़ौतरी न करें)॥ १७ ॥ तथा जो उपकार या अपकार कुछ भी न कर सकता हो तथा अपना भी उद्धार न करसके ऐसेके साथ राजा सम्बन्ध न रक्खे ॥ १८ ॥ जिस राजाको अपने बल पर विश्वास हो उस चढ़ाई करनेवाले राजाको अपनी राजधानीकी संपूर्ण व्यवस्था करनेके पीछे उत्साह-पूर्वक और धैर्यसे बड़ीभारी सेनाका सेनापतित्व लेकर, जो शत्रु दुर्बल हो, मित्ररहित हो अथवा जो दूसरोंके साथ युद्ध करनेमें घिरा हुआ हो इस कारण दूसरी ओरकी रक्षा करनेमें

पुष्टबलः सुखी । पूर्वं कृत्वा विधानञ्च यात्रायां नगरे तथा ।२०। न च वश्यो भवेदस्य नृपोयश्चातिवीर्य्यवान् । हीनश्च बलवीर्य्याभ्यां कर्षयंस्तत्परो वसेत् ॥ २१ ॥ राष्ट्रञ्च पीडयेत्तस्य शस्त्राग्निविषमूर्च्छनैः । अमात्यवल्लभानाञ्च विवादांस्तस्य कारयेत् २२ वर्ज्जनीयं सदा युद्धं राज्यकामेन धीमता । उपायैस्त्रिभिरादानमर्थस्याह बृहस्पतिः ॥२३॥ सान्त्वेन तु प्रदानेन भेदेन च नराधिपः । यदर्थं शक्नुयात् प्राप्तुं तेन तुष्येत पण्डितः ॥ २४ ॥ आददीत बलिञ्चापि प्रजाभ्यः कुरुनन्दन । स षड्भागमपि प्राज्ञस्तासामेवाभिगुप्तये॥२५॥दशधर्मगतेभ्यो यद्वसु बह्वल्पमेव च। तदाददीत

असावधान हो उसके ऊपर, हेतु (सेना और सेनापतियोंको भी) बिना बताए ही सेनाको चढ़ जानेकी आज्ञा देदे १६-२० अपनेसे बली राजाके भी सदा वशमें न रहे, अपने दुर्बल होने पर अपने बली राजाको हानि पहुँचानेकी युक्तियें सोचता ही रहे, परन्तु ऐसा करतेमें अपने राज्यको सँभाले रहे ॥ २१ ॥ शस्त्रोंसे, अग्नि लगाकर तथा (कूप आदिमें) विष डालकर बली राजाके देशको दुःखी करे और (अपने सेवक तथा दूतों द्वारा) शत्रुके मंत्री तथा प्रीतिपात्र मनुष्योंमें भेद डलवा दे २२ बुद्धिमान् राजा राज्यको चाहे तो सदा युद्ध न करे, और बृहस्पतिने अर्थसम्पादनके जो तीन उपाय बताये हैं, उनके अनुसार चले ॥ २३ ॥ हे राजन् ! वे उपाय सांत्वना, प्रदान और भेद नामक हैं, हे कुरुवंशके पुत्र युधिष्ठिर ! जितना अर्थ पानेकी अपनी शक्ति हो उतने अर्थसे पण्डित राजा प्रसन्न रहे ॥२४॥ और प्रजाकी रक्षाके लिये प्रजासे राजाको कर और उत्पन्न हुए (अन्न) मेंसे छठा हिस्सा लेना चाहिये ॥ २५ ॥ नगरके मनुष्योंकी रक्षाके लिये, उद्धत और उन्मत्त मनुष्योंसे बहुत या थोड़ा दण्डरूप धन लेना चाहिये (यदि राजा उनको दण्ड न

महता पौराणां रक्षणाय वै ॥ २६ ॥ यथा पुत्रास्तथा पौरा द्रष्टव्यास्ते न संशयः। भक्तिश्चैषां न कर्त्तव्या व्यवहारे प्रदर्शिते २७ श्रोतुश्चैव न्यसेद्राजा प्राज्ञान् सर्वार्थदर्शिनः। व्यवहारेषु सततं तत्र राज्यं प्रतिष्ठितम् ॥२८॥ आकरे लवणे शुल्के तरे नागवले तथा। न्यसेदमात्यान्नृपतिः स्वाप्तान् वा पुरुषान् हितान् ॥२६॥ सम्यग्दण्डधरो नित्यं राजा धर्ममवाप्नुयात्। राज्ञो हि सततं दण्डः सम्यग्धर्मः प्रशस्यते ॥३०॥ वेदवेदाङ्गवित् प्राज्ञः सुतपस्वी नृपो भवेत्। दानशीलश्च सततं यज्ञशीलश्च भारत ॥ ३१ ॥ एते गुणाः समस्ताः स्युर्नृपस्य सततं स्थिराः। व्यवहारलोपे नृपतेः कुतः स्वर्गः कुतो यशः ॥ ३२ ॥ यदा तु पीडितो राजा भवेद्राज्ञा

दें तो वे नागरिक मनुष्योंको दुःखी करते हैं) ॥ २६ ॥ अपनी प्रजा पर पुत्रोंकी समान वात्सल्य रखना चाहिये, इसमें कुछ सन्देह नहीं है, परन्तु झगड़ेके निर्णय करनेका समय आवे तो उनके ऊपर वात्सल्य-भाव नहीं रखना चाहिये ॥२७॥ राजाको वादी, प्रतिवादियोंके दावे सुननेके लिये सब विषयोंको जानने वाले (चतुर और व्यवहारकुशल) विद्वानोंको नियुक्त करना चाहिये, क्योंकि-राज्य न्यायकी पवित्रता पर ही टिका हुआ है ॥ २८ ॥ खान, लवण और अन्नके बिकनेका स्थान, नदीका घाट तथा हाथीखानेके स्थान पर राजा परमविश्वासपात्र हितकारी मन्त्रियोंको नियत करे ॥ २६ ॥ जो राजा नित्य अच्छे प्रकारसे दण्डधारण (न्याय) करता है वह धर्मको पाता है, नित्य दण्डधारण (न्याय) करना राजाका उत्तम धर्म कहलाता है ॥ ३० ॥ हे भरतवंशी ! राजाको वेद और वेदके अङ्गोंमें प्रवीण होना चाहिये, बुद्धिमान्, अच्छा तपस्वी, दानशील तथा सदा यज्ञ करनेका अभ्यासी होना चाहिये ॥ ३१ ॥ राजाके ये सब गुण सदा स्थिर होने चाहियें, राजाके व्यवहारका लोप

बलीयसा । तदाभिसंश्रयेद्दुर्गं बुद्धिमान् पृथिवीपतिः ॥३३॥ निश्चावाकम्य मित्राणि विधानमुपकल्पयेत् । सामभेदान् विरोधार्थं विधानमुपकल्पयेत् ॥ ३४ ॥ घोषान्न्यसेत मार्गेषु ग्रामानुत्थापयेदपि । प्रवेशयेच्च तान सर्वान् शाखानगरकेष्वपि ॥३५॥ ये गुप्ताश्चैव दुर्गाश्च देशास्तेषु प्रवेशयेत् । धनिनो बलमुख्यांश्च सान्त्वयित्वा पुनः पुनः ॥ ३६ ॥ सस्याभिहारं कुर्याच्च स्वयमेव नराधिपः । असम्भवे प्रवेशस्य दहेदावाग्निना भृशम् ॥३७॥ क्षेत्रस्थेषु च सस्येषु शत्रोरुपजपेन्नरान् । विनाशयेद्वा तत् सर्वं बलेनाथ स्वकेन वा ॥ ३८ ॥ नदीमार्गेषु न तथा संक्रमानव-

होने पर सुख कहाँ और यश कहाँ ? ॥ ३२ ॥ यदि बलवान् राजा निर्बल राजाको दुःख देय तो बुद्धिमान् निर्बल राजा तुरन्त किलेका आश्रय लेय ॥३३॥ और समयानुसार मित्रोंको बुलवाकर उनके साथ सलाह करे, कि-सन्धि, भेद या युद्ध इनमेंसे क्या करना चाहिये ॥ ३४ ॥ (यदि संमति करने पर युद्धका निश्चय होय तो गोठोंको वनमेंसे उठाकर प्रसिद्ध मार्गोंमें स्थापित करदेय, आवश्यकता पड़ने पर ग्रामोंको भी उठाकर उनको शाखानगरों (कसबों) में मिलादेय ॥ ३५ ॥ फिर सङ्कटका समय आने पर देशमें जो गुप्त और दुर्गम (सुरक्षित) स्थान हों उनमें धनी पुरुषोंको और सेनाके मुख्य २ अधिकारियोंको वारम्वार धीरज देकर पहुँचा देय ॥३६॥ अपने राज्यका सब अन्न अपने काबूमें करलेय और यदि ऐसा न होसके तो आग लगवाकर जलादेय (परन्तु शत्रुके साथमें न जाने देय)३७ अथवा (ऐसा करनेका अवसर न मिले अर्थात् शत्रु अचानक चढ़ आवे तो) शत्रुकी ओरके मनुष्योंमें आपसमें कलह करवाकर उनसे खेतोंमें उगेहुए अन्नका नाश करवाडाले, यदि ऐसा न बनसके तो अपनी सेनासे नष्ट करवादेय ॥ ३८ ॥ नदियों

सादयेत् । जलं विस्रावयेत् सर्वमविस्राव्यञ्च दूषयेत् ॥ ३६ ॥
तदात्वेनायतीभिश्च निवसेद्भूम्यनन्तरम् । प्रतीघातं परस्याजौ
मित्रकार्येऽप्युपस्थिते ॥ ४० ॥ दुर्गाणां चाभितो राजा मूलच्छेदं
प्रकारयेत् । सर्वेषां क्षुद्रवृक्षाणां चैत्यवृक्षान्विवर्जयेत् ॥ ४१ ॥
प्रवृद्धानां च वृक्षाणां शाखां प्रच्छेदयेत्तथा । चैत्यानां सर्वथा
त्याज्यमपि पत्रस्य पातनम् ॥ ४२ ॥ प्रगण्डीः कारयेत् सम्य-
गाकाशजननीस्तदा आपूरयेच्च परिखां स्थाणुनक्रझषाकुलाम् ४३
सङ्कटद्वारकाणि स्युरुच्छ्वासार्थं पुरस्य च । तेषाञ्च द्वारवद् गुप्तिः

पर पार उतरनेके लिये बनवायेहुए पुल तुड़वादेय, तालाव आदि जलाशयोंमेंका जल निकलवादेय, या उनमें विष डलवाकर जलको पीनेके अयोग्य करदेय ॥ ३६ ॥ मित्रकी रक्षा करनेका भार अपने ऊपर आपड़ा हो तो (अपने राज्यकी रक्षा करनेके लिये) उसको भी त्यागकर वर्त्तमान और भविष्यत्कालका विचार करके रणभूमिमें शत्रुका नाश करसकनेवाले शत्रुके साथ मित्रता करके उसकी सेनाकी सहायता लेताहुआ अपने देशमेंसे शत्रुको निकाल देय ॥ ४० ॥ वैरी जिन किलोंका आश्रय लेय उन किलोंको चारों ओरसे तुडवादेय, देवालयके वृक्षोंको छोड कर और सब छोटे २ वृक्षोंको भी उखडवाडाले ॥ ४१ ॥ जो वृक्ष बहुत ही बढगए हों उनके गुद्दे कटवादेय, परन्तु चैत्यवृक्षोंका तो एक पत्ता भी न तुडवावे ॥४२॥ नगरके चारों ओर परकोटा बनवावे और उसके आसपास ऐसे स्थान बनवावे कि—जिनके ऊपर सैनिक खड़े होसकें अथवा बैठसकें, किलेके बाहर चारों ओर खाई खुदवाकर उसमें पानी भरदेय और उसको काँटेवाले वृक्ष, मगरमच्छ तथा नाकोंसे भरी रक्खे, नगरकी रक्षाके परकोटेकी भीतमें झरोखे रक्खे, कि—जिनमेंको नगरमें पवन आवे और सङ्कटके समय उनमेंको निकलकर बाहर जासके

कार्या सर्वात्मना भवेत् ॥ ४४ ॥ द्वारेषु च गुरूण्येव यन्त्राणि स्थापयेत् सदा । आरोपयेच्छतघ्नीश्च स्वाधीनानि च कारयेत् ४५ काष्ठानि चाभिहार्याणि तथा कूपांश्च खानयेत् । संशोधयेत्तथा कूपान् कृतपूर्वान् पयोर्थिभिः ॥ ४६ ॥ तृणच्छन्नानि वेश्मानि पङ्केनाथ प्रलेपयेत् । निर्हरेच्च तृणं मासि चैत्रे वह्निभयात्तथा ४७ नक्तमेव च भक्तानि पाचयेत नराधिपः । न दिवा ज्वालयेदग्निं वर्जयित्वाग्निहोत्रिकम् ॥ ४८ ॥ कर्मारारिष्टशालासु ज्वलेदग्निः सुरक्षितः । गृहाणि च प्रवेश्यान्तर्विधेयः स्याद्धुताशनः ॥४ ॥ महादण्डश्च तस्य स्याद्यस्याग्निर्वै दिवा भवेत् । प्रघोषयेदथै-

उन झरोखोंकी भी सदा बड़े २ द्वारकी समान पहरे आदि लगा कर रक्षा करे ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ किलेमें बनायेहुए झरोखोंके स्थानों पर युद्धके बड़े २ यन्त्र (तोप आदि) लगावे और उनके ऊपर अपना अधिकार रक्खे ४५ किलेमें जलानेकी लकड़ियोंका बडाभारी संग्रह करे, सेनाके तथा दूसरे लोगोंके पानी पीनेके लिये कुए खुदवावे अथवा पहले दूसरोंके खुदवाये हुए कुए हों तो उनको मट्टी निकलवाकर शुद्ध करलेय ॥ ४६ ॥ जो घर छप्परोंके बने हों उनके ऊपर मट्टी लिहसवादेय और युद्ध गरमीके दिनोंमें होय तो आगके भयसे सुरक्षित रहनेके लिये खेतोंमेंसे घास आदि उखड़वाडाले ॥४७॥ उन दिनोंमें रात्रिमें ही भोजन तयार करनेकी आज्ञा देनी चाहिये अग्निहोत्रके अतिरिक्त दिनमें अग्नि नहीं सुलगानी चाहिये ॥ ४८ ॥ लुहारको भट्टीमें तथा सूतिकागृहमें बहुत सभँल कर अग्नि रखनी चाहिये, लोगोंको घरोंमें भी अग्निको दवा कर रखना चाहिये; जिससे आग न लगे ॥४९॥ नगरकी रक्षाके लिये ढिंढोरा पिटवा देना चाहिये कि–"कोई भी मनुष्य दिनमें अग्निको किसी प्रकार भी सुलगती हुई रक्खेगा तो उसको बडा भारी दण्ड दिया जावेगा" ॥५०॥

वञ्च रक्षणार्थं पुरस्य च ॥५०॥ भिक्षुकांश्चाक्रिकांश्चैव क्लीबा-न्मत्तान् कुशीलवान् । बाह्यान् कुर्यान्नरश्रेष्ठ दोषाय स्युर्हि ते-ऽन्यथा ॥ ५१ ॥ चत्वरेष्वथ तीर्थेषु सभास्वावसथेषु च । यथा-र्थवर्णं प्रणिधिं कुर्यात्सर्वस्य पार्थिवः ॥ ५२ ॥ विशालान् राज-मार्गांश्च कारयीत नराधिपः । प्रपाश्च विपणींश्चैव यथोद्देशं समाविशेत् ॥ ५३ ॥ भाण्डागारायुधागारान् योधागारांश्च सर्वशः । अश्वागारान् गजागारान् बलाधिकरणानि च ॥५४॥ परिखाश्चैव कौरव्य प्रतोलीर्निष्कुटानि च । न जात्वन्यः प्रपश्येत गुह्यमेतद्युधिष्ठिर ॥ ५५ ॥ अर्थसंनिश्चयं कुर्याद्राजा परबला-र्दितः । तैलं वसा मधु घृतमौषधानि च सर्वशः ॥ ५६ ॥ अङ्गा-रकुशमुञ्जानां पलाशशरवर्णिनाम् । यवसेन्धनदिग्धानां कार-

हे श्रेष्ठ राजन्! राजाको ऐसे अवसरोंपर भिक्षुकोंको, ग्वालियोंको, हीजड़ोंको, उन्मत्तोंको और गायकोंको नगरमेंसे निकाल देना चाहिये, क्योंकि-वे नगरमें रहते हैं तो बहुत ही शीघ्र आपत्ति आजाती है॥५१॥ चौकोंमें, पहिले कहे हुए मंत्री आदि अठारह तीर्थोंमें, सभाओंमें, तथा मनुष्योंके समुदायोंमें, राजाको उनका अभिप्राय जाननेके लिये निपुण दूतोंको रखना चाहिये५२राजाको राजमार्ग चौड़े कराने चाहियें, पौ और बाजार योग्यरीतिसे बन-वाने चाहिये ॥५३॥ हे राजन्! युधिष्ठिर! धनके भंडार आयु-धोंके भण्डार, योधाओंकी बारकें, घुड़सालें, हाथीखाने, सेनाकी छावनियें खाइयें, राजमहलके बगीचे दूसरेकी न देखें इसप्रकार बनवाने चाहियें।५४-५५। शत्रुकी सेनासे घिरेहुए राजाको द्रव्य, बाणोंकी मारसे हुए घावोंको भरनेके लिये तेल, चरबी, मद्य, घी, और सब प्रकारकी ओषधियें संग्रह करके रखनी चाहियें ॥५६॥ अंगारा, दर्भ, मूँज, ढाक, बाण, लेखक, नरसेनबाँस, घास, लकड़ी और विषमें बुझे हुए बाण-इन सबका संग्रह करके

येत च सञ्चयान् ॥ ५७ ॥ आयुधानाञ्च सर्वेषां शक्त्यृष्टिप्रासवर्मणाम् । सञ्चयानेवमादीनां कारयीत नराधिपः॥५८॥ औषधानि च सर्वाणि मूलानि च फलानि च । चतुर्विधांश्च वैद्यान् वै संगृह्णीयाद्विशेषतः ॥ ५९ ॥ नटांश्च नर्त्तकांश्चैव मल्लान् मायाविनस्तथा । शोभयेयुः पुरवरं मोदयेयुश्च सर्वशः ॥ ६० ॥ यतः शंका भवेच्चापि भृत्यतोऽथापि मन्त्रितः । पौरेभ्यो नृपतेर्वापि स्वाधीनान् कारयीत तान् ॥ ६१ ॥ कृते कर्मणि राजेन्द्र पूजयेद्धनसञ्चयैः । दानेन च यथार्हेण सान्त्वेन विविधेन च ६२ निर्वेदयित्वा तु परं हत्वा वा कुरुनन्दन । ततोऽनृणो भवेद्राजा यथाशास्त्रनिदर्शितम् ॥६३॥ राज्ञा सप्तैव रक्ष्याणि तानि चैव

रखनी चाहिये ॥ ५७ । सब प्रकारके आयुध यथाशक्ति, ऋष्टि, प्रास, कवच आदि वस्तुओंका भी संग्रह करना चाहिये ॥५८॥ सब प्रकारकी औषधियोंका, मूलोंका और फलोंका संग्रह रखे तथा (विष, शल्य, रोग और कृत्याको दूर करनेवाले) चार प्रकारके वैद्योंको भी अपने पास संग्रह रक्खे ॥५९॥ नट, नृत्य करनेवाले, मल्ल, मायावी, और इन्द्रजाल जाननेवालोंको भी अपने पास रक्खे क्योंकि-वे नगरकी शोभा बढानेवाले हैं और नगरके मनुष्योंको प्रसन्न करते हैं ॥ ६० ॥ यदि राजाको सेवकोंसे, मन्त्रियोंसे, नागरिकोंसे अथवा पडोसी राजासे भयकी शंका हो तो तात्कालिक उपाय करके उनको स्वाधीन करदे ६१ हे राजन्! राजाका कोई भी काम सिद्ध हो तो उस काममें सहायता देनेवालोंका, बहुतसा धन देकर, यथायोग्य दान देकर और विविध प्रकारके सामवचनोंसे सत्कार करे ॥ ६२ ॥ हे कुरुवंशके पुत्र ! शास्त्रमें कहा है कि-राजा वैरीको ताडनादिकसे खिन्न करके अथवा उनका नाश करके उऋण होताहै ६३ राजाको सात वस्तुओंकी रक्षा करनी चाहिये, उन सातोंको मैं

निबोध मे । आत्माऽमात्याश्च कोशश्च दण्डो मित्राणि चैव हि ॥ ६४ ॥ तथा जनपदाश्चैव पुरञ्च कुरुनन्दन । । एतत् सप्तात्मकं राज्यं परिपाल्य प्रयत्नतः ॥ ६५ ॥ षाड्गुण्यं च त्रिवर्गं च त्रिवर्गमपरन्तथा । यो वेत्ति पुरुषव्याघ्र स भुंक्ते पृथिवीमिमाम् ॥ ६६ ॥ षाड्गुण्यमिति यत्प्रोक्तं तन्निबोध युधिष्ठिर । संधानासनमित्येव यात्रासंधानमेव च ॥ ६७ ॥ विगृह्यासनमित्येव यात्रां संपरिगृह्य च । द्वैधीभावस्तथान्येषां संश्रयोऽथ परस्य च ॥६८॥ त्रिवर्गश्चापि यः प्रोक्तस्तमिहैकमनाः शृणु । क्षयस्थानञ्च वृद्धिश्च त्रिवर्गः परमस्तथा ॥ ६९ ॥ धर्मश्चार्थश्च कामश्च सेवितव्योऽथ कालतः । धर्मेण च महीपालश्चिरं पालयते महीम् ॥ ७० ॥ अस्मिन्नर्थेषु श्लोकौ द्वौ गीतावाङ्गिरसा स्वयम् ।

तुझसे कहता हूँ, सुन ! अपना आत्मा, मन्त्री, धनके भण्डार, सेना, मित्र, देश और नगर, ये सात वस्तुएँ राज्य कहाती हैं, ऐसे राज्यकी राजा प्रयत्न पूर्वक रक्षा करे ॥ ६४–६५ ॥ छः गुण, तीन वर्ग तथा तीन परम वर्ग, इतनी वस्तुओंको जो राजा जानता है, वह राजा हे पुरुषव्याघ्र ! इस पृथ्वी पर राज्य करता है ॥ ६६ ॥ मैंने तुझे जो छः गुण बताये, वे इस प्रकार हैं(शत्रुके साथ)संधि करनेके पीछे शान्तपनेसे राज्य करना, शत्रुके ऊपर चढ़ाई करना,शत्रुसे विग्रह करके स्थान पर बैठ जाना, सेना इकट्ठी करना, संधिके उद्देश्यसे शत्रुको भय–भीत करनेके लिये चढ़ाई करके फिर अपने स्थानमें बैठजाना; दोनों स्थानोंमें सन्धि, किले या महाराजका आश्रय करना॥६७–६८॥ अब तू एकचित्त होकर तीन वर्गोंके वर्णनको सुन, क्षय, स्थान और वृद्धि ये तीन त्रिवर्ग कहाते हैं और धर्म, अर्थ तथा काम ये परम त्रिवर्ग कहाते हैं उनका कालानुसार सेवन करे, क्योंकि–धर्माचरण करनेसे चिरकाल तक राजा पृथ्वी पर राज्य करता

यादवीपुत्र भद्रन्ते तावपि श्रोतुमर्हसि ॥ ७१ ॥ कृत्वा सर्वाणि कार्याणि सम्यक् सम्पाल्य मेदिनीम् । पालयित्वा तथा पौरान् परत्र सुखमेधते ॥७२॥ किं तस्य तपसा राज्ञः किं च तस्याध्वरैरपि । सुपालितप्रजो यः स्यात् सर्वधर्मविदेव सः ॥ ७३ ॥ युधिष्ठिर उवाच । दण्डनीतिश्च राजा च समस्तौ तावुभावपि । कस्य किं कुर्वतः सिध्येत्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ७४ ॥ भीष्म उवाच । दण्डनीत्या महाभागं सिद्धैः शब्दैः सहेतुकैः । शृणु मे शंसतो राजन् यथावदिह भारत ॥ ५७ ॥ दण्डनीतिः स्वधर्मेभ्यश्चातुर्वर्ण्यं नियच्छति । प्रयुक्ता स्वामिना सम्यगधर्मेभ्यो नियच्छति ॥ ७६ ॥ चातुर्वर्ण्ये स्वकर्मस्थे मर्य्यादानामसङ्करे ।

है ॥ ६९-७० ॥ इस विषयमें अंगिराके पुत्र बृहस्पतिने दो श्लोक कहे हैं, उन दोनों श्लोकोंको हे यदुकी पुत्री कुन्तीके पुत्र युधिष्ठिर ! तू सुन ! तेरा कल्याण हो ॥ ७१ ॥ सब काम करके पृथ्वीका भलीप्रकार पालन करना, नागरिकोंका पालन करना, ऐसा करनेसे राजा परलोकमें सुख पाता है ॥ ७२ ॥ जो राजा अपनी प्रजाका भलीप्रकार पालन करता है, उस राजाको तप करनेकी अथवा यज्ञ करनेकी कुछ आवश्यकता नहीं रहती है, वह राजा सब धर्मोंको जानने वाला है॥७३॥युधिष्ठिरने बूझा कि—हे पितामह ! दण्डनीति और राजा, ये समस्त और व्यस्त और समस्त इस प्रकार उभयरूप, कौन किस प्रकार उपयोगमें लानेसे कार्यसिद्धि करते हैं ॥ ४७ ॥ हे भीष्म बोले कि— हे युधिष्ठिर ! दण्डनीतिसे प्रजाका और राजाका जो महाभाग्य (उदय) होता है उसको हेतुयुक्त सिद्ध शब्दोंमें मैं तुझसे यथार्थरीतिसे कहता हूँ उसको तू सुन ! ॥ ७५ ॥ राजा दण्डनीतिसे चारों वर्णोंके मनुष्योंको अपने धर्ममें टिकाये रखता है और राजा यदि उसका योग्यरीतिसे प्रयोग करता है,

दण्डनीतिकृते क्षेमे प्रजानामकुतोभये ॥ ७७ ॥ साम्ये प्रयत्नं कुर्वन्ति त्रयो वर्णा यथा विधि । तस्मादेव मनुष्याणां सुखं विद्धि समाहितम् ॥ ७८ ॥ कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम् । इति ते संशयो माभूत् राजा कालस्य कारणम् ॥७९॥ दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक्कात्स्न्र्येन वर्त्तते । तदा कृतयुगं नाम कालसृष्टं प्रवर्त्तते ॥ ८० ॥ ततः कृतयुगे धर्मो नाधर्मो विद्यते क्वचित् । सर्वेषामेव वर्णानां नाधर्मे रमते मनः ॥८१ योगक्षेमा प्रवर्त्तन्ते प्रजानां नात्र संशयः । वैदिकानि च सर्वाणि भवन्त्यपि गुणान्युत ॥ ८२ ॥ ऋतवश्च सुखाः सर्वे भवन्त्युत

तो वह अपनी प्रजाको अधर्मकी ओर जानेसे रोकता है ॥७६॥ दण्डनीतिके प्रभावसे जब चारों वर्णोंकी प्रजा अपने २ कर्मोंमें परायण रहती है, तब मर्यादाका नाश नहीं होता है और सबका क्षेम हुआ करता है, प्रजा चारों ओरसे निर्भय होती है, तब ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीनों वर्ण अपने २स्वास्थ्यके लिये शास्त्रानुसार प्रयत्न करते हैं और इससे ही मनुष्योंको सुख मिलता है, यह तुझे जानना चाहिये ॥ ७७–७८ ॥ राजाके फेरफारमें काल कारण है अथवा कालके फेरफारमें राजा कारण है? इस विषयमें तुझे संशय नहीं रखना चाहिये और राजा ही कालका फेरफार करनेवाला है, ऐसा जान ॥ ७९ ॥ राजा जब सम्पूर्ण रया और कठोरतासे दण्डनीतिका प्रयोग करता है, तब पृथ्वी पर सत्ययुग वर्तता है ॥ ८० ॥ सत्ययुगमें किसी भी स्थान पर अधर्म नहीं होता है और धर्म ही होता है, चारों वर्णोंका मन अधर्म पर प्रीति नहीं करता है ॥८१॥ तथा प्रजा जैसे चाहती है तैसे उसका योग तथा क्षेम अवश्य हुआ करता है है और सब वैदिक गुण जगत्में फैलजाते हैं ॥८२॥ सब ऋतुएँ सुखात्मक और रोगरहित होजाती हैं मनुष्योंके स्वर, शरीरका

निरामयाः । प्रसीदन्ति नराणाञ्च स्वरवर्णमनांसि च ॥ ८३ ॥ व्याधयो न भवन्त्यत्र नाल्पायुर्दृश्यते नरः । विधवा न भवन्त्यत्र कृपणो न तु जायते ॥ ८४ ॥ अकृष्टपच्या पृथिवी भवन्त्योषधयस्तथा । त्वक्पत्रफलमूलानि वीर्यवन्ति भवन्ति च ॥ ८५ ॥ नाधर्मो विद्यते तत्र धर्म एव तु केवलम् । इति कार्तयुगानेतान् धर्मान् विद्धि युधिष्ठिर ॥ ८६ ॥ दण्डनीत्यां यदा राजा त्रीनंशाननुवर्त्तते । चतुर्थमंशमुत्सृज्य तदा त्रेता प्रवर्त्तते ॥८७॥ अशुभस्य चतुर्थांशस्त्रीनंशाननुवर्त्तते । कृष्टपच्यैव पृथिवी भवन्त्योषधयस्तथा ॥ ८८ ॥ अर्द्धं त्यक्त्वा यदा राजा नीत्यर्थमनुवर्त्तते । ततस्तु द्वापरं नाम स कालः सम्प्रवर्त्तते ॥ ८९ अशुभस्य यदा

वर्ण, और मन प्रसन्न होजाते हैं ॥ ८३ ॥ व्याधियोंका नाम नहीं रहता है, मनुष्य अल्पायुवाले नहीं होते हैं, स्त्रियें विधवा नहीं होती हैं; कोई भी कृपण उत्पन्न नहीं होता है ॥ ८४ ॥ जोते विना पृथ्वीमेंसे अन्न और औषधियें उत्पन्न होती हैं, छाल, पत्ते, फल और मूल वीर्यवाले होते हैं ॥ ८५ ॥ और अधर्मका नाम नहीं रहता है, केवल धर्म ही वर्तता रहता है, हे युधिष्ठिर ! ये बहुतसे सत्ययुगके धर्म हैं ॥ ८६ ॥ अब जब राजा दण्डनीतिको तीन अंशोंमें वर्तता है और चौथे अंशका त्याग करता है, तब त्रेतायुगका आरम्भ होता है ॥ ८७ ॥ उस युगमें पापका एक चतुर्थांश धर्मके तीन अंशोंका अनुसरण करता है, तब जोतनेसे ही पृथ्वी पर अन्न और औषधियें उत्पन्न होती हैं ॥ ८८ ॥ जब राजा दण्डनीतिके आधे भागका त्याग करता है और आधे भागका अनुसरण कर देता है, तब द्वापर युगका आरम्भ होता है ॥ ८९ ॥ उस समय पापके दो अंश चलते हैं और वे दो, धर्मके अंशोंका अनुसरण करते हैं तब पृथ्वी पर जोतनेसे अन्न उत्पन्न होता है

स्वर्ह्न द्वावंशावनुवर्त्तते । कृष्टपच्यैव पृथिवी भवत्यर्धफला तदा ६० दण्डनीतिं परित्यज्य तदा कार्त्स्न्येन भूमिपः । प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन प्रवर्त्तेत तदा कलिः ॥ ९१ ॥ कलावधर्मो भूयिष्ठं धर्मो भवति न क्वचित् । सर्वेषामेव वर्णानां स्वधर्माच्च्यवते मनः॥९२॥ शूद्रा भैक्ष्येण जीवन्ति ब्राह्मणा परिचर्य्यया । योगक्षेमस्य नाशश्च वर्त्तते वर्णसङ्करः ॥ ९३ ॥ वैदिकानि च कर्माणि भवन्ति निर्गुणान्युत । ऋतवो न सुखाः सर्वे भवन्त्यामयिनस्तथा ॥९४॥ ह्रसन्ति च मनुष्याणां स्वरवर्णमनांस्युत । व्याधयश्च भवन्त्यत्र म्रियन्ते च गतायुषः ॥९५॥ विधवाश्च भवन्त्यत्र नृशंसा जायते प्रजाः । क्वचिद्वर्षति पर्ज्जन्यः क्वचित्सस्यं प्ररोहति ॥ ९६ ॥

परन्तु वह भली प्रकार फल नहीं देता अर्थात् आधा ही पकता है ॥ ९० ॥ जब राजा दण्डनीतिको समूल त्याग करके अन्यायसे प्रजाको दुःख देने लगता है तब पृथ्वी पर कलियुगका आरम्भ होता है ॥ ९१ ॥ कलियुगमें अधर्मकी वृद्धि होती है किसी भी स्थान पर धर्म नहीं दीखता, सब वर्णोंका मन अपने धर्मके ऊपरसे भ्रष्ट होजाता है ॥ ९२ ॥ शूद्र भिक्षावृत्तिसे आजीविका करते हैं, ब्राह्मण सेवावृत्तिसे आजीविका करते हैं प्रजाके योग और क्षेम दोनोंका नाश होजाता है, प्रजा वर्णसंकरी स्थितिमें आपड़ती है ॥९३॥ वेदोक्त धर्म कर्म गुणरहित होजाते हैं, ऋतु असुखकारी होजाती हैं और सब मनुष्य रोगी होजाते हैं ॥ ९४ ॥ मनुष्योंका स्वर (उच्चार) भंग होजाता है, शरीरका वर्ण फीका पड़जाता है, मन भी उदास होजाता है, अनेक रोग उत्पन्न होजाते हैं और मनुष्य अकालमरण पाते हैं ॥ ९४ ॥ स्त्रियें विधवा होजाती हैं और बड़े ही क्रूर मनुष्य स्थान २ पर प्रतीत होने लगते हैं, वर्षा बराबर नहीं होती है और धान्य पकता नहीं है, जब राजा सावधान होकर दण्डनीतिसे प्रजाकी

रसाः सर्वे क्षयं यान्ति यदा नेच्छति भूमिपः। प्रजाः संरक्षितुं सम्यग्दण्डनीतिसमाहितः ॥ ९७ ॥ राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेतायां द्वापरस्य च। युगस्य च चतुर्थस्य च राजा भवति कारणम् ९८ कृतस्य करणाद्राजा स्वर्गमत्यन्तमश्नुते। त्रेतायाः करणाद्राजा स्वर्गं नात्यन्तमश्नुते ॥ ९९ ॥ प्रवर्त्तनाद् द्वापरस्य यथाभागमुपाश्नुते। कलेः प्रवर्तनाद्राजा पापमत्यन्तमश्नुते ॥ १०० ॥ ततो वसति दुष्कर्मा नरके शाश्वतीः समाः। प्रजानां कल्मषे मग्नोऽकीर्त्तिं पापं च विन्दति ॥ १०१ ॥ दण्डनीतिं पुरस्कृत्य विजानन् क्षत्रियः सदा। अनवाप्तं च लिप्सेत लब्धञ्च परिपालयेत् ॥ १०२ ॥ लोकस्य सीमन्तकरी मर्यादा लोकभाविनी। सम्यग्नीता दण्डनीतिर्यथा माता यथा पिता ॥ १०३ ॥ यस्यां

भलीप्रकार रक्षा नहीं करता है, तब सब नष्ट होजाते हैं ९६-९७ इस प्रकार राजा ही सत्ययुग, द्वापरयुग और त्रेतायुगको रचने वाला है, वह ही कलियुगको उत्पन्न करनेमें कारणभूत है ९८ यदि राजा सत्ययुग चलाता है तो बहुत समय तक स्वर्गमें रहता है, त्रेतायुग चलाता है तो थोड़े समय तक स्वर्गमें रहता है, और द्वापरयुग चलाता है तो धर्मके प्रमाणानुसार स्वर्गमें रहता है और कलियुगको चलाता है तो बडे भारी पापके फलरूप नरकको भोगता है ॥ ९९-१०० ॥ दुष्ट कर्म करने वाला राजा बहुत समय तक नरकमें ही निवास करता है और प्रजाके पापसे डूब कर अपकीर्तिको तथा अधर्मके फलको पाता है ॥ १०१ ॥ अतः क्षत्रियको दण्डनीतिका ज्ञान प्राप्त कर सदा दण्डनीतिका उपयोग करना चाहिये, नहीं मिली हुई वस्तुको पाना चाहिये और पाई हुई वस्तुकी रक्षा करनी चाहिये ॥१०२॥ मनुष्योंकी व्यवस्था करनेवाली दण्डनीतिका यदि भली प्रकार उपयोग किया जाता है तो माता पिता जैसे बालककी रक्षा करते हैं तैसे

भवन्ति भूतानि तद्विद्धि मनुजर्षभ । एष एव परो धर्मो यद्राजा दण्डनीतिमान् ॥ १०४ ॥ तस्मात् कौरव्य धर्मेण प्रजाः पालय नीतिमान् । एवं वृत्तः प्रजा रक्षन् स्वर्गं जेतासि दुर्जयम् १०५

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥६९॥

युधिष्ठिर उवाच । केन वृत्तेन वृत्तज्ञ वर्त्तमानो महीपतिः । सुखेनार्थान् सुखोदर्कान् इह च प्रेत्य चाप्नुयात् ॥ १ ॥ भीष्म उवाच । अयं गुणानां षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशद्गुणसंयुतः । यान् गुणांस्तु गुणोपेतः कुर्वन् गुणमवाप्नुयात् ॥ २ ॥ चरेद्धर्मानकटुको मुञ्चेत् स्नेहं न चास्तिकः। अनृशंसश्चरेदर्थं चरेत् काममनुद्धतः ३

ही वह सब लोकोंकी रक्षा करती है ॥ १०३ ॥ हे राजन् ! दण्ड नीतिका ज्ञान सम्पादन करना राजाका परमधर्म है और सब प्राणी भी दण्डनीतिके आधारसे टिक रहे हैं, ऐसा तुम समझो १०४ हे कुरुवंशके पुत्र ! तू नीतिमान् होकर प्रजाका पालन कर, नीतिमान् होकर तू प्रजाकी रक्षा करेगा तो तुझे दुर्जय स्वर्ग मिलेगा ॥ १०५ ॥ उनहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥ ६९ ॥

युधिष्ठिरने बूझा कि-हे सदाचारको जानने वाले पितामह ! राजा कौनसे गुणोंको धारण करनेसे इस लोकमें और मरणके पीछे परलोकमें सरलतासे सुखदायक पदार्थोंको पासकता है ।१। भीष्मने उत्तर दिया कि-गुणी राजाका, धर्मका आचरण करनेसे कल्याण होता है, वह धर्म छत्तीस प्रकारका है, उसको मैं तुमसे कहता हूँ सुनो ॥ २ ॥ (१) राजाको सदा राग तथा द्वेषरहित होकर धर्माचरण करना चाहिये, (२) (धर्म पर) श्रद्धा रख कर परलोक पानेके लिये दयालु रहे (लोभादिके कारणसे नहीं), (३) क्रूरताका त्याग करके धन सम्पादन करे, (४) धर्म और अर्थका नाश न करके इन्द्रियोंको तृप्त करे ॥ ३ ॥

प्रियं ब्रूयादकृपणः शूरः स्यादविकत्थनः । दाता नापात्रवर्षी स्यात् प्रगल्भः स्यादनिष्ठुरः ॥४॥ सन्दधीत न चानार्य्यैर्विगृह्णीयान्न बन्धुभिः । नाभक्तश्चारयेच्चारं कुर्य्यात् कार्य्यमपीडया ५ अर्थं ब्रूयान्न चासत्सु गुणान्ब्रूयान्न चात्मनः । अदद्यान्न च साधुभ्यो नासत्पुरुषमाश्रयेत् ॥ ६ ॥ नापरीक्ष्य नयेद्दण्डं न च मन्त्रं प्रकाशयेत् । विसृजेन्न च लुब्धेभ्यो विश्वसेन्नापकारिषु ७ अनीर्षुर्गुप्तदारः स्याच्चोक्षः स्यादघृणी नृपः । स्त्रियः सेवेत नात्यर्थं मृष्टं भुञ्जीत नाहितम् ॥८॥ अस्तब्धः पूजयेन्मान्यान् गुरून् सेवेदमायया । अर्च्चेद्देवानदम्भेन श्रियमिच्छेदकुत्सिताम् ॥ ९ ॥

(५) दीनतारहित रहकर प्रियभाषण करे, (६) अपनी प्रशंसा किये बिना शूर बने, (७) दाता होवे, परन्तु अपात्रको दान न देवे, (८) दयायुक्त प्रगल्भता रक्खे, (९) अनार्योंके साथ मेल न करे, (१०) बान्धवोंके साथ कलह न करे, (११) जो राजभक्त न हों उनको दूतोंका काम न सौंपे, (१२) किसी को सताये बिना काम करे ॥ ५ ॥ (१३) दुष्टोंसे अपनी बात न कहे, (१४) अपने गुणोंको दूसरोंके सामने न गावे, (१५) कभी भी सत्पुरुषोंके धनको न छीने, (१६) नीच पुरुषोंका कभी भी आश्रय न करे, ॥ ६ ॥ (१७) अच्छी प्रकार जाँच किये बिना किसीको दण्ड न दे, (१८) राजकाजकी गुप्त बातको कभी प्रकट न करे, (१९) धनका दान देवे, लोभीको कभी दान न देवे, (२०) दूसरेका विश्वास करे परन्तु जिसने कभी अपकार किया हो, उसका कभी विश्वास न करे ॥ ७ ॥ (२१) किसीसे ईर्षा न करे और स्त्रियोंकी रक्षा करे, (२२) शुद्ध रहे और कभी निर्दय न बने, (२३) स्त्रियोंका अतिसेवन न करे, (२४) मधुर वस्तु भी अहितकर हो तो उसको न खावे ॥ ८ ॥ (२५) अभिमानरहित होकर गुरुकी पूजा करे,

सेवेत प्रणयं हित्वा दक्षः स्यान्न त्वकालवित् । सान्त्वयन्न च मोक्षाय अनुगृह्णन्न चाक्षिपेत् ॥ १० ॥ प्रहरेन्नत्वविज्ञाय हत्वा शत्रून्न शोचयेत् । क्रोधं कुर्यान्न चाकस्मान्मृदुः स्यान्नापकारिषु ॥ ११ ॥ एवं चरस्व राज्यस्थो यदि श्रेय इहेच्छसि । अतोऽन्यथा नरपतिर्भयमृच्छत्यनुत्तमम् ॥१२॥ इति सर्वान् गुणानेतान् यथोक्तान् योऽनुवर्त्तते । अनुभूयेह भद्राणि प्रेत्य स्वर्गे महीयते ॥ १३ ॥ वैशम्पायन उवाच । इदं वचः शान्तनवस्य शुश्रु-

(२६) कपटरहित होकर बड़ोंकी सेवा करे, (२७) दम्भ न रखकर देवताओंकी पूजा करे, (२८) अनिन्दित मार्गसे लक्ष्मीकी इच्छा करे ॥९॥ (२९) स्नेहसे मान्य पुरुषोंकी सेवा करे, (३०) कार्यकुशल होवे और समयसूचकता रक्खे, (३१) धन आदि देकर अपने पुरुषोंको संतुष्ट करे, केवल बातें बनाकरही उनको विदा न करे, (३२) किसीको स्वीकार करनेके पीछे उसको त्यागे नहीं ॥ १० ॥ (३३) बिना जाने किसीको न मारे, (३४) शत्रुओंको मारनेके पीछे शोक न करे, (३५) क्रोध करे, परन्तु जहाँ क्रोध करनेका अवसर न हो तहाँ क्रोध न करे और (३६) कोमलतासे वर्ताव करे परन्तु अपराधियोंसे कोमलता न वर्ते ॥ ११ ॥ हे राजन् युधिष्ठिर ! यदि तू राज्यमें रहकर कल्याण चाहता होवे तो इसप्रकार आचरण कर और जो राजा इसके विरुद्ध आचरण करता है वह महाभयमें पड़ जाता है ॥ १२ ॥ इन सब गुणोंका जो मनुष्य यथार्थरीतिसे पालन करता है वह पुरुष इस लोकमें सब सुखोंको भोग कर मरणके पीछे स्वर्गमें पूजा जाता है ॥ १३ ॥ वैशम्पायनने कहा कि–हे राजा जनमेजय ! पाण्डवोंमें मुख्य राजा युधिष्ठिरने भीष्मके इन वचनोंको सुनकर उनको प्रणाम किया और भीम तथा

वान् युधिष्ठिरः पाण्डवमुख्यपसंमतः । तदा ववन्दे च पितामहं नृपो यथोक्तमेतच्च चकार बुद्धिमान् ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

युधिष्ठिर उवाच । कथं राजा प्रजा रक्षन्नाधिबन्धेन युज्यते । धर्मे च नापराध्नोति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥ भीष्म उवाच । समासेनैव ते राजन् धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान् । विस्तरेणैव धर्माणां न जात्वन्तमवाप्नुयात् ॥ २ ॥ धर्म्मनिष्ठान् श्रुतवतो देवव्रतसमाहितान् । अर्च्चयित्वा यजेथास्त्वं गृहे गुणवतो द्विजान् ३ प्रत्युत्थायोपसंगृह्य चरणावभिवाद्य च । अथ सर्वाणि कुर्वीथाः कार्य्याणि सपुरोहितः ॥ ४ ॥ धर्मकार्य्याणि निर्वर्त्य मङ्गलानि

दूसरोंसे रक्षित बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरने पितामहका पूजन किया और उस समयके बाद उनके वचनानुसार राज्यव्यवस्था की ॥ १४ ॥ सत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥७०॥ छ ॥

युधिष्ठिरने बूझा कि—हे भीष्मपितामह ! राजा प्रजाकी रक्षा करते समय, मुझसे प्रजाकी रक्षा कैसे होगी इस चिन्तामें कैसे न पड़े और (वादी प्रतिवादीके दावोंका) निर्णय करते समय किस प्रकार भूल न करे, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥ भीष्मने कहा, कि—हे राजन् युधिष्ठिर ! धर्मोंका विस्तारसे वर्णन करनेको बैठा जाय तो उनका अन्त नहीं पाया जासकता अतः मैं तुझसे संक्षेपमें सनातनधर्म कहता हूँ, उसको तू सुन ॥ २ ॥ जब धर्मनिष्ठ, शास्त्रवेत्ता, देवता और व्रतोंपर आस्था रखनेवाले ब्राह्मण तेरे घर आवें तब तुझे खड़े होकर उनका सत्कार करना चाहिये उनके दोनों चरणोंको छूकर उनको प्रणाम करना चाहिये, उनका यजन पूजन करना चाहिये, फिर पुरोहितको साथमें लेकर धर्मके (यज्ञ आदि) सब काम करने चाहिये उन कार्योंके पूर्ण होने

प्रयुञ्ज्य च । ब्राह्मणान् वाचयेथास्त्वमर्थसिद्धिजयाशिषः ॥ ५ ॥
आर्ज्जवेन च सम्पन्नो धीत्या बुद्ध्या च भारत । यथार्थं प्रतिगृ
ह्णीयात् कामक्रोधौ च वर्ज्जयेत् ॥ ६ ॥ कामक्रोधौ पुरस्कृत्य
योऽर्थं राजानुतिष्ठति । न स धर्मं न चाप्यर्थं प्रतिगृह्णाति बालिशः॥७॥
मा स्म लुब्धांश्च मूर्खांश्च कामार्थेषु प्रयूयुजः । अलुब्धान् बुद्धिसम्प-
न्नान् सर्वकर्मसु योजयेत् ॥ ८ ॥ मूर्खो ह्यधिकृतोऽर्थेषु कार्याणाम
विशारदः । प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन कामक्रोधसमन्वितः ॥ ९ ॥
बलिषष्ठेन शुल्केन दण्डेनाथापराधिनाम् । शास्त्रानीतेन लिप्सेथा
वेतनेन धनागमम् ॥ १० ॥ दापयित्वा करं धर्म्यं राष्ट्रं नीत्या

पर मांगलिक कर्म करके ब्राह्मणोंसे अर्थसिद्धि तथा विजय देने वाले आशीर्वाद लेने चाहियें ॥ ३-५ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! तुम्हें सरलता, धैर्य और बुद्धिसम्पन्न हो तथा काम क्रोधको दूर करके व्यावहारिक कार्य करने चाहियें ॥ ६ ॥ जो राजा काम तथा क्रोधको न त्याग कर व्यावहारिक कार्य करता है, उस राजाको मूर्ख जानना चाहिये, ऐसा राजा धर्म या अर्थ कुछ भी नहीं पासकता ॥ ७ ॥ लोभी और मूर्खोंको (अर्थ और कामके) राजकीय कार्योंके ऊपर नियुक्त नहीं करना चाहिये, और लोभ रहित बुद्धिमान् पुरुषोंको सब कामोंपर नियुक्त करना चाहिये ।८। कार्योंके स्वरूपको न जानने वाले मूर्खोंको यदि राजकीय कर्मों पर नियुक्त किया जाता है तो वे काम तथा क्रोधके वशमें हो प्रजाका अशुभ कर उसको दुःखी करते हैं ॥ ९ ॥ अन्नका छठा भाग कर लेकर, शास्त्रानुसार अपराधियोंको दण्ड देकर और चौकीदार रखकर रक्षित कियेहुए व्यापारियोंके दिये हुए दानसे राजाको अपना खजाना भरना चाहिये ॥ १० ॥ राजाको शास्त्रमें कही हुई नीतिके अनुसार देशमेंसे धर्मानुसार कर लेना चाहिये, राज्यकी व्यवस्था अच्छी प्रकार करनी चाहिये,

यथाविधि । तथैतं कल्पयेद्राजा योगक्षेममतन्द्रितः ॥ ११ ॥ गोपायितारं दातारं धर्मनित्यमतन्द्रितम् । अकामद्वेषसंयुक्तमनुरज्यन्ति मानवाः ॥ १२ ॥ मा स्माधर्मेण लोभेन लिप्सेथास्त्वं धनागमम् । धर्मार्थावध्रुवौ तस्य यो न शास्त्रपरो भवेत् ॥ १३ ॥ अर्थशास्त्रपरो राजा धर्मार्थान्नाधिगच्छति । अस्थाने चास्य तद्वित्तं सर्वमेव विनश्यति ॥ १४ ॥ अर्थमूलोपि हिंसाञ्च कुरुते स्वयमात्मनः । करैरशास्त्रदृष्टैर्हि मोहात् संपीडयन् प्रजाः ॥१५॥ ऊधश्छिन्द्यात्तु यो धेन्वाः क्षीरार्थी न लभेत् पयः । एवं राष्ट्रमयोगेन पीडितं न विवर्द्धते ॥ १६ ॥ यो हि दोग्ध्रीमुपास्ते च स नित्यं विन्दते पयः । एवं राष्ट्रमुपायेन भुञ्जानो लभते फलम् ॥ १७ ॥

सावधानीसे प्रजाके योगक्षेमकी व्यवस्था करनी चाहिये ॥११॥ प्रजाकी रक्षा करनेवाले, उदार, न्यायपरायण, सदा धर्म करने वाले, और रागद्वेषरहित राजासे प्रजा प्रेम करने लगती है १२ हे युधिष्ठिर ! तुझे कभी भी अधर्मसे धन पानेकी इच्छा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि–जो राजा शास्त्रपरायण नहीं होता है उसके धर्म तथा अर्थ अस्थिर होते हैं ॥ १३ ॥ और जो राजा केवल धनके ही पीछे लगा रहता है, वह राजा धर्म या अर्थ किसीको भी नहीं पासकता, अनुचित रीतिसे लिया हुआ कर बुरे कामोंमें ही नष्ट होजाता है ! ॥ १४ ॥ धनका लोभी राजा शास्त्रमें न कहे हुए कर प्रजासे वसूल कर, मूर्खतासे, उसको दुःखी करता है और ऐसा करके अपने आप अपना नाश कर डालता है ॥ १५ ॥ जो पुरुष दूध लेनेके लिये गौके थनोंको काट डालता है उसको दूध नहीं मिलता है, इसप्रकार ही जो राजा अन्यायसे प्रजाको दुःखित करता है, तो देशकी वृद्धि नहीं होती है ॥१६॥ और जो मनुष्य गौका पालन करता है, उसको जैसे सदा दूध मिलता है, इसीप्रकार जो राजा प्रजाका पालन

अथ राष्ट्रमुपायेन भुज्यमानं सुरक्षितम् । जनयत्यतुलां नित्यं कोषवृद्धिं युधिष्ठिर ॥ १८ ॥ दोग्ध्री धान्यं हिरण्यञ्च मही राज्ञा सुरक्षिता । नित्यं स्वेभ्यः परेभ्यश्च तृप्ता माता यथा पयः १९ मालाकारोपमो राजन् भवमाङ्गारिकोपमः । तथा युक्तश्चिरं राज्यं भोक्तुं शक्यसि पालयन् ॥ २० ॥ परचक्राभियानेन यदि ते स्याद्धनक्षयः । अथ साम्नैव लिप्सेथा धनमब्राह्मणेषु यत् ॥२१॥ मा स्म ते ब्राह्मणं दृष्ट्वा धनस्थं प्रचलेन्मनः । अन्त्यायामप्यवस्थायां किमु स्फीतस्य भारत ॥ २२ ॥ धनानि तेभ्यो दद्यास्त्वं यथाशक्ति यथार्हतः । सान्त्वयन् परिरक्षंश्च स्वर्गमाप्स्यसि दुर्ज-

करता है उसको फल (धन) मिलता है ॥१७॥ हे युधिष्ठिर ! जो राजा न्याय और नीतिसे देशकी रक्षा करके उसका योग्यता से उपभोग करता है, वह राजा नित्य अपने भण्डारकी अतुल वृद्धि कर सकता है, ॥ १८ ॥ जैसे तृप्त हुई माता अपने और दूसरेके बालकोंको नित्य दूध देती है, तैसे ही जो राजा पृथिवीकी भली प्रकार रक्षा करता है तो पृथ्वी उसको इच्छानुसार धान्य और सुवर्ण देती है ॥ १९ ॥ हे राजन् ! तू वृक्षकी रक्षा करने वाले मालीकी समान वर्ताव रख और वृक्षोंका नाश करनेवाले कोयले वालेकी समान न बन, मेरे कथनानुसार वर्ताव रख कर तू राज्य करेगा तो बहुत समय तक तू (सुख और सन्तोषके साथ) राज्य करसकेगा ॥२०॥ दूसरेके राज्य पर चढ़ाई करनेसे यदि तेरे धनका नाश होजाय तो तुझे ब्राह्मणोंके अतिरिक्त दूसरे मनुष्योंको समझा कर उनसे धन लेना चाहिये ॥ २१ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! कभी तू बड़ी भारी दुर्गतिमें पड़ जाय तो भी तू ब्राह्मणके धनको देख कर अपने मनको चलायमान न करना फिर समृद्धिकी दशाकी तो बात ही क्या कहूँ ॥२२॥ तुझे यथाशक्ति और यथोचित रीतिसे ब्राह्मणोंको धन देना चाहिये,

यन् ॥ २३ ॥ एवं धर्मेण वृत्तेन प्रजास्त्वं परिपालय । स्वन्तं पुण्यं यशो नित्यं प्राप्स्यसे कुरुनन्दन ॥ २४ ॥ धर्मेण व्यवहारेण प्रजाः पालय पाण्डव । युधिष्ठिर यथायुक्तो नाधिबन्धेन योक्ष्यसे ॥ २५ ॥ एष एव परो धर्मो यद्राजा रक्षति प्रजाः । भूतानां हि यदा धर्मो रक्षणं परमा दया ॥ २६ ॥ तस्मादेव परं धर्मं मन्यन्ते धर्मकोविदाः । यो राजा रक्षणे युक्तो भूतेषु कुरुते दयाम् ॥ २७ ॥ यदह्ना कुरुते पापमरक्षन् भयतः प्रजाः । राजा वर्षसहस्रेण तस्यान्तमधिगच्छति ॥ २८ ॥ यदह्ना कुरुते धर्मं प्रजा धर्मेण पालयन् । दशवर्षसहस्राणि तस्य भुङ्क्ते फलं दिवि ॥२९॥ स्विष्टिः स्वधीतिः सुतपा लोकान् जयति यावतः । क्षणेन तान-

उनको धीरज देकर उनकी रक्षा करनी चाहिये, ऐसा करनेसे तुम्हें दुर्जय स्वर्ग मिलेगा ॥ २३ ॥ हे कुरुवंशके पुत्र । इसप्रकार धर्माचरण करके तू प्रजाका पालन कर, ऐसा करनेसे तुम्हें यम-यातना भोगनेसे छुटकारा देनेवाला पवित्र यश नित्य प्राप्त होगा २४ हे युधिष्ठिर ! तू धर्ममय व्यवहारसे प्रजाका पालन कर इससे तुम्हें शोक या चिन्ता नहीं होगी ॥ २५ ॥ प्राणिमात्रकी रक्षा करना और उनके ऊपर परमदया रखना, यह राजाओंका परम-धर्म माना जाता है ॥ २६ ॥ प्रजापालन करनेवाला जो राजा प्राणियों पर दया करता है, उसको ही धर्म जाननेमें कुशल पुरुष परम धर्म मानते हैं ॥ २७ ॥ यदि राजा एक भी दिन भयमेंसे प्रजाकी रक्षा नहीं करता है तो उसका एक सहस्र वर्ष तक नरकमेंसे छुटकारा नहीं होता है ॥ २८ ॥ और प्रजाकी एक दिन न्यायपूर्वक रक्षा करनेसे राजाको जितना धर्म होता है, उसका फल वह स्वर्गमें दश सहस्र वर्ष तक भोगता है ॥२९॥ गृहस्थके, ब्रह्मचारीके, और वानप्रस्थके धर्मोंका पालन करनेवालोंको जो लोक (उन ३ आश्रमोंके धर्म पालनेसे) मिलते हैं, उन ही

वाप्नोति प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ ३० ॥ एवं धर्मं प्रयत्नेन कौन्तेय परिपालय । ततः पुण्यफलं लब्ध्वा नाधिबन्धेन योक्ष्यसे ॥३१॥ स्वर्गलोके महतीं श्रियं प्राप्स्यसि पाण्डव । असम्भवश्च धर्माणामीदृशानामराजसु ॥ ३२ ॥ तस्माद्राजैव नान्योऽस्ति यो धर्मफलमाप्नुयात् । स राज्यं धृतिमान् प्राप्य धर्मेण परिपालय । इन्द्रं तर्पय सोमेन कामैश्च सुहृदो जनान् ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि
एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

भीष्म उवाच । य एव तु सतो रक्षेदसतश्च निवर्त्तयेत् । स एव राज्ञा कर्त्तव्यो राजन् राजपुरोहितः ॥ १ ॥ अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । पुरूरवस ऐलस्य सम्वादं मातरि-

लोकोंको धर्मसे प्रजाका पालन करनेवाला राजा क्षण भरमें ही पाता हैं ॥ ३० ॥ हे कुन्तीपुत्र ! अतः तू प्रयत्नपूर्वक मेरे कहे हुए (प्रजापालनका) धर्माचरण कर, ऐसा करनेसे तुझे पुण्यका फल मिलेगा और अधर्म होनेकी चिन्ता तुझे पीडित नहीं कर सकेगी ॥ ३१ ॥ फिर स्वर्गलोकमें तुझे उत्तम लक्ष्मीका लाभ होगा, राजा राज्यभ्रष्ट होने पर इन धर्मोंका आचरण नहीं कर सकता है, परन्तु राजा (राज्य पर होता है तब) ही आचरण कर सकता है और वही धर्मके फलका उपभोग कर सकता है, तूने अपनी बुद्धिसे राज्य पाया है, तू अपनी प्रजाकी धर्मसे रक्षा कर, सोमयाग करके इन्द्रको तृप्त कर और वैभवोंको भोगकर स्नेहियोंको तृप्त कर ॥ ३२-३३ ॥ इकहत्तरवाँ अध्याय समाप्त

भीष्मने कहा, कि-हे राजन् ! जो पुरुष सज्जनोंकी रक्षा करे और दुर्जनोंको दूर करे ऐसे पुरुषको राजपुरोहित बनाना चाहिये ॥ १ ॥ इस विषयमें इलाके पुत्र पुरूरवामें और मित्रावसु वायुमें जो सम्वाद हुआ था, उस पुरातन इतिहासको मैं कहता

श्वनः ॥२॥ पुरूरवा उवाच । कुतः स्विद् ब्राह्मणो जातो वर्णाश्चापि कुतस्त्रयः । कस्माच्च भवति श्रेष्ठस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ३ मातरिश्वोवाच । ब्राह्मणो मुखतः सृष्टो ब्रह्मणो राजसत्तम । बाहुभ्यां क्षत्रियः सृष्ट ऊरुभ्यां वैश्य एव च ॥ ४ ॥ वर्णानां परिचर्य्यार्थं त्रयाणां भरतर्षभ । वर्णश्चतुर्थः सम्भूतः पद्भ्यां शूद्रो विनिर्मितः ॥ ५ ॥ ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामनु जायते । ईश्वरः सर्वभूतानां धर्म्मकोशस्य गुप्तये ॥ ६ ॥ अतः पृथिव्या यन्तारं क्षत्रियं दण्डधारणे । द्वितीयं वर्णमकरोत् प्रजानामनुगुप्तये ॥ ७ ॥ वैश्यस्तु धनधान्येन त्रीन् वर्णान् बिभृयादिमान् । शूद्रो ह्येतान परिचरेदिति ब्रह्मानुशासनम् ॥ ८ ॥ ऐल उवाच । द्विजस्य क्षत्रबन्धोर्वा कस्येयं पृथिवी भवेत् । धर्म्मतः सह वित्तेन

हूँ ॥ २ ॥ पुरूरवाने प्रश्न किया कि-"(हे वायुदेव !) ब्राह्मण कहाँसे उत्पन्न हुआ है, तीनों वर्ण भी कहाँसे उत्पन्न हुए हैं और ब्राह्मणजाति किस लिये श्रेष्ठ मानी जाती है, यह तू मुझे बता ।३। वायुने कहा कि-हे उत्तम राजन् ! ब्राह्मण ब्रह्माके मुखमेंसे, क्षत्रिय भुजाओंसे और वैश्य जंघाओंसे उत्पन्न हुए हैं और हे भरतवंशश्रेष्ठ राजन् ! तीनों वर्णोंकी सेवा करनेके लिये ब्रह्माके चरणोंमेंसे चौथा वर्ण शूद्र उत्पन्न हुआ है ॥ ४ ॥ ५ ॥ ब्राह्मण जन्मसे ही सब प्राणियोंका महाराज होकर उत्पन्न होता है, और वह धर्मरूपी भण्डारकी रक्षा करनेके लिये ही उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥ पृथ्वी पर राज्य करनेके लिये, शिक्षादण्ड धारण करनेके लिये, तैसे ही सब प्राणिमात्रकी रक्षाके लिये, दूसरे दण्डकी समान क्षत्रियको उत्पन्न किया गया है ॥ ७ ॥ वैश्य धनसे और धान्यसे तीनों वर्णोंका पोषण करे और शूद्र ब्राह्मणादि तीनों वर्णोंकी सेवा करे, ऐसी ब्रह्माकी आज्ञा है ॥८॥ पुरूरवाने बूझा कि-हे वायु ! यह पृथ्वी धर्मानुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय

मभ्यग्रजायो मतद्वन्मे ॥ ६ ॥ वायुरुवाच । विप्रस्य सर्वमेवैतद्यत्
किञ्चिज्जगतीगतम् । ज्येष्ठेनाभिजनेनेह तद्धर्म्मकुशला विदुः १०
स्वमेव ब्राह्मणो भुंक्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च । गुरुर्हि सर्ववर्णानां
ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च वै द्विजः ॥११॥ पत्यभावे यथैव स्त्री देवरं कुरुते
पतिम् । एष ते प्रथमः कल्प आपद्यन्यो भवेदतः ॥ १२ ॥ यदि
स्वर्गं परं स्थानं स्वधर्मं परिमार्गसि । यत् किञ्चिज्जयसे भूमिं ब्राह्म-
णाय निवेदय ॥ १३ ॥ श्रुतवृत्तोपपन्नाय धर्म्मज्ञाय तपस्विने ।
स्वधर्म्मपरितृप्ताय यो न वित्तपरो भवेत् ॥ १४ ॥ यो राजानं

इन दोनोंमेंसे किसकी मानी जावे, इसको तू मेरा स्नेह होनेसे कह ॥९॥ वायुने कहा कि–ब्राह्मण सब वर्णोंमें प्रथम उत्पन्न होनेसे ज्येष्ठ है और श्रेष्ठ है, अतः इस पृथ्वी पर जो कुछ पदार्थ है, उन सबका स्वामी ब्राह्मण ही है, ऐसा धर्मकुशल पुरुष कहते हैं १० ब्राह्मण अपनी वस्तुका ही उपभोग करता है, अपने ही वस्त्र पहिरता है, अपनी ही वस्तुका दान करता है, ब्राह्मण सब वर्णों का गुरु होनेसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है ॥ ११ ॥ पतिके अभावमें (मरणके अनन्तर) स्त्री जैसे देवरको पति बना लेती है (यह प्रथा शूद्रोंमें है) तैसे ही ब्राह्मण इस पृथिवीके स्वामित्वका त्याग करे तो अर्थात् ब्राह्मण पृथ्वीकी रक्षा न करे तो ब्राह्मणके पीछे जन्मे हुए क्षत्रियको पृथ्वी पति बना ले, यह अनादि नीति है, आपत्कालमें इसमें फेरफार होता है ॥ १२ ॥ तुझे यदि स्वर्गका परमस्थान पाना हो और स्वधर्म सम्पादन करना हो तो तू जिस भूमिको जीते उस भूमिको तू शास्त्रवेत्ता, सदाचारसंपन्न, धर्मज्ञ, तपस्वी, स्वधर्माचरणसे सन्तोष माननेवाले और धनकी तृष्णासे रहित ब्राह्मणको देदे ॥ १३ ॥ कुलीन ब्राह्मण, बुद्धिमान् और विनीत होता है, वह परिपूर्ण बुद्धिसे राजाको, विविध प्रकारकी उत्तम उपदेशरूप वाणी कहकर, कल्याणके मार्गकी ओर लेजाता है

नयेद् बुद्धया सर्वतः परिपूर्णया । ब्राह्मणो हि कुले जातः कृतप्रज्ञो विनीतवान् ॥ १५ ॥ श्रेयो नयति राजानं ब्रुवंश्चित्रां सरस्वतीम् । राजा चरति यं धर्मं ब्राह्मणेन निदर्शितम् ॥ १६ ॥ शुश्रूषुरनहंवादी क्षत्रधर्मव्रते स्थितः । तावता सत्कृतः प्राज्ञश्चिरं यशसि तिष्ठति ॥ १७ ॥ तस्य धर्मस्य सर्वस्य भागी राजपुरोहितः । एवमेव प्रजाः सर्वा राजानमभिसंश्रिताः ॥ १८ ॥ सम्यग्वृत्ताः स्वधर्मस्था न कुतश्चिद्भयान्विताः । राष्ट्रे चरन्ति यं धर्मं राज्ञा साध्वभिरक्षिताः ॥१९॥ चतुर्थं तस्य धर्मस्य राजा भागन्तु विन्दति । देवा मनुष्याः पितरो गन्धर्वोरगराक्षसाः ॥ २० ॥ यज्ञमेवोपजीवन्ति नास्ति चेष्टमराजके। ततो दत्तेन जीवन्ति देवताः पितरस्तथा ॥ २१ ॥ राजन्येवास्य धर्मस्य योगक्षेमः प्रतिष्ठितः।

वह राजाको भला उपदेश देता है, जिससे राजाका अभ्युदय हो ऐसी सलाह देता है, राजाको धर्म कैसे पालना चाहिये, यह समझाता है, जो बुद्धिमान् राजा क्षत्रियके धर्मानुसार बर्ताव रख कर राज्य चलाता है वह राजा प्रजासे सत्कार पाता है और बहुत समय तक जगत्में उसका यश अचल रहता है ॥१५-१७॥ ऐसे राजाके धर्मका भागी राजपुरोहित होता है, जिस राज्यमें सारी प्रजा राजाका आश्रय करके रहती हो, सदाचार संपन्न हो, स्वधर्मपरायण हो, राजासे भली प्रकार रक्षा पाती हो, ऐसी प्रजा किसी भी स्थान पर भयरहित हो जो धर्माचरण करती है उस धर्मका एक चतुर्थांश राजाको मिलता है, देव, मनुष्य, पितर, गन्धर्व, सर्प और राक्षस यज्ञके ऊपर ही आजीविका करते हैं (देवता और पितर यज्ञ आदि द्वारा दिये हुए घृत आदिके ऊपर ही जीवन बताते हैं) परन्तु राजारहित देशमें यज्ञ नहीं होता है ॥१८-२१॥ यज्ञात्मक धर्म राजाके आधारसे ही टिक रहे हैं, गर्मीमें मनुष्यको वृक्षकी शीतल छायामें, जलमें

छायायामप्सु वायौ च सुखमुष्णेऽधिगच्छति ॥ २२ ॥ अग्नौ वाससि सूर्ये च सुखं शीतेऽधिगच्छति । शब्दे स्पर्शे रसे रूपे गन्धे च रमते मनः ॥२३॥ तेषु भोगेषु सर्वेषु न भीतो लभते सुखम् । अभयस्य हि यो दाता तस्यैव सुमहत् फलम् ॥२४॥ न हि प्राणसमं दानं त्रिषु लोकेषु विद्यते । इन्द्रो राजा यमो राजा धर्मो राजा तथैव च ।२५।राजा बिभर्ति रूपाणि राज्ञा सर्वमिदं धृतम् ॥२६॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

भीष्म उवाच । राज्ञा पुरोहितः कार्य्यो भवेद्विद्वान् बहुश्रुतः । उभौ समीक्ष्य धर्मार्थावप्रमेयावनन्तरम् ॥ १ ॥ धर्मात्मा मन्त्रवि-

---

अथवा शीतल वायुमें आनन्द आता है, शीतकालमें अग्निको तापनेसे,वस्त्र ओढनेसे अथवा सूर्यकी धूपमें बैठनेसे सुख मिलता है तैसे ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धमें भी मनुष्यको सुख मिलता है ॥२२-२३॥ परन्तु अराजकतासे भयभीत हुई प्रजाको ये सब भोग भोगने पर भी सुख नहीं मिलता है, इसकारण जो पुरुष प्रजाको अभयदान देता है उसको बड़ाभारी फल मिलता है (और ये अभयदान राजा देता है) ॥२४॥ तीनों लोकोंमें प्राणदानकी समान कोई दान नहीं है, राजा इन्द्र है, राजा यम है, राजा धर्म है, राजा भिन्न २ देवताओंके स्वरूपोंको धारण करता है और राजा इस सारे जगत्की रक्षा करके उसको धारण कररहा है अर्थात् अभय देनेवाला राजा ही है, अतः वह सबसे श्रेष्ठ है ॥ २५-२६ ॥ बहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥ ७२ ॥ ᳵ ॥

भीष्मने कहा कि-हे युधिष्ठिर ! राजाको राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ होने पर शीघ्र ही "धर्म तथा अर्थकी गति बड़ी गहन है" ऐसा विचारकर (वेद और शास्त्र जाननेवाले) ब्राह्मणको पुरोहित बनाना चाहिये ॥ १ ॥ हे राजन् ! जिस राजाका पुरोहित

येषां राष्ट्रे राजन् पुरोहितः । राजा चैवं गुणो येषां कुशलं तेषु सर्वतः ॥ २ ॥ उभौ प्रजा वर्द्धयतो देवान् सर्वान् सुतान् पितॄन् । भवेयातां स्थितौ धर्मे श्रद्धेयौ सुतपस्विनौ ॥३॥ परस्परस्य सुहृदौ विहितौ समचेतसौ। ब्रह्मक्षत्रस्य सम्मानात् प्रजा सुखमवाप्नुयात्॥४ विमाननात्तयोरेव प्रजा नश्येयुरेव हि । ब्रह्म क्षत्रञ्च सर्वेषां वर्णानां मूलमुच्यते ॥ ५ ॥ अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । ऐलकश्यपसंवादं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ६ ॥ ऐल उवाच यदा हि ब्रह्म प्रजहाति क्षत्रं क्षत्रं यदा वा प्रजहाति ब्रह्म । अन्वग्बलं कतमेस्मिन् भजन्ते तथा वर्णाः कतमेस्मिन् ध्रियन्ते ॥ ७ ॥ कश्यप उवाच । वृद्धं राष्ट्रं भवति क्षत्रियस्य ब्रह्म क्षत्रं यत्र विरु-

---

धर्मात्मा और विद्वान् होता है और जिस प्रजाका राजा विद्वान् और बहुश्रुत होता है, उस (प्रजाका) संपूर्ण रीतिसे अभ्युदय होता है ॥२॥ यदि राजा और पुरोहित धर्म पर आस्था रखने वाले होते हैं, बड़ेभारी तपस्वी होते हैं, एक दूसरेसे स्नेह करने वाले होते हैं और एक मनवाले होते हैं तो वे अपनी प्रजाको, सब देवताओंको और पितरोंको तृप्त करते हैं और प्रजा भी जिस क्षत्रिय अथवा ब्राह्मणको मान देती है, तो वह सुख ही पाता है ॥ ३-४ ॥ और वे दोनों (पुरोहित और राजा) एक दूसरेका अपमान करते हैं, तो प्रजा अवश्य ही नष्ट होजाती है, क्योंकि-ब्राह्मण और क्षत्रिय सब वर्णोंके पूर्व-पुरुष माने जाते हैं ॥ ५ ॥ हे युधिष्ठिर ! इस विषयमें पुरूरवा और कश्यपका सम्वादरूप एक पुरातन इतिहास है, उसको तू सुन ॥ ६ ॥ पुरूरवाने बूझा कि-हे कश्यप ! जब ब्राह्मण क्षत्रियका त्याग करता है और क्षत्रिय ब्राह्मणका त्याग करता है और दोनोंका बल भिन्न होजाता है, तब प्रजा किसको श्रेष्ठ माने ? ॥ ७ ॥ और दूसरे वर्णोंको किसकी आज्ञाके अनुसार चलना चाहिये,

ध्यतीह। अन्यग्वलं दस्युवत्तञ्जनन्ते तथा वर्णं तत्र विदन्ति सन्तः ॥ ८ ॥ नैषां ब्रह्म च वर्द्धते नोत पुत्रा न गर्गरो मथ्यते नो यजन्ते। नैषां पुत्रा वेदमधीयते च यदा ब्रह्म क्षत्रिया संत्यजन्ति ॥ ९ ॥ नैषामर्थो वर्द्धते जातु गेहे नाधीयते प्रजा नो यजन्ते। अपध्वस्ता दस्युभूता भवन्ति ये ब्राह्मणान् क्षत्रियाः संत्यजंति ॥ १० ॥ एतौ हि नित्यं संयुक्तावितरेतरधारणे। क्षत्रं वै ब्रह्मणो योनिर्योनिः क्षत्रस्य वै द्विजाः ॥ ११ ॥ उभावेतौ नित्यमभिप्रपन्नौ सम्प्रापतुर्महतीं सम्प्रतिष्ठाम्। तयोः सन्धिर्भिद्यते चेत् पुराणस्ततः सर्वं भवति हि सम्प्रमूढम् ॥ १२ ॥ नात्र

कश्यपने कहा कि—जब ब्राह्मण और क्षत्रियमें विरोध होजाता है, तब क्षत्रियके राज्यका ही नाश होजाता है, जहाँ अव्यवस्था (वेइन्तिजामी) होती है, वहाँ डकैत प्रजाको सताते हैं और सब सुजन राजाको म्लेच्छ समझते हैं ॥ ८ ॥ क्षत्रिय जब ब्राह्मण जातिका त्याग करदेते हैं और क्षत्रियका धर्म नष्ट होजाता है, तब वेदों वृद्धि नहीं होती है, पुत्रोंकी वृद्धि नहीं होती है, रई नहीं चलती है, यज्ञ नहीं होते हैं और उनके पुत्र वेदाध्ययन नहीं करते हैं ॥ ९ ॥ उनके घरकी लक्ष्मी नहीं बढ़ती है, प्रजा बिगड़ जाती है, और वह वेदका पढ़ना छोड़ देती है, यज्ञ याग नहीं करती है, ब्राह्मणसे त्यागे हुए क्षत्रियके पुत्र वर्णसंकर होजाते हैं और क्षत्रियोंकी चोरोंकीसी दशा होजाती है ॥ १० ॥ इससे प्रतीत होता है कि—ब्राह्मणकी वृद्धिका आधार क्षत्रियके ऊपर है और क्षत्रियकी वृद्धिका आधार ब्राह्मणके ऊपर है ॥ ११ ॥ परन्तु भयके समय ये दोनों जातियें एक दूसरेकी सहायता करती हैं, तो उनका अभ्युदय होता है, यदि उन दोनों जातियोंकी पुरानी मैत्री टूट जाती है, तो सम्पूर्ण जगत् दुःखमें डूब जाता है ॥ १२ ॥ परले पार जानेवाली छोटी नौका जैसे अगाध

पारं लभते पारगामी महागाधं नौरिव सम्प्रपन्ना । चातुर्वर्ण्यं भवति हि सम्प्रमूढं प्रजास्ततः क्षयसंस्था भवन्ति ॥ १३ ॥ ब्रह्म वृक्षो रक्ष्यमाणो मधु हेम च वर्षति । अरक्ष्यमाणः सततमश्रुपापञ्च वर्षति ॥ १४ ॥ न ब्रह्मचारी चरणादपेतो यदा ब्रह्म ब्रह्मणि त्राणमिच्छेत् । आश्चर्यतो वर्षति तत्र देवस्तत्राभीक्ष्णं दुःसहश्चाविशन्ति ॥ १५ ॥ स्त्रियं हत्वा ब्राह्मणं वापि पापः सभायां यत्र लभतेऽनुवादम् । राज्ञः सकाशे न बिभेति चापि ततो भयं विद्यते क्षत्रियस्य ॥ १६ ॥ पापैः पापे क्रियमाणे हि चैल ततो रुद्रो जायते देव एषः । पापैः पापाः सञ्जनयन्ति रुद्रं ततः

समुद्रमें डगमगाने लगती है और परले पार नहीं पहुँच सकती ऐसे ही जब ब्राह्मण और क्षत्रियोंमें जब विरोध होजाता है, तब चारों वर्णोंकी प्रजा अतीव डगमगाने लगती है (ज्ञानरहित) होजाती है और उसका नाश होने लगता है १३ ब्राह्मणरूपी धनकी यदि सदा रक्षाकी जाती है तो वह मधु (सुख) तथा सुवर्णकी वृद्धि करते हैं, और उनकी रक्षा न की जाय तो वह दुःख तथा नरक देते हैं ॥ १४ ॥ ब्राह्मण जब (राजारहित राज्यमें रहनेसे) अपनी पढी हुई शाखाको त्याग देते हैं और वेदकी शरण लेते हैं (अर्थात् हे वेद भगवान् ! रक्षा करो ! ऐसा कहने लगते हैं) तब उस देशमें इन्द्र ऋतुके अनुसार जल नहीं बरसाता है, नित्य महामारी दुष्काल आदि दुःसह दुःख होने लगते हैं ॥ १५ ॥ जब पापी पुरुष स्त्रीहत्या और ब्रह्महत्या करके सभामें प्रशंसा पाते हैं और राजाके सामने अपने कर्मके लिये भयभीत हुए बिना खड़े रहते हैं, उस समय जानना चाहिये कि–क्षत्रियके ऊपर महाभय आपड़ा है ॥१६॥ पापी मनुष्य जब पापकर्म करने लगते हैं, तब हे पुरूरवा ! राज्यमें रुद्र पधारते हैं, पापी मनुष्य पापोंसे रुद्रको उत्पन्न करते हैं और

सर्वान् साध्वसाधून् हिनस्ति ॥ १७ ॥ ऐल उवाच । कुतो रुद्रः कीदृशो वापि रुद्रः सत्त्वैः सत्त्वं दृश्यते वध्यमानम् । एतत् सर्वं कश्यप मे प्रचक्ष्व कुतो रुद्रो जायते देव एषः ॥ १८ ॥ कश्यप उवाच । आत्मा रुद्रो हृदये मानवानां स्वं स्वं देहं परदेहञ्च हन्ति । वातोत्पातैः सदृशं रुद्रमाहुर्दैवैर्जीमूतैः सदृशं रूपमस्य १९ ऐल उवाच । न वै वातः परिवृणोति कश्चिन्न जीमूतो वर्षति नापि देवः। तथायुक्तो दृश्यते मानुषेषु कामाद् द्वेषाद्बध्यते मुच्यते च ॥२०॥

रुद्रदेव सत्पुरुष और असत्पुरुष सबका संहार करने लगते हैं १७ ऐलने बूझा कि-हे कश्यप ! रुद्र कहाँसे उत्पन्न होते हैं ? रुद्रदेव कैसे हैं ? हम तो यही देखते हैं कि-प्राणी ही प्राणियोंका संहार करते हैं तो फिर प्राणियोंका संहार करनेवाले रुद्रदेव कहाँसे आजाते हैं, यह सब बात हे कश्यप ! मुझे बताइये १८ कश्यपने कहा कि-मनुष्योंके हृदयमें रहनेवाला(जीव) आत्मा ही रुद्र है और रुद्र (क्रोध)अपने देहका और दूसरेके देहका नाश करता है,जैसे(निर्मल आकाशमें उठी हुई)आँधी आकाशमेंके उठे हुए मेघोंको फैला देती है,गर्जना करानी है और बिजली वज्रतथा पानीकी वेगसे वर्षा करवाती है, तैसे ही (निर्विकार) आत्मा मेंसे उत्पन्न हुए (रुद्र-जीव-रूपसे) आत्मामें उत्पन्न हुए क्रोध, काम और ईर्षा भी हिंसाका काम कराते हैं ॥ १९ ॥ ऐलने बूझा कि-पवन कोई सदा ही मेघका नाश नहीं करता है, तैसे ही मेघ भी सदा नहीं बरसाता है, परन्तु काम और द्वेष तो मनुष्योंमें सदा देखनेमें आते हैं उनसे मनुष्य (जीव) मोह पाता है और मृत्यु भी पाता है ? अर्थात् मेघ और वायु शास्त्रप्रमाणसे और प्रत्यक्षप्रमाणसे मिले हुए और अलग २ भी देखनेमें आते हैं परन्तु काम और क्रोध तो आत्मा (जीव) में उष्णताकी समान सदा दीखते हैं, अतः वे उस

कश्यप उवाच । यथैकगेहे जातवेदाः प्रदीप्तः कृत्स्नं ग्रामं दहते चत्वरं वा । विमोहनं कुरुते देव एष ततः सर्वं स्पृश्यते पुण्यपापैः ॥ २१ ॥ ऐल उवाच । यदि दण्डः स्पृशते पुण्यपापं पापः पापे क्रियमाणे विशेषात् । कस्य हेतोः सुकृतं नाम कुर्याद् दुष्कृतं

(जीव) आत्माको बन्धनमें डालनेवाले और मोह देनेवाले हैं अर्थात् आत्मा असंग नहीं (रहेगा) ॥ २० ॥ कश्यपने कहा कि-जैसे एक घरमें आग लगती है तो वह उसके आँगनको या संपूर्ण ग्रामको भस्म कर देती है, तैसे ही रुद्रदेव सबका स्पर्श करते हैं अत एव पापी और पुण्यात्मा दोनोंकी बुद्धिको मोहित करते हैं अर्थात्-जैसे थोड़ी सी अग्नि अधिकाधिक काष्ठको पाकर सारे ग्रामको जला देती है, इनमें न केवल काष्ठमें दाहकत्व (जलानेकी शक्ति) है और न काष्ठहीन अग्निमें दाहकत्व है, किन्तु इन दोनोंके मेलमें ही दाहकत्व है फिर भी विचार करने पर वह्निमें ही दाहकत्व रहता है, इसीप्रकार आत्मामें आरोपित हुआ अहंकारवह्नि, काम क्रोध आदि वायुओंसे प्रचण्ड हो रुद्रत्वको प्राप्त होता है, तब "लोहा जलाता है, काष्ठ पकाते हैं" इनकी समान अहंकारका किया हुआ काम मोहसे आत्माका मान लिया जाता है, अत एव सब जगत् असंग है और असंग होने पर भी जलचन्द्रन्यायकी समान पुण्य और पापोंसे स्पृष्ट होता है वास्तवमें आत्मा असंग है ॥ २१ ॥ पुरूरवाने बूझा, कि-यदि रुद्रदेव पापी और पुण्यात्मा दोनों ही की बुद्धिको मोहित करते हैं, तब मनुष्य पुण्यकर्म क्यों करे और पापकर्म क्यों न करे अर्थात् पुण्यपापरहित आत्माको किसी पापका फल दण्ड आदि मिलता है, यह भ्रम है,ऐसा कहने पर शास्त्रमें कहा हुआ पुण्यकर्मका विधान और पापकर्मोंका त्याग, वृथा ही होगा क्योंकि-आत्मामें वास्तवमें दुःख नहीं है ऐसा सिद्ध

वा कस्य हनोर्न कुर्यात् ॥ २२ ॥ कश्यप उवाच । असंयोगात् पापकृतामपापांस्तुल्यो दण्डः स्पृशते मिश्रभावात् । शुष्केणार्द्रं दह्यते मिश्रभावान्न मिश्रः स्यात् पापकृद्भिः कथञ्चित् ॥ २३ ॥ ऐल उवाच । साध्वसाधून् धारयतीह भूमिः साध्वसाधूंस्तापयतीह सूर्यः । साध्वसाधूंश्चापि वातीह वायुरापस्तथा साध्वसाधून् पुनन्ति ॥ २४ ॥ कश्यप उवाच । एवमस्मिन् वर्त्तते लोक एष नामुत्रैवं वर्त्तते राजपुत्र । प्रेत्यैतयोरन्तरवान् विशेषो यो वै पुण्यं

होने पर उसके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है ॥ २२ ॥ कश्यपने कहा कि—पापियोंके संगसे पुण्यात्माओंको भी दुःख भोगना पडता है अतः पापियोंका संग त्याग देना चाहिये, पापियोंका संग त्यागनेवाला दुःखी नहीं होता है जैसे सूखे काष्ठके संग गीला काष्ठभी जल जाताहै,परन्तु सूखे काष्ठसे अलग रक्खा हुआ गीला काष्ठ नहीं जलता है,अतः पुण्यात्माओंको पापियोसे किसी प्रकारकाभी सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये अर्थात् आत्मा और अहङ्कारके मिश्रीभावमें अहङ्कारगत दुःख आत्मामें प्रतीत होता है, इसलिये अहङ्कारको त्यागने पर (जीव) आत्माको कुछ दुःख नहीं होता है ॥ २३ ॥ पुरूरवाने कहा कि—भूमि सत्पुरुष और असत्पुरुष दोनोंको धारण करती है, सूर्य सत्पुरुष और असत् पुरुष दोनोंको तपाता है, वायु सत्पुरुष और असत्पुरुष दोनोंको स्पर्श करती है और जल सत्पुरुष तथा असत्पुरुष दोनोंको पवित्र करता है अर्थात् अहङ्कार आदिको अधिष्ठान भूत आत्मा भूमिकी और सूर्यकी समान असङ्गही धारण करे और प्रकाशित करे, वायु और जलकी समान (असङ्गही) चलावे और अपनी सत्तासे तृप्त करे इसप्रकार आत्माका अहङ्कार धर्मसे क्या संबन्ध है अतः रुद्रस्वरूपसे आत्माको रुद्र मानना अयुक्त है॥२४॥कश्यपने कहा कि— हे राजपुत्र ! तुम्हारा कथन तत्त्वदृष्टिसे ठीक है, परन्तु

चरते यथ पापम् ॥ २५ ॥ पुण्यस्य लोको मधुमान् घृतार्चिर्हिरण्यस्य ज्योतिरमृतस्य नाभिः । तत्र प्रेत्य मोदते ब्रह्मचारी न तत्र मृत्युर्न जरा नोत दुःखम् ॥२६॥ पापस्य लोको निरयोऽप्रकाशो नित्यं दुःखं शोकभूयिष्ठमेव । तत्रात्मानं शोचति पापकर्मा बह्वीः समाः प्रतपन्नप्रतिष्ठः ॥ २७ ॥ मिथो भेदात् ब्राह्मणक्षत्रियाणां प्रजा दुःखं दुःसहञ्चाविशन्ति । एवं ज्ञात्वा कार्य्य एवेह नित्यं पुरोहितो नैकविद्यो नृपेण ॥ २८ ॥ तञ्चैवान्वभिषिञ्चेत् तथा धर्मो विधीयते । अग्र्यं हि ब्राह्मणः प्रोक्तं सर्वस्यैवेह धर्म्मतः ॥ २९ ॥ पूर्वं हि ब्राह्मणः सृष्टिरिति ब्रह्मविदो विदुः ।

इस लोक और परलोककी दृष्टिमें अर्थात् व्यवहारदृष्टिमें आत्मा स्वरूपही है उस दशामें परलोकमें पुण्यात्मा और पापात्मामें बड़ाभारी भेद होता है ॥ २५ ॥ पुण्यात्माको मधुमान् (जिनमें घीका होम किया जाता है) अग्नि और सुवर्णकी समान तेजस्वी और अमृतकी नाभिरूप पुण्यलोक मिलते हैं और पुण्यात्मा प्राणी मरणके पीछे उन लोकोंमें आनन्द करता है, उन लोकोंमें मृत्यु नहीं है, वृद्धावस्था नहीं है तथा दुःख नहीं है ॥ २६ ॥ पापी मनुष्यको अन्धकार वाले नरकलोक मिलते हैं, तहाँ नित्य अन्धकार, दुःख और शोकही रहता है, पापकर्म करने वाला तहाँ अपने पापकर्मोंके लिये शोक करता है और बहुत वर्षोंतक उन नरकोंमें अप्रतिष्ठा भोगा करता है ॥ २७ ॥ ब्राह्मण और क्षत्रियोंमें कलह होनेपर उसके परिणाममें प्रजाको असह्य दुःख भोगना पड़ता है, यह समझ कर राजा अनेक विद्या जानने वाले और व्यवहारकुशल पुरोहितको नित्य रक्खे ॥ २८ ॥ पुरोहितको उसके स्थान पर पहिले प्रतिष्ठित करे, इसके पीछे राजा राजमें अपना अभिषेक करे, क्यों कि-धर्मानुसार ब्राह्मण सबमें श्रेष्ठ माना जाता है॥२९॥ब्रह्मवेत्ता कहते हैं कि ब्राह्मण

ज्येष्ठेनाभिजनेनास्य प्राप्तं पूर्वं यदुत्तरम् ॥ ३० ॥ तस्मान्मान्यश्च पूज्यश्च ब्राह्मणः प्रसृताग्रभुक् । सर्वं श्रेष्ठं विशिष्टञ्च निवेद्यं तस्य धर्मतः ॥ ३१ ॥ अवश्यमेव कर्त्तव्यं राज्ञा बलवतापि हि । ब्रह्म वर्द्धयति क्षत्रं क्षत्रतो ब्रह्म वर्द्धते । एवं राज्ञा विशेषेण पूज्या वै ब्राह्मणाः सदा ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऐलकश्यपसंवादे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

भीष्म उवाच । योगक्षेमो हि राष्ट्रस्य राजन्यायत्त उच्यते । योगक्षेमो हि राज्ञो हि समायत्तः पुरोहिते ॥ १ ॥ यत्रादृष्टं भयं ब्रह्म प्रजानां शमयत्युत । दृष्टञ्च राजा बाहुभ्यां तद्राज्यं सुखमेधते ॥ २ ॥ अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । मुचुकुन्दस्य संवादं राज्ञो वैश्रवणस्य च ॥ ३ ॥ मुचुकुन्दो विजित्येमां पृथिवीं

ब्राह्मण क्षत्रियोंसे पहिले उत्पन्न हुए हैं, इससे ही वे ज्येष्ठ माने जाते हैं प्रथम होनेके कारण ब्राह्मण सब वस्तुको प्रथम भोगनेके अधिकारी हैं और क्षत्रियादिवर्णके पूज्य हैं अतः बली राजा सब उत्तम वस्तुएँ पहिले ब्राह्मणोंको ही निवेदन करे, ब्रह्मतेजसे क्षात्र तेजकी वृद्धि होती है और क्षात्रतेजसे ब्रह्मतेज बढ़ता है, अतः राजाको सदा ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये ॥ ३०-३२ ॥ तिहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥ ७३ ॥ ॥ ॥

भीष्मने कहा कि-हे राजा युधिष्ठिर ! यह कहा जाता है कि-"देशका योगक्षेम राजाके अधीन है और राजाका योगक्षेम पुरोहितके अधीन है ॥ १ ॥ जब (अनावृष्टि आदिका) देश पर अदृश्य भय आपड़ता है, तो उसको ब्राह्मण दूर करता है, और जब (परदेशकी ओरसे) दृश्य भय आपड़ता है, तब राजा अपनी दोनों भुजाओंसे उसको शान्त करता है और इससे उस राज्यकी प्रजा सुखी रहती है ॥ २ ॥ इस विषयमें राजा मुचुकु-

पृथिवीपतिः । जिज्ञासमानः स्वबलमभ्ययादलकाधिपम् ॥ ४ ॥ ततो वैश्रवणो राजा रक्षसानसृजत्तदा । ते बलान्यवमृद्नन्त मुचकुन्दस्य नैर्ऋताः ॥ ५ ॥ स हन्यमाने सैन्ये स्वे मुचुकुन्दो नराधिपः । गर्हयामास विद्वांसं पुरोहितमरिन्दमः ॥ ६ ॥ तत उग्रं तपस्तप्त्वा वशिष्ठो धर्मवित्तमः । रक्षांस्युपावधीत्तस्य पन्थानञ्चाप्यविन्दत ॥ ७ ॥ ततो वैश्रवणो राजा मुचुकुन्दमदर्शयत् । वध्यमानेषु सैन्येषु वचनञ्चेदमब्रवीत् ॥८॥ धनद उवाच । बलवन्तस्त्वया पूर्वे राजानः सपुरोहिताः । न चैवं समवर्त्तन्त यथा त्वमिह वर्त्तसे ॥९॥ ते खल्वपि कृतास्त्राश्च बलवन्तश्च भूमिपाः । आगम्य पर्युपासन्त मामीशं सुखदुःखयोः ॥ १० ॥ यद्यस्ति

न्दका और कुबेरका सम्वादरूप एक पुरातन इतिहास है ॥३॥ कि–राजा मुचुकुन्द इस पृथ्वीको जीतकर अपना बल जाननेकी इच्छासे अलकापुरीके स्वामी कुबेरके ऊपर चढगया ॥४॥ राजा कुबेरने उस ही समय (अपनी योगशक्तिसे) राक्षस उत्पन्न किये, उन्होंने मुचुकुन्दकी सेनाको मारना आरम्भ कर दिया, शत्रुदमन मुचुकुन्दने जब अपनी सेनाको नष्ट होती हुई देखा, तब वह अपने विद्वान् पुरोहित (वसिष्ठ) को ताना देनेलगा ५-६ तब धर्मके बड़ेभारी ज्ञाता मुनि वसिष्ठने उग्र तप आरम्भ करके कुबेरके राक्षसोंका नाश कर मुचुकुन्दके ग्रहण कियेहुए मार्गको ग्रहण किया ॥ ७ ॥ कुबेर अपनी सेनाको नष्ट होती हुई देख राजा मुचुकुन्दके पास जाकर कहनेलगा ॥ ८ ॥ कुबेरने कहा, कि–हे मुचुकुन्द ! पहिले बहुतसे राजे तेरी समान बलवान् हुए थे, उनको भी पुरोहितकी सहायता मिली हुई थी, परन्तु वे इसप्रकार मेरे ऊपर चढ कर नहीं आये थे ॥ ९ ॥ वे सब राजे शस्त्रविद्यामें कुशल और बलवान् थे, वे सुख दुःखके ईश्वर मेरे पास आकर मेरी सेवा करते थे ॥ १० ॥ तेरी भुजाओंमें बल

बाहुवीर्येणते तद्दर्शयितुमर्हसि । किं ब्राह्मणबलेन त्वमतिमात्रं प्रवर्त्तसे॥११॥ मुचुकुन्दस्ततः क्रुद्धः प्रत्युवाच धनेश्वरम् । न्याय-पूर्वमसंरब्धमसम्भ्रान्तमिदं वचः ॥ १२ ॥ ब्रह्मक्षत्रमिदं सृष्टमेक-योनिः स्वयम्भुवा । पृथग्बलविधानन्तन्न लोकं परिपालयेत् १३ तपोमन्त्रबलं नित्यं ब्राह्मणेषु प्रतिष्ठितम् । अस्त्रबाहुबलं नित्यं क्षत्रियेषु प्रतिष्ठितम् ॥ १४ ॥ ताभ्यां सम्भूय कर्त्तव्यं प्रजानां परिपालनम् । तथा च मां प्रवर्त्तन्तं किं गर्हस्यलकाधिप॥ १५ ॥ ततोऽब्रवीद्वैश्रवणो राजानं सपुरोहितम् । नाहं राज्यमनिर्दिष्टं कस्मैचित् विदधाम्युत ॥१६॥ नाच्छिन्दे चाप्यनिर्दिष्टमिति जानीहि पार्थिव । प्रशाधि पृथिवीं कृत्स्नां समन्तादखिलामिमाम् । एव-मुक्तः प्रत्युवाच मुचुकुन्दो महीपतिः ॥ १७ ॥ मुचुकुन्द उवाच ।

हो तो तू भी उसको दिखा परन्तु तू ब्राह्मणके बल पर क्यों कूदता है ? ॥११॥ इस बातसे मुचुकुन्दको क्रोध आगया उसने अभिमान और भयरहित कुबेरसे यह न्याययुक्त बात कही कि–॥ १२ ॥ स्वयंभू ब्रह्माने एक पुरुषसे ही ब्राह्मणको और क्षत्रियको उत्पन्न किया है, उनका मूल एक ही है, उनका बल यदि अलग २ होजाय, तो वे जगत्की रक्षा नहीं कर सकते १३ तप और मंत्रका बल ब्राह्मणमें सदासे रहता है और अस्त्र तथा भुजाका बल सदासे क्षत्रियमें रहता है१४दोनों जातियोंके बलसे राजा प्रजाकी रक्षा कर सकता है,मैं भी इसी प्रकार कर रहा हूँ, अतः हे अलकाके राजा ! तू मुझे किस लिये ताना देता है १५ फिर कुबेरने राजासे और उसके पुरोहितसे कहा, कि–मैं बिना ईश्वरकी आज्ञाके किसीको भी राज्य नहीं देसकता ॥ १६ ॥ और ईश्वरकी इच्छाके बिना किसीके राज्यको हर भी नहीं सकता, हे राजन् ! यह समझ कर तुम इस सारी पृथ्वीको भोगो, इस प्रकार कुबेरने कहा तब राजा मुचुकुन्द बोला ।१७।

नाहं राज्य भवद्दत्तं भोक्तुमिच्छामि पार्थिव । बाहुवीर्यार्ज्जितं राज्यमश्नीयामिति कामये ॥१८॥ भीष्म उवाच । ततो वैश्रवणो राजा विस्मयं परमं ययौ । क्षत्रधर्मस्थितं दृष्ट्वा मुचुकुन्दमसम्भ्रमम् ॥ १९ ॥ ततो राजा मुचुकुन्दः सोऽन्वशासद्वसुन्धराम् । बाहुवीर्य्यार्ज्जितां सम्यक् क्षत्रधर्म्ममनुव्रतः ॥२०॥ एवं यो धर्म्मविद्राजा ब्रह्मपूर्वं प्रवर्त्तते । जयत्यविजितामुर्वीं यशश्च महदश्नुते२१ नित्योदकी ब्राह्मणः स्यान्नित्यशस्त्रश्च क्षत्रियः। तयोर्हि सर्वमायत्तं यत् किञ्चिज्जगतीगतम् ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि मुचुकुन्दोपाख्याने चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥७४॥

युधिष्ठिर उवाच । यया वृत्त्या महीपालो विवर्द्धयति मान-

मुचुकुन्दने कहा कि-हे कुबेर! मैं तेरे दिये हुए राज्यको भोगना नहीं चाहता, मैं तो अपनी भुजाओंके पराक्रमसे जीतेहुए राज्यको ही भोगना चाहता हूँ।१८। भीष्मने कहा कि-हे युधिष्ठिर! मुचुकुन्दके कथनको सुनकर और उसको क्षत्रिय धर्ममें डटाहुआ देखकर कुबेर बहुत विस्मित हुआ॥१९॥ राजा मुचुकुन्द क्षत्रियके धर्ममें परायण था, वह अपनी भुजाके बलसे मिली हुई पृथ्वी पर राज्य करने लगा ॥ २० ॥ इस प्रकार धर्मको जानने वाला जो राजा ब्राह्मणको पुरोहित बनाकर उसकी सलाहके अनुसार राज्य करता है, वह राजा बिना जीती हुई पृथ्वीको भी जीत लेता है और बड़े भारी यशको भी पाता है ॥ २१ ॥ ब्राह्मणको अपने धर्ममें सदा परायण रहना चाहिये और क्षत्रियको सदा शस्त्र बाँधे रहना चाहिये, ऐसा करने पर इस पृथ्वीकी सारी वस्तुएँ ब्राह्मण और क्षत्रियके अधीन होजाती हैं ॥ २२ ॥ चौहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥ ७४ ॥ छ ॥ छ

युधिष्ठिरने बूझा कि-हे भीष्म पितामह! राजा जैसे आचारसे

वान् । पुण्यांश्च लोकान् जयति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥ भीष्म उवाच । दानशीलो भवेद्राजा यज्ञशीलश्च भारत । उपवासतपःशीलः प्रजानां पालने रतः ॥ २ ॥ सर्वाश्चैव प्रजा नित्यं राजा धर्मेण पालयन् । उत्थानेन प्रदानेन पूजयेच्चापि धार्मिकान् ॥३॥ राज्ञा हि पूजितो धर्मस्ततः सर्वत्र पूज्यते । यद्यदाचरते राजा तत् प्रजानां स्म रोचते ॥ ४ ॥ नित्यमुद्यतदण्डश्च भवेन्मृत्युरिवारिषु । निहन्यात् सर्वतो दस्यून्न कामात् कस्यचित् क्षमेत् ॥ ५ ॥ यं हि धर्मं चरन्तीह प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः । चतुर्थं तस्य धर्मस्य राजा भारत विन्दति ॥ ६ ॥ यदधीते यद्ददाति यज्जुहोति यदर्चति । राजा चतुर्थभाक्तस्य प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ ७ ॥ यद्राष्ट्रे

प्रजाकी वृद्धि करसके और पवित्र लोकोंको पावे, ऐसे आचारको मुझसे कहिये ॥ १ ॥ भीष्मजी बोले कि-हे भरतवंशी राजन्! राजा दानशील और यज्ञशील होवे, उपवास तथा तप करनेमें परायण रहे और प्रजाका पालन करनेमें प्रीतिमान् रहे ॥ २ ॥ राजा सारी प्रजाका धर्मसे पालन करे और जब धर्मात्मा पुरुष अपने घर आवें तो उनका उठकर तथा धन आदि देकर सत्कार करे ॥ ३ ॥ यदि राजा स्वयं धर्मका मान करता है, तो दूसरे भी धर्मको मान देते है, राजा जिस प्रकार आचरण करता है उसी प्रकार प्रजा भी आचरण करना चाहने लगती है४राजा शत्रुओंके ऊपर मृत्युकी समान सदा दण्ड उठाये ही रहे, चारों ओरसे चोरोंका संहार करे, कामनासे किसीके अपराधको क्षमा न करे किन्तु न्यायका स्वरूप देखनेके पीछे क्षमा करे ॥५॥ हे भरतवंशी राजन्! राजासे भलीप्रकार रक्षित होती हुई प्रजा जो धर्माचरण करती है, उसमेंसे राजाको एक चतुर्थांश मिलता है ।६। राजाके धर्मसे प्रजा पालन करनेपर प्रजा जो अध्ययन करती है, जो दान देती है, जो होम करती है और जो पूजन करती है उसका एक

ऽकुशलं किञ्चिद्राज्ञो रक्षयतः प्रजाः । चतुर्थं तस्य पापस्य राजा भारत विन्दति ॥८॥ अप्याहुः सर्वमेवेति भूयोऽर्द्धमिति निश्चयः । कर्म्मणः पृथिवीपाल नृशंसोऽनृतवागपि ॥ ९ ॥ तादृशात् किल्बिषाद्राजा शृणु येन प्रमुच्यते । प्रत्याहर्त्तुमशक्यं स्याद्धनं चौरैर्हृतं यदि । तत् स्वकोषात् प्रदेयं स्यादशक्तेनोपजीवतः ॥ १० ॥ सर्ववर्णैः सदा रक्ष्यं ब्रह्मस्वं ब्राह्मणो यथा । न स्थेयं विषये तेन योऽपकुर्याद्द्विजातिषु ॥ ११ ॥ ब्रह्मस्वे रक्ष्यमाणे तु सर्वं भवति रक्षितम् । तस्मात्तेषां प्रसादेन कृतकृत्यो भवेन्नृपः॥१२॥ पर्ज्जन्यमिव भूतानि महाद्रुममिव द्विजाः । नरास्तमुपजीवन्ति नृपं

चतुर्थांश फल राजाको मिलता है ॥७॥ परन्तु हे राजन् ! राजाकी अव्यवस्थासे राष्ट्रकी प्रजामें जो पाप-कर्म होता है उस पापका चौथाई फल भी राजाको भोगना पड़ता है८ कितने ही कहते हैं कि-(प्रजाके) क्रूर कर्मसे और असत्यभाषणसे राजाको पूरा पाप भोगना पड़ता है कोई कहते हैं कि-आधा भोगना पड़ता है ॥९॥ राजा ऐसे पापोंमेंसे कैसे छूटे, यह मैं तुझे बताता हूँ, इसका उपाय मैं तुझसे कहता हूँ,सुन ! चोर प्रजाके घरमेंसे धन हरकर ले जावें तो राजाको चोरोंके पाससे धन छीन कर प्रजाको लौटा देना चहिये राजा यदि ऐसा न करसके तो उसे अपने खजानेमेंसे देना चाहिये और अपनेमें धन देनेकी शक्ति न हो तो दूसरेसे लेकर देदे ॥ १० ॥ सब वर्ण ब्राह्मणके धनकी ब्राह्मणके शरीर और ब्राह्मणके प्राणकी समान रक्षा करें जो पुरुष ब्राह्मणका अपमान या अशुभ करे तो उसको देशमेंसे निकाल देना चाहिये११ ब्राह्मणके धनकी रक्षा कीजाती है तो सबकी रक्षा होजाती है, ब्राह्मणोंकी कृपा होनेसे राजा कृतकृत्य होजाता है ॥ १२ ॥ प्राणी जैसे मेघसे रक्षा पाते हैं, पक्षी जैसे महावृक्षसे रक्षा पाते हैं, तैसे ही मनुष्य सब कामोंको सिद्ध पानेवाले राजासे रक्षा

सर्वार्थसाधकम् ॥ १३ ॥ न हि कामात्मना राज्ञा सततं कामबुद्धिना । नृशंसेनातिलुब्धेन शक्यं पालयितुं प्रजाः ॥१४॥ युधिष्ठिर उवाच । नाहं राजसुखान्वेषी राज्यमिच्छाम्यपि क्षणम् । धर्मार्थं रोचये राज्यं धर्मश्चात्र न विद्यते ॥ १५ ॥ तदलं मम राज्येन यत्र धर्मो न विद्यते॥१५॥ वनमेव गमिष्यामि तस्मा-द्धर्मचिकीर्षया ॥ १६ ॥ तत्र मेध्येष्वरण्येषु न्यस्तदण्डो जिते-न्द्रियः । धर्ममाराधयिष्यामि मुनिर्मूलफलाशनः ॥१७॥ भीष्म उवाच । वेदाहं तव या बुद्धिरानृशंस्याऽगुणैव सा । न च शुद्धानृ-शंसेन शक्यं राज्यमुपासितुम् । अपि तु त्वां मृदुप्रज्ञमत्यार्यमति-धार्मिकम् । क्लीवं धर्मघृणायुक्तं न लोको बहु मन्यते ॥ १८ ॥

पाते हैं ॥ १३ ॥ जो राजा कामी, निरन्तर कामबुद्धिवाला, क्रूर और महालोभी होता है वह प्रजाका पालन नहीं कर सकता ॥ १४ ॥ राजा युधिष्ठिरने कहा कि–मैं राज्यके सुखोंको ढूँढनेवाला नहीं हूँ, मैं एक क्षणके लिये भी राज्यको पसन्द नहीं करता हूँ, मैं तो धर्मके लिये ही राज्यको स्वीकृत करता हूँ, परन्तु मुझे प्रतीत होता है कि-राज्य (करने) में धर्म नहीं है ॥ १५ ॥ और जिसमें धर्म नहीं है उस राज्यसे मुझे क्या प्रयोजन है, अतः मैं धर्माचरण करनेकी इच्छासे वनमें जाऊँगा ॥१६॥ राजदण्डको त्याग, पवित्र वनोंमें जा जितेन्द्रिय होकर मूल तथा फलोंका आहार करता हुआ मौनव्रत धारण करके धर्माचरण करूँगा ॥१७॥ भीष्मने कहा कि–हे युधिष्ठिर ! मैं जानता हूँ कि–तेरी बुद्धि दूसरेका दुःख दूर करनेवाली है परन्तु वह गुणरहित है, जो पुरुष शुद्ध और दयालु होता है, वह राज्य नहीं कर सकता ॥ १८ ॥ तू कोमल–बुद्धिका है परम आर्य है, अतिधर्मनिष्ठ है, शौर्य–रहित है और दयालु तथा सद्-गुण–संपन्न है अतः मनुष्य तुझे असमर्थ मानते हैं ॥ १९ ॥

वृत्तन्तु त्वमपेक्षस्व पितृपैतामहोचितम्। नैव राज्ञां तथा वृत्तं यथा त्वं स्थातुमिच्छसि ॥ २० ॥ न हि वैक्लव्यसंसृष्टमानृशंस्यमिहास्थितः। प्रजापालनसम्भूतमाप्ता धर्मफलं ह्यसि ॥ २१ ॥ न ह्येतामाशिषं पाण्डुर्न च कुन्ती त्वयाचत। तथैतत् प्रज्ञया तात यथा चरसि मेधया ॥ २२ ॥ शौर्य्यं बलञ्च सत्यञ्च पिता तव सदाब्रवीत्। माहात्म्यञ्च महौदार्य्यं भवतः कुन्त्ययाचत ॥२३॥ नित्यं स्वाहा स्वधा नित्यं चोभे मानुषदैवते। पुत्रेष्वाशासते नित्यं पितरो दैवतानि च ॥ २४ ॥ दानमध्ययनं यज्ञं प्रजानां परिपालनम्। धर्ममेतदधर्मं वा जन्मनैवाभ्यजायथाः ॥ २५ ॥ काले धुरि च युक्तानां वहतां भारमाहितम्। सीदतामपि कौन्तेय न कीर्त्ति-

परन्तु तू अपने पिता और पितामहके चरित्रकी ओर दृष्टि दे, तू जैसा वर्ताव करना चाहता है, वह राजाको शोभा नहीं देता है ॥२०॥ तू इस जगत्में विकलतासे उत्पन्न हुई दयाको लिये बैठा न रह! ऐसा करनेसे प्रजापालन करनेसे मिलनेवाला धर्मफल तुझको नहीं मिलेगा ॥ २१ ॥ हे तात! तू जिस बुद्धि और मेधासे चलता है,तेरे लिये ऐसी बुद्धि और मेधाकी प्रार्थना, तेरे जन्मके समय कुन्तीने अथवा पाण्डुने नहीं की थी ॥ २२ ॥ तेरे पिता तेरे लिये सदा शूरता, बल और सत्यकी याचना करते रहते थे कुन्ती भी तुझमें महत्ता और उदारता रहे, ऐसी प्रार्थना किया करती थी ॥ २३ ॥ नित्य स्वाहा यज्ञ याग आदि करने-से देवताओंको तृप्त करेगा और स्वधा-श्राद्धकर्म-से पितरोंको तृप्त करेगा, देवता और पितर पुत्रोंसे इतनी ही आशा रखते हैं ॥ २४ ॥ दान देना, वेदाध्ययन करना, यज्ञ करना और प्रजाका पालन करना, ये धर्म हों या अधर्म हों, परन्तु इन कर्मोंको करनेके लिये ही तू उत्पन्न हुआ है और इसी प्रकार तुझे वर्ताव करना चाहिये ॥ २५ ॥

रत्रमीदति ॥ २६ ॥ समन्ततो विनियतो वहत्यस्खलितो हयः । निर्दोषः कर्मवचनात् सिद्धिः कर्मण एव सा ॥ २७ ॥ नैकान्ती विनपातेन विचचारेह कश्चन। धर्मी गृही वा राजा वा ब्रह्मचार्यथवा पुनः ॥२८॥ अल्पं हि सारभूयिष्ठं यत् कर्मोदारमेव तत् । कृतमेवाकृताच्छ्रेयो न पापीयोस्त्यकर्मणः ॥ २९ ॥ यदा कुलीनो धर्मज्ञः प्राप्नोत्यैश्वर्यमुत्तमम् । योगक्षेमस्तदा राज्ञः कुशलायैव कल्पते ॥ ३० ॥ दानेनान्यं बलेनान्यमन्यं सूनृतया गिरा ।

हे कुन्तीपुत्र ! यदि (क्षत्रिय) पुरुष (राज्यके) बोझेको उठाता हुआ दुःख भी भोगता है तो भी उस पुरुषकी कीर्तिका नाश नहीं होता है ॥२६॥ हे युधिष्ठिर ! मनुष्य तो क्या यथार्थ रीतिसे सिखाया हुआ घोड़ा भी अपने ऊपर लादे हुए भारको उठाकर अस्खलितरीतिसे चलने पर विजय पाता है (क्योंकि–बोझा लेजाना ही उसका धर्म है फिर तू तो क्षत्रिय है, मनुष्य है अतः तुझसे क्या कहूँ) जो पुरुष कर्म और वाणीसे निर्दोष है वह निन्दाका पात्र नहीं माना जाता है क्योंकि–कार्यमें विजय (अथवा पराजय) का आधार (कर्म) शब्दके ऊपर है ॥२७॥ कोई मनुष्य, चाहे धर्मनिष्ठ हो, गृहस्थाश्रमी हो, राजा हो अथवा ब्रह्मचारी ही क्यों न हो तो भी वह पूर्णतया धर्माचरण नहीं कर सकता, क्योंकि–धर्माचरणमें भी सूक्ष्म अधर्म होजाता है ॥२८॥ अतः कोई कार्य तुच्छ होता है तो भी उसमें बहुतसे लोगोंका हित भरा होता है, तो वह उदारता वाला माना जाता है और उस कामको न करनेसे करना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि–(जिनको कर्मका अधिकार है वे) उस कर्मको न करनेसे पापी माने जाते हैं ॥ २९ ॥ जब कुलीन और धर्मवेत्ता पुरुष राजाके मंत्री होते हैं तब राजाका योगक्षेम होता है ॥ ३० ॥ धर्मनिष्ठ राजा राज्य पानेके पीछे किसीको दानसे, किसीको बलसे और

सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद्राज्यं प्राप्येह धार्मिकः ॥ ३१ ॥ यं हि वैद्याः कुले जाता ह्यवृत्तिभयपीडिताः। प्राप्य तृप्ताः प्रतिष्ठन्ति धर्मः कोऽभ्यधिकस्ततः ॥३२॥ युधिष्ठिर उवाच। किं तात परमं स्वर्ग्यं का ततः प्रीतिरुत्तमा। किं ततः परमैश्वर्य्यं ब्रूहि मे यदि पश्यसि ३३ भीष्म उवाच। यस्मिन् भयार्दितः सम्यक्क्षेमं विन्दत्यपि क्षणम्। स स्वर्गजित्तमोऽस्माकं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥३४॥ त्वमेव प्रीतिमांस्तस्मात् कुरूणां कुरुसत्तम। भव राजा जय स्वर्गं सतो रक्षासतो जहि ॥ ३५ ॥ अनु त्वां तात जीवन्तु सुहृदः साधुभिः सह। पर्ज्जन्यमिव भूतानि स्वादुद्रुममिव द्विजाः ॥ ३६ ॥ धृष्टं शूरं

किसीको मधुर तथा सत्य वाणीसे वशमें करे ॥ ३१ ॥ उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए पण्डित यदि दरिद्रताके भयसे पीड़ा पारहे हों तो वे राजाका आश्रय मिलनेसे सन्तुष्ट होजाते हैं इससे अधिक और धर्म क्या होगा ॥ ३१ ॥ युधिष्ठिरने बूझा कि-हे भीष्मपितामह! स्वर्ग पानेका उत्तम उपाय क्या है? स्वर्ग पानेसे कैसा उत्तम आनन्द और कैसा उत्तम ऐश्वर्य मिलता है यह आपको विदित हो तो मुझसे कहिये ॥३३॥ भीष्मने कहा कि-भयभीत हुआ मनुष्य एक क्षण भी जिसका आश्रय करके सुख पाता है उसको तुम स्वर्ग पानेका पात्र समझो, यह मैं तुमसे सत्य कहता हू ॥ ३४ ॥ हे कुरुवंशके श्रेष्ठ राजन्! तू कुरुवंशमें उत्तम राजा होकर प्रसन्न चित्त बन, स्वर्ग पानेके लिए यत्नकर सत्पुरुषोंकी रक्षा कर और दुष्टोंका संहार कर ॥३५॥ प्राणिमात्र जैसे मेघ पर आजीविका चलाते हैं और पक्षी जैसे स्वादिष्ट फलवाले वृक्षोंसे आजीविका करते हैं तैसेही हे तात! सम्बन्धी और सत्पुरुष तुझसे आजीविका पावें, मैं ऐसा चाहता हूँ ॥ ३६ ॥ जो राजा धृष्ट, शूर, योधा, दयालु, जितेन्द्रिय, सबके साथ वत्सलता रखने वाला और न्यायी होता है उस

प्रहर्त्तारमनृशंसं जितेन्द्रियम् । वत्सलं संविभक्तारमुपजीवन्ति तं नराः ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥७५॥

युधिष्ठिर उवाच । स्वकर्मण्यपरे युक्तास्तथैवान्ये विकर्मणि । तेषां विशेषमाचक्ष्व ब्राह्मणानां पितामह ॥ १ ॥ भीष्म उवाच । विद्यालक्षणसम्पन्नाः सर्वत्र समदर्शिनः । एते ब्रह्मसमा राजन् ब्राह्मणाः परिकीर्तिताः ॥ २ ॥ ऋग्यजुःसामसम्पन्नाः स्वेषु कर्मस्ववस्थिताः । एते देवसमा राजन् ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥३॥ जन्मकर्मविहीना ये कदर्या ब्रह्मबन्धवः । एते शूद्रसमा राजन् ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥ ४ ॥ अश्रोत्रियाः सर्व एव सर्वे चानाहिताग्नयः । तान् सर्वान् धार्मिको राजा बलिं विष्टिञ्च कारयेत् ५

राजाकी रक्षामें मनुष्य रहना चाहते हैं ॥ ३७ ॥ पिचहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥ ७५ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि—हे भीष्मपितामह ! कितनेही ब्राह्मण अपने धर्म कर्ममें लगे रहते हैं और कितनेही दूसरोंके धर्मका आचरण करते हैं, इन दोनोंमें क्या अन्तर है, यह मुझे बताइये १ भीष्मजीने कहा, कि— हे राजन् ! जो ब्राह्मण विद्या पढ़े हुए, उत्तम लक्षणोंवाले और सबके ऊपर समान दृष्टि रखनेवाले होते हैं उन ब्राह्मणोंको ब्रह्माकी समान कहा है ॥ २ ॥ जो ब्राह्मण ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदको पढ़े हुए तथा अपने कर्ममें तत्पर होते हैं उनको देवताकी समान कहा है ॥ ३ ॥ हे राजन् ! जो ब्राह्मण अपनी जातिके कर्म न करते हों, आलसी और ब्राह्मणोंमें अधम हों उन ब्राह्मणोंको शूद्रसमान कहा है ४ जो ब्राह्मण वेद न पढ़े हों और अग्निमें होम न करते हों, उन सब ब्राह्मणोंसे धर्मात्मा राजा कर लेय और बेगारभी करावे ५

आह्वायका देवलका नक्षत्रग्रामयाजकाः । एते ब्राह्मणचाण्डाला महापथिकपञ्चमाः ॥ ६ ॥ ऋत्विक् पुरोहितो मन्त्री दूतो वार्त्तानुकर्षकः । एते क्षत्रसमा राजन् ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥ ७ ॥ अश्वारोहा गजारोहा रथिनोथ पदातयः । एते वैश्यसमा राजन् ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥ ८ ॥ एतेभ्यो बलिमादद्याद्धीनकोषो महीपतिः । ऋते ब्रह्मसमेभ्यश्च देवकल्पेभ्य एव च ॥९॥ अब्राह्मणानाञ्च वित्तस्य स्वामी राजेति वैदिकम् । ब्राह्मणानाञ्च ये केचित् विकर्मस्था भवन्त्युत ॥१०॥ विकर्मस्थाश्च नोपेक्ष्या विप्रा राज्ञा कथञ्चन । नियम्याः संविभज्याश्च धर्मानुग्रहकारणात् ॥ ११ ॥ यस्य स्म विषये राजन् स्तेनो भवति वै द्विजः ।

जो ब्राह्मण धर्माधिकारी (कचहरीमें नौकर) हों, धन लेकर पुजारीका काम करते हों, ज्योतिषका धन्धा करते हों, सब ग्रामको यज्ञ कराते हों और जहाजमें चढ़कर समुद्रकी यात्रा करते हों, ये पाँच प्रकारके ब्राह्मणचाण्डाल कहलाते हैं ॥ ६ हे राजन् ! जो ब्राह्मण ऋत्विज पुरोहित मन्त्री, राजदूत और वार्त्तानुकर्षकका काम करते हों वे सब क्षत्रियकी समान गिने जाते हैं ७ जो ब्राह्मण घुड़सवार, हाथीसवार, रथी और प्यादे सिपाहीका काम करते हों उनको वैश्यकी समान जानो ॥ ८ ॥ यदि राजाका खजाना घटजाय तो राजा ऐसे ब्राह्मणोंसे कर लेय, केवल देवसमान ब्रह्माकी समान ब्राह्मणोंसे ही कर न लेय ॥ ९ ॥ वेदमें कहा है कि-राजा ब्राह्मणको छोडकर तीनों वर्णोंके धनका स्वामी है परन्तु जो ब्राह्मण ब्राह्मणके कर्म धर्मको त्यागकर दूसरे कर्म करता हो उस ब्राह्मणका धन राजा लेलेय ॥ १० ॥ जो ब्राह्मण विपरीत कर्म करते हों उनको राजा कभी क्षमा न करे, किन्तु अपनी प्रजाको धर्मशील रखनेके लिये उनको दण्ड देय और उनके कल्याणके लिये जुदा रक्खे ॥ ११ ॥ हे राजन् ! जिस

राज्ञ एवापराधन्तं मन्यन्ते तद्विदो जनाः ॥ १२ ॥ अवृत्त्या यो भवेत् स्तेनो वेदवित् स्नातकस्तथा । राजन् स राज्ञा भर्त्तव्य इति वेदविदो विदुः ॥ १३ ॥ स चेन्नोपनिवर्त्तेत कृतवृत्तिः परन्तप । ततो निर्वासनीयः स्यात्तस्माद्देशात् सबान्धवः ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

युधिष्ठिर उवाच । केषां प्रभवते राजा वित्तस्य भरतर्षभ । कया च वृत्त्या वर्त्तेत तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥ भीष्म उवाच । अब्राह्मणानां वित्तस्य स्वामी राजेति वैदिकम् । ब्राह्मणानाञ्च ये केचित् विकर्मस्था भवन्त्युत ॥२॥ विकर्मस्थाश्च नोपेक्ष्या विप्रा राज्ञा कथञ्चन । इति राज्ञां पुरा वृत्तमपि जल्पन्ति साधवः ॥ ३॥ यस्य स्म विषये

राजाके देशमें द्विज चोर होता है तो उसमें विद्वान् राजाका ही अपराध मानते हैं ॥ १२ ॥ वेदवेत्ता ब्राह्मण आजीविका न चलासकनेके कारण चोरी करने लगे तो राजा उसका पोषण न करे ऐसा वेदको जानने वाले कहते हैं ॥ १३ ॥ हे परन्तप राजन् ! राजाके आजीविका बाँध देने परभी यदि वह चोरीका काम न छोड़े तो राजा उसको कुटुम्बसहित देशमेंसे निकाल देय ॥ १४ ॥ छिहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥ ७६ ॥ छ ॥ छ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे भीष्मपितामह ! राजा किसके धनका स्वामी कहलाता है और वह किसप्रकार आजीविका करे, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥ भीष्मजीने कहा, कि-हे राजन् ! वेदमें कहा है, कि-राजा विप्रके सिवाय और वर्णोंके धनका स्वामी मानाजाता है और जो विप्र अधर्माचरण करते हैं उनके धनका स्वामीभी राजा गिनाजाता है ॥ २ ॥ अपने कर्मको छोडकर अधर्माचरण करनेवाले विप्रोंके ऊपर राजा किसी प्रकारकी उपेक्षा (लापरवाही) न करे, किन्तु उनको दण्ड देय, यह

राज्ञः स्तेनो भवति वै द्विजः। राज्ञ एवापराधन्तं मन्यन्ते किल्विषं नृप ॥ ४ ॥ अभिशस्तमिवात्मानं मन्यन्ते तेन कर्मणा। तस्माद्राजर्षयः सर्वे ब्राह्मणानन्वपालयन् ॥ ५ ॥ अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्। गीतं कैकेयराजेन ह्रियमाणेन रक्षसा ६ केकयानामधिपतिं रक्षो जग्राह दारुणम्। स्वाध्यायेनान्वितं राजन्नरण्ये संशितव्रतम् ॥ ७ ॥ राजोवाच। न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः। नानाहिताग्निर्नायज्वा मामकान्तरमाविशः ॥ ८ ॥ न च मे ब्राह्मणो विद्वान् नाव्रती नाप्यसोमपः।

राजाओंका पुराना वर्त्ताव है ऐसा सत्पुरुष कहते हैं ॥ ३ ॥ हे नृप ! जिस राजाके देशमें ब्राह्मण चोर बनजाता है तो उसमें शास्त्रको जाननेवाले उस राजाका ही अपराध और पाप समझते हैं ॥ ४ ॥ इसलिये सब राजर्षि, हम ब्राह्मणोंका पालन नहीं करेंगे तो ये हमें शाप देदेंगे, ऐसा समझकर ब्राह्मणोंका पालन करते थे ॥ ५ ॥ हे राजेन्द्र ! वनमें एक राक्षस कैकेय राज्यको हरकर लेगया था,उस समय उसने जो गाया था वह पुरातन इतिहास विद्वान् इस विषयमें इसप्रकार सुनाते हैं ॥ ६ ॥ हे राजन् ! केकयोंका राजा वनमें रहकर उग्र व्रत धारण करता हुआ वेदका अध्ययन करता था, उस समय एक भयानक राक्षसने आकर उस राजाके हृदयको जोरावरी पकड लिया ॥७॥ तब उस राजाने उस राक्षससे कहा, कि-मेरे देशमें कोई चोर नहीं है, कोई खोटा वर्त्ताव करनेवाला नहीं है,कोई मद्य पीनेवाला नहीं है तथा कोई अग्निहोत्र न करनेवाला और यज्ञ न करनेवाला भी नहीं है, तो भी तू मेरे हृदयमें कैसे घुससका है? ८मेरे राज्यमें कोई विचाररहित मूर्ख नहीं है अथवा व्रत न पालनेवाला भी नहीं है अथवा सोम न पीनेवाला ब्राह्मण नहीं है तथा अग्निहोत्र रहित और यज्ञ न करनेवाला ब्राह्मण भी नहीं है तो तुझे मेरे हृदयमें प्रवेश करनेका

नानाहिताग्निर्नायज्वा मामकान्तरमाविशः ॥ ९ ॥ नानाप्तदक्षि-
णैर्यज्ञैर्यजन्ते विषये मम । अधीते नाव्रतीत् कश्चिन्मामकान्तर-
माविशः ॥ १० ॥ अध्यापयन्त्यधीयन्ते यजन्ते याजयन्ति च ।
ददति प्रतिगृह्णन्ति षट्सु कर्मस्ववस्थिताः ॥ ११ ॥ पूजिताः
संविभक्ताश्च मृदवः सत्यवादिनः । ब्राह्मणा मे स्वकर्मस्था माम-
कान्तरमाविशः ॥ १२ ॥ न याचन्ति प्रयच्छन्ति सत्यधर्मविशा-
रदाः । नाध्यापयन्त्यधीयन्ते यजन्ते याजयन्ति न ॥ १३ ॥ ब्राह्म-
णान् परिरक्षन्ति संग्रामेष्वपलायिनः । क्षत्रिया मे स्वकर्मस्था
मामकान्तरमाविशः ॥ १४ ॥ कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यमुपजीवन्त्य-
मायया । अप्रमत्ताः क्रियावन्तः सुव्रताः सत्यवादिनः ॥ १५ ॥

साहस कैसे हुआ ? ॥ ९ ॥ मेरे देशके लोग दक्षिणा दियेबिना यज्ञ नहीं करते हैं, व्रत धारण किये बिना वेद नहीं पढ़ते हैं, तो भी तू मेरे हृदयमें प्रवेश करनेको शक्तिवान् कैसे होगया ? १० मेरे देशमें ब्राह्मण वेद पढते हैं और पढाते हैं, यज्ञ करते हैं और यज्ञ कराते हैं, दान देते हैं और लेते भी हैं, इन छः कर्मोंमें सब लगे रहते हैं ११ कोमल स्वभाव, सत्यवादी और अपने धर्मकर्ममें लगे रहनेवाले ब्राह्मणोंका मैं पूजन करता हूँ तथा उनको भोगके पदार्थ देकर मैं उपभोग करता हूँ, तो भी तू किसप्रकार मेरे हृदयमें प्रवेश करनेको समर्थ होगया ? ॥ १२ ॥ मेरे देशमें बसनेवाले क्षत्रिय किसीसे याचना नहीं करते हैं, किन्तु दूसरोंको देते हैं, सत्य धर्मको जानते हैं, दूसरोंको वेद नहीं पढाते हैं, किन्तु स्वयं पढ़ते हैं, दूसरोंको यज्ञ नहीं कराते हैं, किन्तु स्वयं करते हैं १३ वे ब्राह्मणोंकी रक्षा करते हैं, संग्राममेंसे पीछेको पैर नहीं देते हैं और अपने कर्ममें लगे रहते हैं तो भी तू मेरे हृदयमें प्रवेश करनेको कैसे समर्थ होगया ? ॥ १४ ॥ मेरे देशके वैश्य खेती बाड़ी, गोरक्षा और व्यापार करके प्रतिष्ठाके साथ आजीविका

सम्विभागं दमं शौचं सौहृदञ्च व्यपाश्रिताः । मम वैश्याः स्व-कर्मस्था मामकान्तरमाविशः ॥ १६ ॥ त्रीन् वर्णानुपजीवन्ति यथावदनसूयकाः । मम शूद्राः स्वकर्मस्था मामकान्तरमाविशः॥१७ कृपणानाथवृद्धानां दुर्बलातुरयोषिताम् । सम्विभक्तास्मि सर्वेषां मामकान्तरमाविशः ॥ १८ ॥ कुलदेशादिधर्माणां ग्रथितानां यथा-विधि । अव्युच्छेत्तास्मि सर्वेषां मामकान्तरमाविशः ॥ १९ ॥ तपस्विनो मे विषये पूजिताः परिपालिताः । सम्विभक्ताश्च सत्-कृत्य मामकान्तरमाविशः ॥ २० ॥ नासम्विभज्य भोक्तास्मि नाविशामि परस्त्रियम् ।स्वतन्त्रो जातु न क्रीडे मामकांतरमाविशः॥२१ नाब्रह्मचारी भिक्षावान् भिक्षुर्वाब्रह्मचर्य्यवान् । अनृत्विजा हुतं

करते हैं, मदरहित, क्रियावान्, सदाचारी, सत्यवादी ॥ १५ ॥ सम्विभाग (अपने खानपानमेंसे समान भाग बाँट कर खाना) युक्त हैं,दम शौच और सुहृद्भावसे युक्त हैं तथा अपने कर्ममें तत्पर हैं,तो भी तू मेरे हृदयमें प्रवेश करनेको कैसे समर्थ होगया ? १६ मेरे देशके शूद्र अपने धर्मके अनुसार तीनों वर्णोंकी सेवा करके अपनी आजीविका चलाते हैं और अपने कर्ममें लगे रहते हैं तो भी तू मेरे हृदयमें प्रवेश करनेको कैसे समर्थ होगया ? ॥१७॥ मैं कृपण, अनाथ, बूढ़े, दुर्बल, रोगी और अनाथ स्त्रियोंको देनेके बाद भोग्य पदार्थोंका उपभोग करता हूँ, तो भी तू मेरे मनमें प्रवेश करनेको कैसे समर्थ होगया ? ॥ १८ ॥ मैंने कुलके और देशके सब प्रसिद्ध धर्मोंका कभी उल्लङ्घन नहीं किया है, तो भी तू मेरे मनमें प्रवेश कैसे करसका ? ॥ १९ ॥ अपने देशके तपस्वियोंका पालन करके मैं उनका पूजन करता हूँ, उनका सत्कार करके उनको भी भाग देता हूँ, फिर तू मेरे मनमें कैसे प्रवेश करसका ? ॥ २० ॥ विभाग किये बिना मैं किसी वस्तुका उपभोग नहीं करता हूँ, परस्त्रीके साथ व्यभिचार नहीं करता हूँ

नास्ति मामकान्तरमाविशः ॥ २२ ॥ नावजानाम्यहं वैद्यान्न वृद्धान्न तपस्विनः । राष्ट्रे स्वपति जागर्मि मामकान्तरमाविशः २३ आत्मविज्ञानसम्पन्नस्तपस्वी सर्वधर्मवित् । स्वामी सर्वस्य राष्ट्रस्य धीमान् मम पुरोहितः॥२४॥ दानेन विद्यामभिवाञ्छयामि लोकान् सत्येनाथो ब्राह्मणानाञ्च गुप्त्या । शुश्रूषया चापि गुरूनुपैमि न मे भयं विद्यते राक्षसेभ्यः॥ २५ ॥ न मे राष्ट्रे विधवा ब्रह्म-बन्धुर्न ब्राह्मणः कितवो नोत चौरः । अयाज्ययाजी न च पाप-कर्मा न मे भयं विद्यते राक्षसेभ्यः ॥ २६ ॥ न मे शस्त्रैरनिर्भिन्नं

और स्वतन्त्र होकर कभीभी क्रीड़ा नहीं करता हूँ, तो भी तू मेरे हृदयमें कैसे प्रवेश करसका?॥२१॥मेरे देशमें जो ब्रह्मचारी न हो ऐसा कोई पुरुष भिक्षा नहीं माँगता है, भिक्षुक विप्र ब्रह्मचर्यके विना नहीं होता है तथा ऋत्विग्के सिवाय दूसरा कोई विप्र अग्निमें होम नहीं करता है तो भी तू मेरे हृदयमें कैसे प्रवेश कर सका? ॥ २२ ॥ मैं विद्वानोंका वृद्धोंका और तपस्वियोंका तिर-स्कार नहीं करता हूँ सब देश सो जाता है उस समयमें अकेलाही जागता रहता हूँ तो भी तू मेरे हृदयमें कैसे प्रवेश करसका २३ मेरा पुरोहित आत्मज्ञानी, तपस्वी, सब धर्मोंको जाननेवाला बुद्धि-मान् और सब देशका स्वामी है ॥ २४ ॥ और मैं दान देकर विद्या प्राप्त करनेकी इच्छा रखता हूँ, सत्यसे तथा ब्राह्मणोंकी रक्षासे सुख देने वाले लोकोंको प्राप्त करना चाहता हूँ और गुरुओंकी सेवा करनेवाला हूँ, इसलिये मुझे राक्षसका भय नहीं है ॥२५॥ मेरे देशमें विधवा स्त्री नहीं है,नीच कपटी या चोरी करनेवाला ब्राह्मण नहीं है तथा जिसको यज्ञ कराना उचित नहीं है ऐसेको यज्ञ करानेवाला और पापी ब्राह्मण नहीं रहता है, इसलिये मुझे राक्षसका भय नहीं है ॥ २६ ॥ धर्मके लिये युद्ध करतेहुए मेरे शरीरमें दो अंगुल भर स्थान भी शस्त्रोंसे घायल

गात्रे ह्यङ्गुलमन्तरम् । धर्मार्थं युध्यमानस्य मामकांतरमाविशः ॥ २७ गोब्राह्मणेभ्यो यज्ञेभ्यो नित्यं स्वस्त्ययनं मम । आशासते जना राष्ट्रे मामकान्तरमाविशः ॥ २८ ॥ राक्षस उवाच । यस्मात् सर्वा-स्ववस्थासु धर्ममेवान्ववेक्षसे । तस्मात् प्राप्नुहि कैकेय गृहं स्वस्ति व्रजाम्यहम् ॥ २९ ॥ येषां गोब्राह्मणं रक्ष्यं प्रजा रक्ष्याश्च केकय । न रक्षोभ्यो भयं तेषां कुत एव तु पावकात् ॥ ३० ॥ येषां पुरो-गमा विप्रा येषां ब्रह्म परं बलम् । अतिथिप्रियास्तथा पौरास्ते वै स्वर्गजितो नृपाः ॥ ३१ ॥ भीष्म उवाच । तस्माद् द्विजातीन् रक्षेत ते हि रक्षन्ति रक्षिताः । आशीरेषां भवेद्राजन् राज्ञां सम्यक् प्रव-र्तताम् ॥ ३२ ॥ तस्माद्राज्ञा विशेषेण विकर्मस्था द्विजातयः ।

हुए बिना नहीं रहा है, मैं सदा धर्मके लिए लडा हूँ, तो भी तू मेरे हृदयमें प्रवेश कैसे करसका ? ॥ २७ ॥ मेरे देशके मनुष्य "गौ, ब्राह्मण और यज्ञोंसे हमारा नित्य कल्याण हो" ऐसी आशा रखते हैं, तो भी तू मेरे हृदयमें प्रवेश करनेको कैसे समर्थ होगया ? ॥ २८ ॥ राक्षसने कहा, कि-हे केकयवंशके राजा ! जब तू हरएक दशामें धर्मको ही देखता है तो तू सुखसे अपने घर जा और मैं अपने स्थानको जाता हूँ ॥ २९ ॥ हे केकय राजा ! जो गौ, ब्राह्मण और प्रजाकी रक्षा करते हैं उनको राक्षसोंका भय नहीं होता है, फिर अग्निका भय तो होगा ही कहाँसे ? ॥ ३० ॥ जिन राजाओंके यहाँ ब्राह्मणोंकी प्रधानता होती है, जिनको ब्राह्मणोंका परमबल होता है और जिनके नगरवासी अतिथियोंके ऊपर प्रीति रखते हैं वे राजे स्वर्गको जीतलेते हैं ॥ ३१ ॥ भीष्मने कहा, कि-हे राजा युधिष्ठिर ! इसकारण तू ब्राह्मणोंकी रक्षाकर, ब्राह्मणोंकी रक्षा करनेसे वे भी बदलेमें रक्षा करते हैं और राज्यकी अच्छे प्रकारसे रक्षा करने वाले राजाओंको आशी-र्वाद देते हैं ॥ ३२ ॥ राजा ब्राह्मणोंका अनुग्रह पानेके लिये

नियम्या सम्विभज्याश्च तदनुग्रहकारणात् ॥ ३३ ॥ एवं यो वर्तते राजा पौरजानपदेष्विह । अनुभूयेह भद्राणि प्राप्नोतीन्द्र-सलोकताम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कैकेयोपाख्याने सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥७७॥

युधिष्ठिर उवाच । व्याख्याता राजधर्मेण वृत्तिरापत्सु भारत । कथंचिद्वैश्यधर्मेण सञ्जीवेद् ब्राह्मणो न वा॥१॥ भीष्म उवाच । अशक्तः क्षत्रधर्मेण वैश्यधर्मेण वर्तयेत् । कृषिगोरक्ष्यमास्थाय व्यसने वृत्तिसंक्षये ॥ २ ॥ युधिष्ठिर उवाच । कानि पण्यानि विक्रीय स्वर्गलोकान्न हीयते । ब्राह्मणो वैश्यधर्मेण वर्तयन् भर-

अधर्मके मार्गमें चलनेवाले द्विजोंको विशेष रूपसे नियममें रक्खे और अपने उपभोगके पदार्थोंमेंसे विभाग करके उनको देकर पीछे आप उपभोग करे ॥ ३३ ॥ जो राजा इसप्रकार नगरवासी और देशवासी लोगोंके साथ व्यवहार करता है वह राजा इस लोकमें सुख भोगकर मरनेके बाद इन्द्रलोकमें जाता है ॥ ३४ ॥ सतत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥ ७७ ॥

युधिष्ठिरने कहा, कि-हे पितामह! आपत्तिकालमें यदि किसी विप्रकी अपने धन्धेसे आजीविका न चलती हो तो क्षत्रियके धर्मसे आजीविका चलानेकी बात आपने कही, परन्तु इसीप्रकार क्षत्रियकी वृत्तिसे आजीविका न चलती हो तो विप्र वैश्यकी आजीविकासे निर्वाह करे या नहीं, यह मुझे बताइये ? ॥ १ ॥ भीष्मने कहा, कि-यदि विप्र क्षत्रियकी वृत्तिसे आजीविका न चलासके तो फिर वह वैश्यके धर्मसे ही आजीविका चलावे, खेती बाड़ी और गोरक्षा करके शरीरका पोषण करे ॥ २ ॥ युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे भीष्म पितामह! विप्र वैश्यकी वृत्तिसे आजीविका करनेके लिये किन २ वस्तुओंका व्यापार करे तो वह स्वर्गलोकसे भ्रष्ट

तर्षभ ॥ ३ ॥ भीष्म उवाच । सुरालवणमित्येव तिलान् केस-
रिणः पशून् । ऋषभान् मधु मांसञ्च कृतान्नञ्च युधिष्ठिर ॥४॥
सर्वास्ववस्थास्वेतानि ब्राह्मणः परिवर्ज्जयेत् । एतेषां विक्रयात्तात
ब्राह्मणो नरकं व्रजेत् ॥ ५ ॥ अजोऽग्निर्वरुणो मेषः सूर्योऽश्वः
पृथिवी विराट् । धेनुर्यज्ञश्च सोमश्च न विक्रेयाः कथञ्चन ॥६॥
पक्वेनामस्य नियमं न प्रशंसन्ति साधवः । निमयेत् पक्वमामेन
भोजनार्थाय भारत ॥ ७ ॥ वयं सिद्धमशिष्यामो भवान् साधय-
तामिमम् । एवं संवीक्ष्य नियमं नाधर्मोऽस्ति कथञ्चन ॥ ८ ॥
अत्र ते वर्त्तयिष्यामि पुरा धर्मः सनातनः । व्यवहारप्रवृत्तानां
तन्निबोध युधिष्ठिर ॥९॥ भवतेऽहं ददानीदं भवानेतत् प्रयच्छतु ।

नहीं होता है ? ॥ ३ ॥ भीष्मने कहा, कि-हे तात ! युधिष्ठिर !
मदिरा, लवण, तिल घोडा, गौ, बकरा, भैंसा आदि पशु, बैल,
शहद, मांस और रँधाहुआ अन्न इतनी वस्तुओंको विप्र कभी
आपत्ति कालमें भी न बेचे, इन पदार्थोंको बेचनेसे विप्र नरकमें
पड़ता है ॥४ ॥ ५॥ विप्रको बकरा बेचनेसे अग्निदेवके बेचनेका
भेडको बेचनेसे वरुणदेवके बेचनेका, घोड़ेको बेचनेसे सूर्यदेवके
बेचनेका, रँधाहुआ अन्न बेचनेसे पृथिवीको बेचनेका और गौको
बेचनेसे यज्ञ तथा सोमरसको बेचनेका पाप लगता है, इसलिये
विप्र इन पदार्थोंको कभी न बेचे ॥ ६ ॥ रँधीहुई वस्तु देकर
कच्चा पदार्थ खरीदनेकी सत्पुरुष प्रशंसा नहीं करते हैं, परन्तु
हे भरतवंशी राजन् ! भोजनके लिये कच्चा पदार्थ देकर पक्का
पदार्थ लेनेमें कुछ हानि नहीं है ॥ ७ ॥ यह कच्चा अन्न लो
और तुम राँधलो, हम रँधाहुआ अन्न खावेंगे, ऐसा कहकर
कच्चा अन्न देकर उसके बदलेमें पक्का अन्न लेय तो कच्चा
अन्न देनेवालेको कुछ भी अधर्म नहीं होता है ॥ ८ ॥ हे राजा
युधिष्ठिर ! इस विषयमें व्यवहार करनेवाले पुरुषोंका पुराना सना-

रुचितो वर्तते धर्मो न बलात् संप्रवर्त्तते ॥ १० ॥ इत्येवं संप्रवर्त्तन्ते व्यवहाराः पुरातनाः । ऋषीणामितरेषाञ्च साधु चैतदसंशयम् ११ युधिष्ठिर उवाच । अथ तात यदा सर्वाः शस्त्रमाददते प्रजाः । व्युत्क्रामन्ति स्वधर्मेभ्यः क्षत्रस्य क्षीयते बलम् ॥ १२ ॥ राजा त्राता तु लोकस्य कथञ्च स्यात् परायणम् । एतन्मे संशयं ब्रूहि विस्तरेण नराधिप ॥ १३ ॥ भीष्म उवाच । दानेन तपसा यज्ञैरद्रोहेण दमेन च । ब्राह्मणप्रमुखा वर्णाः क्षेममिच्छेयुरात्मनः ॥१४॥ तेषां ये वेदबलिनस्तेऽभ्युत्थाय समन्ततः । राज्ञो बलं वर्द्धयेयुर्महेन्द्रस्येव देवताः ॥ १५ ॥ राज्ञोपि क्षीयमाणस्य ब्रह्मैवाहुः परायणम् । तस्माद् ब्रह्मबलेनैव समुत्थेयं विजानता ॥ १६ ॥ यदा

तनधर्म तुझसे कहता हूँ, उसको सुनहमें तुझे यह वस्तु देता हूँ और तू मुझे अमुक वस्तु दे, यह रुचिके साथ कियाहुआ बदला धर्म मानाजाता है, परन्तु बलात्कारसे बदला न करे, वह पाप है ॥ १० ॥ इसप्रकार ऋषियोंके और दूसरोंके पुराने व्यवहार चलते थे और यह धर्म मानाजाता था, इसमें सन्देह नहीं है ११ युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे तात ! यदि सब प्रजा अपने धर्मको त्यागकर अपने राजाके सामने शस्त्र लेकर आजाय तो राजाके बलका नाश होजाय ॥ १२ ॥ ऐसे समय पालन करनेवाला राजा लोकोंकी रक्षा किसप्रकार करसकता है ? हे राजन् ! इस मेरे सन्देहको विस्तारके साथ दूर करदीजिये ॥ १३ ॥ भीष्मने कहा, कि-ऐसे समय सब वर्ण विप्रको मुखिया बनाकर दान, तप, यज्ञ, द्रोह न करना और दमसे जिसप्रकार अपना २ कल्याण हो तैसा करें ॥ १४ ॥ इसमें जो वेदका बल रखनेवाले विप्र हों वे चारों ओरसे इकट्ठे होकर जैसे देवता इन्द्रके बलको बढाते हैं तैसे राजाके बलको बढावे ॥ १५ ॥ राजाभी यदि क्षीण होगया हो तो वह विप्रका ही परम आश्रय लेय, ऐसा विद्वान् कहते हैं इस लिये

तु विजयी राजा क्षेमं राष्ट्रेऽभिसन्दधेत्। तदा वर्णा यथाधर्मं निवेशेयुः कथञ्चन ॥१७॥ उन्मर्यादे प्रवृत्ते तु दस्युभिः सङ्करे कृते। सर्वे वर्णा न दुष्येयुः शस्त्रवन्तो युधिष्ठिर ॥ १८ ॥ युधिष्ठिर उवाच अथ चेत् सर्वतः क्षत्रं प्रदुष्येद्ब्राह्मणं प्रति। कस्तस्य ब्रह्मणस्त्राता को धर्मः किं परायणम् ॥ १९ ॥ भीष्म उवाच। तपसा ब्रह्मचर्येण शस्त्रेण च बलेन च। अमायया मायया च नियन्तव्यं तदा भवेत् ॥ २० ॥ क्षत्रियस्यातिवृत्तस्य ब्राह्मणेषु विशेषतः। ब्रह्मैव संनियन्तृ स्यात् क्षत्रं हि ब्रह्मसम्भवम् ॥२१॥ अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम्। तेषां सर्वत्रगं

चतुर राजा विप्रके बलका ही आश्रय लेकर अपना अभ्युदय करे। राजा विजय पाकर यदि अपने देशमें शान्ति स्थापन करना चाहता हो तो वह ऐसी युक्ति करे, कि-जिससे किसीप्रकार सब वर्ण अपना २ कर्म करने लगें ॥ १७ ॥ जब प्रजा मर्यादारहित होजाय और डाकू प्रजामें वर्णसङ्करता फैलावें उस समय सब वर्ण प्रजा वर्णसङ्करता न होजाय, इसके लिए शस्त्र उठावे, हे युधिष्ठिर! ऐसा करनेमें वे पाप नहीं करते हैं ॥ १८ ॥ युधिष्ठिरने पूछा, कि-हे तात! परन्तु जब क्षत्रियही विप्रोंके साथ शत्रुता करने लगें, ऐसे अवसरमें विप्रोंकी और वेदकी रक्षा कौन करे? उस समय विप्र कौनसे धर्मको अङ्गीकार करें और किसकी शरणमें जायँ ॥ १९ ॥ भीष्मने कहा, कि-युधिष्ठिर! उससमय विप्र तपसे ब्रह्मचर्यसे, शस्त्रसे, बलसे, कपटसे या निष्कपटभावसे जिस उपायसे भी होसके क्षत्रियोंको शिक्षा (दण्ड) दें ॥ २० ॥ कदाचित् क्षत्रिय स्वयंही विप्रको विशेष दुःख देने लगे तो विप्रही क्षत्रियको दण्डदेय, क्षत्रिय विप्रमेंसे उत्पन्न हुआ है, इसलिए विप्रही क्षत्रियको नियममें लानेका अधिकारी है ॥ २१ ॥ जलमेंसे अग्नि, विप्रमेंसे क्षत्रिय और पत्थर

तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ २२ ॥ यदा छिनत्त्ययोऽश्मानम् अग्निश्चापोऽभिगच्छति । क्षत्रञ्च ब्राह्मणं द्वेष्टि तदा नश्यन्ति ते त्रयः ॥ २३ ॥ तस्माद् ब्रह्मणि शाम्यन्ति क्षत्रियाणां युधिष्ठिर । समुदीर्णान्यजेयानि तेजांसि च बलानि च ॥ २४ ॥ ब्रह्मवीर्ये मृदौ भूते क्षत्रवीर्ये च दुर्बले । दुष्टेषु सर्ववर्णेषु ब्राह्मणान् प्रति सर्वशः ॥ २५ ॥ ये तत्र युद्धं कुर्वन्ति त्यक्त्वा जीवितमात्मनः । ब्राह्मणान् परिरक्षन्तो धर्ममात्मानमेव च ॥ २६ ॥ मनस्विनो मन्युमन्तः पुण्यश्लोका भवन्ति ते । ब्राह्मणार्थं हि सर्वेषां शस्त्रग्रहणमिष्यते ॥ २७ ॥ अतिस्विष्टस्वधीतानां लोकानतितपस्विनाम् । अनाशकाग्न्योर्विशतां शूरा यान्ति परां गतिम् ॥ २८ ॥

मेंसे लोहा उत्पन्न हुआ है, अग्नि क्षत्रिय और लोहेका बल-तेज किसीसे दबता नहीं है, परन्तु जब ये सब अपनेको उत्पन्न करनेवाले मूलके समागममें आते हैं (मुकाबला करते हैं) तो शान्त होजाते हैं ॥ २१ ॥ जब लोहा पत्थरको काटने लगता है, अग्नि जलके सामने आकर लड़ता है और क्षत्रिय विप्रसे द्वेष करता है उस समय ये तीनों नष्ट होजाते हैं ॥ २३ ॥ इसलिये हे युधिष्ठिर ! क्षत्रियोंका बल और तेज यद्यपि रोका नहीं जासकता, यह ठीक है, परन्तु वही तेज और बल विप्रके समीप पहुँचकर शांत पड़जाता है ॥ २४ ॥ जब विप्रोंका पराक्रम कोमल हो जाता है, क्षत्रियका वीर्य दुर्बल पड जाता है और सब वर्ण विप्रसे द्वेष करने लगते हैं, उस समय जो लोग विप्रकी धर्मकी और अपनी रक्षाके लिये प्राणोंको सङ्कटमें डालकर युद्ध करते हैं उन उदारचेता और उग्रवेगवाले मनुष्योंकी कीर्ति जगत्में फैलती है,वे उत्तम लोक पाते हैं,विप्रके लिये सब वर्णोंको शस्त्र धारण करने चाहियें२५--२७यज्ञ याग करनेवाले,वेदका अध्ययन करनेवाले, तपस्या करनेवाले निराहार व्रत धारण करके अग्निमें

ब्राह्मणस्त्रिषु वर्णेषु शस्त्रं गृह्णन् न दुष्यति । एवमेवात्मनस्त्यागान्नान्यं धर्मं विदुर्जनाः ॥ २९ ॥ तेभ्यो नमश्च भद्रञ्च ये शरीराणि जुह्वते । ब्रह्मद्विषो नियच्छन्तस्तेषां नोस्तु सलोकता । ब्रह्मलोकजितः स्वर्ग्यान् वीरांस्तान्मनुरब्रवीत् ॥ ३० ॥ यथाश्वमेधावभृथे स्नाताः पूता भवन्त्युत । दुष्कृतस्य प्रणाशेन तथा शस्त्रहता रणे ॥३१॥ भवत्यधर्मो धर्मो हि धर्माधर्मावुभावपि । कारणाद्देशकालस्य देशकालः स तादृशः ॥ ३२ ॥ मैत्राः क्रूराणि कुर्वन्तो जयन्ति स्वर्गमुत्तमम् । धर्म्याः पापानि कुर्वाणा गच्छन्ति परमां गतिम्॥३३॥ब्राह्मणस्त्रिषु कालेषु शस्त्रं गृह्णन्न दुष्यति ।

पढ़नेवाले लोगोंको जो लोक मिलते हैं उनसे भी उत्तम लोक, विप्रके लिये प्राण देनेवाले शूरोंको मिलते हैं ॥ २८ ॥ तथा विप्र तीनों वर्णोंकी रक्षाके लिये शस्त्र धारण करता है तो उसको दोष नहीं लगता है तथा मनुष्य कहते हैं, कि-युद्धमें देहको त्यागनेकी समान दूसरा कोई धर्म नहीं है ॥ २९ ॥ जो लोग विप्रके शत्रुओंके सामने विप्ररक्षाके लिये रणमें लड़कर मरते हैं, ऐसे पुरुषोंको प्रणाम है उनको जो लोक मिलते हैं, वे लोक मुझे मिलें ॥ ३० ॥ मनुने भी कहा, है कि-जो विप्रके लिये शरीर त्यागते हैं उन शूरोंको ब्रह्मलोक मिलता है, जैसे अश्वमेध यज्ञमें अवभृथ स्नान करके लोग पवित्र होते हैं तैसे ही दुष्ट पुरुषोंके सामने लड़कर संग्राममें शस्त्रोंसे घायल हुए शूर भी पापरहित होकर पवित्र होते हैं ॥३१॥ देश तथा कालके कारणसे धर्म अधर्मरूप और अधर्म धर्मरूप होजाता है, इसप्रकार देश और कालका स्वरूप है ॥ ३२ ॥ देश कालको लेकर दयालु पुरुष दूसरेकी रक्षा करनेके लिये क्रूर कर्म करते हैं तो भी वे उत्तम स्वर्गमें जाते हैं ॥ ३३ ॥ विप्र यदि तीन समय शस्त्र धारण करता है तो उसको पाप नहीं लगता है-एक अपनी रक्षा

आत्मत्राणे वर्णदोषे दुर्दम्यनियमेषु च ॥३४॥ युधिष्ठिर उवाच । अभ्युत्थिते दस्युबले क्षत्रार्थे वर्णसङ्करे । सम्प्रमूढेषु क्षत्रेषु यद्यन्योऽभिभवेद्बली ॥ ३५ ॥ ब्राह्मणो यदि वा वैश्यः शूद्रो वा राजसत्तम । दस्युभ्योऽथ प्रजा रक्षेद्दण्डं धर्मेण धारयन् ॥ ३६ ॥ कार्यं कुर्यान्न वा कुर्यात् संवार्यो वा भवेन्न वा । नहताच्छस्त्रं ग्रहीतव्यमन्यत्र क्षत्रबन्धुनः ॥३७॥ भीष्म उवाच । अपारे यो भवेत् पारमप्लवे यः प्लवो भवेत् । शूद्रो वा यदि वाऽप्यन्यः सर्वथा मानमर्हति ॥ ३८ ॥ यमाश्रित्य नरा राजन् वर्त्तयेयुर्यथासुखम् । अनाथाः परिकाल्यन्तो दस्युभिः परिपीडिताः ॥३९॥

करनेके लिये, दूसरे अन्य वर्णोंके अधर्ममार्गमेंको चलने पर और उनको ठीक मार्गमें रखनेके लिये और तीसरे लुटेरोंको दण्ड देनेके लिये ॥ ३४ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि–जब लुटेरे अपना सिर उठावें, प्रजा वर्णसङ्कर होजाय और क्षत्रिय निर्बल होजाय, तो उस समय प्रजाकी रक्षा करनेके लिये क्षत्रियके सिवाय दूसरे किसी बलवान्को, प्रजाकी रक्षा करनेके लिये आवश्यकता है ही, हे राजसत्तम ! यह सत्य है, फिर वह बलवान् पुरुष द्विज हो चाहे वैश्य हो, चाहे शूद्रोंमेंका हो, वह दुष्टोंको दबानेमें और धर्मसे दण्ड धारण करके लुटेरोंसे प्रजाकी रक्षा करनेमें विजयी होजाय तो उसने जो काम किया है वह ठीक है ? या उसको उसके धर्मानुसार रक्षा करनेसे रोक देय ? मेरा तो यह मत है, कि–क्षत्रिय निर्बल हो तो उस समय दूसरोंको शस्त्र धारण करना ही चाहिये ॥ ३५–३७ ॥ भीष्मने कहा, कि–पाररहित (जिसका ओर छोर न मिले ऐसे) में जो पाररूप हो और जहाँ नौका न हो तहाँ जो नौका रूप बनकर पार लगादेता है वह शूद्र हो चाहे कोई दूसरा हो, परन्तु वह पुरुष सदा सम्मानका पात्र है ॥ ३८–३९ ॥ निराधार लोगोंको लुटेरे

तमेव पूजयेयुस्ते प्रीत्या स्वमिव बान्धवम् । भयाद्भीतारणं कौरव्य कर्त्ता सम्मानमर्हति ॥ ४० ॥ किन्तैर्येऽनडुहो नोह्या किं धेन्वा वाप्यदुग्धया । वन्ध्यया भार्य्यया कोऽर्थः कोऽर्थो राज्ञाप्यरक्षता ॥ ४१ ॥ यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः । तथा ह्यनर्थः षण्ढो वा पार्थ क्षेत्रं यथोषरम् ॥ ४२ ॥ एवं विप्रानधीयानो राजा यश्च न रक्षिता । मेघो न वर्षते यश्च सर्वथा ते निरर्थकाः ॥ ४३ ॥ नित्यं यस्तु सतो रक्षेदसतश्च निवर्त्तयेत् । स एव राजा कर्त्तव्यस्तेन सर्वमिदं धृतम् ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

युधिष्ठिर उवाच । क्व समुत्थाः कथं शीला ऋत्विजः स्युः

दुःख देते हों उस समय जो निराधार जिसका आश्रय लेकर सुखसे जीवन बितावे, उस पुरुषकी वे अपने बांधवकी समान प्रेमके साथ पूजा करें, हे कुरुवंशी ! जो पुरुष दूसरोंके भयका नाश करता है वह सन्मानका ही पात्र है ॥ ४० ॥ जो बोझा न ढोते हों वे बैल किस कामके ? जो दूध न देती हो वह गौ किस कामकी ? जो राजा रक्षा न करसके वह राजा किस कामका ? ॥ ४१ ॥ जैसे काठका हाथी, जैसे चमड़ेका मृग, धन रहित मनुष्य, हीजड़ा, ऊल्लड़ खेत, मूर्ख विप्र और न बरसने वाला मेघ ये सब जैसे निरर्थक माने जाते हैं वैसे ही हे पार्थ ! रक्षा न करनेवाला राजा भी निरर्थक (मट्टीका पुतलासा) माना जाता है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ जो पुरुष नित्य दुष्टोंको दण्ड देता हो और सत्पुरुषोंकी रक्षा करता हो उसको ही राजा बनावे और वही इस सब जगत्के ऊपर राज्य चलासकता है ॥ ४४ ॥ अठहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥ ७८ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे पितामह! यज्ञके ऋत्विज किस स्वभाव

पितामह । कथंविधाश्च राजेन्द्र तद् ब्रूहि वदताम्वर ॥ १॥ भीष्म उवाच । प्रतिकर्मपराचार ऋत्विजां स्म विधीयते । छन्दः सामादि विज्ञाय द्विजानां श्रुतमेव च ॥ २ ॥ ये त्वेकमतयो नित्यं धीराणां प्रतिवादिनः । परस्परस्य सुहृदः समन्तात् समदर्शिनः ॥ ३ ॥ अनृशंसाः सत्यवाक्या अकुसीदा अथर्ज्जवः । अद्रोहोनभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः ॥ ४ ॥ धीमान् सत्यधृतिर्दान्तो भूतानामविहिंसकः । अकामद्वेषसंयुक्तस्त्रिभिः शुक्लैः समन्वितः ।५। अहिंसको ज्ञानतृप्तः स ब्रह्मासनमर्हति । एते महर्त्विजस्तात सर्वे मान्या यथार्हतः ॥ ६ ॥ युधिष्ठिर उवाच । यदिदं वेदवचनं दक्षिणासु विधीयते । इदं देयमिदं देयं न क्वचिद्व्यवतिष्ठते ॥७॥ नेदं

के होने चाहियें और कैसे होने चाहियें ? हे श्रेष्ठ वक्ता राजेन्द्र ! यह बात मुझे बताइये ॥ १ ॥ भीष्मने कहा-शास्त्रमें बताया है, कि-जो ऋत्विज् राजाकी वृद्धिके लिए शान्तिक पौष्टिक हरएक कर्म कराने वाले हों, वे ऋक्, यजु, साम आदि वेद और मीमांसा आदि शास्त्रोंके अभ्यासवाले होने चाहियें ॥ २ ॥ वे एक ही विचारके होने चाहियें, वीर पुरुषोंको नित्य उत्तर देसकैं ऐसे, आपसमें प्रेम रखने वाले और सबके ऊपर समदृष्टि रखनेवाले होने चाहियें ॥ ३ ॥ वे क्रूरतारहित और सत्यवादी होने चाहियें कभी भी व्याज न खाते हों और सरलस्वभाव हों, द्रोह तथा अभिमानसे रहित, लज्जा, सहनशक्ति, दम और शान्तिमान् होने चाहियें ॥ ४ ॥ बुद्धिमान, सत्य धीरज और इन्द्रियनिग्रह वाले प्राणियोंके रक्षक , काम और द्वेषसे रहित, शुद्ध शास्त्रके अभ्यासी, शुद्ध आचरणवाले और शुद्ध वंशके होने चाहियें, ऐसे ज्ञानसे सन्तुष्ट ऋत्विज ब्रह्मासनके योग्य गिनेजाते हैं, हे युधिष्ठिर ! ऐसे सब ऋत्विजोंका उचित रीतिसे सत्कार करे५-६ युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे भीष्मजी ! वेदमें कहा, है कि यज्ञमें दक्षिणा

प्रतिधनं शास्त्रमापद्धर्मानुशास्त्रतः । आज्ञा शास्त्रस्य घोरेयं न शक्तिं समवेक्षते ॥८॥ श्रद्धावता च यष्टव्यमित्येषा वैदिकी श्रुतिः। मिथ्योपेतस्य यज्ञस्य किमु श्रद्धा करिष्यति ॥९॥ भीष्म उवाच । न वेदानां परिभवान्न शाठ्येन न मायया । कश्चिन्महदवाप्नोति मा तेऽभूद् बुद्धिरीदृशी ॥१०॥ यज्ञाङ्गं दक्षिणा तात वेदानां परिबृंहणम् । न यज्ञा दक्षिणाहीनास्तारयन्ति कथञ्चन।११।शक्तिस्तु पूर्णपात्रेण सम्मिता न समा भवेत् । अवश्यं तात यष्टव्यं त्रिभिर्वर्णैर्यथाविधि ॥ १२ ॥ सोमो राजा ब्राह्मणानामित्येषा वैदिकी स्थितिः । तञ्च विक्रेतुमिच्छन्ति न वृथावृत्तिरिष्यते ॥१३॥ तेन

देय, परन्तु अमुक दक्षिणा देय यह व्यवस्था कहीं नहीं की है७ (बारह सौ) दक्षिणा देनेका विधान करनेवाले शास्त्रमें धनका विभाग बतानेके लिए कुछभी नहीं कहा है परन्तु आपत्तिकालमें (बारह सौ दक्षिणा न दे सके ऐसे समयमें) घरका सर्वस्व दक्षिणामें देदेय और यदि धन पास न होय तो दरिद्र पुरुष यज्ञ न करे, ऐसी शास्त्रकी आज्ञा है, यह भयानक है, यह आज्ञा मनुष्यकी शक्तिका विचार नहीं करती है ॥ ८ ॥ वेदकी श्रुति कहती है, कि–पुरुष श्रद्धासे यज्ञ करे, परन्तु ऐसा मिथ्या आचार वा यज्ञ श्रद्धाके साथ कैसे हो सकता है? ॥ ९ ॥ भीष्मने कहा, कि–वेदके वचनोंका तिरस्कार करनेसे शठतासे या कपट करनेसे कोईभी बड़ाई नहीं पासकता, इसलिए तुम्हारी बुद्धिभी ऐसी न हो ॥ १० ॥ हे तात ! दक्षिणा यज्ञोंका अङ्ग मानीजाती है और वेदोंकी वृद्धि करनेवाली है, दक्षिणारहित कियेहुए यज्ञ यजमानको कभी नहीं तारते हैं ॥ ११ ॥ हे राजन् ! निर्धन यजमानका एक पूर्णपात्र बारह सौकी दक्षिणाकी समान गिनाजाता है इसलिए हे तात ! तीनों वर्ण शास्त्रमें कही विधिसे यज्ञ करनेके अवश्य अधिकारी हैं ॥ १२ ॥ वेदमें कहा है, कि–सोम (लता)

कामेन यज्ञेन ततो यज्ञः प्रतायते । इत्येवं धर्मना ख्यातमृषिभि-र्धर्मचारिभिः ॥ १४ ॥ पुमान् यज्ञश्च सोमश्च न्यायवृत्तो यदा भवेत् । अन्यायवृत्तः पुरुषो न परस्य न चात्मनः ॥ १५ ॥ शरीरकृत-मास्थाय इत्येषा श्रूयते श्रुतिः । नातिसम्यक् प्रणीतानि ब्राह्म-णानां महात्मनाम् ॥ १६ ॥ तपो यज्ञादपि श्रेष्ठमित्येषा परमा श्रुतिः । तत्ते तपः प्रवक्ष्यामि विद्वंस्तदपि मे शृणु ॥ १७ ॥ अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यं दमो घृणा । एतत्तपो विदुर्धीरा न शरीरस्य शोषणम् ॥ १८ ॥ अप्रामाण्यञ्च वेदानां शास्त्राणाञ्चातिलंघ-नम् । अव्यवस्था च सर्वत्र तद्वै नाशनमात्मनः ॥ १९ ॥ निबोध

ब्राह्मणोंका राजा है तो भी ब्राह्मण यज्ञादिके लिए सोम बेचनेकी इच्छा करते है वह यज्ञ करनेकी समान है ॥ १३–१४ ॥ पुरुष, यज्ञ और सोम ये तीन वस्तुएँ न्याययुक्त हों तो यज्ञका फल मिलता है अर्थात् यदि पुरुष न्यायपूर्वक (शठतारहित होकर) यज्ञ करता है तो उसको सोमका और यज्ञका फल मिलता है, परन्तु यदि पुरुष अन्यायवाला होता है तो उसको इस लोकमें या परलोकमें यज्ञका या सोमका फल नहीं मिलता है १५ हमने ऐसी श्रुति सुनी है, कि-महात्मा ब्राह्मण केवल अपने शरीरनिर्वाहके लिए प्रणीताग्निसे हो सकनेवाले यज्ञादि करतेहैं, परन्तु वे सब यज्ञ (हिंसात्मक होनेके कारण) शुभ फल नहीं देते हैं ॥ १६ ॥ यज्ञसे तप श्रेष्ठ है, ऐसी वेदकी परम श्रुति है, हे विद्वान् युधिष्ठिर! उस तपका स्वरूप मैं तुझे सुनाता हूँ उसको भी तू मुझसे सुन १७ अहिंसा, सत्य बोलना, क्रूरता न करना, दम और दया इसको धीर पुरुष तप कहते हैं, केवल शरीरको सुखा देना ही तप नहीं है ॥ १८ ॥ और वेदवचनको अप्रमाण मानना, शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन करना और सर्वत्र अव्यवस्था (गड़बड़) करना इन सब बातोंसे आत्माका नाश होता है ॥ १९ ॥ हे कुन्तीनन्दन

दशहोतृणां विधानं पार्थ यादृशम् । चितिः स्रुक् चित्तमाज्यञ्च पवित्रं ज्ञानमुत्तमम् ॥ २० ॥ सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम् । एतावान् ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ॥२१॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि एकोनाशीतितमोध्यायः ॥ ७९ ॥

युधिष्ठिर उवाच । यदप्यल्पतरं कर्म्म तदप्येकेन दुष्करम् । पुरुषेणासहायेन किमु राज्ञा पितामह ॥१॥ किं शीलः किं समाचारो राज्ञोथ सचिवो भवेत् । कीदृशे विश्वसेद्राजा कीदृशे न च विश्वसेत् ॥ २ ॥ भीष्म उवाच । चतुर्विधानि मित्राणि राज्ञां

युधिष्ठिर ! दिनमें दशवार अग्निमें होम करनेवालोंकी जैसी वाहरी विधि है, ऐसी ही भीतरकी विधि होनी चाहिये, वाहरी होममें जैसे स्रुवा है, उसके स्थानमें भीतरके होममें चिति कहिये जीव और ब्रह्मको एक करनेका साधन है, वाहरी यज्ञमें जैसे घी है तैसे ही भीतरी यज्ञमें चित्त (अन्तःकरण) है, वाहरी यज्ञमें जैसे पवित्र (यज्ञकी अग्निमें घीका प्रोक्षण करनेके लिये) कुशाका वनायाहुआ होता है ऐसे ही भीतरी यज्ञमें ज्ञान है ॥ २० ॥ इस जगत्में सब प्रकार कुटिल रीतिसे वर्त्ताव करनेवाला पुरुष मृत्यु पाता है और सरल रीतिसे वर्त्ताव करनेवाला ब्रह्मको पाता है, केवल इतना ही ज्ञानका विषय है, वड़ी २ वातें वनानेसे कुछ फल नहीं है ॥ २१ ॥ उनासीवाँ अध्याय समाप्त ॥ ७९ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे भीष्म पितामह ! छोटेसे छोटा काम भी एक पुरुषसे दूसरेकी सहायताके विना नहीं होसकता तो वडाभारी राज्यका काम अकेले राजासे कैसे चलसकता है ? १ राजाका मंत्री कैसे स्वभावका और कैसे आचरणवाला होना चाहिये तथा राजा कैसे पुरुषका विश्वास करे और कैसे पुरुषका विश्वास न करे ॥ २ ॥ भीष्मने कहा, कि-हे राजन् ! राजाओंके

राजन् भवन्त्युत । सहार्थो भजमानश्च सहजः कृत्रिमस्तथा ॥३॥
धर्मात्मा पञ्चमश्चापि मित्रं नैकस्य न द्वयोः । यतो धर्मस्ततो वा
स्यात्सुमध्यस्थो वा ततो भवेत् ॥ ४ ॥ यस्तस्यार्थो न रोचेत न तं
तस्य प्रकाशयेत् । धर्माधर्मेण राजानश्चरन्ति विजिगीषवः ॥५॥
चतुर्णां मध्यमौ श्रेष्ठौ नित्यं शङ्क्यौ तथापरौ । सर्वे नित्यं
शङ्कितव्याः प्रत्यक्षं कार्यमात्मनः ॥ ६ ॥ न हि राज्ञा प्रमादो

चार प्रकारके मित्र होते हैं-एक सहार्थ (जो राजासे कहे कि-हम दोनों इकट्ठे होकर अमुक शत्रुराजाको राज्यसे भ्रष्ट करके उसकी आमदनीको आपसमें बराबर बाँटकर भोगेंगे); दूसरा भजमान (बापदादाकी परम्परासे मित्रता रखनेवाला), तीसरा सहज (मौसी बुआ आदिका पुत्र), चौथा कृत्रिम (धन आदि देकर अपना बनायाहुआ).और पाँचवाँ मित्रधर्मानुसार वर्त्ताव करनेवाला पुरुष होता है वह पक्षपातरहित, किसी भी पक्षसे धन लेनेके लिये कपट न करनेवाला, केवल धर्मका ही पक्षपाती और धर्माचरण करनेवाला होता है ॥ ३ ॥ ४ ॥ जो बात उस राजाको अच्छी न लगती हो वह बात उस धर्मशील राजासे न कहे, क्योंकि-विजय चाहनेवाले राजाको तो समय पर धर्म और समय पर अधर्म इन दोनों ही रीतिसे व्यवहार करना पड़ता है ॥ ५ ॥ पहले कहेहुए चार मित्रोंमें भजमान और सहज मित्र श्रेष्ठ मानेजाते हैं,सहार्थ और कृत्रिम मित्रके ऊपर तो नित्य शङ्का ही रखनी चाहिये (क्योंकि-सहार्थ मित्र बलवान् होता है तो फलप्राप्तिके समय सब छीन लेता है और कृत्रिम मित्र भी अधिक धनके लालचमें शत्रुसे जामिलता है), साधारण रीतिसे सदा चारों ही प्रकारके मित्रोंके ऊपर शङ्काकी दृष्टि रखनी चाहिये, दुष्ट मंत्री आदिके दण्ड देने आदिका काम इन पाँचों ही मित्रोंके सामने न करके केवल एकान्तमें ही करे ॥ ६ ॥ राजा मित्रकी

वै कर्त्तव्यो मित्ररक्षणे । प्रमादिनं हि राजानं लोकाः परिभवन्त्युत ॥ ७ ॥ असाधुः साधुतामेति साधुर्भवति दारुणः । अरिश्च मित्रं भवति मित्रश्चापि प्रदुष्यति ॥ ८ ॥ अनित्यचित्तः पुरुषस्तस्मिन् को जातु विश्वसेत् । तस्मात् प्रधानं यत् कार्य्यं प्रत्यक्षं तत् समाचरेत् ॥ ९ ॥ एकान्तेन हि विश्वासः कृत्स्नो धर्मार्थनाशकः । अविश्वासश्च सर्वत्र मृत्युना च विशिष्यते ॥ १० ॥ अकालमृत्युर्विश्वासो विश्वसन् हि विपद्यते । यस्मिन् करोति विश्वासमिच्छतस्तस्य जीवति ॥ ११ ॥ तस्माद्विश्वसितव्यञ्च शङ्कितव्यञ्च केषुचित् । एषा नीतिगतिस्तात लक्ष्या चैव सनातनं ॥ १२ ॥ यं मन्येत ममाभावादिममर्थागमः स्पृशेत् । नित्यं

रक्षा करनेमें कभी असवधानी न करे, क्योंकि–असावधान रहने वाले राजाका दूसरे लोग तिरस्कार करते हैं ॥७॥ इतना ही नहीं किन्तु दुष्ट पुरुष सत्पुरुष बनजाता है और सत्पुरुष दुष्ट बनजाता है, शत्रु मित्र होजाता है और मित्र शत्रु बनजाता है॥८॥क्योंकि–मनुष्यका हृदय सदा एक रङ्ग नहीं रहता है और जिस पुरुषका चित्त अव्यवस्थित (क्षण२ में बदलनेवाला) होता है उसका विश्वास कौन करेगा ? इसलिये जो काम मुख्यरूपसे करनेका हो उस कामको राजा अपने सामने करावे, (मंत्रियोंके ऊपर) पूरा विश्वास कर बैठना धर्मका और अर्थका नाश कर देता है तैसे ही सर्वत्र अविश्वास करना, इससे तो मृत्यु ही हितकारी है ॥ ९ ॥ १० ॥ दूसरेका विश्वास करनेसे अकालमें मृत्यु होती है, क्योंकि–जिसका विश्वास कियाजाता है उसकी इच्छाके ऊपर ही विश्वासी मनुष्य जीता है, ऐसा समझो॥११॥ इसलिये राजा सबका विश्वास करे और किसीका भी विश्वास न करे, हे तात ! इसको राजनीतिका सनातनधर्म जान ॥१२॥ अपनी मृत्युके बाद अपना धन जिसको मिलनेवाला हो ऐसे

तस्मात् शङ्कितव्यममित्रं तद्विदुर्बुधाः ॥ १३ ॥ यस्य क्षेत्रादप्युदकं क्षेत्रमन्यस्य गच्छति । न तत्रानिच्छतस्तस्य भिद्येरन् सर्वसेतवः ॥१४॥ तथैवात्युदकाद्भीतस्तस्य भेदनमिच्छति । यमेवं लक्षणं विद्यात्तममित्रं विनिर्दिशेत् ॥ १५ ॥ यस्य वृद्ध्या न तृप्येत

मनुष्यके ऊपर सदा सन्देहकी दृष्टि रक्खे, क्योंकि-विद्वान् उसको शत्रु कहते हैं ॥ १३ ॥ जिसके खेतमेंसे दूसरेके खेतमें पानी जाता हो तहाँ उस पुरुषकी इच्छाके विना पासके सरोवरके सब बाँध नहीं तोड़े जासकते, परन्तु अधिक जल होनेके कारण जलाशयके पासके खेतका स्वामी उस जलाशयके बाँधको तोडडालना चाहता है, ऐसे लक्षणोंवाला जो राजा हो (अर्थात् सीमा परका राजा यदि चाहता है तो उस बड़े राजाकी सीमाकी रक्षा करता है, परन्तु यदि उससे डरजाता है तो सीमाका बडा राजा शत्रुको देशमें घुस आने देता है, उस राजाको शत्रु जाने, तात्पर्य यह है, कि-जिसका खेत बड़ेभारी तालावके पास होता है और वह यदि उस तालावके बाँधकी रक्षा करता है तो आस पासके खेतोंमें एकसमान जल पहुँचता रहता है और खेत अच्छे प्रकारसे फलते हैं, परन्तु तालावके पासके खेतका स्वामी उस अधिक जलसे डरजाता है और बाँधको तोडदेता है तो जलके बड़े भारी प्रवाहसे आसपासके सब खेत नष्ट होजाते हैं, इस प्रकार ही बडा हो तो भी यदि सीमाका रक्षक राजा अच्छे प्रकारसे सीमाकी रक्षा करता है तो वैरीराजाके देशमेंसे उत्तमर व्यापारकी वस्तुएँ अपने देशमें आती हैं और अपना देश सुख भोगता है, परन्तु सीमाका रक्षक राजा यदि दूसरे वैरी राजासे डरकर सीमाको तोडदेता है तो वैरी अपने राज्यमें घुस आता है, इसप्रकार जिस सीमाके राजाकी ओरसे भयकी संभावना हो उसको वैरी जाने अर्थात् वैरीका कोप वा मेल जिसके अधीन हो

क्षये हीनतरो भवेत् । एतदुत्तममित्रस्य निमित्तमिति चक्षते॥१६॥ यं मन्येत ममाभावादस्याभावो भवेदिति तस्मिन् कुर्वीत विश्वासं यथा पितरि वै तथा ॥ १७ ॥ तं शक्त्या वर्द्धमानश्च सर्वत्र परिबृंहयेत् । नित्यं क्षताद्वारयति यो धर्मेष्वपि कर्मसु ॥१८॥ क्षतात्त्रातं विजानीयादुत्तमं मित्रलक्षणम् । ये तस्य क्षतमिच्छन्ति ते तस्य रिपवः स्मृताः ॥ १९ ॥ व्यसनान्नित्यभीतो यः समृद्ध्या यो न दुष्यति । यत् स्यादेवंविधं मित्रं तदात्मसममुच्यते ॥२०॥ रूपवर्णस्वरोपेतस्तितिक्षुरनसूयकः । कुलीनः कुलसम्पन्नः स तस्मात् प्रत्यनन्तरः॥२१॥ मेधावी स्मृतिमान् दक्षः प्रकृत्या चानृ-

---

उस सीमाके राजाका भी विश्वास न करे) ॥ १४ ॥१५॥ जो पुरुष तेरी वृद्धि होनेसे तृप्त न हो अर्थात् अधिक वृद्धि होना चाहे, तेरे अभ्युदयमें बडा मगन होय और अवनति होनेसे अत्यन्त उदास हो उसको उत्तम मित्र समझो ॥ १६ ॥ जो पुरुष समझे कि-तेरे नाशसे मेरा भी नाश होजायगा ऐसे पुरुषमें अपने पिताकी समान विश्वास रखना चाहिये ॥ १७ ॥ और अपनी वृद्धि होने पर शक्तिके अनुसार उसको भी सब ओरसे बढाना चाहिये, जो पुरुष, तेरे धर्मके कामोंमें तुझे हानि पहुँचनेसे बचानेका नित्य ध्यान रखता हो और तुझे हरएक भयमेंसे बचावे उसको भी उत्तम मित्र जान और जो पुरुष इसके प्रतिकूल वर्त्ताव करें उनको अपना वैरी जान ॥ १८ ॥ १९ ॥ जो पुरुष तेरे ऊपर आपत्तिसे आनेवाले भयसे सदा डरता हो और तेरी वृद्धि देखकर खिन्न न होता हो उस पुरुषको तू अपने आत्माकी समान जान ॥ २० ॥ जो पुरुष परम उत्तम रूप वर्ण वाला और स्वर वाला हो, सहन शील, ईर्षारहित, प्रतिष्ठित और अच्छे कुलमें उत्पन्न हुआ हो उसको पीछे कहे मित्रोंसे भी बढकर जान ॥२१॥ जो पुरुष बुद्धिमान्, स्मृतिमान्, कामको

शंस्यवान्। यो मानितोऽमानितो वा न च दुष्येत् कदाचन॥२२॥ ऋत्विग्वा यदि वाचार्यः सखाः वात्यन्तसंस्तुतः। गृहे वसेदमात्यस्ते स स्यात् परमपूजितः॥२३॥ स ते विद्यात् परं मन्त्रं प्रकृतिं चार्थधर्मयोः। विश्वासस्ते भवेत्तात यथा पितरि वै तथा२४ नैव द्वौ न त्रयः कार्य्या न मृष्येरन् परस्परम्।एककार्ये ह्येव भूतानां भेदो भवति सर्वदा॥२५॥ कीर्त्तिप्रधानो यस्तु स्याद्यश्च स्यात् समये स्थितः। समर्थान् यश्च न द्वेष्टि नानर्थान् कुरुते च यः२६ यो न कामाद्भयाल्लोभात् क्रोधाद्वा धर्ममुत्सृजेत्। दक्षः पर्य्याप्तवचनः स ते स्यात् प्रत्यनन्तरः॥२७॥ कुलीनः शीलसम्पन्न-

साधनेमें चतुर,दयालु स्वभावका और मान वा अपमान करनेसे कभी दुष्टता न करे, वह तेरा ऋत्विज, आचार्य या तेरा अत्यन्त प्रशंसाका पात्र मित्र हो तथा तेरा मंत्रीपना करता हो तो तू उसका पूर्ण रीतिसे सन्मान करना और उसको अपने महलमें रखना॥२२॥२३॥ ऐसे मनुष्यको अपने राजकीय विचार तथा धर्म और अर्थकी प्रकृतिसे जानकार रखना और तू भी उसके ऊपर पिताकी समान विश्वास करना॥२४॥ एक काम पर एकको ही नियत करना, दो तीनको न करना, एक काम पर एकसे अधिक अध्यक्ष नियत कियेजाते हैं तो उनमें सदा मतभेद ही रहता है॥२५॥ जिस पुरुषने उत्तम कीर्ति पाई हो जो नीतिकी मर्यादामें रहता हो, जो शक्तिमान् पुरुषोंसे द्वेष न करता हो, जो अनर्थ न करता हो, जो कामना, भय, लोभ या क्रोधके कारण धर्मका त्याग न करता हो, काम पूरा करनेके ढङ्ग जानता हो तथा चतुर और आवश्यकता मात्र बातें करनेवाला हो ऐसे पुरुषको मुख्य प्रधानके पदपर नियत करना॥२६॥२७॥ जो पुरुष कुलीन, शीलवान्, सहनशील, अच्छी रीति भाँतिका, वीर और आर्य, विद्वान् और कार्य अकार्यको समझनेमें चतुर

स्तितिक्षुरविकत्थनः। शूरश्चार्यश्च विद्वांश्च प्रतिपत्तिविशारदः२८ एते ह्यमात्याः कर्त्तव्याः सर्वकर्मस्ववस्थिताः । पूजिताः संविभक्ताश्च सुसहायाः स्वनुष्ठिताः ॥ २९ ॥ कृत्स्नमेते विनिक्षिप्ताः प्रतिरूपेषु कर्म्मसु । युक्ता महत्सु कार्य्येषु श्रेयांस्युत्थापयन्त्युत ३० एते कर्माणि कुर्वन्ति स्पर्द्धमाना मिथः सदा । अनुतिष्ठन्ति चैवार्थमाचक्षाणाः परस्परम् ॥ ३१ ॥ ज्ञातिभ्यश्चैव बुद्ध्येथा मृत्योरिव भयं सदा । उपराजेव राजर्द्धिं ज्ञातिर्न सहते सदा ॥३२॥ ऋजोर्मृदोर्वदान्यस्य ह्रीमतः सत्यवादिनः । नान्यो ज्ञातेर्महाबाहो विनाशमभिनन्दति ॥ ३३ ॥ अज्ञातितोऽपि न सुखं नावज्ञेयास्ततः

हों उनको अपने (सब कर्मोंकी देखभाल रखनेवाले) अमात्यके पदपर नियत करना, उनका सत्कार करना, इनाम देना, ऐसा करनेसे वे तेरे उत्तम सहायक बनजायँगे और तेरे सब प्रकारके काम करेंगे ॥२८॥२९॥अमात्य आदि अधिकारियोंको आमदनी और खरचके कामों पर तथा दूसरे बड़े२ कामों पर नियत करनेसे वह तेरी उन्नति करेंगे ॥३०॥ ऐसे लोग सदा आपसमें उपद्रवरहित स्पर्धा (होड) करनेवाले होते हैं, इसलिये काम करते समय आवश्यकता पडने पर एक दूसरेकी सम्मति लेकर काम करते हैं ॥ ३१ ॥ हे युधिष्ठिर ! तू कुटुम्बियोंसे सदा मृत्युकी समान डरता रहना, जैसे सामन्त (कर देनेवाले राजे) अपने महाराजका अभ्युदय नहीं देखसकते तैसे कुटुम्बी दूसरे कुटुम्बीकी उन्नतिको नहीं देखसकते ॥ ३२ ॥ हे महाबाहु राजा युधिष्ठिर! कुटुम्बी सरल, कोमल उदार, लज्जाशील और सत्यवादी हो तो भी कुटुम्बीके सिवाय दूसरा कोई उसका नाश करना नहीं चाहता है ॥३३॥ जिसके सगे सबन्धी नहीं होते वह पुरुष भी सुखी नहीं होता, कुटुम्बसे शून्य पुरुषोंकी अपेक्षा और कोई धिक्कारका पात्र नहीं होता है, जो कुटुम्बहीन होता है उसको

परम् । अज्ञातिमन्तं पुरुषं परे चाभिभवन्त्युत ॥ ३४ ॥ निकृतस्य नरैरन्यैर्ज्ञातिरेव परायणम् । नान्यो निकारं सहते ज्ञातिर्ज्ञातेः कथञ्चन ॥ ३५ ॥ आत्मानमेव जानाति निकृतं बान्धवैरपि । तेषु सन्ति गुणाश्चैव नैर्गुण्यं चैव लक्ष्यते ॥ ३६ ॥ न ज्ञातिरनुगृह्णाति न चाज्ञातिर्नमस्यति । उभयं ज्ञातिवर्गेषु दृश्यते साध्वसाधु च ३७ सम्मानयेत् पूजयेच्च वाचा नित्यञ्च कर्म्मणा । कुर्य्याच्च प्रियमेतेभ्यो नाप्रियं किञ्चिदाचरेत् ॥ ३८ ॥ विश्वस्तवदविश्वस्तस्तेषु वर्त्तेत सर्वदा । न हि दोषो गुणो वेति निरूप्यस्तेषु दृश्यते ॥ ३९ ॥ अस्यैवं वर्त्तमानस्य पुरुषस्याप्रमादिनः । अमित्राः सम्प्रसीदन्ति तथा मित्री

दूसरे लोग दबालेते हैं ॥ ३४ ॥ दूसरे लोग जब बान्धवका अपमान करते है तब दूसरे संबन्धी उसको सहारा देते हैं, संबन्धीका अपमान होते देखकर दूसरे सगे संबन्धी उसको कभी नहीं सहसकते ॥ ३५ ॥ जब दूसरा कोई कदाचित् उसका मित्र भी संबन्धीका अपमान करता है तो दूसरे सम्बन्धी उसको अपना ही अपमान समझते हैं, इसप्रकार ज्ञातिबान्धवोंका जैसा अवगुण है वैसा ही गुण भी है ॥ ३६ ॥ जो ज निबान्धवोंसे रहित है वह दूसरेके ऊपर अनुग्रह करसकता है तथा दूसरेके वशमें भी नहीं रहता है, बन्धुजनोंमें जैसे भलाई है वैसे ही बुराई भी है, इसलिये हरएक मनुष्यको अपने बन्धुजनोंका नित्य वाणीसे तथा कर्मसे सन्मान करना चाहिये, उनकी प्रतिष्ठा करनी चाहिये, और जिसमें उनको बुरा न लगे ऐसा वर्त्ताव करके उनको अपने अनुकूल रखना चाहिये ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ बाहरसे उनके ऊपर बड़ा विश्वास दिखावे, परन्तु हृदयमें उनका विश्वास न करे, विचार करने पर नहीं कहा जासकता, कि-बन्धुजनोंमें दोष है या गुण है, इसका निर्णय कोई भी नहीं करसकता ॥ ३९ ॥ इसप्रकार जो पुरुष सावधानीके साथ वर्त्ताव करता है, उसके

भवन्त्यपि ॥ ४० ॥ य एवं वर्त्तते नित्यं ज्ञातिसम्बन्धिमण्डले । मित्रेष्वमित्रे मध्यस्थे चिरं यशस्वि तिष्ठति ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

युधिष्ठिर उवाच । एवमग्राह्यके तस्मिन् ज्ञातिसम्बन्धिमण्डले । मित्रेष्वमित्रेष्वपि च कथं भावो विभाव्यते ॥ १ ॥ भीष्म उवाच । अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । सम्वादं वासुदेवस्य सुरर्षेर्नारदस्य च ॥ २ ॥ वासुदेव उवाच । नासुहृत् परमं मन्त्रं नारदार्हति वेदितुम् । अपण्डितो वापि सुहृत् पण्डितो वाप्यनात्मवान् ॥ ३ ॥ स ते सौहृदमास्थाय किञ्चिद्वक्ष्यामि नारद ।

वैरी भी उसके ऊपर प्रसन्न रहते हैं और मित्रताका वर्त्ताव करने लगते हैं॥४०॥जो पुरुष इस नीतिके अनुसार कुटुम्बियोंके साथ संबन्धिमण्डलके साथ, मित्रमण्डलके साथ, वैरिमण्डलके साथ और मध्यस्थ पुरुषोंके साथ नित्य वर्त्ताव करता है, उसका यश चिरकाल तक बना रहता है ४१ अस्सीवाँ अध्याय समाप्त ८०

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे भीष्मपितामह ! इसप्रकार कुटुम्बी और सम्बन्धियोंके मण्डलको जो वशमें करनेमें विजयी नहीं हों तथा जिनको मित्र बनाना हो वे समय पर यदि वैरी बनजायँ तो मित्रोंके मनको किसप्रकार वशमें करे ? ॥ १ ॥ भीष्मजीने कहा, कि-इस विषयमें श्रीकृष्ण और देवर्षि नारदजीका संवाद रूप एक पुराना इतिहास इसप्रकार है ॥२॥ एक समय श्रीकृष्णने कहा, कि-हे नारद ! जो सुहृद (हितैषी) न हो ऐसा पुरुष परम मन्त्र (राजकीय विचार) जाननेके योग्य नहीं गिना जाता है सुहृद होने परभी मूर्ख पुरुष भी गुप्तविचारको जाननेके योग्य नहीं मानाजाता तथा पण्डित होने पर भी चञ्चलचित्त पुरुष भी गुप्तविचारको जाननेके योग्य नहीं मानाजाता ॥ ३ ॥ हे नारद ! तुम

कृत्स्नं बुद्धिबलं प्रेक्ष्य संपृच्छेत् त्रिदिवङ्गम ॥ ४ ॥ दास्यमैश्वर्य्य-वादेन ज्ञातीनां न करोम्यहम् । अर्द्धं भोक्तास्मि भोगानां वाग्दुरुक्तानि च क्षमे ॥ ५ ॥ अरणीमग्निकामो वा मथ्नाति हृदयं मम । वाचा दुरुक्तं देवर्षे तन्मे दहति नित्यदा ॥६॥ बलं सङ्कर्षणे नित्यं सौकुमार्य्यं पुनर्गदे । रूपेण मत्तः प्रद्युम्नः सोऽसहायोऽस्मि नारद ७ अन्ये हि सुमहाभागा बलवन्तो दुरुत्सहाः । नित्योत्थानेन संपन्ना नारदान्धकवृष्णयः ॥ ८ ॥ यस्य न स्युर्न वै स स्याद्यस्य स्युः कृत्स्नमेव तत् । द्वाभ्यां निवारितो नित्यं वृणोम्येकतरं न च ॥९॥

मेरे परम सुहृद् हो और तुममें बुद्धिबल पूरा है, यह देखकर हे स्वर्गगामी नारद ! मैं तुमसे कुछ बूझता हूँ ॥४॥ "मैं तुम्हें बड़ा ऐश्वर्यवान् बनादूँगा" ऐसी बातें करके मैं कुटम्बियोंका तथा सम्बन्धियोंका दासपना नहीं करता हूँ, मुझे जो कुछ मिलता है उसमेंसे आधा दूसरोंको देकर आधेका उपभोग मैं करता हूँ, मैं सम्बन्धियोंकी कड़वी बातोंको सहलेता हूँ ॥ ५ ॥ जैसे अग्निकी इच्छा वाला अग्नि पानेके लिए अरणीको मथता है तैसे ही सम्बन्धियोंकी दुष्टवाणीसे अपने हृदयको मथता हूँ, हे देवर्षि ! सम्बन्धियोंके दुष्ट वचन मेरे हृदयको नित्य जलाया करते हैं ॥ ६ ॥ बलदेवजीमें बलका निवास है, गद कोमल है और प्रद्युम्नको अपने रूपका घमण्ड है, इन सबकी मुझे सहायता होतेहुए भी मैं असहाय हूँ ॥ ७ ॥ हे नारद ! इनके सिवाय दूसरे अन्धक और वृष्णिभी बड़े भाग्यशाली, बलवान्, दूसरे जिनको सह न सकें ऐसे शूर और नित्य उद्यम करनेवाले हैं ॥ ८ ॥ ये सब यादव जिसके पक्षमें न हों उसका नाश होजाय और ये जिसके पक्षमें हों उसके कुलको चारों पुरुषार्थ मिलजायँ, आहुक और अक्रूर दोनोंजने मुझे अपने पक्षमें लेनेके लिए यत्न करते हैं और दूसरोंके पक्षमें जानेसे रोकते हैं, परन्तु मैं इन दोनोंमेंसे एकके भी पक्षमें

स्यातां यस्याहुकाक्रूरौ किन्नु दुःखतरं ततः । यस्य चापि न तौ स्यातां किन्नु दुःखतरं ततः ॥ १० ॥ सोहं कितवमातेव द्वयोरपि महामते । एकस्य जयमाशंसे द्वितीयस्य पराजयम् ॥ ११ ॥ ममैवं क्लिश्यमानस्य नारदोभयतः सदा । वक्तुमर्हसि यच्छ्रेयो ज्ञातीनामात्मनस्तथा॥१२॥नारद उवाच । आपदो द्विविधाः कृष्ण बाह्याश्चाभ्यन्तराश्च ह । प्रादुर्भवन्ति वार्ष्णेय स्वभावाद्यदि

होना ठीक नहीं समझता ॥ ९ ॥ (१) जिसके मित्र आहुक तथा अक्रूर हों उसको इससे अधिक दुःख-दायक और क्या होगा ? अथवा जिसके पक्षमें ये दोनोंजने न हों इससे अधिकभी और कौनसा दुःख होगा?अर्थात् आहुकका पक्ष लेकर अक्रूरको त्यागना भी दुःखदायक है और अक्रूरका पक्ष लेकर आहुकको त्यागनाभी दुःखदायक है ॥१०॥ हे महाबुद्धिमान् नारद!जैसे दो जुआरियोंकी एक माता अपने दोनों पुत्रोंकी विजय चाहती है, ऐसेही मैं भी एक जीते और एक हारजाय यह नहीं चाहता अर्थात् दोनोंकी विजय चाहता हूँ ॥ ११ ॥ हे नारद! इसप्रकार मैं दोनों प्रकारसे सदा दुःखी हुआ करता हूँ, इसलिये तुम मुझे वह रीति बताओ, कि-जिससे मेरा और कुटुम्बियोंका कल्याण हो ॥ १२ ॥ नारदने कहा, कि-हे वृष्णिवंशी कृष्ण ! आपत्ति दो प्रकारकी होती है, बाहरी और भीतरी और वह अपने कारणसे भी आती है तथा दूसरोंकी ओरसे भी आती

(१) आहुक और अक्रूर दोनों आपसमें विरुद्ध थे और दोनों कृष्णको चाहते थे, आहुक सदा कृष्णसे कहता था, कि-तुम अक्रूरको त्याग दो और अक्रूर कहता था, कि-आहुकको त्याग दो कृष्ण दोनोंकी मित्रता चाहते थे, दोनोंमेंसे एकको भी त्यागना नहीं चाहते थे, इसलिये यह कहा, गया, कि-दोनोंका पक्ष भी दुःखदायक है और दोनोंका त्यागना भी दुःखदायक है।

वान्यतः ॥१३॥ सेयमाभ्यन्तरा तुभ्यमापत् कृच्छ्रा स्वकर्मजा ।
अक्रूरभोजप्रभवाः सर्वे ह्येते तदन्वयाः ॥१४॥ अर्थहेतोर्हि कामाद्वा
वाचा बीभत्सयापि वा । आत्मना प्राप्तमैश्वर्यमन्यत्र प्रतिपादि-
तम् ॥१५॥ कृतमूलमिदानीन्तु ज्ञातिशब्दं सहायवान् । न शक्यं
पुनरादातुं वान्तमन्नमिव त्वया ॥१६॥ बभ्रूग्रसेनयो राज्यं नाप्तुं
शक्यं कथञ्चन । ज्ञातिभेदभयात् कृष्ण त्वया चापि विशेषतः ॥१७
तच्चेत् सिध्येत प्रयत्नेन कृत्वा कर्म सुदुष्करम् । महाक्षयं व्ययो
वा स्याद्विनाशो वा पुनर्भवेत् ॥१८॥ अनायसेन शस्त्रेण मृदुना

है ॥ १३ ॥ इस समय जो आपत्ति आपको सतारही है यह आपके राजकार्यका परिणाम है, बलदेवजीने और दूसरे भोज-वंशियोंने अक्रूरका पक्ष लिया है ॥ १४ ॥ इसका कारण चाहे अर्थ हो, चाहे चपलवृत्ति (कामना) हो, चाहे खोटी वाणी हो, चाहे सो हो, अब आपने अपना प्राप्त कियाहुआ ऐश्वर्य दूसरेको देदिया है ॥ १५ ॥ इसके परिणाममें जो तुम्हारे मित्र बनने चाहियें वे तुम्हारे पास हैं, तुम्हारे मित्र हैं, तो भी तुमने अपने कामसे ही अपने ऊपर दुःख बटोरलिया है और जैसे ओकेहुए अन्नको फिर नहीं खाया जासकता तैसे ही तुम भी दियेहुए ऐश्वर्यको अब लौटा नहीं सकते ॥१६॥ हे कृष्ण ! अब बभ्रु और उग्रसेनका राज्य तुम लौटाना चाहो तो कुटुम्बियोंमें कलह होजाय, इसलिये उसको अब तुम किसीप्रकार भी लौटाकर नहीं लेसकते ॥ १७ ॥ मानलो, कि–कदाचित् तुम बड़े यत्नसे बडा कठिन काम करके उसको लौटा लेनेका उद्योग भी करो तो ऐसा करनेमें फिर यादवोंका बडाभारी संहार होजायगा, बडाभारी खरच भी होगा और कदाचित् सबकाही नाश होजाय ॥१८॥ इसलिए अब तुम परिमार्जन (तितिक्षा, सरलता और कोमलताके द्वारा दोष दूर) करके और अनुमार्जन (योग्यरीतिसे पूजनादिके

हृदयच्छिदा । जिह्वामुद्धर सर्वेषां परिमृज्यानुमृज्य च ॥ १६ ॥ वासुदेव उवाच । अनायसं मुने शस्त्रं मृदु विद्यामहं कथम् । ये नैषामुद्धरेज्जिह्वां परिमृज्यानुमृज्य च ॥ २० ॥ नारद उवाच । शक्त्यान्नदानं सततं तितिक्षार्जवमार्दवम् । यथार्हप्रतिपूजा च शस्त्रमेतदनायसम् ॥२१॥ ज्ञातीनां वक्तुकामानां कटुकानि लघूनि च । गिरा त्वं हृदयं वाचं शमयस्व मनांसि च ॥२२॥ नामहापुरुषः कश्चिन्नानात्मा नासहायवान् । महतीं धुरमाधत्ते तामुद्यम्योरसा वह ॥ २३ ॥ सर्व एव गुरुं भारमनड्वान् वहते समे ।

द्वारा प्रीतिभाव) करके लोहेके शस्त्रसे अन्य कोमल और हृदयको काटने वाले शस्त्रसे सबकी जीभको काटडालो अर्थात् उनको चुप करदो कि-जिससे भीतर ही भीतर कलह न हो ॥ १६ ॥ श्रीकृष्णने बूझा, कि-हे मुने ! ऐसा वह कौनसा शस्त्र है, कि-जो लोहेका न हो, कोमल हो और सबके हृदयोंके बींधनेवाला हो, कि-जिस शस्त्रसे परिमार्जन और अनुमार्जन करके मैं उनकी जीभ काटदूँ ॥ २० ॥ नारदने कहा, कि-शक्तिके अनुसार नित्य अन्न देना, सहनशीलता रखना, सरलता रखना, कोमलता रखना और सत्कारके योग्य पुरुषका सत्कार करना यह विना लोहेका शस्त्र है ॥ २१ ॥ तुम मधुर वचनोंके द्वारा हलके और कड़वे वचन बोलनेवाले बान्धवोंके कुटिल अभिप्रायोंको, दुष्ट वाक्योंको और खोटे सङ्कल्पोंको शान्त करदो ॥ २२ ॥ कोई चित्तको वशमें न रखनेवाला और सहायता रहित पुरुष उद्योग करने पर भी महात्मा नहीं बनता है और वह कार्यके बड़े भारी बोझेको नहीं उठासकता, तुम महात्मा हो, इसलिये उद्योग करके कार्यके बड़ेभारी भारको अपनी छातीपर उठाओ! अर्थात् दृष्णियों पर राज्य करनेका काम अपने हाथमें लो ॥२३॥ देखो सपाट स्थानमें तो सब बैल बड़े भारी बोझेको उठासकते हैं, परन्तु

दुर्गे प्रतीकः सुगवो भारं वहति दुर्वहम् ॥ २४ ॥ भेदाद्विनाशः संघानां संघमुख्योसि केशव। यथा त्वां प्राप्य नोत्सीदेदयं संघस्तथा कुरु ॥ २५ ॥ नान्यत्र बुद्धिक्षान्तिभ्यां नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात्। नान्यत्र धनसंत्यागात् गुणः प्राज्ञेवतिष्ठते ॥ २६ ॥ धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वपक्षोद्भावनं सदा । ज्ञातीनामविनाशः स्यात् यथा कृष्ण तथा कुरु ॥ २७ ॥ आयत्याञ्च तदात्वे च न तेस्त्यविदितं प्रभो।षाड्गुण्यस्य विधानेन यात्रा यानविधौ तथा२८ यादवाः कुक्कुरा भोजाः सर्वे चान्धकवृष्णयः। त्वय्यासक्ता महाबाहो लोका लोकेश्वराश्च ये। उपासन्ते हि त्वद्बुद्धिमृषयश्चापि

दुर्गम स्थानमें अत्यन्त दृढ़ और सब अङ्गोंमें ठीक बैलोंके सिवाय दूसरा बैल बोझा नहीं ढोसकता ॥ २४ ॥ आपसमें कलह होजानेसे सब समूहका नाश होजाता है और हे केशव ! तुम समूहमें मुख्य हो, इसलिये ऐसा वर्त्ताव करिये, कि—जिसमें यह समूह तुम्हारे आधार पर रहकर दुःखी न हो ॥ २५ ॥ बुद्धि, क्षमा, इन्द्रियोंको वशमें रखना और धनका दान करना ये गुण विद्वान् पुरुषमें रहते हैं, दूसरेमें नहीं रहते ॥ २६ ॥ इसलिये हे कृष्ण ! जिसप्रकार धन, यश, आयु, तुम्हारा पक्ष और जाति बान्धवोंका नाश न हो ऐसा उद्योग करिये ॥ २७ ॥ हे प्रभो ! वैरीके ऊपर चढाई करते समय नीतिके छः गुणोंको काममें लानेसे आगेको तथा वर्त्तमान समयमें क्या परिणाम निकलता है, उससे आप अनजान नहीं हैं ॥२८॥ यादव, कुकुर, भोज, सब अन्धक वृष्णि सब लोग और राजे आपके ऊपर प्रीति रखते हैं ।२९। और हे माधव ! ऋषि भी आपके विचारको मानते हैं, तुम सब प्राणियोंके गुरु हो, तुम्हे भूत भविष्यत्का ज्ञान है और हे यदु-

माश्च ॥ २९ ॥ त्वं गुरुः सर्वभूतानां जानीषे त्वं गतागतम् । त्वामासाद्य यदुश्रेष्ठमेधन्ते यादवाः सुखम् ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि श्रीकृष्णनारदसंवादे एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

भीष्म उवाच । एषा प्रथमतो वृत्तिर्द्वितीयां शृणु भारत । यः कश्चिज्जनयेदर्थं राज्ञा रक्ष्यः सदा नरः ॥ १ ॥ ह्रियमाणममात्येन भृतो वा यदि वाभृतः । यो राजकोषं नश्यन्तमाचक्षीत युधिष्ठिर ॥२॥ श्रोतव्यमस्य च रहो रक्ष्यश्चामात्यतो भवेत् । अमात्या ह्यपहर्त्तारो भूयिष्ठं घ्नन्ति भारत ॥ ३ ॥ राजकोषस्य गोप्तारं राजकोशविलोपकाः । समेत्य सर्वे बाधन्ते स विनश्यत्यरक्षितः ४ अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । मुनिः कालकवृक्षीयः

श्रेष्ठ कृष्ण ! यादव तुम्हारा आश्रय लेकर ही सुखमें दिन विताते हैं ॥ ३० ॥ ३१ ॥ इक्यासीवाँ अध्याय समाप्त ॥ ८१ ॥

भीष्मने कहा, कि–हे भरतवंशी राजन्!मैंने जो आपसे कहा, यह राजाओंकी राजनीतिकी पहली वृत्ति (रचना) है, अब तुम्हे दूसरी रचना सुनाता हूँ, उसको तुम सुनो-जो पुरुष राजाके हितका काम करे उसकी राजा सदा रक्षा करे ॥ १ ॥ हे युधिष्ठिर!मंत्री राजाके भण्डारमेंसे धनकी चोरी करता हो उस समय राजाका नौकर अथवा तटस्थ पुरुष कहनेको आवे तो उस पुरुषकी बात एकान्त स्थानमें जाकर सुननी चाहिये और मंत्रीसे उसकी रक्षा करनी चाहिये, हे भरतवंशी राजन् ! राजभण्डारकी चोरी करनेवाले मंत्री अपनी चुगली करनेवाले पुरुषोंको मारडालते हैं ॥ २ ॥ ३ ॥ जो पुरुष राजाके भण्डारकी रक्षा करता है उसको भण्डारको लूटनेवाले एकमति होकर मारडालते हैं, यदि भण्डारके रक्षककी रक्षा न कीजाय तो उसका नाश होजाता है॥४॥इस विषयमें कालकवृक्षीय नामके मुनिने कौशल्य राजासे

कौशल्यं यदुवाच ह ॥ ५ ॥ कोसलानामाधिपत्यं सम्प्राप्तं क्षेम-
दर्शिनम् । मुनिः कालकवृक्षीय आजगामेति नः श्रुतम् । स काकं
पञ्जरे बद्ध्वा विषयं क्षेमदर्शिनः । सर्वं पर्य्यचरद्युक्तः प्रवृत्त्यर्थी
पुनः पुनः ॥ ७ ॥ अधीध्वं वायसीं विद्यां शंसन्ति मम वायसाः ।
अनागतमतीतञ्च यच्च सम्प्रतिवर्त्तते ॥ ८ ॥ इति राष्ट्रे परिपतन्
बहुभिः पुरुषैः सह । सर्वेषां राजयुक्तानां दुष्करं परिदृष्टवान् ६
स बुद्ध्वा तस्य राष्ट्रस्य व्यवसायं हि सर्वशः । राज्ययुक्तापहा-
रांश्च सर्वान् बुद्ध्वा ततस्ततः ॥ १० ॥ ततः स काकमादाय
राजानं द्रष्टुमागमत् । सर्वज्ञोस्मीति वचनं ब्रुवाणः संशितव्रतः ११
स स्म कौशल्यमागम्य राजामात्यमलंकृतम् । प्राह काकस्य वच-

जो कथा कही है, वह एक पुराना इतिहास है उसको तू सुन ५
हमने सुना है, कि-एक समय कालकवृक्षीय नामके मुनि, जब कि-
कोशल देशका राजा क्षेमदर्शी राज्य करता था उससमय उसके
राज्यमें आये ॥६॥ और राजाके मंत्रीके दोष देखनेके लिये वह
पींजरेमें एक कौएको बन्द करके कोशल देशके राजा क्षेमदर्शीके
सब राज्यमें घूमते फिरे ॥ ७ ॥ घूमते हुए कहते थे, कि-अरे
लोगों ! इस कौएकी विद्या सीखो ! मेरे कौए सब विद्याओंको
पढ़ेहुए हैं और ये भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान कालकी बातें
कहते हैं ८ इसप्रकार बात करते २ वह मुनि बहुतसे पुरुषोंके साथ
उस राजाके देशमें फिरे और राजकार्य पर नियत कियेहुये सब
पुरुष राजाका धन लूटरहे थे उस पापकर्मको जानलिया ॥ ६ ॥
राजाके देशके सब कार्यगार तथा राज्यके कार्य पर नियत किये
हुये पुरुष राजाके धनको किसप्रकार चुराते थे यह सब मुनिने
जानलिया, फिर वह उत्तम आचरणवाले मुनि कौएको लेकर
राजासे मिलनेको आये और कहा, कि-मैं तुम्हारे राज्यके सब कार्य
जानता हूँ ॥१०-११॥ कालकवृक्षीय मुनिने कोशल देशके राजाके

नादमुत्रेदं त्वया कृतम् ॥ १२ ॥ असौ चासौ च जानीते राजकोपस्त्वया हृतः । एवमाख्याति काकोयं तच्छीघ्रमनुगम्यताम् १३ तथान्यानपि स प्राह राजकोपहरांस्तदा । न चास्य वचनं किञ्चिदनृतं श्रूयते क्वचित् ॥१४॥ तेन विप्रकृता सर्वे राजयुक्ताः कुरूद्वह । तमस्याभिप्रसुप्तस्य निशि काकमवेधयन् ॥ १५ ॥ वायसन्तु विनिर्भिन्नं दृष्ट्वा बाणेन पञ्जरे । पूर्वाह्णे ब्राह्मणो वाक्यं क्षेमदर्शिनमब्रवीत् १६ राजंस्त्वामभयं याचे प्रभुं प्राणधनेश्वरम् । अनुज्ञातस्त्वया ब्रूयां वचनं भवतो हितम् । मित्रार्थमभिसन्तप्तो भक्त्या सर्वात्मना गतः ॥ १७ ॥ अयं तवार्थो ह्रियते यो ब्रूयादक्षमा-

पास आकर उसके सामने सजे बैठे राजाके मन्त्रीसे कहा कि-मेरा कौवा मुझसे कहता है कि-तूने अमुक स्थानपर इतना धन चुराया है ॥ १२ ॥ तूने राजाके भण्डारमेंसे चोरी की है, इस बातको अमुक अमुक जानता है, यह बात यह कौआ कहता है, इसलिये तू शीघ्र ही उत्तर दे अथवा अपना अपराध स्वीकार कर' ॥१३॥ इसप्रकार राजाके मन्त्रीसे कहकर और जो दूसरेभी राजाका धन चुराने वाले थे उनके नाम बतादिये और फिर कहा, कि-'मेरे कौएकी कोईभी बात कभी मिथ्या नहीं होती है, ॥१४॥ हे कुरुकुलको चलानेवाले युधिष्ठिर ! इसप्रकार मुनिने राजाके सब अधिकारियोंका तिरस्कार किया, तब सब अधिकारियोंने एक सम्मति करके जब रातमें मुनि सोरहे थे उस समय अन्धकारमें पींजरेमें बन्द हुए उस कौएको मारडाला ॥ १५॥ प्रातःकालके समय मुनिने पींजरेमें बाणसे बींधकर मारेहुए कौएकी दशा देखकर क्षेमदर्शी राजासे कहा, कि-॥ १६ ॥ हे राजन् ! मैं तुझसे अभय माँगता हूँ, तू सर्व-शक्तिमान् है तथा सबके प्राणोंका और धनका स्वामी है, यदि तेरी आज्ञा हो तो मैं तेरे हितके लिये जो कुछ बात हो वह मैं तुझसे कहूँ जिसको मैं अपना

न्वितः । संबुबोधयिषुर्मित्रं सदश्वमिव सारथिः ॥ १८ ॥ अति-
मन्युः प्रसक्तो हि प्रसह्य हितकारणात् । तथाविधस्य सुहृदा
क्षन्तव्यं स्वं विजानता ।, ऐश्वर्य्यमिच्छता नित्यं पुरुषेण बुभू-
षता ॥१९॥ तं राजा प्रत्युवाचेदं यत् किञ्चिन्मां भवान् वदेत् ।
कस्मादहं न क्षमेयमाकांक्षन्नात्मनो हितम् ॥२०॥ ब्राह्मण प्रति-
जाने ते प्रब्रूहि यदिहेच्छसि । करिष्यामि हि ते वाक्यं यदस्मान्
विप्र वक्ष्यसि ॥२१॥ मुनिरुवाच । ज्ञात्वा पापानपापांश्च भृत्यस्ते

मित्ररूप मानता हूँ, उसके लिये दुःखित हुआ, अपनी इच्छासे ही प्रवृत्त हुआ हूँ, तथा अपने पूर्ण (शुद्ध) अन्तः करणसे तेरी सेवा करनेको तयार हुआ मैं तेरे पास आया हूँ ॥ १७ ॥ शिक्षा देनेवाला सारथी जैसे अपने उत्तम घोडेको अच्छे मार्गमें लेजाता है, ऐसे ही कोई अपने मित्रको, उसके हितकी बात बतानेके लिये क्षमाके कामको छोड़कर कहता है, कि-तेरे धनको अमुक पुरुष चुरारहा है और मित्रका हित करनेके लिये अत्यन्त क्रोधमें भर कर हितका काम करनेके लिये बलात्कारसे प्रवृत्त करे तो नित्य ऐश्वर्यकी चाहना करनेवाले अपना हित चाहनेवाले समझदार सुहृद पुरुषको ऐसे पुरुषके ऊपर क्षमा करनी चाहिये १८-१९ क्षेम-दर्शी राजा कालकवृक्षीय मुनिकी इसप्रकार कहीहुई बातको सुनकर उत्तरमें बोला, कि-"मैं अपना हित करना चाहता हूँ, इसलिये तुम मेरे हितके लिये मुझसे जो कुछ भी कहोगे, उसकी मैं क्षमा क्यों नहीं करूँगा अवश्य क्षमा करूँगा २० हे ब्रह्मदेव ! इस विषयमें आपको जो कुछ भी कहना हो आनन्दसे कहिये, मैं आपसे प्रतिज्ञा करता हूँ, कि-आप मुझसे जो कुछ कहेंगे मैं वह सब करूँगा ॥ २१॥ कालकवृक्षीय मुनिने कहा, कि-हे महाराज ! तेरे अपराधी और निरपराध अधिकारियोंको जानकर तथा तुझे अपने सेवकोंकी ओरसे भय है, यह जानकर मैं भक्तिके साथ यह बात तुझे जताने

भयानि च । भक्त्या वृत्तिं समाख्यातुं भवतोन्तिकमागमम् ॥ २२ ॥ प्रागेवोक्तस्तु दोषोयमाचार्यैर्नृपसेविनाम् । अगतीका गतिश्चैषा पापा राजोपसेविनाम् ॥ २३ ॥ आशीविषैश्च तस्याहुः संगतं यस्य राजभिः । बहुमित्राश्च राजानो बह्वमित्रास्तथैव च २४ तेभ्यः सर्वेभ्य एवाहुर्भयं राजोपजीविनाम् । तथैषां राजतो राजन् मुहूर्त्तादेव भीर्भवेत् ॥ २५ ॥ नैकान्तेन प्रमादो हि शक्यः कर्त्तुं महीपतौ । न तु प्रमादः कर्त्तव्यः कथञ्चिद्भूतिमिच्छता ॥ २६ ॥ प्रमादाद्धि स्खलेद्राजा स्खलिते नास्ति जीवितम् । अग्निं दीप्तमिवासीदेद्राजानमुपशिक्षितः ॥ २७ ॥ आशीविषमिव क्रुद्धं प्रभुं प्राणधने-

---

के लिये आया हूँ परन्तु मैंने वह काम ठीक नहीं किया ॥ २२ ॥ आचार्योंने पहलेसे ही राजाके अधिकारियोंके विषयमें ये दोष वर्णन किये हैं ॥ २३ ॥ कि-जो राजाकी सेवा करते हैं उनका प्रारब्ध पापभरा और निराधार है, पण्डित कहते हैं, कि-जिनका राजाओंके साथ सहवास है उनका विषैले सर्पोंके साथ सहवास है, जैसे राजाके बहुतसे मित्र होते हैं ऐसेही उसके शत्रु भी बहुतसे होते हैं ॥ २४ ॥ राजाकी सेवा जिसको करनी होती है उसको उन सबोंका भय होता है और उसको क्षणभरमें राजाकी ओरसे भी भय आजाता है ॥ २५ ॥ राजाके पास कोई भी मनुष्य सर्वथा असावधान होकर नहीं रहसकता, जो पुरुष अपना भला चाहता हो वह राजाके पास असावधान होकर कभी न रहै ॥ २६ ॥ जो पुरुष राजाके पास प्रमादसे रहता है उसके ऊपर राजा कुपित होता है और इसकारण प्रमादी पुरुष माराजाता है, जैसे मनुष्य जलते हुए अग्निके पास सचेत होकर रहता है, ऐसे ही शिक्षित पुरुषको राजाके पास सचेत होकर रहना चाहिये ॥ २७ ॥ प्राण और धनका स्वामी राजा जब क्रोध करता है तब वह विषधर सर्पकी समान होजाता है, इसलिये मनुष्य अपने जीवनकी आशा

श्वरम् । यत्नेनोपचरेन्नित्यं नाहमस्मीति मानवः ॥२८॥ दुर्व्याहृतात् शङ्कमानो दुष्स्थिताद् दुरधिष्ठितात् । दुरासिताद् दुर्व्रजिताद् दिङ्गिताङ्गदचेष्टितात् ॥ २९ ॥ देवतेव हि सर्वार्थान् कुर्याद्राजा प्रसादितः । वैश्वानर इव क्रुद्धः समूलमपि निर्दहेत् ॥ ३० ॥ इति राजन् यमः प्राह वर्त्तते च तथैव तत् । अथ भूयांसमेवार्थं करिष्यामि पुनः पुनः ॥ ३१ ॥ ददात्यस्मद्विधोमात्यो बुद्धिसाहाय्यमापदि । वायसस्त्वेष मे राजन् ननु कार्याभिसंहितः ॥३२॥ न च येन भगवान् गर्ह्यो न च तेषां भवान् प्रियः । हिताहितांस्तु बुध्येथा मा परोक्षमतिर्भवेः ॥ ३३ ॥ ये त्वाहानपरा एव वसन्ति

छोड़कर नित्य उद्योगके साथ राजाकी सेवा करे ॥ २८ ॥ सदा राजाके समीपमें खोटे शब्द बोलतेमें,त्योरी चढ़ाकर बैठतेमें,अविनयके साथ बैठनेमें, उद्धत रीतिसे चलतेमें, अभिप्राय जनातेमें और अङ्गोंकी चेष्टा करतेमें राजाका सेवक सदा डरता रहे ॥ २९ ॥ यदि राजा प्रसन्न होता है तो वह देवताकी समान सब कामनायें पूरी करदेता है और यदि वह कुपित होजाता है तो अग्निकी समान जड़मूलसे भस्म करडालता है ॥ ३० ॥ हे राजन् ! ऐसा यमराजने कहा है, जगत्के व्यवहारमें यह सत्य मालूम होता है (इसनीतिके अनुसार वर्त्ताव करके) मैं भी तेरी समृद्धिकी आगेको बराबर वृद्धि करूँगा ॥ ३१ ॥ आपत्ति कालमें मुझसरीखा मन्त्री तुझे अनेकों प्रकारकी बुद्धिसे सलाह देगा, हे राजन् ! यह मेरा कौआ तेरी सेवा करता हुआ मारा गया है, इसके लिये मैं तेरी निन्दा नहीं करता हूँ, परन्तु जिन्होंने मेरे कौएको मारडाला है उनको तू मनसे प्यारा नहीं है, इस लिये कौन तेरा हित करनेवाला है और कौन अहित करनेवाला है, इस बातका तुझे निश्चय करना चाहिये,इसमें दूसरेकी बुद्धिके भरोसे न रहकर तुझे अपनी बुद्धिसे ही काम लेना चाहिये ३२॥

भवतो गृहे । अभूतिकामा भूतानां तादृशैर्मेऽभिसंहितम् ॥ ३४ ॥ ये वा भवद्विनाशेन राज्यमिच्छन्त्यनन्तरम् । आन्तरैरभिसन्धाय राजन् सिद्ध्यन्ति नान्यथा ३५ तेषामहं भयाद्राजन् गमिष्याम्यन्यमाश्रमम् । तैर्हि मे सन्धितो बाणः काके निपतितः प्रभो ॥ ३६ ॥ क्रूरकामैरकामस्य गमितो यमसादनम् । दृष्टं हि तन्मया राजंस्तपोदीर्घेण चक्षुषा ॥३७॥ बहुनक्रझषग्राहां तिमिङ्गिलगणायुताम् । काकेन बलिशेनेमां यामतार्षमहं नदीम् ॥ ३८ ॥ स्थाण्वश्मकण्टकवतीं सिंहव्याघ्रसमाकुलाम् । दुरासदां दुष्प्रसहां गुहां

॥३३॥तेरे घरमें रहनेवाले अधिकारी तेरा धन लूटनेवाले हैं और वे प्रजाका अहित करनेवाले हैं उनके साथ मैंने वैर बाँधलिया है ३४जो पुरुष तेरा नाश करनेके बाद राज्य पासकते हैं,उनसे यदि तू सावधान होगा तब ही बचेगा नहीं तो माराजायगा३५ हे राजन् ! उन्होंने मेरे ही बाण मारनेका विचार किया था, परन्तु वह बाण कौएके लगगया और मैं बचगया हूँ, इसलिये अब मैं उनके डरके मारे यहाँसे किसी दूसरे आश्रममें चला जाऊँगा ।। ३६ ।। हे राजन् ! मुझे कोई कामना नहीं है तो भी दुष्ट आशयवाले इन लोगोंने मेरे कौएके बाण मारदिया तथा उसको यमके घर पहुँचादिया है, तपसे शुद्ध हुई दृष्टिके द्वारा मैंने यह सब जानलिया है ॥ ३७ ॥ सजातीय और विजातीय दुर्बल और सबल सबका ग्रास करनेवाले अधिकारी रूप बहुत से मगर मच्छ मछलियें, नाके और तिमिङ्गिलोंके समूहसे भरीहुई तेरी राज्यरूप नदीमें मेरे मूर्ख कौएने अपने देहको त्यागकर मुझे तारदिया है ॥ ३८ ॥ तेरी राज्यरूप नदी हिमालयकी गुफाकी समान है हिमालयकी गुफामें जैसे वृक्ष, पत्थर और काँटेवाले वृक्ष होते हैं, वह गुहा जैसे सिंह और व्याघ्रोंसे भरी होती है और उसके भीतर निवास करना बड़ा ही कठिन होता है ऐसे

हैमवतीमिव ॥ ३९ ॥ अग्निना तामसं दुर्गं नौभिराप्यश्च गम्यते। राजदुर्गावतरणे नोपायं पण्डिता विदुः ॥ ४० ॥ गहनं भवतो राज्यमन्धकारं तमोन्वितम् । नेह विश्वसितुं शक्यं भवतापि कुतो मया ॥४१॥ अतो नायं शुभो वासस्तुल्ये सदसती इह । वधो ह्यत्र सुकृते दुष्कृते न च संशयः ॥ ४२ ॥ न्यायतो दुष्कृते घातः सुकृते न कथञ्चन ।नेह युक्तं स्थिरं स्थातुं जवेनैवात्रजेद्‌बुधः ॥ ४३ ॥ सीता नाम नदी राजन् प्लवो यस्यां निमज्जति ।

ही तेरी राज्यरूप नदी भी दुष्ट और रिश्वती अधिकारी रूप पत्थर और काँटेवाले वृक्ष, सिंह और व्याघ्रोंसे भरीहुई है, इसलिये इसमें निवास करना बड़ा कठिन है ॥ ३९ ॥ पण्डित कहते हैं, अन्धेरेमेंसे दीपकके उजालेके द्वारा आगेको पहुँचा जा सकता है और विशाल नदीमेंसे नौकाके द्वारा पार पहुँचा जासकता है, परन्तु राज्यरूप नदीको लाँघकर पार पहुँचनेका कोई उपाय नहीं है ॥ ४० ॥ तेरा राज्य गाढ अन्धकारसे भरे हुए जङ्गलकी समान है, इसलिये तू भी इसका विश्वास नहीं करसकता,फिर मैं तो इसका विश्वास कर ही कैसे सकता हूँ?४१ तेरे राज्यमें भले और बुरे दोनों एक समान हैं, इसलिये यहाँ निवास करनेमें कुशल नहीं है इस राज्यमें अच्छोंका माराजाना संभव है और जो धर्म अधर्मका विचार नहीं करता उसको किसी प्रकारका भय नहीं है ४२नीतिको देखाजाय तो पापीका नाश होना चाहिये और पुण्यवान्‌का किसीप्रकार नाश नहीं होना चाहिये, परन्तु ऐसा तेरे राज्यमें नहीं है, इसलिये यहाँ जरा देरको खड़ा रहना भी उचित नहीं है समझदार तो यहाँसे एक दम ही भागजायगा ॥ ४३ ॥ हे राजन् ! सीतानामकी एक नदी है, जिसमें नौकायें डूबजाती हैं(तेरी राजनीतिरूप नदीमें मुझसा उपदेशक भी डूब जाता है). उस नदीकी समान उपमावाली

तथोपमामिमां मन्ये वागुरां सर्वघातिनीम् ॥ ४४ ॥ मधुप्रपातो हि भवान् भोजनं विषसंयुतम् । असतामिव ते भावो वर्तते न सतामिव ॥ ४५ ॥ आशीविषैः परिवृतः कूपस्त्वमसि पार्थिव । दुर्गतीर्था बृहत्कूला कारीरा वेत्रसंयुता ॥ ४६ ॥ नदी मधुरपानीया यथा राजंस्तथा भवान् । श्वगृध्रगोमायुयुतो राजहंससमो ह्यसि ॥४७॥ यथाश्रित्य महावृक्षं कक्षः सम्वर्द्धते महान् । ततस्तं संवृणोत्येव तमतीत्य च वर्द्धते ॥४८॥ तेनैवोग्रेन्धनेनैन दावो दहति दारुणः । तथोपमा ह्यमात्यास्ते राजंस्तान् परिशोधय ॥ ४९ ॥ त्वया चैव कृता राजन् भवता परिपालिताः । भवन्तमभिसन्धाय

तेरी राजनीतिको मैं सबका नाश करनेवाली फाँसीकी समान समझता हूँ ॥४४॥ तू ऊपरसे शहदकी धाराकी समान है,सुन्दर दीखते हुए विषमिले भोजनकी समान है, तेरा स्वभाव दुष्ट पुरुषोंकेसा है, सत्पुरुषोंकेसा नहीं है ॥ ४५ ॥ हे राजन् ! तू विषैलेसाँपोंसे भरेहुए कुएकी अथवा मीठे पानीसे भरी हुई नदीकी समान है, भयानक पगदण्डी वाली, ऊँची २ कराडें और पतेल तथा बेंतके झुण्डोंसे भरी हुई जिस नदीमें उतरने की जगह भयानक है, जिसके किनारोंमें बडी २ खखोडलें हैं और जो नदी पतेल तथा बेंतोंसे भरीहुई है,जिसको फिलाँघना कठिन है. ऐसा ही तेरा राज्य है, अर्थात् तू तो उत्तम है परन्तु तेरे आसपास रहनेवाले मनुष्य दुष्ट हैं, तू चारों ओरसे कुत्ते, गिद्ध और गीदडोंसे घिरेहुए राजहंसकी समान है ४६। ४७ घासके बड़े भारी ढेरका अग्नि बडे वृक्षका आश्रय पाकर बढ़ जाता है, परन्तु वह अग्नि वृक्षको घेरकर उससे भी आगे बढ़ता है और फिर वह दारुण अग्नि घासके ढेरके साथमें उस वृक्षको भी भस्म करडालता है, तेरे मन्त्री घासके ढेरकी समान हैं,उनके ऊपर तू अंकुश रख और उनको सुधार ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

जिघांसन्ति भवन्तिमम् ॥ ५० ॥ अपितं शङ्कमानेन मयाहं परि-
रक्षता । अन्तः सर्प इवागारे वीरपत्न्या इवालये । शीलं जिज्ञा-
समानेन राज्ञश्च सहजीविनः ॥ ५१ ॥ कच्चिज्जितेन्द्रियो राजा
कच्चिदश्यान्तरा जिताः । कच्चिदेषां प्रियो राजा कच्चिद्राज्ञः
प्रियाः प्रजाः॥५२॥विजिज्ञासुरिह प्राप्तस्तवाहं राजसत्तम । तस्य
मे रोचते राजन् क्षुधितस्येव भोजनम् ॥ ५३ ॥ अमात्या मे न
रोचन्ते वितृष्णस्य यथोदकम् । भवतोर्थकृदित्येवं मयि दोषो हि तैः
कृतः । विद्यते कारणं नान्यदिति मे नात्र संशयः ॥ ५४ ॥

हे राजन् ! तू ही इसको मन्त्रियोंके पदपर नियत करके इनका पालन करता है, परन्तु यह तुझे वशमें करके मेरा नाश करदेंगे ॥ ५० ॥ मेरा प्रयोजन तो इतना ही था, कि–जिस राजाके आश्रयमें रहताहूँ उसकी क्या दशा है, इस बातको जानलू, मैं तेरे औरोंके अपराधोंको उनमे गुप्त रख कर जानना चाहता था, जैसे कोई पुरुष सर्पवाले घरमें भयभीत होकर रहता है अथवा जैसे वीरकी स्त्रीका उपपति (यार)जैसे उसके घरमें भयभीत होकर रहता है तैसे ही मैं भी तेरे यहाँ भयभीत होकर रहता हूँ ॥ ५१ ॥ तू जितेन्द्रिय है या नहीं ? तूने काम क्रोधको जीता है या नहीं ? तेरे सेवक आज्ञाकारी हैं या नहीं ? तू सेवकोंको प्यारा है या नहीं ? और तेरे ऊपर तेरी प्रजाका प्रेम है या नहीं ? ॥ ५२ ॥ हे श्रेष्ठ राजन् ! यह सब जाननेकी इच्छासे मैं तेरे पास आया हूँ, हे राजन् ! जैसे भूखेको भोजन भाता है तैसे ही तुझें देखकर मैं प्रसन्न हुआ परन्तु जैसे प्यासेकी प्यास मरजाने पर उसको पानी अच्छा नहीं लगता तैसे ही मुझे तेरे मन्त्रियोंके दुष्ट चरित्र मालूम होजाने पर अच्छा नहीं लगते, मैं तेरा भला चाहनेवाला हूँ यह समझ कर वे मेरा अहित करनेको तयार होगये हैं, निःसन्देह इसके सिवाय

न हि तेषामहं द्रुग्धस्तत्तेषां दोषदर्शनम् । अरेर्हि दुर्हृदाद्भयं भग्नपृष्ठादिवोरगात् ॥५५॥ राजोवाच । भूयसा परिहारेण सत्कारेण च भूयसा । पूजितो ब्राह्मणश्रेष्ठ भूयो वस गृहे मम ॥ ५६ ॥ ये त्वां ब्राह्मण नेच्छन्ति ते न वत्स्यन्ति मे गृहे । भवतैव हि तज्ज्ञेयं यत्तदेषामनन्तरम् ॥ ५७ ॥ यथा स्यात् सुधृतो दण्डो यथा च सुकृतं कृतम् । तथा समीक्ष्य भगवन् श्रेयसे विनियुङ्क्ष्व माम् ५८ मुनिरुवाच । अदर्शयन्निमं दोषमेकैकं दुर्बलं कुरु । ततः कारणमाज्ञाय पुरुषं पुरुषं जहि ॥५९॥ एकदोषा हि बहवो मृदुनीयुरपि

और कोई कारण नहीं है ॥ ५३-५४ ॥ मैं इनसे द्रोह नहीं करता परन्तु ये मुझे द्रोह करनेवाला समझते हैं, यह इनकी दोषदृष्टिके कारणसे प्रतीत होता है, जिसकी पीठ तोडदी जाती है ऐसे साँपसे जैसे भयभीत रहना पडता है, ऐसे ही दुष्ट हृदयके शत्रुसे भी डरते रहना चाहिये ॥ ५५ ॥ राजाने कहा, कि-आप मेरे महलमें रहिये, मैं नित्य आपका आदरसत्कार करूँगा, आपका पूजन करूगा, ॥ ५६ ॥ हे राजन् ! जो अमात्य आपका यहाँ रहना नहीं चाहते होंगे उनको मैं अपने महलमें नहीं रक्खूँगा और अब आगेको इनको क्या करना चाहिये यह बात आपकी इच्छाके अधीन रहेगी ॥ ५७ ॥ मैं जिसप्रकार राजदण्डको अच्छेप्रकारसे धारण करूँ और अच्छे काम करूँ, उसका विचार करके हे भगवन् ! आप मुझे मेरे मार्गपर लगाइये ॥ ५८ ॥ मुनिने कहा, कि-पहले तो कौएको मारनेका अपराध मन्त्रियोंको न जताना परन्तु एकके बाद एक मन्त्रीको उसके अधिकार परसे हटाकर निर्बल करदे और फिर (कौएको मारनेका क्या कारण था यह जानकर) उस अपराधके लिए एक २ मन्त्रीको मरवा दे ५९ क्रमसे एक २के बाद एक २ मन्त्रीको मरवानेका यह कारण है, कि-एक ही अपराध करनेवाले बहुतसे लोग हों तो वे सब इकट्ठे

कण्टकान् । मन्त्रभेदभयाद्राजंस्तस्मादेतद् ब्रवीमि ते ॥ ६० ॥ वयन्तु ब्राह्मणा नाम मृदुदण्डाः कृपालवः । स्वस्ति चेच्छाम भवतः परेषाञ्च यथात्मनः ॥६१॥ राजन्नात्मानमाचक्षे सम्बन्धी भवतो ह्यहम् । मुनिः कालकवृक्षीय इत्येवमभिसंज्ञितः ॥ ६२ ॥ पितुः सखा च भवतः सम्मतः सत्यसङ्गरः । व्यापन्ने भवतो राज्ये राजन् पितरि संस्थिते ॥ ६३ ॥ सर्वकामान् परित्यज्य तपस्तप्तं तदा मया । स्नेहात्त्वान्तु ब्रवीम्येतन्मा भूयो विभ्रमेदिति ॥ ६४ ॥ उभे दृष्ट्वा दुःखसुखे राज्यं प्राप्य यदृच्छया । राज्येनामात्यसंस्थेन कथं राजन् प्रमाद्यसि ॥ ६५ ॥ ततो राजकुले

मिलकर कण्टककी समान तीक्ष्ण पुरुषको भी कोमल करडालते हैं (फिर मुझसरीखे कोमलकी तो बात ही क्या है ?) हे राजन् ! तेरा विचार प्रकट न होजाय, इसभयसे सावधान रहनेकी यह सम्मति देता हू ॥६०॥ और मेरेलिये बूझे तो हम तो ब्राह्मण हैं, कोमल दण्ड देनेवाले और दयालु हैं, हम तो यही चाहते हैं कि–हमारी समान ही तेरा और दूसरोंका कल्याण हो ॥६१॥ हे राजन् ! अब मैं अपना परिचय देता हूं मैं कालकवृक्षीय नामका मुनि और तेरा मित्र हूँ ॥ ६२ ॥ हे राजन् ! मैं सत्य प्रतिज्ञा करनेवाला और तेरे पिताका मान्य मित्र हूं तेरे पिताका मरण होगया और तेरा राज्य जब विपत्तिमें आपड़ा तब मैं सब कामनाओंको त्यागकर तपस्या करनेके लिये वनमें जाकर रहने लगा परंतु तेरे ऊपर स्नेह होनेके कारण तू फिर राज्याधिकारियोंके चक्रमें न पडे,इसलिये तुम्हें उपदेश देने आया हूँ और फिर उपदेशकी बात कहता हूँ॥ ६३–६४ ॥ हे राजन्!तूने दैवकी इच्छासे राज्य पाया है, तूने सुख और दुःख दोनों देखे हैं, तो भी तू राज्यका कार्यभार मंत्रियोंके ऊपर छोडकर असावधानीमें क्यों रहता है ? ॥ ६५ ॥ इस उपदेशको सुनकर कोशलदेशके राजाने

नान्दो संजको भूयसा पुनः । पुरोहितकुले चैव सम्प्राप्तं ब्राह्मणर्षभे ॥ ६६ ॥ एकच्छत्रां महीं कृत्वा कौशल्याय यशस्विने । मुनिः कालकवृक्षीय ईजे क्रतुभिरुत्तमैः ६७ हितं तद्वचनं श्रुत्वा कौशल्योऽव्यजयन्महीम् । तथा च कृतवान् राजा यथोक्तं तेन भारत ६८

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि

कालकवृक्षीयोपाख्याने द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

युधिष्ठिर उवाच । सभासदः सहायाश्च सुहृदश्च विशाम्पते । परिच्छदास्तथामात्याः कीदृशाः स्युः पितामह ॥ १ ॥ भीष्म उवाच । ह्रीनिषेधास्तथा दान्ताः सत्यार्जवसमन्विताः । शक्ताः कथयितुं सम्यक् ते तव स्युः सभासदः ॥ २ ॥ अमात्यांश्चाति-

---

क्षत्रियोंमेंसे एक उत्तम पुरुषको मंत्री बनानेके लिये चुना और ब्राह्मणोंमे श्रेष्ठ कालकवृक्षीय मुनिको अपना पुरोहित बनालिया ६६ इसप्रकार राज्यकी उत्तम व्यवस्था करनेके बाद यशस्वी हुये कोशलदेशके राजाको सब पृथिवीका राज्य अर्पण करके कालकवृक्षीय मुनिने उत्तम यज्ञ कराये ॥ ६७ ॥ हे भरतवंशी राजन ! कोशलदेशके राजाने भी मुनिकी हितकारी बात सुनकर पृथिवीका विजय किया और वह उन मुनिके उपदेशके अनुसार बर्ताव करने लगा ॥ ६८ ॥ बयासीवाँ अध्याय समाप्त ॥ ८२ ॥ छ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे भीष्मजी ! राजाके सभासद (व्यवहारज्ञ), सहायक (युद्धमंत्री), सुहृद (राजसभासद), परिच्छद (सेनापति) और अमात्य (सलाह देनेवाले) कैसे होने चाहियें ? ॥ १ ॥ भीष्मने कहा, कि-हे युधिष्ठिर ! जो लज्जाशील, जितेन्द्रिय, सत्यवादी, सरल और प्रिय तथा अप्रिय बात कहसकें ऐसे पुरुषोंको तुम सभासद-व्यवहारके ज्ञाता बनाना ॥ २ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! जो सदा तेरा पक्ष लें, बडे वीर हों, द्विजवर्णके, अच्छे विद्वान्, तुझसे अधिक सन्तोषी

शूरांश्च ब्राह्मणांश्च परिश्रुतान् । सुसन्तुष्टांश्च कौन्तेय महोत्साहांश्च कर्म्मसु ।३। एतान् सहायाँल्लिप्सेथाः सर्वास्वापत्सु भारत कुलीनः पूजितो नित्यं न हि शक्तिं निगूहति ॥ ४ ॥ प्रसन्नमप्रसन्नस्वा पीडितं हृतमेव वा । आवर्त्तयति भूयिष्ठं तदेव ह्यनुपालितम्५कुलीनाः देशजाः प्राज्ञा रूपवन्तो बहुश्रुताः । प्रगल्भाश्चानुरक्ताश्च,ते तव स्युः परिच्छदाः६दौष्कुलेयाश्च लुब्धाश्च नृशंसा निरपत्रपाः । ते त्वां तात निषेवेयुर्यावदार्द्रकपाणयः ॥ ७ ॥ कुलीनान् शीलसम्पन्नानिङ्गितज्ञाननिष्ठुरान् । देशकालविधानज्ञान् भर्तृकार्य्यहितैषिणः । नित्यमर्थेषु सर्वेषु राजा कुर्वीत मन्त्रिणः ॥८॥ अर्थमानार्थसत्कारैर्भोगैरुच्चावचैः प्रियान् । यानर्थभाजो मन्त्रि-

और काम करनेमें बड़े उत्साही हों ऐसे पुरुषोंको तू सब प्रकारकी आपत्तिके समय सहायक-युद्धमंत्रीके पदपर चुनना, जो कुलीन हों, जिसको तू प्रसन्न रखता हो, जो सदा तेरे पक्षमें रहकर अपनी शक्ति लगाता हो, और जो तुझे सुखमें या दुःखमें, माँदगीमें या मृत्युके समय भी न छोड़कर बड़ाभारी साथ देता हो ऐसे पुरुषको सुहृद-राजसभासद् बनाना और उसका सत्कार करना, ऐसा कुलीन पुरुष अपनी शक्तिको छुपाता नहीं है, किन्तु उसको पूर्णरीतिसे काममें लाता है ॥ ३-५ ॥ कुलवान्, अपने ही देशमें उत्पन्न हुए, बुद्धिमान्, दर्शनीय, युद्धविद्याको अच्छे प्रकारसे सीखेहुए, चतुर और प्रीति रखनेवाले पुरुषको अपने लश्करका सेनापति आदि बनाना चाहिये ॥ ६ ॥ जो पुरुष नीच कुलके, लोभी क्रूर और निर्लज्ज होते हैं वे पुरुष हे तात ! जबतक तेरी ओरसे भेंट पा२ कर हाथ चिकने करते रहेंगे तबतक ही तेरी सेवा करेंगे ॥ ७ ॥ कुलवान्, शीलवान्, गुप्त अभिप्रायको जाननेवाले, दयालु, देश और कालके स्वरूपको समझनेवाले, अपने राजाके कामोंको पूरे करनेवाले और हित

थास्ते ते स्युः सुखभागिनः ॥ ९ ॥ अभिन्नवृत्ता विद्वांसः सद्वृत्ताश्चरितव्रताः। न त्वां नित्यार्थिनो जह्युरक्षुद्राः सत्यवादिनः १० अनार्या ये न जानन्ति समयं मन्दचेतसः । तेभ्यः परिजुगुप्सेथा ये चापि समयच्युताः॥ ११ ॥ नैकमिच्छेद्गणं हित्वा स्याच्चेदन्यतरग्रहः । यस्त्वेको बहुभिः श्रेयान् कामं तेन गणं त्यजेत् १२ श्रेयसो लक्षणञ्चैतद्विक्रमो यस्य दृश्यते । कीर्तिप्रधानो यश्च स्यात् समये यश्च तिष्ठति ॥ १३ ॥ समर्थान् पूजयेद्यश्च नास्पर्द्धः स्पर्द्धते च यः । न च कामाद्भयात् क्रोधात् लोभाद्वा धर्ममुत्सृजेत् ॥ १४ ॥ अमानी सत्यवाक्शान्तो जितात्मा मानसंयुतः । स

चाहनेवाले हों ऐसे पुरुषोंको तुम सब कामोंमें अपने मंत्री बनाना और जो तुम्हें प्यारे लगते हों उनको तू दूसरे ऊँचे पदों पर नियत करके, धन, उत्तम वस्त्र और ताम्बूल आदि उत्तम वस्तुएँ देकर उनका सत्कार करता हुआ उनको सुखी करना ॥८-९॥ आपत्तिके समय भी एकसा आचरण रखनेवाले, विद्वान्,सदाचारवान्, उत्तम वर्त्ताव करनेवाले, ऊँचे मनके और सत्यवादी पुरुष सुखके या आपत्ति कालके समयमें भी तुम्हें छोडकर नहीं जायँगे, किन्तु नित्य तेरे साथ ही रहेंगे ॥१०॥ जो पुरुष अनार्य (नीच और मूर्ख हों और जो धर्माधर्मकी मर्यादाको छोडबैठे हों, ऐसे पुरुषोंसे तू अपनी रक्षा करना ॥ ११ ॥ जब दो पक्ष पड गये हों और उन दोनों पक्षोंमेंसे कौनसा पक्ष ग्रहण करना चाहिये, यह विचार आपड़े तो समूहको छोडकर एकका पक्ष नहीं लेना चाहिये ॥ १२ ॥ रणके उत्साही और जिससे कीर्ति प्राप्त हो उस पक्षमें जमे रहना चाहिये और धर्माधर्मकी मर्यादामें रहे यह सत्पुरुषका लक्षण है ॥ १३ ॥ ऐसा पुरुष शक्तिमान पुरुषोंका सत्कार करता है, स्पर्धा करनेके अयोग्य पुरुषोंके साथ स्पर्धा नहीं करता है, वह कामनासे, भयसे, क्रोधसे या

ते मन्त्रसहायः स्यात् सर्वावस्थापरीक्षितः ॥१५॥ कुलीनः कुल-सम्पन्नस्तितिक्षुर्दक्ष आत्मवान् । शूरः कृतज्ञः सत्यश्च श्रेयसः पार्थ लक्षणम् ॥ १६ ॥ तस्यैवं वर्तमानस्य पुरुषस्य विजानतः । अमित्राः सम्प्रसीदन्ति तथा मित्रीभवन्त्यपि ॥१७॥ अत ऊर्ध्व-ममात्यानां परीक्षेत गुणागुणम् । संयतात्मा कृतप्रज्ञो भूतिकामश्च भूमिपः १८ संबन्धिपुरुषैराप्तैरभिजातैः स्वदेशजैः । अहार्यैरव्यभी-चारैः सर्वशः सुपरीक्षितैः १९ यौनाः श्रौतास्तथा मौलास्तथैवाप्य-नहंकृताः । कर्तव्या भूतिकामेन पुरुषेण बुभूषता ॥ २० ॥ येषां

लोभसे धर्मका त्याग नहीं करता है ॥ १४ ॥ जो निरभिमानी, सत्यवादी, क्षमावान्, मनको जीतनेवाला और अपनी पदवीकी प्रतिष्ठा रखनेवाला हो तथा उसके इन गुणोंकी हरएक अवसर पर परीक्षा होचुकी हो तो उस पुरुषको तू अपना मंत्री बनाना १५ हे कुन्तीनन्दन ! सत्पुरुष प्रतिष्ठित, ऊँचे कुलका, सहनशील, चतुर, जितेन्द्रिय, शूर, कियेहुए उपकारको माननेवाला और सत्यवादी होता है ॥ १६ ॥ जो पुरुष बुद्धिमान् होता है उसके ऊपर उसके वैरी प्रसन्न होते हैं और उसके मित्रतक बनजाते हैं ॥ १७ ॥ बुद्धिमान्, मनको वशमें रखनेवाला और ऐश्वर्यकी इच्छावाला राजा नियत करनेके बाद मंत्रियोंके गुण दोषोंकी सूक्ष्मभावसे परीक्षा करे ॥ १८ ॥ जिस राजाको ऐश्वर्य पानेकी इच्छा हो और अपने समयके राजाओंमें गौरव पाना हो वह राजा अपने संबन्धी, विश्वासपात्र, कुलीन, अपने ही देशमें उत्पन्न हुए, दूसरेके पक्षमें न जानेवाले, व्यभिचार और दूसरे दुर्गुणोंके मार्गमेंको न जानेवाले, पूरी २ परीक्षा कियेहुए, श्रेष्ठ कुटुम्बमें उत्पन्न हुए, वेद तथा शास्त्रके मार्गमें चलनेवाले, बाप दादाके समयसे नौकरी करनेवाले और अभिमानशून्य पुरुषोंको अपना मंत्री बनावे ॥ १९ ॥ २० ॥ जिनकी बुद्धिमें विनय हो, स्वभाव

वैनयिकी बुद्धिः प्रकृतिश्चैव शोभना । तेजो धैर्यं क्षमा शौच-
मनुरागः स्थितिर्धृतिः ॥२१॥ परीक्ष्य च गुणान्नित्यं प्रौढभावान
धुरन्धरान् । पञ्चोपधाव्यतीतांश्च कुर्य्याद्राजार्थकारिणः ॥२२॥
पर्य्याप्तवचनान् वीरान् प्रतिपत्तिविशारदान् । कुलीनान् सत्यसं-
पन्नानिङ्गितज्ञाननिष्ठुरान् ॥२३॥ देशकालविधानज्ञान् भर्तृकार्य्य-
हितैषिणः । नित्यमर्थेषु सर्वेषु राजन् कुर्वीत मन्त्रिणः ॥ २४ ॥
हीनतेजोभिसृष्टो वै नैव जातु व्यवस्यति । अवश्यं जनयत्येव
सर्वकर्म्मसु संशयम् ॥ २५ ॥ एवमल्पश्रुतो मन्त्री कल्याणाभि-
जनोऽप्युत । धर्मार्थकामसंयुक्तो नालं मन्त्रं परीक्षितुम् ॥ २६ ॥
तथैवानभिजातोपि काममस्तु बहुश्रुतः । अनायक इवाचक्षुर्मुह्यत्य-

---

उत्तम हो, जिनमें तेज, धीरता, क्षमा, शौच, प्रेम और स्थिरता हो ॥ २१ ॥ ऐसे पुरुषोंके गुण दोषोंकी परीक्षा करके, यदि वे कपटरहित और कार्यभारको उठानेमें समर्थ हों तो ऐसे पाँच पुरुषोंको अपने राज्यके कार्यव्यवहारकी देखभाल रखने पर नियत करे ॥ २२ ॥, जो बात बोलनेमें चतुर, शूर, कुलीन, निर्णय करनेमें कुशल, बलवान् मनके इशारेको समझनेवाले, दयालु, देश तथा कालके स्वरूपको जाननेवाले और अपने राजाके कामका हित चाहनेवाले हों ऐसे पुरुषोंको हे राजन् ! राज्यमें सब प्रकारके कार्योंका मन्त्री बनावे ॥ २३ ॥ २४ ॥ हे राजन् ! जो पुरुष तेजोहीन पुरुषके साथ मित्रता करता है, वह कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य कार्यका निर्णय कभी नहीं करसकता वह हरएक काममें अवश्य सन्देह ही खडा किया करता है २५. जो मन्त्री श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न हुआ हो, धर्म अर्थ काम इस त्रिवर्गको सिद्ध करनेवाला हो तथापि यदि वह मूर्ख होता है तो वह राजकीय गुप्त विचारोंकी परीक्षा नहीं करसकता, इसलिये उसको मन्त्रीके पदपर नियुक्त न करे ॥ २६ ॥ तथा जो पुरुष

गुणाःक्षुद्राः॥२७॥यो वाप्यस्थिरसङ्कल्पो बुद्धिमानागतागमः । उपा-
यज्ञोऽपि नालं स कर्म्म यापयितुं चिरम् ॥ २८ ॥ केवलात् पुन-
रादानात् कर्म्मणो नोपपद्यते । परामर्शो विशेषाणामश्रुतस्येह
दुर्म्मतेः ॥२९॥ मन्त्रिण्यननुरक्ते तु विश्वासो नोपपद्यते । तस्मा-
दननुरक्ताय नैव मन्त्रं प्रकाशयेत् ॥ ३० ॥ व्यथयेद्धि स राजानं
मन्त्रिभिः सहितोऽनृजुः । मारुतोपहितच्छिद्रैः प्रविश्याग्निरिव
द्रुमम् ॥३१॥ संक्रुद्धश्चैकदा स्वामी स्थानाच्चैवापकर्षति । वाचा
क्षिपति संरब्धं पुनः पश्चात् प्रसीदति ॥ ३२ ॥ तानि तान्यनु-

बडा विद्वान् होता हुआ भी नीच कुलका हो वह चलाने वाले पुरुषसे हीन अन्धे मनुष्यकी समान धर्मकी चतुरता और सूक्ष्म बुद्धि न होनेसे छोटे २ काम करनेमें भी घबडा जाता है ॥२७॥ जो पुरुष बुद्धिमान, शास्त्रको जाननेवाला और उपायोंको समझने वाला होता हुआ भी अस्थिर विचारका (चञ्चलमति) होता है वह पुरुष चिरकाल तक अपने पदका काम नहीं चलासकता ॥२८॥ जो पुरुष मूर्ख और निर्दयी होता है उसको कोई काम सौंपदिया जाय तो वह उसके परिणामको नहीं विचार सकता, इसलिये उसके काममें सफलता नहीं मिलती है ॥ २९ ॥ जो मन्त्री होकर भी अपने ऊपर प्रीति न रखता हो ऐसा पुरुषका कभी विश्वास न करे और उस प्रीति न रखनेवाले पुरुषके सामने अपनी गुप्तबात भी प्रकट न करे ॥३०॥ राजा यदि उसका विश्वास करलेता है तो वह कपटी मन्त्री दूसरे मन्त्रियोंकी सहायता लेकर जैसे अग्नि पवनसे भरेहुए छिद्रोंके द्वारा वृक्षके भीतर घुसकर वृक्षको भस्म कर डालता है तैसे ही राजाका नाश करदेता है ॥ ३१ ॥ राजा जब क्रोधमें आता है तो मंत्रीको उसके अधिकार परसे अलग कर देता है और क्रोधके आवेशमें आकर वाणीसे उसका तिरस्कार करता है और फिर पीछेसे प्रसन्न होजाता है ॥ ३२ ॥

रक्तेन शक्यानि हि तितिक्षितुम् । मन्त्रिणाञ्च भवेत् क्रोधो विस्फूर्जितमिवाशनेः॥३३॥ यस्तु संहरते तानि भर्त्तुः प्रियचिकीर्षया। समानसुखदुःखन्तं पृच्छेदर्थेषु मानवम् ॥ ३४ ॥ अनृजुस्त्वनुरक्तोपि सम्पन्नश्चेतरैर्गुणैः । राज्ञः प्रज्ञानयुक्तोपि न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३५ ॥ योमित्रैः सह सम्बद्धो न पौरान् बहु मन्यते । असुहृत्तादृशो ज्ञेयो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३६ ॥ अविद्वानशुचिः स्तब्धः शत्रुसेवी विकत्थनः। असुहृत् क्रोधनो लुब्धो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति॥३७॥आगन्तुश्चानुरक्तोपि काममस्तु बहुश्रुतः । सत्कृतः

राजाके इन सब वर्त्तावोंको वही सहसकता है जो राजाके ऊपर प्रीति रखता है और कियेहुए अपमानको भूलजाता है, परन्तु कितने ही समय मंत्रियोंका कोप वज्रका समान बड़ा ही तीक्ष्ण होता है (इसलिये उनसे सावधान रहै) ॥ ३३ ॥ परन्तु जो पुरुष अपने राजाका हित करनेकी इच्छासे राजाके सब वर्त्तावोंको सहता है, ऐसे दुःख सुखमें समान रहनेवाले मनुष्यकी राजा हर एक काममें सम्मति लेय ॥ ३४ ॥ परन्तु जो पुरुष राजाके ऊपर प्रीति रखता है, जिसमें और भी सब गुण हों और उत्तम बुद्धि वाला हो, तथापि वह यदि कपटी हो तो उसके साथ राजा गुप्त कामोंकी सम्मति न करे ॥ ३५॥ जिस पुरुषका शत्रुओंके साथ सम्बन्ध होता है और जो नगरके मनुष्योंका बहुत सन्मान नहीं करता है, ऐसे मनुष्योंको सुहृद न समझै और वह राजाकी गुप्त बातको सुननेका अधिकारी नहीं होता है ॥ ३६ ॥ मूर्ख, अपवित्र, अभिमानी, शत्रुकी सेवा करनेवाला, अधिक बोलनेवाला, सुहृदभावसे हीन, क्रोधी और लोभी मनुष्य भी राजाके गुप्त विचारोंको सुननेका अधिकारी नहीं गिनाजाता है ॥ ३७ ॥ बहुतपढा हो, प्रीति करनेवाला हो, सत्कारका पात्र हुआ हो और जिसको अपने ऐश्वर्योंमेंसे कुछ भाग मिला हो तो भी जो

संविभक्तो वा न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३८ ॥ विधर्मतो विप्रकृतः पिता यस्याभवत् पुरा । सत्कृतः स्थापितः सोऽपि न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३९ ॥ यः स्वल्पेनापि कार्येण सुहृदाक्षारितो भवेत् । पुनरन्यैर्गुणैर्युक्तो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥४०॥ कृतप्रज्ञश्च मेधावी बुधो जानपदः शुचिः । सर्वकर्मसु यः शुद्धः स मन्त्रं श्रोतुमर्हति॥४१ ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः प्रकृतिज्ञः परात्मनोः । सुहृदात्मसमो राज्ञः स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४२ ॥ सत्यवाक् शीलसम्पन्नो गम्भीरः सत्रपो मृदुः । पितृपैतामहो यः स्यात् स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥४३॥

नया आयाहुआ हो,ऐसा पुरुष भी राजाके गुप्त विचारोंको सुननेके योग्य नहीं गिना जाता । ३८ ॥ जिसके पिताको पहले अधर्मका आचरण करनेके कारणसे तिरस्कार करके निकाल दियागया हो ऐसे पुरुषको राज्यमें सत्कारके साथ फिर अधिकार पर नियत कर दिया हो तो भी राजा उससे अपने गुप्त काममें सलाह न करे३९ साधारण कामके लिये धन लेकर जिसको निर्धन करदिया हो ऐसे स्नेही पुरुषमें दूसरे कितने ही गुण हों तो भी राजा अपने गुप्तकाममें उसकी सलाह न लेय ॥ ४० ॥ परन्तु जो पुरुष बुद्धिमान्, शास्त्रका ज्ञान रखनेवाला,पण्डित,अपने देशमें ही उत्पन्न हुआ, पवित्र आचरणवाला और राज्यके सब कामोंमें शुद्ध जाननेमें आयाहो उस पुरुषके साथ राजा गुप्त कामकी सलाह करे ॥ ४१ ॥ ज्ञान (व्यवहारका ज्ञान) और विज्ञान (शास्त्रका ज्ञान) वाला अपनी तथा दूसरेकी प्रकृतिको पहचाननेवाला और राजाके आत्माकी समान सुहृद् स्नेही हो वह पुरुष राजाके गुप्त काममें सलाह करनेके योग्य होता है ४२ सत्यवादी, शीलवान्, गम्भीर, लज्जाशील, कोमल स्वभाववाला और बाप दादाके समयसे नौकरी करनेवाला पुरुष राजाके गुप्त काममें सलाह लेनेके योग्य होता है ॥४३॥ सन्तोषी. सत्पुरुषोंमें

सन्तुष्टः सम्मतः सत्यः शौण्डीरो द्वेष्यपापकः । मन्त्रवित् कालवित् शूरः स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४४ ॥ सर्वलोकमिमं शक्तः सान्त्वेन कुरुते वशे । तस्मै मन्त्रः प्रयोक्तव्यो दण्डमाधित्सता नृप ॥ ४५ ॥ पौरजानपदा यस्मिन् विश्वासं धर्मतो गताः । योद्धा नयविपश्चिच्च स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४६ ॥ तस्मात् सर्वैर्गुणैरेतैरुपपन्नाः सुपूजिताः । मन्त्रिणः प्रकृतिज्ञाः स्युस्त्र्यवरा महदीप्सवः ॥ ४७ स्वासु प्रकृतिषु छिद्रं लक्षयेरन् परस्य च । मन्त्रिणां मन्त्रमूलं हि राज्ञो राष्ट्रं विवर्द्धते ॥ ४८ ॥ नास्य छिद्रं परः पश्येत् छिद्रेषु परमन्वियात् । गूहेत् कूर्म इवांगानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ ४९ ॥

सन्मान पायाहुआ, सत्यवादी, चतुर, पापसे द्वेष रखनेवाला, राजदरबारकी वातोंमें कुशल और समयको जाननेवाला वीर पुरुष राजाके गुप्त काममें सलाह लेनेके योग्य होता है ॥ ४४ ॥ जो पुरुष समझानेमें अपनी वातोंसे सारे जगत्को वशमें कर सकता हो ऐसे पुरुषको दण्डधारण करना चाहनेवाला राजा अपनी गुप्त वातोंका सलाहकार बनावे ॥ ४५ ॥ नगरके मनुष्य और देशके मनुष्य जिसके ऊपर धर्मानुसार विश्वास रखते हों वह योधा और नीतिको जाननेवाला विद्वान् मनुष्य राजाकी गुप्त वातोंको सुननेका अधिकारी है ॥ ४६ ॥ ऐसे गुणोंवाले और राजाके तथा प्रजाके स्वभावको जाननेवाले तथा प्रतिष्ठा चाहने वाले कमसे कम तीन पुरुषोंको राजा मन्त्रीके पद पर नियत करे और उनका अच्छे प्रकारसे सन्मान करे ॥ ४७ ॥ मंत्रियोंको चाहिये, कि-अपने राजाके, दरवारियोंके तथा शत्रुओंके छिद्रों को जाननेका उद्योग करते रहें, मंत्रियोंका मन्त्र राज्यका मूल है और मन्त्रसे राजाका राज्य बढता है ॥४८॥ अपने छिद्रोंको इसप्रकार छुपाये रहे, कि-शत्रु जानने न पावे, शत्रुओंके छिद्रों का पता लगाता रहे और जैसे कछुआ अपने सब अङ्गोंको छुपाये

मन्त्रगूढा हि राज्यस्य मन्त्रिणो ये मनीषिणः । मन्त्रसंहननो राजा मन्त्रांगानीतरे जनाः ॥ ५० ॥ राज्यं प्रणिधिमूलं हि मन्त्रसारं प्रचक्षते । स्वामिनस्त्वनुवर्त्तन्ते वृत्त्यर्थमिह मन्त्रिणः ॥५१॥ संविनीय मदक्रोधौ मानमीर्षाञ्च निर्वृताः । नित्यं पञ्चोपधातीतैर्मन्त्रयेत् सह मन्त्रिभिः ५२ तेषां त्रयाणां विविधं विमर्शं विबुद्ध्य चित्तं विनिवेश्य तत्र । स्वनिश्चयं तत् प्रतिनिश्चयञ्च निवेदयेदुत्तरमन्त्रकाले ५३ धर्मार्थकामज्ञमुपेत्य पृच्छेद्युक्तो गुरुं ब्राह्मणमुत्तरार्थम् । निष्ठा कृता तेन यदा सह स्यात् तन्मन्त्रमार्गं प्रणयेदशक्तः ॥ ५४ ॥ एवं सदा मन्त्रयितव्यमाहुर्ये मन्त्रतत्त्वार्थविनिश्च-

---

रहता है तैसे ही राजा भी अपने छिद्रोंको छुपाये रहे ॥ ४९ ॥ जो मन्त्री राजाके मन्त्रको गुप्त रखते हों उनको विद्वान् जाने, राजाका गुप्त विचार उसका बख्तर है और वीर पुरुष मन्त्रके अङ्ग हैं ॥५०॥ पण्डित दूतको राज्यका मूल और मंत्रको राज्यका बल कहते हैं, राजा और मन्त्री यदि मद, क्रोध अभिमान और ईर्षाको त्याग देते हैं, आजीविकाके लिये एक दूसरेका सहारा लिये रहते हैं तो वे सुख पाते हैं, जो मन्त्री पाँच प्रकारके छलसे रहित हो उसके राजाको नित्य राजकार्यका विचार करना चाहिये ५१-५२ तीनों मंत्रियोंके अलग २ विचारको समझकर उसको अपनी बुद्धिमें उतारे और फिर अपने आप विचार करके जो कुछ निश्चय करे ये चारों मत अन्तिम निर्णयको जाननेवाले पुरोहितसे कहे ॥ ५३ ॥ पुरोहित ब्राह्मण जातिका तथा धर्म, अर्थ और कामको जानने वाला होना चाहिये, वह जो कुछ सिद्धांत करे और उसके लिये यदि सब मंत्री एकमत हों तो राजा सावधान होकर उस विचारको काममें लावे ॥५४॥ मंत्रके सच्चे स्वरूपको जानने वाले विद्वान् कहते हैं, कि—सदा इस रीतिसे ही राजकीय कार्योंका विचार करे और प्रजाको वशमें करसकनेवाले विचारसे

यशाः । तस्मात्सर्वं मणयेत् सदैव मन्त्रं प्रजासंग्रहणे समर्थः॥५५
न वामना कुब्जकृशा न खञ्जा नान्धो जडः स्त्री च नपुंसकञ्च।
न चात्र तिर्यङ् च पुरो न पश्चान्नोर्ध्वं न चाधः प्रचरेत् कथ-
ञ्चित् ॥ ५६ ॥ आरुह्य वा वेश्म तथैव शून्यं स्थलं प्रकाशं
कुशकाशहीनम् । वागङ्गदोषान् परिहृत्य सर्वान् समन्त्रयेत्
कार्य्यमहीनकालम् ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि
सभादिलक्षणकथने त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

भीष्म उवाच। अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । बृह-
स्पतेश्च सम्वादं शक्रस्य च युधिष्ठिर ॥१॥ शक्र उवाच । किंस्वि-
देकपदं ब्रह्मन् पुरुषः सम्यगाचरन् । प्रमाणं सर्वभूतानां यशश्चै-
वाप्नुयान्महत् ॥२॥ बृहस्पतिरुवाच । सान्त्वमेकपदं शक्र पुरुषः

सदा काम लेता रहे ॥५५॥ गुप्त विचार करते समय वहाँ आगे
के भागमें, पीछेके भागमें, ऊपरके भागमें, नीचेके भागमें अथवा
उसके किसी भी कोनेमें बौना, कुबड़ा, दुबला, लूला, अन्धा,
मूर्ख, स्त्री अथवा हीजड़ा कभी नहीं होना चाहिये ॥ ५६ ॥
महलके ऊपरकी मंजिल पर चढ़कर अथवा प्रकाशवाले एकान्तमें
जहाँ घास अथवा काँस आदि कुछ भी न हो ऐसे स्थानमें बैठ
कर गुप्तविचार करे (विचार करते समय ऊँचे स्वरसे बोलना
आदि) अङ्गोंके दोषोंको त्यागकर उचित समय पर विचार करे५७
तिरासीवाँ अध्याय समाप्त ॥ ८३ ॥ ॥

भीष्मजीने कहा, कि–हे युधिष्ठिर ! इस विषयमें बृहस्पति
और इन्द्रका संवादरूप एक पुराना इतिहास मैं तुम्हे सुनाता हूँ१
इन्द्रने पूछा, कि-हे बृहस्पति ! जिसमें सब गुण समाये हुए हों
ऐसा कौनसा आचरण करनेसे पुरुषको सब प्राणियोंमें माननीय
महान् यश मिलता है ? ॥ २ ॥ बृहस्पतिने कहा, कि–हे इन्द्र !

सम्यगाचरन । प्रमाणं सर्वभूतानां यशश्चैवाप्नुयान्महत् ॥ ३ ॥ एतदेकपदं शक्र सर्वलोकसुखावहम् । आचरन् सर्वभूतेषु प्रियो भवति सर्वदा ॥ ४ ॥ यो हि नाभाषते किञ्चित् सर्वदा भ्रुकुटीमुखः । द्वेष्यो भवति भूतानां स सान्त्वमिह नाचरन् ॥५॥ यस्तु सर्वमभिप्रेक्ष्य पूर्वमेवाभिभाषते । स्मितपूर्वाभिभाषी च तस्य लोकः प्रसीदति ॥ ६ ॥ दानमेव हि सर्वत्र सान्त्वेनातभिजल्पितम् । न प्रीणयति भूतानि निर्व्यञ्जनमिवाशनम् ॥ ७ ॥ आदानादपि भूतानां मधुरामीरयन् गिरम् । सर्वलोकमिमं शक्र सान्त्वेन कुरुते वशे ॥ ८ ॥ तस्मात् सान्त्वं प्रयोक्तव्यं दण्डमाधित्सतापि हि । फलञ्च जनयत्येवं न चास्योद्विजते जनः ॥९॥

एक निष्कपट प्रियवचनमें सब गुण समाये हुए हैं, जो पुरुष प्रिय वचन बोलता है उसको सब प्राणियोंमें माननीय महान् यश मिलता है ॥ ३ ॥ हे इन्द्र ! सब लोकोंको सुख देनेवाला यह यह प्रिय वचन ही है, जिसका आचरण करनेसे मनुष्य नित्य सब प्राणियोंका प्यारा रहता है ॥ ४ ॥ जो पुरुष मधुर वाणी नहीं बोलता है, किन्तु नित्य अपनी भ्रकुटि चढ़ाये हुए चुप चाप रहता है उसको सब लोग धिक्कारते हैं ॥ ५ ॥ परन्तु जो पुरुष हरएक मनुष्यको देखते क्षण ही पहलेसे ही हँसते हुए मुखसे बातें करनेका आरम्भ करता है उसके ऊपर सब लोग प्रसन्न होते हैं ॥ ६ ॥ दान भी यदि मधुर वचनके साथ नहीं दियाजाता है तो भी मसाले आदिसे रहित शाक जैसे खाने वालेको प्रसन्न नहीं करता है ॥ ७ ॥ वैसे ही दान लेनेवालेके मनको प्रसन्न नहीं करता है परन्तु हे इन्द्र!मधुर वाणी बोलकर लोगोंसे उनकी वस्तुएँ लेली जायँ तो भी लोग प्रसन्न होकर लेनेवालेके वशमें होजाते हैं ॥ ८ ॥ दण्ड धारण करनेकी इच्छावाला राजा मधुरवचन बोले,ऐसा करने पर प्रजा

सुकृतेन हि सान्त्वस्य श्लक्ष्णस्य मधुरस्य च । सम्यगासेव्यमानस्य तुल्यं जातु न विद्यते ॥ १० ॥ भीष्म उवाच । इत्युक्तः कृतवान् सर्वं यथा शक्रः पुरोधसा । तथा त्वमपि कौन्तेय सम्यगेतत् समाचर ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि इन्द्रबृहस्पतिसम्वादे चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥८४॥

युधिष्ठिर उवाच । कथं स्विदिह राजेन्द्र पालयन् पार्थिवः प्रजाः । प्रीतिं धर्मविशेषेण कीर्त्तिमाप्नोति शाश्वतीम् ॥१॥ भीष्म उवाच । व्यवहारेण शुद्धेन प्रजापालनतत्परः । प्राप्य धर्मञ्च कीर्त्तिञ्च लोकावाप्नोत्युभौ शुचिः ॥ २ ॥ युधिष्ठिर उवाच । कीदृशैर्व्यवहारैस्तु कैश्च व्यवहरेन्नृपः । एतत् पृष्टो महाप्राज्ञ

उससे घबड़ाते नहीं है और राजाको प्रजाको वशमें करना रूप फल मिलता है ॥९॥ पुण्यवान्, मधुर और कोमल वाणी बोलने वाले पुरुषकी सब लोग अच्छेप्रकारसे सेवा करते हैं और उसकी समान इस जगत्में कोई भी पुरुष नहीं है ॥ १० ॥ भीष्मजीने फिर कहा, कि—इसप्रकार पुरोहित बृहस्पतिने इन्द्रसे कहा, और फिर इन्द्रने सबके साथ मधुर वचन बोलनेका आरम्भ करदिया तथा हे कुन्तीनन्दन ! तू भी इस उत्तम गुणरूप नीतिका अच्छे प्रकारसे आचरण कर ॥ ११ ॥ चौरासीवाँ अध्याय समाप्त८४

युधिष्ठिरने बूझा, कि हे राजेन्द्र भीष्म पितामह ! राजा किस प्रकार प्रजाका पालन करे तो वह धर्मानुसार लोगोंकी प्रीति और सनातन कीर्त्तिको पासकता है ? ॥ १ ॥ भीष्मने कहा, कि—राजा शुद्धमन होकर कपटरहित व्यवहारसे (निष्पक्षपातपनेसे) धर्मसे प्रजाका पालन करता है तो वह धर्म और कीर्त्तिको पाकर इसलोक और परलोकको बनालेता है ॥ २ ॥ युधिष्ठिरने बूझा, कि हे महाबुद्धिमान् पितामह ! राजा कौनसे और

यथावद्वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥ ये चैव पूर्वकथिता गुणास्ते पुरुषं प्रति । नैकस्मिन् पुरुषे ह्येते विद्यन्ते इत मे मतिः ॥ ४ ॥ भीष्म उवाच । एवमेतन्महाप्राज्ञ यथा वदसि बुद्धिमान् । दुर्लभः पुरुषः कश्चिदेभिर्युक्तो गुणैः शुभैः ॥ ५ ॥ किन्तु संक्षेपतः शीलं प्रयत्नेनेह दुर्लभम् । वक्ष्यामि तु यथामात्यान् यादृशांश्च करिष्यसि ॥ ६ ॥ चतुरो ब्राह्मणान् वैद्यान् प्रगल्भान् स्नातकान् शुचीन् । क्षत्रियांश्च तथा चाष्टौ बलिनः शस्त्रपाणिनः ॥ ७ ॥ वैश्यान् वित्तेन संपन्नानेकविंशतिसंख्यया । त्रींश्च शूद्रान् विनीतांश्च शुचीन् कर्मणि पूर्वके ॥८॥ अष्टाभिश्च गुणैर्युक्तं सूतं पौराणिकं तथा । पञ्चाशद्वर्षवयसं प्रगल्भमनसूयकम् ॥ ९ ॥ श्रुतिस्मृतिसमायुक्तं

कैसे व्यवहार करे, यह बात मैं आपसे बूझता हूँ और यह बात मुझे यथार्थ रीतिसे आपको बतादेनी चाहिये ॥ ३ ॥ आपने पहले मुझसे मनुष्यके जो गुण कहे हैं वे गुण मेरी समझमें एक मनुष्यमें कभी नहीं होसकते ॥ ४ ॥ भीष्मजीने कहा, कि-हे महाप्राज्ञ और बुद्धिमान् युधिष्ठिर ! तू कहता है सो ठीक है ऐसे उत्तम गुणोंवाला कोई भी एक मनुष्य इस जगत्में मिलसके यह कठिन है ॥ ५ ॥ तिस पर भी उत्तम स्वभाव तो वास्तवमें ही दुर्लभ है, उद्योग करने पर भी ऐसा पुरुष देखनेमें नहीं आता, इसलिये राजाको मन्त्री कैसे बनाने चाहियें, यह बात मैं तुझे संक्षेपमें सुनाता हूँ, उसको तू सुन ॥ ६ ॥ वेदविद्याको जाननेवाले, चतुर, स्नातक और पवित्र मनके चार ब्राह्मण, शरीरमें बलवान् और शस्त्रको ठीक रखनेवाले आठ क्षत्रिय ७ इक्कीस धनाढ्य वैश्य, नियमसे नित्यकर्म करनेवाले, पवित्र और विनयवान् तीन शूद्र और (सेवा करनेको तयार रहना, सुनना, कही हुई बातको ठीक २ समझना, याद रखना, किस कामका क्या परिणाम होगा इसपर तर्क करना, अमुक प्रकारसे कार्य

विनीतं समदर्शिनम् । कार्य्ये विवदमानानां शक्तमर्थेष्वलोलुपम् १०
वर्जितञ्चैव व्यसनैः सुघोरैः सप्तभिर्भृशम् । अष्टानां मन्त्रिणां मध्ये मन्त्रं राजोपधारयेत् ॥ ११ ॥ ततः संप्रेषयेद्राष्ट्रे राष्ट्रियाय च दर्शयेत् । अनेन व्यवहारेण द्रष्टव्यास्ते प्रजाः सदा ॥ १२ ॥ न चापि गूढं कार्य्यन्ते ग्राह्यं कार्य्योपघातकम् । कार्य्ये खलु विपन्ने

नहीं हुआ और अमुक प्रकारसे हुआ तो क्या करना चाहिये ऐसी उलटी तर्क करना, व्यवहारज्ञान और तत्त्वज्ञान इन) आठ गुणोंवाली, पुराणकी ज्ञाता सूतजातिमेंका एक, इसप्रकार पैंतालीस पुरुषोंका मन्त्रिमण्डल (देश पर ध्यान रखनेवाला सलाहकाराका मण्डल) राजाको बनाना चाहिये, इस मण्डलमेंके सब सभासद् चतुर, ईर्षारहित, पचास वर्षकी अवस्थावाले अनुभवी), श्रुति स्मृतियोंको जाननेवाले,विनयवान्, समदृष्टि (सजाति विजातिका विचार न करके प्रजाके कार्याकार्यको एकदृष्टिसे देखने वाले) कार्यके लिये आपसमें विवाद करनेवाले पुरुषोंको निर्णय पर लासकनेवाले)न्याय करनेमें चतुर,वादी प्रतिवादियोंकी उचित युक्तियोंमेंसे सत्य बातको निकालसकनेवाले अथवा देशके हानि लाभमें या राजसभामें दो पक्ष दृढताके साथ अपनी २ बातें करे उस समय सार निकालनेमें चतुर), धनके लोभसे रहित तथा सात (मृगया, जुआ, स्त्रीसङ्ग, मदिरापान, प्रहार, कठोर भाषण और हर एक बातमें दोष निकालना इन) महाभयानक व्यसनों से रहित होने चाहियें, इन सबोंका राजा अपने राज्यमें मन्त्रिमण्डल बनावे, राजा इन मन्त्रियोंमेंसे आठ मन्त्रियोंके मण्डलमें मिलकर अपने राज्यका गुप्त विचार करे और अपने आप उसमें प्रधान बनारहे ॥ ८-११ ॥ मन्त्रियोंमें कार्यका विचार सिद्ध होजाने पर अपने देशके मनुष्योंको वह विचार और उसका परिणाम सुनावे, तू सदा ऐसे वर्त्तावसे प्रजाकी रक्षा करना ॥ १२ ॥

त्वां सोऽधर्मस्तांश्च पीडयेत् ॥१३॥ विद्रवेच्चैव राष्ट्रं ते श्येनात्
पक्षिगणा इव । परिस्रवेच्च सततं नौर्विशीर्णेव सागरे ॥ १४ ॥
प्रजाः पालयतो सम्यगधर्मेणेह भूपते । हार्दं भयं सम्भवति स्वर्ग-
श्चास्य विरुध्यते ॥ १५ ॥ अथ योऽधर्मतः पाति राजमात्योऽथ-
वात्मजः । धर्मासने सन्नियुक्तो धर्म्ममूले नरर्षभ ॥१६॥ कार्य्ये-
ष्वधिकृताः सम्यगकुर्वन्तो नृपानुगाः । आत्मानं पुरतः कृत्वा
यान्त्यधः सह पार्थिवाः ॥ १७ ॥ बलात्कृतानां बलिभिः कृपणं
बहु जल्पताम्नाथो वै भूमिपो नित्यमनाथानां नृणां भवेत्१८ततः

हे राजन् ! धरोहररूप रक्खेहुए धनको अथवा जिस धनके
लिये वादी (मुद्दई) प्रतिवादी (मुद्दायले) विवाद करते हों उस
बातको राज्यका धन मानकर पचाना नहीं, ऐसे उलटे वर्त्तावसे
न्यायकी रीति अपवित्र होजायगी और तुझे तेरे मन्त्रियोंको
अधर्म पीडा देगा ॥ १३ ॥ (न्यायकी पवित्रताको प्रकट न करोगे)
तो पक्षियोंके झुण्ड जैसे बाजसे दूर भागजाते हैं और टूटी हुई
नौका जैसे समुद्रमें डूब जाती है, ऐसे ही तेरे देशके मनुष्य भी
तेरे पाससे दूर भाग जावेंगे और तेरा राज्य डूब जावेगा ॥१४॥
जो राजा प्रजाका धर्मसे पालन नहीं करता है और उसके ऊपर
अन्याय करने लगता है, ऐसे राजाके हृदयमें भयका सञ्चार
होता है और उसको स्वर्ग नहीं मिलता है ॥ १५ ॥ हे राजन् !
राज्यका मूल धर्म -पवित्रन्याय- है, यदि मन्त्री अथवा राजपुत्र
धर्मासन पर बैठ अन्यायका वर्ताव कर प्रजाको पीडित करते हैं,
और राजकीय कार्यों पर नियुक्त किए हुए राजाके अधिकारी
यदि अन्यायसे कार्य करते हैं तथा अपने स्वार्थकी ओर दौडने
लगते हैं, तो वे अपने राजाके साथ नरकमें पडते हैं ।१६-१७।
बली अधिकारी जब निर्बलों पर बलात्कार करते हैं उस समय
प्रजा दयाजनक रीतिसे बडा भारी विलाप करने लगती है ऐसे

साक्षीबलं साधो द्वैधवादकृतं भवेत् । असाक्षिकमनाथं वा परीक्ष्यं तद्विशेषतः १९ अपराधानुरूपञ्च दण्डं पापेषु कारयेत्। वियोजनैर्धनै-र्हीनानधनानथ बन्धनैः २० विनयेच्चापि दुष्टान् प्रहारैरपि पार्थिव । सान्त्वेनोपप्रदानेन शिष्टांश्च परिपालयेत् २१ राज्ञो वधं चिकीर्षेद्य-स्तस्य चित्रो वधो भवेत् आदीपकस्य स्तेनस्य वर्णसङ्करिकस्य च २२ सम्यक् प्रणयतो दण्डं भूमिपस्य विशाम्पते । युक्तस्य वा नास्त्य-धर्मो धर्म एव हि शाश्वतः ॥ २३ ॥ कामकारेण दण्डस्तु यः

अनाथ मनुष्योंका राजा नाथ कहलाता है अर्थात् राजाको अनाथोंकी सदा रक्षा करनी चाहिये ॥१८॥ न्यायकार्यमें वादी प्रतिवादीके झगड़ेमें, साक्षीके ऊपर सब आधार है, परन्तु जहाँ वादी अथवा प्रतिवादी दोनों पक्षमेंसे एकका साक्षी ही न हो तो ऐसे समय राजाको सूक्ष्मबुद्धिका उपयोग करना चाहिये १९ दोनोंके सत्यकी खोज करनेके पीछे अपराधियोंको उनके अप-राधके अनुसार दण्ड देना चाहिये, धनाढ्य पुरुषको अर्थदण्ड देना चाहिये और निर्धन पुरुषकी स्वतन्त्रता छीन लेनी चाहिये उसको जेलखानेमें भेज देना चाहिये २० जो मनुष्य दुष्ट हों उन को बाँध कर पीटनेका दण्ड देना चाहिये और जो शिष्ट हों उनको धीरज देकर और भेंट आदिसे सत्कार करके उनका पालन करना चाहिये ॥२१॥ जो पुरुष राजाका खून कर डाले अथवा वध करनेकी चेष्टा करे,जो आग लगावे, जो चोरी करे और जो वर्णसङ्कर सन्तान उत्पन्न करे (व्यभिचार करे) इनको अनेकों प्रकारसे देहान्त दण्ड देय ॥ २२ ॥ जो राजा उचित रीतिसे अपराधीको दण्ड देता है वह राजा शास्त्रोक्त विधिसे देहान्त दण्ड देय तो भी वह अधर्मी नहीं गिना जाता है, किन्तु वह सनातन धर्मका पालन करता है ॥ २३ ॥ परन्तु जो मूर्ख राजा अपना मनमाना न्याय करता है उसकी इस लोकमें अपकीर्त्ति होती है

कुर्यादविचक्षणः । स इहाकीर्त्तिसंयुक्तो मृतो नरकमृच्छति॥२४॥ न परस्य प्रवादेन परेषां दण्डमर्पयेत् । आगमानुगमं कृत्वा बध्नीयान्मोक्षयीत वा ॥ २५ ॥ न तु हन्यान्नृपो जातु दूतं कस्याञ्चिदापदि । दूतस्य हन्ता निरयमाविशेत् सचिवैः सह॥२६॥ यथोक्तवादिनं दूतं क्षत्रधर्मरतो नृपः । यो हन्यात्पितरस्तस्य भ्रूणहत्यामवाप्नुयुः ॥ २७ ॥ कुलीनः कुलसम्पन्नो वाग्मी दक्षः प्रियम्वदः । यथोक्तवादी स्मृतिमान् दूतः स्यात् सप्तभिर्गुणैः ॥२८॥ एतैरेव गुणैर्युक्तः प्रतीहारोस्य रक्षिता । शिरोरक्षश्च भवति गुणैरेतैः समन्वितः ॥ २९ ॥ धर्मशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः सन्धिविग्रहको भवेत् । मतिमान् धृतिमान् ह्रीमान् रहस्यविनिगूहिता ॥ ३० ॥ कुलीनः सत्त्वसम्पन्नः शुक्लोमात्यः प्रशस्यते । एतैरेव गुणैर्युक्त-

और मरनेके बाद वह नरकमें पड़ता है ॥ २४ ॥ एक अपराध पर राजा दूसरेको दण्ड न देय (जैसे कि—पिताने अपराध किया हो तो पुत्रको दण्ड न देय), किन्तु शास्त्र (कानून) और युक्तिसे अपराधीके अपराधको अच्छे प्रकारसे विचार करके फिर उसको कैद करे अथवा छोड़ देय॥२५॥राजा चाहे जैसी आपत्तिके समयमें भी दूतका वध न करे, जो राजा दूतके माण लेता है वह मन्त्रियों सहित नरकमें पड़ता है ॥ २६ ॥ क्षत्रियके धर्म पर आरूढ़ रहनेवाला जो राजा सत्य बात कहनेवाले दूतको मरवादेता है उसके पितरोंको गर्भहत्याका पाप लगता है ॥ २७ ॥ दूत कुलीन बड़े कुटम्बवाला, वाचाल, चतुर, मधुरभाषी, सत्य बात कहने वाला और पूर्वापरकी बातको याद रखनेवाला—इसप्रकार सात गुणोंको धारण करनेवाला होना चाहिये ॥ २८ । राजाका द्वाररक्षक और शिरोरक्षक भी ऐसे ही गुणोंवाला होना चाहिये २९ सन्धि विग्रह करानेवाला मन्त्री धर्मशास्त्रमें चतुर, बुद्धिमान् धीर लज्जाशील और छुपीहुई बातको गुप्तरखनेवाला होना चाहिये ३०

स्तथा सेनापतिर्भवेत् ॥ ३१ ॥ व्यूहयन्त्रायुधानां च तत्त्वज्ञो विक्रमान्वितः । वर्षशीतोष्णवातानां सहिष्णुः पररन्ध्रवित् ॥ ३२ ॥ विश्वासयेत् परांश्चैव विश्वसेच्च न कस्यचित् । पुत्रेष्वपि हि राजेन्द्र विश्वासो न प्रशस्यते ॥ ३३ ॥ एतच्छास्त्रार्थतत्त्वन्तु मया ख्यातं तवानघ । अविश्वासो नरेन्द्राणां गुह्यं परममुच्यते॥३४॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अमात्यविभागे पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥८५॥

युधिष्ठिर उवाच । कथंविधं पुरं राजा स्वयमावस्तुमर्हति । कृतं वा कारयित्वा वा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥ भीष्म उवाच। वस्तव्यं यत्र कौन्तेय सपुत्रज्ञातिबन्धुना । न्याय्यं तत्र परिप्रष्टुं वृत्तिं गुप्तिञ्च भारत ॥२॥ तस्मात्ते वर्त्तयिष्यामि दुर्गकर्म विशे-

अमात्य कुलीन, बलवान् और शुद्ध आचरणवाला प्रशंसा किया जाता है, सेनापति भी इन ही गुणोंसे भूषित होना चाहिये ३१। व्यूह रचना, यन्त्र और आयुधोंके तत्त्वको जाननेवाला पराक्रमी वर्षा, सर्दी, गर्मी तथा वायुको सहनेवाला और दूसरेके छिद्रोंको जाननेवाला होना चाहिये॥३२॥ राजा दूसरोंको विश्वास बनावे परन्तु स्वयं किसीका भी विश्वास न करे, हे राजेन्द्र ! राजा अपने पुत्रोंका विश्वास करे यह भी ठीक नहीं है ॥ ३३ ॥ हे निर्दोष राजन् ! मैंने तुझे यह नीतिशास्त्रका सार सुनादिया है, किसीका भी विश्वास न करना यह राजाओंका परमगुण कहा जाता है ॥ ३४ ॥ पिचासीवाँ अध्याय समाप्त ॥ ८५ ॥

युधिष्ठिरने बूझा कि–हे पितामह ! राजा कैसे नगरमें रहे, वह राजधानीके नगरमें रहे या स्वयं नया नगर बसाकर उसमें रहे, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥ भीष्मजीने कहा, कि–हे भरतवंशी राजन् ! पुत्र और संबन्धियोंके सहित जिस नगरमें रहना हो उस नगरकी रक्षाका तथा उसमें किसप्रकार रहना चाहिये इस

पतः । श्रुत्वा तथा विधानञ्चपनुष्ठेयञ्च यत्नतः ॥ ३ ॥ षड्विधं दुर्गमास्थाय पुराण्यथ निवेशयेत् । सर्वसम्पत्प्रधानं यद्वाहुल्यञ्चापि सम्भवेत् ॥ ४ ॥ धन्वदुर्गं महीदुर्गं गिरिदुर्गं तथैव च । मनुष्यदुर्गं मृद्दुर्गं वनदुर्गं च तानि षट् ॥ ५ ॥ यत्पुरं दुर्गसम्पन्नं धान्यायुधसमन्वितः । दृढप्राकारपरिखं हस्त्यश्वरथसंकुलम् ॥६॥ विद्वांसः शिल्पिनो यत्र निचयाश्च सुसञ्चिताः । धार्मिकश्च जनो यत्र दाक्ष्यमुत्तमपास्थितः ॥ ७ ॥ ऊर्जस्विनरनागाश्वं चत्वरापणशोभितम् । प्रसिद्धव्यवहारं च प्रशान्तमकुतोभयम् ॥ ८ ॥ सुप्रभं सानुनादं च सुप्रशस्तनिवेशनम् । शूराढ्य-

---

विषयका प्रश्न करना चाहिये ॥२॥ राजधानीके नगरका किला आदि कैसा बनावे और उसमें रक्षा किसप्रकार करे, यह मैं तुझे बताता हूँ, उसको सुनकर तू उद्योग करके ऐसा ही वर्त्ताव करना ॥ ३ ॥ जिसमें सबप्रकारकी सम्पत्ति बहुतसी भरी हो ऐसे छः प्रकारके किले बनवाकर फिर राजा नगरोंको बसावे॥४॥ धन्वदुर्ग (जिसके चारों ओर निर्जल स्थान हो), महीदुर्ग (सपाट स्थानका किला), गिरिदुर्ग (पहाड़के शिखर परका किला), मनुष्यदुर्ग (फौजी किला), मृत्तिकादुर्ग (मट्टीके टीलेका किला), और वनदुर्ग (घनी बाँसी आदिके जङ्गलका किला) ये छः प्रकारके किले हैं ॥ ५ ॥ राजा इनमेंका एक प्रकारका किला बनाकर अपने राजभक्त मन्त्री और सेनाके सहित उस नगरमें रहे, उस नगरके आस पास मजबूत दीवार (परकोटा) और खाई बनवावे, उसमें हाथी, घोडे और रथ रक्खे, शिल्पकलाके जाननेवाले विद्वान् पुरुष, अन्नके कुठार तथा धर्मनिष्ठ कार्यकुशल पुरुषोंको उसमें रक्खे, तेजस्वी पुरुष, हाथी और घोड़ेसे उसको भरपूर रक्खे, उसमें बड़े २ चौराहे और बाजार बनावे, उसमें धर्म और नीतिके साथ व्यापार और व्यवहार चलावे, उसको

जनसम्पन्नं ब्रह्मघोषानुनादितम् ॥९॥ समाजोत्सवसम्पन्नं सदा पूजितदैवतम् । वश्यामात्यबलो राजा तत्पुरं स्वयमाविशेत् १० तत्र कोशं बलं मित्रं व्यवहारञ्च वर्द्धयेत् । पुरे जनपदे चैव सर्वदोषान्निवर्त्तयेत् ॥ ११ ॥ भाण्डागारायुधागारं प्रयत्नेनाभिवर्द्धयेत् । निचयान् वर्द्धयेत् सर्वांस्तथा यन्त्रायुधालयान् ॥ १२ ॥ काष्ठलोहतुषाङ्गारदारुशृङ्गास्थिवैणवान् । मज्जास्नेहवशाक्षौद्रमौषधग्राममेव च ॥ १३ ॥ शणं सर्ज्जरसं धान्यमायुधानि शरांस्तथा । चर्म स्नायु तथा वेत्रं मुञ्जवल्वजबन्धनान् ॥ १४ ॥ आशयाश्चोपदानश्च प्रभूतसलिलाकराः । निरोद्धव्याः सदा राज्ञा क्षीरिणश्च महीरुहाः ॥१५॥ सत्कृताश्च प्रयत्नेन आचा-

शान्तिमय और निर्भय बनाये रहै, वह नगर चारों ओरसे दमकता हुआ, गाने बजानेके शब्दोंसे गुञ्जारता हुआ, अच्छे घरोंसे शोभायमान, शूरवीर और धनाढ्योंसे भरपूर, वेदध्वनिसे गूँजता हुआ, सभा और उत्सवोंसे युक्त और जहाँ सदा देवताओंकी पूजा होती हो ऐसा होना चाहिये॥ ६-१० ॥ उस नगरमें राजा धनके भण्डार, सेना, मित्र तथा लोकके साथ व्यवहार बढावे, नगरमेंसे और प्रान्तोंमेंसे हर प्रकारके बदमाशोंको निकाल देय ॥११॥ तहाँ पात्रोंके भण्डार, आयुधशालाएँ, अन्नके कुठार और यन्त्रशालाओंमें उन्नति करनेवालोंको नियत करे ॥ १२ ॥ काठ, लोहा, धानकी भूसी, कोयला, सींग, हड्डी, बाँस, मज्जा, तेल घी आदि स्नेह पदार्थ वसा औषधोंका समूह, सन, राल, धान्य, आयुध बाण, चमडा, ताँत, बेंत, मूँज और रामबाँसकी रस्सियोंका संग्रह रक्खे उसमें अधिक जलके तालाब और कूप आदि बनवावे और दूधवाले (वड पीपल आदि) वृक्षोंकी सदा रक्षा करे ॥१३-१५॥ आचार्य, ऋत्विज, पुरोहित, बड़े धनुषधारी घर आदि बनानेवाले, ज्योतिषी और वैद्य आदिका राजा

र्थर्त्विक्पुरोहिताः॥महेष्वासाः स्थपतयः सांवत्सरचिकित्सकाः१६
प्राज्ञा मेधाविनो दान्ता दक्षाः शूराः बहुश्रुताः। कुलीनाः सत्त्व-सम्पन्नाः युक्ताः सर्वेषु कर्मसु ॥ १७ ॥ पूजयेद्धार्मिकान् राजा निगृह्णीयादधार्मिकान्। नियुंज्याच्च प्रयत्नेन सर्ववर्णान् स्वकर्मसु ॥ १८ ॥ बाह्यमाभ्यन्तरं चैव पौरजानपदं तथा। चारैः सुविदितं कृत्वा ततः कर्म प्रयोजयेत् ॥ १९ ॥ चारान् मन्त्रञ्च कोशं च दण्डं चैव विशेषतः। अनुतिष्ठेत् स्वयं राजा सर्वं ह्यत्र प्रतिष्ठितम् ॥ २० ॥ उदासीनारिमित्राणां सर्वमेव चिकीर्षितम्। पुरे जनपदे चैव ज्ञातव्यं चारचक्षुषा ॥ २१ ॥ ततस्तेषां विधातव्यं सर्वमेव प्रमादतः। भक्तान् पूजयता नित्यं द्विषतश्च निगृह्णता ॥२२॥ यष्टव्यं क्रतुभिर्नित्यं दातव्यं चाप्यपीडया। प्रजानां

ध्यान देकर सत्कार करे ॥१६॥ प्राज्ञ (शास्त्रके अर्थको जानने वाले), बुद्धिमान्, जितेन्द्रिय चतुर वीर बहुश्रुत (अनुभवी) कुलीन बलवान् और सब कामोंको कर सकनेवाले धार्मिक पुरुषोंकी राजा पूजा करे, अधर्मियोंको दण्ड देय और सब वर्णोंके पुरुषोंको उद्योग करके अपने २ कर्मोंमें लगावे॥१७।१८. नगरवासी तथा देशवासियोंके बाहरी तथा भीतरी कामोंको दूतोंके द्वारा अच्छे प्रकारसे जानता रहे और तदनन्तर लोकहितका काम करे १९ दूत, मंत्र, भण्डार और (जिनको शासनके काम पर नियत किया हो) इन सबकी राजा अपने आप देखभाल करे, क्योंकि इनकी भलाई बुराई पर ही सब राज्यका आधार होता है २० राजा नगरमें और देशमें रहनेवाले तटस्थ, शत्रु और मित्रोंके सब कामोंको दूतोंके द्वारा जानता रहे ॥२१॥ और फिर राजा सावधान होकर उनके विषयमें जैसा वर्ताव करना हो करे, राजभक्तोंका सत्कार करे, राजद्रोहियोंको दण्ड देय ॥ २२ ॥ नित्य यज्ञ याग करे, किसीको भी दुःख न देकर दान देय,

रक्षणं कार्य्यं न कार्य्यं धर्मबाधकम् ॥ २३ ॥ कृपणानाथवृद्धानां विधवानांच योषिताम् । योगक्षेमं च वृत्तिं च नित्यमेव प्रकल्पयेत् ॥ २४ ॥ आश्रमेषु यथा कालं चैलभाजनभोजनम् । सदैवोपहरेद्राजा सत्कृत्याभ्यर्च्च्य मान्य च ॥ २५ ॥ आत्मानं सर्वकार्याणि तापसे राष्ट्रमेव च । निवेदयेत् प्रयत्नेन तिष्ठेत् प्रह्वश्च सर्वदा ॥२६॥ सर्वार्थत्यागिनं राजा कुले जातं बहुश्रुतम् । पूजयेत्तादृशं दृष्ट्वा शयनासनभोजनैः ॥२७॥ तस्मिन् कुर्वीत विश्वासं राजा कस्यांचिदापदि। तापसेषु हि विश्वासमपि कुर्वन्ति दस्यवः२८ तस्मिन्निधीनादधीत प्रज्ञां पर्याददीत च । न चाप्यभीक्ष्णं सेवेत

प्रजाकी रक्षा करे, परन्तु धर्ममें बाधा डालनेवाला कोई काम न करे ॥ २३ ॥ दीन, अनाथ, वृद्ध और विधवा स्त्रियोंका पोषण करे और उनकी आजीविका बाँधदेय ॥ २४ ॥ राजा आश्रमोंमें रहनेवाले तपस्वियोंका सदा सत्कार करे, उनकी पूजा करे, और समयानुसार वस्त्र, पात्र तथा भोजन भी देय ॥ २५ ॥ राजा पूर्ण सावधान रहकर अपने राज्यके तपस्वियोंको अपने शरीर संबन्धी अपने कार्यसंबन्धी और अपने राज्यके संबन्धका सब वृत्तान्त निवेदन करे,उनके सामने सदा नम्र होकर रहे ॥२६॥ जो तपस्वी कुलीन, बहुतसे शास्त्रोंको जाननेवाले और सब वस्तुओंका त्याग करनेवाले हों ऐसे तपस्वियोंको राजा सोनेके लिये शय्या, बैठनेको आसन और भोजनके लिये अन्न देकर उनकी सेवा करे ॥ २७ ॥ चाहे जैसे आपत्तिके समयमें भी राजा उनका विश्वास करे, चोर भी तपस्वियोंका विश्वास करते हैं ॥ २८ ॥ ऐसे तपस्वियोंको अपना भण्डार सौंपदेय और उनसे उपदेश लेय, परन्तु तपस्वियोंकी वारंवार (भण्डार आदि सौंपकर)सेवा न करे तथा हर अवसर पर पूजा भी न करे (क्योंकि-ऐसा करनेसे चोर उनको अवसर पाकर मारडालते

भृशं वा प्रतिपूजयेत् ॥ २९ ॥ अन्यः कार्य्यः स्वराष्ट्रेषु परराष्ट्रेषु चापरः । अटवीषु परः कार्य्यः सामन्तनगरेष्वपि ॥ ३० ॥ तेषु सत्कारमानाभ्यां सम्विभागांश्च कारयेत् । परराष्ट्राटवीस्थेषु यथा स्वविषये तथा ॥ ३१ ॥ ते कस्यांचिदवस्थायां शरणं शरणार्थिने । राज्ञे दद्युर्यथाकामं तापसाः संशितव्रताः ३२ एष ते लक्षणो देशः संक्षेपेण प्रकीर्त्तितः । यादृशे नगरे राजा स्वयमावस्तुमर्हति ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि
दुर्गपरीक्षायां षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

युधिष्ठिर उवाच । राष्ट्रगुप्तिं च मे राजन् राष्ट्रस्यैव तु संग्रहम् । सम्यग् जिज्ञासमानाय प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ १ ॥ भीष्म उवाच ।

हैं) ॥ २९ ॥ ऐसे विश्वासपात्र तपस्वियोंमेंसे चारको अपना मित्र बनाये रहे–एकको अपने राज्यमेंसे चुनलेय, एकको शत्रुके राज्यमेंसे चुने, एकको वनवासियोंमेंसे चुने और एकको अपने करद राजाओंके नगरोंमेंसे चुने ॥३०॥ अपने देशके तपस्वियोंके समान ही शत्रुके राज्यमें रहनेवाले तथा वनमें रहनेवाले तपस्वियोंका भी सत्कार करे,मान देय और उनका पोषण करे ३१ उत्तम आचरणवाले वे तपस्वी किसी (आपत्तिके) समय राजा शरणमें आता है तो उसको उसकी इच्छाके अनुसार आश्रय देते हैं॥ ३२ ॥ राजा स्वयं कैसे नगरमें निवास करे, इस विषयमें मैंने तुझे संक्षेपमें रहने योग्य नगरका लक्षण कह सुनाया है३३ छियासीवाँ अध्याय समाप्त ॥ ८६ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि–हे भरतवंशके श्रेष्ठ राजन् ! मैं देशकी रक्षाका उपाय और देशको वशमें करनेका उपाय अच्छेप्रकारसे जानना चाहता हूँ, आप कहिये ॥ १ ॥ भीष्मने कहा, कि–हे युधि-

राष्ट्रगुप्तिं च ते सम्यग्राष्ट्रस्यैव तु संग्रहम् । हन्त सर्वं प्रवक्ष्यामि तत्त्वमेकमनाः शृणु ॥ २ ॥ ग्रामस्याधिपतिः कार्यो दशग्राम्यास्तथाऽपरः । द्विगुणायाः शतस्यैवं सहस्रस्य च कारयेत् ॥ ३ ॥ ग्रामेयान् ग्रामदोषांश्च ग्रामिकः प्रतिभावयेत् । तान् ब्रूयाद्द दशपायासौ स तु विंशतिपाय वै ॥४॥ सोपि विंशत्यधिपतिर्वृत्तं जानपदे जने । ग्रामाणां शतपालाय सर्वमेव निवेदयेत्॥५यानि ग्राम्याणि भोज्यानि ग्रामिकस्तान्युपाश्नियात् । दशपस्तेन भर्त्तव्यस्तेनापि

हिर ! राज्यकी अच्छेप्रकार रक्षा किसप्रकार कीजासकती है और राज्यको वशमें किसप्रकार किया जासकता है, यह सब कहता हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुन ॥ २ ॥ हरएक ग्रामका एक अधिपति बनावे, ऐसे दश ग्रामाधिपतियोंके ऊपर एक और अधिपति नियत करे, ऐसे दो अधिपतियोंके ऊपर (बीस ग्रामोंकी देखभालके लिये) और एक अधिपति नियत करे, ऐसे पाँच अधिकारियोंके ऊपर (सौ ग्रामोंकी देखभालके लिये) और एक अधिपति नियत करे और ऐसे दश अधिकारियोंके ऊपर (एक हजार ग्रामोंकी देखभाल करनेवाला)और एक अधिपति नियत करे ॥३॥ एक ग्रामका अधिपति अपने ग्रामके मनुष्योंकी रीतिभाँति और ग्राममें जो २ अपराध हों वे सब दश ग्रामके अधिपतिसे निवेदन करे, दश ग्रामका अधिपति अपने अधीन दश ग्रामोंके मनुष्योंकी रीति भाँति और दश ग्रामोंके अपराध बीस ग्रामोंके अधिपतिसे निवेदन करे,बीस ग्रामका अधिपति अपने अधीन ग्रामोंमेंके सब अपराध सौ ग्रामके अधिपतिसे निवेदन करे, और वह हजार ग्रामके अधिपतिसे निवेदन करे ॥ ४-५ ॥ एक गाँवका नायक अपने गाँवमें जो पैदावार हो तो उसकी देखभाल रक्खे और अपने भागमें जो जो वस्तुएँ आवें उनका उपभोग करे तथा वह अपने भागके अनुसार दश गाँवके अधिपतिको पोषण करनेका भाग देय

द्विगुणाधिपः ॥ ६ ॥ ग्रामं ग्रामशताध्यक्षो भोक्तुमर्हति सत्कृतः । महान्तं भरतश्रेष्ठ सुस्फीतं जनसंकुलम् ॥ ७ ॥ तत्र ह्यनेकपायत्तं राज्ञो भवति भारत । शाखानगरमर्हस्तु सहस्रपतिरुत्तमः ॥ ८ ॥ धान्यहैरण्यभोगेन भोक्तुं राष्ट्रीयसङ्गतः । तेषां संग्रामकृत्यं स्याद्ग्रामकृत्यं च तेषु यत् ॥ १० ॥ धर्मज्ञः सचिवः कश्चित्तत्प्रपश्येदतन्द्रितः । नगरे नगरे वा स्यादेकः सर्वार्थचिन्तकः ॥ १० ॥ उच्चैः स्थाने घोररूपो नक्षत्राणामिव ग्रहः । भवेत् स तान् परि-

दश ग्रामका अधिपति अपने अधीन ग्रामोंमेंसे जो लेय, उसमेंसे बीस गाँवके अधिपतिको पोषणके लिये भाग देय ॥ ६ ॥ सौ गाँवके अध्यक्षको राजा मान देय और उसको सन्मानके साथ एक गाँवकी आमदनी भोगनेका अधिकार देय, हे भरतसत्तम ! यह गाँव बहुत बड़ा, समृद्धिवाला और अच्छी बसतीवाला होना चाहिये ॥ ७ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! निर्वाहके लिये दियेहुए इस गाँवका प्रबन्ध हजार गाँवके अधिपतिके अधिकारमें होना चाहिये (कि-जिससे उसमें बसनेवाली प्रजा सताई न जाय) हजार गाँवका अधिपति एक साधारण नगर (कस्बे)की आमदनीसे अपना निर्वाह करे ॥ ८ ॥ वह नगरवासियोंके साथ रहकर धान्य और सोनेकी जो आय हो उसका आजीविकाके रूपमें उपभोग करे, युद्ध सम्बन्धी कार्योंकी तथा राज्यके भीतरके कार्योंकी देख भाल रक्खे, एक नीतिको जाननेवाला मन्त्री सावधान रहकर कामकाजका ढङ्ग और सब अधिकारियोंके आपसके सम्बन्धकी देखभाल रक्खे, हरएक नगर (जिले)में एक ऐसा अधिकारी नियत करे, कि-जो अपने अधिकारमेंके सब काम पर दृष्टि रक्खे ॥ ९-१० ॥ जैसे नक्षत्रमण्डलमें एक महाभयानक ग्रह ऊँचे स्थानपर रहता है तैसे ही वह पुरुष अपने अधीन रहनेवाले सब अधिकारियोंके ऊपर विराजकर उन सबोंके कामोंकी देखभाल

कामेतत्सर्वानेव सभासदः ॥ ११ ॥ तेषां वृत्तिं परिणयेत् कश्चि-द्राष्ट्रेषु तच्चरः । जिघांसवः पापकामाः परस्वादायिनः शठाः १२ रक्षाभ्यधिकृता नाम तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः । विक्रयं क्रयम-ध्वानं भक्तं च सपरिच्छदम् ॥१३॥ योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजां कारयेत् करान् । उत्पत्तिं दानवृत्तिं च शिल्पं संप्रेक्ष्य चासकृत्१४ शिल्पं प्रतिकरानेवं शिल्पिनः प्रतिकारयेत् । उच्चावचकरा दाप्या महाराज्ञा युधिष्ठिर ॥ १५ ॥ यथा यथा न सीदेरंस्तथा कुर्या-न्महीपतिः । फलं कर्म्म च संप्रेक्ष्य ततः सर्वं प्रकल्पयेत् ॥१६॥ फलं कर्म्म च निर्हेतु न कश्चित् संप्रवर्त्तते । यथा राजा च कर्त्ता

रक्खे ११ और देशमें फिरनेवाले दूतके द्वारा देशके अधिकारियोंके वर्त्तावको भी जानता रहे, रक्षाके लिये नियत कियेहुए अधिकारी यदि हिंसक स्वभावके, क्रूर कर्म करनेके अभिलाषी, लोगोंका धन छीननेवाले और खोटे हों तो राजा उनसे प्रजाकी रक्षा करे मालके खरीदने और बेचनेका हिसाब रक्खे, मार्गकी दशापर ध्यान रक्खे, अन्न कैसा मिलता है, वस्त्र कैसे पहरते हैं, व्या-पारमें लाभ है या हानि है, इस सबकी देखभाल करके व्या-पारियोंके ऊपर कर लगावे ॥ १२-१३ ॥ सदा सुनार लुहार आदि शिल्पियोंकी वृद्धि, आमदनी और खर्च, उनका नफा टोटा तथा शिल्पकलाकी दशा देखकर राजा उनके ऊपर कर लगावे १४ हे युधिष्ठिर ! राजाकी इच्छा होय तो अधिक कर लगा दैय, परंतु ऐसा कर कभी न लगावे, कि-जिससे प्रजा दुखजाय ॥१५॥ पदार्थ बनानेमें निजी परिश्रमका खरच अलग करके केवल नफेके ऊपर कर लगावे ॥ १६ ॥ कोई भी पुरुष प्रयोजनके विना या फलके लाभके विना किसी कारोबारको करनेमें प्रवृत्त नहीं होता है, इसलिये राजा तथा कार्यका करनेवाला दोनों नफेके समान भागी हों, ऐसा विचार करके ही राजा नित्य कर

च स्यातां कर्मणि भागिनौ॥१७॥समवेक्ष्य तु तथा राज्ञा प्रणेयाः सततं कराः। नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चापि तृष्णया १८ ईहाद्वाराणि संरुध्य राजा संप्रीतदर्शनः। प्रद्विषन्ति परिख्यातं राजानमतिखादिनम्॥ १९ ॥ प्रद्विष्टस्य कुतः श्रेयो नाप्रियो लभते फलम्। वत्सौपम्येन दोग्धव्यं राष्ट्रमक्षीणबुद्धिना ॥२०॥ भृतो वत्सो जातबलः पीडां सहति भारत। न कर्म कुरुते वत्सो भृशं दुग्धो युधिष्ठिर॥ २१ ॥ राष्ट्रमप्यतिदुग्धं हि न कर्म कुरुते महत्। यो राष्ट्रमनुगृह्णाति परिरक्षन् स्वयं नृपः॥ २२ ॥ सञ्जा-

लगावे, परन्तु अधिक तृष्णासे (लोभमें पडकर) ऐसा न कर लगावे, कि-जिससे अपने आधाररूप देशका तथा प्रजाके आधाररूप खेती बाडीका नाश होजाय, किन्तु राजा अपनी तृष्णाको रोककर प्रजाका प्रीतिपात्र बने, जो राजा प्रजाके ऊपर बड़े २ कर लगाकर उसको चूसलेता है अर्थात् महालोभी बन जाता है उसको प्रजा घृणाकी दृष्टिसे देखती है ॥ १७-१९ ॥ प्रजाके धिक्कारे हुए राजाका भला कैसे होसकता है? जो राजा प्रजाको अप्रिय होजाता है उसको प्रजासे किसीप्रकारका फल नहीं मिलता है, जैसे बछडा धीरे २ गौका दूध पीता है तैसे ही बुद्धिमान् राजा धीरे २ देशमेंसे कररूप दूध दुहै ॥२०॥हे भरत-वंशी राजन्।यदि बछड़ेको दूध पीनेको दियाजाता है तो वह बल-वान् होकर बोझा उठा सकता है, परन्तु हे युधिष्ठिर! जैसे गौको विशेष दुहलियाजाय और बछड़ेका पोषण न किया जाय तो वह असमर्थ और दुबला होजाता है और वह अच्छे प्रकारसे अपना काम नहीं करसकता है॥ २१ ॥ ऐसे ही देशमेंसे भी बहुतसा दुहलिया जाय अर्थात् बड़े २ कर लगाकर उसको निर्बल करदियाजाय तो वह राजा बडाभारी काम नहीं करसकता; जो राजा स्वयं अपने देशके ऊपर अनुग्रह करके (विचारके

तमुपजीवन् स लभते सुमहत्फलम् । आपदर्थं च निर्यातं धनं त्विह विवर्धयेत् ॥ २३ ॥ राष्ट्रञ्च कोशभूतं स्यात् कोशो वेश्मगतस्तथा । पौरजानपदान् सर्वान् संश्रितोपाश्रितांस्तथा । यथाशक्त्यनुकम्पेत सर्वान् स्वल्पधनानपि ॥ २४ ॥ बाह्यं जनं भेदयित्वा भोक्तव्यो मध्यमः सुखम् । एवं नास्य प्रकुप्यन्ति जनाः सुखितदुःखिताः॥२५॥ प्रागेव तु धनादानमनुभाष्य ततः पुनः । सन्निपत्य स्वविषये भयं राष्ट्रे प्रदर्शयेत् ॥२६॥ इयमापत् समुत्पन्ना परचक्रभयं महत् । अपि चान्ताय कल्पन्ते वेणोरिव फला-

साथ कर लगाकर) उसकी रक्षा करता है और उसमेंसे मिलने वाली आमदनीसे अपनी आजीविका चलाता है उस राजाको बड़ा फल (महालाभ) होता है (ऐसा वर्त्ताव करनेसे) जिस समय राज्यके ऊपर आपत्ति आपडती है तब उस राजाको (प्रजासे) बहुतसा धन मिलता है ॥२२॥ २३॥ रक्षा किया हुआ सब देश ही भण्डाररूप होजाता है और उसका भण्डार एक शयन करनेके घरसा मानाजाता है, परन्तु जिस नगरके लोग, देशके लोग तथा सब आश्रित लोग थोड़े धन वाले होते हों और वे उसी समय या धीरे २ (व्यापार व्यवहारके लिये) सहायता माँगते हों तो उन सबोंकी राजा शक्तिके अनुसार रक्षा करे ॥ २४ ॥ केवल जङ्गली लुटेरोंको वशमें रखकर नगरके मनुष्योंसे उस रक्षाके बदलेमें कर लेने पर लोग उस राजाके दुःखमें दुःख और सुखमें सुख मानकर राजाके ऊपर प्रसन्न रहते हैं ॥ २५ ॥ जब धनकी आवश्यकता हो तो राजा पहले अपनी प्रजासे कहे, कि-चोरोंको दण्ड देनेके लिये सेना नियत कीजायगी, उसके लिये धन चाहिये, ऐसी सूचना देनेके बाद राजा मुख्य २ गाँवोंमें जाकर वहाँ रहनेवाले लोगोंको भय दिखावे ॥ २६ ॥ उनसे कहे, कि-तुम्हारे ऊपर आपत्ति आने

गमाः ॥ २७ ॥ अरयो मे समुत्थाय बहुभिर्दस्युभिः सह । इद-मात्मवधायैव राष्ट्रमिच्छन्ति बाधितुम् ॥२८॥ अस्यामापदि घोरायां सम्प्राप्ते दारुणे भये । परित्राणाय भवतः प्रार्थयिष्ये धनानि वः ॥ २९ ॥ प्रतिदास्ये च भवतां सर्वं चाहं भयक्षये । नारयः प्रति दास्यन्ति यद्धरेयुर्बलादितः ॥३०॥ कलत्रमादितः कृत्वा सर्वं वो विनशेदिति । अपि चेत्पुत्रदारार्थमर्थसञ्चय इष्यते ॥ ३१ ॥ नन्दामि वः प्रभावेण पुत्राणामिव चोदये । यथाशक्त्युपगृह्णामि राष्ट्रस्यापीडया च वः ॥ ३२ ॥ आपत्स्वेव हि वोढव्यं

वाली है, दूसरे देशके राजाकी ओरसे बडाभारी भय आनेवाला है, परन्तु बाँसीमें आनेवाले फल जैसे तुरन्त ही नष्ट होजाते हैं, तैसे ही उस आपत्तिका नाश होजायगा ॥ २७ ॥ मेरे बहुतसे शत्रु लुटेरोंके साथ मिलकर मेरे देशको विपत्तिमें डालनेके लिये चढकर आरहे हैं, परन्तु ऐसा करनेसे उनका अपना ही नाश होगा ॥ २८ ॥ यह महाभयानक आपत्ति आपडी है इस समय तुम्हारी रक्षा करनेके लिये मैं तुमसे धन माँगता हूँ ॥ २९ ॥ जब भय मिटजायगा तब मैं तुम्हें सब धन लौटादूँगा, परन्तु शत्रु तुमसे (यदि मेरे पास सेना तयार न होगी और वह जीत जायगा तो तुम्हारा धन लूटकर लेजायगा और) जो धन बलात्कारसे लूटकर लेजायगा वह धन तुम्हें फिर लौटा कर नहीं देगा ॥ ३० ॥ कदाचित् तुम कहोगे, कि–हमने अपने पुत्र और स्त्रियोंके लिये धन इकट्ठा किया है (वह तुम्हें कैसे देदें ?) तो इसका उत्तर यह है, कि–(रक्षाके बिना) तुम्हारे स्त्री पुत्र आदि सबका नाश होजायगा ॥३१॥ इसलिये इस समय यदि तुम मुझे सहायता दोगे तो मैं अपनी शक्तिके अनुसार तुम्हें और देशको पीडा न देकर तुम्हारे और देशके ऊपर अनुग्रह करूँगा और मेरा उदय हुआ कि अपने प्रभावसे तुम्हें

भवद्भिः पुङ्गवैरिव । न च प्रियतरं कार्य्यं धनं कस्यांचिदापदि ३३
इति वाचा मधुरया श्लक्ष्णया सोपचारया । स्वरश्मीनभ्यवसृजे-
द्योगमाधाय कालवित् ॥ ३४ ॥ प्राकारं भृत्यभरणं व्ययं संग्रा-
मतो भयम् । योगक्षेमञ्च संप्रेक्ष्य गोमिनः कारयेत् करम्॥३५॥
उपेक्षिता हि नश्येयुर्गोमिनोरण्यवासिनः । तस्मात्तेषु विशेषेण
मृदुपूर्वं समाचरेत् ॥ ३६ ॥ सान्त्वनं रक्षणं दानमवस्था चाप्य-
भीक्ष्णशः । गोमिनां पार्थ कर्त्तव्यः संविभागः प्रियाणि च ३७
अजस्रमुपयोक्तव्यं फलं गोमिषु भारत । प्रभावयन्ति राष्ट्रस्य

पुत्रोंकी समान प्रसन्न करूँगा ।३२। आपत्तिके समयमें तो जैसे महाबलवान् बैल बोझ उठाता है तैसे ही तुम्हें भी आपत्तिका भार उठाना चाहिये (सहायता करनी चाहिये) हरएक आपत्तिमें मनुष्य धनको प्यारा न समझे ॥३३ ॥ समयको जाननेवाला राजा इस प्रकार मधुर उपचारवाली और परम कोमल वाणीद्वारा प्रजासे धन पानेके लिये धन पानेका उपाय करके अपने तेजरूप प्रति-निधिको सुरक्षित करनेके लिये कर लगाकर प्रजासे धन लेय३४ नगर और किले बनानेके लिये,राजाके सेवकोंके भरण पोषणके लिए तथा शत्रुकी चढाईसे होनेवाले भयका और उस भयमेंसे रक्षा करनेकी तथा सुख शान्तिमें रखनेकी कितनी आवश्यकता है इस बातको दिखाकर व्यापारियोंसे कर लेय॥३५॥ जो राजा व्यापारियोंके साथ विचारहीनतासे वर्त्ताव करता है तो वे घबड़ा जाते हैं और उस राजाको छोड़कर वनमें चलेजाते हैं, इसलिए राजा व्यापारियोंके साथ बहुत ही कोमलताका वर्त्ताव करे ३६ हे कुन्तीनन्दन ! व्यापारियोंको नित्य धीरज देता रहे,उनकी रक्षा करे समय २ पर उनको ईनाम देय,उनकी दशाकी क्षण २ देखता रहे, उनका पोषण करे और उनके (व्यापारकी वृद्धिकरनेवाले) मनके काम करे३७हे भरतवंशी राजन्!व्यापारियोंको नित्य उनके

व्यवहारं कृषिन्तथा ॥ ३८ ॥ तस्माद्गोपिषु यत्नेन प्रीतिं कुर्याद्विचक्षणः । दयावानप्रमत्तश्च करान् संप्रणयेन्मृदून् ॥ ३९ ॥ सर्वत्र क्षेमचरणं सुलभं नाम गोपिषु । न ह्यतः सदृशं किञ्चिद्वरमस्ति युधिष्ठिर ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि राष्ट्रगुप्त्यादिकथने सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

युधिष्ठिर उवाच । यदा राजा समर्थोऽपि कोशार्थी स्यान्महामते । कथं प्रवर्त्तेत तदा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥ भीष्म उवाच । यथा देशं यथाकालं यथाबुद्धि यथाबलम् । अनुशिष्यात् प्रजा राजा धर्मार्थी तद्धिते रतः ॥ २ ॥ यथा तासाञ्च मन्येत श्रेय आत्मन एव च । तथा कर्माणि सर्वाणि राजा राष्ट्रेषु वर्त्तयेत् ॥ ३ ॥ मधुदोहं दुहेद्राष्ट्रं भ्रमरा इव पादपम् । वत्सापेक्षी दुहेच्चैव स्तनांश्च

परिश्रमका बदला देय, कि जिससे वे देशकी, व्यवहारकी तथा खेतीकी वृद्धि करें ॥ ३८ ॥ चतुर राजा दयालु और सावधान होकर व्यापारी सहन करसकें ऐसा कर लगावे और उद्योग करके उनके साथ प्रीति रक्खे ॥ ३९ ॥ कि-जिससे हे युधिष्ठिर! व्यापारी कुशलपूर्वक सर्वत्र फिरसकें राजाके लिए इससे श्रेष्ठ और कोई काम नहीं है ॥ ४० ॥ सत्तासीवाँ अध्याय समाप्त ८७

युधिष्ठिरने बूझा कि-हे महामति भीष्म पितामह ! राजा पूर्ण रीतिसे समर्थ होय तो भी उसको धनका भण्डार इकट्ठा करनेकी इच्छा होय तो वह कौनसा उपाय करे, यह मुझे बताइये १ भीष्मने कहा, कि-धर्मका सम्पादन करना चाहनेवाला राजा प्रजाका हित करनेके लिये उद्यत होकर देश और काल तथा अपनी बुद्धि और बलके अनुसार प्रजाका पालन करे ॥ २ ॥ अपने देशमें ऐसे कार्योंका आरम्भ करे, कि-जिसमें प्रजाका और अपना कल्याण हो ॥३॥ और जैसे भौंरे वृक्षमेंसे मधुको

न विकुट्टयेत् ॥ ४ ॥ जलौकावत् पिबेद्राष्ट्रं मृदुनैव नराधिपः । व्याघ्रीव च हरेत पुत्रान् सन्दशेन्न च पीडयेत्॥५॥ यथा शल्यकवानाखुः पदं धूनयते सदा । अतीक्ष्णेनाभ्युपायेन तथा राष्ट्रं समापिबेत्॥६॥अल्पेनाल्पेन देयेन वर्द्धमानं प्रदापयेत् । ततो भूयस्ततो भूयः क्रमवृद्धिं समाचरेत् ॥ ७ ॥ दमयन्निव दम्यानि शश्वद्भारमभिवर्द्धयेत् । मृदुपूर्वं प्रयत्नेन पाशानभ्यवहारयेत् ॥८॥ सकृत्पाशावकीर्णास्ते न भविष्यन्ति दुर्दमाः । उचितेनैव भोक्त-

चूसलेते हैं तैसे ही राजा भी अपने देशमेंसे कररूप मधुको धीरे२ इकट्ठा करे, जैसे बछडा गौके स्तनको न काटकर दूध पीता है तैसे ही प्रजाका राजा संहार न करके उससे कर वसूल करे४जोंककी समान राजा कोमलताके साथ राज्यमेंसे करको दुहै जैसे बाघिन अपने पुत्रको दाँतोंसे उठालेती है परन्तु उसके शरीरमें दाँत नहीं चुभनेदेती ऐसे ही राजा भी इसप्रकार कर वसूल करे, कि-जिसमें प्रजाको पीड़ा न हो ॥ ५ ॥ जैसे तीखे दाँतोंवाला चूहा सोयेहुए मनुष्यके पैरके मांसको ऐसी कोमलतासे काटलेता है, कि सोयाहुआ मनुष्य साधारण पीड़ासे अपने पैरको जरा २ हिलाता है परन्तु तीव्र वेदना होकर जागता नहीं है,तथा चूहेको भगाता भी नहीं है, ऐसे ही राजा भी कोमल उपाय करके प्रजासे कर लेय, कि-जिससे प्रजा दुःखी न होय तथा तिरस्कार भी न करे ॥ ६ ॥ राजा थोड़ा २ कर लेकर पीछे धीरे २ बढ़ावे,ऐसे धीरे २ क्रमसे करमें इसप्रकार वृद्धि करे, कि-जो उचित मालूम हो ॥ ७ ॥ पुरुष जैसे बछड़ोंके टोलेको नाथकर पीछे धीरे २ उनके ऊपर बोझा लादनें लगता है और नित्य २ उसको बढाता चलाजाता है, ऐसे ही राजा भी उद्योगसे कोमलताके साथ प्रजाके गलेमें करकी फाँसी धीरे २ डाले८यदि एकदम फाँसी (जोत) डालदी जाती है तो वह बछड़ा वशमें न होकर उपद्रव मचाता

व्याले प्रविष्यन्ति यत्नतः ॥९॥ तस्मात् सर्वः समारम्भो दुर्लभः
पुरुषं प्रति । यथा मुख्यान् सान्त्वयित्वा भोक्तव्य इतरो जनः१०
ततस्तान् भेदयित्वा तु परस्परविवर्जितान् । भुञ्जीत सान्त्वयं-
श्चैव यथासुखमयत्नतः ॥११॥ न चास्थाने न चाकाले करां-
स्तेभ्यो निपातयेत् । आनुपूर्व्येण सान्त्वेन यथाकालं यथाविधि१२
उपायान् प्रब्रवीम्येतान्न मे माया विवक्षिता । अनुपायेन दमयन्
प्रकोपयति वाजिनः ॥ १३ ॥ पानागारनिवेशाश्च वेश्याः प्राप-
णिकास्तथा । कुशीलवाः सकितवाः ये चान्ये केचिदीदृशाः १४

हुआ मरजाता है, परन्तु यदि क्रमसे उसके गलेमें फाँसी डाली जाती है तो वह वशमें होजाता है, ऐसे ही प्रजाको भी उचितरीतिसे वशमें करलियाजाता है तो वह वशमें होजाती है ॥ ९ ॥ इस प्रकार हरएक मनुष्यको वशमें करनेका प्रयत्न दुर्लभ है, परन्तु मुख्य २ मनुष्योंको समझाके और फिर साधारण मनुष्योंको अपने वशमें करे ॥ १० ॥ जिन मनुष्योंको वशमें करना हो और जो करके भारको सहसकते हों उनमें उनके अग्रणियोंके द्वारा भेद डलवावे, फिर राजा बीचमें पड़कर उनको समझाकर शान्त करे और अपनेको जोकुछ चाहिये वह बिना प्रयत्नके ही पाकर राजा सुखका उपभोग करे ॥ ११ ॥ जो कर देनेके अयोग्य हो उससे कर न लेय, आवश्यकताके बिना कर न लेय, किन्तु क्रमसे समझाकर समय देखकर रीतिके अनुसार प्रजासे कर लेय १२ मैं तुझे जो उपाय बताता हूँ वह राजाकी युक्ति है, कपट नहीं है किन्तु कर लेनेकी नीति है, जो मनुष्य बिना उपायके घोड़ेको वशमें करने लगता है वह दुष्ट घोड़ेको कुपित करदेता है, ऐसे ही राजा प्रजासे युक्तिके बिना कर लेता है तो प्रजा राजाके ऊपर कुपित होजाती है १३ शराबकी हट्टियें, वेश्याएं, खबर पहुँचाने वाली कुटनियें, नट, जुआखिलानेवाले और ऐसे ही दूसरे

नियम्याः सर्व एवैते ये राष्ट्रस्योपघातकाः । एते राष्ट्रमभितिष्ठन्तो बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ॥ १५ ॥ न केनचिद्याचितव्यः कश्चित् कस्यांचिदापदि । इति व्यवस्था भूतानां पुरस्तान्मनुना कृता १६ सर्वे तथानुजीवेयुर्न कुर्युः कर्म चेदिह । सर्व एव इमे लोका न भवेयुरसंशयम् ॥१७॥ प्रभुर्नियमने राजा य एतान्न नियच्छति । भुङ्क्ते स तस्य पापस्य चतुर्भागमिति श्रुतिः ॥ १८ ॥ भोक्ता तस्य तु पापस्य सुकृतस्य यथा तथा । नियन्तव्याः सदा राज्ञा पापा ये स्युर्नराधिप ॥ १९ ॥ कृतपापस्त्वसौ राजा य एतान्न नियच्छति । तथा कृतस्य धर्मस्य चतुर्भागमुपाश्नुते २० स्थानान्येतानि संयम्य प्रसङ्गा भूतिनाशनाः । कामे प्रसक्तः पुरुषः

लोग जो देशका नाश करनेवाले हों उनको दण्ड देकर नियममें रक्खो,ये लोग यदि देशमें रहते हैं तो देशकी भलीमानस प्रजाको दुःख देते हैं ॥ १४-१५ ॥ मनुने स्वयं लोगोंके विषयमें ऐसी व्यवस्था की है, कि-अच्छे समयमें राजा किसी पुरुषसे भी धन (व्याजपर)या(अधिक)कर न लेय तथा कोई मनुष्य आपत्तिकालके बिना किसीसे याचना न करे॥ १६ ॥ सब मनुष्य यदि काम न करें किन्तु भीख माँगकर अपना समय बितावें तो वास्तवमें ये सब लोग नष्ट होजायँ ॥१७॥ वेदमें कहा है, कि-लोगोंको वशमें रखनेका काम राजाका है,तोभी जो राजा प्रजाको नियममें नहीं रखता है उस राजाको लोगोंके पापका एक चौथाई भाग भोगना पड़ता है ॥ १८ ॥ जैसे राजा पापका एक चौथाई भाग भोगता है तैसे ही पुण्यका भी एक चौथाई भाग भोगता है, इसलिये हे राजन् ! राजाको पापियोंको सदा दण्ड देकर नियममें रखना चाहिये ॥ १९ ॥ पापियोंको नियममें न रखनेवाला राजा जैसे पापका भागी होता है ऐसे ही प्रजाको नियममें रखनेवाले राजाको प्रजाके पुण्यका एक चौथाई मिलता है ॥ २० ॥ शराबकी हट्टी

किमकार्य्यं विवर्जयेत् ॥ २१ ॥ मद्यमांसपरस्वानि तथा दारा धनानि च । आहरेद्रागवशगस्तथा शास्त्रं प्रदर्शयेत् ॥२२॥ आपद्येव तु याचेरन् येषां नास्ति परिग्रहः । दातव्यं धर्मतस्तेभ्यस्त्वनुक्रोशाद्भयान्न तु ॥ २३ ॥ मा ते राष्ट्रे याचनका भूवन्मा चापि दस्यवः । एषां दातार एवैते नैते भूतस्य भावकाः ॥ २४ ॥ ये भूतान्यनुगृह्णन्ति वर्द्धयन्ति च ये प्रजाः । ते ते राष्ट्रेषु वर्धन्तां मा भूतानामभावकाः ॥ २५ ॥ दण्ड्यास्ते च महाराज धनादानप्रयोजकाः । प्रयोगं कारयेयुस्तान् यथा बलिकरांस्तथा ॥ २६ ॥

आदि स्थानोंका प्रसङ्ग ऐश्वर्यका नाश करडालता है, इसलिये राजा शराबखाना आदि स्थानोंको देशमें न बनने देय. जो पुरुष विषयमें लिपटा रहता है वह मनुष्य कौनसे अकार्यको छोड सकेगा ? अर्थात् वह सब अकार्य करसकता है ॥ २१ ॥ जो (राजा) कामके वशमें होता है वह पुरुष मदिरा मांसका सेवन और दूसरेका धन स्त्री आदिका हरण करता है तथा देशमें ऐसा ही करनेकी आज्ञा देता है ॥२२॥ जिनका भीख माँगनेका धन्धा नहीं है, किन्तु आपत्तिके समयमें जो पुरुष याचना करते हैं उनको दया या भयसे नहीं किन्तु धर्म समझकर अन्न आदि देय ॥ २३ ॥ मैं चाहता हूँ, कि-तेरे देशमें भिखारी और चोर आदि न हों, क्योंकि-इनसे लोगोंका भला नहीं होता है, किन्तु वे लोगोंके धनको हरते हैं ॥ २४ ॥ जो प्राणियोंके ऊपर अनुग्रह करते हैं और जो प्रजाकी (सुख व्यापारकी) वृद्धि करते हैं ऐसे मनुष्य ही तेरे देशमें रहैं, और प्राणियोंका नाश करने वाले लोगोंकी वृद्धि न हो ॥ २५ ॥ अब जो अधिकारी प्रजासे नियमित करसे अधिक वसूल करते हों उनको हे महाराज ! तू दण्ड देना, अधिकारी कितना कर लेते हैं, इस बातकी दूसरे अधिकारियोंके द्वारा देखभाल करते रहना ॥ २६ ॥ खेती गो-

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं यच्चान्यत् किंचिदीदृशम् । पुरुषैः कारयेत् कर्म्म बहुभिः कर्म्मभेदतः ॥ २७ ॥ नरश्चेत् कृषिगोरक्ष्यं वाणिज्यञ्चाप्यनुष्ठितः । संशयं लभते किञ्चित्तेन राजा विगर्ह्यते २८ धनिनः पूजयेन्नित्यं पानाच्छादनभोजनैः । वक्तव्याश्चानुगृह्णीध्वं प्रजाः सह मयेति वै ॥ २९ ॥ अङ्गमेतन्महद्राज्ये धनिनो नाम भारत । ककुदं सर्वभूतानां धनस्थो नात्र संशयः ॥ ३० ॥ प्राज्ञः शूरो धनस्थश्च स्वामी धार्मिक एव च । तपस्वी सत्यवादी च बुद्धिमांश्चापि रक्षति ॥ ३१ ॥ तस्मात् सर्वेषु भूतेषु प्रीतिमान् भव पार्थिव । सत्यमार्ज्जवमक्रोधमानृशंस्यञ्च पालय ॥ ३२ ॥

रक्षा, व्यापार तथा ऐसे ही जो दूसरे काम हों उनको बहुतसे पुरुषोंके द्वारा कामके भेदके अनुसार कराना २७ खेती गोरक्षा, और व्यापार करनेमें यदि मनुष्यके ऊपर कुछ सङ्कट आपड़ता है तो राजाकी निन्दा होती है (इसलिये व्यापार आदि करने वालोंको लुटेरे चोर या अपने अधिकारियोंसे कुछ क्लेश न मिले इस बातकी राजाको सम्हाल रखनी चाहिये)॥२८॥ राजा भोजन पान तथा वस्त्रोंसे धनवानोंका नित्य सत्कार करे और उनसे कहे कि—तुम मेरे ऊपर तथा मेरी प्रजाके ऊपर अनुग्रह करना॥२९॥ हे भरतवंशी राजन् ! धनवान् पुरुष राज्यका बड़ा अङ्ग माने जाते हैं और वे सब लोगोंमें मुख्य भाग लेनेवाले होते हैं, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है ।३०। वीर, धनाढ्य, बहुतसे मनुष्योंका पालक, धर्मनिष्ठ, तपस्वी, सत्यवादी और बुद्धिमान् मनुष्य लोगोंकी रक्षा करसकता है ॥ ३१ ॥ इसलिये हे राजन् ! तू सब लोगोंके ऊपर प्रीति रखना और सत्यता, सरलता, क्रोध न करना तथा दयाभावको धारण कर ॥ ३२ ॥ इसप्रकार सत्य

एवं दण्डञ्च कोशञ्च मित्रं भूमिञ्च लप्स्यसि । सत्यार्जवपरो राजन्मित्रकोशबलान्वितः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कोशसञ्चयप्रकारकथनेऽष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥८८॥

भीष्म उवाच । वनस्पतीन् भक्ष्यफलान्न च्छिन्द्युर्विषये तव । ब्राह्मणानां मूलफलं धर्म्यमाहुर्मनीषिणः ॥ १ ॥ ब्राह्मणेभ्योऽतिरिक्तञ्च भुञ्जीरन्नितरे जनाः । न ब्राह्मणोपरोधेन हरेदन्यः कथञ्चन ॥ २ ॥ विप्रश्चेत्त्यागमातिष्ठेदात्मार्थे वृत्तिकर्शितः । परिकल्प्यास्य वृत्तिः स्यात् सदारस्य नराधिप ॥ ३ ॥ स चेन्नोपनिवर्त्तेत वाच्यो ब्राह्मणसंसदि । कस्मिन्निदानीं मर्यादामयं लोकः करिष्यति ॥४॥ असंशयं निवर्त्तेत न चेद्वक्ष्यत्यतः परम् ।

आदि धर्मको धारण करके दण्ड, खजाना, बन्धु मे मित्र और पृथिवीको प्राप्त करना तथा इन सबको पाकर नित्य सत्य भाषण करना और सरल रहना॥३२॥ अट्ठासीवाँ अध्याय समाप्त ८८

भीष्मजीने कहा, कि—हे युधिष्ठिर ! तू अपने देशमेंसे खाने योग्य फलोंवाले वृक्षोंको न कटवाना, क्योंकि—बुद्धिमान् कहगये हैं, कि—कन्द और मूल पवित्र आहार है ॥ १ ॥ ब्राह्मणोंके भोजन करनेसे जो बाकी बचे उसका दूसरोंको उपभोग करने देय, परन्तु ब्राह्मणोंको दुःख देकर दूसरे मनुष्य कभी उनकी वस्तुको न छीनने पावें ॥ २ ॥ और हे राजन् ! ब्राह्मण अपनी आजीविका न चलनेसे दूसरे देशको जाता हो तो राजा उसके परिवार सहित उसकी आजीविका बाँधदेय ॥ ३ ॥ आजीविका बाँधदेने पर भी यदि ब्राह्मण न रहे तो फिर राजा ब्राह्मणमण्डलीके सामने आकर उनसे कहे, कि—अमुक ब्राह्मण इस राज्यको छोड कर जाते हैं तो अब यह सब प्रजा किसके आधार पर अपनी मर्यादाको रखसकेगी ? ॥ ४ ॥ इतना कहने पर भी वह न रहे

पूर्वं परोक्तं कर्त्तव्यमेतत् कौन्तेय शाश्वतम् ॥५॥ आहुरेतज्जना ब्रह्मन्न चैतच्छ्रद्दधाम्यहम् । निमन्त्र्यश्च भवेद्भोगैरवृत्त्या च तदाचरेत् ॥६॥ कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं लोकानामिह जीवनम् । ऊर्ध्वं चैव त्रयी विद्या सा भूतान् भावयत्युत ॥ ७ ॥ तस्यां प्रवर्त्तमानायां ये स्युस्तत्परिपन्थिनः । दस्यवस्तद्वधायेह ब्रह्मा क्षत्रमथासृजत् ॥ ८ ॥ शत्रून् जय प्रजा रक्ष यजस्व क्रतुभिर्नृप । युध्यस्व समरे वीरो भूत्वा कौरवनन्दन ॥ ९ ॥ संरक्ष्यान् पालयेद्राजा स राजा राजसत्तमः । ये केचित्तान्न रक्षन्ति तैरर्थो नास्ति कश्चन ॥१०॥ सदैव राज्ञा योद्धव्यं सर्वलोकाद्युधिष्ठिर । तस्माद्धे-

और कुछ उत्तर न देय तो राजा उसकी प्रार्थना करे, कि—अगली पिछली भूल जाइये, क्षमा करिये, हे कुन्तीनन्दन ! यह राजाका सनातनधर्म है ॥ ५ ॥ और राजा उससे कहे, कि—हे ब्रह्मदेव ! लोग कहते हैं, कि—ब्राह्मणको निर्वाहसे अधिक न देय, परन्तु इस बात पर मेरी श्रद्धा नहीं है, ब्राह्मणकी आजीविका बाँधदेय और इतनेसे न माने तो उसको बुलाकर राजकीय ऐश्वर्य भोगने को कहकर भी राज्यमें रक्खे॥६॥खेती, पशुपालन और व्यापार यह मनुष्योंकी इस लोककी आजीविका है, परलोकके लिये वेद विद्या आजीविका है, जो प्राणियोंको सुख देती है ॥ ७ ॥ इस वेदविद्याका अध्ययन होते समय जो उसमें बाधा डालें वे दस्यु (प्रजाके शत्रु) हैं, उनके नाशके लिये ही ब्रह्माने क्षत्रिय जातिको रचा है ॥ ८ ॥ हे कुरुनन्दन राजा ! शत्रुओंको जीत, प्रजाकी रक्षाकर, यज्ञोंमे यजन कर और संग्राममें वीर होकर युद्ध कर ॥९॥ जो राजा रक्षा करने योग्य मनुष्योंकी रक्षा करता है वह श्रेष्ठ राजा कहलाता है और जो रक्षा योग्योंकी रक्षा नहीं करते, उनसे कोई लाभ नहीं है (जीतेहुये ही मरेके समान हैं) ॥ १० ॥ हे युधिष्ठिर ! राजा सब लोगोंके हितके लिये सदा युद्ध करे और

तोर्हि युञ्जीत मनुष्यानेव मानवः ॥ ११ ॥ आन्तरेभ्यः परान् रक्षन् परेभ्यः पुनरान्तरान् । परान् परेभ्यः स्वान् स्वेभ्यः सर्वान् पालय नित्यदा ॥१२॥ आत्मानं सर्वतो रक्षन् राजन् रक्षस्व मेदिनीम् । आत्ममूलमिदं सर्वमाहुर्वै विदुषो जनाः ॥ १३ ॥ किं छिद्रं कोऽनुषङ्गो मे किमवास्त्यविनिपातितम् । कुतो मामाश्रयेद्दोष इति नित्यं विचिन्तयेत् ॥ १४ ॥ अतीतदिवसे वृत्तं प्रशंसन्ति न वा पुनः । गुप्तैश्चारैरनुमतैः पृथिवीमनुसारयेत् ॥ १५ ॥ जानीयुर्यदि मे वृत्तं प्रशंसन्ति न वा पुनः । कच्चिद्रोचेज्जनपदे कच्चिद्राष्ट्रे च मे यशः ॥ १६ ॥ धर्मज्ञानां धृतिमतां संग्रामेष्वपलायिनाम् ।

लोगोंकी रक्षाके निमित्त शत्रुओंके चरित्र जाननेको दूत नियत करे ॥ ११ ॥ तू अपने अन्तरङ्ग पुरुषों (खास अधिकारियों) से दूसरोंकी और दूसरेसे अन्तरङ्गोंकी नित्य रक्षा करना, दूसरोंसे दूसरोंकी और अपनोंसे अपनोंकी भी नित्य रक्षा करना और प्रजाको प्रसन्न रखना ॥१२॥ और हे राजन् ! तू अपनी तो सबसे अधिक ध्यान देकर रक्षा करना और फिर पृथिवीकी रक्षा करना विद्वान् कहते हैं, कि-ये सब जब अपना देह होता है तब ही काम आते हैं ॥ १३ ॥ मेरे छिद्र क्या हैं ? मुझे कौनसा व्यसन लगाहुआ है, मेरी निर्बलताका कारण क्या है ? मुझमें दोष क्यों रहता है ? इन बातोंका नित्य विचार करना चाहिये ॥ १४ ॥ कल मैंने जो काम किये थे उनकी लोग प्रशंसा करते हैं या नहीं मेरे आचरणको जानकर लोग उस अच्छा कहते हैं या नहीं देशमें अथवा राज्यमें लोगोंको मेरा यश अच्छा लगता है या नहीं. यह सब जाननेके लिये राज्यमें गुप्त दूतोंको घुमाता रहे और प्रजाके सब विचारोंकी खबर रक्खे ॥१५-१६ ॥ धर्मको जाननेवाले धीरजवान्, संग्राममें पीछेको पैर न देनेवाले, देशमें आजीविका करके खानेवाले

राष्ट्रे तु ये न जीवन्ति ये तु राज्ञोनुजीविनः ॥१७॥ अमात्यानां च सर्वेषां मध्यस्थानाञ्च सर्वशः । ये च त्वाभिप्रशंसेयुर्निन्देयुरथ वा पुनः१८सर्वान् सुपरिणीतांस्तान् कारयेथा युधिष्ठिर । एकान्तेन हि सर्वेषां न शक्यं तात रोचितुम् । मित्रामित्रमथो मध्यं सर्वभूतेषु भारत ॥१९॥ युधिष्ठिर उवाच । तुल्यबाहुबलानां च तुल्यानाञ्च गुणैरपि । कथं स्यादधिकः कश्चित् स च भुञ्जीत मानवान् २० भीष्म उवाच । चचरा ह्यचरानद्युर्दंष्ट्रान् दंष्ट्रिणस्तथा । आशीविषा इव क्रुद्धा भुजगान् भुजगा इव ॥ २१ ॥ एतेभ्यश्चाप्रमत्तः स्यात् सदा शत्रोर्युधिष्ठिर । भारुण्डसदृशा ह्येते निपतन्ति प्रमादतः ॥ २२ ॥ कच्चित्ते वणिजो राष्ट्रे नोद्विजन्ति करार्दिताः ।

राजाके आश्रयमें जीवन बितानेवाले राजाके सब अमात्य और तटस्थोंमेंसे जो तेरी निंदा करें अथवा जो तेरी प्रशंसा करें, हे युधिष्ठिर! उन सबोंका तू सत्कार करना, हे तात! कोई बात सबोंको और सर्वथा अच्छी ही लगे यह नहीं होसकता, हे भारत! सब ही प्राणियोंमें मित्र, शत्रु और तटस्थ होते हैं ॥ १७-१९ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि-एकसमान बाहुबलवाले और गुणवान् होने पर भी उनमेंसे एक मनुष्य सबसे अधिक होकर उनके ऊपर आधिपत्य किसकारणसे करने लगता है १२०भीष्मजीने कहाकि-जैसे क्रोधमें भरेहुए विषधर सर्प दूसरे सर्पोंको खाजाते हैं, इस जगत्में पैरोंसे चलनेवाले प्राणी पैरोंसे न चलने वाले प्राणियोंको खाजाते हैं और डाढ़वाले बिना डाढवालोंको खाजाते हैं (इस नियमके अनुसार ही बलवान् राजा निर्बलोंके ऊपर आज्ञा चलाता है) ॥ २१ ॥ हे युधिष्ठिर! राजा सदा प्रजासे सावधान रहे तथा शत्रुओंसे भी सावधान रहे, यदि राजा असावधान(गाफिल) रहता है तो गिद्ध पक्षियोंकी समान वे एक दम धावा करदेते हैं२२ऊँचे भावसे या नीचे भावसे माल खरीदने वाले

क्षीयन्तो बहुनाल्पेन कान्तारकृतविश्रमाः ॥२३॥ कच्चित् कृषि-
करा राष्ट्रं न जहत्यतिपीडिताः । ये वहन्ति धुरं राज्ञां ते भरन्ती-
तरानपि ॥ २४ ॥ इतो दत्तेन जीवन्ति देवाः पितृगणास्तथा
मानुषोरगरक्षांसि वयांसि पशवस्तथा ॥ २५ ॥ एषा ते राष्ट्र-
वृत्तिश्च राज्ञां गुप्तिश्च भारत । एतमेवार्थमाश्रित्य भूयो वक्ष्यामि
पाण्डव ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि
एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

भीष्म उवाच । यानङ्गिराः क्षत्रधर्मानुतथ्यो ब्रह्मवित्तमः ।
मान्धात्रे यौवनाश्वाय प्रीतिमानभ्यभाषत ॥ १ ॥ स यथानुशा-
सैनमुतथ्यो ब्रह्मवित्तमः । तत्ते सर्वं प्रवक्ष्यामि निखिलेन युधि-
ष्ठिर ॥ २ ॥ उतथ्य उवाच । धर्माय राजा भवति न कामकर-

और व्यापारके लिये घूमतेहुए वनमें रहनेवाले व्यापारी तेरे देशमें करसे अधिक पीडा पाकर व्याकुल तो नहीं रहते हैं? २३ तेरे किसान भी करसे अधिक पीडा पाकर तेरे देशको छोड तो नहीं जाते हैं? किसान लोग राजाके भारको उठाते हैं और दूसरोंका भी पोषण करते हैं ॥ २४ ॥ देवता, पितर, मनुष्य, सर्प, राक्षस, पक्षी और पशु भी उनकी दीहुई वस्तुसे आजीविका करते हैं? ॥२५॥ हे भरतवंशकी सन्तान! तुझे देशके वर्त्तावका और राजाओंकी रक्षाका उपाय बतादिया और अब भी हे पाण्डव! इस ही विषयको मैं तुझसे कहता विस्तारके साथ हूँ ॥ २६ ॥ नवासीवाँ अध्याय समाप्त ॥ ८९ ॥ ॥

भीष्मजीने कहा, कि—हे युधिष्ठिर! ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ अङ्गिरस गोत्री उतथ्यने युवनाश्वके पुत्र मान्धाताके ऊपर प्रसन्न होकर उससे क्षत्रियके जोर धर्म कहे थे, उतथ्यके कहेहुए वे सब वचन मैं सुनाता हूँ ॥ १ ॥ २ ॥ उतथ्यने कहा, कि—हे मान्धाता! तू

णाय तु । मान्धातरिह जानीहि राजा लोकस्य रक्षिता ॥ ३ ॥ राजा चरति चेद्धर्मं देवत्वायैव कल्पते । स चेद्धर्मं न चरति नरकायैव गच्छति ॥ ४ ॥ धर्मे तिष्ठन्ति भूतानि धर्मो राजनि तिष्ठति । तं राजा साधु यः शास्ति स राजा पृथिवीपतिः ॥ ५ ॥ राजा परमधर्मात्मा लक्ष्मीवान् धर्म उच्यते । देवाश्च गर्हां गच्छन्ति धर्मो नास्तीति चोच्यते ॥ ६ ॥ स्वधर्मे वर्तमानानामर्थसिद्धिः प्रदृश्यते । तदेव मंगलं लोकः सर्वः समनुवर्त्तते ॥ ७ ॥ उच्छिद्यते धर्मवृत्तमधर्मो वर्त्तते महान् । भयमाहुर्दिवारात्रं यदा पापो न वार्यते ८ ममेदमिति नैवैतत् साधूनां तात धर्मतः । न वै व्यवस्था भवति

इतनी बात निश्चयके साथ जानले, कि-राजा धर्माचरण करनेके लिये ही जन्म लेता है, कामका उपभोग करनेको जन्म नहीं लेता है, क्योंकि-राजा लोकोंकी रक्षा करनेवाला है ॥ ३ ॥ राजा यदि धर्माचरण करता है तो देवतापनेको पाता है और अधर्मका आचरण करता है तो नरकमें पड़ता है ॥ ४ ॥ प्राणीमात्र धर्मके आधार पर ठहरे हुए हैं, यह धर्म राजाके आधारसे रहता है, जो राजा ऐसे धर्मकी अच्छे प्रकारसे रक्षा करता है वह पृथिवीका पति होता है ॥५॥ अत्यन्त धर्मात्मा और धनाढ्य राजा धर्मकी मूर्त्ति कहलाता है, परन्तु राजा यदि अधर्मको नहीं रोकता है तो देवता उसको छोड़जाते हैं और वह जगत्में अधर्मी कहलाता है ॥ ६ ॥ परन्तु जो राजा अपने धर्मका वर्त्ताव करता है उसके काम सिद्ध हुए देखनेमें आते हैं, और सब लोग भी अपनी उन्नतिके लिये उस ही माङ्गलिक धर्मका आचरण करते हैं ॥७॥ यदि राजा देशमें होतेहुए अधर्मको नहीं रोकता है तो धर्माचरण बन्द होकर जगत्में अधर्म फैलजाता है और प्रजा रातदिन भयमें रहती है ऐसा प्राचीन पुरुष कहते हैं ॥ ८ ॥ हे राजन् ! यदि देशमेंसे अधर्मको नहीं रोका जाता है तो महात्मा पुरुष 'यह

यदा पापो न वार्य्यते ॥ ९ ॥ नैव भार्य्या न पशवो न क्षेत्रं न निवेशनम् । संदृश्यते मनुष्याणां यदा पापबलं भवेत् । देवाः पूजां न जानन्ति न स्वधां पितरस्तदा॥१०॥ न पूज्यन्ते ह्यतिथयो यदा पापो न वार्य्यते । न वेदानधिगच्छन्ति व्रतवन्तो द्विजातयः ।११। न यज्ञांस्तन्वते विप्रा यदा पापो न वार्य्यते । वृद्धानामिव सत्त्वानां मनो भवति विह्वलम् ॥ १२ ॥ मनुष्याणां महाराज यदा पापो न वार्य्यते । उभौ लोकावभिप्रेक्ष्य राजानमृषयः स्वयम् ॥१३॥ असृजन् सुमहद्भूतमयं धर्मो भविष्यति । यस्मिन् धर्मो विराजेत तं राजानं प्रचक्षते॥१४॥यस्मिन् विलीयते धर्मस्तं देवा वृषलं विदुः। वृषो हि भगवान् धर्मो यस्तस्य कुरुते ह्यलम् । वृषलं तं विदुर्देवा-

---

मेरा है' ऐसा नहीं कहसकते तथा (राज्यमें और प्रजामें) कोई भी मर्यादा नहीं रहती है ॥ ९ ॥ जब मनुष्योंमें पापका बल बढ़ जाता है तब स्त्री, पशु, खेत, घर बार आदिका नाश होजाता है, देवताओंका यजन बन्द होजाता है और पितरोंके श्राद्ध भी नहीं होते ॥ १० ॥ यदि (राज्यमें) अधर्मको नहीं रोकाजाता है तो लोग अतिथियोंकी पूजा नहीं करते, द्विज जातिके मनुष्य ब्रह्मचर्य व्रतको धारण करके वेद नहीं पढ़ते॥११॥ऐसे ही यदि पापको नहीं रोकाजाता है तो ब्राह्मण यज्ञ नहीं करते,प्राणियोंके शरीर कटेहुए अस्तव्यस्त रहते हैं और प्रजाओंके मन व्याकुल रहते हैं ॥ १२ ॥ हे महाराज ! जब देशमें मनुष्योंके पाप नहीं रोकेजाते हैं तब ऋषि इस लोकका तथा परलोकका श्रेय विचार कर राजारूप महान् धर्ममूर्त्तिको उत्पन्न करते हैं, कि-यह राजा धर्मकी रक्षा करेगा, जिसमें धर्म प्रकाशित होता है उसको ऋषि राजा कहते है ॥ १३ ॥ १४ ॥ परन्तु जिसमें धर्म नहीं होता उसको देवता वृषल कहते हैं, वृष कहिये धर्म उसका जो 'अलं' कहिये नाश करता है उसको देवता वृषल कहते हैं, इसलिये

स्तस्माद्धर्मं विवर्द्धयेत् ॥ १५ ॥ धर्मे वर्द्धति वर्द्धन्ति सर्वभूतानि सर्वदा । तस्मिन् ह्रसति हीयन्ते तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥ १६ ॥ धनात् स्रवति धर्मो हि धारणाद्वेति निश्चयः । अकार्याणां मनुष्येन्द्र स सीमान्तकरः स्मृतः ॥ १७ ॥ प्रभवार्थं हि भूतानां धर्मः सृष्टः स्वयम्भुवा । तस्मात् प्रवर्त्तयेद्धर्मं प्रजानुग्रहकारणात् ॥१८॥ तस्माद्धि राजशार्दूल धर्मः श्रेष्ठतरः स्मृतः । स राजा यः प्रजाः शास्ति साधुकृत् पुरुषर्षभः ॥ १९ ॥ कामक्रोधावनादृत्य धर्ममेवानुपालय । धर्म्मः श्रेयस्करतमो राज्ञां भरतसत्तम ॥ २० ॥ धर्मस्य ब्राह्मणो योनिस्तस्मात् तान् पूजयेत् सदा । ब्राह्मणानाञ्च

राजाको धर्मकी वृद्धि करनी चाहिये १५ धर्मकी वृद्धि होनेसे सब प्राणियोंकी भी वृद्धि होती है और धर्मका नाश होनेसे सब प्राणियोंका नाश होता है इसलिये राजा धर्मका नाश न होनेदेय, किन्तु उसकी रक्षा करे१६धर्म कहिये धनको देनेवाला अथवा प्राप्त हुए धनको धारण किये रहनेवाला,इसप्रकार धर्म शब्दके दो अर्थ होते हैं अर्थात् धर्मसे धन मिलता है तथा धर्मसे ही मिले हुए धनकी रक्षा होती है, हे राजेन्द्र ! यह धर्म अकार्यों (पापों) की एक मर्यादारूप है, ऐसा जानो ॥ १७ ॥ ब्रह्माने भी प्राणियोंके कल्याणके लिये धर्मको उत्पन्न किया है, प्रजाके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये राजाको देशमें धर्मका प्रचार करना चाहिये॥१८॥ हे राजसिंह ऐसे कारणोंसे धर्मको सबसे श्रेष्ठ कहा है और हे श्रेष्ठ पुरुष ! मनुष्योंमें जो प्रजाका पालन करता है और अच्छे काम करता है उसको राजा कहा है ॥१९ ॥ इसलिये हे भरतवंशमें श्रेष्ठ राजन् ! तू काम और क्रोधको त्यागकर धर्मकी ही रक्षा कर क्योंकि-धर्म राजाओंका परम कल्याण करता है २० सबमें महान् और दमकते हुए धर्मका मूल ब्राह्मण है, इसलिये ब्राह्मणोंकी सदा पूजा करे, हे मान्धाता ! मनुष्य मनमें डाह न

मान्धातः कुर्यात् कामानमत्सरी ॥ २१ ॥ तेषां ह्यकामकरणा-द्राज्ञः सञ्जायते भयम् । मित्राणि न च वर्द्धन्ते तथामित्री भव-न्त्यपि ॥ २२ ॥ ब्राह्मणानां सदासूयाद्बाल्याद्वैरोचनो बलिः । अथास्मात् श्रीरपाक्रामद्यास्मिन्नासीत् प्रतापिनी ॥ २३ ॥ तत-स्तस्मादपाक्रम्य सागच्छत् पाकशासनम् । अथ सोऽन्वतपत् पश्चा-च्छ्रियं दृष्ट्वा पुरन्दरे ॥ २४ ॥ एतत् फलमसूयाया अभिमानस्य वा विभो । तस्माद् बुध्यस्व मान्धातर्मा त्वां जह्यात् प्रतापिनी २५ दर्पो नाम श्रियः पुत्रो जज्ञेऽधर्मादिति श्रुतिः । तेन देवासुरा राज-न्नीताः स्युर्बहवो वशम् ॥२६॥ राजर्षयश्च बहवस्तथा बुध्यस्व पार्थिव । राजा भवति तं जित्वा दासस्तेन पराजितः ॥ २७ ॥

रक्षकर ब्राह्मणोंकी सब कामनायें पूरी करे ॥ २१ ॥ राजा यदि ब्राह्मणोंकी कामनायें पूरी नहीं करता है तो उसके अपने ऊपर भय आपडता है और उसके मित्र घटने लगते हैं तथा शत्रु बढ़ने लगते हैं ॥ २२ ॥ विरोचनका पुत्र बलि मूर्खताके कारणसे सदा ब्राह्मणोंके साथ ईर्षा किया करता था, इसलिये उसमें निवास करनेवाली प्रतापिनी राजलक्ष्मीने उसको त्याग दिया था ॥२३॥ और उसे त्यागकर इन्द्रके पास चलीगई थी, जब बलिने पुर-न्दरके पास राजलक्ष्मी देखी तब उसको पश्चात्ताप हुआ, परन्तु व्यर्थ ! ॥ २४ ॥ हे मान्धाता ! इसको ईर्षा और अभिमानका फल समझो, इसलिये तू सदा जाग्रत (सावधान) रहना, कि-कहीं क्रोधके कारणसे तुझे प्रतापिनी राजलक्ष्मी न त्यागजाय २५ दर्प लक्ष्मीका पुत्र है वह अधर्मसे उत्पन्न हुआ है, ऐसा श्रुतिमें कहा है, हे राजन ! इस दर्पने बहुतसे देवताओंको नष्ट किया है, हे राजन् ! यह बात तुझे (विशेष रूपसे) समझे रहना चाहिये, पुरुष दर्पको जीतनेसे राजा होता है और इसके वशमें वशमें होने पर दास होजाता है ॥ २७ ॥ हे मान्धाता ! यदि

स यथा दर्पसहितमधर्मं नानुसेवते। तथा वर्त्तस्व मान्धातश्चिरं चेत् स्थातुमिच्छसि ॥२८॥ मत्तात् प्रमत्तात् पौगण्डादुन्मत्ताच्च विशेषतः। तदभ्यासादुपावर्त्त संहितानां च सेवनात् ॥ २९ ॥ निगृहीतादमात्याच्च स्त्रीभ्यश्चैव विशेषतः। पर्वताद्विषमाद् दुर्गाद्धस्तिनोऽश्वात् सरीसृपात्॥३०॥ एतेभ्यो नित्ययुक्तः स्यान्नक्तं चर्य्याञ्च वर्जयेत्। अत्यागञ्चाभिमानञ्च दम्भं क्रोधं च वर्जयेत् ॥३१॥ अविज्ञातासु च स्त्रीषु क्लीबासु स्वैरिणीषु च। परभार्य्यासु कन्यासु नाचरेन्मैथुनं नृप ॥ ३२ ॥ कुलेषु पापरक्षांसि जायन्ते वर्णसङ्करात्। अपुमांसोऽङ्गहीनाश्च स्थूलजिह्वा विचेतसः ॥३३॥ एते चान्ये च जायन्ते यदि राजा प्रमाद्यति। तस्माद्राज्ञा विशेषेण

तू चिरकाल तक राज सिंहासन पर बैठना चाहता हो तो तू अपना ऐसा वर्ताव रख, कि—दर्प तथा अधर्म तुझमें घुसने न पावे ॥ २८ ॥ तुझे, मदमत्त, प्रमत्त, अज्ञानी, बालक और उन्मत्त आदि लोगोंमे विशेष परिचय नहीं रखना चाहिये और ये सब इकट्ठे हो उस समय तो इनका जरा भी परिचय नहीं करना चाहिये ॥ २९ ॥ जिसको एकबार दण्डदिया हो ऐसे मन्त्रीसे और विशेषकर स्त्रियोंसे, पहाड़ और ऊँचे नीचे स्थानसे, किला हाथी, घोडे और सर्पोंसे भी तुझे नित्य सावधान होकर दूर रहना चाहिये, रात्रिमें फिरनेको न निकलना, कृपणता, अभिमान, दम्भ और क्रोधको त्यागदेना ॥ ३० ॥ ३१ ॥ अनजान स्त्रियोंके साथ, वन्ध्या स्त्रियोंके साथ वेश्याओंके साथ, दूसरों की स्त्रियोंके साथ और कन्याओंके साथ बातचीत न करना ३२ राजा जब धर्मकी ओरसे असावधान रहता है तब उत्तम कुलोंमें पापी और राक्षस उत्पन्न होते हैं, वर्णसङ्कर प्रजा उत्पन्न होती है, नपुंसक, हीनाङ्ग, गूँगे और बुद्धिहीन बालक उत्पन्न होते हैं, इसलिये प्रजाके हितके निमित्त धर्ममार्गमें चले ॥३३॥३४॥

वर्त्तितव्यं प्रजाहिते ॥ ३४ ॥ क्षत्रियस्य प्रमत्तस्य दोषः संजायते महान् । अधर्माः संप्रवर्त्तन्ते प्रजासङ्करकारकाः ॥ ३५ ॥ अशीते विद्यते शीतं शीते शीतं न विद्यते । अवृष्टिरतिवृष्टिश्च व्याधिश्चा-प्याविशेत् प्रजाः ॥ ३६ ॥ नक्षत्राण्युपतिष्ठन्ति ग्रहा घोरास्तथा-गते । उत्पाताश्चात्र दृश्यन्ते बहवो राजनाशनाः ॥ ३७ ॥ अर-क्षितात्मा यो राजा प्रजाश्चापि न रक्षति । प्रजाश्च तस्य क्षीयन्ते ततः सोऽनुविनश्यति ॥ ३८ ॥ द्वावाददाते ह्येकस्य द्वयोः सुबहवो-परे । कुमार्यः संप्रलुप्यन्ते तदाहुर्नृपदूषणम् ॥ ३९ ॥ ममेद-मिति नैकस्य मनुष्येष्ववतिष्ठति । त्यक्त्वा धर्मं यदा राजा प्रमाद-मनुतिष्ठति॥४०॥इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि नवतितमोऽध्यायः

जो क्षत्रिय धर्म आदिमें असावधान रहता है उसको बड़ा पाप लगता है, देशमें प्रजाको वर्णसङ्कर करदेनेवाले अधर्म होने लगते हैं ॥ ३५ ॥ गरमियोंमें ठण्ड पड़ती है, शीतकालमें गरमी पड़ती है, अतिवर्षा होती है अथवा सूखा दुष्काल पड़ता है, प्रजामें रोग घुसजाते हैं॥३६॥ आकाशमें धूमकेतु आदि नक्षत्र, भयङ्कर ग्रह दीखने लगते हैं और राज्यका नाश करनेवाले बड़े २ उत्पात देखनेमें आते हैं ॥ २७ ॥ यदि राजा अपने आत्माकी रक्षा करनेवाले उपाय नहीं करसकता है और प्रजाकी भी रक्षा नहीं करसकता है तो पहले उसकी प्रजा नष्ट होती है और पीछेसे उसका अपना भी नाश होजाता है ॥ ३८ ॥ तब दो पुरुष एक पुरुषकी वस्तुको छीन लेते हैं और बहुतसे पुरुष दो पुरुषोंके हाथोंमेंसे वस्तु छीनलेते हैं, कुमारियोंको दुष्ट मनुष्य दूषित करते हैं, ये सब दोष राजाकी मूर्खतासे होते हैं ॥३९॥ राजा प्रमादी होकर अपने धर्मका नाश करता है तब कोई भी मनुष्य 'यह धन मेरा है, ऐसा नहीं कहसकता यह उस राजा का ही अपराध होता है ॥४०॥ नब्बेवाँ अध्याय समाप्त ॥९०॥

उतथ्य उवाच । कालवर्षी च पर्जन्यो धर्मचारी च पार्थिवः। सम्पद्यदेषा भवति सा विभर्त्ति सुखं प्रजाः ॥१॥ यो न जानाति निर्हर्त्तुं वस्त्राणां रजको मलम् । रक्तानाम्वा शोधयितुं यथा नास्ति तथैव सः ॥२॥ एवमेतद् द्विजेन्द्राणां क्षत्रियाणां विशान्तथा । शूद्रश्चतुर्थो वर्णानां नानाकर्मस्ववस्थितः ॥ ३ ॥ कर्म शूद्रे कृषिर्वैश्ये दण्डनीतिश्च राजनि । ब्रह्मचर्य्यं तपो मन्त्रः सत्यञ्चापि द्विजातिषु ॥४॥ तेषां यः क्षत्रियो वेद वस्त्राणामिव शोधनम् । शीलदोषान् विनिर्हर्तुं स पिता स प्रजापतिः ॥ ५ ॥ कृतं त्रेता द्वापरञ्च कलिश्च भरतर्षभ । राजवृत्तानि सर्वाणि

उतथ्यने कहा, कि–जब मेघराज समयानुसार वर्षा करता है और राजा धर्मका आचरण करता है तब देशकी सम्पत्ति बढ कर प्रजाका सुखसे पोषण होता है ॥ १ ॥ जो सफेद कपड़ोंके मैलको दूर करना नहीं जानता है अथवा जो रँगेहुए कपड़ोंका (रङ्ग बना रखकर उनका मैल दूर करना नहीं जानता वह अपने काममें चतुर नहीं है ॥ २ ॥ इसप्रकार ही ब्राह्मण,क्षत्रिय वैश्य इन तीनों वर्णोंमें जो पुरुष अपने धर्मको त्यागनेसे शूद्र गिनाजाता है और ऐसा करता है उसको (मूर्ख) धोबीकी समान जानो ३ ॥ शूद्रका कर्म सेवा है, वैश्यका कर्म खेतीबाड़ी है, राजाका कर्म राजनीति और ब्राह्मणका कर्म ब्रह्मचर्य तपस्या वेदाध्ययन और सत्यभाषण है ॥४॥ धोबी जैसे वस्त्रोंको साफ करना जानता है तैसे ही जो राजा शीलमें समायेहुए दूसरेके दोषोंको दूर करना जानता है वह पिता और प्रजापतिके पदके योग्य है ॥ ५ ॥ (भीष्मजी कहते हैं, कि–) हे भरतसत्तम ! (उतथ्यने कहा, कि–) सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग ये चार युग राजाके आचरण पर आधार रखते हैं, इसप्रकार राजा ही युगका कारण है (अर्थात्–राजा धर्माचरणका वर्त्ताव करता

राजैव युगमुच्यते ॥६॥ चातुर्वर्ण्यं तथा वेदाश्चातुराश्रम्यमेव च । सर्वं प्रमुह्यते ह्येतद्यदा राजा प्रमाद्यति ॥ ७ ॥ अग्नित्रेता त्रयी विद्या यज्ञाश्च सहदक्षिणाः । सर्व एव प्रमाद्यन्ति यदा राजा प्रमाद्यति ॥ ८ ॥ राजैव कर्त्ता भूतानां राजैव च विनाशकः । धर्मात्मा यः स कर्त्ता स्यादधर्मात्मा विनाशकः ॥ ९ ॥ राज्ञो भार्याश्च पुत्राश्च बान्धवाः सुहृदस्तथा । समेत्य सर्वे शोचन्ति यदा राजा प्रमाद्यति ॥ १० ॥ हस्तिनोश्वाश्च गावश्चाप्युष्ट्राश्व-तरगर्दभाः । अधर्मभूते नृपतौ सर्वे सीदन्ति जन्तवः ॥ ११ ॥ दुर्बलार्थं बलं सृष्टं धात्रा मान्धातरुच्यते । अबलन्तु महद्भूतं

है तो प्रजा भी धर्ममें चलती है, राजा पापाचरण करता है तो प्रजा भी पापाचरण करती है 'यथा राजा तथा प्रजा' राजा धर्मका वर्त्ताव करता है तो सत्ययुग होता है और राजा अधर्मका वर्त्ताव करता है तो कलियुग होता है) ॥ ६ ॥ राजा जब प्रमादमें रहकर अपने धर्मको त्याग देता है तब चार वर्ण, चार वेद, चार आश्रम ये सब नष्ट होजाते हैं ॥७॥ जब राजा प्रमादमें होता है तब गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय ये तीनों अग्नि, ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेदरूप विद्या तथा दक्षिणाओं सहित यज्ञ इन सबका नाश होजाता है ॥८॥ प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाला राजा है और प्राणियोंका नाश करनेवाला भी राजा ही है, यदि राजा धर्मात्मा होता है तो वह प्रजाका उत्पन्न करनेवाला है और यदि अधर्मी होता है तो वह प्रजाका नाशकर्त्ता है ॥९॥ जब राजा प्रमादमें होकर अपने धर्मको छोड़ देता है तब राजाकी रानियें, पुत्र, बान्धव और स्नेही दुःखी होते हैं और सब इकट्ठे होकर शोक करते हैं ॥ १० ॥ जब राजा अधर्म करने लगता है तो हाथी, घोड़े, बैल, ऊँट, खच्चर, गधे आदि सब पशुओंका बल नष्ट होजाता है ॥११॥ हे मान्धाता !

यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १२ ॥ यच्च भूतं संभजते ये च भूतास्तदन्वयाः। अधर्मस्थे हि नृपतौ सर्वे शोचन्ति पार्थिव ॥ १३ ॥ दुर्बलस्य च यच्चक्षुर्मुनेराशीविषस्य च। अविषह्यतमं मन्ये मा स्म दुर्बलमासदः ॥ १४ ॥ दुर्बलांस्तात बुध्येथा नित्यमेवावमानितान्। मा त्वां दुर्बल चक्षूंषि प्रदहेयुः सबान्धवम् ॥१५॥ न हि दुर्बलदग्धस्य कुले किञ्चित् प्ररोहति। आमूलं निर्दहत्येव मा स्म दुर्बलमासदः ॥१६॥ अबलं वै बलाच्छ्रेयो यच्चातिबलवद्बलम्। बलस्याबलदग्धस्य न किञ्चिदवशिष्यते ॥१७॥ विमा-

विधाता दुर्बलकी रक्षा करनेके लिये राजारूप बलवानको रचता है, बलहीन प्राणियोंका पालन करना यह बड़ा काम है, इसके ऊपर ही सबका आधार है ॥१२॥ सब प्राणी राजाको पूजते हैं, सब प्राणी राजाकी सन्तान हैं, हे राजन्! राजा यदि अधर्मके मार्गमें चलता है तो राजाके सेवक और राजवंशी सब दुःखी होते हैं ॥१३॥ दुर्बल मनुष्य, मुनि और जहरी साँपकी दृष्टिको मैं बड़ा ही असह्य मानता हूँ, तू दुर्बल मनुष्यको कभी दुःख न देना ॥१४॥ हे तात! तू दुर्बल मनुष्यको नित्य अपमान पाया हुआ जानना और ऐसा समझकर उसका अपमान न करना, दुर्बल मनुष्यके नेत्र तुझे बान्धवों सहित जलाकर भस्म न करदें, इस बातका तू ध्यान रखना ॥१५॥ दुर्बल मनुष्य क्रोधसे जिस कुलको जलादेता है उस कुलमें जरा भी सन्तान उत्पन्न नहीं होती है, दुर्बल मनुष्यके नेत्र अपना अपमान करनेवालेको जड़-मूलसे भस्म करडालते हैं, इसलिये तू दुर्बलको दुःखी न करना १६ बलकी अपेक्षा निर्बलता अधिक बलवान् और श्रेष्ठ मानीगई है, निर्बल मनुष्य बलवान्को जला डालता है तो उसका लेशमात्र भी बाकी नहीं रहता है ॥ १७ ॥ अपमान पायाहुआ, दुःखी यदि अपने पिटाहुआ या निन्दा पायाहुआ रक्षा

नितो हतः कृच्छ्रस्त्रातारं चेन्न विन्दति । अमानुषकृतस्तत्र दण्डो हन्ति नराधिपम् १८मा स्म तात बले स्थित्वा भुञ्जीथा दुर्बलं जनम् । मा त्वां दुर्बलचक्षूंषि दहन्त्वग्निरिवाश्रयम्॥१९॥यानि मिथ्याभि-शस्तानां पतन्त्यश्रूणि रोदताम् । तानि पुत्रान् पशून् घ्नन्ति तेषां मिथ्याभिशंसनात् ॥ २० ॥ यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत् पौत्रेषु नप्तृषु । न हि पापं कृतं कर्म सद्यः फलति गौरिव ॥ २१ ॥ यत्राबलो वध्यमानस्त्रातारं नाधिगच्छति । महान् दैवकृतस्तत्र दण्डः पतति दारुणः ॥ २२ ॥ युक्ता यदा जानपदा भिक्षन्ते ब्राह्मणा इव । अभीक्ष्णं भिक्षुरूपेण राजानं घ्नन्ति तादृशाः२३ राज्ञो यदा जनपदे बहवो राजपूरुषाः । अनयेनोपवर्त्तन्ते तद्राज्ञः

करनेवालेको नहीं पासकता है तो एकदम दैवी दण्ड राजा का नाश करदेता है ॥ १८ ॥ हे तात ! तू दुर्बलके साथ शत्रुता करके उसका धन न छीनना, तथा दुर्बल मनुष्यके नेत्र, जैसे अग्नि काठको जलाडालता है तैसे ही तुझे न जलाडाले इसका खूब ध्यान रखना ॥१९॥ किसीको झूठा दोष लगाया जाता है उस समय उसकी आँखोंमेंसे जो आँसू गिरते हैं वे मिथ्या दोष लगानेवालेके पुत्रोंका और पशुओंका नाश करडालते हैं२० पृथ्वीमें बीज बोने पर जैसे पृथ्वी तुरन्त ही फल नहीं देती है तैसे ही किया हुआ पाप भी तुरन्त ही फल नहीं देता है, यदि पाप करनेवालेको फल नहीं मिलता है तो उसके पुत्रोंको, उनको भी नहीं मिले तो उसके पुत्रोंको और उनको भी न मिले तो उसकी पुत्रीके पुत्रोंको भी मिलता है ॥ २१ ॥ निर्बल मनुष्यको कोई मारता हो और उसको बचानेवाला कोई न मिले तो दैवकी ओरसे दारुण दण्ड (उस देशके राजाके ऊपर) पड़ता है २२ देशकी प्रजा जब ब्राह्मणोंकी समान (आपत्तिकालके कारण) भिक्षा माँगने लगती है तब वे भिक्षुकके रूपमें रहनेसे राजाका

किल्बिषं महत् ॥ २४ ॥ यदा युक्त्या नयेदर्थान् कामादर्थवशेन वा । कृपणं याचमानानां तद्राज्ञो वैशसं महत् ॥ २५ ॥
महान् वृक्षो जायते वर्द्धते च तञ्चैव भूतानि समाश्रयन्ति ।
यदा वृक्षश्छिद्यते दह्यते च तदाश्रया अनिकेता भवन्ति ॥ २६ ॥
यदा राष्ट्रे धर्मधमग्र्यञ्चरन्ति संस्कारम्वा राजगुणं ब्रुवाणाः ।
तैरेवाधर्मश्चरितो धर्ममोहात्तूर्णं जह्यात् सुकृतं दुष्कृतम्वा ॥२७॥
यत्र पापा ज्ञायमानाश्चरन्ति सतां कलिर्विन्दते तत्र राज्ञः । यदा

क्षण २ में नाश करते हैं ॥२३॥ और राजाके नियत कियेहुए राष्ट्रके राजकीय पुरुष इकट्ठे होकर अन्याय करते हैं तब वह कर्म राजाके सब राष्ट्रको दुःखमें डालदेता है ॥ २४ ॥ जब राजाके अधिकारी अन्यायसे, किसी अपने मतलबसे या लोभसे अथवा कपटसे, लोगोंके दयाजनक हाहाकार होने पर भी उनके धनको लूटलेते हैं तब समझलो, कि-राजाके ऊपर कोई बडीभारी विपत्ति आरही है ॥ २५ ॥ वृक्ष पहले उत्पन्न होता है फिर वह धीरे २ बढ़कर बड़ा होता है, अनेकों प्राणी उस वृक्षका आश्रय-लेते हैं, परन्तु उस वृक्षको जब काटडालाजाता है अथवा जला डालाजाता है तब उस वृक्षके आश्रयमें रहनेवाले प्राणी आश्रय हीन होजाते हैं (अर्थात् अधर्मके कारण राजाका नाश होने पर उसके साथ ही उसके अधिकारियोंका भी नाश होजाता है)४२ जिस देशके राजाकी प्रजा उत्तम धर्माचरण करती है, विधिपूर्वक संस्कार करती है तथा राजाके गुणोंका गान करती है उस देशका राजा पुण्यका भागी होता है, परन्तु जो प्रजा धर्मके स्वरूपको न समझनेसे अधर्माचरण करती है, उस देशका राजा पापका भागी होता है ॥ २७ ॥ जिस राजाके देशमें पापी मनुष्य खुले रूपमें पापकर्म करते फिरते हैं उस राजाके देशमें कलियुग प्रकट होता है, परन्तु जो राजा दुष्ट मनुष्योंको दण्ड देता है उस राजाके

राजा शास्ति नरानशिष्टांस्तदा राज्यं वर्द्धते भूमिपस्य ॥ २८ ॥
यश्चामात्यान्मानयित्वा यथार्हं मन्त्रे च युद्धे च नृपो नियुञ्ज्यात्।
विवर्द्धते तस्य राष्ट्रं नृपस्य भुंक्ते महीञ्चाप्यखिलां चिराय २९
यश्चापि सुकृतं कर्म वाचञ्चैव सुभाषिताम्। समीक्ष्य पूजयन्
राजा धर्ममाप्नोत्यनुत्तमम् ॥३०॥ संविभज्य यथा भुंक्ते नामा-
त्यानवमन्यते। विहन्ति बलिनं दृप्तं स राज्ञो धर्म उच्यते॥३१॥य-
स्त्रायते हि यदा सर्वं वाचा कायेन कर्मणा। पुत्रस्यापि न मृष्येच्च
स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३२ ॥ सम्विभज्य यदा भुंक्ते नृपतिर्दु-
र्बलान्नरान्। तदा भवन्ति बलिनः स राज्ञो धर्म उच्यते ॥३३॥
यदा रक्षति राष्ट्राणि यदा दस्यूनपोहति यदा जयति संग्रामे
स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३४ ॥ पापमाचरतो यत्र कर्मणा व्या-

राज्य वृद्धि पाता है ॥ २८ ॥ जो राजा अपने मन्त्रियोंको मान देकर उचित रीतिसे राजकीय विचारोंके कामके ऊपर तथा युद्धके काम पर नियत करता है उस राजाका देश वृद्धि पाता है और वह राजा चिरकाल तक सब पृथिवी पर राज्य करता है ॥२९॥ जो राजा अपनी प्रजाके उत्तम कर्मको तथा सुन्दर वाणीको सुनकर उसका आदर करता है वह राजा उत्तम पुण्य पाता है ३० तथा राजा अपने आश्रितोंको वैभवका भोग कराकर पीछे स्वयं उसका उपभोग करे, मन्त्रियोंका अपमान न करे तथा बलवान् और घमण्डी पुरुषोंको दबाये रहे, यह राजाका धर्म गिनाजाता है ॥ ३१ ॥ मन वाणी और शरीरसे सबकी रक्षा करे तथा पुत्र भी अपराध करे तो उसको क्षमा न करे, यह राजाका धर्म मानाजाता है ॥३२॥ यदि राजा अपने दुर्बल मनुष्योंका पोषण करता है तो उसके पास जो होता है उसकी वृद्धि होती है और वह आश्रितोंके बलको बढ़ाता है तथा ऐसा करना राजाका धर्म है ॥ ३३ ॥ राष्ट्रकी रक्षा करना, चोरोंका संहार करना

हृतेन वा । प्रियस्यापि न मृष्येत स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३५ ॥ यदा सारथिकान्राजा पुत्रवत् परिरक्षति । भिनत्ति न च मर्यादां स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३६ ॥ यदाप्तदक्षिणैर्यज्ञैर्यजन्ते श्रद्धयान्विताः । कामद्वेषावनादृत्य स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३७ ॥ कृपणानाथवृद्धानां यदाश्रु परिमार्ज्जति । हर्षं संजनयन्नृणां स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३८ ॥ विवर्द्धयति मित्राणि तथारींश्चापकर्षति । सम्पूजयति साधूंश्च स राज्ञो धर्म उच्यते ॥३९॥ सत्यं पालयति प्रीत्या नित्यं भूमिं प्रयच्छति । पूजयेदतिथीन् भृत्यान् स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ४० ॥ निग्रहानुग्रहौ चोभौ यत्र स्यातां प्रतिष्ठितौ । अस्मिंल्लोके परे चैव राजा स प्राप्नुते फलम् ४१

और संग्राममें विजय पाना यह राजाका धर्म गिनाजाता है ३४ अपना प्यारा पुरुष भी वाणीसे अथवा कर्मसे पाप करे तो उसको क्षमा न करके दण्ड देय, यह राजाका धर्म गिनाजाता है ॥३५॥ जलमार्गसे और थलमार्गसे व्यापार करनेवालोंका पुत्रकी समान पालन करे और किसीकी मानमर्यादाका भङ्ग न करे, यह राजाका धर्म मानाजाता है ॥ ३६ ॥ श्रद्धाके साथ देवताओंकी पूजा करे, उत्तम दक्षिणावाले यज्ञ करे और काम क्रोधको वशमें रक्खे, यह राजाका धर्म गिनाजाता है ॥३७॥ आपत्तिमें पड़ेहुओंके, अनाथोंके तथा वृद्ध पुरुषोंके आँसू पोंछे और उनको प्रसन्न करे, यह राजाका धर्म है ॥३८॥ मित्रोंको बढ़ावे, शत्रुओंका संहार करे और सत्पुरुषोंसे मिलता रहे, यह राजाका धर्म मानाजाता है ॥ ३९ ॥ प्रीतिके साथ सदा सत्यका सेवन करे, सदा आश्रितोंको भूमिकी भेट देय, अतिथियोंका और भृत्योंका सदा सत्कार करे, यह राजाका धर्म गिनाजाता है ॥ ४० ॥ जो राजा सत्पुरुषोंके ऊपर अनुग्रह करता है और दुष्टोंको दण्ड देता है, उस राजाको इस लोकमें

यमो राजा धार्मिकाणां मान्धातः परमेश्वरः । संयच्छन् भवति प्राणानसंयच्छंस्तु पापकः ॥४२॥ ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान् सत्कृत्यानवमन्य च । यदा सम्यक् प्रगृह्णाति स राज्ञो धर्म उच्यते४३ यमो यच्छति भूतानि सर्वाण्येवाविशेषतः । तथा राज्ञानुकर्तव्यं यन्तव्या विधिवत् प्रजाः ॥ ४४ ॥ सहस्राक्षो राजा हि सर्वथैवोपमीयते । स च पश्यति यं धर्मं स धर्मः पुरुषर्षभ ॥ ४५ ॥ अप्रमादेन शिक्षेथाः क्षमां बुद्धिं धृतिं मतिम् । भूतानां सत्वजिज्ञासां साध्वसाधु च सर्वदा ॥ ४६ ॥ संग्रहः सर्वभूतानां दानञ्च मधुरं वचः । पौरजानपदाश्चैव गोप्तव्यास्ते यथासुखम् ॥४७॥ न ह्यात्मदक्षो नृपतिः प्रजा शक्नोति रक्षितुम् । भारो हि सुमहां-

और परलोकमें सुख मिलता है ॥ ४१ ॥ हे मान्धाता ! राजा स्वयं यमरूप है, वह धार्मिक पुरुषोंका परमेश्वररूप है और वह इन्द्रियोंको नियममें रखनेसे ऐश्वर्य पाता है, वह यदि इन्द्रियोंको नियममें नहीं रखता है तो नरकमें पड़ता है ॥ ४२ ॥ ऋत्विज् (याज्ञ) पुरोहित और आचार्योंका सत्कार करे, उनको मान देय तथा उनकी उत्तम प्रीति प्राप्त करे, यह राजाका धर्म गिना जाता है ॥ ४३ ॥ जैसे यमराज किसी प्राणीके ऊपर भेदभाव न रखकर राज्य करता है, ऐसे ही राजा भी भेदभाव न रखकर अपनी सब प्रजाको वशमें रक्खे ॥४४॥ हे पुरुषश्रेष्ठ ! राजाको सर्वथा सहस्राक्ष (इन्द्र) की उपमा दीजाती है, इसलिये राजा जिसको धर्म ठहरावे उसको धर्म जाने ॥ ४५ ॥ तू सावधान होकर क्षमा, बुद्धि, धृति और मतिकी शिक्षा लेना, तू सब प्राणियोंके बलाबलको जाने रहना और सत्य असत्य क्या है, इसके भेदको सीखना ॥४६॥ तू सब प्राणियोंके साथ मिलाप रखना, हरएकको देना, मधुर वचन बोलना, और सुख प्राप्त हो ऐसी रीतिसे नगरके तथा प्रान्तके लोगोंकी रक्षा करना ॥४७॥ हे तात !

स्तात राज्यं नाम सुदुष्करम् ॥ ४८ ॥ तद्दण्डविन्नृपः प्राज्ञः शूरः शक्नोति रक्षितुम् । न हि शक्यमदण्डेन क्लीवेनाबुद्धिनापि वा ४९ अभिरूपैः कुले जातैर्दत्तैर्भक्तैर्बहुश्रुतैः । सर्वा बुद्धीः परीक्षेथास्तापसाश्रमिणामपि ।५०। अतस्त्वं सर्वभूतानां धर्मं वेत्स्यसि वै परम् । स्वदेशे परदेशे वा न ते धर्मो विनंक्ष्यति ॥ ५१ ॥ तस्मादर्थाच्च कामाच्च धर्मो एवोत्तरो भवेत् । अस्मिंल्लोके परे चैव धर्मात्मा सुखमेधते ॥५२॥ त्यजन्ति दारान् पुत्रांश्च मनुष्याः परिपूजिताः । संग्रहश्चैव भूतानां दानञ्च मधुरा च वाक् ५३ अप्रमादश्च शौचञ्च राज्ञो भूतिकरं महत् । एतेभ्यश्चैव मान्धातः सततं मा प्रमा-

जिस राजाके राज्यमें चतुराई नहीं होती है वह प्रजाकी रक्षा नही करसकता, अपने साम्राज्यको चलाना यह राजाके शिर पर एक बहुत ही बड़ा बोझा और बड़ा कठिन काम है ॥४८॥ जो राजा दण्डको जाननेवाला, चतुर और वीर होता है, वही नीतिको जानताहुआ प्रजाकी रक्षा करसकता है, परन्तु दण्डरहित नपुंसक और बुद्धिहीन राजा साम्राज्यका भार नहीं उठासकता ४९ तू अच्छे कुलमें उत्पन्नहुए, सुन्दर, कार्य करनेमें कुशल, राजभक्त, बड़े अनुभवी और विश्वासपात्र मन्त्रियोंके साथ रहकर सब लोगोंकी और तपस्वियोंकी अन्तःकरणसे परीक्षा करना ॥५०॥ इसप्रकार वर्त्ताव करनेसे तू सब प्राणियोंके परमधर्मको जान जायगा और तेरा इस अपने देशमें तथा परदेशमें धर्म नष्ट नहीं होगा ॥ ५१ ॥ धर्म, अर्थ और काममें धर्म ही श्रेष्ठ है, इस लोकमें तथा परलोकमें धर्मात्मा ही सुख भोगता है ॥५२॥ यदि मनुष्योंको मान दियाजाता है तो उसके कारणसे वे अपने पुत्र और स्त्रियों तकको छोड़ देते हैं, तेरे साथ अच्छे २ मनुष्य रहें इसके लिये तू अच्छे २ ईनाम देना, मधुर वाणी बोलना, सावधान रहना और (भीतर बाहरसे) पवित्र रहना, ये सब बातें

दिथाः ॥५४॥ अप्रमत्तो भवेद्राजा छिद्रदर्शी परात्मनोः । नास्य छिद्रं परः पश्येच्छिद्रेषु परमन्वियात् ॥ ५५ ॥ एतद्वृत्तं वासवस्य यमस्य वरुणस्य च । राजर्षीणाञ्च सर्वेषां तत्त्वमप्यनुपालय ॥ ५६ ॥ तत् कुरुष्व महाराज वृत्तं राजर्षिसेवितम् । आतिष्ठ दिव्यं पन्थानमह्नाय भरतर्षभ ॥ ५७ ॥ धर्मवृत्तं हि राजानं प्रेत्य चेह च भारत । देवर्षिपितृगन्धर्वाः कीर्त्तयन्ति महौजसः ॥५८॥ भीष्म उवाच । स एवमुक्तो मान्धाता तेनोतथ्येन भारत । कृतवानविशङ्कश्च एकः प्राप च मेदिनीम् ॥५९॥ भवानपि तथा सम्यक् मान्धातेव महीपते । धर्मं कृत्वा महीं रक्ष स्वर्गे स्थानमवाप्स्यसि ॥ ६० ॥ एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

राजाको बड़ा भारी समृद्धि देनेवाली हैं, हे मान्धाता ! तू इन सब बातोंका आचरण करनेमें कभी प्रमाद न करना ॥ ५३–५४ ॥ राजा सावधान होकर अपने और शत्रुके छिद्रोंको देखे, शत्रु अपने छिद्रोंको न जानने पावे इस बातका ध्यान रक्खे, परन्तु स्वयं शत्रुके छिद्रोंको जानता रहे ॥ ५५ ॥ इस नीतिसे इन्द्र, यम, वरुण और सब राजर्षि वर्त्ताव करते थे, तू भी ऐसे ही वर्त्ताव कर ॥ ५६ ॥ हे महाराज ! राजर्षियोंके सेवन कियेहुए आचरणका पालन करके तू झट दिव्य मार्गमें चढ़जाना ५७ (भीष्मजी कहते हैं, कि–) हे भरतवंशी युधिष्ठिर ! महाबली देवर्षि, पितर और गन्धर्व धर्माचरण करनेवाले राजाकी इस लोकमें तथा परलोकमें कीर्त्ति गाते हैं ॥ ५८ ॥ भीष्मजीने कहा, कि–हे भरतवंशी राजा ! उतथ्यने इसप्रकार राजा मान्धाताको उपदेश दिया था तब उसने निःशङ्क होकर ऐसा ही आचरण किया और उस अकेलेने ही सब पृथिवी पर राज्य किया था ॥५९॥ हे युधिष्ठिर ! तू भी राजा मान्धाताकी समान धर्माचरण करके पृथ्वीका पालन कर कि–जिससे तुझे स्वर्गमें उत्तम स्थान मिले ॥६०॥ इक्यानवेवाँ अध्याय समाप्त ९१

युधिष्ठिर उवाच । कथं धर्मे स्थातुमिच्छन् राजा वर्त्तेत धार्मिकः । पृच्छामि त्वां कुरुश्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥ भीष्म उवाच । अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । गीतं दृष्टार्थतत्त्वेन वामदेवेन धीमता ॥ २ ॥ राजा वसुमना नाम ज्ञानवान् धृतिमान् शुचिः । महर्षिं परिपप्रच्छ वामदेवं तपस्विनम् ॥ ३ ॥ धर्मार्थसहितैर्वाक्यैर्भगवन्ननुशाधि माम् । येन वृत्तेन वै तिष्ठन्न हीयेयं स्वधर्मतः ॥ ४ ॥ तमब्रवीद्वामदेवस्तेजस्वी तपतांवरः । हेमवर्णं सुखासीनं ययातिमिव नाहुषम् ॥ ५ ॥ वामदेव उवाच । धर्म्ममेवानुवर्त्तस्व न धर्माद्विद्यते परम् । धर्मे स्थिता हि राजानो जयन्ति पृथिवीमिमाम् ॥ ६ ॥ अर्थसिद्धेः परं धर्म्मं मन्यते यो महीपतिः ।

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे कुरुकुलश्रेष्ठ पितामह भीष्मजी ! धर्ममें अविचल रूपसे रहना चाहनेवाला धर्मात्मा राजा कैसा वर्त्ताव करे ? यह बात मैं आपसे बूझता हूँ, आप मुझे बताइये ? भीष्मजीने कहा, कि-इस विषयमें बुद्धिमान् और धर्मके तत्त्वको जाननेवाले वामदेव महर्षिने एक पुराना इतिहास कहा है, वह इतिहास इसप्रकार है ॥ २ ॥ (किसी समय) ज्ञानी, धीरजवान् और पवित्र मनवाले वसुमना नामके राजाने तपस्वी वामदेव महर्षिसे धर्म और अर्थ भरे वाक्योंके द्वारा प्रश्न किया, कि-हे भगवन् ! आप मुझे ऐसा उपदेश दीजिये, कि-जिसके अनुसार वर्त्ताव करके मैं अपने धर्मसे कभी भी न गिरूँ ॥ ३-४ ॥ यह सुनकर सुखसे बैठेहुए, सुवर्णके रङ्गके नहुषनन्दन राजा ययातिकी समान राजा वसुमनासे महातपस्वी और तेजस्वी महर्षि वामदेवजी कहनेलगे ॥ ५ ॥ वामदेवजी बोले, कि-हे राजा ! तू धर्मका ही आचरणकर, क्योंकि-धर्मसे बढ़कर कुछ भी नहीं है और धर्माचरण करनेवाले राजे सब पृथिवीको जीतसकते हैं ॥ ६ ॥ जो राजा धनके लाभसे धर्मके लाभको अच्छा समझता है और

वृद्ध्याश्च कुरुते बुद्धिं स धर्मेण विराजते ॥ ७ ॥ अधर्मदर्शी यो राजा बलादेव प्रवर्त्तते । क्षिप्रमेवापयातोऽस्मादुभौ प्रथममध्यमौ ॥८ असत्पापिष्ठसचिवो वध्यो लोकस्य धर्म्महा । सहैव परिवारेण क्षिप्रमेवावसीदति॥९॥अर्थानामननुष्ठाता कामचारी विकत्थनः । अपि सर्वां महीं लब्ध्वा क्षिप्रमेव विनश्यति । अथाददानः कल्याणमनसूयुर्जितेन्द्रियः । वर्द्धते मतिमान् राजा स्रोतोभिरिव सागरः ॥ ११ ॥ न पूर्णोऽस्मीति मन्येत धर्म्मतः कामतोर्थतः । बुद्धितो मित्रतश्चापि सततं वसुधाधिपः ॥१२॥ एतेष्वेव हि सर्वेषु लोकयात्रा प्रतिष्ठिता । एतानि शृण्वन् लभते यशः कीर्त्तिं श्रियः

धर्मको बढ़ानेके लिये विचार करता है वह धर्मसे चमकने लगता है ॥७॥ परन्तु जो धर्मका विचार नहीं करता, किन्तु पशुओंकी समान अधर्माचरणका वर्त्ताव करता है उस राजाका धर्म और धन दोनों नष्ट होजाते हैं ॥८॥ और जो दुष्ट तथा पापी मन्त्रीकी सलाहके अनुसार वर्त्ताव करता है वह अपने हाथसे धर्मका नाश करता है, वह राजा लोकोंमें परिवारसहित मारडालनेके योग्य मानाजाता है और वह थोड़े समयमें नष्ट ही होजाता है ॥ ९ ॥ जो राजा राज्यके कार्य व्यवहारको नहीं करता है, जो लोभकी वृत्तिसे राज्य करता है, जो अपनी प्रशंसा किया करता है वह यदि सब पृथिवीका राजा होता है तो भी तुरन्त ही नष्ट होजाता है ॥ १० ॥ परन्तु जो राजा कल्याणकारक बातोंको ग्रहण करनेवाला, ईर्षारहित, जितेन्द्रिय और बुद्धिमान् होता है वह राजा, जैसे नदियोंके प्रवाहोंके मिलनेसे समुद्र बढ़ता है तैसे बढ़ जाता है ॥ ११ ॥ हे नृपते ! राजा निरन्तर धर्म, अर्थ, काम, बुद्धि और मित्रोंसे भरपूर हो तब भी वह ऐसा न समझे, कि-मैं पूर्ण हूँ ॥ १२ ॥ यह सब लोकयात्रा धर्मके आधार पर ठहरीहुई है, इस नीतिकी बातको सुनने (मानने) से राजाको

प्रजाः ॥१३॥ एवं यो धर्म्मसंरम्भी धर्मार्थपरिचिन्तकः। अर्थान् समीक्ष्यारभते स ध्रुवं महदश्नुते ॥ १४ ॥ अदाता ह्यनतिस्नेहो दण्डेनावर्त्तयन् प्रजाः। साहसप्रकृती राजा क्षिप्रमेव विनश्यति १५ अथ पापकृतं बुद्धया न च पश्यत्यबुद्धिमान्। अकीर्त्याभिसमायुक्तो भूयो नरकमश्नुते ॥ १६ ॥ अथ मानयितुर्दान्तः श्लक्ष्णस्य वशवर्त्तिनः। व्यसनं स्वमिवोत्पन्नं विजिघांसन्ति मानवाः॥१७॥ यस्य नास्ति गुरुर्धर्मे न चान्यानपि पृच्छति। सुखतन्त्रोर्थलाभेषु

यश, प्रीति, लक्ष्मी और प्रजाका लाभ होता है ॥ १३ ॥ जो राजा धर्म पर श्रद्धा रखता है और फिर धर्मको तथा अर्थको पानेका विचार किया करता है और जो प्राप्त करना है उसके ऊपर पक्का विचार करके उसके लिये उपाय करता है वह राजा अवश्य ही गौरव पाता है१४परन्तु जो राजा कृपण और स्नेह-रहित होता है, प्रजाको दण्डसे दुःख देता है तथा काम करनेमें साहसी स्वभावका होता है, उस राजाका शीघ्र ही नाश होजाता है ॥ १५ ॥ जो राजा स्वयं मूर्ख होता है और बुद्धिसे अपराधीको नहीं पहचान सकता है वह राजा इस लोकमें अपयश पाता है और परलोकमें जाकर नरकमें पड़ता है ॥ १६ ॥ परन्तु जो राजा मान योग्य मनुष्योंको मान देता है और मधुर वाणी बोलनेके मूल्यको समझता है उसके ऊपर यदि दुःख आपड़ता है तो उसके दुःखको मनुष्य अपने ऊपर पड़ा हुआ दुःख समझते हैं (और उस दुःखको दूर करते हैं) १७ परन्तु जो राजा राजधर्मकी बातोंमें किसीको गुरु नहीं करता है तथा दूसरोंकी सलाह नहीं लेता है और धर्मका विचार किये बिना केवल सुख पानेके लिये ही धन प्राप्त करना चाहता है वह राजा चिरकाल तक सुख नहीं भोगता है ॥ १८ ॥ परन्तु

न चिरं सुखमश्नुते ॥१८॥ गुरुप्रधानो धर्मेषु स्वयमर्थानवेक्षिता । धर्मप्रधानो लाभेषु स चिरं सुखमश्नुते ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वामदेवगीतासु द्विनवतितमोऽध्यायः ॥९२॥

वामदेव उवाच । यत्राधर्मं प्रणयते दुर्बले बलवत्तरः । तां वृत्तिमुपजीवन्ति ये भवन्ति तदन्वयाः ॥ १ ॥ राजानमनुवर्त्तन्ते तं पापाभिप्रवर्त्तकम् । अविनीतमनुष्यन्तत् क्षिप्रं राष्ट्रं विनश्यति च ॥ २ ॥ यद्वृत्तमुपजीवन्ति प्रकृतिस्थस्य मानवाः । तदेव विषमस्थस्य स्वजनोऽपि न मृष्यते ॥३॥ साहसप्रकृतिर्यत्र किञ्चिदुल्बणमाचरेत् । अशास्त्रलक्षणो राजा क्षिप्रमेव विनश्यति ॥४॥ योऽत्यन्ताचरितां

जो राजा धर्मको समझनेके लिये गुरुकी शरणमें जाता है, काम को अपने आप ही देखता है और सब प्रकारके लाभोंसे धर्मको बढ़कर मानता है वह राजा बहुत दिनोंतक सुख भोगता है ॥ १९ बानवेवाँ अध्याय समाप्त ॥ ९२ ॥ ॥

वामदेवने कहा, कि–हे नृपते ! जब महाबलवान् राजा निर्बल मनुष्यके ऊपर अन्याय करता है तब उसके वंशमें उत्पन्न होने वाले भी उस राजाकी समान ही वर्त्ताव करते हैं ॥ १ ॥ और दूसरे भी बराबर उस पापकर्म करनेवाले राजाकी नकल करते हैं, इसप्रकार अनुचित रीतिसे राज्य चलने पर तुरन्त ही देशका नाश होजाता है ॥२॥ यदि राजा धर्माचरण करता है तो मनुष्य उसके आचरणको आदर्श मानकर उसकी नकल करते हैं परन्तु वह यदि अधर्मका आचरण करता है तो उसके अपने सम्बन्धी भी उसके उस आचरणको नहीं सहसकते हैं ॥ ३ ॥ जिस देशमें राजा साहसी स्वभावका (उद्धत) होता है, भयानक काम किया करता है और शास्त्रमें कहेहुए राजाके लक्षणों से शून्य होता है उस राजाका देश तुरन्त नष्ट होजाता है ॥४॥

वृत्तिं क्षत्रियो नानुवर्त्तते । जितानामजितानां च क्षत्रधर्मादपैति सः ॥ ५ ॥ द्विषन्तं कृतकल्याणं गृहीत्वा नृपतिं रणे । यो न मानयते द्वेषात् क्षत्रधर्मादपैति सः ॥ ६ ॥ शक्तः स्यात् सुमुखो राजा कुर्य्यात् कारणमापदि । प्रियो भवति भूतानां न च विभ्रश्यते श्रियः ॥ ७ ॥ अप्रियं यस्य कुर्वीत भूयस्तस्य प्रियञ्चरेत् । न चिरेण प्रियः स स्यात् योऽप्रियः प्रियमाचरेत् ॥८॥ मृषावादं परिहरेत् कुर्य्यात् प्रियमयाचितः । न च कामान्न संरम्भान्न द्वेषाद्धर्ममुत्सृजेत् ॥ ९ ॥ नापत्रपेत प्रश्नेषु नाभिभाष्यां गिरं सृजेत् । न त्वरेत् न चासूयेत्तथा संगृह्यते परः ॥ १० ॥ प्रिये नातिभृशं

जो राजा जीतेहुए और स्वतन्त्र रीतिसे रहनेवाले क्षत्रिय राजाओंके परम्परासे आचरण कियेहुए वर्त्तावके अनुसार नहीं वर्त्तता है वह क्षत्रियके धर्मसे गिरजाता है ॥ ५ ॥ पहले अपने ऊपर उपकार किया हो परन्तु पीछेसे अपना शत्रु होगया हो ऐसे राजाको रणमें वशीभूत करके जो द्वेषसे उसका अपमान करता है वह राजा क्षत्रियके धर्मसे भ्रष्ट होजाता है ॥६॥ राजा अपनी शक्तिका दबदबा रक्खे, सदा आनन्दमें रहे और आपत्ति आजाय तो उसको टालनेके लिये उपाय करे, ऐसा राजा प्रजाको प्यारा होता है और वह राजलक्ष्मीसे कभी भ्रष्ट नहीं होता है ॥७॥ जिसका तूने अप्रिय किया हो उसका समय आने पर प्रिय करे, क्योंकि—जो मनुष्य अप्रिय होता है वह भी प्रिय करनेसे थोड़े समयमें प्यारा होजाता है ॥८॥ मिथ्या न बोलना, बिना याचनाके ही मनुष्यका अप्रिय करना, कामना, क्रोध या द्वेषसे धर्मको न त्यागना ॥ ९ ॥ कोई बूझे तो उसको कठोर उत्तर न देना, कठोर वाणी न बोलना, कोई भी काम करते समय जल्दी न करना, किसीसे ईर्षा न करना, ऐसा वर्त्ताव करनेसे शत्रु भी वशमें होजाता है ॥ १० ॥ प्रिय वस्तु मिलने पर हृदयमें बहुत

हृष्येदप्रिये न च सञ्ज्वरेत्। न तप्येदर्थकृच्छ्रेषु प्रजाहितमनुस्मरन् ॥ ११ ॥ यः प्रियं कुरुते नित्यं गुणतो वसुधाधिपः। तस्य कर्माणि सिध्यन्ति न च सत्यज्यते श्रिया ॥ १२ ॥ निवृत्तं प्रतिकूलेषु वर्त्तमानमनुप्रिये। भक्तं भजेत नृपतिः सदैव सुसमाहितः १३ अप्रकीर्णेन्द्रियग्राममत्यन्तानुगतं शुचिम्। शक्तञ्चैवानुरक्तञ्च युञ्ज्यान्महति कर्मणि ॥ १४ ॥ एवमेतैर्गुणैर्युक्तो योऽनुरञ्जयति भूमिपम्। भर्त्तुरर्थेष्वप्रमत्तो नियुञ्ज्यादर्थकर्मणि ॥ १५ ॥ मूढमैन्द्रियकं लुब्धमनार्य्यचरितं शठम्। अनतीतोपधं हिंस्रं दुर्बुद्धिमबहुश्रुतम् ॥१६॥ त्यक्तोदात्तं मद्यरतं द्यूतस्त्रीमृगयापरम्। कार्य्ये

हर्ष न मानना, कुछ अप्रिय होजाय तो अधिक सन्ताप न करना, धनकी आमदनीके साधन बन्द होजायँ तो सन्ताप न करना और सदा प्रजाके हितका विचार करते रहना ॥११॥ जो राजा गुणके अनुसार अपने सेवकोंका नित्य भला करता है उस राजाके काम सिद्ध होते हैं और वह राज्यलक्ष्मीसे भ्रष्ट नहीं होता है ॥ १२॥ जो सेवक राजाको अच्छी न लगनेवाली बातोंसे दूर रहता है और अच्छे लगनेवाले कामोंको करता है ऐसे भक्त सेवकको राजा सदा सावधान होकर अपना प्यारा समझे ॥ १३ ॥ इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले, अपने अत्यन्त अनुरागी, शुद्ध अन्तःकरणवाले शक्तिमान् और प्रीतिमान् पुरुषको राजा बड़े २ कामोंपर नियत करे ॥१४॥ ऐसे गुण जिसमें हों, जो राजा प्रसन्न करसकता हो और स्वामीके काम करनेमें सावधान रहता हो ऐसे सेवकको राजा धनकी व्यवस्थाके काम पर नियत करे ॥ १५ ॥ मूढ इन्द्रियोंके अधीन (विषयी), लोभी, खोटे चालचलनका, शठ, कपटी, हिंसक, दुष्टबुद्धि, जिसने बहुतसे शास्त्र न सुने हों, उदारतारहित, मद्य पीनेवाला, जुआरी, व्यभिचारी और शिकारके व्यसनी मनुष्यको जो राजा, राज्यके बड़े पदपर नियत

महति भुञ्जानो हीयते नृपतिः श्रिया ॥ १७ ॥ रक्षितात्मा च यो राजा रक्ष्यान् यश्चानुरक्षति । प्रजाश्च तस्य वर्द्धन्ते ध्रुवं च महद् श्नुते ॥ १८ ॥ ये केचिद्भूमिपतयः सर्वांस्तानन्ववेक्षयेत् । सुहृद्भिरनभिख्यातैस्तेन राजातिरिच्यते ॥१९॥ अपकृत्य बलस्थस्य दूरस्थोस्मीति नाश्वसेत् । श्येनाभिपतनैरेते निपतन्ति प्रमाद्यतः२० दृढमूलस्त्वदुष्टात्मा विदित्वा बलमात्मनः । अबलानभियुञ्जीत न तु ये बलवत्तराः ॥२१॥ विक्रमेण महीं लब्ध्वा प्रजा धर्मेण पालयेत् । आहवे निधनं कुर्य्याद्राजा धर्मपरायणः ॥२२॥ मरणान्तमिदं सर्वं नेह किंचिदनामयम् । तस्माद्धर्मे स्थितो राजा

करता है उस राजाकी राज्यलक्ष्मी नष्ट होजाती है॥१६॥१७॥ जो राजा अपने शरीरकी रक्षा करता है रक्षा करने योग्य सेवकोंकी भी रक्षा करता है उस राजाकी प्रजा उन्नति पाती है और वह राजा अवश्य ही बडीभारी राज्यलक्ष्मीको भोगता है ॥ १८ ॥ जो राजा स्नेह रखनेवाले छुपेहुए दूतोंके द्वारा अपने अधीन राजाओंके कार्मोंको देखा करता है वह राजा सबसे श्रेष्ठ होजाता है ॥ १९ ॥ बलवान् राजाको हानि पहुँचानेके बाद 'वह तो मुझसे बहुत दूर है' ऐसा विश्वास रख कर न बैठरहे, क्योंकि-अपकार करके असावधान रहनेवाले राजाके ऊपर वे बाजकी समान एकसाथ चढ़आते हैं ॥ २० ॥ जिस राजाका राज्य अच्छे प्रकारसे रक्षामें हो और जिसका मन वशमें हो ऐसा राजा अपने बलको जाननेके बाद अपनेसे निर्बल राजाओंके ऊपर चढाई करे, परन्तु अधिक बलवाले राजाके ऊपर चढाई न करे ॥ २१ ॥ क्षत्रियके धर्ममें तत्पर रहने वाला राजा रणमें पराक्रम करके पृथिवीको प्राप्त करे, धर्मसे प्रजाका पालन करे और रणमें शत्रुओंका घोर संहार करे २२ इस जगत्में सब पदार्थ नाशवान् हैं, कोई भी वस्तु अविनाशी

प्रजा धर्मेण पालयेत् ॥ २३ ॥ रक्षाधिकरणं युद्धं तथा धर्मानुशासनम् । मन्त्रचिन्ता सुखं काले पंचभिर्वर्द्धते मही ॥ २४ ॥ एतानि यस्य गुप्तानि स राजा राजसत्तम । सततं चरोपयानोऽथ राजा धत्ते महीमिमाम् ॥ २५ ॥ नैतान्येकेन शक्यानि सातत्येनानुवीक्षितुम् । तेषु सर्वं प्रतिष्ठाप्य राजा भुंक्ते चिरं महीम् २६ दातारं संविभक्तारं मार्दवोपगतं शुचिम् । असन्त्यक्तमनुष्यं च तं जनाः कुर्वते नृपम् ॥ २७ ॥ यस्तु निःश्रेयसं श्रुत्वा ज्ञानं तत् प्रतिपद्यते । आत्मनो मतमुत्सृज्य तं लोकोऽनुविधीयते ॥ २८ ॥ योऽर्थकामस्य वचनं प्रातिकूल्यान्न मृष्यते । शृणोति प्रातिकू-

नहीं है, इसलिये राजा धर्ममें रहकर धर्मसे प्रजाका पालन करे २३ किलेकी रक्षाका साधन, युद्धके सामानका प्रबन्ध, न्यायसभाकी व्यवस्था, राजनीतिके विषयमें मन्त्री आदिके साथ विचार करना और प्रजाको सुखमें रखना, इन पाँच बातोंसे राज्यकी आबादी होती है ॥ २४ ॥ हे श्रेष्ठ भूपते ! जो राजा इन पाँच बातोंमें सावधान रहता है वही राजा नामके योग्य है और जो राजा नित्य इन पाँच बातों पर ध्यान रखता है वही अपने राज्यकी रक्षा करसकता है ॥ २५ ॥ परन्तु इन पाँचों बातोंकी कोई भी अकेला नित्य देखभाल नहीं करसकता, इसलिये कार्योंके अधिकारियोंको ये काम सौंपदेनेसे राजा बहुत दिनों तक राज्यको भोगता है ॥ २६ ॥ जो मनुष्य दानशील होता है, दूसरोंको वैभवोंका भोग कराकर उनका उपभोग करता है, जो कोमल स्वभावका, पवित्र चरित्रवाला और अपनी प्रजाको दुःखमें न त्यागनेवाला होता है उसको लोग राजा बनाते है ॥२७॥ और जो मनुष्य अपने कल्याणकी बात सुनकर उसमेंसे ज्ञान पाता है और अपना मत छोड़देता है, ऐसे मनुष्यके लोग वशमें रहते हैं ॥२८॥ जो राजा अपना भला चाहनेवालेकी बातको, अपने

लानि सर्वदा विमना इव ॥ २९ ॥ अप्रारूपचरितां वृत्तिं यो न सेवेद् नित्यदा। जितानामजितानां च क्षत्रधर्मादुपैति सः ३० निगृहीतादमात्याच्च स्त्रीभ्यश्चैव विशेषतः। पर्वताद्विषमाद् दुर्गाद्धस्तिनोऽश्वात् सरीसृपात्। एतेभ्यो नित्ययुक्तः सन् रक्षेदात्मानमेव तु ॥ ३१ ॥ मुख्यानमात्यान् यो हित्वा निहीनान् कुरुते प्रियान्। स वै व्यसनमासाद्य गाधमार्त्तो न विन्दति ॥३२॥ यः

विचारसे प्रतिकूल होनेके कारण नहीं सुनता है और जो सदा अपने विचारके प्रतिकूल विचारोंको (उनकी सत्यता असत्यता पर दिये ध्यान बिना ही) लापरवाहीसे सुनता है॥२९॥तथा जो राजा नित्य जीतेहुए और न जीतेहुए पुरुषोंके, बुद्धिमानोंके आचरण कियेहुए वर्त्तावको नहीं करता है वह क्षत्रियके धर्मसे भ्रष्ट होजाता है ॥ ३० ॥ राजा जिसको दण्ड दिया हो ऐसे मन्त्रीसे और स्त्रीसे, पहाडोंसे, ऊँचे नीचे स्थानोंसे, किलोंसे हाथियोंसे, घोडोंसे और विषैले सर्पोंसे सदा अपनी रक्षा करे (अर्थात् मन्त्री और स्त्रीको दण्ड दिया होता है और उनका विश्वास करलिया जाता है तो ये अवसर पाकर मारडालते हैं, पहाड़ और विषमस्थानोंमें जानेसे शत्रु घेरलेते हैं, असावधानी से किलेमें घुसने पर शत्रु कैद करलेते हैं, अशिक्षित घोड़े और हाथियोंसे भी प्राणोंपर आबनती है और विषैले साँप भी विश्वास करनेसे डसलेते हैं, इसलिये राजा जहाँ तक होसके इनसे अपनी रक्षा करे) ॥ ३१ ॥ जो राजा अपने मुख्यमन्त्रियोंको त्याग कर नीची श्रेणीके लोगोंके साथ प्रेम करता है वह जब दुःखमें पडता है तब बडा ही दुःखी होता है और अपने राजकार्योंको पूरा नहीं करसकता ॥ ३२ ॥ जिस राजाका मन स्थिर नहीं होता है, जो क्षण २ में द्वेष और क्रोधके वशमें होजाता है, जो उत्तम गुणोंवाले अपने सम्बन्धियोंको नहीं चाहता है और

कल्याणगुणान् ज्ञातीन् द्वेषान्नोपचुभूपिति । अदृढात्मा दृढक्रोधः स मृत्योर्वसतेन्तिके ॥ ३३ ॥ अथ यो गुणसम्पन्नान् हृदयस्याप्रियानपि । प्रियेण कुरुते वश्यांश्चिरं यशसि तिष्ठति ॥ ३४ ॥ नाकाले प्रणयेदर्थान्नाप्रिये जातु संज्वरेत् । प्रिये नातिभृशं तुष्येद्युञ्जीतारोग्यकर्मणि ॥ ३५ ॥ के वानुरक्ता राजानः के भयात् समुपाश्रिताः । मध्यस्थदोषाः के चैपामिति नित्यं विचिन्तयेत् ३६ न जातु वलवान् भूत्वा दुर्बले विश्वसेत् क्वचित् । भारुण्डसदृशा ह्येते निपतन्ति प्रमाद्यतः ॥ ३७ ॥ अपि सर्वगुणैर्युक्तं भर्तारं प्रियवादिनम् । अभिद्रुह्यति पापात्मा न तस्माद्विश्वसेज्जनात् ३८

सन्मान नहीं करता है वह मृत्युके पास ही रहता है ॥ ३३ ॥ गुणवान् मनुष्य यदि अपने मनको अच्छे न लगते हों तो भी राजा उनका प्रिय करके उनको अपने वशमें रखता है उसका यश जगत्में बहुत दिनों तक नहीं रहता है ॥ ३४ ॥ तू कारण के बिना कभी कर न लगाना, कोई अप्रिय बात होजाय तो उससे अधिक सन्ताप न मानना तथा कोई प्रिय बात होजाय तो उससे अधिक हर्षमें न भरना, अच्छे काममें सदा लगे रहना, ३५ तेरे ऊपर कौनसे माण्डलिक (कर देनेवाले) राजे प्रेम रखते हैं और कौनसे राजे भयके मारे तेरा आश्रय लियेहुए हैं, उनमें कौनसे मध्यस्थ हैं उनका भी तू नित्य ध्यान रखना ॥ ३६ ॥ राजा चाहे जैसा बलवान् हो तो भी वह दुर्बल शत्रुओंका कभी कभी विश्वास न करे, वे भारुण्ड पक्षीकी समान होते हैं, जब राजा असावधान होता है तो उसके ऊपर टूट पडते हैं ॥ ३७॥ अपना राजा सकल गुणोंसे भरपूर हो और प्यारा बोलनेवाला हो तो भी जो पापी होते हैं वे ऐसे राजासे भी द्रोह करते हैं, ऐसे मनुष्योंका भी तू विश्वास न करना ॥ ३८ ॥ नहुपके पुत्र राजा ययातिने राजाओंकी राजकार्यकी विद्या सुनातेहुए कहा

एवं राजोपनिषदं ययातिः स्माह नाहुषः । मनुष्यविषये युक्तो हन्ति शत्रूननुत्तमान् ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वामदेवगीतायां त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

वामदेव उवाच । अयुद्धेनैव विजयं वर्द्धयेद्वसुधाधिपः । जघन्यमाहुर्विजयं युद्धेन च नराधिप ॥ १ ॥ न चालब्धं बुभुक्षेत मूले नातिदृढे सति । न हि दुर्बलमूलस्य राज्ञो लाभो विधीयते ॥२॥ यस्य स्फीतो जनपदः सम्पन्नः प्रियराजकः । सन्तुष्टपुष्टसचिवो दृढमूलः स पार्थिवः ॥ ३ ॥ यस्य योधा सुसंतुष्टाः सान्त्विताः सूपधास्थिताः । अल्पेनापि स दण्डेन महीं जयति पार्थिवः ॥ ४ ॥ पौरजानपदा यस्य भूतेषु च दयालवः । सधना

है, कि-मनुष्योंके ऊपर राज्य करनेको मनुष्यहुए पुरुषको अधम शत्रुओंका नाश करडालना चाहिये ॥३९॥ तिरानवेवाँ अध्याय समाप्त ॥ ९३ ॥ छ ॥ छ ॥ छ

वामदेवने कहा, कि-राजा युद्ध किये बिना ही विजय करे, हे राजन् ! युद्ध करके कियेहुए विजयको शास्त्रको जाननेवाले उत्तम काम नहीं कहते हैं ॥१॥ यदि अपने राज्यकी जड मजबूत न हो तो राजा न पाईहुई वस्तुको पानेकी इच्छा न करे, जिस राजाके राज्यकी जडें कमजोर होती हैं उस राजाको युद्ध से लाभ नहीं होता है ॥ २ ॥ परन्तु जिस राजाका देश धन धान्यसे भरपूर और समृद्धिवाला होता है, प्रजा राजाके ऊपर प्रीति रखनेवाली और सन्तुष्ट होती है तथा बहुतसे मंत्री होते हैं वह राजा मजबूत जडवाला मानाजाता है ॥ ३ ॥ जिस राजा की सेना सन्तुष्ट हो (नौकरी और ईनामसे संतुष्ट तथा धीर वीर हो शत्रुओंको खदेडनेमें चतुर हो, ऐसे थोडी सेनासे भी राजा पृथिवीको जीत लेता है ४ जिस राजाके नगरनिवासी और देशवासी लोग

धान्यवन्तश्च दृढमूलः स पार्थिवः ॥ ५ ॥ यदात्मकालमधिकं यदा पश्येत चात्मनः । तदा लिप्सेत मेधावी परभूमिधनान्युत ॥ ६ ॥ भोगेष्वदम्भमानस्य भूतेषु च दयावतः । वर्द्धते त्वरमाणस्य विषयो रक्षितात्मनः ॥ ७ उच्छेदात्मानमेवं स वनं परशुना यथा । यः सम्यग् वर्त्तमानेषु स्वेषु मिथ्या प्रवर्त्तते ॥ ८ ॥ नैव द्विषन्तो हीयन्ते राज्ञो नित्यमनिघ्नतः । क्रोधं निहन्तुं यो वेद तस्य द्वेष्टा न विद्यते ॥ ९ ॥ यदार्य्यजनविद्विष्टं कर्म तन्नाचरेद् बुधः । यत् कल्याणमभिध्यायेत्तत्रात्मानं नियोजयेत् ॥ १० ॥ नैवमन्येऽवजानन्ति नात्मना परितप्यते । कृत्यशेषेण यो राजा सुखान्यनुबुभू-

प्राणियोंके ऊपर दया करनेवाले और धनधान्यसे सम्पन्न होते हैं उस राजाके राज्यकी जड मजबूत कहलाती है ॥ ५ ॥ बुद्धिमान् राजा जब जाने कि—उसका अपना बल अपने शत्रुसे अधिक है, तब वह दूसरेके राज्य और दूसरेके धनको जीतनेकी इच्छा करे ॥ ६ ॥ जिस राजाका वैभव दिन प्रतिदिन बढ़ाजाता है, जो प्राणियोंके ऊपर दया रखता है, काम करनेमें फुर्तीला होता है और अपने शरीरकी रक्षा करनेमें सावधान रहता है उस राजाके देशकी वृद्धि होती है ॥ ७ ॥ और जो राजा अच्छा वर्त्ताव करनेवाले अपने लोगोंके साथ कपटका वर्त्ताव करता है वह राजा कुल्हाडेसे वनको काटनेकी समान अपना ही नाश करता है ॥ ८ ॥ तथा जो राजा नित्य शत्रुओंका नाश नहीं करता है उस राजाके शत्रु नष्ट होते ही नहीं और जो अपने क्रोधका नाश करना जानता है, उस भूपका कोई भी शत्रु नहीं होता है ॥ ९ ॥ सत्पुरुष जिस कामको बुरा कहते हों ऐसे कामको बुद्धिमान् राजा कभी न करे परन्तु जिस कामसे अपना और दूसरोंका कल्याण होता हो उस कामको करनेमें लगारहे ॥ १० ॥ जो राजा कामको पूरा करनेके बाद अपनी बुद्धिके अनुसार

पति ॥११॥ इदं वृत्तं मनुष्येषु वर्त्तते यो महीपतिः । उभौ लोकौ विनिर्ज्जित्य विजये सम्प्रतिष्ठिते ॥१२॥ भीष्म उवाच । इत्युक्तो वामदेवेन सर्वं तत् कृतवान्नृपः । तथा कुर्वंस्त्वमप्येतौ लोकौ जेता न संशयः ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वामदेवगीतासु चतुर्णवतितमोऽध्यायः ॥९४॥

युधिष्ठिर उवाच । अथ यो विजिगीषेत क्षत्रियः क्षत्रियं युधि । कस्तस्य विजये धर्मो ह्येतत् पृष्टो ब्रवीहि मे ॥१॥ भीष्म उवाच । ससहायोऽसहायो वा राष्ट्रमागम्य भूमिपः । ब्रूयादहं वो राजेति रक्षिष्यामि च वः सदा ॥ २ ॥ मम धर्म्यं बलिं दत्त किम्वा मां

सुख भोगना चाहता है उसको दूसरे धिक्कार नहीं देसकते तथा उसको सन्ताप भी नहीं करना पडता है ॥ ११ ॥ जो राजा मनुष्योंमें ऐसे आचरणका वर्त्ताव करता है वह इस लोकको तथा परलोकको जीतकर सदा विजय पाता है ॥ १२ ॥ भीष्म जीने कहा कि-हे युधिष्ठिर ! वामदेवके ऐसा कहने पर राजा वसुमनाने सब काम इसप्रकार ही किये, यदि तू भी ऐसा ही वर्त्ताव करेगा तो इस लोक और परलोकको जीतलेगा, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है ॥१३॥ चौरानवेवाँ अध्याय समाप्त ९४

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे भीष्म पितामह ! एक क्षत्रिय दूसरे क्षत्रियको युद्धमें जीतना चाहता है,वह विजय चाहनेवाला कैसा वर्त्ताव करे ? यह मैं आपसे बूझता हूँ, आप बताइये ॥१॥ भीष्मजीने कहा,कि-हे राजा युधिष्ठिर ! कोई राजा दूसरे राजाकी सहायता लेकर अथवा सहायताके विना ही दूसरे देश पर चढ़ाई करके कहे, कि-मैं तुम्हारा राजा हूँ और सदा तुम्हारी रक्षा करूँगा॥२॥तुम मुझे धर्मबलि(कर,दो अथवा मेरे साथ युद्ध करो, उस समय यदि प्रजा चढकर आयेहुए राजाको अपना राजा मान

प्रतिपत्स्यथ । ते चेत्समागतं तत्र वृणुयुः कुशलं भवेत् ॥ ३ ॥ ते चेदक्षत्रियाः सन्तो विरुद्धेरन् कथञ्चन । सर्वोपायैर्नियन्तव्या विकर्म्मस्था नराधिप ॥ ४ ॥ अशस्त्रं क्षत्रियं मत्वा शस्त्रं गृह्णात्यथापरः । त्राणायाप्यसमर्थन्तं मन्यमानमतीव च ॥ ५ ॥ युधिष्ठिर उवाच । अथ यः क्षत्रियो राजा क्षत्रियं प्रत्युपव्रजेत् । कथं सं प्रतियोद्धव्यस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ६ ॥ भीष्म उवाच । नैवासन्नद्धकवचो योद्धव्यः क्षत्रियो रणे । एक एकेन वाच्यश्च विसृजेति क्षिपामि च ॥ ७ ॥ स चेत् सन्नद्ध आगच्छेत् सन्नद्धव्यं ततो भवेत् । स चेत् ससैन्य आगच्छेत् ससैन्यस्तमथाह्वयेत् ॥ ८ ॥ स चेन्निकृत्या युध्येत निकृत्या प्रतियोधयेत् । अथ

लेती है तो युद्ध होना बन्द होजाता है ॥ ३ ॥ परन्तु उस देश की प्रजा क्षत्रियजातिकी न होने पर भी किसीप्रकार विरोध करनेको तयार होजाय और वह अपना कर्त्तव्य न करती हो तो चढाई करनेवाला राजा उन लोगोंको सब उपायोंसे वशमें करे ॥ ४ ॥ और जिस देश पर चढाई हुई हो उस देशके क्षत्रिय शस्त्रधारी न हों तथा अपनी रक्षा भी न करसकते हों और शत्रुको बलवान् मानकर मनमें डररहे हों तो क्षत्रियके सिवाय दूसरी जातिके पुरुष भी (अपनी तथा देशकी रक्षाके लिये चढ़ाई करनेवालेके सामने) शस्त्र उठावें ॥ ५ ॥ युधिष्ठिरने बूझा कि-हे पितामह ! क्षत्रिय राजा क्षत्रियके ऊपर युद्धके लिये चढ़ाई करे तो वह क्षत्रियके सामने किसप्रकार युद्ध करे, यह मुझे बताइये ॥ ६ ॥ भीष्मजीने कहा, कि-जो शरीर पर कवच न पहरेहुए हो ऐसे क्षत्रियके साथ क्षत्रिय रणमें युद्ध न करे, एक पुरुष एकके साथ युद्ध करे और कहे, कि-तू मेरे ऊपर बाण छोड और मैं तेरे ऊपर बाण छोडता हूँ ॥ ७ ॥ यदि वह क्षत्रिय कवच पहर कर लडनेको आवे तो उसके सामने कवच पहर कर युद्ध

चेद्धर्मतो युध्येद्धर्मेणैव निवारयेत् ॥ ६ ॥ नाश्वेन रथिनं यायादुदियाद्रथिनं रथी । व्यसने न प्रहर्त्तव्यं न भीताय जिताय च१० इषुर्लिप्तो न कर्णी स्यादसतामेतदायुधम् । यथार्थमेव योद्धव्यं न क्रुध्येत जिघांसतः ॥ ११ ॥ साधूनां तु यदा भेदात्साधुश्चेद्व्यसनी भवेत्। निष्प्राणो नाभिहन्तव्यो नानपत्यः कथञ्चन:१२ भग्नशस्त्रो विपन्नश्च कृत्तज्यो हतवाहनः । चिकित्स्यः स्यात् स्वविषये प्राप्यो वा स्वगृहे भवेत् ॥ १३ ॥ निर्व्रणश्च स मोक्तव्य एष

करे, यदि वह सेनाके साथ आवे तो उसके सामने सेनाके साथ चढाई करके उसे युद्धके लिये ललकारे ॥ ८ ॥ शत्रु कपटके साथ युद्ध करे तो उसके साथ कपटका युद्ध करे और यदि वह धर्मसे युद्ध करे तो उसके साथ धर्मसे ही लडे ॥ ६ ॥ रथीके सामने घोड़े पर सवार होकर युद्ध करनेको न जाय, किन्तु रथमें बैठकर रथीके सामने युद्ध करनेको जाय; शत्रु दुःखमें आपड़ा हो ऐसे समयमें उसके साथ युद्ध न करे, भयभीतके साथ न लड़े और जीते हुएके साथ भी न लड़े ॥ १० ॥ युद्धके समय बड़े२ (घोर वा संहारकारक) बाणोंसे काम न लेय, बाणोंपर जहर न चुपड़े तथा दाँतोंवाले कर्णी नामके बाणोंसे भी युद्धमें काम न लेय, ऐसे आयुधोंका व्यवहार दुष्ट पुरुष ही करते हैं, न्यायके साथ युद्ध करे जो प्रहार करनेको आवे उसके ऊपर क्रोध न करे ॥ ११ ॥ निर्बल, घायल, पुत्रहीन, जिसका शस्त्र टूटगया हो, जो विपत्तिमें आपडा हो, जिसके धनुषकी डोरी टूटगई हो और जिसका वाहन मरगया हो, ऐसे पुरुषके ऊपर कभी प्रहार न करे (जब धार्मिक राजाओंमें युद्ध हो तो उनमेंसे) एक लडनेवाला घायल होजाय तो धार्मिक राजा या तो उसको उसके देशमें पहुँचादेय अथवा उसको अपनी छावनीमें पहुँचाकर उसकी उत्तम शस्त्रवैद्योंसे चिकित्सा करवावे दो धार्मिक राजाओंके

धर्मः सनातनः । तस्माद्धर्मेण योद्धव्यमिति स्वायम्भुवोऽब्रवीत्१४
सतां नित्यः सतां धर्मस्तमास्थाय न नाशयेत् । यो वै जयत्य-
धर्मेण क्षत्रियो धर्मसङ्गरः ॥ १५ ॥ आत्मानमात्मना हन्ति पापो
निकृतिजीवनः । कर्म चैतदसाधूनामसाधुं साधुना जयेत् १६
धर्मेण निधनं श्रेयो न जयः पापकर्मणा । नाधर्मश्चरितो राजन्
सद्यः फलति गौरिव ॥१७॥ मूलानि च प्रशाखाश्च दहन् समधि-
गच्छति । पापेन कर्मणा वित्तं लब्ध्वा पापः प्रहृष्यति ॥ १८ ॥
स वर्द्धमानः स्तेयेन पापः पापे प्रसज्जति । न धर्मोस्तीति मन्वानः

युद्धमें, एक धार्मिक वीर मरणकी शङ्कामें आपड़े या उसके घावोंमेंसे खून बहता हो तो उसको छोड़देय यह, सनातन धर्म है, स्वायम्भुव मनु कहते हैं कि-क्षत्रियोंको धर्मके अनुसार युद्ध करना चाहिये ॥ १२-१४ ॥ सत्पुरुषोंका सदाका धर्म है कि-सत्पुरुषोंको शोभा देय इसप्रकार सत्पुरुषके साथ युद्ध करे परन्तु युद्धके धर्मको त्यागकर कभी वर्त्ताव न करे धर्मयुद्ध करनेका अधिकारी क्षत्रिय यदि अधर्मसे विजय करता है तो वह पापी है और पापकर्मसे अजीविका करनेवाला वह पुरुष आप ही अपना नाश करलेता है, अधर्मसे विजय करना दुष्ट पुरुषोंका काम है, अधर्मीको भी धर्मयुद्धसे वशमें करे ॥ १५ ॥ १६ ॥ अधर्मके युद्धसे विजय पानेकी अपेक्षा मरण होजाना अच्छा है परन्तु पापकर्मसे विजय होना अच्छा नहीं, हे राजन् ! आचरण कियाहुआ अधर्म पृथिवीकी समान तुरन्त ही फल नहीं देता है ॥१७॥ किन्तु वह धीरे २ जड़को और शाखाओंको जलाकर भस्म करडालता है पापी पुरुष पापकर्मसे धन पाकर बड़ा प्रसन्न होता है ॥१८॥ परन्तु (जाने रहो कि) पपाकर्मसे मिलेहुए धनके द्वारा पापमार्गमेंको ही आगेको बढ़ता है और धनसे बढ़नेके बाद पापकर्ममें डूबजाता है वह समझता है, कि-धर्म तो कोई

शुचीनवहसन्निव ॥ १९ ॥ अश्रद्दधानश्च भवेद्विनाशमुपगच्छति
सम्बद्धो वारुणैः पाशैरमर्त्य इव मन्यते ॥२०॥ महादृतिरिवाध्मातः सुकृतेनैव वर्तते । ततः समूलो ह्रियते नदीकूलादिव द्रुमः ॥ २१ ॥ अथैनमभिनन्दन्ति भिन्नं कुम्भमिवाश्मनि । तस्माद्धर्मेण विजयं कोशं लिप्सेत भूमिपः ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि विजिगीषमाणवृत्ते पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

भीष्म उवाच । नाधर्मेण महीं जेतुं लिप्सेत जगतीपतिः । अधर्मविजयं लब्ध्वा कोऽनुमन्येत भूमिपः ॥१॥ अधर्मयुक्तो विजयो

वस्तु ही नहीं है तथा पुण्यवानोंका उपहास करता है ॥ १९ ॥ वह धर्मको छोड बैठता है और अन्तको विनाशके पास पहुँचता है वह वरुणकी फाँसीमें बँधजाता है, तो भी अपने आपको अजर अमर मानता है ॥२०॥ जैसे चमडेकी बडी थैली पवनके भरनेसे फूलजाती है, ऐसे ही वह पापी पुरुष भी पापसे फूल जाता है और पुण्यकर्म करता ही नहीं, वह अन्तमें नदी पर खडाहुआ वृक्ष जैसे नदीके प्रवाहके जोरसे जडसहित उखडकर नदीमें बहनेलगता है ऐसे ही वह पापी मनुष्य भी मूलसहित (कुटुम्बके साथ) नष्ट होजाता है ॥ २१ ॥ तब पत्थर पर पटककर फोडे हुए घडेकी समान नष्टहुए उस पापी पुरुषकी लोग निन्दा करते हैं, इसलिये राजा धर्माचरण करके विजय प्राप्त करे तथा धर्मसे ही धनका भण्डार पानेकी इच्छा करे ॥ २२ ॥ पिचानवेवाँ अध्याय समाप्त ॥ ९५ ॥ छ ॥ ॥

भीष्मने कहा, कि-हे युधिष्ठिर ! चाहे सब पृथिवीका राज्य मिलता हो भी राजा अधर्मसे पृथिवी जीतनेकी कभी इच्छा न करे,कौनसा राजा अधर्मसे पृथिवीको जीतकर आनन्द मानेगा? १ अधर्मसे जो विजय की जाती है वह सन्देहभरी होती है और

ह्यधर्मोऽस्वर्ग्य एव च । सादयत्येष राजानं महीञ्च भरतर्षभ २
विशीर्णकवचञ्चैव तवास्मीति च वादिनम् । कृताञ्जलिं न्यस्तशस्त्रं गृहीत्वा न विहिंसयेत् ॥ ३ ॥ बलेन विजितो यश्च न तं युध्येत भूमिपः । सम्वत्सरं विप्रणयेत् तस्माज्जातः पुनर्भवेत् ४
नार्वाक् सम्वत्सरात् कन्या प्रष्टव्या विक्रमाहृता । एवमेव धनं सर्वं यच्चान्यत् सहसा हृतम् ॥ ५ ॥ न तु वध्यधनं तिष्ठेत्पिबेयुर्ब्राह्मणाः पयः । युञ्जीरन्नप्यनडुहः क्षन्तव्यं वा तदा भवेत् ६

स्वर्गसे गिरादेती है, इतना ही नहीं किन्तु हे भरतवंशमें श्रेष्ठ राजन् ! वह राजा और राज्य दोनोंका नाश करदेती है ॥ २ ॥ जिस योधाका कवच टूटगया हो, जो योधा कहे, कि–मैं तुम्हारा हूँ अथवा दोनों हाथ जोडकर खडा हो अथवा हाथमेंसे हथियार डालदेय, ऐसे योधाको कैद करलेय, परन्तु मारे नहीं ॥ ३ ॥ जिस राजाको चढ़ाई करनेवाली सेनाने जीता हो उस हारेहुए राजाके साथ जीतनेवाला राजा युद्ध न करे, किन्तु उसको बारह महीने तक महलमें कैद रखकर उससे यह कहलानेका उद्योग करे, कि–'मैं दास हूँ' उद्योग करने पर भी वह राजा यदि ऐसा न कहे तो एकवर्ष तक विजय पानेवालेके घरमें कैद रहनेसे उसका नया जन्म होता है और वह जीतनेवालेका पुत्र कहलाता है, इसीलिये उसको छोडदेय ॥ ४ ॥ तथा पराक्रम करके शत्रुके घरमेंसे हरकर लाईहुई कन्याको भी एक वर्षतक रखकर बूझे, कि–'तू मुझे वरना चाहती है या किसी दूसरेको ?' यदि कन्या दूसरेको वरना चाहे तो उसको विदा करदेय, ऐसे ही चढ़ाई करके हरकर लायेहुए दास दासी आदि धन भी एकवर्ष तक रखकर फिर वे जिसके होयँ उसको सौंपदेय॥५॥ चोर आदिका धन छीनकर लिया हो तो उसको राजा अपने घरमें न रखे, किन्तु उसको खरच करदेय गौ आदि छीनकर लाया हो तो

राज्ञा राजैव योद्धव्यस्तथा धर्मो विधीयते । नान्यो राजानमभ्य-
स्येदराजन्यः कथञ्चन ॥ ७ ॥ अनीकयोः संहतयोर्यदीयाद्
ब्राह्मणोन्तरा । शान्तिमिच्छन्नुभयतो न योद्धव्यं तदा भवेत् ॥८॥
मर्य्यादां शाश्वतीं भिन्द्याद् ब्राह्मणं योभिलंघयेत् । अथ चेल्लं-
घयेदेतां मर्य्यादां क्षत्रियब्रुवः ॥ ९ ॥ असंख्येयस्तदूर्ध्वं स्याद-
नादेयश्च संसदि । यस्तु धर्मविलोपेन मर्य्यादाभेदनेन च ॥१०॥
तां वृत्तिं नानुवर्त्तेत विजिगीषुर्महीपतिः । धर्मलब्धाद्धि विजि-
याल्लाभः कोभ्यधिको भवेत् ॥ ११॥ सहसानार्य्यभूतानि क्षिप्र-

वह ब्राह्मणोंको देदेय, ब्राह्मण उनका दूध पियें बैल छीनकर लाया हो तो उनको खेतोंके जोतनेमें अथवा बोझा ढोनेके काममें लावे, परन्तु वध करनेयोग्य पुरुष यदि चोर न हों तो उनको क्षमा करके उनका धन लौटादेय ६ राजा राजाके साथ ही युद्ध ही करे, यह धर्म है और जो राजा न हो उस मनुष्यको राजाके ऊपर कदापि प्रहार नहीं करना चाहिये ॥७॥ दोनों सेनाओंकी परस्पर मुठ-भेड़ होगई हो उस समय यदि ब्राह्मण दोनोंके बीचमें शान्ति करानेकी इच्छासे आकर खडा होजाय तो दोनों ओरके योधा उस समय युद्ध बन्द करदें ॥८॥ परन्तु दोनोंमेंसे एक भी ब्राह्मणका अपमान करता है (घायल करता है या मारडालता है) तो वह सनातन कालकी मर्यादाको तोडता है, जो क्षत्रिय इस सना-तन कालकी मर्यादाका उल्लङ्घन करता है उसको अधम क्षत्रिय जाने ॥ ९ ॥ जो क्षत्रियजातिका मनुष्य धर्मका नाश करता है और मर्यादाका भङ्ग करता है उस क्षत्रियको क्षत्रियकी गिनतीमें न गिने अर्थात् क्षत्रिय जातिमेंसे बाहर करदेय और क्षत्रियोंकी सभामेंसे निकालदेय ॥ १० ॥ जो राजा विजय चाहे वह सना-तन मर्यादाको कभी न तोड़े, धर्मयुद्ध करके जो विजय प्राप्त होती है उसके लाभसे बढकर दूसरा कोई लाभ नहीं है ॥११॥

मेव प्रसादयेत् । सान्त्वेन भोगदानेन स राज्ञां परमो नयः १२
भुज्यमाना ह्ययोगेन स्वराष्ट्रादभितापिता । अमित्रास्तमुपासीरन्
व्यसनौघप्रतीक्षिणः ॥१३॥ अमित्रोपग्रहञ्चास्य कुर्युस्ते क्षिप्र
मापदि । संदुष्टा सर्वतो राजन् राजव्यसनकांक्षिणः ॥ १४ ॥
नामित्रो विनिकर्त्तव्यो नातिच्छेद्यः कथञ्चन । जीवितं ह्यपति-
च्छिन्नः सन्त्यजेद्य कदाचन ॥ १५ ॥ अल्पेनापि च संयुक्त-
स्तुष्यत्येव नराधिपः । शुद्धं जीवितमेवापि तादृशो बहु मन्यते१६

चढ़ाई करनेवाला राजा शत्रुके देशको जीतनेके बाद(जो आनेशमें आजायँ ऐसे पशुव्योंको) तत्काल मधुर बातोंसे तथा अच्छे ईनाम देकर शीघ्र ही वशमें करलेय.विजयी राजाके ग्रहण करने योग्य यह उत्तम नीति है१२इस नीतिके अनुसार वर्त्ताव न करके यदि बलात्कार आदि अनुचित उपायोंसे उसको वशमें किया जाता है तो वे अत्यन्त क्रोधमें भरकर अपने देशको छोडजाते हैं और विजयी राजाके वैरीसे जामिलते हैं तथा विजयी राजाके ऊपर आपत्ति आपड़नेकी बाट देखते हैं ॥ १३ ॥ हे राजन् ! (विजय पानेवाले परदेशी राजासे दुःखित हुई) प्रजा चाहती है,कि–विजयी राजा दुःख पावे,वह बड़ी ही असन्तुष्ट रहती है और राजाके ऊपर ज्यों ही आपत्ति आकर पड़ती है, कि–तुरन्त उसके वैरियोंको अपने पक्षमें लेकर उसका नाश कर डालती है ॥ १४ ॥ वैरीको कपटसे दुःखी न करे, उसके ऊपर ऐसी चोट भी न करे, कि–जिससे वह मरजाय, प्राणान्तकारी प्रहार करनेसे कदाचित् वैरी मरजाय तो अच्छा परन्तु कपटसे की हुई चोट पापरूप होती है और धर्मयुद्धसे कियाहुआ प्रहार कीर्त्तिको बढ़ाता है ॥ १५ ॥ जो राजा थोडी सेना, धन और पृथिवी आदिसे प्रसन्न रहता है वह राजा अपने शुद्ध जीवनको भी अच्छा मानता है ॥ १६ ॥ जिस राजाका देश बसाहुआ

यस्य स्फीतो जनपदः सम्पन्नः प्रियराजकः । सन्तुष्टभृत्यसचिवो दृढमूलः स पार्थिवः ॥ १७ ॥ ऋत्विक्पुरोहिताचार्या ये चान्ये श्रुतसत्तमाः । पूजार्हाः पूजिता यस्य स वै लोकविदुच्यते॥१८॥ एतेनैव च वृत्तेन महीं प्राप सुरोत्तमः । अनेन चेन्द्रविषयं विजिगीषन्ति पार्थिवाः ॥१९॥ भूमिवर्ज्जं धनं राजा जित्वा राजन्महाहवे । अपि चान्नौषधीः शश्वदाजहार प्रतर्दनः ॥२०॥ अग्निहोत्राग्निशेषञ्च हविर्भोजनमेव च । आजहार दिवोदासस्ततो विप्रकृतोभवत् ॥ २१ ॥ सराजकानि राष्ट्राणि नाभागो दक्षिणां ददौ । अन्यत्र श्रोत्रियस्वाच्च तापसार्थाच्च भारत॥२२॥ उच्चा-

हो, समृद्धिवाला हो और प्रजा भक्तिवाली हो तथा जिसके सेवक और मंत्री सन्तुष्ट रहते हों, उस राजाकी जड़ मजबूत समझो ॥ १७ ॥ जो राजा पूजा करनेयोग्य ऋत्विजोंकी, पुरोहितोंकी, आचार्योंकी तथा शास्त्रको जानवाले उत्तम पुरुषोंकी पूजा करता है वह राजा लोकवेत्ता कहलाता है ॥ १८ ॥ इन्द्रने भी इस ही वर्त्तावसे स्वर्गलोकका राज्य पाया था और राजे भी इस ही वर्त्तावसे इन्द्रलोक-स्वर्गको पाना चाहते हैं ॥१९॥ हे राजन् ! प्रतर्दन नामके राजाने बड़ाभारी युद्ध करके, धन अन्न और औषधियोंको पाया था, परन्तु भूमिको नहीं छीना था, केवल उसकी उपजका ही स्वामी बना था ॥ २० ॥ दिवोदास नामके राजाने वैरी ऊपर विजय पानेके बाद, वैरीके यज्ञके अग्निहोत्रमें बाकी बचेहुए घी और भोजन आदिको छीनलिया था, इससे उसकी लोकमें निन्दा हुई थी और उसकी विजयकी कीर्त्ति नष्ट होगई थी ॥ २१ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! नाभाग नामके राजाने (विजय पानेके बाद) वेदवेत्ता ब्राह्मणोंके और तपस्वियोंके धनके सिवाय (वैरियोंसे जीतेहुए) दूसरे धन, राज्य और देश यज्ञकी दक्षिणामें ब्राह्मणोंको देदिये थे, यह

वचानि वित्तानि धर्मज्ञानां युधिष्ठिर । आसन्नार्हां पुराणानां सर्वं तन्मम रोचते ॥ २३ ॥ सर्वविद्यातिरेकेण जयमिच्छेन्महीपतिः । न मायया न दम्भेन य इच्छेद्भूतिमात्मनः ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि विजिगीषमाणवृत्ते षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ॥

युधिष्ठिर उवाच । क्षत्रधर्मान्न पापीयान् न धर्मोस्ति नराधिप। अपयानेन युद्धेन राजा हन्ति महाजनम् ॥ १ ॥ अथ स्म कर्मणा केन लोकान् जयति पार्थिवः। विद्वन् जिज्ञासमानाय प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ २ ॥ भीष्म उवाच । निग्रहेण च पापानां साधूनां संग्रहेण च। यज्ञैर्दानैश्च राजानो भवन्ति शुचयोऽमलाः ॥ ३ ॥ उपरुन्धन्ति राजानो भूतानि विजयार्थिनः। त एव विजयं प्राप्य वर्धयन्ति पुनः प्रजाः ॥ ४ ॥ अपविध्यन्ति पापानि दानयज्ञ-

सब प्राचीन कालके राजाओंका धर्म है, जो सब मुझे अच्छा लगता है ॥ २२-२३ ॥ जो राजा अपना कल्याण चाहता हो वह कपटसे या दम्भसे विजयकी इच्छा न करे, किन्तु उत्तम प्रकारके सब उपायोंसे विजयकी इच्छा करे ॥२४॥ छियानवेवाँ अध्याय समाप्त ॥ ९६ ॥ छ ॥ छ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि–हे नरेन्द्र ! क्षत्रियके धर्मसे बढ़कर महापापी दूसरा कोई भी धर्म नहीं है, क्योंकि–राजा कूच करते समय और युद्ध करते समय बहुतसे मनुष्योंका संहार करता है ॥१॥ इसलिये हे भरतसत्तम विद्वान् महात्मा ! राजा किस कर्मको करनेसे उत्तम लोकोंमें जाता है, इस बातको जानना चाहनेवाले मुझे बताइये ॥ २ ॥ भीष्मने कहा, कि–पापी मनुष्योंको दण्ड देनेसे, सत्पुरुषोंको आश्रय देनेसे, यज्ञोंको करनेसे और दान देनेसे राजा मनुष्योंकी हिंसाके पापसे छूटकर शुद्ध होजाता है ३ सत्य है, कि–राजे विजयकी इच्छासे प्रथम लोगोंको दुःख देते हैं,

तपोबलः । अनुग्रहाय भूतानां पुण्यमेषां विवर्धते ॥ ५ ॥ यथैव क्षेत्रनिर्याता निर्यातु' क्षेत्रमेव च । हिनस्ति धान्यं कक्षञ्च न च धान्यं विनश्यति ॥ ६ ॥ एवं शास्त्राणि मुञ्चन्तो घ्नन्ति वध्याननेकधा । तस्यैषा निष्कृतिः कृत्स्ना भूतानां भावनं पुनः ॥७॥ यो भूतानि धनाक्रान्त्या वधात् क्लेशाच्च रक्षति । दस्युभ्यः प्राणदानात् स धनदः सुखदो विराट् ॥८॥ स सर्वयज्ञैरीजानो राजाथाभयदक्षिणैः । अनुभूयेह भद्राणि प्राप्नोतीन्द्रसलोकताम् ॥६॥ ब्राह्मणार्थे समुत्पन्ने योऽभिधिः सृत्य युध्यति । आत्मानं यूपमु-

परन्तु विजय पानेके बाद वे फिर प्रजाको सुख देते हैं ॥ ४ ॥ वे दान, यज्ञ और तप करके उनके प्रतापसे अपने पापका नाश करते हैं और प्राणियोंके ऊपर अनुग्रह करते हैं, इससे उनका पुण्य बढ़ता है ॥ ५ ॥ जैसे खेतको साफ करनेवाला किसान खेतको साफ करनेके लिये खेतमेंसे घास आदिको बीनकर निकाल देता है और कमजोर धान्यको भी उखाडकर फैंक देता है, इससे धान्यका नाश नहीं होता है, किन्तु उलटी उसकी वृद्धि होती है (धान्य बहुतसा होता है) ॥ ६ ॥ जो शस्त्र उठाकर मारडालनेको सामने आवे वह मारनेके योग्य है, ऐसे संहारसे बचे हुए सत्पुरुषोंकी वृद्धि होती है, इसको ही उसके पापका पूरा २ प्रायश्चित्त जानो ॥ ७ ॥ जो धनकी लूटमेंसे, संहारमेंसे और दुःखमेंसे लोकोंकी रक्षा करता है, ऐसे ही जो राजा चोरोंसे लोगोंके प्राणोंकी रक्षा करता है, इससे वह धन, जीवन और अन्न देनेवाला गिनाजाता है ॥ ८ ॥ और इसप्रकार वह सब प्रकारके इकट्ठे यज्ञोंसे यजन करके लोगोंको अभय-रूप दक्षिणा देता है अर्थात् प्राणी-मात्रकी रक्षा करता है, इससे वह इस लोकमें सुखका अनुभव करके इन्द्रलोक-स्वर्गमें जाता है ॥ ६ ॥ जो राजा ब्राह्मणके लिये युद्ध करनेको जाता है वह

त्सृज्य स यज्ञोऽनन्तदक्षिणः ॥ १० ॥ अभीतो विकिरन् शत्रून् प्रतिगृह्य शरांस्तथा । न तस्मात् त्रिदशाः श्रेयो भुवि पश्यन्ति किंचन ॥११॥ तस्य शस्त्राणि यावन्ति त्वचं भिन्दन्ति संयुगे । तावतः सोऽश्नुते लोकान् सर्वकामदुहोऽक्षयान् ॥ १२ ॥ यदस्य रुधिरं गात्रादाहवे सम्प्रवर्त्तते । सह तेनैव पापेन सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १३ ॥ यानि दुःखानि सहते क्षत्रियो युधि तापितः । तेन तेन तपो भूय इति धर्मविदो विदुः१४ पृष्ठतो भीरवः संख्ये वर्तंते धर्मपूरुषाः । शूराच्छरणमिच्छन्तः पर्जन्यादिव जीवनम्१५ यदि शूरस्तथा क्षेमं प्रतिरक्षेद्यथा भये । प्रतिरूपं जनं कुर्वन्ति चेत्तद्वर्तते तथा ॥१६॥ यदि ते कृतमाज्ञाय नमस्कुर्युः सदैवतम् ।

अपने देहको यज्ञका स्तंभ बनाकर अपार दक्षिणावाला यज्ञ करता है ॥ १० ॥ जो राजा संग्राममें भयभीत न होकर अपने भाथेमेंसे बाण निकाल२ कर निडर होकर वैरिओंको मारता है, उससे बढ़कर दूसरे किसीको भी इस पृथिवीपर देवता उत्तम नहीं मानते ११ युद्धमें जितने शस्त्रोंसे वह राजा वैरीके ऊपर प्रहार करता है उतने ही, सकल कामनाओंको पूरी करनेवाले अक्षय लोकोंमें निवास करता है ॥ १२ ॥ युद्धमें शरीरमेंसे जो रुधिरकी धार बहती है वह प्रवाह और दुःख राजाके सब पापोंका नाश करदेते हैं १३ युद्धमें सन्ताप पाकर वह जिन २ दुःखोंको सहता है उन दुःखोंसे मानो बड़ेभारी तपका साधन करता है, ऐसा धर्मवेत्ता कहते हैं ॥१४॥ लोग जैसे वर्षासे जल पाना चाहते हैं ऐसे ही धर्मनिष्ठ भीरु पुरुष वीरोंसे शरण पानेकी इच्छा करके युद्धमें वीरोंके पीछे रहते हैं ॥ १५ ॥ जो वीर पुरुष युद्धके भयकी जोखम (जीवनके लिये) प्रार्थना करनेवालोंके ऊपर न डालकर उनको अपने पीछे रख स्वयं भयके सामने आगेको बढते हैं तथा दूसरोंकी रक्षा करते हैं उनको (भयसे घबडायेहुओंका) पुण्य प्राप्त होता

युक्तं न्याय्यं च कुर्युस्ते न च तद्वर्तते तथा ॥ १७ ॥ पुरुषाणां समानानां दृश्यते महदन्तरम् । संग्रामेनीकवेलायामुत्कृष्टेभिपतन्त्युत ॥ १८ ॥ पतत्यभिमुखः शूरः परान् भीरुः पलायते । आस्थाय स्वर्ग्यमध्वानं सहायान् विषमे त्यजेत् ॥ १९ ॥ मा स्म तांस्तादृशांस्तात जनिष्ठाः पुरुषाधमान । ये सहायान् रणे हित्वा स्वस्तिमन्तो गृहान् ययुः ॥ २० ॥ अस्वस्ति तेभ्यः कुर्वंति देवा इंद्रपुरोगमाः । त्यागेन यः सहायानां स्वान्प्राणांस्त्रातुमिच्छति ॥ २१ ॥ तं हन्युः काष्ठलोष्ठैर्वा दहेयुर्वा कटाग्निना ।

है ॥ १६ ॥ और वे भय पायेहुए पुरुष (शूरोंकी) शूरताकी प्रशंसा करके उनको नमस्कार करते हैं तो उनका काम योग्य और न्यायानुकूल कहलाता है, परन्तु इसके विपरीत वर्त्ताव करनेसे वे भयसे नहीं छूटसकते ॥ १७ ॥ सब पुरुष (देखनेमें) एकसे होते हैं, परन्तु उनके काममें बडा अन्तर होता है, जब युद्धमें सेनाओंकी आपसमें मुठभेड होजाती है, मार काट की पुकार पड़ने लगती है, तब कितने ही वैरिओंकी शस्त्रधारी सेनाके सामने जाडटते हैं और कितने ही पीछेको हटजाते हैं १८ वीर पुरुष युद्धके समय वैरीकी टोलीके सामने जा डटते हैं वे अपने लिये स्वर्गका मार्ग बनालेते हैं, परन्तु जो डर पोक मनुष्य रणमेंसे भागजाते हैं वे अपने सहायकोंको सङ्कटमें ढकेल देते हैं ॥१९॥ हे तात युधिष्ठिर ! जो अपने सहायक पुरुषोंको रणमें ही छोडकर शस्त्रसे घायल हुए बिना ही अपने घरको चलेजाते हैं ऐसे अधम पुरुषोंको अपनी जातिमें न रहने दे ॥२०॥ जो पुरुष अपने सहायकोंको रणमें छोडकर एक भी घाव खाये बिना भागजाते हैं उनके ऊपर इन्द्र आदि देवता आपत्ति ही डालते हैं ॥ २१ ॥ जो क्षत्रिय अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये रणमें अपने सहायकोंका त्याग करदेते हैं उनको लकडियें अथवा

पशुवन्मारयेयुर्वा क्षत्रिया ये स्युरीदृशाः ॥ २२ ॥ अधर्मः क्षत्रियस्यैष यच्छय्यामरणं भवेत । विसृजन् श्लेष्ममूत्राणि कृपणं परिदेवयन्॥२३॥अविक्षतेन देहेन प्रलयं योऽधिगच्छति । क्षत्रियो नास्य तत्कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः ॥ २४ ॥ न गृहे मरणं तात क्षत्रियाणां प्रशस्यते । शौटीराणामशौटीर्यमधर्म्यं कृपणञ्च तत् २५ इदं दुःखं महत्कष्टं पापीय इति निष्टनन् । प्रतिध्वस्तमुखः पूतिरमात्याननुशोचयन् ॥ २६ ॥ अरोगाणां स्पृहयते मुहुर्मृत्युमपीच्छति । वीरो दृप्तोऽभिमानी च नेदृशं मृत्युमर्हति ॥२७॥ रणेषु

मट्टीके ढले मार कर मारडाले अथवा उनके शरीरों पर पतेल लपेट अग्निसे जलाकर छोडदेय, जो क्षत्रिय ऐसा वर्त्ताव करे उसको पशुकी समान मार देकर मारडाले ॥ २२ ॥ थूकता और पेशाब करता और दयाजनक रूपसे रोताहुआ खाटमें पडकर जो क्षत्रिय मरता है वह पाप उसको लगता है ॥ २३ ॥ जो क्षत्रिय शरीरके घायल हुए विना मरता है अर्थात् घरमें मर जाता है तो उसके उस मरणकी प्राचीन इतिहास जाननेवाले प्रशंसा नहीं करते हैं ॥ २४ ॥ हे तात ! क्षत्रियोंका घरमें मर जाना अच्छा नहीं कहलाता है, वीरका मरना रणमें है, वीर पुरुष खटिया पर पडा२ मरे यह अधर्मरूप और निन्दाकी बात है ॥ २५ ॥ रोगमें, ओहो ! यह तो बडा दुःख आपडा बड़े ही कष्टने आदवाया ! मैं महापापी हूँ ! इसप्रकार जो पुरुष खाटमें पडा२ बर्राया करता है,जिसका मुख कुमलाजाय, शरीरमेंसे और कपडोंमेंसे दुर्गन्धि निकले तथा अपने कुटुम्बियोंके सामने रोकर उनको शोकातुर करडाले वह क्षत्रिय नहीं है, किन्तु नीच है २६ वीर,गर्वीला और अभिमानी पुरुष या तो अपना आरोग्य चाहता है अथवा वारंवार मृत्युको ही चाहता है परन्तु ऊपर दिखायी हुई मौतसे मरना उसको उचित नहीं मालूम होता २७

कदनं कृत्वा ज्ञातिभिः परिवारितः । तीक्ष्णैः शस्त्रैरभिक्लिष्टः क्षत्रियो मृत्युमर्हति ॥२८॥ शूरो हि काममन्युभ्यामाविष्टो युध्यते भृशम् । हन्यमानानि गात्राणि परैर्नैवावबुध्यते ॥ २९ ॥ स संख्ये निधनं प्राप्य प्रशस्तं लोकपूजितम् । स्वधर्मं विपुलं प्राप्य शक्रस्यैति सलोकताम् ३० ॥ सर्वोपायै रणमुखमातिष्ठंस्त्यक्तजीवितः । प्राप्नोतीन्द्रस्य सालोक्यं शूरः पृष्ठमदर्शयन् ॥ ३१ ॥ यत्र यत्र हतः शूरः शत्रुभिः परिवारितः । अक्षयांल्लभते लोकान् यदि दैन्यं न सेवते ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

युधिष्ठिर उवाच । के लोका युध्यमानानां शूराणामनिवर्त्ति-

जो सच्चा क्षत्रियका बच्चा है वह अपने संबन्धियोंके साथमें होकर रणमें वैरियोंका संहार कर तीखे शस्त्रोंसे घायल होकर ही मरना चाहता है ॥ २८ ॥ जो पुरुष काम और क्रोधके वशमें होकर खूब जूझता है और वैरी अपने शस्त्रोंसे उसके अङ्गोंको घायल करते हैं तो भी उसकी जो परवाह नहीं करता है ॥२९॥ वह वीर पुरुष युद्धमें लोकोंमें प्रशंसा पायेहुए उत्तम मरणको पा बड़ाभारी पुण्यसञ्चय करके इन्द्रलोकमें जाता है ॥ ३० ॥ वीर पुरुष रणमें पीठ नहीं दिखाता है, किन्तु प्राणोंकी परवाह न करके सब प्रकारके उपायोंसे रणके मुहाने पर खडा होकर लडता है और मरणके बाद इन्द्रलोकमें जाता है ॥ ३१ ॥ जो पुरुष वैरियोंसे घिरजाने पर और जहाँ तहाँसे घायल होजाने पर मनमें जरा भी नहीं डरता या उदास नहीं होता वह पुरुष ही अक्षय लोकोंको पाता है ॥३२॥ सत्तानवेवाँ अध्याय समाप्त

युधिष्ठिरने कहा, कि–हे पितामह ! रणमें पीछेको पैर न देनेवाले वीर पुरुष युद्ध करते हुए मरजाते हैं तो उनको कौनसा

नाम् । भवन्ति निधनं प्राप्य तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥ भीष्म उवाच । अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । अम्बरीषस्य संवादमिन्द्रस्य च युधिष्ठिर ॥२॥ अम्बरीषो हि नाभागिः स्वर्गं गत्वा सुदुर्लभम् । ददर्श सुरलोकस्थं शक्रेण सचिवं सह ॥३॥ सर्वतेजोमयं दिव्यं विमानवरमास्थितम् । उपर्युपरि गच्छन्तं स्वं वै सेनापतिं प्रभुम्॥४॥स दृष्ट्वोपरि गच्छन्तं सेनापतिमुदारधीः॥ ऋद्धिं दृष्ट्वा सुदेवस्य विस्मितं प्राह वासवम् ॥ ५ ॥ अम्बरीष उवाच । सागरान्तां महीं कृत्स्नामनुशास्य यथाविधि । चातुर्वर्ण्ये यथाशास्त्रं प्रवृत्तो धर्मकाम्यया ॥६॥ ब्रह्मचर्येण घोरेण गुर्वाचारेण सेवया । वेदानधीत्य धर्मेण राजशास्त्रञ्च केवलम् ॥ ७ ॥ अतिथीनन्न-

लोक मिलता है? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥ भीष्मजीने कहा, कि-हे राजा युधिष्ठिर ! राजा अम्बरीष और इन्द्रका सम्वाद-रूप एक पुरातन इतिहास इस विषयमें इसप्रकार है ॥ २ ॥ नाभागका पुत्र अम्बरीष, अत्यन्त दुर्लभ स्वर्गमें गया तब वहाँ उसने अपने सेनापतिको इन्द्रके साथ देखा ॥ ३ ॥ उसने देखा तो उसका सेनापति सब प्रकारके तेजसे भरपूर था, देवरूपसे एक उत्तम विमानमें बैठाहुआ था और वह उसके ऊपर ही ऊपरको चढ़ता चला जाता था ॥ ४ ॥ उदार बुद्धि अम्बरीषने अपने सेनापति सुदेवको अपनेसे ऊपरको जाता देखकर तथा उसकी समृद्धिको देखकर आश्चर्य माना और इन्द्रसे बूझा ।५। अम्बरीषने कहा, कि-मैंने शास्त्रकी आज्ञानुसार समुद्र पर्यन्तकी सब पृथिवी पर राज्य किया है, धर्म सञ्चय करनेकी इच्छासे शास्त्रमें लिखे अनुसार चारों वर्णोंको धर्ममें चलाया है ॥ ६ ॥ मैंने भयानक ब्रह्मचर्याश्रमके सब अङ्गोंको पाला है, बड़े २ आचारोंका पालन करतेहुए गुरुकी सेवाकी है, राजाके धर्मानुसार वेदोंको और नीतिशास्त्रको पढ़ा है ॥ ७ ॥ अन्नपानसे

पानेन पितृंश्च स्वधया तथा । ऋषीन् स्वाध्यायदीक्षाभिर्देवान् यज्ञैरनुत्तमैः ॥८॥ क्षत्रधर्मे स्थितो भूत्वा यथाशास्त्रं यथाविधि । अदीक्षमाणः पृतनां जयामि युधि वासव ॥९॥ देवराज सुदेवोयं मम सेनापतिः पुरा । आसीद्योधः प्रशान्तात्मा सोयं कस्मादतीव माम् ॥ १० ॥ अनेन क्रतुभिर्मुख्यैर्नेष्टं नापि द्विजातयः । तर्पिता विधिवच्छक्र सोयं कस्मादतीव माम् ॥११॥ इन्द्र उवाच । एतस्य विततस्तात सुदेवस्य बभूव ह । संग्रामयज्ञः सुमहान् यश्चान्यो युध्यते नरः ॥१२॥ सन्नद्धो दीक्षितः सर्वो योधः प्राप्य चमूमुखम् । युद्धयज्ञाधिकारस्थो भवतीति विनिश्चयः ॥१३॥ अम्बरीष उवाच । कानि यज्ञे हवींष्यस्मिन् किमाज्यं का च दक्षिणा।

अतिथियोंकी सेवा और स्वधासे पितरोंकी सेवाकी है, स्वाध्याय दीक्षासे ऋषियोंको तृप्त किया है और उत्तम यज्ञोंसे देवताओंको तृप्त किया है ॥८॥ मैं शास्त्रमें लिखी विधिके अनुसार क्षत्रिय के धर्मका वर्त्ताव करता हूँ और हे इन्द्र! मैंने युद्धमें आगेको चरण बढ़ाकर वैरीसेनाको हराया है तथा मैंने बहुतसे युद्ध जीते हैं ॥ ९ ॥ हे इन्द्र! यह सुदेव पहले मेरा सेनापति था, सत्य है, कि—यह एक शान्तमनका योधा था, यह मुझसे आगे कैसे बढ़गया? ॥ १० ॥ हे इन्द्र! इसने मुख्य यज्ञोंसे देवताओंका यजन नहीं किया तथा शास्त्रमें लिखी विधिसे ब्राह्मणोंको भी तृप्त नहीं किया है तो भी यह मुझसे आगे कैसे बढ़गया? ११ इन्द्रने कहा, कि—हे तात! इस सुदेवने रणयज्ञ नामका बड़ा ही यज्ञ किया है, इस यज्ञका फल क्षत्रियके सिवाय दूसरा कोई भी पुरुष युद्ध करनेसे नहीं पासकता ॥ १२ ॥ युद्धयज्ञमें दीक्षित हुआ जो योधा शरीर पर कवच पहर कर सेनाके मुहाने पर आगेको बढ़ता है उसको युद्धयज्ञका अधिकार प्राप्त होता है, यह शास्त्रका निश्चय है ॥ १३ ॥ अम्बरीषने पूछा, कि—हे इन्द्र!

ऋत्विगश्चात्र के प्रोक्तास्तन्मे ब्रूहि शतक्रतो ॥१४॥ इन्द्र उवाच । ऋत्विजः कुञ्जरास्तत्र वाजिनोऽध्वर्यवस्तथा । हवींषि परमांसानि रुधिरं त्वाज्यमुच्यते ॥ १५ ॥ शृगालगृध्रकाकोलाः सदस्यास्तत्र पत्रिणः । आज्यशेषं पिबन्त्येते हविः प्राश्नन्ति चाध्वरे ॥१६॥ प्रासतोमरसंघाताः खड्गशक्तिपरश्वधाः । ज्वलन्तो निशिताः पीताः स्रुचस्तस्याथ सत्रिणः ॥ १७ ॥ चापवेगायतस्तीक्ष्णः परकायावभेदनः। ऋजुः सुनिशितः पीतः सायकश्च स्रुवो महान् १८ द्वीपिचर्मावनद्धश्च नागदन्तकृतत्सरुः । हस्तिहस्तधरा खड्गः स्फिग्भवेत्तत्र संयुगे ॥१९॥ ज्वलितैर्निशितैः प्रासशक्त्यृष्टिसपर-

इस यज्ञमें कौनसे हवि होने चाहियें, क्या घी होना चाहिये, कौनसी दक्षिणा होनी चाहिये और कौनसे ऋत्विज कहे हैं, यह मुझे बताइये ॥ १४ ॥ इन्द्रने उत्तर दिया, कि-रणयज्ञमें हाथी ऋत्विजरूप हैं, घोड़े अध्वर्यु हैं, शत्रुओंका मांस हवि कहलाता है, रुधिर घी कहलाता है ॥१५॥ सियार, गिद्ध, काकोल तथा पक्षी रणयज्ञमें सदस्य (सभासद) कहलाते हैं, वे होमनेसे बचेहुए घीको पीते हैं और हविका भक्षण करते हैं ॥ १६ ॥ तेजस्वी, सानपर घिसकर तेज कियेहुए और खारा पानी पिलाये हुए प्रास, तोमर, तलवार, शक्ति और फरसा ये सब यज्ञ कर्त्ताके स्रुक् हैं ॥१७॥ धनुषके वेगके वशमें रहना, बहुत तेज, शत्रुकी कायाको काटडालनेवाला, फुरतीला, बहुत ही तेज किया हुआ और पानी पिलायाहुआ बाण यज्ञकर्त्ताका बड़ा स्रुवा है १८ बाघके चमड़ेके म्यान और हाथी दाँतकी मूठवाली तथा हाथी की सूँडको चीरडालनेवाली तलवार, युद्ध यज्ञमें रेखा करनेका खड्गाकार काठका स्फिक् मानाजाता है ॥ १९ ॥ जलताहुआसा, अत्यन्त तीक्ष्ण और मजबूत लोहेका बनाहुआ प्रास, शक्ति, ऋष्टि और फरसोंसे शत्रुओंके ऊपर जो प्रहार कियाजाता है,

श्वधैः । शैक्यायसमयैस्तीक्ष्णैरभिघातो भवेद्वसु ॥ २० ॥ संख्या
समयविस्तीर्णमभिजातोद्भवं बहु । आवेगाद्यच्च रुधिरं संग्रामे
स्रवते भुवि ॥ २१ ॥ सास्यपूर्णाहुतिर्होमे समृद्धा सर्वकामधुक् ।
छिन्धि भिन्धीति यः शब्दः श्रूयते वाहिनीमुखे ॥२२॥ सामानि-
सामगास्तस्य गायन्ति यमसादने । हविर्धानन्तु तस्याहुः परेषां
वाहिनीमुखम् ॥ २३ ॥ कुञ्जराणां हयानाञ्च वर्म्मिणां च
समुच्चयः । अग्निः श्येनचितो नाम स च यज्ञे विधीयते २४
उत्तिष्ठते कवन्धोत्र सहस्रे निहते तु यः । स यूपस्तस्य शूरस्य
खादिरोष्टास्रिरुच्यते ॥ २५ ॥ इडोपहूताः क्रोशन्ति कुञ्जरा-
स्त्वंकुशेरिताः । व्याघुष्टतलनादेन वषट्कारेण पार्थिव २६उद्गाता
तत्र संग्रामे त्रिसामा दुन्दुभिर्नृप । ब्रह्मस्वे ह्रियमाणे तु त्यक्त्वा

वह कुलीन लोगोंका संख्या और समयके अनुसार अर्पण किया
हुआ, यज्ञका बहुतसा द्रव्य है ॥ २० ॥ युद्धमें बड़े ही वेगके
साथ शरीरमेंसे पृथिवी पर जो रुधिर टपकता है वह रणयज्ञकी
सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाली समृद्धिवाली पूर्णाहुति है२१
रणके मुहाने पर काटडालो, छेदडालो ऐसा जो शब्द सुनाई
आता है उसको यज्ञमन्दिरमें सामगान करनेवालोंका सामगान
समझो ॥ २२ ॥ शत्रुओंकी सेनाके मुखको हविर्धान (हवि
स्थापन करनेका स्थान (कहा है ॥ २३ ॥ हाथी, घोड़े और
कवचधारियोंका समूह रणयज्ञमें श्येनचित् नामका अग्नि कह-
लाता है ॥ २४ ॥ हजारों सैनिकोंको मारडालाजाता है तब
उनमेंसे जो धड़ रणमें खडा होजाता है, उसको वीरका आठ
कोनेवाला खैरका यूप (यज्ञस्तम्भ) जानो ॥ २५ ॥ अंकुशसे
मारेहुए हाथी जो चिंघाड़ते हैं उसको इडामन्त्र जानो और
हे राजन्! हाथकी हथेलियोंसे जो शब्द होता है उसको वषट्कार
जानो ॥२६॥ उस रणमें बजनेवाली दुन्दुभिको त्रिसामा उद्गाता

युद्धे प्रियां तनुम् २७ आत्मानं यूपमुत्सृज्य स यज्ञोऽनन्तदक्षिणः। भर्त्तुरर्थे च यः शूरो विक्रमेद्वाहिनीमुखे ॥ २८ ॥ न भयाद्विनिवर्त्तेत तस्य लोका यथा मम। नीलचर्मावृतैः खड्गैर्बाहुभिः परिघोपमैः ॥२६॥ यस्य वेदिरुपस्तीर्णा तस्य लोका यथा मम। यस्तु नापेक्षते कञ्चित् सहायं विजये स्थितः ॥ ३० ॥ विगाह्य वाहिनीमध्यं तस्य लोका यथा मम। यस्य शोणितसंघाता भेरीमण्डूककच्छपा ॥३१॥ वीरास्थिशर्करा दुर्गा मांसशोणितकर्दमा। असिचर्मप्लवा घोरा केशशैवलशाद्वला ॥ ३२ ॥ अश्वनाग-

जानो, इसप्रकार रणयज्ञकी सामग्री है, ब्राह्मणके धनको कोई छीनकर लेजाता हो उस समय जो पुरुष अपने प्यारे शरीरको युद्धमें होमदेता है और अपने आत्माको यूप बनाता है उसके लिये वह अनन्त दक्षिणावाला यज्ञ होजाता है ॥ २७ ॥ और जो वीर पुरुष अपने स्वामीके लिये रणके मुहाने पर खडा होकर पराक्रम करता है और भयसे पीछेको नहीं हटता है उसको मेरेसे लोकोंमें वास होता है ॥ २७ ॥ काले रङ्गके चमड़ेसे ढकी हुई तलवारोंसे तथा लोहदण्डकी समान विशाल भुजाओंसे जिसके रणयज्ञकी वेदी ढकीहुई होती है उस वीरका मेरेसे लोकोंमें वास होता है ॥ २६ ॥ जो पुरुष विजय करते समय किसीकी भी सहायताकी अपेक्षा नहीं रखता है, किन्तु शत्रुकी सेनामें घुसकर युद्ध करता है उन शूरोंका मेरे ही लोकोंमें वास होना है ॥३०॥ जिसमें दुन्दुभियें कछुओं और मेंडकोंका काम करती हैं, वीर पुरुषोंकी हड्डियें रेतीके स्थानमें होती हैं, मांस और रुधिर कीच बन जाता है, तलवार और ढालें घन्नईके स्थानमें होती हैं, वीर पुरुषोंके कटेहुए बाल सिवार और तृणकी समान तैरते हैं, हाथी घोड़े तथा टूटेहुए रथोंके ढेर नदीके ऊपर बनेहुए पुलका काम देते हैं, पताका और ध्वजाएँ

रथैश्चैव संछिन्नैः कृतसंक्रमा । पताकाध्वजवानीरा हतवारणवाहिनी ॥ ३३ ॥ शोणितोदासुसंपूर्णा दुस्तरा पारगैर्नरैः । हतनागमहानक्रा परलोकवहाऽशिवा ॥ ३४ ॥ ऋष्टिखड्गमहानौका गृध्रकंकबलप्लवा । पुरुषादानुचरिता भीरूणां कश्मलावहा ३५ नदी योधस्य संग्रामे तदस्यावभृथं स्मृतम् । वेदिर्यस्य त्वमित्राणां शिरोभिश्च प्रकीर्यते । अश्वस्कन्धैर्गजस्कन्धैस्तस्य लोका यथा मम । पत्नीशाला कृता यस्य परेषां वाहिनीमुखम् ॥३७॥ हविर्धानं स्ववाहिन्यास्तदस्याहुर्मनीषिणः । सदस्या दक्षिणा योधा

नदीमें लगेहुए बेतसे दीखते हैं, हाथियोंके कटेहुए शरीर मच्छ और मगरमच्छसे दीखते हैं, वीरोंके शरीरोंमेंसे निकलते हुए रुधिरके प्रवाहोंसे वह लबालब भरी चलीजाती है, वीर पुरुषोंको भी डरानेवाली इस रुधिरकी नदीके परले पार पहुँचना मनुष्योंके लिये बडा ही कठिन होता है, तो भी यह नदी स्वर्गमें लेजानेवाली और कल्याण करनेवाली है३१-३४ इस नदीमें तलवार और ऋष्टिरूप बडी नौका होती हैं, गिज्ज कङ्क और बलाजातिके काकरूप डोंगे होते हैं, ऐसी इस नदीके पार बडी हिम्मतवाले और बलवान् पुरुष ही होसकते हैं और जो कायर मनुष्य देखते ही भयके मारे काँपने लगते हैं इस मोक्षरूप यज्ञमें वीर पुरुष अन्तका अवभृथ स्नान करते हैं, जिस वीर पुरुषकी रणयज्ञरूपवेदी शत्रुओंके शिर, घोडोंकी गरदनें और हाथियोंके कुम्भ स्थलोंसे भरजाती है उस वीर पुरुषका मेरेसे लोकोंमें वास होता है ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ पण्डित कहते हैं, कि–जो वीरपुरुष शत्रुकी सेनाके मुहानेको अपनी प्रियाका महल समझता है जो वीरपुरुष अपनी सेनाके मुहानेको हवि रखनेका पात्र समझता है, बाईं ओर खड़े हुए योधाओंको उसके सभासद समझता है और दाहनी ओर खडेहुए योधाओंको अग्नीध्र

अग्नीध्रश्चोत्तरां दिशम् ॥३८॥ शत्रुसेना कलत्रस्य सर्वलोकान-
दूरतः॥ यदा तूभयतो व्यूहे भवत्याकाशमग्रतः॥३९॥सास्य वेदिस्तदा
यज्ञैर्नित्यं वेदास्त्रयोऽग्नयः । यस्तु योधः परावृत्तः संत्रस्तो हन्यते
परैः ॥ ४० ॥ अप्रतिष्ठः स नरकं याति नास्त्यत्र संशयः । यस्य
शोणितवेगेन वेदिः स्यात् संपरिप्लुता ॥ ४१ ॥ केशमांसास्थि-
सम्पूर्णा स गच्छेत्परमां गतिम् । यस्तु सेनापतिं हत्वा तद्यान-
मधिरोहति ॥ ४२ ॥ स विष्णुविक्रमक्रामी बृहस्पतिसमः प्रभुः ।
नायकं तत् कुमारं वा यो वा स्यात्तत्र पूजितः । जीवग्राहं प्रगृ-
ह्णाति तस्य लोका यथा मम ॥ ४३ ॥ आहवे तु हतं शूरं न
शोचेत कथञ्चन ॥ ४४ ॥ अशोच्यो हि हतः शूरः स्वर्गलोके

ऋत्विज मानता है ॥३७॥३८॥ और जो वीर शत्रुकी सेनाको
अपनी स्त्री समझता है ऐसा यज्ञ करनेवाला सब सुखों वाले
धामको पाता है, व्यूहरचनामें खडी हुई दोनों सेनाओंके आगेका
खाली स्थान संग्रामरूप रणयज्ञ करनेवाले यजमानकी वेदी है,
ऋक् यजु और साम ये तीन वेद उसकी अग्नि हैं, ऐसी वेदी
पर तीनों वेदोंका गान करता हुआ जो नित्य रणयज्ञ करता
है (जिस यज्ञका फल इन्द्रलोककी प्राप्ति है) जो योधा
भयभीत होकर रणमें पीठ दिखाता है उसको शत्रु मारडालते
हैं और वह अप्रतिष्ठा पाकर नरकमें ही जाता है, इसमें
जरा भी सन्देह नहीं है, परन्तु जो पुरुष रुधिर, केश
मांस और हड्डियोंसे भरे रणयज्ञकी वेदीको प्रज्वलित करता
है वह परमगतिको पाता है, जो पुरुष शत्रुसेनाके सेनापतिको
मारकर सवारी पर चढ बैठता है वह विष्णुकी समान पराक्रमी
और बृहस्पतिकी समान बुद्धिमान् मानाजाता है, जो वीर शत्रु
सेनाके बडोंको अथवा उसके कुमारको अथवा प्रसिद्ध नायकको
जीवित पकडलेता है उस पुरुषका (नीचेके) संसारमें सत्कार

महीयते । न ह्यन्नं नोदकं तस्य न स्नानं नाप्यशौचकम् ॥४५॥ हतस्य कर्तुमिच्छन्ति तस्य लोकान् शृणुष्व मे । वराप्सरसहस्राणि शूरमायोधने हतम् ॥ ४६ ॥ त्वरमाणाभिधावन्ति मम भर्त्ता भवेदिति । एतत्तपश्च पुण्यञ्च धर्मश्चैव सनातनः ॥४७॥ चत्वारश्चाश्रमास्तस्य यो युद्धमनुपालयेत् । वृद्धबालौ न हन्तव्यौ न च स्त्री नैव पृष्ठतः ॥ ४८ ॥ तृणपूर्णमुखश्चैव तवास्मीति च यो वदेत् । जम्भं वृत्रं वलं पाकं शतमायं विरोचनम् ॥ ४९ ॥ दुर्वार्य्यं चैव नमुचिं नैकमायञ्च शम्बरम् । विप्रचित्तिं च दैतेयं

होता है और फिर मेरेसे लोकोंमें निवास होता है, वीर पुरुष युद्धमें माराजाय तो उसका कुछभी शोक नहीं करनाचाहिये३९-४४ क्योंकि-वीर पुरुष रणमें मरकर स्वर्गमें पूजाजाता है, फिर उसका शोक किसलिये करना ? उसके लिये अन्नदान और जल दान भी नहीं करना चाहिये, उसके लिये स्नान भी न करे और उसका सूतक भी न पाले ॥ ४५ ॥ अब युद्धमें मरने वाले वीरको जो लोक मिलते हैं उन लोकोंको भी तू मुझसे सुन, रणमें वीरको मारागया देखकर हजारों उत्तम अप्सरायें 'यह मेरा पति है' 'यह मेरा पति है' ऐसा कहती हुई बडी शीघ्रतासे उसके (चैतन्यकी) ओरको दौडती हैं जो वीर युद्ध करता है उसने ही तप, पुण्य, सनातनधर्म और चारों आश्रमोंके धर्म पाले हैं, वीर रणमें वृद्धको या बालकको न मारे, स्त्रीको भी न मारे और जो पीठ दिखाकर भागता हो उसको भी न मारे ॥ ४६-४८ ॥ जो मुखमें तिनुका दबाकर कहे, कि-'मैं तुम्हारा दास हूँ' उसको भी न मारे, जम्भासुर, वृत्रासुर, बल, पाक, शतमाय, विरोचन, दुर्वार्य नमुचि, अनेकों मायाओंको जाननेवाले शम्बर तथा दिति और दनुके सब पुत्रोंको और प्रह्लादको युद्धमें मारकर मैं देवताओंका राजा हुआ हूँ ! भीष्मने

दनोः पुत्रांश्च सर्वशः ॥ ५० ॥ प्रह्लादश्च निहत्याजौ ततो देवाधिपोभवम् । भीष्म उवाच । इत्येतच्छक्रवचनं निशम्य प्रतिगृह्य च । योधानामात्मनः सिद्धिमम्बरीषोभिपन्नवान् ॥५१॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि इन्द्राम्बरीषसम्वादे अष्टनवतितमोध्यायः ॥ ९८ ॥

भीष्म उवाच । अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । प्रतर्दनो मैथिलश्च संग्रामं यत्र चक्रतुः ॥ १ ॥ यज्ञोपवीती संग्रामे जनको मैथिलो यथा । योधानुद्धर्षयामास तन्निबोध युधिष्ठिर २ जनको मैथिलो राजा महात्मा सर्वतत्त्ववित् । योधान् स्वान् दर्शयामास स्वर्गं नरकमेव च ॥३॥ अभीरूणामिमे लोका भास्वन्तो हन्त पश्यत ॥ पूर्णा गन्धर्वकन्याभिः सर्वकामदुहोक्षयाः ॥ ४ ॥ इमे पलायमानानां नरकाः प्रत्युपस्थिताः । अकीर्त्तिः शाश्वती

कहा, कि–हे युधिष्ठिर ! अम्बरीषने इसप्रकार इन्द्रकी बात सुन कर उसको मानलिया, कि–रणमें मरनेवाले वीर पुरुषोंकी ऐसा ही उत्तम गति होती है ॥४९–५१॥ अट्ठानवेवाँ अध्याय समाप्त

भीष्मने कहा, कि–इस विषयमें राजा प्रतर्दन तथा मिथिलाके राजा जनकने जो पहले युद्ध किया था उस प्राचीन इतिहासका जो उदाहरण दियाजाता है वह इसप्रकार है ॥ १ ॥ मिथिला नगरीके राजा जनकने युद्धयज्ञका आरम्भ किया, उस समय योधाओंको जिसप्रकार उत्साह दिया था, हे युधिष्ठिर ! उसको तू सुन ॥ २ ॥ महात्मा, सब तत्त्वोंको जाननेवाले, मिथिला नगरीके राजा जनकने अपने योधाओंको स्वर्ग तथा नरक दिखाते हुए कहा था, कि–॥ ३॥ हे वीरो ! देखो ! देखो ! गन्धर्वोंकी कन्याओंसे भरेहुए, सब कामनाओंको पूरी करनेवाले और अविनाशी प्रकाशवान् लोकोंको तुम देखो, जो योधा रणमें निडर होकर लडते हैं वे इन लोकोंमें जाते हैं ॥४॥ यह सामने

चैव यतितव्यमनन्तरम् ॥५॥ तान् दृष्ट्वारीन् विजयतो भूत्वा संत्याग बुद्धयः। नरकस्याप्रतिष्ठस्य मा भूत वशवर्त्तिनः ॥ ६ ॥ त्यागमूलं हि शूराणां स्वर्गद्वारमनुत्तमम्। इत्युक्तास्ते नृपतिना योधाः परपुञ्जय ॥ ७ ॥ अजयन्त रणे शत्रून् हर्षयन्तो नरेश्वरम्। तस्मादात्मवता नित्यं स्थातव्यं रणमूर्द्धनि ॥८॥ गजानां रथिनो मध्ये रथानामनु सादिनः। सादिनामन्तरे स्थाप्यं पादातमपि दंशितम् ॥ ९ ॥ य एवं व्यूहते राजा स नित्यं जयति द्विषः। तस्मादेवं विधातव्यं नित्यमेव युधिष्ठिर ॥१०॥ सर्वे स्वर्गतिमिच्छन्ति सुयुद्धेनातिमन्यवः। क्षोभयेयुरनीकानि सागरं मकरा यथा ॥११॥ हर्षयेयुर्विषण्णांश्च व्यवस्थाप्य परस्परम्। जिताश्च

ही दीखरहे हैं, इनके दूसरी ओर जो दीखते हैं, वे नरकलोक हैं, जो रणमेंसे भागजाते हैं वे इन लोकोंमें जाते हैं और सदाको अपकीर्त्ति पाते हैं ॥ ५ ॥ हे वीरो ! तुम प्राणोंको त्यागनेका निश्चय करके वैरिओंको हरादो, तुम प्रतिष्ठारहित नरकमें न जाओ ॥६॥ वीर तो अपने देहको रणमें त्यागकर सबसे उत्तम स्वर्गलोकमें ही जाते हैं, हे वैरिनगरोंको विजय करनेवाले राजन् ! मिथिलाके राजाने ऐसा कहकर योधाओंको उत्साह दिया॥७॥ फिर योधाओंने रणमें वैरिओंका पराजय कर उस राजाको प्रसन्न किया, इसलिये आत्मवान् क्षत्रिय नित्य रणके मुहाने पर खडा होकर युद्ध करे॥८॥हाथियोंकी सेनाके बीचमें रथियोंको खड़ाकरे रथियोंकी सेनाके बीचमे घुडसवारोंको खडा करे और घुडसवरोंकी सेनाके बीचमें कवचधारी पैदलोंकी सेनाको खडाकरे ९ जो राजा इसप्रकार सेनाको व्यूह रचकर खड़ी करता है वह सदा शत्रुओंको जीतता है,हे युधिष्ठिर!तुझे नित्य ऐसी ही व्यूरचना करनी चाहिये१०बडे क्रोधी सब योधा जैसे मगर मच्छ समुद्रको घँघोलडालते हैं ऐसे ही शत्रुकी सेनाको क्षुभित करडालते हैं वे

भूमिं रक्षेत भग्नान्नात्यनुसारयेत् ॥ १२ ॥ पुनरावर्त्तमानानां निराशानाञ्च जीविते । वेगः सुदुःसहो राजंस्तस्मान्नात्यनुसारयेत् १३ न हि प्रहर्त्तुमिच्छन्ति शूराः प्रद्रवतो भृशम् । तस्मात्पलायमानानां कुर्यान्नात्यनुसारणम् ॥ १४ ॥ चराणामचरा ह्यन्नमदंष्ट्रा दंष्ट्रिणामपि । आपः पिपासतामन्नमन्नं शूरस्य कातराः ॥ १५ ॥ समानपृष्ठोदरपाणिपादाः पराभवं भीरवो वै व्रजन्ति । अतो भयार्त्ताः प्रणिपत्य भूयः कृत्वाञ्जलीनुपतिष्ठन्ति शूरान् ॥ १६ ॥ शूरबाहुषु लोकोयं लम्बते पुत्रवत् सदा । तस्मात् सर्वास्ववस्थासु शूरः सम्मानमर्हति ॥ १७ ॥ न हि

स्वर्गलोकमें ही जानेकी इच्छा करते हैं ॥ ११ ॥ अच्छे प्रकारसे लडनेवाले बडे २ योधा जो योधा घबडागए हों उनकी आपसमें व्यवस्था करके प्रसन्न करें, जीतीहुई पृथिवीकी रक्षा करें परन्तु रणमेंसे पीछेको भागनेवाले शत्रुके योधाओंके पीछे बहुत न पडें ॥ १२ ॥ हे राजन् ! जो लोग जीवनसे निराश होगए हों ऐसे लोग यदि फिर चढआते हैं तो उनका वेग बहुत ही दुःसह होजाता है१३ जो योधा रणमेंसे एकदम भागजाते हैं शूर पुरुष उनको मारना नहीं चाहते हैं, इसलिये जो रणमेंसे भागजाते हों उनके पीछे बहुत न दौडे॥ १४ ॥ न चलनेवाले प्राणी चलनेवालोंका अन्न गिनेजाते हैं, डाढरहित डाढवालोंका अन्न माने जाते हैं, प्यासोंका अन्न पानी कहलाता है और वीरोंका अन्न कायर पुरुष कहलाते हैं ॥ १५ ॥ डरपोक मनुष्योंकी पीठ पेट, हाथ और पैर शूरोंकेसे ही होते हैं तोभी वे (भयभीत होजानेसे) हारजाते हैं, इसलिये भयसे घबडायेहुए मनुष्य (जीनेके लिये) बारंबार दोनों हाथ जोडकर मस्तक नवायेहुए शूरोंकी शरणमें आकर खडे होजाते हैं ॥१६॥ इसप्रकार सब लोग सदा पुत्रकी समान वीरोंकी भुजाओंका आश्रय लेकर जीवन विताते हैं, इस

शौर्यात् परं किञ्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते । शूरः सर्वं पालयति सर्वं शूरे प्रतिष्ठितम् ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि विजिगीषमाणवृत्ते नवनवतितमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥

युधिष्ठिर उवाच । यथा जयार्थिनः सेनां नयन्ति भरतर्षभ । ईषद्धर्मं प्रपीड्यापि तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥ भीष्म उवाच । सत्येन हि स्थितो धर्म्म उपपत्त्या तथापरे । साध्वाचारतया केचित्तथैवौपायिकादपि ॥ २ ॥ उपायधर्मान् वक्ष्यामि सिद्धार्थानर्थधर्मयोः । निर्म्मर्य्यादा दस्यवस्तु भवन्ति परिपन्थिनः ३ तेषां प्रतिक्रियार्थं प्रवक्ष्याम्यथ नैगमम् । कार्य्याणां सर्वसिद्धार्थं

लिये शूर पुरुष सब अवस्थाओंमें सन्मानका पात्र है ॥ १७ ॥ वीरताके सिवाय दूसरा कोई पदार्थ भी तीनों लोकोंमें उत्तम नहीं है, वीर पुरुष सबकी रक्षा करता है और यह सब जगत् वीरके ही आधारसे टिकाहुआ है ॥ १८ ॥ निन्न्यानवेवाँ अध्याय समाप्त ॥ ९९ ॥ छ ॥ छ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे भरतसत्तम पितामह भीष्मजी ! विजय चाहनेवाला राजा धर्मका जरा भी उल्लङ्घन न करके अपनी सेनाको रणमें किसप्रकार चढ़ाकर लेजाय, यह मुझे सुनाइये ॥१॥ भीष्मजीने कहा-कितने ही कहते हैं, कि-सत्यसे धर्म टिकरहा है, कितने ही कहते हैं कि-धर्म हेतुवादसे ठहराहुआ है, कोई कहते हैं, कि-धर्म सदाचरणसे टिकरहा है और कोई कहते हैं कि-धर्म साधन और युक्तियोंसे ठहराहुआ है ॥ २ ॥ हे युधिष्ठिर ! मैं तुझे जय देनेवाले उपाय और युक्तियें बताता हूँ, कदाचित् इस जगत्में चोर लोग धर्म और अर्थकी मर्यादाका नाश करनेवाले होजायँ ॥ ३ ॥ तो उनका नाश करनेके लिये मैं तुझे वेदमें कहेहुए उपाय बताता हूँ उन उपायोंको तू कार्यकी

तानुपायान्निबोध मे ॥ ४ ॥ उभे प्रज्ञे वेदितव्ये ऋज्वी वक्रा च भारत । जानन् वक्रां न सेवेत प्रतिबाधेत चागताम् ॥५॥अमित्रा एव राजानं भेदेनोपचरन्युत । तां राजा निकृतिं जानन् यथा मित्रान् प्रबाधते ॥ ६ ॥ गजानां पार्थ वर्माणि गोवृषाजगराणि च । शल्यकण्टकलोहानि तनुत्रचमराणि च ॥ ७ ॥ सितपीतानि शस्त्राणि सन्नाहा पीतलोहिताः । नानारञ्जनरक्ताः स्युः पताका केतवश्च ह ॥८॥ ऋष्टयस्तोमराः खड्गाः निशिताश्च परश्वधाः। फलकान्यथ चर्माणि प्रतिकल्प्यान्यनेकशः ॥ ९ ॥ अभिनीतानि शस्त्राणि योधाश्च कृतनिश्चयाः । चैत्र्यां वा मार्गशीर्ष्यां वा

सिद्धिके लिये मुझसे सुन ॥ ४ ॥ हे भरतवंशी राजन ! इस जगत्में जानने योग्य दो प्रकारकी प्रज्ञा है एक सरला (चतुराईकी राजनीति) और दूसरी वक्रा (छल कपटकी नीति). जहाँतक होसके वक्रा प्रज्ञासे काम न लेय परन्तु यदि अपने ऊपर आपत्ति ही आपडे तो वक्रासे काम लेकर उस आपत्तिका नाश करे ॥ ५ ॥ शत्रु कभी २ राजाका उसके मंत्रीसे सेनासे जमीन्दरोंसे अथवा प्रजासे कलह कराकर उसका नाश करदे उसके ही कियेहुए उपायसे उसका नाश करे ॥ ६ ॥ और हे राजन् ! हाथियोंकी रक्षाके लिये गौ, बैल और अजगरके चमड़ेके बख्तर बनावे. शल्य, लोहेकी कीलें, कवच, चमर, तेज कियेहुए और पानी पिलायेहुए शस्त्र, पीले और लाल रङ्गके कवच, भाँति २ के रङ्गकी पताकाएँ तथा केतु, ऋष्टि, तोमर, तलवार, तेज कियेहुए फरसे, भाले तथा ढाल आदि बनवाकर इनका बहुतसा समूह (किसी राजाके ऊपर चढ़ाई करनेको पहले ही) तयार रक्खे ॥७-९॥ सब शस्त्रोंको अच्छे प्रकारसे तयार कर रखनेके बाद योधाओंके मनमें भी युद्धके लिये दृढ़ निश्चय करना देख और चैत्रके महीनेमें अथवा मार्गशीर्षके महीनेमें

सेनायोगः प्रशस्यते ॥ १० ॥ पक्वसस्या हि पृथिवी भवत्यम्बु-
मती तदा । नैवातिशीतो नात्युष्णः कालो भवति भारत ॥११॥
तस्मात्तदा योजयेत परेषां व्यसनेथवा । एते हि योगाः सेनायाः
प्रशस्ताः परबाधने ॥१२॥ जलवांस्तृणवान् मार्गः समो गम्यः
प्रशस्यते । चारैः सुविदिताभ्यासः कुशलैर्वनगोचरैः ॥ १३ ॥
न ह्यरण्येन शक्येत गन्तुं मृगगणैरिव । तस्मात् सेनासु तानेव
योजयन्ति जयार्थिनः ॥१४॥ अग्रतः पुरुषानीकं शक्तं चापि कुलो-
द्गतम् । आवासस्तोयवान् दुर्गः पर्याकाशः प्रशस्यते॥ १५ ॥

सेनाको सब प्रकारसे तयार करनेके बाद चढ़ाई करे तो प्रशंसाका पात्र गिनाजाता है ॥ १० ॥ हे भरतवंशी राजन् ! उस समय खेतोंमें अन्न पकाहुआ होता है, पृथिवी पर पानी भी भराहुआ होता है बहुत ठण्ड भी नहीं होती है और तेज धूप भी नहीं होती है समान सरदी गरमीका समय होता है ॥ ११ ॥ इस समय सेनाको लेकर शत्रुके ऊपर चढ़ाई करे, परन्तु यह मालूम होजाय कि-शत्रु सङ्कटमें है तब उसके ऊपर (जरा भी विलम्ब न करके एकदम) चढ़ाई करदेय, ये दो योग शत्रुओंको पीड़ा देनेके लिये उत्तम कहे हैं ॥ १२ ॥ जलवाला, घासवाला और सपाट मार्ग सेनाको लेजानेके लिये उत्तम कहा है और वनमें फिरनेवाले चतुर दूत ऐसे मार्गको ठीक २ जानते हैं॥१३॥ मृगोंके टोले जैसे वनमें जासकते हैं ऐसे सेनादल वनमें नहीं जा सकता, इसलिये विजय चाहनेवाले राजाओंको चाहिये, कि-शत्रुओंके ऊपरको चढ़ाई करते समय सेनाओंको जल और तृण वाले मार्गोंसे लेजायँ ॥ १४ ॥ सेनाके अगले भागमें वीरपुरुषोंकी एक टुकड़ी रक्खे, उस टुकडीके मनुष्य धीर वीर, मजबूत कुलीन होने चाहियें, अब किला ऐसा होना चाहिये, कि-जिसके आस पास मजबूत कोट और जलसे भरी खाइयें हों, ऐसा किला बचावके

परेषामुपसर्पाणां प्रतिषेधस्तथा भवेत् । आकाशात्तु वनाभ्यासं मन्यन्ते गुणवत्तरम् ॥ १६ ॥ बहुभिर्गुणजातैश्च ये युद्धकुशला जनाः । उपन्यासो भवेत्तत्र बलानां नातिदूरतः ॥ १७ ॥ उपन्यासावतरणं पदातीनां च गूहनम् । अथ शत्रुप्रतीघातमापदर्थं परायणम् ॥ १८ ॥ सप्तर्षीन् पृष्ठतः कृत्वा युद्धेयुरचला इव । अनेन विधिना शत्रून् जिगीषेतापि दुर्जयान् ॥ १९ ॥ यतो वायुर्यतः सूर्यो यतः शुक्रस्ततो जयः । पूर्वं पूर्वं ज्याय एषां सन्निपाते युधिष्ठिर॥२०॥अकर्दमामनुदकाममर्यादामलोष्टकाम् । अश्वभूमिं प्रशंसन्ति ये युद्धकुशला जनाः ॥२१॥ अपङ्का गर्त्तरहिता

लिये बहुत अच्छा मानाजाता है ॥ १५ ॥ और ऐसे किलेमें रह कर शत्रुओंके ऊपर भीतरसे हमला करना बहुत अच्छा रहता है युद्धके विषयमें चतुराई रखनेवाले और बड़े ही गुणवान् लोग सपाट स्थानकी अपेक्षा वनके पास पड़ाव डालनेको बहुत अच्छा मानते हैं, इसलिए सेनाकी छावनी वनके पास ही डाले १६-१७ रक्षाके लिए जो जङ्गलसे बहुत दूर न हो ऐसे स्थान पर छावनी डाले, सुरक्षित जगह पर पैदलोंको रक्खे और वैरीके आते ही एकदम उसके ऊपर धावा करदेय, ये भय और दुःखको टालनेके उपाय हैं ॥ १८ ॥ योधा पहाड़ोंकी समान अटल खड़े होकर, सप्त ऋषियोंके तारे अपने पीछे रहें, इसप्रकार खडे होकर युद्धका आरंभ करें, ऐसे वर्त्ताव करनेसे राजा दुर्जय वैरीको भी जीतलेता है १९ सेनाको इसप्रकार खडी करे, कि-जिससे वायु, सूर्य और शुक्रका तारा पीछे हो, वायु लगता रहे और सूर्य प्रकाश देय, विजय दिलाने में वायु सूर्यसे श्रेष्ठ है और सूर्य शुक्रसे श्रेष्ठ है ॥२०॥ जिस भूमिमें कीचड़, जल, बाँध और कङ्कर काँटा आदि न हों उस भूमिको कुशल पुरुष घोड़ोंकी सेनाके लडनेके लिए अच्छा कहते हैं २१ जिस भूमिमें कीचड़ न हो और जहाँ गड्ढे आदि न हों ऐसी भूमिको

रथभूमिः प्रशस्यते। नीचद्रुमा महाकक्षा सोदका हस्तियोधिनाम् ॥२२॥ बहुदुर्गा महाकक्षा वेणुवेत्रसमाकुला । पदातीनां क्षमा भूमिः पर्वतोपवनानि च ॥ २३ ॥ पदातिबहुला सेना दृढा भवति भारत। रथाश्वबहुला सेना सुदिनेषु प्रशस्यते ॥२४॥ पदातिनागबहुला प्रावृट्काले प्रशस्यते । गुणानेतान् प्रसंख्याय देशकालौ प्रयोजयेत् । एवं सञ्चिन्त्य यो याति तिथिनक्षत्रपूजितः ॥ २५ ॥ विजयं लभते नित्यं सेनां सम्यक् प्रयोजयन् । प्रसुप्तांस्तृषितान् श्रान्तान् प्रकीर्णान्नाभिघातयेत् ॥ २६ ॥ मोक्षे प्रयाणे चलने पानभोजनकालयोः । अतिक्षिप्तान् व्यतिक्षिप्तान् निहतान् प्रतनू-

रथसेनाके लडाई करनेके लिए अच्छी बताते हैं, जिस भूमिमें नीचो ऊँचे वृक्ष हों और जहाँ बहुतसा पानी भरा हो उसको हस्तिसेनाके लडनेके लिए ठीक बताते हैं ॥ २२ ॥ जो पृथिवी बहुत ही ऊँची नीची हो, बडे २ वृक्ष बाँसों तथा बेतोंसे भरपूर हो, पृथिवी पहाड और उपवन पैदलोंके युद्धके लिये ठीक मानेजाते हैं॥२३॥हे भरतवंशी राजन् ! जिस सेनामें बहुतसे पैदल योधा हों वह सेना बड़ी मजबूत कहलाती है, जिसमें बहुतसे रथ और घोड़े होते हैं वह सेना सूखे दिनोंमें लड़नेके योग्य मानी जाती है ॥२४॥ जिसमें बहुतसे पैदल और हाथी होते हैं वह सेना वर्षाकालमें लडनेके योग्य मानी जाती है, इन गुणोंको ध्यानमें रखकर तथा देश और कालका विचार करनेके बाद जो राजा अपनी सेना को अच्छे प्रकारसे ठीक करके शुभनक्षत्र और शुभ तिथिमें शत्रुके ऊपर चढ़ाई करता है, बस राजाकी सदा जय होती है, युद्ध करते समय जो गाढ निद्रामें सोगए हों, प्यासे हों थकगये हों, और अलग निकलकर भागते हों ऐसे पुरुषोंको न मारे २५-२६ और जिन्होंने अपने मनको मोक्षमार्गमें लगाया हो (जैसे कि– भूरिश्रवा और द्रोण थे) जो रणमेंसे भागरहे हों, जो असाव-

कृतान् ॥२७॥ अविश्रब्धान् कृतारम्भानुपन्यासात्मनाशिनान् । वहिश्चरानुपन्यासान् कृतवेश्मानुसारिणः ॥२८॥ पारम्पर्यागते द्वारे ये केचिदनुवर्तिनः । परिचर्यावतो द्वारे ये च केचन वर्गिणः ॥ २९ ॥ अनीकं ये विभिन्दन्ति भिन्नं संस्थापयन्ति च । समानाशनपानास्ते कार्य्या द्विगुणवेतनाः ॥ ३० ॥ दशाधिपतयः कार्य्याः शताधिपतयस्तथा । ततः सहस्राधिपतिं कुर्याच्छूरमतन्द्रितम् ॥ ३१ ॥ यथा मुख्यान् सन्निपात्य वक्तव्याः संशपामहे । विजयार्थं हि संग्रामे न त्यक्ष्यामः परस्परम् ॥३२॥

थानीमें चलरहे हों, जो जल पीते हों या भोजन करते हों, पागल होगए हों, घबड़ागए हों, घायल होगए हों, घायल होनेसे अशक्त हुए पड़े हों, विश्वास करके शरणमें आये हों, यज्ञादि बड़े कर्मोंका आरम्भ किये हों, चित्रकारी आदिकी कलाको जानते हों, जो घास आदि लानेको छावनीमेंसे बाहर निकले हों, छावनीमें आवाजाई कररहे हों, परम्परासे राजाके द्वारपालका या मन्त्रीके द्वारपालका काम करनेवाले हों, जो साधारण चाकर हों, जो काम करनेवाले मजूरोंके नेता हों, इन सबको युद्धके समय न मारे ॥२७-२९॥ जो शत्रुकी सेनाको तित्तर बित्तर करदेते हों और अपनी बिखरी हुई सेनाको धीरज देकर फिर अच्छे प्रकारसे इकट्ठी करलेते हों, ऐसे योधाओंको तू अपनी आँखोंके सामने खान पान कराना और उनको नौकरी देना ॥३०॥ जो दश योधाओंके सरदार हों, उनको सौ योधाओंका सरदार बनादेना और सौके ऊपर जो वीर और आलस्यरहित पुरुष हो उसको हजारका सरदार बनाना ॥ ३१ ॥ मुख्य २ योधाओंको इकट्ठे करके उनसे कहना, कि-आप ऐसी प्रतिज्ञा करिये, कि-हम सब एकत्रित होकर विजयके लिये संग्राम करेंगे और कोई किसीको छोडकर भागेंगे नहीं, इस लश्करमें जो डरपोक हों ।और तुरन्त

इहैव ते निवर्त्तन्तां ये च केचन भीरवः । ये घातयेयुः प्रवरं कुर्वाणास्तुमुलम्मति ॥ ३३ ॥ न सन्निपाते प्रवरं न वधं कुर्युरीदृशाः आत्मानञ्च स्वपक्षञ्च पालयन् हन्ति संयुगे ॥ ३४ ॥ अर्थनाशो वधोकीर्त्तिरयशश्च पलायने । अमनोज्ञासुखा वाचः पुरुषस्य पलायने ॥ ३५ ॥ प्रतिध्वस्तोष्ठदन्तस्य न्यस्तसर्वायुधस्य च । अमित्रैरवरुद्धस्य द्विषतामस्तु नः सदा ॥ ३६ ॥ मनुष्यापसदा ह्येते ये भवन्ति पराङ्मुखाः । राशिवर्द्धनमात्रास्ते नैव ते प्रेत्य नो इह ३७

युद्धका आरम्भ कराकर बड़े २ योधाओंका शत्रुओंसे नाश करवादें, ऐसे डरपोक यहाँसे पीछेको लौटजायँ ॥ ३२-३३ ॥ जो योधा इसप्रकार युद्ध करना स्वीकार करें उनको लेकर शत्रुओंके ऊपर धावा करना, लडते२ ऐसे योधा अपनी सेनामें भागड नहीं डालते हैं तथा अपने पक्षका नाश भी नहीं होने देते हैं, वे अपने आपका और अपने पक्षका बचाव करके युद्धमें शत्रुका नाश करते हैं ॥ ३४ ॥ (उनको समझावे, कि-) जो मनुष्य रणमेंसे भागजाता है उसका धन नष्ट होजाता है, भागतेमें शत्रुके हाथसे कटमरता है, उसकी अपकीर्त्ति होती है, सब लोग बुरा कहते हैं और अपने मनको अच्छी न लगनेवाली दूसरे मनुष्योंकी दुःखदायक बातें सुननी पड़ती हैं ॥ ३५ ॥ ऐसे योधाके ओठ और दाँत मानो गिरगए हैं अर्थात् वह निर्लज्ज है, कि-जिसने सब शस्त्रोंको त्यागदिया है और जिसको शत्रुओंने घेरलिया है, हमारे शत्रुपक्षके पुरुषके धनका सदा नाश हो, उनका अपयश हो, इस बातको तुम सब चाहो ॥ ३६ ॥ जो रणमेंसे भागजायँये उनको तुम नाममात्रका ही मनुष्य समझो (वास्तवमें वे हीमड़े हैं) वे केवल शरीरको पुष्ट करना ही जानते हैं (अर्थात् उनका जन्म वृथा है) उनको इस लोकमें या परलोकमें सुख वा कीर्त्ति नहीं मिलती है ॥ ३७ ॥ भागती हुई

अमित्रा हृष्टमनसः प्रत्युद्यान्ति पलायिनम् । जयिनस्तु नरा-
स्तात चंदनैर्मण्डनेन च ॥ ३८ ॥ यस्य य स्म संग्रामगता यशो
वै घ्नन्ति शत्रवः । तदसह्यतरं दुःखमहं मन्ये वधादपि ॥ ३९ ॥
जयं जानीत धर्मस्य मूलं सर्वसुखस्य च । या भीरूणां परा-
ग्लानि शूरस्तामधिगच्छति ॥४०॥ ते वयं स्वर्गमिच्छन्तः संग्रामे
त्यक्तजीविताः । जयन्तो वध्यमाना वा प्राप्नुयाम महद्गतिम् ४१
एवं संशप्तशपथाः समभित्यक्तजीविताः । अमित्रवाहिनीं वीराः
प्रतिगाहन्त्यभीरवः ॥ ४२ ॥ अग्रतः पुरुषानीकमसिचर्मवतां
भवेत् । पृष्ठतः शकटानीकं कलत्रं मध्यतस्तथा ॥ ४३ ॥ परेषा-
म्प्रतिघातार्थं पदातीनाञ्च बृंहनम् । अपि तस्मिन् पुरे वृद्धा

सेनाके पीछे पडीहुई विजय पानेवाले शत्रुकी सेना अपने भाट चारणोंके मुखसे अपनी विजयके यशका गान सुनती हुई बडी प्रसन्नताके साथ आगेको बढ़ती है ॥ ३८ ॥ वैरी रणमें जिसके यशका नाश करते हैं, उस मनुष्यके दुःखको मैं मरनेसे भी अधिक असह्य समझता हूँ ॥ ३९ ॥ विजयको ही धर्मका और सब सुखोंका मूल जान, डरपोक पुरुषोंको जो (प्रहार अथवा मृत्यु) परमग्लानिरूप होती है उसको शूर (बड़े हर्षसे) स्वीकार करते हैं ॥ ४० ॥ यही दृढ़ निश्चय रक्खो, कि हम संग्राममें प्राणोंको त्यागकर स्वर्गमें जायँगे, हम प्राणोंकी परवाह न करके लडेंगे, या तो विजय पावेंगे नहीं तो मरकर स्वर्गमें जायँगे ॥ ४१ ॥ इसप्रकार निर्भय वीर पुरुष जीवनकी कुछ परवाह न कर आपसमें शपथ खाकर वैरीकी सेनामें घुसजाते हैं (वह सेना विजय ही पाती है) ॥ ४२ ॥ सेनाके मुहाने पर ढाल तलवार वाली सेनाको रक्खें, पिछले भागमें रथोंकी सेनाको रक्खें और मध्यके भागमें दूसरे योधाओंको रक्खे, वैरीके ऊपर धावा करते समय ऐसी व्यवस्था करे ॥ ४३ ॥ जो पुरुष सब जीवन सेनामें ही

भवेयुर्ये दुर्गमाः ॥ ४४ ॥ ये पुरस्तादभिमताः सत्त्ववन्तो मनस्विनः । ते पूर्वमभिवर्तेरंश्चैतानेवेतरे जनाः ॥ ५५ ॥ अपि चोद्धर्षणं कार्यं भीरूणामपि यत्नतः । स्कन्धदर्शनमात्रात्तु तिष्ठेयुर्वा समीपतः ॥ ४६ ॥ संहतान् योधयेदल्पान् कामं विस्तारयेद्बहून् । सूचीमुखमनीकं स्यादल्पानां बहुभिः सह ॥४७॥ सम्प्रयुक्ते निकृष्टे वा सत्यं वा यदि वानृतम् । प्रगृह्य बाहून् क्रोशेत भग्ना भग्ना परे इति ॥४८॥ आगतं मे मित्रबलं प्रहरध्वमभीतवत् । सत्त्ववन्तोभिधावेयुः कुर्वन्तो भैरवान्रवान् ॥ ४९ ॥ क्ष्वेडाः किल

मिलाकर चलेहुए हों वे मुहाने पर रहें और वैरियोंका नाश करनेके लिये पीछे रहेहुए पैदल आदि सेनाकी रक्षा करें ।४४। जो शरीरमें बड़े मजबूत और हिम्मतवाले बहादुर हों वे आगे चलें और दूसरे मनुष्य उनके पीछे चलें ॥ ४५ ॥ डरपोक मनुष्योंका प्रयत्न करके उत्साह बढावे, योधाओंका समूह अधिक दिखानेके लिये उनको इधर उधर रक्खे ॥ ४६ ॥ यदि सैनिक थोड़े हों तो वे इकट्ठे होकर वैरियोंके सामने लड़े और समय आने पर उनका नायक व्यूहको बडे विस्तारमें फैलादेय, थोड़े सैनिकोंको बहुतसे सैनिकोंके साथ युद्ध करना हो तो सूचीमुख नामका व्यूह बनावे ॥४७॥ छोटीसी सेनाको बडीभारी सेनाके साथ युद्ध करना हो तो सत्य अथवा असत्य बोलकर ऊँचे २ हाथ उठातेहुए, ओहो ! वैरीकी सेनामें भागड पडगई ऐसा दुन्द मचादेय ॥४८॥ अपनी सेनामें ऐसा बनाव बनजाय तो सेनामें जो मजबूत योधा हों वे दुन्द मचादें, कि—वैरियोंको काटो, काटो ! ओहो! हमारे मित्रका सेना आपहुँची, लडो, निडर होकर लडो! इसप्रकार भयङ्कर शब्द करके (भागती हुई और घबडाई हुई सेनाको रोके) बलवान् योधा निडर बनकर वैरियोंका संहार करें ॥ ४९ ॥ जो मुहाने पर हों वे सिंहोंकी समान दहाड़ें,

किलाशब्दाः ककचा गोविषाणकाः । भेरीमृदङ्गपणवान्नादयेयुः पुरश्चरान् ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सेनानीतिकथने शततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥

युधिष्ठिर उवाच । किं शीलाः किं समाचाराः कथं रूपाश्च भारत । किं सन्नाहाः कथं शस्त्रा जनाः स्युः सङ्गरे क्षमाः ॥१॥ भीष्म उवाच । यथा चरितमेवात्र शस्त्रं पत्रं विधीयते । आचाराद्वीरपुरुषस्तथा कर्म्मसु वर्त्तते ॥ २ ॥ गान्धाराः सिन्धुसौवीरा नखरप्रासयोधिनः । अभीरवः सुबलिनस्तद्बलं सर्वपारगम् ॥ ३ ॥ सर्वशस्त्रेषु कुशला सत्त्ववन्तो ह्युशीनराः । प्राच्या मातङ्गयुद्धेषु कुशलाः कूटयोधिनः ॥ ४ ॥ तथा यवनकाम्बोजा

किलकिला शब्द करें. ककच नामक बाजोंको तथा गौओंके सींगोंको बजावें और आगे चलनेवालोंसे भेरी, मृदङ्ग और पणव बजवावें ॥ ५० ॥ सौवाँ अध्याय समाप्त ॥ १०० ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि–हे भीष्मपितामह ! कैसे स्वभाव और कैसे आचारवाले, कैसे रूप और कैसे बख्तरवाले तथा कैसे शस्त्रधारी मनुष्य संग्राममें लडनेके योग्य गिनेजाते हैं ? ॥ १ ॥ भीष्मजीने कहा, कि–वीर पुरुष अपने शरीरके योग्य तथा जिन शस्त्रोंको चलानेका अभ्यास होता है उन शस्त्रोंको तथा वाहनोंको रखते हैं और कुल तथा देशके अनुसार ही पराक्रम करते हैं ॥ २ ॥ गान्धार देशके सिन्धुदेशके और सौवीर देशके योधा दाँतोंवाले प्रासमे लडते हैं, वे निर्भय और महाबलवान् होते हैं, उनकी बनी हुई सेना सबके पास पहुँचकर घेरलेती है ॥ ३ ॥ उशीनर देशके योधा सब प्रकारके शस्त्रोंको चलानेमें चतुर होते हैं और स्वयं बलवान् होते हैं पूर्वदेशके योधा हाथियोंके युद्धमें चतुर होते हैं और

मथुरामभितश्च ये । एते नियुद्धकुशला दाक्षिणात्यासिपाणयः ५
सर्वत्र शूरा जायन्ते महासत्त्वा महाबलाः । प्राय एव समुद्दिष्टा
लक्षणानि तु मे शृणु ॥ ६ ॥ सिंहशार्दूलवाङ्नेत्रा सिंहशार्दूल
गामिनः । पारावतकुलिङ्गाक्षाः सर्वे शूराः प्रमाथिनः ॥ ७ ॥
मृगस्वरा द्वीपिनेत्रा ऋषभाक्षास्तरस्विनः । प्रमादिनश्च मन्दाश्च
क्रोधनाः किङ्किणीस्वनाः ॥ ८ ॥ मेघस्वनाः क्रोधमुखाः केचित्
करभसन्निभाः । जिह्मनासाग्रजिह्वाश्च दूरगा दूरपातिनः ॥ ६ ॥
विडालकुब्जास्तनवस्तनुकेशास्तनुत्वचः । शीघ्राश्चपलवृत्ताश्च ते
भवन्ति दुरासदाः ॥ १० ॥ गोधानिमीलिताः केचिन्मृदुप्रकृत-

वे कपटसे लडाई करते हैं ॥ ४ ॥ यवन, काम्बोज और मथुराके
आसपासके योधा मल्लयुद्धमें प्रवीण होते हैं और दक्षिणके
योधा तलवारसे लडनेमें बहादुर होते हैं ॥ ५ ॥ सब देशोंमें
बड़े २ बली और कसीले योधा उत्पन्न होते हैं, अब तुझसे
उनका लक्षण सुन ॥ ६ ॥ जिनकी वाणी, नेत्र तथा गति सिंह
और शार्दूलकेसी होती है,जिनके नेत्र कबूतर और कुलिङ्ग(साँप)
कैसे होते हैं वे सब शूर और शत्रुओंका संहार करनेवाले गिने
जाते हैं ॥ ७ ॥ जिनका स्वर मृगकासा, नेत्र गेंडे और बैलकेसे
हों वे बडे ही वेगवाले मानेजाते हैं, जिनका स्वर घूँघरुओंकेसा
होता है वे आवेशमें भरजानेवाले, निर्दयी और क्रोधी होते हैं ८
जो मेघकी समान गरजनेवाले, क्रोध भरे मुखवाले या ऊँटकेसे
ऊँचे होते हैं, जिनकी नाककी डण्डी और जीभ तिरछी होती
है वे योधा दूर तक दौडनेवाले और वैरीकी सेनाको बहुत ही
दूरसे ताककर प्रहार करनेवाले होते हैं ॥ ६ ॥ जिनका देह
बिलावकेसा वक्र और बाल तथा चमडा पतला होता है वे
झपटकर चलनेवाले और चञ्चल होते हैं तथा ऐसे बलवान्
होते हैं, कि–युद्धमें किसीसे हारते ही नहीं कितने ही गोहकी

यस्तथा । तुरङ्गगतिनिर्घोषास्ते नराः पारयिष्णवः ॥ ११ ॥ सुसंहताः सुतनवो व्यूढोरस्काः सुसंस्थिताः । प्रवादितेषु कुप्यन्ति हृष्यन्ति कलहेषु च ॥ १२ ॥ गम्भीराक्षा निःसृताक्षाः पिङ्गाक्षा भ्रुकुटीमुखाः । नकुलाक्षास्तथा चैव सर्वे शूरास्तनुत्यजः ॥ १३ ॥ जिह्माक्षाः प्रललाटाश्च निर्मांसहनवोऽपि च । वज्रबाह्वङ्गुलिचक्राः कृशाः धमनिसंतताः ॥ १४ ॥ प्रविशन्ति च वेगेन साम्पराये ह्युपस्थिते । वारणा इव संमत्तास्ते भवन्ति दुरासदाः ॥ १५ ॥ दीप्तस्फुटितकेशान्ताः स्थूलपार्श्वहनुमुखाः । उन्नतांसाः पृथुग्रीवा विकटाः स्थूलपिण्डिकाः ॥ १६ ॥ उद्वृत्ता इव सुग्रीवा विनता विहगा इव ।

समान खिचीहुई आँखोंवाले, कोमल स्वभावके तथा घोड़ेकेसी चाल और शब्दवाले होते हैं वे हरएक वैरीके साथ लड़सकते हैं ॥ ११ ॥ जो बड़े ही मजबूत, सुन्दर शरीरवाले, चौड़ी छातीके और सुन्दर अङ्गोंवाले होते हैं वे वैरीके नगाड़ेको सुनते ही कोप करते हैं और लड़ाईके समय हर्षसे भरजाते हैं ॥ १२ ॥ जिनके नेत्र गहरे, बाहरको निकलेहुए और पीले होते हैं, मुख पर सुन्दर भ्रकुटी और नौलेकेसी आँख होती है वे सब वीर और रणमें देहको त्यागनेवाले होते हैं ॥ १३ ॥ जिनके नेत्र तिरछे और ललाट ऊँचा होता है, होठ मांससे भरेहुए नहीं होते, जिनके भुजदण्डोंमें वज्रका और अंगुलियोंमें चक्रका चिह्न होता है, देह दुबला, नसें तथा नाड़ियें बाहरको दीखती हुई होती हैं वे युद्धके आरम्भमें ही धावा करके वैरीकी सेनामें घुस जाते हैं, वे हाथीकी समान मदमत्त और संग्राममें पराजय न पानेवाले होते हैं ॥ १४-१५ ॥ जिनके बालोंके अग्रभाग पीले और टेढ़े होते हैं, जिनके पसली हाथ और मुख मांससे भरे होते हैं, जिनके स्कंधे ऊँचे और ठोढ़ी चौड़ी होती है, जो देखनेमें भयानक होते हैं, जिनके पैरोंकी पिंडलियें मोटी और श्रीकृष्णके सुग्रीव

पिण्डशीर्षाक्षिवक्त्राश्च वृषदंशमुखास्तथा ॥ १७ ॥ उग्रस्वरा मन्युमन्तो युद्धेष्वारावसारिणः । अधर्मज्ञावलिप्ताश्च घोरा रौद्रप्रदर्शनाः ॥१८॥ त्यक्त्वात्मानः सर्वे एते अन्त्यजा ह्यनिवर्त्तिनः । पुरस्कार्याः सदा सैन्ये हन्यन्ते घ्नन्ति चाप्रिये ॥ १९ ॥ अधार्मिका भिन्नवृत्ताः सान्त्वेनैषां पराभवः । एवमेव प्रकुप्यन्ति राज्ञोप्येते ह्यभीक्ष्णशः ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि विजिगीषमाणवृत्ते एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥१०१॥

युधिष्ठिर उवाच । जयिन्याः कानि रूपाणि भवन्ति भरतर्षभ । पृतनायाः प्रशस्तानि तानि चेच्छामि वेदितुम् ॥ १ ॥

नायक घोडेकी समान तथा गरुडकी समान फुरतीली होती हैं, जिनका माथा गोल और मुख चौडा तथा जङ्गली बिलावकेसा होता है, स्वर उग्र और क्रोधभराहुआ होता है वे धावेके साथ शत्रुकी सेनामें घुसजाते हैं, सीमा(सरहद)पर रहनेवाले भील किरात आदि अधर्मी घमण्डी और भयानक वर्त्ताव रखनेवाले तथा देखनेमें भयानक हों वे योधा संग्रामके समय प्राणोंकी परवाह नहीं करते हैं और रणमेंसे पीछेको भी नहीं लोटते हैं, ऐसे मनुष्योंको सदा सेनामें आगे रक्खे, वे युद्धके समय शत्रुओंको मारते है और स्वयं भी वैरीके हाथसे मरण पाते हैं ॥ १६-१९ ॥ विनय विवेकसे शून्य तथा दुराचारी होते हैं, उन साथ मधुर वाणी बोलना, इसको तिरस्कार समझते है, ऐसोंके साथ यदि नित्य नम्रतासे वर्त्ताव कियाजाय तो वे अपने राजाके सामने भी उपद्रव करडालते हैं ॥२०॥ एक सौ एकवाँ अध्याय समाप्त ॥ १०१ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे भरतसत्तम राजन् ! विजय करने वाली सेना कैसे चिन्ह प्रशंसाके योग्य होते हैं, यह मैं जानना हूँ ॥ १ ॥ भीष्मने कहा, कि-हे भरतसत्तम राजन् ! विजय पाने

भीष्म उवाच। जयिन्याः यानि रूपाणि भवन्ति भरतर्षभ । पूनायाः प्रशस्तानि तानि वक्ष्यामि सर्वशः ॥२॥ दैवे पूर्वं प्रकुपिते मानुषे कालचोदिते । तद्विद्वांसोऽनुपश्यन्ति ज्ञानदिव्येन चक्षुषा३ प्रायश्चित्तविधिश्चात्र जपहोमांश्च तद्विदः । मङ्गलानि च कुर्वन्ति शमयन्त्यहितानि च ॥ ४ ॥ उदीर्णमनसो योधा वाहनानि च भारत । यस्यां भवन्ति सेनायां ध्रुवं तस्यां परो जयः ॥ ५ ॥ अन्वेतान् वायवो वान्ति तथैवेन्द्रधनूंषि च । अनुप्लवंतो मेघाश्च तथादित्यस्य रश्मयः॥६॥गोमायवश्चानुकूला वलगृध्राश्च सर्वशः। अर्हयेयुर्यदा सेनां तदा सिद्धिरनुत्तमा ॥ ७ ॥ प्रसन्नभाः पावकश्चोर्द्धरश्मिः प्रदक्षिणावर्त्तशिखो विधूमः । पुण्या गन्धाश्चाहु-

वाली सेनाकी जो श्रेष्ठ पहचानें हैं वे सब मैं तुम्हें बतलाऊँगा २ जब देवता कुपित होते हैं और मनुष्योंको कालकी प्रेरणा होती है उस समय भविष्यवेत्ता विद्वान् ज्ञानके द्वारा दिव्यहुए नेत्रों द्वारा होनहारको देखते हैं ॥ ३ ॥ और अनिष्टकी शान्तिके लिए प्रायश्चित्त, जप तथा होम करते हैं और माङ्गलिक कर्म करके अशुभ घटनाओंका नाश करते हैं ॥ ४ ॥ हे भरतवंशी राजन्! जिस सेनामें योधाओंके तथा हाथी घोड़े आदि वाहनोंके मन उत्साहभरे होते हैं उस सेनाकी अवश्य ही महाविजय होती है५ ऐसी सेनाके पिछले भागमें अनुकूल वायु चलता है, इन्द्रधनुष निकलता है, बादल छाया करते हैं और बीच २ में सूर्यकी किरणोंका भी उदय होता है॥ ६ ॥ उस सेनाको सियार, कौए और गिद्ध पक्षी अनुकूल होकर अच्छे शकुन देते हैं, जिस सेनामें ऐसे चिन्ह दीखें उस सेनाकी उत्तम विजय होती है॥७॥ उस (सेनाके स्वामी) के अग्निहोत्रका अग्नि प्रसन्न कान्तिवाला, ऊँची लपटोंवाला, दाहिनी ओरको जिसकी लपटें उठें ऐसा तथा धूमरहित होता है, उस अग्निमेंसे होमीहुई आहुतियों॥

तीनों भवन्ति जयस्यैतद्भाविनो रूपमाहुः ॥८॥ गम्भीरशब्दाश्च महास्वनाश्च शंखाश्च भेर्यश्च नदन्ति यत्र । युयुत्सवश्चाप्रतीपा भवन्ति जयस्यैतद्भाविनो रूपमाहुः ॥ ९ ॥ इष्टा मृगाः पृष्ठतो वामतश्च संप्रस्थितानाञ्च गमिष्यताञ्च । जिघांसतां दक्षिणाः सिद्धिमाहुर्ये त्वग्रतस्ते प्रतिषेधयन्ति॥१०॥माङ्गल्यशब्दान् शकुना वदन्ति हंसाः क्रौञ्चाः शतपत्राश्च चाषाः । हृष्टा योधाः सत्त्ववन्तो भवन्ति जयस्यैतद्भाविनो रूपमाहुः ॥ ११ ॥ शस्त्रैर्यन्त्रैः कवचैः केतुभिश्च सुभानुभिर्मुखवर्णैश्च यूनाम् । भ्राजिष्मती दुष्प्रतिवीक्षणीया येषाञ्चमूस्तेऽभिभवन्ति शत्रून् ॥ १२ ॥ शुश्रूषव-

पवित्र सुगन्धियें आती हैं, यह भविष्यके विजयका चिन्ह है, ऐसा विद्वान् कहते हैं ॥ ८ ॥ जिस सेनामेंसे शंख और भेरियों का गहरा और बड़ाभारी शब्द होता है, युद्ध करनेकी इच्छा वाले पुरुष अनुकूल होते हैं (सरदारकी आज्ञा मानते हैं) तो यह आगेको होनेवाले विजयका चिन्ह है, ऐसा विद्वान् कहते हैं ॥९॥ युद्धके लिये कूच करनेवालोंकी अथवा कूचकी तयारी करनेवालोंकी बाईं ओरसे अथवा पीछेके भागमेंसे मृग अथवा चौपाये प्राणी निकलकर जाते हैं तो उस सेनाकी विजय होती है और युद्धमें शत्रुओंका संहार करते समय दाहिनी ओरसे चलेजाते हैं तो ये कार्यकी सिद्धिको दिखाते हैं, परन्तु आगे भागमें होकर चलेजायँ तो वे पराजयका चिन्ह बताते हैं ॥१०॥ यदि हंस, क्रौंच पक्षी, सतपत्र और पपैया माङ्गलिक शब्द करें और बलवान् योधा हर्षमें आजायँ तो इन सब चिन्होंको विद्वान् आगेको विजय होनेका स्वरूप मानते हैं ॥११॥ बड़े ही तेजस्वी शस्त्र, यन्त्र, कवच,ध्वजा,पताका और जवानोंके मुखकी कांतिसे जिसकी सेना दमक रही हो और जिस सेनाकी ओरको दृष्टि उठाकर देखा न जासके वह सेना शत्रुओंका पराजय करती

श्चानभिमानिनश्च परस्परं सौहृदमास्थिताश्च । येषां योधाः शौचमनुष्ठिताश्च जयस्यैतद्भाविनो रूपमाहुः ॥ १३ ॥ शब्दाः स्पर्शास्तथा गन्धा विचरन्ति मनःप्रियाः । धैर्य्यञ्चाविशते योधान् विजयस्य मुखञ्च तत् ॥ १४ ॥ इष्टो वामः प्रविष्टस्य दक्षिणः प्रविविक्षतः । पश्चात् संसाधयत्यर्थं पुरस्ताच्च निषेधति ॥ १५ ॥ संभृत्य महतीं सेनां चतुरङ्गां युधिष्ठिर । साम्नैव वर्त्तेथाः पूर्वं प्रयतेथास्ततो युधि ॥ १६ ॥ जनस्य एष विजयो यद्युद्धं नाम भारत । याहच्छिको युधि जयो दैवो वेति विचारणम् १७

है ॥१२॥ जिसके योधा अपने सरदारकी सेवा करनेको आतुर हों, आपसमें अभिमानरहित और प्रेम करने वाले तथा शुद्ध आचरणवाले हों वह सेना आगेको विजयका स्वरूप बताती है॥ १३ ॥ जिस सेनाके योधाओंके मुखोंमेंसे और बाजोंमेंसे अनुकूल पड़नेवाले शब्द निकलते हैं, स्पर्शसे भाईचारेका प्रेम उत्पन्न होता है,मनको प्यारी लगनेवाली सुगन्ध फैलती है और योधाओंमें उपकार तथा धीरज दीखता है तो इसको विजयका द्वार जानो ॥ १४ ॥ रणमें यात्रा करते समय बाईं ओर होने वाला कौएका शब्द मङ्गलमय गिनाजाता है और वैरीकी सेनामें प्रवेश करनाचाहनेवाले योधाओंकी दाहिनी ओर बोलताहुआ काक लाभदायक मानाजाता है और पीछेके भागमें बोलता है तो कार्योंकी सिद्धि करता है तथा आगेके भागमें बोलता है तो कार्य सिद्धिका नाश करता है ॥ १५ ॥ हे युधिष्ठिर ! (चढ़ाई लेजाने से पहले) तू हाथी, घोड़े, रथ और पैदल इन चार अङ्गोंवाली बडीभारी सेनाको तयार रखना, आरम्भमें वैरियोंके साथ साम (शान्ति) से ही वर्त्ताव करना, यदि समझानेसे वैरी न माने तो फिर युद्ध करना ॥ १६ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! युद्धसे जो विजय मिलती है वह अधम गिनीजाती है, युद्धमें जो विजय

अपामिव महावेगस्त्रस्ता इव महामृगाः । दुर्निवार्यतमा चैव प्रभग्ना महती चमूः ॥ १८ ॥ भग्ना इत्येव भज्यन्ते विद्वांसोपि न कारणम् । उदारसारा महती रुरुसंघोपमा चमूः ॥१६॥ परस्परज्ञाः संहृष्टास्त्यक्तप्राणाः सुनिश्चिताः । अपि पञ्चाशतं शूरा निघ्नन्ति परवाहिनीम् ॥ २० ॥ अपि वा पञ्च षट् सप्त सहिताः कृतनिश्चयाः । कुलीनाः पूजिताः सम्यग्विजयन्तीह शात्र-

मिलती है वह अचानक वा दैवेच्छासे मिलती है,ऐसा विद्वानों का मत है ॥ १७ ॥ जैसे पानीके बड़ेभारी वेगको नहीं रोका जासकता अथवा जैसे त्रास पायेहुए मृगोंके बडेभारी टोलेको नहीं रोका जासकता,ऐसे ही जब वडीभारी सेनायें भागड़ पडती है तब उसको भी भागनेसे नहीं रोका जासकता ॥ १८ ॥ महाबलवान् योधाओंसे बनी हुई बडीभारी सेना भी मृगोंके झुण्ड की समान ही होती हैं मृगोंके झुण्डमेंसे जैसे कुछ मृग भागे कि-दूसरे मृग भी कारणको विनाजाने ही एकको भागता देखकर दूसरा और दूसरेको देखकर तीसरा इसप्रकार तले ऊपर भागते चलेआते हैं, ऐसे ही महाबलवान् योधाओंसे बनी सेनामेंसे भी ज्यों ही कुछ भागे, कि-युद्धकुशल दूसरे पुरुष भी कारणको विनाजाने ही भागने लगते हैं,वीरोंका बनाहुआ सेनादल भी रुरुमृगोंके बड़ेभारी झुण्डके समान होता है ॥ १६ ॥ और कितने ही समय ऐसा भी बानक बनजाता है, कि-पचास दृढ निश्चयके और एक दूसरेके अभिप्रायको जानने वाले वीर पुरुष हर्षमें भरकर प्राणोंकी परवाह न करतेहुए युद्ध करते हैं तो वे वैरीकी सेनाको मार काटकर भस्म करडालते हैं ॥२०॥ इतना ही नहीं, किन्तु अच्छे कुलमें उत्पन्न हुए और मान पायेहुए पाँच, छः अथवा सात शूर 'लडना ही है-मरेंगे या मारेंगे' ऐसा निश्चय करके यदि वैरीके सामने घूमते हैं तो

वान् ॥ २१ ॥ सन्निपातो न मन्तव्यः शक्ये सति कथञ्चन ।
सान्त्वभेदप्रदानानां युद्धमुत्तरमुच्यते ॥२२॥ सन्दर्शनेन सेनाया
भयं भीरून् प्रबाधते । वज्रादिव प्रज्वलिताद्यं क्व नु पति-
ष्यति ॥२३॥ अभिप्रयातां समितिं ज्ञात्वा ये प्रतियान्त्युत । तेषां
स्पन्दन्ति गात्राणि योधानां विजयस्य च ॥२४॥ विषयो व्यथते
राजन् सर्वः सस्थाणुजङ्गमः अस्त्रप्रतापतप्तानां मज्जा सीदति देहि-
नाम् ॥२५॥ तेषां सान्त्वं क्रूरमिश्रं प्रणेतव्यं पुनः पुनः । संपी-
ड्यमाना हि परैर्योगमायान्ति सर्वतः ॥ २६ ॥ आन्तराणां च

वैरी गिनतीमें अधिक हों तो भी हार खाजाते हैं ॥ २१ ॥ इस
लिये जबतक सामसे, दानसे अथवा भेदसे सन्धि होती हो
तहाँ तक युद्ध न करे, पहले वैरियोंमें आपसमें भेद डलवाने
की युक्ति करे, ईनाम देकर वैरीके सरदार और सहायकोंको
वशमें करे, इससे भी काम न चले तो फिर युद्ध करे ॥२२॥
प्रज्वलित हुए वज्रमेंसे गिरती हुई बिजलीको देखते ही लोग
बूझते हैं, कि-हाय हाय ! यह किसके ऊपर गिरेगी ? यह कहाँ
जाकर पड़ेगी ? इसप्रकार जैसे लोगोंको भय रहता है, ऐसे ही
सेनाको देखते ही डरपोक लोगोंका मन भयसे घबडाजाता है२३
हमारे ऊपर वैरीकी सेना चढी चली आरही है ऐसा जानकर
जिन योधाओंके शरीर ढीले होजाते हैं और फिर लडनेको जाते
हैं तो उनकी आगेको विजय होनेमें शङ्का ही रहती है ॥ २४ ॥
और हे राजन् ! स्थावर तथा जङ्गम रूप सब देश भी (उनके
ढीले पनसे) सङ्कटमें आपड़ता है और अस्त्रोंके प्रतापसे तपे
हुए लोगोंकी मज्जाको भी पीडा होती है इसलिये राजा वार-
वार वैरियोंसे सन्धि (सुलह) के लिये कहला कर भेजे, परंतु
उसमें भी सदा कड़ेपनका दम बताता ही रहे, जब वैरीकी प्रजा
चारों ओरसे दुःखी होजाती है तब ही उसका राजा वशमें होता

भेदार्थं चरानभ्यवचारयेत् । यश्च तस्मात् परो राजा तेन संधिः प्रशस्यते ॥ २७ ॥ न हि तस्यान्यथा पीडा शक्या कर्तुं तथा विधा । यथा सार्द्धमभित्रेण सर्वतः प्रतिबाधनम् ॥ २८ ॥ क्षमा वै साधुमायाति न ह्यसाधुं क्षमा सदा । क्षमायाश्चाक्षमायाश्च पार्थ विद्धि प्रयोजनम् ॥ २९ ॥ विजित्य क्षममाणस्य यशो राज्ञो विवर्द्धते । महापराधे ह्यप्यस्मिन् विश्वसन्त्यपि शत्रवः ॥ ३० ॥ मन्यते कर्षयित्वा तु क्षमा साध्वीति शम्बरः । असन्तप्तन्तु यद्दारु प्रत्येति प्रकृतिं पुनः ॥३१॥ नैतत् प्रशंसन्त्याचार्या न च साधु

हैं ॥ २६ ॥ और चढाई करनेवाला राजा शत्रुके सहायक राजा में भेद डलवानेके लिये दूत भेजे, उसमें सफलता होने पर वैरी की सेनामें भेद डलवावे, जो सहायक राजा महाबलवान् हो उसके साथ सन्धि करलेय, यह श्रेष्ठ युक्ति है ॥ २७ ॥ यदि बलवान् राजाके साथ सन्धि नहीं की जाती है तो वैरियोंको अच्छे प्रकारसे दुःख नहीं दिया जासकता है, शत्रुके साथ इस प्रकार युद्ध करे, कि—वह चारों ओरसे सङ्कटमें पड़जाय ॥२८॥ सत्पुरुष दूसरोंके ऊपर क्षमा करते हैं, परन्तु दुष्ट पुरुष कभी क्षमा नहीं करते, हे राजन् ! क्षमा तथा क्रोध करनेका प्रयोजन मैं तुझे बताता हूँ, तू उसको सुन ॥ २९॥ जो शत्रुको जीतनेके बाद उसके ऊपर क्षमा करता है उस राजाका यश बढता है और वह राजा बडा अपराध करता है तो भी शत्रु उसका विश्वास करते हैं ॥ ३० ॥ परन्तु शम्बरासुरका यह मत है, कि—बाँस आदि टेढ़े काठको आगमें तपाए बिना सीधा कियाजाता है तो वह फिर अपने टेढे स्वभाव पर ही आजाता है, ऐसे ही शत्रुको भी सताये बिना उसको क्षमा करदिया जाता है तो वह सरल नहीं होता (किन्तु लडाईकी बात ठण्डी पडी, कि—फिर ज्योंका त्यों टेढा होजाता है) इसलिए उसके ऊपर सङ्कट

निदर्शनम् । अक्रोधेनाविनाशेन नियन्तव्याः स्वपुत्रवत् ॥२२॥
द्वेष्यो भवति भूतानामुग्रो राजा युधिष्ठिर । मृदुमप्यवमन्यन्ते
तस्मादुभयमाचरेत् ॥ २३ ॥ प्रहरिष्यन् प्रियं ब्रूयात् प्रहरन्नपि
भारत । प्रहृत्य च कृपायीत शोचन्निव रुदन्निव ॥२४॥ न मे प्रियं
यन्निहताः संग्रामे मामकैर्नरैः ॥ न च कुर्वन्ति मे वाक्यमुच्यमानाः पुनः
पुनः ॥२५॥ अहो जीवितमाकांक्षे नेदृशो वधमर्हति । सुदुर्लभाः सु-
पुरुषाः संग्रामेष्वपलायिनः ॥२६॥ कृतं ममाप्रियं तेन येनायं निहतो

डालनेके बाद क्षमा करे यही अच्छा है ॥ २१ ॥ परन्तु वेदादि शास्त्रको जाननेवाले आचार्य इस बातको अच्छा नहीं कहते तथा यह बात अच्छे राजाका गुण नहीं गिनी जाती है, श्रेष्ठ राजा अपने पुत्रोंकी समान वैरीको भी क्रोध अथवा प्रहार किए विना ही वशमें करे ॥ २२ ॥ हे राजा युधिष्ठिर ! यदि राजाका स्वभाव उग्र होता है तो उसको सब धिक्कार देते हैं तथा कोमल स्वभावका होता है तो उसकी आज्ञा कोई नहीं मानता, इसलिए राजा उग्रता और कोमलता दोनोंसे कामलेय ॥ २३ ॥ हे भरत-वंशी राजन् ! शत्रुके ऊपर प्रहार करनेसे पहले और प्रहार करते समय प्यारे वचन कहे और प्रहार करनेके बाद शोक तथा रोनेका ढोंग कर उसके ऊपर दया दिखाए ॥ २४ ॥ शत्रुसे कहे, कि-ओः ! मेरी सेनाने लडाईमें तुम्हारे इतने अधिक मनुष्योंको मार डाला ! यह बात मुझे बहुत बुरी मालूम होत है, हाय ! हाय ! मैंने सेनापतियोंको वार २ रोका तो उन्होंने मेरे कहने पर कुछ ध्यान नहीं दिया ॥ २५ ॥ मैं चाहता हूँ, कि-जो मरगए हैं वह फिर जी उठें ! ओः ! ये तो मरने योग्य नहीं थे, बड़े श्रेष्ठ और महाशूर थे, संग्राममें पीछे चरण नहीं देते थे, ऐसे शूर पुरुष कहाँ मिलते हैं ? ॥ २६ ॥ जिसने रणमें शूर पुरुषोंको मारडाला है उसने वास्तवमें मेरा बड़ा अप्रिय काम किया है, ऐसे

मृधे । इति वाचा वदन् हन्तॄन् पूजयेत रहोगतः ॥ ३७ ॥ हन्तॄणामाहतानां च यत् कुर्युः परार्थिनः । क्रोशेद् बाहुं प्रगृह्यापि चिकीर्षन् जनसंग्रहम् ॥ ३८ ॥ एवं सर्वास्ववस्थासु सान्त्वपूर्वं समाचरेत् । प्रियो भवति भूतानां धर्मज्ञो वीतभीर्नृपः ॥ ३९ ॥ विश्वासञ्चात्र गच्छन्ति सर्वभूतानि भारत । विश्वस्तः शक्यते भोक्तुं यथाकाममुपस्थितः ॥ ४० ॥ तस्माद्विश्वासयेद्राजा सर्वभूतान्यमायया । सर्वतः परिरक्षेच्च यो महीं भोक्तुमिच्छति ४१

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सेनानीतिकथने द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥

युधिष्ठिर उवाच । कथं मृदौ कथं तीक्ष्णे महापक्षे च पार्थिव ।

शब्द शत्रुपक्षमें बचेहुओंके सामने कहे और एकान्तमें अपनी सेनाके बहादुर पुरुषोंका तथा शत्रुओंका संहार करनेवालोंका सत्कार करे ॥ ३७ ॥ शत्रुके हाथके घायल होनेवालोंके सामने ऐसे आँसू बहावे, कि-जिससे उनको दुःखमें दिलासा मिले, प्रेमके साथ उनका हाथ पकड़कर मीठे वचनसे शान्त करे।३८। इसप्रकार जो सब अवस्थाओंमें समझकर सब काम करता है वह धर्मज्ञ राजा प्राणीमात्रका प्यारा होता है और निर्भय होकर राज्य करता है ॥ ३९ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! उस राजाका सब लोग विश्वास करते हैं और विश्वासपात्र मनुष्यसे अपनी इच्छानुसार काम करवासकते हैं ॥ ४० ॥ इसलिये जो राजा पृथिवी पर राज्य करना चाहे वह सब प्राणियोंको निष्कपट भावसे अपना विश्वास बनावे और उनकी चारों ओरसे रक्षा करे ॥ ४१ ॥ एक सौ दोवाँ अध्याय समाप्त ॥ १०२ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे भीष्म पितामह ! कोमल स्वभावके राजाके साथ, तीक्ष्णस्वभाववाले राजाके साथ और जिस राजा के बहुतसे सहायक, तथा बडीभारी सेना हो उस महाबलवान्

आदौ वर्त्तेत नृपतिस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥ भीष्म उवाच । अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । बृहस्पतेश्च सम्वादमिन्द्रस्य च युधिष्ठिर ॥२॥ बृहस्पतिं देवपतिरभिवाद्य कृतांजलिः । उपसंगम्य पप्रच्छ वासवः परवीरहा ॥ ३ ॥ इन्द्र उवाच । अहितेषु कथं ब्रह्मन् प्रवर्त्तेयमतन्द्रितः । असमुच्छिद्य चैवैतान्नियच्छेयमुपायतः ॥४॥ सेनयोर्व्यतिषंगेण जयः साधारणो भवेत् । किं कुर्वाणं न मां जह्याज्ज्वलिता श्रीः प्रतापिनी ॥ ५ ॥ ततो धर्मार्थकामानां कुशलः प्रतिभानवान् । राजधर्मविधानज्ञः प्रत्युवाच पुरन्दरम् ॥ ६ ॥ बृहस्पतिरुवाच । न जातु कलहेनेच्छेन्नियन्तुमपकारिणः । बालैरासेवितं ह्येतद्यदमर्षो यदक्षमा ॥७॥ न

राजाके साथ कैसा वर्त्ताव करे, यह मुझे बताइये ॥१॥ भीष्मने कहा, कि-हे युधिष्ठिर ! इस विषयमें बृहस्पति और इन्द्रका संवादरूप एक पुराना इतिहास इसप्रकार है ॥ २ ॥ शत्रुओंका संहार करनेवाला देवराज इन्द्र दोनों हाथ जोड़े बृहस्पतिके पास जा उनसे बूझनेलगा ॥ ३ ॥ इन्द्रने कहा, कि-हे ब्रह्मदेव ! मैं सावधान होकर वैरियोंके साथ किसप्रकार व्यवहार करूँ और किस युक्तिसे वैरियोंका संहार न करताहुआ उनको वशमें करूँ ? ॥ ४ ॥ दोनों सेनाओंकी मुठभेड़ होजानेसे साधारण रीतिसे विजय मिलती है, परन्तु कौनसी युक्ति करूँ, कि-जिससे प्रतापिनी दमकती हुई राजलक्ष्मी मेरा त्याग न करे, यह मुझे बताइये ॥ ५ ॥ यह सुनकर धर्म, अर्थ और कामके स्वरूपको जाननेमें चतुर, प्रतिभावाले और राजधर्मकी नीतिके ज्ञाता बृहस्पतिने इन्द्रको उत्तर दिया ॥६॥ बृहस्पतिने कहा, कि-हे इन्द्र ! अपकार करनेवाले वैरीको युद्धसे वशमें करनेकी इच्छा कभी न करे, असहनशील रहे अथवा क्षमा न करना यह बालकोंका काम है ॥ ७ ॥ जो अपने वैरीसे मारना चाहे वह क्रोध, भय

शत्रुर्विज्ञः कार्यो वधमस्याभिकाङ्क्षता। क्रोधं भयं च हर्षं च नियच्छ स्वयमात्मनि ॥ ८॥ अमित्रमुपसेवेत विश्वस्तवदविश्वसन्। प्रियमेव वदेन्नित्यं नाप्रियं किंचिदाचरेत् ॥९॥ विरमेच्छुष्कवैरेभ्यः कण्ठायासांश्च वर्जयेत्। यथा वैतंसिको युक्तो द्विजानां सदृशस्वनः ॥१०॥ तान् द्विजान् कुरुते वश्यांस्तथायुक्तो महीपतिः। वशं चोपनयेच्छत्रून् निहन्याच्च पुरन्दर ॥ ११ ॥ न नित्यं परिभूयारीन् सुखं स्वपिति वासव। जागर्त्येव हि दुष्टात्मा सङ्करोऽग्निरिवोत्थितः ॥ १२ ॥ न सन्निपातः कर्त्तव्यः सामान्ये विजये सति। विश्वास्यैवोपसन्नार्थो वशे कृत्वा रिपुः प्रभो ॥ १३ ॥ सम्प्रधार्य्य सहामात्यैर्मन्त्रविद्भिर्महात्मभिः । उपेक्षमाणोऽवज्ञातो

और हर्षको अपने वशमें रक्खे और वैरी जानजाय इसप्रकार शत्रुताको प्रकट न करे ॥ ८ ॥ निर्बल या कम बलवाला राजा विश्वासपात्र मनुष्यकी समान वैरीकी सेवा करे, परन्तु स्वयं उसका जरा भी विश्वास न करे, उसके पासमें सदा प्यारी बातें ही करे तथा उसको अप्रिय लगनेवाला कोई काम न करे ९ शुष्क वैर कभी न करे और बहुतसी बातें करके कण्ठको परिश्रम न देय, हे इन्द्र ! पक्षियोंको कैद करके उनसे आजीविका करनेवाला बहेलिया जैसे पक्षियोंका शब्द करके पक्षियोंको अपने वशमें करलेता है, ऐसे ही राजा भी सावधान होकर वैरियोंको अपने वशमें करे और फिर उनका नाश करदेय ॥ १०-११ ॥ हे इन्द्र ! वैरियोंका नित्य पराजय करने पर दुष्टात्मा वैरी सुखसे नहीं सोता है, किन्तु जैसे लापरवाही कियाहुआ अग्नि एकदम बल उठता है ऐसे ही दुष्ट वैरी अवसर पाते ही शिर उठाता है ॥ १२ ॥ जब साधारण विजय प्राप्त करनी हो तब राजा युद्ध न करे, किन्तु हे राजन् ! वैरीको शान्त करके, पूर्ण प्रीतिसे हाथ पकड़कर वशमें करके अपना काम सिद्ध करलेय ॥ १३ ॥

हृदयेनापराजितः ॥ १४ ॥ अभ्यस्य प्रहरेत्काले किंचिद्विचलिते पदे । दण्डं च दूषयेदस्य पुरुषैराप्तकारिभिः ॥ १५ ॥ आदिमध्यावसानज्ञः प्रच्छन्नञ्च विचारयेत् । बलानि दूषयेदस्य जानन्नेव प्रमाणतः ॥ १६ ॥ भेदेनोपप्रदानेन संसृजेदौषधैस्तथा । न त्वेवं खलु संसर्गं रोचयेदरिभिः सह ॥ १७ ॥ दीर्घकालमपीक्षेत निहन्यादेव शात्रवान् । कालाकांक्षी हि क्षपयेद्यथा विश्रम्भमाप्नुयुः ॥ १८॥ न सद्योऽरीन् निहन्याच्च दृष्टव्यो विजयो ध्रुवः । न शल्यं वा घट्टयति न वाचा कुरुते व्रणम् ॥ १९ ॥

वैरी राजाने तिरस्कार करके सत्ताका अनादर किया हो तो भी राजा हृदयसे न हारजाय, किन्तु हृदयको मजबूत करके मंत्रियों के साथ अथवा मन्त्रवेत्ता महात्माओंके साथ विचार करे और वैरीका ढङ्ग जरा भी ढीला मालूम पड़े कि-तुरन्त उसके ऊपर प्रहार करे और अपने विश्वासपात्र पुरुषोंसे उसकी सेनामें फूट डलवावे ॥ १४-१५ ॥ राजा वैरीके आदि, मध्य और अन्तको समझे रहे, उसके साथके वैरभावको मनमें छुपाये रहे और उसकी सेनाको प्रमाणसे जानकर फूट डलवावे, घूँस देय अथवा औषध खिलवावे, इत्यादि युक्तियोंसे वैरीकी सेनाको दूषित करदेय, वह राजा कभी भी वैरियोंके साथ मित्रताकी इच्छा न रक्खे ॥ १६-१७ ॥ वैरीको मारनेके लिये बहुत समय तक बाट देखे और फिर वैरीका नाश करे, वैरी विश्वास करलेय, इसलिये कुछ दिनों तक बाट देखताहुआ बैठा रहे और विश्वास जमजाने पर वह जानने न पावे, इसप्रकार अवसर आते ही एक साथ उसका नाश करदेय ॥ १८ ॥ राजा वैरीकी सेनाके बहुतसे मनुष्योंका संहार न करे, परन्तु जिसमें अपनी विजय मजबूत होजाय ऐसा वर्ताव तो अवश्य ही करे, वैरीकी ऐसी हानि न करे, कि-जो जन्मभर उसके हृदयमें खटका करे ॥१९॥

प्राप्ते च प्रहरेत्काले न च संवर्तते पुनः । हन्तुकामस्य देवेन्द्र पुरुषस्य रिपून् प्रति ॥ २० ॥ यो हि काले व्यतिक्रामेत् पुरुषं कालकांक्षिणम् । दुर्लभः स पुनस्तेन कालः कर्मचिकीर्षुणा ॥ २१ ओजश्च विनयेदेवं संगृह्णन् साधुसम्मतम् । अकाले साधये- न्मित्रं न च प्राप्ते प्रपीडयेत् ॥ २२ ॥ विहाय कामं क्रोधञ्च तथाहङ्कारमेव च । युक्तो विवरमन्विच्छेदहितानां पुनः पुनः २३ मार्दवं दण्ड आलस्यं प्रमादश्च सुरोत्तम । मायाः सुविहिताः शक्र सादयन्त्यविचक्षणम् । निहत्यैतानि चत्वारि मायाम्प्रति- विहाय च । ततः शक्नोति शत्रूणां प्रहर्तुमविचारयन् ॥२५॥

तथा वैरीको वाणीरूप काँटेसे अथवा वाणसे घायल न करे, समय आने पर अवसरको न चुकाकर वैरीके ऊपर प्रहार करे, हे देवेन्द्र ! वैरीको मारना चाहनेवाले पुरुषका अपने वैरियोंके साथ ऐसा वर्त्ताव होना चाहिये ॥ २० ॥ समयकी वाट देखता बैठाहुआ पुरुष यदि अपनेको मिलेहुए अवसर पर चूकजाता है तो काम करना चाहनेवाले पुरुषको वह अवसर फिर दुर्लभ होजाता है ॥ २१ ॥ समझदार पुरुषोंकी सलाह लेकर राजा वैरीके बलको तोडडाले तथा समय न हो तो अपना काम न साधे, अनुकूल समय न आवे तबतक काम सिद्ध करनेके लिये वैरीको न दवावे और जब समय आजाय तब वैरीको नष्ट भ्रष्ट करनेसे न चूके ॥ २२ ॥ राजा काम, क्रोध तथा अहङ्कारको त्यागकर सावधानीसे वारंवार वैरीके छिद्रोंको खोजता रहे २३ हे इन्द्र ! राजाकी अपनी कोमलता, दण्ड देनेमें क्रूरता, आलस्य, प्रमाद तथा उसके वैरीका वेहोशीमें रचाहुआ षड्यन्त्र ये सब वातें मूर्ख राजाका नाश करदेती हैं ॥ २४ ॥ इसलिये जो काम आदि चार वैरियोंको त्यागकर रचेहुए षड्यन्त्रोंको तोडनेका मार्ग ग्रहण करता है वही वैरीका नाश करसकता है ॥ २५ ॥

यद्येकेन शक्येत गुह्यं कर्तुं तदाचरेत्। गच्छन्ति सचिवा गुह्यं मिथो विश्रावयन्त्यपि ॥ २६ ॥ अशक्यमिति कृत्वा वा ततोऽन्यैः संविदं चरेत्। ब्रह्मदण्डमदृष्टेषु दृष्टेषु चतुरंगिणीम्॥२७॥भेदं च प्रथमं युंज्यात्तूष्णीमपि तथैव च। काले प्रयोजयेद्राजा तस्मिंस्तस्मिं-स्तदा तदा२८प्रणिपातं च गच्छेत काले शत्रोर्बलीयसः। युक्तोऽस्य वधमन्विच्छेदप्रमत्तः प्रमाद्यतः ॥२९॥ प्रणिपातेन दानेन वाचा मधुरयाब्रुवन्। अमित्रमपि सेवेत न च जातु विशङ्कयेत् ॥३०॥ स्थानानि शङ्कितानां च नित्यमेव विसर्जयेत्। न च तेष्वाश्वसेद्राजा जाग्रतीह निराकृतः॥ ३१ ॥ न ह्यतो दुष्करं कर्म

यदि गुप्त राजकार्य एक मन्त्रीसे होसकता हो तो उस गुप्त कामका विचार अकेले उसके ही साथ करे, क्योंकि—गुप्त राजकार्यका विचार बहुतसे मन्त्रियोंके साथ किया जाता है तो वे एक दूसरे के ऊपर डाल देते हैं अथवा वे उस कार्यको प्रकट करदेते हैं, यदि एकके साथ विचार करना उचित न जचे तो बहुतसोंके साथ विचार करे, यदि वैरीकी सेना दूर हो और देखनेमें न आई हो तो उसके ऊपर आथर्वण विधिसे ब्रह्मदण्ड अभिचारका प्रयोग करे और वैरीकी सेना समीपमें हो तो चतुरङ्गिनी सेनासे उसके ऊपर चढ़ाई करे ॥२६–२७॥ राजा पहले फूट डालनेका उद्योग करे अथवा सन्धिकी बात करे, समय देखकर उचित युक्तिसे वर्त्ताव करे ॥ २८ ॥ वैरी बलवान् हो तो समय पर उससे नमजाय और सावधान रहे, जब वह वैरी प्रमादमें हो तब उसका नाश करनेकी युक्ति रचे ॥ २९ ॥ विनय करके, दान देकर, मधुर वाणी बोलकर बलवान् वैरीके वशमें होजाय, यह काम करते समय जिससे वैरीको सन्देह हो ऐसा कोई ढङ्ग न दिखावे ॥ ३० ॥ निर्बल राजा ऐसे अवसर पर सावधान रहकर सन्देह उत्पन्न करनेवाले कामोंसे दूर ही रहे तथा विजयी

किंचिदस्ति सुरोत्तम । यथा विविधवृत्तानामैश्वर्य्यममराधिप ३२
तथा विविधवृत्तानामपि सम्भंच उच्यते । यतते योगमास्थाय
मित्रामित्रं विचारयेत् ॥ ३३ ॥ मृदुमप्यवमन्यन्ते तीक्ष्णादुद्वि-
जते जनः । मा तीक्ष्णो मा मृदुर्भूस्त्वं तीक्ष्णो भव मृदुर्भव ३४
यथा वप्रे वेगवति सर्वतः संप्लुतोदके । नित्यं विवरणाद्बाध-
स्तथा राज्यमप्रमाद्यतः ॥ ३५ ॥ न बहूनभियुञ्जीत यौगपद्येन
शात्रवान् । साम्ना दानेन भेदेन दण्डेन च पुरन्दर ॥ ३६ ॥ एकैक-
मेषां निष्पिष्य शिष्टेषु निपुणं चरेत् । न तु शक्तोपि मेधावी

राजा पराजित वैरियोंका विश्वास न करे, क्योंकि-तिरस्कार पायेहुए वैरी सदा जागते रहते हैं ॥ ३१ ॥ हे देवराज ! चपल स्वभावके पुरुषोंके भरोसे पर जो ऐश्वर्य मिलता है, ऐसा कठिन काम और कोई नहीं है ॥ ३२ ॥ चपल पुरुषोंका पासमें रहना भी भयानक माना जाता है, इसलिये राजा सावधान और स्थिरचित्त होकर विचार करे, कि-कौन मित्र हैं और कौन वैरी हैं ॥ ३३ ॥ कोमल स्वभावके राजाका प्रजा अपमान करती है और तीक्ष्ण स्वभावके राजासे उसकी प्रजा घबडाती है, इसलिये तू तीक्ष्ण भी न हो और कोमल भी न बन, किन्तु तीक्ष्ण और कोमल दोनों बन ॥ ३४ ॥ जैसे चारों ओरसे जल भरा हो और तिस पर भी जलका बडाभारी वेग हो तो वह वेग किनारेको तोडडालता है, ऐसे ही राजा यदि असावधान रहता है और भूल करता है तो उसका राज्य नष्ट होजाता है ३५ बुद्धिमान् राजा बहुतसे वैरियोंका एकसाथमें संहार न करे, किन्तु उनसे सन्धि करनेका ही विचार करे, ईनाम देकर वैरीके मनुष्योंको वशमें करे अथवा आपसमें फूट डलवादेय, हे इन्द्र ! इसप्रकार एकके पीछे एक युक्ति लडावे, यदि वैरीकी बचीहुई सेना थोडी हो तो विजयी राजा उसकी ओरको शान्तिके साथ

सर्वानेवारभेन्नृप ॥ ३७ ॥ यदा स्यान्महती सेना हयनागरथा-
कुला । पदातियन्त्रबहुला अनुरक्ता पडङ्गिनी ॥ ३८ ॥ यदा
बहुविधां वृद्धिं मन्येत प्रतिलोमतः । तदा विवृत्य प्रहरेद्दस्यूनाप-
विचारयन् ॥ ३९ ॥ न सामदण्डोपनिषत् प्रशस्यते न मार्दवं
शत्रुषु यात्रिकं सदा । न सस्यघातो न च सङ्करक्रिया न चापि
भूयः प्रकृतेर्विचारणा ॥४०॥ मायाविभेदानुपसर्जनानि तथैव
पापं न यशः प्रयोगात् । आप्तैर्मनुष्यैरुपचारयेत परेषु राष्ट्रेषु च
सम्प्रयुक्तान् ॥ ४१ ॥ पुरापि चैषामनुसृत्य भूमिपाः परेषु भोगा-

जाय, बुद्धिमान् राजा स्वयं काटडालनेकी शक्ति रखता हो तो
भी वैरीके बचेहुए मनुष्योंको न काटे ॥३६-३७॥ जब अपनी
सेना हाथी, घोड़े और रथोंसे भरपूर हो, बहुतसे पैदल और
यन्त्रोंवाली हो, प्रीति रखती हो, छः अङ्गोंवाली हो तथा यह
प्रतीत होता हो, कि-मैं वैरीकी सेनासे सब प्रकार श्रेष्ठ हूँ तब
बाहर निकल कर बिना विचारे वैरीकी सेनाके साथ युद्ध करने
लगे ॥ ३८-३९ ॥ वैरी समर्थ हो तो उसको सामसे समझाना
ठीक नहीं है, किन्तु गुप्त रीतिसे दण्ड देनेकी युक्ति करे तथा
उसके साथ कोमलतासे वर्ताव करना भी ठीक नहीं है तथा बराबर
चढाई भी न करता रहे, उसके देशके अन्नका नाश न करे,
तालाब आदिमें विष डलवाकर जल भी खराब न करे (क्यों
कि-ये सब काम हिंसात्मक हैं) तथा राज्यकी सात प्रकृतियोंकी
शङ्काको भी त्यागदेय (क्योंकि-बार २ चढाई लेजानेसे खजाना
खाली होजाता है, पैदल आदि निर्बल होजाते हैं, जय न मिलने
से सेना निराश होजाती है तथा देशकी और बड़ी २ हानि
होती है) ॥ ४० ॥ ऐसे अवसर पर राजा वैरियोंके साथ
अनेकों प्रकारका छल प्रपञ्च करे, उनमें भीतर ही भीतर युद्ध
करादेय (आपजस न मिले) इसप्रकार कपटसे काम लेय

नखिलान् जयन्ति । परेषु नीतिं विहितां यथाविधि प्रयांजयन्तो बलवृत्रसूदन ॥ ४२ ॥ गदाय गूढानि वसूनि राजन् प्रच्छिद्य भोगानवधाय च स्वान् । दुष्टान् स्वदोषैरिति कीर्त्तयित्वा पुरेषु राष्ट्रेषु च योजयन्ति ॥ ४३ ॥ तथैव चान्यैरपि शास्त्रवेदिभिः स्वलंकृतैः शास्त्रविधानदृष्टिभिः । सुशिक्षितैर्भाष्यकथाविशारदैः पुरेषु कृत्यामुपधारयेच्च ॥ ४४ ॥ इन्द्र उवाच । कानि लिङ्गानि दुष्टस्य भवन्ति द्विजसत्तम । कथं दुष्टं विजानीयामेतत् पृष्टो ब्रवीहि मे ॥ ४५ ॥ बृहस्पतिरुवाच । परोक्षमगुणानाह सद्गु-

विश्वासपात्र मनुष्योंके द्वारा शत्रुओंके नगरोंमें और देशोंमें शत्रु क्या काम कररहे हैं इसका समाचार लेता रहै ॥ ४१ ॥ राजा शत्रुके पीछे पडजाय और नगरोंके किलोंको वशमें करके उनके सब वैभवोंको जीतलेय और फिर हे वृत्र तथा बल दैत्यका नाश करनेवाले इन्द्र! शास्त्रमें लिखी हुई रीतिके अनुसार अपने जीतेहुए नगरोंमें अच्छी व्यवस्था करे ॥ ४२ ॥ हे राजन्! गुप्त दूतोंको गुप्तरीतिसे धन देय परन्तु उनके शरीरको किसी प्रकारका भी कष्ट न देताहुआ प्रकटमें उनका रुपया पैसा जप्त करलेवे और शहरोंमें तथा देशोंमें यह प्रकट करदेय, कि-ये दुष्ट हैं और इनको यह इनके दुष्कर्मका दण्ड दियागया है, ऐसा प्रकट करके उन दूतोंको शत्रुओंके देशोंमें भेजे ॥ ४३ ॥ तथा अपने नगरमें अच्छे प्रकारसे शास्त्र पढेहुए, सब बातोंके जानकार, शास्त्रकी विधिको जाननेवाले, अच्छे शिक्षित, भाष्य और कथाओंको जाननेमें चतुर पुरुषोंके द्वारा शत्रुओंके ऊपर कृत्याका प्रयोग करे ॥ ४४ ॥ इन्द्रने बूझा कि-हे श्रेष्ठ ब्राह्मण! दुष्ट पुरुषके क्या चिह्न हैं और उसको कैसे पहचाने, यह मैं बूझता हूँ, मुझे बताइये ॥ ४५ ॥ बृहस्पतिने कहा, कि-पीठ पीछे बुराई करे, सद्गुणोंसे द्वेष करे और प्रकटरूपसे दूसरेके

णानभ्यसूयते । परेषां कीर्त्यमानेषु तूष्णीमास्ते पराङ्मुखः ४६
तूष्णीम्भावोपि विज्ञेयं न चेद्भवति कारणम् । विश्वासश्चौष्ठ-
सन्दंशं शिरसश्च प्रकम्पनम् ॥ ४७ ॥ करोत्यभीक्ष्णं संसृष्टमसं-
सृष्टश्च भाषते । अदृष्टितो न कुरुते दृष्टो नैवाभिभाषते ॥ ४८ ॥
पृथगेत्य समश्नाति नेदमद्य यथाविधि । आसने शयने याने
भावा लक्ष्या विशेषतः ॥४६॥ आर्त्तिरार्त्ते प्रिये प्रीतिरेतावन्मित्र-
लक्षणम् । विपरीतन्तु बोद्धव्यमरिलक्षणमेव तत् ॥ ५० ॥
एतान्येव यथोक्तानि बुध्येथास्त्रिदशाधिप । पुरुषाणां प्रदुष्टानां
स्वभावो बलवत्तरः ॥ ५१ ॥ इति दुष्टस्य विज्ञानमुक्तं ते सुर-

सद्गुणोंकी उसके सामने प्रशंसा होती हो तो टेढ़ा मुख करके चुप चुप बैठा रहे ॥४६॥ परन्तु ऐसा चुप चुप बैठनेसे उसको दुष्ट न समझे किन्तु ऐसा पुरुष ऐसे अवसर पर लंबे २ साँस लेता है ओठ काटता है और शिर हिलाता है ॥ ४७ ॥ नित्य अपने साथ मिलना रहता है तो भी दूसरे पुरुषोंकी मण्डलीमें जाकर मनमाना बकता है, काम करना स्वीकार करता है परन्तु ऐसा मनुष्य जब उसके ऊपर अपनी दृष्टि नहीं होती है तो अपने कहनेके अनुसार काम नहीं करता पीछे काम नहीं करता है और जब उसके ऊपर अपनी दृष्टि पड़ती है तब वह कामकी बातका इशारा भी नहीं करता १८ दुष्ट मनुष्य अलग जाकर भोजन करता है अथवा उसके सामने भोजन लाकर रक्खा जाता है तो आज ठीक २ भोजन नहीं हुआ ऐसी बातें करता है इस प्रकार बैठनेमें सोनेमें और जानेमें विशेष कर ऐसे भाव दिखाता है ४६ दुःखके समय जो दुःखी होय और प्रसन्नताके समय जो प्रसन्न हो यह मित्रका लक्षण है और जो इसके विपरीत वर्ताव हो उसको शत्रुका लक्षण जानो ५० हे देवराज! यह मैंने तुझसे शास्त्रके अनुसार कहा,है इसको तू अपने हृदयमें चीत रखना,दुष्ट

सत्तम । निशम्य शास्त्रतत्त्वार्थं यथावदमरेश्वर ॥ ५२ ॥ भीष्म उवाच । स तद्वचः शत्रुनिबर्हणे रतस्तथा चकारावितथं बृहस्पतेः। चचार काले विजयाय चारिहा वशं च शत्रूननयत् पुरंदरः ।५३॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि इन्द्रबृहस्पतिसंवादे त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१०३॥

युधिष्ठिर उवाच । धार्मिकोऽर्थानसम्प्राप्य राजामात्यैः प्रबाधितः । च्युतः कोशाच्च दण्डाच्च सुखमिच्छन् कथं चरेत् ॥१॥ भीष्म उवाच । अत्रायं क्षेमदर्शीय इतिहासोऽनुगीयते । तत्तेहं संप्रवक्ष्यामि तन्निबोध युधिष्ठिर।२।क्षेमदर्शी नृपसुतो यत्र क्षीणबलः पुरा । मुनिं कालकवृक्षीयमाजगामेति नः श्रुतम् । तं पप्रच्छानुसंगृह्य कृच्छ्रामापदमास्थितः ॥ ३ ॥ राजोवाच । अर्थेषु भागी

पुरुषोंका स्वभाव छुपा नहीं रहता है ५१ हे देवराज! हे उत्तम देव ! शास्त्रके तत्त्वको जानकर मैंने तुझे दुष्टके लक्षण सुनाये हैं ५२ भीष्मने कहा, कि-हे राजा युधिष्ठिर ! जो शत्रुओंका संहार करनेमें लगा रहता था ऐसे शत्रुनाशक इन्द्रने बृहस्पतिकी बातको ठीक २ समझकर समय आने पर शत्रुके ऊपर विजय पानेके लिये बाहर निकलकर शत्रुको वशमें किया था ॥ ५३ ॥ एक सौ तीनवाँ अध्याय समाप्त ॥ १०३ ॥ छ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे भीष्म पितामह ! धर्मनिष्ठ राजा निर्धन होय, मन्त्री उसको दुःख देते हों, खजाना और सेना भी उसके पास न हो ऐसा राजा सुख पानेसे लिये कैसा वर्त्ताव करे ? ॥ १ ॥ भीष्मने कहा, कि-हे युधिष्ठिर ! इस विषयमें मैं तुझे क्षेमदर्शीका एक इतिहास सुनाता हूँ उसको तू सुन ॥२॥ ऐसा सुना है, कि-पहले समयमें जब क्षेमदर्शी नामका राजा निर्बल होगया तब वह कालकवृक्षीय नामक मुनिके पास आया और महादुःखदायक आपत्तिमें पड़ेहुए उस राजाने मुनिका

पुरुष ईहमानः पुनः पुनः । अनुकम्प्या मद्विधो राज्य ब्रह्मन् किं कर्तुमर्हति ॥ ४ ॥ अन्यत्र मरणादैन्यादन्यत्र परसंश्रयात् । क्षुद्रादन्यत्र चाचारात्तन्ममाचक्ष्व सत्तम ॥५॥ व्याधिना चाभिपन्नस्य मानसेनेतरेण वा । धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च त्वद्विधः शरणं भवेत् ॥ ६ ॥ निर्विद्यति नरः कामान्निर्विद्य सुखमेधते । त्यक्त्वा प्रीतिं च शोकं च लब्ध्वा बुद्धिमयं वसु ॥७॥ सुखमर्थाश्रयं येषामनुशोचामि तानहम् । मम ह्यर्थाः सुबहवो नष्टाः स्वप्न इवागताः ॥ ८ ॥ दुष्करं बत कुर्वन्ति महतोऽर्थांस्त्यजन्ति ये । वयं त्वेतान् परित्यक्तुमसतोऽपि न शक्नुमः ॥ ९ ॥ इमामवस्थां संप्राप्तं दीनमार्त्तं श्रिया च्युतम् । यदन्यत् सुखमस्तीह तद्ब्रह्मन्ननु-

अनुग्रह पाकर उन मुनिसे इसप्रकार प्रश्न किया थी ॥ ३ ॥ राजाने बूझा, कि–हे ब्राह्मण ! मुझसा मनुष्य बार २ उद्योग करने पर भी यदि राज्य न मिले तो उसको क्या करना चाहिये ? ॥४॥ हे मुनिवर ! आत्मघात, दीनता, चोरी करना, दूसरेके आश्रयमें रहना और नीच आचरण किये बिना यदि राज्य मिलनेका और कोई उपाय हो तो उसको बताइये ॥५॥ मनुष्य जब मानसिक या दूसरी किसी व्याधिसे घिरगया हो तो उसको आपसरीखे धर्मज्ञ और कृतज्ञ पुरुषकी शरणमें जाना चाहिये ॥ ६ ॥ वह राजा कामसे उदास होजाय तथा समयके अनुसार वर्त्ताव करके हर्ष और शोकको त्याग देय, बुद्धिसे धनको प्राप्त करे तथा उससे सुख भोगे ॥ ७ ॥ जिन पुरुषोंका सुख धनके आधार पर होता है उन पुरुषोंका मैं शोक करता हूँ, मेरा बहुतसा धन स्वप्नमें मिलेहुए धनकी समान नष्ट होगया है ॥ ८ ॥ जो पुरुष बडीभारी सम्पत्तिको त्याग देते हैं वे बडा कठिन काम करते हैं, परन्तु हम तो न मिलीहुई सम्पत्तिको भी नहीं त्यागसकते ॥९॥ हे ब्राह्मण ! मैं ऐसी अवस्थामें आपहुँचा

शाधि माम् ॥ १० ॥ कौशल्येनैवमुक्तस्तु राजपुत्रेण धीमता । मुनिः कालकवृक्षीय प्रत्युवाच महाद्युतिः ॥ ११ ॥ मुनिरुवाच । पुरस्तादेव ते बुद्धिरियं कार्य्या विजानता । अनित्यं सर्वमेवैतदहं च मम चास्ति यत् ॥ १२ ॥ यत्तु किंचिन्मन्यसेऽस्तीति सर्वं नास्तीति विद्धि तत् । एवं न व्यथते प्राज्ञः कृच्छ्रामप्यापदं गतः ॥ १३ ॥ यद्धि भूतं भविष्यं च सर्वं तन्न भविष्यति एवं विदितवेद्यस्त्वमधर्मेभ्यः प्रमोच्यसे ॥ १४ ॥ यच्च पूर्वे समाहारे यच्च पूर्वे परे परे । सर्वं तन्नास्ति ते चैव तज्ज्ञात्वा कोऽनुसंज्वरेत् ॥ १५ ॥ भूत्वा च न भवत्येतद्भूत्वा च भविष्यति । शोके न

हूँ, दीन, आतुर और लक्ष्मीरहित हूँ ऐसे मुझे यदि और कोई दूसरा सुखका साधन होय तो उसका उपदेश दीजिये १० इसप्रकार कोशल देशके बुद्धिमान् राजकुमारने मुनिसे बूझा, तब महाकान्तिमान् कालकवृक्षीय मुनिने यह उत्तर दिया॥११॥ मुनि बोले, कि तू जो मानता है, कि–मैं जो देखरहा हूँ यह सदा नहीं रहेगा तथा मेरे पास जो कुछ है यह सब वस्तु नाशवान् है, यह बात ठीक है ॥ १२ ॥ हे कुमार ! तू समझता है, कि–अमुक वस्तु है, परन्तु तुझे मालूम हो, कि–वह सब वस्तु मिथ्या है, बुद्धिमान् इस बातको जानते हैं, इसलिए वे महाकष्टदायक आपत्तिमें आपडते हैं तो भी दुःखी नहीं होते हैं ॥१३॥ जो भूतकालमें (पहले) था और जो भविष्यमें (आगेको) है वह सब नहीं है ऐसा जान, इसप्रकार जाननेयोग्य जिस वस्तुको सब जानते हैं उसको तू जान लेगा तो इस धर्मसे तेरा उद्धार होजायगा ॥ १४ ॥ पहले राजाओंकी जो कुछ वस्तु है और जो कुछ उनसे पीछेके राजाओंकी वस्तु है वह सब वस्तु तेरी नहीं है, ऐसा जानलेने पर कौनसे राजाको खेद होता है ? ॥ १५ ॥ जो वस्तु बीतचुकी वह फिर नहीं होती और

ह्यस्ति सामर्थ्यं शोकं कुर्यात् कथञ्चन ॥ १६ ॥ क्व नु तेऽद्य पिता राजन् क्व नु तेऽद्य पितामहः। न त्वं पश्यसि तानद्य न त्वां पश्यन्ति तेऽपि च ॥१७॥ आत्मनोऽध्रुवतां पश्यंस्तांस्त्वं किमनुशोचसि । बुद्ध्या चैवानुबुध्यस्व ध्रुवं हि न भविष्यसि ॥ १८ ॥ अहञ्च त्वञ्च नृपते सुहृदः शत्रवश्च ते । अवश्यं न भविष्यामः सर्वं च न भविष्यति ॥ १९ ॥ ये तु विंशतिवर्षा वै त्रिंशद्वर्षाश्च मानवाः । अर्वागेव हि ते सर्वे मरिष्यन्ति शरच्छतात् ॥२०॥ अपि चेन्महतो वित्तान्न प्रमुच्येत पूरुषः । नैतन्ममेति तन्मत्वा कुर्वीत प्रियमात्मनः ॥ २१ ॥ अनागतं यन्न ममेति विद्यादतिक्रान्तं यन्न ममेति विद्यात् । दिष्टं बलीय इति मन्यमानास्ते पण्डितास्तत्सतां

जो वस्तु हुई नहीं है वह भी नहीं ही है, शोक करनेमें ऐसी शक्ति नहीं है, कि-वह वस्तु प्राप्त करादेय, इसलिये किसीको भी उसके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥१६॥ हे राजकुमार ! तेरा पिता आज कहाँ है ? तेरा दादा आज कहाँ है ? आज न तो तू उनको देखता है और न वे ही तुझे देखते हैं ॥ १७ ॥ तू अपनी अनित्यताको देखकर उनके लिये शोक क्यों करता है ? तू अपनी बुद्धिसे अपने आपेका विचार करके देख, कि-तू स्वयं भी सदा नहीं रहेगा ॥ १८ ॥ हे राजन् ! मैं, तू, तेरे स्नेही और वैरी अवश्य ही नहीं रहेंगे तथा इन सबोंमेंसे कोई भी नहीं रहेगा ॥१९॥ जो बीस वर्षके और तीस वर्षके मनुष्य हैं वे सब आनेवाले सौ वर्षसे पहले ही मरजायँगे ॥ २० ॥ पुरुष यदि बड़ेभारी राज्यका और धनका त्याग नहीं करसके तो वह, इनमेंसे मेरा कुछ नहीं है, ऐसा मानकर इनके ऊपरसे ममता उठादेय और अपना कल्याणसाधन करे ॥२१॥ आगेको होनेवाली वस्तु मेरी नहीं है और भूतकालकी (जो नहीं रहा वह) वस्तु भी मेरी नहीं थी ऐसा जाने तथा भाग्य बलवान् है

रथानमाहुः ॥२२॥ अनाढ्याश्चापि जीवन्ति राज्यञ्चाप्यनुशासति। बुद्धिपौरुषसम्पन्नास्त्वया तुल्याधिका जनाः ॥ २३ ॥ न च त्वमिव शोचन्ति तस्मात्त्वमपि मा शुचः। किन्न त्वं तैर्नरैः श्रेयांस्तुल्यो वा बुद्धिपौरुषैः ॥ २४ ॥ राजोवाच। यादृच्छिक सर्वमासीत्तद्राज्यमिति चिन्तये। ह्रियते सर्वमेवेदं कालेन महता द्विज ॥ २५ ॥ तस्यैव ह्रियमाणस्य स्रोतसेव तपोधन। फलमेतत् प्रपश्यामि यथालब्धेन वर्त्तयन् ॥२६॥ मुनिरुवाच। अनागतमतीतञ्च यथातथ्यविनिश्चयात्। नानुशोचेत कौशल्य सर्वार्थेषु तथा भव ॥ २७ ॥ अवाप्यान् कामयस्वार्थान्नानवाप्यान्

ऐसा माने, जो पुरुष ऐसा समझते हैं वे पण्डित कहलाते हैं और उनको ही ऋषि मुनि निर्ममतावाले और सत्पुरुष कहते हैं ॥ २१ ॥ बुद्धिमें और पुरुषार्थमें तेरी समान अथवा तुझसे भी बढ़चढ़ पुरुष निर्धन होने पर भी जीवन बिताते हैं, वे कुछ राज्य नहीं करते हैं ॥ २३ ॥ तो भी तेरी समान शोक नहीं करते, इसलिये तू भी शोक न कर, तू क्या बुद्धिमें और पुरुषार्थमें उनसे बढ़ाहुआ या उनकी समान नहीं है ? ॥ २४ ॥ राजाने कहा-मैं तो समझता हूँ, कि-यह सब राज्य मुझे जरा भी परिश्रम किये बिना मिलगया था, और हे ब्राह्मण ! उस सब राज्यको बलवान् कालने फिर छीन लिया है॥२५॥हे तपोधन ! जलके प्रवाहकी समान महान् कालने मेरा राज्य छीनलिया तब मैं उसका यह फल देखता हूँ, कि-मुझे धर्मादेमेंसे मिली हुई वस्तुसे आजीविका करनी पड़ती है ॥ २६ ॥ मुनिने कहा, कि-हे कोशल देशके राजकुमार ! यथार्थ वस्तु का विचार करने पर भविष्यत्काल और भूतकालके विषयमें लोग शोक नहीं करते हैं और तुझे भी सब विषयोंमें इसप्रकार ही बर्त्ताव करना चाहिये ॥ २७ ॥ जो पदार्थ प्राप्त हों उनकी

कदाचन । प्रत्युत्पन्नाननुभवन् मा शुचस्त्वमनागतान् ॥ २८ ॥ यथा लब्धोपपन्नार्थैस्तथा कौसल्य रंस्यसे । कच्चिच्छुद्धस्वभावेन श्रिया हीनो न शोचसि ॥ २९ ॥ पुरस्तान्भूतपूर्वत्वाद्धीनभाग्यो हि दुर्मतिः । धातारं गर्हते नित्यं लब्धार्थांश्च नमृष्यते ॥ ३० ॥ अनर्हानपि चैवान्यान्मन्यते श्रीमतो जनान् । एतस्मात् कारणादेतद् दुःखं भूयोनुवर्त्तते ॥ ३१ ॥ ईर्ष्याभिमानसम्पन्ना राजन् पुरुषमानिनः । कच्चित्त्वन्न तथा राजन् मत्सरी कोसलाधिप ॥ ३२ ॥ सहसा श्रियमन्येषां यद्यपि त्वयि नास्ति सा । अन्यत्रापि सतीं लक्ष्मीं कुशला भुञ्जते सदा ।

तू इच्छा कर परन्तु जो प्राप्त न हों उनकी इच्छा न कर, मिलेहुए पदार्थोंको भोग परन्तु न मिलेहुए पदार्थोंका शोक न कर ॥ २८ ॥ हे कोशल देशके राजकुमार ! जो पदार्थ प्राप्त हुए हों उन प्राप्त हुए पदार्थोंसे तू आनन्दमें रह तथा लक्ष्मी तुझे न मिले तो भी तू अपने मनको शुद्ध रखकर उसके लिये शोक न कर ॥ २९ ॥ पहले जन्मके कर्मके योगसे जब मनुष्य भोगरहित होजाता है तब वह दुष्टबुद्धि होकर ! नित्य दैवकी निन्दा करता है और यदि धन मिलता है तो उतनेसे सन्तुष्ट नहीं होता है, किन्तु अधिक धनकी लालसा किया करता है ३० नीच लोगोंको श्रीमान् देखकर उनका सन्मान करता है और इसकारणसे ही उसको वारम्बार दुःख भोगना पड़ता है ॥ ३१ ॥ हे राजन् ! लोग ईर्षा और अभिमानसे भरेहुए तथा पुरुषपनेका अभिमान रखनेवाले होते हैं, हे कोशल देशके राजा ! तू तो वैसा मत्सरी नहीं है ? ॥ ३२ ॥ यद्यपि तेरे पास लक्ष्मी नहीं है, परन्तु तू दूसरोंकी लक्ष्मीको देखकर ईर्षा नहीं करता है, मत्सर-रहित पुरुष वैरीकी राजलक्ष्मीको भोगते हैं, परन्तु जो पुरुष दूसरोंसे द्वेष करते हैं वे पुरुष तो अपनी ही राजलक्ष्मीको स्वयं त्यागते

अभिनिःस्यन्दते श्रीर्हि सत्यपि द्विषतो जनम् ॥ ३३ ॥ श्रियञ्च पुत्रपौत्रं च मनुष्या धर्मचारिणः । योगधर्मविदो धीराः स्वयमेव त्यजन्त्युत॥३४॥ बहुसंकुसुकं दृष्ट्वा विविित्सा सा धनेन च । तथाऽन्ये सन्त्यजन्त्येव मत्वा परमदुर्लभम् ॥३५॥ त्वं पुनः प्राज्ञरूपः सन्कृपणं परितप्यसे । अकाम्यान्कामयानोर्थान्पराधीनानुपद्रवान् ॥ ३६ ॥ तां बुद्धिमुपजिज्ञासुस्त्वमेवैतान्परित्यज । अनर्थांश्चार्थरूपेण ह्यर्थांश्चानर्थरूपिणः ॥ ३७ ॥ अर्थायैव हि केषांचिद्धननाशो भवत्युत । आनंत्यं तत्सुखं मत्वा श्रियमन्यः परीप्सति ॥३८॥ रममाणः श्रिया कश्चिन्नान्यच्छ्रेयोभिमन्यते । तथा तस्येह मानस्य समारंभो विनश्यति ॥३९॥ कृच्छ्राल्लब्ध-

हैं ॥ ३३ ॥ धर्माचरण करनेवाले और योगधर्मको जाननेवाले धीर पुरुष स्वयं ही लक्ष्मीको, पुत्रोंको और पौत्रोंको त्याग देते हैं ॥ ३४ ॥ कितने ही साधारण पुरुष वारम्बार परिश्रम करके तथा भिन्न २ साधनोंके द्वारा उत्पन्न कियेहुए नवीन पार्थिव पदार्थोंको परम दुर्लभ जानतेहुए भी उनको नाशवान् जानकर त्याग देते हैं ॥ ३५ ॥ तू समझदार है तो भी दीनता दिखाकर शोक क्यों करता है ? और पराधीन, दुःखदायक तथा कामना करनेके अयोग्य वस्तुओंकी इच्छा क्यों करता है ?॥३६॥ मैं तुझे यह उपदेश देता हूँ, कि-इस सब कामनावाली वस्तुओं का त्याग करदे, अनर्थोंको अनर्थरूप जान और अर्थोंको भी (इसलिये अर्थ और अनर्थ दोनोंका त्यागकर) ॥३७॥ कितने ही मनुष्य धन पानेका उद्योग करतेहुए धनका नाश करलेते हैं और कितने ही एक धनको ही अनन्त सुख मानकर उसको पानेके लिये उसके पीछे पड़जाते हैं३८ कोई पुरुष लक्ष्मीसे सुख भोगनेमें मौज मानते हैं और लक्ष्मीके सिवाय दूसरी किसी वस्तुको भी कल्याणकारी नहीं समझते, परन्तु (ऐसा करनेसे) वे अपने

मभिप्रेतं यदि कौसल्य नश्यति। तदा निर्विद्यते सोर्थात्परिभग्नक्रमो नरः ॥ ४० ॥ धर्ममेकेभिपद्यंते कल्याणाभिजना नराः। परत्र सुखमिच्छन्तो निर्विद्येयुश्च लौकिकात् ॥ ४१ ॥ जीवितं संत्यजंत्येके धनलोभपरा जनाः। न जीवितार्थं मन्यन्ते पुरुषा हि धनादृते ॥ ४२ ॥ पश्य तेषां कृपणतां पश्य तेषामबुद्धिताम्। अध्रुवे जीविते मोहादर्थदृष्टिमुपाश्रिताः ॥४३॥ संचये च विनाशान्ते मरणान्ते च जीविते। संयोगे च वियोगान्ते कोनुविप्रणयेन्मनः ॥४४॥ धनं वा पुरुषो राजन्पुरुषं वा पुनर्धनम्। अवश्यं प्रजहात्येव तद्विद्वान्को नु संज्वरेत् ॥४५॥ अन्येषामपि नश्यन्ति

जीवनको सार्थक करनेवाले लाभोंको खोबैठते हैं॥३९॥ हे कोशल देशके राजा! जिस किसीका महाकष्टसे पायाहुआ उसकी इच्छानुरूप धन नष्ट होजाता है, वह मनुष्य एकवार धनका नाश होजानेके बाद फिर वैसा ही धन पानेके लिये उदासीन होजाता है ॥ ४० ॥ कितने ही धर्मात्मा और कुलीन मनुष्य अच्छे गुणोंको प्राप्त करते हैं और परलोकमें सुख पानेकी इच्छासे संसारी विषयोंसे उदास होजाते हैं ॥ ४१ ॥ कितने ही धनके लोभी पुरुष धनके लिये अपने जीवनको भी त्यागदेते हैं, क्यों कि-वे पुरुष धनके विना जीवनको अच्छा नहीं समझते ॥४२॥ जो नाशवान् जीवनके ऊपर मोह होनेके कारण अर्थकी दृष्टि रखकर बैठते हैं उन पुरुषोंकी कृपणता और मूर्खताको तुम देखो ॥ ४३ ॥ जहाँ धनका नाश पास ही आलगा हो तहाँ कौनसा मनुष्य धनको इकट्ठा करनेमें अपना मन लगावेगा! जहाँ मरण आलगा हो तहाँ कौनसा मनुष्य जीवनका विचार करता है ?॥४४॥ हे राजन्! किसी समय मनुष्य धनको त्याग देता है और कभी धन मनुष्यको त्यागदेता है, दोनोंमेंसे एक दूसरेको अवश्य ही त्यागता है, इस बातको जानने वाला कौनसा

सुहृदश्च धनानि च।पश्य बुध्या मनुष्याणां राजन्नापदमात्मनः। नियच्छ यच्छ संयच्छ इन्द्रियाणि मनो गिरं॥ ४६ ॥ प्रतिषेद्धा न चाप्येषु दुर्बलेष्वपि तेष्वपि ॥ ४७ ॥ प्राप्तिसृष्टेषु भावेषु व्यपकृष्टेष्वसंभवे। प्रज्ञानतृप्तो विक्रान्तस्त्वद्विधो नानुशोचति ॥४८॥ अल्पमिच्छन्न चपलो मृदुर्दान्तः सुनिश्चितः। ब्रह्मचर्योपपन्नश्च त्वद्विधो नैव शोचति ॥४९॥ न त्वेव जाल्मीं कापालीं वृत्तिमेषितुमर्हसि। नृशंसवृत्तिं पापिष्ठां दुष्टां कापुरुषोचिताम् ॥५०॥ अपि मूलफलाजीवो रमस्वैको महावने। वाग्यतः संगृहीतात्मा सर्वभूत-

पुरुष (धनके जानेसे) खेद करेगा ? ॥४५॥ इस संसारमें ऐसे बहुतसे मनुष्य हैं, कि-जिनके सम्बन्धी मरते हैं और धन भी नष्ट होता है, इसप्रकार ही हे राजन् ! तू अपनी आपत्तिको भी अपनी बुद्धिसे देख, कि-मनुष्योंके ऊपर जो आपत्ति पडती है वह उनके अपने ही कियेहुए कर्मका फल है, तू अपनी इन्द्रियोंको और मनको वशमें रख तथा वाणीको मौन रख ॥ ४६ ॥ जब अहित करनेवाले मन वाणी और इन्द्रियें निर्बल होजाते हैं तथा नीच विचारमें लगजाते हैं तब वह मनुष्य अपने आपसमें दौडने वाले विषयोंको किसीप्रकार भी नहीं रोकसकता है ॥ ४७ ॥ इस जगत्के देश और कालकी सत्तामें रहनेवाले भूत और भविष्यत्के पदार्थ किसीके जाननेमें नहीं आते, इस बातको तू जानता है, तू उत्तम ज्ञानसे तृप्त और पराक्रमी है, इसलिये तुझसे पुरुषको शोक नहीं करना चाहिये ॥ ४८ ॥ थोडासा पानेकी इच्छा वाला, चपलतारहित, कोमल, इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला, आत्मतत्त्वका निश्चय करनेवाला और ब्रह्मचर्यका पालनकर्त्ता तुझसा पुरुष क्या शोक करनेके योग्य है ? ॥४९॥ तुझे कपटभरी, कापालिकी, क्रूरतायुक्त, पापिष्ठ, दुष्ट और तुच्छ पुरुषोंके योग्य आजीविका करना भी उचित नहीं है ५०

दयान्वितः ॥ ५१ ॥ सदृशं पण्डितस्यैतदीषादन्तेन दन्तिनः ।
यदेको रमतेऽरण्ये यच्चारण्येनैव तुष्यति ॥ ५२ ॥ महाह्रदः संक्षु-
भित आत्मनैव प्रसीदति । एतदेवं गतस्याहं सुखं पश्यामि
जीवितम् ॥५३॥ असंभवे श्रियो राजन् हीनस्य सचिवादिभिः
दैवे प्रतिनिविष्टे च किं श्रेयो मन्यते भवान् ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि
कालकवृक्षीये चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

मुनिरुवाच । अथ चेत्पौरुषं किञ्चित्क्षत्रियात्मनि पश्यसि ।
ब्रवीमि तां तु ते नीतिं राज्यस्य प्रतिपत्तये ॥१॥ तां चेच्छक्नोषि

परन्तु अब तू वाणीको नियममें रखकर, मनको वशमें करके
तथा सब प्राणियोंके ऊपर दया रखकर फलमूलोंसे आजीविका
करताहुआ महावनमें अकेला विहार कर५१ जो मनुष्य आनन्द
से रहकर हलके अग्रभागकी समान जिसके दाँत हैं ऐसे हाथीसा.
स्नेह करता है और जिसके पास कोई भी मनुष्य नहीं रहता
है ऐसे जङ्गलमेंसे मिलनेवाले पदार्थोंपर आनन्दसे निर्वाह करके
सन्तोष मानता है उसको ही चतुर कहते हैं ॥ ५२ ॥ जैसे एक
बडा तालाव घपोला गया हो तो वह फिर अपने आप ही
निर्मल होजाता है, ऐसे ही क्षुब्ध हुआ महात्मा पुरुष भी अपने
आप ही शान्त होजाता है और फिर सुखमें जीवन बिताता है,
यह मैं देखता हूँ ॥ ५३ ॥ हे राजन् ! तुझे अब राजलक्ष्मी
मिलना सम्भव नहीं है, तेरे पास मन्त्री आदि सलाहकार भी
नहीं है और तेरा प्रारब्ध भी विपरीत होरहा है, इसलिये अब
तू अपना कल्याण किसमें मानता है ? ॥ ५४ ॥ एकसौ
चारवाँ अध्याय समाप्त ॥ १०४ ॥ छ ॥

मुनिने कहा कि-हे क्षत्रिय ! यदि तुझे अपनेमें कुछ
पुरुषार्थ मालूम होता हो तो राज्य पानेके लिये मैं तुझे राज-

निर्यातुं कर्म चेत्र करिष्यसि । शृणु सर्वमशेषेण यत्त्वां वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥२॥ आचरिष्यसि चेत्कर्म महतोऽर्थानवाप्स्यसि । राज्यं राज्यस्य मन्त्रं वा महतीं वा पुनः श्रियम् ॥३॥ अथैतद्रोचते राजन् पुनर्ब्रूहि ब्रवीमि ते । राजोवाच । ब्रवीतु भगवान्नीतिमुपपन्नो स्म्यहं प्रभो ॥ ४ ॥ अमोघोयं भवत्वद्य त्वया सह समागमः । मुनिरुवाच । हित्वा दम्भञ्च कामञ्च क्रोधं हर्षं भयं तथा ॥ ५ ॥ अप्यमित्राणि सेवस्व प्रणिपत्य कृताञ्जलिः । त्वमुत्तमेन शौचेन कर्मणा चाभिधारय ॥ ६ ॥ दातुमर्हति ते वित्तं वैदेहः सत्यसङ्गरः । प्रमाणं सर्वभूतेषु प्रग्रहं च भविष्यसि ॥ ७ ॥ ततः सहायान्सोत्साहान् लप्स्यसेऽव्यसनान् शुचीन् । वर्त्तमानः स्वशास्त्रेण

नीतिका उपदेश देता हूँ ॥ १ ॥ यदि तू इस राजनीतिसे काम लेगा तो तेरी अपनी उन्नति करनेकी कामना पूरी होगी, मैं तुझे सब राजनीति यथार्थरूपसे सुनाता हूँ, तू उसको सुन ॥२॥ तू यदि पुरुषार्थ करेगा तो बहुतसे अर्थोंको पावेगा, राज्य राज्यके मन्त्र और बड़ीभारी राजलक्ष्मीको पावेगा ॥ ३ ॥ इस लिये हे राजन् ! यदि तुझे मेरी बात अच्छी लगती हो तो तू मुझे फिर बता तो मैं तुझसे कहूँ, राजकुमारने कहा, कि-हे प्रभो ! मुझमें शूरता आदि हैं आप मुझे राजनीतिका उपदेश दीजिये ॥ ४ ॥ तो मेरा आज आपके साथका समागम सफल हो, मुनिने कहा, कि-हे राजकुमार ! तू दम्भ, काम, क्रोध, हर्ष और भयको त्यागता हुआ दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करके शत्रुकी भी सेवा कर ॥ ५-६ ॥ तू जनककी सेवा कर और नित्य अच्छे पवित्र काम कर, तू दृढ़तासे उसको सेवता रहेगा तो इससे तू उसका दाहिना हाथ होजायगा और विदेह राजा प्रतिज्ञाका सच्चा है, वह तुझे धन देगा और सब लोग तेरा मान करेंगे ॥ ७ ॥ इसके फलसे तुझे उत्साहवाले, सात

संयतात्माजितेन्द्रियः ॥ ८ ॥ अभ्युद्धरति चात्मानं प्रसादयति च प्रजाः । तेनैव त्वं धृतिमता श्रीमता चाभिसत्कृतः ॥ ९ ॥ प्रमाणं सर्वभूतेषु गत्वा च ग्रहणं महत् । ततः सुहृद्बलं लब्ध्वा मन्त्रयित्वा सुमन्त्रिभिः ॥१०॥ अन्तरैर्भेदयित्वारीन्बिल्वं बिल्वेन भेदय । परैर्वा संविदं कृत्वा बलमप्यस्य घातय ॥११॥ अलभ्या ये शुभा भावा स्त्रियश्चाच्छादनानि च । शय्यासनानि यानानि महार्हाणि गृहाणि च ॥ १२ ॥ पक्षिणो मृगजातानि रसगन्धा फलानि च । तेष्वेव सज्जयेथास्त्वं यथा नश्यत्वयं परः ॥ १३ ॥ यद्येवं प्रतिषेद्धव्यो यद्युपेक्षणमर्हति । न जातु विवृतः कार्यः शत्रुः सुनयमिच्छता ॥ १४ ॥ रमस्व परमामित्रे विषये प्राज्ञसम्मतः ।

व्यसनोंसे रहित और पवित्र मनवाले सहायक मिलजायँगे. जो राजनीति शास्त्रके अनुसार वर्त्ताव करता है, मनको और इन्द्रियोंको वशमें रखता है वह अपना उदय करता है और दूसरोंको प्रसन्न रखता है ॥ ८ ॥ बुद्धिमान् श्रीमान् राजा विदेह तेरा सत्कार करेगा और तू राजा जनकका दाहिना हाथ होजायगा ९ तब सब प्राणी तेरा सत्कार करेंगे, तदनन्तर तू मित्रोंका बल प्राप्त करना और अच्छे मन्त्रियोंके साथ संमति करना ॥१०॥ फिर शत्रुओंको भीतर ही भीतर लड़ाना, एक बेलसे जैसे दूसरे बेलको तोड़ डालते हैं ऐसे ही उनका नाश करना अथवा शत्रुके शत्रुओंके साथ मिलकर वैरीकी सेनाका नाश करादेना ११ अलभ्य उत्तम पदार्थ, स्त्रियें, ओढने, बिछौने, सवारियें, आसन बड़े मूल्यके महल, पक्षी भिन्न २ जातिके पशु, रस, सुगन्धित पदार्थ और फलोंमें वैरीको तू ऐसा प्रेमी (शौकीन) बनादेना, कि–जिससे उसका नाश होजाय ॥ १२–१३ ॥ यदि अपने वैरीके विषयमें ऐसा होसकता हो और उसकी उपेक्षा ही करनी हो तो सदाचारको चाहनेवाला मनुष्य यह बात अपने वैरीके

भजस्व श्वेतकाकीयैर्मित्रधर्ममनर्थकैः ॥ १५ ॥ आरम्भांश्चास्य महतो दुश्चरांश्च प्रयोजय। नदीबन्धविरोधांश्च बलवद्भिर्विरुध्यताम् ॥ १६ ॥ उद्यानानि महार्हाणि शयनान्यासनानि च। प्रति भोगसुखेनैव कोशमस्य विरेचय ॥ १७ ॥ यज्ञदाने प्रशाध्यस्मै ब्राह्मणाननुवर्ण्य तान्। ते त्वां प्रतिकरिष्यन्ति तं भोक्ष्यन्ति वृका इव ॥ १८ ॥ असंशयं पुण्यशीलः प्राप्नोति परमां गतिम्। त्रिविष्टपे पुण्यतमं स्थानं प्राप्नोति मानवः ॥ १९ ॥ कोशक्षये त्वमित्राणां वशं कौसल्य गच्छति। उभयत्र प्रयुक्तस्य धर्मे चाधर्म एव च ॥ २० ॥ फलार्थमूलं व्युच्छिद्येत्तेन नन्दन्ति शत्रवः। न

जानने न देय॥१४॥हे श्रेष्ठ राजकुमार! तू बुद्धिमानोंमें माननीय होकर वैरीके देशमें विहार कर और कुत्ते, मृग तथा कौओंकी समान आचरण करके वैरीकी सेवाकर (अर्थात् कुत्तेकी समान जागता रह, मृगकी समान चौकन्ना रह और कौएकी समान वैरीके इङ्गितको जानता रह तथा इन गुणोंको धारण करके वैरीकी सेवा कर)॥१५॥और वैरियोंसे महाकठिन बड़े २ कामोंका आरंभ करा तथा बलवानोंके साथ नदीकी समान दुस्तर विरोध करादे और बगीचे, बड़ी २ कीमतकी शय्याएँ और आसन इन सबका वैरीको उपभोग कराकर उसके खजानेको खाली कराडाल और ब्राह्मणोंकी प्रशंसा करके उसको यज्ञ तथा दान करनेकी सलाह दे, ऐसा करनेसे ब्राह्मण तेरा उपकार मानेंगे और भेड़ियेकी समान तेरे वैरीको खाजायँगे ॥१६-१८॥ धर्मशील मनुष्यको भारतवर्षमें परमगति मिलती है, धर्मशीलको स्वर्गमें भी महापुण्यका स्थान मिलता है ॥१९॥ परन्तु हे कोशलराज! जब वैरियोंका खजाना धर्मके अथवा अधर्मके काम करनेसे खाली होजाता है तब वह वैरीके वशमें होजाता है ॥२०॥ स्वर्ग आदि और विजय मिलनेका मूल धनका भण्डार है, उसका नाश करा देय, क्योंकि-

चास्मै मानुषं कर्म दैवमस्योपवर्णय ॥ २१ ॥ असंशयं दैवपरः क्षिप्रमेव विनश्यति । याजयैनं विश्वजिता सर्वस्वेन वियुज्यताम् २२ ततो गच्छति सिद्धार्थः पीड्यमानं महाजनम् । योगधर्मविदं पुण्यं कंचिदस्योपवर्णये ॥ २३ ॥ अपि त्यागं बुभूषेत कच्चिदुच्छेदना-शयम् । सिद्धेनौषधियोगेन सर्वशत्रुविनाशिना । नागानश्वान्मनु-ष्यांश्च कृतकैरुपघातयेत् ॥ २४ ॥ एते चान्ये च बहवो दम्भ-योगाः सुचिन्तिताः । शक्या विपहतां कर्तुं पुरुषेण कृतात्मना २५

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि

कालकवृक्षीये पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

धनसे वैरी आनन्दमें दिन बिताता है, तू कभी अपने वैरीको मानुषी कर्म (उद्योग) का उपदेश न देना, किन्तु दैवी कर्म (यज्ञ याग) का ही उपदेश देना ॥ २१ ॥ क्योंकि--जो पुरुष यज्ञयाग आदि दैवी कर्म करनेमें लगा रहता है वह वास्तवमें (धनहीन होकर) नाश पाता है, इसलिये तू अपने वैरीसे विश्वजित् यज्ञ कराकर उसके सर्वस्वका नाश कराडाल ॥ २२॥ तब तेरा काम सिद्ध होजायगा. इसके बाद तू राजाके अधिका-रियोंसे कष्ट पानेवाले महाजनोंके विषयमें अपने वैरी राजासे बात करना. और किसी पवित्र मोक्षधर्मको जाननेवाले पुरुषकी भी वैरीके पास चर्चा करना, कि--जो राजाके पास जाकर वैराग्य की बातें करे ॥ २३ ॥ कि--जिससे तेरा वैरी राजा राज्यको त्यागनेकी इच्छा करे और मोक्ष पानेके लिये वनमें चलाजाय और तू सब वैरियोंका नाश करनेवाली सिद्ध औषधियोंके योग से तथा बनावटी विषोंसे हाथी, घोड़े और मनुष्योंका नाश कराना ॥ २४ ॥ इन उपायोंसे तथा दम्भसे भरे हुए नीतिके दूसरे उपायोंसे बुद्धिमान् मनुष्य वैरी राजाकी प्रजाका विपत्ते नाश करसकता है ॥२५॥ एकसौ पाँचवाँ अध्याय समाप्त १०५

राजोवाच । न निकृत्या न दम्भेन ब्रह्मन्निच्छामि जीवितुम् । नाधर्म्मयुक्तानिच्छेयमर्थान् सुमहतोऽप्यहम् ॥ १ ॥ पुरस्तादेव भगवन् मयैतदपवर्जितम् । येन मां नाभिशङ्केत येन कृत्स्नं हितं भवेत् ॥ २ ॥ आनृशंस्येन धर्मेण लोके ह्यस्मिन् जिजीविषुः । नाहमेतदलं कर्त्तुं नैतत् त्वय्युपपद्यते ॥३ ॥ मुनिरुवाच । उपपन्नस्त्वमेतेन यथा क्षत्रिय भाषसे । प्रकृत्या ह्युपपन्नोसि बुद्ध्या वा बहुदर्शनः ॥४॥ उभयोरेव सामर्थे यतिष्ये तव तस्य च । संश्लेषं वा करिष्यामि शाश्वतं ह्यनुपायिनम् ॥ ५ ॥ त्वादृशं हि कुले जातमनृशंसं बहुश्रुतम् । अमात्यं को न कुर्वीत राज्यप्रणयकोविदम् ॥ ६ ॥ यस्त्वं प्रच्याविनो राज्याद्व्यसनं चोत्तमं गतः । आनृशंस्येन वृत्तेन क्षत्रियेच्छसि जीवितुम् ॥ ७ ॥ आत्मना मद्-

राजाने कहा, कि—हे ब्राह्मण ! मैं कपटसे और दम्भसे जीवित रहना नहीं चाहता तथा अधर्मसे बड़ीभारी सम्पत्तिको भी पाना नहीं चाहता ॥ १ ॥ हे भगवन् ! कपट और दम्भ रखनेसे कोई मुझमे शङ्का करेगा और इससे मेरा अहित होगा, ऐसा विचार कर इसको मैंने पहलेसे ही त्याग दिया है ॥२॥ मैं इस संसारमें क्रूर भावसे जीना नहीं चाहता, इसलिये मुझसे ऐसा आचरण नहीं होसकता और आपको भी ऐसा उपदेश नहीं देना चाहिये ३ मुनिने कहा, कि—हे क्षत्रिय ! तू जैसा कहरहा है तुझमें ऐसे ही गुण हैं, वास्तवमें तू स्वभावसे तथा बुद्धिसे धर्मात्मा, ज्ञानी और अनुभवी है ॥४॥ मैं तेरे और विदेहके दोनोंके लिये यत्न करूँगा और तुम दोनोंमें ऐसी मित्रता कराहूँगा जो कभी नष्ट नहीं होगी ॥५॥ तू कुलीन दया आदि गुणोंसे युक्त बड़ा अनुभवी और राजसभामें कुशल है, तुझे मनुष्यको कौन मन्त्रीका पद नहीं देगा ? ॥ ६ ॥ यद्यपि तुझे राज्यसे भ्रष्ट करदिया है और तू बड़ीभारी आपत्तिमें आपड़ा है तो भी हे क्षत्रिय ! तू धर्मके

गृहं तात वैदेहः सत्यसङ्गरः । अथाहं तं नियोक्ष्यामि तत् करिष्यत्यसंशयम् ॥ ८ ॥ तत आहूय वैदेहं मुनिर्वचनमब्रवीत् । अयं राजकुले जातो विदिताभ्यन्तरो मम । आदर्श इव शुद्धात्मा शारदश्चन्द्रमा यथा । नास्मिन् पश्यामि वृजिनं सर्वतो मे परीक्षितः ॥ १० ॥ तेन ते सन्धिरेवास्तु विश्वसास्मिन् यथा मयि । न राज्यमनमात्येन शक्यं शास्तुमपि त्र्यहम् ॥ ११ ॥ अमात्यः शूर एव स्याद् बुद्धिसम्पन्न एव वा । ताभ्यामुभाभ्यां भयं राजन् पश्य राज्यप्रयोजनम् ॥ १२ ॥ धर्मात्मनां क्वचिल्लोके नान्यास्ति गतिरीदृशी । महात्मा राजपुत्रोयं सतां मार्गमनुष्ठितः ॥ १३ ॥ सुसं-

आचरणमे जीवित रहना चाहता है ॥७। इसलिये सत्य प्रतिज्ञा वाला विदेहका राजा जब मेरे घर आवेगा, तब मैं उसको आज्ञा दूँगा तो वह उस आज्ञाका पालन अवश्य ही करेगा ॥ ८ ॥ इसप्रकार बातें करनेके बाद मुनिने विदेहके राजाको बुलाकर कहा, कि - यह राजाके कुलमें उत्पन्न हुआ है, मैं इसके मनकी बातोंको जानता हूँ ॥ ९ ॥ इसका मन दर्पणकी समान तथा शरदृऋतुसे चन्द्रमाकी समान शुद्ध है, मैं इसमें कपट नहीं देखता, इसकी मैंने सब रीतिसे परीक्षा करली है ॥ १० ॥ इस लिये तू इसके साथ सन्धि करके जैसा मेरा विश्वास करता है वैसा ही इसका भी विश्वास कर, जिस राजाके पास चतुर मंत्री नहीं है, उस राजासे तीन दिन भी राज्य नहीं चलसकता ११ राजा शूर और बुद्धिमान् पुरुषको अपना मन्त्री बनावे, हे राजन्! बुद्धिसे और शूरतासे यह लोक तथा परलोक मिलसकता है और राज्यको भी वही चलासकता है, इस बात पर तू ध्यान दे ।१२। धर्मात्मा राजाओंका इस लोकमें ऐसे मंत्रियोंके सिवाय और कोई आश्रय नहीं है, यह राजपुत्र महात्मा है, सत्पुरुषोंके मार्गमें चलता है ।१३। धर्मात्मा है, इसको तू अपने घर रखकर इसका सन्मान

गृहीतस्त्वेवैष त्वया धर्मपुरोगमः। संसेव्यमानः शत्रूंस्ते ग्रहीष्यत्यसतो गणान्॥ १४॥ यद्ययं प्रतियुध्येत्त्वां स्वकर्म क्षत्रियस्य तत्। जिगीषमाणस्त्वां युद्धे पितृपैतामहे पदे॥ १५॥ त्वञ्चापि प्रतियुद्ध्येथा विजिगीषुव्रते स्थितः। अयुध्यैव नियोगान्मे वशे कुरु हिते स्थितः॥१६॥ स त्वं धर्मपरेक्षस्व हित्वा लोभमसाम्प्रतम्। न च कामान्न च द्रोहात् स्वधर्मं हातुमर्हसि॥१७॥नैव नित्यं जयस्तात नैव नित्यं पराजयः। तस्माद्भोजयितव्यश्च भोक्तव्यश्च परो जनः॥१८॥ आत्मन्यपि च संदृश्यावुभौ जयपराजयौ। निःशेषकारिणां तात निःशेषकरणाद्भयम्॥१९॥ इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं वचनं ब्राह्मणर्षभम्। प्रतिपूज्याभिसत्कृत्य पूजार्हमनुमान्य

कर, यह तेरे सब शत्रुओंको वशमें करलेगा॥ १४॥ कदाचित् यह अपने बापदादाके राज्यके लिये तेरा पराजय करनेको तेरे साथ युद्ध करे तो यह क्षत्रियका कर्त्तव्य कर्म है॥ १५॥ परन्तु ऐसे समय पर तू भी विजय करनेका चाव रखता है, इसलिये तू इसके साथ युद्ध करना, परन्तु मेरी आज्ञासे तू युद्ध किये बिना ही अपना हित करनेके लिये इसको वशमें करले॥१६॥ अनुचित लोभको त्यागकर धर्मके ऊपर दृष्टि कर, क्योंकि–तुझसे मनुष्यको कामना या द्रोहसे धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये १७ हे तात! न नित्य जय ही होती है और न नित्य हार ही होती है इसलिये शत्रुओंके साथ मेल मिलापसे रहकर उनको उत्तम भोजन दे तथा आनन्द भोगनेके साधन पूरे करदे॥ १८॥ हे तात! अपनेमें जय और पराजय इन दोनोंको देख, जो शत्रुओंका संहार करते हैं उनको संहारका काम करनेसे भय उत्पन्न होता है १९ इसप्रकार मुनिने विदेहके राजा जनकसे कहा, तब उसने पूजने योग्य महात्मा ब्राह्मणकी पूजा सत्कार करके और उनकी बातको मानकर कहा, कि–॥ २०॥ महाबुद्धिमान् तथा बड़े अनुभवी

च ॥२०॥ यथा ब्रूयान्महाप्राज्ञो यथा ब्रूयान्महाश्रुतः । श्रेयस्कामो यथा ब्रूयादुभयोरेव तत् क्षमम् ॥ २१ ॥ यद्यद्वचनमुक्तोस्मि करिष्यामि च तत्तथा । एतद्धि परमं श्रेयो न मेऽत्रास्ति विचारणा२२ ततः कौसल्यमाहूय मैथिलो वाक्यमब्रवीत् । धर्मतो नीतितश्चैव लोकश्च विजिता मया ॥२३॥ अहं त्वया चात्मगुणैर्जितः पार्थिवसत्तम । आत्मानमनवज्ञाय जितवद्वर्त्ततां भवान् ॥ २४ ॥ नावमन्यामि ते बुद्धिं नावमन्ये च पौरुषम् । नावमन्ये जयामीति जितवद्वर्त्ततां भवान् ॥ २५ ॥ यथावत् पूजितो राजन् गृहं गन्तासि मे भृशम् । ततः सम्पूज्य तौ विप्रं विश्वस्तौ जग्मतुर्गृहान् ॥२६॥ वैदेहस्त्वथ कौसल्यं प्रवेश्य गृहमञ्जसा । पाद्यार्घ्यमधुपर्कैस्तं पूजार्हं

आप हम दोनोंका कल्याण करनेकी इच्छासे जो कुछ कहते हैं, यह उचित ही है ॥ २१ ॥ आपने मुझसे जो २ वचन कहे हैं मैं इनके अनुसार ही वर्त्ताव करूँगा, आपने जो कुछ कहा है, यह परमकल्याणकारी है, इसमें मुझे जरा भी सन्देह करनेकी बात नहीं मालूम होती ॥ २२ ॥ इसप्रकार मुनिके कहने पर मैथिल राजाने कोशलदेशके राजकुमारको बुलाकर कहा, कि- मैंने धर्मसे तथा नीतिसे जगत्को जीता है ॥ २३ ॥ परन्तु हे महाराज ! तूने अपने गुणोंसे मुझे जीतलिया है, इसलिये तू अपने आपका अपमान न करके विजय पानेवाले मनुष्यकी समान वर्त्ताव कर ॥२४॥ मैं तेरी बुद्धिका अपमान नहीं करता हूँ, तेरे पराक्रमका अपमान नहीं करता हूँ तथा मैंने विजय पाई है यह मानकर भी तेरा अपमान नहीं करता हूँ, किन्तु यह कहता हूँ, कि-तू विजय पाने वालेकी समान वर्त्ताव कर ॥२५॥ हे राजन् ! तू मुझसे अच्छे प्रकार पूजा पाकर अपने घर जा, ऐसी बातें करनेके बाद उन दोनोंने एक दूसरेका विश्वास किया और उस ब्राह्मणकी पूजा करके जनक अपने घरगया ॥ २६ ॥ विदेहके

त्यपूजयत् ॥२७॥ ददौ दुहितरं चास्मै रत्नानि विविधानि च । एष राज्ञां परो धर्मो नित्यौ जयपराजयौ ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कालकवृक्षीये षडधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०६ ॥

युधिष्ठिर उवाच । ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च परन्तप । धर्म्मवृत्तञ्च वित्तञ्च वृत्त्युपायाः फलानि च ॥ १ ॥ राज्ञां वृत्तं च कोशं च कोशसंचयनं जयः । अमात्यगुणवृत्तिश्च प्रकृतीनां च वर्द्धनम् ॥२॥ षाड्गुण्यगुणकल्पश्च सेनावृत्तिस्तथैव च । परिज्ञानं च दुष्टस्य लक्षणञ्च सतामपि ॥ ३ ॥ समहीनाधिकानां च यथावल्लक्षणं च यत् । मध्यमस्य च तुष्ट्यर्थं यथा स्थेयं विव-

राजाने कोशल देशके राजकुमारको तुरन्त अपने राजभवनमें बुलालिया, पहले कोशलराजकुमारने विदेहकी पूजा की, फिर विदेहने पाद्य, अर्घ तथा मधुपर्कसे पूजा करने योग्य कोशल राजकी पूजा की ॥ २७ ॥ जनकने उसको अपनी पुत्री विवाह दी और अनेकों प्रकारके रत्न भेटमें दिये, इसप्रकार जय और पराजय ये अनित्य हैं, इसलिये आपसमें मेलमिलापसे रहना राजाओंका परमधर्म है ॥ २८ ॥ एक सौ छःवाँ अध्याय समाप्त ॥ १०६ ॥ छ ॥ छ ॥

राजा युधिष्ठिरने बूझा कि-हे शत्रुतापन ! ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके धर्म, व्यवहार, आजीविकाके साधन, उनके फल ॥ १ ॥ राजाओंके धर्म, खजानेको भरपूर करनेकी रीति, जय और विजयके रूप, मंत्रियोंका चरित्र, व्यवहार और जिससे प्रजाकी वृद्धि हो वैसा करनेके साधन ॥२॥ राज्यके छ गुणोंके गुण, सेनाके विभाग और बर्ताव, दुष्टोंको पहचाननेके उपाय और सत्पुरुषोंके लक्षण ॥ ३ ॥ समान, हीन उत्तम पुरुषोंके लक्षण आगेको बढ़ना चाहनेवाला राजा मध्यम श्रेणीके लोगोंको

हुता ॥ ४ ॥ चीणग्रहणवृत्तिश्च यथा धर्मं प्रकीर्तितम् । लघु नादेशरूपेण ग्रन्थयोगेन भारत ॥ ५ ॥ विजिगीषोस्तथा वृत्तमुक्तं चैव तथैव ते । गणानां वृत्तिमिच्छामि श्रोतुं मतिमतांवर ॥ ६ ॥ यथा गणाः प्रवर्द्धन्ते न भिद्यन्ते च भारत । अरींश्च विजिगीषन्ते सुहृदः प्राप्नुवन्ति च ॥ ७ ॥ भेदमूलो विनाशो हि गणानामुपलक्षये । मन्त्रसम्वरणं दुःखं बहूनामिति मे मतिः ॥ ८ ॥ एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं निखिलेन परन्तप । यथा च ते न भिद्येरंस्तच्च मे वद पार्थिव ॥ ६ ॥ भीष्म उवाच । गणानां च कुलानां च राज्ञां भरतसत्तम । वैरसन्दीपनावेतौ लोभामर्षौ नराधिप ॥ १० ॥ लोभ-

---

प्रसन्न करनेके लिये कैसा वर्त्ताव करे और निर्बल मनुष्योंकी रक्षा किस प्रकार करे तथा उनकी आजीविका कैसे चलावे, ये सब बातें आपने मुझे संक्षेपसे उपदेशके रूपमें धर्मानुसार कह सुनाई हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥ तथा विजय चाहनेवाले राजाका वर्त्ताव भी बताया है, हे महाबुद्धिमान् राजन् ! अब मैं, वीर पुरुषोंका समूह कैसा वर्त्ताव करे यह सुनना चाहता हूँ ॥ ६ ॥ हे भरतवंशमें श्रेष्ठ राजन् ! सामन्त-सरदार और श्रीमानोंकी वृद्धि किस प्रकार हो इनमें आपसमें किसप्रकार भेद न पड़े, शत्रुओंको कैसे जीते और स्नेहियोंको कैसे पावे, यह बताइये ॥ ७ ॥ मैं जानता हूँ, कि-भीतर ही भीतरकी फूटके कारणसे धनवानोंका नाश होजाता है, तथा बहुतसे लोगोंके जाननेमें आयेहुए राजकीय छुपे विचारोंको भी गुप्त रक्खे मेरी समझमें यह काम कठिन है ॥ ८ ॥ इसलिये हे वैरितापन राजन् ! ऊपरकी सब बातोंको मैं पूर्ण रीतिसे सुनना चाहता हूँ, हे राजन् ! सामन्तोंमें आपसमें किसप्रकार फूट न पड़े यह मुझे बताइये ॥ ६ ॥ भीष्मजीने कहा, कि-हे भरतसत्तम राजन् ! जब राजा एक ओर होता है और श्रीमान् सामन्त-सरदार दूसरे पक्षमें होते हैं तब लोभ और अधर्मके कारणसे दोनों

मेको हि तद्गुणे ततोमर्षमनन्तरम् । तौ क्षयव्ययसंयुक्तावन्योन्यं च विनाशिनौ ॥ ११ ॥ चारमन्त्रबलादानैः सामदानविभेदनैः । क्षयव्ययभयोपायैः प्रकर्षन्तीतरेतरम् ॥ १२ ॥ तत्रादानेन भिद्यंते गणाः संघातवृत्तयः । भिन्ना विमनसः सर्वे गच्छन्त्यरिवशं भयात् ॥ १३ ॥ भेदे गणा विनश्येयुर्हि भिन्नास्तु सुजयाः परैः । तस्मात् संघातयोगेन प्रयतेरन् गणाः सदा ॥ १४ ॥ अर्थाश्चैवाधिगम्यन्ते संघातबलपौरुषैः । बाह्याश्च मैत्रीं कुर्वन्ति तेषु संघातवृत्तिषु ॥ १५ ॥ ज्ञानवृद्धाः प्रशंसन्ति शुश्रूषन्तः परस्परम् ।

में और बँधजाता है ॥१०॥ राजा लोभके कारणसे प्रजाके ऊपर करका बोझा डालता है, इससे श्रीमान् राजाके ऊपर क्रोधमें भरजाते हैं, एक नाश करनेको तयार होता है तो दूसरा व्ययके वशमें होजाता है और इसप्रकार परस्पर एक दूसरेका नाश करडालते हैं ॥ ११ ॥ दूत, मन्त्र, शरीरबल, आदान, साम, दान, भेद, क्षय, व्यय और भय इन उपायोंसे एक दूसरेको निर्बल करके अपने पक्षमेंको खेंचते हैं ॥ १२ ॥ तहाँ आपसमें इकट्ठे होकर रहनेवाले राज्यके श्रीमान् भारी करसे उदास होकर राज्यसे जुदे होजाते हैं, राजासे जुदा हो भयके मारे सब उसके शत्रुसे जामिलते हैं ॥ १३ ॥ यदि श्रीमानोंमें फूट पड़जाती है तो उनका नाश होजाता है और आपसमें विरोध होनेके कारण शत्रु उनको सहजमें ही जीत सकते हैं, इसलिये सरदार सदा आपसमें मेलसे रहनेका उद्योग करें ॥ १४ ॥ श्रीमान् यदि आपसमें इकट्ठे मिलकर रहते हैं तो बल तथा पुरुषार्थसे विचारे हुए कामोंको पूरे करडालते हैं और मिलकर रहनेवाले श्रीमानोंके साथ बाहरवाले भी मित्रता रखते हैं ॥१५॥ जो सरदार आपसमें एक दूसरेके साथ प्रेमका वर्त्ताव करते हैं और एक संमतिसे रहते हैं उनकी ज्ञानवृद्ध प्रशंसा करते हैं वे आपसमें एकता

विनिवृत्ताभिसन्धानाः सुखमेधन्ति सर्वशः ॥ १६ ॥ धर्मिष्ठान् व्यवहारांश्च स्थापयन्तश्च शास्त्रतः । यथावत् प्रतिपश्यन्तो विवर्द्धन्ते गणोत्तमाः ॥ १७ ॥ पुत्रान् भ्रातॄन् निगृह्णन्तो विनयन्तश्च तान् सदा । विनीतांश्च प्रगृह्णन्तो विवर्द्धन्ते गणोत्तमाः ॥ १८ ॥ चारमन्त्रविधानेषु कोशसन्निचयेषु च । नित्ययुक्ता महाबाहो वर्द्धन्ते सर्वतो गणाः ॥१९॥ प्राज्ञान् शूरान् महोत्साहान् कर्मसु स्थिरपौरुषान् । मानयन्तः सदा युक्ता विवर्द्धन्ते गणा नृप २० द्रव्यवन्तश्च शूराश्च शस्त्रज्ञाः शास्त्रपारगाः । कृच्छ्रास्वापत्सु संमूढान् गणाः सन्तारयन्ति ते ॥ २१ ॥ क्रोधो भेदो भयं दण्डः कर्षणं निग्रहो वधः । नयत्यरिवशं सद्यो गणान् भरतसत्तम २२

करके एक दूसरेके काम करदेनेसे पूर्ण रीतिसे सुख पाते हैं १६ वे अपने उदाहरणके अनुसार शास्त्रानुसार धर्मकी स्थापना करते हैं, शास्त्रके अनुसार वर्त्ताव करनेसे उनकी उन्नति होती है ॥ १७ ॥ वे पुत्रोंको और भाइयोंको नियममें रखकर सदा विनयवान् बनाते हैं और विनीत होजाने पर उनको कर्त्तव्य-परायण बनाते हैं तथा जो ज्ञानका गर्व रखनेवाले हैं उनके साथ प्रीतिका वर्त्ताव करके श्रीमान्-सरदार वृद्धि पाते हैं॥१८॥दूतोंको नियत करना, राजद्वारके विचार करना और धनके भण्डारोंका संग्रह करना इत्यादि कामोंमें जो सामन्त नित्य लगे रहते है, हे महाबाहो ! उन श्रीमान् सरदारोंकी सब ओरसे वृद्धि होती है १९ हे राजन् ! बुद्धिमान्, वीर, बडे उत्साही और काम करनेमें दृढ पुरुषार्थ रखनेवाले लोगोंका जो सदा सन्मान करते हैं तो इससे श्रीमानोंके अभ्युदयकी वृद्धि होती है जो धनाढ्य, वीर शस्त्र और शास्त्रमें चतुर तथा विज्ञान और कलामें निपुण होते हैं वे महादुःखदायक आपत्तिमें पडनेसे मूढ बनेहुए पुरुषोंको तार देते हैं ॥२१॥ हे भरतसत्तम ! क्रोध, आपसमें भेद, भय, दण्ड,

तस्मान्मानयितव्यास्ते गणमुख्याः प्रधानतः । लोकयात्रा समायत्ता भूयसी तेषु पार्थिव ॥ २३ ॥ मन्त्रगुप्तिप्रधानेषु चारांश्चामित्रकर्षण । न गणाः कृत्स्नशो मन्त्रं श्रोतुमर्हन्ति भारत॥२४॥ गणमुख्यैस्तु सम्भूय कार्य्यं गणहितं मिथः । पृथग्गणस्य भिन्नस्य विततस्य ततोऽन्यथा ॥ २५ ॥ अर्थाः प्रत्यवसीदन्ति तथानर्था भवन्ति च । तेषामन्योन्यभिन्नानां स्वशक्तिमनुतिष्ठताम् ॥२६॥ निग्रहः पण्डितैः कार्य्यः क्षिप्रमेव प्रधानतः । कुलेषु कलहा जाताः कुलवृद्धैरुपेक्षिताः २७ गोत्रस्य नाशं कुर्वन्ति गणभेदस्य कारकम् ।

घसीटना, कैद और प्राणान्त दण्ड ये बातें सामन्तोंको राजाके पास लेजाकर मिला देती हैं ॥ २२ ॥ इसकारण हे राजन् ! सरदारोंके मुखियोंका साधनरूपसे सन्मान करे, क्योंकि-लोकव्यवहारका बहुतसा भाग उनके ही आधार पर चलता है ॥२३॥ हे शत्रुनाशन राजन् ! सब सामन्तोंके साथ राजकीय गुप्त बातोंका विचार न करे, क्योंकि-सब सामन्त गुप्त विचारोंको सुननेके योग्य नहीं होते हैं, केवल मुख्य सामन्तके साथ ही विचार करे ॥ २४ ॥ सामन्तोंके अथवा श्रीमानोंके हितका जो काम हो उस कामको सामन्तों और श्रीमानोंके मुख्य पुरुष इकट्ठे होकर करें, परन्तु यदि सामन्तोंमें भेदभाव पडगया हो अथवा उनका कोई नेता न रहा हो तो अपना २ काम अलग २ साधें ॥ २५ ॥ सामन्त आपसमें लड़कर एक दूसरेसे अलग होगए हों और अपनी २ शक्तिसे अलग २ काम लेते हों तो धनका नाश होता है और अनर्थ होने लगते हैं ॥ २६ ॥ ऐसे समय जो समझदार और व्यवहारचतुर हों वे तुरन्त कलहको दबादें, कुलमें कलह खडा होने पर उसको यदि कुलके वृद्ध पुरुष नहीं दबाते हैं तो वे अपने कुलका आप ही नाश करते हैं बाहरका भय असार मानाजाता है, इसलिये भीतरी भयसे रक्षा

आभ्यन्तर भयं रक्ष्यमसारं बाह्यतो भयम् २८ आभ्यन्तरं भयं राजन् सद्यो मूलानि कृन्तति । अकस्मात् क्रोधमोहाभ्यां लोभाद्वापि स्वभावजात् ॥ २९ ॥ अन्योन्यं नाभिभाषन्ते तत् पराभवलक्षणम् । जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा ॥ ३० ॥ न चोद्योगेन बुद्ध्या वा रूपद्रव्येण वा पुनः । भेदाच्चैव प्रदानाच्च भिद्यन्ते रिपुभिर्गणाः ॥ ३१ ॥ तस्मात् संघातमेवाहुर्गणानां शरणं महत् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि गणवृत्ते सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

युधिष्ठिर उवाच । महानयं धर्मपथो बहुशाखश्च भारत । किंस्विदेवेह धर्माणामनुष्ठेयतमं मतम् ॥१॥ किं कार्य्यं सर्वधर्माणां गरीयो भवतो मतम् । अथाहं परमं धर्ममिह च प्रेत्य चाप्नुयाम् २

करे ॥ २७ ॥ २८ ॥ हे राजन् ! यदि भीतरी भय होता है तो वह शीघ्र ही जड़ोंको काट डालता है, क्रोध, मोह अथवा स्वाभाविक लोभसे एक कुटुम्बके लोग आपसमें एक दूसरेके साथ बोलना छोड़दें तो इसको पराभवका लक्षण जानो, जिनकी जाति तथा कुलसमान होता है उन सामन्तोंमें शत्रु उद्योगसे, बुद्धिसे, रूपसे, धनसे, भेदभावसे या लालचसे फूट नहीं डाल सकते २९-३१ इसलिये श्रीमान् अथवा सामन्त सरदारोंका मेलसे रहना ही उनका बड़ाभारी रक्षक है ॥ ३२ ॥ एक सौ सातवाँ अध्याय सामाप्त ॥ १०७ ॥ छ ॥ छ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि हे भरतवंशी भीष्म ! यह धर्मका मार्ग बहुत ही बड़ा है और इसकी बहुतसी शाखायें हैं, इन सब धर्मोंमें आप कौनसे धर्मको विशेषरूपसे आचरण करने योग्य मानते हैं ? ॥१॥ सब धर्मोंमें कौनसे धर्मके आचरणको आप श्रेष्ठ समझते हैं और मैं कौनसे धर्मका आचरण करके इस लोकमें धर्मके

भीष्म उवाच । मातापित्रोर्गुरूणां च पूजा बहुमता मम । इह युक्तो नरो लोकान् यशश्च महदश्नुते ॥ ३ ॥ यच्च तेऽभ्यनुजानीयुः कर्म्म तात सुपूजिताः । धर्म्यं धर्मविरुद्धं वा तत् कर्त्तव्यं युधिष्ठिर ॥ ४ ॥ न च तैरननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् । यञ्च तेभ्यनुजानीयुः स धर्म इति निश्चयः ॥५॥ एत एव त्रयो लोका एत एवाश्रमास्त्रयः । एत एव त्रयो वेदा एत एव त्रयोऽग्नयः ॥६॥ पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः । गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥७॥ त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकांश्च विजेष्यसि । पितृवृत्त्या त्विमं लोकं मातृवृत्त्या तथा परम् ॥ ८ ॥ ब्रह्मलोकगुरोर्वृत्त्या नियमेन तरिष्यसि । सम्यगेतेषु वर्त्तस्व

फलको प्राप्त करूँ ? ॥२॥ भीष्मने कहा, कि-हे युधिष्ठिर ! माता, पिता और गुरुकी पूजाको मैं परमधर्म मानता हूँ, जो मनुष्य माता, पिता और गुरुकी पूजामें लगा रहता है वह इस लोकमें बड़ाभारी यश पाता है और परलोकको जीतलेता है ॥ ३ ॥ हे तात युधिष्ठिर ! माता पिता और गुरु अच्छे प्रकारसे पूजित होकर जिस कामको करनेकी आज्ञा दें वह काम धर्मके अनुकूल हो चाहे धर्मसे विरुद्ध तो भी करे ॥ ४ ॥ वे जिस काम करनेको मना करैं उसको कभी न करे, क्योंकि-वे जिस काम को करनेकी आज्ञा दें निःसन्देह वही धर्म है ॥५॥ माता, पिता और गुरु ये ही तीनों लोक हैं, ये ही तीनों आश्रम हैं, ये ही तीनों वेद हैं और ये ही तीनों अग्नि हैं ॥ ६ ॥ पिता गार्हपत्य अग्नि, माता दक्षिणाग्नि और गुरु आहवनीय अग्नि है, ये तीनों महान् और पुरातन अग्नियें हैं ॥ ७ ॥ यदि तू सावधान होकर इन तीनोंकी सेवा करेगा, तो तीनों लोकोंको जीत लेगा, नियमके साथ पिताकी सेवा करनेसे इस लोकको, माता की सेवा करनेसे परलोकको और नियमके साथ गुरुकी सेवा

त्रिषु लोकेषु भारत ॥ ९ ॥ यशः प्राप्स्यसि भद्रन्ते धर्मं च सुमहत् फलम् । नैतानतिशयेज्जातु नात्यश्नीयान्न दूषयेत् ॥१०॥ नित्यं परिचरेच्चैव तद्वै सुकृतमुत्तमम् । कीर्त्तिं पुण्यं यशो लोकान् प्राप्स्यसे राजसत्तम ॥ ११ ॥ सर्वे तस्यादृता लोका यस्यैते त्रय आदृताः । अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याऽफलाः क्रियाः ॥१२॥ न चायं न परो लोकस्तस्य चैव परन्तप । अमानिता नित्यमेव यस्यैते गुरवस्त्रयः ॥ १३ ॥ न चास्मिन्न परे लोके यशस्तस्य प्रकाशते । न चान्यदपि कल्याणं परत्र समुदाहृतम् ॥ १४ ॥ तेभ्य एव हि तत् सर्वं कृत्वा च विसृजाम्यहम् । तदासीन्मे शत-

---

करनेसे ब्रह्मलोकको तर जायगा, हे भरतवंशी राजन् ! तू इन तीनोंके विषयमें अच्छा वर्त्ताव करना ॥ ८ ॥ ९ ॥ ऐसा करनेसे तुझे यश, कल्याण और महाफल देनेवाले धर्मकी प्राप्ति होगी, किसी भी काममें इनकी बातको कभी न टाले, इनको भोजन कराये विना भोजन न करे, कोई भी पदार्थ इनको भोग कराये विना न भोगे और इनको किसी प्रकारका दोष न लगावे ॥ १० ॥ नित्य विनयके साथ इनकी सेवा करे, यह ही उत्तम पुण्य कर्म है और हे महाराज! ऐसा करनेसे तू कीर्त्ति, पुण्य, यश और परलोक पावेगा ॥ ११ ॥ जो मनुष्य इन तीनोंका आदर करते हैं वे सब लोकोंका आदर करते हैं और जो इन तीनोंका अनादर करते हैं उनके सब धर्म कर्म निष्फल होते हैं ॥ १२ ॥ जो मनुष्य इन तीनों गुरुओंका अपमान करता है उसको हे परन्तप राजन् ! इस लोकमें सुख नहीं मिलता तथा उसका परलोक भी सुखदायक नहीं होता ॥ १३ ॥ तथा इस लोकमें और परलोकमें उसका यश भी प्रकाशित नहीं होता तथा परलोकमें दूसरा कोई सुकृत भी कल्याणकारी नहीं होता ॥ १४ ॥ हे युधिष्ठिर ! मैं जो कुछ धर्म कर्म करता हूँ वह अब अपने गुरु आदिको

गुणं सहस्रगुणमेव च ॥ १५ ॥ तस्मान्मे सम्प्रकाशन्ते त्रयो लोका युधिष्ठिर । दशैव तु सदाचार्यः श्रोत्रियानतिरिच्यते ॥ १६ ॥ दशाचार्यानुपाध्याय उपाध्यायान् पिता दश । पितॄन्दश तु मातैका सर्वां वा पृथिवीमपि ॥ १७ ॥ गुरुत्वे नाभिभवति नास्ति मातृसमो गुरुः । गुरुर्गरीयान् पितृतो मातृतश्चेति मे मतिः १८ उभौ हि मातापितरौ जन्मन्येवोपयुञ्जतः । शरीरमेव सृजतः पिता माता च भारत ॥ १९ ॥ आचार्यशिष्टा या जातिः सा दिव्या साजरामरा । अवध्या हि सदा माता पिता चाप्यपकारिणौ । न संदूष्यति तत्कृत्वा न च ते दूषयन्ति तम् । धर्माय यतमानानां विदुर्देवा महर्षिभिः ॥ २१ ॥ यश्चावृणोत्यवितथेन कर्मणा ऋतं

ही अर्पण करदेता हूँ, इससे मेरा धर्मकर्म सौगुणा या हजारगुणा बढ़गया है ॥ १५ ॥ हे युधिष्ठिर ! उनकी सेवाके प्रतापसे तीनों लोक मेरी दृष्टिके सामने रहते हैं, एक आचार्य दश वेदवेत्ता ब्राह्मणोंसे श्रेष्ठ गिनाजाता है ॥ १६ ॥ एक उपाध्याय दश आचार्योंसे श्रेष्ठ है, पिता दश उपाध्यायोंसे श्रेष्ठ है और माता पितासे दशगुणी है अथवा सब पृथिवीसे भी श्रेष्ठ है, माता पिताकी समान कोई भी श्रेष्ठ नहीं है, परन्तु मेरी समझमें गुरु माता और पितासे अधिक श्रेष्ठ है ॥ १७ ॥ १८ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! माता और पिता तो केवल जन्म ही देते हैं, वे केवल शरीरको ही बनाते हैं ॥ १९ ॥ परन्तु वेद पढानेवाला गुरु जिस देहको देता है वह देह दिव्य अजर और अमर माना जाता है, माता और पिता अपकार करें तोभी उनके ऊपर कभी हाथ न छोड़े ॥ २० ॥ अपराधी माता पिताको न मारनेसे पुत्र को दोष नहीं लगता है, अपराधी माता, पिता और गुरुका वध न करनेसे उस पवित्र पुत्रको राजा भी अपराधी नहीं मानता है, जो पुरुष पापकर्मी माता पिताका पोषण करता है उसको देवता

गुरुरनुगृतं सम्भयच्छन् । तं वै मन्येत पितरं मातरञ्च तस्मै न द्रुह्येत् कृतमस्य जानन् ॥ २२ ॥ विद्यां श्रुत्वा ये गुरुं नाद्रियन्ते प्रत्यासन्ना मनसा कर्मणा वा । तेषां पापं भ्रूणहत्याविशिष्टं नान्यस्तेभ्यः पापकृदस्ति लोके । यथैव ते गुरुभिर्भावनीयास्तथा तेषां गुरवोऽप्यर्चनीयाः ॥२३॥ तस्मात् पूजयितव्याश्च संविभा-ज्याश्च यत्नतः । गुरवोऽर्चयितव्याश्च पुराणं धर्ममिच्छता ॥२४॥ येन प्रीणाति पितरं तेन प्रीतः प्रजापतिः । प्रीणाति मातरं येन पृथिवी तेन पूजिता ॥ २५ ॥ येन प्रीणात्युपाध्यायं तेन स्याद् ब्रह्म पूजितम् । मातृतः पितृतश्चैव तस्मात् पूज्यतमो गुरुः २६

और महर्षि अनुग्रहका पात्र मानते हैं ॥ २१ ॥ जो गुरु उत्तम प्रकारका प्रवचन करके तथा वेद पढ़ाकर अनुग्रह करता है उसको माता पिता जाने और उसने उपकार किया है ऐसा समझकर शिष्य ऐसा काम न करे, कि-जिससे उसके ऊपर सङ्कट आपड़े ॥ २५ ॥ जो मनुष्य गुरुसे वेद पढकर उनके पास रहते समय मन वाणीसे उनकी सेवा नहीं करता है उसको गर्भ हत्याका पाप लगता है. इस लोकमें उसकी समान पापी दूसरा कोई नहीं है, गुरु सदा शिष्यके ऊपर प्रेम रखते हैं, जैसे वे शिष्यको विद्या पढ़ाकर सत्कार करते हैं तैसे ही शिष्यको भी गुरुकी पूजा करनी चाहिये ॥ २३ ॥ इसलिये सनातनधर्मको चाहनेवाले पुरुष गुरुकी पूजा करे, उद्योग करके उनको वैभवोंका भोग करावे और उनकी सेवा करे ॥२४॥ जो मनुष्य पिताको प्रसन्न करता है वह प्रजापतिको प्रसन्न करता है, जो माताको प्रसन्न रखता है उसने मानो पृथिवी भरकी पूजा करली ।२५। और जिसने उपाध्यायको प्रसन्न किया उसने मानो ब्रह्मकी पूजा करली, इसलिये ही माता पितासे गुरु अधिक पूजनीय है ॥ २६ ॥ गुरुओंकी पूजा करनेसे ऋषि, देवता और पितर

ऋषयश्च हि देवाश्च प्रीयन्ते पितृभिः सह । पूज्यमानेषु गुरुषु तस्मात् पूज्यतमो गुरुः ॥ २७ ॥ केनचिन्न च वृत्तेन ह्यवज्ञेयो गुरुर्भवेत् । न च माता न च पिता मन्यते यादृशो गुरुः ॥२८॥ न तेऽवमानमर्हन्ति न तेषां दूषयेत् कृतम् । गुरूणामेव सत्कारं विदुर्देवा महर्षिभिः ॥ २९ ॥ उपाध्यायं पितरं मातरञ्च येऽभिद्रुह्यन्ते मनसा कर्मणा वा । तेषां पापं भ्रूणहत्याविशिष्टं तस्मान्नान्यः पापकृदस्ति लोके ॥ ३० ॥ भृतो वृद्धो यो न बिभर्त्ति पुत्रः स्वयोनिजः पितरं मातरं च । तद्वै पापं भ्रूणहत्याविशिष्टं तस्मान्नान्यः पापकृदस्ति लोके ॥ ३१ ॥ मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य स्त्रीघ्नस्य गुरुघातिनः । चतुर्णां वयमेतेषां निष्कृतिं नानुशुश्रुमः ॥ ३२ ॥ एतत्

प्रसन्न होते हैं, इसलिये गुरु परमपूजनीय है ॥ २७ ॥ शिष्य किसी भी बर्तावसे गुरुका अपमान न करे, क्योंकि-जैसे गुरु ऐसा माता पिता नहीं है ॥२८॥ माता पिता और गुरुका अपमान न करे तथा उनके कियेहुए कामर्मे दोष न निकाले, गुरुओंके कियेहुए सत्कारको देवता और महर्षि स्वीकार करते हैं ॥२९॥ जो मनसे अथवा कर्मसे गुरुका, पिताका अथवा माताका द्रोह करता है उसको गर्भहत्याका पाप लगता है और उसकी समान पापी इस लोकमें दूसरा कोई भी नहीं है ॥ ३० ॥ जो पेटका बेटा माता पिताके पोषण करनेसे पलकर बड़ा हुआ हो वह यदि माता पिताका पोषण न करे तो उसको गर्भपातका पातक लगता है और उसकी समान दूसरा कोई भी पापी इस लोकमें नहीं है ॥३१॥ हमने कभी भी नहीं सुना, कि-मित्रसे द्रोह करने वाला, कृतघ्नी, स्त्रीका हत्यारा और गुरुका हत्यारा इन चारोंके पापका शास्त्रमें प्रायश्चित्त कहा हो ॥३२॥ इस लोकमें पुरुषको जो कुछ करना चाहिये वह सब मैंने तुझे विस्तारसे कहसुनाया, मैंने सब धर्मोंके अनुसार तुझे यह उपदेश दिया है, यह कर्त्तव्य

सर्वमनिर्देशेनैव मुक्तं यत् कर्त्तव्यं पुरुषेणेह लोके । एतच्छ्रेयो नान्यदस्माद्विशिष्टं सर्वान् धर्माननुसृत्यैतदुक्तम् ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि मातृपितृगुरुमाहात्म्येऽष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

युधिष्ठिर उवाच । कथं धर्मे स्थातुमिच्छन्नरो वर्त्तेत भारत । विद्वन् जिज्ञासमानाय प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ १ ॥ सत्यं चैवानृतञ्चोभे लोकानावृत्य तिष्ठतः । तयोः किमाचरेद्राजन् पुरुषो धर्मनिश्चितः २ किंस्वित् सत्यं किमनृतं किंस्विद्धर्मं सनातनम् । कस्मिन् काले वदेत्सत्यं कस्मिन्कालेऽनृतं वदेत् ॥ ३ ॥ भीष्म उवाच । सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद्विद्यते परम् । यत्तु लोकेषु दुर्ज्ञानं तत् प्रवक्ष्यामि भारत ॥ ४ ॥ भवेत् सत्यं न वक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत् । यत्रा-

कल्याणकारी है और इससे अधिक श्रेष्ठ दूसरा कोई काम नहीं है ॥ २२ ॥ एकसौ आठवाँ अध्याय समाप्त ॥ १०८ ॥ छ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि—हे भरतवंशके विद्वान् राजन् ! जो मनुष्य धर्मके मार्गमें स्थित रहना चाहता हो वह कैसा वर्त्ताव करे, मुझे यह जाननेकी इच्छा है आप कहिये ॥ १ ॥ हे राजन् ! संसारमें सत्य तथा असत्य ये दोनों हैं, इन्होंने संसारको ढक रक्खा है, धर्मका निश्चय करनेवाला मनुष्य इन दोनोंमेंसे किसका आचरण करे ॥ २ ॥ सत्य क्या है ? असत्य क्या है ? सनातन-धर्मके अनुकूल क्या है ? किस समय सत्य बोले और किस समय असत्य बोले ? ॥ ३ ॥ भीष्मने कहा, कि—धर्मानुसार सत्य बोलना श्रेष्ठ है, सत्यसे श्रेष्ठ दूसरी कोई वस्तु नहीं है, हे भरतवंशी राजन् ! इस जगत्में मनुष्य जिसको नहीं जानसकता वह मैं तुमसे कहता हूँ ॥ ४ ॥ जिस समय असत्य बोलना सत्य होता हो तहाँ सत्य न बोले किन्तु असत्य ही बोले और जहाँ सत्य बोलना असत्य हुआ जाता हो तहाँ सत्य बोले किन्तु

नृतं भवेत्सत्यं सत्यं चाप्यनृतं भवेत् ॥५॥ तादृशो बध्यते बालो यत्र सत्यमनुष्ठितम् । सत्यानृते विनिश्चित्य ततो भवति धर्मवित् ६ अप्यनार्योऽकृतप्रज्ञः पुरुषोऽप्यतिदारुणः । सुमहत् प्राप्नुयात् पुण्यं बलाकोऽन्धवधादिव ॥ ७ ॥ किमाश्चर्यं च यन्मूढो धर्मकामोऽप्यधर्मवित् । सुमहत् प्राप्नुयात् पुण्यं गङ्गायामिव कौशिकः ॥ ८ ॥ तादृशोयमनुप्रश्नो यत्र धर्मः सुदुर्लभः । दुष्करः प्रतिसंख्यातुं तत् केनात्र व्यवस्यति ॥ ९ ॥ प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं

असत्य न बोले ॥ ५ ॥ जो मूढ मनुष्य धर्मरहित सत्य बोलता है वह वध करनेके योग्य माना जाता है, इसलिये जो मनुष्य सत्य और असत्यका निर्णय करके बोलता है उसको धर्मवेत्ता जानो ॥ ६ ॥ मनुष्य यद्यपि अनार्य, कृतघ्न और महादारुण होता है तो भी वह, जैसे बलाक नामके बहेलियेने अन्धे पक्षीको मारकर बडा पुण्य पाया था (देखो कर्णपर्व) तैसे ही बड़े पुण्यको पाता है ॥७॥ यह कैसी विचित्र बात है कि-धर्माचरण करनेकी इच्छावाला भी मूर्ख मनुष्य (तप करके) धर्म पानेकी इच्छासे सत्य बोलता हुआ पापका भागी होता है (देखो कर्ण पर्व ६९ अध्याय) और उल्लूने गङ्गाके तटपर साँपके अण्डोंको मारकर बहुत पुण्य पाया था (यह भी कैसी विचित्र बात है, कि-एक उल्लू स्वर्गकी ओरको जारहा था उसने मार्गमें एक दरियाई साँपके छोड़े हुए हजार अण्डे देखे उन अंडोंको अपनी चोंचसे फोडडाला और इस पुण्य कर्मसे वह झट स्वर्गमें पहुँच गया, यदि वह अंडोंको नहीं फोडता तो साँपोंके बढ़जानेसे न जाने कितने लोगोंके प्राण जाते) ॥८॥ ऐसा ही यह तेरा प्रश्न है, इसका उत्तर देना बडा ही कठिन है, जब इसका विचार करना ही कठिन है तो इसका निश्चय कैसे कियाजाय ? ॥९॥ प्राणियोंके कल्याणके लिये (ब्रह्माने) धर्मका प्रवचन किया है,

कृतम् । यत् स्यात् प्रभवसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥ १० ॥ धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः । यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥ ११ ॥ अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् । यः स्यादहिंसासंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥ १२ ॥ श्रुतिर्धर्म इति ह्येके नेत्याहुरपरे जनाः । न च तत् प्रत्यसूयामो न हि सर्वं विधीयते ॥ १३ ॥ येऽन्यायेन जिहीर्षन्तो धनमिच्छन्ति कस्यचित् । तेभ्यस्तु न तदाख्येयं स धर्म इति निश्चयः ॥ १४ ॥ अकूजनेन चेन्मोक्षो नावकूजेत् कथञ्चन । अवश्यं कूजितव्ये वा शङ्केरन् वाप्यकूजनात् ॥ १५ ॥ श्रेय-

जिसमें अभ्युदय होता है वही धर्म है यह बात निश्चित है १० लोगोंको जो अधोगति होनेसे पकडकर रोक रखता है उसका नाम धर्म है ऐसा विद्वान् कहते हैं, धर्म सब प्रजाको धारण कियेहुए हैं, जिसमें धारण करनेकी शक्ति है वही धर्म है यह निश्चित बात है ॥११॥ प्राणियोंकी हिंसा न हो, इसलिये धर्मका प्रवचन कियाजाता है, जो हिंसासे रहित हो उसका नाम धर्म है, यह शास्त्रका निश्चय है ॥१२॥ कोई कहते हैं, कि-श्रुतिमें जो कुछ कहा है, वह सब धर्म है, कोई कहते हैं, कि-ऐसा नहीं है (क्योंकि-वेदमें तो श्येनयाग भी कहा, है वह हिंसायुक्त होनेसे अधर्म है) परन्तु मैं ऐसा माननेवालोंकी निन्दा नहीं करता, क्योंकि श्येनयाग आदि सबका धर्मरूपसे विधान नहीं किया है ॥ १३ ॥ किसी समय चोर किसी धनवान्‌से धनको अन्यायसे चुराना चाहते हों तो उनको वह बतावे नहीं यह धर्म है ॥ १४ ॥ चोर बूझें कि-अमुक धनाढ्य मनुष्य कहाँ है, उस समय यदि न बतानेसे वह धनवान् चोरोंके हाथसे छूटसकता हो तो कुछ भी उत्तर न देय, परन्तु न बतानेसे चोरोंके मनमें शङ्का उत्पन्न होय तो सत्य बात न कह कर असत्य बोलदेय १५

स्तत्रानृतं वक्तुं सत्यादिति विचारितम् । यः पापैः सह सम्बन्धा-न्मुच्यते शपथादपि ॥ १६ ॥ न तेभ्योऽपि धनं देयं शक्ये सति कथञ्चन । पापेभ्यो हि धनं दत्तं दातारमपि पीडयेत् ॥ १७ ॥ स्वशरीरोपरोधेन धनमादातुमिच्छतः । सत्यसम्प्रतिपत्त्यर्थं यद्ब्रूयुः साक्षिणः क्वचित् ॥ १८ ॥ अनुक्त्वा तत्र तद्वाच्यं सर्वे तेऽनृत-वादिनः । प्राणात्यये विवाहे च वक्तव्यमनृतं भवेत् ॥ १९ ॥ अर्थस्य रक्षणार्थाय परेषां धर्मकारणात् । परेषां सिद्धिमाकाङ्क्ष-न्नीचः स्याद्धर्म्मभिक्षुकः ॥ २० ॥ प्रतिश्रुत्य प्रदातव्यः स्वका-र्य्यस्तु बलात् कृतः । यः कश्चिद्धर्म्मसमयात् प्रच्युतो धर्म्म-साधनः॥ २१ ॥ दण्डेनैव स हन्तव्यस्तं पन्थानं समाश्रितः ।

ऐसे अवसरमें सत्य बोलनेकी अपेक्षा असत्य बोलना कल्याण-कारक होता है, ऐसा शास्त्रमें विचार किया है, शपथ खानेसे भी पापियोंके हाथसे छुटकारा हो तो ऐसा करनेमें दोष नहीं है ॥ १६ ॥ यदि अपनेसे किसी प्रकार भी बन सकता हो तो पापियोंको धन न देय, क्योंकि-पापियोंको दियाहुआ धन देने वालेको भी दुःख ही देगा ॥१७॥ लेनदार देनदारसे धनपानेके लिये उसको शरीरिक कष्ट देसकता है (अर्थात् दास बनाकर उससे कामकाज करासकता है) उससमय लेनदारके साक्षी (गवाह) लेनदारका दावा सच्चा करनेके लिये राजद्वारमें यदि सत्य बात नहीं कहते हैं तो वे असत्यवादी ठहरते हैं, प्राण जाते हों तथा विवाहका अवसर हो तो उस समय असत्य बोलनेसे पाप नहीं लगता है ॥ १८॥१९ ॥ धर्मके लिये अथवा दूसरेकी समृद्धि तथा धनरक्षाके लिये असत्य बोलाजाय तो उस असत्यका पाप धर्मभीरुको नहीं लगता है ॥ २० ॥ किसी मनुष्यने कोई काम करनेकी प्रतिज्ञा की हो और पीछेसे उस प्रतिज्ञाका भङ्ग करे तो धर्मात्मा राजा दण्ड देकर उस अधर्मके मार्गमें जानेवाले

च्युतः सद्भ्यः धर्मेभ्योऽमानवं धर्ममास्थितः ॥ २२ ॥ शठः स्वधर्ममुत्सृज्य तमिच्छेदुपजीवितुम् । सर्वोपायैर्निहन्तव्यः पापो निकृतिजीवनः ॥ २३ ॥ धनमित्येव पापानां सर्वेषामिह निश्चयः। अविषह्या ह्यसम्भोज्या निकृत्या पतनं गताः ॥ २४ ॥ च्युता देवमनुष्येभ्यो यथा प्रेतास्तथैव ते । निर्यज्ञास्तपसा हीना मा स्म तैः सह सङ्गम ॥ २५ ॥ धननाशाद् दुःखतरं जीविताद्विप्रयोजनम् । अयन्ते रोचतां धर्म इति वाच्यः प्रयत्नतः ॥ २६ ॥ न कश्चिदस्ति पापानां धर्म इत्येष निश्चयः । तथागतञ्च यो

मनुष्य शिक्षा देय, शठ मनुष्य अपने धर्मको त्यागकर शठतासे आजीविका करना चाहता है तो वह सदाके लिये मनुष्यजातिके धर्मसे भ्रष्ट होकर आसुरी धर्मका आश्रय लेता है, उस कपटसे आजीविका चलानेवाले पापीको हरएक उपायसे शिक्षा देय ॥२१–२३॥ क्योंकि–सब पापी यदि धन ही कल्याणका साधन है, "धर्म कल्याणका साधन नहीं है" ऐसा निश्चय कर बैठते हों तो उनके पाप सहनेके योग्य नहीं होते हैं, जो धर्मकर्मके लिये दुःख न सहते हों जो दरिद्री और दीनों को धनका भाग देकर पीछेसे स्वयं उपभोग नहीं करते हैं और जो अपने कपटव्यवहारसे पतित होगए हों तथा देवलोकमेंसे और मनुष्यलोकमेंसे भी पतित होगये हों और यज्ञ याग तपस्या आदि नहीं करते हों उनको प्रेतसमान माने और उनके साथ भोजनका व्यवहार भी न रक्खे ॥ २४ ॥ २५ ॥ उनके धनका नाश होजाने पर उनको महाकष्ट होता है और ऐसी दशामें वे प्राणघात तक करडालते हैं, मनुष्योंमें ऐसा कोई भी नहीं है, कि–जो प्रयत्नके साथ पापियोंसे कहे, कि-क्या यह तुम्हारा धर्म है ? पापकर्ममेंसे पीछेको हटो, पापियोंमें ऐसा कोई नहीं होता कि–जो धनको धर्म न समझता हो, ऐसे पुरुषोंका

हन्यान्नासौ पापेन लिप्यते ॥ २७ ॥ स्वकर्मणा हतं हन्ति हत एव स हन्यते । तेषु यः समयं कश्चित् कुर्वीत हतबुद्धिषु ॥२८॥ यथा काकश्च गृध्रश्च तथैवोपधिजीविनः । ऊर्ध्वं देहविमोक्षान्ते भवन्त्येतासु योनिषु ॥ २९ ॥ यस्मिन् यथा वर्त्तते यो मनुष्य-स्तस्मिंस्तथा वर्त्तितव्यं स धर्मः । मायाचारो मायया बाधितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सत्यानृतविभागे नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥

युधिष्ठिर उवाच । क्लिश्यमानेषु भूतेषु तैस्तैर्भावैस्ततस्ततः । दुर्गाण्यतितरेद्येन तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥ भीष्म उवाच ।

मारनेसे पाप नहीं लगता है ॥ २६ ॥ २७ ॥ क्योंकि-वे अपने कर्मसे ही मरेहुए होते हैं और उनको मारना तो मरेहुएको मारने की समान है और जो मनुष्य ऐसे हीनबुद्धि पापियोंको मारनेकी प्रतिज्ञा करता है उसको पुण्य होता है॥२८॥कपटसे आजीविका करनेवाले मनुष्योंको काक और गिद्धपक्षियोंकी समान जाने देहपात होजाने पर वे काक और गिद्धकी योनिमें जन्म लेते हैं ॥ २६ ॥ हे युधिष्ठिर! जो पुरुष अपने साथ जिसप्रकार वर्त्ताव करता हो उसके साथ आप भी वैसा ही वर्त्ताव करे, यह धर्म मानाजाता है, जो अपने साथ कपटका व्यवहार करे उसके साथ कपटका वर्त्ताव करे और सदाचारीके साथ सदाचारका व्यवहार करना चाहिये ॥ ३० ॥ एक सौ नौवाँ अध्याय समाप्त ॥ १०९ ॥ ॥ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे पितामह! भाँति २ की वार्तोंसे मनुष्य जब दुःखी होजाते हैं उस समय वे जिस उपायसे दुस्तर दुःखोंके पार हों यह मुझे बताइये ॥ १ ॥ भीष्मजीने कहा, कि-जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यजातिके पुरुष अपने आपको नियममें रख

आश्रमेषु यथोक्तेषु यथोक्तं ये द्विजातयः । वर्त्तन्ते संयतात्मानो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २ ॥ ये दम्भान्नाचरन्ति स्म येषां वृत्तिश्च संयता । विषयांश्च निगृह्णन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३ ॥ प्रत्याहुर्नोच्यमाना ये न हिंसन्ति च हिंसिताः । प्रयच्छन्ति न याचन्ते दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ४ ॥ वासयन्त्यतिथीन्नित्यं नित्यं ये चानसूयकाः । नित्यं स्वाध्यायशीलाश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ५ ॥ मातापित्रोश्च ये वृत्तिं वर्त्तन्ते धर्मकोविदाः । वर्जयन्ति दिवा स्वप्नं दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ६ ॥ ये वा पापं न कुर्वन्ति कर्मणा मनसा गिरा । निक्षिप्तदण्डा भूतेषु दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ७ ॥ ये न लोभान्नयन्त्यर्थान् राजानो रजसान्विताः ।

कर शास्त्रमें लिखे अनुसार अपने २ आश्रमधर्मका पालन करते हैं वे दुःखोंके पार होजाते हैं ॥ २ ॥ जो दम्भ नहीं करते, जिनकी आजीविका नियमित है और जो विषयोंको अपने वशमें रखते हैं वे दुःखोंको तरजाते हैं ॥ ३ ॥ किसीके निन्दा करने पर भी जो बदलेमें निन्दा नहीं करते, पीटने पर भी जो उठकर बदलेमें नहीं पीटते लोगोंको देते हैं परन्तु माँगते नहीं वे दुस्तर दुःखोंके पार होजाते हैं हैं ॥ ४ ॥ जो नित्य अतिथियोंको निवास देते हैं, जो कभी दूसरोंसे ईर्षा नहीं करते और नित्य स्वाध्यायमें लगे रहते हैं वे दुस्तर दुःखों के पार होजाते हैं ॥ ५ ॥ जो धर्मको जानकर माता पिताकी आज्ञामें रहते हुए सदाचारका वर्त्ताव करते हैं तथा जो दिनमें निद्रा नहीं लेते वे दुस्तर दुःखोंको तरजाते हैं ॥ ६ ॥ जो मन वाणी और शरीरसे पाप नहीं करते तथा जो प्राणियोंको दण्ड न देकर अभय देते हैं वे कठिन दुःखोंके पार होजाते हैं ॥ ७ ॥ जो राजे रजोगुणी होकर लोभसे कर वसूल नहीं करते हैं और अपने देशकी चारों ओरसे रक्षा करते हैं वे

विषयान् परिरक्षन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ८ ॥ स्वेषु दारेषु वर्त्तन्ते न्यायवृत्तिमृतावृतौ । अग्निहोत्रपराः सन्तो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ९ ॥ आहवेषु च ये शूरास्त्यक्त्वा मरणजं भयम् । धर्मेण जयमिच्छन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १० ॥ ये वदन्तीह सत्यानि प्राणत्यागेऽप्युपस्थिते । प्रमाणभूता भूतानां दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥११॥ कर्माण्यकुहकार्थाणि येषां वाचश्च सूनृता । येषामर्थाश्च सम्बद्धा दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १२ ॥ अनध्यायेषु ये विप्राः स्वाध्यायं नेह कुर्वते । तपोनिष्ठाः सुतपसो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १३ ॥ ये तपश्च तपस्यन्ति कौमारब्रह्मचारिणः । वेदविद्याव्रतस्नाता दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १४ ॥ ये च संशान्-

---

दुस्तर दुःखोंके पार होजाते हैं ॥ ८ ॥ जो पर-स्त्रीके साथ प्रेम नहीं करते और हर एक ऋतुकालमें अपनी स्त्रीसे गमन करते हैं तथा जो समय पर अग्निहोत्रमें होम करते हैं वे दुस्तर दुःखोंके पार होजाते हैं ॥ ९ ॥ जो वीर मरणके भयको त्याग कर रणमें धर्मयुद्धसे विजय पाना चाहते हैं वे घोर दुःखोंके पार होजाते हैं ॥ १० ॥ जो प्राण जानेका अवसर आने पर भी मिथ्या नहीं बोलते और प्राणियोंमें प्रमाणरूप मानेजाते हैं वे घोर कष्टोंके पार होजाते हैं ॥ ११ ॥ जिनके काम दम्भसे रहित होते हैं, जिनकी वाणी सत्य और प्यारी होती हैं तथा जिनका धन सत्कर्ममें लगता है वे कठिन कष्टोंको तरजाते हैं १२ जो ब्राह्मण अनध्यायके समय वेदका स्वाध्याय नहीं करते और जो तपमें श्रद्धा रखकर खूब तपस्या करते हैं वे कठिन कष्टोंके पार होजाते हैं ॥ १३ ॥ जो बालक अवस्थासे ब्रह्मचर्य व्रत रखकर तपस्या करते हैं तथा विद्यास्नात, वेदस्नात और व्रतस्नात होते हैं वे दुस्तर दुःखोंके पार होजाते हैं ।१४। जिनका रजोगुण और तमोगुण शान्त पड़गया है, जो महात्मा

रजसः संशान्ततमसश्च ये । सत्त्वे स्थिता महात्मानो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १५ ॥ येषां न कश्चित्त्रसति न त्रसन्ति हि कस्यचित् । येषामात्मसमो लोको दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १६ ॥ परश्रिया न तप्यन्ति ये सन्तः पुरुषर्षभाः । ग्राम्यादर्थान्निवृत्ताश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते १७ सर्वान् देवान् नमस्यन्ति सर्वधर्मांश्च शृण्वते। ये श्रद्दधानाः शान्ताश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते १८ ये न मानित्वमिच्छन्ति मानयन्तिश्च ये परान्। मन्यमानान्नमस्यन्ति दुर्गाण्यतितरंति ते १९ ये च श्राद्धानि कुर्वन्ति तिथ्यां तिथ्यां प्रजार्थिनः । सुविशुद्धेन मनसा दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २० ॥ ये क्रोधं संनियच्छन्ति क्रुद्धान् संशमयन्ति च । न च कुप्यन्ति भूतानां दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥२१॥ मधु मांसं च ये नित्यं वर्जयन्तीह मानवाः । जन्म-

हैं और सत्त्वगुणका सेवन करते हैं वे दुस्तर दुःखोंको तरजाते हैं ॥ १५ ॥ जिनसे कोई प्राणी भय नहीं पाता और जो किसी से भी भय नहीं पाते तथा जो सब प्राणियोंको अपने आत्माकी समान मानते हैं वे दुस्तर दुःखोंको तरजाते हैं॥१६॥जो सत्पुरुष हैं और दूसरेकी सम्पत्तिको देखकर सन्ताप नहीं करते तथा विषयोंसे दूर रहते हैं वे दुस्तर दुःखोंको तरजाते हैं१७ जो सब देवताओंको प्रणाम करते हैं,सब धर्मोंको सुनते हैं, जो श्रद्धावान् और शान्त स्वभावके हैं वे पुरुष दुस्तर दुःखोंको तरजाते हैं ॥ १८ ॥ जो मानकी इच्छा नहीं करते और दूसरोंका मान करते हैं तथा मान करने योग्य मान्योंको प्रणाम करते हैं वे दुस्तर दुःखोंको तरजाते हैं ॥१९॥ जो सन्तान उत्पन्न करनेकी इच्छासे हरएक चान्द्र तिथिमें अतिशुद्ध अन्तःकरणसे श्राद्ध करते हैं वे दुस्तर दुःखोंके पार होजाते हैं ॥ २० ॥ जो अपने क्रोधको दबादेते हैं क्रोधमें भरेहुए दूसरे मनुष्योंको शान्त करदेते हैं और किसी प्राणीके ऊपर क्रोध नहीं करते

प्रभृति मद्यञ्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २२ ॥ यात्रार्थं भोजनं येषां संतानार्थञ्च मैथुनम् । वाक्सत्यवचनार्थाय दुर्गाण्यतितरन्ति ते ५३ ईश्वरं सर्वभूतानां जगतः प्रभवाप्ययम् । भक्ता नारायणं देवं दुर्गाण्यतितरंति ते२४ य एष पद्मरक्ताक्षः पीतवासा महाभुजः । सुहृद् भ्राता च मित्रञ्च सम्बन्धी च तथाच्युतः ॥२५॥ य इमान् सकलांल्लोकांश्चर्मवत् परिवेष्टयेत् । इच्छन् प्रभुरचिन्त्यात्मा गोविन्दः पुरुषोत्तमः ॥२६॥स्थितः प्रियहिते जिष्णुः स एष पुरुषोत्तमः । राजंस्तव च दुर्धर्षो वैकुण्ठः पुरुषर्षभः ॥२७॥ य एनं संश्रयन्तीह भक्त्या नारायणं हरिम् । ते तरन्तीह दुर्गाणि न चात्रास्ति विचारणा ॥ २८ ॥ दुर्गातितरणं ये च पठन्ति श्रावयन्ति च । कथ-

---

वे दुस्तर दुःखोंको तरजाते हैं ॥ २१ ॥ जो जन्मसे लेकर नित्य मद्य, मांस और मादक पदार्थोंका त्याग करते हैं वे दुस्तर दुखोंके पार होजाते हैं ॥ २२ ॥ जिनका भोजन प्राणधारणके लिये है, जिनका मैथुन सन्तान उत्पन्न करनेके लिये है और जिनकी वाणी सत्य बोलनेके लिये है वे दुस्तर दुःखोंको तर जाते हैं ॥ २३ ॥ जो पुरुष सब प्राणियोंके ईश्वर, जगत्की उत्पत्ति, पालन और प्रलय करनेवाले भगवान् नारायणकी भक्ति करते हैं वे दुस्तर दुःखोंके पार होजाते हैं ॥ २४ ॥ जो कृष्ण कमलकी समान लाल२ नेत्रोंवाले हैं, पीताम्बरधारी और महाबाहु हैं, जो अच्युत कृष्ण अपने स्नेही बन्धु, मित्र और सम्बन्धी हैं ॥ २५ ॥ तथा जो अचिन्त्यात्मा गोविन्द पुरुषोत्तम नारायणरूप हैं वह अपनी ही इच्छासे म्यानकी समान इन सब लोकोंको लपेटे हुए हैं ॥ २६ ॥ यह कृष्ण जिष्णु और तेरे प्यारे तथा तेरे हितमें लगे रहते हैं, हे महाराज ! वह भगवान् किसीसे दाब खानेवाले नहीं हैं ॥ २७ ॥ इस जगत्में जो भक्तजन पापनाशक श्रीनारायणका आश्रय लेते हैं वे निःसन्दे

यन्ति च विप्रेभ्यो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २६ ॥ इति कृत्यसमुद्देशः कीर्त्तितस्ते मयानघ । तरन्ते येन दुर्गाणि परत्रेह च मानवाः ३०

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि दुर्गातितरणोपायकथने दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

युधिष्ठिर उवाच । असोम्याः सौम्यरूपेण सौम्याश्चासौम्यदर्शनाः । ईदृशान् पुरुषांस्तात कथं विद्यामहे वयम् ॥ १ ॥ भीष्म उवाच । अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । व्याघ्रगोमायुसम्वादं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥२॥ पुरिकायां पुरि पुरा श्रीमत्यां पौरिको नृपः । परहिंसारतिः क्रूरो बभूव पुरुषाधमः ॥ ३ ॥ स त्वायुषि परिक्षीणे जगामानीप्सितां गतिम् । गोमायुत्वञ्च संप्राप्तो दूषितः पूर्वकर्मणा ॥४॥ संस्मृत्य पूर्वभूतिञ्च निर्वेदं परमं गतः ।

सब दुःखोंको तरजाते हैं ॥ २८ ॥ जो मनुष्य दुस्तर दुःखोंसे तारनेवाले इस अध्यायका पाठ करते हैं और दूसरोंको सुनाते हैं और ब्राह्मणोंसे कहते हैं वे दुस्तर दुःखोंके पार होजाते हैं २९ हे निर्दोष राजन् ! मैंने तुम्हें यह कर्त्तव्यका लेश मात्र सुनाया है, ऐसा वर्त्ताव करनेसे मनुष्य इस लोकमें और परलोकमें दुःखोंके पार होजाते हैं ॥३०॥ एकसौ दशवाँ अध्याय समाप्त ॥ ११० ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि हे तात ! निर्दयी मनुष्य ऊपरसे शान्त मालूम होते हैं और शान्त पुरुष ऊपरसे निर्दयीसे दीखते हैं ऐसे मनुष्योंको हम कैसे पहचाने ॥ १॥ भीष्मजीने कहा, कि-हे युधिष्ठिर ! बाघ और सियारका सम्वादरूप एक पुराना इतिहास है इस विषयमें उदाहरणरूपसे।उसको तू सुन रहे राजन्। पहले समयमें समृद्धिवाली पुरिका नामकी नगरीमें पौरिक नामका एक राजा राज्य करता था, वह राजा प्राणियोंकी हिंसा करनेमें प्रीति रखता था, क्रूर तथा अधम था ॥ ३ ॥ उसकी आयु क्षीण होगई तब वह पूर्व कर्मसे दूषित होकर अनचाही गतिमें जापड़ा

न भक्षयति मांसानि परैरुपहृतान्यपि ॥ ५ ॥ अहिंस्रः सर्वभूतेषु सत्यवाक् सुदृढव्रतः । स चकार यथाकालमाहारं पतितैः फलैः ६ श्मशाने तस्य चावासो गोमायोः सम्मतोभवत् । जन्मभूम्यनुरोधाच्च नान्यं वासमरोचयत् ॥ ७ ॥ तस्य शौचममृष्यन्तस्ते सर्वे सहजातयः । चालयन्ति स्म तां बुद्धिं वचनैः प्रश्रयोत्तरैः ॥ ८ ॥ वसन्पितृवने रौद्रे शौचे वर्तितुमिच्छसि । इयं विप्रतिपत्तिस्ते यदा त्वं पिशिताशनः ॥ ९ ॥ तत्समानो भवास्माभिर्भोज्यं दास्यामहे वयम् । भुंक्ष्व शौचं परित्यज्य यद्धि भुक्तं सदास्तु ते ॥ १० ॥ इति तेषां वचः श्रुत्वा प्रत्युवाच समाहितः । मधुरैः प्रसृतैर्वाक्यै-

---

सियारकी योनिमें पैदाहुआ ॥४॥ तहाँ पहले जन्मके ऐश्वर्यकी याद आनेसे उसको वहां वैराग्य हुआ, इस कारण उसने दूसरोंका लाकर दियाहुआ मांस भी खाना छोडदिया ॥ ५ ॥ वह किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करता था, सत्य बोलता था, बडी दृढताके साथ व्रत करता था तथा समयानुसार अपने आप गिरेहुए फलोंका भोजन करता था ॥ ६ ॥ उस सियारको दूसरी जगह रहनेकी रुचि न हुई, किन्तु अपनी जन्मभूमि होनेके कारण उसने श्मशानमें रहना ही अच्छा समझा ॥ ७ ॥ वह तहाँ पवित्र आचारसे रहता था, उसकी इस बाहरी और भीतरी पवित्रताको उसकी जातिवाले सब सियार नहीं सहसके और वे प्रेमकी बातें करके उस सियारकी बुद्धिको चलायमान करनेलगे८ तू भयानक श्मशानमें रहनेवाला है तो भी पवित्रतासे रहना क्यों चाहता है ? जब तू मांसाहारी है तो तेरी बुद्धि ऐसी उलटी क्यों होगई है ? ॥९॥ इसलिये तू हमारी समान होकर रह और हम तुझे खानेको देंगे, जो तू सदासे खाता रहा है उसको ही खा और शौचको त्यागदे ॥ १० ॥ अपनी जातिवालोंकी इस बातको सुनकर उस सियारने सावधान होकर मधुर, कारण

हेतुमद्भिरनिष्ठुरैः ॥ ११ ॥ अप्रमाणा प्रसूतिर्मे शीलतः क्रियते कुलम् । प्रार्थयामि च तत्कर्म येन विस्तीर्यते यशः ॥ १२ ॥ श्मशाने यदि मे वासः समाधिर्मे निशम्यताम् । आत्मा फलानि कर्माणि नाश्रमो धर्मकारणम् ॥ १३ ॥ आश्रमे यो द्विजं हन्याद्गां वा दद्यादनाश्रमे । किं तु तत्पातकं न स्याद्वा दत्तं वृथा भवेत् १४ भवन्तः स्वार्थलोभेन केवलं भक्षणे रताः । अनुबन्धे त्रयो दोषास्तान्न पश्यन्ति मोहिताः ॥ १५ ॥ अप्रत्ययकृतां गर्ह्यामर्थापनयदूषिताम् । इह चामुत्र चानिष्टां तस्माद्वृत्तिं न रोचये ॥ १६॥ तं शुचिं पण्डितं मत्वा शार्दूलः ख्यातविक्रमः । कृत्वात्मसदृशीं

दिखानेवाले, कोमल और विस्तारवाले वचनोंसे उनको उत्तर दिया, कि-॥११॥ मेरा जन्म नीच कुलमें हुआ है यह ठीक है, परन्तु कुल शीलसे बनता है, मैं तो उस ही कामको करना चाहता हूँ, जिससे यश फैले ॥ १२ ॥ यद्यपि मैं श्मशानमें रहता हूँ तो भी मेरी नीतिके लिये मेरा व्रत कैसा है उसको तुम सुनो-आत्मा (प्राणी) आप ही कर्मके फलोंको भोगता है, आश्रम (चिह्न) धर्मका कारण नहीं है (संन्यासीके या ब्रह्मचारी वेषमात्रसे कुछ फल नहीं मिलता है; किन्तु आश्रमके आचारका पालन करनेसे फल मिलता है ॥ १३ ॥ एक मनुष्य किसी आश्रममें रहकर ब्राह्मणकी हत्या करे अथवा किसी आश्रममें रहकर गौका दान करे तो इन दोनोंको क्या हत्याका और गोदानका फल नहीं मिलेगा ? ॥ १४ ॥ तुम स्वार्थके लोभसे केवल पेट भरनेमें ही लगे रहते हो, परन्तु परिणाममें इससे तीन दोष लगते हैं, इस बातको तुम मोहके कारण नहीं जानसकते ॥१५॥ तुम्हारी आजीविका असन्तोषसे भरी, निन्दा करने योग्य अधर्मके कारण दूषित तथा इस लोकमें और परलोकमें अशुभ फल देने वाली है, इसलिये मुझे यह आजीविका अच्छी नहीं लगती १६

पूजां साचिव्येऽवरयत्स्वम् ॥ १७ ॥ शार्दूल उवाच । सौम्य विज्ञातरूपस्त्वं गच्छ यात्रां मया सह । क्रियन्तामीप्सिता भोगाः परिहार्याश्च पुष्कलाः ॥ १८ ॥ तीक्ष्णा इति वयं ख्याता भवंतं ज्ञापयामहे । मृदुपूर्वं हितं चैव श्रेयश्चाधिगमिष्यसि ॥ १९ ॥ अथ सम्पूज्य तद्वाक्यं मृगेन्द्रस्य महात्मनः । गोमायुः संश्रितं वाक्यं बभाषे किंचिदानतः ॥ २० ॥ गोमायुरुवाच । सदृशं मृगराजेनचात्र वाक्यं मदन्तरे । यत् सहायान्मृगयसे धर्मार्थकुशलान् शुचीन् ॥ २१ ॥ न शक्यं ह्यनमात्येन महत्त्वमनुशासितुम् । दुष्टामात्येन वा वीर शरीरपरिपन्थिना ॥२२॥ सहायाननुरक्तांश्च न

सियारकी इस बातको सुनकर एक प्रसिद्ध पराक्रमी बाघने उसको बाहर और भीतरसे पवित्र तथा पण्डित मानकर अपने समान अच्छे प्रकारसे पूजाकी और उससे कहा, कि-तू मेरा मंत्री बनजा ॥ १७ ॥ बाघने कहा, कि-हे शान्तस्वभाववाले सियार ! मैं जानता हूँ, कि-तू कैसा है, मैंने तेरे स्वरूपको समझ लिया है ! तू मेरे साथ रहकर राजकीय काम कर, मनमाने भोगोंको भोग और जो अच्छे न लगें उनको त्यागदे ॥ १८ ॥ हमारा वर्त्ताव क्रूर है, यह बात जगत्में प्रसिद्ध है, यदि तू कोमलताका वर्त्ताव करेगा तो तेरा कल्याण होगा ॥१९॥ महात्मा बाघकी इस बातका सत्कार करके सियारने अपने मस्तकको जरा एक नीचा नमाया और मधुर वाणीमें कहा ॥२०॥ सियार बोला, कि हे मृगराज ! मेरे लिये जो शब्द कहे ये ठीक हैं, तू धर्म तथा अर्थशास्त्रमें चतुर मन्त्रियोंको खोजरहा है यह भी ठीक ही है ॥ २१ ॥ हे वीर ! मंत्रीसे रहित अकेला राजा बड़ेभारी राज्यतन्त्रको नहीं चलासकता तथा तेरे शरीरके शत्रु बनेहुए दुष्ट मंत्रीसे भी राजतन्त्र नहीं चलसकता ॥ २२ ॥ इसलिये हे महाभाग राजन् ! तू प्रीति रखनेवाले, नीतिशास्त्रके ज्ञाता,

पक्षाग्रुपसंहितान् । परस्परमसंहृष्टान्विजिगीषूनलोलुपान् ॥ २३ ॥
अनतीतोपधान्प्राज्ञान् हिते युक्तान्मनस्विनः । पूजयेथा महाभाग
यथाचार्यान्यथा पितृन् ॥ २४ ॥ न त्वेव मम सन्तोषाद्रोचतेऽन्य-
न्मृगाधिप । न कामये सुखान् भोगानैश्वर्यं च तदाश्रयम् ।२५।
न योक्ष्यति हि मे शीलं तव भृत्यैः पुरातनैः ते त्वां विभेदयि-
ष्यन्ति दुःशीलाश्च मदन्तरे ॥ २६ ॥ न संश्रयः श्लाघनीयोऽह-
मेषामपि भास्वताम् । कृतात्मा सुमहाभागः पापकेष्वप्यदारुणः२७
दीर्घदर्शी महोत्साहः स्थूललक्ष्यो महाबलः। कृती चामोघकर्तास्मि
भोग्यैश्च समलंकृतः॥२८॥ न स्वल्पेनास्मि संतुष्टो दुःखाद्र वृत्ति-
रनुष्ठिता । सेवायां चापि नाभिज्ञः स्वच्छन्देन वनेचरः ॥ २९ ॥

सन्धि करनेमें चतुर, परस्पर मेलसे रहनेवाले, विजयाभिलाषी, लोभरहित बुद्धिमान्, हितैषी और बड़े मनवाले सहायकों–मंत्रियोंकी आचार्य और पितरोंकी समान पूजाकर ॥ २३–२४ ॥ परन्तु हे मृगराज ! इस समय मेरी जो दशा है मुझे इसमें ही सन्तोष है, किसी भी कारणसे इसको बदलनेको मेरा जी नहीं चाहता, मैं सुख, भोग और इनके आश्रयरूप ऐश्वर्यको चाहता ही नहीं ॥२५॥ और तुम्हारे पुराने नौकरोंके साथ मेरा स्वभाव भी नहीं मिलेगा क्योंकि–वे दुष्ट स्वभावके हैं, इसलिये वे आपमें और मुझमें फूट डलवादेंगे ॥ २६ ॥ दूसरेके आश्रयमें रहना, फिर वह चाहे जैसा प्रतापी हो, तो भी मैं अच्छा नहीं समझता, मैं कृतार्थ और महाभाग्यशाली हूँ, पापियोंके ऊपर भी कोमलता से वर्त्ताव करनेवाला, दीर्घदर्शी, बड़े उत्साहवाला, स्थूल लक्ष्य वाला, महाबली, कृतार्थ, हरएक कामको सफलताके साथ करने वाला और भोगने योग्य भोगोंको भोगनेवाला हूँ ॥२७–२८॥ मुझे थोड़ीसी वस्तुसे सन्तोष नहीं होसकता, मैंने किसीकी सेवा नहीं की है, मैं सेवा करना जानता भी नहीं, मैं तो अपनी

राजोपक्रोशदोषाश्च सर्वे संश्रयवासिनाम् । व्रतचर्या तु निःसंगा निर्भया वनवासिनाम् ॥ ३० ॥ नृपेणाहूयमानस्य यत्तिष्ठति भयं हृदि । न तत्तिष्ठति तुष्टानां वने मूलफलाशिनाम् ॥ ३१ ॥ पानीयं वा निरायासं स्वाद्वन्नं वाऽभयोत्तरम् । विचार्य खलु पश्यामि तत्सुखं यत्र निर्वृतिः ॥३२॥ अपराधैर्न तावन्तो भृत्याः शिष्टा नराधिपैः । उपघातैर्यथा भृत्या दूषिता निधनं गताः॥३३॥ यदि त्वेतन्मया कार्य्यं मृगेन्द्र यदि मन्यसे । समयं कृतमिच्छामि वर्त्तितव्यं यथा मयि ॥ ३४ ॥ मदीया माननीयास्ते श्रोतव्यञ्च हितं वचः । कल्पिता या च मे वृत्तिः सा भवेत्त्वयि सुस्थिरा ३५

इच्छानुसार वनमें फिरा करता हूँ ॥ २९ ॥ जो राजाओंके पास रहते हैं उनको निन्दाकी बातें सुननेसे बड़ा दुःख होता है,परन्तु जो वनवासियोंका जीवन बिताते हैं वे सङ्गरहित और निर्भय होते हैं ॥३०॥ राजा जिस समय बुलाता है उस समय सेवकके मनमें जो भय होता है उस भयको वनमें फल मूल खाकर सन्तोषसे रहनेवाले जानते भी नहीं ॥ ३१ ॥ बिना परिश्रमके मिलाहुआ पानी और परिणाम भय देनेवाला स्वादिष्ट अन्न, इन दोनोंकी तुलना (मुकाबिला) करके देखता हूँ तो मालूम होता है, कि-जहाँ निवृत्ति है वहाँ ही सुखका वास है ॥ ३२ ॥ राजाओंके पास रहनेवाले सेवकोंमेंसे जितने निरपराधी सेवकोंको मिथ्या दोष लगाकर मारडाला जाता है उतने अपराधी सेवक नहीं मरते हैं ॥ ३३ ॥ हे मृगेन्द्र ! यदि तेरी इच्छा हो तो मैं तेरे साथ राजकीय काम करनेको तयार हूँ, परन्तु तुम मेरे साथ किस रीतिका वर्त्ताव करोगे इस बातका मैं नियम (ठहराव) करलेना चाहता हूँ ॥ ३४ ॥ तेरे हितके लिये मैं जो बात कहता हूँ उसको सुन और मान, तू मेरे लिये जो आजीविका बाँधता है उसको तू अपने पास ही सम्हाल कर रख ॥ ३५ ॥ मैं तेरे

न मन्त्रयेयमन्यैस्ते सचिवैः सह कर्हिचित् । नीतिमन्तः परीप्सन्तो वृथा ब्रूयुः परे मयि ॥ ३६ ॥ एक एकेन सङ्गम्य रहो ब्रूयां हितं वचः । न च ते ज्ञातिकार्येषु प्रष्टव्योऽहं हिताहितैः ॥ ३७ ॥ मया संमन्त्र्य पश्चाच्च न हिंस्याः सचिवास्त्वया । मदीयानां च कुपितो मा त्वं दण्डं निपातयेः ॥ ३८ ॥ एवमस्त्विति तेनासौ मृगेन्द्रेणाभिपूजितः । प्राप्तवान्मतिसाचिव्यं गोमायुर्व्याघ्रयोनितः ॥ ३९ ॥ तं तथा सत्कृतं दृष्ट्वा पूज्यमानं स्वकर्मसु । प्राद्विषन् कृतसंघाताः पूर्वभृत्या मुहुर्मुहुः ॥ ४० ॥ मित्रबुद्ध्या च गोमायुं सान्त्वयित्वा प्रसाद्य च । दोषैस्तु समतां नेतुमैच्छन्नशुभबुद्धयः ॥ ४१ ॥ अन्यथा

दूसरे मन्त्रियोंके साथ राजकीय विचार कभी नहीं करूँगा, यदि मैं ऐसा करूँ तो तेरे बडप्पन चाहनेवाले और राजनीतिमें चतुर मंत्री उसमेंसे निरर्थक भूलें निकालेंगे ॥३५॥ मैं अकेला निर्जन स्थानमें अकेले तेरे साथ तेरे हितकी बातचीत करूँगा, तू अपने संबन्धियोंके काम काजके विषयमें मुझसे नहीं बूझना, कि–मेरा हित किसमें है और उनका हित काहेमें है ॥ ३७ ॥ तू मेरे साथ राजकीय विचार करनेके बाद अपने मन्त्रियोंको दण्ड न देना, तथा क्रोधमें भरकर मेरे मनुष्योंको वा मेरे आधार पर रहनेवालों को दण्ड न देना ॥ ३८ ॥ सियारके नियम बतानेके बाद 'मैं ऐसा ही करूँगा' यह कहकर बाघने सियारका सत्कार किया तब सियारने बाघका मन्त्रीपद स्वीकार किया ॥३९॥ सियार का उसके कामोंसे मान तथा सत्कार होनेलगा, इसलिये पुराने नौकर एक मति होकर बार २ उससे द्वेष करनेलगे ॥ ४० ॥ उन दुष्टबुद्धिवाले मंत्रियोंने मित्रबुद्धिसे सियारको मीठे शब्द कहकर प्रसन्न किया और वे उसको अपनी समान दोषोंसे भरा बनानेकी चेष्टा करनेलगे (राज्यमें जो गडबडी होरही थी उसकी परवाह न करनेके लिये कहनेलगे) ॥ ४१ ॥ पुराने नौकरोंने

क्षुधिताः पूर्वं परद्रव्यापिहारिणः । अशक्ताः किंचिदादातुं द्रव्यं शोभायुयन्त्रिताः ॥ ४२ ॥ व्युत्थानञ्च विकांक्षद्भिः कथाभिः प्रतिलोभ्यते । धनेन महता चैव बुद्धिरस्य विलोभ्यते ॥ ४३ ॥ न चापि स महाप्राज्ञस्तस्माद्धैर्याच्चचाल ह । अथास्य समयं कृत्वा विनाशाय तथापरे ॥ ४४ ॥ ईप्सितन्तु मृगेन्द्रस्य मांसं यत्तत्र संस्कृतम् । अपनीय स्वयं तद्धि तैर्न्यस्तं तस्य वेश्मनि ॥ ४५ यदर्थं चाप्यपहृतं येन तच्चैव मन्त्रितम् । तस्य तद्विदितं सर्वकारणार्थं च मर्षितम् ॥४६॥ समयोयं कृतस्तेन साचिव्यमुपगच्छता । नोपघातस्त्वया कार्यो राजन्मैत्रीमिहेच्छता ॥ ४७ ॥ भीष्म उवाच । क्षुधितस्य मृगेन्द्रस्य भोक्तुमभ्युत्थितस्य च । भोजना-

पहले दूसरोंका जो धन छीन लिया था वह कितने ही समय तक खाया, परन्तु अब सियारका उत्तम प्रबन्ध होनेके कारण किसीका भी धन नहीं लेसकते थे ॥४२॥ वे डिगानेकी इच्छासे बातें बनाकर और बहुतसा धन देकर सियारकी बुद्धिको लोभमें डालनेलगे ॥ ४३ ॥ परन्तु सियार बडो बुद्धिमान् था वह अपने धीरजसे नहीं डिगा, तब दूसरे नौकरोंने सियारको मारडालनेके लिये इकट्ठे होकर निश्चय किया ॥ ४४ ॥ और बाघके खानेके लिये जो मांस तयार किया जाता था और जो उसको अच्छा लगता था उस मांसको उसके महलमेंसे उठाकर सियार के घरमें लाडाला ॥ ४५ ॥ जो काम करनेके लिये वे उस मांसको लाये थे, उसके लिये पहले उन्होंने जो विचार किया था वह सब बात सियार जानता था, परन्तु उसने बन्धनमेंसे छूटनेकी इच्छारूप कारणसे वह सब सहलिया ॥ ४६ ॥ सियारने मन्त्रीके पद पर आते समय राजासे यह ठहरा लिया था, कि-हे राजन् ! यदि तुम मेरे साथ मित्रता करना चाहते हो तो निष्कारण मेरा अविश्वास कभी न करना ॥४७॥ भीष्मने

गोपहृतंत्वयं तन्मांसं नोपपूरयते ॥४८॥ मृगराजेन चाज्ञप्तं दृश्यतां चोर इत्युत। कृतकैश्चापि तन्मांसं मृगेन्द्रायोपवर्णितम् ॥ ४९ ॥ सचिवेनापनीतं ते विदुषा प्राज्ञमानिना । सरोषस्त्वथ शार्दूलः श्रुत्वा गोमायुचापलम् ॥ ५० ॥ बभूवामर्षितो राजा वधञ्चास्य व्यरोचयत् । छिद्रं तु तस्य ते दृष्ट्वा प्रोचुस्ते पूर्वमन्त्रिणः ॥ ५१ ॥ सर्वेषामेव सोऽस्माकं वृत्तिभंगे प्रवर्त्तते । निश्चित्यैव पुनस्तस्य ते कर्माण्यपि वर्णयन् ॥ ५२ ॥ इदं तस्येदृशं कर्म किं तेन न कृतं भवेत् । श्रुतश्च स्वामिना पूर्वं यादृशो नैव तादृशः ॥ ५३ ॥ वाङ्मात्रेणैव धर्मिष्ठः स्वभावेन तु दारुणः । धर्मच्छद्मा ह्ययं पापो वृथाचारपरिग्रहः ॥ ५४ ॥ कार्यार्थं भोजनार्थेषु वृतेषु

कहा, कि-हे राजा युधिष्ठिर ! जब पशुराज बाघको भूख लगी तब वह भोजनके लिये उठा, आज भोजनके लिये अपने यहाँ जो मांस आना चाहिये था वह मांस पात्रमें नहीं दीखा४८बाघने आज्ञा दी, कि-मांसके चोरको ढूँढकर लाओ, उन षड्यन्त्र रचनेवालोंने उस मांसके विषयमें कहा, कि-उस मांसको तो अपनेको बुद्धिमान् माननेवाला आपका विद्वान् मन्त्री चुराकर लेगया है, सियारकी ऐसी अधर्मकी बात सुनकर बाघ गुस्सेमें भरगया ॥ ४९-५० ॥ उससे सहा नहीं गया और उसने सियारको मारडालना चाहा, सियारके ऊपर यह आपत्ति आई देखकर बाघके पहले मन्त्री कहनेलगे, कि-॥ ५१ ॥ वह तो हम सबोंकी आजीविका नष्ट करने पर उतारू होगया है, ऐसा कहनेके बाद मनमें कुछ एक निश्चय करके वे फिर सियारके कर्मोंका वर्णन करनेलगे, कि-॥५२॥ जब उसका यह ऐसा काम है तो उसने क्या नहीं किया होगा ? महाराजने पहले इसको जैसा सुना था यह वैसा नहीं है ॥ ५३ ॥ बातोंका ही धर्मात्मा है, परन्तु स्वभावका भयानक है, यह पापी कपटसे धर्माचरण करता है और इसका

कृतवान् श्रमम् । यदि विप्रत्ययो ह्येष तदिदं दर्शयाम ते ॥५५॥ तन्मांसं चैव गोमायोस्तैः क्षणादाशु ढौकितम् । मांसापनयनं ज्ञात्वा व्याघ्रः श्रुत्वा च तद्वचः ॥ ५६ ॥ आज्ञापयामास तदा गोमायुर्वध्यतामिति।शार्दूलस्य वचः श्रुत्वा शार्दूलजननी ततः॥५७ मृगराजं हितैर्वाक्यैः सम्बोधयितुमागमत्। पुत्र नैतत्त्वया ग्राह्यं कपटारम्भसंयुतम् ॥ ५८ ॥ कर्मसंघर्षजैर्दोषैर्दुष्येताशुचिभिः शुचिः। नोच्छ्रितं सहते कश्चित् प्रक्रिया वैरकारिका ॥ ५९ ॥ शुचेरपि हि युक्तस्य दोष एव निपात्यते । मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः॥६०॥ उत्पाद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः ।

आचार विचार दम्भसे भराहुआ है ॥ ५४ ॥ यह अपना काम साधनेके लिये भोजनमें और व्रताचरणमें परिश्रम करता है,यदि आपको विश्वास न हो तो हम यह सब आपको दिखाये देते हैं ॥ ५५ ॥ ऐसा कहकर उन्होंने एक क्षण भरमें शीघ्रतासे वह मांस सियारके घरमेंसे लाकर बाघके सामने डालदिया, व्याघ्रने उस मांसको लायाहुआ देखकर और उनकी उस बातको सुन कर ॥ ५६ ॥ उसी समय आज्ञा देदी, कि-इस गीदडको मार डालो, बाघकी इस बातको सुनकर उस समय उस बाघकी माता हितकारक वचनोंसे उस बाघको हितकारी वाक्योंसे समझानेको उसके पास आगई, कि-हे बेटा ! तुझे यह कपटसे भरी हुई बात नहीं माननी चाहिये ॥ ५७-५८ ॥ दुष्ट लोग आपसके कामकी लागडाँटके कारण पवित्र पुरुषको भी दोष लगादेते हैं, कोई भी पुरुष अपनेसे ऊँची पदवी पर पहुँचनेवालेको नहीं सहसकता, उत्तम काम वैर बँधवादेते हैं ॥ ५९ ॥ पुरुष पवित्र हो और अपना काम करनेमें लगा रहता हो तो भी दुष्ट लोग उसके ऊपर दोष लगा देते हैं, एक मुनि वनमें रहकर अपने काम करता हो तो भी उसके मित्र, उदासीन और शत्रुपक्ष

लुब्धानां शुचयो द्वेष्याः कातराणां तपस्विनः ॥ ६१ ॥ मूर्खाणां पण्डिता द्वेष्या दरिद्राणां महाधनाः । अधार्मिकाणां धर्मिष्ठा विरूपाणां सुरूपिणः ॥ ६२ ॥ बहवः पंडिता मूर्खा लुब्धा मायोपजीविनः । कुर्युर्दोषमदोषस्य बृहस्पतिमतेरपि ॥ ६३ ॥ शून्ये त्वच्च गृहान्मांसं यद्यप्यपहृतं तव । नेच्छते दीयमानञ्च साधु तावद्विमृष्यताम् ॥ ६४ ॥ असभ्याः सभ्यसङ्काशाः सभ्याश्चासभ्यदर्शनाः । दृश्यन्ते विविधा भावास्तेषु युक्तं परीक्षणम् ॥ ६५ ॥ तलवद्दृश्यते व्योम खद्योतो हव्यवाडिव । न चैवास्ति तलं व्योम्नि खद्योते न हुताशनः ॥ ६६ ॥ तस्मात् प्रत्यक्षदृष्टोऽपि युक्तो ह्यर्थः परीक्षितुम् । परीक्ष्य ज्ञापयन्नर्थान्न पश्चात् परितप्यते ॥ ६७ ॥

खड़े होजाते हैं, लोभी पुरुष पवित्र पुरुषोंसे द्वेष करते हैं; आलसी परिश्रमी लोगोंसे द्वेष करते हैं ॥ ६०-६१ ॥ मूर्ख पण्डितोंसे, दरिद्र महाधनवानोंसे, अधर्मी धर्मात्माओंसे और कुरूप सुन्दर रूपवालोंसे द्वेष करते हैं ॥ ६२ ॥ विद्वानोंमें कितने ही मूर्ख, लोभी और कपटसे आजीविका करनेवाले पण्डित नामधारी बृहस्पतिकी समान बुद्धिवाले निर्दोष मनुष्योंको भी दोष लगा देते हैं ॥ ६३ ॥ तेरे घरमें जिस समय कोई नहीं था उस समय यहाँसे मांस उठाकर सियारके घरमें डाला गया है और सियार तो दियेहुए मांसको भी नहीं लेता है, इस बातको पहले जरा अच्छे प्रकारसे विचार कर देख ॥ ६४ ॥ कितने ही असभ्य पुरुष सभ्यसे दीखते हैं और सभ्य पुरुष असभ्यसे दीखते हैं, इसप्रकार मनुष्योंमें अनेकों भाव देखनेमें आते हैं, इसलिये उनकी परीक्षा करनी चाहिये ॥ ६५ ॥ आकाश उलटी कीहुई कढ़ाई की तरीसा दीखता है और पटबीजना अग्निसा दीखता है, परन्तु आकाश तली नहीं है और पटबीजना अग्नि नहीं है ॥ ६६ ॥ इसलिये प्रत्यक्ष देखी हुई बातकी भी परीक्षा करनी चाहिये,

न दुष्करमिदं पुत्र यत् प्रभुर्घातयेत् परम् । श्लाघनीया यशस्या च लोके प्रभवतां क्षमा ॥ ६८ ॥ स्थापितोऽयं त्वया पुत्र सामन्ते-ष्वपि विश्रुतः । दुःखेनासाद्यते पात्रं धार्य्यतामेष ते सुहृत् ॥६९॥ दूषितं परदोषैर्हि गृह्णीते योऽन्यथा शुचीन् । स्वयं संदूषितामात्यः क्षिप्रमेव विनश्यति॥७०॥ तस्मादरिसंघाताद् गोमायोः कश्चि-दागतः । धर्मात्मा तेन चाख्यातं यथैतत् कपटं कृतम् ॥ ७१ ॥ ततो विज्ञातचरितः सत्कृत्य स विमोक्षितः । परिष्वक्तश्च सस्नेहं मृगेन्द्रेण पुनः पुनः ॥ ७२ ॥ अनुज्ञाप्य मृगेन्द्रं तु गोमायुर्नीति-

जो पुरुष हरएक बातकी परीक्षा करके उसके विषयमें अपना विचार दिखाता है उसको पछताना नहीं पडता है ॥ ६७ ॥ हे बेटा ! राजा दूसरेको मारडाले यह कोई कठिन काम नहीं है, परन्तु जगत्में राजाओंकी क्षमा प्रशंसाके योग्य और यश देने वाली मानी जाती है ॥ ६८ ॥ हे बेटा ! तूने इसको मन्त्रीके पद पर रक्खा है और यह सब सामन्तोंमें प्रसिद्ध होगया है, ऐसा सुपात्र मन्त्री बड़ी कठिनतासे मिलता है और यह तेरा शुभ-चिन्तक है, इसलिये तू इसकी रक्षा कर॥६९॥ जिसको दूसरोंने दोष लगाकर अपराधी बतादिया हो ऐसे पवित्र पुरुषको जो राजा अपवित्र मानलेता है,ऐसे दूषित मन्त्रियोंवाला राजा बहुत जल्द नष्ट होजाता है ॥ ७० ॥ इसप्रकार बाघकी माता उपदेश देरही थी, इतनेमें ही उस सियारके शत्रुओंके समूहमेंसे कोई एक धर्मात्मा बाघके पास आया और उसने, जिसप्रकार यह जाल बनायागया था वह सब बात कहकर सुना दी ॥ ७१ ॥ उससे मृगराजने सियारका चरित्र जाना और उसका सत्कार करके अपराधसे छोड़दिया और फिर उसको स्नेहके साथ बार२आलि-ङ्गन किया ॥ ७२ ॥ सियार नीतिशास्त्रको जानता था, वह तिरस्कारके असह्य होनेसे बड़ा दुःख मानरहा था, उसने बाघसे

शास्त्रवित् । तेनामर्पेण संतप्तः प्रायमासितुमैच्छत ॥ ७३ ॥ शार्दूलस्तन्तु गोमायुं स्नेहात्प्रोत्फुल्ललोचनः । अवारयत् स धर्मिष्ठं पूजया प्रतिपूजयन् ॥ ७४ ॥ तं स गोमायुरालोक्य स्नेहादागतसम्भ्रमम् । उवाच प्रणतो वाक्यं बाष्पगद्गदया गिरा ॥ ७५ ॥ पूजितोऽहं त्वया पूर्वं पश्चाच्चैव विमानितः । परेषामास्पदं नीतो वस्तुं नार्हाम्यहं त्वयि ॥ ७६ ॥ असंतुष्टाश्च्युता स्थानान्मानात्सव्यवरोपिताः । स्वयं चापहृता भृत्या ये चाप्युपहिताः परैः ७७ परिक्षीणाश्च लुब्धाश्च क्रुद्धा भीताः प्रतारिताः । हृतस्वा मानिनो ये च त्यक्तादाना महेप्सवः ॥ ७८ ॥ संतापिताश्च ये केचिद् व्यस-

---

आज्ञा माँगकर निराहार व्रत करना चाहा ॥ ७३ ॥ यह देखकर जिसकी आँखें स्नेहसे प्रफुल्लित होरही थीं ऐसे बाघने धर्मात्मा सियारको निराहार व्रत करनेसे रोका और पूजा की सामग्रीसे उसका सत्कार किया ॥ ७४ ॥ सियारने देखा, कि-बाघ मेरे ऊपर प्रेमके कारण घबडाहटमें पडगया है, इसकारण वह प्रणाम करके आँखोंमें आँसू भरेहुए गद्गद वाणीसे कहनेलगा ॥७५॥ आपने पहले मेरा सत्कार किया और पीछेसे मेरा अपमान करके शत्रु मानलिया, इसलिये अब मैं तुम्हारे पास नहीं रहना चाहता ॥ ७६ ॥ जो सेवक असन्तुष्ट होगए हों, अपने स्थानसे भ्रष्ट होगए हों, जिनका अपमान कियागया हो, जिन्होंने स्वयं अपराध किया हो, जिनके ऊपर शत्रुओंने दोष लगाया हो ।७७। जो निर्बल होगए हों, लोभी हों, क्रोधी हों, भयभीत हों, जिनको धोखा दियागया हो, जिनका धन छीन लियागया हो, जो अभिमानी हों, जो धनके साधनोंको खोबैठे हों परन्तु बड़ी इच्छा रखते हों ॥ ७८ ॥ जो दुःखके कारण सन्ताप पारहे हों, जो कोई यह बाट देखते हों, कि-हमारे राजासे ऊपर दुःखोंका समूह कब आके पडता है, जो स्वामीसे हानि पहुँचनेके कारण

नौपमतीक्षिणः । अन्तर्हिताः सोपहितास्ते सर्वेऽपरसाधनाः ७९
अवमानेन युक्तस्य स्थानभ्रष्टस्य वा पुनः । कथं यास्यसि विश्वा-सं अहं तिष्ठामि वा कथम् ॥ ८० ॥ समर्थ इति संगृह्य स्थापयित्वा परीक्षितः । कृतं च समयं भित्त्वा त्वयाहमवमानितः ॥ ८१ ॥ प्रथमं यः समाख्यातः शीलवानिति संसदि । न वाच्यं तस्य वैगुण्यं प्रतिज्ञां परिरक्षता ॥ ८२ ॥ एवं चावमतस्येह विश्वासं मे न यास्यसि । त्वयि चापेतविश्वासे ममोद्वेगो भविष्यति ८३
शंकितस्त्वमहं भीतः परच्छिद्रानुदर्शिनः । अस्निग्धाश्चैव दुस्तोषाः कर्म चैतद्बहुच्छलम् ॥ ८४ ॥ दुःखेन श्लिष्यते भिन्नं

मनके भीतर क्रोध रखते हों ऐसे सब सेवक अपने स्वामीको छोड़कर शत्रुके पक्षमें जा मिलते हैं और उनके काम सिद्ध करने लगते हैं ॥ ७९ ॥ तुमने मेरा अपमान किया है और फिर मुझे पदसे भ्रष्ट करदिया है, इसलिये अब तुम मेरा विश्वास कैसे करोगे ? और मैं भी तुम्हारे यहाँ कैसे रहसकता हूँ ? ॥८०॥ तुमने मुझे योग्य जानकर मन्त्रीके पद पर रक्खा और फिर उस पदको छीनलिया तथा जो प्रतिज्ञा की थी उसको तोड़कर तुमने मेरा अपमान किया ॥८१॥ पहले सभामें जिसके चालचलनकी प्रशंसाकी हो उसकी, अपनी प्रतिज्ञाकी रक्षा करनेवाला पुरुष पीछेसे निन्दा न करे ॥८२॥ ऐसी दशामें आपने मेरा अपमान किया है, इसलिये आपका विश्वास मेरे ऊपरसे और मेरा विश्वास आपके ऊपरसे उठगया है, इसलिये मुझे आपके पास रहनेमें मेरा जी घबड़ावेगा ॥ ८३ ॥ तुम्हारे मनमें शङ्का रहेगी, मेरे मनमें भय रहेगा तथा हमारे शत्रु हमारा नाश करनेका अवसर देखेंगे, इसके सिवाय आपके सेवक दूसरोंके छिद्र खोजनेवाले स्नेहहीन और असन्तोषी हैं तथा राजकीय काम बड़े ही छलसे भराहुआ है, इस दशामें सुख नहीं मिलसकता ॥८४॥

श्लिष्टं दुःखेन भिद्यते । भिन्नाश्लिष्टा तु या प्रीतिर्न सा स्नेहेन वर्त्तते ॥ ८५ ॥ कश्चिदेव हिते भर्तुर्दृश्यते न परात्मनोः । कार्यापेक्षा हि वर्तन्ते भावस्निग्धाः सुदुर्लभाः ॥ ८६ ॥ सुदुःखं पुरुषज्ञानं चित्तं ह्येषां चलाचलम् । समर्थो वाप्यशक्तो वा शतेष्वेकोऽधिगम्यते ॥ ८७ ॥ अकस्मात्प्रक्रिया नृणामकस्माच्चापकर्षणम् । शुभाशुभे महत्त्वं च प्रकर्तुं बुद्धिलाघवम् ॥ ८८ ॥ एवंविधं सान्त्वमुक्त्वा धर्मकामार्थहेतुमत् । प्रसादयित्वा राजानं गोमायुर्वनमभ्यगात् ॥ ८९ ॥ अगृह्यानुनयं तस्य मृगेन्द्रस्य च बुद्धिमान् । गोमायुः प्रायमास्थाय त्यक्त्वा देहं दिवं ययौ ॥ ९० ॥

आपसके फटेहुए मन बडी कठिनतासे जुडते हैं और आपसके मिलेहुए मन बड़े परिश्रमसे जुदे किये जासकते हैं, आपसके बँधेहुए प्रेममें भेद पडजाने पर फिर स्नेह नहीं रहता ।८५। कोई भी पुरुष, अपने स्वामीका ही हित करनेवाला देखनेमें नहीं आता, परन्तु सेवाका प्रयोजन अपना और स्वामीका दोनोंका हित करना है, स्वार्थ ही सेवा करता है, निःस्वार्थ पुरुष इस जगतमें बहुत ही दुर्लभ हैं ॥ ८६ ॥ राजाओंके मन सदा चञ्चल होते हैं, इसलिये वे सुपात्र पुरुषको पहचान सकें यह बडी ही कठिन बात है, समर्थ और निर्भय पुरुष सकडोंमेंसे एकाध ही मिलता है ॥ ८७ ॥ मनुष्योंकी अचानक उन्नति होजाती है और अचानक अवनति होने लगती है, शुभ हुआ, अशुभ हुआ गौरव मिला यह सब छोटीसी बुद्धिका परिणाम है।८८इसप्रकार धर्म, अर्थ और कामके कारणभूत शान्तिभरे वचन कहकर सियारने मृगराजको प्रसन्न किया और फिर स्वयं वनमें चलागया, सियार बुद्धिमान् था, उसने बाघके समझानेको नहीं माना और निराहार व्रतके द्वारा देहको त्यागकर स्वर्गमें चला गया ॥ ९० ॥ एकसौ ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १११ ॥

युधिष्ठिर उवाच । किं पार्थिवेन कर्त्तव्यं किञ्च कृत्वा सुखी भवेत् । एतदाचक्ष्व तत्त्वेन सर्वधर्मभृताम्वर ॥१॥ भीष्म उवाच । हंत तेऽहं प्रवक्ष्यामि शृणु कार्य्यैकनिश्चयम् । यथा राज्ञेह कर्त्तव्यं यच्च कृत्वा सुखी भवेत् ॥ २ ॥ न चैवं वर्त्तितव्यं स्म यथेदमनुशुश्रुम । उष्ट्रस्य तु महद्वृत्तं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ३ ॥ जातिस्मरो महानुष्ट्रः प्राजापत्ये युगे भवत् । तपः सुमहदातिष्ठदरण्ये संशितव्रतः ॥ ४ ॥ तपसस्तस्य चान्तेथ प्रीतिमानभवद्विभुः । वरेण छन्दयामास ततश्चैनं पितामहः ॥ ५ ॥ उष्ट्र उवाच । भगवंस्त्वत्प्रसादान्मे दीर्घा ग्रीवा भवेदियम् । योजनानां शतं साग्रं गच्छामि चरितुं विभो ॥ ६ ॥ एवमस्त्विति चोक्तः स वरदेन

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे सकल धर्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ ! अब राजाको क्या करना चाहिये और कौनसा काम करके वह सुखी होगा, यह बात मुझे ठीक २ सुनाइये ॥ १ ॥ भीष्मजीने कहा, कि-राजाको जो काम करना चाहिये और जिस कामके करनेसे राजा सुख पाता है इस बातका निर्णय मैं तुमसे कहता हूँ सुन ॥ २ ॥ हे युधिष्ठिर ! एक ऊँटका बडा चरित्र नीचे लिखे अनुसार मेरे सुननेमें आया है वह मैं तुझे सुनाता हूँ तू सुन ३ पहले प्रजापतिके युगमें एक बडा ऊँट था, उसको पहले जन्मका स्मरण था, उसने उत्तम व्रत धारण करके वनमें बडाभारी तप करना आरम्भ करदिया ॥ ४ ॥ उस तपके अन्तमें पितामह ब्रह्माजी उसके ऊपर प्रसन्न होगए और उसको आज्ञा दी, कि-वरदान माँग ॥ ५ ॥ यह सुनकर ऊँटने कहा, कि-हे भगवन् ! आपकी कृपासे मेरी यह गरदन सौ योजन लम्बी होजाय, यह वर दीजिये, तब फिर मैं वनमें सौ योजन तक चरनेको जाऊँ ॥ ६ ॥ तब वरदान देनेवाले महात्मा ब्रह्माजीने कहा, कि-"तथास्तु" इसप्रकार उत्तम वरदान पानेके बाद ऊँट अपने

महात्मना । प्रतिलभ्य वरं श्रेष्ठं ययावुष्ट्रः स्वकं वनम् ॥ ७ ॥ स चकार तदालस्यं वरदानात् सुदुर्मतिः । न चैच्छच्चरितुं गंतुं दुरात्मा कालमोहितः ॥ ८ ॥ स कदाचित् प्रसार्यैव तां ग्रीवां शतयोजनाम् । चचार श्रांतहृदयो वातश्चागात्ततो महान् ॥ ९ ॥ स गुहायां शिरो ग्रीवां निधाय पशुरात्मनः । आस्ते तु वर्षमभ्यागात् सुमहत् प्लावयञ्जगत् ॥१०॥ अथ शीतपरीताङ्गो जम्बुकः क्षुच्छ्रमान्वितः । सदारस्तां गुहामाशु प्रविवेश जलार्दितः ॥११॥ स दृष्ट्वा मांसजीवी तु सभृशं क्षुच्छ्रमान्वितः । अभक्षयत्ततो ग्रीवामुष्ट्रस्य भरतर्षभ ॥ १२ ॥ यदा त्ववुध्यतात्मानं भक्ष्यमाणं स वै पशुः । तदा सङ्कोचने यत्नमकरोद्भृशदुःखितः ॥ १३ ॥ यावद्-

वनकी ओरको चलदिया ॥ ७ ॥ परन्तु वह ऊँट दुष्टबुद्धि था इसलिये कालसे मोहित होनेके कारण वरदान पाकर वह आलसी हो गया और उसने वनमें चरने को जाना बन्द करदिया ॥ ८ ॥ एक दिन वह ऊँट अपनी सौ योजनकी गरदनको वनमें लम्बी करके शान्त मनसे चरने लगा, इतनेमें ही जोरका पवन चलपड़ा और साथमें जल भी बरसने लगा, उस जलसे सब जगत् सराबोर होगया, तब वह ऊँट अपनी गरदनको पहाड़की गुफामें घुसेड़कर बैठगया ॥ ९ ॥ १० ॥ इतनेमें ही एक गीदड़, भूख,परिश्रम और ठंडसे घबड़ाया हुआ अपनी स्त्री के सहित वहीं आपहुँचा, वह वर्षाके जलसे कष्ट पारहा था, इस कारण उस ही गुफामें घुस गया ॥११॥ वह मांसाहारी था, इसको बड़ी ही भूख लगरही थी और बहुतही थक गया था, इसकारण हे भरतसत्तम राजन ! वह ऊँटकी गरदन को देखकर उसको खाने लगा ॥ १२ ॥ तब तो ऊँट को बड़ी ही वेदना होनेलगी और उसने जाना, कि-कोई प्राणी मुझे खारहा है, इसलिये वह अपनी गरदनको गुफा मेंसे बाहर

चर्मधश्चैव ग्रीवां संक्षिपते पशुः । तावच्चेन सदारेण जम्बुकेन स भक्षितः ॥ १४ ॥ स हत्वा भक्षयित्वा च तमुष्ट्रं जम्बुकस्तदा । विगते वातवर्षे तु निश्चक्राम गुहामुखात् ॥१५॥ एवं दुर्बुद्धिना प्राप्तमुष्ट्रेण निधनं तदा । आलस्यस्य क्रमात् पश्य महान्तं दोषमागतम् ॥१६॥ त्वमप्येवंविधं हित्वा योगेन नियतेन्द्रियः । वर्त्तस्व बुद्धिमूलन्तु विजयं मनुरब्रवीत्॥१७॥बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि बाहुमध्यानि भारत । तानि जंघाजघन्यानि भारप्रत्यवराणि च ॥ १८ ॥ राज्यं तिष्ठति दक्षस्य संगृहीतेन्द्रियस्य च । आर्त्तस्य बुद्धिमूलं हि विजयं मनुरब्रवीत् । गुह्यं मन्त्रं श्रुतवतः सुसहायस्य चानघ ॥ १९ ॥ परीक्ष्यकारिणो ह्यर्थास्तिष्ठन्तीह युधिष्ठिर ।

निकालनेके लिये उसको खींचनेका उद्योग करने लगा ॥ १३ ॥ और गरदन को ऊपर तथा नीचेके भागसे सकोड़नेका बहुत ही उद्योग किया परन्तु इतने में ही उस सियार और उसकी स्त्रीने उस ऊँट को मार डाला और खागए, फिर पवन और वर्षाके शान्त होतेही वह गीदड़ और गीदड़ी उस गुफा मेंसे निकलकर भागगए ॥ १४ ॥ १५ ॥ इसप्रकार दुष्ट बुद्धिवाला ऊँट मरगया, आलस्य करनेसे बराबर कैसी बड़ी हानि होती चली जाती है,इस बात को तू इस दृष्टान्तसे देखले१६ हे युधिष्ठिर ! इसप्रकार तू भी आलस्य को त्यागदे और योगसे इन्द्रियोंको नियममें रखकर वर्त्तावकर, मनुजीने कहा है कि-विजय मिलनेकी मूल बुद्धि है ॥१७॥ हे भरतवंशी राजा ! बुद्धिसे किये हुए काम श्रेष्ठ, भुजाओंसे कियेहुए काम मध्यम और पैरों चलकर तथा बोझा उठाकर कियेहुए काम अधम गिने जाते हैं ॥ १८ ॥ जो राजा चतुर है और जिसने अच्छे प्रकारसे इन्द्रियोंका निग्रह करलिया है उस राजाके पास राज्य टिका रहता है, मनुजी कहते हैं, कि-एक बड़प्पन चाहनेवाला पुरुष

सहाययुक्तेन मही कृत्स्ना शक्या प्रशासितुम् ॥ २० ॥ इदं हि सद्भिः कथितं विधिज्ञैः पुरा महेन्द्रप्रतिमप्रभाव । मयापि चोक्तं तव शास्त्रदृष्ट्या यथैव बुद्धया प्रचरस्व राजन् ॥२१॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्याघ्रगोमायुसंवादे / उष्ट्रग्रीवोपाख्याने द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ११२

युधिष्ठिर उवाच । राजा राज्यमनुप्राप्य दुर्लभं भरतर्षभ । अमित्रस्यातिवृद्धस्य कथं तिष्ठेदसाधनः ॥ १ ॥ भीष्म उवाच । अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । सरिताश्चैव सम्वादं सागरस्य च भारत ॥ २ ॥ सुरारिनिलयः शश्वत् सागरः सरितां पतिः । पप्रच्छ सरितः सर्वाः संशयं जातमात्मनः ॥३॥ सागर

बुद्धिसे ही विजय पाता है, हे निर्दोष युधिष्ठिर ! जो राजा एकान्त में राजकीय विचारोंको सुनता हो, जिसके सहायक अच्छे हों १९ और जो परीक्षा करके काम करते हों, ऐसे पुरुषके पास लक्ष्मी टिकी रहती है, राजा मन्त्री आदि सहायकोंसे सब पृथिवी पर राज्य करसकता है ॥२०॥ हे महेन्द्रकी समान प्रभाववाले राजा युधिष्ठिर ! पहले यह बात शास्त्रको जाननेवाले पुरुषोंने कही थी और हे राजन् ! मैंने भी शास्त्रके अनुसार तुमसे कही है, तू इसको ठीक २ समझकर इसके अनुसार ही वर्त्ताव कर॥२१॥ एक सौ बारहवाँ अध्याय समाप्त ॥ ११२ ॥ छ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे भरतसत्तम भीष्म पितामह ! एक राजा दुर्लभ राज्यको पाकर यदि स्वयं साधनहीन हो तो वह महाबलवान् शत्रुके साथ कैसा वर्त्ताव करे ? ॥ १ ॥ भीष्मने कहा, कि-हे भरतवंशी राजन् ! इस विषयमें नदियों और समुद्र का संवादरूप एक पुरानी कथा इसप्रकार है, कि-॥२॥ असुरों के आश्रयरूप नदियोंके पति समुद्रने सब नदियोंसे अपने मनमें उत्पन्न हुआ सन्देह बूझना आरम्भ करदिया ॥ ३ ॥ सागरने

वचाच। समूलशाखान् पश्यामि निहतान् कायिनो द्रुमान् ।
युष्माभिरिह पूर्णाभिर्नद्यस्तत्र न वेतसम् ॥ ४ ॥ अकायश्चाल्प-
सारश्च वेतसः कूलजश्च वः । अवज्ञया वा नानीतः किञ्च वा तेन
वः कृतम् ॥ ५ ॥ तदहं श्रोतुमिच्छामि सर्वासामेव वो मतम् ।
यथा चेमानि कूलानि हित्वा नायाति वेतसः ॥ ६ ॥ तत्र प्राह
नदी गङ्गा वाक्यमुत्तममर्थवत् । हेतुमद्ग्राहकञ्चैव सागरं सरितां
पतिम् ॥ ७ ॥ गङ्गोवाच । तिष्ठन्त्येते यथास्थानं नगा ह्येकनि-
केतनाः । ते त्यजन्ति ततः स्थानं प्रातिलोम्यान्न वेतसः ॥८॥
वेतसो वेगमायान्तं दृष्ट्वा नमति नापरे । सरिद्वेगेऽभ्यतिक्रान्ते

बूझा कि-हे नदियों ! तुम जलसे भरीहुई हो और मैं देखता हूँ,
कि-तुमने मूल तथा शाखाओंवाले बड़े २ वृक्षोंको जड़से उखाड़
डाला है, परन्तु वेतोंको नहीं उखाड़ा इसका क्या कारण है ? ४
क्या वेतकी काया छोटी है, वह निर्बल है और तुम्हारे तटपर
उत्पन्न हुआ है, इसलिये तुम उसका नाश नहीं करती हो ?
अथवा उनकी ओरको उपेक्षा होनेसे उनको घसीटकर नहीं लाई
हो अथवा उसने तुम्हारा कोई ऐसा काम किया है. कि-जिससे
तुम वेतका नाश नहीं करती हो ? ॥ ५ ॥ इस विषयमें मैं तुम
सबोंका ही मत सुनना चाहता हूँ, क्योंकि-वेत तुम्हारे तटको
त्यागकर यहाँ नहीं आता है ॥ ६ ॥ यह सुनकर गङ्गाने नदियों
के पति समुद्रसे अर्थभरी, कारण दिखानेवाली और चित्तको
पकड़नेवाली यह बात कहकर उत्तर दिया ॥ ७ ॥ गङ्गा बोली,
कि-ये वृक्ष एक स्थान पर अपने उद्धतपनेसे खड़े रहते हैं और
नमते नहीं हैं, इसलिये हमारे वेगके विरुद्ध होनेसे इनको अपना
स्थान छोड़ना पड़ता है, परन्तु वेत नमजाता है, इसलिये अपने
स्थान पर ही रहता है ॥ ८ ॥ हमारे वेगको देखकर वेत नम
जाता है, परन्तु दूसरे वृक्ष नमते नहीं (किन्तु उद्धत रहते हैं, इस

स्थानमासाद्य तिष्ठति ॥ ९ ॥ कालज्ञः समयज्ञश्च सदा वश्यश्च नोद्धतः । अनुलोमस्तथा लब्धस्तेन नाभ्येति वेतसः ॥ १० ॥ मारुतोदकवेगेन ये नमन्त्युन्नमन्ति च । ओषध्यः पादपा गुल्मा न ते यान्ति पराभवम् ॥ ११ ॥ भीष्म उवाच । यो हि शत्रोर्विवृद्धस्य प्रभोर्वधविनाशने । पूर्वं न सहते वेगं क्षिप्रमेव विनश्यति १२सारासारं बलं वीर्यमात्मनो द्विषतश्च यः । जानन् विचरति प्राज्ञो न स याति पराभवम्॥१३॥ एवमेव यदा विद्वान् मन्यतेऽतिबलं रिपुम् । संश्रयेद्वैतसीं वृत्तिमेतत् प्रज्ञानलक्षणम् १४

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सरित्सागरसम्वादे त्रयोदशाधिकशततमोध्याय ११३

लिये उनको अपना स्थान त्यागना पड़ता है) परन्तु बेत, नदी का वेग शान्त होते ही फिर अपने स्थानमें स्थिर होकर रहता है ॥ ९ ॥ बेत कालको जानता है समयको समझता है, सदा वशमें रहता है, उद्धत नहीं है, अनुकूल रहता है और निरभिमानी है, इसलिये उसको अपना स्थान छोड़कर नहीं जाना पड़ता है तथा उसका नाश भी नहीं होता है ॥ १० ॥ जो पौधे, वृक्ष और झुण्ड पवन तथा जलके वेगके समय नमजाते हैं उनकी उन्नति होती है और उनकी पराजय नहीं होती ॥ ११ ॥ भीष्मने कहा, कि—कैद करनेकी और मारडालनेकी शक्ति रखनेवाले और बड़ी वृद्धि पायेहुए शत्रुके सामने नमकर जो पहले उसके वेग को नहीं सहलेता है वह तुरंत नष्ट होजाता है॥१२॥जो बुद्धिमान् पुरुष अपने और शत्रुके सार, असार, बल और वीरताको जान कर उसके साथ व्यवहार करता है वह कभी तिरस्कार नहीं पाता है ॥१३॥ इसीप्रकार जब विद्वान् शत्रुको अधिक बलवान् समझे तब बेतके सी नम्रवृत्ति धारण करलेय, यह चतुरताका लक्षण है ॥ १४ ॥ एकसौ तेरहवाँ अध्याय समाप्त ॥ ११३ ॥

युधिष्ठिर उवाच । विद्वान्मूर्खः प्रगल्भेन मृदुस्तीक्ष्णेन भारत । आक्रुश्यमानः सदसि कथं कुर्यादरिन्दम ॥ १ ॥ भीष्म उवाच । श्रूयतां पृथिवीपाल यथैषोर्थोनुगीयते । सदा सुचेताः सहते नरस्येहाल्पमेधसः ॥२॥ अरुष्यन्क्रुश्यमानस्य सुकृतं नाम विंदति । दुष्कृतन्चात्मनोमर्षी रुष्यत्येवापमार्ष्टि वै ॥ ३ ॥ टिट्टिभं तमुपेक्षेत वाशमानमिवातुरम् । लोके विद्वेषमापन्नो निष्फलम्प्रतिपद्यते ४ इति संश्लाघते नित्यं तेन पापेन कर्मणा । इदमुक्तो मया कश्चित् सम्मतो जनसंसदि ॥ ५ ॥ स तत्र व्रीडितः शुष्को मृतकल्पोवतिष्ठते । श्लाघन्नश्लाघनीयेन कर्मणा निरपत्रपः ॥ ६ ॥ उपे-

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे भरतवंशी शत्रुनाशन राजन्! गर्व से मस्त हुआ एक अज्ञानी पुरुष भरी सभामें विद्वान् पुरुषसे कठोर वचन कहे तो वह क्या करे यह मुझे बताइये ॥१॥ भीष्म ने कहा, कि-हे राजन्! इस विषयमें शास्त्रमें, उत्तम मनवाला पुरुष सदा अल्पबुद्धि पुरुषके कठोर वचनको किसप्रकार सहन करे, इस विषयमें जो कुछ कहा है वह मैं तुमसे कहता हूँ, सुन ॥ २ ॥ जो पुरुष निन्दाके वचन कहनेवालेके ऊपर क्रोध नहीं करता है वह निन्दकके पुण्यको लेलेता है और सहनशील मनुष्य अपने ऊपर क्रोध करनेवाले पुरुषके ऊपर ही अपने पाप को धोदेता है ॥ ३ ॥ टटीरीपक्षी समान कर्णकटु शब्दको बोलने वाले क्रोधी मनुष्यके शब्दोंकी विद्वान परवाह न करे, जिनके मन पर ऐसे शब्दोंका प्रभाव पड़ता है उनका जीवन निष्फल होता है ॥४॥ मूर्ख मनुष्य सत्पुरुषोंका अपमान करनारूप पाप-कर्म करके यह कहता है, कि-मैंने भरी सभामें एक प्रतिष्ठित पुरुषसे यह बात कही थी और वह लज्जित होगया तथा निस्तेज और मराहुआसा होगया, इसप्रकार प्रशंसा न करने योग्य अपने कर्मसे अपनी प्रशंसा करता है, ऐसे निर्लज्ज और अधम मनुष्य

त्तितव्यो यत्नेन तादृशः पुरुषाधमः । यद्यद् ब्रूयादल्पमतिस्तत्त-दस्य सहेद् बुधः ॥ ७ ॥ प्राकृतो हि प्रशंसन् वा निन्दन् वा किं करिष्यति । वने काक इवाबुद्धिर्वाशमानो निरर्थकम् ॥ ८ ॥ यदि वाग्भिः प्रयोगः स्यात्प्रयोगे पापकर्मणः । वागेवार्थो भवे-त्तस्य न ह्येवार्थो जिघांसतः ॥ ९ ॥ निषेकं विपरीतं स आचष्टे वृत्तचेष्टया । मयूर इव कौपीनं नृत्यन् संदर्शयन्निव ॥ १० ॥ यस्या-वाच्यं न लोकेऽस्ति नाकार्यं चापि किंचन । वाचं तेन न संदध्या-

को उद्योग करके विद्वान् त्यागदेय, अल्पबुद्धिवाला मनुष्य जो २ वचन कहे उसको विद्वान् पुरुष सहन ही करलेय ॥ ४–७ ॥ साधा-रण मनुष्य प्रशंसा करे चाहे निन्दा करे उससे कुछ भी लाभ या हानि नहीं होसकती जैसे बुद्धिहीन कौआ वनमें निरर्थक कैं कैं किया करता है ऐसे ही मूर्ख मनुष्य भी निरर्थक निन्दा किया करता है ॥ ८ ॥ पापी अर्थात् दूसरोंको हानि पहुँचाना चाहने वाला मनुष्य दूसरोंको शब्दोंसे दोष देता है यह ठीक है, परन्तु उसका परिणाम उसकी केवल वाणीमें ही रहता है उससे उसका बुरा नहीं होता (अर्थात्–'तेरा पुत्र मरजाय' ऐसा कहनेसे किसीका पुत्र नहीं मरजाता) ॥ ९ ॥ ऐसा मनुष्य अपने ऐसे आ-चरणसे अपने वर्णसङ्करपनेको दिखाता है, जैसे मोर अपनी गुदा को उघाड़कर नाचता है और समझता है, कि–मैं बहुत अच्छा नाचरहा हूँ परन्तु लोग मेरी गुदाको देखते हैं यह समझकर लज्जित नहीं होता (ऐसे ही दुष्ट मनुष्य सभामें सज्जन पुरुष का दुर्वचन कहकर तिरस्कार करता है, उस समय समझता है, कि–मैं बड़ा बहादुर हूँ, मैंने उसका भरी सभामें अपमान करदिया परन्तु लोगोंने मेरी वर्णसङ्करता समझली, इस बातको नहीं समझता) ॥ १० ॥ जो पुरुष चाहे जो कुछ बोलने बकनेवाला है और चाहे जो कुछ करनेको तयार होजाता है उस नीच मनुष्य

चक्षुभिः संश्लिष्टकर्मणा ॥ ११ ॥ प्रत्यक्षं गुणवादी यः परोक्षे चापि निन्दकः । स मानवः श्ववल्लोके नष्टलोकपरावरः ॥ १२ ॥ तादृग्जनशतस्यापि यद्ददाति जुहोति च । परोक्षेणापवादीयस्तं नाशयति तत्क्षणात् ॥ १३ ॥ तस्मात् प्राज्ञो नरः सद्यस्तादृशं पापचेतसम् । वर्जयेत्साधुभिर्वर्ज्यं सारमेयामिषं यथा ॥ १४ ॥ परिवादं ब्रुवाणो हि दुरात्मा वै महाजने । प्रकाशयति दोषांस्तु सर्पः फणमिवोच्छ्रितं ॥ १५ ॥ तं स्वकर्माणि कुर्वाणं प्रतिकर्तुं य इच्छति । भस्मकूट इवाबुद्धिः खरो रजसि मज्जति ॥ १६ ॥ मनुष्यशालावृकमप्रशान्तं जनापवादे सततं निविष्टम् । मातङ्गमुन्मत्तमिवोन्नदन्तं त्यजेत तं श्वानमिवातिरौद्रम् ॥ १७ ॥ अधीरजुष्टे

के साथ पवित्र पुरुष बातचीत न करे ॥११॥ जो मनुष्य प्रत्यक्ष में गुण गाता है और पीछे निन्दा करता है उस मनुष्यको कुत्तेकी समान जानो, ऐसे मनुष्यका परलोक, ज्ञान और धर्म नष्ट हो जाता है ॥ १२ ॥ पीछे निन्दा करनेवाला मनुष्य यदि सैकड़ों मनुष्योंको दान देय या होम करे तो भी वह उसका निन्दा करना दान, यज्ञ आदिको तत्काल नष्ट करदेता है ॥१३॥ जैसे सत्पुरुष कुत्तेके मांसको त्यागदेते हैं तैसे ही बुद्धिमान् मनुष्य परोक्षमें निन्दा करनेवाले पापी चित्तवाले मनुष्यका तुरन्त ही त्याग करदेय १४ जैसे साँप प्रकटरूपसे अपने फनको ऊँचा करता है ऐसे ही निन्दा करनेवाला दुष्टात्मा भी मनुष्योंके समूहमें दूसरोंके दोषोंको उघाड़ कर अपने नीचस्वभावको प्रकट करता है ॥ १५ ॥ ऐसे बुरे कर्म करनेवाले दुरात्मासे जो मनुष्य वैरका बदला लेना चाहता है वह ऐसे दुःखमें डूबजाता है, जैसे राखके ढेर पर लोटनेवाला गधा राखमें डूबजाता है१६ नित्य निंदा करनेमें लगे रहनेवाले पापी मनुष्यका सत्पुरुषको ऐसे त्याग करदेना चाहिये, जैसे शान्तिरहित उन्मत्त हाथीकी समान चिंघाड़ने वाले भयानक भेड़ियेसे

पथि वर्त्तमानं दमादपेतं विनियाच्च पापम् । अरिव्रतं नित्यमभूति-
कामं धिगस्तु तं पापमतिं मनुष्यम् ॥ १८ ॥ प्रत्युच्यमानस्त्वभि-
भूय एभिर्निशाम्य माभूस्त्वमथार्त्तरूपः । उच्चस्य नीचेन हि संप्र-
योगं विगर्हयन्ति स्थिरबुद्धयो ये ॥ १९ ॥ क्रुद्धो दशार्धेन हि
ताडयेद्वा स पांसुभिर्वा विकिरेत्तुषैर्वा । विवृत्य दन्तांश्च विभीष-
येद्वा सिद्धं हि मूढे कुपिते नृशंसे ॥ २० ॥ विगर्हणां परमदुरा-
त्मना कृतां सहेत यः संसदि दुर्जनान्नरः । पठेदिदञ्चापि निद-
र्शनं सदा न वाङ्मयं स लभति किंचिदप्रियम् ॥ २१ ॥

अथवा महाभयङ्कर कुत्तेसे बचने हैं ॥ १७ ॥ अधीर मनुष्योंके सेवन कियेहुए मार्गमें चलनेवाले, जितेन्द्रियता और विनयसे हीन पापी, शत्रुकी समान बर्त्ताव करनेवाले और नित्य दूसरोंका बुरा चीतनेवाले पापबुद्धि मनुष्यको धिक्कार है । ॥१८॥ दुष्ट मनुष्य जब किसीके ऊपर आक्षेप करे और सज्जन उसका उत्तर देनेको तयार हो उस समय सत्पुरुष उस मनुष्यसे समझाकर कहैं, कि- तू दुःखी न हो और इस दुष्ट पुरुषको कुछ उत्तर न दे (ऐसा कहकर शान्त करदेय) उत्तम जातिके मनुष्यका नीच जातिके मनुष्यके साथ जो सम्बन्ध होता है, उसकी दृढबुद्धिके पुरुष निन्दा करते हैं ॥ १९ ॥ क्रूर स्वभावका मूर्ख मनुष्य जब कुपित होता है तब पाँच अंगुलियोंसे थप्पड़ मारता है या धूलि उड़ाता है अथवा भूसी उड़ाता है, अथवा दाँत निकालकर डराता है, क्रूरस्वभावका मूर्ख पुरुष जब कुपित होता है तब ये चिन्ह स्वाभाविक ही होते हैं ॥ २० ॥ जो मनुष्य इस नीति-शास्त्रका सदा पाठ करता है वह परम दुरात्मा पुरुषके सभामें कियेहुए अपमानको सहलेता है और उसको दुर्जनोंकी गालियोंसे जरा भी बुरा नहीं मालूम होता है ॥ २१ ॥ एक सौ चौदहवाँ अध्याय समाप्त ॥ ११४ ॥ छ ॥ छ ॥

युधिष्ठिर उवाच । पितामह महाप्राज्ञ संशयो मे महानयम् । संछेत्तव्यस्त्वया राजन् भवान् कुलकरो हि नः ॥ १ ॥ पुरुषाणामयं तात दुर्वृत्तानां दुरात्मनाम् । कथितो वाक्यसञ्चारस्ततो विज्ञापयामि ते ॥ २ ॥ यद्धितं राज्यतन्त्रस्य कुलस्य च सुखोदयम् । आयत्यां च तदात्वे च क्षेमवृद्धिकरञ्च तत् ॥ ३ ॥ पुत्रपौत्राभिरामञ्च राष्ट्रवृद्धिकरञ्च यत् । अन्नपाने शरीरे च हितं यत्तद् ब्रवीहि मे ॥ ४ ॥ अभिषिक्तो हि यो राजा राष्ट्रस्थो मित्रसंवृतः । असुहृत् ससुहृद्वा स कथं रञ्जयेत् प्रजाः ॥ ५ ॥ यो ह्यसत्प्रग्रहरतिः स्नेहरागबलात्कृतः । इन्द्रियाणामनीशत्वादसज्जनबुभूषकः ॥ ६ ॥ तस्य भृत्या विगुणतां यान्ति सर्वे कुलोद्गताः ।

युधिष्ठिरने बूझा, कि हे महाबुद्धिमान् पितामह ! मुझे एक बड़ा सन्देह होगया है उस सन्देहको हे राजन् ! आप दूर कर दीजिये, क्योंकि-आप हमारे कुलको चलानेवाले हैं ॥ १ ॥ हे तात ! आपने मुझसे दुराचारी और दुष्टात्मा पुरुषोंकी निन्दारूप वाणीके विषयमें कहा, अब मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ, कि-॥ २ ॥ राजकार्यका जो हितकारी हो, जो मेरे कुलको सुख देनेवाला हो, आगेको तथा वर्त्तमानकालमें जो कल्याण और वृद्धि करनेवाला हो, जो पुत्र, पौत्रोंको सुख देनेवाला हो, जो देशकी वृद्धि करनेवाला हो और जो अन्न, पान तथा शरीरको सुखकारी हो वह उपाय मुझे बताइये ॥ ३-४ ॥ अभिषेक होने के बाद राजा देशमें रहकर मित्र और स्नेहियोंसे घिराहुआ प्रजाका रञ्जन किसप्रकार करे ? ॥ ५ ॥ जिस राजाका विषयों के ऊपर प्रेम होता है, स्नेह और राग पर अधिक लालसा होती है, इन्द्रियें अपने वशमें न होनेके कारण जो दुष्ट पुरुषोंके साथ रहनेकी इच्छा रखता है ॥ ६ ॥ और इसकारण उसके बापदादे के समयसे चले आतेहुए सब सेवक बिगड़जाते हैं और राजाको

न च भृत्यफलैरर्थैः स राजा सम्प्रयुज्यते ७ एतन्मे संशयस्यास्य राज धर्मान् सुदुर्विदान्। बृहस्पतिसमो बुद्ध्या भवान् शंसितुमर्हति ८ शंसिता पुरुषव्याघ्र त्वन्नः कुलहिते रतः। क्षत्ता चैको महाप्राज्ञो यो नः शंसति सर्वदा ॥९॥ त्वत्तः कुलहितं वाक्यं श्रुत्वा राज्यहितोदयम्। अमृतस्याव्ययस्येव तृप्तः स्वप्स्याम्यहं सुखम् १० कीदृशाः सन्निकर्षस्था भृत्याः सर्वगुणान्विताः। कीदृशैः किं कुलीनैर्वा सह यात्रा विधीयते ॥११॥ न ह्येको भृत्यरहितो राजा भवति रक्षिता। राज्यञ्चेदं जनः सर्वस्तत् कुलीनोभिकांक्षति १२ भीष्म उवाच। न हि शक्यस्तु राज्यं हि शक्यमेकेन भारत। असह-

अपने सेवकोंके द्वारा जो अच्छे काम करने चाहियें उनको नहीं करसकता है, इसका क्या कारण है? इसमें मुझे संदेह है, तुम बुद्धिमें बृहस्पतिकी समान हो, इसलिये बड़े ही दुःखोंसे जाननेमें आनेवाले राजधर्म आपको मुझसे कहने चाहियें॥७-८॥ हे पुरुषोंमें व्याघ्रसमान पितामह! हमारे कुलके हितमें लगे रहने वाले एक आप ही मुझे राजधर्मका उपदेश देते हैं और दूसरे एक महाबुद्धिमान् विदुर जी हमें सदा राजधर्मोंका उपदेश दिया करते हैं॥ ९ ॥ मैं तुमसे कुलके हितकी बात सुनकर अविनाशी अमृतको पीलेने पर तृप्त होनेकी समान तृप्त होकर सुखसे सोऊँगा १० राजाको अपने पास किस जातिके कैसे गुणोंवाले सेवक रखने चाहियें, कैसे और कैसे गुणोंवाले सेवकोंके साथ रहकर राजकार्य करना उचित समझाजाता है? ॥ ११ ॥ राजा सेवकके बिना अकेला अपनी प्रजाकी रक्षा करना चाहे तो नहीं करसकता उत्तम कुलमें जन्मेहुए होने पर भी सब मनुष्य राज्यको पाना चाहते हैं, इसलिये राजाको दूसरे सहायकोंकी आवश्यकता होती ही है॥१२॥ भीष्मजीने कहा, कि-हे भरतवंशी! राजा सहायकोंके बिना अकेला राज्यको नहीं चलासकता तथा सहायताके

हायवता तात नैवार्थाः केचिदप्युत १३ लब्धुं लब्ध्वा ह्यपि सदा रक्षितुं भरतर्षभ । यस्य भृत्यजनः सर्वो ज्ञानविज्ञानकोविदः१४ हितैषी कुलजः स्निग्धः स राज्यफलमश्नुते ॥ १५ ॥ मन्त्रिणो यस्य कुलजा असंहार्याः सहोषिताः । नृपतेर्मतिदाः सन्तः सम्बन्धज्ञानकोविदाः ॥ १६ ॥ अनागतविधातारः कालज्ञानविशारदाः । अतिक्रान्तमशोचन्तः स राज्यफलमश्नुते ॥ १७ ॥ समदुःखसुखा यस्य सहायाः प्रियकारिणः । अर्थचिन्तापराः सत्याः स राज्यफलमश्नुते ॥ १८ ॥ यस्य नार्तो जनपदः सन्निकर्षगतः सदा । अक्षुद्रः सत्पथालम्बी स राजा राज्यभाग् भवेत्१९

विना कितने ही अर्थोंको प्राप्त नहीं करसकता ॥ १३ ॥ और कदाचित् पा भी जाय तो उन अर्थोंकी सदा रक्षा नहीं करसकता. अर्थात् राजाको सेवकोंकी आवश्यकता है ही, वे सेवक कैसे होने चाहियें, इस बातको सुन, जिस राजाके सब सेवक लोककी और परलोककी बातोंमें चतुर ॥१४॥ हित चाहनेवाले, उत्तम कुलमें जन्मेहुए और प्रेम करनेवाले होते हैं उस राजाको राज्यका सुख मिलता है ॥ १५ ॥ जिस राजाके मन्त्री उत्तमकुलके रिश्वत आदिसे वशमें न होनेवाले, राजाके साथ ही रहनेवाले, राजाको अच्छी सलाह देनेवाले, सज्जनके सम्बन्धको समझनेवाले १६ आपत्ति आनेसे पहले ही उसका उपाय करनेवाले, कालके ज्ञानको जाननेवाले और गई गुजरी बातका शोक न करनेवाले होते हैं उस राजाको राज्यका सुख मिलता है ॥ १७ ॥ और जिस राजाके सहायक मन्त्री राजाके दुःखमें दुःखी और सुखमें सुखी होते हैं, उसका प्रिय काम करते हैं, राजाको धन किसप्रकार मिले इसके लिये विचार करनेवाले और सत्यवादी होते हैं उस राजाको राज्यका सुख मिलता है ॥ १८ ॥ और जिस राजाके देशकी प्रजा दुःखी नहीं होती और जिसका देश नित्य

कोशश्च प्रचलं यस्य कोशवृद्धिकरैर्नरैः । आप्तैस्तुष्टैश्च सततं चीयते स नृपोत्तमः ॥ २० ॥ कोष्ठागारमसंहार्य्यैराप्तैः सञ्चयतत्परैः । पात्रभूतैरलुब्धैश्च पाल्यमानं गुणी भवेत् ॥ २१ ॥ व्यवहारश्च नगरे यस्य कर्म्म फलोदयः । दृश्यते शंखलिखितः स्वधर्मफलभाङ्नृपः ॥२२॥ संगृहीतमनुष्यश्च यो राजा राजधर्मवित् । षड्वर्गं प्रतिगृह्णाति स धर्मफलमश्नुते ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११५ ॥

भीष्म उवाच । अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । निन्द-

समीपमें ही बसा हुआ होता है तथा प्रजा उदार मनकी और सन्मार्गमें चलनेवाली होती है वह राजा राज्यके सुखको भोगता है १६ विश्वासपात्र, सन्तोषी और भण्डारको बढानेवाले खजानची नित्य जिस राजाके खजानेको बढाते हैं उस राजाको उत्तम राजा समझो २० रिश्वत आदिके वशमें न होनेवाले, सत्य बोलने वाले (धन और अन्नका) संग्रह करनेमें तत्पर, सुपात्र और निर्लोभ चित्तके तथा मनके विश्वासू सेवक जिस राजाके खजानेकी और कुठारकी रक्षा करते हैं वह राजा बडा गुणवान् गिना जाता है २१ जिस राजाके नगरमें शङ्ख और लिखित मुनिका बनाया वादी प्रतिवादियोंका न्याय और अपराधके अनुसार दण्डकी व्यवस्था होती है तथा उनके दण्ड आदिका प्रचार होता है उस राजाको अपने धर्मका फल मिलता है ॥२२॥ राजाके धर्मको जाननेवाला जो राजा अपने राज्यमें अच्छे २ मनुष्य इकट्ठे करता है तथा (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव इन) छः राजकीय उपायोंसे काम लेता है उस राजाको धर्मका फल मिलता है ॥ २३ ॥ एकसौ पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥ ११५ ॥ छ ॥

भीष्मने कहा, कि-हे युधिष्ठिर ! उत्तम, मध्यम और अधम

र्शनं परं लोके सज्जनाचरिते सदा ॥ १ ॥ अस्यैवार्थस्य सदृशं यच्छ्रुतं मे तपोवने । जामदग्न्यस्य रामस्य यदुक्तमृषिसत्तमैः २ वने महति कस्मिंश्चिदमनुष्यनिषेविते । ऋषिर्मूलफलाहारो नियतो नियतेन्द्रियः ॥ ३ ॥ दीक्षादमपरः शान्तः स्वाध्यायपरमः शुचिः । उपवासविशुद्धात्मा सततं सत्त्वमास्थितः ॥ ४ ॥ तस्य संदृश्य सद्भावमुपविष्टस्य धीमतः । सर्वे सत्त्वाः समीपस्था भवन्ति वनचारिणः ॥ ५ ॥ सिंहव्याघ्रगणाः क्रूरा मत्ताश्चैव महागजाः । द्वीपिनः खड्गभल्लूका ये चान्ये भीमदर्शनाः ॥ ६ ॥ ते सुखप्रश्नदाः सर्वे भवन्ति क्षतजाशनाः । तस्यर्षेः शिष्यवच्चैव न्यग्भूता प्रिय-

---

स्वभावके सेवकोंको क्रमसे उत्तम, मध्यम और अधम स्थानों पर नियत करे, ऊँचे पद पर नीच मनुष्यको कभी नियत न करे, इस विषयमें अच्छे पुरुषोंमें दृष्टान्तरूपसे गिना जानेवाला एक पुराना इतिहास इसप्रकार जगत्में प्रसिद्ध है ॥१॥ यह इतिहास जबमैं जमदग्निके पुत्र परशुरामके तपोवनमें रहता था तब महर्षियों से सुना था ॥ २ ॥ किसी मनुष्योंसे रहित बड़ेभारी वनमें एक ऋषि रहते थे, वे मूल फलोंका भोजन करते और नियमसे रहते थे, वह जितेन्द्रिय थे और यज्ञकी दीक्षामें तथा दममें तत्पर थे, वह ऋषि स्वभावके शान्त, स्वाध्यायमें प्रवीण, बाहर और भीतर से पवित्र तथा उपवास करनेसे शुद्ध मनवाले थे और नित्य सत्त्वगुणका आश्रय लेकर रहते थे ॥ ३-४ ॥ वनमें रहनेवाले सब प्राणी उन महाबुद्धिमान्‌के सद्भावको देखकर उनके पास आकर बैठते थे ॥ ५ ॥ मांसाहारी और क्रूरस्वभावके सिंह, बाघ, बड़ेर मदमत्त हाथी, चीते, गेंडे, रीछ और दूसरे भयानक दीखनेवाले प्राणी नित्य उन ऋषिके आश्रममें इकट्ठे होकर एक दूसरेसे सुखदायक प्रश्न करते थे, वे अपनी २ चतुरता दिखाते हुए उन ऋषिके शिष्य तथा दासकी समान होकर उनके मनके

कारिणः ॥ ७ ॥ दत्वा च ते सुखप्रश्नं सर्वे यान्ति यथागतम् ।
ग्राम्यस्त्वेकः पशुस्तत्र नाजहात् स महामुनिम् ॥ ८ ॥ भक्तोऽनु-
रक्तः सततमुपवासकृशोऽबलः । फलमूलोदकाहारः शान्तः शिष्टा-
कृतिर्यथा ॥ ९ ॥ तस्यर्षेरुपविष्टस्य पादमूले महामते ॥ मनुष्य-
वद्गतो भावं स्नेहबद्धोऽभवद्भृशम् ॥ १० ॥ ततोऽभ्ययान्महावीर्यो
द्वीपी क्षतजभोजनः । स्वार्थमत्यन्तसन्तुष्टः क्रूरः काल इवान्तकः ११
लेलिह्यमानस्तृषितः पुच्छास्फोटनतत्परः । व्यादितास्यः क्षुधाभग्नः
प्रार्थयानस्तदामिषम् ॥ १२ ॥ दृष्ट्वा तं क्रूरमायान्तं जीवितार्थी

अनुकूल वर्त्ताव करते थे ॥ ६-७ ॥ वनमेंसे जो हिंसक प्राणी तथा दूसरे प्राणी आश्रममें आते थे वे सुखकारी प्रश्न पूछकर तथा उत्तर देकर जैसे आते थे वैसे ही लौट जाते थे, परन्तु एक कुत्ता उन मुनिको छोडकर नहीं जाता था, वह उनके पास ही बैठा रहता था ॥ ८ ॥ वह कुत्ता महामुनिका भक्त था और ऋषिके ऊपर अनुराग रखता था, वह नित्य उपवास करता अथवा फल, मूल और जलका आहार करता था, इस कारण वह शरीरसे दुर्बल, बलहीन और शान्त था, उसका आकार सज्जनों केसाथा ॥९॥ हे महामति वाले युधिष्ठिर ! वह कुत्ता उन ऋषिके चरणोंके पास बैठा रहताथा और मनुष्यकी समान स्नेहमें बँधकर उन ऋषिकी बडी भक्ति करता था ॥ १० ॥ इसप्रकार कितने ही दिन (उस कुत्तेको वनमें ऋषिके आश्रममें रहतेहुए) बीत गए, एक दिन रुधिरको पीनेवाला, पराक्रमी और यमकी समान क्रूर स्वभावका एक चीता फिरता २ तहाँ आपहुँचा, वह अपने शिकारको देखकर बडा ही सन्तुष्ट हुआ ॥ ११ ॥ वह भूखा और प्यासा था, इसकारण जीभसे दोनों गलफुओंको चाटने लगा, पूछको जमीन पर हिलानेलगा और मुख फैलाकर उस कुत्तेके मांसकी इच्छा करनेलगा ॥ १२ ॥ हे राजन् ! प्राण

नराधिप । प्रोवाच श्वा मुनिं तत्र तच्छृणुष्व विशाम्पते ॥ १३ ॥ श्वशत्रुर्भगवन्नेष द्वीपी मां हन्तुमिच्छति । त्वत्प्रसादाद्भयं न स्यादस्मान्मम महामुने ॥ १४ ॥ तथा कुरु महाबाहो सर्वज्ञस्त्वं न संशयः । स मुनिस्तस्य विज्ञाय भावज्ञो भयकारणम् । रुतज्ञः सर्वसत्त्वानां तमैश्वर्यसमन्वितः ॥ १५ ॥ मुनिरुवाच । न भयं द्वीपिनः कार्यं मृत्युतस्ते कथञ्चन । एष श्वरूपरहितो द्वीपी भवसि पुत्रक ॥ १६ ॥ ततः श्वा द्वीपितां नीतो जाम्बूनदनिभाकृतिः । चित्राङ्गो विस्फुरद्दंष्ट्रो वने वसति निर्भयः ॥१७॥ तं दृष्ट्वा संमुखे द्वीपी आत्मनः सदृशं पशुम् । अविरुद्धस्ततस्तस्य क्षणेन समपद्यत ॥ १८ ॥ ततोऽभ्ययान्महारौद्रो व्यादितास्यः क्षुधान्वितः ।

खानेकी इच्छावाले कुत्तेने उस क्रूर चीतेको आताहुआ देखकर मुनिसे जो कहा, उसको सुन ॥१३॥ वह बोला, कि-हे भगवन्! यह चीता जो कुत्तोंका शत्रु है; मुझे मार डालना चाहता है, इसलिये हे महामुनि! आप ऐसा करदीजिये, कि आपकी कृपासे मुझे इस चीतेका भय न रहे ॥१४॥ हे महाबाहु मुनि! निःसन्देह आप सर्वज्ञ हैं, सब प्राणियोंके मनके भावको तथा शब्दोंको जाननेवाले और दिव्य ऐश्वर्यवाले वह मुनि कुत्तेके डरनेके कारणको समझ गए ॥१५॥ मुनिने कहा, कि-हे बेटा! तू चीतेसे मृत्युका जरा भी भय न रख, तू अभी कुत्तेके रूपसे चीता बना जाता है ॥ १६ ॥ इतना कहकर मुनिने उस कुत्तेको सुनहरी रङ्गके विचित्र शरीरवाला और बडी २ दाढोंवाला चीता बना दिया, तब तो चीता बनाहुआ कुत्ता निर्भय होकर उस वनमें रहनेलगा ॥ १७ ॥ उस आये हुए चीतेने अपने सामने अपने समान ही चीतेको देखा कि-उसी क्षण वह उसके अनुकूल होगया और उसके साथका वैरभाव छोडदिया ॥१८॥ इसप्रकार कितना ही काल बीतगया तब एक समय एक महाभयानक बाघ

द्वीपिनं लेलिहद्वक्त्रो व्याघ्रो रुधिरलालसः ॥ १९ ॥ व्याघ्रं दृष्ट्वा क्षुधाभुग्नं दंष्ट्रिणं वनगोचरम् । द्वीपी जीवितरक्षार्थमृषिं शरणमीयिवान् ॥ २० ॥ सम्वासजं परं स्नेहमृषिणा कुर्वता तदा । स द्वीपी व्याघ्रतां नीतो रिपूणां बलवत्तरः ॥ २१ ॥ ततो दृष्ट्वा स शार्दूलो नाहनत्तं विशाम्पते । स तु श्वा व्याघ्रतां प्राप्य बलवान् पिशिताशनः ॥ २२ ॥ न मूलफलभोगेषु स्पृहामप्यकरोत्तदा । यथा मृगपतिर्नित्यं प्रकांक्षति वनौकसः । तथैव स महाराज व्याघ्रः समभवत्तदा ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि श्वर्षिसम्वादे षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

भीष्म उवाच । व्याघ्रश्चोटजमूलस्थस्तृप्तः सुप्तो हतैर्मृगैः ।

भूखसे मुख फाडकर जीभसे मुखको चाटता हुआ रुधिर पानकी इच्छासे उस चीतेके ऊपर चढ आया ॥ १९ ॥ भूखे और बडे२ दाढोंवाले जङ्गली बाघको चढकर आयाहुआ देखकर अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये वह चीता मुनिकी शरणमें गया ॥ २० ॥ वह चीता मुनिके पास रहता था, इसलिये उन ऋषिका उसके ऊपर बडा प्रेम था, इसकारण उन्होंने उसी समय उस चीतेको अपने शत्रुओंसे महाबलवान् बाघ बनादिया ॥२१॥ हे राजन् ! बाघने उसको अपने समान ही बलवान् बाघ देखकर मारा नहीं और तहाँसे चलागया, वह कुत्ता भी बाघ होजानेके बाद जैसे वनमें रहनेवाला एक मृगेन्द्र मांसाहारकी इच्छा करता है तैसे ही फल मूलका आहार छोडकर नित्य मांसाहार करनेलगा और बडा बलवान् होगया ॥ २२-२३ ॥ एक सौ सोलहवाँ अध्याय समाप्त ॥ ११६ ॥ ॥ ॥

भीष्मजीने कहा, कि-हे युधिष्ठिर ! अब वह बाघ नित्य मारे हुए मृगोंके आहार पर जीवन बितानेलगा और रातदिन मुनिकी

नागश्चागाच्चमुद्देशं मत्तो मेघ इवोत्थितः ॥ १ ॥ प्रभिन्नकरटः प्रांशुः पद्मी विततकुम्भकः । सुविषाणो महाकायो मेघगम्भीरनिःस्वनः ॥ २ ॥ तं दृष्ट्वा कुञ्जरं मत्तमायान्तं बलगर्वितम् । व्याघ्रो हस्तिभयात्त्रस्तस्तमृषिं शरणं ययौ ॥ ३ ॥ ततोनयत् कुञ्जरत्वं व्याघ्रं तमृषिसत्तमः । महामेघनिभं दृष्ट्वा स भीतो ह्यभवद्गजः ४ ततः कमलषण्डानि शल्लकीगहनानि च । व्यचरत् स मुदायुक्तः पद्मरेणुविभूषितः ॥ ५ ॥ कदाचिद्रमणाणस्य हस्तिनः सम्मुखं तदा । ऋषेरस्योटजस्थस्य कालोगच्छंनिशानिशम् ॥ ६ ॥ अथाजगाम तं देशं केसरी केसरारुणः । गिरि-

कुटीके द्वार पर पडा रहनेलगा, एक दिन जैसे आकाशमें मेघ चढआता है तैसे ही उस बाघको देखकर एक मतवाला हाथी उसके ऊपर चढआया ॥१॥ उस हाथीके दोनों गण्डस्थलोंमेंसे मद टपकरहा था, उसका शरीर ऊँचा था और उसमें पद्मके चिन्ह थे,उसके कुम्भस्थल विशाल,दाँत सुन्दर शरीर और बहुत मोटा था और मेघके गरजनेकी समान चिंघाड रहा था ॥२॥ मदमत्त और बलके घमण्डमें भरेहुए उस हाथीको चढकर आया देखकर उस बाघरूप कुत्तेको डर लगा और वह फिर भयसे घबडाकर ऋषिकी शरणमें गया ॥३॥ तब महर्षिने उस बाघको हाथी बनादिया, वह जङ्गली हाथी इस बाघको बड़ेभारी मेघकी समान एक हाथीके रूपमें देखकर डरा (तहाँसे भाग गया) ४ विश्वासपात्र हाथी बनाहुआ वह कुत्ता हर्षमें भरा शल्लकी नामक घाससे गहन कमलोंके वनमें घूमनेलगा और कमलोंकी परागसे प्रसन्न रहनेलगा ॥ ५ ॥ वह रात दिन उन ऋषिकी झोपडीके पास फिरा करता और ऋषिके आश्रममें रहता था. इसप्रकार बहुतसा समय बीतगया ॥ ६ ॥ एक दिन वह हाथी फिर रहा था, इतनेमें ही पहाडकी गुफामें रहनेवाला, हाथियोंकी धाँगका

कन्दरजो भीमः सिंहो नागकुलान्तकः ॥ ७ ॥ तं दृष्ट्वा सिंहमायान्तं नागः सिंहभयार्दितः । ऋषिं शरणमापेदे वेपमानो भयातुरः॥८॥ ततः सिंहतां नीतो नागेन्द्रो मुनिना तदा । वन्यं नागणयत् सिंहं तुल्यजातिसमन्वयात् । दृष्ट्वा च सोऽभवत्सिंहो वन्यो भयसमन्वितः । स चाश्रमेऽवसत् सिंहस्तस्मिन्नेव महावने ॥ १० ॥ तद्भयात् पशवो नान्ये तपोवनसमीपतः । व्यदृश्यन्त तदा त्रस्ता जीविताकांक्षिणस्तदा ॥ ११ ॥ कदाचित् कालयोगेन सर्वप्राणिविहिंसकः । बलवान् क्षतजाहारो नानासत्त्वभयङ्करः ॥ १२ ॥ अष्टपादूर्ध्वनयनः शरभो वनगोचरः । तं सिंहं हन्तुमागच्छन्मुनेस्तस्य निवेशनम् ॥ १३ ॥ तं मुनिः शरभं वक्ष्ये बलोत्कटपरि-

नाशक, केशोंसे लाल २ दीखता हुआ एक भयानक केसरी सिंह उस हाथीके स्थानमें आपहुँचा ॥ ६ ॥ उस सिंहको आता देखकर उसके भयसे घबड़ाया हुआ वह हाथीके रूपवाला कुत्ता भयसे काँपता २ ऋषिकी शरणमें गया ॥ ८ ॥ मुनिने उसी समय हाथीको सिंह बनादिया, तब समान जातिका होनेके कारण जङ्गलके सिंहसे ऋषिके सिंहको भय नहीं लगा ॥ ९ ॥ वनका सिंह उस सिंहके रूपको देखकर भयभीत हो (चला) गया, फिर वह सिंह बनाहुआ कुत्ता उस ही महावनमें ऋषिके आश्रममें रहनेलगा ॥ १० ॥ उस सिंहको देखते ही दूसरे सब प्राणी भयभीत हो अपने प्राण बचानेकी इच्छासे तपोवनकी सीमाको छोड़कर दूर चलेगए ॥ ११ ॥ इसप्रकार सिंहरूपधारी उस कुत्तेका जीवन बीतनेलगा, एक दिन कालयोगसे एक भयानक शरभ नामका जङ्गली प्राणी उस सिंहको मारनेके लिये मुनिके आश्रममें आया, वह सब प्राणियोंकी हिंसा करनेलगा, बलवान्, रुधिर पीनेवाला और प्रत्येक प्राणीको भयभीत करनेवाला था १२-१३ हे शत्रुदमन राजन् ! उस शरभको देखकर मुनिने अपने

न्दमप् । ततः स शरभो वन्यो मुनेः शरभमग्रतः ॥ १४ ॥ दृष्ट्वा बलिनमत्युग्रं द्रुतं समाद्रवद्वनात् । स एव शरभस्थाने संन्यस्तो मुनिना तदा ॥ १५ ॥ मुनेः पार्श्वगतो नित्यं शरभः सुखमाप्तवान् । ततः शरभसन्त्रस्ताः सर्वे मृगगणास्तदा ॥ १६ ॥ दिशः सम्प्राद्रवन्राजन् भयाज्जीवितकांक्षिणः । शरभोऽप्यतिसंहृष्टो नित्यं प्राणिवधे रतः ॥१७॥ फलमूलाशनं कर्तुं नैच्छत्स पिशिताशनः । ततो रुधिरतर्षेण बलिना शरभोन्वितः॥१८॥इयेष तं मुनिं हंतुमकृतज्ञः श्वयोनिजः । ततस्तेन तपःशक्त्या विदितो ज्ञानचक्षुषा१९ विज्ञाय स महाप्राज्ञो मुनिः श्वानं तमुक्तवान् । श्वा त्वं द्वीपित्वमापन्नो द्वीपी व्याघ्रत्वमागतः२०व्याघ्रान्नागो मदपटुर्नागः सिंहत्वमा-

सिंहको उत्कट बलवाला शरभ बनादिया, अत्यन्त उग्र और बलवान् मुनिके शरभको अपने सामने खड़ा देखकर वह जङ्गली शरभ एकदम उस आश्रमके सामनेसे भागगया, इसप्रकार मुनिने उस कुत्तेको शरभके रूपमें पहुँचादिया, अब वह कुत्ता शरभ बन कर नित्य मुनिके पास सुखसे रहता था, वह (अतुल बलधारी शरभ बनजानेसे) अत्यन्त प्रसन्न रहता था तथा प्राणियोंकी हिंसा करता था, हे राजन् ! इसकारण तपोवनके सब पशु उस शरभके डरसे घबड़ाकर प्राण बचानेकी इच्छासे चारों दिशाओंमेंको भाग गए ॥ १४-१७ ॥ वह शरभरूपधारी कुत्ता मांसाहारी होगया था, इसकारण कन्द फल नहीं खाना चाहता था, दिन पर दिन उसको रुधिर पीनेकी प्रबल इच्छा होनेलगी, असलमें तो वह जातिका कुत्ता था, तिस पर भी वह कुत्ता कृतघ्नी था, इसकारण उसने ऋषिको ही मारना चाहा, ऋषिने तपकी शक्तिसे मिलीहुई दिव्य दृष्टिसे उस कुत्तेके दुष्ट विचारको जानलिया, तब महाबुद्धिमान् मुनिने उस कुत्तेसे कहा, कि-अरे ओ कुत्ते ! तू कुत्तेसे चीता बना, चीतेसे बाघ बना, बाघसे मदमत्त हाथी हुआ, हाथी

गतः । सिंहस्त्वं बलमापन्नो भूयः शरभतां गतः २१ मया स्नेहपरीतेन विसृष्टो न कुलान्वयः।यस्मादेवमपापं मां पाप हिंसितुमिच्छसि२२ तस्मात् स्वयोनिमापन्नः श्वैव त्वं हि भविष्यसि । ततो मुनिजनद्वेषा दुष्टात्मा प्राकृतोऽबुधः । ऋषिणा शरभः शप्तस्तद्रूपं पुनराप्तवान् ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि श्वर्षिसंवादे सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥

भीष्म उवाच । स श्वा प्रकृतिमापन्नः परं दैन्यमुपागतः । ऋषिणा हुंकृतः पापस्तपोवनबहिष्कृतः ॥ १ ॥ एवं राज्ञामतिमता विदित्वा सत्यशौचताम् । आर्जवं प्रकृतिं सत्यं श्रुतं वृत्तं कुलं दमम् ॥ २ ॥ अनुक्रोशं बलं वीर्यं प्रभावं प्रश्रयं क्षमाम्

से सिंह हुआ और सिंहसे फिर बलवान् शरभ बनगया १८-२१ मैंने प्रेमके कारण तुझे उत्तरोत्तर उत्तम जातिका बनाया, तथापि तू उत्तम कुलका नहीं था, इसलिये तूने अपनी जातिके स्वभाव को नहीं छोड़ा, इसकारण ही अरे पापी ! तू मुझ निर्दोषको मारना चाहता है ॥ २२ ॥ अरे कृतघ्न ! आज तू फिर कुत्ता होजा, ऋषिने ज्योंही ऐसा शाप दिया, कि-मुनिसे द्वेष करने वाला, वह दुष्टात्मा, तुच्छ और मूर्ख शरभ फिर कुत्ता बन गया ॥ २३ ॥ एकसौ सत्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥ ११७ ॥

भीष्मने कहा, कि-हे राजा युधिष्ठिर ! इसप्रकार वह पापी कुत्ता फिर अपने असल रूपमें आगया और बड़ा ही दीन बन गया, इसके बाद ऋषिने तिरस्कार करके उसको तपोवनमेंसे निकाल दिया ॥ १ ॥ इसलिये बुद्धिमान् राजा, अपने सेवकोंकी सच्ची प्रामाणिकता, सरलता, स्वभाव, सत्य, शास्त्रका अभ्यास, सदाचार, कुल, दम, दया, बल, पराक्रम, प्रभाव, विश्वासपात्रपना और क्षमा गुणको जानकर, जो सेवक जिस स्थानके योग्य

भृत्या ये यत्र योग्याः स्युस्तत्र स्थाप्याः सुरक्षिताः ॥ ३ ॥ नापरीक्ष्य महीपालः सचिवं कर्त्तुमर्हति । अकुलीननराकीर्णो न राजा सुखमेधते ॥ ४ ॥ कुलजः प्राकृतो राज्ञा स्वकुलीनतया सदा । न पापे कुरुते बुद्धिं भिद्यमानोऽप्यनागसि ॥ ५ ॥ अकुलीनस्तु पुरुषः प्राकृतः साधुसंश्रयात् । दुर्लभैश्वर्य्यतां प्राप्तो निन्दितः शत्रुतां व्रजेत् ॥ ६ ॥ कुलीनं शिक्षितं प्राज्ञं ज्ञानविज्ञानपारगम् । सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञं सहिष्णुं देशजं तथा ॥ ७ ॥ कृतज्ञं बलवन्तं च क्षान्तं दान्तं जितेन्द्रियम् । अलुब्धं लब्धसन्तुष्टं स्वामिमित्रबुभूषकम् ॥ ८ ॥ सचिवं देशकालज्ञं सत्यसंग्रहणे रतम् । सततं

हो उसको उस ही स्थान पर नियत करे और उसकी अच्छेप्रकार से रक्षा करे ॥२-३॥ राजा परीक्षा किये विना मन्त्री न बनावे, जिस राजाके पास नीचकुलका मनुष्य रहता है उसको सुख नहीं मिलता ॥४॥ किसी समय राजा अपने कुलीन सेवकका, उसका अपराध न होने पर भी तिरस्कार करदेता है तो भी वह सेवक अपनी कुलीनताके कारण पाप करनेका विचार कभी नहीं करता है ॥ ५ ॥ परन्तु एक नीच कुलका मनुष्य बड़े मनुष्यकी सहायतासे दुर्लभ ऐश्वर्य पाजाता है और बड़ा मनुष्य कभी उसका तिरस्कार करदेता है तो वह उसका शत्रु बनजाता है ॥ ६ ॥ मंत्री ऐसा होना चाहिये, कि-जो कुलीन, बुद्धिमान्, शास्त्र पढ़ा ब्रह्मज्ञान तथा व्यावहारिक ज्ञानमें पारङ्गत, सब शास्त्रोंके तत्त्वको जाननेवाला, सहनशील, अपने देशमें पैदाहुआ, कृतज्ञ, बलवान्, क्षमावान्, भीतरी इन्द्रियोंका निग्रह करनेवाला, जितेन्द्रिय, निर्लोभ, मिलीहुई वस्तु पर सन्तोष करनेवाला तथा अपने राजा और मित्रोंको ऐश्वर्य मिले, ऐसी इच्छा रखनेवाला होना चाहिये ॥ ७-८ ॥ और वह देशकालको जाननेवाला, सब प्राणियोंको प्रसन्न करनेमें तत्पर, मनको सदा वशमें रखनेवाला,

युक्तमनसं हितैपिणमतन्द्रितम् ॥ ६ ॥ युक्ताचारं स्वविषये संधि-
विग्रहकोविदम् । राज्ञस्त्रिवर्गवेत्तारं पौरजानपदप्रियम् ॥ १० ॥
खातकव्यूहतत्त्वज्ञं बलहर्षणकोविदम् । इङ्गिताकारतत्त्वज्ञं यात्रा-
ज्ञानविशारदम् ॥ ११ ॥ हस्तिशिक्षासु तत्त्वज्ञमहंकारविवर्जितम् ।
प्रगल्भं दक्षिणं दान्तम्बलिनं युक्तकारिणम् ॥१२॥ चौक्षं चौक्ष-
जनाकीर्णं सुमुखं सुखदर्शनम् । नायकं नीतिकुशलं गुणचेष्टासम-
न्वितम् ॥ १३ ॥ अस्तब्धं प्रसृतं श्लक्ष्णं मृदुवादिनमेव च । धीरं
शूरं महर्धिञ्च देशकालोपपादकम् ॥ १४ ॥ सचिवं यः प्रकुरुते
न चैनमवमन्यते । तस्य विस्तीर्यते राज्यं ज्योत्स्ना ग्रहपतेरिव १५

हितचिन्तक, तन्द्रारहित, अपने देशके आचारको जानकर उचित आचारसे वर्त्ताव करनेवाला, सन्धि और विग्रहमें कुशल, राजाके आवश्यक होनेवाली तीन वस्तुओंको जाननेवाला नगरके और देशके मनुष्योंका प्रीतिपात्र, शत्रुकी सेनाका संहार करनेवाला, व्यूहरचना आदिके तत्त्वका ज्ञाता, सेनाको उत्साह दिलानेमें और प्रसन्न रखनेमें कुशल, मनुष्योंकी चेष्टा और आकारसे उनके मनके भावको समझनेवाला, वैरीके ऊपर चढ़ाई करनेके काममें चतुर, हाथियोंको शिक्षा देनेमें प्रवीण, अहङ्काररहित, विचारशील, काम करनेमें कुशल, धर्मयुक्त उचित काम करनेवाला, शुद्ध हृदय, धर्मशील मनुष्योंके साथ रहनेवाला, सुन्दर मुखवाला, देखनेमें सुन्दर, मधुर वचन बोलनेवाला, राजनीतिमें चतुर, गुणज्ञ, अच्छे आचरणका, जड़तारहित, सूक्ष्म बातोंको समझनेवाला, कोमल, मृदु बोलनेवाला, धीर, वीर, बड़ी समृद्धिवाला और देश तथा कुलके अनुसार काम करनेवाला होना चाहिये, जो राजा ऐसे गुणवान् मनुष्यको मन्त्रीका पद देता है और उसका अपमान नहीं करता उस राजाका राज्य चन्द्रमाकी चाँदनीकी समान चारों दिशाओंमें फैलजाता है ॥ ९–१५ ॥

एतैरेव गुणैर्युक्तो राजा शास्त्रविशारदः । एष्टव्यो धर्मपरमः प्रजा-
पालनतत्परः १६ धीरो मर्षी शुचिस्तीक्ष्णः काले पुरुषकालवित् ।
शुश्रूषुः श्रुतवान् श्रोता ऊहापोहविशारदः १७ मेधावी धारणायुक्तो
यथान्यायोपपादकः । दान्तः सदा प्रियाभाषी क्षमावांश्च विपर्यये १८
दानाच्छेदे स्वयं कारी श्रद्धालुः सुखदर्शनः । आर्तहस्तप्रदो
नित्यममात्यो हि हिते रतः ॥ १९ ॥ नाहंवादी न निर्द्वन्द्वो न
यत्किञ्चनकारकः । कृते कर्मण्यमात्यानां कर्ता भक्तजनप्रियः २०
संगृहीतजनो स्तब्धः प्रसन्नवदनः सदा । सदाभृत्यजनापेक्षी न
क्रोधी सुमहामनाः ॥ २१ ॥ युक्तदण्डो न निर्दण्डो धर्मकार्यानु-

जो राजा शास्त्रमें कुशल और धर्ममें श्रद्धावान् होता है तथा प्रजा का पालन करनेमें लगा रहता है वह राजा प्रजामें मान पाजाता है ॥१६॥ और धैर्यवान्, क्षमावान्, पवित्र; समय पर तीक्ष्णता धारण करनेवाला, मनुष्योंके उद्योगको जाननेवाला, बड़ोंकी सेवा करनेवाला, काम करनेमें कुशल, जो सलाह देनेके योग्य हों सदा उनकी सलाह लेनेवाला, उतार चढ़ावका विचार करसकनेवाला, बुद्धिमान्, अच्छी स्मरणशक्तिवाला, न्यायके अनुसार काम करने वाला, इन्द्रियोंका दमनकर्त्ता, सदा प्रिय बोलनेवाला, वैरीके ऊपर क्षमा करनेवाला, स्वयं बराबर दान देनेवाला, श्रद्धावान्, सुन्दर दर्शनीय, दुःखी मनुष्योंको शरण देनेवाला और जिसके मंत्री नित्य हितमें लगे रहें, जो स्वयं अहङ्कारी न हो और (रानी के विना) कभी अकेला न रहे, कार्यके समय 'चाहे जैसा हो जाय' ऐसा विचार न रखनेवाला, काम सिद्ध होजाने पर मन्त्रियों को ईनाम देनेवाला ॥ १७-२० ॥ और जो आलस्यको छोड कर चाहना पर चाहना रखनेवाला हो वही राजा प्रीतिका पात्र होता है, अच्छे मनुष्योंको अपने पास रखता है, गर्वरहित, सदा प्रसन्न मुखवाला, सदा सेवकोंकी कदर करनेवाला, क्रोधरहित,

शासनः । चारनेत्रः प्रजावेत्ती धर्मार्थकुशलः सदा ॥२२॥ राजा गुणशताकीर्ण एष्टव्यस्तादृशो भवेत् । योधाश्चैव मनुष्येन्द्र सर्वे गुणगणैर्वृताः ॥ २३ ॥ अन्वेष्टव्याः सुपुरुषाः सहाया राज्य-धारणे । न विमानयितव्यास्ते राज्ञा वृद्धिमभीप्सता ॥ २४ ॥ योधाः समरशौटीराः कृतज्ञाः शस्त्रकोविदाः । धर्मशास्त्रसमा-युक्ताः पदातिजनसंवृताः ॥ २५ ॥ अभया गजपृष्ठस्था रथचर्या-विशारदाः । इष्वस्त्रकुशला यस्य तस्येयं नृपतेर्मही ॥ २६ ॥ सर्वसंग्रहणे युक्तो नृपो भवति यः सदा । उत्थानशीलो मित्राढ्यः स राजा राजसत्तमः ॥ २७ ॥ शक्या चाश्वसहस्रेण वीरारोहेण

प्रसन्न और बड़े मनवाला, दण्डधारण करके उसका नीतिके अनु-कूल प्रयोग करनेवाला, धर्म कर्मका उपदेश करनेवाला, दूतरूप नेत्रधारी, प्रजाके दुःख सुखको देखनेवाला, धर्म और अर्थके विषयमें कुशल, ऐसे सकल गुणोंवाला राजा होना चाहिये, ऐसा ही राजा प्रजाका प्रीतिपात्र होता है, हे राजन् ! राज्यकी रक्षा करनेके लिये गुणवान् योधा और अच्छे सहायकोंको भी राजा अपने पास रक्खे, राज्यकी वृद्धि चाहनेवाला राजा उनका अपमान न करे ॥२२-२४॥ जिस राजाके योधा युद्धमें कुशल, कृतज्ञ शास्त्रमें निपुण, धर्मशास्त्रको जाननेवाले, पैदलोंसे घिरे, निर्भय, हाथीकी पीठपर बैठकर लडनेवाले, रथमें बैठकर युद्ध करनेमें तथा बाण और अस्त्रोंको छोडनेमें प्रवीण होते हैं वह राजा इस पृथिवीको जीतनेमें विजयी होता है ॥२५-२६॥ जो राजा सदा सब प्रजाके मनको वशमें करनेमें लगा रहता है, चढाई आदि उद्योग करनेवाला और उत्तम मित्रोंवाला होता है वह राजाओंमें श्रेष्ठ गिनाजाता है ॥ २७ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! जो राजा उत्तम मनुष्योंको अपने पास रखता है वह एक हजार

भारत। संगृहीतमनुष्येण कृत्स्ना जेतु वसुन्धरा ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि श्वर्षि-सम्वादे अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥

भीष्म उवाच। एवं शुना समान् भृत्यान् स्वे स्वे स्थाने नराधिप। नियोजयति कृत्येषु स राज्यफलमश्नुते ॥१॥ न श्वा स्वं स्थानमुत्क्रम्य प्रमाणमभिसत्कृतः। आरोप्यः श्वा स्वकात् स्थानादुत्क्रम्यान्यत् प्रमाद्यति ॥ २ ॥ स्वजातिगुणसम्पन्नाः स्वेषु कर्मसु संस्थिताः। प्रकर्तव्या ह्यमात्यास्तु नास्थाने प्रक्रिया क्षमा ॥३ ॥ अनुरूपाणि कर्माणि भृत्येभ्यो यः प्रयच्छति। स भृत्यगुणसम्पन्नो राजा फलमुपाश्नुते ॥ ४ ॥ शरभः शरभस्थाने सिंहः

वीर घुडसवारोंसे सब पृथिवीको जीतसकता है ॥२८॥ एक सौ अठारहवाँ अध्याय समाप्त ॥ ११८ ॥ छः ॥

भीष्मने कहा, कि—हे राजा युधिष्ठर! जो राजा ऊपर बताये हुए कुत्तेके दृष्टान्तसे सारको समझकर सेवकोंको उनके (गुणके) योग्य स्थानों पर नियत करता है उस राजाको राज्यके सुखका फल मिलता है ॥ १ ॥ कुत्तेकी समान गुणवान्को वह योग्य-स्थान पर ही नियत करे, परन्तु उसका सत्कार करके ऊँचे पद पर कभी न चढ़ावे, यदि कुत्तेकी समान गुणोंवालेको उसके स्थानसे अधिक ऊँचे पदपर नियत करदिया जाता है तो वह अभिमानी बनजाता है ॥ २ ॥ मन्त्रियोंको भी उनके योग्य जिस पद पर नियत कियाजाय उस पदके योग्य उनमें गुण है या नहीं यह परीक्षा करके उनको नियत करे, परन्तु अयोग्य स्थान पर योग्य गुणोंवालेको नियत करे यह काम अच्छा नहीं मानाजाता ॥३॥ जो राजा अपने सेवकोंको उनकी योग्यताके अनुसार काम सौंपता है वह सेवकोंके गुणोंको जाननेवाला राजा राज्यमें सुख पाता है ॥ ४ ॥ शरभको शरभके स्थान पर, सिंहको सिंहके स्थान पर,

सिंह इवोर्जितः । व्याघ्रो व्याघ्र इव स्थाप्यो द्वीपी द्वीपी यथा तथा ॥ ५ ॥ कर्मस्विहानुरूपेषु न्यस्या भृत्या यथा विधि । प्रतिलोमं न भृत्यास्ते स्थाप्याः कर्मफलैषिणा ॥६॥ यः प्रमाणमतिक्रम्य प्रतिलोमं नराधिपः । भृत्यान्स्थापयतेऽबुद्धिर्न स रंजयते प्रजाः ॥ ७ ॥ न बालिशा न च क्षुद्रा नाप्राज्ञा नाजितेंद्रियाः । नाकुलीना नराः सर्वे स्थाप्या गुणगणैषिणा ॥ ८ ॥ साधवः कुलजाः शूरा ज्ञानवन्तो न सूयकाः । अक्षुद्राः शुचयो दक्षाः स्युर्नराः पारिपार्श्वकाः ॥९॥ न्यग्भूतास्तत्पराः शान्ताश्चौक्षाः प्रकृतिजैः शुभैः । स्वस्थानानपकृष्टा ये ते स्यू राज्ञां बहिश्चराः १०

बाघको बाघके स्थान पर और चीतेको चीतेके स्थान पर नियत करे (शरभमें उत्तम पराक्रमका, सिंहमें धीरता वीरताका, बाघ में क्रूरताके कामका और चीतेमें चपल चतुराईका गुण है) ॥५॥ जिस राजाको सफल करनेकी इच्छा हो वह राजा सेवकोंको योग्यता के अनुसार योग्य काम करने पर नियत करदेय, परन्तु उनके स्वभावके प्रतिकूल कामों पर उनको कभी नियत न करे ॥ ६ ॥ जो राजा पहले दृष्टान्तको न मानकर सेवकोंको अयोग्य स्थान पर नियत करता है वह मूर्ख राजा प्रजाको प्रसन्न नहीं कर सकता ॥७॥ गुणवान् सेवकोंको रखना चाहनेवाला राजा मूर्ख, क्षुद्र, बुद्धिहीन, इन्द्रियलम्पट और नीच कुलके मनुष्योंको अपने राजकार्य करने पर नियत न करे ॥८॥ अच्छे गुणोंवाले, अच्छे कुलमें उत्पन्न हुए, वीर, ज्ञानी, ईर्षारहित, बड़े मनवाले, बाहर भीतरसे स्वच्छ और व्यवहारकुशल पुरुषोंको ही अपने मन्त्री बनावे ॥ ९ ॥ जो नम्र, कामोंको ध्यान देकर करनेवाले, शांत शुद्ध, स्वाभाविक ही अनेकों गुणोंसे शोभायमान तथा अपने अधिकारके पद पर निंदाके पात्र न होनेवाले हों ऐसे पुरुष राजा के बाहर फिरनेवाले प्राणोंकी समान मित्र होजाते हैं ॥ १० ॥

सिंहस्य सततं पार्श्वे सिंह एवानुगो भवेत् । असिंहः सिंहसहितः सिंहवल्लभते फलम् ॥ ११ ॥ यस्तु सिंहः श्वभिः कीर्णः सिंहकर्मफले रतः । न स सिंहफलं भोक्तुं शक्तः श्वभिरुपासितः१२ एवमेतन्मनुष्येन्द्र शूरैः प्राज्ञैर्बहुश्रुतैः।कुलजैः सह शक्येत कृत्स्ना जेतुं वसुन्धरा ॥ १३॥ नाविद्यो नानृजुः पार्श्वे नाप्राज्ञो नामहाधनः । संग्राह्यो वसुधापालैर्भृत्यो भृत्यवताम्वर ॥ १४ ॥ बाणवद्विसृता यान्ति स्वामिकार्यपरा नराः। ये भृत्याः पार्थिवहितास्तेषां सान्त्वं प्रयोजयेत् ॥ १५ ॥ कोशश्च सततं रक्ष्यो यत्नमास्थाय राजभिः। कोशमूला हि राजानः कोशो वृद्धिकरो भवेत्१६ कोष्ठागारञ्च ते नित्यं स्फीतैर्धान्यैः सुसंवृतम् । सदास्तु सत्सु

सिंह सेवक नित्य सिंह ही होना चाहिये, जो सिंह न होकर भी सिंहके साथ काम करता है वह सिंहकी समान ही फल पाता है ११ परन्तु यदि सिंह कुत्तोंके समूहसे घिर जाता है और सिंह की समान कर्म करके फल पानेका उद्योग करता है वह कुत्तोंसे सेवित होनेके कारण सिंहकेसा फल नहीं पासकता है॥१२॥हे राजन् ! यदि राजा, वीर, बुद्धिमान् और अनुभवी कुलीन पुरुषों की सहायता पाजाता है तो वह सब पृथिवीको जीत सकता है ॥१३॥ हे सेवको वाले राजाओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! राजाओं को चाहिये, कि–वे विद्याहीन मूर्ख, उद्धत, बुद्धिहीन और थोड़े धनवाले सेवकोंको अपने पास न रक्खे ॥ १४ ॥ जो सेवक कार्य, करने की आज्ञा होते ही न लौटनेवाले, बाणोंकी समान शीघ्र जा अपने राजा का काम करनेमें लग जाते हैं और राजा के हितका काम करते रहते हैं उन सेवकोंके साथ राजा मीठे शब्दों से बात करे ॥ १४ ॥ राजाओंको नित्य उद्योगके साथ धन भंडारकी रक्षा करनी चाहिये, राजाओंकी जड़ धनभंडार ही है और धनभंडार ही राजाओं की वृद्धि करता है ॥१६॥ और तू अच्छे २

संन्यस्तं धनधान्यपरो भव ॥ १७ ॥ नित्ययुक्ताश्च ते भृत्या
भवन्तु रणकोविदाः । वाजिनाञ्च प्रयोगेषु वैशारद्यमिहेष्यते १८
ज्ञातिबन्धुजनावेक्षी मित्रसम्बन्धिसम्वृतः । पौरकार्यहितान्वेषी
भव कौरवनन्दन ॥१९॥ एषा ते नैष्ठिकी बुद्धिः प्रजास्वभिहिता
मया । शुनो निदर्शनं तात किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि
ऋषिसंवादे एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥११९॥

युधिष्ठिर उवाच । राजवृत्तान्यनेकानि त्वया प्रोक्तानि भारत ।
पूर्वैः पूर्वनियुक्तानि राजधर्मार्थवेदिभिः ॥१॥ तदेव विस्तरेणोक्तं
पूर्वदृष्टं सतां मतम् । प्रणेयं राजधर्माणां प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ २ ॥

धान्योंसे भरे हुए अपने कोठारको श्रेष्ठ मनुष्योंकी अधीनतामें रखना और तू धन तथा अन्न पानेके लिये यत्न करना ॥१७॥ तेरे युद्ध चतुर योधा नित्य उद्योग करनेमें लगे रहें तथा घोड़ोंको शिक्षा देनेकी कलामें चतुरता प्राप्त करनी चाहिये ॥१८॥ हे कुरु-कुलनन्दन युधिष्ठिर ! तू जातिवालोंकी तथा बान्धवोंकी देख भाल रखना, मित्र और संबंधियोंसे घिरकर नगरनिवासियोंके काम करनेमें यथा उनका हित करनेमें सदा तत्पर रहना ॥ १९ ॥ अपनी प्रजाके साथ तुझे कैसा वर्त्ताव करना चाहिये, यह बात मैंने कुत्तेका दृष्टान्त देकर अच्छे प्रकारसे समझा दी है; हे तात! तू अब और क्या सुनना चाहता है ॥ २० ॥ एकसौ उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ११९ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि–हे भरतवंशी राजन् ! आपने राजधर्मको जाननेवाले पहले पुरुषोंने राजाके जिन धर्मोंका आचारण किया है, उन राजाओंके अनेकों चरित्रोंसे, राजाका सच्चा धर्म क्या है, यह बात मुझे समझा दी ॥१॥ हे भरतसत्तम राजन् ! सत्पुरुषों में मान्य पायाहुआ पूर्वकालका राजाओंका धर्म आपने मुझे

भीष्म उवाच । रक्षणं सर्वभूतानामिति क्षात्रं परं मतम् । तद्यथा रक्षणं कुर्य्यात्तथा शृणु महीपते । यथा बर्हाणि चित्राणि बिभर्त्ति भुजगाशनः । तथा बहुविधं राजा रूपं कुर्वीत धर्म्मवित् ॥ ४ ॥ तैक्ष्ण्यं जिह्मत्वमादाल्भ्यं सत्यमार्ज्जवमेव च । मध्यस्थः सत्त्वमातिष्ठंस्तथा वै सुखमृच्छति ॥ ५ ॥ यस्मिन्नर्थे हितं यत् स्यात्तद्वर्णं रूपमादिशेत् । बहुरूपस्य राज्ञो हि सूक्ष्मोऽप्यर्थो न सीदति ॥६॥ नित्यं रक्षितमन्त्रः स्याद्यथा मूकः शरच्छिखी । श्लक्ष्णाक्षरतनुः श्रीमान् सेवेच्छास्त्रविशारदः ॥ ७ ॥ आपद्द्वारेषु युक्तः स्याज्जलप्रस्रवणेष्विव । शैलवर्षोदकानीव द्विजान् सिद्धान् समाश्रयेत् ।

विस्तारसे सुनाया, उसको अब आप मुझे संक्षेपमें सुनाइये ॥२॥ भीष्मने कहा, कि–सब प्राणियोंकी रक्षा करनेसे, क्षत्रियका धर्म श्रेष्ठ गिना जाता है और हे राजा युधिष्ठिर ! क्षत्रियको प्राणियों की रक्षा कैसे करनी चाहिये, इस बातको सुन ॥३॥ जैसे साँपों को खानेवाला मोर विचित्र रङ्गोंके परोंको धारण करता है, ऐसे ही धर्मज्ञ राजा भी अपने कर्त्तव्यका पालन करनेके लिये अनेकों प्रकारके रूप धारण करे ॥ ४ ॥ जो राजा क्रूरता, कुटिलता, अभयदान, सत्य और सरलता इन सबके मध्यमें रहकर सत्त्वगुणका आश्रय लेता है वह राजा सुखी होता है ॥ ५ ॥ काम सिद्ध करनेके लिये जिस विषयमें जैसा रूप हितकारी मालूम हो उस रूपको ही राजा धारण करलेय (अनुग्रह करते समय शान्ति और दण्ड देते समय क्रूरता दिखावे, ढङ्ग देखकर उग्रता या नम्रता दिखावे) जो राजा बहुतसे रूप धारण करसकता है वह सूक्ष्मसे सूक्ष्म काम करनेमें भी विजय पाता है॥ ६ ॥ जैसे मोर शरद् ऋतुमें चुप रहता है ऐसे ही राजा भी राजकीय विचारों में मौन रहे, थोड़ा बोले और वह थोड़ा भी मधुर बोले, अपनी योग्यताके अनुसार अच्छे वस्त्र भूषण पहरे, शास्त्रमें प्रवीणता प्राप्त

अर्थकामः शिखां राजा कुर्याद्धर्मध्वजोपमाम् ॥ ८ ॥ नित्यमुद्यत-
दण्डः स्यादाचरेदप्रमादतः । लोके चायव्ययौ दृष्ट्वा वृहद्वृक्ष-
मिवास्रवत् ॥ ९ ॥ मृजावान् स्यात् स्वयूथ्येषु भौमानि चरणैः
क्षिपेत् । जातपक्षः परिस्पन्देत् प्रेक्षेद्वैकल्यमात्मनः ॥१०॥ दोषान्
विवृणुयाच्छत्रोः परपक्षान्विधूनयेत् । काननेष्विव पुष्पाणि वहि-
रर्थात् समाचरन् ॥ ११ ॥ उच्छ्रितान्नाशयेत् स्फीतान्नरेन्द्रान-

करे ॥ ७ ॥ जैसे तालावका पानी निकलकर बाहर फैलजाता है तब उससे रक्षा पानेके लिये पुस्ते बाँधकर लोग अपने घरोंकी और खेतोंकी रक्षा करनेमें सावधान रहते हैं, ऐसे ही जिस द्वार से भय आनेकी सम्भावना हो उन द्वारोंको दृढ़ करनेमें राजा सावधान रहे, मनुष्य जैसे पर्वतोंके पानीसे बनी हुई महानदियों का आश्रय लेते हैं तैसे ही राजा सिद्ध ब्राह्मणोंका आश्रय लेय, जैसे धर्मका ढोंगी शिरपर जटा रखता है तैसे ही धन चाहनेवाला राजा भी (अपना विचार पूरा करनेको) क्रूरता आदि चिह्नों को धारण करे ॥ ८ ॥ नित्य दण्डको उद्यत रक्खे (अर्थात् अपराधियोंको दण्ड देता रहे) और बड़े ताड़के वृक्षके एक भाग में छेद करके उसमेंसे जैसे रस लेलिया जाता है तैसे ही सावधानीसे लोगोंके आयव्ययको देखकर उनसे उचित कर लेय (परंतु रसके लिये जैसे गन्नेका सर्वथा नाश करदियाजाता है, ऐसे सर्वस्व छीनकर प्रजाका नाश न करे) ॥ ९ ॥ राजा अपनी प्रजाके ऊपर सदा समदृष्टि रक्खे, घुड़सवार सेनासे चढ़ाई करके शत्रुके देशमेंके खेतोंका अन्न नष्ट करदेय, बड़े राजाकी सहायतासे वैरी का नाश करे और अपनी निर्बलताकी मूलको भी देखता रहे ॥ १० ॥ शत्रुके दोषोंको प्रकट करे, शत्रुके पक्षवाले लोगों का नाश करे, जैसे वनमेंसे फूलोंको इकट्ठे करते हैं तैसे ही शिकार आदिके मिषसे बाहर निकल कर धन इकट्ठा करे ॥ ११ ॥

चलोपमान् । श्रयेच्छायामविज्ञातां गुप्तं रणमुपाश्रयेत् ॥ १२ ॥ प्रावृषीवासितग्रीवो मज्जेत निशि निर्ज्जने । मायूरेण गुणेनैव स्त्रीभिश्चावेच्चितश्चरेत् ॥ १३ ॥ न जह्याच्च तनुत्राणं रक्षेदात्मानमात्मना । चारभूमिष्वभिगतान् पाशांश्च परिवर्ज्जयेत् ॥ १४ ॥ प्रणयेद्वापि तां भूमिं प्रणश्येद्गहने पुनः । हन्यात् क्रुद्धानतिविषांस्तान् जिह्मगतयोऽहितान् ॥ १५ ॥ नाशयेद्बलबर्हाणि सन्निवासान्निवासयेत् । सदा बर्हिनिभः कामं प्रशस्तं कृतमाचरेत् । सर्वतश्चाददेत् प्रज्ञां पतङ्गं गहनेष्विव ॥ १६ ॥ एवं मयूरवद्राजा स्वराज्यं

पर्वतकी समान अचल और ऊँचा शिर करके बैठेहुए घमण्डी राजाओंका नाश करे और यह काम करनेके लिये कोई भी जानने न पावे, इस प्रकार शक्तिमान् राजाके सरदारोंमें और सेनामें फूट डालदेय, तथा गुप्त रीतिसे शत्रुके नगरमें अचानक प्रवेश करके उसके साथ युद्ध करे ॥ १२ ॥ जैसे वर्षा ऋतुमें मोर निर्जन स्थानमें बैठा रहता है तैसे ही राजा भी रातके समय रणवासमें रहे और मोरकी समान गुप्त रीतिसे स्त्रीका सहवास करे ॥ १३ ॥ शरीर परसे कवचको न उतारे अपनी रक्षा आप करे और शत्रुके दूतोंके बिछायेहुए जालोंको काटडाले ॥ १४ ॥ अथवा समय समझकर शत्रुके साथ प्रीति कर लेय और फिर अवसर देखकर एकान्तमें उनका नाश करदेय; कुटिलके साथ कुटिल बनजाय और जैसे मोर अपने वैरियों (सर्पों) का नाश करता है तैसे ही क्रोधमें भरे अत्यन्त जहरी वैरियोंका नाश कर डाले ॥ १५ ॥ वैरियोंकी सेनाका नाश करे और उनको उनके देशमेंसे निकाल देय (फिर अपने पक्षके महाबलवान् मन्त्री आदिको तहाँ सूबा आदि बनाकर नियत करदेय), राजा सदा मोरकी समान अपने हितका काम करे, सबसे उत्तम संपति लेय और जैसे टीड़ीदल वनके प्रदेशोंमें टूट पड़ता है तैसे वैरीके देश

परिपालयेत् । आत्मवृद्धिकरीं नीतिं विदधीत विचक्षणः ॥१७॥ आत्मसंयमनं बुद्ध्या परबुद्ध्यावधारणम् । बुद्ध्या चात्मगुणप्राप्ति- रेतच्छास्त्रनिदर्शनम् ॥ १८ ॥ परं विश्वासयेत् साम्ना स्वशक्ति- श्चोपलक्षयेत् । आत्मनः परिमर्शेन बुद्धिं बुद्ध्या विचारयेत्॥१९॥ सान्त्वयोगमतिः प्राज्ञः कार्याकार्यप्रयोजकः । निगूढबुद्धेर्धीरस्य वक्तव्ये वा कृतं तथा ॥२०॥ स निकृष्टां कथां प्राज्ञो यदि बुद्ध्या बृहस्पतिः । स्वभावमेष्यते तप्तं कृष्णायसमिवोदके ॥२१॥ अनु- युञ्जीत कृत्यानि सर्वाण्येव महीपतिः । आगमैरुपदिष्टानि स्वस्य

पर टूटपड़े ॥ १६ ॥ जैसे मोर अपने स्थानकी रक्षा करता है तैसे बुद्धिमान् राजा अपने राज्यकी रक्षा करे और अपना हित करने वाली नीतिको ग्रहण करे ॥ १७ ॥ विचार करके यह निश्चय करलेय, कि-मुझे अमुक काम करना है और दूसरोंकी संमति सुनकर कामको करनेका या न करनेका निर्णय करे, कौनसे मार्गसे चलना चाहिये और कौनसे मार्गमें न चलना चाहिये इस बातका शास्त्रसे निश्चय करे यह राजाका कर्त्तव्य है ॥ १८ ॥ और राजा शान्तिकी बातोंसे वैरीके मनमें विश्वास बैठाले, परन्तु अपनी शक्तिका नित्य विचार करता रहे और भूत भविष्यत्का विचार करके, ऊँच नीचका विचार करनेमें चतुरबुद्धिसे कार्य अकार्यका निर्णय करे॥१९॥भाई, बापू आदि कहकर समझानेके ढङ्गमें चतुरता तथा बुद्धिमत्ता और कार्य अकार्यको जानकर उसका प्रयोग करनेकी प्रवीणता ये गुण राजामें होने ही चाहियें, चतुर और बुद्धिमान्को विशेष उपदेश देनेकी कुछ आवश्यकता है ही नहीं ॥ २० ॥ जो बुद्धिमें बृहस्पतिकी समान होता है उससे किसी समय यदि निन्दाका काम बनजाय तो भी जैसे तपाहुआ लोहा पानीमें डालने पर शान्त होजाता है तैसे ही वह अन्तको अपने स्वभाव पर आजाता है राजा अपने और दूसरोंके सब ही

नैव परस्य च ॥२२॥ मृदुशीलं तथा प्राज्ञं शूरश्चार्थविधानवित्। स्वकर्मणि नियुंजीत ये चान्ये च बलाधिकाः॥ २३ ॥ अथ दृष्ट्वा नियुक्तानि स्वानुरूपेषु कर्म्मसु। सर्वांस्तानन्नुवर्त्तेत स्वरांस्तन्त्रीरिवायता ॥२४॥ धर्माणामविरोधेन सर्वेषाम्प्रियमाचरेत्। ममायमिति राजा यः स पर्वत इवाचलः॥ २५॥ व्यवसायं समाधाय सूर्य्यो रश्मीनिवायतान्। धर्ममेवाभिरक्षेत कृत्वा तुल्ये प्रियाप्रिये।२६। कुलप्रकृतिदेशानां धर्म्मज्ञान् मृदुभाषिणः। मध्ये वयसि निर्दोषान् हिते युक्तानविक्लवान्॥ २७॥ अलुब्धान् शिक्षितान् दान्तान् धर्मेषु परिनिष्ठितान्। स्थापयेत् सर्वकार्य्येषु राजा धर्मार्थरक्षिणः॥२८

काम शास्त्रानुसार करे॥ २१॥ २२॥ अर्थशास्त्रको जाननेवाला राजा, कोमल स्वभावके बुद्धिमान् वीर तथा दूसरे बलवान् पुरुषों को अपना काम करने पर नियत करे॥ २३॥ और उन सबों को अपनी २ योग्यताके कामों पर जुटेहुए देखकर फिर जैसे बड़ी वीणा जुदे २ स्वरोंकी अनुगामिनी होती है तैसे ही उनका अनुगामी होय॥ २४॥ राजा इसप्रकार सबका प्रिय काम करे, जिससे धर्ममें विरोध न आवे 'यह हमारा राजा है' इस बातका जिस राजाकी प्रजाको अभिमान होता है वह राजा पर्वतकी समान अचल रहता है॥२५॥ जैसे सूर्य अपनी विशाल किरणें सदा समान भावसे नीचेंके लोगोंके ऊपर फेंकता है, ऐसे ही राजा पक्षपातरहित होकर राजकीय कार्य किया करे और उन राजकीय कार्योंको करते समय-न्याय करते समय प्रिय और अप्रिय दोनोंको समान मानकर न्यायकी ही रक्षा करे अर्थात् सबका निष्पक्षभावसे विचार करे॥२६॥ कुल, स्वभाव और देशके धर्मको जाननेवाले, कोमलतासे बातें करनेवाले, युवा अवस्थामें निर्दोष सिद्ध हुए, हितका काम करनेवाले, निर्भय, लोभरहित, सुशिक्षित, इन्द्रियों को वशमें रखनेवाले, धर्मके ऊपर परमश्रद्धालु और धर्म तथा

एतेन च प्रकारेण कृत्यानामागतिं गतिम् । युक्तः समनुतिष्ठेत तुष्टश्चारैरुपस्कृतः ॥२९॥ अमोघक्रोधहर्षस्य स्वयं कृत्यान्ववेक्षितुः । आत्मप्रत्ययकोशस्य वसुदैव वसुन्धरा ॥ ३० ॥ व्यक्तश्चानुग्रहो यस्य यथार्थश्चापि निग्रहः । गुप्तात्मा गुप्तराष्ट्रश्च स राजा राजधर्मवित् ॥ ३१ ॥ नित्यं राष्ट्रमवेक्षेत गोभिः सूर्य्य इवोदितः । चरान् स्वनुचरान् विद्यात्तथा बुद्ध्या स्वयं चरेत् ॥ ३२ ॥ कालं प्राप्तमुपाददीतार्थं राजा प्रसूचयेत् । अहन्यहनि संदुह्यान्मही गामिव बुद्धिमान् ॥ ३३ ॥ यथाक्रमेण पुष्पेभ्यश्चिनोति मधु षट्पदः ।

अर्थकी रक्षा करनेवाले पुरुषोंको राजा राज्यके सब कामों पर नियत करे॥२७-२८॥इस नीतिसे राजा सावधान रहकर किसी कामका आरम्भ करे और उसकी समाप्ति तक उसकी देखभाल रक्खे, दूतोंके द्वारा सब कार्योंको जानता रहे और फिर प्रसन्नता से रहे ॥ २९ ॥ जो राजा विना प्रयोजनके क्रोध नहीं करता है तथा विना प्रयोजनके हर्ष भी नहीं मानता है अर्थात् जिसके क्रोध और हर्ष सफल होते हैं, जो राज्यके कार्योंको अपने आप देखता रहता है, उस राजाको पृथिवी स्वयं ही धन देनेवाली होजाती है ॥ ३० ॥ जिसका अनुग्रह स्पष्ट मालूम होता है और जिसका दण्ड देना भी यथार्थ होता है तथा जो अपनी और अपने देशकी रक्षा करता है वह राजा ही राजधर्म जाननेवाला है ॥ ३१ ॥ उदय हुआ सूर्य जैसे नित्य किरणोंसे जगत्को देखता है तैसे ही राजा नित्य नेत्रसे राज्यको देखे, दूत अपने कामको ठीक २ करते हैं या नहीं, इसकी स्वयं देखभाल रक्खे और अपनी ही बुद्धिसे विचार करके वर्त्ताव करे ॥३२॥ आवश्यकता पड़ने पर ही राजा प्रजासे कररूप धन लेय तथा वह स्वयं किस कारणसे कर लगारहा है, यह बात किसीको ठीक २ न बतावे, बुद्धिमान् पुरुष जैसे प्रतिदिन नियमसे गौको दुहता है, ऐसे ही

तथा द्रव्यमुपादाय राजा कुर्वीत सञ्चयम् ॥३४॥ यद्धि गुप्तावशिष्टं स्यात्तद्वित्तं धर्मकामयोः । सञ्चयान्न विसर्गी स्याद्राजा शास्त्रविदात्मवान् ॥ ३५ ॥ नार्थमल्पं परिभवेन्नावमन्येत शात्रवान् । बुद्ध्या तु बुद्ध्येदात्मानं न चाबुद्धिषु विश्वसेत् ॥३६॥ धृतिर्दाक्ष्यं संयमो बुद्धिरात्मा धैर्यं शौर्यं देशकालाप्रमादः । अल्पस्य वा बहुनो वा विवृद्धौ धनस्यैतान्यष्ट समिन्धनानि॥३७॥ अग्निः स्तोको वर्द्धतेऽप्याज्यसिक्तो बीजं चैकं रोहसहस्रमेति । आयव्ययौ विपुलौ सन्निशाम्य तस्मादल्पं नावमन्येत वित्तम् ॥३८॥ बालोऽप्यबालः

राजा भी प्रतिदिन राज्यमेंसे दुहै ॥ ३३ ॥ जैसे भौंरा क्रमसे फूलोंमेंसे मधुको इकट्ठा करता है ऐसे ही राजा क्रम २ से प्रजासे धन लेकर उसका संग्रह करे ॥ ३४ ॥ राज्यकी सेनाका और अधिकारियोंका वेतन(तनख्वाह)देनेसे तथा राज्यकी रक्षा करनेसे जो धन शेष रहे उस धनको धर्मके तथा आनन्द मौजके कामों में खरच करे परन्तु शास्त्रको जाननेवाला समझदार राजा अपने भण्डारमेंका धन(आपत्ति के बिना) कभी काममें न लावे ॥३५ ॥ थोड़ा भी धन मिलता हो तो उसका तिरस्कार नकरे, शत्रु शक्तिहीन हो तो भी उसको तुच्छ न समझे अपनी दशाको ध्यान देकर समझे रहै, और मूर्ख मनुष्योंका विश्वास न करे ॥ ३६ ॥ स्थिरता, चतुरता, संयम, बुद्धि, आरोग्य धीरता, शूरता और देश कालका विचार करके किस बात की आवश्यकता है, इस पर ध्यान देवे,ये आठ गुण थोडे अथवा अधिक धनकी वृद्धि करते हैं३७ थोड़ासा भी अग्नि घी डालनेसे बढ़ जाता है, एक बीजमेंसे हजारों बीज उत्पन्न हो जाते हैं इसलिये राजा बड़ीभारी आमदनी और खरचको देखकर थोड़ेसे धनका तिरस्कार न करे (अर्थात् इतनेसे धनसे क्या होना है ऐसा विचार कभी न करे) ॥ ३८ ॥ शत्रु बालक

स्थविरं रिपुर्यः सदा प्रमत्तं पुरुषं निहन्यात् । काले नान्यस्तस्य मूलं हरेत कालज्ञाता पार्थिवानां वरिष्ठः ॥ ३९ ॥ हरेत् कीर्त्तिं धर्म्ममस्योपरुन्ध्यादर्थे दीर्घं वीर्य्यमस्योपहन्यात् । रिपुर्द्वेष्टा दुर्बलो वा बली वा तस्माच्छत्रोर्नैव हीयेद्यतात्मा ॥ ४० ॥ क्षयं वृद्धिं पालनं संचयं वा बुध्वाप्युभौ संहतौ सर्वकामौ । ततश्चान्यन्मतिमान्संदधीत तस्माद्राजा बुद्धिमत्तां श्रयेत ॥ ४१ ॥ बुद्धिर्दीप्ता बलवंतं हिनस्ति बलं बुद्ध्या पाल्यते वर्धमानम् । शत्रुर्बुद्ध्या सीदते वर्धमानो बुद्धेः पश्चात्कर्म यत्तत्प्रशस्तम् ॥ ४२ ॥ सर्वान्कामा-

---

हो, चाहे जवान हो और चाहे बूढा हो तथापि वह प्रमादमें रहने वाले पुरुषका नाश कर डालता है, तुच्छ वैरी भी समय पाकर बलवान् होजाता है, तब वह (बलवान् राजाका नाश कर डालता है)इसलिये जिस राजाको समय देखकर वर्त्ताव करनेका ज्ञान होता है वह राजा श्रेष्ठ मानाजाता है ॥ ३९ ॥ शत्रु दुर्बल हो चाहे बलवान् हो परन्तु यदि वह चित्तमें द्वेष रखता है तो वह अपने शत्रुकी कीर्त्तिको नष्ट करदेता है, धर्ममें बाधा डालता है और धन पानेकी उसकी बडी भारी शक्तिका तिरस्कार करता है, इसलिये मनको काबूमें रखनेवाला राजा जब शिर पर शत्रु होय तो कभी असावधान-निर्भय न रहे ॥४०॥ धनका खरच, आमदनी, संग्रह और राज्यके कार्यव्यवहारकी व्यवस्था इन सब बातोंका विचार करनेके बाद बुद्धिमान् राजा युद्ध करे अथवा सन्धि करलेय और इसका निश्चय करनेके लिये बुद्धिमान् मन्त्रियोंसे सलाह लेय ॥ ४१ ॥ दमकती हुई बुद्धि बलवान्को निर्बल करदेती है, बढते हुए बलकी बुद्धि रक्षा करती है, बढते हुए शत्रुको बुद्धिके बलसे ही दुःखी किया जासकता है, इस लिये जो काम बुद्धिके अनुसार कियाजाता है उस कामकी प्रशंसा होती है ॥ ४२ ॥ धीर और दोषरहित राजा सब कामनाओंकी

न्कामयानो हि धीरः सत्त्वेनाल्पेनाप्नुते हीनदोषः । यश्चात्मानं प्रार्थयतेऽर्थमानैः श्रेयः पात्रं पूरयते च नाल्पम् ॥४३॥ तस्माद्राजा प्रगृहीतः प्रजासु मूलं लक्ष्म्याः सर्वशो ह्याददीत । दीर्घं कालं ह्यपि संपीड्यमानो विद्युत्संपातमपि वा नोर्जितः स्यात् ॥ ४४ ॥ विद्या तपो वा विपुलं धनं वा सर्वं ह्येतद्व्यवसायेन शक्यम् । बुद्ध्यायत्तं तन्निवसेद्देहवत्सु तस्माद्विद्याद्व्यवसायं प्रभूतम् ॥ ४५ ॥ यत्रासते मतिमंतो मनस्विनः शक्रो विष्णुर्यत्र सरस्वती च । वसंति भूतानि च यत्र नित्यं तस्माद्विद्वान्नावमन्येत देहम् ॥ ४६ ॥ लुब्धं हन्यात्संप्रदानेन नित्यं लुब्धस्तृप्तिं परवित्तस्य नैति । सर्वो लुब्धः कर्मगुणोपभोगे योऽर्थैर्हीनो धर्मकामौ जहाति ॥ ४७ ॥ धनं

इच्छा करता है तो वह थोडी सेनाकी सहायतासे विजय पासकता है, परन्तु जिस राजाके पास खुशामदी रहते हैं और उसकी खुशामद किया करते हैं वह राजा अपना जरा भी भला नहीं करसकता है ॥ ४३ ॥ इसलिये राजा प्रेमके साथ प्रजासे उचित कर वसूल करे, जो राजा चिरकाल तक अपनी प्रजाके ऊपर अत्याचार करता है, वह राजा क्षणभर रहनेवाली बिजलीकी चमचमाहटकी समान चमक कर नष्ट होजाता है ॥ ४४ ॥ विद्या, तप और बहुतसा धन ये सब पुरुषार्थसे मिलसकते हैं, हरएक शरीरधारी अपनी मतिके अनुसार पुरुषार्थ करता है, इसलिये पुरुषार्थको श्रेष्ठ जानो ॥४५॥ मनुष्य शरीरमें बड़े तेजस्वी और मतिमान् प्राणीका निवास है, जैसे, कि-इन्द्र, विष्णु और सरस्वती, इसलिये विद्वान् अपने तथा दूसरेके देहको निरर्थक दुःख न देय ॥ ४६ ॥ जो मनुष्य लोभी हो उसको नित्य कुछ देकर वशमें रक्खे, लोभी मनुष्य नित्य दूसरेका धन पाजाने पर भी सन्तुष्ट नहीं होता है, सब लोगोंको ऐश्वर्य भोगनेका लोभ होता है, परन्तु जो मनुष्य निर्धन होता है वह धर्मको तथा कामको

भोगं पुत्रदारं समृद्धिं सर्वं लुब्धः प्रार्थयते परेषाम् । लुब्धेदोषाः संभवन्तीह सर्वे तस्माद्राजा न प्रगृह्णीत लुब्धम् ॥४८॥ संदर्शनेन पुरुषं जघन्यमपि चोदयेत् । आरम्भान्द्विषतां प्राज्ञः सर्वार्थांश्च प्रसूदयेत् ॥ ४९ ॥ धर्मान्वितेषु विज्ञातो मन्त्री गुप्तश्च पांडव । आप्तो राजा कुलीनश्च पर्याप्तो राजसंग्रहे ॥ ५० ॥ विधिप्रयुक्तान्नरदेवधर्मानुक्तान्समासेन निबोध बुद्ध्या । इमान्विदध्याद्व्यतिसृत्य यो वै राजा महीं पालयितुं स शक्तः ॥ ५१ ॥ अनीतिजं यस्य विधानजं सुखं हठप्रणीतं विधिवत्प्रदृश्यते । न विद्यते

त्यागदेता है ॥ ४७ ॥ लोभी मनुष्य दूसरोंका धन, ऐश्वर्य, पुत्र, स्त्री और समृद्धि इन सब पदार्थोंको चाहता है, इस जगत्में लोभी मनुष्यमें सब दोष भरे होते हैं. इसलिये राजा लोभी मनुष्यको अपने पास मन्त्री या सरदार बनाकर न रक्खे ॥४८॥ मतिमान् राजा (यदि मतिमान् मनुष्य न मिले और आवश्यकता पड़े तो) साधारण मतिवाले मनुष्यको रखकर शत्रुके समाचार लेय और फिर उस पर विचार करके वर्ताव करे तो वह शत्रुओंके आरम्भोंका और सब कामोंका नाश करसकता है ॥ ४९ ॥ हे पाण्डव ! जो राजा, धर्मको जाननेवाले विद्वान् ब्राह्मणोंसे ज्ञान प्राप्त करता है, जो मन्त्रियोंसे रक्षित होता है, विश्वासके योग्य और कुलीन होता है वह राजा अपने सामन्त और कर देनेवाले राजाओंको वशमें रखसकता है ॥ ५० ॥ हे युधिष्ठिर ! शास्त्रमें बतायेहुए राजाके धर्म मैंने तुझे संक्षेपमें सुनादिये; इनको तू अपनी मतिसे ध्यानमें रख, जो राजा इस राजधर्मको गुरुसे जान लेता है और उसके अनुसार ही वर्ताव करता है वह राजा पृथिवीका पालन करसकता है ॥५१॥ जो राजा नीतिके मार्गसे नहीं किन्तु हठसे दैवसे मिलसकनेवाले सुखको पाना चाहता है, उस राजाका परिणाम अच्छा नहीं होता तथा उसको इस लोकका

तस्य गतिर्महीपतेर्न विद्यते राज्यसुखं ह्यनुत्तमम् ॥५२॥ धनैर्विशि-
ष्टान्मतिशीलपूजितान्गुणोपपन्नान्युधि दृष्टविक्रमान् । गुणेषु दृष्ट्वा
न चिरादिवात्मवान्यतोभिसंधाय निहन्ति शात्रवान् ॥ ५३ ॥
पश्येदुपायान्विविधैः क्रियापथैर्न चानुपायेन मतिं निवेशयेत् ।
श्रियं विशिष्टां विपुलं यशो धनं न दोषदर्शी पुरुषः समश्नुते ५४
प्रीतिप्रवृत्तौ विनिवर्तितौ यथा सुहृत्सु विज्ञाय निवृत्य चोभयोः ।
यदेव मित्रं गुरुभारमावहेत्तदेव सुस्निग्धमुदाहरेद् बुधः॥ ५५ ॥
एतान् मयोक्तांश्चर राजधर्मान्नृणां च गुप्तौ मतिमादधस्व । अवा-

राज्यका सबसे उत्तम सुख और परलोकका-स्वर्गका सुख नहीं मिलता है ॥ ५२ ॥ सन्धि विग्रह आदि राजाके गुणोंमें सावधान रहनेवाला राजा, धनाढ्य, मतिमान्, शीलवान्, गुणी और संग्राममें जिनका पराक्रम देखा हो ऐसे शत्रुओंको अपने पक्षमें लेकर दूसरे शत्रुओंको थोड़े ही समयमें मारसकता है ॥ ५३ ॥ राजा अपना काम सिद्ध करनेके लिये अनेकों प्रकारकी युक्तियों से काम सिद्ध करनेके उपायोंको खोज निकाले, परन्तु खोटे मार्गमेंको मति न दौड़ावे तथा दैवके ऊपर भरोसा रखकर बैठा न रहे, जो पुरुष असावधान मनुष्योंके दोष देखा करता है (और अपने आप उसकी उस असावधानतासे लाभ नहीं उठाता है) वह पुरुष उत्तम राजलक्ष्मी, बहुत फैलनेवाला यश और धन नहीं पासकता ॥ ५४ ॥ जो दो मित्र आपसमें प्रीतिसे एक होकर किसी कामको करनेमें जुटगए हों, उन दोनोंमेंसे जो एक मित्र अपने ऊपर कार्यका बहुतसा भार लेता है विद्वान् उसकी प्रशंसा करते हैं ॥५५॥ हे राजन् ! मैंने तुझे राजधर्मोंका सार संक्षेपमें सुनादिया, इन धर्मोंका तू आचरण कर और मनको प्रजाकी रक्षा करनेमें लगा तो तुझे सुखसे पुण्यफल मिलेगा, क्योंकि-

लभसे पुण्यफलं सुखेन सर्वो हि लोको नृपधर्ममूलः ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि राजधर्मकथने विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

युधिष्ठिर उवाच । अयं पितामहेनोक्तो राजधर्मः सनातनः । ईश्वरश्च महादण्डो दण्डे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥ देवतानामृषीणां च पितॄणां च महात्मनाम् । यक्षरक्षःपिशाचानां साध्यानां च विशेषतः ॥ २ ॥ सर्वेषां प्राणिनां लोके तिर्यग्योनिनिवासिनाम् । सर्वव्यापी महातेजा दण्डः श्रेयानिति प्रभो ॥ ३ ॥ इत्येवमुक्तं भवता दण्डे वै सचराचरम् । पश्यतो लोकमासक्तं ससुरासुरमानुषम् ॥ ४ ॥ एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं तत्त्वेन भरतर्षभ । को दण्डः कीदृशो दण्डः किं रूपः किं परायणः ॥ ५ ॥ किमात्मकः कथं भूतः कथं मूर्त्तिः कथं प्रभो । जागर्त्ति च कथं दण्डः प्रजा-

---

राजधर्मका पालन करनेसे सब सुख देनेवाले पुण्यलोक मिलते हैं ॥ ५६ ॥ एकसौ बीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १२० ॥ छ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि–हे पितामह ! आपने मुझसे सनातन राजधर्म पूर्णरीतिसे कहा, हे प्रभो ! देवता, ऋषि, महात्मा, पितर, यक्ष, राक्षस, पिशाच, साध्य देवता, जगत्के सब प्राणी, पशु-पक्षियोंकी योनियोंमें रहनेवाले प्राणी इन सबोंका ईश्वर महादंड है, दण्ड सर्वत्र व्यापक है, कल्याण करनेवाला है और इस दण्डके आधारसे ही यह सब जगत् टिकरहा है, आपने मुझे बताया है, कि–सुर, असुर और मनुष्यों सहित यह स्थावर जङ्गमरूप सब जगत् दण्डका दास है ॥ १-४ ॥ इसलिये हे भरतसत्तम राजन् ! मैं ठीक २ जानना चाहता हूँ, कि–यह दण्ड कौन है ? इसका आकार कैसा है ? स्वरूप कैसा है ? स्वभाव कैसा है ? ॥ ५ ॥ यह काहेका बना है ? इसकी उत्पत्ति कहाँसे है ? इसकी मूर्त्ति कैसी है ? तेज (प्रताप) कैसा है ? यह प्राणियोंमें सावधान

स्वत्वहितात्मकः ॥ ६ ॥ कश्च पूर्वापरमिदं जागर्ति प्रतिपालयन् । कश्च विज्ञायते पूर्वं को वरो दण्डसंज्ञितः । किं संस्थश्च भवेद्दण्डः का वास्य गतिरुच्यते ॥ ७ ॥ भीष्म उवाच । शृणु कौरव्य यो दण्डो व्यवहारो यथा च सः । यस्मिन् हि सर्वमायत्तं स दण्ड इह केवलः ॥ ८ ॥ धर्मसंख्या महाराज व्यवहार इतीष्यते । तस्य लोपः कथं न स्याल्लोकेष्वत्वहितात्मनः ॥ ९ ॥ इत्येवं व्यवहारस्य व्यवहारत्वमिष्यते । अपि चैतत्पुरा राजन्मनुना प्रोक्तमादितः ॥ १० ॥ सुप्रणीतेन दण्डेन प्रियाप्रियसमात्मना ।

रहकर किसप्रकार जागता रहता है ? ॥६॥ जागता रहकर पूर्वापर सब जगत्का पालन करनेवाला यह कौन है? जगत्के आरम्भ कालमें यह दण्ड कौन था ? किसके आधार पर रहता है और इसकी गति क्या है ? ॥ ७ ॥ भीष्मने कहा, कि–हे कुरु कुलके राजा ! यह दण्ड कौन है ? और इसका व्यवहार किसलिये कियाजाता है ? यह सुन–जिसके आधार पर इस सब जगत्का सुख अवलम्बित है उसका ही नाम दण्ड है ॥ ८ ॥ दण्ड सबको धर्म मार्गमें चलाता है (प्रत्यक्ष दण्ड राजाके हाथमें है और परोक्ष दण्ड ईश्वरके अधीन है)हे महाराज! इसका नाम व्यवहार (न्याय) है, इस जगत्में सावधानीसे रहनेवाले धर्मका नाश न हो, इसलिये राजाको दण्डकी आवश्यकता है ॥ ९ ॥ वादी (मुदई) प्रतिवादी (मुद्दालह) के पूर्ण लाभको बतानेवाला और जो परधन आदिका अपहरण न होनेदेय उसका नाम व्यवहार (कानून) है, वह व्यवहार पूर्वकालमें सबसे पहले मनुने धर्मशास्त्रमें कहा है ॥१०॥ यदि अपने प्रिय पुरुषका अथवा अप्रिय राजाका या ईश्वरके दण्डका भय मनुष्यको न होय तो कोई भी मनुष्य नीतिके मार्गमें न चले, यदि राजा पक्षपातके बिना दंडका ठीक २ उपयोग करके प्रजाकी रक्षा करता है तो वह राजाका

प्रजा रक्षति यः सम्यग्धर्म्म एव स केवलः ११ यथोक्तमेतद्वचनं प्रागेव मनुना पुरा । यन्मयोक्तं मनुष्येन्द्र ब्रह्मणो वचनं महत्१२ प्रागिदं वचनं प्रोक्तमतः प्राग्वचनं विदुः । व्यवहारस्य चाख्यानाद्व्यवहार इहोच्यते ॥ १३ ॥ दण्डे त्रिवर्गः सततं सुप्रणीते प्रवर्त्तते । दैवं हि परमो दण्डो रूपतोग्निरिवोत्थितः ॥ १४ ॥ नीलोत्पलदलश्यामश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुजः । अष्टपान्नैकनयनः शंकुकर्णोर्ध्वरोमवान् ॥ १५ ॥ जटी द्विजिह्वस्ताम्रास्यो मृगराजतनु-

दण्ड धर्मरूप गिनाजाता है ॥ ११ ॥ हे राजन् ! मैंने तुमसे जो मनुका वचन कहा है यह ब्रह्माका महावचन है, ब्रह्माने सबसे पहले यह वचन कहा था, इसलिये इसको प्राग्वचन कहते हैं और इसको व्यवहार तथा दण्डधर्म भी कहते हैं॥१२-१३॥यदि दण्डसे नित्य ठीकर काम लियाजाता है तो उससे त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) का लाभ होता है, दण्ड परम देवता है, इसका स्वरूप जलतेहुए अग्निकी समान है॥१४॥इसका रङ्ग नीलकमलके पत्तेकी समान है, इसकी चार (किन्हीका मानभङ्ग, किन्हीका धनहरण किन्हीका अङ्गच्छेद और किन्हीका प्राणान्त ये) ढाढें हैं,चार (प्रजा और जिमीन्दारोंसे करलेना,झूठा दावा करनेवालेसे जुरमाना लेना, मिथ्या जवाबदेही करनेवालेसे जुरमाना लेना, धनाढ्य होकर कृपण ब्राह्मणसे सब धन छीनलेना ये) भुजा हैं, आठ (आवेदन, भाषा, संप्रतिपत्ति, मिथ्योत्तर, कारणोत्तर प्राङ्न्याय, प्रतिभूक्रिया और फलसिद्धि ये) चरण हैं, अनेकों (राजा, मंत्री, पुरोहित आदि) नेत्र हैं, उनके कान शंकुकी समान (अवश्य सुननेवाले) और उसके शिरके केश खड़े हैं १५ वह जटाधारी (अनेकों सन्देहोंसे जटिल) है और उसके दो (वादी प्रतिवादीके वाक्य) जीभ हैं,उसका मुख लाल रङ्गका है और शरीर पर सिंहके चर्मको धारण कियेहुए है, जो बड़ी कठिनतासे

च्छदः । एतद्रूपं बिभर्त्युग्रं दण्डो नित्यं दुराधरः ॥ १६॥ असिर्धनुर्गदा शक्तिस्त्रिशूलं मुद्गरः शरः । मुसलं परशुश्चक्रं पाशो दण्डर्ष्टितोमराः १७ ॥ सर्वप्रहरणीयानि सन्ति यानीह कानिचित् । दण्ड एव स सर्वात्मा लोके चरति मूर्त्तिमान् ॥ १८ ॥ भिन्दंश्छिन्दन् रुजन् कृन्तन् दारयन् पाटयंस्तथा । घातयन्नभिधावंश्च दण्ड एव चरत्युत ॥ १९ ॥ असिर्विशसनो धर्मस्तीक्ष्णवर्मा दुराधरः । श्रीगर्भो विजयः शास्ता व्यवहारः सनातनः २० शास्त्रं ब्राह्मणमन्त्राश्च शास्ता प्राग् वदतां वरः । धर्मपालोऽक्षरो देवः सत्यगो नित्यगोऽग्रजः ॥२१॥ असंगो रुद्रतनयो मनुर्ज्येष्ठः शिवङ्करः । नामान्येतानि दण्डस्य कीर्त्तितानि युधिष्ठिर ॥२२॥

धारण किया जासकता है ऐसा यह दण्ड मेरे बतायेहुए उग्ररूपको धारण करता है ॥१६ ॥ १७॥ और यह दण्ड, तलवार, धनुष गदा, शक्ति, त्रिशूल, मुगदर, बाण, मूसल, फरसा, चक्र, पाश, ऋष्टि, तोमर आदि जो कुछ शस्त्र हैं उन सब शस्त्रोंके स्वरूपको धारण करता है और सर्वात्मा दण्ड जगत्में मूर्त्तिमान् होकर फिरता है ॥ १८ ॥ अपराधी मनुष्योंको भेदता, छेदता, पीडित करता, कम्पायमान करता, चीरता, चोट करता तथा सामनेको दौडताहुआ दण्ड पृथिवीपर विचरता है ॥ १९ ॥ तलवार, विशसन (मोटे और चौडे फलके वाली तलवार), धर्म, तीक्ष्णवर्मा (क्रोध), दुराधर्ष, श्रीगर्भ, विजय, शिक्षा करनेवाला, व्यवहार, सनातन (अनादिशास्त्र) वेदका भागरूप ब्राह्मण तथा मंत्र, प्रतिकार, आदि शासनकर्त्ता (शिक्षाके नियम बनाने वालोंमें पहला), धर्मका व्याख्यान करनेवालोंमें श्रेष्ठ, धर्मपाल, अक्षर, देव, सत्यगामी, नित्यगति, अग्रज, रुद्र, पुत्र, ज्येष्ठ, मनु, शिवङ्कर (कल्याण करनेवाला) हे युधिष्ठिर ! ये दण्डके नाम हैं ॥ २०-२२ ॥ दण्ड भगवान् विष्णु

दण्डो हि भगवान् विष्णुर्दण्डो नारायणः प्रभुः । शश्वद्रूपं महद्बिभ्रन्महापुरुष उच्यते ॥ २३ ॥ तथोक्ता ब्रह्मकन्येति लक्ष्मीर्वृत्तिः सरस्वती । दण्डनीतिर्जगद्धात्री दण्डो हि बहुविग्रहः २४ अर्थानर्थौ सुखं दुःखं धर्माधर्मौ बलाबले । दौर्भाग्यं भागधेयं च पुण्यापुण्ये गुणागुणौ ॥ २५ कामाकामावृतुर्मासः शर्वरी दिवसः क्षणः । अप्रमादः प्रमादश्च हर्षक्रोधौ शमो दमः ॥ २६ ॥ दैवं पुरुषकारश्च मोक्षामोक्षौ भयाभये । हिंसाहिंसे तपो यज्ञः संयमोऽथ विषाविषम् ॥ २७ ॥ अन्तश्चादिश्च मध्यं च कृत्यानां च प्रपंचनम् । मदः प्रमादो दर्पश्च दम्भो धैर्यं नयानयौ ॥२८॥ अशक्तिः शक्तिरित्येवं मानस्तंभौ व्ययाव्ययौ । विनयश्च विसर्गश्च कालाकालौ च भारत ॥ २९ ॥ अनृतं ज्ञानिता सत्यं श्रद्धाश्रद्धे तथैव

है, नारायण हैं, प्रभु हैं और नित्य महाभयानक रूपको धारण करनेवाला होनेसे महापुरुष कहलाता है ॥२३॥ उसकी स्त्री (दण्डनीति) के ये नाम हैं—ब्रह्मकन्या, लक्ष्मी, वृत्ति, सरस्वती और जगदम्बा. इस दण्डनीतिके अनेकों रूप हैं ॥ २४ ॥ अर्थ और अनर्थ, सुख और दुःख, धर्म और अधर्म, बल और अबल, दुर्भाग्य और सौभाग्य, पुण्य और पाप, गुण और दोष ॥२५॥ काम और अकाम, ऋतु और मास, रात दिन और क्षण, अप्रमाद और प्रमाद, हर्ष और क्रोध, शम और दम ॥२६॥ दैव और पुरुषार्थ, मोक्ष और बन्धन, भय और अभय, हिंसा और अहिंसा, तप, यज्ञ और संयम, विषैला अन्न और आरोग्य देने वाला अन्न ॥ २७ ॥ आदि, मध्य और अन्त, कार्यका विस्तार मद, प्रमाद, दर्प, दम्भ, धीरता, न्याय और अन्याय, अपशक्ति और शक्ति, मान और अपमान, व्यय (क्षीणता) और अव्यय, विनय, विसर्ग (दान), काल और अकाल ॥ २८–२९ ॥ असत्य और सत्य, ज्ञानीपना, श्रद्धा और अश्रद्धा, नपुंसकपना,

च। क्लीवता व्यवसायश्च लाभालाभौ जयाजयौ ॥ ३० ॥
तीक्ष्णता मृदुता मृत्युरागमानागमौ तथा। विरोधश्चाविरोधश्च कार्याकार्ये बलाबले ॥ ३० ॥ असूया चानसूया च धर्माधर्मौ तथैव च। अपत्रपानपत्रपे ह्रीश्च सम्पद्विपत्पदम् ॥ ३२ ॥ तेजः कर्माणि पाण्डित्यं वाक्शक्तिस्तत्त्वबुद्धिता। एवं दण्डस्य कौरव्य लोकेस्मिन्बहुरूपता ॥ ३३ ॥ न स्याद्यदीह दण्डो वै प्रमथेयुः परस्परम्। भयाद्दण्डस्य नान्योन्यं घ्नन्ति चैव युधिष्ठिर। दण्डेन रक्ष्यमाणा हि राजन्नहरहः प्रजाः। राजानं वर्धयन्तीह तस्माद्दण्डः परायणम् ॥ ३५ ॥ व्यवस्थापयति क्षिप्रमिमं लोकं नरेश्वर। सत्ये व्यवस्थितो धर्मो ब्राह्मणेष्ववतिष्ठते ॥३६॥ धर्मयुक्ता द्विजश्रेष्ठा वेदयुक्ता भवन्ति च। बभूव यज्ञो देवेभ्यो यज्ञः प्रीणाति देवताः३७प्रीताश्च देवता नित्यमिन्द्रे परिवदन्त्यपि। अन्नं

व्यवसाय(व्यापार),लाभ और हानि, जय और पराजय ॥ ३० ॥ तीक्ष्णता और कोमलता, मृत्यु,आगम और अनागम, विरोध और अविरोध,कार्य और अकार्य बल और अबल३१असूया और अनसूया,धर्म और अधर्म,लज्जा और निर्लज्जता,ह्री,सम्पत्ति और विपत्तिका स्थान,तेज,कर्म पंडिताई,वाक्यशक्ति,तत्त्वज्ञान इस प्रकार जगत् में दंडके बहुतसे स्वरूप हैं३२।३३हे युधिष्ठिर यदि। जगत्में दंड नहीं होता तो लोग एक दूसरेको पीस डालते, परन्तु दंडके भयसे लोग एक दूसरेका नाश नहीं करते हैं ॥३४॥ हे राजन्! दंडसे नित्य रक्षा की हुई प्रजा राजाकी वृद्धि करती है इसलिये दंड ही परमशरणरूप है ॥३५॥ और हे राजन्! दंड इस जगत् को एकदम नीति-धर्मकी व्यवस्थामें ले आता है; दंड सत्यका स्वरूप है, सत्यमें धर्म समाया हुआ है और धर्म (धर्मात्मा)ब्राह्मणोंमें रहता है ॥३६॥ धर्मात्मा ब्राह्मण वेदका अध्ययन करते हैं, वेदसे यज्ञ क्रियाजाता है, यज्ञ देवताओंको प्रसन्न करता है ३७

ददाति शक्रश्चाप्यनुगृह्णन्निमाः प्रजाः॥३८॥ प्राणाश्च सर्वभूतानां नित्यमन्ने प्रतिष्ठिताः। तस्मात् प्रजाः प्रतिष्ठन्ते दंडो जागर्त्ति तासु च॥ ३९ ॥ एवं प्रयोजनश्चैव दण्डः क्षत्रियतां गतः। रक्षन् प्रजाः स जागर्त्ति नित्यं स्ववहितोऽक्षरः॥ ४० ॥ ईश्वरः पुरुषः प्राणः सत्त्वं चित्तं प्रजापतिः। भूतात्मा जीव इत्येवं नामभिः प्रोच्यतेऽष्टभिः॥ ४१ ॥ अददद्दण्डमेवास्मै धृतमैश्वर्यमेव च। बलेन यश्च संयुक्तः सदा पञ्चविधात्मकः॥ ४२ ॥ कुलं बहुधनामात्याः प्रज्ञाः प्रोक्ता बलानि तु। आहार्यमष्टकैर्द्रव्यैर्बलमन्यद्युधिष्ठिर॥ ४३ ॥ हस्तिनोश्वा रथाः पत्तिर्नावो विष्टि-

देवता प्रसन्न होकर नित्य इन्द्रकी प्रार्थना करते हैं तब इन्द्र प्रजाके ऊपर अनुग्रह करता हुआ (वर्षासे खेती उपजाकर) अन्न देता है ३८ इस अन्नके आधार पर सब प्राणियोंके प्राण नित्य ठहरे रहते हैं, ऐसी प्रजाके ऊपर राजदण्ड जागता रहता है॥ ३९॥ दण्ड प्रजाकी रक्षा करनेवाला है, इसलिये मनुष्योंमें क्षत्रियका रूप धारण कियेहुए है, प्रजाकी रक्षा करके दण्ड नित्य जागता रहता है, सावधान रहता है और कभी मरता नहीं है॥ ४० ॥ ईश्वर, पुरुष, प्राण, सत्त्व, चित्त, प्रजापति, सब भूतोंका आत्मा और जीव इन आठ नामोंसे कहाजाता है।॥४१॥ जिसके पास सेनारूप शक्ति है तथा जिसके पास धर्म, व्यवहार, दण्ड, ईश्वर और जीव ये पाँच वस्तु होती हैं उस पुरुषको परमात्मा दण्ड, धीरज और ऐश्वर्य देता है॥ ४२ ॥ उत्तम कुल, अधिक धन वाले मन्त्री, मति तथा देह इन्द्रियें और मतिकी सामर्थ्य ये सब बल कहलाते हैं, हे युधिष्ठिर! यह सब बल तथा आगे कहा हुआ आठ प्रकारका बल तथा भण्डार आदिकी वृद्धि करनेवाला बल राजाको पैदा करना चाहिये४३हाथी, घोड़े, रथ पैदल, नौका, बेगार, देशकी प्रजाकी वृद्धि और भिन्न२प्रकारके पशुओंका संग्रह

स्तथैव च । दैशिकाश्चाधिकाश्चैव तदष्टांगं बलं स्मृतम् ॥ ४४ ॥ अथर्वांगस्य युक्तस्य रथिनो हस्तिपायिनः। अश्वारोहाः पदाताश्च मन्त्रिणो रसदाश्च ये ॥४५॥ भिक्षुकाः प्राड्विवाकाश्च मौहूर्ता दैवचिन्तकाः । कोशो मित्राणि धान्यं च सर्वोपकरणानि च ४६ सप्तप्रकृति चाष्टांगं शरीरमिह यद्विदुः । राज्यस्य दण्डमेवांगं दंडः प्रभव एव च ॥ ४७ ॥ ईश्वरेण प्रयत्नेन कारणात् क्षत्रियस्य च । दण्डो दत्तः समानात्मा दण्डो हीदं सनातनम् ॥ ४८ ॥ राज्ञां पूज्यतमो नान्यो यथा धर्मः प्रदर्शितः । ब्रह्मणा लोकरक्षार्थं स्वधर्मस्थापनाय च ॥४९॥ भर्तृप्रत्यय उत्पन्नो व्यवहारस्तथा-परः । तस्माद्यः सहितो दृष्टो भर्तृप्रत्ययलक्षणः ॥ ५० ॥ व्यवहारस्तु वेदात्मा वेदप्रत्यय उच्यते । मौलश्च नरशार्दूल शास्त्रो-

यह आठ प्रकारका बल कहा है४४सब प्रकारकी युद्धकी सामग्रीसे तयार हुआ बल और कवच पहरकर युद्धके लिये तयार हुआ राजाका लश्कर, रथी, हाथीसवार, घुडसवार, पैदल, सरदार, शरीरके अङ्गोंके गुणदोषोंको जाननेवाले वैद्य, भिक्षुक, न्यायाधीश, ज्योतिषी, शांतिकर्म करनेवाले, अथर्व वेदके मन्त्रोंको जाननेवाले, भण्डार, मित्र, धान्य सब प्रकारकी सामग्रियें, राज्यकी सात प्रकृति और आठ अङ्ग इन सबको राज्यका शरीर कहते हैं, इनमें दण्ड राज्यका अङ्ग गिनाजाता है और राज्यको उत्पन्न करनेवाला (सेनारूपमें) दण्ड ही है ॥ ४५-४७ ॥ ईश्वरने कारणवश उद्योग करके इस जगत्में सबके साथ समानभावसे वर्त्तनेवाला दण्ड क्षत्रियको दिया है और दण्डके अधीन सनातनधर्म प्रकाशित होरहा है ॥ ४८ ॥ जिसके भयसे यह सब जगत् न्यायका वर्त्ताव करे ऐसा संपूर्ण सन्मानके योग्य दण्ड राजाको सौंपा है, ब्रह्माने लोगोंकी रक्षाके लिये तथा अपने धर्मकी स्थापनाके लिये दण्डका धर्मका सामान्य रीतिसे प्रयोग

कृश्च तथापरः ॥ ५१ ॥ उक्तो यश्चापि दण्डोसौ भर्तृप्रत्यय-लक्षणः । ज्ञेयो न स नरेन्द्रस्थो दण्डः प्रत्यय एव च ॥ ५२ ॥ दंडप्रत्ययदृष्टोपि व्यवहारात्मकः स्मृतः । व्यवहारः स्मृतो यश्च स वेदविषयात्मकः ॥ ५३ ॥ यश्च वेदप्रसूतात्मा स धर्मो गुण-दर्शनः । धर्मप्रत्यय उद्दिष्टो यथा धर्मं कृतात्मभिः ॥ ५४ ॥ व्य-

करना कहा है ॥४९-५१॥ वादी और प्रतिवादीके विवादरूप कारणमें एक जुदा ही व्यवहार उत्पन्न होजाता है, वादी प्रति-वादियोंमेंसे एकके कहने पर विश्वास करके न्याय देना, इसमेंसे उत्पन्नहुआ यह व्यवहार हित करनेवाला है, इस व्यवहारसे एकका जय दूसरेका पराजय होता है दूसरे व्यवहारका आत्मा वेद है अर्थात् वह व्यवहार वेदमेंसे उत्पन्न करके निकाला गया है, इसलिये उसको वैदिक व्यवहार कहते हैं (यह व्यवहार प्रायश्चित्तरूप है और इसका निर्णय परिषद्-ब्राह्मण सभा करती है) हे मनु-जेन्द्र ! तीसरा व्यवहार कुलाचार सम्बन्धी है जो शास्त्रके अनु-कूल होता है॥५१॥इस तीन प्रकारके व्यवहारमें पहला व्यवहार वादी प्रतिवादिका खडाकियाहुआ व्यवहार, जिसमें वादी प्रतिवादीके दावेके स्वरूपको समझकर निर्णय देना होता है, यह राजाके अधीन है, इस व्यवहारको दण्डके नामसे अथवा साक्षी देनेके नामसे जानाजाता है॥५२॥ दण्ड दियाजाय या न दियाजाय यह साक्षीके अधीन है,इसलिये इसको व्यवहारात्मक कहाजाता है, जिसको केवल व्यवहार कहाजाता है वह शास्त्रके अधीन है और शास्त्र वेदके अधीन है ।५३। जिस व्यवहारका वेदमें वर्णन किया है उसको सदाचाररूप वा धर्मरूप कहा है, सदाचार और धर्मको माननेवाले पुरुषोंका यह व्यवहार हित करता है और पुण्यवान् पुरुषोंने जैसे सामान्य नियम बना दिये हैं उनके अनुसार ही व्यवहारको कहा है ॥ ५४ ॥

वहारः प्रजा गोप्ता ब्रह्मदिष्टो युधिष्ठिर । त्रीन्धारयति लोकान्वै सत्यात्मा भूतिवर्धनः ॥ ५५ ॥ यश्च दण्डः स दृष्टो नो व्यवहारः सनातनः । व्यवहारश्च दृष्टो यः स वेद इति निश्चितम् ५६ यश्च वेदः स वै धर्मो यश्च धर्मः स सत्पथः । ब्रह्मा पितामहः पूर्व बभूवाथ प्रजापतिः ॥ ५७ ॥ लोकानां स हि सर्वेषां ससुरासुररक्षसाम् । समनुष्योरगवतां कर्त्ता चैव स भूतकृत् ॥ ५८ ॥ ततोऽन्यो व्यवहारोयं भर्तृप्रत्ययलक्षणः । तस्मादिदमथोवाच व्यवहारे निदर्शनम् ॥५६॥ माता पिता च भ्राता च भार्या चैव पुरोहितः । नादण्ड्यो विद्यते राज्ञो यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥६०॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि दण्डरूपादिकथने एकविंशत्याधिकशततमोऽध्यायः १२१

हे युधिष्ठिर ! तीसरे प्रकारका व्यवहार मनुष्योंकी रक्षा करने वाला है, उसको वेदमें कहा है, वह व्यवहार सत्यस्वरूप है, ऐश्वर्यको बढानेवाला है. वह तीनों लोकोंको धारण कियेहुए है ॥ ५५ ॥ जो दण्ड है वह सनातन व्यवहाररूप है और जो व्यवहार देखनेमें आता है वह वेदमेंसे उत्पन्न हुआ है, ऐसा विद्वानोंने निश्चय किया है ॥ ५६ ॥ वेद धर्मका, सदाचारका और कर्त्तव्यका स्वरूप है तथा सदाचार और कर्त्तव्यपरायणता ही धर्म है, पहले प्रजाके पति और पितामह ब्रह्मा उत्पन्न हुए थे ॥ ५७ ॥ उन्होंने देवता, दैत्य, राक्षस, मनुष्य और सर्प आदि सब प्राणियोंको रचा ॥ ५८ ॥ और फिर वादी प्रतिवादीके कार्यके निर्णयरूप व्यवहारको रचदिया, उस व्यवहारमें उन्होंने यह वचन कहा ॥ ५६ ॥ जो राजा धर्मसे प्रजाका पालन करता है उस राजाके लिये माता, पिता, भाई, स्त्री और पुरोहित इनमेंसे कोई भी अदण्डनीय नहीं है (अर्थात् माता पिता आदि भी अपराध करें तो उनको दण्ड देय)६० एकसौ इक्कीसवाँ अध्याय

भीष्म उवाच । अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
अंगेषु राजा द्युतिमान् वसुहोम इति श्रुतः ॥ १ ॥ स राजा धर्म-
विन्नित्यं सह पत्न्या महातपाः । मुञ्जपृष्ठं जगामाथ पितृदेवर्षि-
पूजितम् ॥ २ ॥ तत्र शृंगे हिमवतो मेरौ कनकपर्वते । यत्र मुञ्जा-
वटे रामो जटाहरणमादिशत् ॥ ३ ॥ तदा प्रभृति राजेन्द्र ऋषिभिः
संशितव्रतैः । मुञ्जपृष्ठ इति प्रोक्तः स देशो रुद्रसेवितः ॥ ४ ॥ स
तत्र बहुभिर्युक्तस्तदा श्रुतिमयैर्गुणैः । ब्राह्मणानामनुमतो देवर्षि-
सदृशोऽभवत् ॥ ५ ॥ तं कदाचिददीनात्मा सखा शक्रस्य मानितः ।
अभ्यगच्छन्महीपालो मान्धाता शत्रुकर्षणः ॥ ६ ॥ सोऽपसृत्य तु मान्धाता
वसुहोमं नराधिपम् । दृष्ट्वा प्रकृष्टतपसं विनीतोऽग्रेऽभ्यतिष्ठत ॥ ७ ॥

भीष्मने कहा, कि-हे राजा युधिष्ठिर ! इस दण्डके विषयमें एक पुराना इतिहास इसप्रकार उदाहरणरूपसे है; अङ्गदेशमें वसुहोम नामका एक कान्तिमान् प्रसिद्ध राजा था ॥ १ ॥ वह राजा धर्मको जानता था और अपनी रानीके सहित तप करनेमें लगा रहता था, एक समय वह राजा पितर, देवता और ऋषियोंसे पूजित मुञ्जपृष्ठ नामके पर्वत पर गया ॥ २ ॥ सुवर्णके मेरु पर्वतके समीप हिमालयके शिखर पर यह मुञ्जपृष्ठ था, तहाँ मुञ्ज नामके वड़के नीचे रामने अपने केशोंको जटारूपसे बाँधा था ॥ ३ ॥ उस समय से ही उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ऋषि हे राजेन्द्र ! उस स्थानको मुञ्जपृष्ठ नामसे कहते हैं, उस देशमें रुद्र रहते हैं ॥ ४ ॥ राजा वसुहोम तहाँ रहकर वेदमें अनन्त गुणोंसे भरपूर और देवर्षियोंकी समान ब्राह्मणोंमें माननीय होगया था ॥ ५ ॥ एक समय शत्रुओंका नाश करनेवाला और इन्द्रका मान्य मित्र उदार चित्त राजा मान्धाता उस पर्वतवासी राजाके पास आया ॥ ६ ॥ उत्तम तपस्या करनेवाले राजा वसुहोमको देखकर राजा मान्धाता विनयके साथ उसके पास जाकर खड़ा होगया ॥ ७ ॥ राजा

वसुहोमोऽपि राज्ञो वै पाद्यमर्घ्यं न्यवेदयत् । सप्ताङ्गस्य तु राज्यस्य पप्रच्छ कुशलाव्ययौ ॥८॥ सद्भिराचरितं पूर्वं यथावदनुयायिनाम् । अपृच्छद्वसुहोमस्तं राजन् किं करवाणि ते ॥९॥ सोऽब्रवीत् परमप्रीतो मान्धाता राजसत्तमम् । वसुहोमं महाप्राज्ञमासीनं कुरुनन्दन ॥ १० ॥ मान्धातोवाच । बृहस्पतेर्मतं राजन्नधीतं सकलं त्वया । तथैवौशनसं शास्त्रं विज्ञातं ते नरोत्तम ॥ ११ ॥ तदहं ज्ञातुमिच्छामि दण्ड उत्पद्यते कथम् । किमस्य पूर्वं जागर्त्ति किम्वा परममुच्यते ॥ १२ ॥ कथं क्षत्रियसंस्थश्च दण्डः संप्रत्यवस्थितः । ब्रूहि मे सुमहाप्राज्ञ ददाम्याचार्यवेतनम् ॥ १३ ॥ वसुहोम उवाच । शृणु राजन् यथा दण्डः सम्भूतो लोकसंग्रहः । प्रजाविनयरक्षार्थं धर्मस्यात्मा सनातनः ॥ १४॥ ब्रह्मा यियक्षुर्भगवान्

वसुहोमने मान्धाताको पाद्य और अर्घ अर्पण किया, फिर राज्य में सात अङ्गोंका कुशल तथा निर्विघ्नपना बूझा ॥ ८ ॥ और अन्तमें सत्पुरुषोंके मार्गमें चलनेवाले राजा मान्धातासे वसुहोमने बूझा कि–हे राजन् ! तेरा कौनसा प्रिय काम करूँ ? ॥ ९ ॥ हे कुरुवंशी युधिष्ठिर ! तब राजा मान्धाताने अत्यन्त प्रसन्न होकर तहाँ बैठेहुए महाबुद्धिमान् राजा वसुहोमसे कहा ॥१०॥ मान्धाता बोला, कि–हे रान् ! तुम बृहस्पतिके सब शास्त्रको जानते हो तथा हे नरश्रेष्ठ ! शुक्राचार्यजीके नीतिशास्त्रको भी तुम जानते हो ११ इसलिये मैं जानना चाहता हूँ, कि–दण्डका उत्पत्तिस्थान क्या है ? इस दण्डके पहले कौन जागता रहता है ? और वह सबसे श्रेष्ठ क्यों कहलाता है ? ॥१२॥ दण्ड क्षत्रियके वशमें क्यों रहता है ? हे महाबुद्धिमान् वसुहोम! मैं शिष्य बनकर आपसे बूझता हूँ, मुझे इस का उत्तर दो, मैं तुम्हें गुरुदक्षिणा दूँगा ॥१३॥ वसुहोमने कहा, कि–हे मान्धाता ! लोगोंको नियममें रखनेवाला सनातनधर्मका आत्मारूप दण्ड प्रजाके विनयकी रक्षा करनेके लिये इस जगत्में

सर्वलोकपितामहः। ऋत्विजो नात्मनस्तुल्यान्ददर्शेति हि नः श्रुतम् १५
स गर्भं शिरसा देवो बहुवर्षाण्यधारयत् । पूर्णे वर्षसहस्रे तु स
गर्भः क्षुवतोपतत् ॥ १६ ॥ स क्षुपो नाम सम्भूतः प्रजापतिररिं-
दम । ऋत्विगासीन्महाराज यज्ञे तस्य महात्मनः ॥ १७ ॥
तस्मिन् प्रवृत्ते सत्रे तु ब्रह्मणः पार्थिवर्षभ । हृष्टरूपप्रधानत्वाद्दंडः
सोन्तर्हितोभवत् ॥ १८ ॥ तस्मिन्नन्तर्हिते चापि प्रजानां संकरो-
भवत् । नैव कार्यं न चाकार्यं भोज्याभोज्यं न विद्यते ॥ १९ ॥
पेयापेये कुतः सिद्धिर्हिंसन्ति च परस्परम् । गम्यागम्यं तदा
नासीत् स्वं परस्वञ्च वै समम् ॥ २० ॥ परस्परं विलुम्पन्ति

किस रीतिसे उत्पन्न हुआ है, यह तू सुन ॥ १४ ॥ मैंने सुना है, कि— किसी समय सब लोकोंके पितामह भगवान् ब्रह्माजीको यज्ञ करनेकी इच्छा हुई, परन्तु उन्होंने अपने समान किसी भी ऋत्विजको नहीं देखा॥१५॥तब ब्रह्माने बहुतसे वर्षों तक अपने मस्तकपर गर्भको धारण किया, जब एक हजार वर्ष पूरे हुए तब ब्रह्माको छींक आई और वह गर्भ मस्तक परसे नीचे गिरपड़ा १६ हे शत्रुओंका दमन करने वाले महाराज। वह गर्भ नीचे गिरते ही उसमेंसे क्षुप नामका प्रजापति उत्पन्न हुआ और वह महात्मा ब्रह्मदेवके यज्ञमें ऋत्विज बना ॥ १७ ॥ हे श्रेष्ठ राजन्। फिर प्रजापतिने नम्रता और शान्तिभरी आकृति धारणकी, तब दण्ड अदृश्य होगया ॥ १८ ॥ दण्डके अदृश्य होते ही प्रजामें वर्ण-सङ्करता होनेलगी, कौनसा काम करनेके योग्य है और कौनसा काम करनेके योग्य नहीं है, क्या भोजन करनेके योग्य है और क्या भोजन करनेके योग्य नहीं है यह विचार नष्ट होगया१९पीने योग्य और न पीने योग्यका विचार नहीं रहा,आपसमें एक दूसरेकी मारकाट करनेलगे,कहाँ जाना चाहिये,और कहाँ न जाना चाहिये इसका विचार भी नहीं रहा, वस्तुओंकी मालकियत नाममात्रकी

सारमेया यथामिषम् । अबलान् बलिनो घ्नन्ति निमर्यादमव-
र्त्तत ॥ २१ ॥ ततः पितामहो विष्णुं भगवन्तं सनातनम् । संपूज्य
वरदं देवं महादेवमथाब्रवीत् ॥ २२ ॥ अत्र त्वमनुकम्पां वै कर्त्तु-
मर्हसि केशव । सङ्करो न भवेदत्र यथा तद्वै विधीयताम् ॥ २३ ॥
ततः स भगवान् ध्यात्वा चिरं शूलवरायुधः । आत्मानमात्मना
दण्डं ससृजे देवसत्तमः ॥ २४ ॥ तस्माच्च धर्मचरणान्नीतिर्देवी
सरस्वती । ससृजे दण्डनीतिं सा त्रिषु लोकेषु विश्रुताम् ॥ २५ ॥
भूयः स भगवान् ध्यात्वा चिरं शूलवरायुधः । तस्त तस्य निका-
यस्य चकारैकैकमीश्वरम् ॥ २६ ॥ देवानामीश्वरञ्चक्रे देवंदशा-
शतेक्षणम् । यमं वैवस्वतञ्चापि पितॄणामकरोत् प्रभुम् ॥ २७ ॥

रहगई (लूटपाट होनेलगी)॥२०॥जैसे कुत्ते मांसको खानेके लिये इधर उधरको खेंचते हैं, ऐसे ही एक दूसरेके धनको लूटनेलगे बलवान् निर्बलोंका नाश करनेलगे, पडोसियोंके साथ सम्बन्धका विचार ही नहीं रहा, इसप्रकार चारों ओर मर्यादाका नाश होगया ॥ २१ ॥ यह देखकर पितामह ब्रह्माजी, वरदेनेवाले, सनातन विष्णुभगवान्के पास गए और उनकी पूजा करके उनसे कहा, कि—॥ २२ ॥ हे केशव ! इस समय आपको कृपा करनी चाहिये, आप ऐसा करें, कि- जिससे प्रजा वर्णसङ्कर न हो २३ यह सुन शार्ङ्ग धनुषको धारण करनेवाले देवश्रेष्ठ भगवान् विष्णुने बहुत देर तक विचार किया और फिर अपने आप ही दण्डरूप होगए ॥२४॥ तुरन्त चारों ओर धर्माचरण होनेलगा तब नीति-रूपा सरस्वती देवीने दंडनीतिको उत्पन्न किया, वह दंडनीति तुरन्त तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध होगई ॥ २५ ॥ फिर उत्तम आयुध धारण करनेवाले भगवान्ने फिर बहुत समय तक विचार किया और फिर भिन्न २ देवसमूहोंका एक २ ईश्वर (राजा) बनाया ॥ २६ ॥ हजार नेत्रोंवाले इन्द्रको देवताओंका राजा

धनानां राक्षसानाञ्च कुबेरमपि चेश्वरम् । पर्वतानां पतिं मेरुं सरिताञ्च महोदधिम् ॥ २८ ॥ अपां राज्येसुराणाञ्च विदधे वरुणं प्रभुम् । मृत्युं प्राणेश्वरमथो तेजसां च हुताशनम् ॥ २९ ॥ रुद्राणामपि चेशानं गोप्तारं विदधे प्रभुम् । महात्मानं महादेवं विशालाक्षं सनातनम् ॥ ३० ॥ वशिष्ठमीशं विप्राणां वसूनां जातवेदसम् । तेजसां भास्करं चक्रे नक्षत्राणां निशाकरम् ॥३१॥ वीरुधामंशुमन्तञ्च भूतानां च प्रभुं वरम् । कुमारं द्वादशभुजं स्कन्दं राजानमादिशत् ॥३२॥ कालं सर्वेशमकरोत्संहारविनयात्मकम् । मृत्योश्चतुर्विभागस्य दुःखस्य च सुखस्य च ॥ ३३ ॥ ईश्वरः सर्वदेवस्तु राजराजो नराधिपः । सर्वेषामेव रुद्राणां शूलपाणि-

---

बनाया, विवस्वान्के पुत्र यमको पितरोंका प्रभु बनाया ॥ २७ ॥ धनका और राक्षसोंका राजा कुबेरको किया, मेरुको पर्वतोंका राजा किया, महासागरको नदियोंका राजा किया ॥ २८ ॥ वरुणको जलका और असुरोंका राजा बनाया, मृत्युको प्राणोंका और सकल चैतन्य पदार्थका राजा बनाया, अग्निको प्रकाशका राजा बनाया ॥२९॥ प्रबल ईशानको रुद्रोंकी रक्षा करनेवाला राजा बनाया, यह ईशान महादेव, महात्मा, विशाल तीन नेत्र वाले और सनातन देव हैं ॥३०॥ वशिष्ठको ब्राह्मणोंका राजा बनाया, अग्निको वसुओंका राजा बनाया, सूर्यको तेजका राजा बनाया, चन्द्रमाको तारागणका राजा बनाया ॥ ३१ ॥ ओषधि आदि लताओंका राजा भी किरणधारी चन्द्रमाको बनाया, बारह भुजावाले, पराक्रमी देवताओंमें मुख्य स्वामिकार्त्तिकेयको महादेवके सेवक भूतोंका राजा होनेकी आज्ञा दी ॥३२॥ संहार करनेवाले तथा वृद्धि करनेवाले कालको सबका राजा बनाया तथा इसको ही (शस्त्र, शत्रु, रोग और भोजन इन) मृत्युके चार विभागोंका तथा सुख और दुःखका भी राजा बनाया, राजाओंके राजा शूलपाणि

रिति श्रुतिः ॥ ३४ ॥ तमेनं ब्रह्मणः पुत्रमनुजातं क्षुपं ददौ । प्रजानामधिपं श्रेष्ठं सर्वधर्मभृतामपि ॥ ३५ ॥ महादेवस्ततस्तस्मिन् वृत्ते यज्ञे यथा विधि । दण्डं धर्मस्य गोप्तारं विष्णवे सत्कृतं ददौ ॥ ३६ ॥ विष्णुरङ्गिरसे प्रादादङ्गिरा मुनिसत्तमः प्रादादिन्द्रमरीचिभ्यां मरीचिर्भृगवे ददौ ॥ ३७ ॥ भृगुर्ददावृषिभ्यस्तु दण्डं धर्मसमाहितम् । ऋषयो लोकपालेभ्यो लोकपालाः क्षुपाय च ३८ क्षुपस्तु मनवे प्रादादादित्यतनयाय च । पुत्रेभ्यः श्राद्धदेवस्तु सूक्ष्मधर्मार्थकारणात् ॥ ३९ ॥ विभज्य दण्डः कर्त्तव्यो धर्मेण न यदृच्छया । दुष्टानां निग्रहो दंडो हिरण्यं बाह्यतः क्रिया ॥४०॥

को सब रुद्रोंका राजा बनाया, ऐसा श्रुतिमें कहा है ३३ ॥ ३४ ॥ और प्रजाके अधिपति तथा धर्मात्मा पुरुषोंमें श्रेष्ठ ब्रह्माके पुत्र क्षुपको दण्डका राजा बनाया, तदनन्तर प्रजापतिका वह यज्ञ शास्त्रोक्त विधिसे समाप्त होजाने पर महादेवने धर्मकी रक्षा करने वाला वह दण्ड विष्णुका सत्कार करके उनको अर्पण कर दिया ॥३५-३६॥ विष्णुने अङ्गिराको सौंपा, मुनिवर अङ्गिराने इन्द्र और मरीचिको सौंपा, मरीचिने भृगुको दिया ॥ ३७ ॥ भृगुने धर्मकी रक्षा करनेवाला वह दण्ड ऋषियोंको दिया, ऋषियोंने लोकपालोंको और लोकपालोंने राजदण्ड क्षुपको दिया था ॥ ३८ ॥ क्षुपने सूर्यके पुत्र मनुको दिया और श्राद्धदेव मनुने सूक्ष्म धर्मकी रक्षा करनेके लिये वह दण्ड अपने पुत्रोंको सौंप दिया ॥३९॥ दण्डको चाहे जैसे काममें नहीं लाना चाहिये उसका वर्त्ताव न्याय और धर्मानुसार विवेकसे वर्त्तकर करना चाहिये दण्ड निर्बलकी रक्षाके लिये है, अपराधमें सुवर्ण आदि का दंड चाहिये, अपनी धुनके अनुसार नहीं करना चाहिये जो दण्ड (जुरमाना) लियाजाता है या जो माल छीन लिया (जप्त किया) जाता है वह बाहरी क्रिया है (अर्थात् लोगोंको

व्यङ्गत्वञ्च शरीरस्य वधो नाल्पस्य कारणात्। शरीरपीडास्ता-
स्ताश्च देहत्यागो विवासनम् ॥ ४१ ॥ तं ददौ सूर्यपुत्रस्तु मनुर्वै
रक्षणार्थकम्। आनुपूर्व्याच्च दण्डोयं प्रजा जागर्ति पालयन्॥४२॥
इन्द्रो जागर्ति भगवानिन्द्रादग्निर्विभावसुः। अग्नेर्जागर्ति वरुणो
वरुणाच्च प्रजापतिः ॥ ४३ ॥ प्रजापतेस्ततो धर्मो जागर्ति विन-
यात्मकः। धर्माच्च ब्रह्मणः पुत्रो व्यवसायः सनातनः ॥ ४४ ॥
व्यवसायात्ततस्तेजो जागर्ति परिपालयन्। ओषध्यस्तेजसस्तस्मा-
दोषधिभ्यश्च पर्वताः ॥ ४५ ॥ पर्वतेभ्यश्च जागर्ति रसो रस-
गुणात्तथा। जागर्त्ति निर्ऋतिर्देवी ज्योतींषि निर्ऋतेरपि ॥४६॥
वेदाः प्रतिष्ठा ज्योतिर्भ्यस्ततो हयशिराः प्रभुः। ब्रह्मा पितामहस्त-

---

डरानेके लिये हैं, खजाना भरनेके लिये नहीं है) ॥४०॥ देहके
अङ्गोंको काटकर शरीरको कुबडा करदेना, साधारण अपराधके
लिये प्राणान्त दण्ड देना, शरीरको पीड़ा देनेवाला-पर्वतके
शिखर आदि परसे नीचेको फेंकदेनेका या देशके बाहर निकाल
देने आदिका दण्ड देना, यह थोड़ेसे अपराधके लिये नहीं किया
जाता है (किन्तु बड़ेभारी अपराधके लिये कियाजाता है)॥४१॥
सूर्यके पुत्र मनुने प्रजाकी रक्षा करनेके लिये दण्ड बराबर अपने
पुत्रोंको सौंपा था और उत्तरोत्तर अधिकारीके हाथमें रहनेसे
प्रजाका पालन करताहुआ दण्ड जागता रहता है ॥४२॥ सबके
ऊपर भगवान् इन्द्र जागते रहते हैं, इन्द्रसे ज्वालाओंवाला अग्नि,
अग्निसे वरुण, वरुणसे प्रजापति ॥ ४३ ॥ प्रजापतिसे व्यवस्था
वाला धर्म, धर्मसे ब्रह्माका सनातन व्यवसाय नामका पुत्र ॥४४॥
व्यवसायसे चारों ओर रक्षा करनेवाला तेज, तेजसे देवता और
मनुष्योंके उपयोगी ओषधियें, ओषधियोंसे पर्वत ॥४५॥ पर्वतों
से रस, रस और उनके गुणोंसे निर्ऋति देवी और निर्ऋति
देवीसे ज्योतिर्मण्डल जागता रहता है ॥ ४६ ॥ ज्योतिर्मण्डलसे

स्माज्जागर्ति प्रभुरव्ययः ॥४७॥ पितामहान्महादेवो जागर्ति भगवान्शिवः । विश्वे देवाः शिवाच्चापि विश्वेभ्यश्च तथर्षयः ॥४८॥ ऋषिभ्यो भगवान्सोमः सोमाद्देवाः सनातनाः । देवेभ्यो ब्राह्मणा लोके जाग्रतीत्युपधारय ॥४९॥ ब्राह्मणेभ्यश्च राजन्या लोकान् रक्षन्ति धर्मतः । स्थावरं जङ्गमं चैव क्षत्रियेभ्यः सनातनम् ॥५०॥ प्रजा जाग्रति लोकेस्मिन्दण्डो जागर्ति तासु च । सर्वं संक्षिपते दंडः पितामहसमप्रभः ॥५१॥ जागर्ति कालः पूर्वञ्च मध्ये चान्ते च भारत । ईश्वरः सर्वलोकस्य महादेवः प्रजापतिः ॥ ५२ ॥ देवदेवः शिवः सर्वो जागर्ति सततं प्रभुः । कपर्दी शंकरो रुद्रः शिवः स्थाणुरुमापतिः ॥ ५३ ॥ इत्येष दंडो विख्यात आदौ मध्ये तथावरे । भूमिपालो यथान्यायं वर्तेतानेन धर्मवित् ॥५४॥

वेद, वेदोंसे प्रभु हयग्रीव, उनसे अविनाशी और प्रभु ब्रह्मा. ४७ ब्रह्मासे महादेव भगवान् शिव, शिवसे विश्वेदेव, विश्वेदेवसे ऋषि ॥ ४८ ॥ ऋषियोंसे भगवान् सोम, सोमसे सनातन देव और देवताओंसे जगत्में ब्राह्मण जागते रहते हैं, यह जान ४९ ब्राह्मणोंसे क्षत्रिय जाग्रत रहते हैं और वे धर्मके अनुसार लोकोंकी रक्षा करते हैं,इस जगत्में क्षत्रियोंसे सनातन स्थावर जङ्गम प्रजा जाग्रत् रहती है ॥५०॥ और उस सब प्रजाके ऊपर दण्ड जागता रहता है, पितामह ब्रह्माकी समान कान्तिमान् दंड इस सब जगत्को अपने वशमें रखता है ॥ ५१ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! कालरूप दंड सृष्टिके आरम्भमें आदि, मध्य और अन्तमें भी जागता रहता है. दड सब लोकोंका ईश्वर और प्रजापति है ५२ महादेव, देवोंका देव, शिव, सर्वरूप, निरन्तर जागता रहनेवाला; शिव, जटाजूटधारी शङ्कर, रुद्र, शिव, स्थाणु, उमापति इसप्रकार आदि, मध्य और अन्तमें दंड प्रसिद्ध है, धर्मको जाननेवाला भूमिपाल इस दंडको धारण करके न्यायके अनुसार वर्ताव

भीष्म उवाच । इतीदं वसुहोमस्य शृणुयाद्यो मतं नरः । श्रुत्वा सम्यक् प्रवर्त्तेत सर्वान्कामानवाप्नुयात् ॥ ५५ ॥ इति ते सर्वमाख्यातं यो दंडो मनुजर्षभ । नियन्ता सर्वलोकस्य धर्माक्रान्तस्य भारत ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि दंडोत्पत्त्युपाख्याने द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२२ ॥

युधिष्ठिर उवाच । तात धर्मार्थकामानां श्रोतुमिच्छामि निश्चयम् । लोकयात्रा हि कार्त्स्न्येन त्रिष्वेतेषु प्रतिष्ठिता ॥ १ ॥ धर्मार्थकामाः किं मूलास्त्रयाणां प्रभवश्च कः । अन्योन्यं चानुपज्जन्ते वर्त्तन्ते च पृथक् पृथक् ॥ २ ॥ भीष्म उवाच । यदा ते स्युः सुमनसो लोके धर्मार्थनिश्चये । कालप्रभवसंस्थासु सज्जन्ते च

करे ॥५३-५४॥ भीष्मने कहा, कि-जो राजा वसुहोमके मतको सुनता है और सुननेके बाद अच्छे प्रकारसे आचरण करता है वह सब कामनाओंको पाता है ॥ ५५ ॥ हे राजन् ! मैंने तुम्हे दंडके विषयकी सब कथा सुनादी, यह दण्ड धर्मके बन्धनमें बँधे हुए सब मनुष्योंका नियन्ता है ॥ ५६ ॥ एकसौ बाईसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १२२ ॥ छ ॥ छ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि-मैं धर्म, अर्थ और कामका निश्चित निर्णय सुनना चाहता हूँ, इन तीनोंमेंसे संसारका व्यवहार पूर्ण रीतिसे किसके आधार पर चलता है ? ॥ १ ॥ धर्म, अर्थ और कामका मूल क्या है ? इन तीनोंकी उत्पत्तिका स्थान कौनसा है ? ये प्रसङ्गवश एक दूसरेके साथ मिलकर रहते हैं और प्रसङ्गवश एक दूसरेसे जुदे क्यों होजाते हैं ? ॥ २ ॥ भीष्मने कहा, कि-हे युधिष्ठिर ! इस जगत्में धर्मपूर्वक अर्थको पानेके लिये जब मनुष्योंका मन तयार होता है (जैसे कि-मैं गर्भाधानकी विधिके अनुसार ऋतुकालमें स्त्रीका सहवास करके पुत्रको प्राप्त

त्रयस्तदा ॥ ३ ॥ धर्ममूलः सदैवार्थः कामोऽर्थफल उच्यते । सङ्कल्पमूलास्ते सर्वे संकल्पो विषयात्मकः ॥ ४ ॥ विषयाश्चैव कार्त्स्न्येन सर्व आहारसिद्धये । मूलमेतत्त्रिवर्गस्य निवृत्तिर्मोक्ष उच्यते॥५॥धर्माच्छरीरसंगुप्तिर्धर्मार्थं चार्थ उच्यते । कामो रतिफलश्चात्र सर्वे ते च रजस्वलाः ॥ ६ ॥ सन्निकृष्टांश्चरेदेतान्न चैतान्मनसा त्यजेत् । विमुक्तस्तपसा सर्वान् धर्मादीन् कामनैष्ठिकान् ॥ ७ ॥ श्रेष्ठं बुद्धिस्त्रिवर्गस्य यदयं प्राप्नुयान्नरः । कर्मणा

करूँ, यह उत्तम विचार होता है) तब (योनिसंस्काररूप) धर्म (पुत्र प्राप्तिरूप) अर्थ और (स्त्रीसङ्गरूप) काम (ये तीनों) क्रमसे उत्पन्न होते हैं और एकत्र होकर रहते हैं ॥ ३ ॥ धर्मसे ही सदा अर्थका लाभ होता है, इसलिये धर्मको अर्थका मूल कहा है और कामको (वैभवोंके भोगको) अर्थका फल कहा है, धर्म, अर्थ तथा काम इन तीनोंका मूल सङ्कल्प है, यह सङ्कल्प रूप आदि विषयरूप है ॥ ४ ॥ रूप आदि सब विषय भोगके लिये इच्छा किये जाते हैं, इसप्रकार विषय त्रिवर्गका मूल हैं और इससे सर्वथा उलटा सङ्कल्परहित पुरुषार्थ मोक्ष कहलाता है ॥ ५ ॥ धर्मसे शरीरकी रक्षा होती है और धर्माचरणके लिये धनकी प्राप्ति करनी चाहिये तथा रतिके लिये कामका सेवन करे, ये तीन पदार्थ रजोगुणी कहलाते हैं ॥ ६ ॥ स्वर्ग आदि बाहरी फल गिनाजाता है और उसके लिये धर्म, अर्थ तथा कामका सेवन करे, यह दूरका गिना जाता है और आत्मज्ञान रूप सन्निकृष्ट (समीपका) फल गिनाजाता है,स्वर्गादिके लिये जिस धर्म आदिका सेवन करे वह सन्निकृष्ट कहलाता है ॥७॥ धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्गका आचरण मोक्षके लिये ही है, मनुष्य इसप्रकार प्राप्त करलेय तो कैसा उत्तम है ? बुद्धिपूर्वक (समझकर) कर्म करनेसे कदाचित् मोक्ष सिद्ध होजाय, कदा-

बुद्धिपूर्वेण भवत्यर्थो न वा पुनः ॥ ८ ॥ अर्थार्थमन्यद्भवति विपरीतमथापरम् । अनर्थार्थमवाप्यार्थमन्यत्राद्योपकारकम् । बुद्ध्या बुद्धिविहार्थेन तदज्ञाननिकृष्टया ॥ ९ ॥ अपध्यानमलो धर्मो मलोऽर्थस्य निगूहनम् । संप्रमोदमलः कामो भूयः स्वगुणवर्जितः॥१०॥ अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । कामन्दकस्य सम्वादमाङ्गरिष्ठस्य चोभयोः ॥ ११ ॥ कामन्दमृषिमासीनमभिवाद्य नरा-

चित् न भी हो (परन्तु उसके लिये उद्योग तो करे ही) ॥८॥ कितने ही लोग कहते हैं, कि-धर्माचरणसे धनकी प्राप्ति होती है, परन्तु इसके सिवाय दूसरी रीतिसे (नौकरी, खेती आदि करनेसे) भी धनकी प्राप्ति होती है, इसके सिवाय और भी एक इसके विरुद्ध कारण है, (वह यह कि-दैवसे, स्वभावसे या हठसे भी धनकी प्राप्ति होती है) इसप्रकार अर्थ प्राप्त होता है और ऐसा करनेसे कुछ सुख नहीं मिलता, बल्कि उसका फल अनर्थकारी होता है, तथा अर्थसे भी कुछ धर्माचरण नहीं होसकता, परन्तु उपवास आदि व्रत करनेसे भी धर्मसाधन होसकता है, धर्मसे अर्थकी प्राप्ति होती है और अर्थसे धर्माचरण होता है, परन्तु अज्ञानवश विषयोंमें फँसाहुआ मूढ़ मनुष्य अधम बुद्धिके कारणसे धर्मके और अर्थके फलको नहीं पासकता ॥ ९ ॥ तथा धर्माचरण करके उसके फलकी इच्छा करना यह धर्मका मैल कहलाता है, न दान करना, न उपभोग करना किन्तु धनका संग्रह करना यह धनका मैल कहलाता है, अयोग्य स्थान पर प्रीति करना यह कामका मैल कहलाता है, परन्तु जब धर्म आदि अपने दोषसे रहित शुद्ध होते हैं तब वे निराको शुद्ध करदेते हैं और इससे मोक्षरूप फल मिलता है ॥ १० ॥ इस विषयमें कामन्दक तथा आङ्गरिष्ठ इन दोनोंका सम्वादरूप एक पुराना इतिहास इसप्रकार कहाजाता है, कि-॥ ११ ॥ आङ्गिरिष्ठ नामका एक राजा

धिपः । आङ्गिरिष्ठोथ पप्रच्छ कृत्वा समयपर्य्ययम् ॥ १२ ॥ यः पापं कुरुते राजा काममोहबलात्कृतः । प्रत्यासन्नस्य तस्यर्षे किं स्यात् पापप्रणाशनम् ॥ १३ ॥ अधर्मं धर्म इति च योऽज्ञानादाचरेन्नरः । तं चापि प्रथितं लोके कथं राजा निवर्त्तयेत् ॥ १४ ॥ कामन्दक उवाच । यो धर्मार्थौ परित्यज्य काममेवानुवर्त्तते । स धर्मार्थपरित्यागात् प्रज्ञानाशमिहार्च्छति ॥ १५ ॥ प्रज्ञानाशात्मको मोहस्तथा धर्मार्थनाशकः । तस्मान्नास्तिकता चैव दुराचारश्च जायते ॥ १६ ॥ दुराचारान् यदा राजा प्रदुष्टान्न नियच्छति । तस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद्वेश्मगतादिव ॥ १७ ॥ तं प्रजा नानु-

अपने आश्रमें सुखसे बैठेहुए कामन्दक नामक ऋषिके पास समय साधकर गया, तहाँ जा उनको प्रणाम करके इसप्रकार प्रश्न किया ॥ १२ ॥ जो राजा काम और मोहके वशमें होकर पापकर्म करता है और फिर उसको पश्चात्ताप होता है तो हे ऋषे ! कौनसे कर्मसे उसका पाप नष्ट होता है ? ॥ १३ ॥ और अनजानमें अधर्मको धर्म समझकर उसका आचरण करता है तो ऐसे लोकोंमें प्रसिद्ध पुरुषको राजा अधर्म करनेसे कैसे रोके?१४ कामन्दकने कहा, कि–जो पुरुष धर्मको तथा अर्थको त्यागकर केवल कामका ही सेवन करता है उस पुरुषकी बुद्धि धर्म और अर्थका त्याग करनेसे नष्ट होजाती है ॥ १५ ॥ बुद्धिका नाश होनेसे मोह उत्पन्न होता है, वह मोह धर्म और अर्थ दोनोंका नाश करदेता है, इसकारणसे नास्तिकपना आजाता है तथा मनुष्य दुराचारी भी होजाता है ॥१६॥ राजा जब दुराचारियोंको और महादुष्ट पुरुषोंको दुष्ट कर्म करनेसे नहीं रोकता है तो जैसे साँप वाले घरसे लोग घबड़ाते हैं तैसे ही उस राजासे प्रजा घबड़ाने लगती है ॥ १७ ॥ फिर प्रजा उस राजाकी आज्ञा नहीं मानती तथा ब्राह्मण और सत्पुरुष भी उसकी आज्ञाके अनुसार नहीं

वर्त्तन्ते ब्राह्मणानां च साधवः । ततः संशयमाप्नोति तथा वध्यत्व-मेति च ॥१८॥ अपध्वस्तस्त्ववमतो दुःखं जीवितमृच्छति । जीवेच्च यदपध्वस्तस्तच्छुद्धं मरणं भवेत् ॥ १९ ॥ अत्रैतदाहुराचार्याः पापस्य परिगर्हणम् । सेवितव्या त्रयी विद्या सत्कारो ब्राह्मणेषु च ॥ २० ॥ महामना भवेद्धर्मे विवहेच्च महाकुले । ब्राह्मणांश्चापि सेवेत क्षमायुक्तान् मनस्विनः ॥२१॥ जपेदुदकशीलः स्यात् सततं सुखमास्थितः । धर्मान्वितान् संप्रविशेद्बहिः कृत्वेह दुष्कृतीन्॥२२ प्रसादयेन्मधुरया वाचा चाप्यथ कर्मणा । तवास्मीति वदेन्नित्यं परेषां कीर्त्तयन् गुणान् ॥ २३ ॥ अपापो ह्येवमाचारः क्षिप्रं बहुमतो भवेत् । पापान्यपि हि कृच्छ्राणि शमयेन्नात्र संशयः ॥ २४ ॥

चलते, अन्तको उस राजाके ऊपर प्रजाकी ओरका भय आपड़ता है और (अवसर पाकर) उसको मारडालते हैं ॥ १८ ॥ (यदि वह जीता रहता है तो) लोगोंमें उसका अपमान और तिरस्कार होता है तथा वह दुःखमय जीवन विताता है, मानभङ्ग होकर जो जीना है वह वह वास्तवमें मरण माना जाता है॥१९॥ इस पापमेंसे बचनेके लिये आचार्य ऐसा कहगए हैं, कि-निन्दाका पात्र हुआ राजा अपने पापकी निन्दा करे, तीनों वेदोंमें कहे हुए कर्म करे, ब्राह्मणोंका सत्कार करे ॥ २० ॥ धर्मके ऊपर श्रद्धा रक्खे, उत्तम कुलमें विवाहसम्बन्ध करे, क्षमावान् मनस्वी ब्राह्मणोंकी शरणमें जाय ॥ २१ ॥ जलाशयमें बैठकर जप करे, नित्य आनन्दमें रहे, धर्मात्मा पुरुषोंको अपने पास रक्खे, पापियोंको देशसे बाहर निकाल देय॥२२॥मधुरवाणी और उत्तम कर्मसे सबको प्रसन्न करे, दूसरेके गुणों की चर्चा करे और नित्य कहे, कि- मैं तुम्हारा सेवक हूँ ॥ २३ ॥ जो पापी राजा ऐसा वर्त्ताव करता है तो वह तुरन्त ही बहुतसे लोगोंका मान्य हो जाता और अपने महापापोंका नाश करता है, इसमें सन्देह नहीं है॥२४॥

गुरवो हि परं धर्मं यं ब्रूयुस्त्वं तथा कुरु । गुरूणां हि प्रसादाद्धि श्रेयः परमवाप्स्यसि ॥ २५ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कामंदकाङ्गरिष्ठसंवादे त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२३ ॥

युधिष्ठिर उवाच । इमे जना नरश्रेष्ठ प्रशंसन्ति सदा भुवि । धर्मस्य शीलमेवादौ ततो मे संशयो महान् ॥ १ ॥ यदि तच्छक्यमस्माभिर्ज्ञातुं धर्मभृतांवर । श्रोतुमिच्छामि तत् सर्वं यथैतदुपलभ्यते ॥ २ ॥ कथं तत् प्राप्यते शीलं श्रोतुमिच्छामि भारत । किं लक्षणं च तत् प्रोक्तं ब्रूहि मे वदतांवर ॥३॥ भीष्म उवाच । पुरा दुर्योधनेनेह धृतराष्ट्राय मानद । आख्यातं तप्यमानेन श्रियं दृष्ट्वा तथागताम् ॥ ४ ॥ इन्द्रप्रस्थे महाराज तव सभ्रातृकस्य ह ।

बड़े और आचार्य तुझे जिस परमधर्मको उपदेश दें उस धर्मका तू आचरण कर, क्योंकि- गुरुजनोकी कृपासे तेरा परम कल्याण होगा ॥ २५ ॥ एक सौ तेईसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १२३ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे पुरुषश्रेष्ठ ! इस जगत्‌में मनुष्य धर्मकी अपेक्षा पहले शील (सदाचारके वर्त्ताव) की प्रशंसा करते हैं, इससे मुझे बड़ा सन्देह होरहा है (कि-धर्म श्रेष्ठ है या शील) ॥१॥ हे धर्मवानोंमें श्रेष्ठ ! यदि हम इस बातको जाननेके अधिकारी हों तो यह सब मैं सुनना चाहता हूँ, इसलिये कहिये, कि-इस शीलको किसप्रकार प्राप्त कियाजाय ? ॥ २ ॥ हे बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ भरतवंशी ! यह शील कैसे मिल सकता है ? और इस शीलका लक्षण क्या है, यह मुझे बताइये ॥ ३ ॥ भीष्मने कहा, कि-हे मान देनेवाले युधिष्ठिर ! सुन-पहले इन्द्रप्रस्थमें तेरी तथा तेरे भाइयोंकी राजलक्ष्मी और अनुपम समृद्धिको देखकर दुर्योधनके मनमें दुःख हुआ था, मूर्खताके कारण यज्ञकी सभामें उसका हास्य हुआ था, तबसभामें बैठेहुए पिता धृतराष्ट्रसे यही प्रश्न किया था,

सभायां चाह वचनं तत् सर्वं शृणु भारत ॥ ५ ॥ भवतस्तां सभां दृष्ट्वा समृद्धिञ्चाप्यनुत्तमाम् । दुर्योधनस्तदासीनः सर्वं पित्रे न्यवेदयत् ॥६॥ श्रुत्वा हि धृतराष्ट्रश्च दुर्योधनवचस्तदा । अब्रवीत् कर्णसहितं दुर्योधनमिदं वचः ॥ ७ ॥ धृतराष्ट्र उवाच । किमर्थं तप्यसे पुत्र श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः । श्रुत्वा त्वामनुनेष्यामि यदि सम्यग्भविष्यति॥८॥त्वया च महदैश्वर्यं प्राप्तं परपुञ्जय। किङ्करा भ्रातरः सर्वे मित्रसम्बन्धिनः सदा ॥ ९ ॥ आच्छादयसि प्रावारानश्नासि पिशितौदनम् । आजानेया वहन्त्यश्वाः केनासि हरिणः कृशः ॥ १० ॥ दुर्योधन उवाच । दश तानि सहस्राणि स्नातकानां महात्मनाम् । भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्युधिष्ठिरनिवेशने ११ दृष्ट्वा च तां सभां दिव्यां दिव्यपुष्पफलान्विताम् । अश्वांस्तित्ति-

तेरे राजसूय यज्ञका सभामण्डप और तेरी बड़ी समृद्धिको देखकर शोकातुर हुए दुर्योधनने पिताके पास बैठकर यह प्रश्न किया था॥४-६॥ दुर्योधनकी बात सुनकर धृतराष्ट्रने उससे तथा कर्णसे यह बात कही थी ॥७॥ धृतराष्ट्रने कहा, कि—हे बेटा ! तू सन्ताप क्यों करता है ? इसका कारण मैं ठीक २ सुनना चाहता हूँ,तेरे सन्तापके कारणको सुनकर यदि ठीक कारण होगा तो मैं तुझे समझाकर शान्त करूँगा ॥ ८ ॥ हे शत्रुओंके नगरोंको जीतने वाले पुत्र ! तूने बड़ाभारी ऐश्वर्य पालिया है, तेरे सब भाई, मित्र और सम्बन्धी सदा तेरे सेवककी समान वर्त्ताव करते हैं ॥ ९ ॥ तू शाल दुशाले ओढ़ता है, तू पिशित ओदन खाता है, बड़ी उत्तमतासे पालेहुए घोड़ोंके ऊपर चढ़कर फिरता है तो भी तू ऐसा उदास और दुर्बल क्यों होगया है ? ॥ १० ॥ दुर्योधनने कहा, कि—हे पिताजी ! राजा युधिष्ठिरके घर नित्य दशहजार महात्मा स्नातक ब्राह्मण सोनेकी थालियोंमें भोजन करते हैं ११ उसके यहाँ दिव्य पुष्प और दिव्य फलोंवाली सभा है, उसके

रिङ्कुमाषान् वस्त्राणि त्रिविधानि च ॥ १२ ॥ दृष्ट्वा तां पाण्डवेयानामृद्धिं वैश्रवणीं शुभाम् । अमित्राणां सुमहतीमनुशोचामि भारत ॥ १३ ॥ धृतराष्ट्र उवाच । यदीच्छसि श्रियं तात यादृशी सा युधिष्ठिरे । विशिष्टां वा नरव्याघ्र शीलवान् भव पुत्रक ॥१४॥ शीलेन हि त्रयो लोकाः शक्या जेतुं न संशयः । न हि किञ्चिद् साध्यं वै लोके शीलवतां भवेत् ॥ १५ ॥ एकरात्रेण मान्धाता त्र्यहेण जनमेजयः । सप्तरात्रेण नाभागः पृथिवीं प्रतिपेदिरे ॥१६॥ एते हि पार्थिवाः सर्वे शीलवन्तो दयान्विताः । अतस्तेषां गुणैः क्रीता वसुधा स्वयमागता ॥ १७ ॥ दुर्योधन उवाच । कथं तद् प्राप्यते शीलं श्रोतुमिच्छामि भारत । येन शीलेन तैः प्राप्ता क्षिप्रमेव वसुन्धरा ॥ १८ ॥ धृतराष्ट्र उवाच । अत्राप्युदाहरन्ती-

---

यहाँ तीतरकेसे चितकबरे रङ्गके घोड़े हैं, उसके शाल दुशाले विचित्र रङ्गके हैं ॥१२॥ इसप्रकार हमारे शत्रु पाण्डवोंके घरमें कुबेरके यहाँकी उत्तम प्रकारकी बड़ीभारी समृद्धि है, यह देख कर मुझे सन्ताप होता है ॥ १३ ॥ धृतराष्ट्रने कहा, कि-हे मनुष्योंमें सिंहसमान बेटा ! तुझे यदि युधिष्ठिरकेसी राज्यलक्ष्मी प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो तू शीलसम्पन्न हो ॥१४॥ शीलसे तीनों लोकोंकी विजय कीजासकती है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है, इस जगत्‌में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो शीलवान् मनुष्य को न मिलसके ॥ १५ ॥ राजा मान्धाताने एक रातमें पृथिवी पाई थी, जनमेजयने तीन दिनमें पृथ्वी पाई थी और नाभागने सात रात्रिमें पृथिवी पाई थी ॥ १६ ॥ ये सब राजे शीलवान् और दयालु थे, इसलिये इनके गुणोंसे खरीदी हुई पृथिवी अपनेआप ही उनके पास आकर खड़ी होगई थी ॥ १७ ॥ दुर्योधनने बूझा, कि-हे भरतवंशी पिताजी ! जिस शीलसे उन्होंने शीघ्र ही पृथिवीको पाया था वह शील किस रीतिसे

मितिहासं पुरातनम् । नारदेन पुरा प्रोक्तं शीलमाश्रित्य भारत १९
प्रह्लादेन हृतं राज्यं महेन्द्रस्य महात्मनः । शीलमाश्रित्य दैत्येन त्रैलोक्यञ्च वशे कृतम् ॥ २० ॥ ततो बृहस्पतिं शक्रः प्राञ्जलिः समुपस्थितः । तमुवाच महाप्राज्ञः श्रेय इच्छामि वेदितुम् ॥२१॥ ततो बृहस्पतिस्तस्मै ज्ञानं नैःश्रेयसं परम् । कथयामास भगवान् देवेन्द्राय कुरूद्वह ॥ २२ ॥ एतावच्छ्रेय इत्येव बृहस्पतिरभाषत । इन्द्रस्तु भूयः पप्रच्छ को विशेषो भवेदिति ॥२३॥ बृहस्पतिरुवाच । विशेषोऽस्ति महांस्तात भार्गवस्य महात्मनः । अत्रागमय भद्रन्ते भूय एव सुरर्षभ ॥२४॥ आत्मनस्तु ततः श्रेयो भार्गवात् सुमहातपाः । ज्ञानमागमयत् प्रीत्या पुनः स परमद्युतिः ॥ २५ ॥ तेनापि

मिलसकता है, इस बातको मैं सुनना चाहता हूँ ॥१८॥ धृतराष्ट्रने कहा, कि-हे भरतवंशी पुत्र ! पहले नारदजीने शीलके विषयमें एक पुराना इतिहास इसप्रकार कहा था ॥ १९ ॥ पहले प्रह्लाद नामके दैत्यने शीलको प्राप्त करके राजा इन्द्रका राज्य छीन लिया था और तीनों लोकोंको वशमें करलिया था ॥ २० ॥ तब महाबुद्धिमान् इन्द्र बृहस्पतिके पास गया और दोनों हाथ जोड़कर कहनेलगा, कि-मैं आपसे मोक्षके साधक ज्ञानको सुनना चाहता हूँ ॥ २१ ॥ हे कुरुवंशी ! भगवान् बृहस्पतिने इन्द्रको मोक्षके साधक परमज्ञानका उपदेश दिया ॥ २२ ॥ और अन्तमें कहा, कि-इतनेमें ही श्रेयको समायाहुआ न समझना, यह सुनकर इन्द्रने फिर प्रश्न किया, कि-क्या कोई इससे भी बढ़कर श्रेय है ? ॥ २३ ॥ बृहस्पतिने कहा, कि-हे तात सुरराज ! इससे महान् वस्तु भी है, जिसको महात्मा शुक्राचार्य जानते हैं, इसलिये तू उनके पास जाकर उनसे फिर यह प्रश्न कर, तेरा कल्याण हो ॥ २४ ॥ महातपस्वी, परमकान्तिवान् देवराज अपना श्रेय करनेकी इच्छासे प्रसन्न होताहुआ शुक्राचार्यके पास गया और

समनुज्ञातो भार्गवेण महात्मना । श्रेयोऽस्तीति पुनर्भूयः शुक्रमाह शतक्रतुः ॥२६॥ भार्गवस्त्वाह सर्वज्ञः प्रह्लादस्य महात्मनः । ज्ञानमस्ति विशेषेणेत्युक्तो हृष्टश्च सोऽभवत् ॥ २७ ॥ स ततो ब्राह्मणो भूत्वा प्रह्लादं पाकशासनः । गत्वा प्रोवाच मेधावी श्रेय इच्छामि वेदितुम् ॥ २८ ॥ प्रह्लादस्त्वब्रवीद्विप्रं क्षणो नास्ति द्विजर्षभ । त्रैलोक्यराज्यसक्तस्य ततो नोपदिशामि ते ॥ २९ ॥ ब्राह्मणस्त्वब्रवीद्राजन् यस्मिन् काले क्षणो भवेत् । तदोपादेष्टुमिच्छामि यदाचर्य्यमनुत्तमम् ॥३०॥ ततः प्रीतोऽभवद्राजा प्रह्लादो ब्रह्मवादिनः । तथेत्युक्त्वा शुभे काले ज्ञानतत्त्वं ददौ तदा ॥ ३१ ॥ ब्राह्मणोपि यथान्यायं गुरुवृत्तिमनुत्तमाम् । चकार सर्वभावेन यदस्य मनसे-

उस महानुभावने दैत्यगुरु शुक्राचार्यसे श्रेय प्राप्त किया, तदनन्तर उन्होंने फिर शुक्राचार्यकी आज्ञा लेकर उनसे बूझा, कि—इससे अधिक श्रेय करनेवाली कौनसी वस्तु है ? ॥ २५ ॥ २६ ॥ सर्वज्ञ शुक्राचार्य बोले, कि—महानुभाव प्रल्हाद इस विषयको बहुत अच्छी तरह जानता है, यह सुनकर इन्द्रको बड़ा हर्ष हुआ और बुद्धिमान् इन्द्र ब्राह्मणका वेष धारण करके प्रल्हादके पास गया और बोला, कि— मुझे श्रेयको सुननेकी इच्छा हुई है आप मुझे सुनाइये ॥ २७ ॥ २८ ॥ प्रल्हादने ब्राह्मणको उत्तर दिया, कि—हे द्विजवर ! मैं तीनों लोकोंकी रक्षा करनेमें नित्य लगा रहता हूँ, इसलिये अवकाश नहीं है और मैं तुझे उपदेश नहीं दे सकता ॥ २९ ॥ तब ब्राह्मणरूप इन्द्रने कहा, कि— हे राजन् ! मैं चाहता हूँ, कि—तुझे जब अवकाश हो तब ही तू मुझे अनुपम श्रेयका उपदेश दे ॥ ३० ॥ राजा प्रल्हाद अपनेको ब्राह्मण कहनेवाले इन्द्रके ऊपर प्रसन्न हुआ और तथास्तु कहकर, शुभ समय पर उसको ज्ञानका उपदेश दिया ॥ ३१ ॥ ब्राह्मणरूपधारी इन्द्रने भी उचित रीतिसे प्रल्हादके मनकी इच्छानुसार बड़े भक्ति

पितरम् ॥ ३२ ॥ पृष्टश्च बहुशस्तेन प्राप्तं कथमनुत्तमम् । त्रैलोक्यराज्यं धर्मज्ञ कारणं तद्ब्रवीहि मे । प्रह्लादोपि महाराज ब्राह्मणं वाक्यमब्रवीत् ॥ ३३ ॥ प्रह्लाद उवाच । नासूयामि द्विजान् विप्र राजास्मीति कदाचन । काव्यानि वदतां तेषां संयच्छामि वहामि च ॥ ३४ ॥ ते विश्रब्धाः प्रभाषन्ते संयच्छन्ति च मां सदा । ते मां काव्यपथे युक्तं शुश्रूषुमनसूयकम् ॥ ३५ ॥ धर्मात्मानं जितक्रोधं नियतं संयतेन्द्रियम् । समासिञ्चन्ति शास्तारः क्षौद्रं मध्विव मक्षिकाः ३६ सोहं वागग्रविद्यानां रसानामवलेहिता । स्वजात्यानधितिष्ठामि

भावके साथ गुरुभावसे उनकी सेवाकी और उनकी आज्ञाके अनुसार वर्त्ताव करनेलगा, इन्द्रने बहुत बार प्रल्हादसे पूछा, कि-हे धर्मज्ञ राजन्! तुमने इस सर्वोत्तम त्रिलोकीके राज्यको कैसे पाया, इसका कारण मुझे बताओ, हे महाराज! तब प्रल्हादने इन्द्रसे यह बात कही ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ प्रल्हादने कहा कि-हे ब्राह्मण! मैं एक राजा हूँ, ऐसा समझकर कभी गर्व नहीं करता हूँ तथा कभी ब्राह्मणोंसे द्वेषभाव नहीं करता हूँ बल्कि ब्राह्मण मुझे शुक्राचार्यके नीतिशास्त्रका व्याख्यान सुनाते हैं तो उसको सुनता हूँ और हृदयमें धारण करता हूँ ॥ ३४ ॥ ब्राह्मण मेरे ऊपर विश्वास रखकर मुझे शुक्रके नीतिवचन सुनाते हैं तथा मुझे सदा नियममें रखते हैं, मैं शुक्राचार्यके दिखायेहुए उपदेशके अनुसार वर्त्ताव करता हूँ, गुरुजनोंकी सेवा करता हूँ, मैं असूयारहित, धर्मात्मा, क्रोधको जीतनेवाला, नियममें रहनेवाला और जितेन्द्रिय हूँ, ऐसा जान कर जैसे शहदकी मक्खियें शहदके छत्तेके ऊपर शहदकी वर्षा करती हैं ऐसे ही धर्मकी शिक्षा देनेवाले विद्वान् ब्राह्मण मेरे ऊपर नीतिके वचनोंकी वर्षा करते हैं ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ मैं विद्यावान् और उत्तम ब्राह्मणोंके मुखमेंसे टपकते हुए अमृतरसको पीता हूँ और जैसे चन्द्रमा नक्षत्रोंके ऊपर राज्य करता है तैसे ही मैं अपनी

नक्षत्राणीव चन्द्रमाः ॥ ३७ ॥ एतत् पृथिव्याममृतमेतच्चक्षुरनुत्तमम् । यद् ब्राह्मणमुखे काव्यमेतच्छ्रुत्वा प्रवर्त्तते ॥ ३८ ॥ एतावच्छ्रेय इत्याह प्रह्लादो ब्रह्मवादिनम् । शुश्रूषितस्तेन तदा दैत्येन्द्रो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३९ ॥ यथावद् गुरुवृत्त्या ते प्रीतोऽस्मि द्विजसत्तम । वरं वृणीष्व भद्रं ते प्रदाताऽस्मि न संशयः ॥ ४० ॥ कृतमित्येव दैत्येन्द्रमुवाच स च वै द्विजः । प्रह्लादस्त्वब्रवीत् प्रीतो गृह्यतां वर इत्युत ॥४१॥ ब्राह्मण उवाच । यदि राजन् प्रसन्नस्त्वं मम चेदिच्छसि प्रियम् । भवतः शीलमिच्छामि प्राप्तुमेष वरो मम ॥४२॥ ततः प्रीतस्तु दैत्येन्द्रो भयमस्याभवन्महत् । वरे प्रदिष्टे

जातिवालोंके ऊपर राज्य करता हूँ ॥ ३७ ॥ ब्राह्मणोंके मुखमें जो शुक्रके नीतिवचन हैं वे इस भूमिपर अमृतरूप हैं तथा सबसे उत्तम नेत्ररूप हैं उनको सुनकर सबको उनके अनुसार ही वर्त्ताव करना चाहिये ॥ ३८ ॥ प्रल्हादने ब्राह्मण-वेषधारी इन्द्रसे ऐसा कहा, इसके बाद भी इन्द्र प्रल्हादकी अच्छे प्रकारसे सेवा करता रहा, तब दैत्योंके राजा प्रल्हादने कहा, कि-॥ ३९ ॥ हे उत्तम ब्राह्मण! तूने मेरी गुरुकी समान सेवाकी है, इसलिये मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूँ, तू मुझसे कुछ वर माँग, मैं तुझे अवश्य वर दूँगा, तेरा कल्याण हो ॥ ४० ॥ ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र बोला कि-ठीक है, मैं तुम्हारी आज्ञाके वशमें हूँ, तब प्रल्हादने प्रसन्न होकर कहा, कि-तेरी इच्छामें आवे सो वर माँगले ॥ ४१ ॥ ब्राह्मण-वेषधारी इन्द्र बोला, कि-हे राजन्! यदि तुम मेरे ऊपर प्रसन्न हो और मेरा प्रिय करना चाहते हो तो मुझे तुम्हारा शील लेनेकी इच्छा है, वह शील मुझे दो मैं यही वर चाहता हूँ ॥ ४२ ॥ ब्राह्मण वेषधारी इन्द्रने ऐसा वर माँगा, यह सुनकर दैत्योंका राजा प्रसन्न हुआ, परन्तु ऐसा वर माँगनेवाला साधारण मनुष्य नहीं होसकता, यह विचार कर उसके मनमें बडा भय उत्पन्न

विप्रेण नाल्पतेजायमित्युत ॥४३॥ एवमस्त्विति स प्राह प्रह्लादो विस्मितस्तदा। उपाकृत्य तु विप्राय वरं दुःखान्वितोऽभवत् ॥४४॥ दत्ते वरे गते विप्रे चिन्तासीन्महती तदा। प्रह्लादस्य महाराज निश्चयं न च जग्मिवान् ॥ ४५ ॥ तस्य चिन्तयतस्तावच्छायाभूतं महाद्युति। तेजो विग्रहवत्तात शरीरमजहात्तदा ॥ ४६ ॥ तमपृच्छन्महाकायं प्रह्लादः को भवानिति। प्रत्याह तन्तु शीलोऽस्मि त्यक्तो गच्छाम्यहं त्वया ॥ ४७ ॥ तस्मिन् द्विजोत्तमे राजन् वत्स्याम्यहमनिन्दिते। योऽसौ शिष्यत्वमागम्य त्वयि नित्यं समाहितः ४८ इत्युक्त्वान्तर्हितं तद्वै शक्रञ्चान्वाविशत् प्रभो। तस्मिंस्तेजसि याते तु तादृग्रूपस्ततोऽपरः ॥ ४९ ॥ शरीरान्निःसृतस्तस्य को भवानिति

हुआ ॥ ४३ ॥ उसने आश्चर्यमें होकर उसी समय कहा, कि-'तथास्तु' इसप्रकार वर लेनेके बाद वह ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र चलागया, परन्तु प्रल्हादके मनमें उस समय बड़ी चिन्ता होनेलगी हे महाराज! इस कारणसे प्रल्हादके मनमें बड़ी २ चिन्तायें उठने लगीं, परन्तु क्या करना चाहिये इस बातका कोई निश्चय नहीं होसका ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ हे तात! दैत्यराज प्रल्हाद बैठा २ विचार कररहा था, इतनेमें ही छायारूप,महाकान्तिशाला, मूर्त्तिमान् एक तेज उसके शरीरको छोडकर बाहर निकला, प्रल्हादने उस बड़ी कायावाले तेजसे बूझा, कि-तू कौन है? उसने उत्तर दिया कि-मैं शील हूँ,तूने मुझे त्यागदिया,इसलिये मैं तेरे शरीरमेंसे विदा होता हूँ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ अब मैं, जो ब्राह्मण तेरा शिष्य बनकर नित्य तेरे पास एकाग्र मनसे रहता था उस निर्दोष द्विजवरमें निवास करूँगा ॥ ४८ ॥ हे राजन्! ऐसा कहकर शील अन्तर्हित होगया और उसने इन्द्रके शरीरमें प्रवेश किया, शीलरूप तेजके चलेजाने पर उसके समान ही रूपधारी एक दूसरा तेज उसके शरीरमें से बाहर निकला, उससे प्रल्हादने बूझा तू कौन

चाब्रवीत् । धर्मं प्रह्लाद मां विद्धि यत्रासौ द्विजसत्तमः ॥ ५० ॥ तत्र यास्यामि दैत्येन्द्र यतः शीलं ततो ह्यहम् । ततोपरो महाराज प्रज्वलन्निव तेजसा ॥ ५१ ॥ शरीरान्निःसृतस्तस्य प्रह्लादस्य महात्मनः । को भवानिति पृष्टश्च तमाह स महाद्युतिः ॥ ५२ ॥ सत्यं विध्यसुरेन्द्राद्य प्रयास्ये धर्ममन्वहम् । तस्मिन्ननुगते सत्ये महान् वै पुरुषोपरः ॥ ५३ ॥ निश्चक्राम ततस्तस्मात् पृष्टश्चाह महाबलः । वृत्तं प्रह्लाद मां विद्धि यतः सत्यं ततो ह्यहम् ॥ ५४ ॥ तस्मिन् गते महाशब्दः शरीरात्तस्य निर्ययौ । पृष्टाश्चाह बलं विद्धि यतो वृत्तमहं ततः ॥५५॥ इत्युक्त्वा प्रययौ तत्र यतो वृत्तं नराधिप । ततः प्रभामयी देवी शरीरात्तस्य निर्ययौ । तामपृच्छत् स

है ? तब उस मूर्त्तिने कहा कि-हे प्रल्हाद ! मैं धर्म हूँ, हे दैत्यराज! जहाँ शील तहाँ धर्म ! इसलिये मैं उस उत्तम ब्राह्मणके शरीरमें पहुँचनेको विदा होता हूँ, ऐसा कहकर धर्म उसके शरीरको त्याग कर चलागया, हे महाराज! उसके बाद फिर तेजसे जाज्वल्यमान दीखताहुआ एक तीसरा तेजस्वी पुरुष महात्मा प्रल्हादके शरीरमेंसे बाहर निकला, प्रल्हादने बूझा, कि-तू कौन है ? महाकान्तिवाली उस मूर्त्तिने प्रल्हादको उत्तर दिया, कि-॥ ४९-५२ ॥ हे असुरराज ! मैं सत्य हूँ और मैं धर्मके पीछे २ जाता हूँ, सत्यके विदा हो जाने पर एक दूसरा महापुरुष प्रल्हादके शरीरमेंसे बाहर निकला, उससे भी प्रल्हादने प्रश्न किया, कि-तू कौन है ? उस महाबली पुरुषने उत्तर दिया, कि-हे प्रल्हाद ! मुझे तू वृत्त जान, जहाँ सत्य रहता है तहाँ ही मैं रहता हूँ ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ वृत्तके चले जाने पर प्रल्हादके शरीरमेंसे एक मूर्त्ति गरजती हुई बाहर निकली, उससे प्रल्हादने बूझा-तू कौन है ? इसने उत्तर दिया, कि-मैं बल (शक्ति) हूँ, जहाँ वृत्त गया है तहाँ ही जाता हूँ ॥५५॥ हे राजन् ! ऐसा कहकर जहाँ वृत्त गया था तहाँ ही शक्ति चली गई, फिर

दैत्येन्द्रः सा श्रीरित्येनमब्रवीत् ॥५६॥ उषितास्मि स्वयं वीर त्वयि सत्यपराक्रम । त्वया त्यक्ता गमिष्यामि बलं ह्यनुगता ह्यहम् ॥५७॥ ततो भयं प्रादुरासीत् प्रह्लादस्य महात्मनः । अपृच्छत् स ततो भूयः क्व यासि कमलालये ॥५८॥ त्वं हि सत्यव्रता देवी लोकस्य परमेश्वरी । कश्चासौ ब्राह्मणश्रेष्ठस्तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ॥५९॥ श्रीरुवाच । स शक्रो ब्रह्मचारी यस्त्वत्तश्चैवोपशिक्षितः । त्रैलोक्ये ते यदैश्वर्य्यं तत्तेनापहृतं प्रभो ॥६०॥ शीलेन हि त्रयो लोकास्त्वया धर्मज्ञ निर्जिताः । तद्विज्ञाय सुरेन्द्रेण तव शीलं हृतं प्रभो ॥६१॥ धर्मः सत्यं तथा वृत्तं बलञ्चैव तथाप्यहम् शीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशयः ॥ ६२ ॥ भीष्म उवाच । एवमुक्त्वा गता

प्रह्लादके शरीरमेंसे एक प्रभामयी देवी निकली, दैत्यराजने उससे बूझा, कि-तू कौन है ? उस मूर्त्तिने उत्तर दिया, कि-॥ ५६ ॥ हे सत्य-पराक्रमी वीर पुरुष ! मैं लक्ष्मी हूँ, स्वयं ही तेरे पास रही हूँ, परन्तु तूने मुझे त्यागदिया, इसलिये अब मैं शक्ति-बलके पीछे २ जाती हूँ ॥ ५७ ॥ यह सुनकर महात्मा प्रह्लादके मनमें बड़ा भय उत्पन्न हुआ और उसने फिर प्रश्न किया, कि-हे कमल-वासिनी देवी ! तू कहाँ जाती है ? ॥ ५८ ॥ तू सत्यव्रतवाली, लोगोंकी परमेश्वरी देवी है, मैं यह जानना चाहता हूँ, कि-जो मेरा शिष्य हुआ था वह ब्राह्मण कौन था, यह मुझे बता ॥५९॥ लक्ष्मी बोली कि-हे महाराज ! जिस ब्राह्मणको तूने उपदेश दिया था वह ब्रह्मचर्यव्रत पालन करनेवाला इन्द्र था, हे पराक्रमी ! तेरा तीनों लोकोंमें जो ऐश्वर्य था उसको वह छीनकर लेगया ॥६०॥ हे धर्मज्ञ ! तूने शीलसे तीनों लोकोंको जीता था, यह जानकर हे प्रभो ! सुरेन्द्र तेरे शीलको हरकर लेगया है ॥ ६१ ॥ धर्म, सत्य, वृत्त, शक्ति और मैं (लक्ष्मी) ये सब सदा हे महाबुद्धि ! शीलके आधार पर रहते थे, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ६२ ॥

श्रीस्तु ते च सर्वे युधिष्ठिर। दुर्योधनस्तु पितरं भूय एवाब्रवीद्वचः॥६३
शीलस्य तत्त्वमिच्छामि वेत्तुं कौरवनन्दन। प्राप्यते च यथा शीलं तं
चोपायं वदस्व मे॥६४॥ धृतराष्ट्र उवाच। सोपायं पूर्वमुद्दिष्टं
प्रह्लादेन महात्मना। संक्षेपेण तु शीलस्य शृणु प्राप्तिं नरेश्वर ६५
अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा। अनुग्रहश्च दानञ्च
शीलमेतत् प्रशस्यते॥६६॥ यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म
पौरुषम्। अपत्रपेत वा येन न तत् कुर्यात् कथञ्चन॥६७॥
तत्तु कर्म तथा कुर्याद्येन श्लाघ्येत संसदि। शीलं समासेनैतत्ते
कथितं कुरुसत्तम॥६८॥ यद्यप्यशीला नृपते प्राप्नुवन्ति श्रियं
क्वचित्। न भुञ्जते चिरं तात समूलाश्च न सन्ति ते॥६९॥धृतराष्ट्र

भीष्मने कहा, कि-हे युधिष्ठिर! ऐसा कहकर राजलक्ष्मी तथा दूसरे सब प्रह्लादको छोडकर चलेगये धृतराष्ट्रसे इस कथाको सुन कर दुर्योधनने अपने पितासे फिर बूझा, कि-॥६३॥ हे कौरव-नन्दन राजा! मैं शीलके तत्त्वको जानना चाहता हूँ, जिस उपायसे शील प्राप्त हो वह उपाय मुझे बताइये॥६४॥ धृतराष्ट्रने कहा, कि-हे दुर्योधन! महात्मा प्रह्लादने इन्द्रसे शीलका स्वरूप कहा है, उस शीलको पानेका संक्षिप्त उपाय मैं कहता हूँ उसको सुन ६५ कर्मसे, मनसे, वाणीसे किसी भी प्राणीके साथ द्रोह न करे, सबके ऊपर अनुग्रह करे, सुपात्रको दान देय, इसको शील कहते हैं॥६६॥ अपने जिस कामसे दूसरोंका हित न होता हो अथवा जिस कामको करनेमें लज्जा लगती हो वह काम कभी नहीं करना चाहिये॥६७॥ परन्तु जिस कामको करनेमे लोगोंमें प्रशंसा हो वह काम करे, हे कुरुवंशी बेटा! यह शीलका स्वरूप मैंने तुझे संक्षेपमें बताया है॥६८॥ हे तात! शीलरहित पुरुष कभी लक्ष्मीको पा भी जाते हैं तो वे उसको चिरकाल तक नहीं भोग सकते, किन्तु जड़मूलसे नष्ट होजाते हैं॥६९॥धृतराष्ट्रने

उवाच । एतद्विदित्वा तत्त्वेन शीलवान् भव पुत्रक । यदीच्छसि श्रियं तात सुविशिष्टां युधिष्ठिरात् ॥ ७० ॥ भीष्म उवाच । एतत् कथितवान् पुत्रे धृतराष्ट्रो नराधिपः । एतत् कुरुष्व कौन्तेय ततः माप्स्यसि तत् फलम् ॥ ७१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि शीलकथने चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२४॥

युधिष्ठिर उवाच । शीलं प्रधानं पुरुषे कथितं ते पितामह । कथं त्वाशा समुत्पन्ना या चाशा तद्वदस्व मे । संशयो मे महानेष समुत्पन्नः पितामह । छेत्ता च तस्य नान्योऽस्ति त्वत्तः परपुरञ्जय २ पितामहाशा महती ममासीद्धि सुयोधने । प्राप्ते युद्धे तु तद्युक्तं तत् कर्त्तायमिति प्रभो ॥ ३ ॥ सर्वस्याशा सुमहती पुरुषस्योपजायते ।

कहा, कि—हे बेटा ! दुर्योधन ! यदि तू युधिष्ठिरसे विशेष अति उत्तम राजलक्ष्मीको पाना चाहे तो ऊपरकी सब बातोंको ठीक २ जानकर शीलवान् बन ॥ ७० ॥ भीष्मने कहा, कि—हे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ! राजा धृतराष्ट्रने अपने पुत्रसे ऐसा कहा था, तू भी ऐसा ही करेगा तो इसका फल पायेगा ॥७१॥ एकसौ चौबीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १२४ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि—हे पितामह ! पुरुषमें शील ही मुख्य वस्तु है, यह बात आपने मुझसे कही, अब आशा कैसे उत्पन्न होती है और वह कौन है, यह मुझे बताइये ॥१॥ हे पितामह ! इस विषय मुझे बड़ा सन्देह होरहा है सो हे शत्रुओंके नगरोंको जीतनेवाले ! इस सन्देहको आपके सिवाय दूसरा कोई नहीं काट सकता ॥ २ ॥ हे पितामह ! मुझको दुर्योधनसे यह बड़ीभारी आशा थी, कि—जब युद्धका अवसर आलगे तो दुर्योधन युद्ध न करके मुझे आधा राज्य देदेगा ॥ ३ ॥ मनुष्यमात्रको बड़ीभारी आशा होती है और जब यह आशा नष्ट होजाती है तब उसको

तस्यां निहन्यमानायां दुःखो मृत्युर्न संशयः ॥ ४ ॥ सोऽहं हताशो दुर्बुद्धिः कृतस्तेन दुरात्मना । धार्त्तराष्ट्रेण राजेन्द्र पश्य मन्दात्मतां मम॥५॥ आशां महत्तरां मन्ये पर्वतादपि सद्रुमात् । आकाशादपि वा राजन्नप्रमेयैव वा पुनः ॥ ६ ॥ एषा चैव कुरुश्रेष्ठ दुर्विचिन्त्या सुदुर्लभा । दुर्लभत्वाच्च पश्यामि किमन्यद् दुर्लभं ततः७ भीष्म उवाच । अत्र ते वर्त्तयिष्यामि युधिष्ठिर निबोध तत् । इतिहासं सुमित्रस्य निर्विण्णस्य ऋषभस्य च ॥ ८ ॥ सुमित्रो नाम राजर्षिर्हैहयो मृगयाङ्गतः । ससार च मृगं विध्वा बाणेनानतपर्वणा ॥९॥ स मृगो बाणमादाय ययावमितविक्रमः । स च राजा बलात्तूर्णं ससार मृगयूथपम् ॥ १० ॥ ततो निम्नं स्थलञ्चैव स मृगोद्रव-

मरणसमान दुःख होता है, इसमें सन्देह नहीं है॥४॥हे राजेन्द्र ! दुष्टात्मा दुर्योधनने मुझ दुर्बुद्धिकी बड़ी भारी आशा भङ्ग करदी, जरा आप मेरे मन्दमतिपनेको देखें ॥ ५ ॥ हे राजन् ! मैं आशा को वृक्षोंसे भरे पहाड़से भी बड़ी समझता हूँ अथवा वह आकाश से भी अप्रमेय है (अर्थात् चाहे कोई आकाशका ओरछोर पाजाय परन्तु आशाका ओरछोर नहीं पासकता) ॥ ६ ॥ हे कुरुवंशमें श्रेष्ठ राजन् ! यह आशा समझमें नहीं आसकती तथा बड़ी दुर्लभ है, मैं आशाकी दुर्लभताके सामने दूसरी किसी वस्तुको दुर्लभ नहीं समझता हूँ ॥७॥ भीष्मने कहा, कि—हे युधिष्ठिर ! इस विषयमें मैं तुझे सुमित्र और ऋषभका इतिहास सुनाता हूँ, उसको सुन ॥ ८ ॥ एक सुमित्र नामका हैहयवंशी राजर्षि था, वह एक दिन शिकार खेलनेको गया, उसने नमेहुए पर्ववाले बाणसे एक मृगको बींधडाला, वह मृग बड़ा पराक्रमी था, इसलिये बाणके सहित भागगया, राजा सुमित्र भी बड़ा बलवान् था, इस लिये वह एकदम उस मृगोंके यूथपतिके पीछे पड़गया ॥९-१०॥ हे राजेन्द्र ! वह मृग बड़ा ही फुरतीला था, इसलिये मुहूर्त्तभरमें

दाशुगः । मुहूर्तमिव राजेन्द्र समेन स पथागमत् ॥ ११ ॥ ततः स राजा तारुण्यादौरसेन बलेन च । ससार बाणासनभृत् सखड्गो सौ तनुत्रवान् ॥१२॥ ततो नदान्नदीश्चैव पल्वलानि वनानि च । अतिक्रम्याभ्यतिक्रम्य ससारैको वनेचरः ॥ १३ ॥ स तु कामान्मृगो राजन्नासाद्यासाद्य तं नृपम् । पुनरभ्येति जवनो जवेन महता ततः ॥१४॥ स तस्य बाणैर्बहुभिः समभ्यस्तो वनेचरः । प्रक्रीडन्निव राजेन्द्र पुनरभ्येति चान्तिकम् ॥१५॥ पुनश्च जवमास्थाय जवनो मृगयूथपः । अतीत्यातीत्य राजेन्द्र पुनरभ्येति चान्तिकम् ॥ १६ ॥ तस्य मर्मच्छिदं घोरं तीक्ष्णश्चापि त्रिकर्शनः । समादाय शरं श्रेष्ठं कार्मुके तु तथाक्षिपत् ॥ १७ ॥ ततो गव्यूति-

वह नीचे प्रदेशमें दौड़ता था और फिर मुहूर्त्तभरमें सपाट भूमिमें दौडने लगता था ॥ ११ ॥ धनुष और तलवारको धारण किये तथा जो शरीर पर कवच पहर रहा था ऐसा वह राजा जवानी के जोशमें अपने शरीरके बलके भरोसे पर उस मृगके पीछे दौड़ता ही चलागया ॥१२॥ वह मृग अकेला था और नदोंको, नदियों को, तालावोंको और वनोंको लाँघताहुआ सपाटेके साथ दौडता चला जाता था ॥ १३ ॥ घडीभरमें वह फुरतीला मृग अपनी इच्छासे उस राजाके पास आजाता था और घड़ी भर पीछे बड़े वेगसे दूर भागजाता था ॥ १४ ॥ हे राजेन्द्र ! उस जङ्गली मृगको राजाने बहुतसे बाण मारकर घायल करदिया, परन्तु वह मृग मानों खेल कररहा हो, इसप्रकार वेगको मन्द करके फिर राजाके पास आजाता था१५तुरन्त वह मृगयूथपति वेगमें भरकर बहुत दूर निकलजाताथा और फिर लौटकर राजाके समीप में आ सटकजाता था ॥१६॥ शत्रुओंका संहार करनेवाले उस राजाने मर्मस्थानको काटडालनेवाला एक घोर और तीक्ष्ण बाण धनुष पर चढ़ाया और उस मृगके मारा, तब वह मृगोंके टोलेका

मात्रेण मृगयूथपयूथपः । तस्य बाणपथं मुक्त्वा तस्थिवान् प्रहसन्निव ॥१८॥ तस्मिन्निपतिते बाणे भूमौ ज्वलिततेजसि । प्रविवेश महारण्यं मृगो राजाप्यथाद्रवत् ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऋषभगीतासु पञ्चविंशत्यधिकशततमोध्यायः ।१२५।

भीष्म उवाच । प्रविश्य तु महारण्यं तापसानामथाश्रमम् । आससाद ततो राजा श्रान्तश्चोपाविशत्तदा ॥१॥ तं कार्मुकधरं दृष्ट्वा श्रमार्त्तं क्षुधितं तदा । समेत्य ऋषयस्तस्मिन् पूजाञ्चक्रुर्यथाविधि ॥ २ ॥ स पूजामृषिभिर्दत्तां सम्प्रगृह्य नराधिपः । अपृच्छत्तापसान् सर्वास्तपसो वृद्धिमुत्तमाम् ॥ ३ ॥ ते तस्य राज्ञो वचनं सम्प्रगृह्य तपोधनाः । ऋषयो राजशार्दूलं तमपृच्छन् प्रयोजनम्॥४ केन भद्र सुखार्थेन सम्प्राप्तोसि तपो वनम् । पदातिर्बद्धनिस्त्रिंशो

राजा मृग उस बाणके निशानेसे खिसक कर मानों हास्य कर रहा हो इसप्रकार दो कोस दूर जाकर खड़ा होगया ॥१७-१८॥ राजाका छोड़ा धकधकातेहुए तेजवाला वह बाण पृथिवी पर जाकर गिरा और मृग बड़ेभारी वनमें घुसगया तब राजाने फिर उस मृगका पीछा किया ॥ १९ ॥ एकसौ पचीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १२५ ॥ छ ॥ छ ॥

भीष्मने कहा, कि—हे युधिष्ठिर ! वह राजा उस बड़ेभारी वन में घुसते ही तपस्वियोंके एक आश्रमके पास जापहुँचा, वह थक गया था, इसलिये बैठकर आराम लेनेलगा ॥ १ ॥ ऋषि उस धनुषधारी राजाको हारा थका तथा भूखा प्यासा देखकर उसके पास गए और विधिपूर्वक उसकी पूजा की ॥ २ ॥ राजाने उन की पूजाको स्वीकार कर सब तपस्वियोंसे उनके तपकी उत्तम वृद्धि का समाचार बूझा ॥३॥ तपोधन ऋषि राजाकी बातका आदर सत्कार करके उससे वनमें आनेका प्रयोजन बूझनेलगे ॥ ४ ॥

धन्वी बाणी नरेश्वर ॥ ५ ॥ एतदिच्छामहे श्रोतुं कुतः प्राप्तोसि मानद । कस्मिन् कुले तु जातस्त्वं किन्नामा चासि ब्रूहि नः ॥६॥ ततः स राजा सर्वेभ्यो द्विजेभ्यः पुरुषर्षभ । आचचक्षे यथान्यायं परिचयपाञ्च भारत॥७॥ हैहयानां कुले जातः सुमित्रो मित्रनन्दनः॥ चरामि मृगयूथानि निघ्नन् बाणैः सहस्रशः ॥८॥ बलेन महता गुप्तः सामात्यः सावरोधनः । मृगस्तु विद्धो बाणेन मया सरति शल्यवान् ॥ ९ ॥ तं द्रवन्तमनुप्राप्तो वनमेतद्यदृच्छया । भवत्सकाशं नष्टश्रीर्हताशः श्रमकर्शितः॥१०॥ किन्तु दुःखमतोन्यद्वै यदहं श्रमकर्शितः । भवतामाश्रमं प्राप्तो हताशो भ्रष्टलक्षणः ॥११॥

हे भद्र ! हे राजन् ! तू तलवार, धनुष और बाण धारण करके पैदल अकेला ही इस तपोवनमें किस शुभ कामके लिये आया है ? ॥ २ ॥ हे मान देनेवाले राजन् ! तू कहाँसे आरहा है ? तू किस कुलमें उत्पन्न हुआ है ? तेरा नाम क्या है ? हम ये सब बातें जानना चाहते हैं, बताओ ॥ ६ ॥ हे भरतवंशी महापुरुष ! ऋषियोंके प्रश्नको सुनकर राजा सब तपस्वियोंको उचित रीतिसे अत्यन्त परिचय देने लगा ॥७॥ कि–मैं हैहयवंशमें उत्पन्न हुआ हूँ, मेरा नाम सुमित्र है और मैं मित्रका पुत्र हूँ, मैं शिकार खेलता हूँ और बाणोंसे हजारों मृगोंके टोलोंका नाश करता हुआ वनमें फिरता हूँ ॥ ८ ॥ बडीभारी सेना मेरी रक्षा करती है और मैं मन्त्रियोंके तथा रानियोंके साथ वनमें शिकार खेलनेको आया हूँ, इस वनमें शिकार खेलते २ मैंने एक मृगके बाण मारा, वह मृग बाणके सहित महावनमेंको भागगया, मैं उसके पीछे भागा और दैवगतिसे इस वनमें तुम्हारे पास आपहुँचा हूँ; शिकार खेलनेमें मेरी राजलक्ष्मी और आशा दोनों नष्ट होगई हैं और मैं परिश्रमसे थकगया हूँ ॥ ९–१० ॥ अपने राजचिन्होंसे रहित और परिश्रमसे दुर्बल होकर तुम्हारे आश्रममें आया हूँ, इससे अधिक और

न राजलक्षणत्यागो न पुरस्य तपोधनाः । दुःखं करोति तत्तीव्रं यथाशा विहता मम ॥ १२ ॥ हिमवान् वा महाशैलः समुद्रो वा महोदधिः । महत्वान्नान्वपद्येतां नभसो वान्तरं तथा ॥ १३ ॥ आशायास्तपसि श्रेष्ठास्तथा नान्तमहं गतः । भवतां विदितं सर्वं सर्वज्ञा हि तपोधनाः ॥१४॥ भवन्तः सुमहाभागास्तस्मात् पृच्छामि संशयम् । आशावान् पुरुषो यः स्यादन्तरिक्षमथापि वा ॥१५॥ किन्नु ज्यायस्तरं लोके महत्त्वात् प्रतिभाति वः । एतदिच्छामि तत्त्वेन श्रोतुं किमिह दुर्लभम् ॥१६॥ यदि गुह्यं न वो नित्यन्तदा प्रब्रूत मा चिरम् । न गुह्यं श्रोतुमिच्छामि युष्मद्वचो द्विजसत्तमाः १७ भवत्तपोविघातो वा यदि स्याद्विरमेत्ततः । यदि वास्ति कथायोगो

कौनसा दुःख होगा ? ॥ ११ ॥ हे तपोधनो ! मृगको पकड़नेकी जो मेरी आशा भङ्ग होगई है, उसका मुझे जैसा महादुःख हो रहा है ऐसा दुःख मुझे राजचिन्होंके विना यहाँ आनेका नहीं है, तथा मैं नगरको छोडकर आया उसका भी मुझे ऐसा दुःख नहीं है ॥ १२ ॥ हिमालय पर्वत बडा है और समुद्र जलका भण्डार है, ये दोनों बहुत बड़े हैं तो भी जैसे ये आकाशके ओर छोरको नहीं पासकते तैसे ही हे महातपस्वियो ! मैंने आशाका अन्त नहीं पाया, यह बात आपको मालूम ही है; क्योंकि–हे तपोधनो ! तुम सर्वज्ञ हो ॥ १३ ॥ १४ ॥ महाभाग्यशाली हो, इस लिये मैं तुमसे अपने सन्देहको बूझता हूँ, कि–इस जगत्में एक पुरुष आशासे भराहुआ हो उसमें और आकाशमें तुम्हें अधिक बडा कौन मालूम होता है ? यह बात मैं ठीक २ समझना चाहता हूँ, आपको इस जगत्में कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है १५-१६ यदि आप इस बातको गुप्त रखने योग्य न समझते हों तो मुझसे शीघ्रही कहिये, हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! मैं आपसे गुप्त बात नहीं सुनना चाहता हूँ ॥ १७ ॥ यदि मेरे साथ बातें करनेमें आपके

योयं प्रश्नो मयेरितः ॥१८॥ एतत् कारणसामर्थ्यं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः। भवन्तोपि तपोनित्या ब्रूयुरेतत् समन्विताः ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऋषभगीतासु षड्विंशत्यधिकशततमोध्यायः ॥१२६॥

भीष्म उवाच। ततस्तेषां समस्तानामृषीणामृषिसत्तमः। ऋषभो नाम विप्रर्षिर्विस्मयन्निदमब्रवीत् ॥१॥ पुराहं राजशार्दूल तीर्थान्यनुचरन् प्रभो। समासादितवान् दिव्यं नरनारायणाश्रमम् ॥२॥ यत्र सा बदरी रम्या ह्रदो वैहायसस्तथा। यत्र चाश्वशिरा राजन् वेदान् पठति शाश्वतान् ॥ ३ ॥ तस्मिन् सरसि कृत्वाहं विधिवत्तर्पणं पुरा। पितृणां देवतानां च ततोश्रममियां तदा ॥४॥ रेमाते

तपमें विघ्न पड़ता हो तो मैं बातें करना बन्द करदूँ और इस बातके करनेको समय हो तो मैंने आपसे जो प्रश्न किया है ।१८। उसका कारण और शक्ति आपसे ठीक २ सुनना चाहता हूँ, तुम भी नित्य तपस्या करनेवाले हो, इसलिये आप इकट्ठे होकर मेरे प्रश्नका उत्तर दें ॥ १९ ॥ एकसौ छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १२६ ॥ छ ॥ छ ॥

भीष्मने कहा, कि–हे राजा युधिष्ठिर! तहाँ इकट्ठे हुए ऋषियोंमें एक ऋषभ नामके उत्तम ऋषि थे, उन्होंने सबको आश्चर्यमें डालतेहुए इसप्रकार उत्तर दिया, कि–॥ १ ॥ हे राजसिंह! पहले मैं पवित्र तीर्थोंमें यात्रा करता २ नर नारायणके दिव्य आश्रममें जापहुँचा ॥ २ ॥ उस आश्रममें बेरीका बड़ा सुन्दर वृक्ष था, आकाशगङ्गाका महाभारी सरोवर था और तहाँ हे राजन्! अश्वशिरा नामके ऋषि सनातन वेदोंको पढ़ते थे ॥ ३ ॥ उस सरोवरमें मैंने शास्त्रमें लिखी हुई विधिसे स्नान किया और फिर देवताओंका तथा पितरोंका तर्पण किया, तदनन्तर आश्रममें गया ॥ ४ ॥ इस आश्रममें नर और नारायण नामके दो ऋषि

यत्र तौ नित्यं नरनारायणावृषी। अदूरादाश्रमं कश्चिद्वासार्थमगमं तदा ॥ ५ ॥ तत्र चीराजिनधरं कृशमुच्चमतीव च। अद्राक्षमृषिमायान्तं तनुं नाम तपोधनम् ॥ ६ ॥ अन्यैर्नरैर्महाबाहो वपुषाष्टगुणान्वितम्। कृशता चापि राजर्षे न दृष्टा तादृशी क्वचित् ॥७॥ शरीरमपि राजेन्द्र तस्य कानिष्ठिकासमम्। ग्रीवा बाहू तथा पादौ केशाश्चाद्भुतदर्शनाः ॥८॥ शिरः कायानुरूपञ्च कर्णौ नेत्रे तथैव च। तस्य वाक् चैव चेष्टा च सामान्ये राजसत्तम ॥ ९ ॥ दृष्ट्वाहं तं कृशं विप्रं भीतः परमदुर्मनाः। पादौ तस्याभिवाद्याथ स्थितः प्राञ्जलिरग्रतः ॥१०॥ निवेद्य नाम गोत्रे च पितरं च नरर्षभ। प्रदिष्टे चासने तेन शनैरहमुपाविशम् ॥११॥ ततः स कथयामास

सदा विहार किया करते हैं, उनके समीप ही एक आश्रममें मैं निवास करनेको गया ॥ ५ ॥ तहाँ बैठेहुए मैंने एक तनु नामके तपस्वीको आतेहुए देखा, यह तपोधन शरीर पर चीथड़े और मृगछाला ओढ़ेहुए थे, वह दुर्बलशरीर और बड़े ही ऊँचे थे ॥ ६ ॥ हे महाबाहु राजन्! उनका शरीर दूसरे मनुष्योंसे अठगुना ऊँचा था और हे राजर्षे! उनके शरीरकेसी दुर्बलता मैंने कहीं देखी नहीं थी ॥७॥ हे राजेन्द्र! उनका शरीर कन अंगुली की समान पतला था, कण्ठ, दोनों हाथ, दोनों पैर और शिरके केश अद्भुत दर्शनीय थे ॥ ८ ॥ मस्तक शरीरके प्रमाणका था, दोनों कान और नेत्र भी तैसे ही थे और हे उत्तम राजन्! उनकी वाणी और क्रिया क्षीण शक्तिको बताती थी ॥ ९ ॥ मैं उस दुर्बल ब्राह्मणको देखकर डरगया, मेरा मन बड़ा ही घबड़ाया, फिर मैं उस ब्राह्मणके दोनों चरणोंमें प्रणाम करके दोनों हाथ जोड़ेहुए उनके आगे खड़ा होगया ॥ १० ॥ उनसे मैंने अपना नाम, गोत्र तथा अपने पिताका नाम निवेदन किया और उनके बताएहुए आसन पर मैं धीरेसे बैठगया ॥ ११ ॥ हे महाराज!

कथां धर्मार्थसंहिताम् । ऋषिमध्ये महाराज तनुर्धर्मभृतांवरः १२
तस्मिंस्तु कथयत्येव राजा राजीवलोचनः । उपायाज्जवनैरश्वैः
सबलः सावरोधनः । स्मरन् पुत्रमरण्ये वै नष्टं परमदुर्मनाः । भूरि-
द्युम्नपिता श्रीमान् वीरद्युम्नो महायशाः ॥ १४॥ इह द्रक्ष्यामि
तं पुत्रं द्रक्ष्यामीहेति पार्थिव । एवमाशाहतो राजा चरन् वनमिदं
पुरा ॥ १५ ॥ दुर्लभः स मया द्रष्टुं नूनं परमधार्मिकः । एकः
पुत्रो महारण्ये नष्ट इत्यसकृत्तदा ॥ १६ ॥ दुर्लभः स मया द्रष्टु-
माशा च महती मम । तया परीतगात्रोहं मुमूर्षुर्नात्र संशयः ॥१७॥
एतच्छ्रुत्वा तु भगवांस्तनुर्मुनिवरोत्तमः । अवाक्शिरा ध्यानपरो
मुहूर्त्तमिव तस्थिवान् ॥ १८ ॥ तमनुध्यातमालक्ष्य राजा परम-

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ उन तनु नामके ब्राह्मणने मुझसे ऋषियोंके मध्य में धर्म और अर्थवाली कथा सुनाना आरम्भ कर दी ॥ १२ ॥ वह ऋषि कथा कहरहे थे, इतनेमें ही कमलकी समान नेत्रोंवाला भूरिद्युम्नका पिता महायशस्वी वीरद्युम्न नामका राजा वेगवाले घोड़ोंके रथमें बैठकर सेना तथा रनवासके सहित अपने खुएहुए पुत्रको खोजता २ और मनमें अत्यन्त खिन्न होता तहाँ आ पहुँचा ॥ १३ ॥ १४ ॥ यहाँ मुझे पुत्रका दर्शन होजायगा, इस आशामें भूलाहुआ राजा तहाँ वनमें भटकरहा था । १५ । वह ऋषियोंको सम्बोधन करके वार २ कहनेलगा, कि-मेरा पुत्र बड़ा धार्मिक था वास्तवमें अब मुझे उसका दर्शन होना दुर्लभ है, वह मेरा इकलौता पुत्र वनमें खोगया है और मुझे उसका दर्शन होना दुर्लभ है ॥ १६ ॥ तो भी उसको देखनेकी मुझे बड़ी आशा है, उस आशासे मेरा शरीर व्याप्त होगया है और मैं मराहुआसा होगया हूँ, इसमें सन्देह नहीं है ॥ १७ ॥ राजा की इस बातको सुनकर भगवान् महामुनि तनु नीचा शिर करके ध्यान करनेलगे, वह दो घड़ी तक ध्यानमें ही डटेरहे । १८ ॥

दुर्मनाः । उवाच वाक्यं दीनात्मा मन्दमन्दमिवासकृत् ॥ १९ ॥
दुर्लभं किं नु देवर्षे आशायाश्चैव किं महत् । ब्रवीतु भगवानेतद्यदि
गुह्यं न ते मयि ॥२०॥ मुनिरुवाच । महर्षिर्भगवांस्तेन पूर्वमासीद्
दुमानितः । बालिशां बुद्धिमास्थाय मन्दभाग्यतयात्मनः॥२१
अर्थयन् कलशं राजन् कांचनं वल्कलानि च । अवज्ञापूर्वकेनापि न
संपादितवांस्ततः॥२२॥निर्विण्णः स तु राजर्षिर्निराशः समपद्यत।
एवमुक्तोभिवाद्याथ तमृषिं लोकपूजितम् । श्रान्तोवसीदद्धर्मात्मा
यथा त्वं नरसत्तम ॥ २३ ॥ अर्घ्यं ततः समानीय पाद्यं चैव महा-
ऋषिः । आरण्येनैव विधिना राज्ञे सर्वं न्यवेदयत् ॥२४॥ ततस्ते
मुनयः सर्वे परिवार्य नरर्षभम् । उपाविशन्नरव्याघ्र सप्तर्षय

मुनिको ध्यान करते देखकर राजाका मन बड़ा ही खिन्न हुआ वह दीन मनका राजा धीरे २ और बार २ इसप्रकार कहने लगा कि - ॥१९॥ हे देवर्षे ! आशासे दुर्लभ और बड़ी कौनसी वस्तु है, यदि आप मुझसे छुपाने योग्य न समझते हों तो हे भगवन् ! आप मेरे इस प्रश्नका उत्तर दीजिये ॥ २० ॥ मुनिने कहा—तेरे पुत्र भूरिद्युम्नने अपने मन्दभाग्य और बालकबुद्धिके कारणसे पहले भगवान् महर्षिका अपमान किया था ॥२१॥ उन महर्षिने तेरे पुत्रसे एक सोनेका कलश और वल्कल वस्त्र माँगे, परन्तु तेरे पुत्रने उनको वह वस्तु नहीं दी और उलटा उनका अपमान किया ॥२२॥ मुनिकी इस बातको सुनकर धर्मात्मा राजा वीरद्युम्न खिन्न और निराश होगया तथा उन लोकपूजित ऋषिको प्रणाम करके बैठगया, वह तेरी समान परिश्रमसे थका हुआ तथा मराहुआसा होरहा था ॥ २३ ॥ इसके बाद महर्षिने अर्घ और पाद्य मँगवाकर वनकी विधिके अनुसार उस राजाको सब निवेदन किया ॥ २४ ॥ हे नरव्याघ्र ! जैसे सप्त ऋषि ध्रुवको घेरे रहते हैं तैसे ही सब मुनि उस राजाको घेरकर बैठगए ॥ २५ ॥

इव ध्रुवम् ॥ २५ ॥ अपृच्छंश्चैव तं तत्र राजानमपराजितम् ।
प्रयोजनमिदं सर्वमाश्रमस्य निवेशने ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऋषभ-
गीतासु सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२७ ॥

राजोवाच । वीरद्युम्न इति ख्यातो राजाहं दिक्षु विश्रुतः ।
भूरिद्युम्नं सुतं नष्टमन्वेष्टुं वनमागतः ॥ १ ॥ एकः पुत्रः स विप्रा-
ग्र्य बाल एव च मेनघ । न दृश्यते वने चास्मिंस्तमन्वेष्टुं चरा-
म्यहम् ॥ २ ॥ ऋषभ उवाच । इत्येवमुक्ते वचने राज्ञा मुनिरधो-
मुखः । तूष्णीमेवाभवत्तत्र न च प्रत्युक्तवान्नृपम् ॥ ३ ॥ स हि
तेन पुरा विप्रो राज्ञा नात्यर्थमानितः । आशाकृतश्च राजेन्द्र तपो
दीर्घं समाश्रितः ॥ ४ ॥ प्रतिग्रहमहं राज्ञां न करिष्ये कथञ्चन ।
अन्येषाञ्चैव वर्णानामिति कृत्वा धियं तदा ॥ ५ ॥ आशा हि

और वे सब तिस आश्रमस्थानमें उस अपराजित राजासे आनेका प्रयोजन बूझने लगे ॥२६॥ एकसौ सत्ताईसवाँ अध्याय समाप्त

राजाने कहा, कि—मैं सब दिशाओंमें प्रसिद्ध वीरद्युम्न नाम का राजा हूँ, भूरिद्युम्न नामका मेरा पुत्र खोगया, उसको ढूँढने के लिये मैं वनमें आया हूँ ॥ १ ॥ हे द्विजवर ! वह मेरा इक-लौता पुत्र है और हे निर्दोषो ! वह बालक अवस्थाका है, इस वनमें वह नहीं मालूम होता, उसको ढूँढनेके लिये मैं वनमें सर्वत्र घूमरहा हूँ ॥ २ ॥ ऋषभ बोले, कि—राजाने जब इसप्रकार बूझा तब तनु मुनिने नीचेको मुख किया और वह राजाको उत्तर न देकर चुप बैठे रहे ॥३॥ राजेन्द्र ! उस राजाने पहले उन ब्राह्मण देवताको मान नहीं दिया था, किन्तु उनकी आशाका भङ्ग किया था उस आशा ही आशामें वह ब्राह्मण चिरकाल तक तप करता रहा ॥ ४ ॥ और उसी समय उसने यह सङ्कल्प करलिया था, कि—मैं कभी राजाओंका प्रतिग्रह नहीं करूँगा तथा दूसरे वर्णोंका

पुरुषं बालमुत्थापयति तरंगुणी । तामहं व्यपनेष्यामि इति कृत्वा व्यवस्थितः । वीरद्युम्नस्तु तं भूय पप्रच्छ मुनिसत्तमम् ॥ ६ ॥ राजोवाच । आशया किं कृशत्वञ्च किंचेह भुवि दुर्लभम् । ब्रवीतु भगवानेतत्त्वं धर्मार्थदर्शिवान् ॥७॥ ऋषभ उवाच । ततः संस्मृत्य तत् सर्वं स्मारयिष्यन्निवाब्रवीत् । राजानं भगवान् विप्रस्ततः कृशतनुस्तदा ॥ ८ ॥ ऋषिरुवाच । कृशत्वेन समं राजन्नाशाया विद्यते नृप । तस्या वै दुर्लभत्वाच्च प्रार्थिताः पार्थिवा मया । ९॥ राजोवाच । कृशाकृशे मया ब्रह्मन् गृहीते वचनात्तव । दुर्लभत्वञ्च

भी प्रतिग्रह नहीं लूँगा ॥५॥ कभी निर्मूल न होनेवाली आशा बालबुद्धिवालेको भी उद्यमी बना देती है इसलिये मैं उस आशा का त्याग करूँगा, ऐसा निश्चय करके वह ब्राह्मण तप कररहा था, जब कुछ भी उत्तर नहीं मिला तब वीरद्युम्नने उन श्रेष्ठ मुनि से फिर बूझा ॥ ६ ॥ राजाने कहा, कि-हे महात्मन् ! आशा कितनी दुर्बल है ? क्या उसका कोई नाप है ? इस जगत्में कौनसी वस्तु दुर्लभ है आप इस प्रश्नका उत्तर दीजिये, क्योंकि-आप धर्म और अर्थके विषयको जानते हैं ॥ ७॥ इस प्रश्नको सुनकर और उस राजाके (पहले) सब कर्मको स्मरण करके उसको पहली बातकी याद दिलाता हुआ वह दुर्बल शरीरवाला ब्राह्मण उस समय राजाको सम्बोधन करके कहनेलगा ॥ ८ ॥ ऋषिने कहा, कि-हे राजन् ! आशाके समान दुबली कोई भी वस्तु नहीं है, मैंने बहुतसे राजाओंकी प्रार्थना की थी और इससे मुझे मालूम हुआ है, कि-आशा जिस वस्तुका चित्र मनके सामने खड़ा करती है, उसको पानेके लिये बड़ा ही यत्न करना पड़ता है, मनमेंसे उत्पन्न हुई आशाका सफल होना बहुत ही दुर्लभ है ९ राजाने कहा, हे ब्राह्मण ! तुम्हारे कहनेसे मैं आशाके दुर्बलपने को और स्थूलपनेको स्वीकार करता हूँ, आशाके मनके सामने

तस्यैव वेदवाक्यमिव द्विज ॥ १० ॥ संशयस्तु महाप्राज्ञ संजातो हृदये मम । तन्मुनेमेम तत्त्वेन वक्तुमर्हसि पृच्छतः ॥ ११ ॥ त्वत्तः कृशतरं किन्नु ब्रवीतु भगवानिदम् । यदि गुह्यं न ते किंचित् विद्यते मुनिसत्तम॥१२॥कृश उवाच। दुर्लभोप्यथ वा नास्ति योर्थी धृतिमवाप्नुयात् । स दुर्लभतरस्तात योर्थिनं नावमन्यते॥१३॥सत्कृत्य नोपकुरुते परं शक्त्या यथार्हतः । या सक्ता पूर्वभूतेषु साशा कृशतरी मया ॥ १४ ॥ कृतघ्नेषु च या सक्ता नृशंसेष्वलसेषु च । अपकारिषु चासक्ता साशा कृशतरी मया ॥ १५ ॥ एकपुत्र

खडेहुए चित्र कितने दुर्लभ हैं, इस बातको भले प्रकारसे मैं अभी समझा हूँ, वेदवाक्यकी समान तुम्हारे वचनको मैं सत्य प्रमाण मानता हूँ ॥ १० ॥ जहाँ आशाके पूरी होनेका सर्वथा संभव ही नहीं है तहाँ--पूरी होजायगी, पूरी होजायगी, ऐसी आशा तो रहती ही है, हे महाबुद्धिमान् मुने ! मेरे हृदयमें एक सन्देह उत्पन्न होगया है, उसके विषयमें मैं आपसे बूझता हूँ, आपको चाहिये, कि--मेरे लिये आप उसको ठीक २ स्पष्ट करके कहदीजिये ११ हे भगवन् ! आपके शरीरसे अधिक दुर्बल कौनसी वस्तु है ? यदि यह बात जरा भी गुप्त रखने योग्य न हो तो हे भगवन् ! मुझे इसका उत्तर दीजिये ॥ १२ ॥ कृश मुनिने कहा, कि--जो याचक बनकर धीरजधारी होता है ऐसा मनुष्य दुर्लभ है अथवा मिलना ही कठिन है, परन्तु हे तात ! जो पुरुष याचकका अपमान नहीं करता है वह पुरुष बडा ही दुर्लभ है ॥ १३ ॥ जो पुरुष सत्कार करके अपनी शक्तिके अनुसार उचित रीतिसे दूसरे पुरुषका सत्कार नहीं करता है, ऐसे आशाभङ्ग मनुष्यकी आशा मेरे शरीरसे बहुत ही दुर्बल है ॥ १४ ॥ कृतघ्न पुरुषोंमें, क्रूर पुरुषोंमें, आलसी पुरुषोंमें और अपकार करनेवाले पुरुषोंमें जो आशा रहती है वह आशा मेरे शरीरसे भी बहुत ही दुर्बल

पिता पुत्रे नष्टे वा प्रोषितेऽपि वा । प्रवृत्तिं यो न जानाति साशा कृशतरी मया ॥ १६ ॥ प्रसवे चैव नारीणां वृद्धानां पुत्रकारिता । तथा नरेन्द्र धनिनां साशा कृशतरी मया ॥ १७ ॥ प्रदानकाङ्क्षिणीनां च कन्यानां वयसि स्थिते । श्रुत्वा कथास्तथा युक्ता साशा मया कृशतरी मया ॥ १८ ॥ एतच्छ्रुत्वा ततो राजन् स राजा सावरोधनः । संस्पृश्य पादौ शिरसा निपपात द्विजर्षभम् ॥१९॥ राजोवाच । प्रसादये त्वां भगवन् पुत्रेणेच्छामि सङ्गमम् । यदेतदुक्तं भवता सम्प्रति द्विजसत्तम ॥ २० ॥ सत्यमेतन्न सन्देहो

है ॥१५॥ जिसके एक ही पुत्र हो वह पिता, उसका पुत्र खोजाय या परदेशमें चलाजाय और उसका समाचार नहीं मिले तो भी वह उसको देखनेकी जो आशा रखता है वह उसकी आशा मेरे शरीरसे भी अधिक कृश होती है ॥ १६ ॥ हे नरेन्द्र ! सन्तान उत्पन्न होनेके समय स्त्रियोंकी पुत्रोंको उत्पन्न करनेसे उनसे आगेको प्राप्त होनेवाले सुखकी जो आशा होती है वह (कि-पुत्र मुझे सब प्रकारका सुख देगा) पुत्रको उत्पन्न करते समय वृद्धोंकी जो आशा होती है वह और धनवानोंकी आशा मेरे शरीरसे भी अधिक दुर्बल होती है ॥ १७ ॥ विवाहके योग्य अवस्थामें पहुँची हुई कन्याओंके सामने जब उनके विवाहकी बातें कीजाती हैं तब उनके मनमें जो सुखकी आशा उत्पन्न होती है वह आशा मेरे शरीरसे भी अधिक दुर्बल होती है ॥१८॥इस प्रकार अपने प्रश्नके उत्तरको सुनकर हे राजन् ! राजा वीरद्युम्न अपनी रानियोंके सहित उस उत्तम ब्राह्मणके चरणोंको मस्तकसे छूकर उनके चरणोंमें पडाहुआ वारम्बार कहनेलगा॥१९॥राजाने कहा, कि हे भगवन् ! मैं आपसे भीख माँगता हूँ, मुझे अपने पुत्रसे मिलनेकी इच्छा है, हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! आपने इस समय मुझसे जो बात कही वह निःसन्देह ठीक है, राजाकी इस बात

यदेतद् व्याहृतं त्वया । ततः प्रहस्य भगवांस्तनुर्धर्मभृताम्वरः ॥२१॥
पुत्रमस्यानयत् क्षिप्रं तपसा च श्रुतेन च । स समानीय तं
पुत्रं तमुपालभ्य पार्थिवम् । आत्मानं दर्शयामास धर्मं धर्मभृता-
म्वरः । संदर्शयित्वा चात्मानं दिव्यमद्भुतदर्शनम् । विपाप्मा विग-
तक्रोधश्चचार वनमन्तिकात् ॥ २३ ॥ एतद् दृष्टं मया राजंस्तथा च
वचनं श्रुतम् । आशामपनयस्वाशु ततः कृशतरीमिमाम् ॥ २४ ॥
भीष्म उवाच । स तथोक्तस्तदा राजन्नृषभेण महात्मना । सुमित्रो-
ऽपनयत् क्षिप्रमाशां कृशतरीं ततः ॥ २५ ॥ एवं त्वमपि कौन्तेय
श्रुत्वा वाणीमिमां मम । स्थिरो भव महाराज हिमवानिव पर्वतः ॥२६

को सुनकर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ तनु ऋषि खिलखिलाकर हँसपड़े और तप तथा योगके बलसे उस राजाके पुत्रको बुलवाकर राजा को सौंपदिया और फिर राजाके पहले अपराधके लिये उसको उलाहना दिया ॥ २०–२२ ॥ फिर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ उन मुनिने उस राजाको अपना धर्ममय अद्भुत और दिव्य स्वरूप दिखाया और स्वयं पाप तथा क्रोधरहित होकर पासके वनमें चलेगए २३ हे राजन्! मैंने यह सब घटना अपनी दृष्टिसे देखी है तथा ऋषि की बातें सुनी हैं, इसलिये तू अपनी अत्यन्त कृश आशाको शीघ्र ही त्याग दे ॥२४॥ भीष्मने कहा कि–हे राजन्! महात्मा ऋषभ मुनिने ऐसा कहा तब राजा सुमित्रने तुरन्त अपनी कृश आशा को त्याग दिया ॥२५॥ हे कुन्तीपुत्र इसीप्रकार तू भी मेरी इस बातको सुनकर हिमालय पर्वतकी समान स्थिर और शान्त होजा ॥ २६ ॥ हे महाराज! तूने बराबर दुःखके विचार रहने से व्याकुल होकर मुझसे प्रश्न किया था, मैंने उसका यथोचित उत्तर देदिया है, मेरा उपदेश सुननेके बाद जो कुछ काम होचुका

त्वं हि मष्टा च श्रोता च कृच्छ्रेष्वनुगतेऽत्रह । श्रुत्वा मम महाराज न सन्तप्तुमिहार्हसि ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऋषभगीतासु अष्टविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२८ ॥

युधिष्ठिर उवाच । नामृतस्येव पर्याप्तिर्ममास्ति ब्रुवति त्वयि । यथा हि स्वात्मतृप्तिस्थस्तथा तृप्तोऽस्मि भारत ॥ १ ॥ तस्मात् कथय भूयस्त्वं धर्ममेव पितामह । न हि तृप्तिमहं यामि पिबन् धर्मामृतं हि ते ।२। भीष्म उवाच । अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । गौतमस्य च सम्वादं यमस्य च महात्मनः ॥ ३ ॥ पारियात्रं गिरिं प्राप्य गौतमस्याश्रमो महान् । उवास गौतमो यच्च कालं तमपि मे शृणु ॥ ४ ॥ षष्टिं वर्षसहस्राणि सोतप्यद्गौतमस्तपः । तमुग्रतपसा युक्तं भावितं सुमहामुनिम् ॥ ५ ॥ उपयातो

है उसके लिये तुम्हें सन्ताप नहीं करना चाहिये ॥ २७ ॥ एक सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १२८ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे भरतवंशके पितामह ! आप जब मेरे प्रश्नका उत्तर देते हैं तब, जैसे अमृतको पीनेसे तृप्ति नहीं होती है तैसे ही आपका वचन सुनतेहुए मुझे तृप्ति नहीं होती है, अर्थात् ऐसा चित्त चाहता है, कि-सुनता ही रहूँ, आत्मस्वरूपमें स्थिति करनेवाला पुरुष जैसे समाधिसे तृप्ति नहीं पाता है तैसे ही मैं भी तुम्हारे वचनको सुनकर तृप्त नहीं होता हूँ॥१॥इसलिये हे पितामह ! आप मुझे धर्मकी बात फिर सुनाइये, मैं आपके धर्मोपदेशरूप अमृतको पीताहुआ तृप्त नहीं होता हूँ ॥ २ ॥ भीष्मने कहा, कि-महात्मा यम और गौतमका सम्वादरूप एक पुराना इतिहास इस विषयमें इसप्रकार उदाहरणमें कहा जाता है ॥ ३ ॥ पारियात्र नामके पर्वत पर गौतमका बड़ा आश्रम था, उस आश्रममें रहकर गौतमने साठहजार वर्ष तक तप किया था, हे नरव्याघ्र!

नरव्याघ्र लोकपालो यमस्तदा । तमपश्यत् सुतपसमृषिं वै गौतमं तदा ॥ ६ ॥ स तं विदित्वा ब्रह्मर्षिर्यममागतमोजसा । प्राञ्जलिः प्रयतो भूत्वा उपविष्टस्तपोधनः ॥ ७ ॥ तं धर्मराजो दृष्ट्वैव सत्कृत्यैव द्विजर्षभम् । न्यमन्त्रयत धर्मेण क्रियतां किमिति ब्रुवन् ८ गौतम उवाच । मातापितृभ्यामानृण्यं किं कृत्वा समवाप्नुयात् । कथञ्च लोकानाप्नोति पुरुषो दुर्लभान् शुचीन् ॥९॥ यम उवाच । तपः शौचवता नित्यं सत्यधर्मरतेन च । मातापित्रोरहरहः पूजनं कार्यमञ्जसा ॥ १० ॥ अश्वमेधैश्च यष्टव्यं बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः । तेन लोकानवाप्नोति पुरुषोऽद्भुतदर्शनान् ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि यमगौतमसंवादे एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः १२९

एक समय लोकपाल यमराज वहाँ आये, उन्होंने देखा, कि—गौतम ऋषि तप कररहे हैं ॥४-६॥ तपोधन ब्रह्मर्षि गौतम एकाग्रकी यमराजको पास आया देखकर सावधान हो दोनों हाथ जोड़ेहुए उनके समीपमें उनकी आज्ञा सुननेको गए ॥ ७ ॥ धर्मराजने ब्राह्मणश्रेष्ठ गौतमको देखते क्षण ही उनका सत्कार किया और निमन्त्रण करके बूझा, कि कहिये मैं आपका कौनसा प्रिय कार्य करूँ ? ॥ ८ ॥ गौतमने बूझा, कि—पुरुष क्या काम करके माता पिताके ऋणसे मुक्त होता है और मनुष्यको पवित्र लोक किस प्रकार मिलते हैं ? ॥९॥ यमने कहा, कि—पुरुष नित्य तप, बाहरी और भीतरी पवित्रता और सत्यभाषणमें तत्पर होकर प्रतिदिन माता पिताकी सेवा करे, ऐसा करने पर वह माता पिताके ऋणसे मुक्त होजाता है ॥ १० ॥ बहुतसे अश्वमेध यज्ञ करके ब्राह्मणोंको बहुतसी श्रेष्ठ दक्षिणायें देय तो मनुष्य अद्भुत दर्शनीय लोकोंमें जाता है ॥ ११ ॥ एकसौ उन्तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १२९ ॥

युधिष्ठिर उवाच । मित्रैः प्रहीयमानस्य बह्वमित्रस्य का गतिः । राज्ञः संक्षीणकोशस्य बलहीनस्य भारत ॥ १ ॥ दुष्टामात्यसहायस्य च्युतमन्त्रस्य सर्वतः । राज्यात् प्रच्यवमानस्य गतिमग्र्यामपश्यतः ॥ २ ॥ परचक्राभियातस्य परराष्ट्राणि मृद्नतः । विग्रहे वर्त्तमानस्य दुर्बलस्य बलीयसा ॥३॥ असंविहितराष्ट्रस्य देशकालावजानतः । अप्राप्यं च भवेत् सान्त्वं भेदो वाप्यतिपीडनात् । जीवितन्त्वर्थहेतुर्वा तत्र किं सुकृतं भवेत् ॥ ४ ॥ भीष्म उवाच । गुह्यं धर्मज्ञ मा माक्षीरतीव भरतर्षभ । अपृष्टो नोत्सहे वक्तुं धर्ममेतं युधिष्ठिर ॥५॥ धर्मो ह्यणीयान्वचनाद् बुद्धिश्च भरतर्षभ ।

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे भरतवंशी राजन् ! जिस राजाके मित्र नष्ट होगए हों, जिसके बहुतसे शत्रु होगए हों, जिसका खजाना खाली होगया हो और जो सेनासे हीन होगया हो वह कौनसे मार्गको ग्रहण करे ? ॥१॥ और जिसके मंत्री तथा सहायक दुष्ट (राजाके विरुद्ध वर्त्ताव करनेवाले) हों, जिसके गुप्त विचार बाहर खुलजाते हों, जो राज्यभ्रष्ट होगया हो, जिसको कार्यके समय उत्तम विचार न सूझते हों, जिसने वैरीके देशपर चढ़ाई की हो, जो वैरियोंके देशोंका संहार कररहा हो, दुर्बल होकर भी जिसको बलवान्के साथ युद्ध करनेका अवसर आपड़ा हो, जिसके देशकी व्यवस्था बिगड़गई हो, जिसको देशका तथा समयका ज्ञान न हो तथा प्रजाको अत्यन्त पीड़ा देनेवाला होनेके कारण जो वैरियोंके साथ सन्धि न करसकता हो या वैरियोंमें भेद न डलवा सकता हो वह राजा कैसा वर्त्ताव करे, ऐसा राजा धन पानेके लिये अधर्मके मार्गका सहारा लेय या धनके न होनेसे मरजाय, उसके लिये क्या करना अच्छा है यह मुझे बताइये २-४ भीष्मने कहा, कि-हे भरतवंशमें श्रेष्ठ धर्मज्ञ राजन् ! तूने मुझसे बड़े ही गुह्य विषयका प्रश्न किया है, हे युधिष्ठिर ! यदि तू मुझसे

अर्थोपायश्च सदाचारैः साधुर्भवति स कश्चित् ॥ ६ ॥ धर्मेणा बुद्धिपूर्वेण भवत्याढ्यो न वा पुनः । तादृशोयमनुप्रश्नः संव्यवस्यः स्वया धिया ॥ ७ ॥ उपायं धर्मबहुलं यात्रार्थं शृणु भारत । नाहमेतादृशं धर्मं बुभूषे धर्मकारणात् ॥ ८ ॥ दुःखादान इह ह्येष स्यात्तु पश्चात्क्षयोपमः। अभिगम्य मतीनां हि सर्वासामेव निश्चयः॥९ यथा यथा हि पुरुषो नित्यं शास्त्रमवेक्षते । तथा तथा विजानाति विज्ञानमथ रोचते ॥१०॥ अविज्ञानादयोगो हि पुरुषस्योपजायते । विज्ञानादपि योगश्च योगो भूतिकरः परः ॥ ११ ॥ अशंकमानो

इस प्रश्नको न बूझे तो मैं इस धर्मको कहना नहीं चाहता ॥५॥ हे भरतवंशमें श्रेष्ठ राजन् ! धर्मका विषय बड़ा ही सूक्ष्म पदार्थ है, शास्त्रको सुननेसे मनुष्यको उस धर्मका ज्ञान होता है, उस धर्मको सुनकर और आचरण करके कोई समयानुसार सदाचारका सेवन करता हुआ साधु बनजाता है॥६॥राजा,समझकर कर्म करने पर धनवान् भी होजाता है, और नहीं भी होता है इसलिये ऐसे प्रश्नके विषयमें तुझे स्वयं ही अपनी बुद्धिसे विचार करना चाहिये ७ हे भरतवंशी राजन!आपत्तिकालमें आजीविकाके लिये जिसमें अधिक-तर धर्म समाया हुआ है ऐसा उपाय मैं तुझे सुनाता हूँ, उसको तू सुन, परन्तु नैतिक धर्म होनेके कारण मैं ऐसे आचरणको धर्मके नामसे स्वीकार नहीं करना चाहता ॥८॥ आपत्तिके समय में जो राजा अपनी प्रजाको दुःख देकर कर वसूल करता है वह पीछे मरणकी अनी पर ही रहता है, यह बात एकत्रित हुए सब विद्वानोंने विचार करके निश्चय की है ॥ ९ ॥ पुरुष नित्य ज्यों२ शास्त्रको देखता है, त्यों२ धर्मका विषय उसके जाननेमें आता है और उसका विज्ञान (अनुभव) अच्छा मालूम होता है १० जो मनुष्य अज्ञानी है उसको काम करनेके लिये उपाय नहीं सूझता, परन्तु शास्त्रके अभ्याससे ज्ञानी हुए पुरुषको उपाय

वचनमनसूयुरिदं शृणु । राज्ञः कोशक्षयादेव जायते बलसंक्षयः॥१२
कोशञ्च जनयेद्राजा निर्जलेभ्यो यथा जलम् । कालं प्राप्यानुगृ-
ह्णीयादेष धर्मः सनातनः । उपायधर्मं प्राप्यैनं पूर्वैराचरितं जनैः॥१३
अन्यो धर्मः समर्थानामापत्स्वन्यश्च भारत । प्राक्कोशात्प्राप्यते
धर्मो वृत्तिर्धर्माद्गरीयसी ॥१४॥ धर्मं प्राप्य न्यायवृत्तिं न बलीयान्न
विन्दति । यस्माद्धनस्योपपत्तिरेकान्तेन न विद्यते ॥ १५ ॥ तस्मा-

सूझता है और उपाय करनेसे उत्तम समृद्धि मिलती है ॥११॥ तू मेरे ऊपर किसी प्रकारकी शङ्का या असूया न करके अब मैं जो बात कहूँ उसको सुन, खजानेका नाश होनेसे राजाके बल का नाश होजाता है ॥१२॥ मनुष्य जैसे निर्जल स्थानमेंसे भी जल निकाललेता है, ऐसे ही राजा आपत्तिके समयमें (अपनी प्रजासे कर लेकर) अपने देशमें धन एकत्रित करे (परन्तु इस सङ्कट धर्मका यह भी नियम है, कि-जब अच्छा समय आवे तो प्रजाके ऊपर धन आदिसे अनुग्रह करे, योंही सनातन कालसे धर्मका पालन होता आया है और पुराने समयके पुरुष भी आपत्तिके समय ऐसे ही उपधर्मसे वर्त्ताव करते थे) ॥१३॥ हे भरतवंशी राजन्! सुखके समयमें निर्बल हुए राजाका धर्म जुदा ही है, क्योंकि-धनके विना भी राजा तप आदि करके धर्माचरण कर सकता है, परन्तु जीवन धर्मसे भी श्रेष्ठ मानाजाता है (जीवनको रखनेके लिये धनकी आवश्यकता पड़ती है, इसलिये धनको प्राप्त करनेमें यदि धर्म बाधक हो तो राजा उसकी परवाह न करे अर्थात् चाहे जिस उपायसे धन प्राप्त करके जीवनकी रक्षा करे) ॥ १४ ॥ जो राजा केवल धर्माचरणका ही विचार करता है वह निर्बल राजा है, केवल धर्माचरणसे ही वह राजा उत्तम रीतिसे ही अपनी आजीविका नहीं चला सकता तथा धर्माचरण करनेसे उसमें बल अवश्य आजायगा, ऐसा

द्वापरस्त्वधर्मोपि श्रूयते धर्मलक्षणः । अधर्मो जायते तस्मिन्निति वै कवयो विदुः॥१६॥अनन्तरं क्षत्रियस्य तत्र किं विचिकित्स्यते । यथास्य धर्मो न ग्लायेन्नेयाच्छत्रुवशं यथा । तत्कर्तव्यमिहेत्याहुर्नात्मानमवसादयेत् ॥ १७ ॥ सर्वात्मनैव धर्मस्य न परस्य न चात्मनः । सर्वोपायैरुज्जिहीर्षेदात्मानमिति निश्चयः ॥ १८ ॥ तत्र धर्मविदां तात निश्चयो धर्मनैपुणं । उद्यतो नैपुणं क्षात्रे बाहुवीर्यादिति श्रुतिः ॥ १९ ॥ क्षत्रियो वृत्तिसंरोधे कस्य नादातुमर्हति । अन्यत्र तापसस्वाच्च ब्राह्मणस्वाच्च भारत ॥ २० ॥ यथा वै

कोई खास नियम नहीं है ॥ १५ ॥ इसलिये आपत्तिकाल में राजा जो आचरण करता है उसको धर्मके विरुद्ध न समझे, दूसरे पक्षमें कितने ही विद्वानोंका यह विचार है, कि-ऐसा धर्मके प्रतिकूल आचरण करनेसे अधर्म ही होता है ॥ १६ ॥ क्षत्रिय को आपत्तिकाल बीतजाने पर कैसा वर्त्ताव करना चाहिये (इस समय) उसको ऐसी रीतिसे चलना चाहिये, कि-जिसमें उसके अपने धर्मको लाञ्छन न लगे, कि-जिसमें शत्रुके वशमें न होना पड़े, यह सब उसका कर्त्तव्य है, ऐसा विद्वान् कहते हैं, वह ऐसा वर्त्ताव करे, कि-जिसमें अपना नाश न हो ॥१७॥ ऐसे दुःखके समयमें अपनी और दूसरेकी प्रतिष्ठाकी रक्षा करनेकी जरा भी चिन्ता न करे, किन्तु सब उपाय करके अपने आपेकी रक्षा करे और आपत्तिमेंसे अपना उद्धार करे, यह नीतिको जाननेवालों का निश्चय है ॥ १८ ॥ हे तात ! श्रुतिमें कहा है, कि-धर्मवेत्ता ब्राह्मणोंको धर्मके विषयमें निपुणता प्राप्त करनी चाहिये, क्षत्रिय बाहुबलसे उद्यम करनेकी निपुणता प्राप्त करे, क्योंकि-क्षत्रियोंकी भुजाओंमें पराक्रम रहता है ॥ १९ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! जब क्षत्रियकी आजीविकाके साधन जाते रहे हों उस समय वह तपस्वी और ब्राह्मणोंके धनके सिवाय क्या नहीं लेसकता ? ॥ २० ॥

ब्राह्मणः सीदन्नयाज्यमपि याजयेत् । अभोज्यान्नानि चाश्नीयात्तथेदं नात्र संशयः ॥ २१ ॥ पीडितस्य किमद्वारमुत्पथो विधृतस्य च । अद्वारतः प्रद्रवति यथा भवति पीडितः ॥२२॥ यस्य कोशबलग्लान्या सर्वलोकपराभवः । भैक्ष्यचर्या न विहिता न च विट्शूद्रजीविका ॥ २३ ॥ स्वधर्मानंतरावृत्तिर्जात्यानानुपजीवितः । वहतः प्रथमं कल्पमनुकल्पेन जीवनम् ॥ २४ ॥ आपद्गतेन धर्मा-

ब्राह्मण आजीविकाके लिये दुःखी होता है वह जैसे यज्ञ न कराने योग्यको यज्ञ कराकर आजीविका चलालेता है तथा जिनका अन्न भोजन करनेके अयोग्य होता है ऐसे पुरुषोंके अन्नका तथा भोजन करनेके अयोग्य अन्नोंका भोजन करलेता है, इस प्रकार ही आजीविकाके लिये दुःख उठाताहुआ क्षत्रिय भी अपनी आजीविकाके लिये तपस्वी और ब्राह्मणोंके सिवाय चाहे जिसका धन लेनेमें जरा भी संशय न रक्खे२१ शत्रुओंसे पीड़ा पाते हुए मनुष्यको भोगनेके लिये कौनसी जगह विना द्वारकी मानी जाती है? जेलखानेमें बन्द पड़ेहुए मनुष्यको भागकर छूटनेके लिये कौनसा मार्ग खोटा समझाजाता है ? जब सङ्कट आपड़ता है तब वह जीमें आवे तिस खोटे द्वार या मार्गसे भागजाता है२२जिस क्षत्रियका खजाना और सैनिक बल नष्ट होगए हों और जिसका सब लोग तिरस्कार करने लगे हों उस सङ्कटमें पडेहुए क्षत्रियके लिये भीख माँगकर आजीविका करना या वैश्य अथवा शूद्रके धर्मसे आजीविका करना शास्त्रमें कहा है ॥ २३ ॥ क्षत्रिय अपनी जातिवालोंसे याचना करे यह उसका धर्म नहीं है, उसका मुख्य धर्म तो युद्धमें विजय पाकर धन प्राप्त करना और उससे अपनी आजीविका चलाना है, परन्तु मुख्य विधिसे उस क्षत्रियकी आजीविका न चलसके तो फिर गौण विधिसे आजीविका चलानेमें उसको कुछ रुकावट नहीं है ॥ २४ ॥ जो क्षत्रिय आपत्तिमें आ

णामन्यायेनोपजीवनम् । अपि ह्येतद् ब्राह्मणेषु दृष्टं वृत्तिपरिक्षये ॥ २५ ॥ क्षत्रिये संशयः कस्मादित्येवं निश्चितं सदा । आददीत विशिष्टेभ्यो नावसीदेत् कथंचन ॥ २६ ॥ हन्तारं रक्षितारं च प्रजानां क्षत्रियं विदुः । तस्मात्संरक्षता कार्यमादानं क्षत्रबन्धुना ॥ २७ ॥ अन्यत्र राजन् हिंसाया वृत्तिर्नेहास्ति कस्यचित् । अप्यरण्यसमुत्थस्य एकस्य चरतो मुनेः ॥ २८ ॥ न शंखलिखितां वृत्तिं शक्यमास्थाय जीवितुम् । विशेषतः कुरुश्रेष्ठ प्रजापालनमीप्सता ॥ २९ ॥ परस्परं

पड़ा हो और यदि अपने धर्मके अनुसार आजीविका चलानेका साधन न हो तो वह अन्याय करके भी अपनी आजीविका चलावे, ब्राह्मणोंमें भी यदि वह अपने धर्मसे आजीविका न चला सकता हो तो (अर्थात् तीन दिन तक लंघन हुआ हो तो) वह अन्याय से (ब्राह्मणके सिवाय) दूसरेका अन्न लूटकर अपनी आजीविका चलावे, यह रीति हमारे देखनेमें आती है ॥ २५ ॥ तो फिर क्षत्रिय उसमें क्यों संशय करे ? जरा भी खेद न मानकर और नष्ट न होकर क्षत्रिय श्रेष्ठ पुरुषोंसे धन धान्य छीनकर आजीविका चलालेय परन्तु किसीप्रकार भी दुःखी न होय ॥ २६ ॥ क्षत्रियको प्रजाओंका नाशक भी और रक्षा करनेवाला भी माना गया है, इसलिये प्रजाकी रक्षा करनेवाला क्षत्रिय सङ्कटके समय सबसे बलात्कार करके धन धान्य छीनलेय ॥ २७ ॥ हे राजन् ! इस जगत्में दूसरेकी हिंसा किये विना किसीकी भी आजीविका नहीं चलती, मुनि वनमें अकेला रहता है, उसकी आजीविका भी विना हिंसाके नहीं चलती तो फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या कीजाय ? ॥ २८ ॥ हे कुरुकुलमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! ललाटमें लिखी हुई प्रारब्धानुसार वृत्तिका सहारा लेकर आजीविका चलावें, ऐसा करना साधारण मनुष्योंको भी उचित नहीं है तो फिर जिसको प्रजाका पालन करनेकी इच्छा है उस राजाको तो ऐसी वृत्ति

हि संरक्षा राज्ञा राष्ट्रेण चापदि । नित्यमेव हि कर्तव्या एष धर्मः सनातनः ॥ ३० ॥ राजा राष्ट्रं यथापत्सु द्रव्यौघैरपि रक्षति । राष्ट्रेण राजा व्यसने रक्षितव्यस्तथा भवेत् ॥ ३१ ॥ कोशं दण्डं बलं मित्रं यदन्यदपि संचितम् । न कुर्वीतान्तरं राष्ट्रे राजा परिगतः क्षुधा ॥ ३२ ॥ बीजं भक्तेन संपाद्यमिति धर्मविदो विदुः । अत्रैतच्छंबरस्याहुर्महामायस्य दर्शनम् ॥ ३३ ॥ धिक्तस्य जीवितं राज्ञो राष्ट्रं यस्यावसीदति । अवृत्त्यान्यमनुष्योपि यो वैदेशिक इत्यपि ॥३४॥ राज्ञः कोशबलं मूलं कोशमूलं पुनर्बलम् । तन्मूलं सर्वधर्माणां धर्ममूलाः पुनः प्रजाः ॥ ३५ ॥ नान्यामपीडयित्वेह

करना सर्वथा अनुचित है, इसमें क्या कहना है ? ॥ २९ ॥ आपत्तिकालमें राजा और प्रजा सदा आपसमें एक दूसरेकी रक्षा करें, यह दोनोंका सनातनधर्म है ॥ ३० ॥ जैसे राजा आपत्तिकालमें धनके ढेर खरचकर भी प्रजाकी रक्षा करता है, ऐसे ही देशकी प्रजाको भी आपत्तिकालमें प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये ३१ राजा आजीविकासे दुःखित हो तो भी वह अपने खजानेको, दुष्टों को दण्ड देनेवाले राजदण्डको, सेनाको, मित्रोंको और संग्रह करके रक्खेहुए दूसरे पदार्थोंको जहाँ तक बन सके कभी खरच न करे ॥ ३२ ॥ धर्मको जाननेवाले पण्डित कहते हैं कि–अपनी खुराकमें कमी करके भी दूसरोंकी रक्षा करे (तथा इन सबोंकी देशकी रक्षाके लिये रक्षा करे), महामायावी शम्बरासुरकी यह नीति है, ऐसा नीतिके ज्ञाता कहते हैं ॥ ३३ ॥ उस राजाको धिक्कार है, कि–जिसका देश शिथिल होरहा हो, उस राजाको धिक्कार है, कि–जिसके देशके मनुष्य आजीविकाके लिये परदेशमें जाकर परदेशी प्रजा बनगए हों ॥ ३४ ॥ राजाकी जड़ खजाना और सेना है, सेनाकी मूल खजाना है, धर्मोंकी मूल सेना है अर्थात् सेनाके भयसे ही सब प्रजाओंको अपने २ धर्म

कोशः शक्यः कुतो बलम् । तदर्थं पीडयित्वा च दोषं प्राप्तुं न सोऽर्हति ॥ ३६ ॥ अकार्यमपि यज्ञार्थं क्रियते यज्ञकर्मसु । एतस्मात् कारणाद्राजा न दोषं प्राप्तुमर्हति ॥ ३७ ॥ अर्थार्थमन्यद्भवति विपरीतमथापरम् । अनार्थमर्थमप्यन्यत्तत्सर्वं ह्यर्थकारणम् । एवं बुध्वा संप्रपश्येन्मेधावी कार्यनिश्चयम् ॥ ३८ ॥ यज्ञार्थमन्यद्भवति यज्ञोऽन्यार्थस्तथा परः । यज्ञस्यार्थार्थमेवान्यत्तत्सर्वं यज्ञसाधनम् ३९

पर रक्खा जा सकता है, प्रजाका मूल धर्म है अर्थात् धर्माचरण करनेसे राजा और प्रजा सुखी होते हैं, इसप्रकार सबका मूल खजाना है, इसलिये जैसे भी होसके तैसे खजानेको बढ़ाता जाय ॥ ३५ ॥ दूसरोंको दुःख दिये विना खजानेमें वृद्धि नहीं होसकती और खजाना न हो तो सेना कहाँसे रक्खीजाय ? इसलिये आपत्तिकालमें खजानेको इकट्ठा करनेके लिये प्रजाको दुःख देना पडे तो इससे राजा दोषका भागी नहीं होता है ३६ जैसे यज्ञ करनेवालेको यज्ञ करते समय यज्ञके लिये (पशुहिंसा आदि) अनर्थ करते पड़ते हैं, परन्तु ऐसा करने पर जैसे उसको पाप नहीं लगता है ऐसे ही कारणवश (आपत्तिकाल आवे तब ही) राजा कदाचित् खजानेको बढ़ानेके लिये अनर्थ करे तो भी वह दोषका भागी नहीं होता है ॥३७॥ (आपत्तिकालके भीतर) धन प्राप्त करनेके लिये अयोग्य उपाय करने ही पड़ते हैं, यदि अयोग्य उपाय न किये जायँ तो परिणाममें उस राजाके ऊपर दुःख आपड़ता है, नाशको हटानेके और दुःखको दूर करनेके जो ढंग चलाने पडते हैं वे सब धन एकत्रित करनेके लिये ही हैं, अपनी बुद्धिसे विचार करके (देशकालके अनुसार) विद्वान् राजा कार्य का निर्णय करे ॥ ३८ ॥ जैसे पशु आदि यज्ञके उपयोगी होते हैं और यज्ञ करनेसे चित्तकी शुद्धि होती है तथा पशु आदि यज्ञ की सामग्री, यज्ञ और संस्कार इन तीनोंसे मोक्ष मिलता है, ऐसे

उपमामत्र वक्ष्यामि धर्मतत्त्वप्रकाशिनीम् । यूपं छिन्दन्ति यज्ञार्थं तत्र ये परिपन्थिनः ॥४०॥ द्रुमाः केचन सामन्ता ध्रुवं छिन्दन्ति तानपि । ते चापि निपतन्तोऽन्यान्निघ्नन्त्येव वनस्पतीन् ॥ ४१ ॥ एवं कोशस्य महतो ये नराः परिपन्थिनः । तानहत्वा न पश्यामि सिद्धिमत्र परन्तप ॥४२॥ धनेन जायते लोकावुभौ परमिमं तथा । सत्यं च धर्मवचनं यथा नास्त्यधनस्तथा ॥ ४३ ॥ सर्वोपायैराददीत धनं यज्ञप्रयोजनम् । न तुल्यदोषः स्यादेवं कार्य्याकार्य्येषु

ही राजनीति और राजदण्ड कोशका संग्रह करनेके लिये उपयोगी हैं तथा कोश सेनाको रखनेमें उपयोगी है, इसप्रकार नीति (दण्ड) कोश और सेना ये तीनों राजकी पुष्टि करनेवाले तथा शत्रुकी पराजय करनेवाले हैं ॥३९॥ इस विषयमें मैं तुझे धर्मके तत्त्वको प्रकाशित करनेवाला एक दृष्टान्त सुनाता हूँ-यज्ञका यूप (खम्भा) बनानेके लिये एक वृक्षको काटा जाता है, उस समय जो २ वृक्ष उस वृक्षको काटनेमें बाधक होते हैं उनको भी अवश्य काट डालते हैं ॥४०-४१॥ इसप्रकार ही बड़े खजानेका संग्रह करनेके समय जो मनुष्य प्रतिपक्षीरूपसे उसमें बाधा डालनेवाले हों उनके मारे विना हे वैरियोंको सन्ताप देनेवाले युधिष्ठिर ! दूसरे प्रकारसे कैसे काम बने यह मुझे नहीं दीखता ॥४२॥ धनसे मनुष्य इस लोक और परलोक दोनोंको जीत लेता है और सत्य तथा धर्मका भी सम्पादन करता है, परन्तु जो मनुष्य निर्धन है वह जीता हुआ भी मरा ही है ॥ ४३ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! यदि यज्ञ करनेके लिये धनकी आवश्यकता हो तो (शास्त्रमें निषेध किये हुए भी) चाहे जिस उपायसे धन लावे और ऐसा करनेसे यजमान को दोष नहीं लगता है, ऐसे ही आपत्तिकालमें धन पानेके लिये प्रजाके ऊपर बलात्कार करना कहा है, परन्तु अच्छे समयमें इसका निषेध किया है (देश और कालके अनुसार) कार्य अकार्य

भारत ॥ ४४ ॥ नैतौ सम्भवतो राजन् कथञ्चिदपि पार्थिव । न ह्यरण्येषु पश्यामि धनवृद्धानहं क्वचित् ॥ ४५ ॥ यदिदं दृश्यते वित्तं पृथिव्यामिह किंचन । ममेदं स्यान्ममेदं स्यादित्ययं काङ्क्षते जनः ॥ ४६ ॥ न च राज्यसमो धर्म्मः कश्चिदस्ति परन्तप । धर्म्मः संशब्दितो राज्ञामापदर्थमतोऽन्यथा ॥४७॥ दानेन कर्म्मणा चान्ये तपसान्ये तपस्विनः । बुद्ध्या दाक्ष्येण चैवान्ये विन्दन्ति धनसंचयान् ॥४८॥ अधनं दुर्बलं प्राहुर्धनेन बलवान् भवेत् । सर्वं

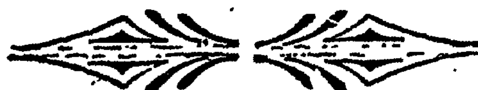
होजाता है और अकार्य कार्यरूप होजाता है, इसलिये इसमें उलटा न समझे ॥४४॥ हे राजन् ! एक ही पुरुषमें धनका संग्रह और धनका त्याग कभी नहीं होसकता, अर्थात् जो संग्रह करनेवाला है उससे धनका त्याग नहीं होसकता और त्यागी धनका संग्रह नहीं करता, बड़े २ धनवानोंको मैं वनोंमें नहीं देखता और जिसको धनकी इच्छा नहीं है वह नगरमें या महलमें नहीं रहता ४५ इस पृथिवी पर जो कुछ धन देखनेमें आता है, उस धनके लिये सब लोग 'यह धन मुझे मिलजाय, यह धन मुझे मिलजाय' ऐसा कहकर मारकूट करते हैं ॥ ४६ ॥ हे वैरियोंको सन्ताप देनेवाले राजन् ! राजाका इस जगत्में राज्यकी समान कोई धर्म (कर्त्तव्य) नहीं है (राजाका कल्याण राज्यकी रक्षा करनेमें ही है, जब आपत्तिका समय हो तब राजाका प्रजासे अधिक करलेना उचित मानाजाता है, परन्तु आपत्ति न होनेके समय अधिक कर लेनेसे पाप लगता है, इसलिये राजा सुसमयमें प्रजाके ऊपर अनुग्रह करे और प्रजाकी रक्षा कर कल्याणसाधन करे ॥ ४७ ॥ कोई लोग दान बक्शीस आदिसे धन पाते हैं, कितने ही यज्ञ करके धन पाते हैं, कोई तपस्वी तप करके धन पाते हैं और कोई बुद्धि तथा चतुराईसे धन पाते हैं॥४८॥जो मनुष्य धनहीन होता है उसको

धनवता प्राप्यं सर्वं तरति कोशवान् ॥ ४६ ॥ कोशेन धर्म्मः कामश्च परलोकस्तथा ह्ययम् । तञ्च धर्मेण लिप्सेत नाधर्मेण कदाचन ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैया-
सिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि
त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३०॥

दुर्बल कहते हैं और धनवान् बलवान् कहलाता है, धनवान् सब पदार्थोंको पाजाता है, धनका भण्डार रखनेवाला पुरुष सब आपत्तियोंके पार होजाता है ॥ ४६ ॥ धनके भण्डारसे मनुष्य धर्म, काम (वैभव) तथा परलोकको पाता है, इसलिये राजा धनके भण्डारको धर्म (न्याय) से पानेकी इच्छा करे, परन्तु आपत्तिकालमें जो अधर्माचरणको धर्म मानकर लोकव्यवहार किया जाता है उस अधर्मसे सुसमयमें धन पानेकी कभी इच्छा न करे ॥ ५० ॥ एकसौ तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १३० ॥

इति श्रीमहाभारतके शान्तिपर्वका राजधर्मपर्व मुरादाबादनिवासि
भारद्वाजगोत्र गौड़वंश्य भोलानाथात्मज ऋषिकुमार
रामस्वरूपशर्मा द्वारा सम्पादित हिन्दी
भाषानुवाद सहित समाप्त





॥ श्रीहरिः ॥

महाभारत

शान्ति-पर्व

आपद्धर्मपर्व

नारायणं नमस्कृत्य नरञ्चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥॥ युधिष्ठिर उवाच । क्षीणस्य दीर्घसूत्रस्य सानुक्रोशस्य बन्धुषु । परिशङ्कितवृत्तस्य श्रुतमन्त्रस्य भारत ॥ १ ॥ विभक्तपुरराष्ट्रस्य निर्द्रव्यनिचयस्य च । असम्भावितमित्रस्य भिन्नामात्यस्य

॥ श्रीः ॥ नारायण, नरोंमें उत्तम नर, वाणीकी अधिष्ठात्री सरस्वती देवी और व्यासजीको प्रणाम करके इतिहास पुराण आदिका आरम्भ करे ॥॥ युधिष्ठिरने कहा, कि–हे भरतवंशी राजन् ! जिस राजाका खजाना और अन्नभण्डार खाली होगया हो, जो निर्बल हो, जो अपने बान्धवोंके ऊपर दया आनेके कारण उनका नाश होनेके डरसे लड़ाईसे बचता हो, किलेसे बाहर निकलकर युद्ध न करसकताहो, जिसके मन्त्री आदिको कामोंपर संदेह हो और जिसके राजकीय विचार खुलगए हों, उसको क्या करना चाहिये ? ॥१॥ जिसके नगरों और देशोंको शत्रुओंने विभाग करके बाँटलिया हो, जो निर्धन होनेके कारण मित्रोंका सत्कार न करसकता हो, जिसके मंत्रि-

सर्वशः ॥ २ ॥ परचक्राभिजातस्य दुर्बलस्य बलीयसा ।
आपन्नचेतसो ब्रूहि किं कार्यमवशिष्यते ॥ ३ ॥ भीष्म
उवाच । बाह्यश्चेद्विजिगीषुः स्याद्धर्मार्थकुशलः शुचिः।जवेन
सन्धिं कुर्वीत पूर्वभुक्तान् विमोचयन्॥४॥ यो धर्म्मविजि-
गीषुः स्याद्बलवान् पापनिश्चयः । आत्मनः सन्निरोधेन
सन्धिं तेनापि रोचयेत् ॥ ५ ॥ अपास्य राजधानीम्वा तरेद्
द्रव्येण चापदम् । तद्भावयुक्तो द्रव्याणि जीवन् पुनरुपा-

योंमें एकमति न हो अथवा चारों ओरसे शत्रुओंके साथ मिलकर उसको दबाते हों ॥ २ ॥ दूसरे देशके राजाने जिसका तिरस्कार किया हो, जो बलरहित हो और बलवान् शत्रु राजाने जिसके चित्तको व्याकुल करदिया हो, ऐसे राजाको क्या उपाय करना चाहिये ॥ ३ ॥ भीष्म जीने कहा, कि-हे राजा युधिष्ठिर ! विजय चाहनेवाला शत्रु राजा यदि धर्म और अर्थमें प्रवीण हो तथा पवित्र-चित्त हो तो जिस राजाके राज्य पर वह चढ़कर आया हो उस राजाको उसके साथ तुरन्त सन्धि कर लेनी चाहिये और अपने पूर्वजोंके भोगेहुए नगर तथा ग्रामोंको शत्रुसे छुड़ाकर अपने वशमें करलेना चाहिये ॥४॥ परंतु यदि शत्रु अधर्मसे विजय चाहनेवाला, बलवान् और पाप करनेके ही निश्चय पर आया हो तो उस वैरी को कुछएक ग्राम देकर सन्धि करलेनी चाहिये ॥ ५ ॥ परन्तु चढ़ाई करनेवाला शत्रु ऐसा करनेको राजी न हो तो अपनी राजधानीको छोड़कर भागजाय अथवा उसको दण्डरूपसे धन देकर आपत्कालके पार होजाय और अपने प्राणोंकी रक्षा करलेय, यदि राजा जीवित रहता है तो समय आने पर बलवान् राजा होकर अपने खजाने

ऽर्जयेत् ॥ ६ ॥ यास्तु कोशबलत्यागात् शक्यास्तरितुमापदः । कस्तत्राधिकमात्मानं सन्त्यजेदर्थधर्म्मवित् ॥ ७ ॥ अवरोधान् जुगुप्सेत का सपत्नधने दया । न त्वेवात्मा प्रदातव्यः शक्ये सति कथञ्चन ॥ ८ ॥ युधिष्ठिर उवाच । आभ्यन्तरे प्रकुपिते बाह्ये चोपनिपीडिते । क्षीणे कोशे श्रुते मन्त्रे किं कार्य्यमवशिष्यते ॥ ९ ॥ भीष्म उवाच । क्षिप्रम्वा सन्धिकामः स्यात् क्षिप्रम्वा तीक्ष्णविक्रमः । तदा-

और राज्य आदिको फिर लौटालेता है ॥ ६ ॥ धनका भण्डार देदेनेसे अथवा सेनाकोत्याग देनेसे यदि आपत्तियें दूर होसकती हों तो उन आपत्तियोंके कारणसे अर्थ और धर्मको जाननेवाला कौनसा राजा अपने उत्तम आत्माका नाश करेगा ? ॥ ७ ॥ शत्रुके चढ़आने पर रानियोंको तहाँसे भगादेय, परन्तु कदाचित् वे शत्रुके वशमें जापड़ें तो उनकी भी परवाह न करके राजा अपनी ही रक्षा करे, रानियोंको और खजानेको शत्रु अपने वशमें करलें, उस समय उनके ऊपर दया निरर्थक है (क्योंकि-ऐसा करनें में स्वयं भी शत्रुके हाथमें जा फँसना सम्भव है) अपने से जहाँ तक भी होसके तहाँ तक राजाको किसीप्रकार अपना शरीर शत्रुके हाथमें नहीं जाने देना चाहिये ॥८॥ युधिष्ठिरने बूझा, कि-मन्त्री आदि राजासे कुपित होजायँ सामना करनेलगें और दूसरी ओरसे शत्रु फाँसने लगे, खजाना खाली होगया हो और राज्यके विषयके गुप्त विचार खुलगए हों, उस समय राजाको क्या विचार करना चाहिये ? ॥ ९ ॥ भीष्मने कहा, कि-ऐसा अवसर आने पर यदि शत्रु धर्मज्ञ हो तो राजाको तुरन्त उसके साथ सन्धि करनेका उद्योग करना चाहिये, नहीं

पनयनं क्षिप्रमेतावत् साम्परायिकम् ॥ १० ॥ अनुरक्तेन
चेष्टेन हृष्टेन जगतीपतिः । अल्पेनापि हि सैन्येन महीं
जयति भूमिपः ॥ ११ ॥ हतो वा दिवमारोहेद्धत्वा वा
क्षितिमावसेत् । युद्धे हि सन्त्यजन् प्राणान् शक्रस्यैति
सलोकताम् ॥ १२ ॥ सर्वलोकागमं कृत्वा मृदुत्वं गन्तु-
मेव च । विश्वासाद्विनयं कुर्य्याद्विश्वसेच्चाप्युपायतः १३
अपचिक्रमिषुः क्षिप्रं साम्ना वा परिसान्त्वयन् । विलंघ-

तो अपना तीक्ष्ण पराक्रम दिखाकर उसको अपने राज्यमें से निकाल कर दूर करदेना चाहिये, यदि ऐसी शक्ति न हो तो धर्मयुद्ध करे, यदि ऐसा करतेहुए मरण होजाय तो वह परलोकगमन भी अच्छा है ॥ १० ॥ परन्तु यदि सेनाका अपने ऊपर प्रेम हो, उसमें उत्साह हो और वह (शत्रुके साथ लड़कर) राजाका कल्याण करना चाहे तो थोड़ी सेनासे भी राजा सब पृथिवीको जीत सकता है ॥११॥ राजा रणमें युद्ध करतेहुए मरजाता है तो स्वर्ग में जाता है और यदि शत्रुओंको मारलेता है तो पृथिवी पर रहकर राज्यका सुख भोगता है, यदि राजा युद्ध में अपने प्राण देदेता है तो वह इन्द्रलोकमें जाता है १२ शत्रु समर्थ हो तो, उससे सब लोकोंकी रीतिके अनुसार शपथ लेय (कि—तुम्हारा हितैषी रहूँगा), कोमलता दिखावे और विनय आदिसे शत्रु राजाका विश्वास जमाकर आप भी अनेकों उपायोंसे शत्रु राजाका विश्वास प्राप्त करे ॥ १३ ॥ (अपने मंत्री आदिके कृतघ्न होजानेके कारणसे) युद्ध न होसकता हो और (शत्रुके कुपित होने के कारण) उसके साथ सन्धि भी नहीं होसकती हो, तो फिर राजधानीमेंसे भागजानेका विचार करे और

यित्वा मन्त्रेण ततः स्वयमुपक्रमेत् ॥ १४ ॥ ❀ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि
एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३१॥

युधिष्ठिर उवाच। हीने परमके धर्मे सर्वलोकाभिसंहिते। सर्वस्मिन् दस्युसाद्भूते पृथिव्यामुपजीवने॥१॥केन स्विद् ब्राह्मणो जीवेज्जघन्ये काल आगते। असन्त्यजन् पुत्रपौत्राननुक्रोशात् पितामह ॥ २॥ भीष्म उवाच। विज्ञानबलमास्थाय जीवितव्यं तथागते।सर्वं साध्वर्थमेवेदमसाध्वर्थं न किञ्चन ॥ ३ ॥ असाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यो यः प्रय-

फिर शत्रुको सामसे समझाकर शान्तकरे, यदि यह भी नहीं होसकता हो तो कुछ समयतक देशको छोड़कर दूर देशमें चलाजाय और तहाँ राजकीय प्रबन्ध करके सेना इकट्ठी कर फिर अपने गएहुए राज्यको पानेका उद्योग आरम्भ करदेय ॥ १४ ॥ एकसौ इकतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १३१ ॥ ❀ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि-जब सब लोकोंमें आदर पाये हुए राजाका, रक्षा करनारूप उत्तम धर्म नष्ट होजाय, पृथिवी परके आजीविकाके सब साधनोंको लुटेरे अपने वशमें करलें ॥ १ ॥ और आपत्तिकाल आगया हो, उस समय हे पितामह ! दया आनेके कारण अपने पुत्र पौत्रों का त्याग न करनेवाला ब्राह्मण अपनी आजीविका किस प्रकार चलावे ? ॥ २ ॥ भीष्मने कहा, कि-हे युधिष्ठिर ! ऐसे समय ब्राह्मणको विज्ञानके बलका आश्रय लेकर आजीविका चलानी चाहिये, इस पृथिवी परकी धन आदि सब वस्तुएँ सत्पुरुषोंके लिये हैं, परन्तु असज्जनों के लिये कोई वस्तु नहीं है ॥ ३ ॥ जो पुरुष अपने आत्मा

च्छति । आत्मानं संक्रमं कृत्वा कृत्स्नधर्मविदेव सः॥ ४॥ आकांक्षन्नात्मनो राजन् राज्ये स्थितिमकोपयन् । अदत्तमेवाददीत दातुर्वित्तं ममेति च ॥ ५ ॥ विज्ञानबलपूतो यो वर्त्तते निन्दितेष्वपि। वृत्तिविज्ञानवान् धीरः कस्तम्वा वक्तुमर्हति ॥ ६ ॥ येषां बलकृता वृत्तिस्तेषामन्या न रोचते । तेजसाभिप्रवर्तन्ते बलवन्तो युधिष्ठिर ॥ ७ ॥ यदैव प्राकृतं शास्त्रमविशेषेण वर्तते । तदैवमभ्यसेदेवं

को संक्रम (धनके आने जानेका मार्गरूप) बनाकर असत्पुरुषोंसे धन लेकर सत्पुरुषोंको देता है वही धर्मको जानने वाला है ॥४॥ जिस राजाको अपना राज्य पानेकी इच्छा हो वह अपने राज्यमें रहनेवाली प्रजाको कभी कुपित न करे, परन्तु संकटके समय यदि राज्यके धनी धन देकर सहायता न करें तो उनके धनको 'यह धन मेरा ही है' ऐसा समझकर उनसे जबरन लेलेय (परन्तु अच्छे समय में प्रजाका धन सताकर न लेय, किन्तु उनका करका भार हलका करदेय) ॥ ५ ॥ जो राजा ज्ञान, बल, सदाचार और धैर्यवाला हो वह राजा यदि निन्दित काम करने लगता है तो भी क्षत्रियकी वृत्तिको जाननेवाला कौनसा पुरुष उसकी निन्दा करता है ? ॥६॥ जो पराक्रम दिखा कर अपनी आजीविका करते हैं उनको दूसरे प्रकारकी आजीविका अच्छी नहीं लगती है, हे युधिष्ठिर ! बलवान् पुरुष पराक्रम ही दिखाया करते हैं ॥ ७ ॥ आपत्तिकालमें एक राजा आपद्धर्मको कहनेवाले शास्त्रोंकी आज्ञाके अनुसार बर्ताव करता है अर्थात् आपत्तिकाल में अपने देशमेंसे तथा वैरीके राज्यमेंसे धन हरकर अपने भण्डारको भरता है, परन्तु उस समय एक विद्वान् राजा

मेधावी वाप्यथोत्तरम् ॥८॥ ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान् सत्कृतानभिसत्कृतान्। न ब्राह्मणान् घातयीत दोषान् प्राप्नोति घातयन् ॥९॥ एतत्प्रमाणं लोकस्य चक्षुरेतत्सनातनम्। तत्प्रमाणोऽवगाहेत तेन तत्साध्वसाधु वा॥१०॥ बहवो ग्रामवास्तव्या रोषाद्ब्रूयुः परस्परम्। न तेषां वचनाद्राजा सत्कुर्याद्घातयीत वा॥११न वाच्यःपरिवादोऽयं न श्रोतव्यः कथञ्चन। कर्णावथापिधातव्यौ प्रस्थेयं चान्यतो

आपद्धर्मका अभ्यास करके कार्य अकार्यका विचार करता है अर्थात् जो धनवान् होकर लोभी होते हैं उनसे दण्डरूपमें धन लेता है, परन्तु दूसरोंसे नहीं लेता है ॥ ८॥ बड़ीभारी आपत्तिका समय आजाने पर भी जिनका अच्छे प्रकारसे सत्कार कियाजाता है ऐसे माननीय ऋत्विज, पुरोहित, आचार्य और ब्राह्मणोंसे राजाको धन नहीं लेना चाहिये,राजा यदि ब्राह्मणोंका धन खसोट लेता है तो पापी होता है, मैंने तुझसे यह लोकोंमें प्रमाणरूप मानाहुआ तथा सनातन नेत्ररूप उपदेश कहा है, सब राजाओंको इस उपदेशको प्रमाणरूप मानकर वर्त्ताव करना चाहिये और भला है या बुरा है, यह समझलेना चाहिये ॥ ९-१० ॥ ग्रामके या नगरके रहनेवाले लोग क्रोधसे और देखजलनेपनसे एक दूसरेकी निन्दा या स्तुति करें तो भी राजाको उनके कहनेसे किसीका सत्कार वा दण्ड नहीं करना चाहिये ॥११॥ राजा किसीकी निन्दा करे भी नहीं और किसीकी निन्दा सुने भी नहीं, कदाचित् कोई निन्दा करने लगे तो (यदि अपनी शक्ति हो तो उसको निन्दा करनेसे रोकदेय और यदि शक्ति न हो तो) अपने कान बन्द करलेय नहीं तो वहाँ से उठकर

भवेत् ॥ १२ ॥ असतां शीलमेतद्धै परिवादोऽथ मैथुनम् ।
गुणानामेव वक्तारः सन्तः सत्सु नराधिप ॥ १३ ॥ यथा
समधुरौ दम्यौ सुदान्तौ साधुवाहिनौ । धुरमुद्यम्य वहत-
स्तथा वर्तेत वै नृपः ॥ १४ ॥ यथा यथास्य वहवः सहा-
याः स्युस्तथापरे । आचारमेव मन्यन्ते गरीयो धर्मलक्ष-
णम् ॥ १५ ॥ अपरे नैवमिच्छन्ति ये शङ्खलिखितप्रियाः ।
मात्सर्यादथवा लोभान्न ब्रूयुर्वाक्यमीदृशम् ॥१६॥ आर्ष-
मप्यत्र पश्यन्ति विकर्मस्थस्य पातनम् । न तादृक्सदृशं
किंचित्प्रमाणं दृश्यते क्वचित् ॥१७॥ देवताश्च विकर्मस्थं

चलाजाय१२हे राजन् ! दूसरेकी निन्दा करना या चुगली खाना दुष्टोंका स्वभाव होता है, सत्पुरुष तो सत्पुरुषोंके सामने दूसरोंके गुण ही गाते हैं ॥१३॥ सुन्दर दर्शनीय, अच्छी शिक्षा पायेहुए, गाड़ीको अच्छे प्रकारसे लेचलने दो बैल जैसे गाड़ीके जुएको कन्धे पर उठाकर चलते हैं, ऐसे ही राजाको भी आपत्तिकालमें राज्यका जुआ उत्तम प्रकारसे धारण करना चाहिये ॥ १४ ॥ कितने ही कहते हैं, कि-ऐसा करनेसे राजाको और बहुतसे सहायक मिल जाते हैं, कितने ही परम्परासे जो रीति चली आती है, उसको ही उत्तम धर्म मानते हैं, परन्तु दूसरे कितने ही डाहसे या लोभवश ऐसे वचनोंको नहीं मानते हैं, (अर्थात् कोई कहते हैं कि—ब्राह्मण या गुरु अपराध करे तो उसको दण्ड न देय, यह सदासे रीति चली आती है, परन्तु दूसरे कहते हैं, कि—नहीं जो भी अधर्म करे उसको दण्ड देना चाहिये) ॥१५-१६॥ ऋषि कहते हैं, कि-गुरु भी अपराध करें तो उनको दण्ड देय, ऋषियोंके वचनकी समान

पातयन्ति नराधमम् । व्याजेन विन्दन् वित्तं हि धर्मात् स परिहीयते ॥ १८ ॥ सर्वतः सत्कृतः सद्भिर्भूतिप्रवरकारणैः । हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं व्यवस्यति ॥१९॥ यश्चतुर्गुणसम्पन्नं धर्मं ब्रूयात्स धर्मवित् । अहेरिव हि धर्मस्य पदं दुःखं गवेषितुम् ॥ २० ॥ यथा मृगस्य विद्धस्य पदमेकपदं नयेत् । लक्षेद्रुधिरलेपेन तथा धर्मपदं नयेत् २१ यथा सद्भिर्विनीतेन यथा गन्तव्यमित्युत । राजर्षीणां वृत्तमेतदेवं गच्छ युधिष्ठिर।२२। द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

और किसीका प्रमाण नहीं मानाजासकता ॥१७॥ देवता भी पापकर्म करनेवाले अधम पुरुषको नरकमें डालते हैं, इसलिये जो राजा (आपत्तिमें भी) अधर्मसे धन इकट्ठा करता है वह धर्मभ्रष्ट होजाता है ॥१८॥ उत्तम कल्याण चाहनेवाले सत्पुरुष जिस धर्मशास्त्रका सब प्रकार से सत्कार करते हों तथा जिसको अंतःकरणसे कल्याण का साधन मानते हों, राजा उसको ही धर्म जाने और उसका ही आचरण करे॥१९॥जो पुरुष ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ औ संन्यास इन चारोंके धर्मको अथवा आन्वीक्षिकी, त्रयीवार्त्ता और दण्डनीति इन चारगुणोंवाले धर्म को कहे उसको धर्मज्ञ जानो, परन्तु धर्मके चरणको खोजना सर्पके चरणको खोजनेकी समान बड़ा ही कठिन काम है ॥ २० ॥ तथापि जैसे बाण मारकर बींधने पर भागेहुए हिरनके पैरोंको रुधिरके छींटोंसे बहेलिया खोज सकता है, ऐसे ही धर्मके चरणको भी उसके कारणोंसे खोजलेय ॥ २१ ॥ और सत्पुरुषोंके विनययुक्त मार्ग पर चले, हे युधिष्ठिर ! पहले राजर्षि इस आचरणके अनुसार ही वर्त्ताव करते थे ॥२२॥ १३२वाँ अध्याय समाप्त॥

भीष्म उवाच। स्वराष्ट्रात्परराष्ट्राच्च कोशं संजनयेन्नृपः। कोशाद्धि धर्मः कौन्तेय राज्यमूलञ्च वर्द्धते ॥ १ ॥ तस्मात् संजनयेत् कोशं सत्कृत्य परिपालयेत्। परिपाल्यानुतनु-याद्देव धर्मः सनातनः ॥२॥ न कोशः शुद्धशौचेन न नृशं-सेन जातुचित्। मध्यमं पदमास्थाय कोशसंग्रहणञ्चरेत् ३ अबलस्य कुतः कोशो ह्यकोशस्य कुतो बलम्। अबलस्य कुतो राज्यमराज्ञः श्रीर्भवेत् कुतः ॥ ४ ॥ उच्चैर्वृत्तेः श्रियो हानिर्यथैव मरणन्तथा। तस्मात् कोशं बलं मित्र-मथ राजा विवर्द्धयेत् ॥ ५ ॥ हीनकोशं हि राजानमव-

---

भीष्मने कहा, कि-हे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर! राजा अपने राज्यमेंसे तथा अपने शत्रुके राज्यमेंसे धन लाकर अपने खजानेको भरपूर करे, खजानेसे धर्माचरण हो सकता है और राज्यकी जड़ बढ़ती है ॥१॥ अतः कोश को भरपूर रक्खे और प्रजाका सत्कार करके (बेकार खर्च न करके) कोशको अच्छी प्रकार सम्हालना और उसको बढ़ाना, यह सनातनधर्म है ॥२॥ कोई भी राजा अत्यन्त शुद्ध (धर्मवाला) और पवित्र (न्यायपरायण) रहकर कोशका संग्रह नहीं करसकता और क्रूरतासे भी कभी कोशका संग्रह नहीं होसकता. अतः मध्यम मार्गका अवलम्ब लेकर कोशका संग्रह करना चाहिये ३ निर्बल राजाके पास कोश कैसे होसकता है? कोशरहित के पास बल (सेना) कहाँ से आसकता है? और बल-रहितके पास राज्य कैसे रहसकता है? और जिसके पास राज्य नहीं उसके लक्ष्मी कहाँ होसकती है ॥ ४ ॥ बड़े पुरुषके लिये धनकी हानि और मरण एकसे हैं, अतः सदा ही राजाको कोश, सेना और मित्र बढ़ाते रहना।

जानन्ति मानवाः। न चास्याल्पेन तुष्यन्ति कार्यमप्युत्सहन्ति च ॥६॥ श्रियो हि कारणाद्राजा सत्क्रियां लभते पराम्। सास्य गूहति पापानि वासो गुह्यमिव स्त्रियाः ७ ऋद्धिमस्यानुतप्यन्ते पुरा विप्रकृता नराः। शालावृका इवाजस्रं जिघांसूनेव विन्दति ॥८॥ ईदृशस्य कुतो राज्ञः सुखं भवति भारत। उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यतो ह्येव पौरुषम् ॥ ९ ॥ अथापर्वणि भज्येत न नमेतेह कस्यचित्। अथारण्यं समाश्रित्य चरेन्मृगगणैः सह ॥ १० ॥ न त्वे-

---

चाहिये ॥ ५ ॥ जिस राजाके पास धनका भण्डार नहीं होता है उसका मनुष्य अपमान करते हैं, थोड़े धनसे सेवक उसके ऊपर प्रसन्न नहीं होते हैं और उसका कार्य भी उत्साहसे नहीं करते हैं ॥६॥ राजा लक्ष्मीके कारण से ही बड़े भारी सत्कारको पाता है और वस्त्र जैसे स्त्री के गुह्य भागको ढकदेता है तैसे ही लक्ष्मी राजाके पापों को ढकदेती है ॥ ७ ॥ धनवान् हुए राजाओंके साथ—पहिले जिन्होंने उससे कलह किया होता है—वे उस राजा की समृद्धिको देख कर संताप करते हैं और कुत्ते की समान नित्य उसका नाश करनेके लिये (कपट रखते हुए) उसकी नौकरी करते हैं ।८। हे भरतवंशी राजन्! ऐसे धनी राजाको सुख कैसे मिल सकता है ? राजाको बड़ा बननेके लिये सदा उद्योग करना चाहिये तथा दूसरेसे नमना (दबना) नहीं चाहिये, उद्योग ही पुरुषार्थ कहाता है ९ जैसे सूखे काठकी लकड़ी जलाने पर विना गाँठकी जगह पर टूट (जल) जाती है, परन्तु कभी झुकती नहीं है, ऐसे ही राजा भी चाहे नष्ट होजाय परन्तु किसीसे दबे नहीं, चाहे जङ्गलमें जाकर मृगोंके

वोज्झितमर्य्यादैर्दस्युभिः सहितश्चरेत् । दस्यूनां सुलभा सेना रौद्रकर्मसु भारत ॥ ११ ॥ एकान्ततो ह्यमर्य्यादात् सर्वोप्युद्विजते जनः । दस्यवोऽप्यभिशंकन्ते निरनुक्रोशकारिणः ॥१२॥ स्थापयेदेव मर्य्यादां जनचित्तप्रसादनीम् । अल्पेप्यर्थे तु मर्यादा लोके भवति पूजिता ॥१३॥ नायं लोकोस्ति न पर इति व्यवसितो जनः । नालं गन्तुं हि विश्वासं नास्तिके भयशङ्किते ॥ १४ ॥ यथा सद्भिः परा-

भुण्डके साथ घूमे १० परन्तु आज्ञा न माननेवाले मन्त्री और चोर लुटेरोंकी समान आचरण करनेवाले अधिकारियोंके बीचमें न रहे; क्योंकि-हे भारत ! वनमें रहने वाले चोर भी घोर कर्म करनेके लिये एक बड़ीभारी सेना बनजाते हैं ॥ ११ ॥ राजा सारी मर्यादाको छोड़ बैठता है, तब सब लोग उद्विग्न होजाते हैं, दस्युलोग-जो दया क्या है; इस बातको बिलकुल नहीं जानते वे-भी अमर्याद राजाकी ओर शङ्काकी दृष्टिसे देखते हैं १२ अतः इसप्रकार राजाको मनुष्योंका चित्त प्रसन्न करने वाली मर्यादा और व्यवस्था ही स्थापित करनी चाहिये, साधारण कार्यमें भी यदि मर्यादा रक्खी जाती है तो वह प्रजाको प्रसन्न करती है १३ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो "इस लोकमें कुछ नहीं है और परलोक तो गपोड़ा है" ऐसा मानते हैं ऐसे नास्तिकोंका "ये हमसे डरकर शङ्कित रहते हैं" यह समझकर विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ १४ ॥ भले लुटेरे दूसरोंके धनको हरलेते हैं परन्तु (उनकी) हिंसा नहीं करते हैं, मर्यादावाले दस्यु (लुटेरे) सहस्रोंके जीवनको मर्यादाके कारण बचा देते हैं (परन्तु नास्तिक कि-जो इस लोक और परलोकका

दानमहिंसा दस्युभिः कृता। अनुरज्यंति भूतानि समर्य्यादेषु दस्युषु ॥ १५ ॥ अयुध्यमानस्य वधो दारामर्षः कृतघ्नता। ब्रह्मवित्तस्य चादानं निःशेषकरणन्तथा ॥ १६ ॥ स्त्रिया मोषः पतिस्थानं दस्युष्वेतद्विगर्हितम्। संश्लेषञ्च परस्त्रीभिर्दस्युरेतानि वर्ज्जयेत् ॥ १७ ॥ अभिसन्दधते ये च विश्वासायास्य मानवाः। अशेषमेवोपलभ्य कुर्वन्तीति विनिश्चयः ॥ १८ ॥ तस्मात् सशेषं कर्त्तव्यं स्वाधीनमपि दस्युभिः। न बलस्थोऽहमस्मीति नृशंसानि समाचरेत् १९

विचार नहीं करते, परन्तु इन बातोंको गपोड़ा समझते हैं वे मर्यादा और अमर्यादाका विचार नहीं करते) १५ रणमेंसे भागते हुए शत्रुको मारना, परस्त्रीके शीलको नष्ट करना, कृतघ्नता, ब्राह्मणके धनको लूटलेना, किसीके सब धनको लूटलेना, कन्याका हरण करना, वास्तविक स्वामी से नगर और ग्रामको जीतकर उसका सदाके लिये स्वामी बन बैठना, तथा परस्त्रियोंके साथ आलिंगन करना-ये सब दस्युओंमें भी बुरे काम माने जाते हैं, इस लिये लुटेरे डाँकू भी इन कार्योंको नहीं करते हैं १६-१७ कितने ही राजे डाकुओंमें विश्वास जमानेके लिये उनसे स्नेह करते हैं और उनके रहनेके स्थान और उनके कर्मों को जाननेके पीछे उनके धन पुत्र आदिको अधीन करके उनका नाश करडालते हैं १८ परन्तु दस्युओंकी सौंपी हुई वस्तुओंका समूल नाश नहीं करना चाहिये, तैसे ही 'मैं बलवान् हूँ' ऐसा समझ कर राजाको दस्युके ऊपर क्रूर नहीं बनना चाहिये १९ जो राजा दस्युओंका सर्वसंहार नहीं करता है, वह अपने भी सर्वसंहारको नहीं देखता है, परन्तु जो राजे डाकुओंका सर्वसंहार कर

सशेषकारिणस्तत्र शेषं पश्यन्ति सर्वशः। निःशेषकारिणो नित्यं निःशेषकरणाद्भयम् ॥ २० ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि त्रयस्त्रिंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३३ ॥

भीष्म उवाच। अत्र धर्मानुवचनं कीर्तयन्ति पुराविदः। प्रत्यक्षावेव धर्मार्थौ क्षत्रियस्य विजानतः। तत्र न व्यवधातव्यं परोक्षाधर्मयापना ॥१॥ अधर्मो धर्म इत्येतद्यथा वृकपदं तथा। धर्माधर्मफले जातु ददर्शेह न कश्चन ॥२॥ बुभूषेद्बलमेवैतत् सर्वं बलवतो वशे। श्रियो बलममा-

---

डालते हैं, उन सर्वसंहार करनेवाले राजाओंको डाँकुओं की ओरसे सदा भय रहता है ॥२०॥ एकसौ तैंतीसवाँ अध्याय समाप्त। १३३। छ

भीष्मने कहा कि-हे युधिष्ठिर! प्राचीनकालके धर्मवेत्ता धनहरणके विषयमें इसप्रकार प्रवचन करते हैं और कहते हैं, कि-"बुद्धिमान् और विद्वान् क्षत्रियको धर्म और अर्थ प्रत्यक्ष हैं" अर्थात् वह धर्म और अर्थके रक्षक हैं १ धर्मोपदेश परोक्ष है अर्थात् दृष्टफलका अभाव होनेसे वह मानने योग्य नहीं है, अतः क्षत्रियको धर्माचरण और धन सम्पादन करनेमें किसीको अड़चन नहीं डालनी चाहिये जैसे एक पदचिन्हको देखकर कोई निश्चितरूपसे नहीं कह सकता कि-यह पदचिन्ह कुत्तेका है या सिंहका है अथवा चीतेका है? ऐसे ही अमुक धर्म है या अधर्म है ऐसा कोई भी नहीं कहसकता २ इस जगत्में धर्म के तथा अधर्मके फलको किसीने देखा ही नहीं है, क्षत्रिय को तो केवल शक्तिसंपादन करनेकी ही इच्छा करनी चाहिये, क्योंकि-यह सब जगत् शक्तिमें रहता है अर्थात्

त्यांश्च बलवानिह विन्दति ॥ ३ ॥ यो ह्यनाढ्यः स पति-
तस्तदुच्छिष्टं यदल्पकम् । बह्वपथ्यं बलवति न किञ्चित्
क्रियते भयात् । उभौ सत्याधिकारस्थौ त्रायेते महतो
भयात् ॥ ४ ॥ अतिधर्माद् बलं मन्ये बलाद्धर्मः प्रवर्त्तते ।
बले प्रतिष्ठितो धर्मो धरण्यामिव जङ्गमम् ॥ ६ ॥ धूमो
वायोरिव वशे बलं धर्मोनुवर्त्तते । अनीश्वरो बले धर्मो
द्रुमं वल्लीव संश्रिता ॥७॥ वशे बलवतां धर्मः सुखं भोग-
वतामिव । नास्त्यसाध्यं बलवतां सर्वं बलवतां शुचिः॥८॥

बलवान्के वशमें रहता है ३ शक्ति धनके अधीन है, सबमें शक्ति श्रेष्ठ गिनीजाती है और शक्तिमान् मनुष्य अच्छे मन्त्रियोंको पासकता है, जो पुरुष निर्धन है उसको पतित जानना चाहिये और धनवान् जो थोड़ासा धन निर्धनको देता है वह उसका उच्छिष्ट कहाता है ॥ ४ ॥ शक्तिमान् अधम कर्म करता है, तो भी लोग भयके कारण उसका कुछ नहीं करते और उसको तैसा करनेसे रोक नहीं सकते, शक्ति तथा धर्मके साथ जिसमें सत्य होता है वह पुरुष लोगोंको महाभयमेंसे बचाता है ॥५॥ परन्तु धर्म और शक्ति–इन दोनोंमें मैं शक्तिको धर्मसे भी श्रेष्ठ मानताहूँ क्योंकि शक्ति हो तभी धर्माचरण होसकताहै, जैसे जंगम प्राणी पृथ्वी पर विश्राम लेकर रहतेहैं, तैसे ही धर्म शक्ति के आधार पर टिका हुआ है ॥ ६ ॥ धुआँ जैसे वायुका अनुसरण करता है, तैसे ही धर्म शक्तिके पीछे चलता है जैसे बेल वृक्षकेसहारेसे रहती है, तैसेही असमर्थ धर्मशक्ति का आश्रय लेकरके रहताहै ॥७॥ जैसे भोग भोगने वालों के अधीन सुख रहता है तैसे ही धर्म भी शक्तिमानोंकी अधीनतामें रहता है, शक्तिमान् पुरुषोंके लिये कोई भी

दुराचारः क्षीणबलः परित्राणं न गच्छति । अथ तस्मादुद्विजते सर्वलोको वृकादिव॥९॥ अपध्वस्तो ह्यवमतो दुःखं जीवति जीवितम् । जीवितं यदपाकृष्टं यथैव मरणन्तथा॥१० यदेवमाहुः पापेन चारित्रेण विवर्जितः । सुभृशं तप्यते तेन वाक्शल्येन परिक्षितः ॥ ११ ॥ अत्रैतदाहुराचार्य्याः पापस्य परिमोक्षणे । त्रयीं विद्यामवेक्षेत तथोपासीत वै द्विजान्॥१२॥प्रसादयेच्चक्षुषा च वाचा चाप्यथ कर्मणा । महामनाश्चापि भवेद्विवहेच्च महाकुले ॥१३॥ इत्यस्मीति

काम असाध्य नहीं होता, शक्तिमान् पुरुषके सब कार्य पवित्र ही गिने जातेहैं ॥ ८ ॥ शक्तिहीन पुरुष दुराचारी होताहै तो अपनी रक्षा नहीं कर सकता और सिंहसे जैसे डरते हैं, तैसे ही वह पुरुष लोगोंसे डरता है॥९॥सब लोग ऐसे पुरुषका तिरस्कार करके उसको बहिष्कृत कर देते हैं, तब वह पुरुष दुःखी हो जीवन विताता है, जो निन्दित होकर जीवित रहता है, वह मरेकी समान गिना जाता है ॥१०॥ पण्डित कहते हैं कि-बान्धव और संबंधी पुरुष ऐसे पापी पुरुषको त्याग देते हैं, वह पुरुष अपने पापमय चरित्रके कारण अत्यन्त संताप किया करता है और लोग वाणीरूप शल्यसे उसको घायल किया करते हैं ॥ ११ ॥ (धर्मशास्त्रके) आचार्य ऐसे पुरुषोंको पापमें से छुड़ानेके लिये उपदेश देते हैं,कि-उस पापी पुरुषको वेदोंका स्वाध्याय करना चाहिये, उसमें कहे हुए कर्म करने चाहियें, ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिये ॥ १२ ॥ मधुर दृष्टि रखनी चाहिये, वाणी तथा कर्मसे ब्राह्मणोंको प्रसन्न करना चाहिये, मन कोउदार बनाना चाहिये और श्रेष्ठ कुलमें विवाह करना चाहिये ॥ १३ ॥ और कोई कहे कि-"तू पापी है "तो

वदेदेवं परेषां कीर्त्तयेद् गुणान् । जपेदुदकशीलः स्यात् पेशलो नातिजल्पकः ॥ १४ ॥ ब्रह्मक्षत्रं संप्रविशेद् बहु कृत्वा सुदुष्करम् । उच्यमानो हि लोकेन बहुकृत्तदचिन्तयन् ॥१५॥ अपापो ह्येवमाचारः क्षिप्रं बहुमतो भवेत् । सुखञ्च चित्रं भुंजीत कृतेनैकेन गोपयेत् ॥ १६ ॥ लोके च लभते पूजां परत्रेह महत् फलम् ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३४।

भीष्म उवाच। अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्। यथा दस्युः समर्यादः प्रेत्यभावे न नश्यति ॥ १ ॥ प्रहर्त्ता मतिमान् शूरः श्रुतवाननृशंसवान् । रक्षन्नाश्रमिणां धर्मं

कहना चाहिये कि-"मैं पापी हूँ" दूसरेके गुणोंका कीर्तन करना चाहिये गायत्री आदिका जप करना चाहिये, सावधान रहना चाहिये,बहुत भाषण नहीं करना चाहिये महाकठिन तप करना चाहिये, ब्राह्मण तथा क्षत्रियोंकी सभामें जावे और तहाँ लोग कहे कि-" इसने बड़े पाप किये हैं" तो भी उसको चित्तमें न लावे ॥ १५ ॥ इस प्रकार करनेसे पुरुष पापोंमेंसे छूट जाता है और लोकोंमें मान्य होजाता है वह पुरुष पुण्यकर्म करनेसे अनेक प्रकारके सुख भोगता है,जगत्में पूजनीय होजाता है और इस लोकमें तथा परलोकमें महाफल पाता है ॥१६-१७॥ एकसौ चौंतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १३४ ॥

भीष्मने कहा, कि-हे युधिष्ठिर ! मर्यादामें रहनेवाले लुटेरे मरणके बाद स्वर्गमें जाते हैं, इस विषयमें एक पुराने इतिहासको इसप्रकार उदाहरणरूपसे कहते हैं ।१। एक कायव्य नामका लुटेरा बड़ा योधा बुद्धिमान्, वीर,

ब्रह्मण्यो गुरुपूजकः ॥२॥ निषाद्यां क्षत्रियाज्जातः क्षत्र-
धर्मानुपालकः । कायव्यो नाम नैषादिर्दस्युत्वात् सिद्धि-
मासवान् ॥३॥ अरण्ये सायं पूर्वाह्णे मृगयूथप्रकोपिता ।
विधिज्ञो मृगजातीनां नैषादानां च कोविदः ॥ ४ ॥
सर्वकालप्रदेशज्ञः पारियात्रचरः सदा । धर्मज्ञः सर्वभूता-
नाममोघेषुर्दृढायुधः ॥ ५ ॥ अप्यनेकशताः सेना एक एव
जिगाय सः । स वृद्धावन्धबधिरौ महारण्येऽभ्यपूजयत् ६
मधुमांसैर्मूलफलैरन्नैरुच्चावचैरपि । सत्कृत्य भोजया-

शास्त्रका जाननेवाला और बड़ाक्रूर होने परभी आश्रम-
वासी ऋषियोंके धर्मका रक्षक, ब्राह्मणोंका रक्षक और
गुरुका पूजक था, वह किसी एक क्षत्रियसे भील जातिकी
स्त्रीके पेटसे उत्पन्न हुआ था, वह क्षत्रियके धर्मका पालन
करता था,इसलिये लुटेरा होने पर भी सिद्धिको पागया
था ॥ २ ॥ ३ ॥ वह नित्य प्रातःकाल सायङ्कालके समय
वनमें जाकर मृगोंके टोलोंको कुपित कर देता था, वह
जङ्गलके सब प्रकारके जानवरोंकी जातियोंकी रीतिको
जानता था और निषादके काममें चतुर था ॥ ४ ॥ वह
सब प्रकारके काल और देशको भी जानता था, और
वह सदा पारियात्र नामके पर्वत पर फिरा करता था,
सकल प्राणियोंकी रीतिको जानता था, इसलिये उसका
बाण कभी निष्फल नहीं जाता था, उसके शस्त्र मज-
बूत थे ॥ ५ ॥ वह हजारों मनुष्योंकी सेनाको अकेला ही
जीतलेता था, ऐसा उत्तम वह लुटेरा बड़ेभारी वनमें
अपने माता पिताकी सेवा किया करता था ॥ ६ ॥ वह
लुटेरा मद्य, मांस, कन्द, फल तथा उत्तम और मध्यम
प्रकारके भोजनोंसे मान्य पुरुषोंका सत्कार करके उनको

मांस मान्यान् परिचचार च ॥७॥ आरण्यकान् प्रव्रजितान् ब्राह्मणान् परिपूजयन्। अपि तेभ्यो मृगान् हत्वा निनाय सततं वने ॥ ८ ॥ येऽस्मान्न प्रतिगृह्णन्ति दस्युभोजनशङ्कया। तेषामासज्य गेहेषु कल्य एव च गच्छति ॥९॥ बहूनि च सहस्राणि ग्रामणी त्वेभिषत्रिरे। निर्मर्य्यादानि दस्यूनां निरनुक्रोशवर्त्तिनाम् ॥ १० ॥ दस्यव ऊचुः। मुहूर्त्तदेशकालज्ञः प्राज्ञः शूरो दृढव्रतः। ग्रामणीर्भव नो मुख्यः सर्वेषामेव सम्मतः ॥ ११ ॥ यथा यथा वक्ष्यति नः करिष्यामस्तथा तथा। पालयास्मान् यथान्यायं यथा माता यथा पिता ॥१२॥ कायव्य उवाच। मा वधीस्त्वं

भोजन करवाता तथा उनकी अच्छे प्रकारसे सेवा करता था ॥ ७ ॥ वनमें रहनेवाले वानप्रस्थ और संन्यासी ब्राह्मणोंकी भी वह पूजा करता था और मृगोंको मार कर सदा उनको भोजन देता था ॥ ८ ॥ जो उसको लुटेरा समझ उसके दियेहुए भोजनको अयोग्य मानकर ग्रहण नहीं करते थे उनके घर प्रातःकाल ही जाकर उनके द्वारपर वह स्वयं मांस डाल आता था ॥ ९ ॥ एक समय मर्यादारहित और निर्दयीपनेका वर्त्ताव करनेवाले हजारों लुटेरोंने उससे अपना राजा बननेके लिये प्रार्थनाकी उन्होंने कायव्यसे कहा ॥ १० ॥ लुटेरे बोले, कि-तू देश कालको जाननेवाला है, बुद्धिमान् और वीर है, तू जिस कामको हाथमें लेता है, उसको दृढतासे निभाता है और तू हम सबोंमें मुख्य है, इसलिये हमारा राजा बनजा ॥ ११ ॥ तू हमको जो आज्ञा देगा, हम वही करेंगे तू माता पिताकी समान हमारा उचित रीतिसे पालन कर ॥ १२ ॥ कायव्यने कहा, कि-हे लुटेरों! तुम

स्त्रियं भीरुं मा शिशुं मा तपस्विनम्। नायुध्यमानो हंतव्यो न च ग्राह्या बलात् स्त्रियः ॥१३॥ सर्वथा स्त्री न हन्तव्या सर्वसत्त्वेषु केनचित्। नित्यन्तु ब्राह्मणे स्वस्ति योद्धव्यश्च तदर्थतः ॥ १४ ॥ सत्यञ्च नापिहर्त्तव्यं सारविघ्नञ्च मा कृथाः। पूज्यन्ते यत्र देवाश्च पितरोतिथयस्तथा ॥ १५ ॥ सर्वभूतेष्वपि च वै ब्राह्मणो मोक्षमर्हति। कार्य्या चोपचितिस्तेषां सर्वस्वेनापि या भवेत् १६ यस्य ह्येते संप्रक्रुष्टाः मन्त्रयन्ति पराभवम्। न तस्य त्रिषु लोकेषु त्राता भवति कश्चन ॥ १७ ॥ यो ब्राह्मणान् परिवदेत् विनाशञ्चापि रोचयेत्। सूर्य्योदय इव ध्वान्ते ध्रुवं तस्य पराभवः ।१८।

स्त्रियोंको, डरपोकोंको, बालकोंको, और तपस्वियोंको न मारना; जो युद्ध न करे उसको न मारना, स्त्रियोंको बलात्कारसे न पकड़ना ॥ १३ ॥ तथा पकड़े नहीं जाना, ऐसा विचार रखना, कि-जिसमें ब्राह्मणोंका नित्य कल्याण हो और उनकी रक्षाके लिये तुम युद्ध भी करना ॥ १४ ॥ सत्यको कभी न त्यागना, जिस घरमें देवता, पितर और अतिथियोंका पूजन किया जाता है ॥ १५ ॥ तहाँ विघ्न न करना, प्राणिमात्रमें ब्राह्मण मोक्षका अधिकारी है, इसलिये सर्वस्व खरचकर भी ब्राह्मणोंकी सेवा करना ॥ १६ ॥ क्यों कि-ब्राह्मण क्रोधमें भरकर जिसका तिरस्कार करनेका विचार करते हैं उसकी रक्षा त्रिलोकीमें कोई भी नहीं करसकता १७ और जो पुरुष ब्राह्मणोंकी निन्दा करता है अथवा उनका नाश करना चाहता है उसका अवश्य ही इस प्रकार तिरस्कार होता है, कि-जैसे सूर्योदयके समय अन्धकारका नाश होजाता है ॥ १८ ॥ तुम यहाँ बैठे २

इहैव फलमासीनः प्रत्याकांक्षेत सर्वशः। ये ये नो न प्रदास्यंति तांस्तानेवाभियास्यसि ॥१९॥ शिष्ट्यर्थं विहितो दण्डो न वृध्यर्थं विनिश्चयः। ये च शिष्टान् प्रबाधन्ते दण्डस्तेषां वधः स्मृतः ॥ २० ॥ ये च राष्ट्रोपरोधेन वृद्धिं कुर्वन्ति केन च। तदैव तेनुमार्यन्ते कुणपे कृमयो यथा २१ ये पुनर्धर्मशास्त्रेण वर्त्तेरन्निह दस्यवः। अपि ते दस्यवो भूत्वा क्षिप्रं सिद्धिमवाप्नुयुः ॥ २२ ॥ भीष्म उवाच। ते सर्वमेवानुचक्रुः कायव्यस्यानुशासनम्। वृद्धिश्च लेभिरे सर्वे पापेभ्यश्चाप्युपारमन् ॥ २३ ॥ कायव्यः कर्मणा तेन महतीं सिद्धिमासवान्। साधूनामाचरन् क्षेमं दस्यून्

फलकी ('राज्यकी प्रजासे करलेनेकी) इच्छा करो और जो कर नहीं देय उसके ऊपर तुम चढाई करदो ॥१९॥ क्योंकि-दण्ड अधम प्राणियोंके लिये है, भण्डारकी वृद्धि के लिये नहीं रक्खागया है, ऐसा निर्णय किया गया है जो मनुष्य उत्तम पुरुषोंको दुःख देय उनको दण्डरूपसे देहान्तकी शिक्षा देना, शास्त्रमें कहा है ॥२०॥ जो कोई पुरुष राज्यकी प्रजाको दुःख देकर अपनी उन्नति करनेकी इच्छा रखते हों वे पुरुष मुरदेमें पड़ेहुए कीड़ोंकी समान उसी समय मरजाते हैं॥२१॥जो लुटेरे जातिके होते हुए भी धर्मशास्त्रकी आज्ञानुसार वर्त्ताव करते हैं वे लुटेरे होने पर भी तुरन्त सिद्धि पाते हैं (इस बातको तुम स्वीकार करो तो मैं तुम्हारा राजा होसकता हूँ) ॥२२॥ भीष्मने कहा, कि-हे युधिष्ठिर! उन लुटेरोंने कायव्यके उपदेशके अनुसार काम करना आरम्भ करदिया, इससे उन सबोंने उन्नति पाई और पापको त्यागदिया ॥ २३ ॥ कायव्य भी इस कामको करनेसे बड़ी सिद्धिको प्राप्त

पापान्निवर्तयन् ॥ २४ ॥ इदं कायव्यचरितं यो नित्यम-
नुचिन्तयेत् नारण्येभ्यो हि भूतेभ्यो भयं प्राप्नोति किञ्चन २५
न भयं तस्य भूतेभ्यः सर्वेभ्यश्चैव भारत । नासतो विद्यते
राजन् स ह्यरण्येषु गोपतिः ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कायव्य-
चरिते पंचत्रिंशदधिकशततमोध्यायः ॥ १३५ ॥

भीष्म उवाच । अत्र गाथा ब्रह्मगीताः कीर्त्तयन्ति
पुराविदः । येन मार्गेण राजा वै कोशं सञ्जनयत्युत ॥१॥
न धनं यज्ञशीलानां हार्य्यं देवस्वमेव च । दस्यूनां निष्क्रि-
याणां च क्षत्रियो हर्त्तुमर्हति ॥२॥ इमाः प्रजाः क्षत्रियाणां

हुआ था, क्योंकि-उसने साधुपुरुषोंका कल्याण किया
था और लुटेरोंको पाप करनेसे रोका था ॥ २४ ॥ जो
पुरुष कायव्यके इस चरित्रका नित्य स्मरण करता है
उसको जंगली प्राणियोंसे किसी प्रकारका भी भय नहीं
होता है ॥ २५ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! ऐसे मनुष्यको
किसी भी प्राणीसे भय नहीं होता है तथा उसको
असत्पुरुषोंसे भी भय नहीं होता है और वह अरण्योंका
राजा होता है २६ एकसौ पैंतीसवाँ अध्याय समाप्त ।१३५।

भीष्मने कहा, कि-हे युधिष्ठिर ! राजाओंको अपना
भण्डार किस मार्गसे भरना चाहिये, इस विषयमें ब्रह्मा
की गाई हुईं गाथाएँ पुरातन कालके वृत्तान्तको जानने
वाले पण्डित इसप्रकार कहते हैं, कि-॥ १ ॥ क्षत्रियको
यज्ञ करनेवाले द्विजवर्णका और देवोत्तर सम्पत्तिका
धन अपने खजानेके लिये नहीं लेना चाहिये, परन्तु जो
कभी धर्म,कर्म या यज्ञ आदि न करता हो उसके धनको
लुटेरोंकेसा धन समझकर लूटलेना चाहिये ॥ २ ॥

राज्यभोगाश्च भारत । धनं हि क्षत्रियस्यैव द्वितीयस्य न विद्यते ॥३॥ तदस्य स्याद्बलार्थं वा धनं यज्ञार्थमेव च। अभोग्याश्चौषधीश्छित्वा भोग्या एव पचन्त्युत ॥ ४ ॥ यो वै देवान्न पितॄन्न मर्त्यान् हविषार्च्चति । अनर्थकं धनं तत्र प्राहुर्द्धर्मविदो जनाः ॥५॥ हरेत्तद् द्रविणं राजन् धार्मिकः पृथिवीपतिः । ततः प्रीणयते लोकं न शोकं तद्विधं नृपः ॥६॥ असाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यो यः प्रयच्छति । आत्मानं संक्रमं कृत्वा कृत्स्नधर्मविदेव सः ॥ ७ ॥ तथा तथा जयल्लोकान् शक्त्या चैव यथा यथा । उद्भिज्जा

हे भरतवंशी राजन् ! यह सब प्रजा और राज्यके ऐश्वर्य यह सब क्षत्रियका ही धन गिनाजाता है, दूसरेका नहीं गिनाजाता है ॥३॥ प्रजाका धन सेनाका निर्वाह करनेके लिये तथा यज्ञ करमेके लिये उपयोगी मानाजाता है, क्योंकि-जो औषधे खानेके योग्य नहीं होती हैं, उनको काटकर उनके ईंधनसे लोग खानेके पदार्थ राँधते हैं ।४। जो पुरुष धनाढ्य होनेपर भी देवताओंका, पितरोंका और मनुष्योंका हविष्यान्नसे पूजन तथा सत्कार नहीं करता है ,उसका धन निरर्थक है, ऐसा धर्मज्ञ मनुष्य कहते हैं ॥ ५ ॥ हे राजन् ! धार्मिक राजा प्रजासे जो कररूप धनलेय, उस धनसे प्रजाका रंजन (रक्षा) करे, उससे भण्डार भरनेकी इच्छा न करे ॥ ६ ॥ जो राजा दुष्ट पुरुषोंसे धन छीनकर सत्पुरुषोंका पालन करता है, उस राजाको सकल धर्म जाननेवाला समझो ॥ ७ ॥ जैसे वृक्ष भूमिको फोडकर धीरे २ बाहर निकलते हैं, तैसे ही राजा भी धीरे२ अपनी शक्तिके अनुसार शत्रुओंके देशोंके जीते, कितनी ही जातिकी चींटियें जैसे विना

जन्तवो यद्वत् शुक्लजीवा यथा यथा ॥ ८ ॥ अनिमित्तात् सम्भवन्ति तथा यज्ञः प्रजायते। यथैव दंशमशकं यथा चाण्डपिपीलिकम् ॥ ९ ॥ सैव वृत्तिरयज्ञेषु यथा धर्मो विधीयते॥१०॥यथा ह्यकस्माद्भवति भूमौ पांशुर्विलोलितः। तथैवेह भवेद्धर्म्मः सूक्ष्मः सूक्ष्मतरस्तथा ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि
षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३६ ॥

भीष्म उवाच। अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिश्च यः। द्वावेव सुखमेधेते दीर्घसूत्रो विनश्यति ॥१॥ अत्रैव चेदमव्यग्रं शृणुष्वाख्यानमुत्तमम्। दीर्घसूत्रमुपाश्रित्य

कारण ही एकदम निकलपड़ती हैं, तैसे ही यज्ञ भी किसी कारणके विना ही उत्पन्न होजाता है ॥८॥ और गौको दुहते समय जैसे उसके शरीरपरसे डाँस मच्छर आदि उड़ा दियेजाते हैं तथा मसलदियेजाते हैं तैसे ही जो पुरुष यज्ञमें विघ्न करता हो उसको मारडाले, इसमें धर्म होता है ॥ ९॥ १०॥ पृथिवीकी धूलि चक्कीमें पीसनेसे बहुत ही सूक्ष्म होजाती है, ऐसे ही धर्मका विचार करनेसे उसका विशेष सूक्ष्म स्वरूप जाननेमें आता है ॥ ११ ॥ एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥१३६॥

भीष्मजीने कहा, कि-हे युधिष्ठिर ! अनागतविधाता (कार्य करनेका समय आनेसे पहले ही उसकी व्यवस्था करने वाला) और प्रत्युत्पन्नमति (जिसको कार्यके समय बुद्धि सूझे वह) ये दोनों सुख पाते हैं और दीर्घसूत्री (जो कुछ होगा होजायगा, ऐसा समझकर कुछ न करने वाला) नष्ट होजाता है ॥ १ ॥ इस ही विषयमें दीर्घसूत्रीके लिये कार्य अकार्यका निर्णय

कार्याकार्यविनिश्चये ॥ २ ॥ नातिगाधे जलाधारे सुहृदः
कुशलास्त्रयः। प्रभूतमत्स्ये कौन्तेय बभूवुः सहचारिणः ३
तत्रैको दीर्घकालज्ञः उत्पन्नप्रतिभो परः। दीर्घसूत्रश्च तत्रै-
कस्त्रयाणां सहचारिणाम् ॥ ४ ॥ कदाचित्तं जलस्थायं
मत्स्यबन्धाः समंततः। निःस्रावयामासुरथो निम्नेषु विवि-
धैर्मुखैः ॥ ५ ॥ प्रक्षीयमाणं तं दृष्ट्वा जलस्थायं भयागमे।
अब्रवीद्दीर्घदर्शी तु तावुभौ सुहृदौ तदा ॥६॥ इयमापत्
समुत्पन्ना सर्वेषां सलिलौकसाम्। शीघ्रमन्यत्र गच्छामः
पन्था यावन्न दुष्यति ॥ ७ ॥ अनागतमनर्थं हि सुनयैर्यः

करनेके विषयमें तू एक उत्तम कथाको सुन ॥ २ ॥ हे कुन्तीनन्दन ! बहुत सी मच्छियोंसे भरे एक थाये तालावमें कार्यकुशल तीन मच्छ रहते थे ॥ ३ ॥ एक साथ फिरने वाले उन तीनों मच्छोंमें एक भविष्य काल का विचार करने वाला था, दूसरा कामका अवसर आने पर उसका विचार करनेमें चतुर था और तीसरा दीर्घसूत्री था ॥ ४ ॥ एकदिन कितने ही मच्छीमारों ने उस जलाशयके चारों ओरके नीचे भागोंमें कितने ही जलके जानेके मार्ग बनाकर उसमेंके पानीको बाहर निकालना आरम्भ कर दिया ॥ ५ ॥ उस तालावमें का पानी धीरे२ खाली होता देखते ही कुछ भय आने वाला है यह जानकर दूरदृष्टि (अनागतविधाता) ने अपने दोनों मित्रोंसे कहा, कि —॥ ६ ॥ मुझे मालूम होता है इस तालावमें रहने वाले सब जलचरों के ऊपर विपत्ति आनेवाली है, इसलिये जब तक हमारे निकल जानेका मार्ग बन्द नहीं होता है, उससे पहले२ ही हम इस तालावमेंसे दूसरे जलाशयमें चलेजायँ तो

प्रबाधयेत् । स न संशयमाप्नोति रोचतां भो व्रजामहे ८
दीर्घसूत्रस्तु यस्तत्र सोऽब्रवीत् सम्यगुच्यते । न तु कार्या
त्वरा तावदिति मे निश्चिता मतिः ॥९॥ अथ संप्रतिपत्तिज्ञः
प्राब्रवीद्दीर्घदर्शिनम् । प्राप्ते काले न मे किञ्चिन्न्यायतः
परिहास्यते॥१०॥एवं श्रुत्वा निराक्रामद्दीर्घदर्शी महामतिः।
जगाम स्रोतसा तेन गम्भीरं सलिलाशयम् ॥११॥ ततः
प्रसृततोयन्तं प्रसमीक्ष्य जलाशयम् । बबन्धुर्विविधैर्योगै-
र्मत्स्यान् मत्स्योपजीविनः ॥१२॥ विलोड्यमाने तस्मिंस्तु
स्रुततोये जलाशये । अगच्छद् बंधनं तत्र दीर्घसूत्रः सहा-

ठीक है ॥ ७ ॥ जो आपत्ति आनेसे पहले ही उत्तम युक्तिसे उसका उपाय करलेता है, वह दुःखमें नहीं पड़ता है, यदि तुम्हे उचित मालूम होता हो तो चलो हम यहाँसे कहीं दूसरे स्थान पर चले चलें ८ यह सुनकर दीर्घसूत्री बोल उठा, कि तूने बात तो अच्छी कही है, परंतु अभी जल्दी करनेकी आवश्यकता नहीं है, यह मेरा पक्का निश्चय है ॥ ९ ॥ फिर प्रत्युत्पन्नमतिने दूरदृष्टिसे कहा, कि-जब कोई भी समय आता है तो समयसूचकतामें मैं पीछे नहीं रहता हूँ ॥ १० ॥ उन दोनों मच्छोंकी यह बात सुनकर महाबुद्धिमान् अनागतविधाता मच्छी-मारोंके बनाये हुए प्रवाहके द्वारा दूसरे बड़ेभारी तालावमेंको चलागया ॥ ११ ॥ कुछ देरमें उस छोटेसे तालावमेंका पानी नालीमें होकर निकल गया तब उन मच्छीमारोंने जलके जानेका मार्ग बन्द करदिया और फिर मच्छियोंको जालमें पकड़ना आरम्भ करदिया १२ पानीके निकलजाने पर उस सब जलाशयमें जाल डाल दिया, तब वह दीर्घसूत्री दूसरी मच्छियोंके साथ पकड़ा

परैः ॥१३॥ उद्दाने क्रियमाणे तु मत्स्यानां तत्र रज्जुभिः।
प्रविश्यान्तरमेतेषां स्थितः संप्रतिपत्तिमान् ॥ १४ ॥ गृह्य-
मेव तदुद्दानं गृहीत्वा तं तथैव सः। सर्वानेव च तांस्तत्र
ते विदुर्ग्रथितानिति ॥ १५ ॥ ततः प्रक्षाल्यमानेषु मत्स्येषु
विपुले जले। मुक्त्वा रज्जुं प्रमुक्तोसौ शीघ्रं संप्रतिपत्ति-
मान् ॥ १६ ॥ दीर्घसूत्रस्तु मन्दात्मा हीनबुद्धिरचेतनः।
मरणं प्राप्तवान्मूढो यथैवोपहतेन्द्रियः ॥१७॥ एवं प्राप्ततमं
कालं यो मोहान्नावबुध्यते। स विनश्यति वै क्षिप्रं दीर्घ-
सूत्री यथा झषः ॥१८॥ आदौ न कुरुते श्रेयः कुशलोस्मीति
यः पुमान्। स संशयमवाप्नोति यथा संप्रतिपत्तिमान् १९

गया १३ मछ्छियोंसे आजीविका करने वाले मच्छीमारों
ने, उन मछ्छियोंको जालसे पकड़कर बाँधना आरम्भ कर
दिया, तब प्रत्युत्पन्नमति उन मछ्छियोंके भीतर घुस मरे
हुएकेसा ढोंग करके पड़रहा, मच्छीमारोंने उस मच्छको
तथा दूसरी सब मछ्छियोंको जालमें पकड़ी हुई और
मरीहुई देखते ही १४-१५ एक दूसरे गहरे जलवाले
जलाशयमें उन सब मछ्छियोंको लेजाकर धोना आरम्भ
करदिया, उस समय वह प्रत्युत्पन्नमति जालको छोड
कर तहाँसे भाग निकला और जलके भीतर घुसगया १६
तथा मूर्ख और बुद्धिहीन दीर्घसूत्री अचेत होकर मूर्ख
की समान मरणको प्राप्त होगया १७ जो पुरुष ऊपर कहे
अनुसार समय आनेपर मूर्खतावश आपत्तिके स्वरूपको
नहीं पहचान सकता है वह दीर्घसूत्री मच्छकी समान
तुरन्त नष्ट होजाता है १८ जो पुरुष मैं कार्य करनेमें
चतुर हूँ, ऐसा मानकर पहलेसे ही अपना कल्याण साधन
नहीं करता है वह प्रत्युत्पन्नमति मच्छकी समान सन्देह

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिश्च यः । द्वावेव सुख-मेधेते दीर्घसूत्रो विनश्यति ॥२०॥ काष्ठा कला मुहूर्ताश्च दिवारात्रिस्तथा लवाः । मासाः पक्षाः षड् ऋतवः कल्पः संवत्सरास्तथा ॥२१॥ पृथिवी देश इत्युक्तः कालः स च न दृश्यते । अभिप्रेतार्थसिद्धयर्थं ध्यायते यच्च तत्तथा २२ एतौ धर्मार्थशास्त्रेषु मोक्षशास्त्रेषु चर्षिभिः । प्रधानाविति निर्दिष्टौ कामे चाभिमतौ नृणाम् ॥ २३ ॥ परीक्ष्यकारी युक्तश्च स सम्यगुपपादयेत् । देशकालावभिप्रेतौ ताभ्यां फलमवाप्नुयात्॥२४॥ सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः १३७

(सङ्कट) में आपड़ता है १९ इसलिये कहा है, कि-अनागतविधाता और प्रत्युत्पन्नमति ये दो सुखी रहते हैं और दीर्घसूत्री माराजाता है २० काष्ठा, कला, मुहूर्त्त, दिन, रात्रि, लव, मास, पक्ष, छः ऋतु, कल्प, और संवत्सर आदि काल मानाजाता है और पृथिवीको देशमें गिनते हैं, इसमें काल अदृश्य है, पुरुष काल तथा देशके विषयमें जैसा ध्यान देता है वैसी ही उसकी कार्य-सिद्धि होती है २१-२२ मनुष्योंमें अनागतविधाता और प्रत्युत्पन्नमति ये दो पुरुष धर्मशास्त्रमें, अर्थशास्त्रमें और मोक्षशास्त्रमें मुख्य अधिकारी हैं, ऐसा ऋषि कहते हैं तथा वे दोनों ऐश्वर्योंके भी अधिकारी हैं ॥२३॥ जो पुरुष परीक्षा करके विचारपूर्वक तथा सावधानीसे काम करता है वह अपने कामको अच्छे प्रकारसे सिद्ध कर लेता है तथा जो अपने अनुकूल देश और काल को देखकर काम करता है वह (अनागतविधाता तथा प्रत्युत्पन्नमति) दोनोंसे भी अधिक फल पाता है २४ एकसौ सैंतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १३७ ॥ छ ॥

युधिष्ठिर उवाच। सर्वत्र बुद्धिः कथिता श्रेष्ठा ते भरतर्षभ। अनागता तथोत्पन्ना दीर्घसूत्रा विनाशिनी ॥१॥ तदिच्छामि तदा श्रोतुं बुद्धिं ते भरतर्षभ। यथा राजा न मुह्येत शत्रुभिः परिवारितः ॥ २ ॥ धर्मार्थकुशलो राजा धर्मशास्त्रविशारदः। पृच्छामि त्वां कुरुश्रेष्ठ तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥३॥ शत्रुभिर्बहुभिर्ग्रस्तो यथा वर्त्तेत पार्थिवः। एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं सर्वमेव यथा विधि ॥४॥ विषमस्थं हि राजानं शत्रवः परिपन्थिनः बहवोप्येकमुद्धर्त्तुं यतन्ते पूर्वतापिताः ॥५॥ सर्वत्र प्राथ्यमानेन दुर्बलेन महाबलैः।

युधिष्ठिरने बूझा.कि-हे भरतवंशमें श्रेष्ठ पुरुष! संकट आनेसे पहले तथा सङ्कटके समय विचार करने वाली बुद्धिको आपने सब कालमें श्रेष्ठकहा और दीर्घसूत्री बुद्धिको विनाश करने वाली कहा ॥ १ ॥ इसलिये हे भरतसत्तम राजन्! शत्रुओंसे घिरा हुआ राजा जिस प्रकारकी बुद्धिसे मोहमें न पडे वह बुद्धि कैसी होतीहै यह मैं आपसे सुनना चाहता हूँ ॥२॥ यह मैं आपसे इसलिये बूझता हूँ, कि-तुम धर्म और अर्थमें कुशल हो तथा धर्मशास्त्रमें प्रवीण एक राजा हो, इसलिये हे कुरुसत्तम! मैं आपसे बूझता हूँ वह आप मुझे बताइये३ बहुतसे शत्रुओंसे घिरे हुए राजाको कैसा वर्त्ताव करना चाहिये? यह सब बात मैं आपसे विधिपूर्वक सुनना चाहता हूँ ॥ ४ ॥ जिन शत्रुओंको पहले दुःख देकर पीड़ित किया होता है वे बहुतसे शत्रु इकट्ठे होकर, एक राजा जब विपत्तिमें आपड़ता है तो उसका नाश करनेके लिये उद्योग करते हैं ॥ ५। महाबली बहुतसे राजे(इकट्ठे होकर अथवा अलग२) बल और सहायता-

एकेनैवासहायेन शक्यं स्थातुं भवेत् कथम् ॥ ६ ॥ कथं मित्रमरिञ्चापि विन्दते भरतर्षभ । चेष्टितव्यं कथञ्चात्र शत्रोर्मित्रस्य चान्तरे ॥ ७ ॥ प्रज्ञातलक्षणे मित्रे तथैवामित्रतां गते । कथन्तु पुरुषः कुर्य्यात् कृत्वा किम्वा सुखी भवेत् ॥ ८ ॥ विग्रहं केन वा कुर्य्यात् सन्धिम्वा केन योजयेत् । कथम्वा शत्रुमध्यस्थो वर्त्तेत बलवानपि ॥१०॥ एतद्वै सर्वकृत्यानां परं कृत्यं परन्तप । नैतस्य कश्चिद् वक्तास्ति श्रोता वापि सुदुर्लभः ॥१०॥ ऋते शान्तनवाद्भीष्मात् सत्यसिन्धाज्जितेन्द्रियात् । तदन्विष्व महाभाग

रहित एक राजाका सब ओरसे नाश करना चाहते हैं, उस समय उस अकेले राजाको क्या करना चाहिये ?६ हेभरतसत्तम राजन् ! ऐसे समयमें (उलझा हुआ)राजा मित्र और शत्रुको कैसे पहचाने? और शत्रु तथा मित्रों के वीचमें आपड़े हुए राजाको कैसा वर्त्ताव करना चाहिये ? ॥७ ॥जिसके लक्षण मित्रकेसे जाननेमें आये हों और वह पीछे शत्रुका वर्त्ताव करने लगे, उस समय राजाको क्या करना चाहिये और कौनसा उपाय करनेसे सुखो होगा?॥ ८ ॥ किसके साथ युद्ध करे और किसके साथ सन्धि करे ? बलवान् होकर भी शत्रुओंके मध्यमें फँस जाय (तथा अकेला हो) तो उस राजाको कैसा वर्त्ताव करना चाहिये ? ॥ ९ ॥ हे शत्रुतापन भीष्म ! मैं सब प्रश्नोंमें इस प्रश्नको राजाके कर्तव्योंमें मुख्य गिनता हूँ, इस विषयको सुनने की इच्छा वाला कोई नहीं है और कहने वाला बहुत ही दुर्लभ है ॥ १० ॥ एक सत्य प्रतिज्ञावाले और जितेन्द्रिय शन्तनुके पुत्र आप ही इस विषयको कहने वाले हैं, तुम्हारे सिवाय

सर्वमेतद् ब्रवीहि मे ॥११॥ भीष्म उवाच । त्वद्युक्तो-
यमनुप्रश्नो युधिष्ठिर सुखोदयः । शृणु मे पुत्र कार्त्स्न्येन
गुह्यमापत्सु भारत ॥ १२ ॥ अमित्रो मित्रतां याति मि-
त्रश्चापि प्रदुष्यति । सामर्थ्ययोगात् कार्य्याणामनित्या वै
सदा गतिः ॥१३॥ तस्माद्विश्वसितव्यञ्च विग्रहञ्च समा-
चरेत् । देशं कालञ्च विज्ञाय कार्याकार्यविनिश्चये ॥ १४ ॥
सन्धातव्यं बुधैर्नित्यं व्यवस्य च हितार्थिभिः । अमित्रै-
रपि सन्धेयं प्राणा रक्ष्या हि भारत ॥१५॥ यो ह्यमित्रै-
र्नरो नित्यं न संदध्यादपण्डितः । न सोऽर्थं प्राप्नुयात्

ऐसा और कोई नहीं है; इसलिये हे महाभाग भीष्म ! इसका विचार करके यह सब विषय मुझे सुनाइये ११ भीष्मने कहा, कि—हे भरतवंशी युधिष्ठिर ! तूने जो यह प्रश्न बूझा है,यह सुख देनेवाला और योग्य है; हे पुत्र! आपत्तिके समय कैसा वर्त्ताव करना चाहिये, इस विषय को सब कोई नहीं जानते हैं, इसलिये मैं तुझसे कहता उसको तू पूर्ण रीतिसे सुन ॥ १२ ॥ जैसे शत्रु मित्र होजाता है ऐसे ही मित्र भी शत्रु बन जाता है, यह सब शक्तिके कारणसे होता है, एककी सदा एकसी दशा नहीं रहती है ॥ १३ ॥ इसलिये देश तथा कालको जान कर कार्य और अकार्यका निर्णय करे तथा फिर या तो शत्रुके साथ युद्ध करे, नहीं तो उसके ऊपर विश्वास रखकर सन्धि करलेय ॥ १४ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! चतुर पुरुष अपने हितैषियोंके साथ, नित्य विचार करें और जब प्राणसङ्कट आपड़े तब शत्रुओंके साथ भी सन्धि करके प्राणोंकी रक्षा करले ॥ १५॥ हे भरतवंशी राजन् ! जो मूर्ख पुरुष अपने शत्रुओंके साथ सदा सन्धि

किञ्चित्फलान्यपि च भारत ॥ १६ ॥ यस्त्वमित्रेण संद-
ध्यान्मित्रेण च विरुध्यते । अर्थयुक्तिं समालोक्य सुमह-
द्विन्दते फलम् ॥१७॥ अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरा-
तनम् । मार्ज्जारस्य च सम्वादं न्यग्रोधे मूषिकस्य च १८
वने महति कस्मिंश्चिन्न्यग्रोधः सुमहानभूत । लताजाल-
परिच्छिन्नः नानाद्विजगणान्वितः॥ १९ ॥ स्कन्धवान्मेघ-
सङ्काशः शीतच्छायो मनोरमः । अरण्यमभितो जातस्तरु-
र्व्यालमृगाकुलः ॥ २० ॥ तस्य मूलं समाश्रित्य कृत्वा
शतमुखं बिलम् । वसति स्म महाप्राज्ञः पलितो नाम

नहीं करता है उसका कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है तथा उसको और कोई फल भी नहीं मिलता है॥१६॥ परन्तु जो पुरुष अपने कार्यकी सिद्धि किसमें है उसका भली प्रकार विचार करके शत्रुओंके साथ सन्धि करता है और मित्रोंके साथ विरोध करता है, उस पुरुषको बड़े भारी फलका लाभ होता है ॥ १७ ॥ इस विषयमें वड़ की जड़में रहने वाले एक चूहे और गुद्दों पर रहने वाले विलावके सम्वादका इतिहास है (उसको तू सुन) १८ किसी एक वनमें वड़का बहुत मोटा पेड़ था, वह वड़ डालोंसे ढक गया था और उसके ऊपर नानाप्रकारके पक्षी रहते थे ॥ १९ ॥ उसके गुद्दोंकी अनेक शाखाएँ चारों ओर फैली हुई थीं अतः वह (दूरसे) मेघघटाकी समान श्यामवर्णका दीखता था. उसकी छाया शीतल थी, उस का दृश्य मनोहर था वह जंगलमें चारों ओर फैला हुआ था और हिंसाविहारी प्राणियों और मृगोंसे व्याप्त था २० किसी समय इस वड़की जड़में सौ भट्टोंका बिल बना कर पलित नामका एक वड़ा बुद्धिमान् चूहा रहता था

मूषिकः ॥२१॥ शाखान्तस्य समाश्रित्य वसति स्म सुखं पुरा । लोमशो नाम माज्जारः पक्षिसंघातखादकः ॥२२॥ तत्र चागत्य चाण्डालो ह्यरण्ये कृतकेतनः । प्रयोजयति चोन्माथं नित्यमस्तङ्गते रवौ ॥ २३ ॥ तत्र स्नायुमयान् पाशान् यथावत् सम्विधाय सः । गृहं गत्वा सुखं शेते प्रभातामेति शर्वरीम् ॥ २४ ॥ तत्र स्म नित्यं बध्यन्ते नक्तं बहुविधा मृगाः । कदाचिदत्र माज्जारस्त्वप्रमत्तोऽप्यबध्यत ॥२५॥ तस्मिन् बद्धे महाप्राणे शत्रौ नित्याततायिनि । तं कालं पलितो ज्ञात्वा प्रचचार सुनिर्भयः॥२६॥ तेनानुचरता तस्मिन् वने विश्वस्तचारिणा । भक्ष्यं

था ॥ २१ ॥ उस बड़की डालोंके ऊपर लोमश नामक एक बिलाव रहता था, वह पक्षियोंको खाकर अपनी आजीविका चलाता था और आनन्दमें दिन विताता था ॥ २२ ॥ किसी समय एक चण्डालने उस जङ्गलमें अपना डेरा डाला, वह नित्य सूर्यास्त होनेपर अपना जाल बिछा देता था और उसमें ताँतकी डोरियोंको ठीक ठीक बाँधनेके पीछे अपने झोपड़ेमें जाकर सुखसे सोरहता था और प्रातःकाल जालके पास आता था ॥ २३-२४ ॥ नित्य रात्रिमें उस जालमें अनेकों प्रकारके मृगादि पशु फँस जाते थे, एक दिन पूर्वोक्त बड़ पर रहनेवाला बिलाव असावधानीके कारण उस जालमें फँसगया २५ सर्वदाका आततायी और महाबली मेरा शत्रु बिलाव जालमें फँसगया है, यह बात जानते ही पलित नामका चूहा निर्भय होकर घूमने लगा ॥ २६ ॥ वह चूहा अपना भोजन ढूँढनेके लिये उस महावनमें निर्भयतासे इधर उधर घूम रहा था, इतनेमें ही (चंडालने लुभानेके लिये

मृगयमाणेन चिराद् दृष्टन्तदामिषम् ॥२७॥ स तमुन्माथ-माकल्य तदामिषमभक्षयत् ॥ २८ ॥ तस्योपरि सपत्नस्य बद्धस्य मनसा हसन् । आमिषे तु प्रसक्तः स कदाचिद-वलोकयन् ॥२९॥ अपश्यदपरं घोरमात्मनः शत्रुमागतम्। शरप्रसूनसङ्काशं महीविवरशायिनम् ॥ ३० ॥ नकुलं हरिणं नाम चपलं ताम्रलोचनम् । तेन मूषिकगन्धेन त्वर-माणमुपागतम् ॥ ३१ ॥ भक्षार्थं संलिहानन्तं भूमावूर्ध्व-मुखं स्थितम् । शाखागतमरिश्चान्यमपश्यत् कोटराल-यम् ॥ ३२ ॥ उलूकं चन्द्रकं नाम तीक्ष्णतुण्डं क्षपाचरम् ।

जो मांस बखेर दिया था, उसको) उसने देखा और वह तहाँ जाकर मांस खानेलगा ॥ २७-२८ ॥ अपना शत्रु कैद होगया, उसको देखकर वह चूहा मन ही मनमें हँसनेलगा, परन्तु उसने अपने ऊपर आनेहुए भयको नहीं देखा, उस मांसको खाते २ ज्यों ही उसने (ऊपर को मुख करके) देखा, तो अपनी ओरको अपना एक दूसरा वैरी आताहुआ दीखा, वह वैरी एक नौला था, उसके शरीरका रङ्ग शर (तृण) के फूलकी समान था, वह पृथिवीमें बिल बनाकर रहता था, उसका नाम हरिण था, वह बड़ा ही चपल था और उसकी आँखें लाल २ थीं, वह चूहेकी गन्ध पाकर बड़ी ही फुरतीसे तहाँको दौड़ता चला आया ॥ २९-३१ ॥ वह उस चूहेको खाने के लिये ऊपरको मुख उठाये पृथिवी पर खड़ा था और अपने जबाड़ोंको जीभसे चाटरहा था, इसी समय चूहेने (ऊपरको देखा तो) बड़े वृक्षकी खखोड़लमें बैठाहुआ अपना वैरी चन्द्रक नामक तीखी चोंचवाला रात्रिचारी एक उल्लू दीखा, इसप्रकार चूहा नौले और उल्लूके बीच

गतस्य विषयं तत्र नकुलोलूकयोस्तदा ॥३३॥ अथास्या-
सीदियं चिन्ता तत् प्राप्य सुमहद्भयम् । आपन्नस्यां सुकृ-
च्छ्रायां मरणे प्रत्युपस्थिते ॥ ३४ ॥ समन्तात् भय उत्पन्ने
कथं कार्य्यं हितैषिणा । स तथा सर्वतो रुद्धः सर्वत्र भय-
दर्शनः ॥ ३५ ॥ अभवद्भयसन्तप्तश्चक्रे च परमां मतिम् ।
आपद्विनाशभूयिष्ठं शतैः कार्य्यं हि जीवितम् ॥ ३६ ॥
समन्तात् संशयात् सैषा तस्मादापदुपस्थिता । गतं मां
सहसा भूमिं नकुलो भक्षयिष्यति ॥ ३७ ॥ उलूकश्चेह
तिष्ठंतं मार्ज्जारः पाशसंक्षयात् । न त्वेवास्मद्विधः प्राज्ञः
सम्मोहं गन्तुमर्हति ॥ ३८ ॥ करिष्ये जीविते यत्नं याव-

में फँसगया ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ऐसे बड़े भयमें आपड़नेके कारण उस चूहेको चिन्ता होनेलगी, कि-मेरे ऊपर बड़ी दुःखदायक आपत्ति आपड़ी है, चारों ओर भय उत्पन्न होगया है, अब मरणका समय समीप आगया ! परन्तु ऐसे सङ्कटके समयमें अपना हित चाहने वालेको क्या करना चाहिये ? वह चूहा चारों ओरसे घिरगया था, उसको चारों ओर भय ही भय दीखता था, इसलिये वह भयके मारे घबड़ागया, परन्तु फिर उसको यह एक उत्तम विचार सूझा, कि-आपत्तिमें पड़ेहुए पुरुषोंको अपने जीवनको आपत्तिमेंसे छुटाकर उसकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ३४-३६ ॥ मेरे ऊपर चारों ओरसे आपत्ति आपड़ी है, यदि मैं यहाँसे एकदम पृथिवी पर भागके जाऊँगा तो यह नौला मुझे खाजायगा और यहाँ ही बैठा रहूँगा तो उल्लू खाजायगा और बिलावकी फाँसी काटकर उसको छुड़ादूँगा तो यह भी मुझे खाजायगा, इसप्रकार चारों ओरसे आपत्ति आपड़ी है, परंतु मुझसे

युक्त्या प्रतिप्रदात् । न हि बुद्ध्यान्वितः प्राज्ञो नीतिशास्त्र-
विशारदः ॥ ३६ ॥ निमज्जत्यापदं प्राप्य महतीं दारुणा-
मपि ॥४०॥ न त्वन्यामिह मार्जाराद्गतिं पश्यामि साम्प्र-
तम् । विषमस्थो ह्ययं शत्रुः कृत्यञ्चास्य महन्मया ४१
जीवितार्थी कथं त्वद्य शत्रुभिः प्रार्थितस्त्रिभिः । तस्मा-
देनमहं शत्रुं मार्जारं संश्रयामि वै ॥४२॥ नीतिशास्त्रं
समाश्रित्य हितमस्योपवर्णये । येनेमं शत्रुसंघातं मति-
पूर्वेण वञ्चये ॥४३॥ अयमत्यन्तशत्रुर्मे वैषम्यं परमं गतः ।

बुद्धिमान्‌को घबड़ाना नहीं चाहिये ३७-३८मुझमें जहाँतक
उद्योग होसकेगा तहाँतक मैं जीवित रहनेका युक्तिके साथ
उद्योग करूँगा, बुद्धिमान् , प्राज्ञ और नीतिशास्त्रमें चतु-
रता रखनेवाला पुरुष बड़ीभारी आपत्तिके समयमें भी
उसमें डूब नहीं जाता (घबड़ा नहीं जाता) है ॥३६-४०॥
इस समय बिलावके सिवाय दूसरेका सहारा लेना मुझे
उचित नहीं मालूम होता, यह सत्य है, कि-यह मेरा
वैरी है, परन्तु (इस समय) यह भी आपत्तिमें आपड़ा
है और इसको मेरी बड़ी आवश्यकता है ॥ ४१ ॥ तथा
जीवित रहनेकी इच्छा है । परन्तु इस समय तीन वैरी
मुझे मारडालनेके लिये तक रहे हैं, इनमेंसे अपने प्राणों
को मैं कैसे बचाऊँ ? इन तीनों वैरियोंमेंसे (इस समय
तो) मैं बिलाव वैरीका आश्रय लूँ (तो ठीक होगा !)४२
बिलावके पास जाकर नीतिशास्त्रमेंसे इसके हितकी बातें
समझाऊँ और अपनी बुद्धिसे इन तीनों वैरियोंको धोखा
दूँ ॥४३॥ यह बिलाव मेरा कट्टर शत्रु है, परन्तु यह भी
बड़ी कठिन दशामें आपड़ा है, जरा परीक्षा करके तो
देखूँ, कि-यह मूर्ख बिलाव अपने लाभकी मेरी संमति

मूढ़ो ग्राहयितुं स्वार्थं सङ्गत्या यदि शक्यते ॥४४॥ कदा चिद्व्यसनं प्राप्य सन्धिं कुर्यान्मया सह। बलिना सन्निकृष्टस्य शत्रोरपि परिग्रहः ॥ ४५ ॥ कार्य इत्याहुराचार्या विषमे जीवितार्थिना। श्रेयान् हि पण्डितः शत्रुर्न च मित्रमपण्डितः ॥४६॥ मम त्वमित्रे माज्जारे जीवितं सम्प्रतिष्ठितम्। हन्तास्मै संप्रवक्ष्यामि हेतुमात्माभिरक्षणे ॥४७॥ अपीदानीमयं शत्रुः सङ्गत्या पण्डितो भवेत्। एवं विचिन्तयामास मूषिकः शत्रुचेष्टितम् ॥ ४८ ॥ ततोऽर्थगतितत्त्वज्ञः सन्धिविग्रहकालवित्। सान्त्वपूर्वमिदं वाक्यं माज्जारं मूषिकोऽब्रवीत् ॥ ४९ ॥ सौहृदेनाभिभाषे त्वां कच्चिन्माज्जार जीवसि। जीवितं हि तवेच्छामि श्रेयः

मानता है या नहीं!।४४। यह दुःखमें आपड़ा है, इस लिये कदाचित् मुझसे मेल करलेय, आचार्य कहते हैं, कि-बलवान् पुरुषको जीवनकी इच्छा हो और पासमें अपना शत्रु हो तो (प्राणोंको बचानेके लिये) उसका भी सहारा लेलेय, चतुर शत्रु भला परन्तु मूर्ख मित्र भला नहीं ४५-४६ मेरे जीवनका आधार मेरे शत्रु बिलावके ऊपर ही है, इसलिये मैं उसके जीवनकी रक्षा के लिये संमति दूँगा ४७ जिसको सुनकर, यह शत्रु है तो भी मेरी सङ्गतिसे कदाचित् पण्डित होजायगा (मेरी बातका सार समझजायगा,) इसप्रकार शत्रुओं से घिराहुआ वह चूहा अपने बचावका विचार करने लगा ४८ फिर कार्यके परिणामको समझनेवाले और किसके साथ सन्धि करनी चाहिये तथा किसके साथ विग्रह करना चाहिये, इस बातको जानने वाले चूहेने बिलावको समझातेहुए यह बात कही कि-४९ हे बिलाव!

साधारणं हि नौ ॥ ५० ॥ न ते सौम्य भयं कार्यं जीवि-
ष्यसि यथासुखम् । अहं त्वामुद्धरिष्यामि यदि मां न
जिघांससि ॥ ५१ ॥ अस्ति कश्चिदुपायोत्र दुष्करः प्रति-
भाति मे । येन शक्यस्त्वया मोक्षः प्राप्तुं श्रेयस्तथा
मया ॥ ५२ ॥ मयाप्युपायो दृष्टोयं विचार्य मतिमात्मनः ।
आत्मार्थश्च त्वदर्थश्च श्रेयः साधारणं हि नौ ॥ ५३ ॥ इदं
हि नकुलोलूकं पापबुद्ध्याभिसंस्थितम् । न धर्षयति मा-
र्जार तेन मे स्वस्ति साम्प्रतम् ॥५४॥ कूजंश्चपलनेत्रोयं
कौशिको मां निरीक्षते । नगशाखाग्रगः पापस्तस्याहं भृश-
मुद्विजे ॥ ५५ ॥ सतां साप्तपदं मैत्रं स सखा मेऽसि

मैं तुझसे मित्रभावसे बूझता हूँ, कि-क्या तू जीवित है ? मैं तुझे जीवित देखना चाहता हूँ, क्योंकि-इसमें हम दोनोंका परस्पर कल्याण है ५० हे सौम्य! तुझे डरना नहीं चाहिये, तू आनन्दसे जीवित रहेगा, यदि तू मुझे मारकर नहीं खाजायगा तो मैं तेरी रक्षा करूँगा ५१ मुझे एक उपाय सूझा है, परन्तु वह जरा कठिन है, यदि उस उपायको किया जायगा तो तूभी छूटजायगा और मेरा भी कल्याण होगा ५२ मैंने अपनी बुद्धिसे विचार करके तेरे लिये और अपने लिये एक उपाय खोज निकाला है, क्योंकि-उसमें हम दोनोंका एकसा कल्याण है ५३ यह नौला तथा उल्लू मेरे विषयमें पाप भरा विचार करके बैठे २ झुके ताकरहे हैं, ये जबतक मेरे ऊपरको या तेरे ऊपरको झपटते नहीं हैं तबतक ही मेरा या तेरा जीवन है ५४ यह पापी उल्लू आँखको चलाता हुआ वृक्षकी डालपर बैठा शब्द कर २ के मेरी ओरको देखरहा है, इससे मैं बहुत डरता हूँ ५५ सत्पुरुष

पण्डितः । सांवास्यकं करिष्यामि नास्ति ते भयमद्य वै ॥५६॥ न हि शक्तोसि मार्जार पाशं छेत्तुं मया विना । अहं छेत्स्यामि पाशांस्ते यदि मां त्वं न हिंससि ॥५७॥ त्वमाश्रितो द्रुमस्याग्रं मूलन्त्वहमुपाश्रितः । चिरोषिता-वुभावावां वृक्षेस्मिन् विदितं च ते ॥५८॥ यस्मिन्नाश्वा-सते कश्चित् यश्च नाश्वसिति क्वचित् । न तौ धीराः प्रशं-सन्ति नित्यमुद्विग्नमानसौ ॥५९॥ तस्माद्विवर्द्धतां प्रीति-र्नित्यं सङ्गतमस्तु नौ । कालातीतमिहार्थं तु न प्रशंसन्ति पण्डिताः ॥६०॥ अर्थयुक्तिमिमां तत्र यथा भूतां निशा-

---

सात पग साथ २ चलते हैं उसमें मित्रता करलेते हैं, तू बुद्धिमान् है, इसलिये मेरा मित्र है, तू और मैं दोनों साथ २ एक स्थानमें रहे हैं, इसलिये मैं साथ २ रहनेके धर्मको निभाऊँगा, अब निःसंदेह तुझे कुछ भय नहीं है ५६ तू मेरे विना अपने पिंजरेको जालको नहीं काटसकेगा, यदि तू मुझे न मारे तो मैं तेरे जालको काटदूँगा ५७ तू वृक्षके ऊपर रहता है, मैं वृक्षको जड़में रहता हूँ, इस प्रकार हम दोनों बहुत दिनोंसे इस वृक्षमें साथ २ रहते हैं, इस बातको तू जानता ही है ॥ ५८ ॥ जिसके ऊपर कोई भी विश्वास नहीं करता तथा जो किसीका भी विश्वास नहीं करता, ऐसे नित्य उद्विग्न मनवालोंकी धीर पुरुष प्रशंसा नहीं करते हैं, आपसमें विश्वास करने से दोनों सुखी होते हैं ५९ इसलिये मैं चाहता हूँ, कि-हम दोनोंमें प्रीति बढे और नित्य समागम हुआ करे, परन्तु किसी कामको अवसर बीतजाने पर किया जाय तो इसकी पण्डित प्रशंसा नहीं करते हैं ६० हम दोनों की सन्धि होनेका यह बड़ा अच्छा अवसर है, मैं चाहता

मय.। तव जीवितमिच्छामि त्वं ममेच्छसि जीवितम् ६१
कश्चित्तरति काष्ठेन सुगम्भीरां महानदीम् । स तारयति
तत् काष्ठं स च काष्ठेन तार्य्यते ॥६२॥ ईदृशो नौ समा-
योगो भविष्यति सुविस्तरः । अहं त्वां तारयिष्यामि मां
च त्वं तारयिष्यसि ॥६३॥ एवमुक्त्वा तु पलितस्तमर्थ-
मुभयोर्हितम् । हेतुमद् ग्रहणीयं च कालापेक्षी न्यवेदय
च ॥ ६४ ॥ अथ सुव्याहृतं श्रुत्वा तस्य शत्रोर्विचक्षणः ।
हेतुमद् ग्रहणीयार्थं मार्जारो वाक्यमब्रवीत् ॥६५॥बुद्धि-
मान् वाक्यसम्पन्नस्तद्वाक्यमनुवर्णयन् । स्वामवस्थां
समीक्ष्याथ साम्नैव प्रत्यपूजयत् ६६ ततस्तीक्ष्णाग्रदशनो
मणिवैदूर्यलोचनः।मूषिकं मन्दमुद्वीक्ष्य मार्जारो लोमशो-

हूँ, कि-तू जीवित रहे और तुझे भी यही इच्छा करनी चाहिये, कि-मैं जीवित रहूँ ६१ एक मनुष्य लकड़ीके सहारेसे बहुत गहरी महानदीके पार होजाता है, इसमें वह मनुष्य उस काठको तारता है और वह काठ उस मनुष्यको पार लगादेता है ६२ ऐसा ही हम दोनोंका संयोग हुआ है और वह समय पाकर बहुत बढ़ जायगा, तू मुझे पार लगावेगा और मैं तुझे पार लगाऊँगा ६३ इसप्रकार समयकी बाट देखनेवाले पलित चूहेने दोनोंके हितकी बात कारणसहित विचारकर बिलावको कह सुनाई ६४ चूहेका वैरी बिलाव विचक्षण, बुद्धिमान् और वक्ता था, उसने वैरीके कारणभरे और ग्रहण करनेयोग्य सुन्दर भाषणको सुनकर अपनी अवस्थाको देखा, फिर उसकी बातकी सराहना की और शान्तिके शब्द कहकर उसका सत्कार किया, तीखी नोकवाले दाँतोंवाला तथा मणि और वैदूर्यसे नेत्रोंवाला लोमश बिलाव चूहेकी

ऽब्रवीत् ॥ ६७ ॥ नन्दामि सौम्य भद्रन्ते यो मां जीवितु-मिच्छसि । श्रेयश्च यदि जानीषे क्रियतां मा विचारय ६८ अथाहं हि भृशमापन्नस्त्वमापन्नतरो मम । द्वयोरापन्नयोः सन्धिः क्रियतां मा चिराय च ॥६९॥ विधास्ये प्राप्तकालं यत् कार्यसिद्धिकरं विभो । मयि कृच्छ्राद्विनिर्मुक्ते न विनंक्ष्यति ते कृतम् ॥ ७० ॥ न्यस्तमानोस्मि भक्तोस्मि शिष्यस्त्वद्धितकृत्तथा । निदेशवशवर्त्ती च भवन्तं शरणं गतः ॥७१॥ इत्येवमुक्तः पलितो मार्जारं वशमागतम् । वाक्यं हितमुवाचेदमभिनीतार्थमर्थवित् ॥ ७२ ॥ उदारं

ओर देखताहुआ नम्र वचनसे कहनेलगा कि–।६५–६७। हे शान्तगुणी ! तू मुझे जीवित रखनेकी इच्छा करता है, अतः मैं तुझको अभिनन्दन देता हूँ ! तेरा कल्याण हो ! यदि तू मेरे छुटकारेका उपाय जानता हो तो संकोच छोड़कर उपाय कर विचार न कर ! ॥६८॥ मैं बड़े भारी संकटमें फँसगया हूँ और तू मुझसे भी अधिक संकटमें फँसगया है, संकटमें पड़े हम दोनोंमें विना विलम्ब संधि होनी चाहिये ॥ ६९ ॥ हे विभो ! मैं दुःखमेंसे छूटने पर समयानुसार तेरे लाभका जो कार्य होगा उसको करूँगा और तेरे उपकारको नहीं भूलूँगा ॥ ७० ॥ मैं तेरे वशमें हूँ! मैं तेरा भक्त हूँ ! जैसे शिष्य गुरुदेवकी सेवा करता है, ऐसे ही मैं तेरी सेवामें तत्पर हूँ ! तेरे अधीन हूँ ! तथा तेरी सेवा करनेको तत्पर हूँ ! मैं तेरी आज्ञानुसार चलूँगा ! और तेरी शरणमें आया हूँ ! ॥७१॥ इसप्रकार लोमशने पलित चूहेको उत्तर दिया, तब अर्थवेत्ता चूहे ने अपने वशमें हुए विलावसे अर्थसे भरा हुआ वाक्य इसप्रकार कहा कि–॥ ७२ ॥ "मैंने जो उदार वचन कहे

यद्भवानाह नैतच्चित्रं भवद्विधे । विहितो यस्तु मार्गो मे हितार्थं शृणु तं मम ॥ ७३ ॥ अहं त्वानुप्रवेक्ष्यामि नकुलान्मे महद्भयम् । त्रायस्व भो मा वधीस्त्वं शक्तोस्मि तव रक्षणे ॥७४॥ उलूकाच्चैव मां रक्ष क्षुद्रः प्रार्थयते हि माम् । अहं छेत्स्यामि ते पाशान् सखे सत्येन ते शपे ७५ तद्वचः सङ्गतं श्रुत्वा लोमशो युक्तमर्थवत् । हर्षादुदीक्ष्य पलितं स्वागतेनाभ्यपूजयत् ॥७६॥ तं सम्पूज्याथ पलितं मार्जारः सौहृदे स्थितः । स विचिन्त्याब्रवीद्धीरः प्रीतस्त्वरित एव च ॥ ७७ ॥ शीघ्रमागच्छ भद्रन्ते त्वं मे प्राणसमः सखा । तव प्राज्ञ प्रसादाद्धि प्रायः प्राप्स्यामि जी-

हैं, उन वचनोंका तुमसे पुरुषोंको आश्चर्य नहीं होना चाहिये ! हितके लिये ही मैंने जो मार्ग ढूँढा है उसको तू सुन ! ॥ ७३ ॥ मुझे नौलेका बड़ा भय लगरहा-है अतः मैं तेरे (पेटके) नीचे दुबक जाना चाहता हूँ ! तू मुझे मारना मत, परन्तु मेरी रक्षा करना ! मैं तेरी रक्षा करनेको समर्थ हूँ ॥७४॥ तू इस उल्लूसे मेरी रक्षा कर! यह क्षुद्र उल्लू मुझे मारनेके लिये घूर रहा है ! ओ मित्र! मैं तुझसे सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि—मैं तेरे जालको काट डालूँगा" ॥ ७५ ॥ चूहेका युक्तियुक्त अर्थ वाला तथा सम्बन्धवाला वचन सुनकर लोमशने हर्षसे ऊपरको देखा और चूहेका सत्कार किया ! ॥ ७६ ॥ पलितका सत्कार करनेके पीछे वह पलितके साथ मित्रता करके बहुत प्रसन्न हुआ फिर धीर बिलावने विचार करके उतावलीसे कहा कि-"तू मेरे पास शीघ्र आ ! तेरा कल्याण हो ! तू मेरा प्राणसमान मित्र है ! हे बुद्धिमान् ! तेरी कृपासे मैं जहाँतक होसकेगा अपने जीवन

वितम् ॥ ७८ ॥ यद्यदेवं गते नाथ शक्यं कर्त्तुं मया तव । तदाज्ञापय कर्त्तास्मि सन्धिरेवास्तु नौ सखे ॥ ७९ ॥ अस्मात्तु सङ्कटान्मुक्तः समित्रगणबान्धवः । सर्वकार्याणि कर्त्ताहं प्रियाणि च हितानि च ॥ ८० ॥ मुक्तश्च व्यसनादस्मात्सौम्याहमपि नाम ते । प्रीतिमुत्पादयेयञ्च प्रीतिकर्तुश्च सत्क्रियाम् ॥ ८१ ॥ प्रत्युपकुर्वन् बह्वपि न भाति पूर्वोपकारिणा तुल्यः । एकः करोति हि कृते निष्कारणमेव कुरुतेऽन्यः ॥ ८२ ॥ भीष्म उवाच । ग्राहयित्वा तु तं स्वार्थं मार्ज्जारं मूषिकस्तथा । प्रविवेश तु विश्रब्ध क्रोडमस्य कृतागसः ॥ ८३ ॥ एवमाश्वासितो विद्वान्

की रक्षा करसकूँगा ॥७८॥ ऐसी स्थितिमें पड़े हुए मुझसे तेरा और जो भी कार्य करसकूँ ऐसा हो तो उस कामको करनेकी मुझे आज्ञा दे, तब मैं उसको करूँ ! हे मित्र ! हम दोनोंमें सन्धि होनी चाहिये ! ॥ ७९ ॥ मैं इस संकटमेंसे छूटनेके पीछे अपने मित्र तथा बान्धवोंके साथ तेरे मनचीते और हितकारी सब कार्य करूँगा" ८० चूहा बोला कि-"हे सौम्य ! मैं भी इस संकटमेंसे छूटनेके पीछे तेरी प्रीति सम्पादन करूँगा और प्रेममें भरे हुए तेरा सत्कार करूँगा ! ॥८१॥ एक पुरुष बड़ाभारी प्रत्युपकार करता है, परन्तु पहिले उपकार करनेवालेके उपकारकी समान वह उपकार नहीं होसकता, क्योंकि-प्रत्युपकारी तो उपकार करनेके अनन्तर उपकार करता है परन्तु उपकार करनेवाला तो निष्कारण ही उपकार करता है !" ॥ ८२ ॥ भीष्मने कहा कि-इसप्रकार चूहा अपना मतलब बतलाकर शत्रु बिलावमें अच्छी तरह विश्वास जमाकर उसकी गोदमें जाकर बैठगया और

मार्ज्जारेण स मूषिकः। मार्ज्जारोरसि विश्रब्धः सुष्वाप पितृमातृवत् ॥ ८४ ॥ लीनन्तु तस्य गात्रेषु मार्ज्जारस्य च मूषिकम्। दृष्ट्वा तौ नकुलोलूकौ निराशौ प्रत्यपद्यताम् ॥ ८५ ॥ तथैव तौ सुसन्त्रस्तौ दृढं हरितचन्द्रकौ। दृष्ट्वा तयोः परां प्रीतिं विस्मयं परमं गतौ ॥८६॥ बलिनौ मतिमन्तौ च सवृत्तौ चाप्युपाश्रितौ। अशक्तौ तु नयात्तस्मात् संप्रधर्षयितुं बलात् ॥ ८७ ॥ कार्यार्थकृतसन्धी तौ दृष्ट्वा मार्जारमूषिकौ। उलूकनकुलौ तूर्णं जग्मतुः स्वं स्वमालयम् ॥ ८८ ॥ ततः स तस्य गात्रेषु पलितो देशकालवित्। चिच्छेद पाशान्नृपते कालापेक्षी शनैः शनैः८९

और विश्राम लेने लगा ॥ ८३ ॥ बिलावने भी विद्वान् चूहेको ऐसा निःशंक करदिया कि-वह माता पिताकी गोदीकी समान विश्वास कर उसकी गोदीमें जाबैठा ! ८४ बिलावके शरीरमें चूहेको छिपा हुआ देखकर नौला और उल्लू निराश होगए ॥८५॥ इतना ही नहीं ! परन्तु उन दोनोंकी परम प्रीतिको देखकर हरित नौले और चन्द्रक उल्लूको आश्चर्य हुआ और वे डरगए तथा उनको तंद्रा सी आनेलगी ॥ ८६ ॥ वे दोनों बलवान् तथा मतिमान् थे, तो भी उन दोनोंमें बिलाव तथा चूहेकी गाढ़ी मित्रताको तोड़नेकी शक्ति न थी ॥८७॥ बिलाव तथा चूहेने अपना कार्य करनेके लिये परस्पर सन्धि की थी, यह देखकर उल्लू और नौले अपने २ रहनेके स्थानको चले गए ॥८८॥ हे राजन् ! पलित चूहा देश कालको जाननेवाला था, वह बिलावके शरीरमें दुबका हुआ बैठा था और चाण्डालके आनेकी बाट देखता हुआ धीरे २ जाल के डोरोंको काटरहा था ॥ ८९ ॥ बन्धनसे उकताए हुए

अथ बन्धपरिक्लिष्टो मार्ज्जारो वीक्ष्य मूषिकम् । छिन्दन्तं वै तदा पाशान्न त्वरन्तं त्वरान्वितः ॥ ६० ॥ तमत्वरन्तं पलितं पाशानां छेदने तथा । सञ्चोदयितुमारेभे मार्ज्जारो मूषिकन्तदा ॥ ६१ ॥ किं सौम्य नाति त्वरसे किं कृतार्थोऽवमन्यसे । छिन्धि पाशानमित्रघ्न पुरा श्वपच एति च ॥६२॥ इत्युक्तस्त्वरता तेन मतिमान् पलितोऽब्रवीत् । मार्ज्जारमकृतप्रज्ञं पथ्यमात्महितं वचः ॥ ६३ ॥ तूष्णीं भव न ते सौम्य त्वरा कार्या न संभ्रमः । वयमेवात्र कालज्ञा न कालः परिहास्यते ॥ ६४ ॥ अकाले कृत्यमारब्धं कर्तुर्नार्थाय कल्पते । तदेव काल आरब्धं महतेऽर्थाय

विलावने चूहेको धीरे २ डोरे काटते हुए देखा ॥ ६० ॥ तब पाश काटनेमें ढील डालते हुए पलित चूहेसे विलाव ने अपने पाशोंको शीघ्रतासे काटनेके लिये कहा कि-६१ "हे सौम्य ! तू किसलिये जल्दीसे मेरे पाशोंको नहीं काटता है ? तेरा काम निकल गया क्या तू इसलिये मेरा अनादर करता है ? अरे शत्रुओंको नष्ट करनेवाले ! तू शीघ्रतासे मेरे पाशोंको काटडाल, वह चाण्डाल अब आता ही होगा" ॥ ६२ ॥ इसप्रकार विलावने उतावला होकर चूहेसे कहा, तब उस चूहेने मूर्ख विलावसे अपने लाभका तथा हितकारक वचन कहा कि-६३ "हे शांत गुणवाले विलाव ! तुम चुप बैठे रहो! उतावली मत करो! डरो मत ! मैं समयको जानता हूँ, अतः मैं समयको बीतने नहीं दूँगा ६४ जो मनुष्य कुसमयमें कार्यका आरम्भ करता है तो वह कार्य फल नहीं देता है, परन्तु वही कार्य यदि समयसे कियाजाता है तो वह बड़ा फल देता है ६५ मैं तुझे यदि असमयमें

कल्पते॥ ६५॥ अकाले विप्रमुक्तान्मे त्वत्त एव भयं भवेत्।
तस्मात् कालं प्रतीक्षस्व किमिति त्वरसे सखे ॥ ६६ ॥
यदा पश्यामि चाण्डालमायान्तं शस्त्रपाणिनम्। ततश्छे-
त्स्यामि ते पाशान् प्राप्ते साधारणे भये ॥ ६७ ॥ तस्मिन्
काले प्रमुक्तस्त्वं तरुमेवाधिरोक्ष्यसे। न हि ते जीविता-
दन्यत् किञ्चित् कृत्यं भविष्यति ॥ ६८ ॥ ततो भवत्यप-
क्रान्ते त्रस्ते भीते च लोमश। अहं बिलं प्रवेक्ष्यामि भवान्
शाखां भजिष्यति ॥६९॥ एवमुक्तस्तु मार्ज्जारो मूषिके-
णात्मनो हितम्। वचनं वाक्यतत्त्वज्ञो जीवितार्थी महा-
मतिः ॥ १०० ॥ अथात्मकृत्यं त्वरितः सम्यक् प्रस्तुत-
माचरन्। उवाच लोमशो वाक्यं मूषिकं चिरकारिणम्१०१

छोड़ दूँ तो तुझसे ही मुझे भय होजावेगा, अतः हे मित्र! तू जरा समयकी बाट देख! तू किसलिये उतावला हो रहा है ६६ मैं जब चाण्डालको हाथमें हथियार लेकर आता हुआ देखूँगा और तुझको साधारण भय होगा उस ही समय मैं तेरे आसपासके जालको काट डालूँगा ६७ उस समय छूटा हुआ तू वृक्षके ऊपर ही चढेगा, क्यों कि-उस समय तुझे अपना जीवन बचानेके सिवाय और कुछ (कर्त्तव्य) नहीं सूझेगा! ६८ हे लोमश! तू त्रास तथा भयके कारण जैसे भागकर वृक्षकी शाखा पर चढेगा, वैसे ही मैं अपने बिलमें घुस जाऊँगा" ६९ इस प्रकार चूहेने बिलावसे अपने हितकी बात कही, तब कथनके सारको समझनेवाला महामति बिलाव, जीते रहनेकी इच्छासे भयके कारण अधीर हो उतावली करने लगा और चूहेकी अच्छीप्रकार प्रशंसा करताहुआ पाश काटनेमें विलंब करनेवाले चूहेसे कहनेलगा कि-१००-१०१

न ह्येव मित्रकार्याणि प्रीत्या कुर्वंति साधवः । यथा त्वं मोक्षितः कृच्छ्रात् त्वरमाणेन वै मया ॥ १०२ ॥ तथा हि त्वरमाणेन त्वया कार्य्यं हितं मम । यत्नं कुरु महाप्राज्ञ यथा स्वस्त्यावयोर्भवेत् ॥ १०३ ॥ अथ वा पूर्ववैरं त्वं स्मरन् कालं जिहीर्षसि । पश्य दुष्कृतमंस्त्वं व्यक्तमायुःक्षयं तव॥१०४॥यदि किञ्चिन्मयाज्ञानात् पुरस्ताद् दुष्कृतं कृतम् । न तन्मनसि कर्त्तव्यं क्षामये त्वां प्रसीद मे १०५ तमेवं वादिनं प्राज्ञः शास्त्रविद् बुद्धिसम्मतः । उवाचेदं वचः श्रेष्ठं मार्ज्जारं मूषिकस्तदा ॥ १०६ ॥ श्रुतं मे तव मार्ज्जार स्वमर्थं परिगृह्णतः । ममापि त्वं विजानासि स्वमर्थं परिगृह्णतः ॥ १०७ ॥ यन्मित्रं भीतवत् साध्यं

"भले आदमी मित्रके कामोंमें इसप्रकारका वर्त्ताव नहीं करते हैं, मैंने तुझको जैसे एकसाथ भयमेंसे छुड़ादिया है, तैसे ही तुझे भी शीघ्रतासे मेरा हितकर कार्य करना चाहिये, अतः हे महाबुद्धिमान्! हम दोनोंकी जिसप्रकार रक्षा हो, उस ही प्रकार तू यत्न कर १०२–१०३ परन्तु यदि तू पहिले वैरको स्मरण करके विलम्ब करता हो तो, अरे! पापकर्म करनेवाले! तेरी मृत्यु तेरी दृष्टिके सामने ही है, इसको तू देखेगा! १०४ मैंने तेरा किसी समय अनजानमें भी कुछ बुरा किया हो तो तू उसको मनमें न लाना मैं तुझसे क्षमा माँगता हूँ, तू मेरे ऊपर प्रसन्न हो (और शीघ्रतासे मेरा छुटकारा कर!)" १०५ चूहा नीतिशास्त्र जानता था, बुद्धिमान् था. उसने इसप्रकार कहते हुए बिलावको उत्तर दिया कि–१०६ हे बिलाव! तूने जो अपने स्वार्थकी बात कही, वह मैंने सुनी अब मैं अपने स्वार्थकी बात कहता हूँ उसको तू सुन १०७ जिस

यन्मित्रं भयसंहितम् । सुरक्षितव्यं तत्कार्यं पाणिः सर्पमुखादिव ॥१०८॥ कृत्वा बलवता संधिमात्मानं यो न रक्षति । अपथ्यमिव तद्भुक्तं तस्य नार्थाय कल्पते १०९ न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं न कश्चित् कस्यचिद्रिपुः । अर्थतस्तु निबध्यन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥ ११० ॥ अर्थैरर्था निबध्यन्ते गजैर्वनगजा इव । न हि कश्चित् कृते कार्य्ये कर्त्तारं समवेक्षते ॥ १११ ॥ तस्मात् सर्वाणि कार्य्याणि सावशेषाणि कारयेत् । तस्मिन् कालेपि च भवान् दिवा-

मित्रतामें भय है और जो मित्रता भयके विना निभाई नहीं जासकती, ऐसी मित्रतासे, जैसे बाजीगर खेलते हुए सर्पके विषदन्तके साथ सावधानीसे खेलता है और अपने हाथकी रक्षा करता है, तैसे ही मुझे भी सावधानीसे काम लेना चाहिये ! १०८ जो पुरुष बलवान्के साथ सन्धि करनेके पीछे अपनी रक्षा नहीं करता है उस पुरुषको वह सन्धि खाये हुए अपथ्य भोजनकी समान फलदायक नहीं होती है १०९ कोई किसीका मित्र नहीं है और कोई किसीका भला चाहनेवाला नहीं है ! स्वार्थके कारण लोक परस्पर मित्र या शत्रु बनते हैं ! ११० जैसे हाथियोंसे वनके हाथी पकड़े जाते हैं, ऐसे ही कार्योंको लेकर दूसरे कार्य करनेमें आते (साधे जाते) हैं और कार्य करनेके पीछे कोई भी पुरुष कार्य करनेवालेकी ओर (पीछे फिरकर) देखता भी नहीं है १११ अतः कार्य इसप्रकार करना चाहिये कि-अधूरा रहे (सम्पूर्ण करनेसे करनेवालेकी कोई परवाह नहीं करता) मैं तुझे ऐसी अनीके समय मुक्त करूँगा कि—जिस समय चाण्डाल पासमें आपहुँचा होगा, उस समय तुझे भागने

कीर्त्तिभयाद्धितः ॥ ११२ ॥ मम न ग्रहणे शक्तः पलायनपरायणः । छिन्नन्तु तन्तुबाहुल्यं तन्तुरेकोवशेषितः ११३ छेत्स्याम्यहं तमप्याशु निर्वृतो भव लोमश । तयोः संवदतोरेवं तथैवापन्नयोर्द्वयोः ॥ ११४ ॥ क्षयं जगाम सा रात्रिर्लोमशन्त्वाविशद्भयम् । ततः प्रभातसमये विकृतः कृष्णपिङ्गलः ॥ ११५ ॥ स्थूलस्फिग्विकृतो रूक्षः श्वयूथपरिवारितः। लम्बकर्णो महावक्त्रो मलिनो घोरदर्शनः ११६ परिघो नाम चाण्डालः शस्त्रपाणिरदृश्यत । तं दृष्ट्वा यमदूताभं मार्ज्जारस्त्रस्तचेतनः ॥११७॥ उवाच पलितं भीतः किमिदानीं करिष्यसि । अथ तावपि सन्त्रस्तौ तं

की सूझेगी और मुझे पकड़नेके लिये विचार करनेका अवकाश ही नहीं मिलेगा ? देख ! मैंने जालके बहुतसे फाँसोंको काट डाला है और अब एक ही फाँसा बाकी रहा है ! ॥ ११२–११३ ॥ हे लोमश ! उस डोरेको भी झट काट डालूँगा ? तू शांति रख ! इस प्रकार आपत्तिमें पड़े वे दोनों सम्वाद करते थे कि–॥ ११४ ॥ इतनेमें ही रात्रि पूरी होगई और प्रातःकाल होगया, बिलावके मन में डर होने लगा; जिसका नाम परिघ था वह चांडाल दिखाई पड़ा ! उसके नितम्ब स्थूल थे, उसका दिखाव भयंकर था, वह शरीरमें रूक्ष था, और कुत्तोंका टोला उसको चारों ओरसे घेर रहा था, उसके कान शंकुके समान थे, मुख मोटा था, शरीर मलिन और दिखाव भयंकर था यमके दूतकी समान उस बहेलियेको देखकर बिलावका हृदय भयभीत होगया ! ॥ ११५-११७ ॥ और डरते२ उस बिलावने पलित चूहेसे कहा "अब तू क्या करेगा?चूहेने बिलावको इस प्रकार डरा हुआ देख

दृष्ट्वा घोरसंकुलम् ॥११८॥ क्षणेन नकुलोलूकौ नैराश्यमुप-
जग्मतुः । बलिनौ मतिमन्तौ च संघाते चाप्युपागतौ ११९
असक्तौ तु नयात्तस्मात् संप्रधर्षयितुं बलात् । कार्य्यार्थं
कृतसन्धानौ दृष्ट्वा मार्ज्जारमूषिकौ ॥१२०॥ उलूकनकुलौ
तत्र जग्मतुः स्वं स्वमालयम् । ततश्चिच्छेद तं पाशं
मार्ज्जारस्य स मूषिकः ॥ १२१ ॥ विप्रमुक्तोथ मार्ज्जार-
स्तमेवाभ्यपतद् द्रुमम् । स तस्मात् सम्भ्रमावर्त्तान्मुक्तो
घोरेण शत्रुणा ॥१२२॥ विलं विवेश पलितः शाखां लेभे
च लोमशः॥उन्माथमप्यथादाय चांडालो वीक्ष्य सर्वशः१२३
विहताशः क्षणेनाशु तस्माद् देशादपाक्रमत् । जगाम च
स्वभवनं चाण्डालो भरतर्षभ ॥ १२४ ॥ ततस्तस्माद्भ-
यान्मुक्तो दुर्लभं प्राप्य जीवितम् । विलस्थं पादपाग्रस्थः

कर तथा बहेलियेको पास देखकर ॥ १८ ॥ (एक क्षण में नौले और उल्लू निराश होगए, बलवान् और मतिमान् वे दोनों उस मौके पर आये थे ॥ १९ ॥ वे कार्य साधनेके लिये विलाव और चूहेको संधि करते हुए देख अपने२ निवास स्थानकी ओर चले गए, क्योंकि-परस्पर कार्यसे बँधे हुए उन दोनोंमें भेद डालनेके लिये वे समर्थ नहीं थे) ॥२०-२१॥ विलावके पाशको झट काट डाला,तब लोमश जालमेंसे छूटकर उस पेड़की शाखा पर चढ़गया, पलित भी संभ्रम और घोर शत्रुके पञ्जेसे छूटते ही विलमें घुसगया,इतनेमें बहेलिया जालके पास आया और उसने जालको चारों ओरसे देखा तो उसको बिलकुल खाली पाया,तब वह निराश होकर अपने घर को चला गया ॥ २२-२४ ॥ फिर विलाव चाण्डालके महाभयमेंसे मुक्त हो दुर्लभ जीवन पा वृक्षकी डालके

पलितं लोमशोऽब्रवीत् ॥१२५॥ अकृत्वा सम्विदं कश्चित् सहसा समवप्लुतः। कृतज्ञं कृतकर्माणं कच्चिन्मां नाभिशङ्कसे ॥ १२६ ॥ गत्वा च मम विश्वासं दत्त्वा च मम जीवितम्। मित्रोपभोगसमये किं मां त्व नोपसर्पसि१२७ कृत्वा हि पूर्वं मित्राणि यः पश्चान्नानुतिष्ठति। न स मित्राणि लभते कृच्छ्रास्वापत्सु दुर्म्मतिः १२८ सत्कृतोहं त्वया मित्र सामर्थ्यादात्मनः सखे। स मां मित्रत्वमापन्नमुपभोक्तुं त्वमर्हसि ॥१२९॥ यानि मे सन्ति मित्राणि ये च सम्बन्धिबान्धवाः। सर्वे त्वां पूजयिष्यन्ति शिष्या गुरुमिव प्रियम् ॥१३०॥ अहञ्च पूजयिष्ये त्वां समित्रग-

ऊपर बैठ बिलमें सपाटा मार कर घुसे हुए चूहेसे कहने लगा, कि-॥ २५ ॥ तू मेरे साथ वार्तालाप किये विना एक दम कैसे भाग गया? और मैं कृतज्ञ हूँ और मैंने तेरी रक्षाकी है तो भी तुझको मेरे ऊपर संदेह तो नहीं होता है?॥ २६ ॥ तूने मेरा विश्वास रखकर मुझे जीवनदान दिया है, तो भी हे मित्र! जब मित्रता भोगनेका समय आया है तब तू किस लिये मेरे पास नहीं आता है?२७जो पुरुष पहिले मित्रता करता है और फिर मित्रके साथ मित्रकी रीतिसे वर्ताव नहीं करता है ऐसे दुर्बुद्धिको महादुःखदायक आपत्ति और भविष्य में अवसरों पर मित्र नहीं मिलते हैं! ॥२८॥ हे मित्र! तूने अपनी शक्तिके अनुसार मेरा सत्कार किया है; अतः मुझको तेरे जैसे सज्जन मित्रके साथ सुखका अनुभव करना उचित है! ॥ २९ ॥ मेरे जो जो मित्र, संबन्धी, और बान्धव हैं, वे सब शिष्य जैसे अपने प्रिय गुरुकी पूजा करता है, तैसे ही तेरी पूजा करेंगे! १३०

एवान्धवम् । जीवितस्य प्रदातारं कृतज्ञः को न पूजयेत् १३१
ईश्वरो मे भवानस्तु स्वशरीरगृहस्य च । अर्थानाञ्चैव सर्वेषामनुशास्ता च मे भव ॥ १३२ ॥ अमात्यो भव मे प्राज्ञः पितेवेह प्रशाधि माम् । न तेस्ति भयमस्मत्तो जीवितेनात्मनः शपे ॥ १३३ ॥ बुध्या त्वमुशनाः साक्षात् बलेनाधिकृता वयम् । त्वं मन्त्रबलयुक्तो हि दत्वा जीवितमद्य मे ॥१३४॥ एवमुक्तः परं सान्त्वं मार्ज्जारेण स मूषिकः । उवाच परमार्थज्ञः श्लक्ष्णमात्महितं वचः १३५ यद्भवानाह तत् सर्वं मया ते लोमश श्रुतम् । ममापि तावद् ब्रुवतः शृणु यत् प्रतिभाति मे ॥१३६॥ वेदितव्यानि

मैं भी तेरी तथा तेरे मित्र और बान्धवोंकी पूजा करूँगा किये हुए उपकारको जानने वाला कौन पुरुष जीवन-दान देनेवाले की पूजा नहीं करता है ॥ ३१ ॥ तू मेरा, मेरे शरीरका, और घरका मालिक है आजसे तू मेरे धनका रक्षणकर्ता बन ॥ ३२ ॥ हे बुद्धिमान् चूहे ! तू मेरा मन्त्री बन जा और पिताकी समान मुझको सदुपदेश दे, मैं अपने जीवनकी सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि-तुझे मेरा भय नहीं करना चाहिये ! ॥ ३३ ॥ तू बुद्धिमें साक्षात् शुक्राचार्यकी समान है और मैं बलवान् हूँ, तो भी तूने आज अपनी बुद्धिके बलसे मुझे जीवन-दान दिया है ॥ ३४ ॥ इसप्रकार बिलावने परमशान्तिसे चूहेसे कहा तब उत्तम मन्त्र (नीति) को जाननेवाले चूहेने अपने हितका वचन कोमलतासे इसप्रकार कहना आरम्भ किया कि-॥३५॥ " हे लोमश ! तूने जो कहा, वह सब मैंने सुना, अब मैं तुझसे अपनी इच्छाके अनुकूल जो कुछ कहता हूँ उसको तू सुन ॥ ३६ ॥ (जो

मित्राणि विज्ञेयाश्चापि शत्रवः । एतत् सुसूक्ष्मं लोकेस्मिन् दृश्यते प्राज्ञसम्मतम् ॥ १३७ ॥ शत्रुरूपा हिं सुहृदो मित्रारूपाश्च शत्रवः । सन्धितास्ते न बुध्यन्ते कामक्रोध-वशङ्गताः ॥ १३८ ॥ नास्ति जातु रिपुर्नाम मित्रं नाम न विद्यते । सामर्थ्ययोगाज्जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा १३९ यो यस्मिन् जीवति स्वार्थं पश्येत् पीडां न जीवति । स तस्य मित्रं तावत् स्यात् यावन्न स्याद्विपर्य्ययः ॥ १४० ॥ नास्ति मैत्री स्थिरा नाम न च ध्रुवमसौहृदम् । अर्थ-युक्त्यानुजायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥ १४१ ॥ मित्रश्च शत्रुतामेति कस्मिंश्चित् कालपर्य्यये । शत्रुश्च मित्रतामेति

मित्र होनेकी इच्छा हो तो) मित्रोंकी भलीप्रकार जाँच करनी चाहिये और शत्रुओंको भी भलीप्रकार जाँचना चाहिये ! यह बात संसारमें बडी सूक्ष्म है और विद्वान् भी इस बातका समर्थन करते हैं ॥३७॥ शत्रुके आकार में रहनेवाले मित्र और मित्रोंके आकारमें रहनेवाले शत्रु होते हैं उनके साथ सन्धि करनेके पीछे, वे क्यों काम और क्रोधके वशमें होजाते हैं ? यह समझमें नहीं आता ॥ ३८ ॥ इस जगत्में कोई पुरुष किसीका मित्र नहीं है तैसे ही कोई पुरुष किसीका शत्रु नहीं है, परन्तु समय पड़ने पर मित्र और शत्रु उत्पन्न होजाते हैं ३९ तब तक अमुक मनुष्य जीता रहेगा तब तक मेरा हित करता रहेगा, परन्तु वह अमुक मनुष्यके मरणके पीछे मेरा हित नहीं करेगा, ऐसा जब तक माननेमें आता है, जब तक वह उसको मित्रकी रीति पर मानता है, और जब स्वार्थमें विरोध पड़ता है, तब वह उस ही मित्रको शत्रु मानता है॥४०॥किसीकी मित्रता स्थिर नहीं रहती

स्वार्थो हि बलवत्तरः ॥ १४२ ॥ यो विश्वसिति मित्रेषु न चाश्वसिति शत्रुषु। अर्थयुक्तिमविज्ञाय यः प्रीतौ कुरुते मनः ॥ १४३ ॥ मित्रे वा यदि वा शत्रौ तस्यापि चलिता मतिः । न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् । विश्वासाद्भयमुत्पन्नमपि मूलानि कृन्तति ॥ १४४ ॥ अर्थयुक्त्या हि जायन्ते पिता माता सुतस्तथा । मातुला भागिनेयाश्च तथा सम्बन्धिबान्धवाः ॥ १४५ ॥ पुत्रं हि मातापितरौ त्यजतः पतितं प्रियम्।लोको रक्षति चात्मानं

है, तथा वैर भी सर्वदा बना नहीं रहता है, परन्तु कार्य के कारणसे मित्रता और शत्रुता होजाती है ॥ ४१ ॥ कभी २ समय बदल जाने पर मित्र शत्रु हो जाता है और किसी समय शत्रु मित्र बनजाता है. इस प्रकार स्वार्थ महाबलवान् है ॥ ४२ ॥ जो पुरुष कार्यकी युक्तिको जाने बिना मित्रोंके ऊपर अंध विश्वास रखता है और शत्रुओंके ऊपर नीतिशास्त्रका विचार किये बिना अविश्वास ही रखता है उसका जीवन संकटमें ही पडा रहता है ॥ ४३ ॥ तैसे ही जो कार्यकी युक्तिको जाने बिना शत्रु अथवा मित्रके साथ प्रीति करता है उसकी बुद्धिको चलायमान जानना चाहिये, अविश्वासीका विश्वास नहीं करना चाहिये, तैसे ही विश्वासीका भी अतिविश्वास नहीं करना चाहिये, अन्धविश्वास करनेसे ऐसा भय उत्पन्न होता है कि-वह वृक्षको जडसहित काट डालता है ॥ ४४ ॥ माता, पिता, पुत्र, मामा, भानजे, संबन्धी, और बांधव ये सब स्वार्थ और अर्थको लेकर एक दूसरेके अधीन रहते हैं ॥ ४५ ॥ प्रिय पुत्र यदि पतित होजाता है तो

पश्य स्वार्थस्य सारताम् ॥ १४६ ॥ सामान्या निष्कृतिः प्राज्ञ यो मोक्षात् प्रत्यनन्तरम् । कृतं मृगयते शत्रुं सुखोपायमसंशयम् ॥१४७॥ अस्मिन्निलय एव त्वं न्यग्रोधादवतारितः ॥ १४८ ॥ पूर्वं निविष्टमुन्माथं चपलत्वान्न बुद्धवान्।आत्मनश्चपलो नास्ति कुतोन्येषां भविष्यति १४६ तस्मात् सर्वाणि कार्य्याणि चपलो हन्त्यसंशयम् । ब्रवीषि मधुरं यच्च प्रियो मेद्य भवानिति ॥ १५० ॥ तन्मित्रकारणं सर्वं विस्तरेणापि मे शृणु । कारणात् प्रियतामेति द्वेष्यो भवति कारणात् ॥ १५१ ॥ अर्थार्थी जीवलोकोयं

माता पिता उसको त्याग देते हैं और मनुष्य (प्रिय वस्तुके भोगसे) अपने देहकी रक्षा करनेको तत्पर रहता है, इस स्वार्थकी ओर तू दृष्टि दे ॥ ४६ ॥ हे बुद्धिमान् ! तू कष्टमेंसे छूटनेके पीछे अपने शत्रुके सुखका उपाय ढूँढे यह संभव ही नहीं है, ॥ ४७ ॥ तू बड़के वृक्ष परसे मेरे ही स्थान पर उतरा था ॥ ४८ ॥ परन्तु स्वभावतः चपल होनेसे तेरी दृष्टिमें, बहेलियेका पहिलेसे बिछाया हुआ जाल नहीं पड़ा था (और तू फँस गया) जो प्राणी चपल होता है,उसे अपनी भी रक्षाका भान नहीं होता, दूसरोंकी रक्षा तो वह कर ही कैसे सकता है?॥ ४६ ॥ चपल मनुष्य अपने सब कार्योंका नाश कर डालता है,इसमें कुछ संदेह भी नहीं है,आज तू जो मुझ से मधुर शब्दोंमें कहरहा है कि–" तू मुझे प्रिय लगता है" (इसको मैं सत्य नहीं मानता) ॥ १५० ॥ इसके विरोधमें हे मित्र ! मेरे कहेहुए कारणोंको सुन, एक पुरुष कारणके कारण प्रीतिपात्र होजाता है और कारण के कारण द्वेषपात्र भी होजाता है ॥ ५१ ॥ यह संपूर्ण

न कश्चित् कस्यचित् प्रियः । सख्यं सोदर्य्ययोर्भ्रात्रोर्दम्पत्योर्वा परस्परम् ॥ १५२ ॥ कस्यचिन्नाभिजानामि प्रीतिं निष्कारणामिह । यद्यपि भ्रातरः क्रुद्धा भार्य्या वा कारणान्तरे ॥१५३॥ स्वभावतस्ते प्रीयन्ते नेतरः प्रीयते जनः। प्रियो भवति दानेन प्रियवादेन चापरः ॥ १५४ ॥ मन्त्रहोमजपैरन्यः कार्य्यार्थं प्रीयते जनः । उत्पन्ना कारणे प्रीतिरासीन्नौ कारणान्तरे ॥ १५५ ॥ प्रशस्ते कारणस्थाने सा प्रीतिर्विनिवर्त्तते । किन्तु तत् कारणं मन्ये येनाहं भवतः प्रियः ॥ १५६ ॥ अन्यत्राभ्यवहारार्थं तत्रापि च

जगत् (एक प्रकार से अथवा दूसरे प्रकार से) स्वार्थके ही वशमें है, कोई भी मनुष्य किसीको (विना कारण के) प्रिय लगता ही नहीं है, दो सगे भाइयोंमें और पतिपत्नीमें भी जो प्रेम होता है, वह स्वार्थके कारण ही होता है ॥ ५२ ॥ इस जगत्में किसीकी प्रीतिको भी मैं स्वार्थहीन नहीं देखता, किसी समय भाई २ अथवा स्त्रीपुरुष परस्पर लड़ते हैं और फिर स्वाभाविक स्नेहके कारण फिर हिल मिल जाते हैं परन्तु एक भिन्न (गैर) मनुष्य क्रोध करनेके पीछे फिर प्रसन्न नहीं होता है, एक पुरुष दान मिलनेसे, देनेवालेके साथ प्रीति करता है, दूसरा प्रीतिमय वचन सुनानेसे प्रीति करता है५३।५४ तीसरा मनुष्य दूसरे मनुष्यकी धर्मनीतिसे उसके ऊपर प्रेम करता है, इसप्रकार पृथक् २ कारणोंके कारण लोग प्रीति करते हैं, मुझमें और तुझमें जो प्रीति हुई थी,वह भी कारणको लेकर ही हुई थी ॥५५॥ परन्तु वह कारण तो नष्ट होगया है और उसके साथ ही वह प्रीति भी नष्ट होगई है मुझे तेरा शिकार होनेके सिवाय दूसरा

बुधा वयम् । कालो हेतुं विकुरुते स्वार्थस्तमनुवर्त्तते १५७ स्वार्थं प्राज्ञो विजानाति प्राज्ञं लोकोनुवर्त्तते । न त्वीदृशं त्वया वाच्यं विदुषि स्वार्थपण्डिते ॥ १५८ ॥ अकाले हि समर्थस्य स्नेहहेतुरयं तव । तस्मान्नाहञ्चले स्वार्थात् सुस्थिरः सन्धिविग्रहे ॥ १५९ ॥ अभ्राणामिव रूपाणि विकुर्वन्ति क्षणे क्षणे । अद्यैव हि रिपुर्भूत्वा पुनरद्यैव मे सुहृत् ॥१६०॥ पुनश्च रिपुरद्यैव युक्तीनां पश्य चापलम् । आसीन्मैत्री तु तावन्नौ यावद्धेतुरभूत् पुरा ॥१६१॥ सा

ऐसा कौनसा कारण है, जिस कारणसे मैं तुझे प्यारा लगता हूँ ? तू यह न समझना कि-मैं उसको भूलगया हूँ ? काल बुद्धिमें फेरफार करता है और स्वार्थ उसके पीछे चलता है ॥ १५६-१५७ ॥ बुद्धिमान् मनुष्य स्वार्थ को समझता है और लोग बुद्धिमान् मनुष्यका अनु-करण करते हैं, तू स्वार्थको जाननेवाले विद्वानोंके आगे ऐसी बातें न किया कर! ॥ १५८ ॥ तू बलवान् है तू मेरे साथ स्नेह करनेकी बातें करता है, परन्तु उसके लिये यह समय नहीं है, मैं सन्धि तथा विग्रह करनेमें बहुत ही दृढ़ (होशियार) हूँ अतः मैं अपने स्वार्थमेंसे हटूँगा नहीं ॥ १५९ ॥ कैसे अवसरोंमें सन्धि करना और कैसे अवसरों पर युद्ध करने को झट तयार हो जाना चाहिये; यह जैसे मेघ क्षण२ में बदलते हैं तैसे ही बदला करते हैं आज तू मेरा शत्रु हो गया था और आज ही तू मेरा मित्र बन गया था ॥ १६० ॥ और आज ही तू मेरा शत्रु बन गया है अरे ! तू अपने स्वार्थकी चपलताकी ओर दृष्टि तो डाल ! पहिले हम दोनोंके बीच जहाँ तक स्वार्थ था तहाँ तक मित्रता थी१६१

गता सह तेनैव कालयुक्तेन हेतुना। त्वं हि मे जातितः शत्रुः सामर्थ्यान्मित्रतां गतः ॥१६२॥ तत् कृत्यमभिनिर्वर्त्य प्रकृतिः शत्रुतां गता। सोऽहमेवं प्रणीतानि ज्ञात्वा शास्त्राणि तत्त्वतः ॥ १६३ ॥ प्रविशेयं कथं पाशं त्वत्कृतं तद्वदस्व मे। त्वद्वीर्येण प्रमुक्तोऽहं मद्वीर्येण तथा भवान् १६४ अन्योन्यानुग्रहे वृत्ते नास्ति भूयः समागमः। त्वं हि सौम्य कृतार्थोऽद्य निवृत्तार्थास्तथा वयम् ॥ १६५ ॥ न तेऽस्त्यद्य मया कृत्यं किञ्चिदन्यत्र भक्षणात्। अहमन्नं भवान् भोक्ता दुर्बलोऽहं भवान् बली ॥ १६६ ॥ नावयोर्विद्यते सन्धिर्वियुक्ते विषमे बले। स मन्येऽहं तव प्रज्ञां यन्मोक्षात्

परन्तु वह मित्रताका समय समाप्त हुआ कि–उसके साथ ही वह मित्रता नष्ट होगई तू तो मेरा जन्मसे ही शत्रु है, परन्तु मेरी शक्तिके कारण मेरा मित्र बन गया था१६२ और मित्रताका कार्य पूरा करके हमारी प्रकृति फिर शत्रुताको प्राप्त होगई है ! मैं इस प्रकार नीतिशास्त्रको यथार्थरीतिसे जानता हूँ, तो वहाँ जो जाल मेरे लिये बिछाया गया है उसमें मैं तेरे लिये कैसे फँस जाऊँ ? मैं तेरे पराक्रमसे आपत्तिमेंसे छूट गया हूँ और इसी प्रकार तू भी मेरे पराक्रमसे छूटा है ॥ १६३–१६४ ॥ इस प्रकार एक दूसरेका अनुग्रह पूरा हो गया, अतः आगेको हम दोनोंमें मित्रता न होगी, हे शान्तगुणी विलाव ! आज तू कृतार्थ हुआ और मेरा कार्य भी सिद्ध हुआ१६५अब मुझको खानेके सिवाय दूसरा कोई भी कार्य तुझको मेरे साथ नहीं है, मैं तेरा अन्न हूँ और तू मेरा भोक्ता है, मैं बलरहित हूँ और तू बलवान् है ॥१६६॥ इस प्रकार पृथक् हुए दोनोंका बल समान न होने से, हम दोनों

प्रत्यनन्तरम् ॥ १६७ ॥ भक्ष्यं प्रशंससे नूनं सुखोपायेन कर्म्मणा। भक्ष्यार्थं ह्यवबद्धस्त्वं समुक्तः पीडितः क्षुधा१६८ शास्त्रजां मतिमास्थाय नूनं भक्षयिताद्य माम् । जानामि क्षुधितन्तु त्वामाहारसमयश्च ते ॥१६९॥ स त्वं मामभि-सन्धाय भक्ष्यं मृगयसे पुनः । त्वञ्चापि पुत्रदारस्थो यत् सन्धिं सृजसे मयि ॥ १७० ॥ शुश्रूषां यतसे कर्त्तुं सखे मम न तत् क्षमम् । त्वया मां सहितं दृष्ट्वा प्रिया भार्य्या सुताश्च ते ॥१७१॥ कस्मात्ते मां न खादेयुर्हृष्टाः प्रणयि-नस्त्वयि । नाहं त्वया समेष्यामि वृत्तो हेतुः समागमे१७२

में सन्धि होना उचित नहीं है, मैं तेरी बुद्धिकी प्रशंसा करता हूँ, क्योंकि-आपत्तिमेंसे छूटनेके पीछे तू भक्ष्य (खुराक) पानेके लिये भक्ष्यकी प्रशंसा करता है तू भक्ष्यकी खोजमें जाने पर कैद होगया था और उसमेंसे छूटने पर अब तुझै क्षुधा पीड़ा देरही है १६७-१६८ नीतिशास्त्रकी बुद्धिका आश्रय लेकर (तू मेरी प्रशंसा करता है कि-मैं बाहर निकलूँ तो तू) आज मुझको झट-पट खाही जाय ! मैं जानता हूँ कि-तू भूँखा हो गया है, और मैं जानता हूँ, कि-यह तेरा भोजन करनेका समय है१६९मैं जानता हूँ,कि-तू मुझै फुसलाकर अपने भक्ष्यको पाना चाहता है, इससे ही तू पुत्र और स्त्री सहित मुझ से सन्धि करना चाहता है और मेरी सेवा करनेकी इच्छा प्रदर्शित कर रहा है,परन्तु हे मित्र ! मैं तेरी याचना के अनुसार तयार नहीं हूँ (कदाचित् तू मुझै न खाय) परन्तु मुझको तेरे साथ बैठा हुआ देख कर तेरी प्यारी स्त्री तथा पुत्र-कि-जो तुझसे प्रेम करते हैं, वे प्रसन्नता के साथ मेरा भोग क्यों न लगावेंगे ? इस कारणसे भी

शिवं ध्यायस्व मे स्वस्थः सुकृतं स्मरसे यदि। शत्रोरनार्य्य-भूतस्य क्लिष्टस्य क्षुधितस्य च ॥१७३॥ भक्ष्यं मृगयमाणस्य कः प्राज्ञो विषयं व्रजेत्। स्वस्ति तेस्तु गमिष्यामि दूरादपि तवोद्विजे ॥ १७४ ॥ विश्वस्तं वा प्रमत्तं वा एतदेव कृतं भवेत्। बलवत्सन्निकर्षो हि न कदाचित् प्रशस्यते १७५ नाहं त्वया समेष्यामि निर्वृत्तो भव लोमश। यदि त्वं सुकृतं वेत्सि तत् सख्यमनुसारय ॥१७६॥ प्रशान्तादपि मे पापात् भेतव्यं बलिनः सदा। यदि स्वार्थं न ते कार्य्यं

मैं तेरे साथ मित्रता नहीं करूँगा, हम दोनोंमें मित्रता होनेका जो कारण था, वह नष्ट होगया है १७०-१७२ यदि तुझे मेरे किये हुए उपकारका स्मरण आता हो तो तू मेरा कल्याण चाह और शान्तिसे बैठ; जो शत्रु हो, अनार्य हो, दुःखी हो, भूँखा हो, और अपने शिकारको खोज रहा हो उसके पास जिसमें जरा भी बुद्धि होगी वह कैसे जावेगा? तेरा कल्याण हो, अब मैं यहाँसे चला जाऊँगा तुझसे दूर रहने पर भी मैं भय खाता हूँ७४ विश्वासी तथा प्रमत्त पुरुषके प्रति इतना ही कर्त्तव्य है कमजोरको बलवान्के पास रहना यह कभी भी प्रशंसा के योग्य नहीं होसकता १७५ हे लोमश! मैं तेरे साथ मिलकर नहीं रहूँगा, तू पीछेको लौट जा, यदि तू समझता हो कि-मैंने तेरे साथ उपकार किया है तो तुझे मेरे साथ जब मैं निर्भयतासे अथवा गुप्तरीतिसे घूमता होऊँ तब तुझे उत्तम प्रकारकी मित्रता दिखानी चाहिये (अर्थात् मेरी ओर देखना भी नहीं चाहिये) यह ही मेरे उपकारका प्रत्युपकार है ॥ १७६ ॥ बलवानको शक्तिमानके पडौसमें रहनेसे कभी भी

ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ १७७ ॥ कामं सर्वं प्रदास्यामि न त्वात्मानं कदाचन । आत्मार्थे सन्ततिस्त्याज्या राज्यं रत्नं धनानि च ॥१७८॥ अपि सर्वस्वमुत्सृज्य रक्षेदात्मानमात्मना । ऐश्वर्य्यधनरत्नानां प्रत्यमित्रे निवर्त्तताम् १७९ दृष्टा हि पुनरावृत्तिर्जीवतामिति नः श्रुतम् । न त्वात्मनः सम्प्रदानं धनरत्नवदिष्यते ॥ १८० ॥ आत्मा हि सर्वदा रक्ष्यो दारैरपि धनैरपि । आत्मरक्षणतन्त्राणां सुपरीक्षितकारिणाम् ॥ १८१ ॥ आपदो नोपपद्यन्ते पुरुषाणां स्वदोषजाः । शत्रुं सम्यग्विजानन्ति दुर्बला ये बलीय-

प्रशंसा नहीं होती है, भयके कारण शान्त पड़गए हों तो भी मैं समर्थ शत्रुसे सदा डरता हूँ ? यदि तू अपना स्वार्थ न शोधता हो तो (अर्थात् जो तू प्रेममय वचन बोल रहा है, वे यदि सच्चे हों तो) बता मैं तेरा क्या कार्य करूँ ? ॥ ७७ ॥ तेरी इच्छानुसार मैं सब वस्तु तुझे दूँगा, परन्तु अपनी आत्मा तुझे नहीं दूँगा आत्मा की रक्षा करनेके लिये सब मनुष्योंका, सन्ततिका, राज्य का, रत्नोंका, और धनका भी त्याग किया जासकता है ॥७८॥ अधिक क्या सर्वस्वका भी भोग देकर आत्मा की रक्षा करनी चाहिये, आपत्ति आपड़े तो ऐश्वर्य, धन और रत्न सौंप दे, क्योंकि-जीवित रहनेवालेको ये सब पीछेसे मिल सकते हैं, ऐसा हमारे सुननेमें आया है, परन्तु धन और रत्नोंकी समान आत्माका प्रदान कहीं सुननेमें नहीं आया है ॥ ७९ ॥ ८० ॥ स्त्री तथा धनोंको देकर भी आत्माकी रक्षा करनी चाहिये, जो मनुष्य आत्मरक्षामें परायण रहता है और भली प्रकार विचारनेके पीछे कार्य करता है, उस पुरुषको उस

सम् ॥१८२॥ न तेषां चाल्यते बुद्धिः शास्त्रार्थकृतनिश्चया ।
इत्यभिव्यक्तमेवं स पलितेनाभिभर्त्सितः ॥ १८३ ॥
मार्जारो व्रीडितो भूत्वा मूषिकं वाक्यमब्रवीत् ॥१८४॥
लोमश उवाच । सत्यं शपे त्वयाहं वै मित्रद्रोहो विगर्हितः ।
तन्मन्ये तव प्रज्ञां यस्त्वं मम हिते रतः ॥१८५॥ उक्त-
वानर्थतत्त्वेन मया सम्भिन्नदर्शनः । न तु मामन्यथा
साधो त्वं ग्रहीतुमिहार्हसि ॥१८६॥ प्राणप्रदानजं त्वत्तो
मयि सौहृदमागतम् । धर्मज्ञोस्मि गुणज्ञोस्मि कृतज्ञोस्मि
विशेषतः ॥ १८७ ॥ मित्रेषु वत्सलश्चास्मि त्वद्भक्तश्च
विशेषतः । तस्मादेवं पुनः साधो मया चरितुमर्हसि १८८

की निजी भूलोंसे उत्पन्न हुई आपत्तियें सामने आकर नहीं पडती हैं और जो दुर्बल पुरुष अपने बली शत्रुको भलीप्रकार जानता है,उसकी सत्यका निर्णय करनेवाली शास्त्रबुद्धि कभीभी चलायमान नहीं होती है" इस प्रकार पलित चूहेने बिलावको साफ तौरसे फटकार दिया ॥ ८१-८३ ॥ तब बिलाव लज्जित होगया और चूहेसे कहने लगा ॥८४॥ लोमश बोला कि-मैं वास्तवमें तेरी शपथ खाकर कहता हूँ, कि-मित्रसे द्रोह करना निन्दित माना जाता है, मैं जानता हूँ, कि-तू मेरे हित में परायण है तथा बुद्धिमान् है ॥ ८५ ॥ परन्तु अब मेरे तेरे बीचका विश्वास जाता रहा है, ऐसा तूने अर्थ-शास्त्रका अनुसरण करके कहा है, परन्तु हे सत्पुरुष ! मैं दूसरे ही प्रकारका हूँ मुझे वैसा समझना तुझे उचित नहीं है ॥ ८६ ॥ तूने मुझको प्राणदान देकर मेरे साथ स्नेह बाँधा है और मैं धर्मवेत्ता तथा कृतज्ञ हूँ ! ८७ और मैं मित्रों पर वत्सलता रखनेवाला हूँ, विशेषतः

त्वया हि वाच्यमानोहं जह्यां प्राणान् सबान्धवः ।
विश्रम्भो हि बुधैर्दृष्टो मद्विधेषु मनस्विषु ॥ १८९ ॥
यदेतद्धर्मतत्त्वज्ञ न त्वं शङ्कितुमर्हसि । इति संस्तूयमानोपि
मार्ज्जारेण स मूषिकः ॥ १९० ॥ मनसा भावगम्भीरो
मार्ज्जारं वाक्यमब्रवीत् । साधुर्भवान् श्रुतार्थोस्मि प्रीये
च न च विश्वसे ॥ १९१ ॥ संस्तवैर्वा धनौघैर्वा नाहं
शक्यः पुनस्त्वया । न ह्यमित्रे वशं यान्ति प्राज्ञा निष्कारणं
सखे ॥ १९२ ॥ अस्मिन्नर्थे च गाथे द्वे निबोधोशनसा
कृते । शत्रुसाधारणे कृत्ये कृत्वा सन्धिं बलीयसा ।१९३।

तेरा भक्त हूँ, अतः हे सत्पुरुष ! तुझे मेरे साथ फिर मित्रता करना ही उचित है ! ॥ ८८ ॥ तू आज्ञा दे तो मैं अपने बान्धवोंसहित प्राण देनेको भी तयार हूँ हम जैसे मनुस्वियोंका चतुर विद्वान् भी विश्वास करते हैं ॥८९॥ अतः हे धर्मके तत्त्वको जाननेवाले चूहे ! तुझे मेरे ऊपर शङ्का करना उचित नहीं है ! इसप्रकार विलावने चूहेकी स्तुति की ॥९०॥ तब गम्भीर स्वभाव वाले चूहेने क्षणभर थम कर विलावसे कहा कि-तू श्रेष्ठ है, तेरी बात मैंने प्रसन्नतासे सुनी अब मैं प्रसन्न हुआ हूँ, परन्तु मैं तेरा विश्वास नहीं करूँगा ! ९१ स्तुति करनेसे अथवा धनके ढेर देनेसे भी तू मुझे अपने ऊपर विश्वास रखनेवाला न बना सकेगा ! हे मित्र ! सुन ! जो बुद्धिमान् हैं वे निष्कारण ही शत्रुके ऊपर विश्वास नहीं करते हैं ॥ ९२ ॥ इस विषयमें शुक्राचार्य ने दो गाथाएँ गाई हैं, उनको तू सुन ! दो शत्रु एकसी विपत्तिमें आपड़े हों तो निर्बलको बलीके साथ सन्धि करके ॥९३॥ युक्ति पूर्वक सावधान रहकर वर्ताव करना

समाहितश्चरेद्युक्त्या कृतार्थश्च न विश्वसेत् । न विश्व-सेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ॥ १६४ ॥ नित्यं विश्वासयेदन्यान् परेषान्तु न विश्वसेत् । तस्मात् सर्वा-स्ववस्थासु रक्षेज्जीवितमात्मनः ॥ १६५ ॥ द्रव्याणि सन्ततिश्चैव सर्वं भवति जीवतः । संक्षेपो नीतिशास्त्रा-णामविश्वासः परो मतः ॥१६६॥ तेषु तस्मादविश्वासः पुष्कलं हितमात्मनः।वध्यन्ते न ह्यविश्वस्ताः शत्रुभिर्दुर्बला अपि॥१६७॥ विश्वस्तास्तेषु वध्यन्ते बलवन्तोपि दुर्बलैः । त्वद्विधेभ्यो मया ह्यात्मा रक्ष्यो मार्ज्जार सर्वदा ।१६८।

चाहिये और अपना काम निकालनेके पीछे निर्बलको बली का विश्वास नहीं करना चाहिये अविश्वासीका विश्वास नहीं करना तैसे ही विश्वासीका भी अति अन्ध विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ ६४ ॥ नित्य दूसरोंको विश्वासी बनाना चाहिये, परन्तु अपने आप शत्रुओंका कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिये और सब दशाओंमें अपने जीवनकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ६५ ॥ जीते रहनेवाले पुरुषको धन और सन्तति मिलजाती है, नीतिशास्त्रका सारभूत और परमसिद्धान्त यह है कि-" किसीका भी विश्वास न करना चाहिये" ॥ ६६ ॥ इस लिये मनुष्यों को इस " अविश्वास "में अपना बडाभारी हित सम-झना चाहिये ! दुर्बल मनुष्य भी यदि किसीका विश्वास न करे तो शत्रु उसका नाश नहीं करसकते, और जो बली होने पर भी शत्रुओंका विश्वास करता है, उसको दुर्बल शत्रु भी मारडालते हैं ! हे विलाव ! मुझे भी तुझ जैसोंसे अपनी आत्माकी सदा रक्षा करनी चाहिये ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ तैसे ही जातिके पापी चहेलिये

रक्ष त्वमपि चात्मानं चाण्डालाज्जातिकिल्बिषात् । स तस्य ब्रुवतस्त्वेवं सन्त्रासाज्जातसाध्वसः ॥१९९॥ शाखां हित्वा जवेनाशु मार्ज्जारः प्रययौ ततः । ततः शास्त्रार्थतत्त्वज्ञो बुद्धिसामर्थ्यमात्मनः ॥२००॥ विश्राव्य पलितः प्राज्ञो बिलमन्यज्जगाम ह। एवं प्रज्ञावता बुद्ध्या दुर्बलेन महाबलाः२०१ एकेन बहवोऽमित्राः पलितेनाभिसन्धिताः अरिणापि समर्थेन सन्धिं कुर्वीत पण्डितः २०२ मूषिकश्च विडालश्च मुक्तावन्योन्यसंश्रयात् इत्येष क्षत्रधर्मस्य मया मार्गोऽनुदर्शितः ॥ २०३ ॥ विस्तरेण महाराज संक्षेपमपि मे शृणु । अन्योन्यकृतवैरौ तु चक्रतुः प्रीतिमुत्तमाम्२०४

तुझे भी अपनी रक्षा करनी चाहिये, इस प्रकार चूहा बातें कर रहा था और जब बहेलियेका नाम सुना कि- विलाव सहमगया और डरके कारण उस वृक्षकी डाल परसे कुलाँच मार कर तुरन्त ही वेगसे भाग गया और नीतिशास्त्रके तत्त्वको जानने वाला विद्वान् पलित चूहा अपनी बुद्धिकी सामर्थ्य सुनाकर दूसरे बिलमें चला गया भीष्मने कहा कि-इस प्रकार पलित चूहा दुर्बल और अकेला था, तो भी वह बुद्धिमान् था,अतः उसने बुद्धि से बहुतसे महाबली शत्रुओंको छकाया । जो बुद्धिमान् और चतुर हैं उनको आपत्तिमें समर्थ शत्रुओंसे मेल करना चाहिये ॥ १९९-२०२ ॥ जैसे कि-चूहे और विलाव एक दूसरेका आश्रय लेकर आपत्तिमेंसे मुक्त हुए थे,हे महाराज ! इस प्रकार मैंने नीतिमार्गका वर्णन करते करते बीचमें तुझको क्षत्रियका धर्म विस्तारपूर्वक कह सुनाया है, अब मैं संक्षेपमें कहता हूँ उसको भी तू सुन, एक दूसरेके वैरी दो व्यक्ति (समय पड़ने पर)

अन्योन्यमभिसन्धातुं संबभूव तयोर्मतिः। तत्र प्राज्ञोभि-सन्धत्ते सम्यग्बुद्धिबलाश्रयात् ॥२०५॥ अभिसन्धीयते प्राज्ञः प्रमादादपि वा बुधैः। तस्मादभीतवद्भीतो विश्व-स्तवदविश्वसन् ॥२०६॥ नह्यप्रमत्तश्चलति चलितो वा विनश्यति। कालेन रिपुणा सन्धिः काले मित्रेण विग्रहः २०७ कार्य्य इत्येव सन्धिज्ञाः प्राहुर्नित्यं नराधिप। एतज्ज्ञात्वा महाराज शास्त्रार्थमभिगम्य च ॥ २०८॥ अभियुक्तः

परस्परमें सन्धि कर लेते हैं, यह ठीक है ॥ ३-४ ॥ परन्तु यह तो निःसंशय है कि-उनके मनमें एक दूसरेको छलनेकी इच्छा रहती है, ऐसे समयमें जो बुद्धिमान् होता है, वह बुद्धिका आश्रय करके दूसरे मनुष्यको छल लेता है ॥ ५ ॥ और मूर्ख मनुष्यको चतुर मनुष्य उसके प्रमादका अवसर पाकर उसको ठग लेते हैं, जब पुरुष भय भीत हुआ हो तब भी उसको भयहीनकीसी चेष्टा कर-नी चाहिये और विश्वास न करने पर भी विश्वासीकी सी चेष्टा करनी चाहिये ॥ ६ ॥ इस प्रकार सावधान रहने वाला पुरुष कभीभी आपत्तिमें नहीं फँसता है और कभी पड़ भी जाता है तो भी नाशको तो पाताही नहीं है, समय देख कर शत्रुके साथ सन्धि करलेना चाहिये और समय(अनुकूल) देख कर मित्रके साथ भी भिड़ बैठना चाहिये ॥ ७ ॥ हे राजन् ! सन्धिको जानने वाले पुरुष सर्वदा इसी प्रकारका उपदेश देते हैं, हे महाराज ! यह सब जान कर तथा नीतिशास्त्रके तत्त्व को ध्यानमें रख कर राजाको सावधान रहना चाहिये तथा सब इन्द्रियोंको सावधान रखना चाहिये और भय आया न हो उससे पहिले ही भयभीतको समान वर्ताव

प्रसन्नश्च प्राग्भयाद्भीनवच्चरेत् । भीनवत् सन्निधिः कार्यः प्रतिसन्धिस्तथैव च ॥ २०९ ॥ भयादुत्पद्यते बुद्धिरप्रमत्ताभियोगतः । न भयं विद्यते राजन् भीतस्यानागते भये ॥ २१० ॥ अभीतस्य च विश्रम्भात् सुमहज्जायते भयम् । अभीश्चरति यो नित्यं मन्त्रो देयः कथञ्चन ।२११। अविज्ञानादविज्ञातो गच्छेदास्पददर्शिषु । तस्मादभीतवद्भीतो विश्वस्तवदविश्वसन् ॥ २१२ कार्य्याणां गुरुतां प्राप्य नानृतं किञ्चिदाचरेत् । एवमेतन्मया प्रोक्त-

करना चाहिये, और चतुर राजाको वास्तव में भय आने से पहिलेही भयभीतकी समान शत्रुके पास जा उससे सन्धि कर लेनी चाहिये ॥८-९॥ हे राजन्! भय रखने से तथा सावधान रहनेसे कैसे कार्य करे, इस बातका विचार सूझता है, जो मनुष्य भय आनेसे पहिले ही भय रखता है उसके ऊपर जब भयका अवसर पड़ता है तब उसको भय नहीं होता है ॥ २१० ॥ परन्तु जो पुरुष भयरहित रहता है उसके ऊपर जब बड़ाभारी भय आपड़ता है, उस समय जो पुरुष निर्भय होकर फिरा करता है वह भी बहुत घबड़ा जाता है, उसको कोई मार्ग नहीं सूझता है ॥ ११ ॥ कभी भी किसी को ऐसी सम्मति न देय कि-'भयकी क्या परवाह करनी, अपनी निर्बलताको जाननेवाले पुरुषके ऊपर भय आकर पड़े तब बड़े मनुष्योंके पास जाकर सम्मति लेय तथा स्वयं भयभीत होय तोभी निर्भय पुरुषकी समान बर्त्ताव करे और अपने प्रतिपक्षीका विश्वास न करे, परन्तु बड़ेभारी विश्वास करनेवालेकी समान बर्त्ताव करे (और अपना भाव जानने न देय) ॥ १२ ॥ बड़ेभारी काम करनेका

मितिहासं युधिष्ठिर ॥ १३ ॥ श्रुत्वा त्वं सुहृदां मध्ये यथावत् समुपाचर । उपलभ्य मतिश्चाग्र्या-मरिमित्रान्तरन्तथा ॥ २१४ ॥ सन्धिविग्रहकाले च मोक्षोपायस्तथैव च । शत्रुसाधारणे कृत्ये कृत्वा सन्धिं बलीयसा ॥ २१५ ॥ समागमे चरेद्युक्त्या कृतार्थो न च विश्वसेत् । अविरुद्धां त्रिवर्गेण नीतिमेतां महीपते २१६ अभ्युत्तिष्ठ श्रुतादस्माद्भूयः संरक्षयन् प्रजाः । ब्राह्मणैश्चापि ते सार्द्धं यात्रा भवतु पाण्डव ॥ २१७ ॥ ब्राह्मणा वै परं

अवसर आपड़े तो मिथ्या आचरण न करे, हे युधिष्ठिर! इसलिये ही मैंने तुझे ऊपरका इतिहास कहकर सुनाया है ॥१३॥ हे युधिष्ठिर ! इस पर विचार करके तू अपने स्नेही और मित्रोंसे वर्त्ताव करना, इस दृष्टान्तका सार समझ कर उत्तम बुद्धि प्राप्त करना, और शत्रु तथा मित्रोंके अन्तरको जाने रहना ॥ १४ ॥ और सन्धि तथा विग्रहका समय समझ कर सङ्कटके समय उसमेंसे छूटनेका उपाय करना, साधारण भयके समय बलवान् शत्रुके साथ सन्धि करके उसके समागममें रहताहुआ उसके साथ विचारपूर्वक वर्त्ताव करना और कार्य सिद्ध होजाने पर उसका विश्वास न करना, हे राजन् ! यह राजनीति त्रिवर्ग-धर्म, अर्थ और कामके अनुसार है ॥ १५-१६ ॥ हे पाण्डुनन्दन ! तू इस नीति-शास्त्रके अनुसार वर्त्ताव करके अभ्युदय प्राप्त कर और अपनी प्रजाका अच्छे प्रकारसे पालन कर, ब्राह्मणोंके साथ सदा मित्रभाव बनाये रखना, उनकी सलाह लेकर वर्त्ताव करना ॥१७॥ हे भरतवंशी राजन् ! इस लोकमें तथा परलोकमें ब्राह्मण ही परमकल्याणकारी गिने जाते

श्रेयो दिवि नेह च भारत। एते धर्म्मस्य वेत्तारः कृतज्ञा सततं प्रभो॥२१८॥ पूजिताः शुभकर्त्तारः पूजयेस्तान्नराधिपः। राज्यं श्रेयः परं राजन् यशः कीर्त्तिश्च लप्स्यसे२१९ कुलस्य सन्ततिश्चैव यथान्यायं यथाक्रमम्॥ २२०॥ द्वयोरिमं भारत सन्धिविग्रहं सुभाषितं बुद्धिविशेषकारकम्। यथा त्ववेक्ष्य क्षितिपेन सर्वदा निषेवितव्यं नृप शत्रुमण्डलम्॥ २२१॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि मार्ज्जार मूषिकसंवादे अष्टत्रिंशदधिकशततमोध्यायः॥१३८॥

युधिष्ठिर उवाच। उक्तो मन्त्रो महाबाहो विश्वासो नास्ति शत्रुषु। कथं हि राजा वर्त्तेत यदि सर्वत्र नाश्वसेत् १

हैं, वे सदा धर्मको तथा किये हुए उपकारको जानते हैं१८ हे राजन्! उनका पूजन करनेसे वे शुभ करते हैं, इस लिये तुम उनको नित्य पूजा करना, ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे तुझे राज्य मिलेगा, तेरा परम कल्याण होगा, यश मिलेगा, कीर्त्ति मिलेगी, और न्याय तथा क्रमके अनुसार तेरे कुलकी वृद्धि होगी॥१९-२०॥ हे भरतवंशी राजन्! विलाव और चूहेको सन्धि तथा विग्रहके विचार वाले तथा बुद्धिको बढ़ानेवाले इस सुभाषितको राजा ठीक २ सदा जाने रहे और शत्रुओंके मण्डलका सेवन करे॥२२१॥ एकसौ अड़तीसवाँ अध्याय समाप्त।१३८।

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे महाबाहु भीष्म! आपने मुझ से मन्त्र (राजकीय विचार) कहा और यह भी जताया, कि-शत्रुका विश्वास नहीं करना चाहिये, परन्तु राजा यदि किसीका भी विश्वास न करे तो वह किस प्रकार वर्त्ताव करे?॥१॥ हे राजन्! आपने कहा, कि-

विश्वासाद्धि परं राजन् राज्ञामुत्पद्यते भयम् । कथं हि नाश्वसन् राजा शत्रून् जयति पार्थिवः ॥ २ ॥ एतन्मे संशयं छिन्धि मतिर्मे संप्रमुह्यति । अविश्वासकथामेतामुपश्रुत्य पितामह ॥३॥ भीष्म उवाच । शृणुष्व राजन् यद् वृत्तं ब्रह्मदत्तनिवेशने । पूजन्या सह सम्वादं ब्रह्मदत्तस्य भूपतेः ॥ ४ ॥ काम्पिल्ये ब्रह्मदत्तस्य त्वन्तःपुरनिवासिनी । पूजनी नाम शकुनिर्दीर्घकालं सहोषिता ।५। रुतज्ञा सर्वभूतानां यथा वै जीवजीवकः । सर्वज्ञा सर्वतत्त्वज्ञा तिर्य्यग्योनिं गतापि सा ॥ ६ ॥ अभिप्रजाता सा तत्र पुत्रमेकं सुवर्च्चसम् । समकालञ्च राज्ञोपि देव्यां पुत्रो व्यजायत ॥७॥ तयोरर्थे कृतज्ञा सा खेचरी पूजनी सदा ।

विश्वास रखनेसे राजे बड़े भयमें आपड़ते हैं, परन्तु विश्वास न करनेवाला राजा शत्रुओंको कैसे जीत सकता है ? ॥२॥ हे पितामह ! आपने मुझसे विश्वास न रखनेकी जो बात कही, उसको सुनकर मेरी बुद्धि उलझनमें पड़ी हुई है, इसलिये आप मेरे सन्देहको काट दीजिये ॥३॥ भीष्मने कहा, कि—हे राजन् ! ब्रह्मदत्त राजाके घरमें रहनेवाली पूजनी नामकी चिड़िया और उस राजामें जो संवाद हुआथा उसको सुनो ४ काम्पिल्य नामक नगरमें ब्रह्मदत्त नामका राजा राज्य करता था, उसके रनवासमें एक पूजनी नामकी चिड़िया बहुत दिन हुए तब रहती थी ॥५॥ वह जीवजीवक नामके पक्षीकी समान सबके शब्दोंको समझती थी, वह पक्षीकी योनिमें उत्पन्न हुई थी तब भी सर्वज्ञ और सब तत्त्वोंको जानने वाली थी ।।६।। उसने एक महातेजस्वी पुत्रको उत्पन्न किया, उसी समय राजाकी रानीके भी पुत्र उत्पन्न हुआ ७

समुद्रतीरं सा गत्वा आजहार फलद्वयम्॥८॥ पुष्ट्यर्थञ्च स्वपुत्रस्य राजपुत्रस्य चैव ह। फलमेकं सुतायादाद्राजपुत्राय चापरम् ॥ ९ ॥ अमृतास्वादसदृशं बलतेजोभिवर्द्धनम् । आदायादाय सैवाशु तयोः प्रादात् पुनः पुनः ॥ १० ॥ ततोऽगच्छत् परां वृद्धिं राजपुत्रः फलाशनात् । ततः स धात्र्या कक्षेण उह्यमानो नृपात्मजः ॥११॥ ददर्श तं पक्षि-सुतं बाल्यादागत्य बालकः । ततो बाल्याच्च यत्नेन तेनाक्रीडत पक्षिणा ॥ १२ ॥ शून्ये च तमुपादाय पक्षिणं समजातकम् । हत्वा ततः स राजेन्द्र धात्र्या हस्तमुपा-

---

राजमहलमें रहने वाली आकाशचारिणी पूजनी कृतज्ञ थी, वह नित्य समुद्रके किनारे पर जाकर वहाँसे राजा के और अपने पुत्रके पोषणके लिये दो फल लाया करती थी ॥ ८ ॥ उनमेंका एक फल राजाके पुत्रको देदेती थी और एक फल अपने पुत्रको पोषणके लिये देती थी ९ पूजनी जो फल लाती थी वह अमृतकी समान स्वाद वाले और बल तथा तेजको वढाने वाले होते थे, वह नित्य दो फल लाती और नित्य दोनों फल दोनों पुत्रोंको देदेती थी ॥१०॥ पूजनीके दिये हुए फलके खानेसे राज-कुमार बड़ा ही हृष्टपुष्ट होगया एक दिन उस बालकको गोदमें लेकर उसकी धाई इधर उधर घूम रही थी, इतने में ही राजकुमारको पूजनीका बच्चा दीखगया, बालस्व-भावके अनुसार राजकुमार धाईके हाथमेंसे निकलगया और उस बच्चेके पास जापहुँचा तथा बालभावसे यत्न-पूर्वक उसके साथ खेलने लगा ११-१२ थोड़ीदेर खेलने के बाद अपने हाथसे पकड़ा हुआ पक्षी उड़नेको तयार हुआ तब राजकुमारने एकान्तमें हाथमें जोरसे पकड़े

गतः ॥१३॥ अथ सा पूजनी राजन्नागम्य फलहारिका । अपश्यन्निहतं पुत्रं तेन बालेन भूतले ॥१४॥ बाष्पपूर्णमुखी दीना दृष्ट्वा तं रुदती सुतम् । पूजनी दुःखसन्तप्ता रुदती वाक्यमब्रवीत् ॥ १५ ॥ क्षत्रिये सङ्गतं नास्ति न प्रीतिर्न च सौहृदम् । कारणात् सान्त्वयन्त्येते कृतार्थाः सन्त्यजन्ति च ॥१६॥ क्षत्रियेषु न विश्वासः कार्य्यः सर्वापकारिषु । अपकृत्यापि सततं सान्त्वयन्ति निरर्थकम् ॥१७॥ अहमस्य करोम्यद्य सदृशीं वैरयातनाम् । कृतघ्नस्य नृशंसस्य भृशं विश्वासघातिनः ॥ १८ ॥ सहसञ्जातवृद्धस्य तथैव सहभोजिनः । शरणागतस्य च वधस्त्रिविधं ह्येव पातकम् १९

हुए उस पक्षीके बच्चेको दबोचकर मारडाला और फिर वह धाईके पास जाबैठा १३ पूजनी फलोंकी खोजमें बाहर गई थी, वह जब लौटकर आई तो उसने देखा, कि-राजकुमारने मेरे बच्चेको मारकर पृथिवी पर डालदिया है १४ बच्चेको मरा हुआ देखकर पूजनी की आँखोंमें आँसू भरआये वह दीन होकर रोने लगी, और दुःखसे सन्तप्त होकर रोते२ कहने लगी, कि-१५ ओः क्षत्रियके साथ सहवास रखना या उसके साथ मित्रता करना या उसके साथमें आनन्द मानना यह ठीक नहीं है, उनका काम होता है तब निरर्थक बातोंसे लुभाते हैं परन्तु काम सिद्ध होते ही उसको त्याग देते हैं १६ क्षत्रियों का क्या विश्वास? वे सबका बुरा करने वाले ही होते हैं वे हानि करके नित्य निरर्थक समझानेकी बातें कहा करते हैं १७ कृतघ्नी क्रूर और महाविश्वासघाती शत्रुसे मैं वैरका उचित बदला लूँगी १८ एकही दिन उत्पन्न हुए साथ२ बढ़े हुए और साथ२ भोजन करनेवाले शरणागतको

इत्युक्त्वा चरणाभ्यान्तु नेत्रे नृपसुतस्य सा। भित्त्वा स्वस्था तत इदं पूजनी वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥ इच्छयेह कृतं पापं सद्यस्तत्रोपसर्पति। कृतं प्रतिकृतं येषां न नश्यति शुभाशुभम् ॥ २१ ॥ पापं कर्म कृतं किञ्चिद्यदि तस्मिन्न दृश्यते।नृपते तस्य पुत्रेषु पौत्रेष्वपि च नप्तृषु २२ ब्रह्मदत्तः सुतं दृष्ट्वा पूजन्या हृतलोचनम्। कृते प्रतिकृतं मत्वा पूजनीमिदमब्रवीत् ॥२३॥ ब्रह्मदत्त उवाच। अस्ति वै कृतमस्माभिरस्ति प्रतिकृतं त्वया। उभयन्तत् समी-

इस राजकुमारने मार डाला, इसने तीन प्रकारका पाप किया है ॥ १९ ॥ ऐसा कहकर पूजनीने अपने दोनों चरणोंसे राजकुमारके दोनों नेत्रोंको फोड़दिया और फिर अपने आप शान्त बनकर इसप्रकार कहने लगी, कि२० जान बूझ कर जो पाप कियाजाता है वह पाप तुरन्त ही कर्त्ताके पास आता है,पुरुष शुभ वा अशुभ जो कुछ भी कर्म करते हैं वह नष्टनहीं होजाता है, किन्तु करनेवाले को उस शुभ वा अशुभ कर्मका फल मिलता है ॥२१॥ एक मनुष्य जो पाप करता है उसका फल यदि उसको नहीं मिलता है तो हे राजन्! उसके पुत्रोंको मिलता है यदि उसके पुत्रोंको नहीं मिलता है तो पौत्रोंको मिलता है, उनको भी नहीं मिलता है तो उसकी पुत्रीके पुत्रोंको मिलता है ॥ २२ ॥ पूजनीने मेरे पुत्रके नेत्रोंको नष्टकर दिया यह देखकर ब्रह्मदत्तने समझा, कि-मेरे पुत्रने जो अशुभ कर्म किया था, उसका वैर पूजनीने निकाला है, ऐसा समझकर उसने पूजनीसे कहा ॥ २३ ॥ ब्रह्मदत्त बोला, कि-हे पूजनी! हमने जिस प्रकार तेरा अपराध किया है,तैसेही तूने भी हमारा अपराध किया है, दोनों

भूतं वस पूजनि मा गमः ॥२४॥ पूजन्युवाच । सकृत्-कृतापराधस्य तत्रैव परिलम्बतः । न तद् बुधाः प्रशंसन्ति श्रेयस्तत्रापसर्पणम्॥२५॥ सान्त्वे प्रयुक्ते सततं कृतवैरे न विश्वसेत्।क्षिप्रं स बध्यते मूढो न हि वैरं प्रशाम्यति २६ अन्योन्यकृतवैराणां पुत्रपौत्रं नियच्छति । पुत्रपौत्रविनाशे च परलोकं नियच्छति ॥ २७ ॥ सर्वेषां कृतवैराणाम-विश्वासः सुखोदयः एकान्ततो न विश्वासः कार्यो विश्वासघातकैः ॥ २८ ॥ न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।विश्वासाद्भयमुत्पन्नमपि मूलं निकृन्तति।

काम एकसे हुए हैं, हे पूजनी ! अब तू यहाँसे जाना नहीं किन्तु मेरे घरमें ही रहना ॥ २४ ॥ पूजनीने कहा, कि-जिसने एकबार दूसरेका अपराध किया हो, यदि वह उसके ही घरमें निवास करके रहता है तो विद्वान् उस की प्रशंसा नहीं करते, इसलिये उचित है, कि-जिसका अपराध किया हो उसके पाससे चलाजाय ॥ २५ ॥ किसीके साथ वैर बँधजाने पर यदि वह मीठी मीठी बातोंसे समझावे तो भी उसका विश्वास न करे, विश्वास करने वाला मूढ मनुष्य शीघ्रही नष्टहोजाता है, क्योंकि-वैर झटपट शान्त नहीं होजाता है ॥२६॥ जिसका अपराध किया होता है उसके बेटे और पोते तक एक दूसरेको मार डालते हैं और बेटे पोतोंका नाश होजानेसे वैर करनेवालेको स्वर्ग नहीं मिलता है । २७ । जो वैर करते हैं उनका विश्वास न करनेसे सुख मिलता है, जिसने विश्वासघात किया हो उसको कभी भी किसीका विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ २८ ॥ अविश्वासीका विश्वास न करे तथा विश्वासीका भी

कामं विश्वासयेदन्यान् परेषां च न विश्वसेत् ॥ २९ ॥ माता पिता बान्धवानां वरिष्ठो भार्य्या जरा बीजमात्रन्तु पुत्रः। भ्राता शत्रुः क्लिन्नपाणिर्वयस्य आत्मा ह्येकः सुख-दुःखस्य भोक्ता ॥ ३० ॥ अन्योन्यकृतवैराणां न सन्धि-रुपपद्यते। स च हेतुरतिक्रान्तो यदर्थमहमावसम् ॥३१॥ पूजितस्यार्थमानाभ्यां जन्तोः पूर्वापकारिणः। मनो भव-त्यविश्वस्तं कर्म्म त्रासयतेऽबलान् ॥३२॥ पूर्वं सम्मानना यत्र पश्चाच्चैव विमानना। जह्यात्तत् सत्ववान् स्थानं

अतिविश्वास न करे विश्वासमेंसे जो भय उत्पन्न होता है वह सबका नाश करडालता है, दूसरोंको आनन्दसे विश्वासपात्र बनालेय, परन्तु स्वयं किसीका विश्वास न करे ॥ २९ ॥ कुटुम्बियोंमें माता और पिता ही सच्चे स्नेही मानेजातेहैं, पत्नी (वीर्यको हरनेवाली होनेसे) जरा (बुढ़ापा) कहलाती है, पुत्र तो बीजरूप ही है, भाई (भागीदार होनेसे) शत्रु गिनेजाते हैं, मित्र (धना-दिकी आशासे मिलता है, इसलिये) क्लिन्नपाणि (जब तक हाथ चिकना रहे तब तक ही मित्रता रखने वाला) मानाजाता है, सुख दुःखका भोक्ता संकटको सहने वाला और आनन्दको भोगनेवाला एक आत्मा ही है ३० जिनमें परस्पर वैरभाव होगया हो, उनकी आपसमें संधि होना ठीक नहीं, मैं जिस कारणसे तेरे यहाँ रहती थी वह कारण अब नष्ट हो गया ॥३१॥ जिसने अपने साथ बुराई की हो वह पीछेसे धन तथा सम्मानसे पूजा करे तो भी उसके ऊपर चित्त विश्वास नहीं करता, यदि पाप करनेवाला निर्बल होता है और दूसरा मनुष्य बलवान् होता है तो वह निर्बलको भयभीत करता है ॥ ३२ ॥

शत्रोः सम्मानितोपि सन् ॥ ३३ ॥ उषितास्मि तवागारे दीर्घकालं समर्च्चिता । तदिदं वैरमुत्पन्नं सुखमाशु व्रजाम्यहम् ॥ ३४ ॥ ब्रह्मदत्त उवाच । यः कृते प्रतिकुर्य्याद्वै न स तत्रापराध्नुयात् । अनृणस्तेन भवति वस पूजनि मा गमः ॥ ३५ ॥ पूजन्युवाच । न कृतस्य च कर्त्तुश्च सख्यं सन्धीयते पुनः । हृदयं तत्र जानाति कर्त्तुश्चैव कृतस्य च ॥ ३६ ॥ ब्रह्मदत्त उवाच । कृतस्य चैव कर्तुश्च सख्यं सन्धीयते पुनः । वैरस्यापशमो दृष्टः पापं नोपाश्नुते पुनः ३७ पूजन्युवाच । नास्ति वैरमतिक्रान्तं सान्त्वितोस्मीति

और जहाँ पहले आदर होता हो और तहाँ पीछेसे अपमान होनेका डर हो तो उस स्थानका शत्रुको स्थान समझे और पीछेसे तहाँ आदर होय तो भी सत्त्ववान् उस स्थानको त्याग देय ३३ मैं तेरे घरमें बहुत दिनोंतक सन्मानके साथ रही हूँ, परन्तु अब वैरभाव हो गया है, इसलिये अब मैं निःसन्देह इस स्थानको छोड़दूँगी ३४ ब्रह्मदत्तने कहा, कि-जिसपुरुषका अपकार हुआ हो वह यदि बदलेमें अपकार करता है तो अपराधी नहीं माना जाता है, किन्तु ऐसा करनेसे ऋणमुक्त होजाता है, इस लिये हे पूजनी ! तू पहलेकी समान ही यहाँ रह, जाय मत ॥ ३५ ॥ पूजनीने कहा, कि-हे राजन् ! आपसमें एक दूसरेका बुरा चीतने वालोंमें फिर मित्रता नहीं होती है जो घटना होजाती है उसको कोईभी भूलता नहीं ३६ ब्रह्मदत्तने कहा, कि-आपसमें अपराध करनेवालोंमें फिर मित्रता होजाती है, क्योंकि-वैरका बदला लेलेनेपर वैरकी शान्ति होती देखते हैं और अपकार करनेवालेको फिर पाप नहीं भोगना पड़ता है । ३७ । पूजनीने कहा, कि-

नाश्वसेत्। विश्वासाद्बध्यते लोके तस्मात् श्रेयोऽप्यदर्शनम् ॥३८॥ तरसा ये न शक्यन्ते शस्त्रैः सुनिशितैरपि। साम्ना तेपि निगृह्यन्ते गजा इव करेणुभिः ॥३९॥ ब्रह्मदत्त उवाच। सम्वासाज्जायते स्नेहो जीवितान्तकरेष्वपि। अन्योन्यस्य च विश्वासः श्वपचेन शुनो यथा ॥ ४० ॥ अन्योन्यकृतवैराणां सम्वासान्मृदुतां गतम्। नैव तिष्ठति तद्वैरं पुष्करस्थमिवोदकम्॥४१॥पूजन्युवाच । वैरं पञ्चसमुत्थानं तच्च बुध्यन्ति पण्डिताः। स्त्रीकृतं वास्तुजं

बदला लेलेनेसे वैरभाव जाता रहा, यह नहीं समझना चाहिये तथा जिसका अपकार किया था उस मनुष्यने मुझे धीरज देकर शान्त किया है,ऐसा विचार कर शत्रु का विश्वास न करे, क्योंकि- विश्वास रखनेसे मनुष्य बन्धनमें पड़जाता है, इसलिये उससे दूर चले जानेमें ही कल्याण है ॥ ३८ ॥ अच्छे प्रकार तेजकियेहुए शस्त्रोंसे या बलसे जिसको एकायकी कैद नहीं कियाजासकता है उसकोभी,जैसे सिखाये हुए हाथियोंसे जङ्गली हाथियों को कैद करलियाजाता है, तैसेही सहज उपायसे कैद किया जासकता है ॥ ३९ ॥ ब्रह्मदत्तने कहा, कि-साथ साथ रहनेवाले दो मनुष्योंमें एकने दूसरेको प्राणघातक पीड़ा दी हो तो भी यदि वे दोनों साथ रहते हैं तो अपनेको पकाकर खाजानेवाले चाण्डालका, उसका कुत्ता विश्वास करता है तैसेही सहवाससे विश्वास बँधजाता है४०आपसमें वैरभाव रखनेवालेभी यदि आपसमें साथ साथ रहते हैं तो आपसका वैरभाव शान्त पड़जाता है और जैसे कमलके पत्तेपर जल नहीं ठहरता तैसे ही उसका वैरभाव भी टिका नहीं रहता४१पूजनीने कहा कि

वाग्जं ससापत्नापराधजम् ॥४२॥ तत्र दाता न हन्तव्यः क्षत्रियेण विशेषतः । प्रकाशं चाप्रकाशञ्च बुध्या दोषबला-बलम् ॥४३॥ कृते वैरे न विश्वासः कार्य्यस्त्विह सुहृद्यपि । छन्नं संतिष्ठते वैरं गूढोऽग्निरिव दारुषु ॥ ४३ ॥ न वित्तेन न पारुष्यैर्न च सान्त्वेन वा श्रुतैः । कोपाग्निः शाम्यते राजंस्तोयाग्निरिव सागरे॥४५॥न हि वैराग्निरुद्भूतः कर्म्म चाप्यपराधजम् । शाम्यत्यदग्ध्वा नृपते विना ह्येकतर-

पण्डित जानते हैं, कि-पाँच प्रकारसे वैर उत्पन्न होता है-एक स्त्रीके लिये, दूसरा भूमि (राज्य) के लिये, तीसरा कठोर वचन कहनेसे, चौथा स्वभावसे और पाँचवाँ परस्परका अपराध करनेसे ॥ ४२ ॥ इनमें वैर करनेवाला यदि उदारचित्त दाता हो तो उसको छुपकर या प्रत्यक्षरूपसे मारडालना किसीको भी उचित नहीं है तिसमें भी क्षत्रिय तो खासकर ऐसा न करे, किन्तु उसके दोषके बलाबलका विचार करे (अर्थात् वैर होने का कारण क्या है और किसका दोष है, इस बातका शान्तिके साथ विचार कियाजाय तो वैरभावका नाश होजाता है ॥ ४३ ॥ कदाचित् सुहृद् (हितचिन्तक-मित्र) के साथ वैरभाव हो जाय तो उसका भी विश्वास न करे, जैसे काठमें अग्नि छुपाहुआ रहता है, तैसे ही सुहृद्में भी वैर गुप्त रहता है ॥४४॥ हे राजन्! समुद्रमें लगाहुआ वड़वानल शान्त नहीं होता है, ऐसे ही क्रोधरूप अग्नि भी धनसे,शिक्षाकी बातोंसे, समझाने से अथवा उसका आश्रय करनेसे शान्त नहीं होता है ४५ हे राजन् ! अपराध करनेसे उत्पन्न हुआ वैराग्नि दोनों मेंसे एकको जलाकर उसका नाश किये विना शान्त

न्यात् ॥४६॥ सत्कृतस्यार्थमानाभ्यामनुपूर्वोपकारिणः । नादेयो मित्रविश्वासः कर्म त्रासयतेऽबलान् ॥ ४७ ॥ नैवापकार्य्यं कस्मिंश्चिदहं त्वयि तथा भवान् । उषितास्मि गृहेहन्ते नेदानीं विश्वसाम्यहम्॥४८॥ ब्रह्मदत्त उवाच । कालेन क्रियते कार्य्यं तथैव विविधाः क्रियाः । कालेनैते प्रवर्त्तन्ते कः कस्येहापराध्यति॥४६॥ तुल्यश्चोभे प्रवर्त्तेते मरणं जन्म चैव ह । कार्य्यते चैव कालेन तन्निमित्तं न जीवति ॥५०॥ वध्यन्ते युगपत् केचिदेकैकस्य न चापरे । कालो दहति भूतानि संप्राप्याग्निरिवेन्धनम् ॥५१॥ नाहं

होता ही नहीं है ॥ ४६ ॥ जिसने पहले वैर किया हो और वह पीछे धन तथा सत्कारसे सन्मान करे तो भी उसका विश्वास न करे, क्योंकि-अपराधरूप कर्म, अपराध करनेसे, निर्बलचित्त पुरुषोंके हृदयको त्रास दिया करता है ॥ ४७ ॥ आजके दिन तक मैंने तुम्हारा कुछ बुरा नहीं किया था और तुमने भी मेरा बुरा नहीं किया था, मैं तुम्हारे घरमें रहती थी, परन्तु अब मुझे तुम्हारा विश्वास नहीं आता ॥ ४८ ॥ ब्रह्मदत्तने कहा, कि-काल काम करता है और दूसरी अनेकों क्रियाएँ भी करता है, लोग कालके वशमें हो अपने काम करनेमें लगजाते हैं, इसमें कौन किसका अपराध करता है?४६ मरण और जन्म ये दोनों समानभावसे होते रहते हैं, ये कालके कारणसे ही होते हैं, मरजानेमें काल ही (निमित्त) कारण है ॥ ५० ॥ कोई २ एकसाथ ही मरजाते हैं, कोई अकेले मरते हैं और कोई चिरकाल तक मरते ही नहीं, इस सबका कारण काल ही है, जैसे अग्नि ईंधनको जलाकर भस्म करडालता है ऐसे

प्रमाणं नैव त्वमन्योन्यं कारणं शुभे। कालो नित्यमुपादत्ते सुखं दुःखञ्च देहिनाम् ॥५२॥ एवं वसेह सस्नेहा यथा काममहिंसिता। यत् कृतं तत्तु मे क्षान्तं त्वञ्च मे क्षम पूजनि ॥५३॥ पूजन्युवाच। यदि कालः प्रमाणं ते न वैरं कस्यचिद्भवेत्। कस्मात्त्वपचितिं यान्ति बान्धवा बान्धवैर्हतैः ॥५४॥ कस्माद् देवासुराः पूर्वमन्योन्यमभिजघ्निरे। यदि कालेन निर्याणं सुखं दुःखं भवाभवौ ॥५५॥ भिषजो भेषजं कर्तुं कस्मादिच्छन्ति रोगिणः। यदि कालेन पच्यन्ते

ही काल सब प्राणियोंको भस्म करडालता है ॥ ५१ ॥ हे शुभे पूजनी! तेरे शोकका कारण मैं नहीं हूँ तथा मेरे शोकका कारण तू भी नहीं है, किन्तु काल ही कारण है, काल ही नित्य प्राणियोंको सुख दुःख दिया करता है ॥ ५२ ॥ हे पूजनी! ऐसा है, इसलिये तुझे कोई भी नहीं मारेगा, तू मेरे ऊपर प्रीति रखकर आनन्दसे यहाँ निवास कर, तूने जो अपराध किया है उसको मैं क्षमा करता हूँ और तू भी मुझे क्षमा कर ॥ ५३ ॥ पूजनीने कहा, कि–हे राजन्! तेरे कहनेके अनुसार यदि काल ही सब कामोंका कारण हो तो इस पृथिवी पर किसीका किसीके साथ वैरभाव होनेका अवसर ही न आवे; परन्तु मैं बूझती हूँ, कि–यदि ऐसा है तो बान्धवोंको किसीने मारडाला तो फिर उसके बान्धव किसलिये बदला लेते हैं? ॥ ५४ ॥ पहले समयमें देवता और असुरोंने लड़कर आपसमें एकने दूसरेका नाश क्यों किया था? यदि काल ही लोगोंका नाश करता हो, सुख दुःख जन्म और मरण करता हो तो फिर वैद्य रोगीकी औषध क्यों करना चाहते हैं? यदि काल ही

भेषजैः किं प्रयोजनम् ॥ ५६ ॥ प्रलापः सुमहान् कस्मात् क्रियते शोकमूर्च्छितैः। यदि कालः प्रमाणन्ते कस्माद्धर्मोऽस्ति कर्तृषु ॥ ५७ ॥ तव पुत्रो ममापत्यं हतवान् स हतो मया। अनन्तरं त्वयाहश्च हन्तव्या हि नराधिप ५८ अहं हि पुत्रशोकेन कृतपापा तवात्मजे। यथा त्वया प्रहर्त्तव्यं तथा तत्त्वञ्च मे शृणु ॥ ५९ ॥ भक्षार्थं क्रीडनार्थञ्च नरा वाञ्छन्ति पक्षिणः। तृतीयो नास्ति संयोगो वधबन्धादृते क्षमः॥६०॥वधबंधभयादेते मोक्षतंत्रमुपाश्रिताः। रोगोंको मिटादेता हो तो फिर औषधकी क्या आवश्यकता है? ॥५५-५६॥ यदि तुम कालको ही कर्त्ता हर्त्ता कहते हो तो लोग शोकसे मूर्छित होकर किसलिये निरर्थक चिल्ला २ कर हाय २ करते हैं? और तुम कालको ही सबका कारण कहते हो तो धार्मिक काम करनेवाले मनुष्य पुण्यफलको कैसे पासकते हैं? ॥५७॥ तेरे पुत्रने मेरे बच्चेको मारडाला, इसलिये मैंने तेरे पुत्र की आँखें फोड़डालीं और हे राजन्! अब तुझे यही उचित है, कि-तू मुझे मारडाले, ॥ ५८ ॥ पुत्रका शोक होनेसे मैंने तेरे पुत्रकी आँखें फोड़डालीं, किसलिये तुझे मेरा मारडालना उचित है? इसका कारण मैं तुझसे कहती हूँ सुन ॥५९॥ मनुष्य खानेके लिये या चित्त बहलानेके लिये पक्षियोंको पालते हैं, इसके सिवाय तीसरा कोई भी कारण नहीं होता है, या तो मारनेके लिये पक्षियोंको पालते हैं या उनको कैदमें रखनेके लिये ही पालते हैं ६० इसलिये मनुष्योंके हाथसे मारे जानेके अथवा बन्धनमें पड़नेके डरसे पक्षी उड़जानेमें ही अपना मङ्गल समझते हैं, वेदको जाननेवाले पुरुष ऐसा कहते हैं, कि-मरण

मरणोत्पातजं दुःखं प्राहुर्वेदविदो जनाः ॥ ६१ ॥
सर्वस्य दयिताः प्राणाः सर्वस्य दयिताः सुताः ।
दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम् ॥ ६२ ॥
दुःखं जरा ब्रह्मदत्त दुःखमर्थविपर्य्ययः । दुःखश्चानिष्टसं-
वासो दुःखमिष्टवियोजनम् ॥ ६३ ॥ वधवन्धकृतं दुःखं
स्त्रीकृतं सहजं तथा । दुःखं सुतेन सततं जनान् विपरि-
वर्त्तते ॥ ६४ ॥ न दुःखं परदुःखे वै केचिदाहुरबुद्धयः ।
यो दुःखं नाभिजानाति स जल्पति महाजने ॥ ६५ ॥
यस्तु शोचति दुःखार्त्तः स कथं वक्तुमुत्सहेत् । रसज्ञः

और बन्धन दोनों ही दुःखदायक हैं ॥ ६१ ॥ सबको ही अपने २ प्राण प्यारे होते हैं, सबको ही अपने पुत्र प्यारे होते हैं, सब ही दुःखसे खिन्न होते हैं और सबको ही सुख पानेकी इच्छा होती है ॥६२॥ और हे ब्रह्मदत्त ! दुःख अनेकों कारणोंसे उत्पन्न होता है, बुढ़ापा दुःखरूप है, धनका नाश दुःखरूप है,शत्रुओंका साथ रहना दुःख-रूप है और प्यारोंसे वियोग होना भी दुःखरूप है ।६३। मरण और बन्धन दुःखरूप है, स्त्रीके सम्बन्धसे और स्वाभाविक रीतिसे भी दुःख उत्पन्न होता है पुत्र (मर जाय अथवा दुष्ट निकलजाय तो उस) का दुःख सब प्राणियोंको एक समान ही कष्टदायक होता है ॥ ६४ ॥ कितने ही बुद्धिहीन पुरुष कहते हैं, कि–दूसरेके दुःखसे किसीको दुःख नहीं होता है; ऐसे ही मनुष्य बड़ों २ के सामने इसप्रकार हठ करते हैं ॥६५॥ परन्तु जो दुःखसे घबड़ाकर शोक करता है वह ऐसा कहनेका साहस कैसे करसकता है? जो पुरुष सब दुःखोंके रसको जानता वह पुरुष अपने दुःखसे जैसा खिन्न होता है,

सर्वदुःखस्य यथात्मनि तथा परे६६यत्कृतं ते मया राजं-
स्त्वया च मम यत् कृतम् । न तद्वर्षशतैः शक्यं व्यपोहि-
तुमरिन्दम ॥ ६७ ॥ आवयोः कृतमन्योन्यं पुनः सन्धिर्न
विद्यते । स्मृत्वा स्मृत्वा हि ते पुत्रं नवं वैरं भविष्यति६८
वैरमन्तिकमासाद्य यः प्रीतिं कर्तुमिच्छति । मृण्मयस्येव
भग्नस्य यथा सन्धिर्न विद्यते ॥६९॥ निश्चियश्चार्थशास्त्रैर्न
विश्वासः सुखोदयः । उशना चैव गाथे द्वे प्रह्लादायाब्रवीत्
पुरा ॥ ७० ॥ ये वैरिणः श्रद्दधते सत्ये सत्येतरेपि वा ।
वध्यन्ते श्रद्दधानास्तु मधुशुष्कतृणैर्यथा ॥ ७१ ॥ न हि

है (जिसके ऊपर दुःख पड़ चुके हैं) वह
दूसरेके दुःखसे भी वैसा ही दुःखी होता है ॥ ६६ ॥
हे शत्रुओंका दमन करनेवाले राजन् ! मैंने तेरा जो
अपराध किया है और तूने जो मेरा अपराध किया है,
इसको सैंकड़ों वर्षोंमें भी नहीं भूला जा सकता ॥६७॥
हमने आपसमें एक दूसरेका अपराध किया है, इसलिये
अब हम दोनोंमें मेल या प्रेम नहीं होसकता, तू जैसे २
अपने पुत्रको याद करेगा तैसे २ तेरा वैर ताजा होगा६८
दूसरेको दुःख देनेके बाद तू उसके साथ प्रीति करना
चाहता है, परन्तु जैसे टूटाहुआ मट्टीका वर्त्तन फिर
जुड़ नहीं सकता, ऐसे ही दुःख देनेवालेके साथ प्रीति
नहीं होसकती ॥ ६९ ॥ स्वार्थके शास्त्रमें निश्चय किया
गया है, कि विश्वास करनेसे दुःख उत्पन्न होता है,
पहले शुक्राचार्यने भी प्रह्लादको इस विषयमें दो कथायें
सुनायी थीं ७० जो वैरियोंकी सच्चीया मिथ्या वातका
विश्वास करते हैं वे ऐसे मारेजाते हैं, जैसे शत्रुके दिखाए
हुए शहदको लेनेके लिये जाने पर तृणोंसे ढकेहुए गढेमें

वैराणि शाम्यन्ति कुले दुःखगतानि च । आख्यातारश्च विद्यन्ते कुले वै ध्रियते पुमान् ॥७२॥ उपगृह्य तु वैराणि सान्त्वयन्ति नराधिप । अथैनं प्रतिपिंषन्ति पूर्णं घटमिवाश्मनि ॥ ७३ ॥ सदा न विश्वसेद्राजा पापं कृत्वेह कस्यचित् । अपकृत्य परेषां हि विश्वासाद् दुःखमश्नुते७४ ब्रह्मदत्त उवाच । नाविश्वासाच्छिन्देतार्थानीहते चापि किंचन । भयात्त्वेकतरान्नित्यं मृतकल्पा भवन्ति च ७५ पूजन्युवाच । यस्येह व्रणिनौ पादौ पद्भ्याश्च परिसर्पति ।

गिरकर मरजाते हैं ७१ जिस कुलमें दुःखदायक वैर भाव बँधजाता है वह शीघ्र ही शान्त नहीं होता है, किन्तु उस कुलमें जब तक एक मनुष्य भी जीता रहता है तब तक वह वैरभाव बना रहता है, क्योंकि-उस वैरभावकी याद दिलानेवाले दूसरे मनुष्य होते हैं॥७२॥ हे राजन् ! पहले राजे शत्रुको समझा कर अपने वशमें करके वैरको ठण्डा करदेते हैं, परन्तु समय आने पर शत्रुके इसप्रकार टुकड़े २ करडालते हैं जैसे जलसे भरे घड़ेको पत्थर पर पटक कर टुकड़े २ करदिया जाता है७२ यदि राजाने किसीके साथ भी वैरभाव करलिया हो तो उसका विश्वास न करे, दूसरे मनुष्योंका अपकार करने पर उनका विश्वास करनेसे दुःख भोगना पड़ता है ७४ ब्रह्मदत्तने कहा, कि-अविश्वास करनेसे मनुष्य धन नहीं पासकता तथा इस संसारमें कोई काम भी सिद्ध नहीं करसकता, नित्य भय रखनेसे ऐसा मनुष्य जीवित भी मराहुआसा होता है ७५ पूजनीने कहा, कि-हे राजन् ! जिसके दोनों पैरोंमें व्रण होरहे हों वह पुरुष बहुत सम्हाल रखकर दौड़ता है तो भी उसके पैर

खन्येते तस्य तौ पादौ सुगुप्तमपि धावतः ॥ ७६ ॥ नेत्राभ्यां सरुजाभ्यां यः प्रतिवातमुदीक्षते तस्य वायु-रुजात्यर्थं नेत्रयोर्भवति ध्रुवम् ॥ ७७ ॥ दुष्टं पन्थानमासाद्य यो मोहादुपपद्यते । आत्मनो बलमज्ञाय तदन्तं तस्य जीवितम् ॥ ७८ ॥ यस्तु वर्षमविज्ञाय क्षेत्रं कर्षति कर्षकः । हीनः पुरुषकारेण सस्यं नैवाश्नुते ततः ७९ यस्तु तिक्तं कषायम्वा स्वादु वा मधुरं हितम् । आहारं कुरुते नित्यं सोमृतत्वाय कल्पते ॥ ८० ॥ पथ्यं मुक्त्वा तु यो मोहाद् दुष्टमश्नाति भोजनम् । परिणामविज्ञाय तदन्तं तस्य जीवितम् ॥ ८१ ॥ दैवं पुरुषकारश्च स्थितावन्योन्यसंश्रयात् । उदाराणान्तु सत् कर्म्म दैवं क्लीवा

चोट खाजाते हैं ७६ जिसके नेत्र दुखरहे हों वह यदि हवाके सामनेको देखता है तो उसके नेत्रोंमें अवश्य ही वायुसे अधिक पीडा होजाती है ७७ जो मनुष्य अपने बलको विनाजाने मूर्खतासे भयानक मार्गमेंको चला जाता है, उस मार्गमें ही उसके जीवनका अन्त होजाता है ७८ जो किसान वर्षाके समयको जाने विना खेतको जोतता है, उसका परिश्रम निरर्थक जाता है और उसको अन्न नहीं मिलता है ७९ जो कड़वा, कसैला स्वाद वा मधुर परन्तु हितकारी भोजन करता है, उस पुरुषको वह भोजन अमृतरूप होकर लगता है ८० परन्तु जो पुरुष यथार्थ भोजनको त्यागकर परिणामको न जानकर कुपथ्यका भोजन करता है, उस मनुष्यके जीवनका अन्त ही समझो ८१ दैव और पुरुषार्थ ये दोनों परस्परके सहारेसे रहते हैं, जो महात्मा हैं वे बड़े२ कर्म करते हैं और जो नपुंसक (व.महिम्मत) हैं वे

उपासते ॥ ८२ ॥ कर्म चात्महितं कार्य्यं तीक्ष्णम्वा यदि मृदु । ग्रस्यते कर्मशीलस्तु सदानर्थैरकिञ्चनः ॥ ८३ ॥ तस्मात् सर्वं व्यपोह्यार्थं कार्य्य एव पराक्रमः । सर्वस्वमपि संत्यज्य कार्य्यमात्महितं नरैः ॥ ८४ ॥ विद्या शौर्य्यं च दाक्ष्यञ्च बलं धैर्यं च पञ्चमम् । मित्राणि सहजान्याहुर्वर्त्तयन्तीह तैर्बुधाः ॥ ८५ ॥ निवेशनञ्च कुप्यञ्च क्षेत्रं भार्य्या सुहृज्जनः । एतान्युपहितान्याहुः सर्वत्र लभते पुमान् ॥ ८६ ॥ सर्वत्र रमते प्राज्ञः सर्वत्र च विराजते । न विभीषयते कश्चिद्भीपितो न विभेति च ८७

दैवका सहारा लेते हैं ८२ इसलिये मनुष्य अपना हितकारी काम करे, वह काम चाहे तीखा हो चाहे कोमल हो, जो पुरुष आलसी होता है वह सदा दरिद्र रहता है और अनर्थोंसे पीड़ा पाता है ८३ इस लिये सब बातोंको त्यागकर पुरुपको पराक्रम ही करना चाहिये, धन आदि सबको त्यागकर पुरुषोंको वही काम करना चाहिये, जिसमें अपना हित हो ॥ ८४ ॥ विद्या, शूरता, चतुराई, बल और पाँचवाँ धीरज ये स्वाभाविक मित्र हैं, विद्वान् इन पाँचका सेवन करके इनसे ही अपना जीवन विताते हैं ॥ ८५ ॥ घर, सोने चाँदीका गहना, भूमि, स्त्री और इष्टमित्र ये मध्यम श्रेणीके मित्र कहलाते हैं और इनको मनुष्य सब जगह पाजाता है॥८६॥जो मनुष्य बुद्धिमान् होता है वह सब जगह आनन्दमें रहता है और विशेषरूपसे दिपनेलगता है, किसीको डराता नहीं है और उसको कोई डराता है तो उससे डरता नहीं है ॥८७॥ बुद्धिमान् मनुष्यको थोड़ासा भी धन मिलजाता है तो वह अपनी बुद्धिसे

नित्यं बुद्धिमतोऽप्यर्थः स्वल्पकोपि विवर्द्धते । दाक्ष्येणा-
कुर्वतः कर्म संयमात् प्रतितिष्ठति ॥ ८८ ॥ गृहस्नेहाव-
बद्धानां नराणामल्पमेधसाम् । कुस्त्री खादति मांसानि
माघमांसेगवा इव ॥ ८९ ॥ गृहं क्षेत्राणि मित्राणि स्व-
देश इति चापरे । इत्येवमवसीदन्ति नरा बुद्धिविप-
र्य्यये ॥ ९० ॥ उत्पतेत सहजाद्देशाद्व्याधिदुर्भिक्षपीडि-
तात् । अन्यत्र वस्तुं गच्छेद्वा वसेद्वा नित्यमानितः ९१
तस्मादन्यत्र यास्यामि वस्तुं नाहमिहोत्सहे । कृतमेत-
दनार्यं मे तव पुत्रे च पार्थिव ॥ ९२ ॥ कुभार्य्यां च कुपु-

उसको बढ़ालेता है, वह मनुष्य हरएक काम योग्यतासे करता है, अपने आपेको वशमें रखकर सर्वत्र प्रतिष्ठा पाता है ॥ ८८ ॥ परन्तु जो थोड़ी बुद्धिवाला होता है वह घर पर स्नेह रखकर बाहर नहीं निकलता है ऐसे (घरघुसने) पुरुषकी खोटी स्त्री अपने पतिके मांसको ऐसे खाती है, जैसे कानखजूरीके बच्चे उस कानखजूरी को खाजाते हैं॥८९॥ जिसमें थोड़ी बुद्धि होती है वह घरके ऊपर प्रेम रखकर दुःखी होता है, यह मेरा घर है, यह मेरा देश है, ये मेरे मित्र हैं, हाय ! हाय ! इनको कैसे छोड़ दूँ ? उनके ऊपर ऐसी ममता रखकर दुःखी होता है ॥ ९० ॥ अपनी जन्मभूमिका देश भी यदि अकाल और रोगसे घिरा हो तो वहाँसे निकल कर दूसरे देशमें बसनेको चलाजाय; अपने देशमें नित्य सन्मान होता हो तब ही तहाँ रहे ॥९१॥ अब मैं यहाँ रहनेका साहस नहीं करसकती, क्योंकि-हे राजन् ! मैंने तेरे पुत्रके ऊपर अनुचित आक्रमण किया है॥९२॥ हरएक पुरुषको चाहिये, कि-दुष्ट स्त्री, कुपुत्र, दुष्ट राजा,

त्रञ्च कुराजानं कुसौहृदम् । कुसम्बन्धं कुदेशं च दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ९३ ॥ कुपुत्रे नास्ति विश्वासः कुभार्यायां कुतो रतिः । कुराज्ये निर्वृतिर्नास्ति कुदेशे नास्ति जीविका ॥ ९४ ॥ कुमित्रे सङ्गतिर्नास्ति नित्यमस्थिर-सौहृदे । अपमानः कुसम्बन्धे भवत्यर्थविपर्य्यये ॥ ९५ ॥ सा भार्या या प्रियं ब्रूते स पुत्रो यत्र निर्वृतिः । तन्मित्रं यत्र विश्वासः स देशो यत्र जीव्यते ॥९६॥ यत्र नास्ति बलात्कारः स राजा तीव्रशासनः।भीरेव नास्ति संबन्धो दरिद्रं यो बुभूषते ॥ ९७ ॥ भार्य्या देशोथ मित्राणि पुत्र-

दुष्ट मित्र, दुष्ट संबन्ध और दुष्ट देशको दूरसे ही त्याग देय ॥ ९३ ॥ कुपुत्रका विश्वास कैसे होसकता है ? दुष्ट स्त्रीमें रतिका सुख कहाँसे आया ? दुष्ट राजाके राज्यमें सुख कैसे मिलसकता है ? और दुष्ट देशमें रहनेसे आजीविका कैसे चलसकती है ? ॥ ९४ ॥ दुष्ट मित्रका साथ चिरकाल तक कैसे रहसकता है? क्योंकि-उसका स्नेह नित्य स्थिर नहीं रहता, दुष्ट मनुष्योंके साथ संबन्ध रखनेसे, जब उनका कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होता है तो उन दुष्ट मनुष्योंके मनमें द्वेषभाव उत्पन्न होजाता है, (और वह हानि पहुँचाने लगते हैं) ॥ ९५ ॥ स्त्री उसका ही नाम है, कि-जो प्यारे वचन बोले, पुत्र उसका ही नाम है, कि-जिससे निवृत्तिसुख मिले, मित्र वही है, कि-जिसके ऊपर विश्वास कियाजासके और देश वही है, कि-जहाँ निर्वाह हो ॥ ९६ ॥ राजा वही है, कि-जिसके देशमें कोई बलात्कार न करता हो तथा जो गरीबोंका पालन करना चाहता हो और जिसके राज्यमें किसी प्रकारका भय न हो ॥ ९७ ॥ जिस देशका राजा

सम्बन्धिबान्धवाः । एते सर्वे गुणवति धर्म्मनेत्रे महीपतौ ॥ ९८ ॥ अधर्मज्ञस्य विलयं प्रजाः गच्छन्ति निग्रहात् । राजा मूलं त्रिवर्गस्य स्वप्रमत्तोनुपालयेत् ॥९९॥ बलिषड्भागमुद्धृत्य बलिं समुपयोजयेत् । न रक्षति प्रजाः सम्यक् यः स पार्थिवतस्करः १०० ॥ दत्त्वाभयं यः स्वयमेव राजा न तत् प्रमाणं कुरुतेर्थलोभात् । स सर्वलोकादुपलभ्य पापं सोधर्मबुद्धिर्निरयं प्रयाति ॥ १०१ ॥ दत्त्वा भयं स्वयं राजा प्रमाणं कुरुते यदि । स सर्वसुखकृज्ज्ञेयः प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ १०२ ॥ माता पिता गुरुर्गोप्ता

सद्गुणी और धर्मका नेता होता है, उसके राज्यमें स्त्री, देश, मित्र, पुत्र, संबन्धी और बान्धव ये सब निभसकते हैं ॥ ९८ ॥ परन्तु जिस देशका राजा अधर्मी होता है उस देशकी प्रजा अत्याचारके कारणसे नष्ट होजाती है, राजा ही धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्गका मूल है, इसलिये राजाको अच्छे प्रकारसे सावधान रह कर अपनी प्रजाका पालन करना चाहिये ॥९९॥ राजा अपनी प्रजासे उसकी आमदनीका छठाभाग कररूपमें लेकर उसका उचित रीतिसे व्यय करे, परन्तु जो राजा अपनी प्रजाकी रक्षा नहीं करता है वह राजा ही नहीं है किन्तु चोर है ॥ १०० ॥ जो राजा स्वयं अभयदान देकर धनके लोभसे यदि वैसा वर्त्ताव नहीं करता है तो वह सब लोगोंके पापका साझी होता है और वह अधर्मबुद्धि होनेके कारण नरकमें पड़ता है ॥ १ ॥ और जो राजा अभयदान देकर वैसा ही वर्त्ताव करता है तथा धर्मसे प्रजाका पालन करता है वह सबको सुख देनेवाला होता है ॥ २ ॥ प्रजापति मनु कहते हैं, कि-राजामें

वह्निर्वैश्रवणो यमः । सस राज्ञो गुणानेतान्मनुराह प्रजापतिः ॥ १०३ ॥ पिता हि राजा राष्ट्रस्य प्रजानां योऽनुकम्पनः । तस्मिन् मिथ्याविनीतो हि तिर्यग्गच्छति मानवः ॥१०४॥ सम्भावयति मातेव दीनमप्युपपद्यते । दहत्यग्निरिवानिष्टान् यमयन्नसतो यमः ॥१०५॥ इष्टेषु विसृजन्नर्थान् कुबेर इव कामदः । गुरुर्धर्मोपदेशेन गोप्ता च परिपालयन् ॥१०६॥ यस्तु रञ्जयते राजा पौरजानपदान् गुणैः । न तस्य भ्रमते राज्यं स्वयं धर्मानुपालनात् ॥१०७॥ स्वयं समुपजानन् हि पौरजानपदार्च्च-

महात्माओंके सात गुण रहते हैं वह माता है, पिता है, गुरु है, रक्षक है, अग्नि है, कुबेर है और यम है ॥ ३ ॥ राजा जब प्रजाके साथ दयाका वर्त्ताव करता है तब वह प्रजाका पिता है, जो मनुष्य ऐसे राजाके साथ उद्धत-पनेका वर्त्ताव करता है उसको पक्षीकी योनिमें जन्म लेना पड़ता है ॥ ४ ॥ जब राजा गरीब प्रजाकी सम्हाल करता है तब वह मातारूप है और प्रजाके साथ रिला-मिला रहकर उसके दुःखमें साथी होता है, जब राजा दुष्ट मनुष्यों को जलाकर भस्म करडालता है तब अग्नि-रूप है और दुष्टोंको दण्ड देता है तब यमका रूप धारण करता है ॥ ५ ॥ प्रिय पुरुषोंको धन देकर कामना पूरी करता है तब वह कुवेररूप है, धर्मका उपदेश देता है तब गुरुरूप है तथा रक्षककी समान सब प्रजाकी रक्षा करता है ॥ ६ ॥ जो राजा अपने गुणोंसे नगरवासी और देशवासियोंको प्रसन्न रखता है उसका राज्य नष्ट नहीं होता है, क्योंकि वह स्वयं धर्मानुसार वर्त्ताव करता है ७ नगरवासी और देशवासियोंको किस प्रकार प्रसन्न

नम् । न सुखं प्रेक्षते राजा इहलोके परत्र च ॥ १०८ ॥
नित्योद्विग्नाः प्रजा यस्य करभारप्रपीडिताः । अन-
र्थैर्विप्रलुप्यन्ते स गच्छति पराभवम् ॥ १०६ ॥
प्रजा यस्य विवर्द्धन्ते सरसीव महोत्पलम् । स सर्वफ-
लभाग्राजा स्वर्गलोके महीयते ॥११०॥ बलिना विग्रहो
राजन्न कदाचित् प्रशस्यते । बलिना विग्रहो यस्य कुतो
राज्यं कुतः सुखम् ॥१११॥ भीष्म उवाच । सैवमुक्त्वा
शकुनिका ब्रह्मदत्तं नराधिपम् । राजानं समनुज्ञाप्य
जगामाभीप्सितां दिशम् ॥ ११२ ॥ एतत्ते ब्रह्मदत्तस्य
पूजन्या सह भाषितम् । मयोक्तं नृपतिश्रेष्ठ किमन्यत्
श्रोतुमिच्छसि ११३ऊनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः१३६

करना चाहिये,इस बातको जो राजा जानता है वह इस लोकमें और परलोकमें सुख पाता है। ८ । जिस राजाकी प्रजा करके भारसे पीड़ा पाती है, नित्य दुःखी रहती है और अनर्थोंसे पिचती है, उस राजाका तिरस्कार होता है । ६ । परन्तु जिस राजाकी प्रजा सरोवरमेंके बड़े २ कमलोंकी समान दिनपर दिन वृद्धि पाती है उस राजाके राज्यको सब सुख मिलता है और वह स्वर्गमें पूजा जाता है॥१०॥हे राजन् ! बलवान्के साथ विवाद करना कभी अच्छा नहीं मानाजाता है,जिस राजाका अपनेसे बलवान् राजाके साथ वैरभाव बँधजाताहै उसको राज्य और सुख कैसे मिलसकता है? । ११ । भीष्मजी कहतेहैं कि-पूजनी चिड़ियाने राजा ब्रह्मदत्तसे ऐसा कहा और फिर उसकी आज्ञा लेकर मनमानी दिशामेंको उड़गई१२ हे श्रेष्ठ राजन् ! पूजनीके साथ राजा ब्रह्मदत्तका जो सम्वाद हुआ था वह मैंने तुझे सुनादिया, तू अब और क्या सुनना चाहता है १३ एकसौ३६वाँ अ० समाप्त ॥

युधिष्ठिर उवाच । युगक्षयात् परिक्षीणे धर्मे लोके च भारत । दस्युभिः पीड्यमाने च कथं स्थेयं पितामह १ भीष्म उवाच । अत्र ते वर्त्तयिष्यामि नीतिमापत्सु भारत । उत्सृज्यापि घृणां काले यथा वर्तेत भूमिपः २ अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । भारद्वाजस्य सम्वादं राज्ञः शत्रुञ्जयस्य च ३ राजा शत्रुञ्जयो नाम सौवीरेषु महारथः । भारद्वाजमुपागम्य पप्रच्छार्थविनिश्चयम् ॥४॥ अलब्धस्य कथं लिप्सा लब्धं केन विवर्द्धते । वर्द्धितं पाल्यते केन पालितं प्रणयेत् कथम् ५ तस्मै

राजा युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे भरतवंशी पितामह ! सत्ययुगका नाश होजानेसे धर्मका और सत्पुरुषोंका नाश होगया हो तथा लुटेरे लोगोंको पीड़ा देते हों उस समय राजाको कैसा वर्त्ताव करना चाहिये १ भीष्मजीने कहा, कि-हे भरतवंशी राजन् ! इस विषयमें मैं तुझे आपत्तिकालकी नीति क्या है वह सुनाता हूँ, तू सुन, कि-जिस समय राजाको दयाका भी त्याग करके वर्त्ताव करना चाहिये ॥ २ ॥ इस विषयमें भारद्वाज और शत्रुञ्जय राजाका सम्वादरूप एक पुराना इतिहास कहाजाता है ॥३॥ सौवीर देशमें एक शत्रुञ्जय नामका राजा था, वह महारथी एक समय भारद्वाज मुनिके पास गया और उनसे अपनी बातोंका निर्णय करनेके लिये उचित रीतिसे बूझा, कि-॥ ४ ॥ जो वस्तु मिली न हो उसको किसप्रकार प्राप्त करे ? पाई हुई वस्तु किस मार्गसे बढ़ती है ? बढ़ीहुई वस्तुको किसप्रकार सम्हाल कर रक्खे ? और सम्हालकर रक्खी हुई वस्तुका किस प्रकार उपभोग करे ? ॥ ५ ॥ जिन्होंने सब बातोंका

विनिश्चितार्थाय परिपृष्टोऽर्थनिश्चयम् । उवाच ब्राह्मणो वाक्यं इदं हेतुमदुत्तमम् ६ नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः। अच्छिद्रश्छिद्रदर्शी च परेषां विवरानुगः ७ नित्यमुद्यतदण्डस्य भृशमुद्विजते नरः । तस्मात् सर्वाणि भूतानि दंडेनैव प्रसाधयेत् ८ एवं दण्डं प्रशंसन्ति पण्डितास्तत्त्वदर्शिनः । तस्माच्चतुष्टये तस्मिन् प्रधानो दण्ड उच्यते ॥९॥ छिन्नमूले त्वधिष्ठाने सर्वेषां जीवनं हतम् । कथं हि शाखास्तिष्ठेयुश्छिन्नमूले वनस्पतौ ॥१०॥ मूलमेवादितश्छिन्द्यात् परपक्षस्य पण्डितः । ततः सहा-

निर्णय करलिया था ऐसे भारद्वाज मुनिसे राजाने अपनी बातका निर्णय बूझा, तब उस ब्राह्मणने हेतुयुक्त उत्तम उत्तर देना आरम्भ करदिया, कि-॥ ६ ॥ राजा दण्डको नित्य जागता रक्खे, बलको नित्य प्रकट करता रहे, अपनेमें दुर्गुणोंको न आनेदेय, दूसरोंके दुर्गुण देखनेमें आँख खुली रक्खें और शत्रुके छिद्र देखकर उसमें प्रवेश करे ॥७॥ जो राजा दण्डको नित्य उद्यत रखता है उस राजासे प्रजा बहुत ही डरती रहती है (और धर्मभ्रष्ट नहीं होती है) इसलिये राजा सब प्राणियोंको दण्डसे वशमें रक्खे ॥ ८ ॥ तत्त्ववेत्ता पण्डित दण्डकी प्रशंसा करते हैं, इसलिये साम, दान, दण्ड और भेद इन चारों साधनोंमें दण्डको मुख्य माना है ॥९॥ जब शरणागतका शरणस्थान काट डालाजाता है तब सब शरणागतोंका जीवन नष्ट होजाता है, एक बड़ेभारी वृक्षकी जड़ कट जाने पर शाखायें कैसे रहसकती हैं ? ॥ १० ॥ चतुर राजाको चाहिये, कि-शत्रुपक्षकी जड़ पहले ही काटडाले और फिर उस राजाके सहायकोंका तथा भाई बन्धुओं

यान् पत्तश्च मूलमेवानुसाधयेत् ॥ ११ ॥ सुमंत्रितं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम् । आपदास्पदकाले तु कुर्वीत न विचारयेत् ॥ १२ ॥ वाङ्मात्रेण विनीतः स्याद्धृदयेन यथा क्षुरः । श्लक्ष्णपूर्वाभिभाषी च कामक्रोधौ च वर्ज्जयेत् ॥ १३ ॥ सपत्नसहिते कार्य्यं कृत्वा सन्धिं न विश्वसेत् । अपक्रामेत्ततः शीघ्रं कृतकार्य्यो विचक्षणः ॥ १४ ॥ शत्रुञ्च मित्ररूपेण सान्त्वेनैवाभिसान्त्वयेत् । नित्यशश्चोद्विजेत्तस्माद् गृहात् सर्पयुतादिव ॥ १५ ॥ यथा बुद्धिः परिभवे-

---

का भी जड़मूलसे नाश करडाले ॥ ११ ॥ जब आपत्तिकाल आजाय तो राजा जरा भी आलस्य न करके चतुराईसे दूसरोंके साथ विचार करे, पराक्रमसे ठीक २ काम लेय, सब शक्तियोंको लगाकर युद्ध करे और युद्धमें हार हो तथा भागजानेकी आवश्यकता पड़े तो सावधानीसे भागजाय (कि-जिससे सेनामेंके बचेहुए मनुष्य न मारेजायँ) ॥ १२ ॥ वाणीसे विनय दिखावे, परन्तु हृदय छुरीकी धारसा रक्खे, काम और क्रोधको वशमें रखकर प्रिय और कोमल भाषण करे ॥ १३ ॥ शत्रुके साथ काम करनेका अवसर आवे तो सन्धि करलेय, परन्तु उसका विश्वास न करे, काम पूरा होजाने पर सूक्ष्मदर्शी राजा तुरन्त ही उस नए साथीके पाससे खिसकजाय ॥ १४ ॥ शत्रुको भी नित्य मित्रकी समान शान्तिकी बातोंसे समझाकर वशमें करे, परन्तु जिस घरमें साँप रहता हो उस घरकी समान उससे स्वयं नित्य डरता रहे ॥ १५ ॥ अपनी बुद्धिसे जिसकी बुद्धिको दबादेना हो उसको अगले पिछले दृष्टान्त सुनाकर शांत करदेय, मन्दबुद्धिवालेको आगेको बड़े २ लाभ दिखाकर

त्समतीतेन सान्त्वयेत् । अनागतेन दुष्प्रज्ञं प्रत्युत्पन्नेन पण्डितम् १६ अञ्जलिं शपथं सान्त्वं प्रणम्य शिरसा वदेत् । अश्रुप्रमार्जनञ्चैव कर्त्तव्यं भूतिमिच्छता १७ वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत् कालस्य पर्य्ययः । प्राप्तकालन्तु विज्ञाय भिन्द्याद्घटमिवाश्मनि १८ मुहूर्त्तमपि राजेन्द्र तिन्दुकालातवज्ज्वलेत् । न तुषाग्निरिवानर्च्चिर्धूमायेत चिरं नरः ॥१९॥ नानार्थिकोर्थसम्बन्धं कृतघ्नेन समाचरेत्। अर्थी तु शक्यते भोक्तुं कृतकार्योवमन्यते । तस्मात्

शान्त करदेय और चतुर राजाको उस समय सेवा करके शांत करदेय ॥ १६ ॥ जो मनुष्य ऐश्वर्य पाना चाहता हो वह दोनों हाथ जोड़कर, शपथ खाकर, शान्तिकी बातें करके और मस्तकसे प्रणाम करके भी शत्रुके साथ बातचीत करे (किसी दुःखकी याद आनेसे उसके नेत्रोंमें आँसू आजायँ तो) शत्रुके आँसुओंको अपने हाथसे पोंछ देय ॥ १७ ॥ जहाँ तक अपना समय गिरताहुआ हो तहाँ तक शत्रुको अपने कन्धे पर भी बैठाल कर फिरता रहे, परन्तु उदयका समय आताहुआ मालूम होते ही,जैसे पानीसे भरेहुए घड़ेको पत्थर पर पटकदेते हैं तैसे ही शत्रुको पटकदेय॥१८॥हे राजेन्द्र! आबनूसकी लकड़ीके लूकेकी समान पुरुष एक क्षणभरको चमकउठे तो अच्छा,परन्तु भूसीकी आगीकी समान विना प्रकाशके चिरकाल तक भी धुआँ घुटतासा पड़ारहे तो अच्छा नहीं ॥ १९ ॥ अनेकों प्रयोजनोंवाला राजा कृतघ्नीके साथ अर्थसंबन्धी काम न करे, क्योंकि-कृतघ्नीको जहाँ तक अपना काम बनानेकी आवश्यकता होती है तब तक अनुकूल रहता है और अपना काम सिद्ध होजाने

सर्वाणि कार्याणि सावशेषाणि कारयेत् ॥२०॥ कोकिलस्य वराहस्य मेरोः शून्यस्य वेश्मनः। नटस्य भक्तिमित्रस्य यच्छ्रेयस्तत् समाचरेत् २१ उत्थायोत्थाय गच्छेत नित्ययुक्तो रिपोर्गृहान्। कुशलञ्चास्य पृच्छेत यद्यप्यकुशलं

पर वह सामना करके अपमान करता है, इसलिये शत्रुके सब काम पूरे न करे, किन्तु कुछ अधूरे रक्खे ॥२०॥ राजा अपने कल्याणके लिये पोषण करने योग्य लोगोंका दूसरोंसे पोषण कराकर बच्चेको पालनेवाली कोयलकी समान वर्त्ताव करे, भूमिको खोदनेवाले वराहकी समान शत्रुपक्षकी जड़ उखाड़कर फेंकदेय ॐ जैसे सुमेरु पर्वतको कोई लाँघ नहीं सकता तैसे ही राजा भी पर्वतकी समान ऐसा दृढ़ बनजाय, कि-कोई उल्लङ्घन न करसके, ऊजड़ घरमें जैसे सम्पत्तिकी आवश्यकता रहती है, तैसेही राजाभी सम्पत्ति पानेकी युक्ति करे, जैसे नट अनेकों रूप धारण करता है ऐसे ही राजा भी स्निग्ध प्रसन्न आदि अनेकों रूप धारण करे, मित्रके ऊपर भक्तिभाव रखनेवाला जैसे अपने मित्रका उदय चाहता है तैसे ही राजाभी सदा अपनी प्रजाका उदय चाहता रहे२१राजा नित्य शत्रुके राज्यमें आग लगवाता रहे और समय२ पर उसके घर जाकर, उसकी अकुशल होनेहुए

ॐ कोयलका यह गुण है, कि-वह अपने बच्चेको आप न पालकर कौएके घोंसलेमें रख आती है, कौआ उसको पालता है, बच्चा बड़ा होते ही उड़कर अपनी माताके पास आजाता है, ऐसे ही राजा ठीक समय आने तक, प्रजा अपने सहायकोंके तथा दूसरोंके पास पड़ी रहे तो रहने देय, परन्तु ऐसा प्रबन्ध रक्खे, कि-ठीक समय आने पर अपने पास आजाय। शूकरका यह गुण है, कि-वह भूमिमेंके वृक्षोंको जड़मूलसे उखाड़कर फेंक देता है, ऐसे ही राजा भी शत्रुको जड़मूलसे उखाड़डाले।

भवेत् २२ नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थान्न क्लीबा नाभिमानिनः। न च लोकरवाद्भीता न वै शश्वत्प्रतीक्षिणः २३ नास्यच्छिद्रं रिपुर्विद्यात् विद्याच्छिद्रं परस्य तु। गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः २४ वकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत्। वृकवच्चाप्यलुंपेत शरवच्च विनिष्पतेत् २५ पानमक्षास्तथा नार्यो मृगया गीतवादितम्। एतान् युक्त्या निषेवेत प्रसङ्गो ह्यत्र दोषवान् २६ कुर्य्यात्तृणमयं चापं शयीत मृगशायिकाम् अन्धः स्याद-

---

की कुशलका समाचार बूझे ॥२२॥ जो राजे आलसी, नपुंसक और अभिमानी होते हैं तथा जो लोकापवादसे डरनेवाले और सदा समयकी बाट देखनेवाले होते हैं उनको कभी लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती ॥२३॥ ऐसा वर्त्ताव रक्खे, कि-शत्रु अपने छिद्रको न जाननेपावे, परन्तु अपने आप शत्रुके सब छिद्रोंको जानसके, जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको छुपाये रहता है तैसेही राजा अपने छिद्रको छुपा रक्खे २४ जैसे बगला ध्यान लगाकर बैठजाता है तैसे ही राजा अपने कामोंका स्थिरतासे विचार करे, सिंहकी समान शत्रुके सामने पराक्रम दिखावे, भेड़ियेकी समान शत्रुके ऊपर एकसाथ टूटपड़े और जैसे बाण शत्रुके शरीर में घुसजाते हैं तैसेही राजा शत्रुके राज्यमें एकदम घुस जाय ॥ २५ ॥ मद्यपान, जुआ, स्त्रीसेवन, शिकार और गाना बजाना इन सबका उचित रीतिसे सेवन करे, इनमें अधिक आसक्त होजानेसे बुरा परिणाम निकलता है २६ राजा अपना धनुष बाँसका बनावे, मृगकी समान चौकन्ना रहकर सोवे, अन्ध बननेका अवसर आवे तो अन्धा बनजाय और बहरा बननेका अवसर होय तो

न्यवेलायां बाधिर्य्यमपि संश्रयेत् ॥ २७ ॥ देशकालौ समासाद्य विक्रमेत विचक्षणः । देशकालव्यतीतो हि विक्रमो निष्फलो भवेत् ॥२८॥ कालाकालौ सम्प्रधार्य्य बलाबलमथात्मनः । परस्परं बलं ज्ञात्वा तत्रात्मानं नियोजयेत् ॥ २९ ॥ दण्डेनोपनतं शत्रुं यो राजा न नियच्छति । स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ३० सुपुष्पितः स्यादफलः फलवान् स्याद् दुरारुहः । आमः स्यात् पक्वसङ्काशो न च शीर्य्येत कस्यचित् ॥३१॥ आशां कालवतीं कुर्य्यात्तां च विघ्नेन योजयेत् । विघ्नं निमित्ततो

बहरा बनजाय ॥ २७ ॥ चतुर राजा देश कालको देखकर पराक्रम करे, जो राजा देश कालको बिना जाने पराक्रम करता है उसका पराक्रम निष्फल जाता है ॥ २८ ॥ अमुक कामको करनेका देश काल है या नहीं, इस बातका विचार पहले करलेय, फिर अपनी शक्ति और निर्बलताका विचार करे, इसप्रकार आपसके बलाबलको जानकर अपने आप कर्त्तव्य काममें जुटजाय ॥२९॥ जो राजा शरणमें आयेहुए शत्रुको दण्डसे शिक्षा नहीं देता है, वह ऐसे माराजाता है जैसे खिच्चरी गर्भ धारण करके मर जाती है ॥ ३० ॥ राजा बाहर सुन्दर पुष्पवाले वृक्षकी प्रफुल्लित रहे, परन्तु कोई फल न पासके, ऊपरसे फल वालासे दीखे, परन्तु ऐसा प्रबन्ध रक्खे, कि-कोई चढ़ाई करके फल न पासके, फल कच्चा होता है परन्तु पकासा दीखता है जो राजा ऐसाही ढङ्ग रखकर वर्त्ताव करता है वह किसी राजासे पराजय नहीं पाता है ॥ ३१ ॥ यदि शत्रु कुछ माँगे तो राजा पहले वैसाही करदेनेकी आशा देय, परन्तु उसको पूरा करनेमें विघ्न डालदेय, विघ्नमें

ब्रूयान्निमित्तश्चापि हेतुतः ॥३२॥ भीतवत् संविधातव्यं यावद्भयमनागतम् । आगतन्तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्त्तव्यमभीतवत् ॥३३॥ न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति । संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ॥ ३४ ॥ अनागतं विजानीयात् यच्छेद्भयमुपस्थितम् । पुनर्वृद्धिभयात् किञ्चिदनिवृत्तं निशामयेत् ३५ प्रत्युपस्थितकालस्य सुखस्य परिवर्ज्जनम् । अनागतसुखाशा च नैव बुद्धिमतां नयः ३६ योरिणा सह सन्धाय सुखं स्वपिति विश्वसन् । स वृक्षाग्रे प्रसुप्तो वा पतितः प्रतिबुध्यते ३७ कर्म्मणा येन तेनैव मृदुना दारुणेन च । उद्धरेद्दीनमात्मानं समर्थो

निमित्त दिखावे और निमित्तमें भी हेतु दिखादेय ॥३२॥ जबतक भय न आया हो तबतक भयभीतकी समान वर्त्ताव करे और यदि भय अपने ऊपर आही पड़े तो निर्भय होकर शत्रुके ऊपर प्रहार करे ॥ ३३ ॥ पुरुष दुःख झेले विना सुखको नहीं देखपाता, परन्तु यदि दुःखदशामें पड़कर यदि जीवित रहजाता है तो सुख भोगता है ३४ जबतक भय न आवे तबतक राजा उससे सचेत रहे और यदि भय आपड़े तो उसको नष्ट करदेय तथा नष्ट कियाहुआ भय फिर बढ़ जायगा इस डरसे उसको नष्ट हुआ न समझकर सावधान रहे (दूर हुए भयसे भी सदा सावधान रहे कि-फिर भय आने पर क्या प्रबन्ध कियाजायगा) । ३५ । समय पर प्राप्त हुए सुखको त्याग देय और आगेको सुखकी आशा रक्खे, यह बुद्धिमानोंकी नीति नहीं है ३६ जो राजा शत्रुके साथ सन्धि करके उसके ऊपर विश्वास करता हुआ सुखमें सोता है वह मानो वृक्षकी टहनीपर सोता है और वहाँसे गिरपड़नेपर जागता है ३७

धर्म्ममाचरेत् ३८ ये सपत्नाः सपत्नानां सर्वांस्तानुप-
सेवयेत् । आत्मनश्चापि बोद्धव्याश्चारा विनिहिता परैः ३९
चारस्त्वविदितः कार्य आत्मनोथ परस्य च । पाषंडांस्ताप-
सांदीश्च परराष्ट्रे प्रवेशयेत् ॥ ४० ॥ उद्यानेषु विहारेषु
प्रपास्वावसथेषु च । पानागारे प्रवेशेषु तीर्थेषु च सभासु
च ॥ ४१ ॥ धर्माभिचारिणः पापाश्चौरा लोकस्य कंटकाः ।
समागच्छन्ति तान् बुद्ध्वा नियच्छेच्छमयीत च ॥४२॥
न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् । विश्वासा-
द्भयमभ्येति नापरीक्ष्य च विश्वसेत् ॥४३॥ विश्वासयित्वा
तु परं तत्त्वभूतेन हेतुना । अथास्य प्रहरेत्काले किञ्चिद्विच-

राजा कोमल वा दारुण कर्म करके अपने आत्माकी रक्षा
करे और समर्थ होकर धर्माचरण करे ॥ ३८ ॥ जो शत्रुओं
के शत्रु हों उनका भी राजा सन्मान करे, अपने और
शत्रुके दूतोंके कामको जानता रहे ॥ ३९ ॥ दूत ऐसे रक्खे
कि-जिनको अपने शत्रुके मनुष्य पहचान न सकें, राजा
पाखण्डियोंको और तपस्वी आदिको शत्रुके राज्यमें
दूतका काम करनेको भेजे ॥ ४० ॥ धर्ममें अड़चन डालने
वाले, पापी और लोगोंके सुखके मार्गमें कण्टककी समान
बननेवाले चोरोंको राजा बगीचोंमेंसे, नाटकशालाओंमेंसे,
पौशालाओंमेंसे, सरायोंमेंसे, मद्यपान करनेके स्थानोंमेंसे
वेश्याओंके घरोंमेंसे, तीर्थोंमेंसे और लोगोंके इकट्ठे होनेके
स्थानोंमेंसे खोज २ कर दण्ड देय ॥ ४१-४२ ॥ जो विश्वास
के योग्य न हों उनका राजा विश्वास न करे और
जो विश्वासके योग्य हों उनकाभी अतिविश्वास न करे,
विश्वास करनेसे भय उत्पन्न होता है, इसलिये परीक्षा
बिना किये विश्वास न करे ॥ ४३ ॥ सत्यसा मालूम होने

लिते पदे॥४४॥अशंक्यमपि शङ्केत नित्यं शङ्केत शङ्कितात्। भयं ह्यशङ्किताज्जातं समूलमपि कृन्तति॥ ४५॥ अवधानेन मौनेन कषायेण जटाजिनैः। विश्वासयित्वा द्वेष्टारमवलुम्पेद्यथा वृकः॥४६॥ पुत्रो वा यदि वा भ्राता पिता वा यदि वा सुहृत्। अर्थस्य विघ्नं कुर्वाणा हन्तव्या भूतिमिच्छता॥ ४७॥ गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः। उत्पथं प्रतिपन्नस्य दण्डो भवति शासनम् ४८ अभ्युत्थानाभिवादाभ्यां सम्प्रदानेन केनचित्। प्रतिपुष्प-

वाला कारण दिखाकर शत्रुको विश्वास दिलादेय और वह अपने स्थानसे जराभी चलायमान होय तथा अवसर मिले तो तुरन्त उसके ऊपर प्रहार करे॥४४॥ जिससे भय न हो, उससे भी डरता रहे तथा जो अपनेसे भय मानता हो उसको डराता ही रहे, जो शङ्का करनेके योग्य न हो उससेभी शङ्का करता ही रहे, जिसकी ओरसे भय आनेका विचार भी नहीं होता है उससेभी जब भय आता है तो राजाका जड़मूलसे नाश कर डालता है ४५ (धर्मका श्रेय प्राप्त करनेके लिए) सावधान रहनेका ढोंग करके, मुनियोंकेसा वर्त्ताव रखकर, गेरुआ कपड़े पहर कर,जटा बढ़ाकर तथा मृगछाला ओढ़कर शत्रुको विश्वास दिलादेय और अवसर पाते ही शत्रुके ऊपर ऐसे टूटपड़े जैसे मनुष्यके ऊपर भेड़िया टूट पड़ता है॥ ४६॥ जो राजा अपनी उन्नति चाहता हो वह पुत्र भाई, पिता अथवा मित्र जोभी कार्य साधनेमें विघ्न डालता हो उसको निःसन्देह मरवा देय॥४७॥ अपना गुरु भी यदि अभिमानी हो, कार्य अकार्यको न जानता हो तथा खोटे मार्गसे चलता हो तो उसको दण्ड देय॥४८॥तीखी चोंच वाला

फलाघाती तीक्ष्णतुण्ड इव द्विजः ॥ ४९ ॥ नाछित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दारुणम् । नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ॥ ५० ॥ नास्ति जात्या रिपुर्नाम मित्रं वापि न विद्यते । सामर्थ्ययोगाज्जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥५१॥ अमित्रं नैव मुञ्चेत वदन्तं करुणान्यपि । दुःखं तत्र न कर्त्तव्यं हन्यात्पूर्वापकारिणम् ॥ ५२ ॥ संग्रहानुग्रहे यत्नः सदा कार्योनसूयता । निग्रहश्चापि यत्नेन कर्त्तव्यो भूतिमिच्छता ॥ ५३ ॥ प्रहरिष्यन् प्रियं

पक्षी वृक्ष पर बैठता है, परन्तु उस वृक्षके फलफूलोंका नाश कर डालता है, ऐसे ही शत्रु घर आवे तो उसके सामने उठकर खड़ा होजाय, उसका सन्मान करे, उस को प्रणाम करे तथा भेंट (बक्सीस) देय (इसप्रकार विश्वास उत्पन्न कर देय) परन्तु समय आने पर उसके पुरुषार्थ और साधनोंका नाश करडाले ॥ ४९ ॥ दूसरेके मर्म-स्थानोंको काटे बिना तथा मच्छीमारकी समान बड़े२प्राणियोंको मारे बिना अधिक लक्ष्मी कौन पासकता है ? ॥ ५० ॥ जन्मसे न कोई किसीका शत्रु होता है, न कोई किसीका मित्र होता है, परन्तुजैसी दशा आती है उसके अनुसार ही शत्रु या मित्र होजाते हैं । ५१ । अपने हाथमें आकर कैदमें पड़ाहुआ शत्रु दया उपजाने वाली कैसी ही करुणाकी बातें करे तो भी राजा उसको छोड़े नहीं तथा उसकी दशा पर दया भी न लावे, किन्तु अनिष्ट करनेवालेको मारडाले यही उसका कर्त्तव्य है५२ जो राजा उन्नति चाहता हो वह अच्छे मनुष्योंको पास रक्खे और उनके ऊपर अनुग्रह करे अपनी प्रजाके साथ निष्कपट खुला व्यवहार करे तथा ध्यान देकर दुष्टोंको

र्थयात्प्रहृत्यैव प्रियोत्तरम् । असिनापि शिरश्छित्वा शोचेत च रुदेत च ॥५४॥ निमंत्रयीत सान्त्वेन संमानेन तितिक्षया । लोकाराधनमित्येतत्कर्त्तव्यं भूतिमिच्छता॥५५ न शुष्कवैरं कुर्वीत बाहुभ्यां न नदीं तरेत् । अनर्थकमनायुष्यं गोविषाणस्य भक्षणम् । दन्ताश्च परिमृज्यन्ते रसश्चापि न लभ्यते॥५६॥त्रिवर्गस्त्रिविधा पीड़ा अनुबन्धा-

---

तथा द्वेष रखने वालों को दण्ड देय ॥ ५३ ॥ जब किसीका द्रव्य हरना हो तो पहिले उससे मीठी २ बातें करनी चाहियें और द्रव्य हर लेनेके पीछे भी मीठी मीठी बातें कह कर उसको ढाढस देते रहना चाहिये, तलवारसे शत्रुका मस्तक काट डालनेके पीछे, (लोगोंको दिखानेके लिये और लोगोंसे प्रेम पानेके लिये) शोक करे,आसूँ बहावे ॥ ॥ ५४ ॥ ऐश्वर्य चाहने वाले राजा दूसरेसे मीठी २ बातें करके, सन्मान करके और उसको इनाम देकर वशमें करें, ऐसा करनेसे वह उसका दास बन जाता है ॥ ५५ ॥ बैलके सींगका भक्षण करनेसे किसी प्रकारका स्वाद नहीं आता है और दाँत गिर पडते हैं, यह कर्म जैसे अनर्थमय है और आयु घटाने वाला है, ऐसे ही शुष्क-लाभशून्य-वैर भी अनर्थ देने वाला और आयुकी हानि करने वाला है अतः किसीके साथ शुष्कवैर न करे और दोनों हाथोंसे नदीमें भी न तैरे, क्यों कि वह काम भी गोविषाणके भक्षणकी समान निरर्थक और आयु हरने वाला है ॥ ५६ ॥ इस जगत्में धर्म अर्थ और कामको त्रिवर्ग कहते हैं,इनमें धर्मसे अर्थको अर्थसे कामको और कामसे धर्मको बाधा न पहुँचे, इस प्रकार व्यवहार करे और धर्मके फलको जानकर तीनों

स्तथैव च। अनुबन्धं तथा ज्ञात्वा पीडाश्च परिवर्जयेत् ५७
ऋणशेषमग्निशेषं शत्रुशेषन्तथैव च। पुनः पुनः प्रवर्धन्ते
तस्माच्छेषं न धारयेत् ॥५८॥ वर्धमानमृणं तिष्ठेत्परि-
भूताश्च शत्रवः। जनयन्ति भयं तीव्रं व्याधयश्चाप्युपे-
क्षिताः ॥ ५९ ॥ नासम्यक् कृतकारी स्यादप्रमत्तः सदा
भवेत्। कण्टकोऽपि हि दुश्छिन्नो विकारं कुरुते चिरम् ६०
वधेन च मनुष्याणां मार्गाणां दूषणेन च। अगाराणां
विनाशैश्च परराष्ट्रं विनाशयेत् ॥६१॥ गृध्रदृष्टिर्बकालीनः
श्वचेष्टः सिंहविक्रमः। अनुद्विग्नः काकशङ्की भुजङ्गचरित-

ऐसे किसीका त्याग न करे और उनके फलोंको जानकर उनमें (से एकमें अतीव) आसक्त न होजावे ॥ ५७ ॥ ऋणका शेषभाग, अग्निका शेष भाग तथा शत्रुका शेष भाग कभी बाकी न रखे, क्योंकि-वह बचा रहनेसे दिन२ बढता ही है ॥ ५८ ॥ जो ऋण पूरा नहीं चुकाया जाता है वह दिन रात बढा करता है ऐसे ही अपमान पाया हुआ शत्रु और लापरवाहीसे बढती हुई व्याधि तीव्र भय देती है ॥ ५९ ॥ राजा सब काम पूरे करे (अधूरे न छोड़े) सदा चौकन्ना रहे, यदि काँटा भी पैरमेंसे निकालते समय टूट कर रह जाता है, तो वह बहुत दिनों तक पीड़ा देता है ॥ ६० ॥ शत्रुओंकी प्रजाको मार डाले, मार्गोंको नष्टकरदे तथा उसकी प्रजाके घरोंमें आग लगा कर उसके राज्यको नष्ट करे, ऐसा करनेसे शत्रुका देश जीताजा सकता है ॥६१॥ राजाको गीधकी समान दूरदर्शी होना चाहिये बगलेकी समान स्थिर होकर खड़े रहना चाहिये, कौएकी समान दूसरेसे शङ्कित रहना चाहिये और कुत्तेकी समान चोर आदिको जानने

श्चरेत् ॥ ६२ ॥ शूरमञ्जलिपातेन भीरुं भेदेन भेदयेत्। लुब्धमर्थप्रदानेन समं तुल्येन विग्रहः ॥६३॥ श्रेणीमुख्योपजापेषु वल्लभानुनयेषु च । अमात्यान् परिरक्षेत भेदसंघातयोरपि ॥ ६४ ॥ मृदुरित्यवजानन्ति तीक्ष्ण इत्युद्विजन्ति च । तीक्ष्णकाले भवेत्तीक्ष्णो मृदुकाले मृदुर्भवेत् ॥६५॥ मृदुनैव मृदुं छिन्धि मृदुना हन्ति दारुणम्।

लिये जाग्रत् रहना चाहिये और सिंहकी समान पराक्रम करना चाहिये तथा सर्प जैसे दूसरेके बनाए हुए बिलमें घुस जाता है तैसे ही राजाको दूसरेके किलेमें अकस्मात् घुस पड़ना चाहिये ॥ ६२ ॥ शूरवीरको दोनों हाथ जोड़कर वशमें करे, डरपोकको डरपोक कहकर वशमें करे, लोभीको धन देकर वशमें करे और जो अपने समान हो उसको युद्धकरके वशमें करे ॥६३॥ बहुतसी जातियोंके लोग मिलकर कोई काम करते हों उनके मुखियाओंमें भेद डालकर उनको वशमें करे, अपने मित्रोंसे शत्रुपक्षवाले विनय करते हों तो अपनेआप उनसे मेल करलेय और अपने मन्त्रियोंमें भेद न पड़जाय तथा वे आपसमें मिलकर अपने प्रतिकूल काम न करडालें इसका ध्यान रक्खे ॥ ६४ ॥ राजा कोमलस्वभाव होता है तो लोग उसका अपमान करते हैं और तीक्ष्ण स्वभावका होता है तो उससे घबड़ाते हैं इसलिये जो समय तीक्ष्णता दिखानेका होय उससमय तीक्ष्ण होजाय और जिस समय कोमल बननेकी आवश्यकता हो उस समय कोमल होजाय ॥६५॥ कोमलतासे कोमलताको काटदेय, कितने ही कोमलतासे तीक्ष्णताको नष्टकरदेते हैं, ऐसा कोई काम नहीं है, जो कोमलतासे

नासाध्यं मृदुना किञ्चित्तस्मात्तीक्ष्णतरो मृदुः ॥ ६६ ॥ काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुणः । प्रसाधयति कृत्यानि शत्रुश्चाप्यधितिष्ठति ॥६७॥ पण्डितेन विरुद्धः सन् दूरस्थोस्मीति नाश्वसेत् । दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू याभ्यां हिंसति हिंसितः ॥ ६८ ॥ न तत्तरेद्यस्य न पारमुत्तरेन्न तद्धरेद्यत् पुनराहरेत् परः । न तत् खनेद्यस्य न मूलमुद्धरेन्न तं हन्याद्यस्य शिरो न पातयेत् ॥ ६९ ॥ इतीदमुक्तं वृजिनाभिसञ्ज्ञितं न चैतदेवं पुरुषः समाचरेत् । परप्रयुक्तेन कथं विभावयेदतो मयोक्तं भवतो हितार्थिना ७०

सिद्ध न होजाय, इसलिए कोमलता तीक्ष्णतासे अधिक धारदार मानीजाती है ॥ ६६ ॥ जो समय पर कोमल होजाता है और समय पर तीक्ष्ण होजाता है वह अपना काम साधलेता है और शत्रुको वशमें करके उसका स्वामी होजाता है ॥ ६७ ॥ विद्वान् मनुष्यके साथ विरोध कर लेने पर मैं उससे दूर हूँ, वह मेरा क्या करलेगा, ऐसा विश्वास न करबैठे, क्योंकि-बुद्धिमान्के भुजदण्ड बड़े लम्बे होते हैं, जिन भुजाओंसे वह, पीड़ित होने पर पीड़ा देता है (दूर रहता हुआभी बड़ा उत्पात करता है)६८ जिस नदीके पार होना कठिन हो उस नदीके पार होनेका उद्योग न करे, जिस धनको शत्रु फिर छीनसके उस धनका हरण न करे, जिसकी जड़ बाहरको निकालना कठिन हो उसको न खोदे और जिसका शिर धड़ परसे न गिरासकता हो उसके ऊपर प्रहार न करे ।६९ परन्तु मैंने जिस आपत्तिकालके धर्म कहे हैं, ऐसा वर्त्ताव राजा सदा न करे, आवश्यकता पड़ने पर आपत्ति कालमें ही ऐसा वर्त्ताव करे, इसलिये ही तेरा हित

यथावदुक्तं वचनं हितार्थिना निशम्य विप्रेण सुवीरराष्ट्रपः। तथाऽकरोद्वाक्यमदीनचेतनः श्रियञ्च दीप्तां बुभुजे सबान्धवः॥ ७१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कणिकोपदेशे चत्वारिंशदधिकशततमोध्यायः ॥ १४० ॥

युधिष्ठिर उवाच। हीने परमके धर्मे सर्वलोकाभिलंघिते। अधर्मे धर्म्मतां नीते धर्मे चाधर्मतां गते ॥ १ ॥ मर्य्यादासु विनष्टासु क्षुभिते धर्म्मनिश्चये। राजभिः पीडिते लोके परैर्वापि विशाम्पते ॥२॥ सर्वाश्रमेषु मूढेषु कर्मसूपहतेषु च। कामाल्लोभाच्च मोहाचच भयं पश्यत्सु भारत ॥ ३ ॥ अविश्वस्तेषु सर्वेषु नित्यं भीतेषु पार्थिव।

चाहकर मैंने आपत्तिकालके धर्म कहे हैं॥ ७० ॥ भीष्म जीने कहा, कि-हित चाहनेवाले भारद्वाज ब्राह्मणने सौवीर देशके राजासे ऐसा कहा था उस उदार मनवाले राजाने ऐसाही वर्त्ताव कियाथा तब वह अपने बन्धवोंके सहित दमकती हुई राज्यलक्ष्मीको भोगने लगा ॥७१॥ एक सौ चालीसवां अध्याय समाप्त ॥१४०॥

युधिष्ठिरने कहा, कि-हे भीष्म पितामह ! जब परमधर्मका नाश होजाय और सब लोग धर्मका उल्लङ्घन करने लगें, जब अधर्म धर्मरूप और धर्म अधर्मरूप हो जाय ॥ १ ॥ जब सब मर्यादायें नष्ट होजायँ (सब लोग स्वच्छन्द और निरंकुश होजायँ) और सत्यधर्ममें गड़बड़ी पड़जाय तथा हे राजन् ! राजे प्रजाको पीड़ा देने लगें और चोर लूटने लगें ॥ २ ॥ जब सब आश्रम अज्ञानमें पडजायँ और वैदिक कर्मका लोप होजाय, जब सर्वत्र काम, लोभ और मोहसे भय दीखने लगे ॥ ३ ॥ और

निकृत्या हन्यमानेषु वञ्चयत्सु परस्परम् ४ सम्प्रदीप्तेषु देशेषु ब्राह्मणे चातिपीडिते। अवर्षति च पर्ज्जन्ये मिथो भेदे समुत्थिते ५ सर्वस्मिन् दस्युसाद् भूते पृथिव्यामुपजीवने। केनस्विद् ब्राह्मणो जीवेज्जघन्ये काल आगते ॥६॥ अतितिक्षुः पुत्रपौत्रानतुक्रोशान्नराधिप। कथमापत्सु वर्त्तेत तन्मे ब्रूहि पितामह ७ कथञ्च राजा वर्त्तेत लोके कलुषतां गते। कथमर्थाच्च धर्माच्च न हीयते परन्तप ८ भीष्म उवाच। राजमूला महाबाहो योगक्षेमसुवृष्टयः। प्रजासु व्याधयश्चैव मरणञ्च भयानि च ६ कृतं त्रेता द्वापरञ्च

हे राजन्! सब लोग विश्वासहीन होजायँ, सब लोग नित्य भयभीत रहें और आपसमें कपट करके एक दूसरे को मारनेलगें तथा धोखा देनेलगें ॥ ४ ॥ देशमें आग लगे, ब्राह्मण बहुत ही भयभीत होजायँ, मेघ वर्षा न करें और आपसमें बहुतही फूट पडजाय ॥ ५ ॥ पृथिवी पर जोकुछ भी जीवनके साधन हैं उनको लुटेरे लूटलें, ऐसा नीच समय (आपत्तिकाल) आजाने पर ब्राह्मण अपनी आजीविका कैसे चलावे ? ॥ ६ ॥ और हे पितामह! हे राजन्! जो ब्राह्मण दयावश पुत्र पौत्रोंका त्याग न करसकता हो वह आपत्तिकालमें कैसा वर्त्ताव करे७ हे परन्तप! लोगोंके पापी होजानेपर राजा कैसा वर्त्ताव करे, कि-जिससे अर्थ और धर्मसे भ्रष्ट न होने पावे ॥८॥ भीष्मने कहा, कि-हे महाबाहु राजा युधिष्ठिर! प्रजाके योगक्षेम(आजीविका और रक्षा)का तथा समय पर पूरी २ वृष्टि होनेका आधार राजाके ऊपर है तथा प्रजामें रोग मरण और भय व्यापना, इस सबका आधार भी राजा के ऊपर ही है॥६॥हे भरतसत्तम! सत्य द्वापर त्रेता और

कलिश्च भरतर्षभ । राजमूला इति मतिर्मम नास्त्यत्र संशयः १२ तस्मिंस्त्वभ्यागते काले प्रजानां दोषकारके। विज्ञानबलमास्थाय जीवितव्यं भवेत्तदा ११ अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । विश्वामित्रस्य सम्वादं चाण्डालस्य च पक्कणे १२ त्रेताद्वापरयोः सन्धौ तदा दैवविधिक्रमात् । अनावृष्टिरभूद् घोरा लोके द्वादशवार्षिकी १३ प्रजानामतिवृद्धानां युगान्ते समुपस्थिते। त्रेताविमोक्षसमये द्वापरप्रतिपादने १४ न ववर्ष सहस्राक्षः प्रतिलोभोऽभवद् गुरुः । जगाम दक्षिणं मार्गं सोमो व्यावृत्तलक्षणः ॥ १५ ॥ नावश्यायोऽपि तत्राऽभूत् कुत एवाभ्रराजयः । नद्यः संक्षिसतोयौघाः किञ्चिदन्तर्ग-

कलि इन सब युगोंकी जड़ मेरी समझमें निःसन्देह राजा ही है ॥ १० ॥ प्रजाओंका नाश करनेवाले उस आपत्ति कालके आजाने पर उस समय ब्राह्मण विज्ञानके बलका आश्रय लेकर जीविका चलावे ॥ ११ ॥ इस विषयमें विश्वामित्र और चाण्डालका चाण्डालके घर जो संवाद हुआ था उस पुरातन इतिहासका उदाहरण देते हैं १२ त्रेता और द्वापरयुगकी सन्धिके समय दैवयोगसे पृथिवी पर बारह वर्ष तक वर्षा नहीं हुई ॥ १३ ॥ बहुत बढ़ीहुई प्रजाओंके प्रलयका समय आगया, त्रेताकी समाप्ति और द्वापरका आरम्भ होरहा था ॥ १४ ॥ बृहस्पति वक्री होरहा था और चन्द्रमामें उलटे लक्षण दीखते थे, तथा वह अपनी कक्षाको छोड़कर दक्षिणकी ओरको जानेलगा था, उस समय इन्द्रने वर्षा नहीं की ॥ १५ ॥ उस समय ओसतक नहीं पड़ती थी, फिर वर्षा तो होती ही कहाँसे ? कितनी ही नदियोंमें पानी कम होगया और कितनी ही

तास्ततः ॥ १६ ॥ सरांसि सरितश्चैव कूपाः प्रस्रवणानि च । हतत्विषो न लक्ष्यन्ते निसर्गाद्दैवकारितात् ॥१७॥ उपशुष्कजलस्थायाविनिवृत्तसभाप्रपा । निवृत्तयज्ञस्वाध्याया निर्वषट्कारमङ्गला॥ १८ ॥ उच्छिन्नकृषिगोरक्षा निवृत्तविपणापणा । निवृत्तयूपसम्भारा विप्रनष्टमहोत्सवा ॥ १९ ॥ अस्थिसंचयसङ्कीर्णा महाभूतरवाकुला । शून्यभूयिष्ठनगरा दग्धग्रामनिवेशना ॥२०॥ क्वचिच्चोरैः क्वचिच्छस्त्रैः क्वचिद्राजभिरातुरैः । परस्परभयाच्चैव शून्यभूयिष्ठनिर्ज्जना ॥ २१ ॥ गतदैवतसंस्थाना वृद्धलो-

नदियें बिलकुल सूख गईं ॥ १६ ॥ तालाव, नदी, कुए, और झरने स्वभावसे और दैवका कोप होनेके कारण जलहीन और निस्तेज होगए॥१७॥छोटे २ जलाशय सूख कर कङ्कड़ होगए, जलकी पौशालायें उठादी गईं, यज्ञ और स्वाध्याय होना बंद होगए, वषट्कार और माङ्गलिक शब्द कहीं भी सुनाई नहीं आते थे ॥ १८ ॥ किसानोंने खेती और गोरक्षा करना छोड़ दिया, बाजारोंमें मालका खरीदना वेचना बन्द होगया, यज्ञके खम्भे और तपस्वियोंका पता नहीं रहा बड़े उत्सव तो कहीं दीखते ही नहीं थे ॥ १९ ॥ हड्डियोंके ढेरोंसे पृथिवी भरगई, सब प्रजा मांसाहारी प्राणियोंके कोलाहलसे घबड़ागई, बहुसे नगर ऊजड़ होगए तथा ग्राम रहनेके स्थान अग्निसे भस्म होगए ॥ २० ॥ कहीं भयानक चोरोंके भयसे, कहीं शस्त्रोंके प्रहारके भयसे, कहीं राजाके भयसे तथा परस्परके भयसे प्रजा घबड़ाकर भागनेलगी, इसलिये जहाँ तहाँ उजाड़ होगया ॥ २१ ॥ देवालय और पूजाके स्थानोंका चिह्न भी नहीं रहा, बूढ़ोंको पुत्र पौत्रोंने तिर-

कतिरस्कृता । गोजाविमहिषीहीना परस्परपराहता २२
हतविप्रा हतारक्षा प्रनष्टौषधिसञ्चया । सर्वभूततरुप्राया
बभूव वसुधा तदा ॥ २३ ॥ तस्मिन् प्रतिभये काले क्षते
धर्मे युधिष्ठिर। बभ्रमुः क्षुधिता मर्त्या खादमानाः परस्प-
रम्॥२४॥ ऋषयो नियमांस्त्यक्त्वा परित्यज्याग्निदेवताः।
आश्रमान् संपरित्यज्य पर्य्यधावन्नितस्ततः ॥ २५ ॥
विश्वामित्रोथ भगवान् महर्षिरनिकेतनः । क्षुधा परिगतो
धीमान् समन्तात् पर्य्यधावत ॥ २६ ॥ त्यक्त्वा दारांश्च
पुत्रांश्च कस्मिंश्चिज्जनसंसदि । भक्ष्याभक्ष्यसमो भूत्वा

स्कार करके निकाल दिया,गौ बकरी और भैंसे आसपमें भोजनके लिये लड़ २ कर मरगए ॥२२॥ चारों ओरसे ब्राह्मणोंका नाश होगया, रक्षाका कहीं नाम नहीं रहा, औषधियोंके समूहोंका भी नाश होगया, उस समय सब पृथिवी श्मशानके वृक्षकी समान अगम्य (डरावनी) होगई ॥२३॥ हे युधिष्ठिर! वह दुष्कालका महाभयानक समय आते ही धर्मका तो नाश ही होगया, सब प्राणी भूखे होकर आपसमें एक दूसरेको खानेको तयार होगए२४ ऋषि नियमोंको त्यागकर, अग्नि और देवताओंको छोड़ कर तथा आश्रमोंको भी त्यागकर (अन्नके लिये) इधर उधरको भागनेलगे ॥२५॥ ऐसे समयमें बुद्धिमान् भगवान् विश्वामित्र अपने पुत्रोंको और धर्मपत्नीको, लोगोंमें (किसी एक आश्रयवाले स्थानमें) छोड़कर तथा घरद्वारको भी त्यागकर, भक्ष्य अभक्ष्य वस्तुको समान गिनतेहुए भूखके मारे चारों ओर भटकते फिरते थे ॥ २६ ॥ एक समय वह फिरते २ वनमें रहनेवाले तथा प्राणियोंकी हिंसा करनेवाले हिंसक चाण्डालोंके ग्राममें

निरग्निरनिकेतनः ॥ २७ ॥ स कदाचित् परिपतन् श्वपचानां निवेशनम् । हिंस्राणां प्राणिघातानामाससाद वने क्वचित् ॥ २८ ॥ विभिन्नकलशाकीर्णं श्वचर्म्मच्छेदनायुतम् । वराहखरभग्नास्थिकपालघटसंकुलम् ॥ २९ ॥ मृतचैलपरिस्तीर्णं निर्माल्यकृतभूषणम् । सर्पनिर्मोकमालाभिः कृतचिह्नं कुटीमठम् ३० कुक्कुटारावबहुलं गर्धवध्वनिनादितम् । उद्घोषद्भिः खरैर्वाक्यैः कलहद्भिः परस्परम् ॥ ३१ ॥ उलूकपक्षिध्वनिभिर्देवतायतनैर्वृतम् । लोहघण्टापरिष्कारं श्वयूथपरिवारितम् ॥ ३२ ॥ तत् प्रविश्य क्षुधाविष्टो विश्वामित्रो महानृषिः । आहारान्वेषणे युक्तः परं यत्नं समास्थितः ३३ न च क्वचिदविन्दत् स भिक्षमाणोपि कौशिकः । मांस-

---

जापहुँचे, तहाँ जाकर देखा तो जहाँ तहाँ मट्टीके टूटेहुए घडोंके ठीकड़े पड़े थे, कुत्तेके चमड़ेके टुकड़े फैलेहुए थे और शूकर तथा गधेकी टूटी हुई हड्डियोंके ढेर लगे हुए थे ॥ २७-२९ ॥ मुरदोंके ऊपरके वस्त्र (कफन) पड़े थे, मुरदोंके ऊपरसे उतारी हुई पुष्पमालाओंसे घर सजेहुए थे, झोपड़ियों और मठोंके ऊपर साँपोंकी कैंचुलियें लटक रहीं ॥ ३० ॥ मुरगे बोलरहे थे, गधोंके रेंकनेसे चाण्डालोंका वह गाँव गूँजरहा था, लोग आपसमें कर्कश स्वरमें गालियें बकरहे थे तथा आपसमें लड़रहे थे ॥ ३१ ॥ उल्लू और दूसरे पक्षियोंके शब्दसे गाँव गूँजरहा था, देवमन्दिरोंमें जो लोहेके घण्टे आसपास टँगरहे थे, उनके शब्द होरहे थे और कुत्तोंके टोले इकट्ठे होकर चाण्डालवाड़ीको चारों ओरसे घेरे हुए थे ॥ ३२ ॥ महर्षि विश्वामित्र भूखे थे, इसलिये उस चाण्डालवाड़ीमें जापहुँचे और भोजन ढूँढनेका बडा ही उद्योग करनेलगे ॥ ३३ ॥

मन्नं फलं मूलमन्यद्वा तत्र किञ्चन ॥ ३४ ॥ अहो कृच्छ्रं मया प्राप्तमिति निश्चित्य कौशिकः। पपात भूमौ दौर्बल्यात् तस्मिंश्चाण्डालपक्कणे ॥ ३५ ॥ स चिन्तयामास मुनिः किन्नु मे सुकृतं भवेत्। कथं वृथा न मृत्युः स्यादिति पार्थिवसत्तम ३६ स ददर्श श्वमांसस्य कुतंत्रीं विततांमुनिः। चाण्डालस्य गृहे राजन् सद्यः शस्त्रहतस्य वै ॥ ३७ ॥ स चिन्तयामास तदा स्तैन्यं कार्य्यमितो मया। न हीदानीमुपायो मे विद्यते प्राणधारणे ॥ ३८ ॥ आपत्सु विहितं स्तैन्यं विशिष्टश्च महीयसः। विप्रेण प्राणरक्षार्थं कर्त्तव्यमिति निश्चयः ॥३९॥ हीनादादेयमादौ स्यात् समानात्त-

कौशिकके पुत्रने जहाँ तहाँ भीख माँगी, परन्तु कहींसे भी उनको मांस या अन्न, फल वा मूल अथवा कोई दूसरा पदार्थ नहीं मिला ॥ ३४ ॥ ओः ! मुझे तो यह बड़ा दुःख होरहा है, ऐसा कहते २ वह भूखकी दुर्बलताके कारण उस चाण्डालटोलेकी भूमिमें गिरपड़े ३५ हे श्रेष्ठ राजन् ! वह मुनि विचारने लगे, कि-अब मेरी सुदशा कैसे हो ? और मेरी वृथा (बिना अन्नकी) मृत्यु किसप्रकार न हो ? ॥३६॥ हे राजन् ! फिर उन्होंने खड़े होकर आस पासको दृष्टि डाली तो तत्काल शस्त्रसे मारेहुए एक कुत्तेकी मोटी जाँघका बहुतसा मांस एक चाण्डालके घरमें पड़ाहुआ देखा और तुरन्त ही विचार किया, कि-प्राणोंकी रक्षा करनेके लिये अब मुझे दूसरा कोई भी उपाय नहीं दीखता, इसलिये मैं इस मांसको चुराकर लेजाऊँ ! ॥ ३७-३८ ॥ आपत्तिकालमें बड़े मनुष्यको भी चोरी करनेकी आज्ञा है, ब्राह्मण अपने प्राणोंकी रक्षा करनेके लिए चोरी करलेय, ऐसा

दनन्तरम्।असम्भवे त्वाददीत विशिष्टादपि धार्मिकात् ४०
सोऽहमन्त्यावसायानां हराम्येनां प्रतिग्रहात् । न स्तैन्य-
दोषं पश्यामि हरिष्यामि श्वजाघनीम् ॥४१॥ एतां बुद्धिं
समास्थाय विश्वामित्रो महामुनिः। तस्मिन् देशे स सुष्वाप
श्वपचो यत्र भारत ॥४२॥ स विगाढ़ां निशां दृष्ट्वा सुप्ते
चाण्डालपक्कणे।शनैरुत्थाय भगवान् प्रविवेश कुटीमतः४३
स सुप्त इव चाण्डालः श्लेष्मापिहितलोचनः। परिभि-
न्नस्वरो रूक्षः प्रोवाचाप्रियदर्शनः ॥४४॥ श्वपच उवाच ।

शास्त्रमें निर्णय किया है ॥ ३९ ॥ ब्राह्मण आदि वर्णके पाससे यदि प्राणधारणकी वस्तु न मिलसकेतो पहलेतो नीच मनुष्यकी वस्तु लेय, ऐसा न बनसके तो समान मनुष्यकी चोरी करलेय और उससे मिलनेका भी संयोग न बने तो धर्मात्मा उत्तम पुरुषकी भी चोरी करलेय४० मैं चाण्डालके प्रतिग्रहसे चोरीमें अधिक दोष नहीं देखता अर्थात् चांडालके प्रतिग्रह और चोरीको एकसमान समझता हूँ मैं अपने प्राणोंकी रक्षाके लिए चाण्डालके घर मेंसे कुत्तेकी जाँघ चुराऊँ (तो इसमें पाप नहीं है)४१ हे भरतवंशी राजन्! महामुनि विश्वामित्र ऐसा विचार करके जहाँ चाण्डाल रहता था तहाँ जाकर सोरहे ४२ रात गाढ़ी होगई और चाण्डालटोलेके सब लोग सोगए यह देखकर भगवान् विश्वामित्र धीरे २ उठे और मांस लेनेको चाण्डालकी झोंपड़ीमें घुसगए॥४३॥चाण्डालकी दोनों आँखें कीचड़ोंसे ढकगईं थीं, इसलिए वह सोता हुआसा मालूम होता था, परन्तु वह जागरहा था, वह देखनेमें भयानक और स्वभावका रूखा था,वह झोंपड़ीमें खड़खड़ाहट सुनकर फटीहुई आवाजमें कहने लगा ४४

कः कुक्कुरीं घट्टयति सुप्ते चाण्डालपक्कणे। जागर्मि नात्र सुप्तोऽस्मि हतोसीति च दारुणः ॥४५॥ विश्वामित्रस्ततो भीतः सहसा तमुवाच ह। तत्र व्रीड़ाकुलमुखः सोद्वेगस्तेन कर्मणा ॥ ४६ ॥ विश्वामित्रोऽहमायुष्मन्नागतोऽहं बुभुक्षितः। मा वधीर्मम सद्बुद्धे यदि सम्यक्प्रपश्यसि४७ चाण्डालस्तद्वचः श्रुत्वा महर्षेर्भावितात्मनः। शयनादुपसंभ्रान्त उद्ययौ प्रति तन्ततः ॥ ४८ ॥ स विसृज्याश्रु नेत्राभ्यां बहुमानात् कृताञ्जलिः। उवाच कौशिकं रात्रौ ब्रह्मन् किन्ते चिकीर्षितम् ॥४९॥ विश्वामित्रस्तु मातङ्गमुवाच परिसान्त्वयन्। क्षुधितोहं गतप्राणो हरिष्यामि

चांडालने कहा, कि-इस चांडालटोलेमें सब सोगए हैं फिर कुत्तेकी जाँघको कौन हिलारहा है? मैं सो नहीं गया हूँ; किन्तु जागरहा हूँ, अरे तू मरनेको आया है, यह बात उसने कठोरतासे कही ॥ ४५ ॥ यह सुनकर विश्वामित्र सहमगए, उनका मुख लज्जाके कारण घबड़ा गया,स्वयं चोरीका काम कररहे थे,इसलिए घबड़ाहटके साथ कहउठे कि- ॥ ४६ ॥ हे आयुष्मन्! मैं विश्वामित्र हूँ, भूखा होकर यहाँ आया हूँ,हे उत्तमबुद्धिवाले! मुझे मारे मत,किन्तु अच्छे प्रकारसे विचार कर देख४७ तपस्वी आत्मा वाले महर्षि विश्वामित्रकी इस बातको सुनकर चांडाल हड़बड़ाकर खाट परसे उठ बैठा और विश्वामित्रके सामने आया ॥ ४८ ॥ वह बड़े सन्मानके साथ दोनों हाथ जोड़कर दोनों नेत्रोंसे आँसू बहाताहुआ विश्वामित्रसे कहनेलगा, कि-हे ब्रह्मन्! इस अन्धेरी रात्रिमें यहाँ आकर आप क्या करना चाहते हैं? ॥४९॥ विश्वामित्रने उस चांडालको समझातेहुए कहा, कि-

श्वजाघनीम् ॥५०॥ क्षुधितः कलुषं यातो नास्ति ह्रीरशनार्थिनः। क्षुच्च मां दूषयत्यत्र हरिष्यामि श्वजाघनीम्॥५१
अवसीदन्ति मे प्राणाः श्रुतिर्मे नश्यति क्षुधा। दुर्बलो नष्टसंज्ञश्च भक्ष्याभक्ष्यविवर्जितः॥ ५२ ॥ सोऽधर्मं बुध्यमानोपि हरिष्यामि श्वजाघनीम्। अटन् भैक्ष्यं न विन्दामि यदा युष्माकमालये ॥ ५३ ॥ तदा बुद्धिः कृता पापे हरिष्यामि श्वजाघनीम् । अग्निर्मुखं पुरोधाश्च देवानां शुचिषाड्विभुः॥५४॥यथावत् सर्वभुग्ब्रह्मा तथा मां विद्धि

मैं भूखा हूँ और मेरे प्राण निकलेजाते हैं, इसलिए मैं कुत्तेकी जाँघ चुराकर लेजाऊँगा ॥ ५० ॥ मैं भूखा हूँ, इसलिए पापकर्म करनेको उद्यत हुआ हूँ जो भूखा होता है उसको कोई काम करनेमें भी लज्जा नहीं होती है, इस समय मुझे भूखने सताया है, इसलिये मैं अकर्म करनेको तयार हुआ हूँ और कुत्तेकी जङ्घा चुरानेको आयाहूँ ५१ भूखके मारे मेरे प्राण छटपटा रहे हैं और मैं वेदके ज्ञानको भूल गया हूँ, मेरा शरीर बलहीन होगया है, संज्ञा (भले बुरेकी पहचान) जाती रही है, मुझे भक्ष्य अभक्ष्य का कुछ ज्ञान नहीं है ॥ ५२ ॥ मैं समझता हूँ कि–चोरी करनेमें अधर्म है तोभी मैंने कुत्तेकी जाँघ चुरानेका विचार किया है, मैं इस चाण्डालटोलेके घर २ भीखके लिये भटकता फिरा, परन्तु जब मुझे भिक्षा नहीं मिली तब मैंने चोरी करनेका पापी विचार किया और इस कुत्तेकी जाँघ चुराने आया हूँ, भगवान् अग्नि देवताओंका मुख है, वह उनका पुरोहित है, वह सकल शुद्ध पवित्र वस्तुओंका स्वाहा करता है तथा ब्रह्मदेव समय पर सब वस्तुओंका भक्षण करते हैं तैसेही तू धर्मसे मेरे विषयमें

धर्मतः । तमुवाच स चाण्डालो महर्षे शृणु मे वचः ५५
श्रुत्वा तत्त्वं तथातिष्ठ यथा धर्मो न हीयते। धर्मं तवापि
विप्रर्षेशृणु यत्ते ब्रवीम्यहम्५६शृगालादधमं श्वानं प्रवदंति
मनीषिणः । तस्याप्यधम उद्देशः शरीरस्य श्वजाघनी५७
नेदं सम्यक् व्यवसितं महर्षे धर्मगर्हितम्। चाण्डालस्वस्य
हरणमभक्ष्यस्य विशेषतः ५८ साध्वन्यमनुपश्य त्वमुपायं
प्राणधारणे।न,मांसलोभात्तपसो नाशस्ते स्यान्महामुने५६
जानता विहितं धर्मं न कार्य्यो धर्मसङ्करः । मा स्म धम

समझ, महर्षि विश्वामित्रकी इस बातको सुनकर चांडालने उनसे कहा, कि-अब आप मेरी बात सुनिये ५५ और उस सत्य बातको ठीक २ सुननेके बाद ऐसा काम करिये, जिसमें धर्मका नाश न हो, हे विप्रर्षे! मैं तुम्हें बताता हूँ, कि-तुम्हारा धर्म क्या है उसको तुम सुनो ५६ विद्वान् कहते हैं, कि-कुत्ता गीदड़से अधम है और कुत्तेकी जाँघ उसके शरीरके दूसरे अंगोंसे अधिक गई गुजरी है ॥ ५७ ॥ इसलिये हे महर्षे! तुम तीन प्रकारका पापकर्म करनेको तयार हुए हो,एक तो यह काम धर्मसे निन्दित है,दूसरे चांडालका धन चुरायाजारहा है,तीसरे यह चोरी विशेषकर अभक्ष्य वस्तुकी है ॥ ५८ ॥ हे महामुने! प्राणधारणके लिए तुम और कोई अच्छासा उपाय खोजो, परन्तु ऐसा न करो, कि कुत्तेके मांसके लोभमें तुम्हारे तपका नाश होजाय ॥ ५६ ॥ शास्त्रमें कहेहुए धर्मको जाननेवाला वर्णाश्रमधर्ममें सङ्करता न करे (तीनों वर्णोंके लिये कुत्तेका मांस निषिद्ध है, यदि द्विज कुत्तका मांस खालेय तो फिर द्विजमें और चांडालमें भेद ही क्या रहे) तुम धर्मात्माओंमें उत्तम हो, इसलिए

परित्यार्त्तीस्त्वं हि धर्मभृताम्वर: ॥६०॥ विश्वामित्रस्ततो राजन्नित्युक्तो भरतर्पभ । क्षुधार्त्तः प्रत्युवाचेदं पुनरेव महामुनिः ॥ ६१ ॥ निराहारस्य सुमहान्मम कालोऽभिधावतः । न विद्यतेऽप्युपायश्च कश्चिन्मे प्राणधारणे ॥६२॥ येन येन विशेषेण कर्मणा येन केनचित् । अभ्युज्जीवेत् साद्यमानः समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ ६३ ॥ ॥ ऐन्द्रो धर्मः क्षत्रियाणां ब्राह्मणानामथाग्निकः । ब्रह्म वह्निर्मम बलं भक्ष्यामि शमयन् क्षुधाम् ॥ ६४ ॥ यथा यथैव जीवेद्धि तत् कर्त्तव्यमहेलया । जीवितं मरणाच्छ्रेयो जीवन् धर्ममवाप्नुयात्॥६५॥ सोऽहं जीवितमाकांक्षन्नभक्ष्यस्यापि

धर्मको न त्यागो ॥६०॥ हे भरतसत्तम राजन्! चांडालने विश्वामित्रसे ऐसा कहा, तब भूखसे व्याकुल हुए महामुनिने उससे यह बात कही, कि-६१भूखा घूमते२ मुझे बहुत समय बीतगया है और अब प्राणधारणका कोई उपाय भी नहीं है ॥ ६२ ॥ मनुष्य क्षुधासे पीड़ित होय तो वह धर्म अधर्मका विचार न करके किसी भी विशेष कर्मसे अपने प्राणोंकी रक्षा करलेय और सङ्कट बीतजाने पर धर्मका आचरण करके उस पापका प्रायश्चित करडाले ॥ ६३ ॥ इन्द्रकी समान प्रजाका पालन करना क्षत्रियका धर्म है,अग्निकी समान पवित्र रहना ब्राह्मणका धर्म है, वेद अग्निरूप है और वह मेरा बल है, इसलिए मैं कुत्तेकी अपवित्र जाँघको खाकर अपनी भूखको शांत करूँगा ॥ ६४ ॥ मनुष्य निःसन्देह होकर वही करे, जिससे अपना जीवन रहसके, मरनेकी अपेक्षा जीवित रहना अच्छा है,क्योंकि-यदि मनुष्य जीता रहेगा तो धर्माचरण करसकेगा॥६५॥इसलिये मैं भी जीवित रहने

भक्षणम् । व्यवस्ये बुद्धिपूर्वं वै तद्भवाननुमन्यताम् ।६६। जीवन् धर्मं चरिष्यामि प्रणोत्स्याम्यशुभानि तु । तपोभिर्विद्यया चैव ज्योतींषीव महत्तमः ॥६७॥ श्वपच उवाच । नैतत् खादन् प्राप्नुते दीर्घमायुर्नैव प्राणान्नामृतस्येव तृप्तिः। भिक्षामन्यां भिक्ष मा ते मनोस्तु श्वभक्षणे श्वा ह्यभक्ष्यो द्विजानाम् ॥६८॥ विश्वामित्र उवाच । न दुर्भिक्षे सुलभं मांसमन्यत् श्वपाक मन्ये न ममास्ति वित्तम् । क्षुधार्त्तश्चाहमगतिर्निराशः श्वमांसेस्मिन् षड्रसान् साधु मन्ये६६

की इच्छासे अभक्ष्य कुत्तेकी जाँघको जानकर खाऊँगा, इसलिये तुम मुझे इस कामको करनेकी संमति दो ६६ जैसे ज्योतियें (तेज) बडेभारी अन्धकारका नाश कर देती हैं तैसे ही मैं भी जीवित रहूँगा तो तप और विद्यासे अपने पापोंका नाश करडालूँगा और अपनी आत्माको बलवान् करलूँगा ॥६७॥ चांडालने कहा कि-इस कुत्तेके मांसको खानेसे आपसरीखा मनुष्य अधिक दिनों नहीं जीसकता और आपसमानको (ऐसे अभक्ष्यभोजन से बलभी नहीं प्राप्त होसकता तथा अमृतके भोजन की समान इसको खानेसे प्राणोंकी तृप्ति भी नहीं होती, आप कुत्तेका मांस खानेका मनमें विचार भी न करिये, कोई और भिक्षा ढूँढ लीजिये, क्योंकि- द्विजोंके लिये कुत्ता अभक्ष्य कहा है ॥ ६८ ॥ विश्वामित्र बोले, कि-अरे चाण्डाल ! ऐसे दुष्कालके समयमें मेरी समझमें दूसरा कोई मांस सहजमें नहीं मिलसकता, मेरे पास धन भी नहीं है (कि-जो मैं उससे अन्न खरीदसकूँ)मैं भूखसे घबड़ा रहा हूँ,मुझमें चलने तककी शक्ति नहीं है और मैं निराश होगया हूँ,मेरी समझमें इस कुत्तेके मांसमें

श्वपच उवाच । पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रस्य वै विशः ।
यथा शास्त्रप्रमाणन्ते माऽभक्ष्ये मानसं कृथाः ॥ ७० ॥
विश्वामित्र उवाच । अगस्त्येनासुरो जग्धो वातापिः
क्षुधितेन ।वैअहमापद्गतः क्षुत्तो भक्षयिष्ये श्वजाघनीम्७१
श्वपच उवाच।भिक्षामन्यामाहरेति न च कर्त्तु मिहार्हसि ।
न नूनं कार्य्यमेतद्वै हर कामं श्वजाघनीम् । विश्वामित्र
उवाच । शिष्टा वै कारणं धर्मे तद्वृत्तमनुवर्त्तये । परां
मेध्याशनादेनां भक्ष्यां मन्ये श्वजाघनीम् ॥७३॥ श्वपच
उवाच । असता यत्समाचीर्णं न च धर्मः सनातनः ।

छहों रस हैं६९चांडालने उत्तर दिया,कि-शास्त्रमें ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्यको (आपत्तिकालमें) पाँच नखोंवाले पाँच प्राणी ही खाने योग्य बताये हैं, आपसमान महात्माको अभक्ष्य मांसके खानेका विचार नहीं करना चाहिये ७० विश्वामित्रने कहा, कि-भूखसे पीड़ित हुए अगस्त्य मुनिने वातापी नामके असुरको खालिया था, मैं भी आपत्तिमें पड़कर भूखसे व्याकुल होरहा हूँ, इसलिये इस कुत्तेकी जाँघको खाऊँगा ॥ ७१ ॥ चांडालने उत्तर दिया, कि-आप कोई दूसरी भिक्षा खोजलीजिये, यहाँ यह मांस भक्षण करना ठीक नहीं है, वास्तवमें आपको तो ऐसा करना ही नहीं चाहिये और आप इससे ही प्रसन्न हैं तो इस कुत्तेकी जङ्घाको लेजाइये ॥ ७२ ॥ विश्वामित्रने कहा, कि-धर्मके विषयमें शिष्ट पुरुषोंका आचार प्रमाण मानाजाता है, इसलिये मैं (अगस्त्य आदि) शिष्ट पुरुषोंके आचारका अनुसरण करता हूँ तथा इस कुत्तेकी जङ्घाको पवित्र भोजनसे भी उत्तम भोजन करने योग्य मानता हूँ७३चांडाल बोला, कि-जो

नाकार्यमिह कार्यं वै मा छलेनाशुभं कृथाः ॥७४॥ विश्वामित्र उवाच। न पातकं नावमतमृषिः सन् कर्त्तुमर्हति। समौ च श्वमृगौ मन्ये तस्माद्भोक्ष्ये श्वजाघनीम् ॥ ७५ ॥ श्वपच उवाच। यद् ब्राह्मणार्थे कृतमर्थितेन तेनर्षिणा तदवस्थाधिकारे। स वै धर्मो यत्र न पापमस्ति सर्वैरुपायैर्गुरवो हि रक्ष्याः ॥ ७६ ॥ विश्वामित्र उवाच। मित्रं च मे ब्राह्मणस्यायमात्मा प्रियश्च मे पूज्यतमश्च लोके।

असत् पुरुषका किया हुआ काम है वह सनातनधर्म नहीं गिनाजाता, जो अधर्म है वह धर्म नहीं होसकता, इस लिये आपको मोहमें पड़कर यह अशुभ काम नहीं करना चाहिये ॥ ७४ ॥ विश्वामित्रने कहा, कि-जो ऋषि है वह पापकर्म अथवा तिरस्कारसे भरा हुआ काम कभी नहीं करता है मैं तो कुत्ता और मृग दोनोंको एकसे मानता हूँ इसलिए कुत्तेकी जङ्घाको खाऊँगा ॥ ७५ ॥ चाण्डालने कहा, कि-ब्राह्मणोंने वातापीके कष्टसे छूटनेके लिए अगस्त्य ऋषिकी प्रार्थना की थी, इसलिये अगस्त्य ऋषिने वातापीका भक्षण करके वातापीसे ब्राह्मणोंकी रक्षाकी थी, परन्तु वह समय ऐसा था, कि-उस समय ऐसा करनेमें पाप नहीं लगता था, जिसको करनेमें पाप न हो उसका ही नाम धर्म है, तीनों वर्णोंके गुरु जो ब्राह्मण उनकी रक्षा तो सब ही उपायोंसे करनी चाहिये ॥ ७६ ॥ विश्वामित्रने कहा, कि-मैं ब्राह्मण हूँ और मेरा यह देह मित्ररूप है और मुझे बहुत ही प्यारा है तथा जगत्में अत्यन्त पूजनीय है इस देहके पोषणके लिये मैं इस कुत्तेकी जाँघको चुराना चाहता हूँ, इसको लेनेके लिये मैं इतना आतुर होरहा

तं भर्त्तुकामोऽहमिमां जिहीर्षे नृशंसानामीदृशानां न बिभ्ये ॥७७॥ श्वपच उवाच । कामं नरा जीवितं संत्यजन्ति न चाभक्ष्ये क्वचित्कुर्वन्ति बुद्धिम् । सर्वान् कामान्प्राप्नुवंतीह विद्वन् प्रियस्व कामं सहितः क्षुधैव ॥ ७८ ॥ विश्वामित्र उवाच । स्थाने भवेत् स यशः प्रेत्यभावे निःसंशयः कर्मणां वै विनाशः । अहं पुनर्व्रतनित्यः शमात्मा मूलं रक्ष्यं भक्षयिष्याम्यभक्ष्यम् ॥ ७९ ॥ बुद्ध्यात्मके व्यक्तमस्तीति पुण्यं मोहात्मके यत्र यथाश्वभक्ष्ये । यथ-

---

हूँ, कि-तुझसे तथा तेरे भाई जैसे क्रूर पुरुषोंसे भी चोरी करनेमें नहीं डरा हूँ ॥७७॥ चाण्डालने कहा, कि-मनुष्य जानकर अपने प्राण देदेता है, परन्तु अभक्ष्य वस्तुको खानेका विचार कभी नहीं करता, हे विद्वन् ! जो पुरुष भूखको जीतलेता है वह इस जगत्में सब कामनाओंको पाजाता है, तुमभी भूखको जीतकर ही अपनी कामना पूरी करो ॥ ७८ ॥ विश्वामित्रने कहा, कि-अनशन (भोजनके त्यागका व्रत) धारण करके प्राण त्याग देनेसे (जगत्में) यश होता है, यह ठीक है, और अभक्ष्यभक्षणसे कर्मोंका नाश होता है, इसमें भी जरा सन्देह नहीं है, मैं अपने विषयमें कहूँ तो मैं नित्य व्रत करता हूँ तथा मेरा हृदय शान्त है, परन्तु धर्मका मूलकारण शरीर है, इसलिये उस शरीरकी रक्षा करनेमें मैं अभक्ष्य वस्तुका भक्षण करूँगा (और धर्माचरणसे उस पापका नाश करदूँगा) ॥ ७९ ॥ यह तो स्पष्ट है, कि-ऐसे कामभी शुद्धात्मा पुरुषमें ही धर्मानुकूल मानेजाते हैं और अशुद्ध आत्मावाले पुरुष यदि (विपत्तिकालमेंभी) कुत्तेका मांस खालें तो वे बड़ेभारी पापी माने जाते हैं,

प्येतत् संशयात्मा चरामि नाहं भविष्यामि यथा त्वमेव ८०
श्वपच उवाच। गोपनीयमिदं दुःखमिति मे निश्चिता मतिः।
दुष्कृतो ब्राह्मणः सन्नं यस्त्वामहमुपालभे ।८१। विश्वामित्र
उवाच। पिबन्त्येवोदकं गावो मण्डूकेषु रुवत्स्वपि। न
तेऽधिकारो धर्मेऽस्ति माभूरात्मप्रशंसकः॥ ८२ ॥ श्वपच
उवाच। सुहृद् भूत्वानुशासे त्वां कृपा हि त्वयि मे द्विज।
यदिदं श्रेय आधत्स्व मा लोभात्पातकं कृथाः ॥ ८३ ॥
विश्वामित्र उवाच। सुहृन्मे त्वं सुखेप्सुश्चेदापदो मां
समुद्धर। जानेऽहं धर्मतोऽत्मानं शौनीमुत्सृज जाघनीम् ८४

यद्यपि इसप्रकारका काम खोटा है, तोभी इस कामको (कुत्तेके मांसका भक्षण) करनेसे मैं तेरी समान (पापका भागी वा चाण्डाल) नहीं होऊँगा ॥ ८० ॥ चांडालने कहा, कि-मैंने निश्चय करलिया है, कि-तुम्हे इस पापको करनेसे रोकूँगा, ब्राह्मण यदि पापकर्म करता है तो उसमें उच्चपना नहीं रहता है, इसलिये ही मैं तुम्हें रोक रहा हूँ ॥ ८१ ॥ विश्वामित्रने कहा कि-मेंडक टरींते रहते हैं, तो भी गौएँ जल पिया करतीं हैं, क्या धर्म है और क्या धर्म नहीं है इस बातको कहनेका तुझे अधिकार नहीं है, तू अपनी प्रशंसा करनेवाला न बन ॥८२॥ चाण्डालने कहा, कि-हे ब्राह्मण! मैं एक मित्र बनकर तुम्हें समझाता हूँ. जो कल्याणकारी हो आप वही करिये, परन्तु लालचमें पड़कर पापकर्म न करिये ॥८३॥ विश्वामित्रने कहा, कि-यदि तू मेरा मित्र है और मेरा सुख चाहता है तो इस आपत्तिमेंसे मेरा उद्धार कर धर्मसे आत्माका उद्धार कैसे करना चाहिये, यह मैं जानता हूँ इसलिये तू मुझे कुत्तेकी जङ्घा देदे ॥ ८४ ॥

श्वपच उवाच। नैवोत्सहे भवतो दातुमेतां नोपेक्षितुं ह्रियमाणं स्वमन्नम्। उभौ स्याव: पापलोकावलिप्तौ दाता चाहं ब्राह्मणस्त्वं प्रतीच्छन् ॥ ८५ ॥ विश्वामित्र उवाच। अद्याहमेतद् वृजिनं कर्म कृत्वा जीवंश्चरिष्यामि महापवित्रम्। स पूतात्मा धर्ममेवाभिपत्स्ये यदेतयोर्गुरु तद्वै ब्रवीहि ॥ ८६ ॥ श्वपच उवाच। आत्मैव साक्षी कुलधर्मकृत्ये त्वमेव जानासि यदत्र दुष्कृतम्। यो ह्याद्रियाद्भक्ष्यमिति श्वमांसं मन्ये न तस्यास्ति विवर्जनीयम् ८७ विश्वामित्र उवाच। उपादाने खादने चास्ति दोषकार्ये-

चाण्डालने कहा, कि-मैं तुम्हें कुत्तेकी जङ्घा देना नहीं चाहता तथा तुम मेरा भोजन चुराकर लेजाओ, इस उपेक्षा करनेमें भी मैं प्रसन्न नहीं हूँ, यदि मैं तुझे यह दान दूँ और तू ब्राह्मण होकर इस दानको लेय तो हम दोनों ही परलोकमें पापके भागी होंगे ॥ ८५ ॥ विश्वामित्रने कहा; कि-आज मैं यह पापकर्म करके जीवित रहूँगा तो बडे २ पुण्यकर्म करसकूँगा और पवित्रात्मा होकर धर्मको ही प्राप्त करूँगा अब तू ही बता, कि-निराहार रहकर मरजाना अथवा मांस खाकर जीवित रहना इन दोनोंमें कौनसी बात अच्छी है ८६ चांडालने कहा, कि-कुलपरम्पराके धर्मका आचरण करनेमें अपना आत्मा ही साक्षी होता है, इन दोनोंमें कौनसा पापकर्म है, इसको तुम ही जानते हो, जो पुरुष कुत्तेके मांसको भक्षण करने योग्य मानता है, मेरी समझमें उसके त्यागने योग्य कोई वस्तु भी नहीं है८७ विश्वामित्रने कहा, कि-अभक्ष्य वस्तुका दान लेनेमें अथवा उसको खानेमें पाप है, परन्तु जब प्राण जाते हों

ऽत्यार्थे नित्यमत्रापवादः । यस्मिन् हिंसा नानृतं वाच्य-लेशो भक्ष्यक्रिया यत्र न तद् गरीयः॥८८॥श्वपच उवाच । यद्यत्र हेतुस्तव खादने स्यान्न ते वेदः कारणं नार्यधर्मः । तस्माद्भक्ष्ये भक्षणे वा द्विजेन्द्र दोषं न पश्यामि यथेदमत्र८६ विश्वामित्र उवाच । नैवातिपापं भक्षमाणस्य दृष्टं सुरां तु पीत्वा पततीति शब्दः । अन्योऽन्यकार्याणि यथा तथैव न पापमात्रेण कृतं हिनस्ति ॥ ६० ॥ श्वपच उवाच । अस्थानतो हीनतः कुत्सिताद्वा तद्विद्वांसं बाधते साधु-

उस समय अभक्ष्य वस्तुका दान लेनेमें अथवा उसको खानेमें पाप नहीं है अथवा जिसमें हिंसा वा धोखादेही न हो और थोड़ोसी निन्दा होती हो ऐसा अभक्ष्य पदार्थ काममें लायाजाय तो यह कोई बात नहीं है ॥ ८८ ॥ चाण्डालने कहा, कि-यदि अभक्ष्य वस्तुका भोजन करना ही तुम्हारा प्रयोजन है तो तुम वेद और आर्यधर्मको नहीं मानते हो, इसलिये हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! मुझे जैसा इसमें दोष नहीं प्रतीत होता, ऐसे ही भक्ष्य अभक्ष्य वस्तुके प्रतिग्रह और भोजनमें भी दोष नहीं मालूम होता ८६ विश्वामित्रने कहा, कि-जो पुरुष अभक्ष्य वस्तुका भक्षण करता है उसको महापाप लगता है, ऐसा देखनेमें नहीं आता तथा पुरुष मद्य पीकर पतित होजाता है ऐसा शास्त्रमें कहा है (इसलिये मनुष्यको ऐसी खोटी वस्तुको पीनेसे बचाना चाहिये) ऐसे ही जिन दूसरे साधारण कर्मोंको करनेका शास्त्रमें निषेध किया है, उन पापकर्मोंके करनेसे कुछ कर्त्ताके पुण्यका नाश नहीं होता है ॥६०॥ चांडालने कहा, कि-ऐसे अपवित्र स्थान (चांडालटोले) मेंसे और (मुझसे) नीचजातिके और पापीके घरमेंसे

भृत्तम् । श्वानं पुनर्यो लभतेऽभिपंगात्तेनापि दण्डः सहितव्य एव ॥९१॥ भीष्म उवाच एवमुक्त्वा निववृत्तेमातङ्गः कौशिकं तदा । विश्वामित्रो जहारैव कृतबुद्धिः श्वजाघनीम् ॥९२॥ ततो जग्राह स श्वाङ्गं जीवितार्थी महामुनिः। सदारस्तामुपाहृत्य वने भोक्तुमियेप सः ॥९३॥ अथास्य बुद्धिरभवत् विधिनाहं श्वजाघनीम्। भक्षयामि यथाकामं पूर्वं सन्तर्प्य देवताः ॥ ९४ ॥ ततोऽग्निमुपसंहृत्य ब्राह्मेण विधिना मुनिः।ऐन्द्राग्नेयेन विधिना चरुं अपचत स्वयम् ९५ ततः समारभत् कर्म दैवं पित्र्यञ्च भारत । आहूय देवानिन्द्रादीन् भागं भागं विधिक्रमात् ॥९६॥ एतस्मिन्नेव

जो पुरुष कुत्तेका मांस लियेजाता है वह विद्वानोंके और सत्पुरुषोंके आचरणके विरुद्ध चलता है और उसको पापकर्मका फल भोगना ही पड़ेगा ॥९१ ॥ भीष्मने कहा, कि-हे युधिष्ठिर ! विश्वामित्रसे ऐसा कह कर चाण्डाल चुप होगया और जिन्होंने कुत्तेकी जाँघको चुरानेका निश्चय किया था उन विश्वामित्रने वह कुत्तेकी जाँघ उठाली ॥ ९२ ॥ वह महामुनि जीवित रहना चाहते थे, इसलिये कुत्तेकी जाँघ लेकर वनमें आये और अपनी स्त्रीके साथ उसको खाना चाहा ॥९३॥ उस समय भी उनका यह विचार हुआ, कि-पहले विधिपूर्वक देवताओं को अच्छे प्रकारसे तृप्त करके पीछेसे इसको खाऊँगा ।९४। ऐसा विचार करके विश्वामित्र ब्राह्मविधिसे अग्नि लाये और ऐन्द्राग्नि नामक विधिसे अपनेआप चरु पकाया ९५ हे भरतवंशी राजन् ! उस चरुके आवश्यक विभाग करके वेदमें लिखो विधिसे देवता और पितरोंके कर्म करना आरम्भ करदिया, इन्द्रादि देवताओंको बुलाकर

काले तु प्रववर्ष स वासवः। सञ्जीवयन् प्रजाः सर्वा जनयामास चौषधीः ॥ ९७ ॥ विश्वामित्रोपि भगवांस्तपसा दग्धकिल्विषः।कालेन महता सिद्धिमवाप परमाद्भुताम्९८ स संहृत्य च तत् कर्म अनास्वाद्य च तद्धविः। तोषयामास देवांश्च पितृंश्च द्विजसत्तमः ॥९९॥ एवं विद्वानदीनात्मा व्यसनस्थो जिजीविषुः। सर्वोपायैरुपायज्ञो दीनमात्मानमुद्धरेत् ॥१००॥एतां बुद्धिं समास्थाय जीवितव्यं सदा भवेत्। जीवन् पुण्यमवाप्नोति पुरुषो भद्रमश्नुते१०१ तस्मात् कौन्तेय विदुषा धर्माधर्मविनिश्चये। बुद्धिमास्थाय लोकेस्मिन् वर्त्तितव्यं कृतात्मना॥ १०२ ॥ छ ॥

उनको क्रमसे वे भाग बाँटदिये ॥ ९६ ॥ इसी समय इन्द्रने वर्षा करके सब प्रकारकी औषधियें उत्पन्न कर उनसे प्रजाको जीवित रक्खा ॥ ९७ ॥ जिनके पाप तपसे जलगए थे ऐसे भगवान् विश्वामित्रने बहुत समय बीत जाने पर ऐसी परम अद्भुत सिद्धिपाई थी ॥ ९८ ॥ इस प्रकार द्विजवर विश्वामित्रने वह कर्म करके हविषका भोजन नहीं किया, किन्तु उससे देवताओंको और पितरोंको सन्तुष्ट किया ॥ ९९ ॥ इसप्रकार उदारचित्त विद्वान् पुरुष यदि आपत्तिमें आपड़े और जीवित रहना चाहे तथा उपाय जानना हो तो वह किसी न किसी उपायसे अपने दीन आत्माका आपत्तिमेंसे उद्धार करे ॥ १०० ॥ ऐसी बुद्धिके आश्रयसे पुरुष सदा जीवित रहे जो जीता रहताहै वह पुण्य प्राप्त करता है और सुख भोगता है ॥१०१॥ इसलिये हे कुन्तीनन्दन! पवित्र आत्माके स्वरूपको जाननेवाला विद्वान् पुरुष प्राणोंकी रक्षा करे और बुद्धिसे धर्म अधर्मका निर्णय करके जगत्में व्यवहार करे ॥ १०२ ॥ १४१वाँ अध्याय समाप्त

युधिष्ठिर उवाच । यदि घोरं समुद्दिष्टमश्रद्धेयमिवानृतम् । अस्ति स्विद्दस्युमर्य्यादा यामहं परिवर्ज्जये ॥ १ ॥ संमुह्यामि विषीदामि धर्मो मे शिथिलीकृतः । उद्यमं नाधिगच्छामि कदाचित् परिसान्त्वयन् ॥ २ ॥ भीष्म उवाच । नैतत् श्रुत्वागमादेव तव धर्मानुशासनम् । प्रज्ञासमवहारोयं कविभिः संभृतं मधु ॥ ३ ॥ बह्व्यः प्रतिविधातव्या प्रज्ञा राज्ञा ततस्ततः । नैकशाखेन धर्मेण यात्रैषा संप्रवर्त्तते ॥ ४ ॥ बुद्धिसंजननो धर्म आचारश्च सतां सदा । ज्ञेयो भवति कौरव्य सदा तद्विद्धि मे वचः ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरने बूझा कि-हे भीष्म पितामह ! आपने मुझे जो धर्म कर्त्तव्य) का उपदेश दिया, वह घोर, श्रद्धा करनेके अयोग्य और असत्य है, ऐसा कौनसा कर्म है, कि-जिसको मैं सहलूँ ? चोर और लुटेरोंका सन्मान क्यों नहीं करे ? ॥ १ ॥ मैं आप की बात सुनकर उलझनमें पड़गया हूँ, मूढ़ बनगया हूँ मेरे हृदयमें खेद होता है सदाचारसे मेरा धर्म शिथिल पड़गया है, आप मुझे चाहे जैसे समझाकर शांत करदें तो भी मैं उद्योगी नहीं होसकूँगा (अर्थात् आपके कहेहुए धर्मका आचरण नहीं करूँगा) ॥ २ ॥ भीष्मने कहा, कि-मैंने तुझे जो कर्त्तव्यका उपदेश दिया है, यह वेदको पढ़कर नहीं दिया है, किन्तु यह तो मैंने अपने ज्ञान और बुद्धिके अनुभवसे कहा है, यह पण्डितोंका इकट्ठा कियाहुआ कर्त्तव्यका निचोड़ है ॥ ३ ॥ राजाको भिन्न २ स्थानोंसे अनुभव लेना चाहिये, एकदेशी सदाचारका आश्रय लेकर इस संसारमें निर्वाह नहीं होसकता ॥४॥ ज्ञानसे कर्त्तव्य समझमें आता है और अनुभव सत्पुरुषोंके आ-

बुद्धिश्रेष्ठा हि राजानश्चरन्ति विजयैषिणः। धर्मः प्रतिविधातव्यो बुद्ध्या राज्ञा ततस्ततः॥६॥नैकशाखेन धर्मेण राज्ञो धर्मो विधीयते। दुर्बलस्य कुतः प्रज्ञा पुरस्तादनुपाहृता॥ ७॥ अद्वैधज्ञः पथि द्वैधे संशयं प्राप्तुमर्हति। बुद्धिद्वैधं वेदितव्यं पुरस्तादेव भारत॥ ८॥ पार्श्वतः करणं प्राज्ञो विष्टम्भित्वा प्रकारयेत्। जनस्तच्चरितं धर्मं विजानात्यन्यथान्यथा॥९॥ अमिथ्याज्ञानिनः केचि-

चारमेंसे जानाजाता है, हे कुरुवंशी युधिष्ठिर! तू मेरी बात सुन ॥ ५ ॥ जो उत्तम बुद्धि वाला राजा है केवल वही विजय पाकर पृथिवी पर राज्य करता है, राजाको भिन्न२ स्थानोंसे अनुभव प्राप्त करके बुद्धिसे सदाचारके मार्ग चलने चाहियें ॥ ६ ॥ एकदेशी धर्मशास्त्रसे राजा सदाचारके स्वरूपको नहीं जानसकता, एकदेशी शिक्षा लेनेवाला राजा दुर्बल है, उस राजाको पहलेसे ही सब प्रकारका पूरा २ अनुभव न होनेके कारण उसमें सब बातोंको समझनेकी बुद्धि नहीं होती है ॥ ७ ॥ एक ही प्रकारका काम एक समयमें धर्म मानाजाता है और दूसरे समयमें अधर्म मानाजाता है, ऐसे दोनों प्रकारके मार्गमें उसके स्वरूपको न जानने वाला पुरुष सन्देहमें पड़ जाता है, हे भरतवंशी राजन्! जिस राजामें दो प्रकारका अनुभव और ज्ञान नहीं होता है वह राजा ऐसा अनुभव आने पर उलझनेमें पड जाता है ॥ ८ ॥ धर्म क्या? और अधर्म क्या? यह ज्ञान प्राप्त करनेके पीछे बुद्धिमान् राजा आपत्काल आवे तब अपनी निश्चय करने वाली बुद्धि और धर्मशास्त्रके विवेकके अनुसार वर्ताव करता है, अवसर आनेपर ऐसे कृत्यका हेतु

न्मिथ्याभिज्ञानिनः परे। तद्वै यथायथं बुध्वा ज्ञानमाददते सताम् ॥१०॥ परिमुष्णंति शास्त्राणि धर्मस्य परिपंथिनः। वैषम्यमर्थविद्यानां निरर्थाः ख्यापयंति ते ॥ ११ ॥ आजिजीविषवो विद्यां यशःकामाः समंततः। ते सर्वे नृपपापिष्ठा धर्मस्य परिपन्थिनः ॥ १२ ॥ अपक्वमतयो मन्दा न जानंति यथातथम्। यथा ह्यशास्त्रकुशलाः सर्वत्रायुक्तिनिष्ठिताः ॥ १३ ॥ परिलुम्पन्ति शास्त्राणि शास्त्रदोषानुदर्शिनः। विज्ञातमर्थं विद्यानां न सम्यगिति वर्तते ॥१४॥ निंदया परविद्यानां स्वविद्यां ख्यापयंति च। वागस्त्रा

साधारण पुरुषोंकी बुद्धिमें नहीं आता है ॥९॥ कितने ही मनुष्य सत्यज्ञानी हैं तथा कितने ही मिथ्याज्ञानी हैं, बुद्धिमान् राजा यथार्थ बात जाननेके पीछे जो कल्याणका मार्ग होता है, उसको स्वीकार करता है ॥ १० ॥ जो सदाचारके शत्रु हैं, वे शास्त्रकी निन्दा करते हैं जो निर्धन हैं, वे अर्थशास्त्रकी विषमताकी बातें करते हैं (अर्थात् अर्थशास्त्रमें कुछ नहीं है) ॥ ११ ॥ जो आजीविकाकी इच्छासे ज्ञान संपादन करते हैं, वे सब पुरुष हे राजन्! पापी हैं, इतना ही नहीं किन्तु सदाचारके भी शत्रु हैं ॥ १२ ॥ जिनकी बुद्धि परिपक्व नहीं हुई है ऐसे मूर्ख पुरुष, वस्तुके सत्यस्वरूपको यथार्थ रीतिसे नहीं जानते हैं तैसे ही जो शास्त्रमें कुशल नहीं है ऐसे पुरुष सब कामोंमें बुद्धि नहीं लड़ासकते ॥ १३ ॥ शास्त्रमें दोषदृष्टि रखने वाले शास्त्रोंकी निन्दा करते हैं कदाचित् वे शास्त्रके अर्थको यथार्थ रीतिसे जान जायँ तो भी उनको ऐसी कुटेव पड़ जाती है कि–वे यही बका करते हैं कि शास्त्र यथार्थ नहीं है ॥१४॥ ऐसे मनुष्य दूसरेकी

वाक्शरीभूता दुग्धविद्याफला इव ॥ १५ ॥ तान्विद्या-
वणिजो विद्धि राक्षसानिव भारत। व्याजेन सद्भिर्विहितो
धर्मस्ते परिहास्यति॥१६॥न धर्मवचनं वाचा नैव बुद्ध्येति
नः श्रुतं। इति बार्हस्पतं ज्ञानं प्रोवाच मघवा स्वयम् ॥१७॥
न त्वेव वचनं किंचिदनिमित्तादिहोच्यते। सुविनीतेन
शास्त्रेण न व्यवस्यंत्यथा परे ॥ १८ ॥ लोकयात्रामिहैके
तु धर्मं प्राहुर्मनीषिणः। समुद्दिष्टं सतां धर्मं स्वयमूहेत

विद्याकी निन्दा करके अपनी विद्याकी ख्याति करते हैं, उनके पास बाणरूप अस्त्र होता है और बाणरूपी शब्द होते हैं, वे इस प्रकार बोलते हैं कि-मानो हमने ही विद्याका फल पाया है ॥१५॥ हे भरतवंशी राजन्! उनको विद्याका व्यापार करने वाले और मनुष्योंमें राक्षस समझना चाहिये वे पुरुष, सज्जनोंने जिसको धर्म बताया है, उसको कोई न कोई बहाना बताकर छोड़ देते हैं ॥ १६ ॥ हमने सुना है कि " सदाचार-शास्त्र-नीति क्या है?" यह केवल वाद विवाद करनेसे अथवा केवल तर्कसे समझनें नहीं आसकता, परन्तु दोनोंका पालन करनेसे समझमें आसकता है, इन्द्र स्वयं कहता है, कि-ऐसा बृहस्पतिका भी विचार है ॥ १७ ॥ कितने ही कहते हैं कि-नीतिशास्त्रमें एक भी वचन हेतुशून्य नहीं है, शास्त्र पढ़े हुए कितने ही (शास्त्रपशु) होते हैं, परन्तु वे शास्त्रके अनुसार वर्ताव नहीं करते हैं ॥ १८ ॥ विद्वानोंका एक दल यह भी कहता है, कि-धर्म सदाचार आदि यह सब कुछ नहीं है, परन्तु जगन्मान्य लोकव्यवहारके लिये उसकी कल्पना है, परन्तु सत्ज्ञानी ऐसा मानते हैं, कि-सदाचार अपने लिये है और लोककल्याण

पंडितः ॥ १९ ॥ अमर्षाच्छास्त्रसंमोहाद् विज्ञानाच्चैव भारत। शास्त्रं प्राज्ञस्य वदतः समूहे यात्यदर्शनम् ॥२०॥ आगतागमया बुद्ध्या वचनेन प्रशस्यते। अज्ञानाज्ज्ञान-हेतुत्वाद्वचनं साधु मन्यते ॥२१॥ अनया हतमेवेदमिति शास्त्रमपार्थकम्। दैतेयानुशना प्राह संशयच्छेदनं पुरा २२ ज्ञानमप्यपदिश्यं हि यथा नास्ति तथैव तत्। तं तथा छिन्नमूलेन सन्नो दर्शयितुमर्हसि ॥ २३ ॥ अनन्यवहितं यो वा नेदं वाक्यमुपारतुते। उग्रायैव हि सृष्टोसि कर्मणे

के लिये भी है, अतः पंडित पुरुषको स्वयं तर्क करके अपने योग्य जो प्रतीत हो उसके अनुसार वर्ताव करना चाहिये ॥ १९ ॥ विद्वान् मनुष्य क्रोधसे, शास्त्रको यथार्थ नहीं समझनेसे अथवा अज्ञानतासे शास्त्रका उपदेश करे तो उसका उपदेश सभामें मान्य नहीं गिना जाता है २० शास्त्रके वचन और उसके रहस्यको समझकर, सदाचार का उपदेश दिया जाता है तो वह उपदेश देनेवाला अल्प-बुद्धि हो तो भी (शास्त्रज्ञानसे) उत्पन्न हुई बुद्धिसे नीति-युक्त जो कुछ भी कहता है उसकी प्रशंसा होती है, परन्तु शास्त्रप्रमाणसे रहित जो कोई बात कहता है तो उसकी बात मानी नहीं जाती है, मूर्ख मनुष्य भी बुद्धि-पूर्वक जो कुछ कहता है तो उसको भी प्रमाण माना जाता है ॥ २१ ॥ पहिले शुक्राचार्यने संदेह दूर करनेके लिये दैत्योंसे कहा था कि-यदि शास्त्रवचन युक्तिसंगत न हो तो उसको शास्त्रवचन नहीं मानना चाहिये ॥२२॥ ज्ञान भी यदि संशयभरा हो तो, उसके होने पर भी "उसको नहीं है" ऐसा ही समझना चाहिये, ऐसे ज्ञान का समूल नाश करडालना चाहिये ॥ २३ ॥ यदि मेरे

न त्वमीक्षसे ॥२४॥ अंग मामन्ववेक्षस्व राजन्याय बुभू-षते। यथा प्रमुच्यते त्वन्यो यदर्थं न प्रमोदते ॥ २५ ॥ अजो श्वः क्षत्रमित्येतत्सदृशं ब्रह्मणा कृतम्। तस्माद-भीक्ष्णं भूतानां यात्रा काचित्प्रसिद्ध्यति ॥ २६ ॥ यस्त्व-वध्यवधे दोषः स वध्यस्यावधे स्मृतः। सा चैव खलु मर्यादा यामयं परिवर्जयेत् ॥ २७ ॥ तस्मात्तीक्ष्णः प्रजा राजा स्वधर्मे स्थापयेत्ततः। अन्योन्यं भक्षयंतो हि प्रचरेयु-र्वृका इव ॥ २८ ॥ यस्य दस्युगणा राष्ट्रे ध्वांक्षा मत्स्यान्

कहनेको न सुनोगे तो उन्मार्गगामी होकर अनुचित कार्य करने लगोगे, ईश्वरने भयङ्कर कर्म करनेके लिये ही तुझे उत्पन्न किया है, इस बातको क्या तू जानता नहीं है ? ॥ २४ ॥ हे पुत्र ! तू मेरी ओर देख ! दूसरे लोगोंने मुझे हिंसक कहकर मेरी निंदा की, परन्तु मैंने क्या ? पृथिवीको जीतना चाहनेवाले सहस्रों क्षत्रिय राजाओंको पराक्रम करके स्वर्गलोकमें भेज नहीं दिया है ॥ २५ ॥ बकरा, घोड़ा और क्षत्रिय इन तीनोंको ब्रह्माने अपने और दूसरेके हितके लिये उत्पन्न किया है अतएव क्षत्रिय को सदा सब प्राणियोंको सुख देनेकी योजना करते रहना चाहिये ॥ २६ ॥ मारनेके अयोग्यको मारनेमें जो दोष है वही दोष मारने योग्यको न मारनेमें है यह सनातन आज्ञा है, परन्तु इस आज्ञाका निर्बल राजा त्याग करता है ॥ २७ ॥ इसलिये राजाको तीक्ष्ण रहकर प्रजाके साथ इसप्रकार वर्ताव करना चाहिये, कि-जिससे उसकी प्रजा अपने २ आश्रमधर्मका प्रतिपालन करे, यदि ऐसा वर्ताव न वर्ता जाय तो भेड़ियोंकी समान प्रजा परस्परका भक्षण करजाय, जिसके राज्यमें जैसे पानीमेंसे मछलियोंको

जनादिव । विहरंति परस्वानि स वै क्षत्रियपांसनः ॥ २९ ॥ कुलीनान् सचिवान् कृत्वा वेदविद्यासमन्वितान् । प्रशाधि पृथिवीं राजन् प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ ३० ॥ विहीनं कर्मणा न्यायं यः प्रगृह्णाति भूमिपः । उपायस्याविशेषज्ञं तद्वै क्षत्रं नपुंसकम् ॥ ३१ ॥ नैवोग्रं नैव चानुग्रं धर्मेणेह प्रशस्यते । उभयं न व्यतिक्रामेदुग्रो भूत्वा मृदुर्भव ॥ ३२ ॥ कष्टः क्षत्रियधर्मोयं सौहृदं त्वयि मे स्थितम् । उग्रकर्मणि सृष्टोसि तस्माद्राज्यं प्रशाधि वै ॥ ३३ ॥ अशिष्टनिग्रहो नित्यं शिष्टस्य परिपालनम् । एवं शुक्रोब्रवीद्धीमानात्पसु

कौए पकड़कर लेजाते हैं, तैसे ही लुटेरे दूसरोंके धनको लूटकर लेजाते हैं, उसको अधम क्षत्रिय जाने ॥ २८-२९ ॥ हे राजन् ! तू वेदविद्या पढ़ेहुए कुलीन पुरुषोंको मन्त्री बनाकर राज्य कर और नीतिसे प्रजाका पालन कर ३० जो क्षत्रिय राजा लोकपरम्पराके व्यवहारको नहीं जानता है और अयोग्य रीतिसे प्रजासे कर वसूल करता है, उस क्षत्रियको नपुंसक जानो ॥ ३१ ॥ नीतिके अनुसार इस लोकमें उग्रताकी भी प्रशंसा नहीं होती है, तैसे ही केवल कोमलताकी भी प्रशंसा नहीं होती, जो सदाचार से वर्त्ताव करता है, वह प्रशंसाका पात्र होता है राजा को इनमेंसे एकका भी त्याग नहीं करना चाहिये, परंतु जहाँ उग्र पड़ने की आवश्यकता हो तहाँ उग्र होजावे और जहाँ कोमल पड़नेकी आवश्यकता हो, तहाँ कोमल बनजावे ॥ ३२ ॥ यह क्षत्रियका धर्म महाकष्टदायक है, मेरी तेरे ऊपर प्रीति है (अतः मैं तुझसे कहता हूँ) तू उग्र कर्म करनेके लिये जन्मा है अतः तू प्रजाके ऊपर राज्य कर ॥ ३३ ॥ हे राजन् ! बुद्धिमान्

भरतर्षभ ॥३४॥ युधिष्ठिर उवाच। अस्ति चेदिह मर्यादा यामन्यो नाभिलंघयेत्। पृच्छामि त्वां सतां श्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥३५॥ भीष्म उवाच। ब्राह्मणानेव सेवेत विद्यावृद्धांस्तपस्विनः। श्रुतचारित्रवृत्ताढ्यान्पवित्रं ह्येतदुत्तमम्॥३६॥या देवता सुवृत्तिस्ते सास्तु विप्रेषु नित्यदा। क्रुद्धैर्हि विप्रैः कर्माणि कृतानि बहुधा नृप ॥३७॥ प्रीत्या यशो भवेन्मुख्यमप्रीत्या परमं भयम्। प्रीत्या ह्यमृतवद्विप्राः क्रुद्धाश्चैव विषं यथा ॥ ३८ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि द्विचत्वारिंशदधिकशततमोध्यायः ॥ १४२ ॥

शुक्रने कहा है कि-आपत्तिकालमें दुष्टोंको दंड देना और सत्पुरुषोंकी रक्षा करना यह राजाका महाधर्म है ॥३४॥ युधिष्ठिरने बूझा कि-हे सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ पितामह !(राजा के लिये) ऐसी कोई मर्यादा है कि-जिसका किसी प्रकार भी उल्लघंन न किया जासके ? मैं आपसे ऐसी मर्यादाके विषयमें बूझता हूँ, इसका आप मुझै उत्तर दीजिये ३५ भीष्मने कहा, विद्यावृद्ध, तपस्वी, वेदशास्त्रसंपन्न, सदाचारसंपन्न ब्राह्मणोंकी सेवा करना महान् और पवित्र कर्त्तव्य है ॥ ३६ ॥ तू जैसा भाव सदा देवताओं में रखता है, तैसा ही भाव तू देवताओं और ब्राह्मणोंमें रखना हे राजन्! ब्राह्मण यदि क्रोधांध होजाते हैं तो अनेक प्रकारका भय देते हैं॥३७॥और ब्राह्मण सन्तुष्ट होजाते हैं तो श्रेष्ठ यश मिलता है और अप्रसन्न होजाते हैं तो परम भय होता है. ब्राह्मण प्रसन्न होनेपर अमृतकी समान हो जाते हैं और कोपायमान होने पर विषकी समान होजाते हैं ॥३८॥ एकसौ बयासीसवाँ अध्याय समाप्त ॥१४२॥

युधिष्ठिर उवाच। पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद। शरणं पाल्यमानस्य यो धर्मस्तं ब्रवीहि मे ॥ १ ॥ भीष्म उवाच। महान् धर्मो महाराज शरणागतपालनम्। अर्हः प्रष्टुं भवांश्चैव प्रश्नं भरतसत्तम ॥ २ ॥ शिविप्रभृतयो राजन्राजानः शरणागतान्। परिपाल्य महात्मानः संसिद्धिं परमाङ्गताः ॥ ३ ॥ श्रूयते च कपोतेन शत्रुः शरणमागतः। पूजितश्च यथा न्यायं स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः ४ युधिष्ठिर उवाच। कथं कपोतेन पुरा शत्रुः शरणमागतः। स्वमांसं भोजितः काञ्च गतिं लेभे स भारत ॥ ५ ॥ भीष्म उवाच। शृणु राजन् कथां दिव्यां सर्वपापप्रणाशनीम्। नृपतेर्मुचुकुन्दस्य कथितां भार्गवेन वै ॥ ६ ॥ इम-

युधिष्ठिरने बूझा कि–हे महाबुद्धिमान्! हे सकल शास्त्रोंमें कुशल हे पितामह! जो पुरुष शरणागतकी रक्षा करता है उसका धर्म क्या है यह आप मुझसे कहिये ॥१॥ भीष्मने कहा कि-हे महाराज! शरणागतकी रक्षा करने में बडा धर्म है और हे भारत! यह प्रश्न बूझना तुझको उचित भी है ॥ २ ॥ हे राजन्! शिवि आदि महात्मा राजोंने शरणागतकी रक्षा करके परम सिद्धि पाई है ३ एक कबूतरने अपना मांस शरणागत शत्रुको देकर उस का यथोचित सत्कार किया था ॥ ४ ॥ युधिष्ठिरने बूझा कि–हे भरतवंशी राजन्! पहिले कबूतरने शरणमें आये हुए शत्रुको किस लिये अपना मांस खिलाया था, और उसको कौनसी गति मिली थी ॥ ५ ॥ भीष्मने कहा कि—हे राजन्! सकल पापोंको दूर करने वाली इस कथा को पहिले परशुरामने मुचुकुन्दसे कहा था, उसको तू सुन ॥ ६ ॥ हे पुरुषश्रेष्ठ पृथापुत्र युधिष्ठिर! पहिले

मर्थं पुरा पार्थ मुचुकुन्दो नराधिपः। भार्गवं परिपप्रच्छ
प्रणतः पुरुषर्षभ ॥ ७ ॥ तस्मै शुश्रूषमाणाय भार्गवो-
कथयत् कथाम्। इमां यथा कपोतेन सिद्धिः प्राप्ता नरा-
धिप ॥ ८ ॥ मुनिरुवाच। धर्मनिश्चयसंयुक्तां कामार्थ-
सहितां कथाम्। शृणुष्वावहितो राजन् वदतो मे महा-
भुज ९॥ क्वचित्क्षुद्रसमाचारः पृथिव्यां कालसम्मितः।
विचचार महारण्ये घोरः शकुनिलुब्धकः ॥१०॥ काकोल
इव कृष्णाङ्गो रक्ताक्षः कालसम्मितः। दीर्घजंघो ह्रस्व-
पादो महावक्त्रो महाहनुः॥११॥नैव तस्य सुहृत् कश्चिन्न
सम्बन्धी न बान्धवः। स हि तैः सम्परित्यक्तस्तेन रौद्रेण
कर्म्मणा ॥१२॥नरः पापसमाचारस्त्यक्तव्यो दूरतो बुधैः।

राजा मुचुकुन्दने यही प्रश्न परशुरामको प्रणाम करके
बूझा था ॥७॥ और हे राजन्! कबूतरकी जिस प्रकार
मुक्ति हुई थी, वह कथा परशुरामने श्रोता मुचुकुन्दसे
कही थी ॥ ८ ॥ मुनिने कहा कि-हे महाभुज राजन्!
धर्मके निर्णयसे भरीहुई, काम तथा अर्थवाली एक कथा
मैं कहता हूँ, तू सावधान होकर सुन ॥ ९ ॥ पृथ्वीके
एक महावनमें किसी समय दुराचरणी तथा कालकी
समान भयंकर एक पारधि रहता था ॥ १० ॥ उसके
शरीरका वर्ण कौएकी समान काला था, उसके नेत्र लाल २
थे उसका दिखाव कालकी समान था उसकी जांघे लंबी
थीं, पैर छोटे २ थे, मुख मोटा था और होठ बाहर लटक
रहे थे ॥ ११ ॥ उसका कोई स्नेही न था, तैसे ही कोई
सम्बन्धी और बान्धव भी नहीं था, उसके सगे सम्ब-
न्धियोंने उसके भयंकर कर्मके कारण उसको त्याग दिया
था ॥ १२ ॥ जो मनुष्य पापकर्म करता है उसको चतुर

आत्मानं योभिसंधत्ते सोन्यस्य स्यात् कथं हितः ॥१३॥ ये नृशंसा दुरात्मानः प्राणिप्राणहरा नराः । उद्वेजनीया भूतानां व्याला इव भवन्ति ते ॥ १४ ॥ स वै जालक-मादाय द्विजान् हत्वा वने सदा । चकार विक्रयं तेषां पतङ्गानां जनाधिप ॥१५॥ एवन्तु वर्त्तमानस्य तस्य वृत्तिं दुरात्मनः । अगमत् सुमहान् कालो न चाधर्ममबुध्यत । तस्य भार्य्यासहायस्य रममाणस्य शाश्वतम् । दैवयोग-विमूढस्य नान्या वृत्तिररोचत ॥ १७ ॥ ततः कदाचित्त-स्याथ वनस्थस्य समन्ततः । पातयन्निव वृक्षांस्तान् सुम-हान् वातसम्भ्रमः ॥१८॥ मेघसंकुलमाकाशं विद्युन्मंडल-

मनुष्योंको दूरसे ही त्याग देना चाहिये. जो पुरुष अपने आप हिंसा करता है, वे दूसरेका हित कैसे कर सकता है? ॥ १३ ॥ जो पुरुष क्रूर, दुरात्मा, प्राणियोंके प्राणको हरने वाले होते हैं, वे विषैले सर्पोंकी समान प्राणियोंको उद्वेग देने वाले होते हैं ॥ १४ ॥ हे राजन्! वह पारधी नित्य जाल लेकर वनमें जाता था और वहाँ पक्षियोंका संहार करके उनके मांसको बाजारमें वेचा करता था१५ इस प्रकार आजीविका चलाते२ उस दुरात्माको बहुतसा समय बीत गया. परन्तु उसने अधर्मको नहीं जाना १६ वह अपनी स्त्रीकी सहायतासे नित्य विहार किया करता था और भाग्यवश वह ऐसा मूढ बन गया था कि-उस को पक्षियोंको मारनेके अतिरिक्त दूसरी आजीविका अच्छी लगती ही नहीं थी ॥ १७ ॥ तदनन्तर वह बहे-लिया वनमें पक्षियोंको पकड़नेके लिये भटकता फिररहा था, कि-उस समय आँधी चलने लगी तब ऐसा प्रतीत होने लगा कि-वनके वृक्ष जड़से उखड़ जावेंगे ॥ १८ ॥

मण्डितम् । संछन्नस्तु मुहूर्त्तेन नौसार्थैरिव सागरः १९
वारिधारासमूहेन संप्रवृष्टः शतक्रतुः । क्षणेन पूरयामास
सलिलेन वसुन्धराम् ॥२०॥ ततो धाराकुले काले संभ्र-
मन्नष्टचेतनः। शीतार्त्तस्तद्वनं सर्वमाकुलेनान्तरात्मना २१
नैव निम्नं स्थलं वापि सोविन्दत विहङ्गहा । पूरितो हि
जलौघेन तस्य मार्गो वनस्य तु ॥२२॥ पक्षिणो वर्षवेगेण
हता लीनास्तदाभवन् । मृगाः सिंहा वराहाश्च स्थलमा-
श्रित्य शेरते ॥२३॥ महता वातवर्षेण त्रासितास्ते वनौ-
कसः। भयार्त्ताश्च क्षुधार्त्ताश्च बभ्रमुः सहिता वने ॥२४॥
स तु शीतहतैर्गात्रैर्न जगाम न तस्थिवान् । ददर्श पतितां

नौकाओंसे जैसे समुद्र भर जाता है, तैसे ही एक क्षणमें आकाश मेघोंसे और विजलियोंसे छागया ॥ १९ ॥ इन्द्र वेगसे पृथ्वी पर मूसलधार पानी वरसाने लगा और एक क्षणमें ही सारी पृथ्वीको जलमय कर दिया ॥ २० ॥ मूसलधार पड़ती हुई मेघधारासे घवड़ाया हुआ वह वहेलिया भयभीत हो वनमें टकराने लगा, ठण्डसे ऐंठता हुआ और डरसे काँपता हुआ वह चारों ओर घूमने लगा ॥ २१ ॥ वनके मार्गमें पानी भर गया था अतः उस वहेलियेको कोइभी सूखी जगह नहीं दीखी ॥२२॥ वर्षाके वेगके कारण कितनेही पक्षी मरकर पृथ्वी पर गिर गए थे, कितनेही वृक्षों पर थे, मृग, सिंह, वराह, तथा दूसरे पशु जहाँ ऊँची जगह मिली तहाँ ही पड़कर सोगए॥ २३ ॥ वे वनवासी आँधी और वरसातके कारण त्रस्त होगएथे, वे भय और क्षुधासे आर्त थे और वनमें इकट्ठे होकर घूम रहे थे ॥ २४ ॥ परन्तु वह पक्षीघाती वहेलिया ठण्डके कारण शरीरके ढीले पड़जानेसे आगेको

भूमौ कपोतीं शीतविह्वलाम् ॥ २५ ॥ दृष्ट्वार्त्तोपि हि पापात्मा स तां पञ्जरकेऽक्षिपत् । स्वयं दुःखाभिभूतोपि दुःखमेवाकरोत् परे ॥ २६ ॥ पापात्मा पापकारित्वात् पापमेव चकार सः । सोपश्यत्तरुषण्डेषु मेघनीलं वनस्पतिम् ॥ २७ ॥ सेव्यमानं विहङ्गौघैश्छायावासफलार्थिभिः । धात्रा परोपकाराय स साधुरिव निर्मितः ॥२८॥ अथाभवत्क्षणेनैव वियद्विमलतारकम् । महत्सर इवोत्फुल्लं कुमुदच्छुरितोदकम् ॥ २९ ॥ ताराढ्यं कुमुदाकारमाकाशं निर्म्मलं बहु । घनैर्मुक्तं नभो दृष्ट्वा लुब्धकः शीत-

---

चढ़भी नहीं सकता था, वह वहाँ खड़े रहनेमें भी असमर्थ होगया इतनेमें उसने एक ठण्डसे ऐंठीहुई कबूतरी पृथ्वी पर पड़ी हुई देखी ॥ २५ ॥ वह स्वयंभी वैसीही कष्टावस्था भोग रहा था, तो भी उस पापात्माने उस कबूतरीको उठाकर पींजरेमें बन्द कर दिया स्वयं दुःखसे पीडा पारहा था तोभी उसने दूसरेको दुःखही दिया २६ वह पापात्मा था, पाप करता था इससे उसने ऐसे समय भी पापकर्म ही किया, कबूतरीको पींजरेमें बन्द करनेके पीछे उसने दृष्टि दौड़ाई तो उसको वृक्षोंकी घटामें मेघकी समान एकबडा वृक्ष दीखा ॥ २७ ॥ बहुतसे पक्षी छाया, निवास तथा फलपानेकी इच्छासे उस वृक्षके ऊपर रहते थे और विधाताने मानों परोपकार करनेके लिये किसी सत्पुरुषको उत्पन्न किया हो इस प्रकारका वह वृक्ष था ॥२८॥ एक क्षणमें आकाश निर्मल होगया और कमल खिल जानेसे बडे भारी सरोवरकी जैसे शोभा होती है, तैसे ही आकाश निर्मल तारोंसे शोभा पाने लगा ॥ २९ ॥ बादलोंके हट जानेसे, निर्मल आकाशमें

विह्वलः ॥ ३० ॥ दिशो विलोकयामास विगाढां प्रेक्ष्य शर्वरीम् । दूरतो मे निवेशश्च अस्माद्देशादिति प्रभो ३१ कृतबुद्धिर्द्रुमे तस्मिन् वस्तुं तां रजनीं ततः । साञ्जलिः प्रणतिं कृत्वा वाक्यमाह वनस्पतिम् ॥३२॥ शरणं यामि यान्यस्मिन् दैवतानि वनस्पतौ । स शिलायां शिरः कृत्वा पर्णान्यास्तीर्य्य भूतले ॥ ३३ ॥ दुःखेन महताविष्टस्ततः सुष्वाप पक्षिहा ॥३४॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कपोतलुब्धकसम्वादोपक्रमे त्रिचत्वारिंश-दधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४३ ॥

भीष्म उवाच । अथ वृक्षस्य शाखायां विहङ्गः ससु-

कमलोंकी समान अनेक तारे दीखने लगे, आकाशके निर्मल होने पर दिशाओंको देखता हुआ वह बहेलिया ठण्डसे काँपता २ आगेको चलने लगा, उसे मालूम हुआ कि-यह समय आधी रातका है और मेरा घर यहाँसे दूर है ॥३०-३१॥ इसप्रकार मनमें विचार करके उसने वह रात्रि उस वृक्षके नीचे बितानेका विचार किया और ऐसा करनेसे पहिले वह दोनों हाथ जोड़ उस वृक्षको प्रणाम करके कहने लगा कि-"इस वृक्ष पर जो देवता रहते हों उनकी मैं शरणमें आया हूँ" इसप्रकार प्रार्थना करनेके पीछे पृथिवी पर वृक्षके पत्तोंको बिछाकर शिला के ऊपर मस्तक रखकर महादुःखसे पीड़ा पाता हुआ वह बहेलिया लेटगया और लेटते ही निद्राके वशमें हो गया॥३३-३४॥एकसौ तैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त॥१४३॥

भीष्मने कहा कि-हे राजन् युधिष्ठिर ! उस वृक्षकी एक शाखामें चित्र विचित्र रोमवाला कबूतर बहुत समय

हृज्जनः। दीर्घकालोषितो राजन् तत्र चित्रतनूरुहः ॥१॥
तस्य कल्पगता भार्य्या चरितुं नाभ्यवर्त्तत। प्राप्तां च
रजनीं दृष्ट्वा स पक्षी पर्य्यतप्यत ॥ २ ॥ वातवर्षं महच्चा-
सीन्न चागच्छति मे प्रिया। किन्तु तत् कारणं येन सा-
द्यापि न निवर्त्तते ॥३॥ अपि स्वस्ति भवेत्तस्याः प्रियाया
मम कानने। तया विरहितं हीदं शून्यमद्य गृहं मम ॥४॥
पुत्रपौत्रवधूभृत्यैराकीर्णमपि सर्वतः। भार्य्याहीनं गृहस्थ-
स्य शून्यमेव गृहं भवेत् ॥५॥ न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी
गृहमुच्यते। गृहन्तु गृहिणीहीनमरण्यसदृशं मतम् ॥६॥
यदि सार क्तनेत्रान्ता चित्राङ्गी मधुरस्वरा। अद्य नायाति

से अपने कुटुम्बके साथ रहता था ॥ १ ॥ उसकी
कबूतरी प्रातःकालके समय चुगनेके लिये गई थी, रात्रि
होने पर भी वह लौटी नहीं, यह देखकर वह कबूतर
संताप करने लगा कि—॥ २ ॥ अरेरे ! आज बड़ाभारी
तूफान आया, बड़ीभारी वर्षा होगई ! शोक ! ओ प्रिया !
तू अभी आई नहीं ? मेरे जीवनको धिक्कार है ! तू अभी
तक नहीं आई इसका कारण न जाने क्या होगा ? ॥३॥
न जाने मेरी प्रिया कुशलसे होगी या नहीं ! आज मुझे
यह घर उसके वियोगसे ऊजड़ लगता है ॥ ४ ॥ पुत्र,
पौत्र, पुत्रवधुएँ और सेवकोंसे गृहस्थका घर भरापुरा
होता है तो भी यदि उसमें एक भार्या न हो तो वह घर
शून्य ही लगता है ॥ ५ ॥ घरको घर नहीं कहते हैं,
किंतु घरवाली ही घर कहाती है, घरमें यदि गृहिणी न
हो तो वह घर जंगलकी समान है ॥६॥ वह रक्तनेत्रों
वाली, मधुर स्वरवाली, और चितकबरी मेरी प्रिया,
यदि आज नहीं आवेगी तो फिर मेरे जीनेका कुछ प्रयो-

मे कान्ता न कार्य्यं जीवितेन मे ॥ ७ ॥ न भुंक्ते मय्य-भुक्ते या नास्नाते स्नाति सुव्रता । नातिष्ठत्युपतिष्ठेत न शेते शयिते मयि ॥ ८ ॥ हृष्टे भवति सा हृष्टा दुःखिते मयि दुःखिता । प्रोषिते दीनवदना क्रुद्धे च प्रियवादिनी ९ पतिव्रता पतिगतिः पतिप्रियहिते रता । यस्य स्यात्तादृशी भार्य्या धन्यः स पुरुषो भुवि ॥१०॥ सा हि श्रान्तं क्षुधा-र्थंश्च जानीते मां तपस्विनी । अनुरक्ता स्थिरा चैव भक्ता स्निग्धा यशस्विनी॥११॥ वृक्षमूलेपि दयिता यस्य तिष्ठति तद्गृहम् । प्रासादोपि तया हीनः कान्तार इति निश्चि-

जन नहीं है अर्थात् मेरा जीना व्यर्थ है ॥७॥ वह सदा-चारिणी मेरे जीमनेसे पूर्व जीमती नहीं थी, मेरे स्नान किये विना स्नान नहीं करती थी, मेरे बैठे बिना बैठती नहीं थी और मेरे सोये विना सोती नहीं थी ।८। वह मेरे प्रसन्न होने पर प्रसन्न रहती है, मैं जब दुःखी होता हूँ तब वह दुःखित रहती है, मैं जब बाहर जाता हूँ तो उसका मुख उतरजाता है और जब मैं क्रोध करता हूँ तब वह प्रियवचन बोलती है ।९। पतिव्रताका व्रत धारण करनेवाली, पतिको ही परमगति माननेवाली, पतिके प्रिय में तथा हितमें परायण रहनेवाली ऐसी भार्या जिसके होती है, वह परम भाग्यशाली मानाजाता है॥१०॥ वह तपस्विनी है, मेरे ऊपर प्रीति रखती है, दृढ़तावाली है, मेरी भक्त है, मुझसे स्नेह करती है, यशस्विनी है, मैं थकगया होऊँ अथवा भूखा होऊँ तो वह जानजाती है ।११। कोई वृक्षके नीचे रहता हो, परन्तु यदि उसके साथ उसकी भार्या रहती हो तो वह वृक्ष(की छाया) भी उसके लिये घर है और वह महलमें रहता हो तथा

तम् ॥ १२ ॥ धर्मार्थकामकालेषु भार्य्या पुंसः सहायिनी। विदेशगमने चास्य सैव विश्वासकारिका ॥१३॥ भार्य्या हि परमो ह्यर्थः पुरुषस्येह पठ्यते। असहायस्य लोकेस्मिन् लोकयात्रासहायिनी ॥ १४॥ तथा रोगाभिभूतस्य नित्यं कृच्छ्रगतस्य च। नास्ति भार्य्यासमं किञ्चित् नरस्यार्त्तस्य भेषजम् १५ नास्ति भार्य्यासमो बन्धुर्नास्ति भार्य्यासमा गतिः। नास्ति भार्य्यासमो लोके सहायो धर्मसंग्रहे १६ यस्य भार्य्या गृहे नास्ति साध्वी च प्रियवादिनी। अरण्यं तेन गंतव्यं यथारण्यं तथा गृहम् १७

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि भार्य्याप्रशंसायां चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः १४४

उसके साथ उसकी पत्नी न हो तो वह महल भी जंगल ही माना जाता है १२ भार्या धर्म, अर्थ और कामके कार्यौंमें पुरुषको सहायता देनेवाली है परदेशमें भी वह विश्वासपात्र मित्र है १३ भार्या ही पुरुषका परम अर्थ है ऐसा कहा जाता है, इस जगत्में संसारयात्रा चलाने के लिये सहायकरहित पुरुषको सहायता देनेवाली भार्या ही है १४ चिरकालके रोगसे उकताए हुए पुरुपकी, दुःखमें पड़ेहुए पुरुषकी, स्त्रीके समान कोई भी औषधि नहीं है१५ पुरुषका स्त्रीकी समान बन्धु नहीं है, स्त्रीकी समान गति नहीं है, स्त्रीकी समान इस जगत्में धर्मसंग्रहमें सहायता देनेवाला दूसरा नहीं है १६ जिसके घरमें सद्गुणी और मधुरभाषिणी गृहिणी नहीं है, उस पुरुष को वनमें चले जाना चाहिये, क्योंकि-उसके लिये जैसा घर है, वैसा ही वन है ॥ १७ ॥ एकसौ चौवालीसवाँ अध्याय समाप्त॥ १४४ ॥ छ ॥ छ ॥

भीष्म उवाच । एवं विलपतस्तस्य श्रुत्वा तु करुणं वचः । गृहीता शकुनिघ्नेन कपोती वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥ कपोत्युवाच । अहोतीव सुभाग्याहं यस्या मे दयितः पतिः । असतो वा सतो वापि गुणानेवं प्रभाषते ॥ २ ॥ न सा स्त्री ह्यभिमन्तव्या यस्यां भर्त्ता न तुष्यति । तुष्टे भर्त्तरि नारीणां तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ॥ ३ ॥ अग्निसाक्षिकमित्येव भर्त्ता वै दैवतं परम् । दावाग्निनेव निर्दग्धा सपुष्पस्तबका लता ॥४॥ भस्मी भवति सा नारी यस्या भर्त्ता न तुष्यति । इति सञ्चिन्त्य दुःखार्त्ता भर्त्तारं दुःखितं तदा ॥ ५ ॥ कपोती लुब्धकेनापि गृहीता वाक्य-

भीष्मने कहा कि-इस प्रकार कबूतर विलाप कर रहा था, उसके करुणाभरे वचनोंको सुनकर, बहेलियेकी कैद में पड़ी हुई कबूतरी पींजरेमेंसे कहने लगी ॥१॥ कबूतरी बोली कि-ओ! हो ! हो ! मेरे प्रिय पति, मुझमें गुण हों या न हों, परन्तु मैं बड़ी ही भाग्यवती हूँ, कि-तुम मेरी प्रशंसा कर रहे हो ॥ २ ॥ जिस भार्यासे भर्ताको संतोष नहीं होता है, वह भार्या ही नहीं है जिस भार्याके ऊपर भर्ता सन्तुष्ट होजाता है उसके ऊपर सब देवता भी प्रसन्न होजाते हैं ॥ ३ ॥ अग्निको साक्षी मान कर जिससे विवाह होता है, वह भर्ताही स्त्रीका परमदेवता है, जिसका भर्ता अपनी स्त्रीसे सन्तोष नहीं पाता है, उसकी भार्या दावानलसे जैसे पुष्प और गुच्छोंसहित लता भस्म होजाती है, तैसे ही बल कर भस्म होजाती है ॥४-५॥ ऐसा विचारकर दुःखार्त कबूतरी कि-जिसको बहेलियेने पींजरेमें बन्द कर रक्खा था, वह अपने दुःखी स्वामीसे कहने लगी, कि-"हे नाथ ! मैं तुमसे एक

मब्रवीत् । हंत वक्ष्यामि ते श्रेयः श्रुत्वा तु कुरु तत्तथा ६
शरणागतसन्त्राता भव कान्त विशेषतः । एष शाकु-
निकः शेते तवावासं समाश्रितः ॥७॥ शीतार्त्तश्च क्षुधा-
र्त्तश्च पूजामस्मै समाचर । यो हि कश्चिद् द्विजं हन्याद्गां च
लोकस्य मातरम् ॥ ८ ॥ शरणागतं च यो हन्यात् तुल्यं
तेषां च पातकम् । योस्माकं विहिता वृत्तिः कापोती ज्ञा-
तिधर्म्मतः ॥ ९ ॥ सा न्याय्यात्मवता नित्यं त्वद्विधेनानु-
वर्त्तितुम् । यस्तु धर्मं यथाशक्ति गृहस्थो ह्यनुवर्त्तते ।१०।
स प्रेत्य लभते लोकानक्षयानिति शुश्रुम । स त्वं सन्तान-
वानद्य पुत्रवानसि च द्विज ॥११॥ तत् स्वदेहे दयां त्य-

कल्याणकी बात कहती हूँ, उसको सुन कर तुम उसके अनुसार करो ॥ ६ ॥ हे कान्त ! तुम जहाँ तक होसके इस शरणागतकी रक्षा करो, यह बहेलिया तुम्हारे वास-स्थान पर आकर सोरहा है ॥ ७ ॥ यह ठण्डसे और भूखसे पीड़ा पारहा है इसकी तुम पूजा करो, पुरुषका, ब्राह्मणका अथवा लोकमाता गौका वध करनेसे जो पाप लगता है, वैसा ही पाप जो पुरुष शरणागतकी रक्षा नहीं करता है उसको लगता है तुमको आत्माका ज्ञान है, अतः कपोतके जातिधर्मानुकूल हमारी ईश्वरने जो वृत्ति निर्माण की है, उस ही वृत्तिके अनुसार तुमको वर्ताव करना चाहिये ॥८-९॥ वह वृत्ति तुम जैसे बुद्धि-मान् व्यक्तिको अवश्य पालनी चाहिये, जो गृहस्थ पुरुष शक्तिके अनुसार अपने आश्रमधर्मको पालता है, वह मरनेके पीछे अक्षयधाममें जाता है, ऐसा हमने सुना है, हे पक्षी ! तुम तो संतानवाले हो, पुत्रवाले हो १०-११ इसलिये तुम अपने देहकी ममताको त्यागकर धर्म तथा

त्त्वा धर्मार्थौ परिगृह्य च । पूजामस्मै प्रयुंक्ष्व त्वं प्रीयेतास्य मनो यथा ॥ १२ ॥ मत्कृते मा च सन्तापं कुर्वीथास्त्वं विहङ्गम । शरीरयात्राकृत्यार्थमन्यान् दारानुपैष्यसि ॥ १३ ॥ इति सा शकुनी वाक्यं पंजरस्था तपस्विनी । अतिदुःखान्विता प्राह भर्त्तारं समुदीक्ष्य च १४

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि
कपोतकपोतीसम्वादे पञ्चचत्वारिंशदधिक-
शततमोऽध्यायः ॥ १४५ ॥

भीष्म उवाच । स पत्न्या वचनं श्रुत्वा धर्मयुक्तिसमन्वितम् । हर्षेण महता युक्तो वाक्यं व्याकुललोचनः १ तं वै शाकुनिकं दृष्ट्वा विधिदृष्टेन कर्मणा । पूजयामास यत्नेन स पक्षी पक्षिजीविनम् ॥ २ ॥ उवाच स्वागतं तेद्य ब्रूहि किं करवाणि ते । सन्तापश्च न कर्त्तव्यः स्वगृहे वर्त्तते

अर्थको स्वीकार करके वहेलियेका मन जिसप्रकार प्रसन्न हो तैसे तुम उसकी पूजा करो ॥ १२ ॥ हे पक्षी ! तुम मेरे लिये अपने मनमें सन्ताप मत करना, तुम जीवित रहोगे तो दूसरी स्त्रियें पासकोगे ॥ १३ ॥ इसप्रकार पींजरे में पड़ी हुई कबूतरीने अति दुःखके साथ अपने स्वामीसे कहा और फिर उसके मुखके सामने देखने लगी ॥ १४ ॥ एकसौ पैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १४५ ॥ छ ॥

भीष्मने कहा कि-हे युधिष्ठिर ! अपनी पत्नीका सदाचारवाला और युक्तियुक्त वचन सुनकर कबूतरको महाहर्ष हुआ, उसके नेत्रोंमेंसे आनन्दके आँसू वहने लगे १ फिर कबूतरने पक्षियोंकी नित्य हिंसा करनेवाले उस बहेलियेकी शास्त्रोक्त कर्मसे प्रयत्नपूर्वक पूजा की ॥ २ ॥ और कहा कि-आज आप अच्छे आये, बताओ मैं आपका क्या

भवान् ॥ ३ ॥ तद्ब्रवीतु भवान् क्षिप्रं किं करोमि किमिच्छसि । प्रणयेन ब्रवीमि त्वां त्वं हि नः शरणागतः ।४। अरावप्युचितं कार्य्यमातिथ्यं गृहमागते । छेत्तुमप्यागते छायां नोपसंहरते द्रुमः ॥ ५ ॥ शरणागतस्य कर्त्तव्यमातिथ्यं हि प्रयत्नतः । पञ्चयज्ञप्रवृत्तेन गृहस्थेन विशेषतः ६ पञ्चयज्ञांस्तु यो मोहात् न करोति गृहाश्रमे । तस्य नायं न च परो लोको भवति धर्मतः ॥७॥ तद्ब्रूहि मां सुविश्रब्धो यत्त्वं वाचा वदिष्यसि । तत् करिष्याम्यहं सर्वं मा त्वं शोके मनः कृथाः ॥ ८ ॥ तस्य तद्वचनं श्रुत्वा शकुनिर्लुब्धकोऽब्रवीत् । बाधते खलु मां शीतं हिमत्राणं

कार्य करूँ, तुम मनमें सन्ताप मत करो, तुम आज अपने घरमें ही हो, ऐसा समझो ॥ ३ ॥ अतः तुम शीघ्र ही बताओ कि—मैं तुम्हारा क्या काम करूँ ? तुम्हारी क्या इच्छा है ? तुम मेरे शरणागत हो, अतः स्नेहके कारण मैं तुमसे बूझता हूँ ॥ ४ ॥ शत्रु घर आवे तब उसका योग्य रीतिसे सत्कार करना चाहिये (यह गृहस्थका धर्म है) कोई पुरुष वृक्षको काटनेके लिये आता है तो भी वृक्ष अपनी छायाको उसके ऊपरसे नहीं हटाता है ॥ ५ ॥ सब किसीको और विशेषतः गृहस्थको पञ्चमहायज्ञ करके शरणागतका अतिथिसत्कार प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये ॥ ६ ॥ जो मनुष्य अज्ञानतासे गृहस्थाश्रममें रहता हुआ भी पञ्चमहायज्ञ नहीं करता है, उस को धर्मानुसार यह लोक तथा परलोक नहीं मिलते हैं ।७। अतः तू भलीप्रकार विश्वास रखकर मुझसे कह (कि—मैं तेरा कौनसा काम करूँ) तू जो कुछ कहेगा, वह मैं सब करूँगा, तू शोक मत कर ॥ ८ ॥ पक्षीकी बात सुन

विधीयताम्॥९॥एवमुक्तस्ततः पक्षी पर्णान्यास्तीर्य भूतले। यथा शक्त्या हि पर्णेन ज्वलनार्थं द्रुतं ययौ ॥ १० ॥ स गत्वाङ्गारकर्मान्तं गृहीत्वाग्निमथागमत् । ततः शुष्केषु पर्णेषु पावकं सोऽप्यदीपयत् ॥११॥ स संदीप्तं महत् कृत्वा तमाह शरणागतम् । प्रतापय सुविश्रब्धः स्वगात्राण्यकुतोऽभयः ॥१२॥ स तथोक्तस्तथेत्युक्त्वा लुब्धो गात्राण्यतापयत् । अग्निप्रत्यागतप्राणस्ततः प्राह विहङ्गमम् १३ हर्षेण महताविष्टो वाक्यं व्याकुललोचनः। तथेमं शकुनिं दृष्ट्वा विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १४ ॥ दत्तमाहारमिच्छामि त्वया क्षुद् बाधते हि माम् । स तद्वचः प्रतिश्रुत्य वाक्यमाह विहङ्गमः ॥१५॥ न मेऽस्ति विभवो येन नाशयेयं क्षुधा-

कर बहेलिया बोला कि-मुझे ठण्ड सता रही है, अतः तू मुझे ठण्डसे बचा ॥ ९ ॥ बहेलियेने इसप्रकार कहा, तब कबूतरने पृथ्वी पर पत्ते बिछादिये और अग्नि लाने के लिये एकसाथ तहाँसे उड़ा ॥ १० ॥ और एक लुहार के घरमें जा तहाँ से अग्नि ले आया और सूखे पत्तोंके ढेरमें अग्नि लगादी और उसको सुलगा कर भलीप्रकार प्रज्वलित करदिया, तब उसने शरणमें आयेहुए बहेलिए से कहा कि तू भलीप्रकार विश्वास करके, संपूर्ण रीति से भय छोड़कर अपने शरीरको गरम कर ॥ ११-१२ ॥ कबूतरके कथनको सुनकर बहेलिया "ठीक है" कहकर अपने शरीरको गरम करनेलगा, जब उसके शरीरमें गर्मी आगई, तब उसने बड़े भारी हर्षमें भरकर व्याकुल नेत्रों से सामने खड़े हुए कबूतरसे कहा कि-"मुझे भूख लगी है, मैं चाहता हूँ कि-तू मुझे कुछ खानेको दे" बहेलियेके कहनेको सुनकर पक्षी बोला कि-॥१३-१५॥ मेरे पास

न्तव । उत्पन्नेन हि जीवामो वयं नित्यं वनौकसः ॥१६॥
संचयो नास्ति चास्माकं मुनीनामिव भोजने । इत्युक्त्वा
तं तदा तत्र विवर्णवदनोभवत् ॥१७॥ कथं नु खलु कर्त्त-
व्यमिति चिन्तापरस्तदा । बभूव भरतश्रेष्ठ गर्हयन् वृत्ति-
मात्मनः ॥ १८ ॥ मुहूर्त्ताल्लब्धसंज्ञस्तु स पक्षी पक्षिघा-
तिनम् । उवाच तर्पयिष्ये त्वां मुहूर्त्तं प्रतिपालय ॥१६॥
इत्युक्त्वा शुष्कपर्णेषु समुज्ज्वाल्य हुताशनम् । हर्षेण
महताविष्टः स पक्षी वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥ ऋषीणां
देवतानां च पितॄणां च महात्मनाम् । श्रुतः पूर्वं मया
धर्मो महानतिथिपूजने ॥२१॥ कुरुष्वानुग्रहं सौम्य सत्य-

ऐसा कोई वैभव नहीं है, जिससे मैं तेरी भूखको दूर करसकूँ, हम तो नित्य वनमें वसते हैं और उत्पन्नभक्षी (तुरत मिले हुए पदार्थको खानेवाले) हैं ॥१६॥ मुनियों की समान ही हम अन्नका संग्रह नहीं करते हैं' इसप्रकार बहेलियेसे कह तो दिया, परन्तु कबूतरका मुख उदास होगया १७ हे भरतवंशमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! वह कबूतर अपने मनमें विचारने लगा कि-अब मुझे क्या करना चाहिये, वह इस चिन्तामें डूबगया और अपनी स्थिति की निन्दा करनेलगा ॥ १८ ॥ एक घड़ी पीछे उस पक्षी को ध्यान आया, तब उसने बहेलियेसे कहा कि-तू घड़ी भर थम, मैं तुझे अभी तृप्त करता हूँ ॥१६॥ इसप्रकार कहकर कबूतरने सूखे पत्ते लेकर अग्नि सुलगाई, फिर महाहर्षमें भरकर वह पक्षी बोला २० कि-पहिले ऋषि, देवता तथा महात्मा पितरोंसे मैंने सुना है कि, अतिथि की पूजा करना बड़ा भारी धर्म है २१ हे शांतगुणी ! तू मेरे ऊपर ऊपर अनुग्रह करना मैं तुझसे खरी बात

मेतद् ब्रवीमि ते। निश्चिता खलु मे बुद्धिरतिथिप्रति-
पूजने ॥ २२ ॥ ततः कृतप्रतिज्ञो वै स पक्षी प्रहसन्निव।
तमग्निं त्रिः परिक्रम्य प्रविवेश महामतिः ॥ २३ ॥ अग्नि-
मध्ये प्रविष्टन्तु लुब्धो दृष्ट्वा तु पक्षिणम्। चिन्तयामास
मनसा किमिदं वै मया कृतम्॥२४॥॥ अहो मम नृशंसस्य
गर्हितस्य स्वकर्मणा। अधर्मः सुमहान् घोरो भविष्यति
न संशयः॥२५॥एवं बहुविधं भूरि विललाप स लुब्धकः।
गर्हयन् स्वानि कर्माणि द्विजं दृष्ट्वा तथागतम् ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि
कपोतलुब्धकसम्वादे षट्चत्वारिंशदधिक-
शततमोऽध्यायः ॥ १४६ ॥

भीष्म उवाच। ततः स लुब्धकः पश्यन् क्षुधयापि परि-

कहता हूँ कि, तू मेरा अतिथि है अतः मैंने तेरा सत्कार करनेका पक्का निश्चय किया है ॥२२॥ इसप्रकार कहकर प्रतिज्ञावाला मतिमान् वह कबूतर प्रसन्नमुखसे अग्निकी तीन परिक्रमा करके उसमें कूद्पड़ा २३ कबूतरको अग्नि में गिराहुआ देखते ही बहेलिया अपने मनमें विचार करने लगा कि, "अरेरे! मैंने यह क्या किया २४ हाय! मैं क्रूर हूँ और अपने कर्मसे निन्दित हूँ. तिसपर भी इस कबूतरके अग्निमें गिरनेसे, तो मुझसे बड़ाभारी अधर्म बनगया, इसमें संदेह नहीं है ॥ २५ ॥ इसप्रकार कबूतर को अग्निमें पड़ाहुआ देखकर बहेलियेने बड़ाभारी विलाप किया और अपने कर्मकी निन्दा करने लगा ॥२६॥ एकसौ छियालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १४६ ॥

भीष्मने कहा कि-हे युधिष्ठिर! वह बहेलिया भूख से पीड़ा पारहा था, तो भी कबूतरको अग्निमें पड़ेहुए

स्तुत: । कपोतमग्नौ पतितं वाक्यं पुनरुवाच ह ॥ १ ॥
किमीदृशं नृशंसेन मया कृतमबुद्धिना । भविष्यति हि मे
नित्यं पातकं कृतजीविनः । स विनिन्दंस्तथात्मानं पुनः
पुनरुवाच ह ॥२॥ अविश्वास्यः सुदुर्बुद्धिः सदा निकृति-
निश्चयः । शुभं कर्म परित्यज्य सोऽहं शकुनिलुब्धकः ॥३॥
नृशंसस्य ममाद्यायं प्रत्यादेशो न संशयः । दत्तः स्वमांसं
दहता कपोतेन महात्मना ।४॥सोऽहं त्यक्ष्ये प्रियान् प्राणान्
पुत्रान् दारान् विसृज्य च । उपदिष्टो हि मे धर्मः कपोतेन
महात्मना ॥ ५ ॥ अद्यप्रभृति देहं स्वं सर्वभोगैर्विवर्जि-
तम् । यथा स्वल्पं सरो ग्रीष्मे शोषयिष्याम्यहं तथा ।६।
क्षुत्पिपासातपसहः कृशो धमनिसन्ततः । उपवासैर्बहु-

देखकर फिर इसप्रकार कहने लगा ॥ १ ॥ कि हाय ! हाय ! मुझ क्रूर और मूर्खने यह क्या किया ! दूसरेके मांससे मैं जीवन बिताता हूँ, मैं महाकङ्गाल हूँ मेरे पाप घोर हैं ! इसप्रकार अपनी निन्दा करता हुआ वह बार २ कहने लगा कि-॥ २ ॥ मैं विश्वास करनेके अयोग्य हूँ, दुर्बुद्धि हूँ, मैं पापसंकल्पवाला हूँ, शोक ! मैं शुभ कर्मका त्याग करके बहेलिया बनगया हूँ ॥३॥ मुझ क्रूरको इस कबूतरने उपदेश दिया है, इसमें सन्देह नहीं है महात्मा कबूतरने अपनेको अग्निमें होमकर अपना मांस मुझे अर्पण किया है ॥ ४ ॥ महात्मा कबूतरने मुझे धर्मका उपदेश दिया है अब मैं पुत्रोंको, स्त्रीको तथा अपने प्रिय प्राणोंको भी त्याग दूँगा ॥ ५ ॥ आजसे मैं सब वैभवों को त्यागकर, ग्रीष्म ऋतुमें जैसे क्षुद्र सरोवर सूखजाता है, तैसे ही मैं अपने शरीरको भी सुखा डालूँगा ॥ ६ ॥ भूख, प्यास और शीतको सहकर अपने शरीरको दुर्बल

विधैश्चरिष्ये पारलौकिकम् ॥ ७ ॥ अहो देहप्रदानेन दर्शिताऽतिथिपूजना । तस्माद्धर्मं चरिष्यामि धर्मो हि परमा गतिः ॥ ८ ॥
दृष्टो धर्मो हि धर्मिष्ठे यादृशो विहगोत्तमे । एवमुक्त्वा विनिश्चित्य रौद्रकर्मा स लुब्धकः ॥ ९ ॥ महाप्रस्थानमाश्रित्य प्रययौ संशितव्रतः ॥ १० ॥ ततो यष्टिं शलाकाश्च जालकं पञ्जरं तथा । तां च बद्धां कपोतीं स प्रमुच्य विससर्ज ह ॥ ११ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि लुब्धकोपरतौ सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४७ ॥

भीष्म उवाच । ततो गते शकुनिके कपोती प्राह दुःखिता । संस्मृत्य सा च भर्त्तारं रुदती शोककर्षिता ॥ १ ॥

और नसें दीखनेवाला कर डालूँगा और बहुतसे उपवास करके पारलौकिक श्रेयका आचरण करूँगा । ७ ॥ अरे! रे! इस कबूतरने अपना देह अर्पण करके, अतिथिकी पूजा कैसे करनी चाहिये, यह दिखादिया है ! अब मैं धर्माचरण करूँगा, क्योंकि-धर्म ही परमगति है ॥ ८ ॥ पक्षियों में श्रेष्ठ कबूतरमें मैंने जैसा धर्म देखा है, तैसे ही धर्मका मैं आचरण करूँगा, इसप्रकार कहकर और अपने मनमें निश्चय करके, भयङ्कर कर्म करनेवाले, परन्तु कबूतरके उपदेशसे श्रेष्ठ आचरण वाले बनेहुए बहेलियेने महाप्रस्थान करनेका विचार किया ॥ ९-१० ॥ उसने तुरन्त लकड़ी, तीखी धारवाली लोहेकी लकड़ियें, जाल, पींजरा तथा फाँसी हुई कबूतरी, इन सबको त्यागदिया और स्वयं तपश्चर्या करनेके लिये वनमें चलागया ॥ ११ ॥ एकसौ सैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १४७ ॥

भीष्मने कहा कि-उस बहेलियेके तहाँसे चलेजाने

नाह ते विप्रियं कान्त कदाचिदपि संस्मरे । सर्वापि विधवा नारी बहुपुत्रापि शोचते ॥ २ ॥ शोच्या भवति बन्धूनां पतिहीना तपस्विनी । लालिताहं त्वया नित्यं बहुमानाच्च पूजिता ॥ ३ ॥ वचनैर्मधुरैः स्निग्धैरसंक्लिष्टमनोहरैः । कन्दरेषु च शैलानां नदीनां निर्झरेषु च ॥ ४ ॥ द्रुमाग्रेषु च रम्येषु रमिताहं त्वया सह । आकाशगमने चैव विहृताहं त्वया सुखम् ॥ ५ ॥ रमामि स्म पुरा कान्त तन्मे नास्त्यद्य किञ्चन । मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः ॥६॥ अमितस्य हि दातारं भर्त्तारं का न पूजयेत् ।

पर शोकसे दुबली हुई और दुःखिनी कबूतरी अपने पति का स्मरण कर रोती २ बोली ॥ १ ॥ कि-"अरे रे! ओ स्वामी! तुमने कभी भी मेरे मनको अच्छा न लगने वाला काम किया हो, यह मुझे याद नहीं आता पतिसे रहित हुई, पुत्रवाली भी सब ही नारियें दुर्भागी ही होती हैं ॥२॥ पतिसे रहित होनेपर यदि स्त्रियें तप करने लगती हैं, तो भी वे अपने कुटुम्बियोंके शोकको बढ़ाने वाली होपड़ती हैं, तुमने मेरा लालन पालन किया था और तुम मेरा बड़े मानसे सत्कार करते थे॥३॥मैं भी पर्वतों की गुफाओंमें, नदियोंके झरनों पर और वृक्षोंकी रमणीय टहनियों पर बैठकर स्नेहमय, स्पष्ट और मधुरवचन बोलकर तुम्हारे साथ रमण करती थी, तुम्हारे साथ मैं आकाशमें भी विहार करती थी ॥ ४-५ ॥ हे कान्त ! पहिले मैं तुम्हारे साथ रमण करती थी, परन्तु वह सब अब मेरे लिये कुछ नहीं है, स्त्रीको जो पिता सुख देता है वह भी अल्प है, भाई जो सुख देता है, वह भी थोड़ा है और पुत्र जो सुख देता है वह भी अल्प ही है अर्थात्

नास्ति भर्त्तृसमो नाथो नास्ति भर्त्तृसमं सुखम् ॥ ७ ॥ विसृज्य धनसर्वस्वं भर्त्ता वै शरणं स्त्रियाः । न कार्य्य-मिह मे नाथ जीवितेन त्वया विना ॥ ८ ॥ पतिहीना तु का नारी सती जीवितुमुत्सहेत् । एवं विलप्य बहुधा करुणं सा सुदुःखिता ॥ ९ ॥ पतिव्रता संप्रदीप्तं प्रविवेश हुताशनम् । ततश्चित्राङ्गदधरं भर्त्तारं सान्वपश्यत ॥१०॥ विमानस्थं सुकृतिभिः पूज्यमानं महात्मभिः । चित्रमा-ल्यांबरधरं सर्वाभरणभूषितम् ॥ ११ ॥ विमानशतकोटी-भिरावृतं पुण्यकर्मभिः । ततः स्वर्गं गतः पक्षी विमान-

---

यह सब मित सुख देते हैं, अपार सुख तो एक भर्ता ही देता है अतः कौन भार्या अपने पतिकी सेवा न करेगी? भर्ताके समान नाथ नहीं है और भर्ताके समान दूसरा सुख नहीं है ॥ ६-७ ॥ स्त्रियोंको सबप्रकारके धन और सब वस्तुओंको छोड़कर एक पतिकी ही शरण लेनी चाहिये ॥ ८ ॥ पतिके विना कौन सती स्त्री व्यर्थ ही जीना चाहेगी' इसप्रकार बहुत ही दुःखी कबूतरी दयाजनक रीतिसे बड़ा ही विलाप करने लगी ॥ ९ ॥ और विलाप करते २ वह पतिव्रता कबूतरी प्रज्वलित अग्निमें कूदपड़ी वहाँ उसने अपने पतिको बाजूबन्द धारण किये हुए देखा ॥ १० ॥ उसका पति बाजूबन्द और सुन्दर हार पहरकर विमानमें बैठा था, वह विचित्र पुष्पोंकी माला, वस्त्र तथा अनेक प्रकारके आभूषणोंको धारणकर विमानमें बैठाहुआ शोभा पारहा था, और विमानोंमें बैठेहुए बहुत से पुण्यवान् महात्मा उसकी प्रशंसा कररहे थे, इसप्रकार वह कबूतर उत्तम विमानमें बैठकर स्वर्गमें गया और पुण्यकर्मसे सत्कार पाकर भार्याके साथ स्वर्गमें विहार

वरमास्थितः। कर्मणा पूजितस्तत्र रेमे स सह भार्य्यया १२

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कपोत-
स्वर्गगमनेऽष्टचत्वारिंशदधिशततमोऽध्यायः ॥१४८॥

भीष्म उवाच । विमानस्थौ तु तौ राजन् लुब्धकः खे ददर्श च । दृष्ट्वा तौ दंपती दुःखादचिन्तयत तां गतिम् १ ईदृशेनैव तपसा गच्छेयं परमां गतिम् । इति बुद्ध्या विनिश्चित्य गमनायोपचक्रमे॥२॥महाप्रस्थानमाश्रित्य लुब्धकः पक्षिजीवकः । निश्चेष्टो मरुदाहारो निर्म्ममः स्वर्गकांक्षया ॥३॥ ततोऽपश्यत् सुविस्तीर्णं हृद्यं पद्माभिभूषितम् । नानापक्षिगणाकीर्णं सरः शीतजलं शिवम् ॥ ४ ॥ पिपा-

---

करने लगा ॥ ११-१२ ॥ एकसौ अड़तालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १४८ ॥ ❀ ॥ ❀ ॥

भीष्मने कहा कि–हे युधिष्ठिर ! उस समय उस बहेलियेको कबूतर और कबूतरी विमानमें बैठकर आकाशमें जातेहुए दीखे, उनकी सद्गतिका विचार करके बहेलिया अपने मनमें (अपने पापकर्म और दुर्भाग्यका विचार करता हुआ) कहने लगा कि–"मैं भी इसप्रकार ही तप करके परमगतिको पाऊँ" अपनी बुद्धिसे ऐसा निश्चय करके उसने महाप्रस्थानका आरम्भ किया ॥ १-२ ॥ पक्षियोंके ऊपर आजीविका चलानेवाला वह बहेलिया जंगलमें चलागया और वहाँ स्वर्ग पानेकी इच्छासे चेष्टा और ममतारहित होकर पवनका भक्षण करके चारों ओर घूमनेलगा ॥ ३ ॥ उसने वनमें फिरते २ हृदयको अच्छा लगनेवाला, कमलोंसे खिलाहुआ, अनेक पक्षियोंसे शोभायमान, शीतल और निर्मल जलसे भराहुआ एक विस्तृत सरोवर देखा ॥४॥ वह सरोवर देखते ही तृपा-

सात्तोपि तद् दृष्ट्वा तृप्तः स्यान्नात्र संशयः। उपवासकृशो-
त्यर्थं स तु पार्थिव लुब्धकः ॥ ५ ॥ अनवेक्ष्यैव संहृष्टः
श्वापदाध्युषितं वनम्। महान्तं निश्चयं कृत्वा लुब्धकः
प्रविवेश ह॥६॥प्रविशन्नेव स वनं निगृहीतः स कण्टकैः।
स कण्टकैर्विभिन्नाङ्गो लोहितार्द्रीकृतच्छविः ॥७॥ बभ्राम
तस्मिन् विजने नानामृगसमाकुले। ततो द्रुमाणां महतां
पवनेन वने तदा ॥ ८ ॥ उदतिष्ठत संघर्षात् सुमहान्
हव्यवाहनः। तद्वनं वृक्षसम्पूर्णं लताविटपसंकुलम् ॥९॥
ददाह पावकः क्रुद्धो युगान्ताग्निसमप्रभः। स ज्वालैः पव-
नोद्धूतैर्विस्फुलिङ्गैः समन्ततः॥१०॥ददाह तद्वनं घोरं मृग-
पक्षिसमाकुलम्। ततः स देहमोक्षार्थं संप्रहृष्टेन चे-
तसा ॥ ११ ॥ अभ्यधावत वर्द्धन्तं पावकं लुब्धकस्तदा।

तुरकी तृषाको दूर करनेवाला था, परन्तु उपवास करने से अतिदुर्बल हुआ वह बहेलिया, उस तालाबको बिना देखे ही, मनमें प्रसन्न होताहुआ हिंसाविहारी प्राणियों से भरेहुए महावनमें घुसा कि-उसके अंग काँटोंसे बिंध गए और उसका शरीर लोहूलुहान होगया ॥ ७ ॥ तब भी वह अनेक पशुओंसे भरेहुए उस ऊजड़ वनमें फिरता ही रहा, इतनेमें ही उस वनमें आँधी चलनेलगी और वृक्षोंके आपसमें टकरानेसे दावानल जल उठा प्रलयकाल की अग्निकी समान कांतिवाले कुपित अग्निने वृक्ष, लता और लताके गुच्छोंसे भरेहुए उस वनको जलाना आरंभ करदिया, पवनसे अग्निकी ज्वालाएँ ऊपरको उठनेलगीं, चारों ओर चिनगारियें निकलने लगीं ॥ ८-१० ॥ और पशु, पक्षी तथा वृक्षोंसे भरापुरा वह वन जलनेलगा, यह देखकर वह बहेलिया, अपने देहको त्यागनेके लिये,

ततस्तेनाग्निना दग्धो लुब्धको नष्टकल्मषः। जगाम परमां सिद्धिं ततो भरतसत्तम ॥ १२ ॥ ततः स्वर्गस्थमात्मानमपश्यद्विगतज्वरः। यक्षगन्धर्वसिद्धानां मध्ये भ्राजन्तमिन्द्रवत् ॥१३॥ एवं खलु कपोतश्च कपोती च पतिव्रता। लुब्धकेन सह स्वर्गं गताः पुण्येन कर्मणा ॥ १४ ॥ यापि चैवं विधा नारी भर्त्तारमनुवर्त्तते। विराजते हि सा क्षिप्रं कपोतीव दिवि स्थिता ॥ १५ ॥ एवमेतत् पुरावृत्तं लुब्धकस्य महात्मनः। कपोतस्य च धर्मिष्ठा गतिः पुण्येन कर्मणा ॥१६॥ यश्चेदं शृणुयान्नित्यं यश्चेदं परिकीर्त्तयेत्। नाशुभं विद्यते तस्य मनसापि प्रमादतः ॥ १७ ॥ युधिष्ठिर महानेष धर्मो धर्मभृताम्वर। गोघ्नेष्वपि भवेदस्मि-

---

प्रसन्नचित्तसे बढ़तेहुए सर्वभक्षी अग्निकी ओर दौड़ा और अग्निमें भस्म हो मरकर पापरहित होगया और हे भरतवंशश्रेष्ठ! उसने परमसिद्धि पाई ॥ ११-१२ ॥ सबप्रकारके तापसे रहित हुए बहेलियेने देखा तो "वह स्वर्गमें आगया है और यक्ष, गन्धर्व तथा सिद्धोंके बीच में इन्द्रकी समान शोभित होरहा है" ॥१३॥ इसप्रकार पुण्यसे पतिव्रता कबूतरी और कबूतर, बहेलियेके साथ स्वर्गमें गए ॥ १४ ॥ कोई भी स्त्री यदि इसप्रकार स्वामी का अनुसरण करती है, तो वह, मेरी वर्णित कबूतरीकी समान अपने पतिके साथ स्वर्गमें विराजती है ॥ १५ ॥ महात्मा बहेलिये और कबूतरके पुण्यकर्मसे धर्मगति पानेका यह पूर्वकालका इतिहास है ॥ १६ ॥ जो पुरुष इस आख्यानको नित्य सुनता है और कीर्तन करता है, वह पुरुष मनसे प्रमाद करता है तो भी उसका कभी अशुभ नहीं होता है ॥ १७ ॥ हे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ

न्निष्कृतिः पापकर्मणः ॥ १८ ॥ न निष्कृतिर्भवेत्तस्य यो हन्याच्छरणागतम् । इतिहासमिमं श्रुत्वा पुण्यं पापप्रणाशनम् । न दुर्गतिमवाप्नोति स्वर्गलोकञ्च गच्छति १६ इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि लुब्धकस्वर्गगमने एकोनपञ्चाशदधिकशततमोध्यायः ॥१४६॥

युधिष्ठिर उवाच । अबुद्धिपूर्वं यः पापं कुर्य्याद्भरतसत्तम मुच्यते स कथं तस्मादेतत् सर्वं ब्रवीहि मे ॥१॥ भीष्म उवाच । अत्र ते वर्त्तयिष्यामि पुराणमृषिसंस्तुतम् । इंद्रोतः शौनको विप्रो यदाह जनमेजयम् २ आसीद्राजा महावीर्य्यः पारीक्षिज्जनमेजयः । अबुद्धिपूर्वामागच्छद् ब्रह्महत्यां

युधिष्ठिर ! शरणागतको आश्रय देना, महापुण्य है, ऐसा आचरण करनेसे गोहत्या करनेवाले पापीका पाप भी दूर होजाता है ॥ १८ ॥ और जो शरणागतका घात करता है, उसके पापका प्रायश्चित्त नहीं है, इस पुण्यप्रद और पापनाशक इतिहासको जो सुनता है, उस पुरुषकी दुर्गति नहीं होती है और वह स्वर्गलोकमें जाता है १६ एकसौ उञ्चासवाँ अध्याय समाप्त ॥ १४६ ॥

युधिष्ठिरने बूझा कि-हे भरतवंशश्रेष्ठ पितामह ! जो पुरुष अनजानमें पापकरता है, वह किसप्रकार उस पापमेंसे छूटता है, यह मुझसे कहिये ॥ १ ॥ भीष्मने कहा कि-हे युधिष्ठिर ! शुनकवंशमें उत्पन्न हुए इंद्रोत नामक ब्राह्मणने जनमेजयसे जो कथा कही थी वह प्राचीन और ऋषियोंकी कहीहुई कथा मैं तुझै सुनाता हूँ ॥ २ ॥ परीक्षितका पुत्र ❀ राजा जनमेजय महापराक्रमी था, उस राजासे एक समय अनजानमें ब्रह्महत्या होगई ॥ ३ ॥

❀ यह परीक्षितका पुत्र जनमेजय, दूसरा है ।

महीपतिः ॥३॥ ब्राह्मणाः सर्वं एवैते तत्यजुः सपुरोहिताः। स जगाम वनं राजा दह्यमानो दिवानिशम्॥४॥ प्रजाभिः स परित्यक्तश्चकार कुशलं महत्। अतिवेलं तपस्तेपे दह्यमानः स मन्युना ॥५॥ ब्रह्महत्यापनोदार्थमपृच्छद् ब्राह्मणान् बहून्। पर्यटन् पृथिवीं कृत्स्नां देशे देशे नराधिप ६ तत्रेतिहासं वक्ष्यामि धर्मस्यास्योपबृंहणम्। दह्यमानः पापकृत्या जगाम जनमेजयः ॥ ७ ॥ चरिष्यमाण इन्द्रोतं शौनकं संशितव्रतम्। समासाद्योपजग्राह पादयोः परिपीडयन् ॥ ८ ॥ ऋषिर्दृष्ट्वा नृपं तत्र जगर्हे सुभृशं तदा। कर्ता पापस्य महतो भ्रूणहा किमिहागतः ॥९॥ किन्त्वयास्मासु कर्त्तव्यं मा मां स्म प्राक्षीः कथंचन। गच्छ गच्छ न ते

तब पुरोहित और सब ब्राह्मणोंने इकट्टे होकर उस राजा का त्याग करदिया, तब वह राजा रातदिन मनमें संताप करनेलगा और वनमें चलागया ॥४॥ प्रजाने भी उसको त्याग दिया था, इससे वह राजा क्रोधसे जलनेलगा और तुरत ही अपनी कुशलके लिये तप करने लगा ॥ ५ ॥ पापसे संतप्त हुआ वह राजा पृथ्वीके देशोंमें भटकने लगा और ब्रह्महत्याका नाश करनेके लिये बहुतसे ब्राह्मणोंसे बूझनेलगा॥ ६ ॥ धर्मकी वृद्धि करनेवाला वह इतिहास मैं तुझसे कहता हूँ सुन! राजा जनमेजय पापकर्म बनजानेसे जलता रहता था, इससे वह प्रायश्चित्त करनेकी इच्छासे उत्तमव्रतधारी शुनकपुत्र इन्द्रोत के पास गया और उन मुनिके दोनों चरणोंमें पड़गया ।७। ऋषिने उस राजाको देखते ही उसका बड़ा तिरस्कार किया और कहा "तूने महापाप किया है, तूने बालहत्या की है, तू यहाँ किसलिये आया है । ९ ॥ तुझे हमसे

स्थानं प्रीणात्यस्मानिति ब्रुवन् ॥१०॥ रुधिरस्येव ते गन्धः शवस्येव च दर्शनम् । अशिवः शिवसङ्काशो मृतो जीवन्निवाटसि ॥११॥ ब्रह्ममृत्युरशुद्धात्मा पापमेवानुचिन्तयन् । प्रबुध्यसे प्रस्वपिषि वर्त्तसे परमे सुखे ॥ १२ ॥ मोघन्ते जीवितं राजन् परिक्लिष्टश्च जीवसि । पापायैव हि सृष्टोसि कर्मणे हि यवीयसे ॥ १३ ॥ बहुकल्याणमिच्छन्त ईहन्ते पितरः सुतान् । तपसा दैवतेज्याभिर्वन्दनेन तितिक्षया ॥१४॥ पितृवंशमिमं पश्य त्वत्कृते नरकं गतम् । निरर्थाः सर्व एवैषामाशाबन्धास्त्वदाश्रयाः ॥१५॥

क्या काम है ? तू हमसे कभी अकड़ना मत ? तू यहाँ से चला जा ! चला जा !! तेरा यहाँ रहना हमें अच्छा नहीं लगता है।१०। तेरे शरीरकी गन्ध रुधिरकी समान है, तेरे मुखका दर्शन शवदर्शनकी समान है, तू अपवित्र है तो भी पवित्र बनता है, तू मरा हुआ है परन्तु जीवित की समान घूमता है ॥११॥ तू मुरदेकी समान है, तेरा आत्मा अपवित्र है, इसका तू विचार नहीं करता है, तू सोता है और जागता है, परन्तु तेरा जीवन कंगाल की समान है ॥ १२ ॥ हे राजन् ! तेरा जीवन व्यर्थ है तेरा जीवन क्लेशमय है, तू पापकर्म करनेके लिये और ओछे काम करनेके लिये ही उत्पन्न हुआ है ॥ १३ ॥ पितर बड़े भारी कल्याणकी इच्छासे पुत्रोंको चाहते हैं, वे पुत्रोंके लिये तप करते हैं, देवताओंका यजन करते हैं, उनकी वन्दना करते हैं और सहनशील रहते हैं ॥१४॥ परन्तु तू तो देख ! तेरे पिताका वंश तेरे कारण नरकमें गिरपड़ा है, उन्होंने तुझसे जो आशाएँ बाँधी थीं, वे सब आशाएँ निरर्थक होगई हैं ॥ १५ ॥ और जिनकी

यां १ पूजयन्तो विन्दन्ति स्वर्गमायुर्यशः प्रजाः । तेषु त्वं सततं द्वेष्टा ब्राह्मणेषु निरर्थकः ॥ १६ ॥ इमं लोकं विमुच्य त्वमवाङ्मूर्द्धा पतिष्यसि। अशाश्वतीः शाश्वतीश्च समाः पापेन कर्मणा ॥ १७ ॥ अर्द्यमानो तत्र गृध्रैः शितिकण्ठै-रयोमुखैः । ततश्च पुनरावृत्य पापयोनिं गमिष्यसि ।१८। यदि त्वं मन्यसे राजन्नायमस्ति कुतः परः । प्रतिस्मार-यितारस्त्वां यमदूता यमक्षये ॥ १९ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि इंद्रोत-जनमेजयसंवादे पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५०॥

भीष्म उवाच । एवमुक्तः प्रत्युवाच तं मुनिं जनमे-

पूजा करनेसे दूसरे मनुष्य स्वर्ग, यश और आयुको पाते हैं, ऐसे ब्राह्मणोंसे तू सदा निरर्थक द्वेष करता है ॥१६॥ अतः इस पापकर्म करनेके कारण तू इस लोकको त्यागनेके पीछे बहुत वर्षोंतक उलटे शिर होकर अशाश्वत नरकमें पड़ेगा (सब कर्म अंतवाले हैं अतः नरकको भी अशाश्वत कहा है) ॥१७॥ तहाँ लोहेके मुखवाले गिद्ध और मयूर तुझे चोंचोंसे चकोट कर दुःख देंगे, उसके पीछे तू पापी लोगोंकी योनिमें उत्पन्न होगा ॥ १८ ॥ हे राजन् ! यदि तू यह समझता हो कि-जब इस लोक में ही कुछ नहीं है. तब परलोकमें क्या धरा होगा, परन्तु जब तू मरकर यमधाममें पहुँचेगा तब यमदूत तुझे इस बातका निश्चय करावेंगे ॥ १९ ॥ एकसौ पचासवाँ अध्याय समाप्त ॥ १५० ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

भीष्मने कहा कि-हे युधिष्ठिर ! इसप्रकार शौनकने जनमेजयसे कहा, तब राजा जनमेजयने प्रत्युत्तर दिया, कि-"तुम मुझ निन्दापात्रकी जो निन्दा करते हो और

जयः । गर्ह्यं भवान् गर्हयति निन्द्यं निन्दति मां पुनः ॥ १ ॥ धिक् कार्यं मां धिक्कुरुते तस्मात्त्वाहं प्रसादये । सर्वं हीदं दुष्कृतं मे ज्वलाम्यग्नाविवाहितः ॥ २ ॥ स्वकर्माण्यभिसन्धाय नाभिनन्दति मे मनः । प्राप्तं घोरं भयं नूनं मया वैवस्वतादपि ॥ ३ ॥ तत्तु शल्यमनिर्हृत्य कथं शक्ष्यामि जीवितुम् । सर्वं मन्युं विनीय त्वमभि मां वद शौनक ४ महानासं ब्राह्मणानां भूयो वक्ष्यामि साम्प्रतम् । अस्तु शेषं कुलस्यास्य मा पराभूदिदं कुलम् ॥ ५ ॥ न हि नो ब्रह्मशस्तानां शेषो भवितुमर्हति । स्तुतीरलभमानानां

आक्षेपके योग्य पर जो आक्षेप करते हो (यह योग्य ही है) ॥ १ ॥ मैं और मेरे कर्म निन्दनीय हैं, तब भी मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ, कि-मेरे ऊपर कृपा करो, सब मेरे कर्म पापोंसे भरे हुए हैं, परन्तु पश्चात्तापरूपी अग्निमें मैं अपने सब पापको भस्म कररहा हूँ ॥ २ ॥ मैं जब अपने कर्मोंका विचार करता हूँ, तब मेरा मन बहुत ही खिन्न होता है, सत्य कहता हूँ, कि-मुझे यमराजका बड़ाभारी भय लगता है ॥ ३ ॥ ब्रह्महत्यारूपी जो काँटा मेरे हृदयमें चुभगया है, उस काँटेको विना निकाले मैं कैसे जी सकता हूँ ! हे शौनक ! तुम सारे क्रोधको दूर करके 'मुझे क्या करना चाहिये' यह बताइये ॥ ४ ॥ मैं पहिले ब्राह्मणों का बड़ाभारी मान करता था और अब मैं फिर कहता हूँ, कि-मैं ब्राह्मणोंका मान करूँगा, मेरे वंशका नाश न होने दो ! मेरे कुलको पराभव पानेसे बचाओ ! ॥ ५ ॥ जिन्होंने ब्राह्मणोंकी हिंसा की होती है और इसकारण वेदाज्ञाके अनुसार जगत्में मान पानेका और अपने जाति भाइयोंके साथ व्यवहार करनेका अधिकार जिन्होंने खो

सम्विदं वेदनिश्चिताम् ॥ ६ ॥ निर्विद्यमानः सुभृशं भूयो वक्ष्यामि शाश्वतम् । भूयश्चैवाभिरक्षन्ति निर्धनान्निर्जना इव ॥ ७ ॥ न ह्ययज्ञा अमुं लोकं लोकं प्राप्नुवंति कथञ्चन । अपातान् प्रतितिष्ठन्ति पुलिन्दशवरा इव ॥८॥ अविज्ञायैव मे प्रज्ञां वालस्येव सुपण्डितः । ब्रह्मन् पितेव पुत्रस्य प्रीतिमान् भव शौनक ॥ ९ ॥ शौनक उवाच । किमाश्चर्यं यदप्राज्ञो बहु कुर्यादसाम्प्रतम् । इति वै पण्डितो भूत्वा भूतानां नानुकुप्यते ॥१०॥ प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोच्यः शोचते जनान् । जगतीस्थानिवाद्रिस्थः

दिया है, उनका वंश इस जगत्‌में चलता रहे यह उचित नहीं है ॥ ६ ॥ परन्तु मैं तो अपने कर्मके लिये बहुत ही खिन्न हूँ, मेरा उद्धार करो, यह बात मैं तुमसे वारम्वार कहता हूँ, जैसे परिग्रहरहित योगी पुरुष निर्धन दीन पुरुषोंकी रक्षा करते हैं, ऐसे ही आप मेरी रक्षा करिये ॥ ७ ॥ पापी मनुष्य यज्ञके अधिकारी नहीं हैं और यज्ञ किये विना कभी भी वह परलोकको नहीं पासकते और इस ही लोकमें रहकर वे पुलिन्द शबरोंकी समान नरकमें ही सड़ा करते हैं ॥८॥ हे शौनक ! मैं अज्ञानी हूँ और पण्डित जैसे अज्ञानी शिष्यको उपदेश देते हैं और पिता जैसे अपने पुत्रको उपदेश देता है, तैसे ही तुम मुझे उपदेश देनेके लिये प्रसन्न हो ॥ ९ ॥ शौनकने कहा कि–बुद्धिहीन पुरुष अयोग्यकर्म करता है, इसमें आश्चर्य नहीं है और ऐसा जानकर ही पण्डित ऐसे अपराधियोंके ऊपर क्रोध नहीं करते हैं १० क्योंकि–प्रज्ञाके महल पर चढ़नेवाला पुरुष दूसरे मनुष्योंकी चित्तवृत्तिको देखकर सोचता (विचार करता) है,

प्रज्ञया प्रतिपत्स्यति ॥ ११ ॥ न श्रोपलभ्यते तेन न चाश्चर्य्याणि कुर्वते । निर्विण्णो वा परोक्षो वा धिक्कृतः पूर्वसाधुषु ॥ १२ ॥ विदितं भवतो वीर्यं माहात्म्यं वेद आगमे । कुरुष्वेह यथाशान्ति ब्रह्मा शरणमस्तु ते ।१३। तद्वै पारत्रिकं तात ब्राह्मणानामकुप्यताम् ।अथ वा तप्यते पापे धर्ममेवानुपश्य ह ॥१४॥ जनमेजय उवाच । अनुतप्ये च पापेन न च धर्मं विलोपये । बुभूषुं भजमानश्च प्रीतिमान् भव शौनक ॥ शौनक उवाच । छित्वा दम्भं च

जैसे पर्वत पर चढ़ाहुआ पुरुष पृथिवी पर खड़ेहुए मनुष्योंका निरीक्षण करसकता है, तैसे ही यह बुद्धिसे जगत्के सब मनुष्यों (के भले बुरे कार्य) को देखता है ॥ ११ ॥ जो सत्पुरुषोंका धिक्कारपात्र है, जो सत्पुरुषों से दूर भागता रहता है, तथा जो सत्पुरुषोंके विचारों को छिपाता रहता है, वह पुरुष बड़े पुरुषोंसे बुद्धि नहीं पासकता तैसे अच्छे काम भी नहीं करसकता ॥ १२ ॥ ब्राह्मणोंके वीर्य, माहात्म्य वेद तथा शास्त्रको तू जानता है तू इसप्रकार शास्त्रानुसार अपना कार्य कर कि-तुझे शांति मिले और ब्राह्मण तुझे शरण दें ! ॥१३॥ हे तात ! यदि ब्राह्मण तेरे ऊपर प्रसन्न होजावेंगे तो तुझे परलोक मिलेगा और तू पापके लिये प्रायश्चित्त करेगा तो तुझे धर्मका वास्तविक स्वरूप मालूम होगा ॥ १४ ॥ जनमेजयने कहा कि-हे शौनक ! मैं पापके कारण संताप करता हूँ, अब आगेसे मैं धर्मका लोप नहीं करूँगा, मैं कल्याण की इच्छा करता हूँ और तुम्हारा भजन कररहा हूँ, तुम मेरे ऊपर प्रसन्न होओ ॥ १५ ॥ शौनकने कहा कि- हे राजन् ! तू दम्भ तथा अभिमानको त्याग दे, मैं तेरा

मानश्च प्रीतिमिच्छामि ते नृप । सर्वभूतहिते तिष्ठ धर्मं चैव प्रतिस्मरन् ॥१६॥ न भयान्न च कार्पण्यान्न लोभा-त्वामुपाह्वये । तां मे दैवीं गिरं सत्यां शृणु त्वं ब्राह्मणैः सह ॥ १७ ॥ सोऽहं न केनचिच्चार्थी त्वाञ्च धर्मादुपाह्वये । क्रोशतां सर्वभूतानां हाहा धिगिति जल्पताम् ॥ १८ ॥ वक्ष्यन्ति मामधर्मज्ञं त्यक्ष्यन्ति सुहृदो जनाः । ता वाचः सुहृदः श्रुत्वा संज्वरिष्यन्ति मे भृशम् ॥ १९ ॥ केचिदेव महाप्रज्ञाः प्रतिज्ञास्यन्ति तत्त्वतः । जानीहि मे कृतं तात ब्राह्मणान् प्रति भारत ॥ २० ॥ यथा ते मत्कृते क्षेमं लभंते ते तथा कुरु । प्रतिजानीहि चाद्रोहं ब्राह्मणानां नरा-

प्रिय करना चाहता हूँ, तू धर्मका स्मरण कर और सब प्राणियोंका हित कर ॥ १६ ॥ मैं भयसे, मनके संकोच से, या लोभसे तुझे शिष्य नहीं बना सकता हूँ, तो भी तू मेरी दैवी और सत्यवाणीको ब्राह्मणोंके सामने सुन ॥ १७ ॥ मेरा किसीसे भी किसी प्रकारका स्वार्थ नहीं है, तो भी मैं तुझे धर्ममार्गको दिखाऊँगा तो ये सब मनुष्य "इस शौनकने एक पापी मनुष्यको अपना शिष्य बनाया है अतः इसे धिक्कार है" ऐसा द्वन्द मचा-वेंगे, परन्तु उन मनुष्योंकी परवाह न कर मैं केवल धर्म के कारण ही तुझे शिष्य बनाता हूँ ॥१८॥ (मैं जानता हूँ कि) मेरे स्नेही पुरुष मुझे अधर्मी बतावेंगे और मेरा त्याग करदेंगे, स्नेहियोंकी इन बातोंको सुनकर कितने मेरे ऊपर बड़ाभारी क्रोध करेंगे और कितने ही महा-बुद्धिमान् मनुष्य मेरे अभिप्रायको ठीक २ जान जावेंगे हे वत्स ! तुझे ब्राह्मणोंके साथ मेरे अभिप्रायके अनुसार वर्ताव करनेका निश्चय करना चाहिये, हे भरतवंशी !

धिप ॥ २१ ॥ जनमेजय उवाच । नैवं वाचा न मनसा पुनर्ज्जातु न कर्मणा । द्रोग्धास्मि ब्राह्मणान् विप्र चरणावपि ते स्पृशे ॥ २२ ॥ छ ॥ छ ।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि इंद्रोतजनमेजयसंवादे एकपंचाशदधिकशततमोध्यायः १५१

शौनक उवाच। तस्मात्तेहं प्रवक्ष्यामि धर्ममावृत्तचेतसे। श्रीमन्महाबलस्तुष्टः स्वयं धर्ममवेक्षसे ॥ १ ॥ पुरस्ताद्दारुणो भूत्वा सुचित्रतरमेव तत्। अनुगृह्णाति भूतानि स्वेन वृत्तेन पार्थिवः ॥ २ ॥ कृत्स्नं नूनं स दहति इति लोको व्यवस्यति । यत्र त्वं तादृशो भूत्वा धर्म्ममेवानुपश्यसि ३

ब्राह्मण मेरे द्वारा तुझसे कल्याण पावें, इसप्रकार तुझे वर्ताव करना चाहिये और फिर कभी ब्राह्मणसे द्रोह न करनेकी तुझे प्रतिज्ञा करनी चाहिये ॥१९-२१॥ जनमेजयने कहा कि-हे ब्राह्मण ! तुम्हारे दोनों चरणोंको छूकर मैं कहता हूँ, कि-अब मैं कभी भी मनसे, वाणीसे अथवा कर्मसे ब्राह्मणोंसे द्रोह नहीं करूँगा ॥ २२ ॥ एकसौ इक्यावनवाँ अध्याय समाप्त ॥ १५१ ॥

शौनकने कहा कि-हे राजन् ! अब तेरा चित्त धर्मकी ओरको लौटा है अतः मैं तुझे धर्मका उपदेश देता हूँ तू ज्ञानी, महाबली और सन्तोषी है और तू स्वेच्छासे धर्मका अवलोकन करनेवाला है ॥ १ ॥ राजे पहिले दारुण होते हैं, परन्तु पीछेसे अपने सदाचरणसे प्राणियों के ऊपर अनुग्रह करते हैं, यह अत्यंत आश्चर्यजनक है ॥ २ ॥ जगत्में प्रसिद्ध है कि-जो राजा क्रूर होता है तो संपूर्ण प्रजाको भस्म करदेता है, तू भी पहिले ऐसा ही राजा था, परन्तु अब तू धर्मकी ओर दृष्टि करता

हित्वा तु सुचिरं भक्ष्यं भोज्यांश्च तप आस्थितः। इत्ये-
तदभिभूतानामद्भुतं जनमेजय॥ ४॥ योऽदुर्लभो भवे-
द्दाता कृपणो वा तपोधनः। अनाश्चर्यं तदित्याहुर्नाति-
दूरेण वर्त्तते॥ ५॥ एतदेव हि कार्पण्यं समग्रमसमी-
क्षितम्। यच्चेत् समीक्ष्यैव स्यात् भवेत्तस्मिंस्ततो गुणः ६
यज्ञो दानं दया वेदाः सत्यञ्च पृथिवीपते। पञ्चैतानि
पवित्राणि षष्ठं सुचरितं तपः॥ ७॥ तदेव राज्ञां परमं
पवित्रं जनमेजय। तेन सम्यग्गृहीतेन श्रेयांसं धर्ममा-
प्स्यसि॥ ८॥ पुण्यदेशाभिगमनं पवित्रं परमं स्मृतम्।
अत्राप्युदाहरन्तीमां गाथां गीतां ययातिना॥ ९॥ यो

है॥३॥ और हे जनमेजय! उत्तम प्रकारके भक्ष्य तथा भोज्य पदार्थोंको त्यागकर तूने बहुत समय तक तप किया है, यह बात जो राजे पापमें डूबेहुए हैं, उनके लिये आश्चर्यजनक होगई है॥४॥ संपत्तिवाले पुरुषको दाता होना चाहिये और तपोधन पुरुषको अपने तपका व्यय करनेमें कृपण होना चाहिये, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है, क्योंकि–वे एक दूसरेसे दूर (पृथक् परिणाम वाले) नहीं रहते हैं॥ ५॥ जो पूर्वापरका विचार किये विना ही काम करता है, उसकी उससे बड़ी भारी हानि होती है, और जो काम विचारकर किया जाता है तो उससे लाभ होता है॥ ७॥ हे पृथिवीपते! यज्ञ, दान, दया, वेद, और सत्य ये पाँच पवित्र हैं और छठा भली प्रकार कियाहुआ तप पवित्र है॥ ७॥ हे जनमेजय! ये छः वस्तुएँ राजाको परमपवित्र करनेवाली हैं, यदि तू इन वस्तुओंको यथार्थरीतिसे ग्रहण करेगा तो कल्याणकारक धर्मको प्राप्त होगा॥८॥ इस ही प्रकार पुण्यमय प्रदेशों

अत्यः प्रतिपद्येत आयुर्जीवितमात्मनः।यज्ञमेकांततः कृत्वा तत् संन्यस्य तपश्चरेत् ॥ १० ॥ पुण्यमाहुः कुरुक्षेत्रं कुरुक्षेत्रात् सरस्वतीम् । सरस्वत्याश्च तीर्थानि तीर्थेभ्यश्च पृथूदकम् ॥११॥ यत्रावगाह्य पीत्वा च नैनं श्वो मरणं तपेत् । महासरः पुष्कराणि प्रभासोत्तरमानसे ॥ १२ ॥ कालोदकं च गंतासि लब्धायुर्जीविते पुनः । सरस्वतीदृषद्वत्योः संगमो मानसः सरः ॥१३॥ स्वाध्यायशीलः स्थानेषु सर्वेष्वेवमुपस्पृशेत् । त्यागधर्मः पवित्राणां संन्यासं मनुरब्रवीत् ॥ १४ ॥ अत्राप्युदाहरन्तीमा गाथाः सत्यवता

में जाना भी पवित्र करनेवाला है, इस विषयमें राजा ययातिकी गाई हुई गाथा इसप्रकार है ॥९॥ जो मनुष्य अपनी आयु बढ़ाना चाहता हो, उसको श्रद्धापूर्वक यज्ञ, याग करने चाहियें और वृद्धावस्था प्राप्त होने पर संन्यास धारण करके तप करना चाहिये ॥१०॥ कुरुक्षेत्र पवित्र तीर्थ है, कुरुक्षेत्रसे सरस्वती नदी अधिक पवित्र तीर्थ है, सरस्वती नदीसे दूसरे तीर्थ अधिक पवित्र हैं और उन तीर्थोंसे पृथूदक नामक तीर्थ अधिक पवित्र है ।११। उस तीर्थमें स्नान करनेसे तथा जलपान करनेसे मनुष्य का अकालमरण नहीं होता है, महासरोवर, पुष्कर नामक तीर्थ, प्रभास तीर्थ, उत्तरदिशाके मानसरोवर और कालोदक तीर्थमें तू जा, तहाँ जानेसे तू प्राणको और लम्बी आयुको फिर पावेगा, जहाँ सरस्वती और दृषद्वतीका संगम होता है तहाँ मानसरोवर है ।१२-१३। वेदवेत्ता सब तीर्थोंमें स्नान करे और दान देवे, वह सब से पवित्र मानाजाता है, मनु कहते हैं कि-दानधर्म सब से श्रेष्ठ है और दानसे भी अधिक श्रेष्ठ सर्वसंगपरि-

कृताः । यथा कुमारः सत्यो वै नैव पुण्यो न पापकृत् १५
न ह्यस्ति सर्वभूतेषु दुःखमस्मिन् कुतः सुखम् । एवं
प्रकृतिभूतानां सर्वसंसर्गयायिनाम् ॥१६॥ त्यजतां जी-
वितं श्रेयो निवृत्ते पुण्यपापके । यत्त्वेव राज्ञो ज्यायिष्ठं
कार्याणां तद् ब्रवीमि ते ॥ १७ ॥ बलेन संविभागैश्च जय
स्वर्गं जनेश्वर । यस्यैव बलमोजश्च स धर्मस्य प्रभुर्नरः १८
ब्राह्मणार्थं सुखार्थं हि त्वं पाहि वसुधां नृप । यथैवैतान्
पुराक्षेप्सीस्तथैवैतान् प्रसादय ॥ १९ ॥ अपि विक्रममा-

त्याग है ॥१४॥ सत्यवान्की कहीहुई गाथा इस विषय में इसप्रकार है कि-जैसे एक बालक जो कुछ करता है वह केवल निर्दोंअपनेसे ही करता है, वह पुण्य पाप कुछ भी नहीं करता है, इस ही प्रकार मनुष्यको वर्त्ताव करना चाहिये ॥ १५ ॥ इस लोकमें प्राणियोंको दुःख है नहीं, फिर सुख तो कहाँ से हो यह (सुख दुःख) तो अस्वस्थ प्रकृति (वालों) का परिणाम है, सबके साथ सहवास रखनेवाले (अज्ञानी) प्राणिमात्रका यह (सुख दुःख मानना) स्वभाव है ॥ १६ ॥ सर्वसंगत्यागियोंका तथा पुण्य और पापको त्यागनेवालोंका जीवन उत्तम गिना जाता है, अब राजाओंके उत्तम कर्त्तव्योंको मैं तुझसे कहता हूँ, तू सुन ॥१७॥ हे राजन् ! तू बल तथा उदारतासे स्वर्गको जीत, जो पुरुष शारीरिकबल-सहनशीलता तथा प्राणबल-से सम्पन्न होता है, वह धर्म पर अपनी प्रभुता चला सकता है ॥ १८ ॥ हे राजन् ! तू ब्राह्मणोंके लिये तथा सुखके लिये राज्य कर तूने पहिले जैसे ब्राह्मणोंका अपमान किया है उस ही प्रकार तू अब ब्राह्मणको प्रसन्न कर॥१९॥ब्राह्मणोंने तुझको शाप दिया

णोऽपि त्यजमानोप्यनेकधा। आत्मनो दर्शनाद्विप्रान् न हन्तास्मीति मार्गय। घटमानः स्वकार्येषु कुरु निःश्रेयसं परम् ॥ २० ॥ हिमाग्निघोरसदृशो राजा भवति कश्चन। लांगलाशनिकल्पो वा भवेदन्यः परन्तप ॥२१॥ न विशेषेण गन्तव्यमविच्छिन्नेन वा पुनः। न जातु नाहमस्मीति सुप्रसक्तमसाधुषु॥ २२ ॥ विकर्मणा तप्यमानः पापाद्विपरिमुच्यते। नैतत्कार्यं पुनरिति द्वितीयात्परिमुच्यते २३ चरिष्ये धर्ममेवेति तृतीयात्परिमुच्यते। शुचिस्तीर्थान्यनुचरन् बहुत्वात्परिमुच्यते ॥ २४ ॥ कल्याणमनुकर्तव्यं

है, अनेक प्रकारसे तेरा त्याग किया है, तो भी तू आत्मज्ञानसे ब्राह्मणोंसे कह कि-'अब मैं तुमको नहीं मारूँगा' ऐसा नियम बाँधकर अपने काम करता हुआ तू अपना परम कल्याण सिद्ध कर ॥ २० ॥ हे शत्रुतापन राजन्! कोई राजा पालेकी समान ठण्डकी खान होता है, कोई अग्निकी समान भयंकर होता है, कोई हलकी समान (दुष्टको जड़मूलसे उखाड़ने वाला) होता है, कोई वज्र की समान (अकस्मात् दुष्टों पर टूट पड़नेवाला) होता है॥२१॥जिसको अपने नाशको दूर करना हो उसे सामान्य रीतिसे सदा ही दुष्टोंका कभी सहवास नहीं करना चाहिये ॥ २२ ॥ एकवार पापकर्म बनजाता है तो मनुष्य पश्चात्ताप करनेसे उस पापमेंसे छूटजाता है, दूसरी वार पाप बनजावे तो "फिर ऐसा काम नहीं करूँगा" ऐसी प्रतिज्ञा करनेसे उस पापसे मुक्त होजाता है, ॥ २३ ॥ "मैं अब आगेको धर्मका ही आचरण करूँगा" ऐसी प्रतिज्ञा करनेसे तीसरे वारके पापसे पापी मुक्त होजाता है, बारम्बार पाप करने पर सब तीर्थोंमें जानेसे पापी

पुरुषेण बुभूषता । ये सुगन्धीनि सेवन्ते तथागन्धा भव-
न्ति ते ॥ २५ ॥ ये दुर्गन्धीनि सेवन्ते तथागन्धा भवन्ति
ते । तपश्चर्यापरः सद्यः पापाद्विपरिमुच्यते ॥ २६ ॥ संव-
त्सरमुपास्याग्निमभिशस्तः प्रमुच्यते । त्रीणि वर्षाण्युपा-
स्याग्निं भ्रूणहा विप्रमुच्यते ॥ २७ ॥ महासरः पुष्कराणि
प्रभासोत्तरमानसे । अभ्येत्य योजनशतं भ्रूणहा विप्र-
मुच्यते ॥ २८ ॥ यावतः प्राणिनो हन्यात्तज्जातीयांस्तु
तावतः । प्रमीयमानानुन्मोच्य प्राणिहा विप्रमुच्यते ॥ २९ ॥
अपि चाप्सु निमज्जेत जपंस्त्रिरघमर्षणम् । यथाश्वमेधा-

पापसे छूटजाता है ॥ २४ ॥ जिसे ऐश्वर्यकी इच्छा हो
उसे कल्याणकारक कर्म करने चाहियें, क्योंकि-जो पुरुष
जैसे सुगन्धित पदार्थों को धारण करता है, वह पुरुष
वैसी सुगन्धिवाला होजाता है ॥ २५ ॥ और जो पुरुष
दुर्गन्धित पदार्थोंका सेवन करता है, वह पुरुष दुर्गन्ध
वाला होजाता है, तपश्चर्या करनेवाला पुरुष तुरन्त ही
पापमेंसे मुक्त होजाता है ॥२६॥ अभिशाप वाला मनुष्य
एक वर्ष तक अग्निकी उपासना करनेसे उस पापसे छूट
जाता है, गर्भहत्या करनेवाला तीन वर्ष तक अग्निकी
उपासना करनेसे उस पापसे छूटजाता है ॥ २७ ॥ महा-
सर, पुष्कर, प्रभास, उत्तरके मानससरोवर आदि तीर्थों
में जानेवाला पुरुष गर्भहत्याके पापसे छूटजाता है । २८ ।
जिसने जितने प्राणियोंकी हिंसा की होती है वह उतने
उस ही जातिके प्राणियोंको मरनेसे बचाने पर उन प्रा-
णियोंकी हत्या करनेसे उत्पन्न हुए पापसे मुक्त होजाता
है ॥ २९ ॥ मनु कहते हैं कि-जो मनुष्य जलमें बैठ
कर तीनवार अघमर्षण नामक मन्त्रका जप करता है

वभृथस्तथा तान्मनुरब्रवीत् ॥ ३० ॥ तत्क्षिप्रं नुदते पापं सत्कारं लभते तथा । अपि चैनं प्रसीदन्ति भूतानि जड़मूकवत् ॥ ३१ ॥ बृहस्पतिं देवगुरुं सुरासुराः सर्वे समेत्याभ्यनुयुज्य राजन् । धर्म्यं फलं वेत्थ फलं महर्षे तथैव तस्मिन्नरके पारलोक्ये ॥३२॥ उभे तु यस्य सदृशे भवेतां किंस्वित्तयोस्तत्र जयोऽथ न स्यात् । आचक्ष्व नः पुण्यफलं महर्षे कथं पापं नुदते धर्मशीलः ॥ ३३ ॥ बृहस्पतिरुवाच । कृत्वा पापं पूर्वमबुद्धिपूर्वं पुण्यानि चेत्कुरुते बुद्धिपूर्वम् । स तत्पापं नुदते कर्मशीलो वासो यथा मलिनं

वह अश्वमेध नामक यज्ञके अंतमें होने वाले अवभृथ स्नान करनेसे जैसे वह यज्ञ करनेवाला पापरहित होजाता है तैसे ही वह भी पापरहित होजाता है और सत्पुरुषों में सत्कारको पाता है और जैसे जड़ और मूक प्राणी एकदम वशमें होजाते हैं, तैसे ही प्राणिमात्र उसके ऊपर प्रसन्न रहकर उसकी सेवा करते हैं।३०-३१। हे राजन्! पूर्वकालमें देवता और असुर इकट्ठे होकर देवगुरु बृहस्पतिके पास गए और विनयसे बोले, कि-हे महर्षे! तुम धर्मके फलको जानते हो और जिस कर्मसे परलोकमें नरकमें गिरना पड़ता है उस पापके कारणको भी तुम जानते हो॥३२। जिसके पाप और पुण्य समान होते हैं, उस पुरुषके पापका नाश उसके पुण्यके द्वारा ही क्यों नहीं होता है, मुझसे पुण्यका फल कहिये तथा धर्मनिष्ठ पुरुष पापका किस प्रकारका नाश करता है, यह भी आप मुझे बताइये॥३३॥बृहस्पतिने कहा कि-जो पुरुष पहिले अनजानमें पाप करता है और फिर बुद्धिपूर्वक उस पापका नाश करनेके लिये पुण्य कर्म करता है, तो क्षार जैसे मैल

त्वारयुक्तम् ॥ ३४ ॥ पापं कृत्वाभिमन्येत नाहमस्तीति पूरुषः। तच्चिकीर्षति कल्याणं श्रद्दधानोनसूयकः॥ ३५ ॥ छिद्राणि विवृतान्येव साधूनां चावृणोति यः। यः पापं पुरुषः कृत्वा कल्याणमभिपद्यते ॥३६॥ यथादित्यः प्रातरुद्यंस्तमः सर्वं व्यपोहति। कल्याणमाचरन्नेवं सर्वपापं व्यपोहति ॥ ३७॥ भीष्म उवाच। एवमुक्त्वा तु राजानमिन्द्रोतो जनमेजयम्। याजयामास विधिवद्वाजिमेधेन शौनक ॥ ३८ ॥ ततः स राजा व्यपनीतकल्पषः श्रियो-

---

को काटडालता है तैसे ही वह पुण्य कर्मशीलके पापका नाश करदेता है॥ ३४ ॥ उस पुरुषको पापकर्म करनेके वाद अभिमान नहीं करना चाहिये, परन्तु श्रद्धासम्पन्न और ईर्ष्यारहित होकर कल्याणकारक धर्म करनेकी ही इच्छा करनी चाहिये ॥ ३५ ॥ जो पुरुष पापकर्म करनेके पीछे साधु पुरुषोंके खुलेहुए छिद्रोंको ढकता है, वह पुरुष भी कल्याणको पाता है ॥ ३६ ॥ सूर्य जैसे प्रातःकाल उदय होकर सारे अँधेरेको दूर करदेता है, तैसे ही कल्याणमय कर्म करनेवाला पुरुष भी सब पापोंका नाश करडालता है ॥३७॥ भीष्मने कहा कि-इसप्रकार शौनक इन्द्रोतने राजा जनमेजयसे कहा और फिर उस राजासे विधिपूर्वक अश्वमेध यज्ञ करवाया ॥ ३८ ॥ वह राजा यज्ञ करनेके पीछे पापरहित और कल्याणशाली हुआ था उसका रूप प्रज्वलित अग्निकी समान होगया और पूर्ण शरीरवाला (सोलह कला वाला) चंद्रमा जैसे प्रकाशित होकर शोभा पाता है, तैसे ही वह शत्रुका संहार करनेवाला राजा जनमेजय अपनी राज-

वृतः प्रज्वलिताग्निरूपवान् । विवेश राज्यं स्वममित्रकर्षणो यथा दिवं पूर्णवपुर्निशाकरः ॥ ३९ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि इन्द्रोत-पारिक्षितीये द्विपञ्चाशदधिशततमोऽध्यायः ॥ १५२ ॥

युधिष्ठिर उवाच । कच्चित् पितामहेनासीच्छ्रुतं वा दृष्टमेव च । कश्चिन्मर्त्यो मृतो राजन् पुनरुज्जीवितोऽभवत् ॥ १ ॥ भीष्म उवाच । शृणु राजन् यथावृत्तमितिहासं पुरातनम् । गृध्रजम्बुकसम्वादं यो वृत्तो नैमिषे पुरा ॥ २ ॥ कस्यचित् ब्राह्मणस्यासीत् दुःखलब्धः सुतो मृतः । बाल एव विशालाक्षो बालग्रहनिपीडितः ॥ ३ ॥ दुःखिताः केचिदादाय बालमप्राप्तयौवनम् । कुलसर्वस्वभूतं वै रुदन्तः शोकविह्वलाः ॥ ४ ॥ बालं मृतं गृहीत्वाथ

धानीमें प्रवेश करते समय शोभा पाने लगा ॥ ३९ ॥ एकसौ बावनवाँ अध्याय समाप्त ॥ १५२ ॥ छ

युधिष्ठिरने बूझा कि-हे पितामह ! मराहुआ कोई मनुष्य फिर जीवित हुआ हो, ऐसा तुमने कभी देखा है? अथवा कभी सुना है ? ॥१॥ भीष्मने कहा कि-हे पृथा के पुत्र ! गिद्ध और गीदड़के सम्वादरूप एक पुरातन इतिहासको मैं तुझसे कहता हूँ सुन, यह बात पहिले नैमिषारण्यमें हुई थी ॥ २ ॥ एक समय किसी ब्राह्मणने (देवता, देवियोंकी पूजा आदिकसे) विशाल नेत्रोंवाला एक पुत्र पाया था, वह पुत्र बालग्रहके उपद्रवसे पीड़ा पाकर बाल्यावस्थामें ही मरगया॥३॥ तब उस ब्राह्मणके कितनेही संबन्धी शोकसे विह्वल हो रोते २ अपने कुल के सर्वस्वरूप उस छोटेसे बालकको लेकर श्मशानमें गए, तहाँ वे सब उस बालकको एक दूसरेके हाथोंमेंसे ले २ कर

श्मशानाभिमुखाः स्थिताः। अंकेनैव च संक्राम्य रुरुदुर्भृश-दुःखिताः ॥ ५ ॥ शोचन्तस्तस्य पूर्वोक्तान् भाषितांश्चा-सकृत् पुनः। तं बालं भूतले क्षिप्य प्रतिगन्तुं न शक्नुयुः ६ तेषां रुदितशब्देन गृध्रोभ्येत्य वचोब्रवीत्। एकात्मजमिमं लोके त्यक्त्वा गच्छत मा चिरम् ॥७॥ इह पुंसां सहस्राणि स्त्रीसहस्राणि चैव ह। समानीतानि कालेन हित्वा वै यान्ति बान्धवाः ॥ ८ ॥ संपश्यत जगत् सर्वं सुखदुःखै-रधिष्ठितम्। संयोगो विप्रयोगश्च पर्यायेणोपलभ्यते ॥९॥ गृहीत्वा ये च गच्छन्ति ये न यान्ति च तान्मृतान्। तेप्यायुषः प्रमाणेन स्वेन गच्छन्ति जन्तवः ॥ १० ॥ अलं

हृदयसे चिपटाकर महादुःखसे रोनेलगे ॥ ४-५ ॥ और वह बालक पहिले जैसे बोलता था उसका बारंबार स्मरण करके शोक करने लगे और वे उस बालकको भूमिमें छोड़कर, तहाँसे लौट न सके ॥ ६ ॥ उनके रोने के शब्दको सुनकर तहाँ एक गिद्ध आया और बोला "तुम अपने इस इकलौते पुत्रको यहाँ छोड़कर चले जाओ विलंब मत करो ॥ ७ ॥ काल इस श्मशानमें सहस्रों स्त्री पुरुषोंको खेंचकर लेआता है और मरणको प्राप्त हुओं को यहाँ छोड़कर उनके संबन्धी चले जाते हैं ॥ ८ ॥ संपूर्ण जगत् सुख और दुःखसे व्याप्त है, उसकी ओर दृष्टि करो, स्त्री पुत्रादिके संयोग और वियोग कभी न कभी मनुष्योंको भोगने ही पड़ते हैं ॥९॥ जो पुरुष अपने मरे हुए बन्धुओंके यहाँ लेकर आते हैं, वे (उन मरे हुओंके कारण) उनके पास नहीं जाते हैं और वे भी अपने निर्माण किये हुए आयुष्यका क्षय होजाता है तब अपने (बुरे या भले) कृत्योंके साथ इस जगत्‌मेंसे चले जाते हैं

स्थित्वा श्मशानेस्मिन् गृध्रगोमायुसंकुले । कङ्कालबहुले रौद्रे सर्वप्राणिभयङ्करे ॥ ११ ॥ न पुनर्जीवितः कश्चित् कालधर्ममुपागतः । प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥ १२ ॥ सर्वेण खलु मर्त्तव्यं मर्त्यलोके प्रसूयता । कृतान्तविहिते मार्गे मृतं को जीवयिष्यति ॥१३॥ कर्मान्तविरते लोके अस्तं गच्छति भास्करे । गम्यतां स्वमधिष्ठानं सुतस्नेहं विसृज्य वै ॥१४॥ ततो गृध्रवचः श्रुत्वा प्राक्रोशन्तस्तदा नृप । बांधवास्तेभ्यगच्छन्त पुत्रमुत्सृज्य भूतले ॥ १५ ॥ विनिश्चित्याथ च तदा विक्रोशन्तस्ततस्ततः । मृतमित्येव गच्छन्तो निराशास्तस्य

॥ १० ॥ यह श्मशान गिद्ध, गीदड़ और कंकालोंसे भराहुआ है, रुद्ररूप है और सब प्राणियोंको भय देने वाला है अतः इसमें नहीं रहना चाहिये ॥ ११ ॥ काल के वशमें हुआ प्रिय करनेवाला अथवा द्वेष करनेवाला कोई मनुष्य भी फिर जीवित नहीं हुआ है, प्राणियोंकी गति ऐसी ही है ॥१२॥ इस मर्त्यलोकमें जो जन्मा है, उसको अवश्य मरना पड़ेगा, मरणमार्ग कालने बनाया है, उसके रचे हुए मार्गमें मरेहुए मनुष्यको कौन फिर जीवित कर सकता है ? ॥ १३ ॥ सूर्यनारायण अस्ताचल पर पहुँच गए हैं और सब मनुष्य भी अपने काम काज पूरे करके विश्राम लेने लगे हैं, अतः तुम भी पुत्र-स्नेहको त्यागकर अपने घरको जाओ !"॥१४॥हे राजन् ! गिद्धके इस कथनको सुनकर उस बालकके सम्बन्धी, मरेहुए उस बालकको भूमि पर लिटाकर तहाँसे जाने को उद्यत होगए ॥ १५ ॥ उनको निश्चय होगया कि-यह बालक मरगया है, अब इसके दर्शन होना दुर्लभ हैं,

दर्शने ॥१६॥ निश्चितार्थाश्च ते सर्वे संत्यजन्तः स्वमात्मजम् । निराशा जीविते तस्य मार्गमावृत्य धिष्ठिताः १७ ध्वांक्षपक्षसवर्णस्तु बिलान्निःसृत्य जम्बुकः । गच्छमानान् स्म तानाह निर्घृणाः खलु मानुषाः ॥ १८ ॥ आदित्योयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत मा भयम् । बहुरूपो मुहूर्त्तश्च जीवेदपि कदाचन ॥ १९ ॥ दर्भान् भूमौ विनिक्षिप्य पुत्रस्नेहविनाकृताः । श्मशाने सुतमुत्सृज्य कस्मात् गच्छत निर्घृणाः ॥ २० ॥ न वोस्त्यस्मिन् सुते स्नेहो बाले मधुरभाषिणि । यस्य भाषितमात्रेण प्रसादमधिगच्छत ॥२१॥ तेपश्यत सुतस्नेहो यादृशः पशुपक्षिणाम् ।

ऐसा विचार कर वे निराश होगए और रोते २ जानेको तत्पर होगए ॥१६॥ वे अपने पुत्रके जीनेकी आशा छोड़ कर उसके ऊपर अंतिम दृष्टि डालकर जानेके लिए खड़े हुए कि—॥१७॥ इतनेमें ही कौएकी पूँछकी समान श्याम रंगका एक गीदड़ भट्टेमेंसे बाहर निकल कर, जानेको उद्यत हुए उस बालकके सब सम्बन्धियोंसे कहने लगा कि—"वास्तवमें इस बालकके सगे संबन्धी इससे जरा भी स्नेह नहीं करते हैं ! ॥१८॥ अरे मूढ़ पुरुषों ! सूर्य अभी छिपा नहीं है, अभी है, तुम बालक पर स्नेह रक्खो, डरो मत ! मुहूर्त अनेकरूपधारी है, कदाचित् मुहूर्तके प्रभावसे बालक जी उठे ॥ १९ ॥ हे निर्दय पुरुषों ! तुम पुत्रके ऊपर स्नेह छोड़कर, अपने प्रिय पुत्रको इस कुशशय्या पर सुला इस श्मशानमें छोड़कर कैसे चले जारहे हो ! ॥ २० ॥ जिसके बोलनेसे ही तुम प्रसन्न होते थे, उस तुतला २ कर बोलने वाले बालकसे क्या तुम स्नेह नहीं करते हो ? ॥२१॥ पशु पक्षी अपने बच्चोंका पालन

न तेषां धारयित्वा तान् कश्चिदस्ति फलागमः ॥ २२ ॥
चतुष्पात् पक्षिकीटानां प्राणिनां स्नेहसङ्गिनाम् । परलोक-
गतिस्थानां मुनियज्ञक्रिया इव ॥ २३ ॥ तेषां पुत्राभिरा-
माणामिह लोके परत्र च । न गुणो दृश्यते कश्चित् प्रजाः
सन्धारयन्ति च ॥ २४ ॥ अपश्यतां प्रियान् पुत्रांस्तेषां
शोको न तिष्ठति । न च पुष्णन्ति संवृद्धास्ते मातापितरौ
क्वचित् ॥२५॥ मानुषाणां कुतः स्नेहो येषां शोको भवि-
ष्यति । इमं कुलकरं पुत्रं क नु त्यक्त्वा गमिष्यथ२६ चिरं
मुञ्चत बाष्पञ्च चिरं स्नेहेन पश्यत । एवं विधानि दृष्टानि

पोषण करने पर कुछ फल नहीं पाते हैं, तब भी वे अपनी सन्तानसे कैसा स्नेह करते हैं, इसको तुम देखो ! ।२२। कर्मका त्याग करने वाले मुनियोंको जैसे यज्ञके फलकी इच्छा नहीं होती है, तैसे ही पशु पक्षी और कीटादिको भी अपने स्नेहियोंसे अथवा पुत्रादिसे परलोक पानेकी इच्छा नहीं होती है ॥ २३ ॥ उनको इस लोकमें तथा परलोकमें पुत्र आदिके द्वारा किसी प्रकारका भी आनंद नहीं मिलता है, तथापि वे अपने बच्चोंका कैसे प्रेमसे पालन करते हैं ? ॥ २४ ॥ पशु पक्षी आदि प्राणियोंके पालन करके बड़े किये हुए बच्चे, अपने माता पिताका कभी भी पोषण नहीं करते हैं, तो भी वे जब अपने बच्चोंको नहीं देखते हैं, तब क्या उनको शोक नहीं होता है ? ॥ २५ ॥ फिर (तुम) स्नेहवाले मनुष्योंको शोक किसलिये नहीं होता है ? यह तुम्हारा वंशधर है, इकलौता पुत्र है, इसको त्याग कर तुम कहाँ जाते हो ? ॥२६॥ अभी तो तुम इसके लिये बहुत देरसे रोरहे थे, और बहुत देर तक स्नेहसे उसकी ओर देखरहे थे,

दुस्त्यजानि विशेषतः॥ २७॥ क्षीणस्यार्थाभियुक्तस्य श्मशा-
नाभिमुखस्य च। बांधवा यत्र तिष्ठन्ति तत्रान्यो नावति-
ष्ठते।२८। सर्वस्य दयिताः प्राणाः सर्वः स्नेहं च विन्दति।
तिर्य्यग्योनिष्वपि सतां स्नेहं पश्यत यादृशम्।२९। त्यक्त्वा
कथं गच्छतेमं पद्मलोलायतेक्षणम्। यथा नवोद्वाहकृतं
स्नानमाल्यविभूषितम् ॥ ३० ॥ जम्बुकस्य वचः श्रुत्वा
कृपणं परिदेवतः। न्यवर्त्तन्त तदा सर्वे शवार्थं ते स्म
मानुषाः ॥ ३१ ॥ गृध्र उवाच। अहो बत नृशंसेन जम्बु-
केनाल्पमेधसा। क्षुद्रेणोक्ता हीनसत्त्वा मानुषा किं नि-
वर्त्तथ ॥ ३२ ॥ पञ्चभूतपरित्यक्तं शून्यं काष्ठत्वमागतम्।

ऐसे स्नेहीका बड़ाभारी दुःख पड़ने पर भी त्याग नहीं किया जासकता ॥२७॥ जो शरीरसे क्षीण होगया हो, जिसके ऊपर राज-दरबारमें मुकद्दमा चलरहा हो, जो श्मशानकी ओरको जानेवाला हो, उसका जो साथ देता है उसको ही बान्धव जानो, ऐसे सङ्कटमें बान्धवके सिवाय और कोई साथ नहीं देता है ॥२८॥ सब ही मनुष्योंको प्राण प्यारे होते हैं, सब पुरुष स्नेहको चाहते हैं, अच्छे पुरुष और पशु पक्षियोंमें भी कैसा स्नेह होता है, उस पर दृष्टि दो ॥ २९ ॥ नव-विवाहित वरकी समान स्नान करके पुष्पोंकी माला धारण करनेवाले, कमलकी समान चञ्चल और विशाल नेत्रोंवाले इस बालकको त्यागकर जानेके लिये तुम्हारे पैर कैसे उठते हैं? ॥३०॥ जिससे दया उपजे ऐसा खेद करते हुए गीदड़की बात सुनकर वे सब मनुष्य उस शवकी ओरको उसी समय लौटपड़े ॥ ३१ ॥ उस समय गिद्धने कहा, कि-अरे ओ निर्बुद्धि पुरुषो! इस तुच्छबुद्धि और क्रूर स्वभाववाले

कस्मात् शोचथ निश्चेष्टमात्मानं किन्न शोचथ ॥ ३३ ॥
तपः कुरुत वै तीव्रं मुच्यध्वं येन किल्बिषात्। तपसा
लभ्यते सर्वं विलापः किं करिष्यति ॥३४॥ अनिष्टानि च
भाग्यानि जातानि सह मूर्तिना। येन गच्छति बालोयं
दत्वा शोकमनन्तकम् ॥ ३५ ॥ धनं गावः सुवर्णञ्च मणि-
रत्नमथापि च। अपत्यञ्च तपोमूलं तपोयोगाच्च लभ्यते ३६
यथा कृता च भूतेषु प्राप्यते सुखदुःखिता। गृहीत्वा जा-
यते जन्तुर्दुःखानि च सुखानि च ॥३७॥ न कर्म्मणा पितुः
पुत्रः पिता वा पुत्रकर्मणा। मार्गेणानेन गच्छन्ति बद्धाः
सुकृतदुष्कृतैः ॥३८॥ धर्म्मं चरत यत्नेन न चाधर्मे मनः

क्षुद्र गीदड़के कहनेसे तुम क्यों लौट आये ? ॥ ३२ ॥
पञ्चमहाभूतोंके त्यागेहुए और शून्य लकड़ीसे पड़ेहुए इस
बालकके लिये तुम क्यों शोक करते हो ? और तुम अपना
शोक क्यों नहीं करते ? ॥ ३३ ॥ बड़ाभारी तप करो,
कि-जिस तपके द्वारा इस दुःखमेंसे छूटजाओ ! तप करने
से सब वस्तुएँ मिलसकती हैं, विलाप करनेसे क्या लाभ
है ? ॥ ३४ ॥ देहके साथ ही दुर्भाग्य भी उत्पन्न होता
है, कि-जिस दुर्भाग्यके कारणसे यह बालक भी अपार
शोक देकर चलागया है ॥ ३५ ॥ धन, गौ सुवर्ण, मणि,
रत्न और सन्तान यह सब तपका फल है और तप योग
का फल है ॥ ३६ ॥ अपने पूर्वजन्मके कर्मके अनुसार
प्राणिमात्र सुख या दुःखको साथमें लेकर ही उत्पन्न
होता है ॥२७॥ पुत्र पिताके कर्मसे या पिता पुत्रके कर्म
से बँधाहुआ नहीं है, किन्तु सब अपने २ पुण्य और पाप-
रूप कर्मोंसे बँधेहुए हैं और सबोंको अपने २ कर्मोंके
अनुसार एक ही मार्गसे जाना है ॥ ३८ ॥ तुम उद्योग

कृशाः । वर्त्तध्वञ्च यथाकालं दैवतेषु द्विजेषु च ॥ ३९ ॥ शोकं त्यजत दैन्यं च सुतस्नेहान्निवर्त्तत । त्यज्यतामयमाकाशे ततः शीघ्रं निवर्त्तत ॥ ४० ॥ यत् करोति शुभं कर्म्म तथा कर्म्म सुदारुणम् । तत् कर्त्तैव समश्नाति बांधवानां किमत्र ह ॥४१॥ इह त्यक्त्वा न तिष्ठंति बान्धवा बान्धवं प्रियम् । स्नेहमुत्सृज्य गच्छन्ति बाष्पपूर्णविलेक्षणाः ॥ ४२ ॥ प्राज्ञो वा यदि वा मूर्खः सधनो निर्धनोपि वा । सर्वः कालवशं याति शुभाशुभसमन्वितः ॥४३॥ किं करिष्यथ शोचित्वा मृतं किमनुशोचथ । सर्वस्य हि प्रभुः कालो धर्मतः समदर्शनः ॥४४॥ यौवनस्थांश्च बालांश्च

करके धर्मका आचरण करो, अधर्ममें मन न रक्खो और देवता तथा ब्राह्मणोंके साथ समयानुसार वर्त्ताव करो ३९ शोक तथा दीनताको त्यागदो, पुत्रके स्नेहसे निवृत्ति पाओ और इस बालकको खुले मैदानमें छोड़कर यहाँसे जल्दी २ चलेजाओ ॥ ४० ॥ पुरुष भले या बुरे जो कुछ कर्म करता है उनका फल करने वालेको ही भोगना पड़ता है, इसमें बान्धवोंको क्या लगता है ? ॥ ४१ ॥ मरनेवाला चाहे जैसा प्यारा हो तो भी प्यारे बान्धव को श्मशानमें त्यागकर खड़े नहीं रहते हैं, किन्तु स्नेह को त्यागकर नेत्रोंमें आँसू भरेहुए अपने घरको लौटजाते हैं ॥ ४२ ॥ बुद्धिमान् हो चाहे मूर्ख हो, धनवान् हो चाहे दरिद्र हो-ये पुण्य पाप करनेवाले सब ही कालके वशमें होते हैं ॥४३॥ शोक करके तुम क्या करलोगे ? तुम मरे हुएका शोक किसलिये करते हो ? काल सबका स्वामी है और वह अपने धर्मके अनुसार सबके ऊपर समान दृष्टि रखता है ॥४४॥ उछलती जवानीमें क्रीड़ा करतेहुए

वृद्धान् गर्भगतानपि । सर्वानाविशते मृत्युरेवं भूतमिदं जगत् ॥ ४५ ॥ जम्बुक उवाच । अहो मन्दीकृतः स्नेहो गृध्रेणेहाल्पबुद्धिना । पुत्रस्नेहाभिभूतानां युष्माकं शोचतां भृशम्॥४६॥समैः सम्यक्प्रयुक्तैश्च वचनैः प्रत्ययोत्तरैः। यद्गच्छति जनश्चायं स्नेहमुत्सृज्य दुस्त्यजम् ॥ ४७ ॥ अहो पुत्रवियोगेन मृतशून्योपसेवनात् । क्रोशतां सुभृशं दुःखं विवत्सानां गवामिव ॥ ४८ ॥ अद्य शोकं विजानामि मनुष्याणां महीतले । स्नेहं हि कारणं कृत्वा ममाप्यश्रूण्यथापतन् ॥ ४९ ॥ यत्नो हि सततं कार्य्यस्ततो

जवानको, खेलते हुए बालकको, वृद्धावस्थामें पहुँचेहुए को, और माताके पेटमें वर्त्तमान गर्भको काल जाकर पकड़लेता है, यह जगत् ऐसा ही है ॥ ४५ ॥ गिद्धकी इस बातको सुनकर गीदड़ बोला, कि-अरे तुम तो पुत्र के स्नेहको याद करके बड़ाभारी विलाप कररहे थे, उस स्नेहको इस मन्दमति गिद्ध पक्षीने घटादिया ॥ ४६ ॥ उसके शान्तिभरे, अच्छे प्रकारसे प्रयोग कियेहुए और धोखेमें डालनेवाले वचनोंको सुनकर तुम जो त्यागा न जासके ऐसे स्नेहको त्यागकर ग्राममेंको लौटजाते हो ४७ हाय ! हाय ! मैं तो समझता था, कि-अपने बालकके मरणसे उसके ऊपर प्रेम होनेके कारण बड़े २ रोनेवालों के मनमें बड़ाभारी कष्ट होगा, परन्तु तुम तो, जिसका बछड़ा मरगया हो ऐसी गौकी समान श्मशानमें अपने प्यारे पुत्रको छोड़कर चलदिये ! ॥४८॥ पृथिवी पर मनुष्य अपने प्यारेके लिये कैसा शोक करते हैं इसका पता मुझे आज ही लगा है और उसके शोकसे मेरी आँखों मेंसे भी आँसू टपकते हैं ॥ ४९ ॥ (परन्तु अब तो मैं

दैवेन सिद्ध्यति । दैवं पुरुषकारश्च कृतान्तेनोपपद्यते ५० अनिर्वेदः सदा कार्यो निर्वेदाद्धि कुतः सुखम् । प्रयत्नात् प्राप्यते ह्यर्थः कस्माद्गच्छथ निर्दयम् ॥५१॥ आत्ममांसो-पवृत्तञ्च शारीरार्द्धमयीं तनुम् । पितॄणां वंशकर्त्तारं वने त्यक्त्वा क्व यास्यथ ॥५२॥ अथवास्तं गते सूर्ये संध्या-काल उपस्थिते । ततो नेष्यथ वा पुत्रं इहस्था वा भवि-ष्यथ ॥ ५३ ॥ गृध्र उवाच । अद्य वर्षसहस्रं मे साग्रं जातस्य मानुषाः । न च पश्यामि जीवन्तं मृतं स्त्रीपुंनपुं-सकम् ॥ ५४ ॥ मृता गर्भेषु जायंते जातमात्रा म्रियंति

देखता हूँ, कि-मनुष्योंका शोक दिखावटका है) हरएक को सदा यत्न करना चाहिये, दैवयोग होगा तो सिद्धि मिलजायगी, दैव और पुरुषार्थ ये दोनों एकसाथ रहने से फल देते हैं ॥५०॥ सदा आशावान् रहे ! खेद करने से सुख कैसे मिलसकता है ! प्रयत्न करनेसे ही कार्य सिद्ध होता है, फिर तुम निर्दय बनकर क्यों लौटेजाते हो ? ॥५१॥ शरीरके माँसमेंसे उत्पन्न हुए, आधे शरीर-रूप और पितरोंके वंशका नाम रखनेवाले इस बालकको वनमें छोड़कर तुम कहाँ जाओगे ? ॥ ५२ ॥ सूर्य अस्त होकर सन्ध्याकालका धुकपुका हो तबतक यहाँ ही थमे रहो ! फिर तुम पुत्रको लेकर जाना अथवा यहाँ ही बैठे रहना ॥५३॥ गिज्जने कहा, कि-हे मनुष्यों ! मुझे जन्म लिये आज हजार वर्षसे अधिक समय होगया है, परन्तु नर, नारी या नपुंसक मरनेके बाद जीवित हुए हों यह मेरे देखनेमें तो आया नहीं ॥ ५४ ॥ कितने ही गर्भमें ही मरेहुए पैदा होते हैं, कोई जन्मते ही मरजाते हैं, कोई फिरने फिरने लगते हैं तब मरजाते हैं, कोई जवानी

च । चक्रमन्तो म्रियंते च यौवनस्थास्तथा परे ॥ ५५ ॥ अनित्यानीह भाग्यानि चतुष्पात्पक्षिणामपि । जङ्गमानां नगानाञ्चाप्यायुरग्रेवतिष्ठते॥५६॥इष्टदारवियुक्ताश्च पुत्र-शोकान्वितास्तथा । दह्यमानाः स्म शोकेन गृहं गच्छन्ति नित्यशः ॥ ५७॥ अनिष्टानां सहस्राणि तथेष्टानां शतानि च । उत्सृज्येह प्रयाता वै बान्धवा भृशदुःखिताः ॥५८॥ त्यज्यतामेष निस्तेजाः शून्यः काष्ठत्वमागतः । अन्यदेह-विषक्तं हि शावं काष्ठत्वमागतम् ॥ ५९ ॥ त्यक्तजीवस्य चैवास्य कस्माद्धित्वा न गच्छत । निरर्थको ह्ययं स्नेहो निष्फलश्च परिश्रमः ॥ ६० ॥ चक्षुर्भ्यां न च कर्णाभ्यां

में मरजाते हैं और कितने ही बुड्ढे होकर मरते हैं ५५ चाहे चौपाये पशु हों, चाहे पक्षी हों सब प्राणियोंका भाग्य अनित्य है, जङ्गम तथा स्थावरोंका भाग्य भी अनित्य है और वह जन्मसे पहले ही रचदिया जाता है ॥ ५६ ॥ अपने प्रियजनोंके तथा स्त्रियोंके वियोगवाले और पुत्रके शोकसे व्याकुल हुए पुरुष शोकसे जलते हुए सदा अपने घरको चले जाते हैं ॥ ५७ ॥ हजारों बान्धव शत्रुओंको तथा मित्रोंको इस श्मशानमें छोड़ कर दुःखसे अत्यन्त व्याकुल होतेहुए अपने घरोंमें चलेजाते हैं ॥ ५८ ॥ इस प्राणहीन बालकके ऊपर दृष्टि डालो, अब इसमें प्राण तो है ही नहीं, यह तो निस्तेज और काठकी समान है । फिर तुम इस काठकी समान और जिसके शरीरमेंका जीवात्मा दूसरे शरीरमें चला गया है, उसको त्यागकर अपने घरको क्यों नहीं जाते हो ? तुम्हारा यह स्नेह निरर्थक है, तुम इससे मिलते हो और लिपटते हो यह भी निरर्थक है ॥ ५९-६० ॥

संश्रृणोति समीक्षते । कस्मादेनं समुत्सृज्य न गृहान् गच्छताशु वै ॥ ६१ ॥ मोक्षधर्माश्रितैर्वाक्यैर्हेतुमद्भिः सुनिष्ठुरैः । मयोक्ता गच्छत क्षिप्रं स्वं स्वमेव निवेशनम् ६२ प्रज्ञाविज्ञानयुक्तेन बुद्धिसंज्ञाप्रदायिना । वचनं श्राविता नूनं मानुषाः संन्यवर्त्तत ॥६३॥ शोको द्विगुणतां याति दृष्ट्वा स्मृत्वा च चेष्टितम् । इत्येतद्वचनं श्रुत्वा सन्निवृत्तास्तु मानुषाः ।अपश्यत्तं तदा सुप्तं द्रुतमागत्य जम्बुकः ६४ जम्बुक उवाच । इमं कनकवर्णाभं भूषणैः समलंकृतम् । गृध्रवाक्यात् कथं पुत्रं त्यजध्वं पितृपिण्डदम् ॥ ६५ ॥ न स्नेहस्य च विच्छेदो विलापरुदितस्य च । मृतस्यास्य

यह बालक दोनों नेत्रोंसे देखता नहीं है तथा दोनों कानोंसे सुनता भी नहीं है तो फिर किसलिये इस बालकको त्यागकर शीघ्र ही घरको नहीं जाते हो ? ६१ मैंने तुमसे बड़े ही कठोर वचन कहे हैं, परन्तु ये वचन मोक्ष धर्मवाले तथा हेतु भरे हैं,इसलिये अब तुम अपने२ घरको जाओ ॥६२॥ प्रज्ञा और विज्ञानवाले तथा बुद्धि और संज्ञा (होश) देनेवाले जो वचन मैंने तुम्हें सुनाये हैं उनको सुनकर तुम लौट जाओ ॥ ६३ ॥ एक मरेहुए मनुष्यको देखनेसे और उसके चरित्रको याद करनेसे दूना शोक होता है,गिज्जकी इस बातको सुनकर मनुष्य पीछेको लौटे कि-गीदड़ तुरन्त तहाँ आया और बालकको सोताहुआ देखा ॥६४॥ गीदड़ बोला, कि-सोनेकेसे वर्णके आभूषणोंसे सजे और पितरोंको पिण्ड देनेवाले इस अपने इकलौते पुत्रको गिज्ज पक्षीके कहनेसे तुम यहाँ छोड़कर क्यों चले जारहे हो ? ॥६५॥ इस पुत्रको छोड़ जानेसे स्नेह, रोना और विलाप तो दूर होगा नहीं,

परित्यागात्तापो वै भविता ध्रुवम् ॥ ६६ ॥ श्रूयते शम्बुके शूद्रे हते ब्राह्मणदारकः । जीवितो धर्ममासाद्य रामात् सत्यपराक्रमात् ॥६७॥ तथा श्वेतस्य राजर्षेर्बालो दिष्टान्तमागतः । श्वेतेन धर्मनिष्ठेन मृतः सञ्जीवितः पुनः ।६८। तथा कश्चिल्लभेत सिद्धो मुनिर्वा देवतापि वा । कृपणानामनुक्रोशं कुर्य्याद्वो रुदतामिह ॥ ६९ ॥ इत्युक्तास्ते न्यवर्त्तन्त शोकार्त्ताः पुत्रवत्सलाः । अङ्के शिरः समाधाय रुरुदुर्बहुविस्तरम् तेषां रुदितशब्देन गृध्रोभ्येत्य वचोऽब्रवीत् ॥७०॥गृध्र उवाच । अश्रुपातपरिक्लिन्नः पाणिस्पर्शप्रपीडितः । धर्मराजप्रयोगाच्च दीर्घनिन्द्रां प्रवेशितः ७१

उलटा इस शवको त्यागनेसे तुम्हें सन्ताप होगा ॥६६॥ ऐसा सुननेमें आता है, कि–सत्यपराक्रमी रामने शम्बूक शूद्रका नाश करके धर्मसे ब्राह्मणके पुत्रको जीवित किया था ॥ ६७ ॥ तथा श्वेत नामके राजर्षिका बालक भी अकालमें मरगया था, उसको धर्मात्मा श्वेतने फिर जीवित करलिया था ॥ ६८ ॥ ऐसे ही कोई मुनि, कोई सिद्ध अथवा कोई देवता आमिलेगा तो वह रुदन करते हुए तुम बिचारोंके ऊपर दया करके इस बालकको जीवित करदेगा ॥६९॥ गीदड़के ऐसा कहने पर जिनको पुत्र प्यारा था ऐसे वे सब दुःखी मनुष्य शोकातुर होकर फिर श्मशानमें आये और बालकका मस्तक एकके बाद एक अपनी २ गोदमें ले चीख फाड़कर रोनेलगे, उनके शब्दको सुनकर गिज्ज तहाँ आया और फिर कहनेलगा, गिज्ज बोला, कि–यह बालक धर्मराजकी आज्ञासे मरा है, यह अब किसी प्रकार भी नहीं जागसकता, अब आँसू बहाकर इसको भिगोनेसे अथवा इसके शरीर पर

तपसापि हि संयुक्ता धनवन्तो महाधियः। सर्वे मृत्युवशं यांति तदिदं प्रेतपत्तनम् ॥ ७२ ॥ बालवृद्धसहस्राणि सदा सत्यंज्य बान्धवाः। दिनानि चैव रात्रीश्च दुःखं तिष्ठन्ति भूतले ॥ ७३ ॥ अलं निर्बन्धमागत्य शोकस्य परिधारणे। अप्रत्ययं कुतो ह्यस्य पुनरद्येह जीवितम् ॥ ७४ ॥ मृतस्योत्सृष्टदेहस्य पुनर्देहो न विद्यते। नैव मूर्त्तिप्रदानेन जम्बुकस्य शतैरपि ॥ ७५ ॥ शक्यं जीवयितुं ह्येष बालो वर्षशतैरपि। अथ रुद्रः कुमारो वा ब्रह्मा वा विष्णुरेव च ७६ वरमस्मै प्रयच्छेयुस्ततो जीवेदयं शिशुः। नैव बाष्पविमोक्षेण न वाश्वासकृतेन च ॥ ७७ ॥ न दीर्घरुदितेनायं

हाथ फेरनेसे क्या लाभ है ? ॥७०-७१॥ जो तपस्वी थे, जो धनवान् थे और जो महाबुद्धिमान् थे वे सब मरकर प्रेतपुरीमें गए हैं, यह श्मशान मरनेवालोंके लिये है ७२ बान्धव भी सदा हजारों बालक और हजारों वृद्धोंको त्यागकर रात्रि तथा दिनोंको दुःखमें बितानेके बाद इस भूमि पर ही सोरहे हैं ॥ ७३ ॥ इसलिये शोकके भारको धारण करनेका आग्रह करनेसे कुछ लाभ नहीं है, गीदड़के कहनेके अनुसार यह बालक फिर जीवित होजाय, इसके लिये कोई निश्चय नहीं है ॥ ७४ ॥ जो प्राणी देहको त्यागकर मरजाता है, उसका फिर उस देहके साथ सम्बन्ध नहीं होता है, सैकड़ों गीदड़ अपने शरीर अर्पण करदेंगे तो भी वे सौ वर्षमें भी इस बालक को जीवित नहीं करसकेंगे ॥ ७५ ॥ हाँ रुद्रदेव, स्वामि कार्त्तिकेय; ब्रह्मा या विष्णु यदि इस बालकको वरदान देदें तो भले ही जीवित होजाय ! ॥ ७६ ॥ परन्तु आँसु बहानेसे, लम्बें २ साँस लेनेसे अथवा डीख फोड़कर

पुनर्जीवं गमिष्यति। अहं च क्रोष्टुकश्चैव यूयं ये चास्य बान्धवाः ॥७८॥ धर्माधर्मौ गृहीत्वेह सर्वे वर्तामहेऽध्वनि। अप्रियं परुषं चापि परद्रोहं परस्त्रियं ॥७९॥ अधर्ममनृतं चैव दूरात्प्राज्ञो विवर्जयेत्। धर्मं सत्यं श्रुतं न्याय्यं महतीं प्राणिनां दयाम्॥८०॥अजिह्मत्वमशाठ्यं च यत्नतः परिमार्गत। मातरं पितरं चापि बान्धवान् सुहृदस्तथा८१ जीवतो येन पश्यन्ति तेषां धर्मविपर्ययः। यो न पश्यति चक्षुर्भ्यां नेङ्गते च कथंचन ॥ ८२ ॥ तस्य निष्ठावसानान्ते रुदन्तः किं करिष्यथ। इत्युक्तास्ते सुतं त्यक्त्वा भूमौ शोकपरिप्लुताः । दह्यमानाः सुतस्नेहात्प्रययुर्बान्धवाः

रोनेसे यह बालक फिर लौटकर नहीं आसकता ॥७७॥ मैं, गीदड़, तुम तथा इस बालकके जो सगे सम्बन्धी हैं ये सब धर्म और अधर्मको लेकर (जिस मार्गसे यह बालक गया है उस ही) मार्गमें बैठे हैं ॥ ७८ ॥ इस लिये बुद्धिमान् मनुष्यको दूसरोंको अप्रसन्न करनेवाले आचरणोंका, तीखे वचनका, दूसरोंके साथ द्रोहका, परस्त्रीका, पापकर्मका और असत्यका दूरसे ही त्याग करदेना चाहिये ॥ ७९ ॥ तथा धर्म, सत्य, शास्त्रका श्रवण, न्याय, सब प्राणियोंके ऊपर दया, सरलता और प्रामाणिकपनेका सेवन करना चाहिये ॥८०॥ जो जीवित माता, पिता, बान्धव और स्नेहियोंको नहीं देखते हैं वे महापातक करते हैं ॥ ८१ ॥ जो नेत्रसे नहीं देखता है और किसीप्रकारका हाथ पैर नहीं हिलाता है ऐसे मरने वालेके लिये रोकर तुम क्या करोगे ? ॥ ८२ ॥ गिज्जके ऐसा कहने पर शोकमें डूबेहुए और पुत्रके स्नेहसे भस्म से हुए वे बान्धव बालकको पृथिवी पर डालकर अपने घर

गृहम् ॥८३॥ जम्बुक उवाच । दारुणो मर्त्यलोकोयं सर्व-
प्राणिविनाशनः।इष्टबंधुवियोगश्च तथेहाल्पं च जीवितम्८४
बहुलीकमसत्यं चाप्यतिवादाप्रियंवदम्। इमं प्रेक्ष्य पुनर्भावं
दुःखशोकविवर्धनम् ॥ ८५ ॥ न मे मानुपलोकोयं मुहूर्त-
मपि रोचते । अहो धिग्गृध्रवाक्येन यथैवाबुद्धयस्तथा ८६
कथं गच्छत निःस्नेहाः सुतस्नेहं विसृज्य च । प्रदीप्ताः
पुत्रशोकेन सन्निवर्तत मानुपाः ॥ ८७ ॥ श्रुत्वा गृध्रस्य
वचनं पापस्येहाकृतात्मनः। सुखस्यानंतरं दुःखं दुःखस्या-
नंतरं सुखम् ॥८८॥ सुखदुःखावृते लोके नेहास्त्येकमनं-
तरम्। इमं क्षितितले त्यक्त्वा बालं रूपसमन्वितम् ॥८९॥

जानेको तयार होगए ॥ ८३ ॥ तब गीदड़ने कहा, कि-
सकल प्राणियोंका संहार करनेवाला यह मनुष्य-लोक
महाभयानक है, क्योंकि-इसमें प्यारे बन्धुओंका वियोग
होता है तथा जीवन भी थोड़ा होता है ॥ ८४ ॥ महा-
मिथ्या और असत्यसे भरेहुए, निन्दा और अप्रिय
बोलनेवाले तथा दुःख और शोकको बढ़ानेवाले इस
संसारको देखकर अब मुझे यह संसार जरा देरको
भी अच्छा नहीं लगता, ओः ! धिक्कार है तुम्हें ! तुम
गिज्जके कहनेसे मूर्खकी समान स्नेहरहित होकर पुत्र
पर पिताके प्रेमको त्यागकर घरको क्यों लौटेजाते हो ?
तुम पुत्रके प्रेमसे बहुत ही जलरहे हो, अरे मनुष्यों !
तुम पीछेको लौट आओ ॥ ८५-८७ ॥ आत्मविचार न
न करनेवाले पापी गिज्जकी बात सुनकर तुम क्यों चल
दिये? सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख मनुष्यको
ही आता है ॥ ८८ ॥ यह जगत् सुख और दुःखसे घिरा
हुआ है, इस जगत्में सुख वा दुःख बराबर रहते हों

कुलशोभाकरं मूढाः पुत्रं त्यक्त्वा क्व यास्यथ । रूपयौवन-संपन्नं द्योतमानमिव श्रिया ॥९०॥ जीवंतमेव पश्यामि मनसा नात्र संशयः । विनाशो नास्य न हि वै सुखं प्राप्स्यथमानुषाः ॥ ९१ ॥ पुत्रशोकाभितप्तानां मृतानामद्य वः क्षमम् । सुखसंभावनं कृत्वा धारयित्वा सुखं स्वयम् त्यक्त्वा गमिष्यथ क्वाद्य समुत्सृज्याल्पबुद्धिवत् ॥ ९२ ॥ भीष्म उवाच । तथा धर्मविरोधेन प्रियमिथ्याभिधायिना । श्मशानवासिना नित्यं रात्रिं मृगयता नृप ॥ ९३ ॥ ततो मध्यस्थतां नीता वचनैरमृतोपमैः । जम्बुकेन स्वकार्यार्थं

ऐसा नहीं है, अरे मूढ मनुष्यों ! इस रूपवान् कुलकी शोभा बढ़ानेवाले बालक पुत्रको पृथिवी पर सुलाकर कहाँ जाते हो ? रूपवान् तथा यौवनमें आयेहुए, लक्ष्मीसे शोभायमान इस पुत्रको मैं अपने मनसे जीवित ही देख रहा हूँ ! मेरा चित्त कहता है, कि-तुम यहाँ रहो ! तुम को सुख मिलेगा, हे मनुष्यों ! इसका विनाश कदापि नहीं होगा ॥८९-९१॥ तुम पुत्रके शोकसे सन्तप्त होरहे हो और मरेहुएसे होगए हो, परन्तु आज तुम्हारा शुभ दिन आया है, इसलिये तुम मनमें स्थिर धारणा करलो, कि-आगेको तुम्हें सुख मिलेगा, तुम तुच्छ-बुद्धि मनुष्य की समान इस बालकको त्यागकर कहाँ जाओगे ? ९२ भीष्मजीने कहा, कि-हे राजन् ! नित्य रातमें मुरदोंको खोजनेवाला, श्मशानवासी, मिथ्या प्यारी बात कहने वाला और धर्मका विरोधी गीदड़ अपना काम सिद्ध करनेके लिये अमृतकी समान मधुर वचन कहकर श्म-शानमेंसे जाते हुए उन शोकसे व्याकुल मनुष्योंको रोकता है या कोई दूसरा कारण है, इस बातका वे बालकके

बान्धवास्तस्य धिष्ठिताः ॥ ६४ ॥ गृध्र उवाच । अयं प्रेत-
समाकीर्णो यक्षराक्षससेवितः । दारुणः काननोद्देशः
कौशिकैरभिनादितः ॥ ६५ ॥ भीमः सुघोरश्च तथा नील-
मेघसमप्रभः।अस्मिञ्छवं परित्यज्य प्रेतकार्याण्युपासत६६
भानुर्यावत्प्रयात्यस्तं यावच्च विमला दिशः । तावदेनं
परित्यज्य प्रेतकार्याण्युपासत ॥६७॥ नदंति परुषं श्येनाः
शिवाः] क्रोशंति दारुणम् । मृगेन्द्रा प्रतिनर्दन्ति रविरस्तं
च गच्छति ॥ ६८ ॥ चिता धूमेन नीलेन संरज्यन्ते च
पादपाः । श्मशाने च निराहाराः प्रतिनर्न्दति देवताः ६९
सर्वे विकृतदेहाश्चाप्यस्मिन्देशे सुदारुणे । युष्मान्प्रधर्षयि-

---

बान्धव निश्चय नहीं करसके ॥६३-६४॥ इतनेमें ही यह
गिज्ज फिर कहनेलगा, कि-इस जङ्गली स्थानमें प्रेत,
यक्ष और राक्षस रहते हैं, यह स्थान बड़ा भयानक है,
उल्लुओंके शब्दोंसे गूँजरहा है ॥ ६५ ॥ महाभयानक,
घोर और काली घनघटाकी समान कान्तिवाला है, इस
लिये तुम मुरदेको यहाँ छोडकर अपने घर जाओ तथा
मरने वालेकी क्रिया करो ॥६६॥ जबतक सूर्य अस्त नहीं
होता है और जब तक दिशायें निर्मल हैं, तब तक ही
इस बालकको छोडकर प्रेतकी पीछेसे की जानेवाली
क्रिया कर्म करो ॥ ६७ ॥ (सुनो) शिकरे कठोर शब्द
कररहे हैं, गीदड़ी दारुण शब्द कररही हैं, सिंह दहाड़
रहे हैं और सूर्य अस्त होनेको है ॥६८॥ (देखो) चिता
के काले २ धुएँसे वृक्ष गहरे रङ्गके होगए हैं, श्मशानमें
भूखे देवता गरज रहे हैं ॥ ६९ ॥ इस महा-
भयानक स्थानमें रहनेवाले सब प्राणी भयानक देहवाले
और मांसका आहार करनेवाले हैं, ये तुम्हें रातमें दुःख

ष्यन्ति विकृता मांसभोजिनः ॥ १०० ॥ क्रूरश्चायं वनोद्देशो भयमद्य भविष्यति। त्यज्यतां काष्ठभूतोयं मृष्यतां जाम्बुकं वचः ॥ १०१ ॥ यदि जम्बुकवाक्यानि निष्फलान्यनृतानि च। श्रोष्यथ भ्रष्टविज्ञानास्ततः सर्वे विनङ्क्ष्यथ ॥ १०२ ॥ जम्बुक उवाच। स्थीयतां नेह भेतव्यं यावत्तपति भास्करः। तावदस्मिन्सुते स्नेहादनिर्वेदेन वर्तत ॥ ३ ॥ स्वैरं रुदंतो विश्रब्धाश्चिरं स्नेहेन पश्यत। स्थीयतां यावदादित्यः किं च क्रव्यादभाषितैः ॥ ४ ॥ यदि गृध्रस्य वाक्यानि तीव्राणि रभसानि च। गृह्णीत मोहितात्मानः सुतो वो न भविष्यति ॥ ५ ॥ भीष्म

देंगे ॥ १०० ॥ यह वनका प्रदेश भयानक है, इसलिये आज तुम्हें डर लगेगा, इसकारण तुम इस काठकी समान पड़ेहुए बालकको छोड़ जाओ और गीदड़की बातको मिथ्या मानो ॥ १०१ ॥ तुम अपनी सुबुद्धिसे विचार किये बिना गीदड़के निष्फल और मिथ्या वचन को सुनोगे (और इस श्मशानमें रहोगे) तो सब मर जाओगे ॥ १०२ ॥ गीदड़ने कहा, कि-सूर्य तपरहा है तब तक तुम यहाँ आशा लगाएहुए निर्भय खड़े रहो और खेद न करके इस पुत्रके साथ स्नेहका बर्ताव करो ॥ ३ ॥ जबतक सूर्य तपरहा है तब तक (साँझ तक) तुम इच्छानुसार रुदन करो और विश्राम लेकर चिरकाल तक इस बालकको स्नेहके साथ देखो, इन मांसाहारी प्राणियोंको शब्दसे तुम्हारा क्या होसकता है ? ॥ ४ ॥ यदि तुम गिद्धके तीव्रता भरे और घबराहटके वचनोंको मनमें घबड़ाकर मानलोगे तो तुम्हारा पुत्र नहीं बचेगा ॥५॥ भीष्मजीने कहा, कि-हे राजन् !

उवाच । गृध्रोस्तमित्याह गतो गतो नेति च जम्बुकः । मृतस्य तं परिजनमूचतुस्तौ क्षुधान्वितौ ॥ ६ ॥ स्वकार्यबद्धकक्षौ तौ राजन् गृध्रोऽथ जम्बुकः । क्षुत्पिपासापरिश्रांतौ शास्त्रमालंब्य जल्पतः ॥ ७ ॥ तयोर्विज्ञानविदुषो-र्द्वयोर्मृगपतत्रिणोः वाक्यैरमृतकल्पैस्तैः प्रतिष्ठन्ति व्रजंति च ॥ ८ ॥ शोकदैन्यसमाविष्टा रुदन्तस्तस्थिरे तदा । स्वकार्यकुशलाभ्यान्ते संभ्राम्यंतेह नैपुणात् ॥ ९ ॥ तथा तयोर्विवदतोर्विज्ञानविदुषोर्द्वयोः । बान्धवानां स्थितानां चाप्युपातिष्ठत शंकरः ॥ १० ॥ देव्या प्रणोदितो देवः कारुण्यार्द्रीकृतेक्षणः । ततस्तानाह मनुजान् वरदोस्मीति

गिज्ज और गीदड़ दोनों भूखे थे, उनमेंसे गिज्जने मृतकके कुटुम्बियोंसे कहा, सूर्य अस्त होगया है, तो गीदड़ने कहा, कि-सूर्य अभी अस्त नहीं हुआ है ॥६॥ हे राजन्! गिज्ज और गीदड़ दोनों अपना काम सिद्ध करनेके लिये फेंट बाँधकर तयार होगये थे और भूख प्याससे थककर बेहाल होरहे थे तो भी दोनों शास्त्रका अवलम्ब लेकर बालकके सम्बन्धियोंको समझारहे थे ॥७॥ विज्ञानवेत्ता गीदड़ और गिज्ज पक्षीके प्यारे और अमृतकी समान वचनोंको सुनकर मृतकके सम्बन्धी क्षण भरको खड़े रहते थे और क्षण भरके बाद तहाँसे घर जानेको तयार होजाते थे ॥८॥ मृत बालकके बान्धव शोक तथा दीनता में डूबरहे थे, वे खड़े होकर रोनेलगे और अपना काम करनेमें चतुर वे दोनों अपनी २ चतुराईसे उनको धोखा देनेलगे ॥ ९ ॥ बालकके बान्धव श्मशानमें थे और विज्ञानमें प्रवीण वे दोनों उनके सामने विवाद कररहे थे, इतनेमें ही तहाँ श्रीशङ्कर प्रकट होगए ॥ १० ॥ पार्वतीने

शंकरः ॥ ११ ॥ ते प्रत्यूचुरिदं वाक्यं दुःखिताः प्रणताः स्थिताः ॥ एकपुत्रविहीनानां सर्वेषां जीविताथिनाम् ।१२। पुत्रस्य नो जीवदानाज्जीवितं दातुमर्हसि ॥ एवमुक्तः स भगवान् वारिपूर्णेन चक्षुषा ॥ १३ ॥ जीवितं स्म कुमाराय प्रादाद्वर्षशतानि वै ॥ तथा गोमायुगृध्राभ्यां प्राददत् क्षुद्विनाशनम् ॥ १४ ॥ वरं पिनाकी भगवान् सर्वभूतहिते रतः । ततः प्रणम्य ते देवं प्रायो हर्षसमन्विताः ॥ १५ ॥ कृतकृत्याः सुसंहृष्टाः प्रातिष्ठन्त तदा विभो । अनिर्वेदेन दीर्घेण निश्चयेन ध्रुवेण च ॥ १६ ॥ देवदेवप्रासादाच्च क्षिप्रं

श्रीशङ्करसे यहाँ आनेको कहा था, दयाके कारण शङ्करके नेत्र भी भरआये थे और उन्होंने मृतकके संबन्धियोंसे कहा, कि-मैं वरदान देनेवाला शङ्कर हूँ ॥ ११ ॥ तब दुःखी खड़ेहुए शवके संबन्धियोंने प्रणाम करके उत्तर दिया, कि-हमारा यह एक ही पुत्र है, हम इससे हीन होगए हैं, हम सब पुत्रको जीवित देखना चाहते हैं १२ इसलिये आप हमारे इकलौते पुत्रको जीवित करदीजिये तो मानो हमें ही जीवित करदिया, इसप्रकार नेत्रोंमें आँसू भरेहुए श्रीशङ्करसे कहा, तब सब प्राणियोंका हित करनेवाले श्रीशङ्करने अञ्जलि छोडकर बालकको जीवित करदिया और उसको सौ वर्षकी आयु दी तथा गीदड़ और गिज्जको वरदान दिया, कि-तुम्हें कभी क्षुधा नहीं लगेगी ॥ १३-१४ ॥ मृतकके सब संबन्धी बडेभारी हर्षमें भरगए, कृतार्थ हो श्रीशङ्करको प्रणाम करके अपना काम सिद्ध होने पर प्रसन्न होतेहुए नगरकी ओरको चलेगए, (भीष्मजीने कहा, कि-हे राजन् !) निराश न होकर किसी भी कामके पीछे लगे रहनेसे

फलमवाप्यते । पश्य दैवस्य संयोगं बान्धवानां च निश्च-
यम् ॥ १७ ॥ कृपणानान्तु रुदतां कृतमश्रुप्रमार्जनम् ।
पश्य चाल्पेन कालेन निश्चयान्वेषणेन च ॥ १८ ॥ प्रसादं
शङ्करात् प्राप्य दुःखिताः सुखमाप्नुवन् । ते विस्मिता
प्रहृष्टाश्च पुत्रसञ्जीवनात् पुनः ॥ १९ ॥ बभूवुर्भरतश्रेष्ठ
प्रसादाच्छंकरस्य वै । ततस्ते त्वरिता राजंस्त्यक्त्वा
शोकं शिशूद्भवम् ॥ २० ॥ विविशुः पुत्रमादाय नगरं हृष्ट-
मानसाः । एषा बुद्धिः समस्तानां चातुर्वर्ण्येन दर्शिता॥२१
धर्मार्थमोक्षसंयुक्तमितिहासमिमं शृणु।श्रुत्वा मनुष्यःसत
तमिहामुत्र प्रमोदते १२२ त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

तथा देवदेव श्रीशङ्करके प्रसादसे तुरन्त फल मिलता है,
इस बात पर तुम दृष्टि दो तथा दैवयोग और बान्धवोंके
निश्चयको देखो ॥१५-१७। बालकके बान्धव एक निश्चय
पर आगए, इससे थोड़े समयमें ही श्रीशङ्करने रोतेहुए
दीन मनुष्योंके आँसुओंको पोंछदिया, इसको भी तुम
देखो ॥ १८ ॥ और शङ्करकी कृपा पाकर, दुःखी हुए वे,
दृढ़ निश्चयसे और शोकवश आँसुओंकी वर्षा करनेसे
कैसे सुखको प्राप्त हुए यह भी देखो, हे भरतवंशमें श्रेष्ठ
राजन् ! श्रीशङ्करके प्रसादसे पुत्र फिर जीवित होगया,
इससे वे आश्चर्यमें होतेहुए बड़े ही प्रसन्न हुए,हे राजन् !
बालकके मरणसे होनेवाले शोकको त्यागकर, जीवित
पुत्रको लियेहुए प्रसन्न होतेहुए वे ब्राह्मण शीघ्रही अपने
नगरमें जापहुँचे, चारों वर्णोंकी ऐसी ही बुद्धि होती
है ॥ १९-२१ ॥ धर्म, अर्थ तथा मोक्षका उपदेश देनेवाले
इस इतिहासको जो मनुष्य सुनता है वह इस लोकमें
तथा परलोकमें नित्य आनन्द पाता है ॥ १२२ ॥ एकसौ
तिरेपनवाँ अध्याय समाप्त ॥ १५३ ॥ छ ॥

युधिष्ठिर उवाच । बलिनः प्रत्यमित्रस्य नित्यमासन्नवर्त्तिनः । उपकारापकाराभ्यां समर्थस्योद्यतस्य च ॥ १ ॥ मोहाद्विकत्थनामात्रैरसारोऽल्पबलो लघुः । वाग्भिरप्रतिरूपाभिरभिद्रुह्य पितामह ॥ २ ॥ आत्मनो बलमास्थाय कथं वर्त्तेत मानवः। आगच्छतोतिक्रुद्धस्य तस्योद्धरणकाम्यया ॥३॥ भीष्म उवाच । अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । सम्वादं भरतश्रेष्ठ शाल्मलेः पवनस्य च ॥४॥ हिमवन्तं समासाद्य महानासीद्वनस्पतिः । वर्षपूगाभिसंवृद्धः शाखी स्कन्धी पलाशवान् ॥५॥ तत्र स्म मत्तमातङ्गा घर्मार्त्ताः श्रमकर्षिताः । विश्राम्यन्ति महाबाहो तथान्या मृगजातयः ॥६॥ नल्वमात्रपरीणाहो घृतच्छायो वनस्पतिः

युधिष्ठिरने कहा, कि-हे पितामह ? असार, थोड़े बल वाला और क्षुद्रजीवी मनुष्य मूर्खताके कारण अपनी प्रशंसावाले अयोग्य वचनोंसे, नित्य अपने पड़ोसमें रहने वाले, उपकार तथा अपकार करनेमें समर्थ, नित्य तयार रहनेवाले बलवान् पुरुषके साथ वैर बाँधलेय और वह यदि क्रोधमें भरकर वैरका बदला लेनेकी इच्छासे चढ आवे तो थोड़े बलवाला पुरुष किस रीतिसे अपने बलका अवलम्ब लेकर उनके सामने खड़ा होय ? ॥ १-३ ॥ भीष्मजीने कहा, कि-हे भरतवंशी राजन् ! इस विषयमें शाल्मलि वृक्षका और पवनका सम्वादरूप एक पुराना इतिहास इसप्रकार है ॥ ४ ॥ बहुत वर्षहुए हिमालय पर्वतपर बहुत बढ़ाहुआ बड़ी छोटी शाखा और पत्तोंवाला एक बड़ाभारी शाल्मलि (सैमल) का वृक्ष था ॥ ५ ॥ हे महाबाहु राजन् ! उस वृक्षके नीचे धूपसे कष्ट पाते और परिश्रमसे दुर्बल हुए मदमत्त हाथी तथा मृग और

सारिकाशुकसंजुष्टः पुष्पवान् फलवानपि ॥७॥ सार्थिका वणिजश्चापि तापसाश्च वनौकसः। वसन्ति तत्र मार्गस्थाः सुरम्ये नगसत्तमे ॥ ८ ॥ तस्य ता विपुलाः शाखा दृष्ट्वा स्कन्धश्च सर्वशः। अभिगम्याब्रवीदेनं नारदो भरतर्षभ ॥९॥ अहो नु रमणीयस्त्वं अहो चासि मनोहर। प्रियामहे त्वया नित्यं तरुप्रवरशाल्मले ॥१०॥ सदैव शकुनास्तात मृगाश्चाथ तथा गजाः। वसन्ति तव संहृष्टा मनोहर मनोहराः ॥११॥ तव शाखा महाशाख स्कन्धाश्च विपुलास्तथा। न वै प्रभग्नान् पश्यामि मारुतेन कथञ्चन ॥१२॥

दूसरे प्राणी विश्राम लेते थे ॥६॥ उस वृक्षका घेरा चार सौ हाथका था, उसकी छाया घनी थी, उसके ऊपर मैना तोते रहते थे उसके ऊपर बहुतसे फल फूल आते थे ७ एक साथ व्यापार करनेके निमित्त यात्रा करनेवाले व्यापारी और वनमें बसनेवाले तपस्वी भी मार्गमें आने जाते हुए इस सुन्दर और महान् वृक्षके नीचे ठहरते थे ॥ ८ ॥ एक दिन नारद मुनि उधरको जारहे थे, वह उस वृक्षकी बड़ी २ शाखायें और चारों ओर झूमती हुई बड़ी २ डालियोंको देखकर उसके पास गये और हे भरतवंशी राजन्! उन्होंने उससे बूझा कि-९ हे वृक्षश्रेष्ठ शाल्मलि! तू बड़ा ही रमणीय और मनोहर है तथा तुझे देखकर मुझे आनन्द होता है ॥ १० ॥ हे मोहमें डालनेवाले वृक्ष! पक्षी, पशु तथा हाथी बड़े ही आनन्दके साथ सदा तेरेनीचे निवास करते हैं, हे बड़ी २ शाखाओंवाले सैमल! तेरी शाखायें बड़ी ही मनोहर हैं, तेरे गुद्दे बड़े मोटे हैं, मैं देखता हूँ, कि-पवन ने तुझे कभी नहीं तोड़ा है॥ ११-१२ ॥ हे तात! क्या

किन्नु ते पवनस्तात प्रीतिमानथ वा सुहृत्। त्वां रक्षति सदा येन वनेऽत्र पवनो ध्रुवम्॥ १३ ॥ भगवान् पवनः स्थानाद् वृक्षानुच्चावचानपि। पर्वतानां च शिखराण्याचालयति वेगवान् ॥ १४ ॥ शोषयत्येष पातालं वहन् गन्धवहः शुचिः। सरांसि सरितश्चैव सागरांश्च तथैव च ॥ १५ ॥ संरक्षति त्वां पवनः सखित्वेन न संशयः। तस्मात्त्वं बहुशाखोपि पर्णवान् पुष्पवानपि ॥१६॥ इदश्च रमणीयन्ते प्रतिभाति वनस्पते। यदिमे विहगास्तात रमन्ते मुदितास्त्वयि ॥ १७ ॥ एषां पृथक्समस्तानां श्रूयते मधुरस्वरः। पुष्पसम्मोदने काले वाशतां सुमनो-

पवन तेरे ऊपर प्रसन्न है ? अथवा क्या वह तेरा मित्र है ? कि-जिससे इस वनमें वह तेरी सदा रक्षा करता है ॥ १३ ॥ हम देखते हैं, कि-भगवान् वायु जब वेगमें आजाता है तो वह छोटे या बड़े चाहे जैसे भी वृक्ष हों उनको वह उनके स्थान परसे उखाड़ डालता है और पर्वतोंके शिखरोंको हिला देता है ॥ १४ ॥ पवित्र पवन जब चलता है तब पातालको भी सुखा डालता है तथा सरोवर, नदियें और सागरोंको भी सुखा देता है॥१५॥ निःसन्देह वायुदेव मित्रभावसे ही तेरी रक्षा करते हैं और इसलिये ही तेरी बहुतसी शाखाएँ हैं तथा तू पत्ते और फूलोंसे भरपूर है ॥ १६ ॥ हे वनस्पति ! तेरा यह स्थान रमणीय मालूम होता है, क्योंकि-हे तात ! ये पक्षी प्रसन्न होकर तेरे ऊपर बैठेहुए किलोलें कररहे हैं ॥ १७ ॥ जब फूलोंके खिलनेका समय होता है तब बड़ी ही मनोहर रीतिसे तथा अलग २ और इकट्ठे मिलकर शब्द करतेहुए पक्षियोंके मधुर स्वर कैसा

हरम् ॥१८॥ तथेमे गर्जिता नागा स्वयूथकुलशोभिताः । घर्मार्त्तास्त्वां समासाद्य सुखं विन्दन्ति शाल्मले ॥१९॥ तथैव मृगजातीभिरन्याभिरभिशोभसे । तथा सर्वाभि वासैश्च शोभसे मेरुवद् द्रुम ॥ २० ॥ ब्राह्मणैश्च तपःसिद्धैस्तापसैः श्रमणैस्तथा । त्रिविष्टपसमं मन्ये तवायतनमेव हि ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि नारदशाल्मलिसंवादे चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५४ ॥

नारद उवाच । बन्धुत्वादथ वा सख्याच्छाल्मले नात्र संशयः । पालयत्येव सततं भीमः सर्वत्रगोनिलः ॥ १ ॥ न्यग्भावं परमं वायोः शाल्मले त्वमुपागतः । तवाहमस्मीति सदा येन रक्षति मारुतः ॥ २ ॥ न तं पश्याम्यहं

आनन्द देते हैं । ॥ १८ ॥ हे शाल्मलि ! अपनी थोंगोंके हाथियोंसे शोभायमान हाथी आनन्दके साथ चिंघाड़ते हुए धूपसे कष्ट पाकर तेरी छायामें बैठ सुख पातेहैं १९ और हे वृक्ष ! प्राणी भी तेरी छायामें बैठकर बड़ी शोभा पाते हैं, हे वृक्षराज ! वास्तवमें तू सब प्राणियोंका निवासस्थानरूप होनेसे मेरुपर्वतकी समान शोभा पारहा है ॥ २० ॥ एकसौ चौअनवाँ अध्याय समाप्त ॥ १५४ ॥

नारदजीने कहा, कि-हे सैमल ! निःसन्देह सब जगह पहुँचनेवाला यह भयानक वायुदेव तेरी जो नित्य रक्षा करता है, या तो मित्रतासे करता होगा अथवा तेरी और उसकी सन्धि होगी, इसलिये करता होगा । ॥ १ ॥ हे सैमल ! ऐसा प्रतीत होता है, कि-तू वायुके सामने बड़ा ही नम्र होकर उससे कहता होगा, कि-'मैं तुम्हारा हूँ' इसलिये ही वायु सदा तेरी रक्षा करता होगा ॥२॥

वृक्षं पर्वतं वेश्म चेदृशम् । यन्न वायुबलाद्भग्नं पृथिव्यामिति मे मतिः ॥३॥ त्वं पुनः कारणैर्नूनं रक्ष्यसे शाल्मले यथा । वायुना सपरीवारस्तेन तिष्ठस्यसंशयम् ॥ ४ ॥ शाल्मलिरुवाच । न मे वायुः सखा ब्रह्मन्न बन्धुर्न च मे सुहृत् । परमेष्ठी तथा नैव येन रक्षति वानिलः ॥ ५ ॥ मम तेजो बलं भीमं वायोरपि हि नारद । कलामष्टादशीं प्राणैर्न मे प्राप्नोति मारुतः ।६। आगच्छन् परुषो वायुर्मया विष्टम्भितो बलात् । भञ्जन् द्रुमान् पर्वतांश्च यच्चान्यदपि किञ्चन ॥ ७ ॥ स मया बहुशो भग्नः प्रभञ्जन् वै प्रभञ्जनः । तस्मान्न बिभ्ये देवर्षे क्रुद्धादपि समीरणात् ॥८॥

इस पृथिवी पर मैंने ऐसा कोई वृक्ष, पर्वत या घर नहीं देखा, कि-जिसको वायुने अपने बलसे तोड़ा न हो, यह मेरा निश्चय है ॥ ३ ॥ परन्तु हे सैमल ! कितने ही कारणोंसे तेरे परिवार-शाखा प्रशाखा और पत्तोंके सहित तेरी पवन रक्षा करता है, इसलिये ही तू खड़ा है या कोई दूसरा कारण है ? ॥ ४ ॥ शाल्मलिने कहा, कि-हे ब्रह्मन् ! वायु मेरा सखा नहीं है, बन्धु नहीं है, स्नेही नहीं है और परमेष्ठी (विधाता) भी नहीं है, कि-जिससे वह मेरी रक्षा करे ॥ ५ ॥ किंतु हे नारद ! मेरा तेज और बल वायुसे भयानक है, वायुदेव बलमें मेरे अठारहवें भागको भी नहीं पहुँचता ॥ ६ ॥ जब वायु क्रोधमें भरकर वृक्ष, पहाड़ और दूसरे पदार्थोंका नाश करता २ मेरे पास आता है तब मैं अपने बलसे उसको रोकदेता हूँ ॥७॥ दूसरी वस्तुओंको तोड़ डालने वाले वायुको मैंने बहुत वार रोक रक्खा है, हे देवर्षि ! वायु कोपमें भरजाय तो भी मैं उससे डरता नहीं हूँ ८

नारद उवाच । शाल्मले विपरीतं ते दर्शनं नात्र संशयः।
न हि वायोर्बले नास्ति भूतं तुल्यबलं क्वचित् ॥ ९ ॥
इन्द्रो यमो वैश्रवणो वरुणश्च जलेश्वरः । नैतेपि तुल्या
मरुतः किं पुनस्त्वं वनस्पते ॥ १० ॥ यच्च किञ्चिदिह
प्राणी चेष्टते शाल्मले भुवि । सर्वत्र भगवान् वायुश्चेष्टा-
प्राणकरः प्रभुः ॥ ११ ॥ एष चेष्टयते सम्यक् प्राणिनः
सम्यगायतः । असम्यगायतो भूयश्चेष्टते विकृतं नृपु १२
स त्वमेवंविधं वायुं सर्वसत्त्वभृताम्वरम् । न पूजयसि
पूज्यं त्वं किमन्यद् बुद्धिलाघवात् ॥ १३ ॥ असारश्चापि
दुर्मेधाः केवलं बहु भाषसे। क्रोधादिभिरवच्छन्नो मिथ्या

नारदने कहा, कि-हे सेमल ! इस विषयमें तेरा विचार ठीक नहीं है, यह निर्विवाद है, कि-इस जगत्में कहीं भी कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है,कि-जो वायुकी समान बलवान् हो ॥ ९ ॥ हे वनस्पति ! इन्द्र, यम, कुबेर तथा जलका स्वामी वरुण ये सब पवनकी समान बलवान् नहीं हैं तो तू एक वृक्ष तो हो ही कैसे सकता है ? १० हे शाल्मलि ! इस जगत्में सर्वत्र प्राणी जो प्राणधारण करके श्वास लेते हैं और जो २ कर्म करते हैं उस सबका कारण भगवान् वायु ही है ॥११॥ जब यह वायु अच्छे प्रकारसे चलता है तब सब प्राणी सुखी होते हैं और जब अत्यन्त विरुद्ध होकर चलता है तब सब मनुष्योंको सङ्कट होता है ॥ १२ ॥ सकल बलधारियोंमें श्रेष्ठ और पूजनीय वायुदेवको तू प्रणाम नहीं करता है, इसमें तेरी बुद्धिके हलकेपनके सिवाय और कुछ कारण नहीं है १३ तू साररहित और दुष्टबुद्धि है, बालकपनसे तू बिना समझे बहुत बकवाद कररहा है, तेरी बुद्धि क्रोधसे घिरीहुई

वदसि शाल्मले ॥ १४ ॥ मम रोषः समुत्पन्नस्त्वय्येवं संप्रभाषति । ब्रवीम्येष स्वयं वायोस्तव दुर्भाषितं बहु१५ चन्दनैः स्यन्दनैः शालैः सरलैर्देवदारुभिः । वेतसैर्धन्वनैश्चापि ये चान्ये बलवत्तराः ॥ १६ ॥ तैश्चापि नैवं दुर्बुद्धे क्षिप्तो वायुः कृतात्मभिः । तेपि जानन्ति वायोश्च बलमात्मन एव च ॥ १७ ॥ तस्मात्त्वं वै नमस्यन्ति श्वसनं तरुसत्तमाः । त्वन्तु मोहान्न जानीषे वायोर्बलमनन्तकम् १८ एवं तस्माद् गमिष्यामि सकाशं मातरिश्वनः१९

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि नारद-शाल्मलिसंवादे पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५५॥

भीष्म उवाच । एवमुक्त्वा तु राजेन्द्र शाल्मलिं ब्रह्म

है, इसलिये ही हे शाल्मलि ! तू मिथ्या बोलरहा है१४. तूने जो खोटी बातें कहीं इनसे मुझे क्रोध आरहा है. वायुका बड़ाभारी अपमान करनेवाली इस तेरी बातको मैं वायुसे कहूँगा ॥ १५ ॥ चन्दन, स्यन्दन (एक वृक्ष), साल, सरल, देवदारु, बेत, धामन तथा दूसरे जो तुझसे अधिक बलवान् वृक्ष हैं वे कृतकृत्य वृक्ष भी अरे दुर्बुद्धि सैमल ! वायुका तिरस्कार नहीं करते हैं, क्योंकि-वे अपने बलको और वायुके बलको जानते हैं ॥ १६-१७ ॥ और इसलिये ही वे उत्तम वृक्ष वायुको प्रणाम करते हैं, परन्तु तू मूर्खतासे वायुके महान् बलको नहीं जानता है।१८। ऐसी बात है, इसलिये (तू जो वायुका अपमान करता है) यह बात कहनेको मैं वायुके पास जाऊँगा ॥१९॥ एकसौ पचपनवाँ अध्याय समाप्त ॥ १५५ ॥ छ ॥

भीष्मजीने कहा, कि-हे राजेन्द्र ! ब्रह्मज्ञानियोंमें उत्तम नारदजी शाल्मलिसे ऐसा कहकर पवनके पास

वित्तमः । नारदः पवने सर्वं शाल्मलेर्वाक्यमब्रवीत् ॥१॥ नारद उवाच । हिमवत्पृष्ठजः कश्चिच्छाल्मलिः परिवारवान् । वृहन्मूलो वृहच्छायः स त्वां वायोऽवमन्यते २ बह्वयाक्षेपयुक्तानि त्वामाह वचनानि सः । न युक्तानि मया वायो तानि वक्तुं तवाग्रतः ॥३॥ जानामि त्वामहं वायो सर्वप्राणभृतांवरम् । वरिष्ठश्च गरिष्ठश्च क्रोधे वैवस्वतं यथा ॥ ४ ॥ भीष्म उवाच । एतत्तु वचनं श्रुत्वा नारदस्य समीरणः । शाल्मलिं तमुपागम्य क्रुद्धो वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥ वायुरुवाच । शाल्मले नारदोऽगच्छंस्त्वयोक्तो मद्विगर्हणम् । अहं वायुः प्रभावन्ते दर्शयाम्यात्मनो बलम् ॥६॥ अहं त्वामभिजानामि विदिताश्चासि

गए और उससे शाल्मलिकी सब बात कही ॥१॥ नारदने कहा, कि-हे वायु! हिमालय पर्वत पर अनेकों शाखा और पत्तोंवाला सेंमलका पेड़ है, उसकी जड़ पृथिवीमें बहुत गहरी है, और उसकी शाखायें बहुत फैलीहुई हैं, वह वृक्ष तेरो अपमान करता है।२॥उसने तेरे लिये बहुतसी आक्षेपकी बातें कही हैं, हे वायो! वे वचन मुझे तेरे सामने कहने उचित नहीं है३हे वायु मैं जानता हूँ. कि-तू सब प्राणियोंमें उत्तम है, और मैं यह भी जानता हूँ, कि-तू अत्यन्त श्रेष्ठ,गर्वीला और यमकी समान क्रोधी है ॥४॥ भीष्मने कहा, कि-हे युधिष्ठिर! पवन नारदकी बात सुनकर क्रोधमें भरगया, और शाल्मलिके पास जाकर कहनेलगा ॥ ५ ॥ वायु बोला, कि-अरे ओ शाल्मलि! नारद तेरे पासको जारहे थे, उस समय तूने उनके सामने मेरी निन्दा की थी क्या? तुझे मालूम हो, कि-मैं स्वयं वायुदेव हूँ, मैं तुझे अपना बल और प्रभाव

मे द्रुमाः । पितामहः प्रजासर्गे त्वयि विश्रान्तवान् प्रभुः ७
तस्य विश्रमणादेष प्रसादो मत्कृतस्तव । रक्ष्यसे तेन दुर्बुद्धे नात्मवीर्य्याद् द्रुमाधम ॥८॥ यन्मां त्वमवजानीषे यथान्यं प्राकृतं तथा । दर्शयाम्येष चात्मानं यथा मां नावमन्यसे ॥ ९ ॥ भीष्म उवाच । एवमुक्तस्ततः प्राह शाल्मलिः प्रहसन्निव । पवन त्वञ्च मे क्रुद्धो दर्शयात्मानमात्मना ॥ १० ॥ मयि वै त्यजतां क्रोधः किं मे क्रुद्धः करिष्यसि । न ते बिभेमि पवन यद्यपि त्वं स्वयंप्रभुः ११
बलाधिकोहं त्वत्तश्च न भीः कार्य्या मया तव । ये तु

दिखाऊँगा ॥ ६ ॥ अरे वृक्ष ! मैं तुझे अच्छे प्रकारसे जानता हूँ, मुझे मालूम है, कि-ब्रह्माने प्रजाकी उत्पत्ति करते समय तेरी छायामें विश्राम किया था ॥७॥ और तू उनके विश्राम करनेका स्थान था, इसलिये ही मैंने तेरे ऊपर कृपाभाव रक्खा था और इसलिये ही हे दुष्ट बुद्धिवाले अधम वृक्ष ! तू मेरे सपाटेमेंसे बचगया था, कुछ अपने पराक्रमसे नहीं बचा था ॥ ८ ॥ परन्तु जैसे कोई साधारण पुरुषका अपमान करता है तैसे ही तू मेरा अपमान करता है तो मैं तुझे अपना स्वरूप दिखाता हूँ, कि-जिससे तू मेरा अपमान न करे ॥ ९ ॥ भीष्मने कहा कि-पवनके ऐसा कहनेपर सैमलने हँसते २ कहा, कि-हे वायुदेव ! तू मेरे ऊपर कुपित हुआ है तो तू मुझे अपना स्वरूप दिखा ॥ १० ॥ तू मेरे ऊपर अपना क्रोध उतार, तू क्रोधकरके मेरा क्या करेगा ? हे पवनदेव ! यद्यपि तू शक्तिमान् है तो भी मैं तुझसे डरता नहीं हूँ ॥ ११ ॥ मैं तुझसे अधिक बलवान् हूँ, इसलिए मैं तुझसे डरने वाला नहीं हूँ, जो बुद्धिसे बलवान् होते हैं

बुध्या हि वलिनस्ते भवन्ति वलीयसः ॥१२॥ प्राणमात्र-
बला ये वै नैव ते बलिनो मताः । इत्येवमुक्तः पवनः स्व
इत्येनाब्रवीद्वचः ॥१३॥ दर्शयिष्यामि ते तेजस्ततो रात्रि-
रुपागमत् । अथ निश्चित्य मनसा शाल्मलिर्वातकारि-
तम् ॥ १४ ॥ पश्यमानस्तदात्मानमसमं मातरिश्वना ।
नारदे यन्मया प्रोक्तं वचनं प्रति,तन्मृषा ॥ १५ ॥ अस-
मर्थो ह्यहं वायोर्बलेन बलवान् हि सः । मारुतो बलवा-
न्नित्यं यथा वै नारदोऽब्रवीत् ॥ १६ ॥ अहन्तु दुर्बलो-
ऽन्येभ्यो वृक्षेभ्यो नात्र संशयः । किन्तु बुद्ध्या समो नास्ति
मया कश्चिद्वनस्पतिः ॥ १७ ॥ तदहं बुद्धिमास्थाय भयं
मोक्ष्ये समीरणात्।यदि तां बुद्धिमास्थाय तिष्ठेयुः पर्णिनो

वे ही बलवान् माने जाते हैं ॥ १२ ॥ परन्तु जो केवल
शरीरके बलसे बलवान् होते हैं वे बलवान् नहीं मानेजाते
इसप्रकार शाल्मलिके कहनेपर पवन बोला, कि मैं कल
तुझे अपना बल दिखाऊँगा, तदनन्तर रात बीतगई,
शाल्मलिने पवनके बलका अपने मनमें विचार करके निर्णय
किया, कि-मैं पवनकी समान बली नहीं हूँ और अपने
मनही मनमे कहनेलगा, कि-मैंने नारदजीसे पवनके
विषयमें जो कुछ कहा था वह मिथ्या था ॥ १३-१५ ॥
मैं बलमें वायुसे कमजोर हूँ और वह,निःसन्देह बलवान्
है, जैसा नारदजीने कहा था,निःसन्देह वायु नित्य बल-
वान् है ॥ १६ ॥ और मैं दूसरे वृक्षोंसे भी दुर्बल हूँ, इसमें
सन्देह नहीं है, परन्तु मैं दूसरे वृक्षोंकी अपेक्षा बुद्धिमान्
हूँ ॥ १७ ॥ इसलिए मैं अपनी बुद्धिका आश्रय लेकर वायुके
भयसे छूटूँगा, सब वृक्ष यदि उस बुद्धिसे काम लेकर
वर्त्ताव करें तो निःसन्देह कोपमें भराहुआ वायु उनको

वने॥१८॥अरिष्टाः स्युः सदा क्रुद्धात् पवनान्नात्र संशयः। ते तु बाला न जानन्ति यथा नैै तान् समीरणः। समीरयति संक्रुद्धो यथा जानाम्यहं तथा ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि पवन शाल्मलिसंवादे षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः १५६

भीष्म उवाच। ततो निश्चित्य मनसा शाल्मलिः क्षुभितस्तदा। शाखास्कन्धान् प्रशाखाश्च स्वयमेव व्यशातयत् ॥ १ ॥ स परित्यज्य शाखाश्च पत्राणि कुसुमानि च। प्रभाते वायुमायान्तं प्रत्यैक्षत वनस्पतिः ॥२॥ ततः क्रुद्धः श्वसन् वायुः पातयन् वै महाद्रुमान्। आजगामाथ तं देशमास्ते यत्र स शाल्मलिः ॥ ३ ॥ तं हीनपर्णं पतिताग्रशाखं विशीर्णपुष्पं प्रसमीक्ष्य वायुः।

जो दुःख देता है उससे बचजायँ, परन्तु और वृक्ष मेरी समान इस बातको जानते नहीं हैं,इसलिये ही जब पवन क्रोधमें भरता है तब उनको कम्पायमान करदेता है और चीर डालता है ॥ १८–१९ ॥ एक सौ छप्पनवाँ अध्याय समाप्त ॥ १५६ ॥ ❀ ॥ ❀ ॥

भीष्मने कहा, कि–हे युधिष्ठिर! क्षोभमें भरेहुए शाल्मलिने उस समय अपने मनमें ऐसा विचार किया, फिर स्वयं ही अपनी शाखा,प्रशाखा और मोटी२ डालियोंको काटकर ॥ १ ॥ उस शाल्मलिने रातमें ही शाखा पत्ते और फूलोंका त्याग करदिया; प्रातःकालके समय उसने पवनको अपने सामने आता देखा, उस समय वह अटल खड़ारहा ॥ २ ॥ पवन भी क्रोधमें भररहा था, वह साँय २ करता और बड़े २ वृक्षोंको तोड़ताहुआ जहाँ शाल्मलिका वृक्ष था उस स्थान पर आपहुँचा ।३।

उवाच वाक्यं स्मयमान एवं मुदायुतः शाल्मलिमुग्र-
शाखम् ॥ ४ ॥ वायुरुवाच । अहमप्येवमेव त्वां कुर्वाणः
शाल्मले रुषा । आत्मना यत् कृतं कृच्छ्रं शाखानामप-
कर्षणम् ॥५॥ हीनपुष्पाग्रशाखस्त्वं शीर्णाङ्कुरपलाशकः ।
आत्मदुर्मन्त्रितेनेह मद्वीर्यवशगः कृतः॥६॥भीष्म उवाच
एतच्छ्रुत्वा वचो वायोः शाल्मलिर्व्रीडितस्तदा । अतप्यत
वचः स्मृत्वा नारदो यत्तदाब्रवीत् ॥ ७ ॥ एवं हि राज-
शार्दूल दुर्बलः सन् बलीयसा । वैरमारभते बालस्तप्यते
शाल्मलिर्यथा ॥ ८ ॥ तस्माद्वैरं न कुर्वीत दुर्बलो बल-

परन्तु उसने देखा तो सैमलके पत्ते, आगे की शाखाएँ
और फूल आदि गिरगए हैं, पवन अचरजमें होगया और
हर्षमें भरकर उसने उग्र शाखाओंवाले शाल्मलिसे कहा४
वायु बोला, कि-हे सैमल ! मैं भी क्रोधके कारण तुझे
ऐसा ही करदेता, कि-जो दुःखदायक काम तूने स्वयं
अपनी शाखाओंको काटकर किया है ॥ ५ ॥ तू अपने
घमण्ड भरे विचारसे शाखा, स्कन्ध तथा पुष्पोंसे रहित
होगया है और तेरे अंकुर तथा पत्ते भी झड़गये हैं तथा
तू मेरे पराक्रमके वशमें होगया है॥ ६ ॥ भीष्मने कहा
कि-वायुकी इसबातको सुनकर सैमल शरमागया और
नारदने पहले जो बातें कही थीं उनको याद करके
संताप करने लगा ॥ ७ ॥ हे राजसिंह ! इसप्रकार
ही दुर्बल पुरुष बलवान्के साथ वैरभाव न करे
यदि बलवान्के साथ वैरभाव करता है तो उस मूर्ख
पुरुषको सैमलकी समान सन्ताप करना पड़ता है ॥८॥
इसलिये दुर्बल पुरुष बलवान् पुरुषोंके साथ वैर
भाव न करें और यदि कोई वैर करता है तो उसको

वत्सरैः। शोचेद्धि वैरं कुर्वाणो यथा वै शाल्मलिस्तथा ॥ ९ ॥ न हि वैरं महात्मानो विवृण्वंत्यपकारिषु। शनैः शनैर्महाराज दर्शयन्ति स्म ते बलम् ॥ १० ॥ वैरं न कुर्वीत नरो दुर्बुद्धिर्बुद्धिजीविना। बुद्धिर्बुद्धिमतो याति तृणेष्विव हुताशनः ॥ ११ ॥ न हि बुद्ध्या समं किञ्चिद्विद्यते पुरुषे नृप। तथा बलेन राजेन्द्र न समोस्तीह कश्चन ॥ १२ ॥ तस्मात् क्षमेत बालाय जडान्धबधिराय च। बलाधिकाय राजेन्द्र तद् दृष्टं त्वयि शत्रुहन् ॥ १३ ॥ अक्षौहिण्यो दशैका च सप्त चैव महाद्युते। बलेन न समा राजन्नर्जुनस्य महात्मनः ॥ १४ ॥ निहताश्चैव भग्नाश्च पाण्ड-

सैमलकी समान शोक ही करना पड़ता है ॥ ९ ॥ महात्मा पुरुष अपकार करनेवालेके साथ खुल्लमखुला वैर नहीं करते हैं, किन्तु हे महाराज! वे धीरे २ अपना बल दिखाते हैं ॥ १० ॥ बुद्धिहीन पुरुष बुद्धिमान्के साथ कभी वैरभाव न करे, क्योंकि—बुद्धिमान्की बुद्धि जैसे अग्नि तृणोंमें घुसजाता है तैसे ही प्रवेश करके उसका नाश करदेती है ॥ ११ ॥ हे राजन्! मनुष्यमें बुद्धिकी समान कोई वस्तु नहीं है तथा हे राजन्! इस लोकमें बलकी समान भी कुछ नहीं है ॥ १२ ॥ इसलिये बलवान् पुरुष बालकके ऊपर, मूर्खके ऊपर, अन्धेके ऊपर, बहरेके ऊपर और अपनेसे विशेष बलवान्के ऊपर, दया क्षमाभाव रखता है ऐसे ही क्षमा करनी चाहिये, हे शत्रुनाशन राजन्! ऐसा वर्त्ताव मैंने तुझमें देखा है। १३। हे महाकान्तिवाले राजन्! दुर्योधनके पक्षमें अठारह अक्षौहिणी सेना थी और तुम्हारे पक्षमें सात अक्षौहिणी थी, परन्तु वह अकेले महात्मा अर्जुनके बलकी समान

वेन यशस्विना। चरता बलमास्थाय पाकशासनिना मृधे ॥ १५ ॥ उक्ताश्चैते राजधर्मा आपद्धर्माश्च भारत। विस्तरेण महाराज किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि पवनशाल्मलिसंवादे सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥१५७॥

युधिष्ठिर उवाच। पापस्य यदधिष्ठानं यतः पापं प्रवर्त्तते। एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन भरतर्षभ ॥ १ ॥ भीष्म उवाच। पापस्य यदधिष्ठानं तच्छृणुष्व नराधिप। एको लोभो महाग्राहो लोभात् पापं प्रवर्त्तते ॥२॥ अतः पापमधर्म्मश्च तथा दुःखमनुत्तमम्। निकृत्या मूलमेतद्धि येन पापकृतो जनाः॥३॥ लोभात् क्रोधः प्रभवति लोभात्

नहीं थी ॥ १४ ॥ इसलिये यशस्वी पाण्डवेयकके शत्रुके पुत्र अर्जुनने अपने बलसे घूमकर शत्रुकी सेनाका नाश करडाला था तथा उसमें भागड़ डालदी थी ॥ १५ ॥ हे भरतवंशी महाराज ! मैंने तुझसे राजाके धर्म तथा आपत्कालके धर्म विस्तारके साथ कहे, अब तू और क्या सुनना चाहता है ? ॥ १६ ॥ एक सौ सत्तावनवाँ अध्याय समाप्त ॥ १५७ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे भरतवंशके श्रेष्ठ राजन् ! पाप कहाँ रहता है और उसकी उत्पत्ति किससे होती है यह बात मैं ठीक २ सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥ भीष्मने कहा, कि-हे राजन् ! सुनो-पापके रहनेका जो स्थान है वह मैं तुझे बताता हूँ, लोभ एक बड़ाभारी ग्राह है और लोभमेंसे पापकी उत्पत्ति होती है ॥२॥ पापका, अधर्मका, सबसे बडे दुःखका और कपटका मूल लोभ है तथा इसके कारणसे ही मनुष्य पापकर्म करते हैं ॥ ३ ॥ लोभमेंसे

कामः प्रवर्त्तते । लोभान्मोहश्च माया च मानस्तम्भः परासुता ॥ ४ ॥ अक्षमा ह्रीः परित्यागः श्रीनाशो धर्म्म-संक्षयः । अभिध्या प्रख्यता चैव सर्वं लोभात् प्रवर्त्तते ५ अत्यागश्चातितर्षश्च विकर्म्मसु च या क्रिया । कुलविद्यामदश्चैव रूपैश्वर्यमदस्तथा ॥ ६ ॥ सर्वभूतेष्वभिद्रोहः सर्वभूतेषु सत्कृतिः । सर्वभूतेष्वविश्वासः सर्वभूतेष्व-नार्ज्जवम् ॥ ७ ॥ हरणं परवित्तानां परदाराभिमर्षणम् । वाग्वेगो मनसो वेगो निन्दावेगस्तथैव च ॥ ८ ॥ उप-स्थोदरयोर्वेगो मृत्युवेगश्च दारुणः । ईर्षावेगश्च बलवान् मिथ्यावेगश्च दुर्ज्जयः ॥ ९ ॥ रसवेगश्च दुर्वार्यः श्रोत्र-

---

क्रोध उत्पन्न होता है, लोभसे काम प्रवृत्त होता है और लोभमेंसे ही मोह, माया, अभिमान, अनम्रपना और प्राणोंकी अधीनता होती है ॥ ४ ॥ क्षमा शत्रुता करनेका स्वभाव, निर्लज्जता, लक्ष्मीका क्षय, चिन्ता और अप-यश ये सब भी लोभमेंसे ही उत्पन्न होते हैं ॥ ५ ॥ कृपणता, अतितृष्णा, खोटे कर्म करनेकी इच्छा, कुलमद विद्यामद, रूपमद, ऐश्वर्यमद ॥ ६ ॥ सब प्राणियोंके ऊपर निर्दयीपन, सब प्राणियोंका तिरस्कार, सब प्राणियों का अविश्वास, सब प्राणियोंके सामने इक्कड़ (हेकड़) बनकर रहना ॥ ७ ॥ पराये धनको चुरालेना, परस्त्रीके शीलको नष्टकरना, वाणीसे चाहे सो बकना, मनका वेग, निन्दाका वेग ॥ ८ ॥ उपस्थका वेग (अधिक कामासक्ति), उदरका वेग (बहुत अधिक भोजन करना), मृत्युका दारुण वेग; (जवानीमें मर-जाना), ईर्षाका बलवान् वेग, दुर्जय मिथ्याभाषणका वेग ॥ ९ ॥ अनिवार्य रसका वेग, दुःसह कानका वेग

वेगश्च दुःसह । कुत्सा विकत्था मात्सर्यं पापं दुष्कर-
कारिता ॥ १० ॥ साहसानां च सर्वेषामकार्याणां क्रिया
स्तथा । जातौ बाल्ये च कौमारे यौवने चापि मानवाः ११
न सन्त्यजन्त्यात्मकर्म यो न जीर्य्यति जीर्यति । यो न
पूरयितुं शक्यो लोभः प्राप्त्या कुरूद्वह॥१२॥नित्यं गंभीर-
तोयाभिरापगाभिरिवोदधिः।न प्रहृष्यति यो लाभैः कामै-
र्यश्च न तृप्यति ॥ १३ ॥ यो न देवैर्न गन्धर्वैर्नासुरैर्न
महोरगैः । ज्ञायते नृप तत्त्वेन सर्वैर्भूतगणैस्तथा ॥ १४ ॥
स लोभः सह मोहेन विजेतव्यो जितात्मना । दंभो

(खराब बातें सुननेकी इच्छा), निन्दा आत्मप्रशंसा;
मत्सरता, वैरभाव, खोटे काम करनेकी इच्छा ॥ १० ॥
सब प्रकारके साहस तथा न करने योग्य काम करना
ये सब बातें लोभमेंसे उत्पन्न होती हैं, जन्मकालमें,
बालकपनमें, कुमार अवस्थामें और जवानीमें मनुष्य
अपने लोभको त्याग नहीं सकते, पुरुष बूढ़ा होजाता
है परन्तु लोभ बूढ़ा नहीं होता और हे कुरुवंशी ! गहरे
जलसे भरी हुई नदियोंका जल समुद्रमें जाकर मिल
जाता है परन्तु जैसे उस जलसे समुद्र तृप्त नहीं होता
है, ऐसे ही चाहे जितना धनका लाभ हो जाने पर भी
लोभ तृप्त नहीं होसकता ॥ ११-१२ ॥ लोभी मनुष्य
चाहे कितना ही लाभ होजाय उसको संतोष नहीं होता,
लोभी मनुष्य कामनासे तृप्त नहीं होता, हे राजन्! लोभ
कैसा है, उसके स्वरूपको देवता, गंधर्व, असुर, महासर्प
तथा सकल भूत भी ठीक २ नहीं जानते ॥ १३-१४ ॥
ऐसे लोभको मोहके सहित, मनको वशमें रखनेवाले
पुरुषको जीतलेना चाहिये, हे कुरुवंशी राजन् ! दम्भ,

द्रोहश्च निन्दा च पैशुन्यं मत्सरस्तथा ॥ १५ ॥ भवं-
त्येतानि कौरव्य लुब्धानामकृतात्मनाम् । सुमहांत्यपि
शास्त्राणि धारयन्ति बहुश्रुताः ॥ १६ ॥ छेत्तारः संश-
यानां च क्लिश्यंतीहाल्पबुद्धयः । द्वेषक्रोधप्रसक्ताश्च
शिष्टाचारबहिष्कृताः ॥ १७ ॥ अन्तःक्रूरा वाङ्मधुराः
कूपाश्छन्नास्तृणैरिव । धर्मवैतंसिकाः क्षुद्रा मुष्णंति
ध्वजिनो जगत् ॥ १८ ॥ कुर्वते च बहून्मार्गांस्तान् हेतु-
बलाश्रिताः । सतां मार्गान् विलुंपति लोभज्ञानेष्व-
वस्थिताः ॥ १९ ॥ धर्मस्य ह्रियमाणस्य लोभग्रस्तैर्दुरा-

द्रोह, निन्दा, हठीलापन और मत्सरता इतनी वस्तुएँ मनको वशमें न रखनेवाले लोभी पुरुषोंमें रहती हैं १५ पुरुष बड़े २ शास्त्रोंको पढे हों, बहुत कुछ सुन चुके हों और पुरुषोंके सन्देहोंका समाधान करनेवाले हों तो भी लोभरूप दुर्गुण होनेके कारण इस लोकमें दुःख पाते हैं १६ लोभी पुरुष द्वेष और क्रोधमें डूबेहुए होते हैं, अच्छे पुरुषोंके आचारसे भ्रष्ट होते हैं, हृदयके क्रूर परन्तु बातों में बड़े मीठे होते हैं, ऐसे लोभी घाससे ढकेहुए कुएकी समान होते हैं ॥ १७ ॥ वे धर्मके वेशमें रहकर दूसरेकी हिंसा करनेवाले, धर्मका ढोंग बनानेवाले, क्षुद्र और धर्मके नामसे दूसरोंको धोखा देनेवाले होते हैं ॥ १८ ॥ युक्तियोंके बलसे (अर्थात् शास्त्रके वचनोंका मिथ्या-बनवटी अर्थ करके) अनेकों मार्ग खड़े करदेते हैं और लोभके वशमें होकर सत्पुरुषोंके स्थापन कियेहुए धर्म मार्गोंका नाश करते हैं ॥ १९ ॥ लोभसे भरेहुए दुष्टात्मा पुरुष धर्मका नाश करडालते हैं, इसलिये संसारकी व्यवस्थामें उलट फेर पडजाता है और लोग भी अधर्मा-

त्सभिः । या या विक्रियते संस्था ततः सापि प्रपद्यते २०
दर्पः क्रोधो मदः स्वप्नो हर्षः शोकोतिमानिता । एत एव हि
कौरव्य दृश्यंते लुब्धबुद्धिषु ॥ २१ ॥ एतानशिष्टान्बु-
ध्यस्व नित्यं लोभसमन्वितान् । शिष्टांस्तु परिपृच्छेथा
यान्वक्ष्यामि शुचिव्रतान् ॥ २२ ॥ येष्वावृत्तिभयं नास्ति
परलोकभयं न च । नामिषेषु प्रसंगोस्ति न प्रियेष्व-
प्रियेषु च ॥ २३ ॥ शिष्टाचारः प्रियो येषु दमो येषु प्रति-
ष्ठितः । सुखं दुःखं समं येषां सत्यं येषां परायणम् २४
दातारो न ग्रहीतारो दयावंतस्तथैव च । पितृदेवा-
तिथेयाश्च नित्योद्युक्तास्तथैव च ॥ २५ ॥ सर्वोपकारिणो

चरण करने लगते हैं(अर्थात् लोभियोंके वर्त्तावका असर जगत्के ऊपर भी पड़ता है) ॥ २० ॥ हे कुरुवंशी राजा युधिष्ठिर ! दर्प, क्रोध, मद, स्वप्न, हर्ष, शोक, अतिअभिमान ये सब बातें लोभी पुरुषोंमें देखनेमें आती हैं २१ जो पुरुष नित्य लोभी हों उनको अशिष्ट (खोटे) जानना अब पवित्र आचरण करनेवाले शिष्ट पुरुष कैसे होते हैं यह तुझे बता हूँ, उनसे तू अपने मनके सन्देह बूझना जिनका सङ्ग करनेसे फिर जन्म होनेका भय नहीं रहता है, परलोकका भय नहीं रहता है जो मांसभक्षी नहीं होते, जो प्रिय और अप्रियको समान मानते हैं ॥ २३ ॥ जिनको शिष्टोंका ही आचरण प्यारा होता है, जो इन्द्रियोंको वशमें रखते हैं, जो सुख और दुःखको समान गिनते हैं, जो सत्यमें परायण रहते हैं ॥२४॥ जो दान देकर प्रसन्न होते हैं,जो किसी का प्रतिग्रह नहीं करते, जो दयालु होते हैं,पितर, देवता और अतिथियोंका सत्कार करते हैं और सदा दूसरोंका

वीराः सर्वधर्मानुपालकाः। सर्वभूतहिताश्चैव सर्वदेयाश्च भारत ॥२६॥ न ते चालयितुं शक्या धर्मव्यापारकारिणः। न तेषां भिद्यते वृत्तं यत्पुरा साधुभिः कृतम्॥२७॥ न त्रासिनो न चपला न रौद्राः सत्पथे स्थिताः। ते सेव्याः साधुभिर्नित्यं येष्वहिंसा प्रतिष्ठिता ॥ २८ ॥ कामक्रोधव्यपेता ये निर्ममा निरहंकृताः सुव्रताः। स्थिरमर्यादास्तानुपास्व च पृच्छ च ॥ २९ ॥ न धनार्थं यशोर्थं वा धर्म-

कल्याण करनेका उद्योग किया करते हैं॥२५॥जो सबके ऊपर उपकार करते हैं, जिनके मनका बल वीर पुरुषोंके सा होता है, पूर्ण धर्मका पालन करते हैं, सब प्राणियों का हित करते हैं और हे भरतवंशी राजन्! जो माँगने पर सब कुछ (दूसरोंके कल्याणके लिये प्राणतक) देदेते हैं॥ २६ ॥ जो सत्पुरुष होते हैं उनको कोई भी प्राणी पदार्थ-चलायमान नहींकरसकता,उनका चरित्र आदर्श रूप धर्मभावसे भराहुआ होता है और वे पहले साधु पुरुषोंके कियेहुए आचरणका लोप नहीं करते हैं ॥२७॥ वे किसीको त्रास नहीं देते हैं, चपल बुद्धिके नहीं होते हैं, भयानक नहीं होते हैं, सन्मार्गपर डटे रहते हैं और अहिंसक स्वभावके होते हैं, ऐसे सत्पुरुषोंका सज्जनोंको सदा सेवन करना चाहिये॥ २८ ॥ सत्पुरुष काम तथा क्रोधसे रहित होते हैं जगत्के किसी भी प्राणी-पदार्थके ऊपर ममता नहीं रखते अहङ्काररहित, अच्छे आचरण वाले और स्थिर मर्यादाके होते हैं,ऐसे पुरुषोंकी तू सेवा करना और यदि कुछ सन्देह हो तो ऐसे पुरुषोंसे ही बूझना॥ २९ ॥ हे राजा युधिष्ठिर! सत्पुरुष धनके लिये अथवा यशके लिये धर्मका आचरण या सदाचारका

स्तेषां युधिष्ठिर । अवश्यं कार्य इत्येव शरीरस्य क्रिया-स्तथा ॥ ३० ॥ न भयं क्रोधचापल्ये न शोकस्तेषु विद्यते न धर्मध्वजिनश्चैव न गुह्यं कंचिदास्थिता ॥ ३१ ॥ येष्व लोभस्तथा मोहो ये च सत्यार्जवे स्थिताः । तेषु कौंतेय रज्येथा येषां न भ्रश्यते पुनः ॥ ३२ ॥ ये न हृष्यंति ला-भेषु नालाभेषु व्यथंति च । निर्ममा निरहंकाराः सत्व-स्थाः समदर्शिनः ॥३३॥ लाभालाभौ सुखदुःखे च तात प्रियाप्रिये मरणं जीवितं च। समानि येषां स्थिरविक्रमाणां

पालन नहीं करते हैं, किन्तु जैसे शरीरकी रक्षाके लिए भोजन आदि क्रिया अवश्य करनी चाहिये, ऐसे ही धर्म भी कर्त्तव्य समझकर अवश्य करना चाहिये ऐसा जानते हैं ॥ ३० ॥ ऐसे महात्मा पुरुषोंमें भय, क्रोध, मनकी चपलता या शोक नहीं होता है, वे ढोंगके लिए धर्मका स्वाँग धारण नहीं करते हैं, कि-जिससे दूसरे धोखा खायँ तथा कुछ उनका छुपाहुआ प्रयोजन भी नहीं होता है और वे पाखण्डी धर्मका आश्रय भी नहीं लेते हैं ॥ ३१ ॥ वे सदा सन्तोषी लोभ या मोहसे निर्णयमें भूल न करनेवाले, सत्यवादी और साफ होते हैं, उनका हृदय सदा धर्मशील होता है, आचारसे भ्रष्ट नहीं होता है, हे कुन्तीनन्दन ! ऐसे सत्पुरुषोंके ऊपर तू प्रीति कर ॥ ३२ ॥ वे लाभ होनेसे हर्ष नहीं मनाते और हानि होनेसे खेद नहीं करते, ममता तथा अहङ्कारसे शून्य होते हैं सत्वगुणमें स्थित रहते हैं और सर्वत्र सम दृष्टि रखते हैं ॥ ३३ ॥ और हे तात ! लाभ या हानि सुख या दुःख, प्रिय वा अप्रिय, मरण या जीवन यह सब उनको समान होता है, वे दृढ़पराक्रमी, श्रेयको

बुभुत्सतां सत्त्वपथे स्थितानाम् ॥३४॥ धर्मप्रियांस्तान्सुमहानुभावान् दान्तो प्रमत्तश्च समर्च्चयेथाः । दैवात् सर्वे गुणवन्तो भवन्ति शुभाशुभे वाक्प्रलापास्तथान्ये ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥१५८॥

युधिष्ठिर उवाच । अनर्थानामधिष्ठानमुक्तो लोभः पितामह । अज्ञानमपि वै तात श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥१ भीष्म उवाच । करोति पापं यो ज्ञानान्नात्मनो वेत्ति च क्षयम् । प्रद्वेष्टि साधुवृत्तांश्च स लोकस्यैति वाच्यताम्॥२ अज्ञानान्निरयं याति तथाज्ञानेन दुर्गतिम् । अज्ञानात्

पानेके अभिलाषी, सत्त्वगुणी मार्गमें निवास करनेवाले और धर्मके ऊपर प्रीति रखनेवाले होते हैं ॥ ३४ ॥ ऐसे महानुभाव पुरुषोंकी तू जितेन्द्रिय और सावधान होकर सेवा करना; हे भद्र ! दैवयोगसे समझदार मनुष्यको कहेहुए सब वचन गुणकारक होते हैं और मूढको कहेहुए वचन अशुभकारक होजाते हैं अर्थात् समझदार मनुष्य कहेहुए वचनोंको ढंगसे काममें लाता है और मूर्खका तो सुनना न सुनना एकसा ही है ॥३५॥ एक सौ अट्ठावनवाँ अध्याय समाप्त ॥ १५८ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे भीष्मपितामह ! अनर्थोंका कारण लोभ है, यह बात आपने कही, हे तात ! अब मैं अज्ञानका असल स्वरूप सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥ भीष्मजीने कहा, कि-जो पुरुष अज्ञानसे पापकर्म करता है और जो अपना भी नाश होना है इस बातको नहीं जानता तथा जो सदाचारी उत्तम पुरुषोंसे द्वेष करता है वह पुरुष इस जगत्में तिरस्कारका पात्र होता है २

क्लेशमाप्नोति तथापत्सु निमज्जति ॥ ३ ॥ युधिष्ठिर उवाच । अज्ञानस्य प्रवृत्तिञ्च स्थानं वृद्धिं क्षयोदयौ । मूलं योगं गतिं कालं कारणं हेतुमेव च ॥ ४ ॥ श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन यथावदिह पार्थिव । अज्ञानप्रसवं हीदं यद् दुःखमुपलभ्यते ॥ ५ ॥ भीष्म उवाच । रागो द्वेषस्तथा मोहो हर्षः शोकोऽभिमानिता । कामः क्रोधश्च दर्पश्च तन्द्रा चालस्यमेव च ॥ ६ ॥ इच्छा द्वेषस्तथा तापः परवृद्ध्युपतापिता । अज्ञानमेतन्निर्दिष्टं पापानाञ्चैव याः क्रियाः ॥७॥ एतस्य वा प्रवृत्तेश्च वृद्ध्यादीन्नाञ्च पृच्छसि विस्तरेण महाराज शृणु तच्च विशेषतः ॥ ८ ॥ उभावेतौ समफलौ समदोषौ च भारत । अज्ञानं चाति-

---

हरएक पुरुष अज्ञानसे नरकमें पड़ता है, अज्ञानने मनुष्योंकी दुर्गति की है, अज्ञानसे क्लेश होता है तथा अज्ञानसे मनुष्य आपत्तिमें डूबजाता है ॥ ३ ॥ युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे पितामह ! अज्ञानकी उत्पत्ति,स्थान वृद्धि, क्षय, उदय, मूल, योग; गति, काल, कारण और हेतु इतनी वस्तुओंको मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ, क्योंकि-मनुष्यको जो दुःख होता है वह अज्ञानसे ही उत्पन्न होता है ॥ ४ ॥ ५ ॥ भीष्मने कहा, कि-राग, द्वेष, मोह, हर्ष, शोक, अभिमानीपना, काम, क्रोध,दर्प, तन्द्रा और आलसीपना ॥ ६ ॥ इच्छा, द्वेष, सन्ताप और दूसरेकी उन्नतिको देखकर जलना तथा पापकर्म करनेकी सब क्रिया इन सब बातोंको अज्ञान कहा है ७ हे महाराज ! इन सबकी उत्पत्ति तथा वृद्धि आदिको तुम मुझसे विस्तारके साथ बूझते हो तो तुम मुझसे विशेषरूपसे सुनो ॥ ८ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! अज्ञान

लोभञ्चाप्येकं जानीहि पार्थिव ॥ ९ ॥ लोभप्रभवमज्ञानं वृद्धं भूयः प्रवर्द्धते । स्थाने स्थाने भवेत्क्षीणमुपैति विविधां गतिम् ॥ १० ॥ मूलं लोभस्य मोहो वै कालात्मगतिरेव च । छिन्ने भिन्ने तथा लोभे कारणं काल एव च ॥ ११ ॥ तस्याज्ञानाद्धि लोभो हि लोभादज्ञानमेव च । सर्वदोषास्तथा लोभात्तस्माल्लोभं विवर्जयेत् १२ जनको युवनाश्वश्च वृषादर्भिः प्रसेनजित् । लोभक्षया-

और लोभ ये दोनों एक समान फल देनेवाले और समान दोषसे भरेहुए हैं, इसलिये हे राजन् ! तुम अज्ञान और लोभको एक ही जानो ॥ ९ ॥ अज्ञान लोभमेंसे उत्पन्न होता है, लोभके बढते ही अज्ञान भी बढजाता है, जहाँ लोभ होता है तहाँ अज्ञान भी होता है, लोभका क्षय हुआ, कि-अज्ञानका भी क्षय होजाता है और लोभका उदय होते ही अज्ञानका भी उदय होजाता है, इसप्रकार लोभ अज्ञानके कारणसे अनेकों प्रकारकी गति (दुःख, सन्ताप, मोह आदि) पाता है ॥ १० ॥ लोभका मूल मोह (कार्य अकार्यके यथार्थ-स्वरूपको न जानना) है वह समय (स्वर्ग, नरक, देव, मनुष्य, पशु तथा पक्षीकी योनिमें) गति-जन्म देता है, जब इच्छित वस्तु नहीं मिलती है, किन्तु उसमें विघ्न पड़ता है तब मोह होता है, विघ्न आदिका हेतु समयको जानो और मोहको कार्य जानो ११ अज्ञानसे लोभ और लोभसे अज्ञान, इसप्रकार एक दूसरेसे उत्पन्न होते हैं, इसप्रकार सब दोष लोभमेंसे उत्पन्न होजाते हैं, इसलिये लोभका त्याग करना चाहिये ॥ १२ ॥ जनक, युवनाश्व, वृषादर्भि, प्रसेनजित् तथा दूसरे राजे लोभका नाश होजाने परही

दिवं प्राप्तास्तथैवान्ये नराधिपाः ॥ १३ ॥ प्रत्यक्षं तु कुरुश्रेष्ठ त्यज लोभमिहात्मना । त्यक्त्वा लोभं सुखं लोके प्रेत्य चानुचरिष्यसि ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि अज्ञानमाहात्म्ये एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १५९॥

युधिष्ठिर उवाच । स्वाध्याये कृतयत्नस्य नरस्य च पितामह । धर्मकामस्य धर्मात्मन् किंनु श्रेय इहोच्यते? बहुधा दर्शने लोके श्रेयो यदिह मन्यसे । अस्मिंल्लोके परे चैव तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥ महानयं धर्मपथो बहुशाखश्च भारत । किंस्विदेवेह धर्माणामनुष्ठेयतमं मतम् ॥ ३ ॥ धर्मस्य महतो राजन् बहुशाखस्य तत्त्वतः । यन्मूलं परमं तात तत्सर्वं ब्रूह्यशेषतः॥४॥भीष्म उवाच।

स्वर्गमें गए थे ॥ १३ ॥ हे कुरुसत्तम ! तू प्रत्यक्षरीतिसे स्वयं ही लोभको त्यागदे, जगत्में लोभको त्यागकर सुख भोग और मरणके बाद स्वर्गमें विहार कर ॥१४॥ एकसौ उनसठवाँ अध्याय समाप्त ॥ १५९ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे पितामह ! अपना स्वाध्याय करनेके लिये उद्योग करनेवाले और धर्मकी कामनावाले पुरुषका इस लोकमें क्या श्रेय कहलाता है ? ॥ १ ॥ हे पितामह ! शास्त्रमें बहुत प्रकारके श्रेय कहे हैं, इस लिये इस लोकमें तथा परलोकमें आप जिसको श्रेय (कल्याणकारी) मानते हो उस श्रेयको मुझसे कहिये २ हे भारत ! यह धर्मका मार्ग बड़ा है और इसकी बहुत सी शाखा हैं, इन धर्मोंमेंसे कौनसा धर्म अवश्य पालने योग्य माना गया है ? ॥ ३ ॥ हे राजन् ! हे तात ! बहुत सी शाखाओंवाले और बड़े धर्मकी जो मूल वह सब

हन्त ते कथयिष्यामि येन श्रेयो ह्यवाप्स्यसि । पीत्वा-
मृतमिव प्राज्ञो ज्ञानतृप्तो भविष्यसि ॥ ५ ॥ धर्मस्य
विधयो नैके ये वै प्रोक्ता महर्षिभिः । स्वं स्वं विज्ञान-
माश्रित्य दमस्तेषां परायणम् ॥ ६ ॥ दमं निःश्रेयसे प्राहु-
र्वृद्धा निश्चयदर्शिनः । ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः
सनातनः ॥ ७ ॥ दमात्तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपलभ्यते।
दमो दानं तथा यज्ञानधीतं चातिवर्त्तते ॥ ८ ॥ दमस्तेजो
वर्द्धयति पवित्रश्च दमः परम् । विपाप्मा तेजसा युक्तः
पुरुषो विन्दते महत् ॥ ९ ॥ दमेन सदृशं धर्मं नान्यं
लोकेषु शुश्रुम । दमो हि परमो लोके प्रशस्तः सर्वधर्मि-

पूर्ण रीतिसे मुझे बताइये ॥ ४ ॥ भीष्मने कहा, कि—
हे युधिष्ठिर ! जिसको करनेसे तेरा श्रेय होगा वह मैं
तुझसे कहूँगा, जैसे अमृतको पीनेसे बुद्धिमान् मनुष्य
तृप्त होजाता है तैसे ही बुद्धिमान् तू भी उस ज्ञानसे
तृप्त होजायगा ॥ ५ ॥ जिसको महर्षियोंने अपने २
ज्ञानके अनुसार शास्त्रमें कहा है उस धर्मकी अनेकों
विधि हैं, उन सबोंमें दम मुख्य है ॥ ६ ॥ धर्मका निर्णय
करनेवाले वृद्ध पुरुष दमको परमश्रेय कहते हैं, उसमें
भी ब्राह्मणका तो विशेषकर दम ही श्रेय करनेवाला है,
क्योंकि-वह सनातनधर्म कहलाता है ॥ ७ ॥ दमसे
ब्राह्मणकी सब क्रियाएँ ठीक २ सिद्ध होती हैं और दम
दानसे यज्ञसे तथा वेदके अध्ययनसे भी उत्तम गिना
जाता है ॥ ८ ॥ दम तेजको बढाता है, दम परमपवित्र
है, दमसे पापरहित हुआ तेजस्वी पुरुष महान् (ब्रह्म)
को पाता है ॥ ९ ॥ लोकोंमें दमकी समान और किसी
धर्मको नहीं सुना है, सब धर्मात्मा पुरुषोंमें दम उत्तम

णाम् ॥१०॥ प्रेत्य चात्र मनुष्येन्द्र परमं विन्दते सुखम् । दमेन हि समायुक्तो महान्तं धर्ममश्नुते ॥ ११ ॥ सुखं दान्तः प्रस्वपिति सुखञ्च प्रतिबुध्यते । सुखं पर्येति लोकांश्च मनश्चास्य प्रसीदति ॥ १२ ॥ अदान्तः पुरुषः क्लेशमभीक्ष्णं प्रतिपद्यते । अनर्थांश्च बहूनन्यान् प्रसृजत्यात्मदोषजान् ॥१३॥ आश्रमेषु चतुर्ष्वाहुर्दममेवोत्तमं व्रतम् । तस्य लिङ्गानि वक्ष्यामि येषां समुदयो दमः ॥ १४ ॥ क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् । इन्द्रियाभिजयो दाक्ष्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ १५ ॥ अकार्पण्यमसंरम्भः सन्तोषः प्रियवादिता । अविहिंसानसूया चाप्येषां समुदयो दमः ॥ १६ ॥ गुरुपूजा च कौरव्य

और प्रशंसाके योग्य मानाजाता है ॥ १० ॥ हे राजन् ! दमको धारण करनेवाला पुरुष इस लोकमें तथा परलोक में परमसुख पाता है तथा दमधारी मनुष्य महान् धर्म को पाता है११दमवाला पुरुष सुखसे सोता है और सुख से जागता है, अनेकों लोकोंमें सुखसे फिरता है और उसका मन भी सदा प्रसन्न रहता है ॥ १२ ॥ परन्तु जो पुरुष दमरहित होता है वह बरावर क्लेश भोगा करता है और अपने अपराधसे दूसरे भी बहुतसे अनर्थों को उत्पन्न करता है ॥ १३ ॥ ऐसा कहा है, कि-चारों आश्रमोंमें भी दम ही उत्तमव्रत है अब जिन मनुष्यों में दम होता है उनके लक्षणोंको कहूँगा ॥ १४ ॥ क्षमा, धीरता, अहिंसा, समता, सत्य, सरलता, इन्द्रियोंका विजय, चतुरता, कोमलता, लज्जा, चपलताका न होना उदारता, शान्ति, सन्तोष, प्रियवादीपना, परोपकारीपन और दूसरोंके गुणोंमें दोष न निकालना, इन सबका

दया भूतेषु पशुनम्। जनवादं मृषावादं स्तुतिनिन्दाविवर्जनम् ॥ १७ ॥ कामं क्रोधञ्च लोभञ्च दर्पं स्तम्भं विकत्थनम्। रोषमीर्षावमानञ्च नैव दान्तो निषेवते १८ अनिन्दितो ह्यकामात्मा नाल्पेष्वर्थ्यनसूयकः। समुद्रकल्पः स नरो न कथञ्चन पूर्यते ॥ १९ ॥ अहं त्वयि मम त्वञ्च मयि तेषु तथाप्यहम्। पूर्वसम्बन्धिसंयोगं नैतद्दान्तो निषेवते ॥ २० ॥ सर्वा ग्राम्यास्तथारण्या याश्च लोके प्रवृत्तयः। निन्दां चैव प्रशंसाञ्च यो नाश्रयति

जहाँ वास होता है तहाँ दमका उदय होता है १५-१६ हे कुरुवंशी! दमधारी पुरुष गुरुकी पूजा करता है, प्राणियोंके ऊपर दया रखता है, चुगलखोरपना, लोगों का चकरवा करना, मिथ्याभाषण, स्तुति और निन्दा इन सबको दमधारी पुरुष त्यागदेता है ॥ १७ ॥ काम, क्रोध, लोभ, दर्प, स्तम्भ (अक्खड़पना), ज्यादा बकना राग, ईर्षा और अपमान-इन बातोंका इन्द्रियोंका दमन करनेवाला पुरुष सेवन नहीं करता है ॥ १८ ॥ दमशील पुरुष निन्दाका पात्र नहीं होता है, कामनारहित होता है, वह नाशवान् वस्तुओंकी इच्छा ही नहीं करता है, किसीसे ईर्षा नहीं करता है, जैसे समुद्र किसी वस्तुसे पूर्ण नहीं होता है और किसी वस्तुसे अर्थात् ब्रह्मलोक के लाभसे भी सन्तुष्ट नहीं होता है तात्पर्य यह है कि उसको कोई कामना ही नहीं होती, कि जिसके पूरी होने पर सन्तोष हो ॥ १९ ॥ मैं तेरा हूँ, तू मेरा है, मुझमें वह है और उसमें मैं हूँ, ऐसे पहले सब संबन्ध का दमधारी पुरुष सेवन नहीं करता है ॥२०॥ जो पुरुष इस लोकमें सब ग्राम्य अर्थात् नगर और ग्रामकी प्रवृत्ति-

मुच्यते ॥ २१ ॥ मैत्रोथ शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्मात्म-
विच्च यः । मुक्तस्य विविधैः संगैस्तस्य प्रेत्य फलं महत् २२
सुवृत्तः शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्मात्मविद् बुधः । प्राप्येह
लोके सत्कारं सुगतिं प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥ कर्म यच्छुभ-
मेवेह सद्भिराचरितं च यत् । तदेव ज्ञानयुक्तस्य मुनेर्व-
र्त्म न हीयते ॥ २४ ॥ निष्क्रम्य वनमास्थाय ज्ञानयुक्तो
जितेन्द्रियः । कालाकांक्षी चरत्येवं ब्रह्मभूयाय कल्पते २५
अभयं यस्य भूतेभ्यो भूतानामभयं यतः । तस्य देहा-

योंको और वनकी प्रवृत्तियोंको त्यागदेता है तथा जो किसीकी निन्दा या प्रशंसा नहीं करता है वह पुरुष मुक्ति पाता है ॥ २१ ॥ जो पुरुष प्राणीमात्रमें मित्रताका भाव रखता है, सद्गुणी होता है, मनको प्रसन्न रखता है और जो आत्माके स्वरूपको जानता है तथा जो संसार के अनेकों संगोंसे मुक्त रहता है उसको परलोकमें महान् सुख मिलता है ॥२२॥ जो सदाचारवान् और कर्त्तव्य-परायण होता है, मन प्रसन्न रखता है और आत्मा के स्वरूपको जानता है वह पण्डित पुरुष इस लोकमें सत्कार पाकर परलोकमें सद्गति पाता है ॥ २३ ॥ इस लोकमें जो २ शुभकर्म हों, जो २ कर्म सत्पुरुष करते हों वही ज्ञानी मुनिका मार्ग कहलाता है और उस मार्गमें चलनेवाला पुरुष कभी धर्मसे भ्रष्ट नहीं होता है॥२४॥ ऐसा ज्ञानी और जितेन्द्रिय पुरुष घरमेंसे निकलकर वनमें जाता है और वहाँ मरणके समयकी बाट देखताहुआ वनमें विहार करता है वह पुरुष मरणके बाद ब्रह्मस्वरूपको पाता है ॥ २५ ॥ जिसको प्राणियों से अभय होता है और जिससे प्राणियोंको अभय

द्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ २६ ॥ अवाचिनोति
कर्माणि न च सम्प्रचिनोति ह । समः सर्वेषु भूतेषु मैत्रा-
यणगतिश्चरेत् ॥ २७ ॥ शकुनीनामिवाभिवाकाशे जले
वारिचरस्य च । यथा गतिर्न दृश्येत तथा तस्य न संशयः ॥२८
गृहानुत्सृज्य यो राजन् मोक्षमेवाभिपद्यते । लोकास्ते-
जोमयास्तस्य कल्पन्ते शाश्वतीः समाः ॥ २९ ॥ संन्यस्य
सर्वकर्माणि संन्यस्य विधिवत्तपः । संन्यस्य विविधा
विद्या सर्वं संन्यस्य चैव ह ॥ ३० ॥ कामे शुचिरनावृत्तः
प्रसन्नात्मात्मवित्शुचिः । प्राप्येह लोके सत्कारं स्वर्गं

होता है ऐसे देशसे मुक्त हुए पुरुषोंको कहीं भी भय नहीं व्यापता है ॥२६॥ इसलिये पुरुष कर्मोंका अत्यन्त उपभोग करके उनका नाश करदेय, परन्तु कर्म करके उनका संग्रह न करे, सब प्राणियोंमें ब्रह्मकी भावना करे और सब प्राणियोंको अभयदान देय अर्थात् संन्यास ग्रहण करे२७जैसे आकाशमें उड़नेवाले और जैसे जलमें फिरनेवाले जलचरोंकी गति देखनेमें नहीं आती ऐसे ही ज्ञानी पुरुषकी (देवयानसे या किसी दूसरे मार्गसे गया है, यह) गति देखनेमें नहीं आती ॥ २८ ॥ हे राजन् ! जो पुरुष समय आने पर घरद्वारको त्यागकर मोक्षके लिये उद्योग करता है उसको सदाके लिये तेजोमयलोक मिलता है ॥२९॥ जो सब कर्मोंका विधिपूर्वक संन्यास (त्याग) करता है, भाँति २ की विद्याओंका भी विधिपूर्वक संन्यास करता है अर्थात् जगत्में जिन पदार्थोंपर मनुष्यको प्रीति चिपटती है उन सब पदार्थोंको त्याग देता है ॥३०॥ वह सत्य कामनावाला होता है, सर्वत्र इच्छापूर्वक आचरण करता है वह जगत्की कामनाओंका

समभिपद्यते ॥ ३१ ॥ यच्च पैतामहं स्थानं ब्रह्मराशि-
समुद्भवम् । गुहायां विहितं नित्यं तद्दमेनाभिगम्यते ३२
ज्ञानारामस्य बुद्धस्य सर्वभूताविरोधिनः । नावृत्तिभय-
मस्तीह परलोकभयं कुतः ॥ ३३ ॥ एक एव दमे दोषो
द्वितीयो नोपपद्यते । यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते
जनः ॥ ३४ ॥ एकोऽस्य सुमहाप्राज्ञ दोषः स्यात्सुमहान्
गुणः । क्षमया विपुला लोकाः सुलभा हि सहिष्णुता ३५
दान्तस्य किमरण्येन तथादान्तस्य भारत । यत्रैव निव-

त्यागी बनता है, मनको प्रसन्न रखता है और आत्माके विषयके ज्ञानको जानता है,ऐसा पुरुष इसलोकमें सत्कार पाकर स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ३१ ॥ जो नित्य पितामहका स्थान है और जो वेदमें कहेहुए तपसे मिलसकता है तथा जो गुफामें नित्य छुपी रीतिसे रहता है वह मुक्तिका स्थान दमसे प्राप्त होता है (ब्रह्माका स्थान हृदयमें है तहाँ जीवात्मा दमसे पहुँचता है अर्थात् जो निर्गुण बनता है वही ब्रह्मको पाता है) ॥३२॥ ज्ञानमें आराम करनेवाले ज्ञानीको और सब प्राणियोंके साथ विरोध न करनेवाले मनुष्यको फिर जन्म लेनेका भय नहीं रहता है तो फिर परलोकका भय तो रहेगा ही कहाँसे ? ३३ दममें एक ही प्रकारका दोष रहता है दूसरा दोष नहीं है, वह दोष यह है, कि-जो पुरुष क्षमाशील होता है,उसको लोग अशक्त(शक्तिहीन)समझते हैं॥३४॥ हे महाबुद्धिमान् युधिष्ठिर ! यह एक दोष तो इसमें है परन्तु इसके गुण बहुत ही हैं क्षमा गुणको धारण करनेसे परमपवित्र लोक मिलते हैं, क्योंकि-क्षमासे सहिष्णुता सुलभ होजाती है ॥ ३५ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! दम-

सैदान्तस्तदरण्यं स चाश्रमः ॥३६। वैशम्पायन उवाच। एतद्भीष्मस्य वचनं श्रुत्वा राजा युधिष्ठिरः। अमृतेनैव संतृप्तः प्रहृष्टः समपद्यत ॥३७॥ पुनश्च परिपप्रच्छ भीष्मं धर्मभृतां वरम्। ततः प्रीतः स चोवाच तस्मै सर्वं कुरूद्वह ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि दमकथने षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६० ॥

भीष्म उवाच। सर्वमेतत्तपोमूलं कवयः परिचक्षते। न ह्यतप्ततपा मूढः क्रियाफलमवाप्नुते ॥ १ ॥ प्रजापतिरिदं सर्वं तपसैवासृजत् प्रभुः। तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ २ ॥ तपसैव ससर्जान्नं फलमूलानि

वाले पुरुषको वनका क्या काम है? तथा दमरहित पुरुषको भी वनका क्या काम है? समझलो कि-जहाँ दमधारी पुरुष रहता है तहाँ ही आश्रम तथा वन है३६ वैशम्पायन कहते हैं, कि हे जनमेजय! राजा युधिष्ठिर भीष्मजीकी इस बातको सुनकर जैसे कोई अमृतको पीकर तृप्त हो ऐसे तृप्त होगए और बड़े ही प्रसन्न हुए ॥ ३७ ॥ तथा धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भीष्मजीसे फिर प्रश्न करनेलगे, तब कुरुवंशमें श्रेष्ठ भीष्मजीने प्रसन्न होकर उनको सब कथा कह सुनाई ॥ ३८ ॥ एकसौ साठवाँ अध्याय समाप्त ॥ १६० ॥ ❀ ॥

भीष्मजीने कहा-विद्वान् कहते हैं, कि-इस सब (दम) का मूल तप है, जिस मूढ पुरुषने तप नहीं किया है उसको कर्मका फल नहीं मिलता ॥ १ ॥ प्रभु प्रजापतिने तपसे ही इस सब जगत्‌को उत्पन्न किया है तथा ऋषियोंने तपकरके वेदोंको पाया है ॥२॥ तपसे ब्रह्माने

यानि च । त्रींल्लोकांस्तपसा सिद्धाः पश्यन्ति सुसमाहिताः ॥ ३ ॥ औषधान्यगदादीनि क्रियाश्च विविधास्तथा । तपसैव हि सिध्यन्ति तपोमूलं हि साधनम् ॥४॥ यद् दुरापं भवेत् किञ्चित् तत् सर्वं तपसो भवेत् । ऐश्वर्यमृषिभिः प्राप्तन्तपसैव न संशयः ॥५॥ सुरापो सम्मतादायी भ्रूणहा गुरुतल्पगः । तपसैव सुतप्तेन नरः पापात्प्रमुच्यते ॥ ६ ॥ तपसो बहुरूपस्य तैस्तैर्द्वारैः प्रवर्ततः । निवृत्त्या वर्तमानस्य तपो नानशनात्परम् ॥७॥ अहिंसा सत्यवचनं दानमिन्द्रियनिग्रहः । एतेभ्यो हि महाराज

अन्न, फल और मूलोंको उत्पन्न किया है, तपसे सिद्ध हुए और अच्छे प्रकार सावधान रहनेवाले महात्मा पुरुष तीनों लोकोंको बड़े आनन्दित हृदयसे देखते हैं ३ औषध, उसके रोगको शान्त करनेवाले उपाय तथा भाँति २ की क्रियाएँ (जो इसलोकमें दीखती हैं) वे तपसे ही सिद्ध होती हैं, इसका कारण यही है, कि सबका मूल साधन तप है ॥ ४ ॥ जो कोई वस्तु दुर्लभ होती है वह सब तपसे मिलजाती है, ऋषियोंने भी निःसन्देह तप करके ही अनेक प्रकारके ऐश्वर्यको पाया है ५ मदिरा पीनेवाला, बिनापूछे पराई वस्तु लेने (चुराने) वाला, गर्भका हत्यारा, गुरुपत्नीसे गमन करनेवाला ये पुरुष अच्छे प्रकारसे तप करें तो ये भी पापसे छूटजाते हैं ॥ ६ ॥ तप अनेकों प्रकारका है, भिन्न २ द्वारोंसे उसका जगत्में प्रचार है, जो निवृत्तियुक्त मनुष्य काम और वैभवोंको त्यागकर जीवन बिताता है, उनमें भी जो निराहार रहकर जीवन बिताता है उसकासा कोई तप नहीं है ॥ ७ ॥ अहिंसा, सत्य बोलना, दान और

तपो नानशनात् परम् ॥ ८ ॥ न दुष्करतरं दानान्नाति-मातरनाश्रमः । त्रैविद्येभ्यः परं नास्ति सन्न्यासः परमं तपः ॥ ९ ॥ इन्द्रियाणीह रक्षन्ति स्वर्गधर्माभिगुप्तये । तस्मादर्थे च धर्मे च तपो नानशनात् परम् ॥१०॥ ऋषयः पितरो देवा मनुष्या मृगपक्षिणः । यानि चान्यानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ॥११॥ तपःपरायणाः सर्वे सिध्यन्ति तपसा च ते । इत्येवं तपसा देवा महत्वं प्रतिपेदिरे ॥१२॥ इमानीष्टविभागानि फलानि तपसः सदा । तपसा शक्यते प्राप्तुं देवत्वमपि निश्चयात् १३ एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

इन्द्रियोंको वशमें रखना इन सब अपेक्षा भी है, महा-राज ! निराहार रहनेकी समान एक भी तप नहीं है ८ दानकी समान एक भी कठिन काम नहीं है, माताकी सेवाकी समान एक भी आश्रम नहीं है, तीनों वेद पढे हुए ब्राह्मणोंकी समान कोई भी श्रेष्ठ नहीं है और सर्वस्वके त्यागकी समान कोई भी तप नहीं है ॥ ९ ॥ स्वर्ग पानेको और धर्मकी रक्षा करनेको लोग इन्द्रियोंकी विषयोंसे रक्षा करते हैं, धर्मकी रक्षाके लिये इन्द्रियोंको वशमें करना, इसकी अपेक्षा निराहार रहना, इसकी समान दूसरा तप नहीं है ॥ १० ॥ ऋषि, पितर, देवता मनुष्य, पशु, पक्षी, तथा दूसरे स्थावर और जङ्गम प्राणी ये सब तपमें लगे रहते हैं और वे जिस सिद्धिको पाते हैं उसको तपसे ही पाते हैं, इसीप्रकार देवताओंने भी तप करके ही महत्त्वको पाया है ॥ ११ ॥ १२ ॥ नक्षत्र आदि इष्ट वस्तुएँ भी सदा तपका फलरूप ही हैं और निःसन्देह तपसे देवपना भी मिल जाता है ॥ १३ ॥ एकसौ इकसठवाँ अध्याय समाप्त ॥ १६१ ॥ छ ॥

युधिष्ठिर उवाच । सत्यं धर्मं प्रशंसन्ति विप्रर्षिपितृदेवताः । सत्यमिच्छाम्यहं श्रोतुं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥ सत्यं किं लक्षणं राजन् कथं वा तदवाप्यते । सत्यं प्राप्य भवेत् किञ्च कथञ्चैव तदुच्यताम् ॥ २ ॥ भीष्म उवाच । चातुर्वर्ण्यस्य धर्माणां सङ्करो न प्रशस्यते । अविकारितमं सत्यं सर्ववर्णेषु भारत । सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्मः सनातनः । सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमा गतिः ॥ ४ ॥ सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम् । सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥५॥ आचारानिह सत्यस्य यथावदनुपूर्वशः । लक्षणञ्च प्रव-

---

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे पितामह ! ब्राह्मण, ऋषि, पितर और देवता सत्यधर्मकी प्रशंसा करते हैं, इस लिये मैं भी आपसे सत्य क्या है, इसको सुनना चाहता चाहता हूँ ॥ १ ॥ हे राजन् ! सत्यका लक्षण क्या है ? वह कैसे प्राप्त होता है ? सत्यके बर्त्तावसे क्या लाभ होता है ? उसका क्या परिणाम निकलता है ? यह मुझे बताइये ॥ २ ॥ भीष्मजीने कहा, कि-हे युधिष्ठिर ! चारों वर्णोंके सङ्करभावकी कभी प्रशंसा नहीं होती है, हे भरतवंशी पुत्र ! जिसको सत्य कहते हैं, वह सब प्रकारके विकारोंसे रहित शुद्ध सत्य चारों वर्णोंमें विद्यमान है ॥ ३ ॥ सत्पुरुषोंमें सदा सत्य रहता है और वही धर्म कहलाता है, सत्य ही सनातनधर्म है, इसलिये सत्यको ही नमस्कार है, सत्य ही परमगति है ॥ ४ ॥ सत्य धर्म है, सत्य तप है, सत्य योग है, सत्य सनातन ब्रह्म है; सत्य उत्तम यज्ञ है, संक्षेपमें कहाजाय तो सर्वस्व सत्यमें समाया हुआ है ॥५॥ अब मैं तुझे क्रम

दयामि सत्यस्येह यथाक्रमम् ॥६॥ प्राप्यते च यथा सत्यं तच्च श्रोतुमिहार्हसि । सत्यं त्रयोदशविधं सर्वलोकेषु भारत ॥ ७ ॥ सत्यञ्च समता चैव दमश्चैव न संशयः । अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षानसूयता ॥८॥ त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं दया । अहिंसा चैव राजेंद्र सत्याकारास्त्रयोदश ॥ ९ ॥ सत्यं नामाव्ययं नित्यमविकारि तथैव च । सर्वधर्माविरुद्धेन योगेनैतदवाप्यते१० आत्मनीष्टे तथानिष्टे रिपौ च समता तथा । इच्छाद्वेषक्षयं प्राप्य कामक्रोधक्षयं तथा ॥ ११ ॥ दमो नान्यस्पृहा नित्यं गांभीर्यं धैर्यमेव च । अभयं रोगशमनं ज्ञानेनैतदवाप्यते ॥ १२ ॥ अमात्सर्यं बुधाः प्राहुर्दाने धर्मे च

से सत्यके आचार यथार्थरूपसे सुनाता हूँ तथा उनके लक्षण भी क्रमसे कहता हूँ ॥ ६ ॥ सत्य किसप्रकार मिलता है, यह भी तुझे सुनना चाहिये, हे भरतवंशी ! सब लोगोंमें सत्य तेरह प्रकारका कहलाता है ॥ ७ ॥ हे राजेन्द्र ! समता, दम, मत्सरता न होना, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा, असूया न करना, त्याग, ध्यान, आर्यता, धैर्य, नित्य दया और अहिंसा, ऐसे तेरह प्रकारका है ॥ ८ ॥ ९ ॥ यह सत्य नित्य, अविकारी और अविनाशी है तथा सर्व धर्मके अनुकूल योगसे पाया जासकता है ॥ १० ॥ इच्छा और द्वेष तथा काम और क्रोध का नाश करके अपने प्रिय आत्माके ऊपर तथा अप्रिय शत्रुके ऊपर समदृष्टि रखना, इसका नाम समता (पक्षपात शून्यता) है ॥ ११ ॥ किसीके धनकी इच्छा न करे, नित्य गम्भीरता रक्खे, धीरज रक्खे, किसीका भय न करे तथा रोगकी शांति का नाम दम है, इस

संयमः । अवस्थितेन नित्यं च सत्येनामात्सरी भवेत् १३ अक्षमायाः क्षमायाश्च प्रियाणीहाप्रियाणि च । क्षमते सम्मतः साधुः साध्वाप्नोति च सत्यवाक् ॥ १४ ॥ कल्याणं कुरुते वाढं धीमान्न ग्लायते क्वचित् । प्रशान्तवाङ्मना नित्यं ह्रीस्तु धर्मादवाप्यते ॥ १५ ॥ धर्मार्थहेतोः क्षमते तितिक्षा क्षान्तिरुच्यते । लोकसंग्रहणार्थं वै सा तु धैर्येण लभ्यते ॥ १६ ॥ त्यागः स्नेहस्य यस्त्यागो विषयाणां तथैव च । रागद्वेषप्रहीणस्य त्यागो भवति नान्यथा १७

दमकी प्राप्ति ज्ञानसे ही होती है ॥ १२ ॥ दानमें श्रद्धा रक्खे, धर्माचरणके नियमका पालन करे, इसको विद्वान् मत्सरशून्यता कहते हैं, मनुष्य नित्य दृढ रहकर सत्य-धर्मका आचरण करता है तब ही अमत्सरी होता है १३ सत्पुरुषोंमें मान्य और सत्यवादी सत्पुरुष अपनेको रुचने वाली बातोंको और न रुचने वाली बातोंको सुनता रहे इसका नाम क्षमा है, सत्य बोलनेवाला इस गुणको अच्छे प्रकारसे पासकता है ॥ १४ ॥ बुद्धिमान् पुरुष दूसरेका अच्छे प्रकारसे कल्याण करता है, कभी खिन्न नहीं होता है तथा जिसका वाणी और मन शांत होता है उस पुरुषमें लज्जा रहती है, यह लज्जा धर्माचरणसे प्राप्त होती है ॥ १५ ॥ धर्मके लिये पुरुष दूसरेको क्षमा करता है उसका नाम तितिक्षा है, इसको क्षान्ति भी कहते हैं, यह गुण लोगोंको वशमें करनेके लिये पाला जाता है, यह गुण धीरजसे पाया जासकता है ॥ १६ ॥ स्नेह और विषयोंको छोड़देनेका नाम त्याग है जो पुरुष राग द्वेषरहित होता है उससे ही त्याग होसकता है, दूसरेसे नहीं होसकता ॥ १७ ॥ जिस गुण

आर्यता नाम भूतानां यः करोति प्रयत्नतः । शुभं कर्म निराकारो वीतरागस्तथैव च ॥ १८ ॥ धृतिर्नाम सुखे दुःखे यथा प्राप्नोति विक्रियाम् । तां भजेत सदा प्राज्ञो य इच्छेद्भूतिमात्मनः ॥ १९ ॥ सर्वथा क्षमिणा भाव्यं तथा सत्यपरेण च । वीतहर्षभयक्रोधो धृतिमाप्नोति पण्डितः ॥२०॥ अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा । अनुग्रहश्च दानञ्च सतां धर्मः सनातनः ॥ २१ ॥ एते त्रयोदशाकाराः पृथक् सत्यैकलक्षणाः। भजन्ते सत्यमेवेह बृंहयन्ते च भारत ॥ २२ ॥ नान्तः शक्यो गुणानाञ्च वक्तुं सत्यस्य पार्थिव । अतः सत्यं प्रशंसन्ति विप्राः सपितृदेवताः ॥ १३॥ नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात्

से मनुष्य उद्योगके साथ प्राणियोंका भला करता है और स्वयं अलिप्त तथा रागरहित रहता है उस गुणका नाम आर्यता है ॥ १८ ॥ जो मनुष्य सुख दुःख प्राप्त होनेपर हर्ष–शोकरूप विकारको नहीं पाता है उस गुणका नाम धैर्य (धीरज) है, जो बुद्धिमान् पुरुष अपना कल्याण चाहे वह नित्य धैर्य गुणका सेवन करे ॥ २० ॥ मनुष्य सदा सत्यवादी और क्षमाशील बनारहे, जो पण्डित पुरुष हर्ष, भय और क्रोधरहित होता है वह धृतिको पाता है ॥ २० ॥ मन वाणी तथा कर्मसे किसी प्राणीका द्रोह न करे, सबके ऊपर अनुग्रह करे तथा दान देय, यह सत्पुरुषोंका सनातन धर्म है ॥२१॥ हे भरतवंशी राजन्! यह तेरह प्रकारका सत्य है, इसके जो भिन्न २ लक्षण थे वे कहदिये, महात्मा पुरुष इस सत्यका सेवन करते हैं और इसमें वृद्धि करते हैं ॥ २२ ॥ हे राजन् ! सत्यके गुणोंका कहनेसे पार नहीं मिलसकता, इसलिये ब्राह्मण,

पातकं परम् । स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात् सत्यं न लोपयेत् ॥२४॥ उपैति सत्याद् दानं हि तथा यज्ञाः सदक्षिणाः। अग्निहोत्रं वेदाश्च ये चान्ये धर्मनिश्चयाः २५ अश्वमेधसहस्रञ्च सत्यञ्च तुलया धृतम् । अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि सत्यप्रशंसायां सत्यकथने द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६२ ॥

युधिष्ठिर उवाच । यतः प्रभवति क्रोधः कामो वा भरतर्षभ । शोकमोहौ विधित्सा च परासुत्वञ्च तद्वद १ लोभो मात्सर्यमीर्षा च कुत्सासूयाकृपा भयम् ।

पितर तथा देवता सत्यकी प्रशंसा करते हैं ॥ २३ ॥ सत्यके समान धर्म नहीं है और असत्यके समान पाप नहीं है वेदमें कहा है; कि-धर्म सत्यके आश्रयसे रहता है; इस लिये असत्य न बोले ॥ २४ ॥ सत्यसे दानका फल, दक्षिणासहित यज्ञोंका फल, अग्निहोत्रका फल तथा धर्म निर्णय करनेवाले वेदोंके अध्ययनका फल मिलता है२५ एकहजार अश्वमेध यज्ञोंका फल और सत्यका फल इन दोनोंको तोला जाय तो एक हजार अश्वमेध यज्ञोंकी अपेक्षा सत्यका पलड़ा नीचा होगा (अर्थात् अधिक होगा) ॥२६॥ एक सौ बासठवाँ अध्याय समाप्त १६२

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे भरतवंशके श्रेष्ठ पुरुष ! जिससे क्रोध और कामकी उत्पत्ति होती हो, जिससे शोक, मोह, विधित्सा (अनेकों खोटे कर्म करनेकी इच्छा) तथा जिससे दूसरोंकी अवनति देखनेकी इच्छा होती हो उन दोषोंको मुझसे कहिये ॥१॥ और लोभ, मत्सरता

एतत्सर्वं महाप्राज्ञ याथातथ्येन मे वद ॥ २ ॥ भीष्म उवाच । त्रयोदशैतेऽतिबलाः शत्रवः प्राणिनां स्मृताः। उपासन्ते महाराज समन्तात् पुरुषानिह ॥ ३ ॥ एते प्रमत्तं पुरुषमप्रमत्तास्तुदन्ति च । वृका इव विलुम्पन्ति दृष्ट्वैव पुरुषं बलात् ॥ ४ ॥ एभ्यः प्रवर्त्तते दुःखमेभ्यः पापं प्रवर्त्तते । इति मर्त्यो विजानीयात् सततं पुरुषर्षभ ॥५॥ एतेषामुदयं स्थानं क्षयञ्च पृथिवीपते । हन्त ते कीर्त्तयिष्यामि क्रोधस्योत्पत्तिमादितः॥६॥ यथातत्त्वं क्षितिपते तदिहैकमनाः शृणु। लोभात् क्रोधः प्रभवति परदोषैरुदीर्य्यते॥७॥ क्षमया तिष्ठते राजन् क्षमया विनिवर्त्तते । सङ्कल्पा-

---

ईर्षा, निन्दा, असूया (गुणोंमें दोष लगाना), कृपा और अभय ये सब काहेसे उत्पन्न होते हैं, हे महाबुद्धिमान् भीष्मजी ! मुझे ठीक २ बताइये ॥ २ ॥ भीष्मजीने कहा कि-हे महाराज ! आपके कहे हुये तेरह दोष प्राणियोंके महाबलवान् शत्रु कहलाते हैं, ये मनुष्योंको चारों ओरसे घेर लेते हैं॥३॥ये शत्रु सावधान रहकर प्रमादमें रहने वाले मनुष्यको दुःख देते हैं तथा भेड़ियेकी समान मनुष्यको देखतेही बलात्कारसे उसके ऊपर टूट पड़ते हैं और उसका नाशकरदेते हैं॥४॥हे महात्मन् ! इन सबोंसे दुःख उत्पन्न होता है, पापकर्ममें प्रवृत्ति होती है, यह मनुष्योंको जाने रहना चाहिये ॥ ५ ॥ हे राजन् ! तेरे गिनाएहुए गुणोंकी उत्पत्ति, स्थिति और नाशको तुझसे कहूँगा तथा क्रोधकी आरम्भसे उत्पत्ति तुझे ठीक २ बताऊँगा, हे राजन् ! तू उसको एकाग्रमनसे सुन, क्रोध लोभमेंसे उत्पन्न होता है और दूसरे दोषोंसे वह बढता है॥६॥७परन्तु हे राजन् यह क्रोध क्षमासे आगेको बढनेसे रुकजाता है और क्षमासे

ज्जायते कामः सेव्यमानो विवर्द्धते ॥ ८ ॥ यदा प्राज्ञो विरमते तदा सद्यः प्रणश्यति । परासूया क्रोधलोभावंतरा प्रतिमुच्यते ॥९॥ दयया सर्वभूतानां निर्वेदाद्विनिवर्त्तते । अवद्यदर्शनादेति तत्वज्ञानाच्च धीमताम् ॥१०॥ अज्ञान-प्रभवो मोहः पापाभ्यासात् प्रवर्त्तते । यदा प्राज्ञेषु रमते तदा सद्यः प्रणश्यति ॥ ११ ॥ विरुद्धानीह शास्त्राणि पश्यन्तीह कुरूद्वह । विधित्सा जायते तत्र तत्त्वज्ञाना-न्निवर्त्तते ॥ १२ ॥ प्रीत्या शोकः प्रभवति वियोगात्तस्य देहिनः । यदा निवर्त्तकं वेत्ति तदा सद्यः प्रणश्यति ।१३।

ही नष्ट होजाता है, काम सङ्कल्पसे उत्पन्न होता है तथा सेवन करनेसे बढ़ता है ८ बुद्धिमान् पुरुष जब काम सेवन करना बन्द करदेता है तब यह काम एकदम नष्ट होजाता है, असूया क्रोध और लोभमेंसे उत्पन्न होती है तथा सब प्राणिओंके ऊपर दया करनेसे और वैराग्यसे वह नष्ट होजाती है, दूसरेके दोषोंको देखनेसे असूया उत्पन्न होती है, परन्तु बुद्धिमान् पुरुष तत्त्वज्ञानसे उसका नाश करदेते हैं (अर्थात् सब पदार्थोंको निर्दोष देखकर उसका नाश करता है) ॥ ९-१० ॥ मोह (विपरीतज्ञान) अज्ञानमेंसे उत्पन्न होता है और वह वारम्वार पाप करनेसे बढता है तथा महात्मा पुरुषोंका समागम करनेसे उसका तुरन्त नाश होजाता है ॥११॥ हे कुरुवंशी राजन् ! जो पुरुष आपसमें विरुद्ध (ग्रन्थोंको) देखते हैं उनमें विधित्सा (किसीका बुरा करनेकी इच्छा) उत्पन्न होती है और तत्त्वका ज्ञान होने पर वह शान्त होजाती है ॥ १२ ॥ किसी मनुष्यके ऊपर प्रीति होती है और जब उसका वियोग होजाता है तब शोक उत्पन्न

परासुता क्रोधलोभादभ्यासाच्च प्रवर्त्तते । दयायाः सर्व-भूतानां निर्वेदात् सा निवर्त्तते ॥ १४ ॥ सत्यत्यागात्तु मात्सर्य्यमहितानां च सेवया । एतत्तु क्षीयते तात साधूनामुपसेवनात् ॥ १५ ॥ कुलात् ज्ञानात्तथैश्वर्य्यान्मदो भवति देहिनाम् । एभिरेव तु विज्ञातैः स च सद्यः प्रणश्यति॥१६॥ईर्ष्या कामात् प्रभवति संहर्षाच्चैव जायते । इतरेषान्तु सत्त्वानां प्रज्ञया सा प्रणश्यति ॥ १७ ॥ विभ्रमाल्लोकबाह्यानां द्वेष्यैर्वाक्यैरसम्मतैः। कुत्सा सञ्जायते

होता है, परन्तु जब उसको निरर्थक जानलेता है तब तुरन्त ही उसका नाश होजाता है ॥ १३ ॥ वारम्वार दूसरेका वुरा देखनेकी इच्छा करने पर उसका वुरा न होनेसे क्रोध तथा लोभ उत्पन्न होजाता है और सब प्राणियोंको दयादृष्टिसे देखनेपर और ओहो! इसका बड़ा वुरा होगया ऐसा विचार करनेसे उसका नाश होजाता है ॥ १४ ॥ सत्यका त्याग और क्रूरताका सेवन करनेसे मत्सरता—वैरभावकी उत्पत्ति होती है और हे तात ! सत्पुरुषोंकी सेवा करनेसे उसका नाश होता है ॥ १५ ॥ उत्तम कुलका अभिमान, ज्ञान और ऐश्वर्यसे मनुष्योंको मद चढता है और जब इन सबका यथार्थ ज्ञान होता है तब वह मद एकदम उतरजाता है ॥१६॥ कामना करनेसे और अधम पुरुषोंके सङ्गमें रहकर आनन्द पानेसे दूसरे लोगोंके ऊपर ईर्षा उत्पन्न होती है और वह ईर्षा ज्ञानसे नष्ट होती है । १७ । साधारण कामभें, अपने चरित्रमें दोष लगनेसे, समाजभ्रष्ट होनेसे और द्वेष उत्पन्न करनेवाले असम्मत वचनोंसे हे राजन् ! निन्दाकी उत्पत्ति होती है और वह निन्दा उत्तम चरित्रके पुरुषोंपर दृष्टिडालनेसे

राजन् लोकान् प्रेत्याभिशाम्यति ॥ १८ ॥ प्रतिकर्त्तुं न शक्ता ये बलस्यायापकारिणे । असूया जायते तीव्रा कारुण्याद्विनिवर्त्तते ॥ १९ ॥ कृपणान् सततं दृष्ट्वा ततः सञ्जायते कृपा । धर्म्मनिष्ठो यदा वेत्ति तदा शाम्यति सा कृपा ॥२०॥ अज्ञानप्रभवो लोभो भूतानां दृश्यते सदा । अस्थिरत्वञ्च भोगानां दृष्ट्वा ज्ञात्वा निवर्त्तते ॥ २१ ॥ एतान्येव जितान्याहुः प्रशमाच्च त्रयोदश । एते हि धार्त्तराष्ट्राणां सर्वे दोषास्त्रयोदश । त्वया सत्यार्थिना नित्यं विजिता ज्येष्ठसेवनात् ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि लोभ-निरूपणे त्रिषष्टयधिकशततमोऽध्यायः ॥१६३॥

शान्त होती है । १८ । बलवान् और अपकार करनेवाले पुरुषोंको जो दण्ड नहीं देसकते उनमें तीव्र असूया उत्पन्न होजाती है-वे उनको देखकर बहुत ही जलते रहते हैं, उस असूयाका दया आनेसे नाश होता है । १९ ।कृपण पुरुषोंको देखकर कृपा उत्पन्न होती है, परन्तु जब धर्म-स्थितिको देखाजाता है तो वह कृपा शान्त होजाती है२० प्राणियोंको सदा अज्ञानसे लोभ होता है, परन्तु मनुष्य जब देखता है और जानता है कि-ये भोग सदा नहीं रहसकते तब उसका लोभ शान्त पड़जाता है ॥ २१ ॥ ये तेरह गुण शान्तिसे जीते जासकते हैं ऐसा मुनियोंका कथन है, ये तेरह दोष धृतराष्ट्रके पुत्रोंमें थे और महात्माओंकी सेवा करके सत्यको चाहनेवाले तूने इन तेरह दोषोंको नित्य जीतलिया है ॥ २२ ॥ एकसौ तिरेसठवाँ अध्याय समाप्त ॥ १६३ ॥

युधिष्ठिर उवाच । आनृशंस्यं विजानामि दर्शनेन सतां सदा । नृशंसान्न विजानामि तेषां कर्म्म च भारत ॥१॥ कण्टकान् कूपमग्निश्च वर्ज्जयन्ति यथा नराः । तथा नृशंसकर्माणं वर्ज्जयन्ति नरा नरम् ॥ २ ॥ नृशंसो हि दहेद् व्यक्तं प्रेत्य चेह च भारत । तस्मात्त्वं ब्रूहि कौरव्य तस्य कर्म्म विनिश्चयम् ॥३॥ भीष्म उवाच । स्पृहा स्याद् गर्हिता चैव विधित्सा चैव कर्मणाम् । आक्रोष्टा क्रुश्यते चैव वञ्चितो बुध्यते च सः ॥ ४ ॥ दत्तानुकीर्त्तिर्विषमः क्षुद्रो नैकृतिकः शठः । असम्विभागी मानी च तथा सङ्गी विक-

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे भरतवंशी पितामह ! मैं सत् पुरुषोंके समागमसे इस बातको जानता हूँ, कि-आनृशंस्य (क्रूरतारहित) कौन है, परन्तु नृशंस (क्रूर) पुरुषोंको नहीं जानता तथा उनके कर्मोंको भी नहीं जानता ॥१॥ पुरुष जैसे काँटोंको, झाँकडोंसे ढकेहुए, गढहे और कुए तथा अग्निसे बचजाते हैं ऐसे ही क्रूर कर्म करनेवाले पुरुषको भी त्याग देते हैं ॥ २ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! नृशंस पुरुष इस लोकमें प्रसिद्ध रीतिसे दुःखी होता है और परलोकमें भी दुःख पाता है, इसलिए हे कुरुवंशी पितामह! आप मुझे नृशंस पुरुषका स्वरूप आदि बताइये ॥३॥ भीष्मने कहा, कि-हे राजन् ! नृशंस पुरुषको सदा खोटे काम करनेकी चाहना रहती है वह स्वयं निन्दापात्र होकर दूसरेकी निन्दा करता है वह नित्य विचारता है, कि-ओः ! मुझे धोखा देदिया । ४ । वह दियेहुए दानको बखाना करता है, दूसरोंसे द्वेष करता है, नीच काम करता है, स्नेह दिखाकर पीछेसे धोखा देता है, शठता दिखाता है, किसीको भी न देकर आप

त्थनः ॥५॥ सर्वाभिशङ्की पुरुषो बालिशः कृपणोथवा । वर्गप्रशंसी सततमाश्रमद्वेषसङ्करी ॥ ६ ॥ हिंसाविहारः सततमविशेषगुणागुणः। बह्वलीकोऽमनस्वी च लुब्धोत्यर्थं नृशंसकृत्॥७॥ धर्म्मशीलं गुणोपेतं पापमित्यवगच्छति । आत्मशीलप्रमाणेन न विश्वसिति कस्यचित् ॥८॥ परेषां यत्र दोषः स्यात्तद्गुह्यं संप्रकाशयेत् । समानेष्वेव दोषेषु वृत्त्यर्थमुपघातयेत् ॥९॥ तथोपकारिणञ्चैव मन्यते वञ्चितं परम् । दत्वापि च धनं कालं सन्तपत्युपकारिणे ॥ १० ॥

ही उपभोग करता है, अभिमानी, विषयोंका सङ्गी और बड़ २ करनेवाला होता है । ५ । क्रूर पुरुष सबके ऊपर बहुत ही शङ्का रखनेवाला, कौएके समान धोखा देनेकी दृष्टिवाला, कृपण अपने स्नेही मित्रोंका बखान करनेवाला संन्यासी आदिसे द्वेष करनेवाला तथा उनके ऊपर दोष लगानेवाला होता है ६ वह नित्य हिंसा कर्म करनेवाला, गुण अवगुणोंका विचार न करनेवाला, बड़ा ही कपटी, मनका पक्का और बडा ही लोभी होता है इन सब गुणां वालेको नृशंस पुरुष जानो । ७ । नृशंस (अहित चाहने वाला)पुरुष धर्मशील और गुणवान्पुरुषोंको पापी जानता है और अपने स्वभावके अनुसार किसीका भी विश्वास नहीं करता है । ८ । जहाँ दूसरेके और अपने दोष समान होते हैं तहाँ दूसरेके दोषोंका खोलता है और आजीविकाके लिये दूसरेको हानि पहुँचाता है । ९ ।वह अपने ऊपर उपकार करनेवाले पुरुषको अपने धोखेमें फँसाहुआ समझता है और (भूले चूके) अपने ऊपर उपकार करने वालेको धन देनेकी आवश्यकता पडती है तो देनेके बाद उसके लिये सन्ताप करता है । १० । भक्ष्य (काटकर

भक्ष्यं पेयमथो लेह्यं यच्चान्यत् साधु भोजनम् । प्रेक्ष्यमाणेषु योऽश्नीयान्नृशंसमिति तं वदेत् ॥११॥ ब्राह्मणेभ्यः प्रदायाग्रं यः सुहृद्भिः सहाश्नुते । स प्रेत्य लभते स्वर्गमिह चानन्त्यमश्नुते ॥ १२ ॥ एष ते भरतश्रेष्ठ नृशंसः परिकीर्त्तितः । सदा विवर्ज्जनीयो हि पुरुषेण विजानता १३ इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि नृशंसाख्याने चतुःषष्ट्यधिकशततमोध्यायः ॥१६४॥

भीष्म उवाच । कृतार्थो यक्ष्यमाणश्च सर्ववेदान्तगश्च यः । आचार्यपितृकार्यार्थं स्वाध्यायार्थमथापि च ॥ १ ॥ एते वै साधवो दृष्टा ब्राह्मणा धर्म्मभिक्षवः । निःस्वेभ्यो

योग्य) पेय (पीने योग्य) लेह्य (चाटनेकी चटनी आदि) जो २ उत्तम भोजन होते हैं उनको, दूसरे बैठे२ देखते रहें और वह अकेला ही खाया करता है, ऐसे मनुष्य नृशंस कहे हैं ११ परन्तु जो पुरुष भोजन करनेसे पहले ब्राह्मणोंको खानेके पदार्थ देकर पीछेसे स्नेहियोंके साथ भोजन करता है वह मनुष्य इसलोकमें सुख भोग कर तथा मरणके बाद स्वर्गमें जाता है । १२ ।हे भरतवंशमें श्रेष्ठ पुरुष ! इसप्रकार मैंने तुझे नृशंस पुरुषका स्वरूप सुनाया, ज्ञानी पुरुषको ऐसे क्रूर मनुष्यका सदा त्याग करना चाहिये । १३ । एकसौ चौसठवाँ अध्याय समाप्त ॥ १६४ ॥ छ ॥ छ ॥

भीष्मने कहा. कि-हे युधिष्ठिर ! जिस ब्राह्मणका धन चोर चुराकर लेगए हों और उसको यज्ञ करना हो, जो ब्राह्मण वेद और उपनिषदोंमें पारङ्गत हो, जिसको आचार्यकी दक्षिणा देनेकेलिये, पितरोंका श्राद्ध आदि करनेके लिये अथवा अध्ययन करनेके लिये धन चाहिये,

देयमेतेभ्यो दानं विद्या च भारत ॥२॥ अन्यत्र दक्षिणा-
दानं देयं भरतसत्तम। अन्येभ्योपि बहिर्वेदि चाकृतान्नं
विधीयते ॥ ३ ॥ सर्वरत्नानि राजा हि यथार्हं प्रतिपाद-
येत्। ब्राह्मणा एव वेदाश्च यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः ॥ ४ ॥
अन्योन्यं विभवाचारा यजन्ते गुणतः सदा। यस्य त्रैवा-
र्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये। अधिकं चापि विद्येत
स सोमं पातुमर्हति ॥ ५ ॥ यज्ञश्चेत् प्रतिरुद्धः स्यादंशने-
केन यज्वनः। ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि ६
यो वैश्यः स्याद् बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः। कुटुम्बात्तस्य

ऐसे सब महात्मा ब्राह्मणोंको धर्मभिक्षुक जानो और ये
यदि निर्धन हों तो हे भरतवंशी राजन्! इनको धन देय
और विद्या पढवावे। १-२। इनके सिवाय हे भरतवंशी
राजन्! दूसरे ब्राह्मणोंको भी दान देय जो ब्राह्मण ब्राह्मण-
धर्मसे भ्रष्ट होगए हों उनको यज्ञ आदिमें वेदीके बाहर बैठा
कर कच्चा अन्न देय (धन न देय) यह शास्त्रमें कहा है ३
राजा योग्यताके अनुसार ब्राह्मणोंको सब प्रकारके रत्न
देय, क्योंकि-वेद और बहुत दक्षिणावाले यज्ञ ब्राह्मणोंके
आधारसे ही रहते हैं ॥ ५ ॥ और ब्राह्मण भी वैभव
तथा आचारके अनुसार सदा यज्ञ किया करें, जिसके
पास तीन वर्ष तक अपने कुटुम्बको पालनेके योग्य अन्न
हो अथवा इससे अधिक हो तो वह पुरुष सोमयाग
करनेका अधिकारी मानाजाता है। ५। ब्राह्मणजातिके
यजमानका यज्ञ जो एक अंशमें अधूरा रहाजाता हो तो
तथा देशका राजा धर्मनिष्ठ हो तो जो वैश्य बहुतसे
पशुओंवाला हो परन्तु यज्ञ न करता हो तथा सोम भी न
पीता हो तो ऐसे वैश्यके घरमेंसे राजा (अपने पास धन

तद्वित्तं यज्ञार्थं पार्थिवो हरेत् ॥ ७ ॥ आहरेदथ नो किञ्चित् कामं शूद्रस्य वेश्मनः । न हि यज्ञेषु शूद्रस्य कश्चिदस्ति परिग्रहः ॥८॥ योनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः । तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥९॥ अदातृभ्यो हरेद्वित्तं विख्यात्य नृपतिः सदा । तथैव चरतो धर्मो नृपतेः स्यादथाखिलः ॥१०॥ तथैव शृणु मे भक्तं भक्तानि षडनश्नतः । अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥११॥ खलात्क्षेत्रात्तथारामाद्यतो वाप्युपपद्यते । आख्यातव्यं नृपस्यैतत्पृच्छतेऽपृच्छतेपि वा ॥१२॥ न तस्मै धारयेद् दंडं

न होय तो) ब्राह्मणका यज्ञ पूरा करनेके लिये धन उठा लावे ॥ ६ ॥७॥ शूद्रको यज्ञ याग आदि करनेका अधिकार नहीं है इसलिये राजा, यज्ञके लिये अपनेको जो कुछ चाहिये वह शूद्रके घरमेंसे इच्छानुसार लेआवे ८ सौ गौओंका स्वामी होने पर भी जो अग्निहोत्र न करता हो, और हजार गौओंका स्वामी होने पर भी यज्ञ न करता हो इन दोनोंके घरमेंसे भी राजा विना विचारे धन लूटलावे ॥९॥ तथा जो दाता न हों ऐसे पुरुषोंके यहाँसे भी राजा उनसे स्पष्ट कहकर उनका धन लूटलावे, ऐसे वर्त्तावसे राजाको जरा भी अधर्म नहीं लगता है ॥१०॥ तथा तू दूसरी बात भी सुन--एक दिनका उपवास होगया हो तो एक दिनके निर्वाहके योग्य धनहीन कर्म करने वाले नीच मनुष्यसे जो त्यागी आजकी ही चिन्ता रखता है कलकी चिन्ता नहीं रखता है वह विना बूझे लेआवे ॥ ११ ॥ खलियानमेंसे, खेतमेंसे अथवा जहाँसे मिले तहाँसे त्यागी मनुष्य केवल अपने निर्वाहके योग्य अन्न उठालाये और राजा बूझे वा न बूझे तो भी उसके

राजा धर्मेण धर्मवित् । क्षत्रियस्य तु बालिश्याद् ब्राह्मणः क्लिश्यते क्षुधा ॥ १३ ॥ श्रुतशीले समाज्ञाय वृत्तिमस्य प्रकल्पयेत् । अथैनं परिरक्षेत पिता पुत्रमिवौरसम् ॥१४॥ इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये । अनुकल्पः परो धर्मो धर्मवादैस्तु केवलम् ॥ १५ ॥ विश्वैर्देवैश्च साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः । आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधिः प्रतिनिधिकृतः ॥१६॥ प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते । न सांपरायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥१७॥ न ब्राह्मणो

पास जाकर यह बात कहदेय ॥ १२ ॥ और धर्मको जाननेवाला राजा धर्मके अनुसार उसको दण्ड न देय, क्योंकि—त्यागी ब्राह्मणके ऊपर आजीविकाके कारणसे जो दुःख पड़ता है उसका कारण राजाकी मूर्खता ही होती है॥ १३ ॥ राजा, शास्त्रको जाननेवाले सुशील ब्राह्मणको अच्छे प्रकारसे जानकर उसकी आजीविका बाँधदेय और पिता जैसे अपने पेटके पुत्रकी रक्षा करता है तैसे ही राजा ब्राह्मणकी रक्षा करे ॥ १४ ॥ जब एक वर्ष पूरा होकर नवीन वर्ष लगे उस समय आग्रयण तथा पशु सोम आदि यज्ञ न होसकते हों तो उसके प्रायश्चित्त रूपसे विश्वानर देवकी इष्टि करे, धर्मको जानने वाले ब्राह्मण कहते हैं, कि—मुख्य विधिके स्थानमें गौण विधि करे, यह भी परमधर्म मानाजाता है ॥ १५ ॥ विश्वदेवता, साध्य, ब्राह्मण और महर्षियोंने ऐसा निर्णय करदिया है, कि—मरणके भयसे आपत्तिकालमें मुख्य विधि न होसके तो तहाँ गौण विधि करे ॥१६॥ परन्तु जो मनुष्य मुख्य विधिको करसकता हो, वह गौण विधि करके काम चलावे तो उस दुष्टबुद्धि मनुष्य

निवेदेत किंचिद्राजनि वेदवित् । स्ववीर्याद्राजवीर्याच्च स्ववीर्यं बलवत्तरम् ॥१८॥ तस्माद्राज्ञः सदा तेजो दुःसहं ब्रह्मवादिनाम् । कर्त्ता शास्ता विधाता च ब्राह्मणो देव उच्यते ॥ १९ ॥ तस्मिन्नाकुशलं ब्रूयान्न शुष्कामीरयेद्गिरम् । क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः ॥ २० ॥ धनैर्वैश्यश्च शूद्रश्च मन्त्रैर्होमैश्च वै द्विजः । नैव कन्या न युवतिर्नामन्त्रज्ञो न बालिशः ॥ २१ ॥ परिवेष्टाग्निहोत्रस्य भवेन्नासंस्कृतस्तथा । नरकं निपतन्त्येते जुह्वाना स च

को पारलौकिक फल नहीं मिलता है ॥ १७ ॥ वेदको जाननेवाला ब्राह्मण राजासे अपने तेज और ज्ञानकी बात कहकर भीख न माँगे, क्योंकि–राजाके पराक्रम और अपने पराक्रमकी समता करने पर अपना पराक्रम विशेष बलवान् ठहरता है ॥१८॥ इसलिये ही ब्रह्मवादी ब्राह्मणोंके तेजको राजा कभी नहीं सहसकता, ब्राह्मण जगत्का उत्पन्नकर्त्ता, शासन करनेवाला और पालन करनेवाला एक देवता कहलाता है, ॥ १९ ॥ इसलिये ब्रह्मवादी ब्राह्मणसे अशुभ वाणी कभी न कहे और सूखी बात भी न कहे, क्षत्रिय भुजाके पराक्रमसे अपनी आपत्तिके पार होजाय ॥ २० ॥ वैश्य तथा शूद्र धनके द्वारा आपत्तिके पार होजाय, और वेदके मंत्रोंसे अथवा अभिचारके होम हवन करके आपत्तिके पार होय कन्या, तरुण स्त्री, मन्त्रोंको न पढाहुआ ब्राह्मण, मूर्ख तथा जिसका यज्ञोपवीत संस्कार न हुआ हो वह पुरुष अग्निहोत्रमें होम न करे, ऊपर कहे हुए पुरुष या स्त्री कोई भी यदि अग्निमें होम करता है तो जिसकी अग्निमें ये होम करते हैं वह तथा होम करने

यस्य तत् । तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद्वेदपारगः २२
प्राजापत्यमदत्वाश्वमग्न्याधेयस्य दक्षिणाम्।अनाहिताग्नि-
रिति स प्रोच्यते धर्मदर्शिभिः ॥ २३ ॥ पुण्यानि यानि
कुर्वीत श्रद्दधानो जितेन्द्रियः । अनाप्तदक्षिणैर्यज्ञैर्न यजेत
कथंचन ॥ २४ ॥ प्रजाः पशूंश्च स्वर्गं च हन्ति यज्ञो ह्यद-
क्षिणः । इन्द्रियाणि यशः कीर्तिमायुश्चाप्यवकृन्तति २५
उदक्यामासते ये च द्विजाः केचिदनग्नयः । होमं चाश्रो-
त्रियं येषां ते सर्वे पापकर्मिणः ॥२६॥ उदपानोदके ग्रामे
ब्राह्मणो वृषलीपतिः । उषित्वा द्वादशसमाः शूद्रकर्मैव

वाला दोनों नरकमें पड़ते हैं, होता यज्ञके काममें चतुर और वेदका पारङ्गत होना चाहिये ॥ २१ ॥ २२ ॥ अग्निहोत्रकी दक्षिणामें प्रजापति देवतावाला एक घोड़ा देना चाहिये, जो अग्निहोत्री इस घोड़ेका दान नहीं करता है उसको अग्निहोत्री न कहे, ऐसा धर्मशास्त्रको जाननेवाले पण्डित कहते हैं ॥ २३ ॥ श्रद्धावान् और जितेन्द्रिय पुरुष दूसरे पुण्यके काम करे परन्तु उत्तम दक्षिणा देनेकी शक्ति न हो तो यज्ञ कभी न करे ॥२४॥ क्योंकि—विना दक्षिणा दिये कियाहुआ यज्ञ प्रजा, पशु और स्वर्गका नाश करता है तथा इन्द्रिय; यश कीर्त्ति और आयुका भी नाश करता है ॥२५॥ जो पुरुष रजोदर्शनवाली स्त्रीके साथ समागम करता है, जो ब्राह्मण अग्निहोत्ररहित होता है, जो वेदको जाननेवाले ब्राह्मण शान्त अग्निमें होम करते हैं वे सब पाप कर्म करनेवाले हैं ॥२६॥ जहाँ एक ही कुआ हो ऐसे गाँवमें जो ब्राह्मण बारह वर्षतक रहे और जो ब्राह्मण शूद्रकी कन्यासे विवाह करे, इन दोनोंका काम शूद्रकी समान

गच्छति ॥ २७ ॥ अभार्यां शयने बिभ्रच्छूद्रं वृद्धं च वै द्विजः । अब्राह्मणं मन्यमानस्तृणेष्वासीत पृष्ठतः । तथा संशुध्यते राजन् शृणु चात्र वचो मम ॥२८॥ यदेकरात्रेण करोति पापं निकृष्टवर्णं ब्राह्मणः सेवमानः । स्थानासनाभ्यां विहरन् व्रती स त्रिभिर्वर्षैः शमयेदात्मपापम् ॥२९॥ न नर्मयुक्तमनृतं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले । न गुर्वर्थे नात्मनो जीवितार्थे पंचानृतान्याहुरपातकानि ३०

होता है ॥ २७ ॥ जो ब्राह्मण अविवाहिता कन्याको शय्या पर सुलाता है (उसके साथ व्यभिचार करता है) और जो ब्राह्मण शूद्रजातिके वृद्ध पुरुषको भी मान देता है तथा जो ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यजातिके पुरुष को वृद्ध मानकर उसके पीछे चटाई पर बैठता है वह पातकी होता है, हे राजन् ! वह जैसे शुद्ध होता है उसके विषयमें मेरी बात सुन ॥ २८ ॥ जो ब्राह्मण नीच वर्णके पुरुषकी एक रात्रिसेवा करता है अथवा एक जगह उसके साथ रहता है अथवा एक आसन पर बैठता है इसको जो पाप लगता है उस पापके प्रायश्चित्तके लिये वह तीन वर्ष तक व्रत धारण करके क्षत्रिय अथवा वैश्यके पीछे घासकी चटाई पर बैठा करे अथवा तीन वर्षतक विचरता फिरे तो वह अपने पापको शान्त करता है ॥२९॥ हे राजन् ! दिल्लगीमें असत्य बोलनेसे पाप नहीं लगता है, तथा स्त्रीके पास तथा विवाहके विषयमें (अर्थात् कोई कन्या वा वरके विषयमें कुछ बूझे तो) असत्य बोलनेमें पाप नहीं लगता है, गुरुकी रक्षाके लिये तथा अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये असत्य बोलनेमें भी पाप नहीं लगता है, इन पाँच मिथ्या भाषणोंको शास्त्रवेत्ता

श्रद्दधानः शुभां विद्यां हीनादपि समाप्नुयात्। सुवर्णमपि चामेध्यादाददीताविचारयन् ॥ ३१ ॥ स्त्रीरत्नं दुष्कुलाच्चापि विषादप्यमृतं पिबेत् अदूष्या हि स्त्रियो रत्नमाप इत्येव धर्मतः ॥३२॥ गोब्राह्मणहितार्थञ्च वर्णानां सङ्करेषु च। वैश्यो गृह्णीत शस्त्राणि परित्राणार्थमात्मनः ॥ ३३ ॥ सुरापानं ब्रह्महत्या गुरुतल्पमथापि वा। अनिर्देश्यानि मन्यन्ते प्राणान्तमिति धारणा ॥ ३४ ॥ सुवर्णहरणं स्तैन्यं विप्रस्वञ्चेति पातकम्। विहरन्मद्यपानाच्च अगम्यागमनादपि ॥३५॥ पतितैः सम्प्रयोगाच्च ब्राह्मणीयोनितस्तथा। अचिरेण महाराज पतितो वै भवत्युत ॥ ३६ ॥ सम्व-

---

अपातक कहते हैं ॥३०॥ श्रद्धावान् मनुष्य नीचसे भी उत्तम विद्या पढ़लेय और अपवित्र स्थानमेंसे भी विना विचारे सोना उठालेय ॥ ३१ ॥ दुष्ट कुलमेंसे भी स्त्रीरूप रत्न लेलेय और विषमेंसे भी अमृत निकालकर पीलेय धर्मशास्त्रमें कहा है, कि-स्त्रियें, रत्न और जल दूषित नहीं होते ॥ ३२ ॥ गौ और ब्राह्मणोंके हितके लिये वर्णोंमें सङ्करता आनेके समय और अपने शरीरकी रक्षा करनेकी आवश्यकता पड़ने पर वैश्य हाथमें शस्त्र उठावे ॥ ३३ ॥ मदिरापान, ब्रह्महत्या, गुरुपत्नीगमन इतने पापोंका प्रायश्चित्त ही नहीं है, किन्तु मरण होने पर ही इनसे छूटसकता है, ऐसा शास्त्रमें कहा है ॥३४॥ सोना छीनलेना, चोरी करना और ब्राह्मणका धन छीन लेना यह भी पातक है, हे महाराज ! मद्यपान करनेसे जिनसे समागम नहीं करना चाहिये उन बहिन आदि के साथ समागम करनेसे, पतितोंके साथ सहवास करनेसे तथा ब्राह्मणसे अन्य जातिका मनुष्य ब्राह्मणीके

त्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्। याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात् ॥ ३७ ॥ एतानि हित्वातोन्यानि निर्देश्यानीति भारत।निर्देश्यानेन विधिना कालेनाव्यसनी भवेत् ॥ ३८ ॥ अन्नं वीर्यं गृहीतव्यं प्रेतकर्मण्यपातिते। त्रिषु त्वेतेषु पूर्वेषु न कुर्वीत विचारणम् ॥३९॥ अमात्यान्वा गुरूंश्चापि जह्याद्धर्मेण धार्मिकः। प्रायश्चित्तानि कुर्याच्च न तैरर्हन्ति संविदम् ॥४०॥ अधर्मकारी धर्मेण

साथ गमन करनेसे तुरन्त पतित होजाता है ।३५॥३६। पतितके साथ एक वर्षतक सहवास रखनेसे मनुष्य पतित होजाता है और पतितको यज्ञ करानेसे, वेद पढानेसे, उसके साथ पुत्रका या पुत्रीका सम्बन्ध करनेसे एक सवारीमें साथ बैठनेसे, साथ रहनेसे तथा साथ भोजन करनेसे तुरन्त ही पतित होजाता है ॥ ३७ ॥ हे भरतवंशी राजन्! इन पाँच महापापोंके सिवाय दूसरे पापोंके प्रायश्चित्त कहे हैं, मनुष्य समयानुसार व्रत करता हुआ उन पापोंका प्रायश्चित करके शुद्ध होय और फिर पापमें रुचि ही न करे ॥३८॥ (मद्य पीनेवाला ब्रह्महत्या करनेवाला और गुरुपत्नीके साथ गमन करने वाला) ये तीन पातकीय मरगए हों और उनका अंत्येष्टि-कर्म न कियाहुआ हो तो भी उनका उत्तराधिकारी उनका अन्न और आभूषण आदि विना विचारे लेलेय (क्योंकि-उनका प्रेतकर्म करना कहा ही नहीं है) ॥३९॥ यदि अपने मित्र या गुरु पातकी हों तो धर्मात्मा मनुष्य धर्मके अनुसार उन मित्र और गुरुओंको त्यागदेय तथा (उनके साथ कुछ समय रहा हो तो) स्वयं प्रायश्चित करे, जबतक वे पापी शुद्ध न हों तबतक सदाचारी पुरुष

तपसा हन्ति किल्विषम् । ब्रुवंस्तेन इति स्तेनं तावत्प्राप्नोति किल्विषम् ॥४१॥ अस्तेनं स्तेन इत्युक्त्वा द्विगुणं पापमाप्नुयात् । त्रिभागं ब्रह्महत्यायाः कन्या प्राप्नोति दुष्यती ॥ ४२ ॥ यस्तु दूषयिता तस्याः शेषं प्राप्नोति पाप्मनः । ब्राह्मणानवगर्ह्येह स्पृष्ट्वा गुरुतरं भवेत् ॥४३॥ वर्षाणां हि शतं तावत्प्रतिष्ठां नाधिगच्छति । सहस्रञ्चैव वर्षाणां निपत्य नरके वसेत् ॥ ४४ ॥ तस्मान्नैवावगर्ह्येत नैव जातु निपातयेत् । शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णीयाद् द्विजक्षतात् ॥४५॥ तावतीः स समा राजन् नरके

उनके साथ किसी प्रकारकी बात या विचार न करे ॥४०॥ जो मनुष्य अधर्म मार्गमें चलता हो वह तपकरके धर्मसे अपने पापका नाश करता है, चोरको चोर कहनेसे चोरीका पाप लगता है ॥ ४१ ॥ जो चोर न हो उसको चोर कहनेसे दूना पाप लगता है, कन्या अपने आप शीलसे भ्रष्ट होती है तो उसको ब्रह्महत्याका तीन चौथाई पाप लगता है ॥ ४२ ॥ कन्याके कन्यापनेको दूषित करनेवाले पापीको ब्रह्महत्याका एक चतुर्थांश पाप लगता है, जो द्विजोंका तिरस्कार करता है अथवा निन्दा करता है तथा जो द्विजका गलेंटुआ पकड़ कर धक्का देता है उसको महापाप लगता है ॥ ४३ ॥ वह मनुष्य सौ वर्षतक प्रतिष्ठा नहीं पाता; जो मनुष्य द्विजहत्या करता है वह एक हजार वर्षतक नरकमें पड़ता है ।४४। इसलिये विप्रका तिरस्कार न करे तथा कभी मारे भी नहीं विप्रके शरीरमेंसे निकला हुआ रुधिर धूलिके जितने कणोंको भिगोता है उतने ही वर्षों तक रुधिर निकालने वाला हे राजन् ! नरकमें वास करता है, गर्भहत्या करने

प्रतिपद्यते । भ्रूणहाहवमध्ये तु शुद्ध्यते शस्त्रपातत: ॥४६॥ आत्मानं जुहुयादग्नौ समिद्धे तेन शुद्ध्यते । सुरापो वारुणीमुष्णां पीत्वा पापाद्विमुच्यते ॥ ४७ ॥ तया स काये निर्दग्धे मृत्युं वा प्राप्य शुद्ध्यति । लोकांश्च लभते विप्रो नान्यथा लभते हि स: ॥४८॥ गुरुतल्पमधिष्ठाय दुरात्मा पापचेतन: । स्त्र्याकारां प्रतिमां लिंग्य मृत्युनासोभिशुद्ध्यति ॥ ४६ ॥ अथवा शिश्नवृषणावादायांजलिना स्वयम् ॥५०॥ नैऋर्तीं दिशमास्थाय निपतेत्स त्वजिह्मग: । ब्राह्मणार्थेपि वा प्राणान् संत्यजेत्तेन शुद्ध्यति ॥ ५१ ॥

वाला यदि गौ और विप्रकी रक्षाके लिये युद्धमें शस्त्रोंसे घायल होकर मरता है वह उस पापसे शुद्ध होजाता है ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ अथवा वह जलतेहुए अग्निमें अपने शरीरको होमदेता है तो इससे भी शुद्ध होजाता है, मद्य पीनेवाला पुरुष अग्निकी समान गरम की हुई वारुणी मदिराको पीकर उस पापसे छूटजाता है ॥४७॥ विप्रने यह पाप किया हो तो अग्निकी समान धकधकाती हुई वारुणी सुराको पीनेवाला उस विप्रका शरीर जलजाता है अथवा वह मरजाता है तब शुद्ध होता है और नरकमें पड़ता है, परन्तु ऐसा हुए विना परलोक नहीं मिलता ४८ जो गुरुपत्नीके साथ गमन करता है वह दुष्टात्मा और पापी मनवाला पुरुष लोहेकी स्त्रीकी जलतीहुई मूर्त्तिको लिपटकर मरजाता है तब शुद्ध होता है ॥४६॥ अथवा वह अपने शिश्न और दोनों अण्डकोशोंको अपने आप काट अपनी गोदीमें लेकर मरनेतक सीधा नैऋर्त्य दिशामेंको चलाजाता है तो शुद्ध होता है अथवा वह विप्रकी रक्षाके लिये अपने प्राण त्यागदेता है तो भी

अश्वमेधेन वापीष्ट्वा अथवा गोसवेन वा । अग्निष्टोमेन वा सम्यगिह प्रेत्य च पूज्यते ॥५२॥ तथैव द्वादशसमाः कपाली ब्रह्महा भवेत् । ब्रह्मचारी भवेन्नित्यं स्वकर्म ख्यापयन्मुनिः ॥ ५३ ॥ एवं वा तपसा युक्तो ब्रह्महा सवनी भवेत् । एवं तु समभिज्ञातामात्रेयीं वा निपातयेत् ॥५४॥ द्विगुणा ब्रह्महत्या वै आत्रेयीनिधने भवेत् । सुरापो नियताहारो ब्रह्मचारी क्षितीशयः ॥ ५५ ॥ ऊर्ध्वं त्रिभ्योपि वर्षेभ्यो यजेताग्निष्टुता परम् । ऋषभैकसहस्रं वा गा दत्वा शौचमाप्नुयात् ॥५६॥ वैश्यं हत्वा तु वर्षे

शुद्ध होजाता है ॥ ५० ॥ ५१ ॥ अथवा वह अश्वमेध यज्ञ करनेसे या गोसव यज्ञ करनेसे या अग्निष्टोम यज्ञ करनेसे भी शुद्ध भी होजाता है और इसलोकमें तथा परलोकमें पूजाजाता है ॥ ५२ ॥ विप्रहत्या करनेवाला पुरुष बारह वर्ष तक नगरसे बाहर झोंपडी बनाकर रहे और झोंपडीके ऊपर जिस मनुष्यकी हत्याकी हो उसकी खोपडीको एक लकडीमें टाँगदेय, नित्य ब्रह्मचर्यसे रहे और अपने पापको दूसरोंसे कहे ॥५३॥ इसप्रकार ब्रह्महत्या करनेवाला पुरुष साधुजीवन वितावे (तप करे), प्रातःकाल, मध्याह्न और सन्ध्याकालमें स्नान करे, जो पुरुष गर्भवती स्त्रीको जानकर मार डालता है उसको दुगनी हत्या लगती है ॥५४॥ मदिरा पीनेवाला मनुष्य नियमसे एक समय भोजन करे, ब्रह्मचर्यका पालन करे, भूमिपर सोवे ॥ ५५ ॥ और तीन वर्ष पूरे होजाने पर अग्निष्टोम अथवा ऐसा ही कोई दूसरा यज्ञ करे, फिर एक हजार गौ और एक बैल विप्रोंको दानदेय तब शुद्ध होता है ॥ ५६ ॥ वैश्यकी हत्या होगई हो तो दो वर्ष

द्वे ऋषभैकशतं च गाः। शूद्रं हत्वाब्दमेवैकमृषभं च शतं च गाः ॥५७ श्ववराहखरान् हत्वा शौद्रमेव व्रतं चरेत्। मार्जारचाषमंडूकान् काकं व्यालं च मूषिकम् ॥ ५८ ॥ उक्तः पशुसमो दोषो राजन्प्राणिनिपातनात्। प्रायश्चित्तान्यथान्यानि प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ५९ ॥ अल्पेवाप्यथ शोचेत पृथक् संवत्सरं चरेत्। त्रीणि श्रोत्रियभार्यायां परदारे च द्वे स्मृते ॥ ६० ॥ काले चतुर्थे भुंजानो ब्रह्मचारी व्रती भवेत्। स्थानासनाभ्यां विहरेत्त्रिरन्ह्यभ्युप-

तक ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करे (भूमि पर सोवे और एक समय खाय) और फिर अग्निष्टोम यज्ञ करके एक बैल तथा सौ गौएँ विप्रोंको देय तो शुद्ध होता है, शूद्रकी हत्या होगई हो तो एक वर्ष तक ब्रह्मचर्यादि नियम पाल कर (अग्निष्टोम यज्ञ करे) एक बैल और सौ गौएँ विप्रोंको दानमें देय तो हत्या करनेवाला बैल शुद्ध होता है ॥७५॥ कुत्ता, सुअर और गधेकी हत्या करके शूद्रहत्याका व्रत करे, बिलाव, पपैया, मेंडक, काक, सर्प, चूहा आदिको मारकर भी यही प्रायश्चित्त करे ॥ ५८ ॥ हे राजन्! प्राणियोंकी हत्या करनेसे पशुहत्याकी समान दोष कहा है, अब मैं तुझे क्रमसे दूसरे प्रायश्चित्त सुनाता हूँ ५९ अनजानमें छोटे २ जीवोंका वध होजाय तो पश्चात्ताप रूप प्रायश्चित्त करनेसे शुद्ध होता है अथवा एक वर्षतक कोई व्रत धारण करे, वेदवेत्ता ब्राह्मणकी स्त्रीके साथ व्यभिचार करनेपर तीन वर्षतक तथा अन्य परस्त्रियोंके साथ व्यभिचार करने पर दो वर्ष तक व्रत करे और चौथे समय (सायङ्कालके समय) साधारण भोजन करे तथा ब्रह्मचर्य व्रतपाले, दूसरेकी स्त्रीके साथ हास्य करने

यन्नपः । एवमेव निराकर्ता यश्चाग्नीनपविध्यति ॥ ६१ ॥ त्यजत्यकारणे यश्च पितरं मातरं गुरुम् । पतितः स्यात्स कौरव्य यथा धर्मेषु निश्चयः॥६२॥ग्रासाच्छादनमात्रं तु दद्यादिति निदर्शनम् । भार्यायां व्यभिचारिण्यां निरुद्धायां विशेषतः । यत्पुंसः परदारेषु तदेनां धारयेद् व्रतम् ॥६३॥ श्रेयांसं शयनं हित्वा यान्यं पापं निगच्छति । श्वभिस्तामर्दयेद्राजा संस्थाने बहुविस्तरे ॥६४॥ पुमांसमुन्नयेत्प्राज्ञः शयने तप्त आयसे। अप्याद्धीत दारूणि तत्र दह्येत पापकृत्॥ ६५ ॥ एष दण्डो महाराज स्त्रीणां भर्तृव्यतिक्रमात् । संवत्सरोभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो भवेत् ६६

वाला तथा एक आसन पर बैठनेवाला एक जगह ही बैठा रहे अथवा भूमिपर पडा रहे और तीन दिन तक पानी पर रहे, अग्निमें अपवित्र पदार्थ डालनेवालेके लिये भी यही प्रायश्चित्त है, ऐसा करनेसे शुद्ध होता है, विना कारण माता, पिता और गुरुको त्यागने वाला पतित होजाता है, यह धर्मशास्त्रका निर्णय है ६०–६२ अपनी स्त्री व्यभिचारणी हो या जेलखानेमें होआई हो तो उसको अन्न वस्त्र देय।तथा परस्त्रीके साथ व्यभिचार करनेवालेको जो प्रायश्चित्त कहा है वह उस स्त्रीसे करवावे यह शास्त्रकी मर्यादा है ॥ ६३ ॥ जो उच्च वर्णके पतिको त्यागकर दूसरे नीचवर्णके पतिसे व्यभिचार करती है उस स्त्रीको राजा बहुत चौड़े मैदानमें खडी करके कुत्तोंसे फड़वावे ॥ ६४ ॥ जो पुरुष व्यभिचार करे उसको लोहेकी जलती हुई शय्या पर सुलावे और उसके ऊपर लकडियें डालदेय, कि-जिससे पापकर्म करनेवाला जलमरे॥६५॥हे राजन्! यही दण्ड पतित

द्वे तस्य त्रीणि वर्षाणि चत्वारि सह सेविनि। कुचरः पंचवर्षाणि चरेद्भैक्ष्यं मुनिव्रतः ॥ ६७ ॥ परिवित्तिः परिवेत्ता च या चैव परिविद्यते। पाणिग्राहस्त्वधर्मेण सर्वे ते पतिताः स्मृताः ॥६८॥ चरेयुः सर्व एवैते वीरहा यद् व्रतं चरेत्। चांद्रायणं चरेन्मासं कृच्छ्रं वा पापशुद्धये ॥६९॥ परिवेत्ता प्रयच्छेत तां स्नुषां परिवित्तये। ज्येष्ठेन त्वभ्यनुज्ञातो यवीयानप्यनंतरम्। एवं च मोक्षमाप्नोति तौ च

को छोडकर दूसरोंके साथ व्यभिचार करनेवाली स्त्रीको भी देय, जो दुष्टात्मा पुरुष पापकर्म करनेके बाद एक वर्षतक प्रायश्चित्त नहीं करता है उसको दूना प्रायश्चित्त करना चाहिये और ऐसे पुरुषके साथ जो दो वर्ष तक संसर्ग रखता है वह पुरुष सब पृथिवीकी प्रदक्षिणा करे और भिक्षा माँगकर अजीविका करे, परन्तु जो चार वर्ष तक संसर्ग रक्खे वह पाँच वर्ष तक पृथिवी पर विचरता रहे और भीख माँगकर निर्वाह करे।६६-६७। बड़ेभाईका विवाह न हुआ हो और छोटाभाई विवाह करलेय तो उसको परिवेत्ता कहते हैं, ऐसा करनेसे बडा भाई, छोटा भाई और वियाही हुई स्त्री ये तीनों पतित होजाते हैं ॥ ६८ ॥ इस पापसे छूटनेके लिये वीरहत्या करनेवाला जिस व्रतको करता है उस व्रतको ही ये सब करें, पापकी शुद्धिके लिये एक महीने तक चान्द्रायण व्रत करे अथवा कृच्छ्र व्रत करे ॥६९॥ अथवा छोटा भाई अपनी स्त्रीको बड़ेभाईके सामने खडी करके यह तेरी पुत्रवधू है, ऐसा कहकर सन्मानके साथ उसको अर्पण करदेय, फिर बड़े भाईकी आज्ञासे छोटा भाई उस स्त्रीको स्वीकार करे, तो बडाभाई छोटाभाई और

सा चैव धर्मतः ॥ ७० ॥ अमानुषीषु गोवर्ज्यमनावृष्टिर्न दुष्यति । अधिष्ठातारमंतारं पशूनां पुरुषं विदुः ॥ ७१ ॥ परिधायोर्ध्ववालं तु पात्रमादाय मृन्मयम् । चरेत्सप्तगृहान्नित्यं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥७२॥ तत्रैव लब्धभोजी स्याद् द्वादशाहात्स शुद्ध्यति। चरेत् संवत्सरं चापि तद् व्रतं येन कृन्तति ॥ ७३ ॥ भवेत्तु मानुषेष्वेवं प्रायश्चित्तमनुत्तमम् । दानं वा दानशक्तेषु सर्वमेतत्प्रकल्पयेत् ॥७४॥ अनास्तिकेषु गोमात्रं दानमेकं प्रचक्षते । श्ववराहमनु-

वह विवाहिता स्त्री ये सब धर्मशास्त्रके कहनेके अनुसार पापसे मुक्त होजाते हैं ॥ ७० ॥ गौके सिवाय दूसरे पशुओंकी हिंसा करनेसे पाप नहीं लगता है, क्योंकि-महात्मा कहते हैं कि-पशुओंके ऊपर मनुष्योंका सब प्रकारका स्वामित्व है ॥ ७१ ॥ पातकी मनुष्य हाथमें चमरगौकी पूँछ तथा मट्टीका वर्त्तन लेकर नित्य अपना पापकर्म सबको सुनाताहुआ सात घर भीख माँगनेको जाय और तहाँसे जो मिले उसके ऊपर निर्वाह करे, ऐसा करनेसे बारह दिनमें पवित्र होजाता है, जो चमरगायकी पूँछ न रखसके वह एक वर्षतक व्रतकरे॥७२-७३॥ मनुष्य इसप्रकार उत्तम व्रत करे, जिस मनुष्यको दान करनेकी शक्ति हो वह दान देय; इसप्रकार सब प्रायश्चित्त करें ॥ ७४ ॥ श्रद्धावान् पुरुष केवल एक गौका दान देनेसे भी शुद्ध होजाता है ऐसा ऋषि कहते हैं, कुत्ता, सुअर, मनुष्य, मुरगे और ऊँटका मांस मूत्र तथा विष्टा खानेमें आजाय तो प्रायश्चित्त करे, सोमयज्ञ करनेवालेको मद्य पीनेवालेके मुखकी गन्ध आजाय तो वह तीनदिन गरम जल पिये, तीन दिन गरम दूध पिये

ष्याणां कुक्कुटस्य खरस्य च ॥ ७५ ॥ मांसं मूत्रं पुरीषं च प्राश्य संस्कारमर्हति । ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गंधमादाय सोमपः ॥ ७६ ॥ अपस्त्र्यहं पिबेदुष्णं त्र्यहमुष्णं पयः पिबेत् । त्र्यहमुष्णं पयः पीत्वा वायुभक्षो भवेत्त्र्यहम् ७७ एवमेतत्समुद्दिष्टं प्रायश्चित्तं सनातनम् । ब्राह्मणस्य विशेषेण यदज्ञानेन संभवेत् ॥ ७८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि प्रायश्चित्तीये पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६५॥

वैशम्पायन उवाच । कथान्तरमथासाद्य खड्गयुद्धविशारदः । नकुलः शरतल्पस्थमिदमाह पितामहम् ॥१॥ नकुल उवाच । धनुः प्रहरणं श्रेष्ठमतीवात्र पितामह । मनस्तु मम धर्मज्ञ खड्ग एव सुसंशितः ॥ २ ॥ विशीर्णे कार्मुके राजन् प्रक्षीणेषु च वाजिषु । खड्गेन शक्यते

और तीन दिन तक वायुका भक्षण करे, ऐसा करनेसे वह शुद्ध होजाता है ॥ ७५-७७ ॥ इसप्रकार तुझे सनातन कालका प्रायश्चित्त कहकर सुनादिया, ब्राह्मण ने यदि अनजानमें यह पापकर्म किया हो तो वह विशेषरूपसे प्रायश्चित्त करे ॥७८॥ एक सौ पैंसठवाँ अध्याय समाप्त ॥ १६५ ॥ छ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि—हे जनमेजय ! फिर दूसरी बात चलने पर तलवारके युद्धमें कुशल नकुलने बाणशय्यापर सोयेहुए पितामह भीष्मजीसे इस प्रकार बूझा १ नकुलने कहा, कि-हे धर्मको जाननेवाले पितामह ! धनुष नामका शस्त्र युद्धमें बड़ा श्रेष्ठ मानाजाता है, परन्तु मेरा मन तलवार अच्छी समझता है ॥ २ ॥ क्यों कि—हे राजन् ! जब धनुष टूटजाता है और घोड़े

युद्धे साध्वात्मा परिरक्षितुम् ॥ ३ ॥ शरासनधरांश्चैव गदाशक्तिधरांस्तथा । एकः खड्गधरो वीरः समर्थः प्रतिबाधितुम् ॥ ४ ॥ अत्र मे संशयश्चैव कौतूहलमतीव च । किंस्वित् प्रहरणं श्रेष्ठं सर्वयुद्धेषु पार्थिव ॥५॥ कथञ्चोत्पादितः खड्गः कस्मै चार्थाय केन च । पूर्वाचार्य्यश्च खड्गस्य प्रब्रूहि प्रपितामह ॥ ६ ॥ वैशम्पायन उवाच । तस्य तद्वचनं श्रुत्वा माद्रीपुत्रस्य धीमतः । स तु कौशलसंयुक्तं सूक्ष्मचित्रार्थसम्मतम् ॥ ७ ॥ ततस्तस्योत्तरं वाक्यं स्वरवर्णोपपादितम् । शिक्षया चोपपन्नाय द्रोणशिष्याय भारत ॥ ८ ॥ उवाच स तु धर्मज्ञो धनुर्वेदस्य पारगः । शरतल्पगतो भीष्मो नकुलाय महात्मने ॥६॥

भी मरजाते हैं तब अपने शरीरकी ठीक२ रक्षा तलवार से ही होसकती है ॥ ३ ॥ बहुतसे धनुषधारी, गदाधारी और शक्तिधारियोंको एक तलवार धारण करनेवाला हरा सकता है ॥ ४ ॥ इस विषयमें मुझे बड़ा सन्देह है और बहुत ही आश्चर्य होरहा है कि-सब प्रकारके युद्धोंमें किस शस्त्रको श्रेष्ठ गिना जाय ॥ ५ ॥ हे पितामह ! तलवार कैसे, किसके लिये और किस प्रयोजनसे बनाईगई है तथा इसका पहला आचार्य कौन था, यह मुझे बताइये ? ॥ ६ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि बुद्धिमान् माद्रीके पुत्रकी चतुराईसे भरी, सूक्ष्म अर्थवाली और विचित्र अर्थसे युक्त बातको सुनकर हे भरतवंशी राजन् ! बाणशय्या पर सोएहुए धर्मको जाननेवाले और धनुर्वेदके पारङ्गत भीष्मजीने खुले स्वर और स्पष्ट वर्णोंसे द्रोणाचार्यके शिष्य और शस्त्रविद्याकी शिक्षा पायेहुए महात्मा नकुलसे यह बात कही ॥७-६॥ भीष्मने कहा,

भीष्म उवाच । तत्त्वं शृणुष्व माद्रेय यदेतत् परिपृच्छसि । प्रबोधितोस्मि भवता धातुमानिव पर्वतः ॥ १० ॥ सलिलैकार्णवं तात पुरा सर्वमभूदिदम् । निष्प्रकम्पमनाकाशमनिर्देश्यमहीतलम् ॥ ११ ॥ तमसावृतमस्पर्शमतिगम्भीरदर्शनम् । निःशब्दश्चाप्रमेयश्च तत्र जज्ञे पितामहः १२ सोसृजद्वातमग्निञ्च भास्करञ्चापि वीर्यवान् । आकाशमसृजच्चोर्ध्वमधो भूमिञ्च नैर्ऋतीम् ॥ १३ ॥ नभः सचन्द्रतारञ्च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा । सम्वत्सरानृतून्मासान् पक्षानथ लवान् क्षणान् ॥ १४ ॥ ततः शरीरं लोकस्थं स्थापयित्वा पितामहः । जनयामास भगवान् पुत्रानुत्तमतेजसः ॥ १५ ॥ मरीचिमृषिमत्रिं च पुलस्त्यं पुलहं

कि-हे माद्रीके पुत्र नकुल ! तूने मुझसे जो प्रश्न किया है इसका उत्तर सुन, तूने मुझे जगाकर गेरुवाले पर्वत की समान करदिया है ॥ १० ॥ हे तात ! सृष्टिसे पहले चारों ओर समुद्रका जल फैलाहुआ था, सब जड़साथा, आकाश या पृथिवी कुछ भी नहीं दीखता था ॥ ११ ॥ सब अन्धकारसे ढकाहुआ था, कुछ छुआ नहीं जासकता था, बड़ाही गम्भीर दीखता था, कहीं कुछ शब्द सुनाई नहीं देता था और कुछ नाप भी नहीं होसकता था, ऐसी दशामें ब्रह्माजी उत्पन्न हुए ॥ १२ ॥ पराक्रमी ब्रह्माने पवन, अग्नि, सूर्य, आकाश, ऊपरके लोक, जिनका यम देवता है ऐसे नीचेके लोक आकाश चन्द्रमा, तारे, नक्षत्र, ग्रह, सम्वत्सर, ऋतु, महीने पक्ष, लव (निमेष का छठा भाग) और क्षण आदिको उत्पन्न किया १३।१४ फिर ब्रह्माने लोकोंके निवासरूप अपने शरीरको एक स्थान पर स्थिर किया और उत्तम तेजवाले पुत्रोंको

क्रतुम् । वशिष्ठांगिरसौ चोभौ रुद्रञ्च प्रभुमीश्वरम्।१६।
प्राचेतसस्तथा दक्षः कन्याः षष्टिमजीजनत् । ता वै ब्रह्म-
र्षयः सर्वाः प्रजार्थं प्रतिपेदिरे ॥ १७ ॥ ताभ्यो विश्वानि
भूतानि देवाः पितृगणास्तथा । गन्धर्वाप्सरसश्चैव रक्षांसि
विविधानि च ॥ १८ ॥ पतत्रिमृगमीनाश्च प्लवङ्गाश्च
महोरगाः । तथा पक्षिगणा सर्वे जलस्थलविचारिणः।१६।
उद्भिदः स्वदेजाश्चैव साण्डजाश्च जरायुजाः । जज्ञे तात
जगत् सर्वं तथा स्थावरजङ्गमम् ॥ २० ॥ भूतसर्गमिमं
कृत्वा सर्वलोकपितामहः। शाश्वतं वेदपठितं धर्मं प्रयु-
युजे ततः ॥ २१ ॥ तस्मिन् धर्मे स्थिता देवाः सहाचार्य-

उत्पन्न किया ॥ १५ ॥ (उनके नाम ये थे) ऋषि मरीचि
अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ, और ईश्वर प्रभु
रुद्र तथा प्रचेता ॥ १६ ॥ प्रचेताके पुत्र दक्षने साठ
कन्याएँ उत्पन्न कीं, उन साठों कन्याओंको ब्रह्मर्षियोंने
प्रजा उत्पन्न करनेके लिये वरलिया था ॥ १७ ॥ उन
कन्याओंमेंसे सब प्राणी, देवता, पितरोंके मण्डल, गंधर्व,
अप्सरायें, भाँति २ के राक्षस ॥ १८ ॥ पक्षी, मृग,
मच्छियें, वानर बड़े २ सर्प, जलमें और थलमें विहार
करनेवाले पक्षी ॥ १६ ॥ उद्भिज्ज (पृथिवीको फोड़कर
उत्पन्न होनेवाले वृक्ष), स्वेदज (पसीनेसे उत्पन्न होने
वाले जीव), अंडज (अंडेमेंसे उत्पन्न होनेवाले पक्षी
आदि) और जरायुज (जेलमें लिपटे उत्पन्न होनेवाले
मनुष्य और पशु) उत्पन्न हुए, हे तात! इसप्रकार ब्रह्माने
स्थावर जङ्गम सब जगत्को उत्पन्न किया २० सब लोकोंके
पितामह ब्रह्माने इसप्रकार प्राणियोंकी सृष्टि की, फिर वेद
में कहेहुए सनातनधर्मकी स्थापना की ॥ २१ ॥ आचार्य

पुरोहिताः। आदित्या वसवो रुद्राः ससाध्या मरुद्-
शिवनः ॥२२॥ भृग्वत्र्यंगिरसः सिद्धाः काश्यपाश्च तपो-
धनाः। वशिष्ठगौतमागस्त्यास्तथा नारदपर्वतौ ॥ २३ ॥
ऋषयो वालिखिल्याश्च प्रभासाः सिकतास्तथा ।घृतपाः
सोमवायव्या वैश्वानरमरीचिपाः। आकृष्टाश्चैव हंसाश्च
ऋषयो वाग्नियोनयः। वानप्रस्थाः पृश्नयश्च स्थिता ब्रह्मा-
नुशासने ॥ २५ ॥ दानवेन्द्रास्त्वतिक्रम्य तत् पितामह-
शासनम्। धर्मस्यापचयं चक्रुः क्रोधलोभसमन्विताः २६
हिरण्यकशिपुश्चैव हिरण्याक्षो विरोचनः। शम्बरो विप्र-
चित्तिश्च प्रह्लादो नमुचिर्बलिः ॥२७॥ एते चान्ये च बहवः
सगणा दैत्यदानवाः। धर्मसेतुमतिक्रम्य रेमिरेऽधर्मनि-
श्चयाः ॥ २८ ॥ सर्वे तुल्याभिजातीया यथा देवास्तथा

और पुरोहितोंके सहित देवता, आदित्य, वसु, रुद्र, साध्य, मरुत्, अश्विनीकुमार, भृगु, अंगिरा, सिद्ध, तपोधन, कश्यप, वसिष्ठ, गौतम, अगस्त्य, नारद, पर्वत, बालखिल्य ऋषि, प्रभास नामके ऋषि, सिकत, घृतप, सोम, वायव्य, वैश्वानर, मरीचिप, अकृष्ट, हंस, अग्नियोनि नामके ऋषि, वानप्रस्थ और पृश्नी ये सब ब्रह्मा की आज्ञाके अनुसार वैदिक धर्मका आचरण करने लगे ॥ २२-२५ ॥ दानवोंके राजाओंने ब्रह्माकी आज्ञा नहीं मानी. किन्तु वे धर्मका नाश करनेलगे और क्रोध तथा लोभके वशमें होगए ॥ २६ ॥ हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, विरोचन, शम्बर, विप्रचित्ति, नमुचि, प्रह्लाद, बलि तथा दूसरे दैत्य और दानव अपने गणोंके साथ धर्मकी मर्यादाको त्यागकर अधर्म करनेका निश्चय करके पृथिवी पर विहार करनेलगे ॥ २७ ॥ २८ ॥ वे कहनेलगे

वयम् । इत्येवं धर्ममास्थाय स्पर्द्धमाना सुरर्षिभिः ॥२६॥
न प्रियं नाप्यनुक्रोशं चक्रुर्भूतेषु भारत । त्रीनुपायानुपा-
क्रम्य दण्डेन रुरुधुः प्रजाः ॥ ३० ॥ न जग्मुः संविदन्तैश्च
दर्पादसुरसत्तमाः । अथैव भगवान् ब्रह्मा ब्रह्मर्षिभिरुप-
स्थितः ॥ ३१ ॥ तदा हिमवतः शृङ्गे सुरम्ये पद्मतारके ।
शतयोजनविस्तारे मणिरत्नचयाचिते ॥ ३२ ॥ तस्मिन्
गिरिवरे पुत्र पुष्पितद्रुमकानने । तस्थौ स विबुधश्रेष्ठो
ब्रह्मा लोकार्थसिद्धये ॥ ३३ ॥ ततो वर्षसहस्रान्ते
वितानमकरोत् प्रभुः । विधिना कल्पदृष्टेन यथा-
वच्चोपपादितम् ॥ ३४ ॥ ऋषिभिर्यज्ञपटुभिर्यथावत्

कि-हम भी देवताओंकी समान हैं और एक ही कुलके हैं, ऐसा कहकर देवर्षियोंके साथ होड़ करनेलगे ॥२६॥ हे भरतवंशी राजन् ! वे प्रजाका प्रिय भी नहीं करते थे तथा वे किसीके ऊपर दया भी नहीं करते थे, किन्तु साम आदि तीनों उपायोंको त्यागकर दण्डसे प्रजाको दुःख देते थे ॥ ३० ॥ गर्वमें भरेहुए असुरराजोंने देवताओंके साथ मित्रता नहीं की, ऐसा समय देखकर ब्रह्मर्षि ब्रह्माके पासगए ॥ ३१ ॥ हे बेटा ! उस समय भगवान् ब्रह्माजी लोकोंका कार्य सिद्ध करनेके लिये हिमालयके शिखर पर विराजरहे थे, वह शिखर बड़ा ही रमणीय था, कमलरूप तारागणोंसे भररहा था, सौ योजनमें फैला हुआ तथा मणि और रत्नोंके ढेरोंसे भरपूर था और उस बड़े भारी पर्वतके शिखर परके वनमें फूलोंके पौधे खिलरहे थे३२।३३तहाँ रहतेहुए एक हजार वर्ष बीतगये तब ब्रह्माजीने शास्त्रमें कहीहुई विधिसे यज्ञ करनेका आरम्भ किया ॥ ३४ ॥ यज्ञ करनेमें चतुर और

कर्मकर्तृभिः॥ समिद्भिः परिसंकीर्णं दीप्यमानैश्च पावकैः३५
काञ्चनैर्यज्ञभाण्डैश्च भ्राजिष्णुभिरलंकृतम् । वृतं देव-
गणैश्चैव प्रवरैर्यज्ञमण्डलम् ॥३६॥ तथा ब्रह्मर्षिभिश्चैव
सदस्यैरुपशोभितम् । तत्र घोरतमं वृत्तमृषीणां मे परि-
श्रुतम् ॥ ३७ ॥ चन्द्रमाविमलं व्योम यथाभ्युदिततार-
कम् । विकीर्याग्निं तथा भूतमुत्थितं श्रूयते तदा ॥३८॥
नीलोत्पलदलश्यामं तीक्ष्णदंष्ट्रं कृशोदरम् । प्रांशुं दुर्द्धर्ष-
णञ्चापि अतितेजस्तथैव च ॥ ३९ ॥ तस्मिन्नुत्पतमाने
च प्रचचाल वसुन्धरा । महोर्मिकलिलावर्त्तश्चुक्षुभे स
महोदधिः ॥४०॥ पेतुरुल्का महोत्पाताः शाखाश्च मुमु-

यथार्थ रीतिसे कर्म करनेवाले ऋषि उस मंडपमें बैठेहुए थे, इसलिये जलती हुई अग्नियोंसे यज्ञमंडप भराहुआ सा दिपरहा था ॥ ३५ ॥ यज्ञके पात्र सुवर्णके बनेहुए बड़े चमकदार थे, इसलिये यज्ञमंडप शोभा पारहा था, बड़े २ देवता और सदस्य बनेहुए देवर्षियोंसे वह यज्ञ-मण्डप दिपरहा था, उस यज्ञमण्डपमें एक भयानक घटना होगई, यह मैंने ऋषियोंके मुखसे सुना है३६।३७ मानो चारों ओरको उदय होरहा हो,जैसे निर्मल आकाश में चन्द्रमाका उदय हुआ हो, इसप्रकार एक प्रकाशमान प्राणी, कुण्डके अग्निको इधर उधरको हटाकर उसमेंसे बाहर निकला, यह सुना है ॥ ३८ ॥ उसके शरीरकी कान्ति नीलकमलकेसी थी, उसकी दाढें तीखी थीं, उस का पेट पतला, शरीर ऊँचा तथा बडा ही असह्य और अपार बलवाला था ॥ ३९ ॥ वह प्राणी ज्योंही उछाल मारकर बाहर निकला, कि-पृथिवी डगमगानेलगी,समुद्र में खलभलाहट होनेलगी और बड़ी २ तरङ्गें उठकर

चुद्रुमाः । अप्रशान्ता दिशः सर्वाः पवनाश्चाशिवो ववौ४१
मुहुर्मुहुश्च भूतानि चाव्यथन्त भयात्तथा । ततः स
तुमुलं दृष्ट्वा तं च भूतमुपस्थितम् ॥ ४२ ॥ महर्षिसुरग-
न्धर्वानुवाचेदं पितामहः । मयैवं चिन्तितं भूतमसिर्नो-
मैष वीर्यवान् ॥४३॥ रक्षणाय च लोकस्य वधाय च सुर-
द्विषाम् । ततस्तद्रूपमुत्सृज्य बभौ निस्त्रिंश एव सः ४४
विमलस्तीक्ष्णधारश्च कालान्तक इवोद्यतः॥ ततः स शिति-
कंठाय रुद्रायार्षभकेतवे ॥ ४५ ॥ ब्रह्मा ददावसिं तीक्ष्ण-
मधर्मप्रतिवारणम् । ततः स भगवान् रुद्रो महर्षिजनसं-
स्तुतः ॥४६॥ प्रगृह्यासिममेयात्मा रूपमन्यच्चकार ह ।

भँवर पड़नेलगे ॥ ४० ॥ बड़े उत्पातके साथ उल्कापात होनेलगा, वृक्ष अपनी शाखाओंको छोड़नेलगे, सब दिशायें खलभला उठीं, तीखा पवन चलनेलगा ॥ ४१ ॥ और प्राणी भयके मारे वारम्वार बड़ी पीड़ा पानेलगे, फिर भयानक प्राणीको पासमें आयाहुआ देखकर ॥ ४२ ॥ महर्षि पितामहने देवता और गन्धर्वोंसे कहा, कि— मैं जिसका चिन्तवन कररहा था यह वही प्राणी है, इस का नाम असि है और यह वडा पराक्रमी है ॥ ४३ ॥ लोकोंकी रक्षा करनेके लिये और दैत्योंका नाश करनेके लिये मैंने इसको उत्पन्न किया है, फिर वह प्राणी अपने पहले रूपको त्यागकर तलवारके आकारमें दिपनेलगा ४४ वह तीक्ष्ण धारवाली निर्मल तलवार बनगया, लोकोंका नाश करनेके लिये तत्परहुए कालकी समान वह तलवार दिपनेलगी, फिर भगवान् ब्रह्माने वृषभध्वज रुद्रको अधर्मका नाश करनेवाली तीक्ष्ण तलवार दी, तब महर्षि भगवान् शङ्करकी स्तुति करनेलगे ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

चतुर्बाहुः स्पृशन् मूर्ध्ना भूस्थितोपि दिवाकरम् ॥ ४७ ॥ ऊर्ध्वदृष्टिर्महालिंगो मुखाज्ज्वालाः समुत्सृजन् । विकुर्वन् बहुधा वर्णान्नीलपाण्डुरलोहितान् ॥ ४८ ॥ बिभ्रत् कृष्णाजिनं वासो हेमप्रवरतारकम् । नेत्रञ्चैकं ललाटेन भास्करप्रतिमं वहन् ॥ ४९ ॥ शुशुभातेतिविमले द्वे नेत्रे कृष्णपिङ्गले । ततो देवो महादेवः शूलपाणिर्भगाक्षिहा ॥ ५० ॥ संप्रगृह्य तु निस्त्रिंशं कालाग्निसमवर्चसम् । त्रिकूटं चर्म चोद्यम्य सविद्युतमिवांबुदम् । चचार विविधान्मार्गान् महाबलपराक्रमः ॥ ५१ ॥ विधुन्वन्नसिमाकाशे तथा युद्धचिकीर्षया । तस्य नादं विनदतो

अप्रमेय स्वरूपवाले भगवान् शङ्करने उस तलवारको हाथमें लेकर अपने स्वरूपको बदलडाला, चार भुजावाले बनकर पृथिवी पर खड़े हुए थे तो भी मस्तकसे सूर्यको छूरहे थे ॥ ४७ ॥ उनकी दृष्टि ऊपरको थी, शरीर बहुत बड़ा था, मुखमेंसे अग्निकी ज्वालायें बरसरही थीं, वे प्रायः नीले, धुमैले और लालवर्णको बदलरही थीं ॥ ४८ ॥ वह शरीर पर मृगछाला ओढरहे थे, उसके ऊपर बड़े सुन्दर सुनहरी सितारे चमकरहे थे, उनके ललाटमें तीसरा नेत्र सूर्यकी समान दीखरहा था ॥ ४९ ॥ उनके दूसरे दोनों नेत्र काले और पीले रंगके तथा बहुत ही निर्मल थे, ऐसे महादेव, भगके नेत्रोंके नाशक, शूलधारी रुद्रदेव प्रलयकालकी अग्निकी समान ॥ ५० ॥ खुलीहुई तलवार हाथमें पकड़कर, बिजलीवाले मेघकी समान तीन रेखावाली ढाल लेकर युद्ध करनेकी इच्छासे आकाश में तलवारको घुमानेलगे, बड़े बल और पराक्रमवाले, रुद्रदेव इधर उधरको फिरनेलगे और बडीभारी गर्जना

महाहासं च मुञ्चतः ॥ ५२ ॥ बभौ प्रतिभयं रूपं तदा रुद्रस्य भारत । तद्रूपधारिणं रुद्रं रौद्रकर्मचिकीर्षया ५३ निशम्य दानवाः सर्वे हृष्टाः समभिदुद्रुवुः । अश्मभिश्चाप्यवर्षन्त प्रदीप्तैश्च तथोल्मुकैः ॥ ५४ ॥ घोरैः प्रहरणैश्चान्यैः क्षुरधारैरयोमयैः । ततस्तु दानवानीकं संप्रणेतारमच्युतम् ॥ ५५ ॥ रुद्रं दृष्ट्वा बलोद्भूतं प्रमुमोह चचाल च । चित्रं शीघ्रपदत्वाच्च चरन्तमसिपाणिनम् ॥ ५६ ॥ तमेकमसुराः सर्वे सहस्रमिति मेनिरे । छिन्दन् भिन्दन् रुजन् कृन्तन् दारयन् पोथयन्नपि ॥ ५७ ॥ अचरद्वैरिसंघेषु दावाग्निरिव कक्षगः । असिवेगप्रभग्नास्ते छिन्नबाहूरुवक्षसः ५८ संप्रकीर्णान्त्रगात्राश्च पेतुरुर्व्यां महाबलाः अपरे

करतेहुए खिलखिलाकर हँसनेलगे ॥५१॥५२॥ हे भरतवंशी राजन् ! इस समय रुद्रका रूप बडा भयानक हो होरहा था, महाभयानक कर्म करनेकी इच्छासे रुद्रने रुद्ररूप धारण किया है यह सुनकर सब दानव हर्षमें भरकर रुद्रके ऊपर चढआये, और उनके ऊपर] पत्थर, बलतेहुए ऊके, भयंकर हथियार, और लोहेके छुरे आदि शस्त्रोंकी वर्षा करनेलगे, परन्तु रुद्रको हाथमें तलवार लेकर शीघ्रताके साथ पैदल रणमें घूमते देखकर दानवों की सेना घबडागई और उनमें खलभली, पडगई ५३-५६ रुद्र एक थे परन्तु दैत्योंको वह हजारों रूपसे लडतेहुए दीखरहे थे, जैसे दावानल घासके ढेरमें फैलजाता है ऐसे ही रुद्र शत्रुओंके समूहमें फैलगए और असुरोंको छेदने, भेदने, काटने, कुचलने, घायल करने और संहारने लगे, रुद्रकी तलवार बडी फुरतीसे चलनेके कारण दैत्योंकी भुजा, साँथल और छातियें कटगईं ॥५७-५८॥

दानवा भग्नाः खड्गपातावपीडिताः ॥ ५९ ॥ अन्योन्य-मभिनन्दन्तो दिशः संप्रतिपेदिरे । भूमिं केचित् प्रविविशुः पर्वतानपरे तथा । अपरे जग्मुराकाशमपरेम्भः समाविशन् । तस्मिन् महति सम्वृत्ते समरे भृशदारुणे६१ वभूव भूः प्रतिभयाः मांसशोणितकर्दमा । दानवानां शरीरैश्च पतितैः शोणितोक्षितैः ॥६२॥ समाकीर्णा महाबाहो शैलैरिव सकिंशुकैः । स रुद्रो दानवान् हत्वा कृत्वा धर्मोत्तरं जगत्६३रौद्रं रूपमथोत्क्षिप्य चक्रे रूपं शिवं शिवः॥ ततो महर्षयः सर्वे सर्वे देवगणास्तथा६४जयेनाद्भुतकल्पेन देवदेवं तथार्चयन् । ततः स भगवान् रुद्रो दानवक्षतजो-

कितने ही महाबली दैत्योंकी आँतें और अंग कटकर इधर उधरको जापड़े और वे पृथिवी पर बिखरगए, कितने ही दानव तलवारका झटका लगनेसे पीडा पाकर रणमेंसे भागनेलगे ॥५९॥ कितने ही आपसमें गरजते हुए दिशाओंमेंको भागगए, कितने ही भूमिमें घुसगए और कितने ही पर्वतोंके ऊपर चढगए ॥ ६० ॥ कितने ही आकाशमेंको उडगए- कितने ही जलमें घुसगए, इस प्रकार महादारुण युद्ध चलनेसे पृथिवी भयानक होगई, उसके ऊपर मांस और लोहूकी कीच जमगई और हे महाबाहु राजन् ! दानवोंके नीचे पड़ेहुए लोहूलुहानहुए शरीरोंसे रणभूमि, जैसे फूलोंवाले ढाकके वृक्षोंसे भरेहुए पर्वत शोभा पाते हैं तैसे, शोभा पानेलगी, इसप्रकार भगवान् रुद्रने दानवोंका नाश करके जगत्में धर्मकी स्थापना की ॥ ६१-६३ ॥ फिर अपने रुद्ररूपको त्याग कर शिवरूप धारण किया, तदनन्तर सब महर्षि और देवताओंने आश्चर्यमें डालनेवाली विजय करनेके कारण

जितम् ६५ असिं धर्मस्य गोप्तारं ददौ सत्कृत्य विष्णवे। विष्णुर्मरीचये प्रादात् मरीचिर्भगवानपि ॥६६॥ महर्षिभ्यो ददौ खड्गमृषयो वासवाय च। महेन्द्रो लोकपालेभ्यो लोकपालास्तु पुत्रक ॥ ६७ ॥ मनवे सूर्यपुत्राय ददुः खड्गं सुविस्तरम्। ऊचुश्चैनं तथा वाक्यं मानुषाणां त्वमीश्वर ॥ ६८ ॥ असिना धर्मगर्भेण पालयस्व प्रजा इति। धर्मसेतुमतिक्रान्ताः स्थूलसूक्ष्मात्मकारणात् ।६९। विभज्य दण्डं रक्ष्यास्तु धर्मतो न यदृच्छया। दुर्वाचा निग्रहो दण्डो हिरण्यबहुलस्तथा ॥ ७० ॥ व्यंगता च शरीरस्य वधो वानल्पकारणात्। असेरेतानि रूपाणि

देवदेव शंकरका पूजन किया और भगवान् रुद्रने दानवों के रुधिरसे सनी धर्मकी रक्षा करनेवाली तलवार सत्कार के साथ विष्णुको अर्पण करदी, वह तलवार विष्णुने मरीचिको दी, भगवान् मरीचिने महर्षियोंको भेटमें दी, महर्षियोंने इन्द्रको दी, इन्द्रने लोकपालोंको दी, हे पुत्र! लोकपालोंने वह बड़ी ही विशाल तलवार सूर्यके पुत्र मनु को दी और उससे कहा, कि—तू मनुष्योंका राजा हुआ ॥ ६४-६८ ॥ धर्मकी रक्षा करनेवाली इस तलवार से तू प्रजाका पालन करना, शरीर और मनको प्रसन्न करनेके लिये लोग धर्मके बन्धनको उल्लङ्घन करगए हैं ६९ इसलिये तू अपनी इच्छासे नहीं किन्तु धर्मके अनुसार दण्डका विभाग करके प्रजाकी रक्षा करना, कठोर वचन कहना भी एक प्रकारका दण्ड है, प्रायः सुवर्ण आदि (जुरमाने) का दण्ड करना, उसका नाम भी दण्ड ही है; थोड़े अपराधके लिये मनुष्यके शरीरके किसी अंगको नहीं कटवाना तथा प्राणान्त दण्डकी भी शिक्षा न देना,

दुर्वारादीनि निर्दिशेत् ॥ ७१ ॥ असेरेवं प्रमाणानि परिपाल्य व्यतिक्रमात् । स विसृज्याथ पुत्रं स्वं प्रजानामधिपं ततः ॥ ७२ ॥ मनुः प्रजानां रक्षार्थं क्षुपाय प्रददावसिम् । क्षुपाज्जग्राह चेक्ष्वाकुरिक्ष्वाकोश्च पुरूरवाः॥७३॥ आयुश्च तस्माल्लेभे तं नहुषश्च ततो भुवि । ययातिर्नहुषाच्चापि पूरुस्तस्माच्च लब्धवान् ॥ ७४ ॥ अमूर्त्तरयसस्तस्मात्ततो भूमिशयो नृपः।भरतश्चापि दौष्यन्तिर्लेभे भूमिशयादसिम् ॥ तस्माल्लेभे च धर्मज्ञो राजन्नैलविलस्तथा । ततस्त्वैलविलाल्लेभे धुंधुमारो नरेश्वरः ॥ ७६ ॥ धुंधुमाराच्च काम्बोजो मुचुकुंदस्ततोलभत् । मुचुकुंदान्मरुत्तश्च मरुत्तादपि रैवतः॥७७॥ रैवताद्युवनाश्वश्च युवनाश्वात् ततो रघुः इक्ष्वाकुवंशजस्तस्माद्धरिणाश्वः प्रता-

---

दुर्वचन आदि न कहना ये सब दण्ड तलवारके ही रूप हैं ॥ ७०॥७१ ॥ जो पालन करने योग्य नीतिके मार्गका उल्लङ्घन करते हैं उनको दण्ड देना यह तलवार ही है, मनुने अपने पुत्र क्षुपको प्रजाका अधिपति बनाकर प्रजा की रक्षा करनेके लिये तलवार दी, क्षुपने इक्ष्वाकुको दी, इक्ष्वाकुसे पुरूरवाको मिली ॥ ७२ ॥७३॥ उसने आयुध को दी, आयुधने राजा नहुषको दी, नहुषसे ययातिने पाई, ययातिने अपने पुत्रको दी ॥ ७४ ॥ पुरुने अमूर्त्तरयको दी और अमूर्त्तरयने राजा भूमिशयको दी थी, भूमिशयने दुष्यन्तके पुत्र भरतको दी॥७५॥हे राजन् ! भरतसे वह तलवार धर्मवेत्ता ऐलविलने पाई, ऐलविलसे धर्मज्ञ धुंधुमारने पाई,धुंधुमारसे काम्बोजदेशके राजा मुचुकुन्दने पाई,मुचुकुन्दसे मरुत्तने,मरुत्तसे रैवतने पाई थी॥७६॥७७॥ रैवतसे युवनाश्वने पाई, युवनाश्वसे

पत्वान् ७८॥ हरिणाश्वादसिं लेभे सुनकः सुनकादपि । उशीनरो वै धर्मात्मा तस्माद्भोजः सयादवः ।।७९॥ यदुभ्यश्च शिविर्लेभे शिवेश्चापि प्रतर्दनः। प्रतर्दनादष्टकश्च पृषदश्वोष्टकादपि ॥ ८० ॥ पृषदश्वाद्भरद्वाजो द्रोणस्तस्मात् कृपस्ततः । ततस्त्वं भ्रातृभिः सार्द्धं परमासिमवाप्तवान् ॥ ८१ ॥ कृत्तिकास्तस्य नक्षत्रमसेरग्निश्च दैवतम् । रोहिणी गोत्रमास्याप्य रुद्रश्च गुरुरुत्तमः ॥८२ ॥ असेरष्टौ हि नामानि रहस्यानि निबोध मे । पाण्डवेय सदा यानि कीर्तयन् लभते जयम् ॥ ८३ ॥ असिर्विशसनः खड्गस्तीक्ष्णधारो दुरासदः । श्रीगर्भो विजयश्चैव धर्मपालस्तथैव च ॥ ८४ ॥ अग्र्यः प्रहरणानां च खड्गो

इक्ष्वाकुवंशी रघुने पाई,उससे प्रतापी हरिणाश्वने पाई७८ हरिणाश्वसे वह तलवार शुनकने,शुनकसे धर्मात्मा उशीनरने और उशीनरसे यदुवंशके राजा भोजने पाई थी७९ भोजसे शिविने और शिविसे प्रतर्दनने पाई थी प्रतर्दनसे अष्टकने और अष्टकसे पृषदश्वने ।८०॥ पृषदश्वसे भारद्वाज द्रोणने पाई थी और उससे कृपाचार्यको मिली थी, कृपाचार्यसे तूने और तेरे भाइयोंने वह उत्तम तलवार पाई थी ॥ ८१ ॥ इस तलवारका नक्षत्र कृत्तिका,देवता अग्नि, गोत्र रोहिणी है और इसके आदिगुरु रुद्र हैं८२ अब मैं उस तलवारके गुप्तरूपसे मालूम हुए आठ नामों को बताता हूँ, उनको तू सुन, हे पाण्डुपुत्र! जिन नामों का कीर्त्तन करनेसे मनुष्य विजय पाता है ॥ ८३ ॥ वे नाम इसप्रकार हैं-असि विशसन, खड्ग, तीक्ष्णधार, दुरासद, श्रीगर्भ, विजय और धर्मपाल ॥८४॥ हे माद्रीपुत्र ! हथियारोंमें तलवार श्रेष्ठ हथियार गिनी जाती

माद्रवतीसुते। महेश्वरप्रणीतश्च पुराणे निश्चयं गतः ८५
पृथुस्तूत्पादयामास धनुराद्यमरिन्दमः। तेनेयं पृथिवी
दुग्धा सस्यानि सुबहून्यपि ॥ ८६ ॥ धर्मेण च यथा पूर्वं
वैन्येन परिरक्षिता ॥ ८६ ॥ तदेतदार्षं माद्रेय प्रमाणं
कर्तुमर्हसि। असेश्च पूजा कर्तव्या सदा युद्धविशारदैः८७
इत्येष प्रथमः कल्पो व्याख्यातस्ते सविस्तरः। असेरु-
त्पत्तिसंसर्गो यथावद्भरतर्षभ ॥८८॥ सर्वथैतदिदं श्रुत्वा
खड्गसाधनमुत्तमम्। लभते पुरुषः कीर्त्तिं प्रेत्य चान-
न्त्यमश्नुते ॥ ८९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि खड्गो-
त्पत्तिकथने षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः १६६

है महेश्वरने इसको उत्पन्न किया है और पुराणमें इस
का वर्णन कियागया है ॥ ८५ ॥ शत्रुओंको दबानेवाले
वेनके पुत्र पृथुने धनुषको उत्पन्न किया था और धनुष
की सहायतासे पृथिवीमेंसे बहुतसा धान्य उत्पन्न किया
था और पहलेकी समान पृथिवीकी रक्षाकी थी ॥ ८६ ॥
हे माद्रीके पुत्र! यह ऋषियोंकी कहीहुई बात तुझे माननी
चाहिये और युद्धमें चतुर कहानेवाले पुरुषोंको नित्य
तलवारकी पूजा करनी चाहिये ॥ ८७ ॥ हे भरतवंशके
श्रेष्ठ राजन्! मैंने तुझे यह प्रथम कल्पकी बात विस्तार
से सुनादी तथा तलवारकी उत्पत्ति भी यथार्थ रूपसे
सुनादी ॥ ८८ ॥ मनुष्य तलवारके इस उत्तम साधन
को सुनकर सर्वथा कीर्त्ति पाता है और मरनेके बाद
मुक्ति पाता है ॥ ८९ ॥ एकसौ छियासठवाँ अध्याय
समाप्त ॥ १६६ ॥ छ ॥ छ ॥

वैशम्पायन उवाच । इत्युक्तवति भीष्मे तु तूष्णीं भूते युधिष्ठिरः । पप्रच्छावसथं गत्वा भ्रातॄन् विदुरपञ्चमान् १ धर्मे चार्थे च कामे च लोकवृत्तिः समाहिता । तेषां गरीयान् कतमो मध्यमः को लघुश्च कः ॥ २ ॥ कस्मिंश्चात्मा नियन्तव्यस्त्रिवर्गविजयाय वै । संहृष्टा नैष्ठिकं वाक्यं यथावद्वक्तुमर्हथ ॥ ३ ॥ ततोर्थगतितत्वज्ञः प्रथमं प्रतिभानवान् । जगाद विदुरो वाक्यं धर्मशास्त्रमनुस्मरन् ४ विदुर उवाच । बाहुश्रुत्यं तपस्त्यागः श्रद्धा यज्ञक्रिया क्षमा । भावशुद्धिर्दया सत्यं संयमश्चात्मसम्पदः ॥ ५ ॥ एतदेवाभिपद्यस्व मा ते भूच्चलितं मनः । एतन्मूलौ हि

वैशम्पायन बोले; कि-राजा जनमेजय ! ऐसा उपदेश देकर भीष्मजी चुप होरहे, राजा युधिष्ठिर अपने घर चलेगये और उन्होंने विदुरजीसे तथा अपने चारों भाइयों से बूझा, कि-॥१॥ धर्म अर्थ और काम इन तीन प्रयोजनोंके लिये लोभवृत्ति रहती है; तीनोंमें बडा कौन है; मध्यम कौन है और कनिष्ठ कौन है ॥ २ ॥ त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) को जीतनेके लिये किसमें चित्त लगाये उसको तुम मुझसे हर्षपूर्वक और श्रद्धाके साथ ठीक २ कहिये ॥ ३ ॥ तदनन्तर अर्थशास्त्रके स्वरूपको जानने वाले प्रतिभावान् विदुर धर्मशास्त्रका स्मरण करके पहले कहनेलगे ॥ ४ ॥ विदुरने कहा, कि-हे युधिष्ठिर ! शास्त्र को अधिक पढना, तप, दान, श्रद्धा, यज्ञ करना, क्षमा (किसीके निन्दा करने या मारने पर भी चित्तमें विकार न लाना); भावशुद्धि (निष्कपटता), दया, सत्य और इन्द्रियोंको वशमें रखना ये दश आत्माकी सम्पत्ति हैं ५ तू इस ऐश्वर्यको प्राप्त कर अपने मनको चलायमान न

धर्मार्थावेतदेकपदं हि मे ॥ ६ ॥ धर्मेणैवर्षयस्तीर्णा धर्मे लोकाः प्रतिष्ठिताः । धर्मेण देवता ववृधुर्धर्मे चार्थः समाहितः॥७॥धर्मो राजन् गुणः श्रेष्ठो मध्यमो ह्यर्थ उच्यते । कामो यवीयानिति च प्रवदन्ति मनीषिणः ॥८॥ तस्माद्धर्मप्रधानेन भवितव्यं यतात्मना । तथा च सर्वभूतेषु वर्त्तितव्यं यथात्मनि ॥९॥ वैशम्पायन उवाच । समाप्तवचने तस्मिन्नर्थशास्त्रविशारदः । पार्थो धर्मार्थतत्त्वज्ञो जगौ वाक्यं प्रचोदितः ॥ १० ॥ अर्जुन उवाच । कर्मभूमिरियं राजन्निह वार्त्ता प्रशस्यते । कृषिर्वाणिज्यगोरक्षं शिल्पानि विविधानि च ॥११॥ अर्थ इत्येव सर्वेषां

होने दे, इन साधनोंसे ही धर्म और अर्थ मिलते हैं, मेरी समझमें यही एक उत्तम स्थान है ॥ ६ ॥ ऋषि धर्मसे तरगए हैं, लोक धर्ममें ठहरे हुए हैं, धर्मसे ही देवता बढे हैं और अर्थ भी धर्ममें ही समाया हुआ है ॥ ७ ॥ हे राजन् ! धर्म उत्तम गिनाजाता है, अर्थ मध्यम कहलाता है और काम उनसे भी नीचा है, ऐसा विद्वान् कहते हैं ॥ ८ ॥ इसलिये मनुष्य मनको वश किये हुए धर्मको आगे रखकर वर्त्ताव करे, और सब प्राणियोंमें अपने आत्माकी समान दृष्टि रखकर वर्त्ताव करे ॥९॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! विदुरके कह-चुकने पर युधिष्ठिरके बूझनेसे अर्थशास्त्रमें कुशल, धर्म तथा अर्थके तत्त्वको जाननेवाला अर्जुन बोला ॥ १० ॥ अर्जुनने कहा, कि—हे राजन् ! यह कर्मभूमि है, इसलिये यहाँ कर्मोंका व्यवहार अच्छा मानाजाता है, खेती, व्यापार, गोरक्षा और अनेकों प्रकारकी शिल्पकारी करके धन संग्रह करना यही कर्मोंकी मर्यादा है, श्रुतिमें कहा

कर्मणामव्यतिक्रम । न ऋतेऽर्थेन वर्त्तेते धर्मकामाविति श्रुतिः ॥ १२ ॥ विपयैरर्थवान् धर्ममाराधयितुमुत्तमम् । कामश्चाचरितुं शक्तो दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥ १३ ॥ अर्थस्यावयवावेतौ धर्मकामाविति: श्रुतिः । अर्थसिद्ध्या विनिर्वृत्तावुभावेतौ भविष्यतः ॥१४॥ तद्गतार्थं हि पुरुषं विशिष्टतरयोनयः । ब्रह्माणमिव भूतानि सततं पर्युपासते ॥ १५ ॥ जटाजिनधरा दान्ताः पंकदिग्धा जितेन्द्रियाः । मुण्डानिस्तंतवश्चापि वसंत्यर्थार्थिनः पृथक् ॥ १६ ॥ काषायवसनाश्चान्ये श्मश्रुला ह्रीनिषेविणः । विद्वांसश्चैव शान्ताश्च मुक्ताः सर्वपरिग्रहैः ॥१७॥ अर्थार्थिनः सन्ति केचिदपरे स्वर्गकांक्षिणः । कुलप्रत्याग-

है, कि—धनके विना धर्म और काम सिद्ध नहीं होसकते ॥ ११ ॥ १२ ॥ धनवान् मनुष्य धर्मको उत्तमतासे करसकता है और पुण्य न करने वाले मनुष्योंके लिये दुर्लभ काम भी धनसे ही मिलसकता है ॥ १३ ॥ श्रुतिमें कहा है, कि-धर्म और काम अर्थके अवयव हैं, धन होगा तब ही धर्म और काम सिद्ध होसकेंगे ॥ १४ ॥ सब प्राणी जैसे नित्य ब्रह्माकी उपासना करते हैं, ऐसे ही उत्तम पुरुष नित्य धनवान्की सेवा करते हैं ॥ १५ ॥ जटाधारी, मृगछाला ओढ़नेवाले, दमके साधक, मलिनाङ्ग, जितेन्द्रिय अथवा मुँडेशिरवाले नैष्ठिक ब्रह्मचारी भी धनकी लालसा रखकर माता पितासे अलग रहते हैं १६ कोई गेरुआ वस्त्र पहरनेवाले, दाढ़ी बढ़ाये, लज्जावान् शान्तस्वभावके विद्वान्, सब प्रकारके परिग्रहसे रहित और स्वर्गके अभिलाषी, अपनी कुल-परंपराके अनुसार वर्त्ताव और अपने२ धर्मोंका आचरण करनेवाले पुरुष

माश्चैके स्वं स्वं धर्ममनुष्ठिताः ॥१८॥ आस्तिका नास्तिकाश्चैव नियताः संयमे परे । अप्रज्ञानं तमोभूतं प्रज्ञानं तु प्रकाशिता ॥ १९ ॥ भृत्यान् भोगैर्द्विषो दण्डैर्यो योजयति सोऽर्थवान् । एतन्मतिमतां श्रेष्ठ मतं मम यथातथम् । अनयोस्तु निबोध त्वं वचनं वाक्यकण्ठयोः ।२०। वैशम्पायन उवाच । ततो धर्मार्थकुशलौ माद्रीपुत्रावनन्तरम् । नकुलः सहदेवश्च वाक्यं जगदतुः परम् ॥ २१ ॥ नकुलसहदेवावूचतुः । आसीनश्च शयानश्च विचरन्नपि वा स्थितः । अर्थयोगं दृढं कुर्याद्योगैरुच्चावचैरपि ॥२२॥ अस्मिंस्तु वै विनिर्वृत्ते दुर्लभे परमप्रिये । इह कामानवाप्नोति प्रत्यक्षं नात्र संशयः ॥ २३ ॥ योऽर्थो धर्मेण

भी धनके इच्छुक होते हैं ॥ १७ ॥ १८ ॥ आस्तिक, नास्तिक और नियमसे योगका सेवन करनेवाले पुरुष भी कहते हैं, कि—धन प्रकाशकी समान और निर्धनता अन्धकारकी समान है ॥१९॥ जो मनुष्य अपने आश्रितों को ऐश्वर्यका भोग कराता है और शत्रुओंको दण्ड देता है उसको धनवान् जानो, हे बुद्धिमान् ! मेरा यथार्थ मत है अब आप बोलनेको तयार बैठे हुए नकुल और सहदेवके विचार सुनिये ॥ २० ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! तदनन्तर धर्म और अर्थको समझने वाले माद्रीके पुत्र नकुल सहदेव बोले ॥ २१ ॥ नकुल सहदेव बोले, कि—मनुष्य बैठतेमें, सोतेमें, चलतेमें और खड़े२ धन पानेके छोटे बड़े दृढ़ उपाय करे ॥ २२ ॥ इस परमप्यारे दुर्लभ धनके मिलते ही मनुष्य अपनी कामनाओंको प्रत्यक्षरूपसे पूरी करलेता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ २३ ॥ जो धन धर्मसे युक्त होता है और जो धर्म

संयुक्तो धर्मो यश्चार्थसंयुतः । तद्धित्वामृत-संवादं-
तस्मादेतौ मताविह ॥ २४ ॥ अनर्थस्य न कामोस्ति तथा
र्थोधर्मिणः कुतः । तस्मादुद्विजते लोको धर्मार्थाभ्यो बहि-
ष्कृतः ॥२५॥ तस्माद्धर्मप्रदादेन साध्योर्थः संयतात्मना ।
विश्वस्तेषु हि भूतेषु कल्पते सर्वमेव हि ॥ २६ ॥ धर्मं
समाचरेत्पूर्वं ततोर्थं धर्मसंयुतम् । ततः कामं चरेत्पश्चा-
त्सिद्धार्थः स हि तत्परम् ॥ २७ ॥ वैशंपायन उवाच ।
विरेमतुस्तु तद्वाक्यमुक्त्वा तावश्विनोः सुतौ । भीम-
सेनस्तदा वाक्यमिदं वक्तुं प्रचक्रमे ॥ २८ ॥ भीमसेन
उवाच । न कामः कामयत्यर्थं नाकामो धर्ममिच्छति ।

धन की हानि करनेवाला नहीं होता है ऐसा धन और
धर्म अमृतकी समान है, यह हमारा मत है ॥ २४ ॥
निर्धन मनुष्य अपनी कामना पूरी नहीं करसकता तथा
धर्महीन मनुष्यको धन भी नहीं मिलता है तथा जो
मनुष्य धर्म और धन दोनोंसे हीन होता है, उससे जगत्
घबड़ाजाता है ॥ २५ ॥ इसलिये जितेन्द्रिय पुरुष धर्म
को भी देकर धन प्राप्त करे. जो मनुष्य मेरे कहने पर
विश्वास रखते हैं वे धन पाकर सब कुछ करसकते हैं २६
पहले धर्माचरण करे, फिर धर्मके साथ धन दौलत पैदा
करे और फिर कामना पूरी करे, इस प्रकार त्रिवर्गको
पानेवाला मनुष्य सिद्धार्थ होता है ॥ २७ ॥ वैशम्पायन
कहते हैं, कि—हे जनमेजय! अश्विनीकुमारके पुत्र नकुल
और सहदेव इतना कहकर चुप होरहे, तब भीमसेन
इसप्रकार कहने लगा ॥ २८ ॥ भीमसेनने कहा, कि—
हे युधिष्ठिर! जिसको कामना नहीं होती वह मनुष्य
धनको नहीं चाहता है, जिसको कामना नहीं होती है

नाकामः कामयानोस्ति तस्मात्कामो विशिष्यते ॥ २९ ॥
कामेन युक्ता ऋषयस्तपस्येव समाहिताः । पलाशफल-
मूलादा वायुभक्षाः सुसंयताः ॥ ३० ॥ वेदोपवेदेष्वपरे
युक्ताः स्वाध्यायपारगाः । श्राद्धयज्ञक्रियायां च तथा दान-
प्रतिग्रहे ॥ ३१ ॥ वणिजः कर्षका गोपाः कारवः शिल्पिन-
स्तथा । दैवकर्मकृतश्चैव युक्ताः कामेन कर्मसु ॥ ३२ ॥
समुद्रं वा विशन्त्यन्ये नराः कामेन संयुताः । कामो हि
विविधाकारः सर्वं कामेन संततम् ॥ ३३॥ नास्ति नासी-
न्नाभविष्यद् भूतं कामात्मकात्परम् । एतत्सारं महा-

वह मनुष्य धर्माचरण नहीं करता है तथा जिसको कामना नहीं होती वह कामको भी नहीं चाहता है; इसलिये काम सबसे विशेष मानाजाता है ॥२९॥ ऋषि कामना पूर्ण करनेके लिये तपस्या करनेको सावधान होकर बैठते हैं और पत्ते, फल, मूल तथा वायुका भक्षण करके बड़े ही नियमसे रहते हैं ॥३०॥ कितने ही पुरुष कामना पूरी करनेके लिये वेद और उपवेदोंको पढ़नेमें लगे रहते हैं, कोई दान करते हैं, कोई श्राद्ध करते हैं, कोई यज्ञ करते हैं, कोई दान करते हैं कोई दान लेते हैं, ॥३१॥ व्यापारी किसान, ग्वालिये, शिल्पी, कारीगर तथा देवताओंका पूजन आदि करनेवाले ये सब कामनाके लिये ही कार्यों में गुथे रहते हैं ॥ ३२ ॥ कितने ही मनुष्य कामना पूर्ण करनेके लिये समुद्रमें घुसते हैं, इसप्रकार कामका स्वरूप अनेकों प्रकारका है और सब विश्व कामसे व्याप्त है ३३ ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है, न पहले हुआ है और न आगेको होगा, कि-जो कामनारहित हो, हे महाराज! सत्य बात यह है कि—धर्म और अर्थ इस कामके ही

राज धर्मार्थावत्र संस्थितौ ॥ ३४ ॥ नवनीतं यथा दध्न-
स्तथा कामोर्थधर्मतः । श्रेयस्तैलं हि पिण्याकाद् घृतं श्रेय
उदश्वितः ॥ ३५ ॥ श्रेयः पुष्पफलं काष्ठात्कामो धर्मा-
र्थयोर्वरः । पुष्पितो मध्विव रसः काम आभ्यां तथा स्मृत॥
कामो धर्मार्थ योर्योनिः कामश्चाथ तदात्मकः॥३६॥नाका-
मतो ब्राह्मणाः स्वन्नमर्थान्नाकामतो ददति ब्राह्मणेभ्यः ।
नाकामतो विविधा लोकचेष्टा तस्मात्कामः प्राक् त्रिवर्ग-
स्य दृष्टः ॥३७॥ सुचारुवेषाभिरलंकृताभिर्मदोत्कटाभिः
प्रियदर्शनाभिः । रमस्व योषाभिरुपेत्य कामं कामो हि
राजन् परमो भवेन्नः ॥ ३८ ॥ बुद्धिर्ममैषा परिखास्थि

आधारसे टिके हुए हैं ॥ ३४ ॥ दहीका सार जैसे मा-
खन है, तैसे ही धर्म अर्थका सार काम है, जैसे तिलकी
खलका सार तेल है, जैसे छाछ (मट्ठे) का सार घृत
है ॥ ३५ ॥ जैसे काठका सार फूलफल है, तैसे ही धर्म
और अर्थका उत्तम सार काम है, फूलफलमें जैसे मधु-
रूप रस निकलता है, तैसे ही काममेंसे धन और अर्थ
रूप रस निकलता है, धर्म और अर्थका कारण काम
तदाकार ही है ॥ ३६ ॥ कामके बिना केवल धन होनेसे
ही ब्राह्मण मिष्टान्न नहीं खाते, बिना कामनाके कोई
ब्राह्मणोंको कुछ देता भी नहीं है, जगत्में जो अनेकों
प्रकारके काम कियेजाते हैं, वे भी यदि कामना नहीं
होती तो नहीं कियेजाते, इसलिये त्रिवर्गमें कामको
श्रेष्ठ कहा है ॥ ३७ ॥ इसलिये हे राजन् ! तुम सब
सुन्दर वेषवाली, आभूषणोंसे सजी मदोन्मत्त, देखने
योग्य प्यारी सुन्दरियोंके साथ इच्छानुसार विहार करो
कि-जिससे हमारी कामना पूरी हो ॥ ३८ ॥ चारों ओर

तस्य मा भूद्विचारस्तव धर्मपुत्र । स्यात्संहितं सद्भिरफल्गुसारं ममेति वाक्यं परमानृशंसम् ॥ ३९ ॥ धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या यो ह्येकभक्तः स नरो जघन्यः । तयोस्तु दाक्ष्यं प्रवदन्ति मध्यं स उत्तमो योभिरतस्त्रिवर्गे ॥ ४० ॥ प्राज्ञः सुहृच्चन्दनसारलिप्तो विचित्रमाल्याभरणैरुपेतः । ततो वचः संग्रहविस्तरेण प्रोक्त्वाथ वीरान् विरराम भीमः ॥ ४१ ॥ ततो मुहूर्तादथ धर्मराजो वाक्यानि तेषामनुचिंत्य सम्यक् । उवाच वाचावितथं स्मयन्वै लब्धश्रुतां धर्मभृतां वरिष्ठः॥४२॥ युधिष्ठिर उवाच । निःसंशयं निश्चितधर्मशास्त्राः सर्वे भवन्तो

देखभाल करनेके बाद मैंने अपना यह विचार आपसे कहा है, हे धर्मपुत्र ! अब तुम इस विषयमें विचार न करना, क्योंकि-मैंने जो कुछ कहा है यह सत्पुरुषोंका मानाहुआ, बडा ही साररूप और निष्ठुरतासे रहित है ॥ ३९ ॥ मनुष्य धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्गका एकसाथ ही सेवन करे, जो पुरुष एकका ही सेवन किया करता है उसको अधम जानो, जो पुरुष दोका सेवन करता हो वह मध्यम है तथा जो तीनोंका सेवन करता है वह उत्तम है ॥ ४० ॥ बुद्धिमान्, प्रेमी हृदयका, जिसने शरीरपर चन्दन लेपन किया था ऐसा पुष्पोंके विचित्र गहनोंसे शोभायमान भीमसेन अपने वीर भाइयोंसे संक्षेपमें और विस्तारके साथ ये वचन कहकर चुप हो रहा ॥ ४१ ॥ इसके बाद शास्त्रोंको सुननेवाले धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ धर्मराजने दो घडी तक इन वातों पर अच्छी तरह विचार करके अभिप्राय भरी मुसकुराहट के साथ वाणीसे इसप्रकार कहना आरम्भ किया ॥४२॥

विदितप्रमाणाः । विज्ञातुकामस्य ममेह वाक्यमुक्तं यद्वै नैष्ठिकं तच्छ्रुतं मे । इदं त्ववश्यं गदतो ममापि वाक्यं निबोधध्वमनन्यभावाः ॥ ४३ ॥ यो वै न पापे निरतो न पुण्ये नार्थे न धर्मे मनुजो न कामे । विमुक्तदोषः समलोष्ठकांचनो विमुच्यते दुःखसुखार्थसिद्धेः॥४४॥भूतानि जातिस्मरणात्मकानि जराविकारैश्च समन्वितानि। भूयश्च तैस्तैः प्रतिबोधितानि मोक्षं प्रशंसन्ति न तं च विद्मः ४५ स्नेहेन युक्तस्य न चास्ति मुक्तिरिति स्वयंभूर्भगवानुवाच । बुधाश्च निर्वाणपरा भवन्ति तस्मान्न कुर्यात्प्रियमप्रियं च ॥४६॥ एतत्प्रधानं च न कामकारो यथानियुक्तो-

---

युधिष्ठिरने कहा. कि-तुम सबोंने धर्मशास्त्रका ठीक २ निश्चय किया है और प्रमाणोंको भी जाना है तथा जानना चाहनेवाले मुझे तुमने जो सिद्धान्तरूप वचन सुनाये हैं ये मैंने सुनलिये, परन्तु अब मैं तुमसे जो बात कहता हूँ, उस मेरी बातको भी तुम सावधानचित्त होकर अवश्य सुनो॥ ४३ ॥ जो मनुष्य पाप, पुण्य, धर्म, अर्थ या काममें नहीं लगा रहता है, सब दोषोंसे रहित होता है, मट्टीके ढले और सोनेको समान समझता है वह मनुष्य सुख और दुःख देनेवाले कर्मजालसे छूट जाता है ॥ ४४ ॥ इस संसारमें सब प्राणी जन्मने और मरनेवाले हैं, वे वृद्धावस्था और विषयोंके विकारोंसे भरेहुए होते हैं, उनको अनेकों पुरुष बार २ उपदेश देते हैं, इसलिये वे मोक्षकी प्रशंसा करते हैं, परन्तु वे मोक्षको स्वयं नहीं जानते ॥ ४५ ॥ भगवान् ब्रह्माने कहा है, कि-जो पुरुष विषयोंका अनुरागी होता है उसकी मुक्ति नहीं होती, विद्वान् पुरुष मुक्तिमें लगे रहते हैं,

स्मि तथा करोमि। भूतानि सर्वाणि विधिर्नियुंक्ते विधिर्बलीयानिति वित्त सर्वे ॥ ४७ ॥ न कर्मणाप्नोत्यनवाप्यमर्थं यद्भावि तद्वै भवतीति वित्त । त्रिवर्गहीनोपि हि विन्दतेर्थं तस्मादिदं लोकहिताय गुह्यम् ।४८। वैशंपायन उवाच । ततस्तदग्र्यं वचनं मनोनुगं समस्तमाज्ञाय ततो हि हेतुमत् । तदा प्रणेदुश्च जहर्षिरे च ते कुरुप्रवीराय च चक्रिरेऽञ्जलिम् ॥४९॥ सुचारुवर्णाक्षरचारुभूषितां मनोनुगां निर्धुतवाक्यकण्टकाम् । निशम्य तां पार्थिव पार्थ

इसलिये किसीका प्रिय वा अप्रिय न करे ॥४६॥ मनुष्य अपनी इच्छाके अनुसार कोई काम नहीं करसकता, यही अच्छा है, मैं अपनी इच्छानुसार वर्त्ताव नहीं करसकता किंतु अन्तर्यामीने जैसी प्रेरणा करदी वैसा ही करता हूँ, दैव ही सब प्राणियोंको काम करनेके लिये प्रेरणा करता है, इसलिये तुम सब समझो, कि-दैव ही बड़ा बलवान् है ॥ ४७ ॥ कर्म करनेसे कोई मनुष्य भी न मिलनेवाली वस्तुको नहीं पाता, तुम्हें मालूम हो, कि-जो होनेवाला है वही होता है, मनुष्य धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्गसे रहित होता है वह भी गुप्त ज्ञानको पाजाता है इसलिये गुह्य ज्ञान लोकका हित करनेवाला है ॥४८॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे जनमेजय ! राजा युधिष्ठिरकी मनको रुचनेवाली और हेतुभरी उत्तम बातको सुनकर उस समय वे सब हर्षमें भरगए और आनन्दकी गर्जना करने लगे और उन्होंने कुरुवंशके वीर युधिष्ठिरको प्रणाम किया ॥ ४९ ॥ हे राजन् ! सुन्दर अक्षरोंसे शोभायमान, मनके अनुकूल, कण्टकसमान कठोर वाक्योंसे रहित राजा युधिष्ठिरकी बात सुनकर

भाषितां गिरं नरेन्द्राः प्रशशंसुरेव ते ॥ ५० ॥ स चापि तान् धर्मसुतो महामनास्तदा प्रतीतान्प्रशशंस वीर्य्यवान् । पुनश्च पप्रच्छ सरिद्वरासुतं ततः परं धर्ममहीनचेतसम् ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि षड्जगीतायां सप्तषष्ठ्यधिकशततमोऽध्यायः ।१६७ ।

युधिष्ठिर उवाच । पितामह महाप्राज्ञ कुरूणां प्रीतिवर्धन: । प्रश्नं कश्चित् प्रवक्ष्यामि तन्मे व्याख्यातुमर्हसि १
कीदृशाः मानवाः सौम्याः कैः प्रीतिः परमा भवेत् । आयत्याञ्च तदात्वे च के क्षमास्तान् वदस्व मे ॥ २ ॥ न हि तत्र धनं स्फीतं न च सम्बन्धिबान्धवाः । तिष्ठन्ति यत्र सुहृदस्तिष्ठन्तीति मतिर्मम ॥ ३ ॥ दुर्लभो हि सुहृ-

---

तहाँ बैठेहुए राजा उनकी प्रशंसा करनेलगे ॥ ५० ॥ महामनवाले पराक्रमी राजा युधिष्ठिरने भी उस समय तहाँ बैठेहुए प्रतिष्ठित पुरुषोंकी प्रशंसा की और फिर पूर्ण ज्ञानवाले गङ्गाके पुत्र भीष्मजीसे धर्म विषयमें प्रश्न करनेके लिये उनके पास फिर जापहुँचे ॥५१॥ एक सौ सड़सठवाँ अध्याय समाप्त॥ १६७ ॥ छ ॥

युधिष्ठिरने महात्मा भीष्मसे बूझा, कि- हे कौरवोंकी प्रीतिको बढ़ानेवाले महाबुद्धिमान् पितामह ! मैं आपसे कुछ प्रश्न करना चाहता हूँ, आपको उनका उत्तर देना चाहिये ॥ १ ॥ कैसे मनुष्य सौम्य होते हैं, किनके साथ की हुई प्रीति श्रेष्ठ होती है, आगेके समयमें और वर्त्तमानमें कौनसे मनुष्य हित करसकते हैं । २ ॥ मेरी समझमें जहाँ न उज्ज्वल धन काम देता है, जहाँ न संबन्धी और बान्धव काम देते हैं वहाँ भी काम करनेको

च्छ्रोता दुर्लभश्च हितः सुहृत्। एतत् धर्मभृतां श्रेष्ठ सर्वं व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४ ॥ भीष्म उवाच। सन्धेयान् पुरुषान्राजन्नसंधेयाश्च तत्त्वतः। वदतो मे निबोध त्वं निखिलेन युधिष्ठिर ॥५॥ लुब्धः क्रूरस्त्यक्तधर्मा निकृतिः शठ एव च। क्षुद्रः पापसमाचारः सर्वशंकी तथालसः ६ दीर्घसूत्रोऽनृजुः क्रुष्टो गुरुदारप्रधर्षकः। व्यसने यः परित्यागी दुरात्मा निरपत्रपः ॥ ७ ॥ सर्वतःपापदर्शी च नास्तिको वेदनिन्दकः। संप्रकीर्णेन्द्रियो लोके यः कामं निरतश्चरेत् ॥ ८ ॥ असत्यो लोकविद्विष्टः समये चान

मित्र आकर खड़े होजाते हैं ॥ ३ ॥ कहीहुई बातको सुने ऐसा मित्र मिलना दुर्लभ है, हितकारी मित्र मिलना भी दुर्लभ है, हे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ! यह सब बात मुझे समझाइये ॥४॥ भीष्मजीने कहा, कि-हे युधिष्ठिर! किसके साथ सन्धि करे और किसके साथ सन्धि न करे, यह मैं तुझे पूर्ण रीतिसे समझाता हूँ, सुन ५ लोभी, क्रूर कर्म करनेवाला, धर्मको त्यागनेवाला, धोखा देनेवाला, शठ, क्षुद्र, पापकर्म करने वाला, सबके ऊपर शङ्का रखनेवाला, आलसी ॥ ६ ॥ दीर्घसूत्री (झोली), कुटिल स्वभाववाला, जिसकी सब लोग निन्दा करते हों, गुरुकी स्त्रीसे व्यभिचार करनेवाला, सात व्यसनोंका सेवन करनेवाला, दुःखके समय स्नेहियोंको छोड़देने वाला, दुष्टात्मा, निर्लज्ज ॥ ७ ॥ सब जगह पापदृष्टि रखनेवाला, नास्तिक, वेदका निन्दक, इन्द्रियोंको वशमें न रखनेवाला और जगत्में मनमाना वर्त्ताव करनेवाला ८ मिथ्यावादी, सब लोगोंसे द्वेष करनेवाला, मर्यादामें न रहनेवाला, चुगलखोर, मूढ़मति, मत्सरता रखनेवाला,

वस्थितः। पिशुनोथाकृतप्रज्ञो मत्सरी पापनिश्चयः ॥९॥ दुःशीलोथाकृतात्मा च नृशंसः कितवस्तथा। मित्रैरपकृतिर्नित्यमिच्छतेर्थं परस्य यः ॥१०॥ ददतश्च यथाशक्ति यो न तुष्यति मन्दधीः। अधैर्यमपि यो युंक्ते सदा मित्रं नरर्षभ ॥ ११ ॥ अस्थानक्रोधनो युक्तो यश्चाकस्माद्विरुध्यते। सुहृदश्चैव कल्याणानाशु त्यजति किल्बिषी १२ अल्पेप्यपकृते मूढस्तथाज्ञानात् कृतेपि च। कार्यसेवी च मित्रेषु मित्रद्वेषी नराधिप ॥ १३ ॥ शत्रुर्मित्रमुखो यश्च जिह्मप्रेक्षी विलोचनः। न विरज्यति कल्याणे यः कुर्यात्तादृशं नरम् ॥ १४ ॥ पानपो द्वेषणः क्रोधी निर्घृणः

पापके काम करनेका निश्चय रखनेवाला॥९॥खोटे स्वभाव और पापी मनका, क्रूर, जुआरी, सदा मित्रोंका अपकार करनेवाला, पराये धनको चाहनेवाला, ॥१०॥ यथाशक्ति धनदेनेवालेके ऊपर भी सन्तुष्ट न रहनेवाला, मन्दबुद्धि और हे राजन्! सदा मित्रोंका धीरज तोड़नेवाला ११ क्रोधका कारण न होनेपर भी जो क्रोध करे, चञ्चलचित्त बिना कारणके विरोध करनेवाला ॥१२॥ मित्रोंने थोडा सा भी अपकार किया हो अथवा उनसे अनजानमें अपराध बनगया हो तो भी मूढकी समान स्वार्थ साधनेमें तत्पर स्वार्थके लिये ही मित्रोंसे मिलनेवाला मित्रोंका द्वेषी ॥ १३ ॥ बातोंमें मित्रता दिखानेवाला परन्तु शत्रुकी समान काम करनेवाला, चाहे जितना भला किया हो तो भी उसमें दोष देखनेवाला, उलटी दृष्टि करनेवाला और जो किसीका भी भला होते देख उदास हो जाय, ऐसे मनुष्यका त्याग करदेना चाहिये ॥ १४ ॥ मद्य पीनेवाला, द्वेष करनेवाला, क्रोधी, निर्दयी, कठोर

पुरुषस्तथा। परोपतापी मित्रध्रुक् तथा प्राणिवधे रतः१५ कृतघ्नश्चाधमो लोके न संधेयः कदाचन। छिद्रान्वेषी ह्यसन्धेयः सन्धेयानपि मे शृणु॥ १६ ॥ कुलीना वाक्य सम्पन्ना ज्ञानविज्ञानकोविदाः। रूपवन्तो गुणोपेतास्तथा लुब्धा जितश्रमाः ॥ १७॥ सन्मित्राश्च कृतज्ञाश्च सर्वज्ञा लोभवर्जिताः। माधुर्यगुणसम्पन्नाः सत्यसन्धा जितेन्द्रियाः ॥ १८ ॥ व्यायामशीलाः सततं कुलपुत्राः कुलोद्वहाः। दोषैः प्रमुक्ताः प्रथितास्ते ग्राह्याः पार्थिवैर्नराः१९ यथाशक्तिसमाचाराः संप्रतुष्यन्ति हि प्रभो। नास्थाने क्रोधवन्तश्च न चाकस्माद्विरागिणः ॥ २० ॥ विरक्ताश्च

वर्त्ताव करनेवाला, दूसरोंको कष्ट देनेवाला, मित्रोंसे द्रोह करनेवाला तथा प्राणियोंकी हिंसा करनेमें तत्पर१५ कृतघ्नी और लोगोंमें अधम मानाहुआ इनके साथ कभी सन्धि (मित्रता) न करे,जिसका छिद्र देखनेका स्वभाव हो उसके साथ भी मित्रता न करे, अब सन्धि करने योग्य पुरुषोंको भी मुझसे सुन ॥ १६ ॥ कुलीन, बातके पक्के, ज्ञान विज्ञानमें प्रवीण, रूपवान्,गुणवान् निर्लोभ काम करनेमें न थकनेवाले ॥ १७ ॥ उत्तम मित्रोंवाले, कृतज्ञ, सर्वज्ञ, लोभरहित, मधुरताका गुण रखनेवाले, सच्ची प्रतिज्ञा करने वाले जितेन्द्रिय॥१८॥नित्य व्यायाम (कसरत) करनेवाले,अच्छे कुलमें उत्पन्नहुए,स्त्री पुत्रादि परिवारका पालन करनेवाले, और जो दोषोंसे रहित प्रसिद्ध हों,ऐसे मनुष्योंके साथ राजा मित्रता करे ॥१९॥ हे राजन्! जो शक्तिके अनुसार काम करते हैं,संतोषी होते हैं, अनुचित बात पर क्रोध नहीं करते हैं, एकायकी उदास नहीं होते हैं ॥ २० ॥ मनमें अप्रसन्न होने पर

न कुर्यन्ति मनसाप्यर्थकोविदाः। आत्मानं पीडयित्वापि सुहृत्कार्यपरायणाः। विरज्यन्ति न मित्रेभ्यो वासो रक्तमिवाविकम् ॥ २१ ॥ क्रोधाच्च लोभमोहाभ्यां नानर्थं युवतीषु च। न दर्शयन्ति सुहृदो विश्वस्ता धर्मवत्सलाः॥२२॥लोष्ठकाञ्चनतुल्यार्थाः सुहृत्सु दृढबुद्धयः। ये चरन्त्यभिमानानि सृष्टार्थमनुषंगिणः संगृह्णन्तः परिजनं स्वाम्यर्थपरमाः सदा ॥ २४ ॥ ईदृशैः पुरुषश्रेष्ठैर्यः सन्धिं कुरुते नृपः ॥ २४ ॥ तस्य विस्तीर्यते राज्यं ज्योत्स्ना ग्रहपतेरिव । शास्त्रनित्या जितक्रोधा बलवन्तो

भी जो किसीका बुरा नहीं करते किन्तु मनको शान्त रखते हैं,अपने आप दुःख सहकर स्नेहियोंके काम करने में लगे रहते हैं, जो मित्रोंसे उकताते नहीं हैं, जो रँगे हुए ऊनी वस्त्रकी समान अपने रंगको नहीं छोड़ते हैं२१ क्रोधके कारण जो निर्धन मनुष्योंके साथ रूखा वर्त्ताव नहीं करते हैं, जो लोभ और मोहके कारण स्त्रियोंके ऊपर अप्रीति नहीं दिखाते हैं, जिनका हृदय स्नेहसे भरा होता है, जो विश्वासपात्र और धर्मप्रेमी हों॥२२॥ जो मट्टीका ढला और सोनेको एकसमान समझते हैं, जो अपने स्नेहियोंमें दृढतासे जमे रहते हैं, जो अभिमान रहित होते हैं।तथा शास्त्र और प्रारब्ध कर्मके अनुसार वर्त्ताव करते हैं ॥ २३ ॥ अपने कुटुम्बियोंके साथ मेल रखकर उनको इकट्ठा रखते हैं, सदा अपने स्वामी का काम करनेमें लगे रहते हैं.ऐसे महात्मा पुरुषोंके साथ जो राजा मित्रता करता है,उस राजाका राज्य चन्द्रमा की चाँदनीकी समान फैलता है, जो बराबर शास्त्रका अभ्यास रखते हैं,जिन्होंने क्रोधको जीतलिया है,जो सदा

रणे सदा ॥ २५ ॥ जन्मशीलगुणोपेताः सन्धेयाः पुरुषोत्तमाः । ये च दोषसमायुक्ता नराः प्रोक्ता मयानघ ॥ २६ ॥ तेषामप्यधमा राजन् कृतघ्ना मित्रघातकाः । त्यक्तव्यास्तु दुराचाराः सर्वेषामिति निश्चयः ॥ २७ ॥ युधिष्ठिर उवाच । विस्तरेणाथ संबन्धं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः । मित्रद्रोही कृतघ्नश्च यः प्रोक्तस्तद्वदस्व मे ॥ २८ ॥ भीष्म उवाच । हन्त ते वर्त्तयिष्येहमितिहासं पुरातनम् । उदीच्यां दिशि यद् वृत्तं म्लेच्छेषु मनुजाधिप ॥ २९ ॥ ब्राह्मणो मध्यदेशीयः कश्चिद्वै ब्रह्मवर्जितम् । ग्रामं वृद्धियुतं वीक्ष्य प्राविशद्भैक्ष्यकांक्षया ॥ ३० ॥ तस्य दस्युर्धन-

रणमें बलवान् रहते हैं, उत्तम कुलमें पैदाहुए, शीलवान् और उत्तम गुणोंसे युक्त होते हैं, उन महात्मा पुरुषों के साथ राजा मित्रता करे हे निर्दोष राजन्! मैंने तुझे जो दोषोंवाले पुरुष बताये हैं उनमें भी जो अधम होता है वह तो कृतघ्न और मित्रोंका घात करनेवाला होता है, ऐसे दुराचारी मनुष्यसे बचारहे, यह सबका निश्चय है ॥ २४-२७ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि-अब किसका संग करना चाहिये और किसका त्याग करना चाहिये, इस बातको मैं आपसे विस्तारके साथ सुनना चाहता हूँ. आपने जिसको मित्रद्रोही और कृतघ्न कहा है वह कौन है, यह भी मुझे बताइये ॥ २८ ॥ भीष्मजीने कहा, कि हे राजा युधिष्ठिर! मैं तुझे इस विषय पर एक पुराना इतिहास सुनाता हूँ, उसको सुन, यह घटना उत्तरदिशा में म्लेच्छोंमें हुई थी ॥ २९ ॥ एक ब्राह्मण मध्यदेशमें रहता था, वह वेदको पढाहुआ नहीं था, एक दिन वह आजीविकाके लिये भीख माँगनेकी इच्छासे किसी

युनः सर्ववर्णविशेषवित् । ब्रह्मण्यः सत्यसन्धश्च दाने च निरतो भवत् ॥ ३१ ॥ तस्य क्षयमुपागम्य ततो भिक्षामयाचत । प्रतिश्रयञ्च वासार्थं भिक्षां चैवाथ वार्षिकीम् ॥३२॥ प्रादात्तस्मै स विप्राय वस्त्रञ्च सदशं नवम् । नारीञ्चापि वयोपेतां भर्त्रा विरहितां तथा ॥३३॥ एतत् संप्राप्य हृष्टात्मा दस्योः सर्वं द्विजस्तथा । तस्मिन् गृहवरे राजंस्तया रेमे स गौतमः ॥३४॥कुटुम्बार्थञ्च दास्याश्च साहाय्यञ्चाप्यथाकरोत् । तत्रावसत् स वर्षांश्च समृद्धे शबरालये ॥ ३५ ॥ बाणवेधे परं यत्नमकरोच्चैव गौतमः । चक्रांगान् स च नित्यं वै सर्वतो वनगोचरान्३६

सम्पत्तिमान् ग्राममें जापहुँचा ॥ ३० ॥ उस ग्राममें एक दस्यु (भील) रहता था,वह धनवान्,सब वर्णोंके धर्मको जाननेवाला, ब्राह्मणोंका रक्षक; सत्यवादी और दान करनेका प्रेमी था ॥ ३१ ॥ उस ब्राह्मणने उस दस्यु राजाके घर जाकर भीख माँगी. दस्युने उसको ठहरनेके लिये स्थान, एक वर्षके निर्वाहके योग्य भिक्षा. नया कोरा एक वस्त्र तथा युवा अवस्थाकी एक पतिहीन दासी दी ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ दस्युसे यह सब वस्तुएँ पाकर वह ब्राह्मण प्रसन्नहुआ और वह गौतम नामका ब्राह्मण उस दस्युके दियेहुए घरमें रहकर उस दासीके साथ विलास करनेलगा ॥ ३४ ॥ और दासीके कुटुम्ब की सहायता करनेलगा,वह ब्राह्मण उन शिकारी भील के सम्पत्तिवान् घरमें बहुत वर्षोंतक रहता रहा ॥३५॥ उससमय वह गौतम बाणोंसे पक्षियोंको बींधनेका बडा यत्न करनेलगा और दस्युओंकी समान वनमें रहनेवाले हंसोंको चारों ओरसे शिकार करनेलगा वह पर दिन

गौतमो राजन् यथा दस्युगणास्तथा। हिंसापटुर्घृणा-
हीनः सदा प्राणिवधे रतः ॥ ३७ ॥ गौतमः सन्निकर्षेण
दस्युभिः समताभियात्। तथा तु वसतस्तस्य दस्युग्रामे
सुखं तदा ॥३८॥ अगमन् बहवो मासा निघ्नतः पक्षिणो
बहून्। ततः कदाचिदपरो द्विजस्तं देशमागतः ॥ ३६ ॥
जटाचीराजिनधरः स्वाध्यायपरमः शुचिः। विनीतो निय-
ताहारो ब्रह्मण्यो वेदपारगः ॥४०॥ स ब्रह्मचारी तद्देश्यः
सखा तस्यैव सुप्रियः। तं दस्युग्राममगमद्यत्रासौ गौत-
मोऽवसत् ॥ ४१ ॥ स तु विप्रगृहान्वेषी शूद्रान्नपरिव
र्जकः। ग्रामे दस्युसमाकीर्णे व्यचरत् सर्वतो दिशम् ४२

दिन हिंसा करनेमें प्रवीण, निर्दयी और सदा प्राणियोंकी
हिंसा करनेमें तत्पर रहनेलगा ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ गौतम
दस्युओंके साथ रहनेसे उनकी समान बनगया, वह
दस्युके गाँवमें बड़े सुखसे रहता था ॥ ३८ ॥ इसप्रकार
बहुतसे पक्षियोंका वध करतेहुए उसको कितने ही
महीने बीतगए, तदनन्तर एक दिन उस गाँवमें एक
दूसरा ब्राह्मण आपहुँचा ॥ ३६ ॥ वह जटा रखायेहुए
शरीर पर फटे वस्त्र और मृगछाला ओढे हुए था, वह
नित्य स्वाध्याय करताहुआ पवित्रतासे रहता था, विनय-
वान्, नियमसे भोजन करने वाला, ब्राह्मणके कर्ममें
परायण और वेदमें पारङ्गत था ॥४०॥ वह ब्रह्मचर्यका
पालन करनेवाला और गौतमके देशका ही था तथा
उसका बड़ा प्यारा मित्र था, वह उस ही दस्युओंके
ग्राममें आपहुँचा जहाँ गौतम रहता था ॥ ४१ ॥ वह
शूद्रका अन्न नहीं खाता था, इसलिये उस दस्युओंसे
भरेहुए ग्राममें किसी ब्राह्मणको घर ढूँढताहुआ चारों

ततः स गौतमगृहं प्रविवेश द्विजोत्तमः । गौतमश्चापि सम्प्राप्तस्तावन्योन्येन सङ्गतौ ॥ ४३ ॥ चक्राङ्गभारस्कन्धन्तं धनुष्पाणिं धृतायुधम् । रुधिरेणावसिक्ताङ्गं गृहद्वारमुपागतम् ॥ ४४ ॥ तं दृष्ट्वा पुरुषादाभमपध्वस्तं क्षयागतम् । अभिज्ञाय द्विजो व्रीडन्निदं वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ४५ ॥ किमिदं कुरुषे मोहाद्विप्रस्त्वं हि कुलोद्वहः । मध्यदेशपरिज्ञातो दस्युभावं गतः कथम् ॥ ४६ ॥ पूर्वान् स्मर द्विज ज्ञातीन् प्रख्यातान् वेदपारगान् । तेषां वंशेभिजातस्त्वमीदृशः कुलपांसनः॥ ४७ ॥ अवबुद्ध्यात्मनात्मानं सत्त्वं शीलं श्रुतं दमम्। अनुक्रोशञ्च संस्मृत्य

ओर घूमा ॥४२॥ तदनन्तर वह श्रेष्ठ ब्राह्मण गौतमके घर जापहुँचा और इतनेमें ही गौतम भी आगया और दोनोंका सामना होगया ॥ ४३ ॥ परन्तु इस समय गौतम कन्धे पर मरेहुए हंसोंको लादेहुए था, उसके हाथमें धनुष और शस्त्र थे तथा उसका शरीर रुधिरसे सनाहुआ था, इसलिए वह राक्षससा दीखरहा था, इस प्रकार वह अपने कर्मसे भ्रष्ट होगया था, वह ज्यों ही घर आया,कि उसको देखकर आगन्तुक ब्राह्मण लज्जित होता हुआसा इसप्रकार कहने लगा कि–॥ ४४॥४५ ॥ तू मूर्खतावश यह क्या कररहा है, तू ब्राह्मण है और ब्राह्मणके वंशको बढानेवाला है, उत्तम कुलमें जन्म लेकर और मध्य देशमें सबका परिचित होकर भी दस्यु क्यों बनगया ? ॥ ४६ ॥ हे ब्राह्मण ! तू अपने वेदके पारङ्गत प्रसिद्ध पूर्वपुरुषोंको याद कर, हाय हाय ! उनके वंशमें तू ऐसा कुलकलङ्क पैदा होगया ! ॥ ४७ ॥ अरे ! तू अपने स्वरूपको तो पहिचान, अपने मानसिकबल,

त्यज ग्रासमिमं द्विज ॥ ४८ ॥ स एवमुक्तः स सुहृदा तेन तत्र हितैषिणा । प्रत्युवाच ततो राजन् विनिश्चित्य तदार्त्तवत् ॥ ४९ ॥ निर्धनोस्मि द्विजश्रेष्ठ नापि वेदविदप्यहम् । वित्तार्थमिह सम्प्राप्तं विद्धि मां द्विजसत्तम॥५०॥ त्वद्दर्शनात्तु विप्रेन्द्र कृतार्थोस्म्यद्य वै द्विज । आवां हि सह यास्यावः श्वो वसस्वाद्य शर्वरीम् ॥५१॥ स तत्र न्यवसद्विप्रो घृणी किञ्चिदसंस्पृशन् । क्षुधितश्छन्द्यमानोपि भोजनं नाभ्यनन्दत ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने अष्टषष्ट्यधिकशततमोध्यायः॥१६८॥

भीष्म उवाच । तस्यां निशायां व्युष्टायां गते तस्मिन्

शील, शास्त्र ज्ञान, दम और दयाभावको तो याद कर! तथा इस दस्युओंके ग्राममें रहना छोडदे ॥ ४८ ॥ इस प्रकार हितैषी मित्रने गौतमसे कहा, तब हे राजन् ! गौतमने विचार करके दुःखी मनुष्यकी समान उत्तर दिया ॥ ४९ ॥ हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! मैं निर्धन हूँ और मुझे वेद भी नहीं आता है, हे द्विजवर ! तुझे मालूम हो, कि-मैं यहाँ धनके लिये आया था ॥ ५० ॥ हे विप्रेन्द्र ! हे द्विज ! आज तेरा दर्शन पाकर मैं कृतार्थ होगया, आजकी रात यहाँ ठहरो, कल हम तुम दोनों साथ चलेंगे ॥ ५१ ॥ वह आगन्तुक दयालु ब्राह्मण तहाँ ठहर गया, परन्तु उसने गौतमकी किसी वस्तुको छुआ नहीं वह भूखा था और भोजनकी बडी इच्छा हो रही थी,तो भी उसने गौतमके यहाँ भोजन करना स्वीकार नहीं किया।५२॥एक सौ अडसठवाँ अध्याय समाप्त॥१६८॥

भीष्मने कहा, कि-हे भरतवंशी पुत्र युधिष्ठिर ! वह

द्विजोत्तमे । निष्क्रम्य गौतमोऽगच्छत् समुद्रं प्रति भारत ? सामुद्रिकान् स वणिजस्ततोऽपश्यत् स्थितान् पथि । स तेन सह सार्थेन प्रययौ सागरं प्रति । स तु सार्थो महान् राजन् कस्मिंश्चिद्गिरिगह्वरे । मत्तेन द्विरदेनाथ निहतः प्रायशोऽभवत् ॥३॥ स कथञ्चिद्भयात्तस्माद्विमुक्तो ब्राह्मणस्तथा । कान्दिग्भूतो जीवितार्थी प्रदुद्रावोत्तरां दिशम् ॥४॥ स तु सार्थपरिभ्रष्टस्तस्माद्देशात्तथा च्युतः । एकाकी व्यचरत्तत्र वने किंपुरुषो यथा ॥५॥ स पन्थानमथासाद्य समुद्राभिसरं तदा । आससाद वनं रम्यं दिव्यं पुष्पितपादपम् ॥६॥ सर्वर्तुकैराम्रवणैः पुष्पितैरुपशोभितम् । नन्द-

रात बीतगई, दूसरे दिन वह आगन्तुक उत्तम ब्राह्मण तहाँसे चलागया और गौतम भी उस गाँवमेंसे निकल कर समुद्रके किनारेकी ओरको चलदिया ॥ १ ॥ इसी समय उसने समुद्रके किनारेके पासके मार्गमें कितने ही समुद्रके व्यापारियोंको खड़ेहुए देखा, वे महासागरकी ओरको जारहे थे, उनके साथ गौतम भी महासागरकी ओरको चलागया ॥ २ ॥ यह वैश्योंका बडा भारी सङ्घ था, वह सङ्घ (वैश्यसमूह) फिरता २ एक पहाड़की गुफामेंको जारहा था, इतनेमें ही एक मतवाले हाथीने उस संघमेंके बहुतसे मनुष्योंको मारडाला ॥३॥ गौतम ब्राह्मण बडी कठिनतासे उस हाथीके भयसे बचगया, डरके मारे उसको दिशाओंका भान भी नहीं रहा और अपने प्राण बचानेके लिये उत्तर दिशाकी ओरको भागने लगा ॥ ४ ॥ इसप्रकार उस संघसे और अपने देशसे दूर होकर वह वनमें किंपुरुषकी समान अकेला घूमने लगा ॥ ५ ॥ वह समुद्रकी ओरके मार्गमेंको जानेलगा,

नोद्देशसदृशं यक्षकिन्नरसेवितम् ॥ ७ ॥ शालैस्तालैस्त-
मालैश्च कालागुरुवनैस्तथा। चन्दनस्य च मुख्यस्य पादपै-
रुपशोभितम्। गिरिप्रस्थेषु रम्येषु तेषु तेषु सुगन्धिषु ८
समन्ततो द्विजश्रेष्ठास्तत्राकूजन्त वै तदा। मनुष्यवद-
नाश्चान्ये भारुण्डा इति विश्रुताः ॥ ९ ॥ भूलिङ्गशकु-
नाश्चान्ये सामुद्राः पर्वतोद्भवाः। स तान्यतिमनोज्ञानि
विहङ्गानां रुतानि वै॥१०॥ शृण्वन् सुरमणीयानि विप्रो-
गच्छत् स गौतमः। ततोपश्यत् सुरम्ये वै सुवर्णसि-
कताचिते ॥ ११ ॥ देशे समे सुखे चित्रे स्वर्गोद्देशसमे
नृप। श्रिया जुष्टं महावृक्षं न्यग्रोधञ्च सुमण्डलम् १२

चलते २ एक पुष्पित वृक्षोंके दिव्य वनमें जापहुँचा ॥६॥
सब ऋतुओंमें फल देनेवाले आमके वृक्षोंसे पुष्पित हुए
बागोंसे वह वन शोभा पारहा था, वह नन्दनवनकी समान
सुन्दर मालूम होता था, उसमें यक्ष और किन्नर रहते
थे ॥ ७ ॥ साल, ताल, तमाल, काली अगर और उत्तम
जातिके चन्दनके वृक्षोंसे वह वन शोभा पारहा था, वह
वन पर्वतके भिन्न २ सुगन्धित स्थानोंमें था ॥ ८ ॥ तहाँ
मनुष्योंकी समान मुखवाले भारण्डके नामकी जातिके
पक्षी चारों ओर शब्द कररहे थे ॥ ९ ॥ भूलिङ्ग नामके
पक्षी तथा समुद्रमें और पर्वतोंपर उत्पन्न होनेवाले
पक्षी भी अतिमनोहर शब्द कररहे थे ॥ १० ॥ गौतम
ब्राह्मण उनके अतिमनोहर शब्दोंको सुनताहुआ आगेको
चलागया, उन अत्यन्त रमणीय वनोंमें सोनेकी रेतीसे
भरा स्वर्गकी समान सुखकारी और सुन्दर सपाट स्थान
उसने देखा हे राजन्! तहाँ शोभायमान और एक
बडका वृक्ष खडा था, वह गोलाकार था॥११॥१२॥उसमें

शाखाभिरनुरूपाभिर्भूषितश्छत्रसन्निभम् । तस्य मूलञ्च संसिक्तं वरचन्दनवारिणा ॥ १३ ॥ दिव्यपुष्पान्वितं श्रीमत् पितामहसभोपमम् । तं दृष्ट्वा गौतमः प्रीतो मनःकान्तमनुत्तमम् ॥१४॥ मेध्यं सुरगृहप्रख्यं पुष्पितैः पादपैर्वृतम् । तमासाद्य मुदा युक्तस्तस्याधस्तादुपाविशत् १५ तत्रासीनस्य कौन्तेय गौतमस्य सुखः शिवः। पुष्पाणि समुपस्पृश्य प्रववावनिलः शुभः। ह्लादयन् सर्वगात्राणि गौतमस्य तदा नृप । स तु विप्रः प्रशान्तश्च स्पृष्टः पुण्येन वायुना । सुखमासाद्य सुष्वाप भास्करश्चास्तमभ्यात्॥१७ ततोऽस्तं भास्करे याते सन्ध्याकाल उपस्थिते । आजगाम स्वभवनं

सुन्दर बहुतसी शाखायें थीं, इसलिये वह बड छत्रसा मालूम होता था, उसकी जडमें उत्तम चन्दनका जल सींचा जाता ।१३। उसमें दिव्य फूल आरहे थे, वह बड पितामह ब्रह्माकी सभाकी समान शोभायमान दीखता था, मनको बड़ा ही अच्छा मालूम होता था, पवित्र और देवताओंके मन्दिरकी समान था और फूलोंवाले कितने ही वृक्षोंसे घिराहुआ था, इस बड़के वृक्षको देख कर गौतम प्रसन्न हुआ ॥ १४-१५ ॥ हे कुन्तीपुत्र ! तहाँ फूलोंका स्पर्श करनेवाला शीतल और सुखदायक पवन चलरहा था, हे राजन् ! उसने गौतमके सब अङ्गों को प्रसन्न करदिया ॥ १६ ॥ पवित्र और शीतल पवनके स्पर्शसे उस ब्राह्मणकी बड़ीभारी थकावट दूर होगई और सुख मिलनेसे वह सोगया तथा सूर्य भी अस्त होगया ॥ १७ ॥ सूर्य अस्त हुआ और सन्ध्याका समय होगया, उस समय पक्षियोंमें उत्तम बकराज ब्रह्माकी सभामेंसे अपने स्थान पर लौटकर आया (वह उस बड़के

ब्रह्मलोकात् खगोत्तमः१८नाडीजंघ इति ख्यातो दयितो ब्रह्मणः सखा।बकराजो महाप्राज्ञः कश्यपस्यात्मसंभवः१९ राजधर्मेति विख्यातो बभूवाप्रतिमो भुवि। देवकन्यासुतः श्रीमान् विद्वान् देवसमप्रभः२०मृष्टाभरणसम्पन्नो भूषणैरर्कसन्निभैः। भूषितः सर्वगात्रेषु देवगर्भः श्रिया ज्वलन्॥ २१ ॥ तमागतं खगं दृष्ट्वा गौतमो विस्मितोऽभवत्। क्षुत्पिपासापरिश्रान्तो हिंसार्थी चाभ्यवैक्षत २२ राजधर्मोवाच। स्वागतं भवतो विप्र दिष्ट्या प्राप्तोऽसि मे गृहम्। अस्तश्च सविता याति सन्ध्येयं समुपस्थिता२३

वृक्ष पर रहा करता था) ॥१८॥ उसका नाम नाडीजङ्घ था और वह ब्रह्माका प्यारा मित्र था, वह बकराज बड़ा बुद्धिमान् और कश्यपका पुत्र था ॥१९॥ पृथिवी पर वह राजधर्मा नामसे प्रसिद्ध था,विद्वान् और देवताकी समान कान्तिमान् था तथा देवकन्यासे जन्मा था ॥ २० ॥ वह सब शरीर पर सूर्यकी समान चमकते हुए सुन्दर आभूषणोंको पहरेहुए था, इसलिये देवपुत्रकी समान जाज्वल्यमान दीखता था ॥ २१ ॥ उस पक्षीको आते हुए देखकर गौतम आश्चर्यमें पड़गया, भूख और प्यास लगने से वह थकगया था, इसलिये उसको मारकर खानेके विचारसे वह उसकी ओरको देखनेलगा ॥२२॥ राजधर्मा उस ब्राह्मणको देखकर बोला, कि-हे ब्राह्मण! तुम मेरे घर पधारे, यह बड़ा अच्छा हुआ, सूर्य अस्त होगया, सन्ध्याका समय होगया है ॥ २३ ॥ और मेरे घर तुम उत्तम अतिथिके रूपमें आये हो; इसलिये मेरी ओरसे

अद्य त्वं निलयं प्राप्तः प्रियातिथिरनिन्दितः । पूजितो यास्यसि प्रातर्विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६९॥

भीष्म उवाच । गिरं तां मधुरां श्रुत्वा गौतमो विस्मितस्तदा । कौतूहलान्वितो राजन् राजधर्माणमैक्षत ॥१॥ राजधर्मोवाच । भोः कश्यपस्य पुत्रोऽहं माता दाक्षायणी च मे । अतिथिस्त्वं गुणोपेतः स्वागतं ते द्विजोत्तम ॥२॥ भीष्म उवाच । तस्मै दत्त्वा स सत्कारं विधिदृष्टेन कर्मणा। शालपुष्पमयीं दिव्यां बृषीं वै समकल्पयत् ॥३॥ भगीरथरथाक्रान्तदेशान् गङ्गानिषेवितान्। ये चरन्ति महामीनास्तांश्च तस्यान्वकल्पयत् ॥४॥ वह्निश्चापि सुसंदीप्तं

पूजाको ग्रहण करके कलको यहाँसे जाना ॥ २४ ॥ एक सौ उनहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥ १६९ ॥ छ ॥

भीष्मने कहा, कि–हे युधिष्ठिर ! बकराजकी मीठी बात सुनकर गौतमको अचरज हुआ और वह राजधर्मा की ओरको कौतुकसे देखनेलगा॥१॥राजधर्माने कहा, कि–हे ब्राह्मण ! मैं कश्यपका बेटा हूँ, मेरी माताका नाम दाक्षायणी है ! तू गुणवान् अतिथि मेरे यहाँ पधारा है तो हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! यह तेरा आना बड़ा ही अच्छा हुआ ॥ २ ॥ भीष्मने कहा, कि–हे युधिष्ठिर ! ऐसा कहनेके बाद राजधर्माने शास्त्रमें लिखी विधिसे उसका सत्कार किया और सालके फूलोंसे भराहुआ एक दिव्य आसन उसको बैठनेके लिये दिया ॥३॥ और फिर उसने भोजन करनेके लिये बड़ा मच्छ परोसा,जो मच्छ भगीरथके रथसे चिन्हित गङ्गाके पवित्र प्रवाहमें विचरनेवाला

मीनांश्चापि सुपीवरान् । स गौतमायातिथये न्यवेदयत काश्यपिः ॥ ५ ॥ भुक्तवन्तञ्च तं विप्रं प्रीतात्मानं महातपाः । क्लमापनयनार्थं स पक्षाभ्यामभ्यवीजयत् ६ ततो विश्रान्तमासीनं गोत्रप्रश्नमपृच्छत । सोऽब्रवीद् गौतमोऽस्मीति ब्रह्म नान्यदुदाहरत् ॥ ७ ॥ तस्मै पर्णमयं दिव्यं दिव्यपुष्पाभिवासितम् । गन्धाढ्यं शयनं प्रादात् स शिष्ये तत्र वै सुखम् ॥ ८ ॥ अथोपविष्टं शयने गौतमं धर्मराट् तथा । पप्रच्छ काश्यपो वाग्मी किमागमनकारणम् ॥ ९ ॥ ततोऽब्रवीद् गौतमस्तं दरिद्रोऽहं महामते । समुद्रगमनाकांक्षी द्रव्यार्थमिति भारत॥१०॥तं काश्यपोऽब्रवीत् प्रीतो नोत्कण्ठां कर्त्तुमर्हसि । कृतकार्यो द्विज-

---

था ॥ ४ ॥ अत्यन्त प्रज्वलित अग्नि और बड़ी ही मोटी२ मछलियें राजधर्माने गौतमको भेंट कीं ॥ ५ ॥ जब वह ब्राह्मण प्रसन्न मनसे भोजन करनेको बैठा, उस समय महातपस्वी बकराज उसकी थकावट दूर करनेके लिये अपने दोनों पंखोंसे उसकी हवा करनेलगा ॥ ६ ॥ जब ब्राह्मण विश्रामके साथ बैठा तब बकराजने उसका गोत्र बूझा, तब गौतमने कहा, कि-मैं ब्राह्मण हूँ और मेरा नाम गौतम है, इतना कहकर वह चुप होरहा॥७॥ बकराजने भोजन करलेनेके बाद उस ब्राह्मणको दिव्य पुष्पोंसे सुगन्धित कियाहुआ एक पत्तोंका बिछौना दियाट गौतम शय्या पर बैठा तब मधुरभाषी, कश्यपके धर्मराज समान पुत्र बकने बूझा, कि-तुम्हारा यहाँ आगमन किसलिये हुआ है ? ॥९॥ हे भरतवंशी राजन् ! गौतम बोला, कि-हे महामते बकराज!मैं दरिद्री हूँ और धनके लिये समुद्रकी यात्रा करना चाहता हूँ ॥१०॥ कश्यपके

श्रेष्ठ सत्कृतो यास्यसे गृहान् ॥ ११ ॥ चतुर्विधा अर्थसिद्धिर्बृहस्पतिमतं यथा । पारंपर्यं तथा दैवं काम्यं मैत्रमिति प्रभो ॥ १२ ॥ प्रादुर्भूतोस्मि ते मित्रं सुहृत्त्वञ्च मम त्वयि । सोहं तथा यतिष्यामि भविष्यति यथार्थवान् ॥ १३ ॥ ततः प्रभातसमये सुखं दृष्ट्वाब्रवीदिदम् । गच्छ सौम्य पथानेन कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ १४ ॥ इतस्त्रियोजनं गत्वा राक्षसाधिपतिर्महान् । विरूपाक्ष इति ख्यातः सखा मम महाबलः ॥ १५ ॥ तं गच्छ द्विजमुख्य त्वं स मद्वाक्यप्रचोदितः । कामानभीप्सितांस्तुभ्यं दाता नास्त्यत्र संशयः ॥ १६ ॥ इत्युक्तः प्रययौ राजन् गौतमो

पुत्र बकराजने प्रसन्न होकर उससे कहा, कि-तुम समुद्रकी यात्रा करनेकी उत्कण्ठा न करो, हे श्रेष्ठ ब्राह्मण! तुम्हारा काम सिद्ध होगया, तुम धन लेकर घरको जाना ॥११॥ बृहस्पति मुनिने कहा, है, कि-चार प्रकारसे धनकी प्राप्ति होती है, एक तो बापदादेकी सम्पत्ति मिले दूसरे अचानक दैवयोगसे मिलजाय, तीसरे परिश्रम करनेसे मिलता है और चौथे मित्रोंकी सहायतासे धन मिलजाता है १२ मैं तेरा मित्र होगया और मेरा तेरे ऊपर सुहृद्भाव होगया है, इसलिये मैं वही उद्योग करूँगा, जिससे तू धनवान् होजाय ॥ १३ ॥ रात बीतगई, प्रातःकाल होगया, शुभ समय देखकर बकराजने कहा, कि-हे शान्तस्वभाव गुणवान् ब्राह्मण ! तू इस मार्गमेंको होकर जा, तेरा काम सिद्ध होजायगा ॥१४॥ यहाँसे तीन योजनकी दूरी पर पहुँचजायगा तब वहाँ मेरा मित्र महाबलवान् राक्षसोंका महाराजा विरूपाक्ष रहता है ॥१५॥ हे उत्तम ब्राह्मण ! मेरे कहनेसे उसके पास जा, वह निःसन्देह तेरे मनकी

विगतक्लमः। फलान्यमृतकल्पानि भक्षयन् स यथेष्टतः१७ चन्दनागुरुमुख्यानि त्वक्पत्राणां वनानि च। तस्मिन् पथि महाराज सेवमानो द्रुतं ययौ ॥ १८ ॥ ततो मेरुव्रजं नाम नगरं शैलतोरणम्। शैलप्राकारवप्रञ्च शैलयात्राकुलं तथा ॥ १९ ॥ विदितश्चाभवत्तस्य राक्षसेन्द्रस्य धीमतः। प्रहितः सुहृदा राजन् प्रीयमाणो प्रियातिथिः ॥ २० ॥ ततः स राक्षसेन्द्रः स्वान् प्रेष्यानाह युधिष्ठिर। गौतमो नगरद्वाराच्छीघ्रमानीयतामिति २१ ततः पुरवरात्तस्मात् पुरुषा श्येनचेष्टनाः। गौतमेत्यभिभाषन्तः पुरद्वारमुपागमन् ॥ २२ ॥ ते तमूचुर्महाराज

कामनाओंको पूरी करदेगा ॥१६॥ हे राजन्! बकराजने ऐसा कहा, तब जिसकी थकावट दूर होगई थी, ऐसा गौतम मार्गमें जातेहुए इच्छानुसार अमृत समान मीठे फलोंको खाताहुआ चलने लगा ॥ १७ ॥ चन्दन अगर और तजके वनोंको मार्गमें देखता२ वह ब्राह्मण शीघ्रतासे मार्गको विताने लगा ॥१८॥ इतनेमें ही राक्षसका मेरुवज्र नामका नगर आया. इस नगरके चारों ओर पर्वतका किला था, उसके दरवाजे भी पत्थरके ही थे, उसके चारों ओर खाइयें थीं और बड़े २ पत्थर तथा यंत्र (तोपें) परकोटेके आगे तयार धरे थे ॥ १९ ॥ हे राजन्! वह राक्षसोंका राजा बुद्धिमान् था, उसने जानलिया, कि मेरे मित्रने मेरे यहाँ अपने प्यारे अतिथिको भेजा है, उसने ऊपरसे अपने नौकरोंको आज्ञा दी, कि जाओ जाओ नगरके द्वार परसे शीघ्र ही गौतमको यहाँ लिवा लाओ ॥२० ॥ २१॥ राक्षसराजकी आज्ञा होते ही उस महानगरीमेंसे उसके सेवक शिकरेकी समान फुरतीसे

राजप्रेष्यास्तदा द्विजम् । त्वरस्व तूर्णमागच्छ राजा त्वां द्रष्टुमिच्छति ॥२३॥ राक्षसाधिपतिर्वीरो विरूपाक्ष इति श्रुतः । स त्वां त्वरति वै द्रष्टुं तत् क्षिप्रं संविधीयताम्॥२४॥ततः स प्राद्रवद् विप्रो विस्मयाद् विगतक्लमः । गौतमः परमर्द्धिं तां पश्यन् परमविस्मितः ॥ २५ ॥ तैरेव सहितो राज्ञो वेश्म तूर्णमुपाद्रवत् । दर्शनं राक्षसेन्द्रस्य काङ्क्षमाणो द्विजस्तदा ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७० ॥

भीष्म उवाच । ततः स विदितो राज्ञः प्रविश्य गृहमुत्तमम् । पूजितो राक्षसेन्द्रेण निषसादासनोत्तमे ॥ १ ॥

दौड़े और हे गौतम ! ओ गौतम ! इसप्रकार पुकारते हुए नगरीके दरवाजे पर आये ॥ २२ ॥ हे महाराज ! उन राजपुरुषोंने उसी समय गौतम ब्राह्मणसे कहा, कि-तू बहुत शीघ्रतासे चल हमारा राजा तुझे देखना चाहता है ॥ २३ ॥ राक्षसोंका अधिपति वीर विरूपाक्ष तुझसे मिलनेके लिये बडी जल्दी कररहा है, इसलिये तू शीघ्र ही चल ॥२४॥ यह सुनकर गौतम ब्राह्मणकी थकन दूर होगई, आश्चर्यमें होकर एकदम राजाके नौकरोंके साथ झपटा चलागया, उसको उस राजाकी महासमृद्धि देख कर बडा अचरज हुआ ॥२५॥ तुरन्त ही राक्षसराजके दर्शन करनेकी इच्छासे उनही सेवकोंके साथ राजमहलमें पहुँचगया ।२६। एक सौ सत्तरवाँ अध्याय समाप्त १७०

भीष्मने कहा, कि-हे राजा युधिष्ठिर ! गौतम राक्षसराजके घरमें पहुँचगया, उसी समय राजाने उसको पहचाना. उसकी पूजाकी फिर एक उत्तम आसन पर

पृष्टश्च गोत्रचरणं स्वाध्यायं ब्रह्मचारिकम्। न तत्र व्याजः हारान्यद्गोत्रमात्राद्दते द्विजः ॥ २ ॥ ब्रह्मवर्च्चसहीनस्य स्वाध्यायोपरतस्य च । गोत्रमात्रविदो राजा निवासं समपृच्छत॥३॥राक्षस उवाच । क्व ते निवासः कल्याण किं गोत्रा ब्राह्मणी च ते । तत्त्वं ब्रूहि न भीः कार्य्या विश्वसस्व यथा सुखम् ॥४॥ गौतम उवाच । मध्यदेश-प्रसूतोहं वासो मे शबरालये। शूद्रा पुनर्भूर्भार्य्या मे सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ५ ॥ भीष्म उवाच । ततो राजा विममृशे कथं कार्यमिदं भवेत् । कथं वा सुकृतं मे स्यादिति बुद्ध्यान्वचिन्तयत्॥६॥ अयं वै जन्मना विप्रः

बैठाला ॥ १ ॥ फिर राक्षसराजने उससे उसका गोत्र, शाखा तथा ब्रह्मचर्य अवस्थामें वेद पढनेके विषयमें प्रश्न किया, गौतमने गोत्रके सिवाय और किसी प्रश्नका उत्तर नहीं दिया ॥२॥ फिर ब्रह्मतेजसे रहित वेदका स्वाध्याय न करनेवाले और केवल गोत्रको ही जाननेवाले गौतमसे राजाने उसका निवासस्थान बूझा ॥ ३ ॥ राक्षसने कहा कि-हे कल्याणरूप ब्राह्मण! तू कहाँ रहता है, तेरी स्त्री किस गोत्रकी है, तू सत्य कहना, डरना नहीं निःसङ्कोच होकर हमारे ऊपर विश्वास रखना ॥४॥ गौतमने कहा, कि-मेरा जन्म मध्यदेशका है, मैं भीलोंके गाँवमें रहता हूँ, मेरी स्त्री शूद्र जातिकी और पुनर्भू (करावकी) है, यह बात मैं आपसे सत्य कहता हूँ ॥ ५ ॥ भीष्मने कहा, कि-हे युधिष्ठिर! फिर राक्षसराज अपने मन ही मनमें विचार करने लगा कि-अब क्या करना चाहिये? और मुझे पुण्यकी प्राप्ति किसप्रकार हो? ॥ ६ ॥ यह जन्मसे ब्राह्मण है और महात्मा राजधर्मा बकराजका

सुहृत्तस्य महात्मनः। सम्प्रेषितश्चतेनायं काश्यपेन ममा-
न्तिकम् ७तस्य प्रियं करिष्यामि स हि मामाश्रितः सदा।
भ्राता मे बान्धवश्चासौ सखा च हृदयङ्गमः८कार्त्तिक्यामद्य
भोक्तारः सहस्रं मे द्विजोत्तमाः। तत्रायमपि भोक्ता च
देयमस्मै च मे धनम् ॥ ९ ॥ स चाद्य दिवसः पुण्यो
ह्यतिथिश्चायमागतः। संकल्पितश्चैव धनं किं विचार्यमतः
परम् ॥१०॥ ततः सहस्रं विप्राणां विदुषां समलंकृतम्।
स्नातानामनुसम्प्राप्तं सुमहत्क्षौमवाससाम् ॥११॥ताना-
गतान् द्विजश्रेष्ठान् विरूपाक्षो विशाम्पते। यथार्हं प्रति-
जग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १२ ॥ बृष्यस्तेषान्तु सन्न्य-
स्ता राक्षसेन्द्रस्य शासनात्। भूमौ वरकुशास्तीर्णाः

मित्र है, उस कश्यपके पुत्रने इसको मेरे पास भेजा है ७
मुझे अपने उस मित्रके मनका काम करना चाहिये.
क्योंकि-वह सदा मेरा आश्रित है, मेरा बान्धव है;
मेरा भाई है और मेरे हृदयमें बसनेवाला मेरा सखा
है ॥८॥ आज कार्त्तिकी पूर्णिमा है, इसलिये मुझे अपने
यहाँ एकहजार ब्राह्मणोंको भोजन कराना है, यह गौतम
भोजन करेगा और मैं इसको धन दूँगा ॥ ९ ॥ आज
पुण्यतिथि है, मेरे यहाँ यह अतिथि आया है, मैंने
ब्राह्मणोंको धन देनेका सङ्कल्प किया है, इसलिये अब
विचार क्यों कियाजाय ! ॥ १० ॥ समय होते ही एक
हजार विद्वान् ब्राह्मण न्हाधोकर चन्दनलगा, पुष्पमालाएँ
पहरकर रेशके वस्त्र पहरेहुए तहाँ आगए ॥ ११ ॥
हे राजन्! राक्षसोंके राजा विरूपाक्षने उन उत्तम ब्राह्मणोंका
शास्त्रमें लिखी विधिसे उचित सत्कार किया॥१२॥और
राक्षसराजकी आज्ञासे उसके सेवकोंने हे भरतसत्तम !

प्रेष्यभरतसत्तम ॥ १३ ॥ तासु ते पूजिता राज्ञा निषण्णा द्विजसत्तमाः । तिलदर्भोदकेनाथ अर्चिता विधिवद्द्विजाः ॥ १४ ॥ विश्वेदेवाः सपितरः साग्नयश्चोपकल्पिताः । विलिप्ताः पुष्पवन्तश्च सुप्रचाराः सुपूजिताः १५ व्यराजन्त महाराज नक्षत्रपतयो यथा । ततो जाम्बूनदीः पात्रीर्वज्राङ्का विमलाः शुभाः ॥ १६ ॥ वरान्नपूर्णा विप्रेभ्यः प्रादान्मधुघृतप्लुताः। तस्य नित्यं सदाषाढ्यां माघ्यां च बहवो द्विजाः१७ईप्सितं भोजनवरं लभन्ते सत्कृतं सदा । विशेषस्तु कार्त्तिक्यां द्विजेभ्यः संप्रयच्छति१८शरद्व्यपाये रत्नानि पौर्णमास्यामिति श्रुतिः।सुवर्णं रजतं चैव मणीनथ च मौक्तिकान् ॥ १९ ॥ वज्रान्महाधनांश्चैव

भूमि पर बड़े सुंदर,कुशाके आसन लाकर बिछादिये१३ उन आसनों पर ब्राह्मण बैठगए, राजाने तिल, कुशा और जलसे उन ब्राह्मणोंका विधिपूर्वक पूजन किया १४ उन ब्राह्मणोंमेंसे कितनों हीको विश्वेदेवता, पितर और अग्नि बनाया, चन्दन लगाया और फूलोंकी मालायें पहराईं, इसप्रकार उनका उत्तमरीतिसे पूजन किया ॥१५॥ हे महाराज!! उस समय वे ब्राह्मण चन्द्रमाकी समान दिपरहे थे, तदनन्तर राक्षसराजने उन ब्राह्मणोंको मीठे और घीमें बनायाहुआ अन्न, हीरे जड़ी चमकती हुई सोनेकी थालियोंमें भरकर वे दान करके दीं ॥१६॥ उस राक्षसराजके यहाँ प्रतिवर्ष आषाढके और माघके महीनेकी पूर्णिमाके दिन बहुतसे ब्राह्मण सत्कारके साथ इच्छानुकूल भोजन किया करते थे विशेषकर शरद् ऋतु बीत जाने पर शरद् पूर्णिमाके दिन ब्राह्मणोंको रत्नोंका दान दिया जाता था,उसमें सोना,चाँदी,मणि,रत्न मोती,

वैदूर्याजिनरांकवान् । रत्नराशीन् विनिक्षिप्य दक्षिणार्थं स भारत ॥ २० ॥ ततः प्राह द्विजश्रेष्ठान् विरूपाक्षो महाबलः । गृह्णीत रत्नान्येतानि यथोत्साहं यथेष्टतः २१ येषु येषु च भाण्डेषु भुक्तं वो द्विजसत्तमाः। तान्येवादाय गच्छध्वं स्ववेश्मानीति भारत ॥ २२ ॥ इत्युक्तवचने तस्मिन् राक्षसेन्द्रे महात्मनि । यथेष्टं तानि रत्नानि जगृहुर्ब्राह्मणर्षभाः ॥ २३ ॥ ततो महार्हास्ते सर्वे रत्नै-रभ्यर्चिताः शुभैः। ब्राह्मणा मृष्टवमनाः सुप्रीताः स्म ततो-भवन् ॥ २४ ॥ ततस्तान् राक्षसेन्द्रश्च द्विजानाह पुनर्वचः । नानादेशगतान् राजन् राक्षसान् प्रतिषिध्य

बहुमूल्य हीरे, वैदूर्य मणि, मृगछालायें और रंकु जाति के मृगोंके चर्म दियेजाते थे ॥ १७-२० ॥ हे भारत ! भाँति २ के धनोंके ढेर,ब्राह्मणोंके भोजन करलेनेके बाद दक्षिणामें ब्राह्मणोंको देते समय महाबली विरूपाक्षने कहा, कि-हे ब्राह्मणों ! तुम अपने उत्साह और इच्छा के अनुसार इन रत्नोंमेंसे लेलो ॥ २१ ॥ और हे उत्तम ब्राह्मणों ! तुमने जिन थालियोंमें भोजन किया है इन थालियोंको अपने २ घर लेजाओ॥२२॥महात्मा राक्षस-राजके ऐसा कहने पर सुपात्र ब्राह्मणोंने अपनी अपनी इच्छाके अनुसार रत्न लेलिये ॥ २३ ॥ इसप्रकार राजा ने उन ब्राह्मणोंको उत्तम रत्न तथा उत्तम वस्त्र देकर उनका सत्कार किया, इससे वे ब्राह्मण बड़े प्रसन्न हुए ॥ २४ ॥ तदनन्तर राक्षसोंके राजाने भिन्न भिन्न देशोंसे आयेहुए ब्राह्मणोंसे कहा, कि- हे ब्राह्मणों ! आजके दिन तुम्हें राक्षसोंका भय नहीं है इच्छानुसार आनन्दसे रहो और जब जो चाहे तब

वै ॥ २५ ॥ अद्यैकं दिवसं विप्रा न वोऽस्तीह भयं क्वचित् । राक्षसेभ्यः प्रमोदध्वमिष्टतो यात मा चिरम् ।२६। ततः प्रदुद्रुवुः सर्वे विप्रसंघाः समन्ततः । गौतमोपि सुवर्णस्य भारमादाय सत्वरः ॥ २७ ॥ कृच्छ्रात् समुद्वहन् भारं न्यग्रोधं समुपागमत् । न्यषीदच्च परिश्रान्तः क्लान्तश्च क्षुधितश्च सः ॥ २८ ॥ ततस्तमभ्यगाद्राजन् राजधर्मा खगोत्तमः । स्वागतेनाभिनन्दंश्च गौतमं मित्रवत्सलः ॥२९॥ तस्य पक्षाग्रविक्षेपैः क्लमं व्यपनयत् खगः । पूजां चाप्यकरोद्धीमान् भोजनं चाप्यकल्पयत् ॥ ३० ॥ स भुक्तवान् सुविश्रान्तो गौतमोचिन्तयत्तदा । हाटकस्याभिरूपस्य भारोयं सुमहान्मया ॥३१॥ गृहीतो लोभ-

---

शीघ्रतासे यहाँसे चलेजाना, ऐसा कहकर उसने राक्षसों को आज्ञा दी, कि-तुम किसी भी ब्राह्मणको दुःख न देना ॥ २५ ॥ २६ ॥ जब ब्राह्मणोंके मण्डल रत्न लेकर अपने २ देशकी ओरको जानेलगे तब गौतम भी सुवर्ण तथा रत्नोंको बड़े कष्टसे उठाकर बड़के पास आया, वह भूखा था, बहुत ही थकगया था, इसलिये बडके नीचे आकर बैठगया ॥ २७ ॥ २८ ॥ हे राजन् ! पक्षियोंमें उत्तम राजधर्मा उसके पास आया, मित्रके ऊपर प्रेमभाव रखनेवाले बकराजने आगत स्वागत करके गौतमका सत्कार किया ॥ २९ ॥ अपने पंखोंके अग्रभागसे पवन डुलाकर उसका परिश्रम दूर करनेलगा, फिर उसका पूजन किया और भोजन कराया ॥ ३० ॥ गौतमने भोजन करके अच्छे प्रकारसे विश्राम किया और अपने मनमें विचारने लगा, कि-मैंने लोभ तथा मोहके वशमें होकर बहुतसा सोना लिया है और मुझे दूर जाना है,

ओहाभ्यां दूरश्च गमनं मम । न चास्ति पथि भोक्तव्यं प्राणसंधारणं मम ॥ ३२ ॥ किं कृत्वा धारयेयं दै प्राणा-नित्यभ्यचिन्तयत् । ततः स पथि भोक्तव्यं प्रेक्षमाणो न किञ्चन ॥ ३३ ॥ कृतघ्नः पुरुषव्याघ्र मनसेदमचिन्तयत् । अयं वकपतिः पार्श्वे मांसराशिः स्थितो महान् ॥ ३४ ॥ इमं हत्वा गृहीत्वा च यास्येऽहं समभिद्रुतम् ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नो-पाख्याने एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१७१॥

भीष्म उवाच । अथ तत्र महार्चिष्माननलो वातसारथिः। तस्याविदूरे रक्षार्थं खगेन्द्रेण कृतोऽभवत् ॥१॥ स चापि पार्श्वे सुष्वाप निःश्वस्तो वकराट् तदा । कृतघ्नस्तु स

मार्गमें प्राण-धारणके लिये खानेको कुछ भी नहीं है ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ तो मैं प्राणोंको कैसे बचाऊँगा? ऐसा मनमें विचार करके उसने इधर उधरको देखा, परन्तु मार्गमें खानेके योग्य कुछ भी नहीं दीखा॥३३॥ हे मनु-जेन्द्र! गौतम कृतघ्नी था, उसने वकराजकी ओरको देख कर मनमें विचार किया, कि-यह वकराज मेरे पास ही बैठा है, यह मांसका बडा ढेर है इसलिये इसको मार कर भोजनरूपसे लेलूँ और फुरतीसे घरको भाग जाऊँ॥३४॥३५॥ एकसौ इकहत्तरवाँ अध्याय समाप्त१७१

भीष्मने कहा, कि-उस बडकेनीचे अतिथियोंका जाडा दूर करनेके लिये वकराजने बहुत बडा अग्निका अलाओ सुलगा रक्खा था ॥ १ ॥ गौतम उस अग्निके पास सोरहा था और वकराज भी विश्वासके साथ उसके पास ही सोरहा था, दुष्टात्मा और कृतघ्नी गौतम निद्रामें पड़ेहुए अपने यजमानको मारकर खानेको तयार होगया, वह

दुष्टात्मा तं जिघांसुरथाग्रतः ॥ २ ॥ ततोलातेन दीप्तेन निःश्वस्तं निजघान तम् । निहत्य च मुदा युक्तः सोनुबन्धं न दृष्टवान् ॥ ३ ॥ स तं विपक्षरोमाणं कृत्वाग्नावपचत्तदा । तं गृहीत्वा सुवर्णञ्च ययौ द्रुततरं द्विजः॥४॥ ततोन्यस्मिन् गते चाह्नि विरूपाक्षोब्रवीत् सुतम् । न प्रेक्षे राजधर्माणमद्य पुत्र खगोत्तमम् ॥ ५ ॥ स पूर्वसन्ध्यां ब्रह्माणं वन्दितुं याति सर्वदा । मां चादृष्ट्वा कदाचित् स न गच्छति गृहं खगः ॥ ६ ॥ उभे द्विरात्रिसन्ध्ये वै नाभ्यगात् स ममालयम् । तस्मान्न शुध्यते भावो मम स ज्ञायतां सुहृत् ॥ ७ ॥ स्वाध्यायेन वियुक्तो हि ब्रह्म-

---

उठकर खडा होगया ॥ २ ॥ और विश्वाससे सोतेहुए बगलेको आगमें जलाकर मारडाला तथा प्रसन्न हुआ परन्तु उसके स्नेहका और पापका कुछ विचार नहीं किया ॥ ३ ॥ उसके शरीरसे पर और नाल उखाड कर उसको आगमें भूनलिया, फिर अपनी सोनेकी गठरीको उठाकर बडी ही फुरतीसे चलदिया और अपने घरकी ओरको भागनेलगा ॥४॥ दूसरे दिन विरूपाक्षने अपने पुत्रसे बूझा, कि-बेटा ! शोक है, कि-आज राजधर्मा बगला मेरे देखनेमें नहीं आया ॥ ५ ॥ वह नित्य प्रातःकालके समय ब्रह्माको प्रणाम करनेके लिये जाया करता है और वहाँसे लौटने समय मुझसे मिले विना वह अपने घरको कभी नहीं जाता है ॥ ६ ॥ आज दो रात और दो प्रातःकाल (दो दिन) होगए वह मेरे घर नहीं आया, मेरे मनमें चिन्ता होरही है, कि-न जाने उसको क्या होगया ! इसलिये तू मेरे मित्रका समाचार ला ७ स्वाध्याय न करनेवाले और ब्रह्मतेजसे रहित उस गौतम

वर्चसवर्जितः । तद्व्रतस्तत्र मे शंका हन्यात्तं स द्विजाधमः ॥ ८ ॥ दुराचारस्तु दुर्बुद्धिरिङ्गितैर्लक्षितो मया । निष्कृपो दारुणाकारो दुष्टो दस्युरिवाधमः ॥९॥ गौतमः स गतस्तत्र तेनोद्विग्नं मनो मम । पुत्र शीघ्रमितो गत्वा राजधर्मनिवेशनम् ॥ १० ॥ ज्ञायतां स विशुद्धात्मा यदि जीवति मा चिरम् । स एवमुक्तस्त्वरितो रक्षोभिः सहितो ययौ ॥ ११॥ न्यग्रोधं तत्र चापश्यत् कंकालं राजधर्मणः । स रुदन्नगमत् पुत्रो राक्षसेन्द्रस्य धीमतः ॥ १२ ॥ त्वरमाणः परं शक्त्या गौतमग्रहणाय वै । ततोऽविदूरे जगृहुर्गौतमं राक्षसास्तदा ॥ १३ ॥ राजधर्मशरीरं च पक्षा-

नामके ब्राह्मणके ऊपर मुझे सन्देह होता है, कि-कदाचित् उस नीच ब्राह्मणने उसको मारडाला हो, मैंने उसकी भीतरी चेष्टाओंसे उसको पहचानलिया है, कि-वह दुराचारी और दुष्टबुद्धि है, वह दयारहित, दारुण आकारका दुष्ट और दस्युकी समान अधम दीखता था ॥८॥९॥ वह गौतम फिर लौटकर उसके पास गया है, इसलिये मेरे मनमें घबड़ाहट होरही है, इसलिये हे पुत्र ! तू यहाँसे शीघ्र ही राजधर्माके घर जा और मुझे बता, कि-वह शुद्ध अन्तःकरण वाला बकराज जीता है या नहीं ? इस प्रकार विरूपाक्षके कहनेपर उसका पुत्र राक्षसोंको साथ लेकर शीघ्रतासे बकराजके पासको चलदिया१०।११उसने बड़के पेड़के पास आकर देखा तो तहाँ बकराजकी हड्डियें पड़ीहुई थीं, राक्षसोंके साथ बुद्धिमान् राक्षसराजका पुत्र रोता२गौतमको पकड़नेके लिये उसके पीछे पूरे बलसे और झपटकर दौड़ा, वे थोडी दूर नहीं पहुँचे थे, कि-इतनेमें ही गौतमको पकड़लिया ॥ १२ ॥ १३ ॥ उसके पाससे पंख

स्थिचरणोज्झितम् । तमादायाथ रक्षांसि द्रुतं मेरुव्रजं ययुः ॥ १४ ॥ राज्ञश्च दर्शयामासुः शरीरं राजधर्मणः । कृतघ्नं पुरुषं तं च गौतमं पापकारिणम् ॥ १५ ॥ रुरोद राजा तं दृष्ट्वा सामात्यः सपुरोहितः । आर्त्तनादश्च सुमहानभूत्तस्य निवेशने ॥ १६ ॥ सस्त्रीकुमारश्च पुरं बभूवास्वस्थमानसम् । अथाब्रवीन्नृपः पुत्रं पापोयं वध्यतामिति ॥ १७ ॥ अस्य मांसैरिमे सर्वे विहरन्तु यथेष्टतः । पापाचारः पापकर्मा पापात्मा पापसाधनः ॥ १८ ॥ हंतव्योयं मम मतिर्भवद्भिरिति राक्षसाः । इत्युक्ता राक्षसेन्द्रेण राक्षसा घोरविक्रमाः ॥ १९ ॥ नैच्छन्त तं भक्ष-

हड्डी और परोंसे रहित बकराजका शरीर छीनलिया, उसको साथ लेकर सब राक्षस मेरुव्रजमें आपहुँचे १४ फिर राजधर्मा बकराजका शरीर और कृतघ्नी तथा पाप कर्म करनेवाले उस गौतम ब्राह्मणको विरूपाक्ष राक्षसके सामने हाजिर किया ॥ १५ ॥ राजा, उसके मंत्री और पुरोहित बकराजको मरा देखकर रोने लगे, राजाके महलमें बड़ा कुहराम मचगया ॥ १६ ॥ राजकुमारोंका और सब नगरका मन खिन्न होगया, फिर राजाने पुत्रको आज्ञा दी, कि-हे बेटा ! इस पापीको मारडाल ॥ १७ ॥ और इसके मांसको खाकर सब राक्षस इच्छानुसार विहार करें, यह गौतम पापी आचरण करनेवाला, पाप कर्म करनेवाला, पापी मनका और पापभरे साधनोंवाला है, इसलिये हे राक्षसो ! मेरा विचार है, कि-इसको तुम मारडालो ॥१८॥ इसप्रकार राक्षसराज विरूपाक्षने कहा, परन्तु घोर पराक्रमवाले राक्षसोंमेंसे किसीने भी उस पापकर्म करनेवाले गौतमको खाना नहीं चाहा ॥१९॥

यितुं पापकर्माणमित्युत । दस्यूनां दीयतामेष साध्वयं पुरुषाधमः ॥ २० ॥ इत्यूचुस्ते महाराज राक्षसेन्द्रं निशाचराः । शिरोभिः प्रणताः सर्वे व्याहरन् राक्षसाधिपम् २१ न दातुमर्हसि त्वं नो भक्षणायास्य किल्विषम् । एवमस्त्विति तानाह राक्षसेन्द्रो निशाचरान् ॥ २२॥ दस्यूनां दीयतामेष कृतघ्नोद्यैव राक्षसाः । इत्युक्ता राक्षसास्तेन शूलपट्टिशपाणयः ॥२३॥ कृत्वा तं खण्डशः पापं दस्युभ्यः प्रददुस्तदा । दस्यवश्चापि नैच्छन्त तमत्तुं पापकारिणम् । क्रव्यादा अपि राजेन्द्र कृतघ्नं नोपभुंजते ॥२४॥ ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा । निष्कृतिर्विहिता राजन् कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥ २५ ॥ मित्रद्रोही

हे महाराज ! उन राक्षसोंने राक्षसराजसे कहा, कि-यह अधम पुरुष दस्युओंको देदो, हम इसको नहीं खायँगे ॥ २० ॥ इसप्रकार सब राक्षसोंने शिर झुकाकर प्रणाम करतेहुए राक्षसराजसे कहा, कि-आप इस पापीको खानेके लिये हमसे कहें, यह उचित नहीं है ॥ २१ ॥ राक्षसराजने भी दैत्योंकी बात मानली और कहा, कि-हे राक्षसो ! तुम आज ही इस कृतघ्नको दस्युओंको देदो आज्ञा होते ही राक्षसोंने हाथमें शूल और पट्टिश लिये तथा उसके टुकड़े२ करके वे दस्युओंको देदिये, परन्तु दस्युओंने भी उस पापीको खाना नहीं चाहा, हे राजेन्द्र ! मांसाहारी भी कृतघ्नोंको नहीं खाते हैं ॥२२-२४॥ हे राजन् ! ब्रह्महत्या करनेवाला, मदिरा पीनेवाला, चोर और व्रतका भङ्ग करनेवाला, इनका प्रायश्चित्त शास्त्रमें कहा है परन्तु कृतघ्नका प्रायश्चित्त शास्त्रमें नहीं कहा है २५ मित्रोंका द्रोह करनेवाला, कृतघ्नी और मनुष्योंमें अधम

कृतघ्नश्च नृशंसश्च नराधमः । क्रव्यादैः कृमिभिश्चैव न भुज्यन्ते हि तादृशाः ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने द्विसप्तत्यधिकशततमोध्यायः ॥ १७२ ॥

भीष्म उवाच । ततश्चितां बकपतेः कारयामास राक्षसः । रत्नैर्गन्धैश्च बहुभिर्वस्त्रैश्च समलंकृताम् ॥ १ ॥ ततः प्रज्वाल्य नृपतिर्बकराजं प्रतापवान् । प्रेतकार्याणि विधिवद् राक्षसेन्द्रश्चकार ह ॥ २ ॥ तस्मिन् काले च सुरभिर्देवी दाक्षायणी शुभा । उपरिष्टात्ततस्तस्य सा बभूव पयस्विनी ॥ ३ ॥ तस्या वक्त्राच्च्युतः फेनः क्षीरमिश्रस्तदानघ । सोपतद्वै ततस्तस्यां चितायां राजधर्मणः ॥४॥ ततः संजीवितस्तेन बकराजस्तदानघ । उत्पत्य च समीयाय विरूपाक्षं बकाधिपः ॥ ५ ॥ ततोभ्ययाद्देवराजो

क्रूर मनुष्यको माँसका भोजन करनेवाले तथा कीड़े भी नहीं खाते हैं २६ एकसौ बहत्तरवाँ अध्याय समाप्त १७२

भीष्मने कहा, कि-हे राजा युधिष्ठिर ! फिर राक्षसराजने बकराजके लिये एक चिता तयार करवाई और उसको रत्नोंसे, चन्दनकी लकड़ियोंसे तथा बहुतसे वस्त्रों से सजाया ॥ १ ॥ उसके ऊपर बकराजका शव रक्खा और प्रतापी राक्षसराजने उसका दाह किया तथा विधि विधानसे सब प्रेतकर्म किये ॥२॥ उस समय दाक्षायणी पयस्विनी सुरभि देवी आकाशमेंसे आकर उसके ऊपर खड़ी होगई और उसने दूधकी वर्षा की३ उसके मुखमेंसे दूध मिले भाग निकले वे बकराजकी चितामें गिरे ॥४॥ हे निर्दोष राजन् ! उस समय ! बकराज जीवित होगया और तहाँसे उठकर राक्षसराज विरूपाक्षके पास गया ५

विरूपाक्षपुरं तदा । प्राह चेदं विरूपाक्षं दिष्ट्या संजीवितस्त्वया ॥ ६ ॥ आचयामास चेन्द्रस्तं विरूपाक्षं पुरातनम् । यथा शापः पुरा दत्तो ब्रह्मणा राजधर्मणः ॥ ७ ॥ यदा बकपती राजन् ब्रह्माणं नोपसर्पति । ततो रोषादिदं प्राह खगेन्द्राय पितामहः ॥ ८ ॥ यस्मान्मूढो मम सभां नागतोसौ बकाधमः । तस्माद्वधं स दुष्टात्मा न चिरात् समवाप्स्यति ॥ ९ ॥ तदयं तस्य वचनान्निहितो गौतमेन मेन वै । तेनैवामृतसिक्तश्च पुनः संजीवितो बकः ॥१०॥ राजधर्मा बकः प्राह प्रणिपत्य पुरन्दरम् । यदि तेनुग्रहकृता मयि बुद्धिः सुरेश्वर ॥ ११ ॥ सखायं गौतमं जीव-

---

तुरन्त ही देवराज इन्द्र विरूपाक्षके नगरमें आया और उससे कहा कि–अहो ! सौभाग्यसे यह बकराज जीवित होगया, यह बड़ी ही अच्छी बात हुई ॥६॥ फिर इन्द्रने पुरातन विरूपाक्षसे कहा, कि—पहले ब्रह्माने इस राजधर्माको शाप दिया था (आज इसको इस शापका ही फल मिला है) ॥ ७ ॥ शाप देनेका कारण यह था, कि–हे राजन् ! ये बगलोंका राजा ब्रह्माके पास नित्य जाया करता था, परन्तु एकदिन इसकी आवश्यक्ता थी, तब यह वहाँ नहीं गया, इसलिये ब्रह्माने क्रोधमें होकर इस राक्षसराजसे कहा, कि–॥८॥ ओ मूढ़ अधम बगले ! अरे दुष्टात्मा ! तू मेरी सभामें नहीं आया, इसलिये ही थोड़े दिनोंमें तेरा नाश हो जायगा ॥ ९ ॥ ब्रह्माके इस शापके कारणसे गौतमने इस बकराजको मारडाला और ब्रह्माने ही इसके ऊपर अमृत छिड़ककर इसको फिर जीवित करदिया है ॥ १० ॥ तदनन्तर राजधर्मा बगलेने इन्द्रको प्रणाम करके कहा, कि–हे सुरराज ! यदि आपका

धेत्युतः । तस्य वाक्यं समादाय वासवः पुरुषर्षभः ॥१२॥
सिक्त्वामृतेन तं विप्रं गौतमं जीवयत्तदा । स भाण्डो-
पस्करं राजंस्तमासाद्य बकाधिपः ॥ १३ ॥ संपरिष्वज्य
सुहृदं प्रीत्या परमया युतः । अथ तं पापकर्माणं राज-
धर्मा बकाधिपः ॥ १४ ॥ विसर्जयित्वा सधनं प्रविवेश
स्वमालयम् । यथोचितञ्च स बको ययौ ब्रह्मसदस्तथा१५
ब्रह्मा चैनं महात्मानमातिथ्येनाभ्यपूजयत् । गौतमश्चापि
संप्राप्य पुनस्तं शबरालयम् । शूद्रायां जनयामास पुत्रान्
दुष्कृतकारिणः ॥ १६ ॥ शापश्च सुमहांस्तस्य दत्तः सुर-
गणैस्तदा । कुक्षौ पुनर्भ्वाः पापोयं जनयित्वाचिरात्

मेरे ऊपर अनुग्रह करनेका विचार हो तो ॥ ११ ॥ आप
मेरे प्यारे मित्र गौतमको जीवित करदीजिये हे राजन् !
उसकी इस बातको सुनकर इन्द्रने उसकी बात मानली१२
और अमृत छिड़ककर उसी समय गौतमको जीवित
करदिया और उसकी सोनेकी गठरी तथा सामान भी
उसके पास पहुँचादिया, गौतमके जीवित होते ही बक-
राजने बड़े प्रेमके साथ उस मित्रको हृदयसे लगाया
और फिर पापकर्म करनेवाले इस गौतमको धनके सहित
घर भेजकर आप भी अपने निवासस्थान पर आगया,
दूसरे दिन समय पर बकराज ब्रह्माकी सभामें गया१३-१५
ब्रह्माने उस महात्माका आतिथ्य करके उसकी पूजा
की, गौतम फिर पहलेके भीलोंके गाँवमें गया और तहाँ
शूद्रजातिकी स्त्रीमें पाप कर्म करनेवाले पुत्रोंको उत्पन्न
किया, तब देवताओंने गौतमको बडाभारी शाप देतेहुए
कहा कि-यह पापी और कृतघ्नी पुनर्भू (कराव) की स्त्रीमें
बहुत समय तक पुत्रोंको उत्पन्न करके बड़ेभारी नरकमें

सुतान् ॥ १७ ॥ निरयं प्राप्स्यति महत् कृतघ्नोयमिति प्रभो । एतत् प्राह पुरा सर्वं नारदो मम भारत ॥ १८ ॥ संस्मृत्य चापि सुमहदाख्यानं भरतर्षभ । मयापि भवते सर्वं यथावदनुवर्णितम् ॥ १९ ॥ कुतः कृतघ्नस्य यशः कुतः स्थानं कुतः सुखम् । अश्रद्धेयः कृतघ्नो हि कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥ २० ॥ मित्रद्रोहो न कर्त्तव्यः पुरुषेण विशेषतः । मित्रध्रुक् नरकं घोरमनन्तं प्रतिपद्यते ॥ २१ ॥ कृतज्ञेन सदा भाव्यं मित्रकामेन चैव ह । मित्राच्च लभते सर्वं मित्रात् पूजां लभेत च ॥ २२ ॥ मित्राद्भोगांश्च भुंजीत मित्रेणापत्सु मुच्यते । सत्कारैरुत्तमैर्मित्रं पूजयेत विचक्षणः ॥ २३ ॥ परित्याज्यो बुधैः पापः कृतघ्नो

पड़ेगा, हे भरतवंशी राजन् ! यह सब वृत्तान्त मुझे नारद जीने सुनाया था ॥१७॥१८॥ और हे भरतसत्तम राजन् ! मैंने भी इस बड़ी कथाका स्मरण करके तुम्हें सब ठीक ठीक सुनादी है ॥ १९ ॥ कृतघ्नीको यश कहाँ ? स्थान कहाँ और सुख कहाँ ? कृतघ्नी मनुष्यका विश्वास न करे, कृतघ्नी मनुष्यका उद्धार नहीं होता ॥ २० ॥ किसी मनुष्यको भी मित्रसे द्रोह नहीं करना चाहिये जो मित्रसे द्रोह करता है वह ओरछोर रहित भयानक नरकमें पड़ता है ॥२१॥ जिस पुरुषको मित्रकी कामना हो उसको सदा कृतज्ञ बना रहना चाहिये, मनुष्य मित्र से सब वस्तुओंको पाता है, मित्रसे मान पाता है ॥२२॥ मित्रके पास भोगोंको भोगता है, मित्र आपत्तिकालमेंसे छुटाता है, इसलिये चतुर मनुष्य मित्रका सत्कार करके उसका सन्मान करे ॥ २३ । कृतघ्न, पापी, निर्लज्ज, मित्रद्रोही, कुलाङ्गार, पापकर्म करनेवाले पापी मनुष्यसे

निरपत्रपः । मित्रद्रोही कुलाङ्गारः पापकर्मा नराधमः २४ एष धर्मभृतां श्रेष्ठ प्रोक्तः पापो मया तव । मित्रद्रोही कृतघ्नो वै किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २५ ॥ वैशम्पायन उवाच । एतच्छ्रुत्वा तदा वाक्यं भीष्मेणोक्तं महात्मना । युधिष्ठिरः प्रीतमना बभूव जनमेजय ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासक्यां
शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने
त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७३॥
समाप्तश्चापद्धर्मपर्व ।

विद्वानोंको बचना चाहिये ॥ २४ ॥ हे धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ राजन् ! मैंने तुझे मित्रद्रोह करनेवाले और कृतघ्नी पापी पुरुषका चरित्र सुनाया अब तू और क्या सुनना चाहता है ? ॥ २५ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि–हे राजा जनमेजय ! महात्मा भीष्मने ऐसा कहा, इसको सुनकर राजा युधिष्ठिर मनमें प्रसन्न हुए ॥ २६ ॥ एकसौ तिहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥१७३॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारतके शान्तिपर्वका आपद्धर्मपर्व मुरादाबादनिवासि
भारद्वाजगोत्र गौडवंश्य भोलानाथात्मज ऋषिकुमार
रामस्वरूपशर्मा द्वारा सम्पादित हिन्दी
भाषानुवाद सहित समाप्त



पुस्तक मिलनेका ठिकाना

सनातनधर्म यन्त्रालय

मुरादाबाद.